

$$\begin{array}{r} 1400 \\ 390 \\ \hline 1790 \end{array}$$

$$\begin{array}{r} 1400 \\ 390 \\ \hline 1790 \end{array}$$

$$\begin{array}{r} 1796 \\ 296 \\ \hline 2092 \end{array}$$



















हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,७१,०००

## विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-मधुर राजवेषमें श्रीसीताराम [ कविता ] ( संत श्रीबनादासजी )	... ७७३
२-कल्याण	... ७७४
३-ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश ( पुराने सत्सङ्गसे )	... ७७५
४-आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ	... ७७७
५-परमार्थकी पगडंडियाँ ( नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) के अमृत वचन	... ७८०
६-सुखी कौन ? [ पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश ] ( प्रेषक-श्रीरामकृष्णप्रसादजी )	... ७८४
७-रागलकी शोली ( महात्मा श्रीश्रीसीताराम- दास ओकारनाथ महाराज )	... ७८७
८-कुंजविहारिनिकी नय ! [ कविता ] ( श्रीललितमोहिनीजी )	... ७८८
९-सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन ( नित्यलीलालीन श्रीभाईजीके पुराने सत्सङ्गसे चयन किये हुए )	... ७८९
१०-समर्पणकी महिमा ( ब्रह्मलीन संत श्रीगरीबदासजी )	... ७९४
११-स्वामी श्रीविवेकानन्द ( ब्रह्मचारी श्रीनिर्गुणचैतन्य )	... ७९६
१२-मिलन-वेला ( श्री'दुर्गेश'जी )	... ८००
१३-दूधके पट खोल ( श्रीरामनाथजी 'सुमन' )	... ८०१

कल्याण, सौर चैत्र, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९६, मार्ग १९०१

विषय	पृष्ठ-संख्या
१४-एक अजीब विवाह ! विचित्र प्रयोग !! [ सच्ची कहानी ] ( डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र; एम० ए०, पी-एच० डी० )	... ८०३
१५-पापका घन ( श्रीरामेश्वरजी टोंटिया )	... ८०८
१६-श्रीविष्णुस्मृतिमें धर्मका स्वरूप ( डा० श्रीआनन्दमंगलजी वाजपेयी, एम० ए०, पी-एच० डी० )	... ८०९
१७-मानव-जीवनकी क्षणभङ्गुरता [ कविता ] ( महाकवि 'द्विजेश' )	... ८१२
१८-'संभल-संभल पद धरना, राही ! यह पथ है काँटोंका' ( श्रीहरिकृष्णदासजी अग्रवाल )	... ८१३
१९-पूर्णिया आवक [ एक लघु-कथा ] ( श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन; ऐडवोकेट )	... ८१४
२०-जय बजरंग ( श्रीसत्यनारायणजी मालपाणी 'सिद्धान्त-शास्त्री' )	... ८१५
२१-ईक्षरीय प्रतिध्वनि-अन्तःकरणकी आवाज ( श्रीमोresh्वर सीतारामजी पिंपळे )	... ८१७
२२-'पीरौ पट सदा जिय बीच फहराय करै' [ कविता ] ( श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्र )	... ८१९
२३-तपोव्रत ( श्रियुत प्र० त्रि० दीपकर )	... ८२०
२४-'मृत्यु होवा नहीं' ( श्रीविनय कृष्ण रामदासजी )	... ८२२
२५-नरसिंहपुराण-एक संक्षिप्त परिचय ( पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा )	... ८२३
२६-पढ़ो, समझो और करो	... ८३१

## चित्र-सूची

१-माताकी सुरक्षामें बालक श्रीराम-लक्ष्मण	( रेखाचित्र )	... मुखपृष्ठ
२-अवधके राजा-रानी	( तिरंगा )	... ७७३

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.०० } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ साधारण प्रति भारतमें ६० पैसे  
विदेशमें १६.०० ( १८ शिलिंग ) } विदेशमें ८० १.०० ( १५ पैसे )

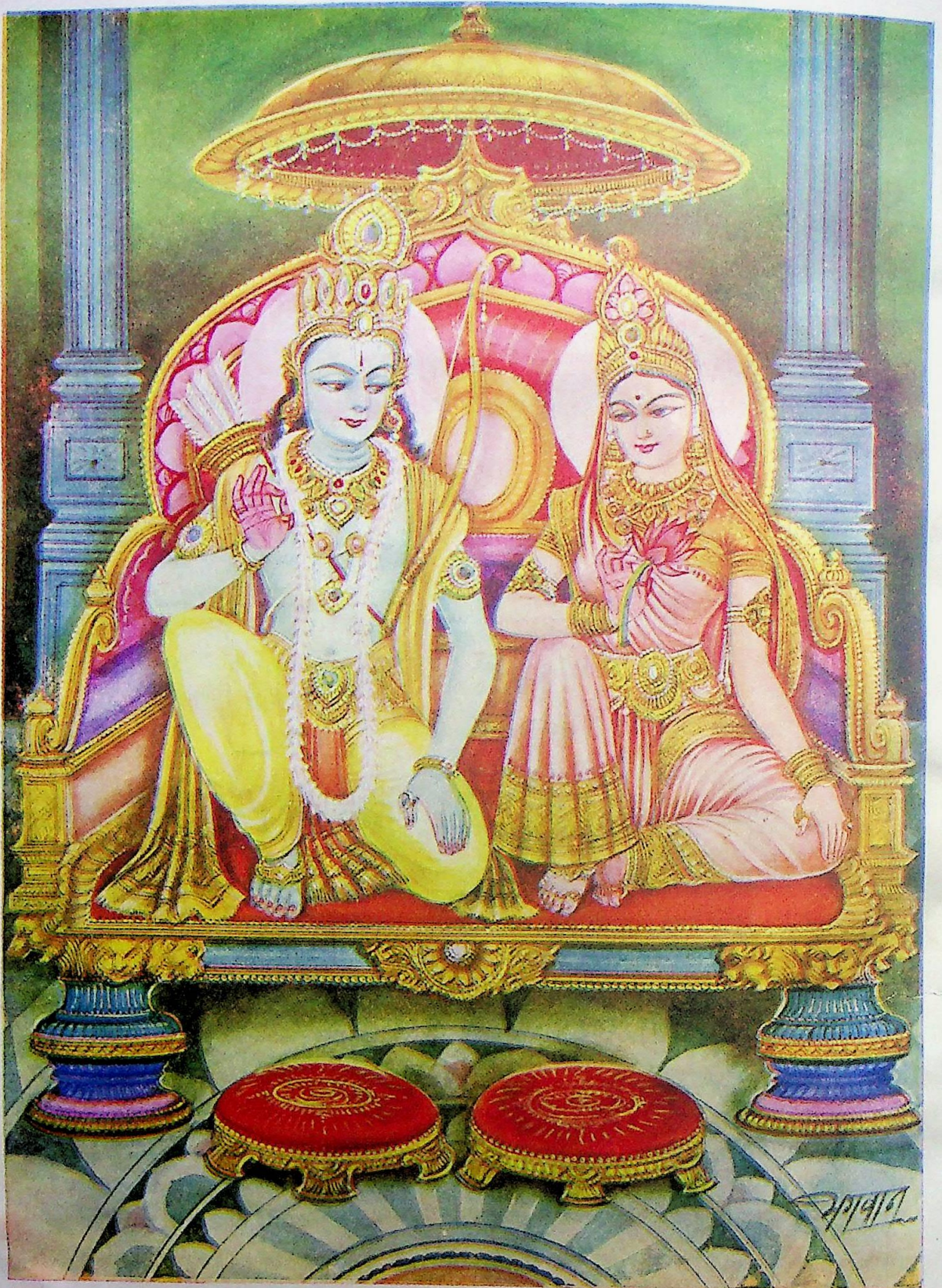
अदि सम्पादक-नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक-चिम्पनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक-मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

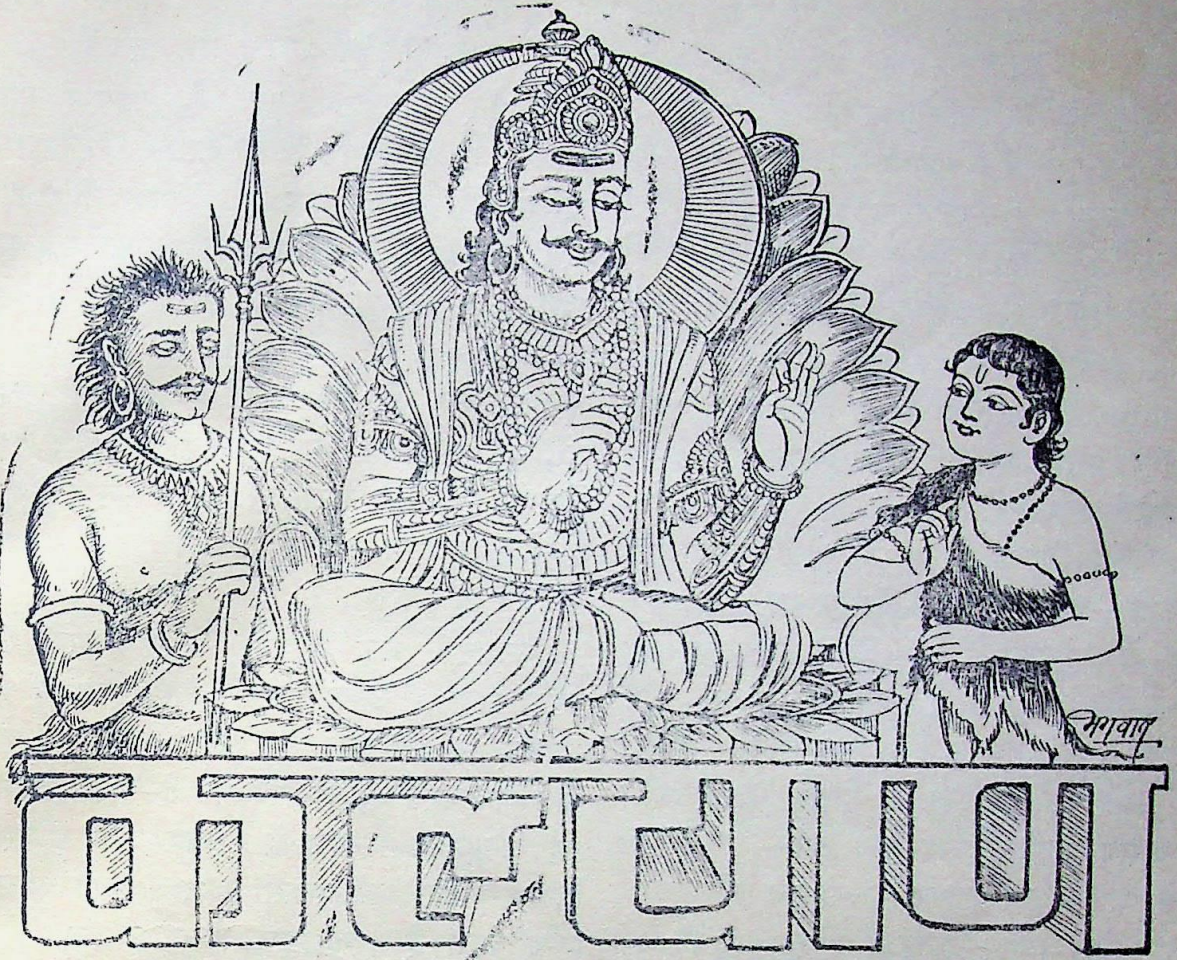












अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

( अग्निपुराण )

वर्ष ४५ }

गोरखपुर, मौर चैत्र, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९६, मार्च १९७१

{ संख्या ३  
पूर्ण संख्या ५३२

### मधुर राजवेषमें श्रीसीताराम

लखे हम बहुत दिनन पर आज ॥

राजमाधुरी वेष, सिया जुत, राजन के महाराज ।

कनक-सिंघासन आसन सोभित अंग-अंग छवि छाज ॥

नख-सिख रूप अनूप जुगल जग रति-मनोज सिरताज ।

‘दास बना’ भ्रम भयौ सांचु किधौ पल विछोह कस काज ॥

( संत वनादासजी )



भगवान्को प्राप्त करनेके साधनोंमें सबसे सरल साधन है—भगवान्के शरण हो जाना । गीतामें यदि देखा जाय तो शरणागतिसे गीताका आरम्भ है और शरणागतिकी पूर्णतामें ही गीताकी पूर्णता है । भगवान्की शरणागतिका अर्थ है—भगवान्का अपना बन जाना ।

छोटा बच्चा अपने आपको सर्वथा मातापर निर्भर रखता है, यद्यपि वह ऐसा करता है अज्ञानपूर्वक ही; फिर भी उसकी सारी सँभाल माँ करती है । इसी प्रकार जो वास्तवमें भगवान्के शरणागत हैं, उनकी रक्षाका, उनके योगक्षेमका सारा भार स्वयं भगवान् वहन करते हैं—  
‘योगक्षेमं वहाम्यहम् ।’

भगवान् जिसका जिम्मा ले लेते हैं, उसका कोई भी कार्य—चाहे वह छोटे-से-छोटा या बड़े-से-बड़ा क्यों न हो—वे स्वयं करते हैं, उनके लिये कार्यके छोटे-बड़े होनेका कोई अर्थ नहीं है । पाण्डवोंके राजसूय यज्ञमें अतिथियोंके पैर धोनेका काम भगवान्ने अपने जिम्मे लिया था । उसी यज्ञमें अप्रपूजा भी उन्होंने स्वीकार की । यज्ञ आरम्भ होनेसे पूर्व यह प्रश्न उठा—‘सबसे पहले सबसे अधिक पूज्य मानकर किसकी पूजा की जाय ?’ बहुत बड़े-बूढ़े लोग—ज्ञानवृद्ध, योगवृद्ध वहाँ बैठे थे । सबकी सम्मति रही—‘श्रीकृष्णकी पूजा की जाय ।’ एक शिशुपालने विरोध किया । भगवान्के चक्रने उसको देहविमुक्त कर दिया और उसकी ज्योति भगवान्के श्रीचरणोंमें समा गयी । इतने महान् होनेपर भी अतिथियोंके चरण धोनेमें भगवान्ने तनिक भी लज्जा अनुभव नहीं की । भगवान् अर्जुनके सारथि बनते हैं, सूतका काम करते हैं, उनके रथके बोड़े हाँकते हैं । अर्जुन भगवान्को आज्ञा देते हैं—‘सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ।’ भगवान्ने रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले जाकर खड़ा कर दिया । आज्ञावाहक सारथिके रूपमें भगवान् अर्जुनका सेवा-कार्य करते हैं । इसी प्रकार

जो भी भगवान्के अनन्य भजनमें लगे हैं, अनन्य चिन्तनमें लगे हैं, उनका ‘योगक्षेम’ भगवान् वहन करते हैं ।

भगवान् जो कुछ भी करते हैं, मङ्गल ही करते हैं । हाँ, मङ्गलका निर्णय वे स्वयं करते हैं, शरणागतपर नहीं छोड़ते । हमलोग भगवान्की शक्तिपर तो विश्वास करते हैं कि वे सर्वशक्तिमान् हैं, हमारा काम कर सकते हैं; पर कौन-सा काम कैसे करना चाहिये—यह निर्णय हम भगवान्पर नहीं छोड़ते । हम चाहते हैं—वे वही काम करें, जो हम चाहते हैं और उसी प्रकार करें, जैसे हम बतायें । यह विश्वासकी कमी है । बिना विश्वासके शरणागति सम्भव नहीं है । भगवान्पर विश्वास होनेसे ही बिना शर्तके उनके प्रति समर्पण होगा—‘आप जो चाहे सो करें ।’

भगवान्का भक्त भगवान्से किसी प्रकारकी शर्त नहीं करता । उसका पक्का विश्वास रहता है कि भगवान् मेरे परम सुहृद् हैं । अतएव भगवान् जो कुछ भी विधान करते हैं, वह मङ्गलमय है—चाहे देखनेमें वह अमङ्गलमय दिखायी दे । सर्जन ऑपरेशन करता है, एक अनजान व्यक्ति किसी प्रकार ऑपरेशन-थियेटरमें पहुँच जाता है । वह सर्जनको चाकू चलाते देख समझता है—‘देखो, यह इस व्यक्तिका अङ्ग काट रहा है, कितना अनर्थ कर रहा है !’ पर जिसका अङ्ग काट रहा है, उसका विश्वास है कि मेरा ऑपरेशन हो रहा है और वह ऑपरेशनके दर्दको सहता हुआ भी प्रसन्न रहता है । सफलतापूर्वक ऑपरेशन सम्पन्न होनेपर उसको बड़ा सुख मिलता है, बड़ी शान्ति मिलती है । ऐसा इसलिये होता है कि उसे सर्जनकी ऑपरेशनक्रियापर विश्वास है । वह समझता है कि अङ्गको काट देनेसे मेरे अंदरका रोग निकल गया, मैं निरोग हो गया । इसी प्रकार भगवान्के शरणागत भक्तकी भगवान्के प्रत्येक विधानमें अनुकूल बुद्धि रहती है और वह प्रसन्न एवं निश्चिन्त रहता है ।

\* अबतक ‘शिव’ नामसे नित्यलीलालीन श्रीभार्गवी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) ही ‘कल्याण’ शीर्षक स्तम्भ लिखा करते थे, जिसे ‘कल्याण’के अधिकांश पाठक बड़े चावसे एवं श्रद्धाके साथ पढ़ते थे । अब उनके प्रत्यक्ष रूपमें न रहनेसे उन्हींके पुराने प्रवचनोंसे इसी प्रकारके प्रेरणात्मक वाक्य देकर इस स्तम्भको चालू रखनेका विचार है, जिससे पाठकोंको वैसी ही सामग्री प्रकारान्तरसे मिलती रहे ।—सम्पादक



# ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[ पुराने सत्सङ्गसे ]

साधना बगीचेका पौधा है; उसे प्रतिदिन  
जल मिलना ही चाहिये ।

कई लोग कहते हैं—‘एक बार सत्सङ्ग सुन लिया, फिर बार-बार सुननेकी क्या आवश्यकता है ? सामाजिक कार्योंमें हम देखते हैं—सभा करके परस्पर विचार-विमर्शद्वारा एक निश्चय कर लिया जाता है कि ऐसा करना है और वैसा कर लिया जाता है । उसके लिये बार-बार सभा करनेकी आवश्यकता नहीं होती ।’ परंतु हमारी समझसे उनका ऐसा सोचना ठीक नहीं है । सामाजिक कार्य जंगलके वृक्ष हैं, उन्हें प्रतिदिन सींचनेकी आवश्यकता नहीं होती; पर साधना तो बगीचेका पौधा है, उसे प्रतिदिन जल मिलना ही चाहिये । सत्सङ्ग साधनाकी खुराक है । जैसे दोनों समय भोजन करते हैं, इससे शरीरमें स्फूर्ति रहती है, वैसे ही सत्सङ्ग प्रतिदिन होता रहता है तो साधनाको पोषण मिलता रहता है । उसमें स्फूर्ति रहती है तथा वह ठीक-ठिकानेसे चलती रहती है । हाँ, सत्सङ्ग एवं साधनामें संतुलन बैठा लेना चाहिये कि प्रतिदिन इतनी देर सत्सङ्ग करना और इतनी देर साधना करनी । किंतु सत्सङ्ग होना चाहिये प्रतिदिन ।

सत्सङ्गकी कई श्रेणियाँ हैं । प्रथम श्रेणी है—महात्माओंका सङ्ग, द्वितीय श्रेणी है—साधकका सङ्ग और तृतीय श्रेणी है—शाखका सङ्ग । किसी व्यक्तिको बदरीनारायण जाना है । बदरीनारायणकी यात्रा किये हुए व्यक्तिका यदि उसे साथ मिल जाता है तो यह उसके लिये सर्वोत्तम है । ऐसा न होकर यदि उसे बदरीनारायणकी यात्रा करनेवाले ५-७ साथी मिल जाते हैं तो यह उसके लिये पहलेसे कम उपयोगी है । यह भी व्यवस्था न होकर यदि वह बदरीनारायण-यात्राकी पथ-

प्रदर्शिकाको साथ लेकर चलता है तो यह उसके लिये तीसरी श्रेणीकी सहायता होती है । ऐसे ही महात्माके सत्सङ्गसे साधनामें सभी आवश्यक सुविधाएँ मिलती चली जाती हैं । महात्माका अनुभव है कि साधनाकी किस अवस्थामें पहुँचनेपर क्या-क्या विघ्न आते हैं और उनका परिहार किस प्रकार करना चाहिये । अतएव महात्माके सत्सङ्गसे साधक निर्भय एवं निश्चिन्त होकर साधनापर बढ़ सकता है । साथी साधकसे साधनामें सुविधा होती है, पर उतनी नहीं । साथी साधकसे बराबर उत्साह मिलता है; जहाँ विघ्न-बाधाएँ आती हैं, वहाँ एक-दूसरेसे विचार-विमर्श हो जाता है । शाखके सत्सङ्गसे भी साधनामें सहायता मिलती है और साधक सफलता प्राप्त कर लेता है । पर जहाँतक हो, प्रथम श्रेणीका अर्थात् महात्माओंका सत्सङ्ग करना चाहिये ।

( २ )

महापुरुषोंकी महिमा अवर्णनीय है ।

महापुरुषोंकी महिमाका वर्णन नहीं हो सकता । महापुरुष जिस कुलमें उत्पन्न होते हैं, उस कुलके सभी व्यक्ति परमात्माकी प्राप्तिके अधिकारी बन जाते हैं । कम-से-कम तीन पीढ़ी और अधिक-से-अधिक सात पीढ़ीके लिये यह विधान है । महापुरुष जिन पूर्वजोंके लिये तर्पण-श्राद्ध करते हैं तथा महापुरुषोंके लिये कुलके जो व्यक्ति श्राद्ध-तर्पण करते हैं, वे सब-के-सब परमात्माकी प्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं । इस बातको समझानेके लिये अग्निका उदाहरण प्रत्यक्ष है । अग्निमें घास गिरे या घासमें अग्नि गिरे—दोनों रूपोंमें घास अग्निमय हो जाती है ।

महापुरुष जहाँ रहते हैं—जहाँ उनके चरण ठिक जाते हैं, वह स्थान पवित्र हो जाता है तथा वह विशेष प्रभाव-



शाली बन जाता है । बिना शङ्खे-बुहारे भी वह स्थान पवित्र है । वहाँ बैठकर भगवान्‌का ध्यान करनेसे स्वतः ध्यान लग जाता है । महापुरुषोंकी संनिधिका यदि सौभाग्य मिल जाय तो फिर कहना ही क्या है । महापुरुषकी संनिधिमें बैठकर ध्यान करनेसे ऐसा प्रगाढ़ ध्यान होगा कि मानो भगवान्‌के प्रत्यक्ष दर्शन हो रहे हों ।

संसारमें जितने भी तीर्थ हैं, सब महात्माओंके कारण या उनकी कृपासे ही हैं । वृन्दावन, अयोध्या आदि भगवान्‌के अवतारस्थल होनेसे तीर्थ हैं, किंतु इसमें हेतु तो भक्त-पुरुष ही हैं । भगवान् श्रीकृष्णके अवतारमें वसुदेव-देवकी हेतु बने और भगवान् श्रीरामके अवतारमें दशरथ-कौसल्या । वस्तुतः अवतार प्रधानतः भक्तों—महापुरुषोंके लिये ही होते हैं । इन अवतारस्थलियोंके अतिरिक्त जो तीर्थ हैं, वे महापुरुषोंके निवासस्थल होनेसे ही तीर्थ-स्वरूप बने हैं ।

परमार्थ-साधनमें श्रद्धा बहुत ही महत्त्वकी चीज है । ईश्वरमें, महात्मामें, शास्त्रमें जो पूज्यताका भाव है—प्रत्यक्षकी भाँति विश्वास है—उसका नाम 'श्रद्धा' है और प्रत्यक्षसे भी बढ़कर विश्वासका नाम 'परम श्रद्धा' है । महापुरुषोंके प्रति ऐसी ही परम श्रद्धा अर्जन करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

( ३ )

### साधनाके तीन प्रमुख उपकरण ।

संस्था, भजन, ध्यान आदि साधनोंमें तीन चीजोंका बड़ा महत्त्व है—नियमित रूपसे प्रतिदिन करना, प्रतिदिन निश्चित समयपर करना तथा उस साधनके प्रति आदर एवं श्रद्धाका भाव रखते हुए करना । बिल्कुल न करनेकी अपेक्षा जो नियमके निर्वाहमात्रके लिये करता है, वह बहुत अच्छा है । इससे सैकड़ोंगुना श्रेष्ठ वह है, जो नियमित समयसे संस्था, भजन, ध्यान आदि करता है । वह समयकी पाबंदीके लिये ऐसा नियम बना लेता है कि जिस दिन समयसे संस्था आदि न हो, उस दिन

एक समयका उपवास करना है । इससे भी बढ़कर वह है, जो प्रेमसे इन साधनोंको करता है ।

बहुत लोग नियमितता एवं समयका पालन तो कर लेते हैं, पर उनसे 'प्रेम'से साधन नहीं हो पाता । एक समयका उपवास रखना पड़ेगा—इस भयसे नियमितता एवं सम्म्यक्की पाबंदीका तो पालन हो जाता है, पर प्रेम होना आसान नहीं है । प्रेम होनेसे भगवान् नारायणके दर्शनसे जो हमारी दशा हो, वैसी ही दशा संस्थाके समय भगवान् सूर्यनारायणके ध्यान एवं दर्शनसे होनी चाहिये । वास्तवमें साधनामें प्रेमका विशेष महत्त्व है । हम गायत्रीका जप करते हैं—मुँहसे मन्त्रका उच्चारण करते हैं और अँगुलियोंसे मालाके मनिये खिसकाते जाते हैं, यह नियम-पालनमात्र होता है । यदि प्रेमपूर्वक गायत्री-जप हो तो उसका महत्त्व अपनेसे प्रकट होता है ।

यही बात ध्यानके सम्बन्धमें है । ध्यानमें नियमितता एवं समयकी पाबंदीका स्थान बहुत गौण है । उसमें प्रेम ही मुख्य है । प्रेम होनेसे किसी वस्तुका स्मरण-चिन्तन होता है और स्मरण-चिन्तनसे वह वस्तु मनके नेत्रोंके सामने प्रत्यक्षकी भाँति उपस्थित रहती है । हम भगवान्‌का ध्यान करने बैठें और हमारा भगवान्‌में प्रेम नहीं है—अर्थात् भगवान्‌के साथ हमारे हृदयका संयोग नहीं है—तो भगवान्‌के स्वरूपकी धारणा हमें नहीं होगी । हमारे मनमें जिस वस्तुके प्रति प्रेम है, भगवान्‌के ध्यानके समय उस वस्तुका ही ध्यान हमसे होगा, भगवान्‌का नहीं । अतएव नियमितता एवं समयकी पाबंदीसे पहले प्रेमको स्थान देना चाहिये ।

( ४ )

**भक्त एवं भगवान्‌का स्मरण दो नहीं हैं ।**

प्रश्न किया जाता है कि 'भगवान्‌के भक्तोंके गुण-प्रभाव-चिन्तन आदिसे विशेष लाभ होता है तो फिर



भक्तोंका ही चिन्तन क्यों न किया जाय ?' इसका उत्तर यह है कि भक्तोंके गुण-प्रभाव-चिन्तनकी बात सिद्धान्ततः वैसी ही है। वास्तविक भक्तके चिन्तनसे विशेष लाभ होगा ही। पर यदि भक्तमें ही गड़बड़ी निकल आयी तो ध्यान करनेवालेका परिश्रम व्यर्थ जाता है। इसलिये ध्यान तथा चरित्र-गुण आदिका चिन्तन भगवान्-का ही करना चाहिये, यह निरापद मार्ग है।

कौन वास्तविक भक्त है, यह कहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। महात्माको क्या वस्तु मिल जाती है, यह बात परमात्माको प्राप्त पुरुष भी नहीं बता सकते। भगवान् ने भी गीतामें नहीं बतलाया, केवल इतना ही कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

## आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

जीभसे निरन्तर नाम लीजिये, मनसे निरन्तर उन्हें ही याद कीजिये और पापसे मृत्युकी तरह डरिये।

छोटी-मोटी दान (आकर्षण), सत्सङ्ग, भजन, दोषकी निवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, प्रीतिका अङ्कुर एवं प्रेम—ये नौ सीढ़ियाँ हैं। इसमें हमलोग तीसरी सीढ़ीपर ही हैं और उसपर भी अपना पाँव ठीकसे नहीं जमाते। इसीलिये हमलोग चौथी सीढ़ी अर्थात् 'सर्व दोषोंसे मुक्ति' प्राप्त नहीं कर पाते। अतएव भजन करना है। खूब ठीकसे मन लगाकर श्रवण-कीर्तन, स्मरण-जपका तार निरन्तर चले। फिर आगेका काम तो अपने-आप सब हो जायगा।

खूब भजन कीजिये, यही युद्धसे बचनेका उपाय है। नहीं तो मृत्यु तो एक दिन आयेगी ही। वह मृत्यु ही अन्तिम मृत्यु हो—उसके बाद फिर मरना ही न पड़े—ऐसा उपाय बुद्धिमान्को करना

उस लाभकी महत्ता बतला दी, पर उस लाभका स्वरूप क्या है, यह नहीं बतलाया। 'तुल्यनिन्दास्तुति-मौनी'—वह निन्दा-स्तुतिमें सम है—आदि कहकर भगवान् ने उसके लक्षण बतलाये; पर उस लाभको स्पष्ट नहीं किया, जो उसे प्राप्त है। वास्तवमें वह स्थिति स्वसंवेद्य है, वह वाणीका विषय नहीं है। अतएव भक्तकी पहचान होना बड़ा कठिन है। ऐसी स्थितिमें सरल मार्ग यही है कि सङ्ग तो उस व्यक्तिका करे, जिसके समीप रहनेसे आसुरी वृत्ति कम हो तथा दैवी-सम्पत्तिका विकास होता हो; और स्वरूपका ध्यान, नाम-चरित्र-गुण आदिका चिन्तन भगवान्का करे। इस बीचमें भक्तका स्मरण-चिन्तन हो तो उसे भगवान्के चिन्तनमें सहायक समझे, विरोधी नहीं। वास्तवमें भक्त एवं भगवान्का स्मरण दो नहीं हैं, पर होना चाहिये वास्तविक भक्तका स्मरण।

चाहिये। इसमें कोई परिश्रम नहीं है। भगवान् भक्त-वाञ्छा-कल्पतरु हैं; उनसे जो चाहिये, वही वे देंगे। सामने मृत्यु खड़ी हो, ऊपरसे बमके गोले पड़ने हों, पर, सच मानिये, यदि आप उन्हें हृदयसे पुकारें कि 'प्रभो! मुझे बचा लो' तो फिर बमके गोले व्यर्थ हो जायँगे—उसी क्षण, जब कि कलकत्ता जलता रह सकता है। आपकी देहको एक चिनगारी भी स्पर्श नहीं करेगी। बिलकुल ऐसा हो सकता है। पर हाँगा विश्वास करके, उनके चरणोंमें अपनेको सौंपकर, उनका ही एकमात्र भरोसा करके, उनको याद करनेसे।

वे चाहते हैं एक बात—देखते हैं केवल यही कि इसका सच्चा विश्वास है कि नहीं। विश्वास होनेपर वे सब कर देते हैं। इसी प्रकार धन चाहिये तो एक क्षणमें आपको करोड़पति, अरबपति, असंख्य-



पति बना सकते हैं। पर यहाँ भी वे देखेंगे कि 'इसका विश्वास हमपर है कि नहीं। धन चाहता है, कोई बात नहीं; पर यह हमसे चाहता है कि नहीं'—ठीक मानिये केवल उनसे चाहनेपर अर्थात् 'प्रभु ! मैं तो आपसे लूँगा' यह ठीक चाहनेपर वे परीक्षा करके देखेंगे। यदि आप डिगते हैं तो नहीं देंगे; पर यदि पास हो जायँगे तो उसी क्षण सुदामाकी तरह धन देकर, असीम ऐश्वर्य देकर आपको कृतार्थ कर देंगे। इसी प्रकार ज्ञान चाहिये, ज्ञान देंगे; मोक्ष चाहिये तो मोक्ष देंगे और भगवत्प्रेम चाहिये तो भगवत्प्रेम देंगे। मतलब यह है कि किसी भी प्रकार-से एक बार उनका पल्ला पकड़ लीजिये तो फिर सारा कामना मिटाकर सबसे ऊँची चाँज—अपना प्रेम ही आपको देंगे। इसलिये किसी भी प्रकार-से हो—सकाम-निःकाम, जीभसे निरन्तर नाम लीजिये, मनसे निरन्तर उन्हें ही याद कीजिये और पापसे मृत्युकी तरह डरिये, वचनेकी पूरी चेष्टा कीजिये। ये ही तीन काम करने चाहिये।

x

x

x

कलियुगका समय ही कुछ ऐसा है कि भजनमें प्रवृत्ति घटती जा रही है और विना नियम काम होता नहीं। जो भी कहता है कि 'हमसे भजन होता नहीं' उसे चाहिये कि वह नियमित संख्यामें जप हुए विना भोजन न करनेका नियम दृढ़तासे पकड़ ले; फिर भजन होने लग जायगा। अर्थात् अपने काम-काजका हिसाब देखकर यह निश्चय कर ले कि हमें इतनी माला फेरनी है। अब किसीका मुलाहिजा न रखकर यह नियम बना लेना चाहिये कि 'प्रातःकाल भोजन करनेके पहले इतनी माला जपकर ही भोजन करूँगा, चाहे कुछ हो जाय। फिर रातमें भोजन इतनी माला और जपकर ही करूँगा तथा सोनेसे पहले फिर इतनी माला जप करके ही सोऊँगा।' अब जहाँ रोटीकी

अड़चन लगी—दो-तीन बार भूल हुई और उपवास हुआ कि मन बदमाशी छोड़ देगा। दस मालाएँ सुबहके भोजनके पहले, दस शामके भोजनके पहले और दस सोनेके पहले—इस प्रकार तीस मालाएँ आसानीसे हो सकती हैं। इतना न हो पावे तो आठ-आठका नियम रखकर चौबीस माला प्रतिदिनका नियम ले लें। कुछ नियमकी पाबंदी बिना आरम्भमें भजनमें अड़चन लग ही जाया करती है। कुछ कड़ाईसे नियम बना लें, फिर भजन होने लग जायगा। मान लें, प्रतिदिन यदि २० मालाका ही नियम आप बना लें तो बीस तो हो ही जायँगी और बिना नियम कभी ६४ माला भी जप लेंगे और कभी दो-चार भी नहीं होंगी।

प्रभुकी कृपापर विश्वास होनेसे तो भजन अपने-आप होने लग जायगा। पर जबतक विश्वास नहीं, तबतक मनके साथ जवर्दस्ती करनी ही पड़ेगी; नहीं तो मनकी मलिनता मिटेगी नहीं और मलिनता मिटे बिना विश्वास भी नहीं होगा। वृत्ति न लगनेपर भी जीभ यदि नाम-उच्चारण करेगी तो भजन हो जायगा।

**संतका विश्वासपूर्वक सङ्ग करें और उनकी इच्छाके अनुसार अपना जीवन बितायें।**

मनुष्यको अपना मन ही धोखा देता है। अनादि-कालसे इस धोखेको मनुष्य जानता हुआ भी अनजान बना रहता है। अपनी वृत्ति, अपना दोष वह भगवान्‌पर तथा संतपर लादना चाहता है। भगवान् एवं संतका द्वार सदा-सर्वदा-सर्वथा सबके लिये उन्मुक्त है। कुछ भी नहीं चाहिये, बस, उस द्वारमें प्रवेशकी इच्छा होनी चाहिये। पर हम भीतरसे तो संसारमें चिपके रहना चाहते हैं, ऊपरसे भगवान्‌के, संतके द्वारमें प्रवेश करनेकी इच्छा प्रकट करते हैं। बस, यही भूल है और इसी भूलको



मन ऐसे सुन्दर ढंगसे सामने रखता है कि मनुष्य भूल ही जाता है। तरह-तरहकी युक्तियोंके फेरमें पड़कर यह उद्गार प्रकट करता है—‘क्या करूँ, मेरी परिस्थिति ही ऐसी है कि मैं स्वसङ्गसे वञ्चित हो रहा हूँ।’ वह यह कभी नहीं विचार पाता कि ‘अरे मन ! तू मुझे व्यर्थ क्यों ठगता है ? तू चाहता तो है नहीं और बातें बनाता है।’ हमलोगोंके साथ यही बात है। हमारा मन हमको धोखा दे रहा है। हमारा मन तरह-तरहके कर्तव्य सामने रखेगा और संतके सङ्गसे आपको वञ्चित रखनेकी चेष्टा करेगा। इसका इलाज या तो हम कर सकते हैं अथवा भगवान्। भगवान्की अहैतुकी कृपासे जब किसी दिन संसारका मोह भङ्ग होगा, तब दीखेगा कि मनुष्यका एक ही कर्तव्य है—भगवान्से प्रेम करना अथवा संतसे प्रेम करना। वस, इस प्रेममें साधक बनकर संसार रहे तब तो ठीक; नहीं तो अपने हाथसे इसमें आग लगा देना है। इसके पहले बिना पैदीके लोटेकी तरह कभी इधर, कभी उधर लुढ़कना है।

भगवान्की कृपाका आश्रय लेकर हम संतका विश्वास-पूर्वक सङ्ग करें और उनकी इच्छाके अनुसार अपना जीवन बितायें। पर यह होगा हमारे किये। हम अपनी इच्छा छोड़कर प्रभु-इच्छाके आगे सिर नवायें। इसीके लिये संतकी शुद्ध सहायताकी आशा रखें। संतको अपनी इच्छाके अनुसार चलानेकी इच्छा सर्वथा भीतरी तहसे मिटाकर उनकी इच्छाके अनुसार चलनेकी चेष्टा करें। देखें, एक लौकिक साधारण माँ भी अपने छोटे बच्चेको उस कामके लिये आज्ञा नहीं देती, जिसे बच्चा कर नहीं सकता। फिर भगवान् या संतके द्वारा तो यह असम्भव है। आप ऐसी कल्पना ही करना छोड़ दें कि ‘वे मुझे वह काम करनेको कहेंगे, जो मैं कर नहीं सकता।’ निश्चय मानिये, वे वही करनेको कहते हैं, कहेंगे, जो आपकी शक्तिके अंदर—आपके द्वारा सम्भव है। यह नहीं करके यदि आप हठ करेंगे कि ‘मैं तो यही

करूँगा, मुझे यही काम होगा, दूसरा नहीं होगा, मुझे यही करने दीजिये’—तो अशान्ति मिटनी कठिन है।

×

×

×

संत हमारे हाथके यन्त्र तो हैं नहीं कि हम जैसे घुमायें वैसे-वैसे वे घूम जायें। संत तो श्रीकृष्णके हाथके यन्त्र हैं। सर्वथा श्रीकृष्णकी प्रेरणासे ही वे कुछ भी करेंगे। दुनिया राजी हो या नाराज हो, इससे उनको मतलब नहीं; इस बातको श्रीकृष्ण समझें। तथा श्रीकृष्णकी इच्छा परम मङ्गलमयी है; उनके यहाँ भूल भी नहीं, पक्षपात भी नहीं। अतः यदि हम संतसे उत्तर चाहते हैं, तो इसके लिये श्रीकृष्णके प्रति आन्तरिक, सच्ची एवं व्याकुलताभरी प्रार्थना ही अचूक साधन है। वे सच्ची प्रार्थना अवश्य सुनेंगे। यदि नहीं सुनते तो हमारी प्रार्थनामें निष्कपटभावकी कमी कहीं-न-कहीं अवश्य है। अर्थात् हम जिसके लिये प्रार्थना करते हैं, उसके अन्तरालमें कोई दूसरी बात छिपी हुई है, अथवा हमारी प्रार्थनाकी अपूर्तिमें ही श्रीकृष्णने विशेष मङ्गल रच रक्खा है।

×

×

×

संतके पास आनेमें हमारा मन ही हमको बाधा दे रहा है। जबतक मलिन स्वार्थको हम नहीं छोड़ेंगे, तबतक शान्त मनसे संतके पास रह भी नहीं सकेंगे। संत किसीको न निकालते हैं न बुलाते हैं। वे तो जो आता है—वह चाहे कोई हो—उसे अपने हृदयका आसन देते हैं। जो उस आसनको छोड़कर अन्यत्र सुख खोजने जाता है, उसे रोकते भी नहीं। वे हृदयका द्वार खोले हुए रहते हैं—जो चाहे आ जाय, जो चाहे चला जाय।

दृढ़ विश्वासके साथ भगवान्को पुकारिये, नामका जप कीजिये और कभी झूठ न बोलिये।

भगवान्का जो सम्बन्ध एक बहुत बड़े संतसे है,



वही सम्बन्ध उनका हमसे भी है। यदि हम प्रेमसे, दृढ़ विश्वासके साथ उन्हें पुकारेंगे तो लोक एवं परलोक—दोनों जगह ही वे विव्कुल खुले हाथ हमारी सहायता कर सकते हैं और एक बार भी यदि हमारी उनसे ठीक-ठीक जान-पहचान हो गयी तो सशकलिये हमारे सभी दुःख सर्वथा मिट जायेंगे। अतः दृढ़ विश्वासके साथ उन्हें पुकारिये। जब समय मिले, तभी मन-ही-मन उन्हें पुकारिये।

नहीं कर रहे हैं। अतः एक काम अवश्य करना चाहिये। काम भर बोलनेके बाद जीभसे निरन्तर भगवान्‌का जो नाम प्यारा लगे, उसे उच्चारण करते रहना चाहिये। इसमें पहले नियमकी आवश्यकता होती है। इसलिये हम अपने पास एक माला रखें और फिर यह नियम कर दें कि 'सोनेसे पहले-पहले एक लाख नामका जप अवश्य कर दूँगा।' एक लाखका नियम लेनेमें यदि कुछ अड़चन प्रतीत हो तो पचास हजारका नियम ले लें।

( २ ) अन्तःकरण मलिन होनेके कारण भगवान्‌की पूर्ण कृपा हमपर होनेपर भी हम उस कृपाका अनुभव नहीं कर पाते। ( ३ ) खूब सावधानीसे यह चेष्टा करें कि मजाकमें भी कभी झूठ बात नहीं बोली जाय।

## परमार्थकी पगडंडियाँ

( नित्यलीलालीन परम श्रेष्ठ श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानसदाजी पोद्दार ) के अमृत-वचन )

तुम अपना जीवन श्रीभगवान्‌के चरणोंमें न्योछावर कर दो, फिर उनकी कृपासे सदा सस्ती बनी रहेगी। शोक, विषाद, दुःख, क्लेश, कष्ट, संताप, भय, उद्वेग आदि कुछ रहेंगे ही नहीं—यह निश्चय है। अपना सारा मन, सारी बुद्धि, सारा जीवन—प्रत्येक श्वास उन्हींके अर्पण कर देना चाहिये। बहुत-बहुत प्रसन्न रहना चाहिये। भगवान्‌का आश्रय लेनेवाला सदा प्रसन्न ही रहता है। आनन्दधन भगवान्‌के आश्रयमें तो नित्य आनन्द ही रहा करता है। उनके पास आनन्दका अभाव वैसे ही कभी नहीं होता, जैसे सूर्यके पास प्रकाशका अभाव नहीं होता।

तुम भगवान्‌के मङ्गल-विधानमें सदा-सर्वदा प्रसन्न रहना चाहते हो तथा वे अपने मनकी जो-कुछ करते हैं, उसीमें तुम अपना मङ्गल मानते हो, यह बहुत ही उत्तम विचार है। भगवान् हमारे ऐसे विचारोंसे बहुत प्रसन्न होते हैं। भगवान्‌की ओरसे सदा आशावान् तथा जगत्‌की ओरसे निराश होना चाहिये। जगत्‌की आशा सदा विफल तथा दुःखदायिनी होती है और भगवान्‌की आशा सदा सफल तथा सुखमयी है।

घरमें अतिथिकी भाँति रहना तो बहुत उत्तम है। वास्तवमें घर अपना है ही नहीं। जिसके मनसे घर और संसार निकल जाता है, उसका मन-मन्दिर भगवान्‌के लिये आप ही सज जाता है। मनको संसारसे खाली करना ही भगवान्‌के लिये सजाना है। भगवान् किसी भी पूजाकी वस्तुको नहीं चाहते; वे हैं चाहसे हीन। वे सहज प्रेमसे सना खाली घर चाहते हैं। ऐसा घर पाते ही वे उसमें सदाके लिये बस जाते हैं।

तुम नित्य सत्य सच्चिदानन्दधन भगवान्‌के चरणोंमें अपना चित्त समर्पण करके सदाके लिये निर्भय और निश्चिन्त हो जाओ। भगवान् जीवन-मरण, लोक-परलोक, भूत-भविष्य—सभीमें सदा साथ रहते हैं। तुमपर भगवान्‌की बड़ी कृपा है। तुम सहज ही उनकी शरण ग्रहणकर कृतार्थ हो सकते हो।



वे सर्वसमर्थ सदा ही परम सुहृद् हैं। उनकी कृपाकी छत्रछायामें पहुँच जानेपर मनुष्यका घोर संताप सदाके लिये मिट जाता है और वे सदा, सबको अपनानेके लिये तैयार हैं। सच्चा भरोसा तो उसीका है, जो हर हालतमें साथ रहता है। इससे उनसे ही यह प्रार्थना करनी चाहिये—

कुटिल कर्म लै जाहि मोहि, जहँ-जहँ अपनी बरिआई ।

तहँ-तहँ जनि छिन छोह छँड़ियो, कमठ अंडकी नाई ॥

अतएव अन्य सब आशा-भरोसा-विश्वास छोड़कर, एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर होकर, उन्हींका आशा-भरोसा-विश्वास करना चाहिये।

× × × × ×

मैं खुले शृङ्गारसे डरता हूँ तथा किसीको भी उसके पठन-पाठनकी सलाह नहीं देता। मैं आजकल इसलिये और भी डरा हुआ हूँ कि बहुत-से लोग अपनेको प्रेमी, त्यागी, महापुरुष, संत तथा परम भागवत घोषित करते हुए श्रीराधाकृष्ण अथवा गोपी-प्रेमका उदाहरण देकर अपनी वासना-पूर्तिका प्रयास करते हैं और भोले लोग उनके द्वारा ठगे जाते हैं। इस स्थितिमें शृङ्गारके पदोंका प्रचार ऐसे लोगोंके लिये उत्साह देनेवाला तथा इनके पापका समर्थन करनेवाला मान लिया जाता है। मेरा यह डर सप्रमाण है। इसीलिये मैं बहुत सावधान रहता हूँ। मेरी इस सावधानीके पीछे यही भाव है कि भगवान्‌के पवित्र प्रेमके नामपर कमजोर हृदयके लोगोंकी वासनाको जरा भी जागनेका अवसर न मिले।

× × × × ×

‘अभय’ दैवी-सम्पदाका पहला गुण है। जो परम अभयस्वरूप भगवान्‌के भयहारी चरण-कमलोंके शरण हो जाता है, उसके पास न पाप-ताप आ सकते हैं, न उसे पतन या नरकका ही भय हो सकता है। वह महापापी भी तुरंत पुण्यात्मा भक्त होकर शाश्वती शान्तिका अधिकारी हो जाता है। भय-शोक तथा पतन-नरक तो तभीतक वहाँ हैं, जहाँ मनमें भोगोंका आश्रय है, जो पद-पदपर भय-शोक उत्पन्न करनेवाले तथा दुःखयोनि ही हैं। निर्भयस्वरूप भगवान्‌का शरणागत तो निर्भय ही नहीं होता, वह सारे जगत्‌को अभय-दान करनेवाला बन जाता है। भगवान्‌का होकर जो एक बार भी भगवान्‌को पुकार उठता है, भगवान्‌ उसे सबसे अभय कर देते हैं। यह भगवान्‌का विरद है— ‘मम पन सरनागत भय हारी।’

× × × × ×

यह सत्य है कि भगवान्‌ श्रीकृष्ण सबके परम प्रियतम हैं; वे आत्माके भी आत्मा हैं, परम पति हैं। इस भावसे उनका भजन बन पड़े तो वह बहुत उच्च श्रेणीका है—इसमें जरा भी संदेह नहीं है; परंतु यह भाव है बहुत कठिन। यह भाव था गोपीजनोमें। श्रीचैतन्यमें भी था; पर अन्य लोगोंमें कहाँ, कितना, किसमें था, कुछ कहा नहीं जा सकता। भगवान्‌के परम प्रियतम और परम पति होते हुए भी जबतक ‘निज-सुख’की इच्छाका लेश है, तबतक इस भावसे उनका भजन होना बहुत कठिन है। फिर आजकलके मनुष्य बहुत ही दुर्बल मनके हैं। भगवान्‌ तथा भगवत्प्रेमके लिये ही वे इस तरहके मार्गपर आते हैं, परंतु राग-द्वेषयुक्त तथा वशमें न किये हुए मन-इन्द्रिय उन्हें भगवान्‌से हटाकर गंदे लौकिक भोगोंमें प्रवृत्त कर देते हैं। इसलिये भगवान्‌के नामपर भी उन विषयोंसे अलग रहना ही निरापद है, जिनसे जरा भी वासनाके जाग्रत् होनेका डर हो।

× × × × ×

असली अस्वस्थता तो मनकी होती है और उसी मानसिक अस्वस्थताके कारण मनुष्यके द्वारा विभिन्न अवाञ्छनीय कार्य होते हैं और उसीके कारण उसे भय, विषाद, क्लेश और शोक आदि होते हैं। मनुष्य जिस विषयका चिन्तन करता है, उसीमें उसकी आसक्ति होती है और जिसमें आसक्ति होती है, उसीका



विशेष चिन्तन होता है एवं उसीके अनुसार वह नरक ( दुःख ), स्वर्ग ( सुख ), भगवान् ( परम आनन्द ) की ओर जाता है । तीन प्रकारके चिन्तन हैं—असत्-चिन्तन ( पाप या अशुभ-चिन्तन ), सत्-चिन्तन ( पुण्य अर्थात् पवित्र अथवा शुभ-चिन्तन ) और भगवत्-चिन्तन । इसमें असत्-चिन्तन तो कभी नहीं होना चाहिये । यह तो दुःख या नरकका पथ है । सत्-चिन्तन सुखकारक है, इससे वह करना चाहिये । परन्तु सर्वोत्तम है—भगवत्-चिन्तन, जिसके होनेसे असत्-चिन्तनका स्वाभाविक ही वैसे ही नाश हो जाता है, जैसे सूर्यका प्रकाश होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है और सत्-चिन्तन या दैवी-सम्पत्ति उसी प्रकार आप ही आ जाती है, जैसे सूर्यके साथ प्रकाश आता ही है । देव जहाँ होंगे, वहाँ दैवी सम्पदा होगी ही । जहाँ वर्ष है, वहाँ सर्दी होगी ही; अग्नि है, वहाँ गर्मी होगी; गुलाब है, वहाँ गुलाबकी सुगन्धि होगी । इसी प्रकार जहाँ भगवान् होंगे, वहाँ भगवान्‌के दिव्य गुण होंगे ही । अतएव जिस-किसी प्रकारसे भी हो, भगवान्‌का चिन्तन—उनकी लीला, उनके ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य, सौहार्द, स्वरूप, गुण, नाम—किसीका भी चिन्तन—करते रहना चाहिये । इस चिन्तनमें जब रस—आनन्द आ जायगा, तब तो यह अपने-आप ही होगा, छुड़ाये भी नहीं छूटेगा ।

पहले मनुष्यको बिना मनके ही सही, भगवत्-चिन्तन करना चाहिये । × × × × वस, भगवच्चिन्तन करे—प्रतिक्षण भगवान्में मन रहे, भगवान् ही मनमें वसे रहें । जगत्को, प्राणिमात्रको, पदार्थमात्रको भूल जाओ; संसारकी परिस्थितियोंका कोई भी प्रभाव जीवनपर न रहे । एकमात्र प्रभु ही प्राण, आत्मा, सुख-स्मृति, जीवन—सब-कुछ हो जायँ ।

भगवान् किसीके पूर्व जीवनको नहीं देखते। वह पुण्यमय है या पापमय, शुभ था या अशुभ—इसकी ओर भगवान् ध्यान नहीं देते। वे देखते हैं मनकी वर्तमान स्थितिको। इस समय यदि हमारा मन श्रीभगवान्को चाहता है, नित्य उनको अपनेमें बसाये रखना चाहता है, उनकी मधुर स्मृतिमें डूबा रहना चाहता है और उसकी यह चाह यदि यथार्थ है तो भगवान् अपनी सहज स्वाभाविक कृपासे उसके हृदयके पुराने पापोंका तुरंत नाश करके उसके हृदयमें बस जाते हैं और नित्य-निरन्तर उसे भगवान्की संनिधिका अनुभव होता रहता है। इसलिये अपने पहलेके घृणित जीवनकी याद करके किसीको भी जरा भी निराश नहीं होना चाहिये। जैसे सूर्योदय होते ही अमावास्याका घोर अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही मनमें भगवान्के आते ही तमाम तम-राशि भस्म हो जाती है। भगवान्की कृपाकी महान् शक्ति हमारे पुराने पापोंकी शक्तिसे कहीं अधिक है।

तुम चाहते हो कि मैं प्रभुको एक क्षणके लिये भी न भूलूँ—यह बहुत सुन्दर मनोरथ है। जो प्रभुका नहीं भूलता, उसे अनुभव होता है कि प्रभु भी मुझको कभी नहीं भूलते। प्रभु तो अब भी नहीं भूलते, हम ही उनको भूले हुए रहते हैं, इससे हमें ज्ञान पड़ता है कि प्रभु हमें भूल रहे हैं। मनुष्य यदि ध्यान दे तो उसे पता लगेगा कि प्रभु हर हालतमें सदा समीप रहते हैं, साथ रहते हैं, नित्य हृदयमें रहते हैं तथा एक क्षणके लिये भी इधर-उधर नहीं जाते—

चलत-चितवत, दिवस जागत, सुपन सोवत रात । हृदय ते वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात ॥

गोपी-हृदयका यह अनुभव सर्वथा सत्य है। इसका मधुर अनुभव सदा करते रहना चाहिये। यह अनुभव भी प्रभुकी कृपासे ही हुआ करता है। जो मनुष्य उस महान् कृपाका अनुभव नहीं करता, वही उससे वञ्चित रहता है।



प्रभुकी स्मृतिके समान सुख अन्य किसी भी वस्तु या स्थितिमें नहीं है। परंतु यह सुख उन्हींको प्राप्त होता है, जिनका प्रभुके पावन पदारविन्दोंमें प्रेम होता है। प्रभुकी स्मृति तो उन्हें अपना वैरी मानने-वालोंके मनमें भी होती है और उस स्मृतिसे उनकी मुक्ति भी होती है, परंतु स्मरणकालमें उन्हें सुख नहीं मिलता; क्योंकि उनकी स्मृतिमें माधुर्य नहीं है, अनुराग नहीं है। तुम चाहते हो कि 'नित्य एक-सी स्थिति बनी रहे, प्रभुका मनसे कभी वियोग हो ही नहीं, हृदयमें दूसरी कोई स्मृति आये ही नहीं'—तुम्हारी यह चाह बहुत ही श्रेष्ठ है। भगवान्की बड़ी कृपासे ही ऐसी चाह हुआ करती है। चाह यदि प्रबल होती है, खास करके भगवत्-सम्बन्धी, तो वह अवश्य पूरी भी होती है। भगवान् हमारी अपनी वस्तु हैं। वे किसी कर्मके फल नहीं हैं। अतः चाह तीव्रतम होते ही वे मिल जाते हैं। यह सत्य है कि प्रभुकी सहज सुहृदता सदा ही सचपर बनी हुई है और यह अनन्त है, असीम है। अतएव प्रभुकी कृपासे कोई भी वञ्चित नहीं है। मनुष्यके लिये यह चाह बड़ी मङ्गलमयी है कि 'भगवान् सदा मेरे पास बने रहें, कभी क्षणभरके लिये भी मुझे छोड़कर इधर-उधर न जायें।' भगवान् असलमें सदा पास रहते ही हैं, उनके बिना हम रह ही नहीं सकते; पर उनका सदा पास रहना हम अनुभव नहीं करते। कभी-कभी कुछ झँझकी-सी होती है, फिर भूल जाते हैं। भगवान् कृपा करके कभी प्रेमकी आँखें दे दें तो फिर सदा-सर्वत्र वे-ही-वे दीखने लगें। 'जिन देखौं तिन स्याममयी है' की स्थिति हो जाय।

x

x

x

x

जगत्के जितने अनुकूल विषय हैं, पहले मिलनेके समय वे नये-नये रूपमें आकर्षक, प्रिय तथा आनन्ददायक होते हैं; पर सदा पास रहनेपर उनमें कोई आकर्षण नहीं रह जाता, न वैसी प्रियता तथा आनन्द ही रहता है। वे पुराने (वासी) हो जाते हैं। पर भगवान् कभी वासी नहीं होते, पुराने होकर भी वे नित्य नवीन रहते हैं। प्रतिक्षण उनका सौन्दर्य खिलता तथा नये-नये आकर्षणको लिये प्रकाशित होता रहता है। इसलिये उनका चिन्तन कभी छुटनेवाला नहीं होता।

x

x

x

x

'तुम अपना जीवन प्रभुका बना देना चाहते हो, अलग तुम्हारी कोई वासना-कामना न रह जाय, सारी क्रिया केवल प्रभुप्रीत्यर्थ हो'—तुम्हारा यह भाव बहुत ही श्रेष्ठ है। जो ऐसा मानते हैं और चाहते हैं, अन्तर्यामी सर्वदा कृपा करनेवाले प्रभु उनको निश्चय ही अपना लेते हैं। तुमको यह कभी नहीं मानना चाहिये कि तुम प्रभुके चरणकमलोंसे वञ्चित हो। तुम विश्वास करो और उनके मृदुल अरुण चरण-युगलोंको नित्य अपने समीप अनुभव करो। प्रभुकी कृपा हमलोग कम मानते हैं, इसीसे उनका कम अनुभव होता है। वास्तवमें कृपाकी कोई सीमा नहीं है—कहीं ओर-छोर नहीं है। 'प्रभु कृपा करके सदाके लिये अपनी चरण-रज बना लें'—यह इच्छा बहुत ही उत्तम है। पर तुम्हें विश्वास करना चाहिये कि 'भगवान्की मुझपर अनन्त कृपा है और वे मुझे अपनी चरण-रज अवश्य बना लेंगे।' अभी अपनेको उनकी चरण-रज समझ लो तो अभी बने-बनाये ही हो। जीवके अपने सारे अहंकारका त्याग हुआ कि वह चरण-रज हो गया।

x

x

x

x

x

तुम विश्वास करो, प्रभुने तुमको अपना लिया है। जो यह विश्वास कर लेता है,—वह अपनेको प्रभुका अनुभव करता है। फिर उसपर किसीका प्रभुत्व नहीं रह जाता; किसी भी वस्तु, स्थिति, अवस्था, प्राणी, पदार्थका कुछ भी प्रभाव उसपर नहीं पड़ता; उसे सुखकी स्पृहा नहीं होती—दुःखका उद्वेग नहीं होता। वह नित्य-निरन्तर प्रभुके साथ घुला-मिला रहकर अपनी स्थितिमें मस्त रहता है; किसीका भी उसपर कोई असर नहीं होता। वह कहीं लिप्त नहीं होता। जन्म-मरण, सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक—सब उसके लिये समान हो जाते हैं।

x

x

x

x



खूब प्रसन्न रहो और खूब भगवान्‌का स्मरण करो। दुनियाके सुख-दुःखकी जरा भी परवा न करके एकमात्र भगवान्‌में ही सारे सुखोंको देखो और भगवान्‌को हृदयसे एक क्षणके लिये भी मत हटने दो। भगवान्‌का स्मरण ही परम पुण्य, परम सम्पत्ति और परम सौभाग्य है तथा भगवान्‌का विस्मरण ही घोर पाप, भयानक विपत्ति और महान् दुर्भाग्य है। अतएव आसक्ति—ममता भगवान्‌में करो।

x

x

x

x

सबको यह सुदृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि 'भगवान्‌की कृपा हमपर असीम और अनन्त है।' सांसारिक स्थिति चाहे जो जैसी रहे, जीवन-मरण, संयोग-वियोग—सभीमें भगवान्‌की महलमयी कृपा भरी है, इस निश्चय और विश्वासको दृढ़ करके नित्य-निरन्तर हर अवस्थामें परम सुखी रहना चाहिये, अपने मनमें जरा भी दुखी नहीं होना चाहिये। 'भगवान् प्रतिक्षण हमारे साथ हैं—सभी अवस्थाओंमें'—इस बातका पहले निश्चय और फिर अनुभव करना चाहिये।

x

x

x

x

मनसे प्रतिकूलताको निकालकर, भगवान्‌की कृपाको देखते हुए, सर्वत्र, सब समय अनुकूलताका अनुभव करके सुखी रहना चाहिये। भगवान् हमको कभी नहीं भूलते, हम ही उन्हें भूलते रहते हैं। वे तो अकारण सुहृद् हैं। संयोग-वियोग तो संसारका स्वरूप है। संसारकी कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसका सदा संयोग रहे और परमात्मा ऐसी वस्तु है, जिसका कभी वियोग नहीं होता। उनका नित्य संयोग रहता है, जीवन-मरण सभीमें वे साथ रहते हैं। इस संयोग-सुखका अनुभव करके सदा सुखी रहना चाहिये।

## सुखी कौन ?

[ पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश ]

( प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी )

सुखी किसको माना जाय, यह एक विचारणीय प्रश्न है। लोग यह समझते हैं कि जिसके पास विशेष धन है, अनेक नौकर-चाकर हैं, अनेक मोटर-कारें हैं अथवा जो ऊँचे-ऊँचे पदोंपर आसीन हैं—जैसे जज, कलक्टर, कमिशनर, गवर्नर आदि—शायद वे लोग बहुत सुखी हैं; और जिसके पास ये सारी सुविधाएँ या कोई सुविधा नहीं है, वह दुखी, दीन और दरिद्र है। किंतु ये सब बातें केवल एक कोरी कल्पना हैं। ऐसे सुसम्पन्न व्यक्तिसे, जिसे आप सुखी समझते हैं, जाकर आप पूछें तो वह वही उत्तर देगा कि 'भाई ! मैं सुखी नहीं हूँ। जिसे तुम सुख समझते हो, वह केवल विडम्बना है।' जनसाधारणके विचारमें ये सारी वस्तुएँ सुख देनेवाली प्रतीत होती हैं; किंतु जिनको ये वस्तुएँ प्राप्त हैं, वे अनेकानेक चिन्ताओंसे ग्रस्त हैं। चिन्ताओंका पहाड़

उनके सामने खड़ा है और उन्हें संतोष नहीं है। एक इच्छाकी पूर्ति हुई, एक चिन्ता दूर हुई कि दूसरी इच्छा, दूसरी चिन्ता सम्मुख उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार उनके अंदर इच्छाओंका और चिन्ताओंका ताँता लगा रहता है, जिनकी पूर्तिमें उनका सारा जीवन व्यतीत हो जाता है और उनको कोई सुख प्राप्त नहीं होता।

सुखी किसे कहें और दरिद्र किसे कहें, इसके विषयमें शास्त्रकारोंका मत है—

को वा दरिद्रो हि विशालतृणः

ध्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः ।

जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यमो यः

किं वामृतं स्यात् सुखदा निराशा ॥

( शंकराचार्यकृत प्रश्नोत्तरी ५ )

इस श्लोककी हर पङ्क्ति के आगे भागमें प्रश्न है



और आधे भागमें उसका उत्तर है। पहली पङ्क्तिमें जो शब्द है, वह है—‘दरिद्र कौन है ?’ और उसका उत्तर है—‘जिसे बहुत तृष्णा हो।’ दरिद्रताके निवारणके लिये तृष्णाका त्याग आवश्यक है। तृष्णा क्या है ? इच्छाओंकी पूर्तिकी प्यास। जिनके मनमें अनेकानेक इच्छाएँ हैं, जिन्हें इच्छाओंकी पूर्तिकी प्यास लगी है, उनकी एक इच्छाकी किसी प्रकार पूर्ति हुई कि दूसरी इच्छा व्यक्त हो जाती है। इस प्रकार जिसके मनमें इच्छाओंका तौता लगा है, एक इच्छा मिटती कि दूसरी पैदा हो जाती है—जो तृपित व्यक्ति है, वह सम्पूर्ण वैभवोंसे सम्पन्न भी क्यों न हो, उसे वास्तवमें दरिद्र कहना चाहिये। वैभव-सम्पन्न होनेसे ही कोई सुखी नहीं होना जा सकता, यदि उसने तृष्णाओंका त्याग नहीं किया है।

दूसरा प्रश्नोत्तर है—‘श्रीमान् कौन है ? श्रीमान् अर्थात् लक्ष्मीसम्पन्न व्यक्ति वह है, जिसे सब प्रकार संतोष हो।’ केवल धन होनेसे कोई श्रीमान् नहीं बन सकता; धन तो चिन्ताओं और भयका कारण है। परम धनी वही है, जिसे संतोष हो। संतोषका यह अभिप्राय नहीं है कि हम हाथपर हाथ रखकर बैठे रहें और कोई काम-काज न करें। इसकी भी हमारे शास्त्रमें बड़ी निन्दा है। परमपिता परमात्माने जो सम्पदा हमें यहाँ दी है, उसके लिये उनकी बड़ी कृपा मानकर उसकी उत्तरोत्तर उन्नति करनी चाहिये। इसीको ‘पुरुषार्थ’ कहते हैं। इसके विषयमें प्रश्नोत्तर श्लोककी तीसरी पङ्क्तिमें है।

उद्यम करनेको ‘पुरुषार्थ’ कहते हैं। यह कर्मभूमि है; यहाँ हमें काम करना है और काम भी वही करना है, जिससे हमारी उन्नति हो।

जो व्यक्ति काम नहीं करता—निरुधर्मी है, वह जीवित रहते हुए भी मूर्ख है। जीवनमें काम करनेकी बड़ी महत्ता है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त हमारे लिये

जैसी-जैसी अवस्था आती है, उसके लिये अलग-अलग यथोचित कर्मोंका विधान है। हम पहले बालक, बादमें युवा और उसके बाद वृद्ध गिने जाते हैं। बाल्यावस्थामें ब्रह्मचर्यका, युवावस्थामें गृहस्थाश्रमका, वृद्धावस्थामें वान-प्रस्थ और संन्यासका हमारे यहाँ विधान है और उनके लिये अलग-अलग कर्तव्योंका भी विधान है। अवस्था-नुसार बताये हुए कर्मोंका यथावत् पालन करनेका ही नाम दूसरे शब्दोंमें ‘पुरुषार्थ’ है। जबतक शरीरमें प्राण है, तबतक कर्तव्य करते रहना चाहिये, किसी दूसरेके आश्रित या निर्भर नहीं रहना चाहिये। इस निराश्रित पुरुषार्थीके लिये शरीरको भी स्वस्थ रखना आवश्यक है, जिसके लिये बहुत-से नियम और उपनियम बनाये गये हैं। यहाँ उन समस्त नियमों और उपनियमोंका विवेचन करनेकी आवश्यकता है। केवल इतना ही मानना और जानना आवश्यक है कि पुरुषार्थके लिये अपने शरीरको सदा स्वस्थ रखनेकी विशेष आवश्यकता है। उपनिषदोंमें इसके सम्बन्धमें प्रार्थनाके मन्त्र हैं—

आध्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। (शान्तिपाठ)

‘हे परमेश्वर ! मेरे सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग, वाणी, नेत्र, श्रोत्र आदि सभी इन्द्रियाँ, प्राणसमूह, शारीरिक-मानसिक बल और ओज पुष्टि और वृद्धिको प्राप्त हों।’ अब इसके बाद जो चौथा और अन्तिम प्रश्न इस श्लोकमें है—‘अमृत क्या है ?’ जिसका उत्तर शास्त्रकार बताते हैं—‘सुखदा निराशा’ अर्थात् विषय-सुखकी आशाका भी त्याग। इसके त्यागसे क्या होगा ? भगवद्भजन।

भगवद्भजन अमृत है। इस अमृतका पान तो केवल संत-महात्मा ही करते हैं। भगवद्भजनमें जो अमृत-तुल्य आनन्द है, उसका रसास्वादन करना तो संत ही जानते हैं। यही कारण था कि पूर्वकालमें अनेकों राजा-महाराजा अपनी सारी सम्पत्ति, राज्यवैभव तथा सम्पूर्ण



कामनाओंका त्याग करके अन्तमें संतोंकी शरणमें आये थे और वहाँ रहकर ईश्वर-भजनरूप अमृतका पान करते थे एवं जीवन्मुक्त हो जाते थे। 'राजा-महाराजाओंको कौन-सी वस्तु अप्राप्त थी, जिसे भगवान्से प्राप्त करनेकी उन्हें अन्त समयमें इच्छा हुई और जिसने उन्हें ईश-भजनमें लगाया' ? इसका उत्तर यह है कि 'उन्हें हो सकता है सब प्रकारका सुख हो; किंतु वास्तविक सुख तो अमृत-पानमें है, जो केवल संत-महात्माओंको ही प्राप्त है और वह समस्त सुख-भोगकी आशा छोड़कर भगवान्के निष्काम भजनमें ही है।

निष्काम भक्तिका ही प्रतिपादन सम्पूर्ण गीतामें है।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

( गीता १८ । ६६ )

भगवान्की अनन्यशरणागतिमें ही अनन्त अमृत भरा है। 'सब प्रकारकी आशा-तृष्णाओंका त्याग करके भगवान्की शरणमें जाओ, भगवान् तुम्हें समस्त पापोंसे और उनसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे अवश्य मुक्त कर देंगे—इसमें तनिक भी संदेह न करो'—यह भगवद्-वाक्य है। माता दुर्गाकी वन्दना करते हुए जगद्गुरु शंकराचार्यने भी उनसे यही प्रार्थना की है, जो सदा अनुकरणीय है—

न मोक्षस्याकाङ्क्षा भवविभववाञ्छापि च न मे  
न विज्ञानापेक्षा शशिमुखि सुखेच्छापि न पुनः ।

अतस्त्वां संयाचे जननि जननं यातु मम वै  
मृडानी रुद्राणी शिव शिव भवानीति जपतः ॥

( देव्यपराधक्षमापनस्तोत्र )

'हे शशिवदनी दुर्गादेवी! मुझे न तो मोक्षकी इच्छा है न संसारके वैभव, विज्ञान अथवा सुखकी आकाङ्क्षा है। मेरी तुमसे यही याचना है कि मेरा जीवन 'मृडानी,' 'रुद्राणी,' 'शिव,' 'शिव' और 'भवानी' आदि नामोंको ही जपते हुए बीते।'।

कबीरदास भी कह गये हैं, जो यत्रतत्र आप उनके भजनोंमें सुनते होंगे—

जो सुख पायौ मैंने राम-भजन में,  
सो 'सुख' नाहिं असीरी में।

इसलिये यदि अमृत पानेकी इच्छा हो तो संतोंकी शरणमें जाओ और सब इच्छाओंका त्याग करके उनसे भगवद्भजन करना सीखो। यही सब धर्मोंका सार और पूर्ण ऐश्वर्य है।

चाह को जो फंका करे, उसका नाम फकीर।

इच्छाओंका दमन करना और उसपर विजय प्राप्त करना ही यथार्थ सुख है, जो संतोंसे प्राप्त होता है। संत बार-बार यही कहते हैं—

जाल लिये जम फिरत अहेरा । हरि विमुखन पर देत डड़ेरा ॥  
झंझा-झेर न कीजिय भाई । सिरपर काल रहा मँडराई ॥

यमराज शिकारकी खोजमें घूम रहे हैं। जो भगवान्से विमुख हैं, वे ही उनके जालमें फँसते हैं। इसलिये अपने अंदर विराजमान उस आत्मतत्त्वको समझो, जो स्वयं परमात्माका स्वरूप है और जिसके विषयमें यह कहा जाता है कि 'न वह मरता है न जन्म लेता है; वह तो शाश्वत और नित्य रहनेवाला है'—

न जायते म्रियते वा कदाचि-

त्रायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

( गीता २ । २० )

यह तो गीताका उपदेश हुआ। इसके सिवा और भी उपदेशमय वाक्य हैं—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो

न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रः ।

न ब्रह्मचारी न गृही घनस्थो

भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥

'वास्तवमें न तो मैं मनुष्य, देव या यक्ष हूँ, न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हूँ। इसी प्रकार न मैं ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी हूँ। मैं तो



यथार्थतः वही परमात्मतत्त्व हूँ, जो इस शरीरसे भिन्न, नित्य और निर्विकार है, जो सदा एकरस रहनेवाला, क्षय और वृद्धिसे रहित एवं पुरातन है।' विभिन्न शरीरों-को धारण किये हुए रहनेपर भी अंदर एक ही परमात्मतत्त्व बह रहा है, जिसकी न कोई जाति या वर्ण है। वह तो एक ही परमात्माका अंश है। यही यथार्थमें जानना और समझना है, जिसको हम भूले हुए हैं। मोहके वशीभूत होकर हम अपने उस वास्तविक स्वरूप-

को पहचान नहीं रहे हैं, अपितु सुर-दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर भी कीट-पतंगकी भाँति इसे व्यर्थ नष्ट कर देते हैं; अतएव अपने-आपको भेदरहित, नित्य, चेतनस्वरूप समझकर तथा सांसारिक भोग-पदार्थोंकी कामनासे रहित होकर, संतोंकी शरणमें रहते हुए उस परम पिता परमात्माका निष्काम भजन और साक्षात्कार करो। यही वास्तवमें सुखी जीवन है। अन्यथा सर्वत्र दुःख, दीनता और दरिद्रता ही है।

## पागलकी झोली

( लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथ महाराज )

एक दिन कुटियामें बैठा हुआ पागल—‘राम-राम, दे चाभी ! लगा दे चाभी !’ बोल रहा था। हलधर आकर कहने लगा—‘अरे पागल बाबा ! कहाँ चाभी लगा रहे हो ?’

पागल—सब एक ही गड्ढेमें घुसे बैठे हैं। ताला लगा दो, ताला लगा दो। राम-राम ! सीताराम !!

हलधर—कौन ? कहाँ डेरा डाल रक्खा है ?

पागल—सीताराम !

हृदयकमलमध्ये	निर्विशेषं	निरीहं
हरिहरविधिवेद्यं	योगिभिर्ध्यानगम्यम् ।	
जननमरणभीतिभ्रंशि	सच्चित्स्वरूपं	
सकलभुवनबीजं	ब्रह्मचैतन्यमीडे ॥	

‘निर्विशेष, निरीह, हरि-हर-ब्रह्माका शातव्य, योगियोंके लिये ध्यानगम्य, जन्म-मरण भीतिनाशक, सच्चित्स्वरूप, समस्त विश्वका बीज ब्रह्मचैतन्य हृदयकमलमें आकर उपस्थित है।’ गुरुदेव भी—

हृदम्बुजे	कर्णिकामध्यसंस्थं
सिंहासने	संस्थितदिव्यमूर्तिम् ।

हृदयपद्मकी कर्णिकाके मध्यभागमें सिंहासनपर आकर विराजमान हो रहे हैं। सीताराम, सीताराम !

हलधर—उसके बाद, उसके बाद ?

पागल—सीताराम, उसी याँके साँवरे ठाकुरने गीतामें कहा है—

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः ।

सबके हृदयमें विराजमान—स्वीकारोक्ति करते हैं कि मैं हूँ। सीताराम !

हलधर—वह क्या ?

पागल—केवल निविष्ट ही नहीं—संनिविष्ट—उत्तमरूपसे प्रविष्ट हैं। वे जबतक हैं, जीवन भी तभीतक है; उनके हटते ही सारा खेल खतम हो जाता है। सीताराम !

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

समस्त भूत-प्राणियोंके हृदयमें ईश्वर हैं—केवल हैं ही नहीं; मायाके द्वारा सबको कठपुतलीकी तरह नचाते भी हैं। सीताराम !

हलधर—राम-राम ! सीताराम !! देखो, भूलसे मैं भी तुम्हारे साथ-साथ ‘राम-राम, सीताराम’ बोल पड़ा। उसके पश्चात् ?

पागल—सीताराम ! यह भूलना अच्छा है। हृदयस्थित प्राण ही सर्वोपरि है। प्राण जाकर अपानको गुह्यमें, समानको नाभिमें, व्यानको सर्वाङ्गमें, उदानको सुषुम्णामें स्थापित करके रखता है और स्वयं ग्रन्थि बनकर बैठा हुआ है। सीताराम, सीताराम। ‘हृदि द्योष आत्मा’—आत्माराम भी उसी प्राणपर आरुढ़ होकर सुखपूर्वक उसी स्थानपर निवास करते हैं—‘देहेऽस्मिन्जीवः प्राणारूढो भवेत्’—

( शाण्डिल्यश्रुतिः १।४।४ )



‘हृदि स्थानेऽष्टदलपद्मं वर्तते, तन्मध्ये रेखावलयं कृत्वा  
जीवात्मरूपं ज्योतीरूपमणुमात्रं वर्तते, तस्मिन् सर्वं  
प्रतिष्ठितं भवति ।’ ( ध्यानविन्दुश्रुतिः ९४ )

‘हृदयमें अष्टदल पद्म है । उसके मध्यमें रेखावलय—  
गोल रेखाके समान ज्योतिरूप अणुमात्र जीवात्मा है । सब कुछ  
उसमें प्रतिष्ठित है ।’ राम-राम ! सीताराम !!

हलधर—लगाता है, यह व्यापार बुरा नहीं है, सभी कुछ  
हृदयमें ?

पागल—सीताराम ! और भी सुनो—

हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तस्य वक्त्रमधोमुखम् ॥

ऊर्ध्वनालमधोविन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः ।

( योगतत्त्वोपनिषद् १३७-१३८ )

‘हृदयमें एक अधोमुख पद्म है । उसका नाल है ऊपर,  
विन्दु नीचे है । उस विन्दुके मध्यमें है मनका पैतृक  
निवासस्थान ।’ राम-राम ! सीताराम !!

हलधर—तब तो निर्विशेष निर्गुण ब्रह्मा, गुरुदेव, कृष्ण,  
ठाकुर, ईश्वर, प्राण, आत्मा एवं मन—सब कुछ हृदयमें  
ही है ।

पागल—क्या केवल इतना ही ? सीताराम ! वह अनाहत  
पद्म भी है । वहाँ वंशीध्वनि अपने-आप बजती रहती है ।  
हमारा प्रणव भी उसी स्थानपर विराजमान है । ‘हृत्पद्मकी  
कर्णिकापर स्थिर दीपत्वे समान, अङ्गुष्ठमात्र, निर्मल  
ॐकाररूप ईश्वरका ध्यान करे’—

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम् ।

अङ्गुष्ठमात्रमलं ध्यायेद्देवोऽकारमीश्वरम् ॥

( ध्यानविन्दु १९ )

हलधर—प्रणवका उस स्थानपर ध्यान करना होता है ?  
वह तो उसका घर नहीं है ।

पागल—राम राम ! सीताराम !! रामके घरमें श्याम आता  
क्या ? वही उसका अपना घर है । एक ही रस्सीमें ये सात पीढ़ियाँ  
जड़ी हुई हैं । सीताराम, सीताराम ! एक बेटी पगली निश्चय  
ही पड़ी-पड़ी सो रही थी । वह जल्दीमें आकर धेड़ें धेड़ें  
करके नाचना आरम्भ कर देती है । क्या केवल नाच  
गाना भी—कितने सुरमें, कितने ढुगढुगी, ढोल, घड़ियाल और  
वंशी बजाकर गाना—ऐसा गान, जिसमें विराम या विश्राम  
कहीं नाम नहीं । क्या केवल नाच-गान और वाद्य ही  
नहीं उसी स्थानपर प्रसव भी करती है, नाचती है और प्रस  
करती है—सर्वथा प्रकाश-ही-प्रकाश । राम-राम ! सीताराम !

हलधर—क्या प्रसव करती है ?

पागल—सीताराम, सीताराम ।

शुभ्र शुभ्र, सद्यःप्रसूत, रजःकणके समान—उसमें  
सूक्ष्म शुभ्र विन्दु । राशि-राशि ज्योति । बड़े-बड़े आका  
प्रसव कर रही है और नाच रही है ।

हलधर—वह कौन है ?

पागल—राम-राम ! सीताराम !!

योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा ।

योगिजनोंके हृदयकमलपर नित्य-निरन्तर नृत्य कर  
हुई सर्वभक्षिणी सर्पिणी माँ । नाचकर, गाकर, बजाकर  
प्रसवकर उसने बहुत बड़ा झमेला खड़ा कर रक्खा है, जिसमें  
सँभालना कठिन हो रहा है । राम-राम ! सीताराम !! अब  
चार ताला लगा दो, लगा दो । निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म  
आत्मा, प्राण, मन, ॐकार और वह नाचती हुई माँ—  
सब एक घरमें ही घुमे हुए हैं । एकदम ताला लगा दो  
वह बेटी पगली नाचकर, गाकर, बजाकर सबको एक क  
दे । झगड़ा-झंझट एवं समस्त अस्त-व्यस्तताको मिट जा  
दो । राम-राम ! सीताराम !!

## कुंजविहारिनिकी जय !

जय जय कुंजविहारिनि प्यारी ।

जय जय कुंजमहल सुखदायक जय जय लालन कुंजविहारी ॥

जय जय वृंदावन रससागर जय जय जमुना सिंधु-सुखारी ।

जय जय ‘ललितमोहिनी’ धनि-धनि सुखदायक सिरमौर हमारी ॥



# सत्सङ्ग-वाटिकाके विखरे सुमन

( नित्यलीलालीन श्रीभार्जजीके पुराने सत्सङ्गसे चयन किये हुए )

१—मानव-जीवन भगवान्‌का बननेके लिये प्राप्त हुआ है। हम वास्तवमें भगवान्‌के हैं, पर हमने अपनेको काम-क्रोध आदिका गुलाम बना रक्खा है। यही मूर्खता है। जो भगवान्‌का बना, उसका जीवन सार्थक; जो जगत्‌का बना, उसका जीवन सार्थक नहीं, निरर्थक।

२—किसी भी साधनासे हो, किसी भी प्रकारसे हो, करना है एक ही काम—भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग। भगवान्‌के चरणोंमें उत्तरोत्तर अनुराग बढ़ता रहे, इसीमें जीवनकी सार्थकता है। अतएव भगवान्‌के प्रति प्रेमकी लालसा जगानी चाहिये। इसके लिये प्रेमस्वरूप भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये और जहाँतक बने, प्रेम प्राप्त करनेके लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये।

३—सच्चे मनसे, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌से माँगनेपर कोई भी संकट रह नहीं सकता। प्रार्थनाके समय मनमें यह भाव होना चाहिये कि 'भगवान् मेरा यह संकट दूर कर दें' और प्रार्थनामें आर्तभाव होना चाहिये तथा यह विश्वास होना चाहिये कि 'इस संकटको भगवान् दूर कर ही देंगे'। जो भगवान्‌से भगवान्‌का प्रेम ही चाहते हैं, वे तो सर्वोत्तम हैं; पर जो पापमें रत हैं, पापसे पैसा बटोरते हैं, वे यदि भगवान्‌से कुछ माँगें तो यह बुरा नहीं है। जगत्‌से, पापसे माँगनेकी अपेक्षा भगवान्‌से माँगना कहीं श्रेयस्कर है।

४—नाम-जपसे जो भी ऊँची-से-ऊँची स्थिति अन्य किसी साधनसे प्राप्त हो सकती है, वह प्राप्त हो जाती है—यह मेरा विश्वास है।

५—साधककी वृत्ति उत्तरोत्तर भगवान्‌के नाम-रूप-गुण-चिन्तनमें ही लगती जाय।

दूसरी ओर जाती है; पर उसमें यह सावधानी रखनी चाहिये कि वह या तो उधर जाय ही नहीं और यदि जाय तो भगवान्‌की सेवाकी भावनासे ही। भगवान्‌की सेवाकी भावनाके अतिरिक्त दूसरे किसी भी भावसे वृत्तिका जाना नीचे स्तरका है।

६—मन वृत्तियोंका समूह है। वृत्ति जब एक विषयमें जाकर उसके रूपकी हो जाती है, तब उसको 'ध्यान' कहते हैं।

७—शरीरका आराम, नामका नाम और जीभका स्वाद—साधकके लिये ये तीन बड़े विघ्न हैं।

८—भगवान्‌के प्रति कई भाव हो सकते हैं। सर्व-साधारणके लिये सीधा सरल भाव है—भगवान्‌के प्रति खामीका भाव। 'भगवान् मेरे खामी, मैं उनका दास'—यह सर्वथा एवं सर्वदा निर्दोष भाव है; इसमें कहीं भी पतनकी गुंजाइश नहीं है।

दूसरा भाव है—भगवान्‌को अपना सखा मानना। यह भाव दास्य-भावसे ऊँचा है। इस भावमें मानसिक रूपसे सदा-सर्वत्र भगवान्‌के साथ रहे और भगवान्‌की लीलाका चिन्तन करे। इसमें भगवान्‌के बालस्वरूपका या पार्थसखारूपका चिन्तन करे।

तीसरा भाव है—भगवान्‌को अपना बालक मानकर उनकी लीलाको देखे, अर्थात् भगवान्‌के प्रति वात्सल्य-भाव। भगवान्‌ने बाल्यमें जो-जो लीलाएँ की हैं, उन-उन लीलाओंका चिन्तन करे। वस, भगवान्‌की उन लीलाओंके प्रति मनमें अनुराग हो तथा उन्हें सर्वथा सत्य माने।

चौथा भाव है—मधुर भाव, अर्थात् भगवान्‌को अपने प्रियतमरूपमें अनुभव करे। 'गोपी-भाव' इसीका



नाम है। गोपी-भावके कई स्तर हैं, जिनमें मञ्जरी-भाव सर्वोत्तम है। श्रीराधा-माधव मञ्जरीके इष्ट हैं और श्रीराधा-माधवके सुखका आयोजन करना मञ्जरीका जीवन। मञ्जरीपर श्रीराधारानीकी सबसे बड़ी कृपा रहती है और इसीसे श्रीकृष्ण उसपर कृपा करनेके लिये सदा तत्पर रहते हैं।

इससे भी एक ऊँचा भाव है—श्रीराधामाधवने मुझे अपनेमें विलीन कर लिया है, उन्होंने अपने अङ्गोंमें मुझे प्रवेश करा लिया है। वहाँ पहले, श्रीराधामाधवकी एकता अनुभव होती है, पीछे साधककी एकता हाँ जाती है।

९—सेवा वह उत्तम होती है, जिसमें सेवकका नामतक सेव्यको ज्ञात न हो सके।

१०—अभिमानका स्वभाव है—अपमान करना। अभिमानीसे अपमान किये बिना नहीं रहा जाता—चाहे जिस क्षेत्रमें देख लिया जाय।

११—जिस प्रकारके वातावरणका हम सेवन करेंगे मनसे, शरीरसे, वाणीसे—वैसा ही बननेकी हमारी इच्छा होगी। सङ्गसे वृत्ति, वृत्तिसे क्रिया और क्रियासे स्वरूप बनता है।

१२—आज हम धर्मके नामसे लजाते हैं। भगवान्को माननेवाले भी समाजमें, सबके सामने अपनेको भगवान्को माननेवाला कहनेमें लज्जा अनुभव करते हैं।

१३—साधककी यह वृत्ति रहती है कि वह भोगियोंसे सर्वथा उल्टा चलता है। भोगी साधककी वृत्तिको समझते नहीं और वे उसे भ्रमित मानते हैं; पर साधक उनकी इस मान्यतासे उद्वेग नहीं करता, वह अन्तरमें प्रसन्न होता है।

१४—साधक और भोगीके दृष्टिकोणमें बड़ा अन्तर होता है। भोगी भोगोंमें ही जागता-सोता है और साधक भोगोंके त्यागमें ही जागता-सोता है।

१५—साधकका यह स्वरूप है कि वह भोगोंसे स्वाभाविक अपनी चित्तवृत्तिको हटाये।

१६—भोगी जिन चीजोंको चाहता है तथा ग्रहण करता है—सुखके लिये, साधक उन चीजोंके ग्रहणसे ध्वराता है। उसे उन चीजोंके ग्रहणमें दुःख अनुभव होता है। भोगीको मान अमृतके समान लगता है और साधकको मान विषके समान। भोगीको प्रशंसा बड़ी सुखकर प्रतीत होती है और साधकको प्रशंसा अग्निके सदृश।

१७—साधकका आदर्श त्यागी है, भोगी नहीं। इसीसे साधक भोगीद्वारा प्रलोभन दिये जानेपर भी भोगोंको स्वीकार नहीं करता।

१८—वृन्दावन-वासका बड़ा माहात्म्य है, पर वृन्दावनमें केवल रहना वृन्दावनवास नहीं है; वृन्दावन-वासका अर्थ है—जीवनका श्रीकृष्णमय हो जाना।

१९—पर्देपर चित्रित गहनोंको देखकर उसके प्रति आसक्ति, प्रलोभन नहीं जागता। यह संसार, यहाँके भोग-पदार्थ पर्देपरके गहने हैं—यह प्रतीति हो जाय तो स्वाभाविक ही इनके प्रति आसक्ति-उपेक्षा हो जायगी।

२०—भगवान्पर हमारा विश्वास दृढ़ हुआ कि नहीं। इसकी कसौटी है—भगवान्के प्रत्येक विधानमें मङ्गल बुद्धि हुई कि नहीं तथा दुःखमें भगवान्का संस्पर्श अनुभव होता है कि नहीं। जबतक भगवान्के किसी भी विधानसे मनपर विषाद-चिन्ता आती है, तबतक यह स्पष्ट है कि हमारा भगवान्पर विश्वास दृढ़ नहीं हुआ है।

२१—जितने भी भगवत्प्राप्त महापुरुष हुए हैं, उन सबकी स्थितियाँ पृथक्-पृथक् हैं; पर तत्त्वतः सभीने एक ही सत्यको प्राप्त किया है। साधनकालमें मार्गकी भिन्नता रहती है—जैसे किसीमें ज्ञान प्रधान होत



है, किसीमें भक्ति, किसीमें निष्काम कर्म तथा किसीमें योग-साधन । पर सबका प्राप्तव्य एक ही भगवान् है । अतएव महापुरुष सभी साधनोंका आदर करते हैं; पर जिस साधनद्वारा वे वहाँतक पहुँचे हैं, उसीका वे विशेषरूपमें समर्थन करते हैं, कारण उस साधनका उन्हें व्यावहारिक ज्ञान अधिक है ।

२२—जगत्का कोई भी सौन्दर्य न स्थायी है और न वर्धनशील; वह अनित्य है, विनाशी है, क्षणभङ्गुर है, अपूर्ण है । भगवान्का सौन्दर्य नित्य है तथा पूर्णतम होते हुए भी नित्य वर्धनशील है ।

२३—भगवान्के आश्रयके लिये आवश्यकता है—दैन्यकी । 'दैन्य'का अर्थ है—अभिमान-शून्यता । हममें नाना प्रकारके अभिमान भरे हैं—जैसे धनका अभिमान, पदका अभिमान, साधनका अभिमान, ज्ञानका अभिमान, त्यागका अभिमान, सेवा करनेका अभिमान आदि । जहाँ-जहाँ अभिमानका उदय होता है, वहाँ-वहाँ भगवान्की विस्मृति हो जाती है । पर भक्तोंका यह अभिमान कि 'मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं, भगवान्की मुझपर अपार कृपा है'—वास्तवमें अभिमान नहीं है । यह एक परम सात्त्विक मान्यता है, जो साधनाका आधार है ।

२४—भगवान्की सब शक्तियोंमें कृपाशक्ति प्रधान है । जहाँ उनकी कृपाशक्ति चरितार्थ होती है, वहाँ उनकी अन्य सब शक्तियाँ कृपाशक्तिके अनुगत होकर कार्य करती हैं । हमारा अभिमान भगवान्की कृपाका अनुभव नहीं होने देता । अतएव सबसे पहले अपने अहंकारका ही शमन करना है ।

२५—संसारका सौन्दर्य सर्वथा मिथ्या है, पर सुखकी छिपी आशासे हम संसारके मिथ्या सौन्दर्यके प्रति लुब्ध हो रहे हैं । संसारके किसी भी प्राणी-पदार्थमें सौन्दर्य नहीं है—इस सत्यपर विश्वास करके हम अपनी

भ्रान्तिसे जितनी जल्दी छुड़ी पा लें, उसीमें हमारा भला है ।

२६—कोई अपनी किसी साधनासे भगवान्को खरीदना चाहे तो यह उसकी मूर्खताके सिवा और कुछ नहीं है । कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जिसके विनिमयमें भगवान् मिल सकें । भगवान् मिलते हैं अपनी सहज कृपासे ही । कृपापर विश्वास नहीं तथा कृपाको ग्रहण करनेका दैन्य नहीं है । ऐसी स्थितिमें कैसे काम बने ? 'मैंने अभिमानका त्याग कर दिया, मुझमें अभिमान नहीं है'—इन उक्तियोंमें भी अभिमानकी सत्ता विद्यमान है ।

२७—'दैन्य' भक्तकी शोभा है । यह उसका पहला लक्षण है । भक्त अपनेको सर्वथा अकिंचन—अभाव-प्रस्त पाता है और भगवान्को यही चाहिये । बस, भगवान् ऐसे भक्तके सामने प्रकट हो जाते हैं ।

२८—भगवान्का बल निरन्तर हमारे पास रहनेपर भी सक्रिय नहीं होता, इसका कारण है कि हम उसे स्वीकार नहीं करते । जब भी हम भगवान्के बलको अनुभव करने लगेंगे, तभी वह बल सक्रिय हो जायगा और हम निहाल हो जायेंगे ।

२९—हमारी भोगोंमें सुखकी आस्था इतनी दृढ़मूल हो रही है कि वैराग्यके शब्दोंसे वह दूर नहीं होती । किसी महान् विपत्तिका प्रहार तथा भगवान् अथवा उनके किसी प्रेमीजनकी कृपा ही इस आस्थाको दूर कर सकते हैं ।

३०—शरणागत वही हो पाता है, जो दीन है । जिसे अपनी बुद्धि, सामर्थ्य, योग्यताका अभिमान है, वह किसीके शरण क्यों होना चाहेगा । जब अपना सारा बल, बलोंकी आशा-भरोसा टूट जाते हैं, तब वह भगवान्की ओर ताकता है और उनका आश्रय चाहता है ।



३१—शरणागतमें दो चीजें अनिवार्यरूपसे आती हैं—निर्भयता एवं निश्चिन्तता । जबतक भय एवं चिन्ता बने हैं, तबतक न तो अपने दैन्यपर विश्वास हुआ है और न भगवान्की शरणागत-वत्सलतापर । बिना इन दोनों चीजोंपर विश्वास हुए काम बनना असम्भव है ।

३२—भगवान्की कृपा दीनोंकी सम्पत्ति है । हम दीन हो जायँ तो भगवत्कृपापर हमारा स्वाभाविक अधिकार हो जाय ।

३३—भजन-साधन करना चाहिये, पर इनका अभिमान मनमें न जगे, इस बातकी सावधानी रखनी चाहिये । भजन-साधनके होनेमें भगवान्की कृपाको ही हेतु माने । भगवान्की कृपाका निरन्तर स्मरण रहे और अपने पुरुषार्थकी विस्मृति; बस, काम बन जाता है ।

३४—जो जितना दीन है, उसमें भगवान्की कृपा-शक्तिका उतना ही अधिक प्रकाश है । 'दैन्य' भगवान्की कृपाके प्राकट्यके बीच लगे पर्देको फाड़ डालता है ।

३५—जैसे ब्रह्माजीकी वाणी एक 'द' तीन अर्थ रखती है, वैसे ही गीता भगवान् श्रीकृष्णकी वाणी है । उसके अनेक अर्थ अधिकारी-भेदसे होते हैं । यही हेतु है कि विभिन्न आचार्यों, टीकाकारोंने गीताके अर्थ पृथक्-पृथक् किये हैं । अधिकारी-भेदसे उन सब अर्थोंका सामञ्जस्य है ।

३६—भगवान्की कृपा अधिकारी-भेदकी अपेक्षा नहीं रखती । वह केवल देखती है कि यह एकमात्र कृपाका आकाङ्क्षी है कि नहीं ।

३७—भगवान्की कृपा सबकी सम्पत्ति है, पर दीनोंकी सम्पत्ति विशेषरूपसे है; क्योंकि भगवान् 'दीनवत्सल' हैं ।

३८—अबोध बालक, जो बोलना नहीं जानता, किसी प्रकारका संकेत करना नहीं जानता, वह रोकर ही मनोव्यथा व्यक्त करता है । इसी प्रकार जिसके पास

रोनेके सिवा कोई साधन नहीं, वह भगवान्के सामने कातर होकर रोये । जगत्के सामने रोना अशुभ है, कायरता है; भगवान्के सामने रोना परम मङ्गलकारी है एवं परम बलका द्योतक है ।

३९—भगवान्की कृपापर भरोसा करके दीनभावसे भगवान्के शरणापन्न हो जाना चाहिये । जब हम भगवान्के शरणापन्न हो जाते हैं और भगवान् पास आ जाते हैं, तब उनके दैवी गुण स्वतः हममें आविर्भूत होते हैं । फिर बन्धनोंको काटना नहीं पड़ता, बन्धन अकुलकर स्वतः छिन्न हो जाते हैं; ग्रन्थि खोलनी नहीं पड़ती, वह स्वतः खुल जाती है ।

४०—हम कैसे भी हों, भगवान्की कृपा ऐसी विलक्षण है कि वह हमें सब प्रकारके दोषों-पापोंसे मुक्त करके भगवान्के चरणोंका आश्रय-प्रदान कर देती है । अन्यथा दीन-हीनोंका काम कैसे बनता ।

४१—अग्नि सबको प्राप्त है । उसका किस प्रकार प्रयोग करना, यह प्रयोग करनेवालेपर निर्भर करता है । ऐसे ही कर्म करनेकी शक्ति भगवान्ने प्रदान कर रखी है; अब इस शक्तिका प्रयोग किस प्रकारके कर्मोंमें करना—यह हमपर निर्भर करता है । यदि हम अहंकारसे प्रेरित होकर, किसी विकारको लेकर कर्म करेंगे तो वह दोषयुक्त कर्म होगा तथा उसका बुरा फल हमें भोगना ही पड़ेगा; हम उससे बच नहीं सकते ।

४२—पापकर्म करना मनुष्यका स्वभाव नहीं है । पापकर्म होते हैं हमारे अन्तःकरणमें संचित वासनाओंको लेकर । अतएव पहले उन वासनाओंका निराकरण करना चाहिये ।

४३—संसारके अर्थ-भोग जिनके पास जितने अधिक हैं, वे उतने ही अधिक संतप्त हैं और वे दूसरोंको अधिक संतप्त करते हैं ।

४४—माँगना बहुत बुरा, पर माँगना ही हो तो भगवान्से ही माँगे और भगवान्को ही माँगे ।



४५—भगवान्की शरणागतिके दो रूप संतोने बताये हैं—जैसे ( १ )—अपने पुरुषार्थसे, अपने प्रयत्नसे भगवान्के शरणापन्न होना तथा ( २ )—भगवान्की शरणागत-वत्सलतापर विश्वास करके भगवान्के अपनी शरणमें लेनेकी प्रतीक्षा करना । जगत्में इनके उदाहरण हैं—बंदरीका बच्चा एवं बिल्लीका बच्चा । बंदरीका बच्चा स्वयं अपनी ओरसे उछलकर माँकी छातीसे चिपक जाता है, पर बिल्लीका बच्चा अपनी ओरसे सक्रिय नहीं होता । बिल्ली स्वयं दाँतोंसे पकड़कर चाहे जब तथा चाहे जहाँ बच्चेको ले जाती है । रामकृष्ण परमहंसने दूसरे प्रकारके साधनको बहुत श्रेष्ठ बताया है । इस साधनमें पुरुषार्थ न करना नहीं है, पर अपने पुरुषार्थ-साधनपर निर्भरताका भाव नहीं रहता ।

४६—अन्याश्रयका सर्वथा त्याग 'निर्भरता' है और निर्भरता आती है विश्वाससे । यद्यपि विश्वास भगवान्की कृपासे ही होता है, फिर भी जीवसे भगवान् इतनी अपेक्षा अवश्य रखते हैं कि 'वह मुझे अपना मान ले' । 'भगवान् ही मेरे हैं'—जहाँ यह विश्वास हुआ कि निर्भरता स्वतः आ जाती है ।

४७—साधकके सामने दो चीजें आती हैं प्रधान-रूपसे—प्रलोभन और भय । कहीं उसकी पूजा होने लगती है, सम्मान होने लगता है, खानेको अच्छा मिलता है, उसके मतका आदर होता है—आदि-आदि प्रलोभन आते हैं और साधक उनमें रम जाता है और कहीं शरीरके आराम-त्यागका भय, भोगोंके विनाशका भय, लोक-निन्दाका भय, अपमानका भय आदि आते हैं और साधक विचलित होकर साधनका त्याग कर देता है । जो साधक उपर्युक्त प्रलोभनों एवं भयोंकी परवाह न करके अपनी साधनामें दत्तचित्त रहता है, वह लक्ष्यतक पहुँच जाता है ।

४८—'दैन्य' का अर्थ यह नहीं है कि साधक अपनेको

इतना पतित मान ले कि उसके मनमें यह बात आ जाय कि वह भगवान्का कैसे हो सकता है । इसके विपरीत उसके मनमें यह भाव आना चाहिये कि मैं अपनी अयोग्यताके कारण और किसीका हो नहीं सकता, पर भगवान् तो पतितपावन हैं; अतएव वे मेरे हैं, मैं उनका हूँ ।

४९—खाली घरमें घुसनेका भगवान्का स्वभाव है । जबतक अपने अन्तःकरणमें हम कुछ छिपाकर रखते हैं, तबतक भगवान् आते हैं और झाँककर लौट जाते हैं । इसलिये अपने हृदयको सर्वथा खाली कर दें—दीन-हीन हो जायँ—किसी भी साधन-गुणका अभिमान अपनेमें न रखें ।

५०—भगवान्ने गीतामें घोषणा की है—'जीवनके अन्तकालमें जो मेरा स्मरण करते हुए शरीरको छोड़कर जाता है—ऐसा कोई भी हो, वह मुझको प्राप्त होता है—इसमें संदेह नहीं है ।' जगत्में भी हम देखते हैं कि छायाचित्र लेनेमें कैमरेका खिच दबानेके समय सामने-वालेकी जैसी आकृति होती है, वैसी ही फोटो आती है । भगवान्की इस घोषणाका हम दुरुपयोग करते हैं और कहते हैं कि 'जब अन्तकालमें भगवान्का स्मरण कर लेनेमात्रसे भगवान्की प्राप्ति हो जायगी तो अभी अन्य जखूरी-जखूरी काम कर लिये जायँ, अन्तकालमें भगवान्का स्मरण कर लेंगे' । इसपर भगवान्ने सावधान किया है कि 'जीवनभर जिस कार्यमें मन रहेगा, अन्तकालमें उसीका स्मरण होगा—यह निश्चय है । अतएव सब समय मेरा स्मरण करते हुए जगत्का काम करो ।' जीवनभर मुझे भुलाये रहकर अन्तकालमें मेरे स्मरणकी आशा कदापि न करो; यह धोखा है । इससे सावधान हो जाओ ।

५१—कुछ करना नहीं है, केवल अपने मुखको भगवान्के सम्मुख मोड़ देना है । भगवान्के सम्मुख होते



ही, भगवान्‌के विरोधी अपने-आप विमुख हो जायेंगे। भोग-विमुखता और भगवत्-सम्मुखता—दोनों साथ-साथ होती हैं। भोगका अर्थ है—भगवान्‌से रहित स्थिति।

५२—भगवान्‌को सर्वत्र देखकर, सब जीवोंमें उनकी अनुभूति करके जीवमात्रकी सेवामें संलग्न रहना—यह संतका सहज स्वभाव होता है। संत सदैव सचेष्ट रहता है कि उसकी प्रत्येक चेष्टा भगवान्‌की पूजा होती रहे।

५३—जो भगवान्‌से भोग चाहता है, वह भोगोंका गुलाम है; उसके आराध्य भगवान्‌ नहीं, भोग हैं। भगवान्‌ उसके साथ नहीं होते, भगवान्‌ उसके लिये भोग-प्राप्ति करानेके साधनमात्र होते हैं।

५४—भगवान्‌के लिये जीना, भगवान्‌के लिये मरना जिसके जीवनका स्वभाव है, वह प्रेमका निगूढ़ भाजन है। ऐसे जीवनके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

## समर्पणकी महिमा

(लेखक—ब्रह्मलीन संत श्रीगरीबदासजी)

अरे भाई ! उसे पुकारनेमें क्या हर्ज है ? वह सर्वव्यापक है, शुद्ध है, पवित्र है, सर्वशक्तिमान् है, सर्वसमर्थ है और सर्वेश्वर है। चाहे जिस नामसे पुकारो उसे, वह सुनता ही है। अवश्य सुनता है। उसे शुद्ध ब्रह्म कहो या उसे अनन्त शक्तिमान् कहो, उसे कुछ भी कहो, मगर उसे अन्तरसे पुकारो।

अच्छा मैं तुम्हें एक मन्त्र बताता हूँ। तुम इसको जपा करो। तुम इसके दिव्य चमत्कारको देखोगे। वह मन्त्र है—‘ॐ’। शुद्ध शक्ति इसमें है। तुम्हारे सारे मनोरथ इसकी शक्तिसे सिद्ध हो जायेंगे। इस मन्त्रके प्रति मेरे हृदयमें एक विचित्र अकथनीय आकर्षण हो गया है। इसके लिये मेरे मनमें चाह उत्पन्न हो गयी और रात-दिन मैं इसका जाप करता रहा। यह मन्त्र मेरे दिलकी धड़कनके साथ मिल गया। मैं अपने हृदयकी धड़कनमें उसे स्पष्ट सुनता हूँ तथा उस मन्त्रकी ध्वनि ही मुझे सर्वत्र सुनायी देती है। यह दिव्य मन्त्र प्रदानकर वे महात्मा चले गये। इसके बाद मैं अनेक संत-महापुरुषोंके संसर्गमें आया और अनेक प्रकारकी साधनाएँ कीं, परंतु मेरे लिये तो उस परम शुद्ध शक्तिके चरणोंमें पूर्ण आत्म-समर्पणका ही एकमात्र आधार रह गया है। इससे मेरे जीवनमें एक विचित्र आनन्द-सा है, जिसका मैं निरन्तर पान किया करता हूँ। यह भक्ति-ज्वाला मेरे हृदयमें सदैव प्रज्वलित रहती है। शुद्ध और शक्तिका वही सम्बन्ध है, जो सूर्य और उसकी किरणोंमें है।

सम्पूर्ण निःशेष आत्मसमर्पणको ही मैं ‘महासाधना’ कहता हूँ। साधककी प्राणशायिनी माता भीगीताजीका यह शार-

सर्वस्व है। लोग समझते हैं कि समर्पण करना अत्यन्त आसान है; परंतु वास्तविकता कुछ और है। समर्पणसे सारा कार्य, सारी साधना और समस्त मनोरथ सफल हो जाते हैं—इसमें कोई संदेह नहीं। मुझे तो एकमात्र समर्पणसे ही पूर्ण शान्ति एवं आनन्दकी अनुभूति होती है।

हठयोग एवं राजयोगकी अपेक्षा भी समर्पणका मार्ग कठिन है। समर्पणमें कर्म, भक्ति और ज्ञानका पूर्ण समन्वय है। हाँ, यह बात अवश्य है कि हमारा यह समर्पण पूर्णतः प्रीति-पूर्वक होना चाहिये। नम्रता, आज्ञाकारिता, प्रभु-सेवा और भगवद्भावसे जगत्‌के जीवोंकी यथाशक्ति सेवा सहायता करना—यह तो शरीरका समर्पण है। प्राणोंका स्तर इतना सुदृढ़ होना चाहिये कि वह साधनाके भारका सँभालकर रखे, अहंकारको भगा सके, इच्छा, वासना, मोह, आसक्ति, ईर्ष्या, राग-द्वेष, लोभ, मद और मत्सरसे साधकको विलग एवं अस्पृश्य रख सके। किसी भी व्यक्तिगत वासना, किसी भी अहंकारपूर्ण माँग या संकल्पद्वारा इस पूर्णतः समर्पणको कलङ्कित नहीं करना चाहिये।

चित्त सर्वथा शुद्ध और निर्मल हो जाना चाहिये। समर्पणका भाव दृढ़ होनेपर साधक यह अनुभव करने लगता है कि उसके फेफड़ोंमें भगवान्‌ ही श्वास ले रहे हैं। उसकी वाणीमें भगवान्‌ ही बोलते हैं, हृदयमें बैठे प्यार करते हैं, बुद्धिमें बैठकर विचार करते हैं और उसके आत्मामें रहकर आनन्दका आस्वादन करते हैं। यह है समर्पणकी पराकाष्ठा। इससे मनुष्य निश्चिन्त, निर्विघ्न और निर्लेप रहता है। उसके द्वारा भगवत्-शक्ति अपना कार्य करने लगती है। साधक



अपने हृदयमें ईश्वरके साथ नित्य संलग्न रहता है । साधक भगवान्‌को नहीं छोड़ता; भगवान्‌ साधकको नहीं छोड़ते । भगवान्‌का साधकके हृदयमें निवास होता है एवं साधकका भगवान्‌के हृदयमें वास होता है । इस प्रकारके समर्पणकी महिमा हमारे ऋषि-मुनियों ने बतलायी है तथा यही है इस युगमें परम साधन । सिद्ध पुरुष यह जानता है कि भगवान्‌ ही उसकी आत्मा है । वहीं यह डंकेकी चोट कर सकता है—

‘मैं आत्मा हूँ’, ‘मैं ब्रह्म हूँ’—इस प्रकारके ज्ञानके कारण सिद्ध पुरुष ऐसे भ्रममें नहीं पड़ेगा, न अहंकारके ही वशीभूत होगा, जिससे वह सोचने लग जाय कि वह सर्वशक्तिमान्‌ है, सर्वव्यापक है और स्वयं भगवान्‌ है या उसका प्रतिनिधि है । समाधिकी अवस्थामें साधकको बहुत ही सतर्क रहनेकी आवश्यकता है । नायमात्रका अहंकार भी उसे ले डूवेगा । मनुष्य ईश्वरका अंश अवश्य है, परंतु ईश्वर नहीं है । अंश पूर्णके बराबर नहीं हो सकता । सूर्यकी एक किरण सूर्यके समान नहीं हो सकती । जलकी एक बुँद लघु सागर है, इसमें संदेह नहीं; परंतु यह पूर्ण सागर नहीं है । इसलिये साधक सदैव इस बातका ध्यान रखे कि वह जीवित है; क्योंकि भगवान्‌का उसमें निवास है । वह श्वास लेता है; क्योंकि भगवान्‌का श्वासोच्छ्वास साधकके श्वासोच्छ्वासके साथ सुर मिला रहा है । वह सोचता है, विचारता है, इसलिये कि उसकी बुद्धिमें बैठे हुए भगवान्‌ अपने तेजसे उस साधककी बुद्धिमें प्रकाश-किरणें बिखेरते हैं । वह भगवान्‌का साक्षात्कार करता है; क्योंकि ईश्वर साधकके साथ उसकी छायाकी तरह जुड़े हुए हैं । स्वयं यन्त्रमें क्या शक्ति है कि कुछ भी कर सके । उस अनन्त शक्तिके एक कणमात्रसे समस्त लोक-लोकान्तरोंमें जीवन-प्रवाह प्रवाहित हो रहा है । उसी शक्तिसे यह जगत्‌-चक्र चल रहा है । मनुष्य उस शक्तिके करोड़वें भागका भी करोड़वाँ हिस्सा है—या उससे भी कम है । इसलिये उसे यह भूल नहीं जाना चाहिये कि चाहे कितनी भी शक्ति उसमें क्यों न हो, वह उस अनन्त सर्वशक्तिमान्‌ प्रभुकी समानता कदापि नहीं कर सकता । इसलिये मनुष्यमात्रके लिये एक ही मार्ग है और वह है आत्म-समर्पणका पथ ।

जिस प्रकार मालाके पुष्प एक ही तागेमें गुँथे रहते हैं, उसी प्रकार भगवन्नाम-जपसे लेकर समाधितक समस्त

साधनाओंका मूल आधार है—समर्पण, सर्वस्व-समर्पण, निःशेष सर्वात्म-समर्पण । प्रभु ! मेरे देवाधिदेव ! मैं यह नहीं भूलूँ कि तुम सदैव मेरे हृदयमें निवास करते हो; तुम्हीं मेरे जीवन-के सूत्रधार हो । इस क्षणक्षणमें बदलनेवाले, पल-पलमें बनने बिगड़नेवाले संसारमें जो कुछ भी हो रहा है, जो कुछ भी सामने आ रहा है, जो कुछ भी गतिशील है और उसके बाद आँखोंसे ओझल होता है, वह तुम्हारी ही सत्तासे अनुप्राणित है । मेरे मन प्राण तुममें ही निवास करें और मेरा यह ज्ञान और यह चेतना बनी रहे कि तुम्हारी इच्छाके बगैर मेरी कोई गति नहीं, कोई आश्रय नहीं, कोई शरण नहीं, कोई अस्तित्व नहीं । यह शरीर तो मृत्पिण्ड है, यह सजीवन इसलिये है कि तुम इसमें श्वास लेते हो । तो मेरे प्रियतम प्राणाराम ! मैं अपने हृदयमें निरन्तर तुम्हारे आलिङ्गन-रसका पान करता रहूँ । जो कुछ करूँ, वह तुम्हारी प्रेरणा और संकेतसे करूँ; तुम्हीं मेरे द्वारा अपना कार्य करो, अथवा उद्देश्य सिद्ध करो । मेरे हृदयमें तुम्हीं विराजमान रहो, मेरी बुद्धिमें तुम्हीं प्रकाशरूप बने रहो, मेरे मस्तिष्कमें तुम्हीं विचारक बने रहो । मेरे समस्त अहंकारको अपनेमें समा लो । प्रभु ! तुम मेरे भौतिक शरीररूपी वाँसुरीमें तान बने रहो । हे सर्वशक्तिमान्‌ ! सर्वसमर्थ स्वामिन्‌ ! भले ही मैं समाधिकी अवस्थामें तुमसे एकाकार होकर तुम्हारी तरह हो जाऊँ; परंतु भूलकर भी मैं यह न मान बैदूँ कि मैं भी तुम्हारे समकक्ष हूँ, सदृश हूँ । मैं हूँ क्या ? एक क्षणभङ्गुर वस्तु, एक नगण्य नाचीज, जो एक कच्चे सूतके धागेकी तरह हर तेज हवाके झोंकेपर कम्पित हो जाती है, हाँ वही, जो एक श्वासके बाद दूसरेके लिये हाथ उठाती है । तुम्हारे विशाल सागरके समक्ष इस विन्दुकी क्या शक्ति है ! हे प्रभु ! तुम मेरी सम्पूर्ण अहंभावना स्वीकार करो ।

मेरे दयामय हरि ! मुझे नम्रता तथा दीनता प्रदान करो । ओ मेरे स्वामिन्‌ ! तुम्हारी इच्छा मेरे जीवनमें पूर्ण हो । तुम्हारी जो भी इच्छा है, वह मेरे चारों ओर व्याप्त है । तुम्हीं मेरे भीतर साधना करो और तुम्हीं मेरे भीतर सिद्ध होकर अपनी इच्छा पूर्ण करो । हे दीनानाथ ! निराधारों-के सर्वाधार प्रभु ! अपने इस याचकको, दासको, भक्तको भी निभा लेना तथा सदा अपने चरण-कमलोंमें स्थान देते रहना । आपके समान दानी, दयालु एवं धैर्यवान्‌ कोई नहीं है, कोई नहीं है ।



# स्वामी श्रीविवेकानन्द

( लेखक—ब्रह्मचारी श्रीनिर्गुणचैतन्य )

घोर कलिकालसे पीड़ित, हाहाकार करते हुए मानवको शान्ति और आनन्द देनेके लिये ही श्रीराम-कृष्ण परमहंसदेवने इस धरा-धाममें पधारकर अध्यात्म-मन्दाकिनी प्रवाहित की थी। किंतु अब प्रश्न यह था कि इस तीव्र वेगवाली मन्दाकिनीको धारण करनेकी शक्ति किसमें है ? उसके वेगको सहन करनेकी शक्ति किसमें है ? जिस विश्वबन्ध महापुरुषने ज्ञान और वैराग्यके सर्वोन्नत शिखरपर खड़े होकर इस महान् अध्यात्म-वेगको भगवान् शंकरकी भाँति ही अपने मस्तिष्कमें धारणकर मानव-कल्याणके हेतु आध्यात्मिक भागीरथीका स्रोत प्रवाहित किया था, जिस वेदान्त-कैसरीने महावीर हनुमान्की तरह समुद्र-पार जाकर वेदान्त गर्जनासे मृतप्राय मानव-जातिमें पुनः प्राणोंका संचार किया तथा जिसने श्रीरामकृष्णदेवके संदेशको—सनातनधर्मके सत्योंको समस्त मानव-जातितक पहुँचाकर समन्वय, एकत्व और भ्रातृत्वका पाठ पढ़ाया तथा मानव-की अन्तर्निहित दिव्यताका ज्ञान कराकर जीवमें शिवकी सेवाद्वारा मोक्षका मार्ग बताया, वही महापुरुष आज “स्वामी विवेकानन्द” के नामसे आध्यात्मिक जगत्में सूर्य-की भाँति प्रकाशित हो रहा है।

इधर जिन दिनों श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव कठोर साधनाओंद्वारा सांस्कृतिक गगन-मण्डलको पुनः आध्यात्मिक स्पन्दनसे भर रहे थे, उन्हीं दिनों इस महापुरुषने कलकत्ताके सिमला मोहल्लेमें माता भुवनेश्वरी देवीकी गोदको अलंकृतकर पिता विश्वनाथदत्तके आँगनकी शोभा बढ़ायी। इतना ही नहीं, एक बार पुनः भारतका आँगन उसी प्रकार जगमगा उठा, जैसे बारह सौ वर्ष पूर्व अन्य एक ज्ञानपुञ्ज आचार्य शंकरको पाकर दमक उठा था।

इस महापुरुषका जन्म १२ जनवरी, सन् १८६१ ई० को हुआ था। माता-पिता एक सुसंस्कृत बंगाली कायस्थ परिवारके थे। बालकका नाम ‘नरेन्द्रनाथ’ रखा गया। विश्वनाथदत्त नयी रौशनीके प्रगतिशील व्यक्ति थे। माँ भी उदारहृदया तथा सरल व्यवहारकी महिला थीं। पिताकी प्रखर बुद्धि तथा माताके प्रबल क्षात्र संस्कारोंद्वारा ही ‘नरेन्द्र’ का चरित्र मढ़ा हुआ था और इनसे भी अधिक प्रभाव सम्भव है उसपर अपने संन्यासी पितामहका पड़ा था, जो पचीस वर्षकी आयुमें युवती पत्नी तथा गृहका त्याग कर चुके थे। शायद यही एक चिनगारी नरेन्द्रके जीवनमें त्यागका बड़ा भारी शोला बनकर भड़क उठी थी।

नरेन्द्र एक असाधारण प्रवीणताका पुञ्ज था। जैसा जन्मजात ऊँचा सुडौल क्षात्र-शरीर, वैसी ही तेजस्वी आकृति तथा महामेधावी मस्तिष्क एवं वैसी ही सभी विद्याओं और कलाओंमें निपुणता। कुश्ती, व्यायाम, घुड़सवारी, तैरने, नाव खेने, गाने-बजाने, नाचने, अभिनय करनेकी कलाओंसे लेकर साहित्य, काव्य, गणित, विज्ञान, इतिहास, दर्शन आदि सभीमें धुरंधर विद्वान् था। वाद-विवाद तथा तर्क-वितर्कमें भी किसीसे कम न था। उसी प्रकार उसके हृदयमें धार्मिक जिज्ञासा, अन्तरात्माकी अभिव्यक्तिके लिये एक अनिर्वचनीय प्रयत्न और चेष्टा तथा जीवन-मुक्तिविषयक एक व्याकुल तड़पन थी। यह सब होते हुए भी छुटपनमें वह बड़ा ही नट-खट था। अदम्य शक्तिके कारण वह चपल बालक होते हुए भी बहुत बार गम्भीर ध्यानमग्न पाया गया। एक बार तो उसका इतना गहरा ध्यान जम गया कि साँप आनेपर जब और साथी चीत्कार करते हुए भाग गये, नरेन्द्र बाह्यज्ञान-शून्य वहीं बैठा रहा। दरिद्र



और दुखीको देख अपने कपड़ेतक दे डालता । पढ़ाई-लिखाईमें तो क्या कहना, जो भी एक बार कानसे सुन लेता उसे कभी न भूलता था । वह बाल्यकालसे ही किसी भी वस्तुमें जल्दी विश्वास नहीं करता, अपितु उसे युक्तिसे ही समझता था ।

इतने गुणोंका समावेश होते हुए भी नरेन्द्रका मन अपनी शङ्काका समाधान न पा रहा था । उसकी आध्यात्मिक भूख प्रबल हो उठी थी । अब वह कालिज-में पढ़ता था, परंतु विश्वविद्यालयोंकी पोथियाँ उसकी समस्या हल न कर सकीं । विचार-स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक युक्ति उसे पसंद थीं । कोरी श्रद्धा और विश्वासके आधारपर ही वह किसी मतको स्वीकार न करता था । उसने सोचा यदि ईश्वर है तो उसके दर्शन होने चाहिये और यदि आत्मा है तो उसकी अनुभूति होनी ही चाहिये । वस, उसने विविध धर्मोंका अध्ययन आरम्भ कर दिया । प्राच्य एवं पाश्चात्य तत्त्व-सम्बन्धी पोथियाँ उलट-पलट कर देख डालीं, हर्बर्ट स्पेन्सर-जैसे दार्शनिकोंसे पत्र-व्यवहार किया तथा केशवचन्द्रसेन तथा देवेन्द्रनाथ ठाकुर-जैसे बंगालके तत्कालीन ब्रह्मसमाजी नेताओंके द्वार खटखटाये और प्रश्न किया, “क्या आपने ईश्वरको देखा है ?” परंतु उत्तरमें निराशा-के अतिरिक्त कुछ भी हाथ न लगा । संशयकी दलदलमें फँसे नरेन्द्रके उद्धारके लिये ही दैवयोगसे अनायास ही इस तूफानी तरुण जिज्ञासुकी भेंट श्रीरामकृष्ण परम-हंसदेवसे हुई । नरेन्द्रका जीवन-पथ अकस्मात् ही प्रकाशित हो उठा—अवरुद्ध द्वार खुल पड़ा ।

पहली ही भेंटमें श्रीरामकृष्णने भी इस सुयोग्य पात्रको पहचान लिया । इसीलिये उसे अपना बनानेके लिये वे व्याकुल हो उठे । नरेन्द्रको दक्षिणेश्वर आनेके लिये निमन्त्रण दे गये । इस पहले मिलनमें नरेन्द्र इस पागल अशिक्षित ब्राह्मण पुजारीके प्रति तनिक भी आकर्षित न हुआ । परंतु लाख अनिच्छा होनेपर भी इसी पगले

ब्राह्मणके प्रति एक गुप्त आकर्षणसे बँधा वह आखिर दक्षिणेश्वर पहुँच ही गया । उसे देहकी सुख भी न थी । खोया-खोया-सा वह श्रीरामकृष्णसे पूछ बैठा, “क्या आपने ईश्वरको देखा है ?” तुरंत उत्तर मिला, “हाँ, क्यों नहीं ! मैंने उसे वैसे ही देखा है, जैसे तुमको अपने सामने देख रहा हूँ—इससे भी स्पष्ट; इतना ही नहीं, यदि तुम चाहो तो तुम्हें भी दिखा सकता हूँ ।” नरेन्द्रके पास कहनेको और कुछ न रहा । वह आँखें फाड़कर देखता ही रह गया । यही तो समाधान था उसकी जिज्ञासाका । उसका मस्तक आदरसे झुक गया । वह खामोश तो हो गया, परंतु वह इस पगले ब्राह्मणके आगे सम्पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण न कर पाया ।

समयके साथ-साथ इस संतकी ज्ञान-प्रभा, आध्यात्मिक तेज और दिव्य कृपासे नरेन्द्रके अन्तस्तलके पर्दे खुलने लगे, गुत्थियाँ सुलझने लगीं तथा तर्क, वाद-विवादका स्थान श्रद्धा और विश्वासने ले लिया । लगा-तार छः वर्षतक इस अपूर्व गुरुके चरणोंमें बैठनेसे नरेन्द्रकी तूफानी जिज्ञासा सदाके लिये शान्त हो गयी । उसकी अवस्था इस प्रकारकी हो गयी, जैसी गीतामें भगवान् ने बताया है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

( २।७० )

अर्थात् ‘जैसे सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें बहुत-सी नदियोंके जल ( उसको चलायमान न करते हुए ही ) समा जाते हैं ।’ जो नरेन्द्र ईश्वरकी सर्वव्यापकता आदिकी खिल्ली उड़ाते हुए कहता था, “देखो जी, यह घड़ा भी ईश्वर है और ये मक्खियाँ भी” इत्यादि, वही नरेन्द्र वेदान्तकी अनुभूति कर ब्रह्मदर्शन-लाभ कर बैठा और बादमें स्वामी विवेकानन्दके नामसे विश्वत्रिल्यात वेदान्तका उपदेशक बना । किंतु इस



अवस्थातक पहुँचनेसे पहलेका इतिहास लंबा है । सन् १८८४ ई० में नरेन्द्रके पिताकी असामयिक मृत्यु हो जानेसे सारे परिवारका भार उसीपर आ पड़ा । परंतु कलकत्ते-जैसी विशाल नगरी इस महामेधावी शिक्षित नरेन्द्रको नौकरी देनेमें असमर्थ ही रही । कई दिन बिना अन्नके बीत जाते । दिनभर दौड़-धूपसे झुलसा हुआ बेचारा दर-दर फिरा, परंतु अपनी माँ, बहिन और भाइयोंके लिये एक पैसा भी न कमा सका । उधर सम्बन्धियोंने समयका लाभ उठा उसकी पैतृक सम्पत्ति हड़पनी चाही । अन्याय, असमानता, निराशा और दुःख-दैन्यके बादलोंसे घिरा हुआ नरेन्द्र एक ओर पारिवारिक समस्याओंके जंजालमें फँसा हुआ था और दूसरी ओर अन्तर्निहित आत्मोपलब्धि की तीव्र कामना उसे जला रही थी ।

एक दिन अपनी माताके आदेशानुसार नरेन्द्र श्रीरामकृष्णदेवके पास गये तथा उनसे उन्होंने कहा कि वे नरेन्द्रके परिवारके लिये माँ कालीसे धन माँगे । श्रीरामकृष्णदेवने कहा—‘अरे, तू स्वयं ही माँग ले । आज मङ्गलवार है, माँ अवश्य ही सुनेंगी ।’ नरेन्द्र माँगने गया धन-दौलत, पर माँग बैठा ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और विवेक । श्रीरामकृष्णने उसे दुबारा भेजा, फिर भी उसने माँगे ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और विवेक । और ऐसा ही तीसरी बार भी हुआ । श्रीरामकृष्णदेव अति प्रसन्न हुए और वर देते हुए बोले—‘अच्छा, मोटा कपड़ा और मोटा भात तो तेरे घरमें मिल ही जायगा ।’ भगवान्‌के प्रेमका दीवाना, भला, तुच्छ धन-की याचना करता ? जिस अवस्थामें आदमी दुःखसे पागल हो जाता है, उस हालतमें भी वे धन न माँग सके । यही थी उनकी महानता, वैराग्यपूर्णता तथा उनके भावी महान् कार्यकी सूचना । जो हो, श्रीराम-कृष्णदेवके आशीर्वादसे उन्हें मोटा कपड़ा तथा मोटा भात मिलता ही रहा ।

इस प्रकार दुःख और संकटमय जीवन व्यतीत करते हुए नरेन्द्रकी आध्यात्मिक पुकार और भी तीव्र हो उठी । अपनेको सम्पूर्णरूपसे श्रीरामकृष्णदेवको समर्पणकर वह कठोर साधनामें लग गया । गुरुकृपासे वह शीघ्र ही निर्विकल्प समाधिकी उस उच्च भूमिकातक पहुँच गया, जहाँ कोई विरले भाग्यशाली ही पहुँचते हैं । उस अवस्थाके फलस्वरूप जो शान्ति उसे मिली, उसका वर्णन हम ऊपर कर ही चुके हैं ।

उनका व्यक्तिगत आध्यात्मिक लक्ष्य तो पूर्ण हुआ । अब वे चाहते थे इसी अवस्थामें डूबे रहना, किंतु श्रीरामकृष्ण अपने इस असाधारण शिष्यपर कुछ और ही आशा लगाये हुए थे । वे कहा करते थे, ‘साधारण लोग जगत्‌को मार्ग दिखानेका भार लेते हुए मर जाते हैं । उदाहरणार्थ एक मामूली-सा तिनका जैसे-तैसे स्वयं तो तैर सकता है; किंतु एक छोटी-सी चिड़िया भी यदि उसपर बैठ जाय तो वह तुरंत ही डूब जाता है । परंतु नरेन्द्रकी बात और है; वह गङ्गाके वक्षःस्थलपर बाढ़के समय तैरते हुए उन विशाल वृक्षोंमें तनों-जैसा है, जो अपने ऊपर न जाने कितने असह्य प्राणियोंको लिये रहते हैं ।’ इसीलिये कर्मक्षेत्रसे दूर रहनेकी नरेन्द्रकी प्रवृत्ति देख श्रीरामकृष्णने उससे कहा—

‘छिः छिः, नरेन्द्र ! मैं तो सोचता था कि तुम उस महान् वट-वृक्षके समान होगे, जिसकी छाँहमें हजारों थके-माँदे प्राणी आ-आकर शरण लेंगे । किंतु इस विपरीत तुम एक स्वार्थीकी तरह केवल अपनी ही निर्विघ्न-हित-साधनामें लगे रहना चाहते हो ।’

—ये शब्द नरेन्द्रके अन्तरमें घर कर गये उसने संकल्प किया कि ‘भौतिकवादकी चकाचौंधसे चौंधियाएँ आँखोंवाले अस्तव्यस्त मानवको आत्मज्ञानकी शिक्षा शान्ति प्रदान करूँगा तथा असंख्य दरिद्र, दीन और रोगी नारायणोंको अपनी यथोचित सेवाओंसे तृप्त करूँगा ।’



सन् १८८६ ( १५ अगस्त ) की अर्धरात्रिके बाद श्रीरामकृष्णने अपनी इहलीला समाप्त की । जानेसे पहले वे नरेन्द्रको अपनी आध्यात्मिक सम्पदा सौंपना न भूले थे । इतना ही नहीं, वे अपने सभी शिष्योंको भी नरेन्द्रके हाथों सँभला गये थे । इसीलिये कुछ समय बाद ही आँटपुर नामक स्थानपर नरेन्द्रने अपने बहुत-से गुरुभाइयोंसहित संन्यास-व्रतकी प्रतिज्ञा कर सदाके लिये अपना जीवन प्रभुके अर्पण कर दिया । बराहनगरमें एक मठकी स्थापना की गयी, जहाँ ये त्यागी-वैरागी युवक संन्यासी अहर्निश साधन-भजनमें जीवन व्यतीत करने लगे ।

सन् १८८८ ई० में नरेन्द्र, जो अब एक संन्यासी थे, भारत-भ्रमणको निकल पड़े । इस यात्राके अन्तर्गत उन्होंने हिमालयसे कन्याकुमारीतक क्रमशः समस्त भारतको नाप डाला और १८९२के अन्ततक भारतके दक्षिण छोर कन्याकुमारी अन्तरीपपर जा पहुँचे । इन लगभग चार वर्षोंमें कहीं तो उन्हें मिले भारतके गौरवमय अतीतकी स्मृतियोंसे रँगे खँडहर, कहीं राजप्रासादोंका विलासितापूर्ण वैभव और कहीं भग्न-जर्जर झोंपड़ियोंके बीच दरिद्रता, दासता, दीनता और रोग-शोकसे तड़पती, सिसकती एवं कराहती भारत माताकी संतान । वर्तमान भारतकी विपदाक्रान्तावस्थाका नक्शा उनकी आँखोंके सामने चित्रित हो गया । स्वामीजीका हृदय रो उठा । आँखोंसे झरझर अश्रुधारा बह चली । तभी उनके हृदयमें श्रीगुरुमहाराजकी वाणी पुनः गूँज उठी कि उन्हें व्यक्तिगत स्वहितसाधनाके संकीर्ण घरोँदेसे बाहर निकलकर बहुजनहिताय बहुजनसुखाय अपने जीवनको उत्सर्ग कर देना होगा । अपना मोक्ष, मुक्ति—सभीको छोड़ सामूहिक मुक्तिका उपाय निकालना होगा । और तभी उनके होठोंसे महामन्त्र गूँज उठे, 'मूर्खदेवो भव, दरिद्रदेवो भव, रोगिदेवो भव ।' उसी चट्टानपर बैठे-बैठे स्वामीजीने एक योजना बनायी, जिससे आत्माका भी

कल्याण हो और जगका हित भी । अब उनका कार्य होगा, 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।'

३१ मई, सन् १८९३ ई०के दिन स्वामीजीने शिकागो विश्वधर्मसम्मेलनमें भाग लेनेके लिये अमेरिकाको प्रस्थान किया । स्वामीजीने न तो किसी मान्यताप्राप्त संस्थाकी ओरसे विधिवत् प्रतिनिधित्व प्राप्त किया था और न उन्होंने धर्म-परिषद्में प्रविष्ट होनेकी अनुमति-तक ही ली थी । एकदम अपरिचित होनेके कारण उन्हें अनेक विपम कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा । जो अल्प पूँजी वे ले गये थे, वह भला, कबतक चलती । कितने ही दिन भूख-प्याससे व्याकुल, शीत प्रदेशमें बिना गर्म वस्त्रोंके दर-दर भटकना पड़ा । सहायताके लिये जिस भी दरवाजेको खटखटाया, वहींसे निकली अपमान-जनक कटुवाक्योंकी बौछार । परंतु उनका अपने गुरुदेवपर अटूट विश्वास था । वे साहस नहीं हारे और अन्तमें श्रीरामकृष्णदेवका मङ्गलमय आशीर्वाद, स्वयंका ओजस्वी व्यक्तित्व, अगाध पाण्डित्य तथा आत्मशक्तिका दिव्य प्रभाव पड़े बिना न रह सका । जिनके नेत्र थे, उन्होंने पहचाना कि यह एक अबूल्य मणि है । अयाचित ही बोस्टनकी एक महिला तथा हार्वर्डके सुप्रसिद्ध विश्वविद्यालयके एक विद्वान् प्राध्यापकने आगे बढ़कर उन्हें प्रत्येक सुविधा प्रदान की तथा उनके धर्मसम्मेलनमें भाग लेनेकी व्यवस्था कर दी ।

११ सितम्बर, सन् १८९३ई०के दिन प्रथम विश्वधर्ममहासम्मेलनका अधिवेशन आरम्भ हुआ । पहले ही दिनकी अपनी छोटी-सी वक्तृताद्वारा उन्होंने सारे अमेरिकामें तहलका मचा दिया । वेदान्तकेसरीकी गर्जनासे विश्वाकाश गूँज उठा । पाश्चात् यस्म्यताका लौह-दुर्ग बालूके ढेरके समान उड़ गया तथा विश्वविजयी हो इसतरुण संन्यासीने इस नयी दुनियामें वेदान्तका झंडा फहरा दिया ।



सन् १८९३ से १८९६ ई० तक ढाई वर्ष आप अमेरिकामें रहे तथा अपने अपूर्व ओजस्वी व्याख्यानों, प्रवचनों तथा उपदेशोंद्वारा इन्होंने समस्त पाश्चात्य जगत-को वेदान्तकी शिक्षा दी। विलियम जेम्स-जैसे अमरीकी दार्शनिक, रूसी महापुरुष टाल्स्टाय, जर्मन वेदान्ती पॉल डायसन तथा विश्वविश्रुत वेदज्ञ महात्मा मैक्समूलर उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

१५ जनवरी, सन् १८९७ ई० में स्वामीजी पुनः भारत लौटे। श्री जे० जे० गुडविन, श्रीमान् और श्रीमती सेवियर उनके साथ थे। समस्त भारतने अपने आध्यात्मिक नेताकी विश्व-विजयका अभिनन्दन करते हुए बड़ी धूमधामसे उसका स्वागत किया। गर्व और सम्मानसे भारतवासी फूल उठे। जहाँ जाते, भीड़ उमड़ पड़ती। रामेश्वरमसे मद्रासतक उनके स्वागतमें रास्तेमें स्थान-स्थानपर तोरणद्वार सजाये गये और वंदन-वारें बाँधी गयीं। उनका दर्शन पानेके लिये खबर मिलते ही रेलकी पटरीपर लोग लेट जाते ताकि गाड़ी अवश्य ठहरे। राजा लोगोंने खयं वे रय हाँके, जिसमें स्वामीजीका जुद्धस निकाला गया था। मानपत्रोंकी तो भरमार ही थी। कोलम्बोसे अलमोड़ातक स्वामीजीने

स्थान-स्थानपर स्वागतके उत्तर दिये तथा अत्यन्त तेजः-पूर्ण, मर्मस्पर्शी तथा शक्तिदायी भाषण दिये, जिन्होंने भारतवासियोंमें पुनः बल और उत्साहका संचार किया। भारतवासी एक दीर्घ निद्रासे उठ पड़े। 'उठो! जागो!' की ध्वनि गूँज उठी। त्याग और सेवाके नूतन पथपर आह्वान किया उन्होंने समस्त मानव-जातिको। सभी आत्माएँ अव्यक्त ब्रह्म ही हैं, इसी सनातन सत्यको जानकर मुक्त होनेके लिये प्रत्येक जीवमें शिवकी पूजा करनेका आदेश किया। इसीको साकाररूप देनेके हेतु उन्होंने १ मई, सन् १८९७ को रामकृष्ण-मिशनकी स्थापना की तथा देश और सेवाका एक स्पष्ट और परम उपयोगी कार्यक्रम इस संस्थाके सामने रक्खा।

सन् १८९९ ई० में स्वामीजी पुनः एक बार अमेरिका गये और लगभग एक वर्ष वहाँ रहकर यूरोप होते हुए भारत लौटे तथा पुनः अपने कार्यमें लग गये।

४ जुलाई, सन् १९०२ ई० को अल्पायुमें ही स्वामीजीने महासमाधि ले ली। इन ३९ वर्षोंमें स्वामीजीने मानवको हजारों वर्षोंके लिये यथेष्ट आध्यात्मिक भोजन दे दिया। युग-युगतक उनकी वाणी मानवको मोक्ष-मार्गपर आगे बढ़ाती रहेगी।

## मिलन-वेला

किसी गृह-कार्यमें सहयोग देनेके लिये कुछ महिलाओंको बुलाया था। कार्यके लिये शीघ्रता थी और उन लोगोंके आनेमें विलम्ब होता जा रहा था और साथ ही हृदयमें व्यग्रता बढ़ती जाती थी। कई बार अट्टालिकापर चढ़कर देखा, कई बार झरोखोंसे, एकाएक कुछ विचार आते ही हँसी आ गयी।

इस घरमें पता नहीं मेरा कितने दिन-घंटे या मिनटका ही सम्बन्ध हो। जिस कार्यके लिये मैं इतनी व्यग्र हूँ, उसका उपभोग भी कर सकूँगी या नहीं, यह कौन जानता है? ओफ! सब क्षणिक—मिथ्या, जिसके लिये इतनी व्यग्रता—हार्दिक व्यग्रता!

जो सत्य है, सदा अपना है, उसे पानेके लिये यदि इतनी व्यग्रता होती तो अभीतक क्या, कभीका सोना-में सुहागा मिल गया होता। प्रतीक्षाके जिस क्षणमें मिलनकी उत्कण्ठा अपनी सीमापर पहुँच जायगी—हृदय व्याकुलतासे छत्रपट्ट उठेगा, बस, वही क्षण मिलन-वेलामें पलट जायगा। इस मायामय संसारमें हमने तो जितना मन उलझा रक्खा है, उसका आधा भी क्या कभी प्रभु-चरणोंमें जा सका? शायद नहीं। तब मिलन-वेला भी अति दूर है। जब प्रतीक्षा करते-करते इतनी तन्मय हो जाऊँ कि समय, स्थान—यहाँतक कि अपने-आपको भी भूल जाऊँ, बस, वही क्षण मिलन-वेला बन जायगा। —दुर्गेश



# घूँघटके पट खोल

( लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन' )

हर आदमी सुख चाहता है। ज्ञानमें हो, चाहे अज्ञानमें—सुख ही उसकी मंजिल है। वही मानव-जीवनका प्राप्य और उद्देश्य है। मनुष्यका जीवन दुःखके लिये नहीं, पराधीनताके लिये नहीं, कभी समाप्त न होनेवाला आनन्द पानेके लिये है।

पर हम देखते हैं—बहुत ही थोड़े, गिने-चुने लोग उसे पाते हैं। अधिकांश दुःखके गलत मार्गमें भटकते-भटकते, अपनी आह और कराह लिये, एक दिन दुनियासे विदा हो जाते हैं।

क्यों है ऐसा ? सुख चाहकर भी सुख नहीं, आनन्दके लिये एड़ी-चोटीका पसीना बहाकर भी आनन्द नहीं।

कारण बहुत छोटा है। वह यह है कि हम जानते ही नहीं कि आनन्दका स्रोत क्या और कहाँ है। या यह कि हमने उस स्रोतके मुँहको ढक्कनसे बंद कर रक्खा है। दरवाजा बंद किये हुए हम प्रियतमकी प्रतीक्षा कर रहे हैं और उसके न आनेपर उसकी निष्ठुरताकी शिकायत भी करते जाते हैं।

तब क्या है आनन्दका स्रोत ?

विशुद्ध, शाश्वत आनन्दके दो ही उद्गम हैं—अपनेको देना और अपनेको पाना, समर्पण और साक्षात्कार।

पर असलमें यह अपनेको देना और अपनेको पाना भी एक ही हैं। ये एक ही वस्तुके दो नाम या एक पदार्थके दो पक्ष हैं।

तुम अपनेको पाते तभी हो, जब अपनेको देते हो।

संचय ही दुःखका कारण है, उत्सर्ग और समर्पण ही आनन्दका राजमार्ग है।

कभी सोचा है कि तुमने वर्षों रात-दिन एक करके

अपने सुखके लिये जो धन एकत्र किया है, उससे कभी सुख, संतोष और शान्ति मिली है ? उससे तुमने चिन्ता ही पायी है, अतृप्ति ही पायी है। बाजारमें जाकर उस धनसे तुम वस्तुएँ खरीद सकते हो, पर सुख नहीं।

एक दुखिया है, एक जरूरतमंद है। उसके पास खानेको नहीं है। जब तुम उसे द्रवीभूत होकर दिलसे कुछ देते हो, तब कैसा रसमय हो जाता है तुम्हारा मानस। इसी जमीनपर चलते हुए मानो तुम उससे कुछ ऊपर उठे अनुभव करते हो।

माँ अपने बच्चेके आनन्दके लिये खाना-पीना, शरीर-सुख, सोना—सब भूल जाती है। अपना सर्वस्व दे सकती है। तभी है वह माँ, तभी है उसका माहात्म्य, तभी है उसका सुख।

प्रेमी अपनी प्रेयसीके लिये क्या देनेको तत्पर नहीं होता ? क्या वह देकर, भयानक कठिनाइयाँ झेलकर भी एक अनिर्वचनीय स्वाद नहीं पाता ? स्वाद, जिसे छोड़नेको वह किसी कीमतपर तैयार नहीं; आह्लाद, सुख और आनन्द, जो उसके लिये सब चीजोंसे ऊपर हैं।

याद रखो—जो महान् है, बड़ा है, वही दे सकता है, वही देता है। इसे उलटकर यों भी कह सकते हैं कि जो दे सकता है, देता है, दाता है, वही महान् है। जिसके पास होता है, वही देता है। तुम्हारे पास जो है, उसे देते चलो, बाँटते चलो।

तुम्हारे पास धन नहीं है बाँटनेके लिये; न हो, परवाह नहीं। एक अपाहिजकी सेवाके लिये हाथ तो हैं।

परवाह नहीं यदि तुम्हारे पास देनेके लिये अन्न-भंडार नहीं; पर दो मीठे बोल तो तुम दुखीजनोंको दे ही सकते हो।



परवाह नहीं यदि तुम सर्वथा निःस्व हो; अपने संगी कराहते मानवके हृदयको अपने आँसूसे, अपनी करुणासे नहला तो सकते हो; उसके कलेजेको सहलाकर उसमें करकता काँटा तो निकाल ले सकते हो। थके हारे, जीवनकी बाजी हारे हुए, लड़खड़ाते इन्सानको सहारा तो दे सकते हो; जिसकी आँखोंका, दिलका दिया भी निराशाकी आँधियोंमें बुझ चुका है, उसकी लाठी तो बन सकते हो।

ऐसा कोई आदमी नहीं है, जिसके पास देनेके लिये कुछ न हो।

ऐसा कोई समय नहीं है, जब तुम कुछ न दे सको।

यह जीवन देनेके लिये ही है। अपनेको देनेका नाम ही 'प्रेम' है। जितना ही इसे देते हो, उतना ही यह बढ़ता है। सब कुछ देकर भी वह पूरे-का-पूरा बच जाता है। वस्तुतः देना, उत्सर्ग, समर्पण और प्रेम एक ही वस्तु हैं। मानव-आत्मा शाश्वत विरहसे पूर्ण है। वह अपने स्रोतसे मिलनेके लिये विकल है। प्रेम करके ही वह अपनी अपूर्णताको पूरा करती है। प्रेम ही मानवका स्वभाव है। जबतक वह प्रेम नहीं करता, प्रेम नहीं देता, तबतक मानो मूर्च्छित है, अपने प्रति विस्मृत है, अपने स्वरूपको भूला हुआ है—उस कस्तूरी-मृगकी भाँति, जो सुगन्धकी खोजमें मतवाला बना घूमता है, जब कि स्वयं ही उस मृदु-गन्धका स्रोत और स्वामी है।

इसीसे कहता हूँ, देना ही आनन्दकी स्थिति है।

यदि तुम्हारे पास धन है तो धन दो।

यदि तुम्हारे पास तन है तो तन दो।

यदि तुम्हारे पास मन है तो मन दो।

यदि तुम्हारे पास अन्न है तो अन्न दो।

यदि तुम्हारे पास वस्त्र है तो वस्त्र दो।

और यदि तुम्हारे पास यह सब कुछ नहीं है, तो मुस्कान दो।

जब कुछ भी न हो तो हृदय कहाँ जायगा ? वह तो है। बस, वह हृदय दो। इस हृदयके दानसे महान् और कुछ नहीं है।

यही है सुखका मार्ग, आनन्दका सोता—जितना अपनेको दे सको, दो।

अपने लिये सभी रोते हैं। इसीलिये दुःख है, इसीलिये छटपटाहट है, इसीलिये पराजय है, इसीलिये पीड़ा है।

कभी दूसरेके लिये रोकर देखो—एक ही बार, आजमाइशके तौरपर। वह आनन्द, वह खाद मिलेगा कि फिर अपने लिये रोनेका नाम न लगे।

अपने लिये जीना ही दुःख है।

दूसरोंके लिये जीना ही सुख है।

अपने वच्चोंके लिये जियो, अपनी पत्नीके लिये जियो, अपनी माताके लिये जियो, अपने पिताके लिये जियो, अपने मित्रों, बन्धु-बान्धवोंके लिये जियो, अपने देशके लिये जियो, मानव-मात्रके लिये जियो।

जिस सीमातक तुम दूसरोंके लिये जियोगे, उसी सीमातक आनन्दके निकट होगे।

रामने पिताके वचनके लिये राज दे दिया, भरतने उस राजमें रहते हुए भी राज छोड़ दिया, कृष्णने सब कुछ पाकर भी सब कुछ छोड़ दिया, बुद्धने दुखी मानवके लिये, सुखका अनुसंधान करनेके लिये, संसारके वैभव एवं ऐश्वर्यका त्याग किया; दूसरे जियें, इसलिये ईसाने जीवन दिया। यह अपनेको उत्सर्ग करना, अपनेको देना ही परम पौरुष है।

तुम कहोगे, ये बड़ोंकी बातें हैं, इसे हम सामान्य जन कहाँ कर सकते हैं ? पर तुम भूलते हो। संसारमें कोई ऐसा प्राणी नहीं है, जो जानमें या अजानमें अपना कुछ-न-कुछ अंश देता न हो। वह देनेके लिये विवश है। बिना दिये, बिना समर्पण किये—थोड़ा या बहुत—वह एक क्षण जी नहीं सकता। आवश्यकता इतनी ही



है कि इस विवश देनको हार्दिक देनमें बदल दो । विवश होकर नहीं, स्वेच्छासे दो, दिलसे दो, प्रेमसे दो । जो प्रेमसे देता है, वही वस्तुतः देता है और जब यह प्रेम-दानकी क्रिया आरम्भ होती है तो ऐसा अनिर्वचनीय सुख मिलता है कि फिर कोई उस दानकी धाराकी गति रोक नहीं सकता । एक बार देनेका स्वाद मिला कि फिर मनुष्य देता ही जाता है, यहाँतक कि अपनेको पूरा-का-पूरा लुटा देता है ।

इसलिये सुख चाहते हो, आनन्दके लिये भटक रहे हो तो जितना भी दे सको, दो । अपने जीवनकी गति संचयकी ओरसे दानकी ओर मोड़ दो ।

यह जरा भी मुश्किल नहीं, बिल्कुल तुम्हारे स्वभावके, प्रकृतिके अनुकूल है । एक बार करके देखो, आजमाकर

देखो; फिर किसीको कहना नहीं पड़ेगा, किसीको सिखाना न होगा । देकर स्वयं देखो, देनेमें कितना आनन्द है ।

और जो अपनेको दे देता है, पूरा-का-पूरा दे देता है, वह सब कुछ पा जाता है । वह निःस्व होकर भी पूर्ण हो जाता है । वह अपनेको देकर ही अपनेको पा लेता है । यह आत्मदान जड़में प्राणकी सृष्टि करता है; यह समर्पण मरणकी सेजपर अमृत हो जाता है ।

वस, आनन्दका यही एक राजमार्ग है—अपनेको लुटाना, अपनेको देना । देते चलो, लुटाते चलो और घूँघट उठाकर अपने हृदयमें छिपे परम प्रियतमको निहार लो । देखो, एक बार करके देखो; आनन्द मिलेगा, अवश्य मिलेगा ।

‘घूँघटके पट खोल री, तोको पीव मिलेंगे ।’

## एक अजीब विवाह ! विचित्र प्रयोग !!

[ सच्ची कहानी ]

( लेखक— डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी० )

“मैं केवल उस दुखी अभावग्रस्त जरूरतमंद कन्यासे विवाह करूँगा, जिसे सच्चे अर्थोंमें जीवन-सहचरकी आवश्यकता होगी, जिसे जिंदगीभर मेरी सक्रिय सेवाओंकी असली अर्थोंमें जरूरत होगी ।”

“आपके अजीब ख्याल हैं । सर्वत्र विचित्र !”

“जी हाँ, यही नहीं ! मैं अभावग्रस्त, प्रकृतिके द्वारा कुटे-पिरे, हताश, निरुपाय व्यक्तिकी सेवा-सहायताको ही भगवान्की सभ्ये बड़ी पूजा मानता हूँ ।” उन्होंने स्पष्टीकरण किया ।

विचित्र उत्तर था उनका । कोई इन अटपटे विचारोंका मतलब न समझ पाता था । लोग इन दकियानूसी ख्यालोंपर फन्तियाँ कसते थे । वे प्रायः व्यङ्ग्यके शिकार रहते थे ।

×

×

×

योगेन्द्र बाबू प्रारम्भसे ही पढ़ने-लिखनेमें चुस्त और स्फूर्तिमान् थे । वे अपनी योग्यताएँ बढ़ानेमें प्रयत्नशील रहते । खूब मनन और अध्ययन करते । वे परीक्षाएँ एकके बाद

एक सफलतापूर्वक उत्तीर्ण करते चले गये । एम्० ए० के बाद उन्होंने एल्-एल्० बी० पास किया और देखते-देखते वे ऐडवोकेट बन गये—सफल वकील !

सच्चा परिश्रमी सर्वत्र जीतता है । मेहनतसे मनुष्यके विकार दबते हैं और देवत्व पनपता है । वे आदर्शवादी तो थे ही, जनताकी सहज सहानुभूतिके पात्र भी बन गये । वकील साहबके मनमें प्रारम्भसे ही यह महत्त्वाकाङ्क्षा थी कि परोपकारका कोई ऐसा अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिये, जिसकी टक्करका पुण्यकर्म किसी अन्यने कभी न किया हो ।

उनके विवाहकी चर्चाएँ उनके विद्यार्थी-जीवनमें ही चल रही थीं । ऊँचे उठते और चरित्रवान् नवयुवकोंको सभी माता-पिता ललचायी आँखोंसे देखते हैं । फिर योगेन्द्र-जैसे सफल कमाऊ वकीलकी अच्छी आमदनी, व्यवहारमें सज्जनता और उच्च शिक्षापर अधिक-से-अधिक देहज और रूपवती कन्याएँ भेंट करनेवाले लोगोंकी कमी न थी । कोई न-कोई सम्पन्न



परिवार रिश्तेके लिये उनके घर आता ही रहता था, पर वे नहीं करते जाते। कहते, “अभी विवाहके लिये सोच रहा हूँ। चुनाव करना बाकी है।” उनकी नाहींका किसीको पता न था।

कन्यापक्षके लोग ऐडवोकेट साहबके प्रति तरह-तरहसे अनुरोध करते। बड़ी दहेज, मोटर इत्यादितक देनेका लालच देते, मिन्नतें-खुशामदें करते, रुपये और उच्च स्थितिके प्रलोभन देते, इष्ट-मित्रों और सगे-सम्बन्धियोंसे सिफारिशें कराते, तरह-तरहकी कीमती भेंट पेश करते, किंतु वकील साहब केवल एक ही उत्तर देते थे—

“मैं केवल उस दुखी, अभावग्रस्त, जरूरतमंद लड़कीसे विवाह करूँगा, जिसे सच्चे अर्थोंमें जीवन-सहचरकी जरूरत होगी, जिसे आयुपर्यन्त मेरी सक्रिय सेवाओंकी आवश्यकता होगी। मैं अभावग्रस्त मानवताकी सेवाको ही भगवान्की सबसे बड़ी पूजा मानता हूँ।”

योगेन्द्रजीका अजीब-सा उत्तर रहता ! कोई इसका व्यावहारिक स्वरूप न समझ पाता कि आखिर उनका उद्देश्य क्या है।

कई हितैषियोंने उन्हें निकटसे समझाना चाहा, पर कोई लाभ न हुआ। सुन्दर-सुन्दर युवतियोंसे विवाहके आफर आये, अमीरोंने रुपयेका लालच दिया, लेकिन वे हिमालयकी तरह अपनी टेकपर डटे रहे।

यौवन, सौन्दर्य, रूप, शृङ्गार, सेक्सके प्रति उनकी शुष्कता कुछ समझमें न आयी। सब यही समझते थे कि ये पत्थर ही बन गये हैं। गृहस्थ बसानेकी कोई इच्छा नहीं है इनमें !

अब इनकी उम्र अधिक हो चली है। क्या विवाह करते दीखते हैं ? व्यर्थ इनकी खुशामद करनेसे क्या लाभ ! ऐसे ही न-न करते-करते इनकी उम्र बढ़ती जायगी और आखिरमें ये बिना विवाह आजन्म कुंवारे ही रह जायेंगे। जिंदगी-भर विवाहित जीवनके लिये पछतायेंगे। गलती अनुभव करते रहेंगे।

जिंदगी भी एक हद है। विवाह न करनेकी खबर फैलती गयी। उनके माता-पिता और कुटुम्बी धीरे-धीरे उधरसे बेखबर हो गये। उन्होंने सोचा, “योगेन्द्र शायद अकेले ही जिंदगीकी गाड़ी खींचेंगे। जीवनके सफरमें एकाकी ही रहेंगे। वे शायद हृदयहीन हैं। उनमें यौवनकी उद्दाम

वासना नहीं है। सेक्सका गर्म स्पन्दन दिलमें नहीं उठता ! चढ़ती जवानीमें ही योगी हो गये हैं। व्यर्थ है इनसे विवाहके लिये आग्रह करना, अनुनय और विनय !”

समय बीतता गया। उम्र बढ़ती गयी। उनकी शादीकी बात आयी-गयी हो गयी। लोगोंकी उनके प्रति दिलचस्पी कम हो गयी।

उनके सम्बन्धियोंको विश्वास हो गया कि उनके दिमागमें कोई फितूर है। भला आजके उत्तेजक वातावरणमें कोई ब्रह्मचारी रह सकता है ? अपनी अप्राकृतिक जिदके लिये रोयेंगे और प्रौढ़ होकर विवाह न करनेपर आठ-आठ आँसू बहायेंगे। विवाह मानवजीवनकी एक महत्वपूर्ण जीवन-स्थिति है। भला, निश्चित आयु निकल जानेपर प्रौढ़से कौन भूख युवती विवाह करना चाहेगी ?

दिन, सप्ताह, महीने बीते। प्रभात आता और साँझ हो जाती। यहाँतक कि कई वर्ष यों ही आगे खिसक गये। किसीकी परवाह न करनेवाली यह स्वार्थी दुनिया आगे बढ़ती चली गयी। जमाना बढ़तीका है, नये-नये प्रयोगोंका।

संसारमें सब अपने-अपने कामोंमें फँसे हैं। कौन, किसके लिये सकता है ? सब अपनी-अपनी निजी समस्याओंमें रेशमके कीड़ोंकी तरह लिपटे हुए हैं।

बहारें आयीं ! कलियाँ खिलीं ! तारे हँसे और जिंदगी तेजीसे आगे खिसकती गयी !!

×

×

×

दुनियामें बहुत-से आश्चर्य होते हैं, जो हमें हैरतमें डाल देते हैं। यकायक एक दिन सबको अचरज हुआ।

क्यों ? कैसा आश्चर्य ?

किस अद्भुत बातका विस्मय था यह ! कौन-सी रोमाञ्चकारी घटना थी यह ! शादी ! शादी ! शादी !!

ऐडवोकेट योगेन्द्रके कुटुम्बियों और मित्रोंने कौतूहल और विस्मयसे यह सुना कि प्रौढ़ अमीर वकील साहब अब शादी करने जा रहे हैं।

सबके मनमें विस्मय और कौतूहल था। सैकड़ों प्रश्न उभर उठे मानस क्षितिजपर, काले बादलोंकी तरह !

“शायद इन्हें कोई अत्यधिक रूपवती लड़की मिल रही है अब ?”

“क्या कोई ऐसा अमीर परिवार मिल गया है, जो इन्हें शानदार दहेज दे रहा है ?”



“क्या किसी ऊँची कुर्सीपर बैठने या मिनिस्टर बननेकी सम्भावना है ?”

“क्या गुलशनमें खिलती हुई किसी कलीने इन्हें मोह लिया है ? जवानी मौजे दरिया है, जवानी फिर न आयेगी—शायद ये शब्द शायद सच होने जा रहे हैं ?”

हर किसी दोस्तको उनके द्वारा किया गया पत्नीका चुनाव देखनेकी भारी उत्सुकता थी ।

X

X

X

आखिर एक दिन उनका विवाह हो गया ।

यह मानो एक अनहोनी-सी बात हो गयी थी ।

विस्मय तब हुआ, जब विवाहके बाद उनकी धर्मपत्नी पतिके घर आयी । सभी भारी अचम्भेमें गोते लगा रहे थे । सबकी आशाओंपर तुफारपात पड़ा ।

अजीबोगरीब था उनके द्वारा पत्नीका किया गया यह चुनाव !

क्यों जी, क्या बात थी उस चयन में ?

बात यह थी कि यह लड़की न रूपवती थी, न उन्हें कोई भारी दहेज ही मिला था । वह बेचारी न किसी बड़े पूँजीपति या ऊँची कुर्सीवाले अफसरकी पुत्री ही थी ।

उलटे वह एक ऐसी अभागी लड़की थी, जिसकी आँखें दुर्दैवने जन्ममें ही छीन ली थीं । वह ऐसी दुखियारी थी, जिसके लिये यह सुन्दर संसार एक निरा काल्पनिक जगत था । जो टटोल-टटोलकर ही मनुष्य और उसकी नाना वस्तुओंकी कल्पना कर सकती थी ।

यह अभागी एक ऐसी अंधी कन्या थी, जिसे जीवनके हर दिन, हर पल, हर पगपर दूसरोंके सहयोग, सहायता, प्रेम, प्रोत्साहन, पथ-प्रदर्शन और सेवाकी जरूरत थी, जो बिना दूसरोंकी मददके एक पल भी न रह सकती थी । वह अंधी शौचादिसे निवृत्त होनेतकके लिये दूसरोंकी मुहताज थी । पर वह शील, स्वास्थ्य और चरित्रमें अव्वल नंबर थी, धार्मिक विचारोंकी, अपने पतिकी सेवा और प्रेममें विश्वास करनेवाली !

“अंधी लड़कीसे विवाह !” लोगोंने वकील साहबका खूब मजाक उड़ाया ।

“अजी, ये सब आदर्श दिखावेके हैं । वकील साहब इस अंधी लड़कीके साथ कितने दिन निर्वाह करेंगे, भला ? अरे

साहब, एक दो महीनेमें परेशान होकर खुद ही बीबीको छोड़ भागेंगे । सारा ढकोसला धरा रह जायगा इनका !”

कोई व्यङ्ग्य कसकर कहता, “अजी, यह किताबी आदर्शवाद कढ़ीके उयालकी तरह है । जिंदगीमें चलता थोड़ा ही है । कहानो किस्सों—जैसी अजीब-सी बात है । अंधी लड़कीका हाथ पकड़कर मुसीबत-ही-मुसीबत खड़ी कर ली इन्होंने ।”

पर वकील साहब अपनी जिदपर अटल थे ।

“मित्रो ! मैं तो एक जरूरतमंदकी सेवाके लिये इस सच्चरित्र अंधी कन्याको व्याहकर लाया हूँ । चाहे जो भी मुसीबतें आयें, इसे निभाऊँगा । प्रेम और निष्ठा, तप और त्याग, श्रम और कर्तव्यपालन, शील और संतोष, सहिष्णुता और सच्चा स्नेह आदिका विकास पूरी तरह गृहस्थ जीवनमें ही होता है । दाम्पत्यजीवन मनुष्यकी सर्वाङ्गपूर्णताका विद्यालय है और विवाह सेवा-सहयोगका प्रवेश ।”

वाकई वे अपने इस व्रतपर अटल निकले ।

आज हमें उनका विवाहित जीवन देखते हुए लम्बाग ढाई वर्ष हो गये । उनकी गृहस्थीकी गाड़ी अच्छी तरह च० रही है । वकील साहब अपने भाइयोंसे अलग अकेले मकानमें अपनी अंधी धर्मपत्नीके साथ रह रहे हैं । हम देखते हैं कि जो अटूट प्रेम और पारस्परिक सहयोग इन पति-पत्नीमें देखनेको मिलता है, वह न तो आजके रोमांटिक पति-पत्नियोंमें होता है न आँखोंवालोंमें, जो सारे दिन खूबसूरत औरतोंके कुचक्रमें भागते फिरते हैं और पत्नीका चुनाव करते समय जिनकी पहली शर्त चेहरेकी सुन्दरता होती है ।

उत्सुकतावश हमने एक दिन वकील साहबसे पूछा, “आपका दैनिक कार्यक्रम क्या रहता है ?”

चेहरेपर संतोषकी आभा बिखेरते अतीत स्मृतियोंको संजोते हुए उन्होंने उत्तर दिया, “भाई साहब ! जिसने मानव-सेवाको ही आजन्मव्रतके रूपमें धारण किया है, उसे अंधी सहचरीके साथ रहनेमें क्या कष्ट होगा, भला ? मैं स्वयं प्रातः-काल जल्दी उठकर अपनी जन्मान्ध धर्मपत्नीको शौचादिसे निवृत्त कराता हूँ । ऐसा कभी भी नहीं हुआ, जब मैंने पास बिठाकर खुद उन्हें भोजन न कराया हो । पत्नीके बाल गूँथनेसे लेकर उन्हें एक स्थानसे दूसरे स्थानतक ले जानेतकका सारा काम मैं घरमें खुद ही करता हूँ... और... आपको बताऊँ... मैं इसे एक पवित्र कर्तव्य मानता हूँ ।”



“फिर आप कचहरीका पेंचीदा काम क्योंकर निपटाते हैं, वकील साहब ?”

“सबसे धरके जरूरी कामोंसे निपटकर मैं नियमित रूपसे कचहरी जाता हूँ। घरपर मेरी धर्मपत्नीको कष्ट न हो, इसके लिये मैंने एक विश्वासपात्र नौकर रक्खा है। वह नौकर ही घरका बहुत-सा काम निपटाता है।”

“भावुकतावश आप भी कहाँ मुसीबतमें फँस गये !” मैं उनसे कहने लगा। “अंधी लड़कीको जीवनसंगिनीके रूपमें लेकर बैठे-बिठाये जन्मभरका कष्ट मोल ले लिया आपने, वकील साहब ! यह क्या अजीब बात आपको सूझी थी ?”

मेरे रिमार्कपर वकील साहब मुस्करा उठे।

“भाई साहब ! अपना-अपना दृष्टिकोण है। मैं पीड़ित मानवसेवाको ही मनुष्यका सच्चा धर्म समझता हूँ। इससे बढ़कर पुण्यकार्य क्या हो सकता है कि आदमी किसी दीन-हीन, अपाहिज, मुसीबतमें फँसे आदमीकी जीवनभर सेवा करे। दिखावटी धर्म-कर्मको मैं धोखेबाजी समझता हूँ। भला, जिस धर्म-कर्मसे किसी मुसीबतजदा जीवको प्रत्यक्ष लाभ न हो, वह थोथा धर्म मानवताकी दृष्टिसे बेकार ही तो है ! असहायको सहायता देकर, अनाथको आश्रय और अभावग्रस्तको स्वयं कष्ट सहकर सुविधा प्रदान करनेवाले व्यक्ति ही ईश्वरके सच्चे उपासक और आस्तिक कहे जा सकते हैं। मनुष्यका गौरव तो दुखी, संतप्त, पीड़ित और अभावग्रस्त मानवताकी सेवामें है। पीड़ितोंकी, चाहे वे कहीं भी हों, सेवासे ही उसकी आत्माको शान्ति मिल सकती है।”

“आत्माकी शान्तिका नाम ही तो स्वर्ग है। आपकी स्वर्गके बारेमें क्या मान्यता है, वकील साहब !”

“लोगोंका ख्याल है कि इस धरतीसे अलग स्वर्ग ऊपर आसमानमें है।”

“हाँ, लोग स्वर्गके सम्बन्धमें बड़ी विचित्र कल्पनाएँ करते हैं। वे कहते हैं कि वहाँ पहुँचकर सभी प्रकारके शरीर-सुख मिल जाते हैं।”

“डाक्टर साहब ! मैं तो इस पंचड़ेमें नहीं पड़ना चाहता कि ऊपर आकाशमें कोई स्वर्ग है या नहीं।”

“तो फिर क्या मानते हैं आप ?”

“मैं तो यह देखना अधिक अच्छा समझता हूँ कि क्या

उस स्वर्ग-जैसी प्रेमभरी और सद्भावपूर्ण परिस्थितियोंको इस धरतीपर भी उतारना मुमकिन है ?”

“साधनोंकी दृष्टिसे तो धरतीमें किमी प्रकारका अभाव नहीं है।”

“यह ठीक कहा आपने। मैं स्वीकार करता हूँ—रूपया, धन-जायदाद, वस्त्र-आभूषण, सुस्वादु भोजन वगैरह सभी उत्तमोत्तम सामग्री सम्पन्न व्यक्तियोंके लिये पृथ्वीपर है।”

“क्या कुछ कमी नहीं महसूस करते इस समाजमें आप ?”

“यदि यहाँ कुछ कमी मिलती है और उसके लिये दोष हमी हैं तो वह भावात्मक न्यूनता ही है। सुखके साधनोंके साथ स्नेह, सौहार्द, आत्मीयतापूर्ण भावनाओंके सम्मिश्रणके ही ‘स्वर्ग’ कहा जा सकता है। मैंने तो स्वर्गका सुख यहीं लूट है।”

“स्वर्ग—और पृथ्वीपर ! सो कैसे ?” मैंने कौतूहल वश पूछा।

“यह स्वर्ग मेरे यहाँ नहीं—बल्कि आप और मेरे, सबके पहुँचकी, सबके वशकी बात है, डाक्टर साहब !”

“कौन-सा स्वर्ग ?”

“यह स्वर्ग—दाम्पत्य-जीवनका स्वर्ग क्या किसी ऊपर आकाशवाले स्वर्गसे कम सरस, सुखद, सुरचिपूर्ण और सुन्दर है ? जिसने दाम्पत्यजीवनके स्वर्गका रसास्वादन कर लिया, वह पति क्या अन्यत्र स्वर्गकी कामना करेगा ? स्वर्ग तो आपके घरमें है !”

“बात साफ नहीं हुई वकील साहब ! कुछ और स्पष्टीकरण माँगती है ?”

“तो इस तरह समझिये, डाक्टर साहब—पति और पत्नीके संयुक्त जीवन एक आध्यात्मिक मिलन होता है। दो भाव और पवित्र आत्माओंका सम्मिलन और जीवन-पथपर साथ-साथ चलना इतना आनन्ददायक होता है कि वे दोनों अपने त्याग, सेवा और बलिदानद्वारा अपने इस सुमधुर सम्बन्धपरिपाक बनाये रखनेके लिये सम्पूर्ण जीवन कठिनाइयों और मुसीबतोंका खुशी-खुशी सामना करते हैं। गृहस्थी जुटानेके लिये वे दोनों काम बाँटकर कितना श्रम और उद्योग करते हैं, इसे प्रत्येक सदृगृहस्थ जानता है। परिवारके आन्तरिक मामलोंकी देख-रेख—बच्चोंके लालन-पालन, भोजन-व्यवस्था, पतिकी समुचित सेवामें सदृगृहिणियोंको कितनी दौड़



धूप करनी पड़ती है, यह किससे छिपा है । एक-दूसरेके प्रति आत्म-उत्सर्गकी भावना निश्चय ही आध्यात्मिक तथ्य है ।”

“फिर दाम्पत्यजीवनमें दुःख, आत्महत्याएँ, तलाक, पत्नीको मार डालने या पत्नीका किसी अन्यके साथ भाग जानेकी घृणित घटनाएँ क्यों देखने-सुननेमें आ रही हैं, आजके समाजमें ?” मैंने पूछ डाला ।

जरा हँसते हुए तथा मौजूदा वैवाहिक जिंदगीपर व्यङ्ग्य करते हुए वे कहने लगे, “डाक्टर साहब ! आजका युग सिनेमाके पर्देपर नाचती काल्पनिक रोमांटिक जिंदगीका जीवन है, वास्तविकतासे बहुत दूर । पति-पत्नी वैवाहिक जीवनकी जिम्मेदारीसे बचना चाहते हैं । युग-युगान्तरोंके पवित्र संस्कारोंके परिणामस्वरूप दाम्पत्य-संयोग मिलता है । एक प्राण, दो शरीरोंकी यह सम्मिलित इकाई जितनी प्रगाढ़ आत्मत्यागकी भावनाओंसे ओतप्रोत होगी, उसी अनुपातसे आपके आँगनमें स्वर्ग बिलर पड़ा होगा । जहाँ इस आत्मीयताकी कमी होगी, वहाँ तनाव, दुःख और दारिद्र्यकी कड़वाहट दिखायी देगी ।”

“ठीक ! ठीक !” मैं चिल्ला उठा ।

“आप आजके जीवनसे संतुष्ट हैं क्या ?”

“आज कानूनने असंतुष्ट दम्पतियोंको तलाकद्वारा अलग होनेके अधिकार दे दिये हैं । क्या ये उन्नतिके लक्षण नहीं हैं ?”

“कतई नहीं । मैं तो आज भी मनुस्मृतिके उस उद्धरणको वैवाहिक जीवनकी सफलताका आधार मानता हूँ ।”

“क्या वह आपको याद है ?”

“हाँ, सुनिये मनुस्मृतिमें कहा गया है—

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।  
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

× × ×

स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।

तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥

( अ० ६०, ६२ )

“इसका अर्थ तो समझाइये, वकील साहब ?”

“अर्थ स्पष्ट है”—वे कहने लगे, “जिस कुलमें पत्नीसे पति और पतिसे पत्नी अच्छी तरह संतुष्ट रहते हैं, उसी परिवारमें सुख-सौभाग्य और ऐश्वर्य निवास करते हैं ।”

जहाँ उनमें किसी कारण कलह होता है, वहाँ दुर्भाग्य और दारिद्र्य

टिके रहते हैं । पत्नीकी प्रसन्नतासे परिवारकी शान्ति और सम्पन्नता मुखरित रहती है । यदि वह असंतुष्ट और अप्रसन्न रहती है, तो सभी ओर दुःखद परिस्थितियाँ उठ पड़ती हैं ।”

ऐडवोकेट योगेन्द्रपालको देखकर, उनसे मिलकर तथा सेवामें ही धर्म-कर्मका आनन्द-लाभ मानकर मुझे बड़ा संतोष होता है । वकील साहब सिद्धान्तरूपमें नहीं, वरन् व्यवहार-रूपमें सेवाको ही सच्चा धर्म मानते आ रहे हैं ।

मैंने देखा है कि वे अपनी अंभी धर्मपत्नीके साथ मित्र और सहायकके रूपमें रहते हैं । उसका मनोरञ्जन करते हैं । रेडियो-संगीतद्वारा तो वे सदा ही उसे खुश करनेका प्रयत्न करते हैं । दिलचस्प कथाएँ और धार्मिक पुस्तकें पढ़कर सुनाया करते हैं । पत्नीको गाने-बजानेका शौक है । वह भी भजन सुनाती रहती है ।

मौजमें आकर एक दिन वे चहक उठे, “ईश्वर मेरी इस साधनासे बहुत खुश हैं डाक्टर साहब !”

“वह क्योंकर ?” मैंने उत्सुकतापूर्वक पूछा ।

इतनेमें उनका नौकर उनके नन्हे पुत्रको गोदीमें खिलाता हुआ आया ।

प्यारसे उसे खिलाते हुए वे बोले—

“यह रहा मेरा ईश्वरीय उपहार ! मेरा दुलारा पुत्र ! संतान-सुख होनेसे दाम्पत्यजीवनमें सरसता आ गयी है । यद्यपि इस शिशुकी माँ टटोलकर ही वास्तव्यका दैवी आनन्द प्राप्त करती है, तथापि पतिके स्नेहपूर्ण व्यवहारसे वे पृथ्वीपर ही दाम्पत्यरूपी स्वर्गका आनन्द ले रही हैं । मनुष्यमें छिपे देवत्वके खिलनेमें ही वह अक्षय सुखका आनन्द लूटता है ।”

ऐडवोकेट साहबके दाम्पत्यजीवनसे मैं सोछा हूँ कि वास्तवमें असहायकी सेवा ही परमात्माकी पूजा है । जो समर्थ होकर किसी दुखी, संतप्त इन्सानको सच्ची सान्त्वना नहीं दे सकता, जो पङ्खु, लंगड़े या अंधेको सहारा देकर नहीं उठा सकता, वह कैसा आदमी है ! उस हृदयहीन उपासनासे क्या लाभ है, जिससे मनुष्यका अन्तःकरण पापाण ही बना रहे ।

सचमुच मनुष्यका गौरव तो पीड़ितोंकी सेवामें है और उसीमें आदमीको सच्ची शान्ति मिल सकती है । खुद अपने लिये तो क्षुद्र कीड़े-मकोड़े भी जीते हैं । अपनी क्षमताका लाभ तो पशु-पक्षी भी उठाते हैं । मानव-जीवनकी विशेषता तो उसकी परमार्थ-प्रवृत्ति है ।

जो व्यक्ति पीड़ितोंके दुःख-दर्दको समझता है और उसे



दूर करनेके लिये जिसके अन्तरमें सेवा, सहयोग, दया, करुणा, प्रेमकी भावनाएँ उमड़ती हैं, वही मनुष्य कहलानेका अधिकारी है।

पत्थर-जैसे निष्ठुर, कंजूस और स्वार्थी बनकर शौक-मौज उड़ानेवाले व्यक्ति अपने मनमें बड़े आदमी भले ही बन लें, पर वस्तुतः उन्हें छोटा ही माना जायगा।

बड़े वे हैं, जिनके हृदय उदार हैं और जो दुखी-निराश्रितोंको सुखी बनानेके लिये स्वयं कष्ट उठानेका साहस करते हैं। भावात्मक बड़प्पन ही किसी व्यक्तिकी महानताका चिह्न हो सकता है।

जिस देश या समाजमें परदुःखकातर आदमी हों, वही

बड़ा बनता है। हमारे देशमें दूसरोंके लिये जीनेवाले आदमी हुए हैं और अब भी मौजूद हैं।

असमर्थ, पिछड़ी या अल्प-शिक्षिता धर्मपत्नीको निभाना उसे आगे बढ़ानेका प्रयत्न करना, उसकी त्रुटियोंकी ओर ध्यान देकर प्रेमपूर्ण व्यवहार करना धर्म है। संत्य ही कहा गया है

मेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः।

मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्॥

( अथर्ववेद १.४। १। ५३ )

हे धर्मपत्नी ! ईश्वरने तुम्हें मुझे सौंपा है। तुम्हें पालन-पोषणका उत्तरदायित्व अब मुझपर है। हम-तु-संतानयुक्त होकर सौ वर्षोंतक जियें।

पत्नीव्रत धर्मका एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक अङ्ग है।

## पापका धन

( लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया )

बम्बईमें अशरफ भाई नामक जवाहरातका एक दलाल था। बहुत ही नेक और मेहनती। स्वयं धनवान् नहीं था, परंतु व्यापारियोंका उसपर पूर्ण विश्वास था; इसलिये वे बहुत रुपयोंका माल उसे सौंप देते थे। एक बार एक सेठके यहाँ कुछ हीरोंकी खरीददारी हुई। अशरफ भाईने उसकी पसंदगीके लिये एक पुड़िया दी। गलतीसे उसके साथ एक पुड़िया और चली गयी, जिसमें १५ बेशकीमती नीले हीरे थे। दूसरे दिन रातमें जब वह खोजने लगा, तब उसे वह पुड़िया याद आयी और वह दौड़ा हुआ सेठके घर गया। सेठने आलमारीसे पुड़िया निकालकर दिखायी और कहा कि 'उसके सिवा उसे और कुछ नहीं मिला है।' अशरफ बहुत गमगीन होकर हीरोंके मालिकके पास पहुँचा और सारी बात व्योरेवार बतायी। जौहरी उसकी ईमानदारीके बारेमें बहुत दिनोंसे जानता था, इसलिये ढाढ़स बँधाते हुए कहने लगा— 'ब्रबरानेकी कोई बात नहीं है, कहीं इधर-उधर रखकर भूल गये होंगे—मिल जायगी।' दस-पाँच दिनमें भी जब कुछ पता नहीं चला, तब वह फिर

जौहरीके पास गया और कहा कि 'मैं जानता हूँ, इस समय उन हीरोंकी कीमत इतनी अधिक है कि उन्हें चुकाना मेरे बशकी बात नहीं है। बड़ी कृपा होगी यदि आप उनकी लागत कीमत मुझसे ले लें। अधिकांश तो अभी दे दूँगा, बाकीके लिये रुक लिख दूँगा।' दूसरे दिन वह फिर सेठके यहाँ गया और उसका पैर पकड़कर रोने लगा कि 'मैं बाबूचेवाला आदमी हूँ—वे सब बर्बाद हो जायेंगे आइन्दा कौन मेरा विश्वास करेगा ? कौन मुझे जवाहरात सौपेगा ? मेरा तो धंधा ही चौपट जायगा। ऐसा लगता है, आप हीरे कहीं रखकर भूल गये हैं, एक बार फिर देख लें।' उस दिन सेठ उसे बुरा-भला कहकर घरसे निकाल दिया। इसके बाद अशरफको इतना बड़ा सदमा पहुँचा कि वह विश्वि सा रहने लगा। कभी-कभी रातमें चौककर उ जाता और रोने लग जाता। पत्नीके बार-बार कहने पर मनको कड़ा करके, फिर कुछ दिनों बाद एक दूसरे प्रतिष्ठित व्यक्तिके साथ उस सेठके पास गया और उनके समझाने-बुझानेपर उन दोनोंने एक



मान लिया । पंचके सामने अशरफने अपनी बात रखी  
के 'जिस दिन मैं सेठजीके पास हीरे रखकर गया  
था, उस दिन और कहीं नहीं गया । इसलिये मेरी  
पुड़िया उस हीरोंवाली पहली पुड़ियाके साथमें भूलसे  
इन्हींके पास आयी है ।' प्रत्यक्ष प्रमाण पूछनेपर उसने  
“ना” कह दी और बताया कि 'न तो मेरे पास कोई  
प्रत्यक्ष गवाह है और न मैंने इन्हें अपनी जानकारीमें  
पुड़िया ही दी थी ।' उधर सेठने अपने जवान लड़केके  
सिरपर हाथ रखकर सौगंध खायी कि 'मेरे पास इसकी  
कोई दूसरी पुड़िया नहीं आयी थी ।' फैसला अशरफके  
विरुद्ध हो गया । अचानक अशरफ सेठके पैरों  
पड़ गया और कहने लगा—'यह आपने क्या किया ?  
आपका चेहरा बताता है कि हीरे आपके पास हैं ।  
क्यों ! आपने इकलौते जवान बेटेके सिरपर हाथ

रखकर इतनी बड़ी सौगंध खायी । भगवान्‌का दिया  
आपके पास सब कुछ है ।' इसके बाद रोता-बिलखता  
वह वापस अपने घर आकर ले गया ।

संयोगसे तीन-चार दिनों बाद ही सेठके लड़केको  
( मैंनेजाइजी ) गर्दनतोड़ बुखार हो गया और वह  
दूसरे दिन ही चल बसा । उस घरमें तो शोक हुआ  
ही, परंतु अशरफ भी दुखी होकर रोने लगा कि  
उसके कारणसे यह संयोग बना । दो-तीन दिन बाद  
सेठ हीरेकी पुड़िया लेकर अशरफके पास आया और  
उसके गले लगकर बिलख-बिलखकर कहने लगा—  
'अशरफ भाई ! मेरे मनमें लालच समा गया और मैंने  
बेटेसे अधिक धनको तौला । किंतु, भगवान्‌के घरमें  
देर है, अंधेर नहीं । मेरी पत्नी कहती है कि मेरे ही  
पापाचारने बेटेके प्राण ले लिये ।'

## श्रीविष्णुस्मृतिमें धर्मका स्वरूप

( लेखक—डॉ० श्रीआनन्दमङ्गलजी वाजपेयी, एम्० ए०, पी-एच्० डी० )

भारतीय धार्मिक साहित्यमें 'विष्णुस्मृति'का अत्यन्त  
महत्त्वपूर्ण स्थान है । परमपुरुष भगवान् विष्णुने लोकोद्धारके  
निमित्त इस धर्मशास्त्र अथवा स्मृतिग्रन्थकी रचना की थी,  
यह परम्परासे प्रसिद्ध है । इस विषयमें विष्णुस्मृतिके प्रथम  
अध्यायमें आयी हुई कथा इस प्रकार है—

भगवान् विष्णुने महावराहके रूपमें अवतार लेकर  
रसातलसे पृथ्वीका उद्धार किया । उन्होंने जल और स्थलका  
सम्यग् विभाजन करके सृष्टिका विस्तार किया । समुद्र,  
नदी, तालाब, पाताल, द्वीप, लोकपाल, शैल, वनस्पति,  
सप्तर्षि, वेद, सुरासुर, पिशाच, सर्प, गन्धर्व, राक्षस, यक्ष,  
मनुष्य, पशु-पक्षी, मेघ, इन्द्र, बिजली, यज्ञ आदिकी रचना  
की । इसके उपरान्त लोगोंके लिये वे अज्ञेयगति हो गये  
( विष्णुस्मृति १ । १३-१८ ) । तत्र पृथ्वीने सोचा 'मेरी  
धृति कैसे होगी, अब मुझे कौन धारण करेगा ?' विचार  
करके, वह स्त्रीरूप धारण करके महात्मा कश्यपके पास पहुँची ।  
कश्यपने धरतीकी पूजा की और उसमें निवेदन किया—  
हे पृथ्वि ! तुम जनार्दन भगवान् विष्णुके पास जाओ । अशेष-

रूपमें वे ही बतायेंगे कि किस प्रकार भविष्यमें तुम्हें धृति मिल  
सकेगी । इस समय वे श्रीरसागरमें निवास कर रहे हैं—

धरे तत्र विशालाक्षि गच्छ देवि जनार्दनम् ।  
स ते वक्ष्यत्यशेषेण भाविनी ते यथा स्थितिः ॥  
क्षीरोदे वसतिस्तस्य मया ज्ञाता शुभानने ।

( विष्णुस्मृति १ । ३१-३२ )

यह जानकर पृथ्वी श्रीरसागरमें विराजमान विष्णुके पास  
पहुँची । वे शेषनागपर आसीन थे । करोड़ों सूर्योंके समान  
उनकी धृति थी । पृथ्वीने उन पुण्डरीकाक्ष भगवान्  
मधुसूदनको घुटने टेककर प्रणाम किया और बोली—“देव !  
आपने रसातलसे मेरा उद्धार तो कर दिया, अब आगे  
मुझे कौन धारण करेगा ?” ( विष्णुस्मृति १ । ४५-४६ )  
पृथ्वीके ऐसा प्रश्न करनेपर भगवान्‌ने उत्तर दिया—

वर्णाश्रमाचाररताः शास्त्रैकतत्परायणाः ।

त्वां धरे धारयिष्यन्ति तेषां त्वद्धार आहितः ॥

( विष्णुस्मृति १ । ४७ )



हे धरित्रि ! जो व्यक्ति वर्णाश्रमधर्मके अनुसार आचरण करते हैं और शास्त्रानुमोदित कार्य करते हैं, वे लोग ही तुम्हें धारण करेंगे। तुम्हारा भार उन्हींपर है।

इसपर पृथ्वीने भगवान्की स्तुति करके पुनः पूछा—  
'आपके द्वारा संकेतित वर्णाश्रमधर्मका क्या स्वरूप है ?'  
भगवान्ने पृथ्वीको आश्वासन दिया और आसनपर बैठलाया। फिर उन्होंने रहस्यपूर्ण धर्मके विषयमें बतलाना प्रारम्भ किया, उसीका विशद विवेचन 'विष्णुस्मृति'में हुआ है। सुधी एवं श्रद्धालु पाठकोंकी रुचि-तृप्तिके निमित्त भगवान् विष्णुद्वारा बताये गये धर्मको अत्यन्त संक्षेपमें यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

धर्म धरतीको धारण करता है। धर्मसे ही मानव-समाजमें व्यवस्था बनी रहती है। अपने-अपने कर्तव्योंको पूरा करना ही धर्म है। चारों वर्णोंके कर्तव्य ही उनके धर्म हैं। ऐसे वर्णधर्म निम्नलिखित हैं—

“ब्राह्मणस्याध्यापनम् । क्षत्रियस्य शस्त्रनिष्ठता ।  
वैश्यस्य पशुपालनम् । शूद्रस्य द्विजातिशुश्रूषा । द्विजानां  
यजनाध्ययने । अथैतेषां वृत्तयः । ब्राह्मणस्य याजनप्रतिग्रहौ ।  
क्षत्रियस्य क्षितित्राणम् । कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यकुसीदयोनि-  
पोषणानि वैश्यस्य । शूद्रस्य सर्वशिल्पानि । आपद्यनन्तरा  
वृत्तिः ।” ( विष्णु० २ । ५-१५ )

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रके धर्म क्रमशः  
अध्यापन, शस्त्रधारण, पशुपालन और द्विजातिकी सेवा करना  
है। ब्राह्मण पढ़ाकर और यज्ञ कराकर, क्षत्रिय धरतीपर शासन  
करके, वैश्य पशुपालन, कृषि आदि करके और शूद्र सभी शिल्प-  
कार्य करके अपनी जीविका चला सकते हैं। आपत्तिकालमें  
अपनेसे नीचे वर्णकी वृत्ति भी अङ्गीकार की जा सकती है।

सभी वर्णोंके लोग अपने-अपने धर्मों या कर्तव्योंका  
पालन करते हैं अथवा नहीं, यह देखना शासकका कार्य है।  
सब लोग अपने-अपने धर्मोंपर चलें, इसकी व्यवस्था करना  
ही उसका धर्म है। विष्णुस्मृतिमें 'राजधर्म' नामसे इसका  
विस्तृत विवेचन हुआ है। धर्मोंका उल्लङ्घन करनेवालोंको  
दण्डित करना और प्रजाकी रक्षा करना राजाका कर्तव्य है।  
तभी समाजमें व्यवस्था बनी रह सकती है।

प्रमुख राजधर्म भगवान् विष्णुके अनुसार इस  
प्रकार हैं—

‘प्रजापालन, वर्णाश्रमधर्मकी व्यवस्था करना, गाँवोंकी

व्यवस्थाके लिये ग्रामाध्यक्ष, शताध्यक्ष ( सौ गाँवोंके ऊपर  
देशाध्यक्ष आदिकी नियुक्ति करना, धर्मिष्ठ लोगोंके  
धर्मकार्यमें नियुक्त करना, ब्राह्मणोंसे कर न लेना, स्वामी  
मन्त्री, दुर्ग, कोश, दण्ड, राष्ट्र तथा मित्रके प्रति अपराध  
करनेवालोंको सार डालना, सज्जनोंकी पूजा करना, दुष्टोंको  
दमन करना, मृगया-स्त्री-जुआ-मद्यपानसे अनासक्ति, वाणी  
और शस्त्रसे प्रहार करनेवालोंको दण्ड देना ।’

( विष्णु० तृतीय अध्याय )

आज धर्मकी व्यवस्था न रहनेसे इस भरतखण्डमें  
अनैतिकताका ताण्डवनृत्य चल रहा है। आये दिन लूट-पाट,  
चोरी-डकैती, हत्या-अपहरण आदि साहसिक कार्योंका विकास  
अखबारोंमें देखनेको मिलता है। स्त्री-पुरुषोंकी चरित्रभ्रष्टता  
इन्द्रियसंयम और शासकीय नियन्त्रणके अभावमें दिनोंदिन बढ़ती  
जा रही है। अश्लील साहित्य और सिनेमा भारतीय युवकों  
तथा युवतियोंके हृदयमें वासनाकी आग प्रज्वलित करनेमें  
हविष्यका काम कर रहे हैं। अस्तेयका पालन करना लोगोंमें  
भुला दिया है और चोरी-डकैतीको अपनी आजीविकाके साधन  
बना लिया है। रिश्वतखोरी और झूठका ऐसी गुरु-  
शोलवाला है कि सच्चा न्याय उसके पासंग बराबर भी नहीं  
ठहरता। अन्यायी, दुराचारी, पापी और अपराधी झूठे  
पैरवीसे झूठकर मौज उड़ाते हैं और बेगुनाह लोग आज  
कारावास और फाँसीकी सजाएँ भुगतते हैं। विष्णुस्मृतिमें  
मनुष्यके सामान्य धर्म निम्नलिखितरूपमें गिनाये गये हैं—

क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः ।

अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥

आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ।

अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥

( विष्णु० २ । १६-१७ )

अर्थात् क्षमा करना, सच बोलना, दमन ( इन्द्रियदमन  
दुष्टदमन ), पवित्रता ( मन, वाणी, शरीरकी पवित्रता ), दया  
करना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, अहिंसा, गुरुजनों ( माता-  
पिता, गुरु आदि ) की सेवा करना, तीर्थयात्रा करना,  
प्राणिमात्रपर दयाभाव रखना, सरलस्वभावका होना, लोभरहित  
होना, देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा करना, किसीके भी दोष  
न देखना—ये सभी सामान्य धर्म कहे जाते हैं। इनके  
पालन सभी वर्णोंके लोगोंके लिये हितकर है। इन्हीं रूपोंमें  
धर्म प्रकट होता है और धरतीको धारण करता है। सभी



ग ( किसी भी वर्ग-जातिके हों ) इन नियमोंका पालन करके परम श्रेय प्राप्त कर सकते हैं ।

मनुस्मृतिमें भी इसी प्रकार धर्मके लक्षण व्यक्त किये गये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

( ५ । १२ )

अर्थात् ( धैर्य धारण करना, क्षमा, दम, अस्तेय चोरी न करना ), शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धिमत्ता, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण हैं ।

इन्हें शाश्वतधर्म कहना अधिक उपयुक्त होगा । मानवमात्रके लिये इन धर्मोंके अनुसार चलना हितकर है । इनमेंसे 'सत्य'की महिमा बहुत है । भगवान् विष्णुने सत्यको हजार अश्वमेध यज्ञोंके फलसे भी बड़ा बतलाया है ।

आजकल छात्रोंकी अनुशासनहीनता देशव्यापी हो गयी है । सत्य-ब्रह्मचर्य आदि नियमोंका पालन वे नहीं करते । गुरुजनोंको पीटते ही नहीं, उनका वध कर डालना भी जाप नहीं समझते । जादवपुर विश्वविद्यालयके उपकुलपतिकी दृष्ट्या ऐसे कलङ्कित कार्योंका एक जीता-जागता नमूना है । इसका यही कारण है कि भारतवासियोंने धर्मकी अवहेलना करके अधर्मपर चलना शुरू कर दिया है । राजधर्म स्वयं शेषित है । छात्रोंको शाश्वतधर्मकी शिक्षा नहीं दी जाती । वेष्णुस्मृतिमें छात्रोंके धर्म निम्नलिखितरूपमें प्रकट किये गये हैं—

“उन्हें गुरुजनोंको प्रिय लगानेवाले कार्य करने चाहिये । वृत्त्य, गीत, स्त्री, मधु, मांस, प्राणिहिंसा आदिसे कोई लगाव नहीं रखना चाहिये । गुरुको नाम लेकर नहीं पुकारना चाहिये और न उनके चाल-ढाल और भाषणकी नकल ही करने की चाहिये । जहाँ गुरुकी निन्दा की जा रही हो, ऐसे स्थानपर नहीं ठहरना चाहिये ।”

( विष्णु०, अध्याय २८ )

इन नियमोंका पालन करके छात्र विद्या-विनयसम्पन्न बन सकते हैं और राष्ट्रकी उन्नतिमें योग दे सकते हैं ।

धर्मकी अवमानना करने और उसकी अनावश्यकता मान लेनेसे मानव-कल्याणके लिये बनी हुई मर्यादाएँ टूट गयी हैं । जो राजनीति पहले शासकोंमें व्यवस्था बनाये रखनेके लिये थी, अब वही छल-फरेब, कूटनीति और झूठका पर्याय बनकर रह गयी है और इन्हीं अवगुणोंका प्रचार-प्रसार हर क्षेत्रमें हो रहा है । इसीलिये मनुष्य-समाजका सच्चा हित नहीं हो पा रहा है । यही धर्मका हास है । पुराणोंमें आया है कि 'कलियुगमें धर्मका हास हो जायगा और सभी वर्ण शूद्रत्व या दासभावको प्राप्त हो जायेंगे ।' यह उक्ति भारतकी वर्तमान स्थितिमें ज्यों-की-त्यों लागू हो रही है । चपरासीसे लेकर राष्ट्रपतितक वेतन-भोगी नौकर हैं और जनताकी सेवा करते हैं, साथ ही स्वयं भी जनताके अङ्ग हैं; अतएव सेवावृत्ति ही युगधर्म बन गया है । अध्यापक, जो पहले समाजमें सर्वोच्च स्थान रखते थे, प्रचण्ड योद्धा और चक्रवर्ती सम्राट् जिनका चरण-वन्दन करके अपना अहोभाग्य समझते थे, आज वेतनभोगी नौकरमात्र हैं, गौरवान्वित गुरुजन नहीं ।

इस स्थितिमें धर्मको किस रूपमें स्वीकार किया जाय, यह प्रश्न स्वतः उठ खड़ा होता है । वर्णाश्रमधर्म पूरे समाजका व्यवस्थित धर्म था । आज व्यवसायोंकी विविधता और अर्थ-प्रधान दृष्टि बढ़ जानेसे व्यक्तिधर्म प्रबल हो उठा है । इस दशामें भी विष्णुस्मृतिकी धर्मचर्चा हमारी सहायता कर सकती है—

इदं शरीरं वसुधे क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः ॥

( विष्णु० ९६ । १७ )

अर्थात् “मनुष्यका शरीर 'क्षेत्र' है, इसे जाननेवाला 'जीव' 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है ।”

अतएव प्रत्येक व्यक्ति ऊपर बतलाये गये दया, क्षमा, शौच, इन्द्रियसंयम, अहिंसा आदि शाश्वत धर्मोंका पालन करके समाजमें व्यवस्था पैदा कर सकता है । सभी लोग जब इन धर्मोंपर चलेंगे, तब अपराध और पाप स्वयमेव तिरोहित हो जायेंगे और समाजमें सुख-शान्तिका निवास होगा । यही वैष्णवधर्मका उपदेश है, जिससे सबका कल्याण सम्भव है ।



## मानव-जीवनकी क्षणभङ्गुरता

( रचयिता—महाकवि 'द्विजेश' )

ताने माहम्याने जे, जरी के नमगीर ताने,  
ताने चौक चाँदनी, बिचित्र छत्र ताने हैं।  
सेर सम सिर ताने, समसेर कर ताने,  
तिय सौं नजर ताने, मद सौं मताने हैं ॥  
ये तौ सब ताने, अंत आनि धरि ताने जबै,  
तब तौ 'द्विजेश' ये न ताने और बाने हैं।  
दीप-से बुताने सो दखिन पायताने ताने,  
ताने एक चादर ते सोवत उताने हैं ॥

माटी सौं प्रगटि पुनि माटी में प्रगट भए,  
पुनि पै 'द्विजेश' लागे पीवन सु माटी में।  
माटी बीच खेलि, खाय माटी उपजत अन्न,  
है प्रसन्न मन को लगाए प्रिया माटी में ॥  
जातें अस माटी ताहि माटी सौं न जाने मूढ़,  
माटी करि जिंदगी बिताई बृथा माटी में।  
सो ये नर माटी, नर माटी सम सोये,  
चार काँधे नर माटी मिले जात नर माटी में ॥

मुकुट मँदीर बाँधे, भूषन सरीर बाँधे,  
चीर बाँधे चेरे जहाँ चाकरी बजाते हैं।  
द्वार पै मतंग बाँधे, तरल तुरंग बाँधे,  
संग बाँधे सेना सेनापति जे कहाते हैं ॥  
हरि संग नेम बाँधे, तिय संग प्रेम बाँधे,  
आकबत बाँधे से 'द्विजेश' दरसाते हैं।  
जिन सब बाँधे, तिन्हें बाँधे-बाँधे बाँस बीच,  
काँधे लै कहार चार कहरत जाते हैं ॥



# ‘सँभल-सँभल पद धरना, राही ! यह पथ है काँटोंका’

( लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी अग्रवाल )

किसी जगह पहुँचनेके लिये अनेक मार्ग होते हैं । अगर हम घने जंगलोंकी झाड़ियोंमेंसे जायँ तो हमारे पाँवमें काँटा लग सकता है । हो सकता है कि मार्ग नजदीक हो, किंतु कठिन हो । दूसरे मार्ग पहाड़ोंपर सड़क काटकर बनाये जाते हैं । वे मार्ग चलनेमें तो लंबे होते हैं, पर होते बड़े आसान हैं । उनमें काँटा लगनेकी सम्भावना ही नहीं होती । उनपर मनुष्य एक चालसे चल सकता है । घने जंगलोंकी झाड़ियोंमें भयंकर जान-वरोंका सामना भी हो सकता है, किंतु आम सड़कपर जंगली जानवर प्रायः कम आते हैं ।

हर एक मनुष्य अपने स्थानपर खड़ा है; उसके चलनेके स्थान तो भिन्न हैं, किंतु पहुँचनेका स्थान एक है ।

एक आदमी चंडीगढ़में हो तो वह बसद्वारा दिल्ली पहुँच सकता है, किंतु बंबई-स्थित यात्रीको पहुँचनेके लिये अपने-अपने अधिकारके अनुसार रेलगाड़ी या विमानसे जाना होगा । आजकल विमानकी यात्रा इतनी सरल एवं सुगम हो गयी है कि नये जेट विमानसे न्यूयार्कसे लंदनकी जो यात्रा सात घंटेमें तय होती थी, वह अब तीन घंटेमें ही हो जाती है । दिल्लीसे बंबई जानेमें पहले तीन घंटे लगते थे; पर अब वही मुसाफिरी डेढ़ ही घंटेमें होती है । हो सकता है, आगे यह यात्रा एक घंटेमें ही हो जाय । जितना मार्ग ऊँचा होता है, उतने ही उसके अधिकारी कम होते हैं । हम कभी-कभी बंबईसे लोनावला जाते हैं । रास्तेमें साधु-संतों एवं यात्रियोंको सड़कपर चलते देखते हैं । मार्गपर अपने-अपने अधिकारानुसार कोई पैदल, कोई साइकिल या कोई किसीके कंधेपर चढ़ा, कोई मोटर, कोई बस और कोई रेलमें बैठकर अपने गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेकी चेष्टा करता है । ऐसे ही अपने-अपने अधिकारानुसार

साधक भी परमात्मातक पहुँचनेके लिये अनेक मार्ग अपनाते हैं । तीव्र जिज्ञासु वेदान्तका विहंगम-मार्ग अपनाकर शीघ्र ही अपने लक्ष्यतक पहुँच जाता है और दूसरे भक्तिमार्गपर चलकर, इस जगत्को हरिका रूप समझ-कर सर्वत्र हरिका दर्शन करते हैं ।

प्रायः देखा गया है कि पहाड़ी लोग जव्र चलते हैं, तब वे पगडंडीसे ही जाते हैं । उन्हें वही मार्ग अनुकूल पड़ता है, मोटरकी सड़क उन्हें अनुकूल नहीं पड़ती ।

परमात्माके मिलनका मार्ग काँटोंका नहीं, वह तो फूलोंका है । जो परमात्माकी ओर एक कदम बढ़ाता है, परमात्मा भी उसका स्वागत करनेके लिये एक कदम आगे आ जाता है । हमारा एक कदम दो फुटका होगा, किंतु परमात्माके कदमका अंदाजा लगाना कठिन है; क्योंकि वह उतना ही बड़ा होता है, जितना बड़ा हमारा हृदय होता है । अगर हमारा हृदय छोटा है तो वह कदम छोटे-छोटे रखता है और यदि हमारा हृदय विशाल है तो वह भी बड़े-बड़े कदम रखता है । उसकी महिमा वही जानता है । भगवान् वामनने दो कदमोंमें सारी त्रिलोकीको नाप लिया था और तीसरा पाँव रखनेके लिये राजा बलिसे उन्होंने भूमि माँगी । इसलिये जो मनुष्य भगवान्के कदम छोटे मानता है, उसे उतनी ही निराशा होती है । भगवान्के मार्गपर चलनेवालोंके लिये प्रतिकूलता भी अनुकूलता हो जाती है । उन्हें काँटे भी संदेशवाहक और सूचक हो जाते हैं । वे कानोंके अंदर कोई-न-कोई संदेश कह जाते हैं । काँटे कहते हैं कि पाँवमें काँटेका चुभ जाना भी ज्ञानका सूचक है, परमात्माका सूचक है । पथ-पथपर भगवान् अनेक रूपोंमें मार्गदर्शन करता है । इसलिये साधकका मार्ग काँटोंका नहीं, किंतु फूलोंसे आस्तीर्ण है, जिसपर



चलता हुआ साधक प्रसन्नतापूर्वक परमात्मा तक पहुँच जाता है। परमात्मा बड़ा दयालु है, वह तो हमारी रुचिकी ओर देखता है। जैसी हमारी रुचि होती है, उसे ही वह पूरी कर देता है। यदि हमारी रुचि संसारके पदार्थोंको भोगनेकी होती है तो हमें उनमें डाल देता है और यदि परमात्माके मिलनेकी होती है तो परमात्मा स्वयं मिलनेके लिये आतुर हो उठता है। परमात्मा तो नित्य-निरन्तर जागता और प्रतीक्षा करता रहता है कि मेरा भक्त मेरी ओर देखे; किंतु भक्तको फुर्सत ही नहीं रहती कि वह प्रभुकी ओर देखे। अगर भक्त एक बार भी आँख उठाकर देख लेता है तो वह भगवान्‌को अपनी आँखके सामने ही पाता है। भगवान्‌का कहीं अभाव नहीं। वह एक पल भी विश्राम

नहीं लेता। परमात्माके मिलनका मार्ग उनके लिये नहीं है, जो हृदयसे तो परमात्मासे मिलना चाहते नहीं, किंतु परमात्मामिलनका ढोंग रचते हैं। वे जाहिरा दोस्ती कर रहे हैं परमात्मासे, किंतु उनका हृदय संसारोन्मुख है; ऐसी दशामें उनके मार्गमें काँटे दिखायी दें तो कोई आश्चर्य नहीं। वस्तुतः देखा जाय तो संसारोन्मुखता ही काँटोंका मार्ग है। भोगसे रोग उत्पन्न होता है और रोग मनुष्यके जीवनमें काँटे हैं। इससे विपरीत योगका मार्ग काँटोंका नहीं; क्योंकि उसमें सुख, शान्ति और आनन्द—सभी सहज ही प्राप्त होते हैं।

साधक अपनेअपने अधिकारके अनुसार भोग, रोग अथवा योगका मार्ग चुन लेता है। योग है परमात्माके मिलन और भोग है संसारमें पतन।

## पूर्णिया श्रावक

### [ एक लघु-कथा ]

( लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन, एंड्रवोकेट )

जीवनभर अभावग्रस्त रहे, किंतु जीवनके किसी क्षण भी उन्होंने असत् मार्गसे अर्थोपार्जनकी कल्पना तक नहीं की। उन साधक श्रावकका नाम था पूर्णिया।

अर्थाभावके कारण व्यावसायिक क्षेत्रमें वे प्रवेश न पा सके, फलस्वरूप वे रुईकी पूर्णियाँ कात-कातकर अपना जीवन-निर्वाह करते थे।

प्रतिदिन दो घड़ी स्वाध्याय करना एवं एक स्वधर्मी बन्धुको भोजन कराना उनके जीवनके आवश्यक अङ्ग थे। साधन सीमित थे, अतः अतिथि-सत्कारके फलस्वरूप कई बार पति-पत्नीको निराहार रह जाना पड़ता था। पूर्णियाजीका जीवन प्रामाणिकता, सत्यता एवं साधनासे युक्त था।

एक दिन पूर्णियाजी स्वाध्याय कर रहे थे। प्रयत्न करनेके बाद भी मन स्थिर नहीं हो पा रहा था।

विचारोंमें चञ्चलता मनकी एकाग्रताको भङ्ग कर देती थी। वे ध्वरा उठे—उनके मनमें द्वन्द्व चल रहा था। स्वाध्याय-काल समाप्त होनेपर पूर्णियाजी उठे और अनमने-से जाकर दूटी चारपाईपर लेट गये। धर्मपतिपतिदेवके क्लान्त मुखको देखकर परेशान हो उठे और उनके पास आकर बोली—‘नाथ ! क्या तबियत ठीक नहीं है ?’

‘नहीं ! तबियत तो ठीक है, पर आज हृदयमें कुछ हलचल-सी मच रही है। साधना-कालमें, जीवन प्रथम बार आज मुझे शान्ति नहीं मिली। यह मेरे जीवनमें एक नवीन अनहोनी घटना है। विचार बह रहा हूँ, कारण नहीं मिल रहा है। एक शङ्का समाधानमें सहयोग दो कि आज अपने घरमें कौन अनीतिका पैसा तो नहीं आ गया है ?’



पत्नी विचारोंमें डूब गयी और कुछ ही क्षण बाद बोली—‘नाथ ! जीवनमें आज प्रथम बार एक भूल कर बैठी । चूल्हा जलानेके लिये घरमें आग नहीं थी । पड़ोसीके यहाँ आग लेने गयी और उसके ही गोबरके कांडेपर आग उठा लयी । फिर कार्यव्यस्तताके

कारण भूल गयी कि वह कंडा वापस करना है । कंडा वापस नहीं किया, इस अपराधको क्षमा करें स्वामी !’

तुरंत पड़ोसीका वह कंडा पड़ोसीके घर भेजा गया । पूर्णिया श्रावकको परम शान्ति मिली । उनके हृदयका द्वन्द्व समाप्त हो गया । अब प्रसन्न थे, बहुत प्रसन्न.....।

## जय वजरंग

### [ सच्ची घटनाके आधारपर ]

( लेखक—श्रीसत्यनारायणजी मालपाणी ‘सिद्धान्त-शास्त्री’ )

दैनिक व्यवसायमें निवृत्त होकर सदैवकी भाँति श्रीचन्द्र साहुकार अपने आराध्यदेवके पवित्र प्राङ्गणकी ओर बढ़ रहा था । निशानाथके उज्ज्वल प्रकाशकी श्वेत चादर ओढ़े रजनी पथिकोंका मार्गदर्शन कर रही थी । सूनी रात्रिमें पैरोंकी आहत स्पष्ट सुनायी दे रही थी । मानव-छाया कच्चे रास्तेमें बढ़ी जा रही थी । पैर काँटोंकी बाड़के पास रुके । फाटक खोलकर श्रीचन्द्रने अंदर प्रवेश किया । चाँदनी नीमके वृक्षसे छनकर बालाजीकी गुमटीपर थिरक रही थी । उसने पीछा दीपक जलाया और बालाजीकी आरती उतारी । वह अपनी साधनामें तन्मय हो, पञ्चासन लगाकर बैठ गया । रात लंबी होती गयी । भक्त अपने इष्टदेवकी प्रतिमाकी ओर टकटकी लगाये खोया-सा बैठा था । स्वच्छ-शान्त वातावरणमें धूपकी सुगन्ध घुलकर उड़ रही थी । बालाजीकी विलक्षण मूर्ति दीप-ज्योतिके प्रकाशमें देदीप्यमान हो रही थी । आज पूर्णिमा थी । आधी रातको साधकने अपनी साधनाका चरण समाप्तकर वापस घरकी ओर प्रस्थान किया ।

मारवाड़में कुचामन देहातके जागीरदार श्रीशिवनाथ-सिंहजी थे, जिन्होंने गाँवकी सुरक्षाके लिये रातमें पहरेदारोंकी नियुक्ति कर रखी थी । श्रीचन्द्र बालाजीकी पूजा-अर्चना करके घर आ रहा था । उसी वक्त पहरेदारोंने उसका परिचय लेकर रिपोर्ट ठाकुर साहबको भेज दी । आधी रातके बाद श्रीचन्द्रका मिलना शङ्कास्पद था, परंतु भक्त निरंकोच हृद विश्वासके साथ बालाजीकी गुमटीपर जाता और नित्य-क्रिया करके घरपर आता । कभी-कभी जब वह आराधना

करने बैठता, तब उसके कानोंमें शब्द सुनायी देने लगता और वह हँसने लगता ।

एक रात चोरोंने किसी मेठके यहाँसे धन चुरा लिया, जिसकी शिकायत कोतवालीपर की गयी । कोतवालने घुड़सवार चारों ओर दौड़ा दिये, किंतु चोरोंका कहीं पता नहीं चला । हताश होकर पुलिसवालोंने भक्त श्रीचन्द्रके माथे चोरीका आरोप लगा दिया और अपनी रिपोर्टमें लिख दिया कि श्रीचन्द्र बहुत राततक इधर-उधर घूमता रहता है, अतः चोरी इसके अलावा और कोई नहीं कर सकता । ठाकुर साहबके कान पहलेसे ही भरे हुए थे । तत्काल श्रीचन्द्रको पकड़कर ठाकुर साहबके डेरेमें बुला लिया गया । श्रीचन्द्रके सामने आते ही ठाकुर साहबने क्रोधमें भरकर पूछा—‘तुमने रातको चोरी की है ? क्या इसीलिये तुम आवागमनार्थमें रातको घूमते फिरते हो ? क्यों नहीं तुमको बंदीगृहमें डाल दिया जाय ?’

श्रीचन्द्र अवाक् हो ठाकुर साहबके चेहरेकी ओर देखने लगा और थर-थर काँपने लगा । उसके पैरोंके तलेसे जमीन खिसकने लगी । सिर चकराने लगा । सोचा, यह अनहोनी कहाँमें आ पड़ी ? मुझसे ऐसी कौन-सी गलती हुई है, जिसके फलस्वरूप चोरीका कलङ्क मेरे सिरपर लगा है ? नाना प्रकारके कल्प-विकल्प उसके मस्तिष्कमें आकर टकराने लगे । वह मूर्तिवत् खड़ा रहा ।

प्रत्युत्तर न मिलनेपर ठाकुर साहबको भी श्रीचन्द्र सोलहो आने चोर जँच गया । वे क्रोधित हो बोले—‘बतलाओ, चोरीका माळ कहाँ है ? बरना जानते हो, क्या



होनेवाला है ?' श्रीचन्द्र प्रभुका स्मरण कर मन-ही-मन कहने लगा—'प्रभु ! यह सब क्या हो रहा है ?' साहसपूर्वक हाथ जोड़कर बोला—'ठाकुर साहब ! मैंने आजतक कोई चोरी नहीं की । मैं निरपराध हूँ ।' ठाकुर साहब तपाकसे बोले—'तुम झूठ बोलते हो । चोरी करनेवाला कभी भी नहीं कहता कि मैंने चोरी की है । सीधी अँगुलियोंसे धी कभी नहीं निकलता । ले जाओ इसे, हवालातमें बंद कर दो ।'

ठाकुर साहबके फैसलेके खिलाफ बोलनेकी किसीमें शक्ति नहीं थी । उसे तत्काल हवालातमें बंद कर दिया गया । रातमें श्रीचन्द्रको यातनाएँ दी गयीं, किंतु सत्यका पुजारी झूठ नहीं बोल सका । बार-बारकी यातनाओंसे घायल श्रीचन्द्र 'जय बजरंग, जय बजरंग'का उच्चारण करने लगा । अन्तमें पुलिसके सब प्रयत्न निष्फल हो गये । श्रीचन्द्र रातभर बालाजीको याद करता रहा ।

उषाकी लालिमा आकाशमें छाने लगी । मन्द-मन्द प्रकाशकी किरणें फैलने लगीं । पक्षीगण घोंसलोंसे बाहर चहकते हुए स्वच्छन्द भ्रमण करने लगे, किंतु भक्त श्रीचन्द्र आज हवालातमें बंद था । दूसरे दिन पुलिसके सिपाहीने फिर श्रीचन्द्रको ठाकुर साहबके सामने पेश किया । ठाकुर साहबने पुनः श्रीचन्द्रसे चोरीकी तहकीकात की, किंतु किसी निर्णयपर नहीं पहुँचे । आखिर उपस्थित कर्मचारियोंमेंसे एकने कहा—'ठाकुर साहब ! यह ऐसे सच बोलनेवाला नहीं है । इसके हाथमें कल लोहेका गरम गोला रखनेसे काम बनेगा ।' यह सुझाव ठाकुर साहबको भी जँच गया । अतः उन्होंने हुक्म दे दिया ।

लोहेके सीकचोंमें बंद, बेड़ियोंसे बँधे श्रीचन्द्रने रातको 'जय बजरंग, जय बजरंग'की रट लगा दी । ज्यों-ज्यों वह धुन लगाता था, त्यों-त्यों उसकी आत्मामें प्रकाश होता जाता था । आत्मबल बढ़ रहा था । वह आँखें मूँदकर अपने बालाजीका ध्यान करता । उसके मुखपर मुस्कान दौड़ती । सुबह होते ही सारे गाँवमें चर्चा फैल गयी । भक्तकी परीक्षा-

का समय नजदीक आता गया । जलेबी चौकमें ठाकुर साहबका दरबार लगा । काफी संख्यामें गाँवके लोग इकट्ठे हो गये । अग्नि प्रज्वलित की गयी और काले लोहेके गोलेको गरम किया जा रहा था । घंटेभरके तापकी गरमीसे उसे लाल किया गया । श्रीचन्द्र लुहाराको जनसमूहके बीच खड़ा करके पूछा गया—'अबभी चोरीका माल बतला दो ।' किंतु भक्तने कहा—'नहीं, मैंने चोरी नहीं की ।'

लगे चोमटोंसे लाल गर्म लोहेके गोलेको उठाया गया । भक्तके चेहरेपर ओज था । वह 'जय बजरंग, जय बजरंग'का उच्चारण करने लगा । श्रीचन्द्रके दोनों हाथोंकी हथेलीके ऊपर पीपलका पत्ता रखकर उसपर गर्म लोहेके गोलेको रत दिया गया । वह पंद्रह मिनटतक गोलेको हाथमें थामे, वही खड़ा 'जय बजरंग, जय बजरंग' बोलता रहा । यह देखकर उपस्थित समुदाय चकित हो गया । श्रीचन्द्र अपने परीक्षामें सफल हो गया । वह ठाकुर साहबके डेरेसे निकलकर बालाजीके पास आकर बोला—'हे बजरंगवली ! यह सब तेरी ही लीला है, इसे तू ही संभाल ।' यह कहकर पासके कंठके ढेरपर गर्म लोहेके गोलेको गिरा दिया । तत्काल वह ढेर जलने लगा और थोड़ा देरमें जलकर खाक हो गया, परंतु भक्त श्रीचन्द्रकी हथेलियोंमें किसी प्रकारका जलनेका दाग तक नहीं हुआ । बालाजीके भक्तकी भगवान्ने रक्षा की और उसने अपना सचाईका पक्का सबूत दे दिया ।

ठाकुर साहबने अपनी भूलपर क्षमा माँगी और श्रीचन्द्रका नागरिक अभिनन्दन कर उसे पुनः सम्मानित किया तथा बालाजीका मण्डप जागीरके खर्चसे बनानेका आदेश दे दिया ।

सच है, भक्तकी रक्षा करनेके लिये उसके इष्टदेव सदैव उपस्थित रहते हैं । बालाजीने अपने भक्त श्रीचन्द्र लुहाराकी लाज बचायी । कुछ दिनों बाद श्रीचन्द्र गाँव छोड़कर दूसरे स्थानके लिये प्रस्थान कर गया । आज भी वह बालाजीकी मूर्ति श्रीरघुनाथजीके मन्दिरके सामने लुहारावाला बालाजीके नामसे मण्डपमें विराजमान है ।



# ईश्वरीय प्रतिध्वनि-अन्तःकरणकी आवाज

( लेखक—श्रीमोक्षर सीतारामजी पिपले )

“What a piece of work is man !  
How express and admirable in action,  
How like an angel in apprehension and  
How like a God.”

सुंदर वहंग सुमन-सुंदर मानव, तुम सबसे सुंदरतम ।  
तुम मेरे मनके मानव, मेरे गानोंके गाने ॥  
और क्या तुम भी सुनते नहीं, विश्वाताका मङ्गल वरदान ।  
शक्तिशाली हो, विजयी बनो, विश्वमें गूँज रहा जयगान ॥

१. मानव प्रभु-सृष्टिका सौन्दर्य है । सृष्टि-रचनाकी वैशिष्ट्य कलकृति है । दयालु प्रभुने मानव-निर्माणपर ही विशेष महत्त्वकी असोस अनुकम्पा की है । मानवको द्विद्वियोगका वैशिष्ट्य प्रदानकर पशुतासे ऊपर उठाया है । समस्त विश्वरचनामें केवल मानवको ही विवेकरूपी असोष अस्त्रसे विभूषित किया है । इस देन-विशेषसे सृष्टिकर्ता भगवान्का प्रयोजन यही है कि विवेकरूपी असोष अस्त्रका सदुपयोग कर मानव बर्बरता एवं पशुतासे ऊपर उठे, सच्चरित्रवान् सत्पुरुषकी भाँति स्वार्थकी आहुति दे, परहित—परमार्थके ही पावन यज्ञमें दुर्लभ मानव-जीवन समर्पितकर, जीवनके परम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिका सम्पादनकर अन्तमें मोक्षगतिको प्राप्त करे । इस तरह दयालु प्रभुके वरदानका सदुपयोग कर अपना मानव-जन्म सफल एवं सार्थक बनाये । आवश्यक यह कि दयालु प्रभुने केवल मानवको ही विवेकरूपी वरदान इसलिये दिया कि वह उसका सदुपयोग कर यथार्थ मानव बने ।

२. हमारे समस्त वेद-पुराण एक स्वरसे मानव-जन्मको ‘सुर-दुर्लभ’ प्राप्ति घोषित करते हैं और—

बड़े भाग मानुष तनु पावा । सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ॥

—का मधुर संगीत सुनाते हैं । ऐसी स्थितिमें प्रखर अपस्यासे अर्जित एवं विवेकरूपी असोष अस्त्रसे विभूषित मानव-जीवनको बृथा गँवानेकी प्रवृत्तिको मनुष्यकी दुबुद्धि नहीं तो और क्या कहा जाय ?

३. पहेली-सा जीवन है व्यस्त, उसे सुलझानेका अभिमान ।  
बताता है विस्मृतिका मार्ग, चल रहा हूँ बनकर अनजान ॥

निर्माता प्रभुने प्रहेलिकाके रूपमें मानव-शरीरमें अन्तः-

करणरूपी एक अलौकिक यन्त्रकी योजना की है । यह एक ऐसा अनोखा अतुलनीय यन्त्र है, जो मनुष्यको सत् और असत्, भले और बुरे, नैतिक और अनैतिक, पाप और पुण्यकी अचूक परख कराता है । आडम्बरयुक्त वैज्ञानिक यन्त्र तो समय पाकर बिगड़ भी जाते हैं, समय-समयपर असफल भी हो जाते हैं; किंतु ईश्वर-निर्मित यह यन्त्र तो असफलता जानता ही नहीं, न वह कभी बिगड़ता ही है । वह तो सदा-सर्वदा क्रियाशाल ही रहता है । मानव-अन्तःकरण ऐसा अनोखा विश्वस्त वैरोमीटर है, जिसकी परखमें गलती होती ही नहीं । मनुष्य यदि जीवनमें केवल अन्तःकरणको ही अपना गुरु स्वीकारकर अन्तःकरण-निर्धारित मार्गका ही अनुसरण करे तो विश्वमें कोई सामर्थ्य नहीं, जो उसकी सच्चरित्रता-प्राप्तिमें बाधा उत्पन्न कर सके ।

४. हम और आप—सभी इस निर्विवाद सत्यसे भली-भाँति परिचित ही हैं कि हम जब कभी किसी सत्कार्यकी ओर प्रवृत्त होते हैं, तब हमारा अन्तःकरण भी अंदरसे गूँज उठता है—‘प्यारे ! अवश्य करो ।’ किंतु इसके विपरीत जब हम किसी कुकर्मकी ओर प्रवृत्त होते हैं, तब तो हमारा अन्तःकरण विद्रोह करनेमें चूकता ही नहीं । वह तुरंत ही आपत्ति प्रस्तुत करता है और कुकर्मसे हमें मना करता है—और गूँज उठता है—‘प्यारे ! इसे कदापि न कर ।’

५. अन्तरात्मा कहती है—

विश्वभर सौरभसे भर जाय,

सुमनके खेले सुन्दर खेल ।

मानवका अन्तःकरण उसके शरीरका कोई अवयवमात्र नहीं । वह मानव-शरीरमें ईश्वरका प्रतिनिधि है, जो प्रत्येक पल मनुष्यके कर्मोंका लेखा-जोखा तैयार किया करता है । अन्तःकरणके ही माध्यमसे निर्माता प्रभु मनुष्यसे वार्तालाप करते हैं । अन्तःकरणके ही माध्यमसे महान् संरक्षक भगवान् मानवको अपना संरक्षणकारी संदेश पारित करते हैं । सारांश यह मनुष्यका अन्तःकरण ईश्वर-संदेश-वाहक है ।

६. बरो मत, अरे अमृत-संतान । अग्रसर है मङ्गलमय वृद्धि ।

पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र, खिंचो आयेगी सकल समृद्धि ॥

मानव-अन्तःकरण ही मानवका वयार्थ मित्र भी है ।



सांसारिक मित्र तो सदैव साथ रह भी नहीं सकते, किंतु यह मित्र तो सदैव साथ ही रहता है—वह तो मनुष्यको छोड़ता ही नहीं। सदा-सर्वदा साथ रहता है, सजग—क्रियाशील ही रहता है। सांसारिक मित्र तो स्वार्थ आड़े आते ही मुँह भी मोड़ सकते हैं—स्वार्थ-साधु हो सकते हैं—घोखा भी दे सकते हैं; किंतु अन्तःकरणरूपी मित्रका तो कोई स्वार्थ ही नहीं। मनुष्यका हितसाधन और अहितसे रक्षा—यही उसका एकमात्र कार्य है। उसका तो अन्य कार्यक्रम ही नहीं और वह अपने कार्यक्रममें सतत जुटा ही रहता है। इतना सच्चा अद्भुत पहरेदार है कि वह बुराईका प्रवेश ही नहीं होने देता—न मनुष्यको सन्मार्ग छोड़ कुमार्गपर ही जाने देता है।

७. देवोंकी विजय, दानवोंकी हारोंका होता युद्ध रहा।

संघर्ष सदा दुर अन्तरमें जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा ॥

अन्तःकरणके उपर्युक्त महान् संरक्षणकारी एवं कल्याणकारी सत्कार्यकी सत्यतासे सभी भलीभाँति परिचित हैं—उसे निर्विवाद स्वीकार भी करते हैं और यह भी भलीभाँति जानते हैं कि अन्तःकरणके रूपमें ही महान् संरक्षक भगवान् मनुष्यके शरीरमें विराजमान हो, उसके जीवन-रथका सारथित्व करते हैं। इस यथार्थ वस्तुस्थितिमें मनुष्यका यही परम कर्तव्य हो जाता है कि अन्तःकरणके माध्यमसे प्राप्त ईश्वरके दिव्य संदेशको ही ध्रुवतारा मानकर वह उसीका अनुसरण करे। आप देखेंगे कि इसी एकमात्र नियमके पालनमें ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है कि इसके ही पुण्य-प्रतापसे समस्त सद्गुण आप-ही-आप आपके पास उतर आयेंगे और आप एक सच्चरित्रवान् सत्पुरुष महामानवके श्रेष्ठ पदको प्राप्त हो सकेंगे। दुर्गुण-दुराचार तो आपके पास फटकतक न पायेंगे। आपका समस्त जीवन पवित्र, निर्मल एवं सदाचारयुक्त हो, आप सदा-सर्वदा परहितके ही पावन यज्ञमें रत रहेंगे।

८. परहित सरिस धरम नहि भाई। पर पीड़ा सम नहि अधमाई ॥

हमारे समस्त वेद-पुराणोंने एक स्वरसे परहित एवं परोपकारकी ही महिमा गायी है। परहितको ही श्रेष्ठ मानव-धर्म-प्रतिपादित किया है और पर-पीड़ाको अधमसे अधम महापाप घोषित किया है। अन्तःकरणके संदेशका पालन करनेवाला—अन्तःकरणका शिष्य भी इसी पावन संदेशको अपने जीवनकी आधार-शिला बना, इसी राजपथका अनुसरण करता है। परहितके ही पुण्य-प्रतापसे उसका समस्त जीवन

एक सुगन्धित पुष्प-वाटिका बन जाता है, जिसमें वह स्वयं विहार करता है। उसके मन-मन्दिरमें सदा-सर्वदा सद्दिचारों का सद्भावनाओंकी पावन सरिता प्रवाहित होती है, जिसमें आह्लादयुक्त मज्जन करता है। वह निर्भय विचरण करता है। स्पष्टवक्ता, सत्यव्रती होता है—समस्त सद्गुणोंका आगार होता है। दुर्गुण तो उसके पास फटकतक नहीं पाते। वह लोक-प्रिय होता है। शत्रुकी मित्रमें परिणत करनेकी सामर्थ्य होती है। समाजमें, देशमें, विदेशमें—सर्वत्र उस सम्मान होता है, जो बड़े-बड़े पूँजीपतियोंको भी तुल्य है। उसका अन्तःकरण निर्मल, निर्विकार, पवित्र, सात्विक सद्दिचारों एवं सद्भावनाओंका एक विशाल मन्दिर होता है, जिसमें विद्यमान महान् संरक्षक भगवान्की वह निःश्रद्धा-भक्तिपूर्ण पूजा करता है। उसे आन्तरिक सुख-शान्ति पूर्ण लाभ प्राप्त होता है, जो बड़े-बड़े राजा-महाराजों विश्वके समस्त वैभव एवं ऐश्वर्यके बीच भी नहीं हो पाता।

९. अगर हम अन्तरात्माकी आवाज नहीं सुनते सुखको सीमितकर अपनेमें केवल दुःख जोड़ते।

अन्तःकरणका सुख ही मानव-जीवनका यथार्थ सुख है। इसे ही 'आध्यात्मिक सुख'की संज्ञा भी प्राप्त है। अन्तःकरण सुखके सामने विश्वके अन्य सभी सुख फीके हैं, धूल-सम हैं। मनुष्य भले ही सम्पत्तिहीन हो, उसका झोपड़ीमें अथवा वृक्षोंतले निवास हो, सूखा-रूखा आधा पेट भोजन। चट्टानोंपर शय्या हो, किंतु उसका अन्तःकरण यदि सुख है तो विश्वकी कोई भी हीनता न उसे बाधा पहुँचाती—उसके सुख-शान्तिको हर हीनता न ले सकती है। तात्पर्य यह अन्तःकरणके संदेश-पालनमें ही यह सामर्थ्य विद्यमान है। उसके पुण्य-प्रतापसे मनुष्य इसी जन्ममें, इसी भूमि अपने लिये स्वर्गका निर्माण कर स्वर्ग-सुखोपभोग प्राप्त सकता है। इसी ध्रुव-सत्यको स्व० श्रीमैथिलीशरणजी गुप्तने प्रकार व्यक्त किया है—

खलोंको कहीं भी नहीं स्वर्ग है, भलोंके लिये तो यहीं स्वर्ग है। सुनो स्वर्ग क्या है? सदाचार है, मनुष्यत्व ही मुक्तिका द्वार है। नहीं स्वर्ग कोई धरा-वर्ग है, जहाँ स्वर्गका भाव है, स्वर्ग है कदाचार ही शैरवाण है, मनुष्यत्व ही मुक्तिका द्वार है।

१०. मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है—भगवत्प्राप्ति। भगवत्प्राप्ति तभी सम्भव है, जब मनुष्यका अन्तःकरण निर्विकार हो। उसमें पवित्र शान्तिक सद्दिचारों



सद्भावनाओंकी सरिता प्रवाहित होती हो और उसका समस्त जीवन परहितके ही पावन यज्ञमें समर्पित हो। अन्तःकरणके संदेशकी, ईश्वर-संदेशकी अवहेलना करनेवाले मलिन, दूषित अन्तःकरणके कुमार्गागामी, दुराचारीको तो यह प्राप्ति सम्भव ही नहीं। यह तो केवल अन्तःकरणद्वारा निर्धारित मार्गका अवलम्बन करनेवाले पुण्यात्माकी ही सामर्थ्य होती है कि वह अपने पुण्यमय सत्कार्योंसे इस चरम लक्ष्यको सम्पादन कर सकता है। यह सामर्थ्य अन्तर्धर्मोंमें कहाँ? ऐसी स्थितिमें यथार्थतः बुद्धिमान् वही है, जो अन्तःकरण-रूपी गुरुके ही आदेशोंका पालन करता है और सन्मार्गपर अचल, अडिग अड़ा रहता है।

दयालु प्रभुने मनुष्यको यथार्थ सुख-शान्ति-प्राप्तिकी इतनी अभूष्य निधि प्रदान की है; किंतु दुर्बुद्धिवश मनुष्य इस अलौकिक निधिका अपमान करता है, उसका त्याग करता है और आडम्बरयुक्त भौतिक सुखोंकी मृगतृष्णामें पड़ता है—क्षणिक इन्द्रियसुखका लोलुप हो, वासनाओंके बशीरूत हो अन्तःकरणकी आज्ञाको अनसुनी करता है—उसके संदेशकी अवहेलना करता है और सन्मार्ग त्यागकर कुमार्गपर फिसल पड़ता है। यहीं मनुष्यके पतनका प्रारम्भ होता है। फिर तो बिरला ही सन्मार्गपर लौटता है। कुमार्गके आकर्षणयुक्त भौतिक सुख, इन्द्रिय-सुखमें वह प्रेमा जकड़ जाता है कि फिर उससे मुक्तिलाभ कर ही नहीं पाता। फिर वह पतनकी ओर ही दिनदूने रात चौगुने अग्रसर होता जाता है और अन्तमें पतनके गर्तमें जा डूबता है। उसका समस्त जीवन दुःखमय हो जाता है। वह सर्वत्र अप्रिय हो

जाता है और समाज उसे निरादर, घृणा एवं तिरस्कारकी ही दृष्टिसे देखता है। उसका मन मलिन और अन्तःकरण दूषित, अपवित्र हो जाता है—उसमें अश्लील विचारों—कुविचारों, दुर्भावनाओंकी गंदी नाली सदैव बहती है। उसका अन्तःकरण पैशाचिकताका केन्द्र-नारकीय खंडहरमें परिणत हो जाता है, उसमें पापान्माओंकी प्रेतवाणी गूँजती रहती है और वह इसी जन्ममें, इसी भूमिपर नरककी यातनाएँ भोगता है। वह अपने परिवार एवं समाजके लिये एक अभिशाप सिद्ध होता है।

११. यह हम और आप सभी नित्य ही देखते एवं सुनते हैं कि अन्तःकरणके संदेश-पालनसे ही मनुष्यको जीवनके यथार्थ सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है और उसके उलङ्घनसे नारकीय कष्ट भोगने पड़ते हैं। किंतु फिर भी मनुष्य अन्तःकरणके संदेशकी उपेक्षा करनेकी महान् पतनकारी गलती करता ही है और अपने हाथों अपने पैर कुल्हाड़ी चलाता है।

१२. मनुष्य ही अपने भाग्यका निर्माता होता है। अन्तःकरणद्वारा निर्धारित मार्गका अनुसरण कर मनुष्य अपने लिये स्वर्गका निर्माण कर सकता है और उसका त्याग कर नरकका भी निर्माण कर सकता है। अतएव मानवको चेतकर प्रभुप्रदत्त विवेकका सदुपयोग करना चाहिये। अन्तःकरणसे प्राप्त ईश्वरीय संदेशका सम्मान कर, स्वर्ग-सुखोपभोगका आस्वादन कर, जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिका सम्पादन कर अपना दुर्लभ मानव-जन्म सफल तथा सार्थक बनाना चाहिये।

## ‘पीरौ पट सदा जिय बीच फहरयौ करै’

बोदयौ करै नूपुर श्रवण के निकट सदा,

पद-तल लाल मन मेरे बिहरयौ करै ।

वाजी करै बंसी-धुनि पूरि रोम-रोम मुख,

मन मुसुकानि मंद मनहि हरयौ करै ॥

‘हरिचंद’ चलनि मुरनि बतरानि चित,

छाई रहै छबि जुग दगन भरयौ करै ।

प्राणहु ते प्यारौ रहै प्यारौ तू सदाई, तेरौ

पीरौ पट सदा जिय बीच फहरयौ करै ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र



## तपोबल

( लेखक—श्रीयुत प्र० त्रि० दीपंकर )

‘माँ, ओ माँ !’ द्वारसे आते-आते उपमन्यु अचानक पुकार उठा ।

‘क्या है रे ?’ माँने उसको अपने अङ्ग-पाशमें भरकर वक्षसे लगाते हुए एक ठंडी साँस खींची । अब उपमन्यु अपना-पराया समझने लगा है । यही तो एकमात्र उसका जीवन है, उसका दुलारा, घरका उजियारा— ।

माँकी विचार-तन्द्रा टूटी, तो देखा उपमन्यु अब भी बैठा है उसकी गोदमें और एकटक उसके कलान्त मुखारविन्दको निहारे जा रहा है । माँको अपनी ओर देखते पा वह बोल पड़ा—‘माँ ! मुझे उतना ही मीठा दूध पिलाओ ।’ उसके खरमें बालहठका सम्मिश्रण था ।

अरे हाँ, माँको याद आया—उपमन्यु अभी कुछ देर पहले माँके साथ अपने मामाके घर गया था, जहाँ उसने मामाके लड़केको दूध पीते देखा था । उसे भी थोड़ा दूध मिला था ।

‘ओह, दूध ! कितना स्वादिष्ट !! कितना मीठा !!!’ उसने दूधके स्वादको स्पष्ट अनुभव किया और पुनः दूधकी याद आ जानेपर वह माँसे कह बैठा—

‘माँ, मुझे दूध चाहिये, ला दो न !’

पर, माँ तो अपनी जीर्ण-शीर्ण कुटियाकी अधगिरी दीवारों, उखड़े खपरैलोंको देखती-देखती कहीं खो-सी गयी थी । वह इस बार भी बालक उपमन्युके कहे शब्दोंपर ध्यान न दे सकी ।

‘माँ, तुम बोलती क्यों नहीं ? मैं दूध पिऊँगा । मामाके घरमें जैसा पिया है, वैसा ही ।’

‘बेटा ! हम निर्धन हैं । हमारे पास पेट भरनेके

लिये अब तो है ही नहीं, फिर, भला मैं तुझे कहाँसे पिलाऊँ ? अब तो तू समझदार हो गया है क्या तू माँकी व्यथा, उसकी निर्धनताको समझ नहीं पाता ??’ माँने उपमन्युको समझानेका प्रयत्न किया ।

पर, आज तो उपमन्यु बालहठपर उतर आया था । अन्तमें जब माँको बचावका कोई रास्ता मिला दिखायी न दिया, तब उसे एक युक्ति सूझी घरमें माँने कुछ अब्र एकत्र किया था दिन काठों के लिये । सोचा—“बलो, इसीको पीसकर तब पानीमें घोलकर बालकको दे दूँ । वह ‘दूध’ समझ कर पी लेगा । अपना हठ तो भूल जायगा किंतु तरह ।”

‘अच्छा, बेटा ! तू यहीं खेल, मैं अभी तेरे लिए दूध लेकर आयी !’ कहते हुए माँ पासकी कोठरी चली गयी । थोड़े-से अब्रको पीसा, फिर उसे जल घोलकर दो-तीन बार हिलाया, कुछ दुधियापन तै आया जलपर । उसे आँचलके एक छोरसे छानका पीतलके पात्रमें उड़ेल, कोठरीके बाहर आयी । देख तो उपमन्यु अन्यमनस्क-सा दीवालपर पीठ टिका आँगनके एक कोनेमें स्थित शिवलिङ्गको एकटक देख रहा है ।

‘माँ ! दूध लायी ?’

‘हाँ, बेटा ! ले, यह रहा तेरा दूध । पी ले इसे कहते हुए माँने उस पात्रको उपमन्युके हाथों थमा दिया ।

उपमन्युने बड़ी ललकसे माँके लाये ‘दूध’ को ओंठोंसे लगाया । एक घूँट ही पिया कि उसे उर



‘दूध’ का स्वाद बहुत खराब लगा । मुँह बनाते हुए वह माँसे बोला—

‘अरी माँ ! यह तो नकली दूध है । मैं तो असली दूध पिऊँगा । बिन्दुल मामाके घरके दूध-जैसा मीठा और गाढ़ा ।’ कहते-कहते वह रो पड़ा ।

किसी प्रकार माताने उसे फुसलाकर चुप कराया । कहा—‘बेटा ! इस दुनियामें है तो सब कुछ—दूध-घी, मोती-माणिक, राज्य आदि । पर, ये सभी वस्तुएँ भाग्यसे ही प्राप्त होती हैं । हमलोग अभाग्य और निर्धन हैं । अतः हमें असली दूध मिलना असम्भव है । तू यह जो शिवलिङ्ग देख रहा है न ! ये ही भगवान् शिव सर्वसमर्थ हैं । उन्हींकी शरणमें जानेपर समस्त मनःकामनाएँ पूर्ण होती हैं । भोलानाथके प्रसन्न होनेपर दूध तो क्या, क्षीरसागर-तक दे देनेमें वे संकोच नहीं करते ।’ माँने उपमन्युको सीख दी ।

‘भोलानाथ प्रसन्न कैसे होते हैं ?’ उपमन्युने प्रश्न किया ।

‘वे तपसे प्रसन्न होते हैं ।’ माँ बोली ।

‘तो मैं भी तप करूँगा, माँ ! मैं अपने तपोबलसे सर्वेश्वर महेश्वरका आसन हिला दूँगा । वे कृपामय मुझे क्षीरसागर अवश्य देंगे ।’—कहते हुए उपमन्यु माँकी गोदसे एकाएक उठा और घरसे निकल पड़ा । माँ आँगनमें बैठी उपमन्युको जाते देखती रही । किसी अदृश्य शक्तिके प्रभावसे उसके मुँहसे एक शब्द भी न निकल सका ।

× × ×

उपमन्युने हिमालयकी हिम-मण्डित कन्दराओंमें आसन लगाया । घोर तपस्या प्रारम्भ कर दी । उसने भगवान् शंकरको प्रसन्न करनेके लिये अन्न-जलतकका त्याग कर दिया । कितने ही वर्ष व्यतीत

हो गये । घरमें उपमन्युकी माँ द्वारपर बैठी अपने हठी बालकके वापस आनेकी बात जोहती रही । पर, उपमन्यु न आया ।

कई वर्ष बाद उसकी तपस्यासे समस्त जगत् संतप्त हो उठा । भगवान्ने देवताओंको साथ लेकर मन्दराचल पर्वतपर जाकर भगवान् शंकरसे कहा—‘बालक उपमन्युको तपसे निवृत्तकर विश्वको आश्वस्त करना आपके ही वशकी बात है ।

× × ×

‘यह कठोर तप तुम्हारे लिये नहीं है, बल्कि !’—ऐरावतसे उतरते हुए इन्द्रने अपना परिचय दिया ।

‘आपके आगमनसे यह आश्रम पवित्र हो गया ।’—यों कहते हुए उपमन्युने इन्द्रका स्वागत किया । तदनन्तर ‘शिव-चरणोंमें स्थान प्राप्त हो’—ऐसी इच्छा व्यक्त की ।

‘शिवकी प्राप्ति कठिन है । मेरा तीनों लोकोंपर अधिकार है । तुम मेरी शरणमें आ जाओ, मैं तुम्हें समस्त भोग प्रदान करूँगा ।’ इन्द्रने परीक्षा ली ।

‘लगता है, तुम इन्द्रके वेपमें कोई दुष्ट दैत्य हो । भला इन्द्र भी कहीं इस प्रकार किसीको शिव-भक्तिसे विरत कर सकते हैं ? अवश्य ही तुम्हारा उद्देश्य मेरी तपस्यामें विघ्न डालना है । तुम शिव-द्रोही हो, मैं तुम्हारे प्राण ले दूँगा । तुम्हारा इतना साहस कि तुम मेरे मुखपर मेरे प्रिय आराध्यकी तौहीन करो ?’ कहते-कहते आवेशमें आ उपमन्यु उन छद्मवेशी इन्द्रको मारने दौड़ पड़ा । पर अचानक ठिठक गया ।

देखा तो सम्मुख साक्षात् महेश्वर खड़े, मन्द-मन्द मुस्कान बिखेरते उसे शान्त होनेका संकेत कर रहे थे ।



‘तुमने अपने तपोबलसे मेरी भक्ति प्राप्त कर ली है । मैं प्रसन्न हूँ ।’ इन्द्ररूपी शिवने उपमन्युको अभय दिया । उपमन्यु उनके चरणोंसे लिपट गया । उसके शब्द हिचकियोंमें डूब गये । कुछ कहते न बना ।

‘शान्त हो, वत्स ! मैं तो तुम्हारी परीक्षा ले रहा था ।’ क्षीरसागर प्रकटकर चन्द्रशेखर शिवने

भक्तकी कामना पूरी की । उसे पार्वतीकी पावन गोद रखकर कहा—‘वत्स ! जगजननी तुम्हारी अम्मा मैं पिता हूँ ।’

माँ पार्वतीसे उसे योग, ऐश्वर्य और ब्रह्मविद्या प्राप्ति हुई और वह संतुष्ट हो गद्गद कण्ठसे कैलास पतिकी वन्दनामें लीन हो गया । भगवान् शंख गिरिजासमेत अन्तर्धान हो गये ।

## ‘मृत्यु होवा नहीं’

( लेखक—श्रीविनयकृष्ण रामदासजी )

अँधेरी रातमें चलते हुए एकाएक किसी रस्सीके टुकड़े-पर पैर पड़ जानेसे हम चीखकर दूर भाग जाते हैं । फिर उस रस्सीके पास आनेकी हिम्मत नहीं होती । क्यों ? इसलिये कि साँप हमारे लिये होवा बना हुआ है । दादी-नानीके मुँहसे बचपनमें सुनी घटनाओंके कारण बड़ी उम्रमें भी गाँवके पासके किसी खास वृक्ष या स्थानके पाससे रातमें एकाकी गुजरते हुए हम भयभीत हो उठते हैं । क्यों ? इसलिये कि बचपनसे ही भूत-पिशाचका भय मनमें समाया हुआ है । भूत-पिशाच होवा बना हुआ है । इसी प्रकार साधु-संतोंने भी मृत्युके बादकी यातनाओंको लेकर मृत्युको होवा बना दिया है—यहाँतक कि मनुष्यको ‘मरण’ शब्दतक नहीं सुहाता । किंतु मृत्युका विचार हम करें या न करें, वह आये बिना न रहेगी । मरणनिश्चित है, और बातें भले ही अनिश्चित हों । हम मृत्युका सामना नहीं कर सकते । उससे बचनेके लिये हम हजारों तरकीबें निकालें, तो भी उसका जोर इतना होता है कि अन्तमें वह हमारी गर्दन धर दबायेगी ही । भगवान् गीतामें कहते हैं—

‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।’

( २ । २७ )

अर्थात् ‘जन्मे हुएके लिये मृत्यु और मरे हुएके लिये जन्म अनिवार्य है ।’

भगवान् बुद्ध अपने महापरिनिर्वाणके समय रोते हुए अपने शिष्योंसे भी यही कहते हैं—‘भिक्षुओ ! सभी प्रियोंसे वियोग होता है । जो कुछ उत्पन्न होनेवाला है, वह सब नाश होनेवाला है । हाय ! वह नाश न हो—यह सम्भव नहीं ।’

विनोबाजीका कहना है—‘दिनभर काम करके हम थक जाते हैं, तब थकान मिटानेके लिये हम सो जाते हैं । निद्रामें इन्द्रियोंको विश्रान्ति मिल जाती है । स्वप्न आये तो मनको भी विश्रान्ति मिल जाती है । शरीरको तब मिलती ही है । लेकिन प्राण बेचारा सतत चौबीसों घंटे काम करता रहता है, इसलिये उसकी थकान बनी रहती है, जो मृत्युसे ही मिटती है । अतएव मृत्यु प्राणको आराम देनेकी एक योजना है ।’

‘जब हमारे निकटतम नातेदार, मित्र, विशेषज्ञ—को भी हमें दुःखोंसे नहीं बचा पाते, तब मृत्यु ही हमें उल्टा खुटकारा दिलाती है । अतः मृत्यु प्राणीको दुःख और वेदनासे छुड़ाती है ।’

इस संदर्भमें एक बात और समझनेकी है । मान लें किसी मित्रने हमारे पास कुछ रुपये रखनेके लिये दिये और उन रुपयोंको हम लोभवश खर्च कर चुके हों तथा उन रुपयों वापस करनेका कोई साधन हमारे पास न हो, तो उस मित्रसे निश्चय ही हमें भय हो जायगा । उससे हम हर समय कतराते रहेंगे । वह मित्र हमारे लिये होवा बन जायगा । इसी प्रकार पैदा होनेके समय जैसे निर्विकाररूपमें हम आये थे, यहाँसे जानेके समय भी हमारी तैयारी वैसी निर्विकाररूपमें यदि हो तो फिर मृत्यु हमारे लिये होवा कभी हो नहीं सकती । फिर तो हम भी सरे बाजारमें कबीर नाई सीना तानकर कह सकेंगे—

‘जस की तस धरि दीनी चदरिया ।’



# नरसिंहपुराण—एक संक्षिप्त परिचय

( लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा )

## १—नरसिंहपुराणकी रमणीयता

भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासदेवद्वारा रचित ब्रह्मसंहितापरक नरसिंहपुराण ग्रन्थ बड़ा ही मनोरम है। श्रीरामचरितमानसकी ही तरह माघ मासमें सूर्यके मकरस्थ होनेपर तीर्थराज प्रयागमें ही श्रीभरद्वाजमुनिने इसे सूतजीसे सुननेकी इच्छा व्यक्त की और मार्कण्डेय-सहस्रान्तिक-संवाद<sup>†</sup>के

\* स्पष्ट है कि नानापुराणनिगमागमसन्मत मानसके रचयिता गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने मानसके मुखग्रन्थ 'भरद्वाज-पाण्डवसंवाद'की प्रेरणा इसी पुराण-ग्रन्थसे प्राप्त की। वे पुराणोंके अनन्य उपासक तो थे ही—केवल एक रामचरितमानसमें ही उन्होंने 'पुराण' शब्दका ८० बार प्रयोग किया है। ( देखिये श्रीसूर्यकान्त तथा बट्टीदासजी अग्रवालके 'मानसशब्दकोश' तथा 'मानसशब्द-सागर' । ) इसी प्रकार उनके शेष अन्य चौदह ग्रन्थोंमें भी यह शब्द इसी प्रकार सादर बहुशः प्रयुक्त है।

† यह सहस्रान्तिक पाण्डववंशी राजा ( शतानीकका पुत्र ) कहा गया है। देखिये भागवत ९।२२।३९ तथा कथा-सरित्सागर इत्यादि। पर अन्य किसी भी पुराण या ब्राह्मण-ग्रन्थमें इसका नाम नहीं आता। विष्णुपुराण आदिमें सर्वत्र ही शतानीकके बाद अश्वमेधदत्त नाम आता है और कहीं-कहीं तो अश्वमेधदत्त भी नहीं आता। सोधे अधिसीमकृष्ण नाम ही आ जाता है—

“But the genealogy assigned to Adhisimakṛṣṇa indicates a more definite date; for of his immediate forbears—Aśwamedhadutta, Śatānika, Janamejaya, Parikṣita,—all but the first, his father Aśwamedhadutta, are no doubt to be identified with the kings of the same names who appear in the Brāhmaṇas.” F. E. Pargiter—in ( 1 ) The Purāṇa text of the Dynasties of the Kali age, ( 2 ) Earliest Indian traditional History, ( 3 ) Ancient Indian Historical Traditions, ( 4 ) Eng. Trans. of Mārkaṇḍeya-Purāṇa, ( 5 ) E. J. Bapson, in Camb. Hist. of India, Vol. I, Chap. XIII, p. 269 etc. )

अतः जिस प्रकार ऋग्वेदके प्रथम मण्डलमें 'सप्तर्चि' के बदले अग्निदेवका विशेष आदरसूचक नाम 'शतर्चि'का प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार अन्य लोग इस सहस्रान्तिकको शतानीकका ही आदरसूचक विशेषण या नामान्तर मानते हैं। देखिये, वही

रूपमें सूतजीने उन्हें इसे श्रवण कराया। यद्यपि यह आकार-प्रकारमें बहुत छोटा है और कुछ एकको छोड़ इसमें छोटे-छोटे छालट तथा किन्हीं-किन्हीं प्रतियोंमें [सड़सठ या अड़सठ] अध्याय तथा कुल ३५३० श्लोकमात्र हैं—साथ ही इसकी गणना भी उपपुराणोंमें<sup>‡</sup> है, तथापि यह सभी प्रकारसे अत्यन्त आकर्षक, सुन्दर धार्मिक सदाचारपूर्ण सदुपदेशोंसे सुसजित तथा भगवद्भक्ति एवं ज्ञान-विज्ञानादिसे ओतप्रोत है। इसमें भगवान् विष्णुके दशवतारकी कथाएँ विस्तारसे कही गयी हैं। उनमें भी भगवान् रामकी या रामायणके सातों काण्डोंकी कथा अलग-अलग सात बहुत बड़े-बड़े अध्यायोंमें कही गयी है। इसके अतिरिक्त सदाचार—सज्जनोंके आचार-व्यवहारपर भी, जिसपर यह सारा विश्व टिका रहता है और जिसके नष्ट होते ही वह नष्ट होने लगता है—जैसा कि आज भारतमें सर्वत्र ही, विशेषकर बंगाल आदिमें दीखने लगा है, पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। साथ ही वर्णधर्म, आश्रमधर्म, तीर्थाटन, योगसाधना आदिपर स्थान-स्थानपर आवश्यक निर्देश हैं। भक्तिवर्द्धक मनोरम सब उपर्युक्त सामग्री। नरसिंहपुराण अ० ३२ में भी इसे केवल पाण्डववंशी राजा ही बतलाया है। अन्य लोग इसमें कल्पमेदकी कल्पना करते हैं।

‡ १८ उपपुराणोंके नामके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। 'कल्याण'के संक्षिप्त स्कन्दपुराणक, पृ० ७ पर महापुराण, अतिपुराण और उपपुराण आदिके भेदसे ७२ पुराणोंके नाम निर्दिष्ट हैं। उसके अनुसार १८ उपपुराण ये हैं—भागवत, माहेश्वर, ब्रह्माण्ड, आदित्य, पराशर, सौर, नन्दिकेश्वर, साम्ब, कालिका, वारुण, औशनस, मानव, कापिल, दुर्वासस्, शिवधर्म, बृहन्नारदीय, नरसिंह तथा सनत्कुमार। मतान्तरोंकी जानकारीके लिये देखें—आनन्दरामायण ९ ( २ ) ८।५२—६०, बृहद्भूमिपुराण-पृ० १६५, कूर्मपुराण १।१६—२१, मत्स्यपुराण ५३।६०—६४, याज्ञ० वीरमि० टीका पृ०—९ इत्यादि। अलवरूनी ( Sachu's Alb. Indica, P. 130—31 ) नरसिंहपुराणका अष्टादश पुराणोंमें ५वीं संख्यापर उल्लेख करता है। १३१ पृष्ठपरके दूसरे क्रममें इसका नाम नहीं है। ध्यान देनेसे लगता है कि पृष्ठ १३० की समूची नामावली ही उपपुराणोंकी है, पुराण या महापुराणोंकी नहीं।



हृदयहारी श्लोकोंकी छटा तो देखते ही बनती है। फिर ८वें अध्यायकी यमगीता, ९वें अध्यायका यमाष्टक, ११ ( अशुद्ध प्रतिमें १२ ) वें अध्यायकी मार्कण्डेयकृत विष्णुस्तुति, २५वें अध्यायका गणपतिस्तोत्र, ४०वें अध्यायका विष्णु-अष्टोत्तरशतनाम, १९वें अध्यायका सूर्याष्टोत्तरशतनाम\* तथा अन्य भी कई स्तुतियाँ बड़ी सुन्दर हैं। इसी प्रकार १२वें अध्यायका यम-यमी-संवाद, ६३वें अध्यायका पुरंदरोपाख्यान और ६४वें अध्यायका पुण्डरी-कोपाख्यान आदिकी कथाएँ बड़ी ही मनोरम और शिक्षाप्रद हैं। पुण्डरीकोपाख्यान तो प्रत्येक कल्याणेषुके लिये निरन्तर मननकी वस्तु है तथा इसमें ज्ञान-विज्ञान-भक्ति-सहित कर्तव्यतानिर्णयपर बड़ा ही सुन्दर प्रकाश डाला गया है।

काव्यकलाकी दृष्टिसे भी नरसिंहपुराणकी रचना बड़ी उच्चकोटिकी है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें भिन्नवृत्तके पद्य दिये गये हैं। कोश तथा व्याकरणकी दृष्टिसे भी इसके शब्द पर्याप्त महत्त्वके हैं। मोनियर विलियम्स-जैसे शब्दशास्त्रीने इस ग्रन्थका शब्दचयनकी दृष्टिसे बड़ा आदर किया और भूमिकाके अन्तमें पृष्ठ ३३पर इसका नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंके अन्तर्गत रखा है। इसी प्रकार अन्यान्य पुराणोंकी तरह इसमें भौगोलिक वर्णन, काश्यपीय प्रजासर्ग तथा सूर्य-चन्द्रादिसे उत्पन्न राजवंशोंका वर्णन भी सुन्दर है। इसके अतिरिक्त सामान्यनीति, व्यावहारिकनीति, राजनीति, धर्मनीति आदिपर भी इसमें न्यूनाधिक सामग्री प्राप्त है।

## २—रचना भगवान् व्यासकी ही

बहुत-से पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानोंका मत है कि महापुराण तो भगवान् व्यासद्वारा रचित हैं, किन्तु उपपुराण अन्यान्य व्यक्तियोंद्वारा निर्मित होते रहे हैं†। कुछ विद्वानोंके अनुसार किसी सह्यपर्वतके अञ्चलमें स्थित सह्यामलक ग्राम या नरसिंहक्षेत्रमें इस नरसिंहपुराणकी रचना हुई होगी। वे लोग इसी प्रकार अग्निपुराणको गयामें, पद्मपुराणको अजमेर ( राजस्थान ) में, वाराहपुराणको मथुराके पंडों-

\* सूर्याष्टोत्तरशतनाम—महाभारत वनपर्व, ३। १५-२७, ब्रह्मपुराण ३३। ३३-४५, स्कन्दपुराण काशी० ४४। १-१३, कुमारिकखं० अ० ३५ तथा हरिवंशादि अनेक अन्य स्थलोंमें भी प्राप्त हैं। कहीं तो ये ही श्लोक, कुछ भिन्न नामवाले भी।

† देखिये 'सिद्धान्त' वर्ष १६ में वासुदेवशरण अग्रवालका लेख तथा "History and Culture of the Indian people",

द्वारा, वामनपुराणको कुरुक्षेत्रमें, कालिकापुराणको काम कामाख्यामें, कूर्मपुराणको काशीके पंडोंद्वारा तथा मत्स्यपुराण नर्मदातटवर्ती ब्राह्मणोंद्वारा लिखा गया मानते हैं†। इसी प्रकार इनके अनुसार स्कन्दपुराणके विभिन्न प्रभास, अवन्ती, का केशर आदि खण्ड, तत्तत्क्षेत्रवासी पंडों आदिद्वारा लिखे हुए। किमधिक, 'व्यास' शब्द भी उन पंडोंका ही हो सकता है। अन्यथा इतना बड़ा विशाल साहित्य कोई व्यक्ति कैसे लिख सकता है। किन्तु ये सब तर्क हैं। भारतमें एक नहीं, लोलिम्बराज-जैसे अनेक घटिकाशतक—एक घड़ीमें परम श्रेष्ठ सौ श्लोकोंकी करनेवाले होते ही रहे हैं। महाभारत-रचनाके गणेशद्वारा महाभारत-लेखनकी बात सर्वप्रसिद्ध है। उपपुराणका नाम तो बारंबार पुराणोंमें ही आया है। उनके व्यासद्वारा रचे जानेकी बात भी वहीं निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त रचना-शैली तथा कहीं-कहीं लाक्षणिक अध्याय-के-अध्याय भी परस्पर सर्वथा मिलते जाते, उदाहरणार्थ नरसिंह तथा विष्णुपुराणके प्रारम्भके पाँच अध्याय प्रायः सर्वथा एक-दूसरेसे मिलते हैं। इसी प्रकार नरसिंहपुराणके ध्रुवचरित्रके सभी श्लोक स्कन्दपुराणके काश खण्डके ध्रुवचरित्रसे सर्वथा मिल जाते हैं। इसी प्रकार इसके अन्य भी अनेक स्थल ऐसे हैं, जो अन्यत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इसके मङ्गलाचरणके श्लोकको भी देखा जाय, जो निम्न प्रकार है—

पान्तु वो नरसिंहस्य नखलाङ्गलकोटयः।

हिरण्यकशिपोर्वक्षःक्षेत्रासुवर्कर्ममाणाः ॥

देखिये, इसकी रचना-शैली नारदपुराणके उत्तर मङ्गलाचरणसे कितने अंशोंमें मिलती है, जो इस प्रकार है—

† It seems certain that these Purāṇas were moulded into their present form at various centres of religious activity.

( A. M. Jackson in the centenary volume of the Journal of the Bombay Branch of the Asiatic Society, 1905, P. 73. Camb. Hist. Vol. Chapt. XIII. "The Purāṇas" by E. J. Rapin Page-268 )

इस विषयपर अधिक विस्तृत विवरणके लिये 'कल्याण' ४४। २, पृ० ७२३-२४ पर हमारा 'अग्निपुराण तथा पद्मपुराण' शीर्षक लेख तथा मंडारकरके १९४० से ५० ऐनाल्स ( Annals ) देखिये।



पान्तु वो जलदश्यामाः शङ्खज्याघातकर्कशाः ।

त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः ॥

( १ । १ )

स्पष्ट है कि दोनों रचनाएँ एक ही व्यक्ति ( भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास ) की हैं । इसके अतिरिक्त मुख्य श्लोक 'नारायणं नमस्कृत्य' आदि केवल पुराणों में प्राप्त होता है, जो यहाँ भी है । फिर कैसे कहा जाय यह रचना किसी अन्यकी और विभिन्न स्थलों पर हुई है ।

### ३—शब्दसौष्ठव

उपर्युक्त श्लोक शब्दसौष्ठवकी दृष्टिसे भी कम महत्त्वका नहीं । इसके अतिरिक्त 'स्नायन्ति' ( ६ । २६ ), जो 'ष्णैशोभायाम्' रूप है; उर्वशी-जैसी सुन्दरीके परम सौन्दर्यके वर्णनकी दृष्टिसे । ऐसेही 'वृषाकपि' ( ३९ । १३ ), 'भ्रूण' ( ब्राह्मण ( ४९ । २६ ) 'कर्पट' ( कपड़ा ) आदि अनेक शब्द जो विशेष अर्थ रखते सामान्य अर्थमें प्रयोग करनेसे रस नहीं आता । इसी प्रकार उपर्युक्त १ । ३ श्लोकका लाङ्गल—( हल ) शब्द लाङ्गलका भ्रमोत्पादक है । इसी प्रकार इसमें छन्द, अलंकार, र्थगाम्भीर्य तथा व्याकरणकी दृष्टिसे विचार करनेपर बहुत लाभाला प्राप्त होता है । उदाहरणार्थ 'ष्णै' धातुका ही 'स्नायन्ति' रूप होता है, 'स्ना'का नहीं; पर अर्थमें लोगोंको नानका भ्रम होना स्वाभाविक है ।

### ४—तीर्थ तथा भौगोलिक स्थलोंकी खोज

#### ( क ) सह्य पर्वत तथा सप्तकुलाचल

नरसिंहपुराणमें बार-बार तीर्थों तथा तीर्थयात्राके उपदेशकी बातें आती हैं । पर अब ये तीर्थ कहाँ पर कौन हैं, यह एक समस्या है । अब इन पाश्चात्य दानोंके इस श्रमकी ओर जरा ध्यान दीजिये । इनमेंसे लोग कन्जर्वेटर, सीमाविवादके कमीशनके प्रमुख या उनके मुख्य अधिकारी होते थे । अतः नगर, वन-पर्वत तथा तीर्थोंके बीचमें रहकर भौगोलिक तथा स्थल-गण ( Topographical survey ) आदिका कार्य ये करते थे । इसके अतिरिक्त इनमें अध्ययन तथा शोधकी लान प्रचुरमात्रामें रही । इनमें कनिंघम तथा पार्जिटरका वध्रम तो बहुत ही प्रशंसनीय है । अब नरसिंहपुराणके ग्रामलक ग्राम या नृसिंहक्षेत्र तथा सह्य पर्वतकी ही लीजिये, इनके अनुसार उसका रचनास्थल हो सकता है । कहते

हैं कि नरसिंहपुराणमें ७ । ४१;<sup>१</sup> ७ । ४६;<sup>२</sup> २८ । ११;<sup>३</sup> ६५ । ९ तथा अध्याय ६६ श्लोक १३ से श्लोक ४५ तक इत्यादि स्थलोंपर तथा अन्यत्र भी सप्तकुलाचल-पर्वतोंके साथ इसका बार-बार उल्लेख प्राप्त होता है । यद्यपि 'कल्याण'के तीर्थार्थ, पृष्ठ २४४ से २७० तकको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गोदावरीके उद्गमके पास दक्षिणका खण्ड, कुलाबा जिलेका रायगढ़ दुर्गवाला पर्वत, भीमशंकर ज्योतिर्लिंगवाला पर्वत तथा कोल्हापुरके पासका पर्वत—यह सब सहायिके अन्तर्गत हैं । 'सहायिकखण्ड' नामक स्कन्दपुराणके प्रसिद्ध ग्रन्थ तथा अन्यान्य पुराणोंसे भी यही सिद्ध होता है । इस प्रकार प्रायः पश्चिमीघाटका पहाड़ या मलवारका उत्तरी भाग सहायिकखण्डमें है । पर जब प्रायः अन्य सभी पुराणोंमें भी इस प्रदेशको सारी पृथ्वीमें उत्तम बतलाया गया है—

सह्यस्य चोत्तरे यस्तु यत्र गोदावरी नदी ।

पृथिव्यामपि कृत्स्नायां स प्रदेशो मनोरमः ॥

( ब्रह्मपुराण—२७ । ४३, मार्कण्डेयपुराण ५७ । ३४, वायुपुराण ४५ । ११२, मत्स्य ११४ । ३७ सांख्यकारिका० माठरभाष्य पृ० ११ आदि । )

अनेकानेक स्थलोंपर जब यह श्लोक प्राप्त होता है और शिरोल तथा नरसिंह या नृसिंहवाड़ी क्षेत्र भी यहीं स्थित है, तब यह कैसे कहा जाय कि यह पुराण यहीं रचा गया ? तब तो फिर अठारहों पुराण तथा उपपुराणोंको भी यहीं रचा गया मानना चाहिये । फिर तो यह भी कहा जा सकता है कि नरसिंहपुराणके प्रणेता भी एक नृसिंह सरस्वती नामके साधु थे, जिनके नामपर यह नृसिंहवाड़ी क्षेत्र प्रसिद्ध हुआ । इसी प्रकार ये वास्तविक महेन्द्रको, जो मलयगिरि ( जो सह्यके दक्षिणमें स्थित है ) के दक्षिणहोना चाहिये । और जिसपरसे हनुमान्जीने लङ्काके लिये छल्लाँग ल्यायी थी और जो उनके वेगसे प्रायः पृथ्वीमें समा-सा गया था, जैसा कि रामायणसे स्पष्ट है,—उसे कहीं उड़ीसाके गंजम जिलेके पास जो इसी नामका दूसरा एक पर्वत है, बतलानेकी चेष्टा करते हैं<sup>४</sup> । पर ये सब बातें

१. तुङ्गभद्रेति विख्याता या नदी सह्यपर्वते । इत्यादि

२. सह्यपादोद्भवास्तु भद्रायास्तदमुत्तमम् ।

३. माहेन्द्रो मलयः सह्यः...भारते कुलपर्वताः ॥

4. Pargiter in his 'English translation of the Mārkaṇḍeya-Purāṇa' has tried to identify



भागवतादिके विरुद्ध हैं। तीर्थाङ्क ( कल्याण ) पृ० ६० पर तो स्पष्ट लिखा है कि बदरीनारायणके समीप केशवप्रयागमें सरस्वती तथा अलकनन्दाके संगमस्थलपर 'शम्याप्राश' नामक स्थान है। इसे आजकल 'भाणाग्राम' कहते हैं। यहीं एक गुफा है, जिसे व्यासगुफा कहते हैं। इसीमें बैठकर भगवान् व्यासने अठारहों पुराण लिखे थे। इसके समीप ही गणेशगुफा है। वहाँ गणेशजी रहते थे। महाभारत-लेखनके समय वे व्यासजीका सहयोग करते थे, यह बात महाभारतमें ही लिखी है। भागवत १।४ में भी शम्याप्राशमें भागवतादि पुराणोंके लिखे जानेकी बात आयी है। अतः इसे भी वहीं निर्मित हुआ मानना चाहिये। इसी प्रकार नरसिंहपुराणमें सात प्रधान कुलपर्वतोंके अतिरिक्त सात पवित्र नदियों तथा पुरियोंका भी उल्लेख है।

### ( ख ) द्वादशारण्य

भारतके द्वादशारण्य परम प्रसिद्ध हैं। नरसिंहपुराणके

the various geographical names occurring in the Purāṇas. He thinks that the ninth Dwipa surrounded by the sea should be understood to mean India. Then he goes on to identify the seven mountain ranges in it. The mountain Mahendra is identified with the portion of the Eastern Ghats between the Godawari and the Mahanadi rivers and the hills in the south of Berar. Malaya is the southern portion of the Western Ghats. The Sahya may be identified with the northern portion of Western Ghats. The southern portion of the Eastern Ghats and the Mysore hills may be associated with the Sūktimat Range. By the term Vindhya, the whole of the modern Vindhyas ( see, Imperial Gazzeteer, Vol. I-IV ) is not suggested, but only the portion in East Bhopal. Pāriyātra, also called Pāripātra, is identified with the western portion of the modern Vindhyas in the west of Bhopal. This might also include the Arawali hills in Rajasthan."

( PP. 284-305.. 'A study of the Agni-Purāṇa', S. D. Gyani, p. 167 )

दूसरोंके अनुसार यह विवरण इस प्रकार है—महेन्द्र ( उड़ीसामें गंजमके पास ), मलय ( मैसूरमें ), सहा ( पश्चिमीघाट ), सुक्तिमान् ( हिमालय ), विन्ध्य ( विन्ध्याचल ) और पारियात्र ( अरावली पहाड़ी )। वही पुस्तक पृष्ठ १५५।

प्रारम्भमें ही १।३-७ श्लोकोंमें इन द्वादश अरण्य गणना इस प्रकार की गयी है—१-नैमिषारण्य, २-अरण्य ( आबूपर्वत ), ३-विन्ध्यारण्य, ४-दण्डका, ५-महेन्द्रारण्य ( वर्णन पहले आ चुका है ), ६-श्रवण ( तिरुमलै ), ७-कुरुजाङ्गल ( पूर्वी पंजाबके अन्तर्गत कुरुक्षेत्र-करनाल ), ८-हिमारण्य ( हिमालय ), ९-पम्प ( हाप्पी ), १०-धर्मारण्य ( सिद्धपुर-गुजरात ), ११-कौमारारण्य और १२-पुष्करारण्य ( राजस्थान )। तीर्थ पृ० ५३१ से यदि उत्पलारण्य ( विठूर ) को कौमार की जगह रखा जाय तो पुनरुक्तिदोष मिट जाय; क श्रीशैलको ही कौमारपर्वत भी माना जाता है। अ कौञ्चपर्वतको भी कुमारगिरि कहा जा सकता है।

### ( ग ) अड़सठ तीर्थ

द्वादशारण्यके ही समान इस ग्रन्थमें पञ्चसरोवर अनेकानेक ऋषि-आश्रमोंका भी वर्णन हुआ है। विस्तार उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है। ग्रन्थके अन्तमें अध्यायमें ६८ मुख्य तीर्थोंका एक बार पुनः परिगणन गया है। इसी प्रकारके ६८ तीर्थोंका वर्णन अनेक ग्रन्थोंमें अनेक स्थानोंपर प्राप्त होता है। अन्य धर्मोंमें इसकी चर्चा आती है। गणेशसहस्रनामस्तोत्र, श्लोक ११ भी आया है—'अष्टवष्टिमहातीर्थक्षेत्रभैरववन्दितः'। २ पुराण, काशीखण्डके ६९वें अध्यायमें भी ६८ तीर्थोंका विस्तारसे वर्णन आया है। अग्निपुराणके ३०५वें अध्यायमें भी इन्हीं तीर्थोंका वर्णन है। पर वहाँ तीर्थोंकी संख्या के आसपास ही आती है और कुब्जाक्ष, शालग्राम, आदि स्थानोंकी वहाँ पुनरुक्ति भी हुई है। पर नाम वे ही हैं। ये दोनों पुराण यहाँ एक साथ ही प्रकाशित रहे हैं। अतः पाठकोंकी जानकारीके लिये इन तीर्थोंका अकारादि क्रमसे नामसूची तथा आधुनिक नामोंका यथाज्ञान निर्देश करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। न होगा कि ये श्लोक थोड़े-बहुत अन्तरसे श्रीविष्णुपुराण, महापुराण, खण्ड ३, अध्याय १२५ में भी इसी प्रकार होते हैं। पर विष्णुधर्म तथा अग्निपुराणके श्लोक एक हैं और यदि दोनोंका पाठ ठीकसे मिलाया है, जो शुद्धिके लिये परमावश्यक है, तो यह तीर्थ बिल्कुल अड़सठ ही होती है। इतना ही नहीं, २१, ५१ गणपतिक्षेत्र, शिवक्षेत्र शक्तिक्षेत्र तथा विष्णुस्थान



हैं । साथ ही अष्टोत्तरशत शक्ति, शिवस्थान भी हैं । दिये गये हैं । पर स्कन्द०, रेवाखण्डसे मिलानेपर शक्तिस्थानके नमोंसे कुछ तीर्थाङ्क ५८६, ५१३ आदि पृष्ठोंपर भी नाम और शुद्धतर हो जाते हैं ।

नरसिंहपुराण अ० ६५ में तीर्थनाम- क्रम-संख्या वर्तमान नाम	अग्निपुराण अ० ३०५ तथा श्रीविष्णुधर्म ३-१२५ की नामावली एवं नाम-सं०	तीर्थका वर्तमान नाम तथा स्थलनिर्देश
अयोध्या-५०	अश्वतीर्थ ( वि. )	कन्नौजके पास गङ्गातटपर स्थित ( महा०, वन० ९५ । ३ महाभारत नामानुक्रमकोश गीताप्रेस )
ऋषभ-७	उत्पलावर्त-५१	बिठूर भुवनेश्वर ( उड़ीसा )
औण्ड्र-५४	एकाम्र-११	उड़ीसा
कसेरट-२९	औण्ड्र-६०	
काशी-२४	काशी-३७	वाराणसी
	काश्मीर-१०	
	क्रिष्किन्धा-३५	हास्पेट-विजयनगरके पास
कुब्जाम्रक-१७, ३६	कुब्जाम्र-१३	ऋषिकेश
कुरुक्षेत्र-४८	कुरुक्षेत्र-१९	फरनाल जिले ( हरियाणा ) में
केदार-२३	कोकामुख-( वि. )	वाराहक्षेत्र
कोकामुख-१	गङ्गाद्वार-१४	हरिद्वार
कपिलद्वीप-( ३ )	गङ्गा-सागर-संगम-२३	
गन्धमादन ( १८ )	गया-२	
	गोवर्धन-१६	
चित्रकूट-१२	चित्रकूट-४	
	जम्बूमार्ग-	केशवरायपाटन ( तीर्थार्थ पृ० २८४ )
	जयन्ती-७	सरस्वतीतटपर
तृणविन्दुवन २७	दण्डक-५०	
देविका-३४	देविकातीर-२४	पंजाबकी एक नदी
द्वारका-( ८ )	द्वारका-४२	
दशपुर-३५ ( मंदसौर ) ३४	नन्दा-५६	
	नर्मदा-५२	
	नेपाल-४०	
नैमिषारण्य-( १३ )	नैमिषारण्य ( वि. )	वाल्मीक ( सोतापुर ) से १६ मील
पाण्ड्यसह्य	पिण्डारक-१७	द्वारकाके पास
पुष्कर ( २५ )	पुरुषवट-४५	
	पुष्करारण्य-१	अजमेरमें
	पूर्वसागर-२२	



प्रभास ( ४ )	प्रभास-५	
	प्रयाग-२५	काठियावाड़
	मगधवन	
मथुरा-२२	मथुरा-१२	
मन्दर-२	मन्दर-४२	भागलपुरका मदारगिरि
	महेन्द्र-५२	
महेन्द्र-६	यमुना-२०	
माहिष्मती-	( महेश्वर ) रैवतक-३६,५२	गिरनारपर्वत
	लोहदण्ड-३	
	लोकाकुल-लोहार्गल-४३	लोहागरजी ( राजस्थान )
वल्लीवट	वट-वट-७२	
	वर्धमान-९	वर्दवान ( बङ्गाल )
वितस्ता-२७	वितस्ता	शेलमनदी ( पंजाब )
	विन्ध्या-५९	
विमल-६५	विमल-४६	उड़ीसामें एक तीर्थ
	विरजा-३८	जगन्नाथपुरी
	विशाखयूप-३९	
वृन्दावन-२१	वृन्दावन-६	
	शंखोद्धार-१८	राजस्थानके झालावाड़ जिलेमें झालरापर
		के दक्षिण चन्द्रभागानदीके तटपर
शालग्राम-१५	शालग्राम-१५	हरिहरक्षेत्र
	शोण-२१	
सह्य-( २५ )	सह्याद्रि-५६	
सैन्धवारण्य-( ३-क, देखिये )	सैन्धवारण्य-४७	
	हस्तिनापुर-८	दिल्लीसे ५० मील पूर्वोत्तर
	हिमाचल ( वि. )	

विष्णुधर्म तथा अग्निपुराणके नाम मिलनेसे शुद्ध हो गये हैं। पर नरसिंहपुराणके नामोंमें संशोधनकी आवश्यकता है, अतः उसमें कुछ नाम और क्रम पते आदि नहीं दिये गये हैं।

### ५-सदाचारकी महत्ता

विनय, शील तथा सदाचारके बिना तप-तीर्थादि व्यर्थ हैं, यह नरसिंहपुराणके कश्यपाख्यान\* तथा अन्य सभी पुराणोंके तीर्थोपोद्घातसे सुस्पष्ट है। अन्यथा अर्थ-काम-परायण व्यक्ति स्वार्थके लिये पाप तथा हत्यापर भी उतारू हो जाता है। इसलिये कश्यपाख्यानमें माता-पिता, गुरु, ईश्वर-की सेवा तथा सदाचारको तप-तीर्थसे भी श्रेष्ठ बतलाया है। इन्हीं विनय-शीलादिके अभावमें लोग अविनयी और असदाचारी तथा स्वार्थान्ध होकर अपने सम्बन्धियों, बन्धु-

बान्धवों तथा निरीह जीवोंकी हत्यातक कर डालते हैं, कि पूर्व बंगालमें आज हो रहा है। इतिहास इसका सदासे सा रहा है। गुलाम, खिलजी तथा मुगलवंशके सभी राजा अपने पिता, चाचा, ज्येष्ठ भ्राता आदिकी हत्याएँ रक्त-रक्षित राज्यका ही भोग किया। पाश्चात्त्योंका तो कह ही क्या? 'Truth' 19-2-71 के शब्दोंमें—

"In Mary Tudor's five year reign 300 Protestants were burnt at the stake. When her sister, Elizabeth, Protestant, succeeded her, 400 Catholics were burnt at the stake. In France

\* यह कथा पद्मपुराण, सृष्टिलेखण्डमें भी है।



Huguenots were massacred in masses and in the night of the massacre of St. Bartholomew was an awful sight. In Spain the Jesuits persecuted and slaughtered men in untold numbers. Jews were expelled from many parts of Europe and specially from Spain and other places. In Russia Peter the Great spat on the face of the English ambassador, because the Tzar was annoyed. Tzar Paul was a writer and a cultured man, yet he tore off one leg and the arm of a peasant, who fired a musket near the palace to kill a jackdaw. Tuzukh-e-Firozshahi† relates the exploits of Firoz Tughlak in high delight, how the blood of six lac Kafirs coloured the water of Chilka lake and all the young women were seized and carried off with the other booty, leaving the other women in chains. Similarly 50,000 women and children who took refuge in the Somnath temple were killed by Mahmood of Ghazni. Aśoka, who had become Dharmāśoka from Chandaśoka still put to death a Brahman who refused to accept the Buddhist faith.

“And now of course Hitler's six million jews, Stalin's millions of Kukluks and thousands of peoples of high rank, Mao Tse Tung's 15 million Chinese. This is History. And at the present moment in brutality and blood-thirstiness Naxals are second to none.

“But why then our past history is cleaner? Because of the influence of the unique Hindu Śāstras. Due to the same even Vincent Smith has testified

† इसके अतिरिक्त तारिखे फिरोजशाही, फतुहने फिरोजशाही, मनशवे मइर तथा अमीरखुरोका तुगलकनामामें भी इसका चरित्र मिलता है। कैम्ब्रिजके इतिहास जिल्द ३ में यह वटना कुछ भिन्न रूपमें है।

that Sivaji's troops were paragons of virtue and of unique character”. ( pages —659—60 )

सारांश यह है कि मेरी खूबशूरके राज्यकालमें ३०० प्रॉटेस्टैंट ईसाइयोंको बाँधकर जलाया गया और उसकी बहन एलिजाबेथके शासनमें ४०० कैथलिक ईसाइयोंको... उलुकुत फिरोजशाहीसे फिरोजशाह तुगलकद्वारा छः लाख काफिर—अन्यधर्मियोंकी हत्यासे चिल्का झीलके रक्तस्त्रित होनेकी बात ज्ञात होती है। इसी प्रकार महमूद गजनीद्वारा सोमनाथ मन्दिरमें शरण लिये हुए ५० हजार स्त्री-बच्चोंके मारे जानेकी बात इतिहासमें मिलती है। इसी तरह हिटलरके द्वारा ६० हजार यहूदी, स्टैलिनके द्वारा १० हजार कुक्लुक और माओद्वारा डेढ़ लाख चीनी... यह इतिहास है और अब नक्सलपंथी बन्धु भी अपनी रक्तपिपासा तथा क्रूरतामें किसीसे तनिक भी पीछे नहीं हैं और आजके बांग्ला देशपर पाकिस्तानके अत्याचारका तो वर्णन ही शक्य नहीं।

प्रश्न होता है कि तब फिर हमारा पूर्वका इतिहास शुद्ध तथा स्वच्छतर कैसे रहा? भरत-राम आदिके त्याग-सौहार्दकी बात ( द्रष्टव्य, नरसिंहपुराण ४७। ५२ ) कैसे रही? उत्तर है—हमारे अद्भुत शास्त्रोंके सदाचारसम्बन्धी उपदेशोंके सत्प्रभावके कारण। इन्हीं शास्त्रों तथा उनकी चर्चाके कारण ही विन्सेंट स्मिथो भी स्वीकार करना पड़ा है कि शिवाजीकी सेना ( मुगलोंकी अपेक्षा ) धर्मपालन तथा सदाचारके रक्षणमें सर्वथा श्रेष्ठ एवं अद्भुत रही। ( जब कि मुगलोंने ठीक तद्विपरीत थी। ) \* अतः सदाचारपर नरसिंह-

\* शिवाजीके सदाचार-गुणोंकी उनके समकालीन ( प्रतिद्वन्द्वी ) मुगल इतिहास लेखक-खाफीखॉने भी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। एक ओर तो द्वेषसे वह उन्हें गालियाँ देता है, दूसरी ओर विवश होकर उसे उनके गुणोंकी पूजा करनी पड़ती है। स्मिथके शब्दोंमें—

“It is a curious fact that the fullest account of these special virtues is to be found in the pages of the Muslim historian, Khafi Khan, who ordinarily brands Sivaji as a ‘reprobate,’ ‘a sharp son of the Devil’ etc, but nevertheless he honours him by the following passage:—

“In fine, Fortune so favoured this treacherous worthless man that his forces increased, and he grew more powerful every day.



पुराणके ५७ से ६२ तकके अध्याय, जो बड़े महत्वके हैं, बार-बार मननके योग्य हैं।

### ६-नृसिंहोपासनाकी विशेषता

पर इन सब श्रेष्ठ आचारोंका भी हेतु तथा परमश्रेष्ठाचार भगवान् श्रीहरिकी उपासना है। इस पुराणमें उसपर पूरा प्रकाश डाला गया है। इस पुराणके श्रवणमें भगवान् श्रीहरि परम प्रसन्न होते हैं। ( देखिये ग्रन्थके अन्तमें दी गयी विस्तृत फल-श्रुति। ) यद्यपि नृसिंहोपासनापर वेदोंके अतिरिक्त नृसिंहतापिनी उपनिषद् ( पूर्व एवं उत्तर ), वायुपुराणके माघ-माहात्म्यका कुछ अंश, भागवतका सातवाँ स्कन्ध तथा नरसिंहचर्या, नरसिंहकल्प, नरसिंहपारिजात, नृसिंहकवच, नृसिंहभुजंगप्रयात, नृसिंहपञ्चस्तोत्र, नृसिंह-पञ्चरत्नमाला, नृसिंहपटल, पद्धति, कवच, खिलभागका लक्ष्मी-नृसिंहसहस्रनामस्तोत्र\* आदि पञ्चाङ्ग तथा नृसिंहचिन्तामणि, बीजाक्षर मन्त्रादि अनेक स्तोत्र-यन्त्र-तन्त्र प्रसिद्ध हैं, तथापि चरित्रात्मक स्वतन्त्र ग्रन्थ यही होनेसे, सम्प्रदाय-मन्दिरोंमें यह विशेष आदरणीय रहा है। यद्यपि पहले इसके कई संस्करण १-ठाकुरदास कटारे, विश्वेश्वरगंज, काशीके ( लीथो-पत्थरके छापेखानेकी प्रति ), २-जीवानन्द विद्यासागर, रमानाथ मजमुदार स्ट्रीट, कलकत्ता, ३-गोपालनारायण ऐण्ड कम्पनी, बुकसेलर्स, ३२ गिरगाँव, कालवादेवी, बंबई आदि

कई प्रकाशकोंद्वारा प्रकाशित हुए थे, तथापि अब उनमेंसे कोई भी प्राप्त नहीं है और गणेशपुराण एवं बृहद्धर्मपुराणकी ही तरह, किसी पुस्तकालयमें भी, यहाँतक कि काशी भी बड़े-से-बड़े किन्हीं भी पुस्तकालयोंमें प्राप्य नहीं रह गया है। बंबईकी प्रति जो सबसे पीछे छपी, वह भी १९११ ई० की थी। कलकत्ताकी प्रति १८९० ई० की रही। लीथोकी प्रति और पहलेकी थी। पुरानी होनेसे १९११ की भी प्रतिके, इनसे पीछेकी रही, कागज छूटे ही गल जाते थे। इस तथे यह पुराण अब सर्वथा अलभ्य-सा हो रहा था। अतः 'कल्याण' द्वारा इस ग्रन्थको समूल, सानुवाद प्रकाशितकर नष्ट साहित्यकी रक्षाके लिये प्रयत्न किया गया है।

वास्तवमें आज संस्कृत-साहित्यकी पहलसे भी अधि उपेक्षा हो रही है। यह भी उसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। गणेश-जैसे आदिपूज्य देवताके पुराणकी भी वही दशा है। इसी उपेक्षामें आज अज्ञान, अज्ञानसे अविनय और अविनय अशान्ति तथा 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' के अनुसार सर्वत्र ह्वे वेचैनी और अशान्ति अनुदिन, निरन्तर बढ़ती जा रही है। अमङ्गलमय भगवान्से प्रार्थना है कि वे हमें सद्बुद्धि दें, जिससे हम इन सदाचार-प्रधान ग्रन्थोंका स्वाध्याय-मननकर, विद्विन्न-विनय-शीलसे सम्पन्न हों, जिससे देश तथा विश्वमें भी शांति एवं सुखकी स्थापना हो।



He erected new forts, and employed himself in setting his own territories, and in plundering those of Bijapur. He attacked the caravans which came from distant port and appropriate to himself the goods and women. But he made it a rule that wherever his followers were plundering, they should do no harm to the mosques, the Book of God ( the Holy Qoran or the woman of anyone. Whenever a copy of the sacred Qoran came into his hands, he treated with respect and gave it to some of his Muslim followers. When the women of Muhammadan were taken prisoners by his men, he watched over them until their relation came to take their liberty."

( Oxford Hist. of India, Part II, Book VI, Page 412 )

\* प्रायः वेदों तथा पुराणोंके बहुत-से 'खिल' भाग होते हैं, जो उनमें नहीं मिलते। उदाहरणार्थ श्रीसूक्त ऋग्वेदका खिल या खिल भाग है। इसी प्रकार 'नक्षत्रकल्प' ग्रन्थ अथर्ववेदका खिल भाग या परिशिष्ट कहा जाता है। इसी प्रकार हरिवंशपर्व महाभारत का खिल या परिशिष्ट भाग है। ऐसे ही अर्जलास्तोत्र, कवच, कोलक, वैकृतिकरहस्य, मूर्तिरहस्य आदि स्तोत्र मार्कण्डेयपुराणके खिल भाग या परिशिष्ट हैं, जो उसमें ( मूल मार्कण्डेयपुराणमें ) नहीं मिलते। इसी प्रकार श्रीलक्ष्मीनृसिंहसहस्रनाम-स्तोत्र ( गीताप्रेसद्वारा त्रिवाणीबिलासकी शंकरग्रन्थावली आदिमें मुद्रित ) आदि तथा ऊपर लिखे कुछ स्तोत्र नरसिंहपुराणके भी खिल भाग या परिशिष्ट हैं, पर उसमें नहीं मिलेंगे। ४० से ४४ तकके चार अध्याय नरसिंह-प्रादुर्भावनके हैं। अतः उक्त स्तोत्रको ४४वें अध्यायका परिमाण मानना चाहिये।



## पढ़ो, समझो और करो

( १ )

### यही हिंदू-संस्कृति है

गोरखपुर योगिराज श्रीगोरखनाथकी तपस्यास्थली है । शहरके उत्तरकी ओर प्राचीन सुन्दर मन्दिर है । वहाँ प्रतिदिन हजारों व्यक्ति दर्शनार्थ उपस्थित होते हैं । कुछ वर्ष पूर्व प्राचीन मन्दिरको नया भव्यरूप देनेके लिये कार्य प्रारम्भ हुआ था । उसके शिलान्यास-समारोहमें शहरके प्रायः सभी प्रतिष्ठित व्यक्ति एवं विद्वान् आमन्त्रित थे । नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमान-प्रसादजी पोदार भी उसमें उपस्थित थे । श्रीभाईजी सबसे आगेके सोफेपर आसीन थे । पासमें स्थानीय पूर्वोत्तर रेलवेके जनरल मैनेजर महोदय भी बैठे थे । वयोवृद्ध प्रसिद्ध संत एवं विद्वान् श्रीअक्षयकुमारजी वन्द्योपाध्याय महोदय भाषण कर रहे थे । वे हिंदू-संस्कृतिके स्वरूपपर प्रकाश डाल रहे थे । सभी उपस्थित महानुभाव मन्त्रमुग्ध-से हुए भाषण सुन रहे थे । भाषण पूरा होनेपर वे बैठनेके लिये आये । श्रीभाईजी एवं जनरल मैनेजर महोदयने उठकर उनका स्वागत किया और उन्हें सोफेपर बैठा लिया । जनरल मैनेजर महोदय श्रीअक्षय बाबूके साथ-साथ सोफेपर बैठ गये, पर श्रीभाईजी श्रीअक्षय बाबूके समान आसनपर कैसे बैठते । वे तो उन्हें सदा अपने गुरुजनके रूपमें आदर देते आये थे । वे श्रीअक्षय बाबूके चरणोंके समीप नीचे जमीनपर बैठ गये । जनरल मैनेजर महोदयजीको यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और वे श्रीभाईजीका हाथ पकड़कर उन्हें ऊपर सोफेपर बैठानेका प्रयत्न करने लगे । पर श्रीभाईजी ठस-से-मस नहीं हुए । श्रीभाईजीने विनम्रतासे कहा—‘मुझे महाराजजीके चरणोंमें ही बैठनेमें प्रसन्नता है । श्रीअक्षय बाबू श्रीभाईजीके इस शील-

स्वभावको देखकर गद्गद हो गये । उनकी आँखोंसे स्नेहके आँसू टपक पड़े तथा उन्होंने जनरल मैनेजर महोदयसे कहा—‘यही हिंदू-संस्कृति है ।’ जनरल मैनेजर हिंदू-संस्कृतिके इस महान् आदर्शको देखकर मुग्ध हो गये ।

( २ )

### कीमत चुकाओ

सन् १९३८के आस-पास गीताप्रेसकी पहली तीर्थयात्रा स्पेशल ट्रेन निकली थी । यात्री दक्षिणमें श्रीरामानुजा-चार्यकी लीलाभूमि तोताद्रि गये । वहाँ यह प्रसिद्ध है कि भगवान्‌के तैलाभिषेकका प्रसाद शरीरकी खाजको मिटा देता है । तेलका बड़ा भारी कुण्ड भरा हुआ था । उसपर कोई कीमत नहीं थी । यात्रियोंमेंसे बहुतोंने बाजारसे टीन खरीदकर दस-दस बीस-तीस सेरतक तेल भर लिया । दूसरे दिन ट्रेनपर पहुँचनेपर ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाको सूचना मिली । यात्री इकट्ठे किये गये । उन्होंने व्याख्यान दिया, ‘यह अन्याय है, बेईमानी है । प्रसाद इस ढंगसे और इतना नहीं लिया जाता । आप सब कीमत चुकाओ ।’ उनके आदेशानुसार ही किया गया । उनकी न्यायनिष्ठा सचमुच प्रशंसनीय थी और दूसरे लोगोंके लिये एक शिक्षा थी ।  
—पूज्य स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज, ‘चिन्तामणि’

( ३ )

### ईमानदारी ऐसी चाहिये

हरिद्वार कुम्भ-मेलेमें आग लगा गयी थी । गीताप्रेसकी पुस्तकोंकी दुकान भी जल गयी, बीमा कराया हुआ था । लिखा-पढ़ी करनेपर पूरी कीमत देनेकी मंजूरी मिल गयी । जब प्रेसके संस्थापक ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाको यह ज्ञान हुआ, तब उन्होंने पूछा—‘आग



लगानेसे पहले कुछ पुस्तकें बिक गयी थीं या नहीं ? उनकी कीमत आगमें जल गयी थी या नहीं ।' ठीक-ठीक मालूम करके उन्होंने जितनी हानि हुई थी, उतने रुपये रखवा दिये और बाकी वापस करवा दिये । ईमानदारीमें निष्ठा सत्पुरुषका सहज स्वभाव है ।

—पू० स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी महाराज, 'चिन्तामणि'

( ४ )

### सर्वस्व खोकर भी अविचल

प्रसङ्ग लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहलेका है । श्रीरामानन्द रायने श्रीक्षुदिराम चट्टोपाध्यायको बुलाकर कहा— 'क्षुदिराम महाशय ! आपको मेरा एक कार्य करना होगा ।' श्रीक्षुदिरामजी बंगालके 'देरे' नामक गाँवके रहनेवाले थे और श्रीरामानन्द राय देरे गाँवके जमींदार थे ।

'कौन-सा कार्य है ?'—श्रीक्षुदिरामने पूछा ।

'एक मुकदमेमें झूठी गवाही देनी है'—राजसी रोवके साथ पुरुष वाणीमें श्रीरामानन्द रायने कहा । 'और यदि गवाही नहीं दी तो जैसे यह झूठा मुकदमा दायर किया है, उसी प्रकार आपके विरुद्ध भी अदालतमें झूठा मुकदमा दायर हो जायगा । फिर इसका फल भुगतनेके लिये तैयार हो जाना चाहिये ।'

जमींदार रामानन्द रायके क्रूर स्वभावसे सभी परिचित थे । आस-पासके सभी गाँवोंको यह बात ज्ञात थी कि जिससे इनकी अनवन हो जाती थी, उसका पेड़-पत्ता, जड़-मूल सभी उखाड़कर फिक्का देते थे । श्रीक्षुदिराम थे सरल स्वभावके ब्राह्मण, उनका जीवन सत्य-सेवापूर्ण था; भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे प्रतिदिन पूजन करते थे । उनकी भक्ति-भावना,

सत्य-निष्ठा, सेवा-भाव, धर्मपरायणता आदि लोगों आदर एवं चर्चाकी वस्तु थीं । गवाही नहीं देनेका अर्थ था जमींदार रामानन्द रायके कोपका भाजन बनना । १५० बीघा जमीनसे हाथ धोना, मकानका नीला होना, गृहस्थीका बर्बाद होना, पत्नी-पुत्र-पुत्रीका मृत्यु मरना । भावी विपत्तिके काले दृश्य आँखोंके सामने नाचने लगे । इससे भी श्रीक्षुदिराम विचलित नहीं हुए और उन्होंने गवाही देनेसे इन्कार कर दिया ।

श्रीरामानन्द रायने फिर डराया-धमकाया, साथ ही लोभ भी दिया; परंतु क्षुदिराम न भयके कारण डिगे और न प्रलोभनके सामने झुके । अन्तमें वही हुआ, जिसका आशङ्का थी । श्रीक्षुदिरामके विरुद्ध झूठी अदालती कार्रवाई हुई । रामानन्द राय जीत गये और श्रीक्षुदिरामका सारा खेत एवं मकान बिक गया । जो कभी दाता थे वही क्षुदिराम दाने-दानेके मुहताज हो गये । बस बसाया परिवार उजड़ गया, बाप-दादोंका वैभव बिक गया; परंतु श्रीक्षुदिराम अपनी धर्म-निष्ठापर अडिग रहे । विपत्तिका पहाड़ ही मानो उनपर टूट गया, पर वे तिल भर भी विचलित नहीं हुए । सर्वस्व खोनेवाले श्रीक्षुदिरामने देरे ग्राम छोड़ दिया और उन्होंने समीपके कामार पुर ग्राममें आश्रय लिया । साथ थे उनके पुत्र-पुत्री उनकी साध्वी पत्नी चन्द्रा, उनके आराध्य भगवान् राम चन्द्रका विग्रह और उनकी अडिग धर्म-निष्ठा ।

इन्हीं संत-दम्पति चन्द्रा-क्षुदिरामको परमहंस श्रीरामकृष्णजीके माता-पिता होनेका सौभाग्य मिला, जिनके शिष्य थे विश्वविख्यात स्वामी विवेकानन्द और जो थे जगज्जननी कालीकी भक्तिकी साकार श्रुति । श्रीगीताजीमें ठीक ही कहा है कि 'योगी योगीके घर जन्म लेता है, जो अत्यन्त दुर्लभ है ।'

—'श्रीश्याम'



## क्षमा-याचना एवं कृतज्ञता-प्रकाश

परम श्रेष्ठ श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोदार ) के गत चैत्र कृष्ण दशमी, २०२७ दिनांक २२ मार्च १९७१ को नरवर शरीर त्यागकर नित्यलोकलोक हो जानेपर उनके पार्थिव वियोगसे व्यथित सहस्रों श्रद्धालु, आत्मीय तथा परिचित महानुभावोंके एवं अनेकानेक संस्थाओंकी ओरसे सहानुभूतिपूर्ण समवेदनाके तार, पत्र एवं शोकप्रस्ताव आये हैं और अभीतक आ रहे हैं। उन सभी स्नेही एवं कृपालु महानुभावों एवं संस्थाओंके अंजलिओंको उनकी सहानुभूति एवं समवेदनाके लिये हमने अपनी ओरसे कृतज्ञता-पत्र भेजनेकी चेष्टा की है तथा अब भी बराबर पत्र दे रहे हैं। परंतु अनेकों तारों और पत्रोंमें प्रेषकका नाममात्र है और कहीं-कहीं तो नाम भी इतना संक्षिप्त है कि बहुत विचार करनेपर भी उनका पूरा पता समझना सम्भव नहीं हो पाया है। अतएव पुरे पतेके अभावके कारण ऐसे महानुभावोंतक अपनी कृतज्ञता पहुँचानेमें हम असमर्थ रहे हैं। अपनी इस क्लेशकारीके कारण हम इस विनीत प्रार्थनाके द्वारा उन सब महानुभावोंसे अपनी विवशताके लिये कारुण्य क्षमा-याचना करते हैं और परम श्रेष्ठ श्रीभाईजीके परिवारकी ओरसे, 'कल्याण' एवं 'कल्याण-कल्पतरु' के सम्पादकीय केभागकी ओरसे तथा गीताप्रेस-परिवारकी ओरसे हम आन्तरिक आभार एवं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इसी प्रकार हमपर सदा कृपा एवं प्रीति रखनेवाले संत-महात्माओं, विद्वानों, जन-नायकों आदिने देशकी विभिन्न भाषाओंकी पत्र-पत्रिकाओंमें परम श्रेष्ठ श्रीभाईजीके प्रति श्रद्धाञ्जलियाँ एवं उनके प्रति अपने आत्मीयतापूर्ण उद्गार प्रकाशित किये हैं। हम उन सबके प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं। सचमुच सभी महानुभावोंकी सौहार्दपूर्ण सहानुभूतिसे हमें बड़ा बल मिला है। सभी महानुभावोंसे तथा अणु-अणु एवं परमाणु-परमाणुके रूपमें अभिव्यक्त श्रीराधाभाषवसे यही याचना है कि उन महामानवके जीवनका रस हमलोगोंके जीवनमें प्रवाहित हो तथा हम उनके पद-चिह्नोंका पक्किचिह्न भी अनुसरण कर सकें।

विनीत—

चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक

## 'कल्याण' नामक हिंदी मासिकपत्रके सम्बन्धमें विवरण

फार्म चार—नियम-संख्या—आठ

१-प्रकाशनका स्थान—गीताप्रेस, गोरखपुर

२-प्रकाशनकी आवृत्ति—मासिक

३-मुद्रकका नाम—मोतीलाल जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

४-प्रकाशकका नाम—मोतीलाल जालान

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

५-सम्पादकका नाम—श्रीचिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री

राष्ट्रगत सम्बन्ध—भारतीय

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

६-उन व्यक्तियोंके नाम—श्रीगोविन्दभवन-कायालय

पते जो इस समाचार-पत्रके मालिक हैं और पता—नं० १५१, महात्मागांधी रोड

जो इसकी पूँजीके कलकत्ता ( सन् १८६०

के विधान २१के अनुसार

भागीदार हैं। [रजिस्टर्ड धार्मिक संस्था]

मैं मोतीलाल जालान, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें सैरी जानकारी और विश्वासके अनुसार यथार्थ हैं।

दि० १ मार्च १९७१

मोतीलाल जालान  
प्रकाशक



## कृपालु संत-महात्माओं, आचार्यों तथा भक्त एवं विद्वान् लेखकोंके चरणोंमें विनीत प्रार्थना

( १ ) परम भागवत श्रीपोद्धारजीके पारिव देह त्यागकर नित्यलीलालीन हो जानेसे 'कल्याण'के सम्पादनका भार मेरे दुर्बल कंधोंपर आ पड़ा है, जिसे वहन करनेमें मैं अपनेको सर्वथा अक्षम अनुभव करता हूँ । अबतक तो 'कल्याण'का सारा भार श्रीपोद्धारजी अकेले ही वहन करते थे । मेरा नाम तो उन्होंने शीलवश मुझे प्रोत्साहित देने और मेरी सम्मानकी वासनाको पूर्ण करनेके लिये ही अपने गौरवशाली नामके साथ जोड़ दिया था । मेरे अंदर न तो साधनका बल है न आध्यात्मिक अनुभव, न त्याग है न तप है, न दैवी सम्पदा है न ग्रीढ़ विद्या है, न वैसा शास्त्रोंका अध्ययन एवं मनन है, न मेरी लेखनीमें ही शक्ति है । ऐसी दशामें 'कल्याण'-जैसे पत्रके सम्पादकमें जैसी और जितनी योग्यता होनी चाहिये, उसका मैं अपने अंदर सर्वथा अभाव देखता हूँ । मुझे तो एकमात्र भरोसा है उन कृपालु संत-महात्माओं तथा आचार्योंके कृपापूर्ण आशीर्वाद एवं सुझावोंका, जो सदा ही 'कल्याण'को अपना मानते आये हैं और उसका हित-चिन्तन करते आये हैं तथा उन सद्बुद्ध लेखकोंके सहयोगका, जिन्होंने अपनी बहुमूल्य सामग्रीसे 'कल्याण'के पृष्ठोंको अबतक अलंकृत किया है । उन सबके चरणोंमें मेरी विनीत प्रार्थना है कि वे अबतक जिस प्रकार 'कल्याण'पर कृपा करते आये हैं, उसी प्रकार उसपर अपनी समता एवं छोड़ बनाये रहें और 'कल्याण'में प्रकाशित करनेके लिये अपनी बहुमूल्य रचनाएँ भेजते रहें ।

( २ ) मेरी दूसरी प्रार्थना ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका एवं नित्यलीलालीन श्रीपोद्धारजीके बहुसंख्य मित्रों एवं भक्तोंसे है । जिनका उक्त दोनों महानुभावोंके साथ पत्र-व्यवहार रहा है और जिनके पास उक्त दोनों महापुरुषोंके पत्र सुरक्षित हों, वे यदि कृपापूर्वक, व्यक्तिगत बातोंको छोड़कर जिन्हें वे प्रकाशमें लाना न चाहें, अपने उन पत्रोंको मूलरूपमें अथवा प्रतिलिपि कराके भेज दें तो उन्हें बिना उनका नाम दिये क्रमशः 'कल्याण' में छपा जा सकता है । मेरा अनुमान है कि उन पत्रोंमें ऐसी बहुमूल्य बातें अवश्य होंगी, जिनके प्रकाशमें आनेसे पाठकोंका विशेष उपकार होगा ।

( ३ ) तीसरी बात यह है कि उक्त दोनों महापुरुषोंका जीवन मेरी क्षुद्र धारणाके अनुसार सभी दृष्टियोंसे आदर्श था । उनका चरित्र परम उज्ज्वल एवं गीतोक्त दैवी सम्पदाका भंडार था । 'कल्याण'के पाठकोंसे ऐसे हजारों नर-नारी होंगे, जो उक्त दोनों महानुभावोंके निकट सम्पर्कमें आये हों । ऐसे सभी महानुभावोंसे मेरा सादर अनुरोध है कि वे ऐसे मार्मिक प्रसङ्गोंको स्मरण करके तथा लेखबद्ध करके क्रमशः 'कल्याण'में प्रकाशित करनेके लिये मेरे पास भेजते रहें, जिन्हें जन-साधारणका नैतिक स्तर उँचा उठानेमें सहायता मिल सके । मुझे आशा है कि इन तीनों ही बातोंमें 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंका मुझे पूर्ण सहयोग प्राप्त होगा ।

विनीत—

चिम्मनलाल गोखामी







हरे राम हरे राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,७५,०००

## विषय-सूची

कल्याण, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, अप्रैल १९७१

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-‘नैक बिलोकि री इक बार’ [ कविता ] ( श्रीरूपरसिकदेवजी )	... ८३३	१६-श्यामसे विनय [ कविता ] ( भक्त श्री- रसिकदासजी )	... ८६०
२-कल्याण	... ८३४	१७-वैष्णव-साधनाके महान् व्याख्याता श्रीरूप गोस्वामी ( डा० श्रीसुवालालजी उपाध्याय ‘शुकरदा’ )	... ८६१
३-ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश ( पुराने सत्सङ्गसे )	... ८३५	१८-भगवत्प्रार्थनाका स्वरूप एवं आदर्श ( पं० श्रीजयकान्तजी झा )	... ८६५
४-भगवानकी महिमा [ कविता ] ( संत श्रीदादू- दयालजी )	... ८३७	१९-सेवा-पथ ( श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन )	... ८६८
५-परमार्थकी पगडंडियाँ ( नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )	... ८३८	२०-परम धर्म—अहिंसा ( डा० श्रीमानसिंहजी के० एस० )	... ८६९
६-‘करौ भजन-उपाव’ [ कविता ] ( संत श्रीचरनदासजी )	... ८४२	२१-आखिर हम करते क्या हैं ? ( श्रीहरि- किशनदासजी अग्रवाल )	... ८७४
७-पागलकी झोली ( महात्मा श्रीश्री- सीतारामदास औरकारनाथजी महाराज )	... ८४३	२२-वह अनोखा दाता है ( श्रीराधेश्यामजी बंका, एम० ए० )	... ८७६
८-आश्रयके दस सोपान [ कविता ] ( श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी )	... ८४५	२३-स्वर्ण-क्षुधा [ ऐतिहासिक कहानी ] ( श्रीरामजी खरे ‘कुमुद’ )	... ८७७
९-गीताका भक्तियोग ( पूज्य स्वामी श्रीराम- मुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या )	... ८४६	२४-दुःखमें सुख ( श्रीरामेश्वरजी टाँटिया )	... ८७८
१०-राधा-नामकी महिमा [ कविता ] ( श्रीहठीजी )	... ८५१	२५-‘कल्याण’ का आगामी विशेषाङ्क— ‘श्रीरामाङ्क’ [ सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे सादर प्रार्थना ]	... ८८०
११-आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ	... ८५२	२६-‘कल्याण’ के आगामी अर्थात् जनवरी १९७२ के विशेषाङ्क—‘श्रीरामाङ्क’की प्रस्तावित संक्षिप्त विषय-सूची	... ८८१
१२-एकान्तका यथार्थ-दर्शन ( साधुवेषमें एक पथिक )	... ८५४	२७-परमार्थ-पत्रावली ( ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुसने पत्र )	... ८८३
१३-पशुबलि तथा नरबलि देवपूजा नहीं, सर्वोपरि पाप है ( पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा )	... ८५६	२८-सत्सङ्ग-वाटिकाके बिल्वे सुमन ( नित्य- लीलालीन श्रीभाईजीके पुराने सत्सङ्गसे चयन किये हुए )	... ८८५
१४-वृन्दावन-वासके लिये प्रेरणा [ कविता ] ( संत श्रीव्यासदासजी )	... ८५७	२९-पढ़ो, समझो और करो	... ८८८
१५-सुखी दम्पति [ कहानी ] ( डा० श्रीराम- चरणजी महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच्० डी० )	... ८५८		

## चित्र-सूची

१-प्राणिवत्सल श्रीगोपाल	( रेखाचित्र )	... मुख पृष्ठ
२-वृन्दावनेश्वर एवं वृन्दावनेश्वरी	( तिरंगा )	... ८३३

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.०० { जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ } साधारण प्रति भारतमें ६०  
विदेशमें १६.०० ( १८ शिलिंग ) { विदेशमें ६० १.०० ( १५ पैसे ) }

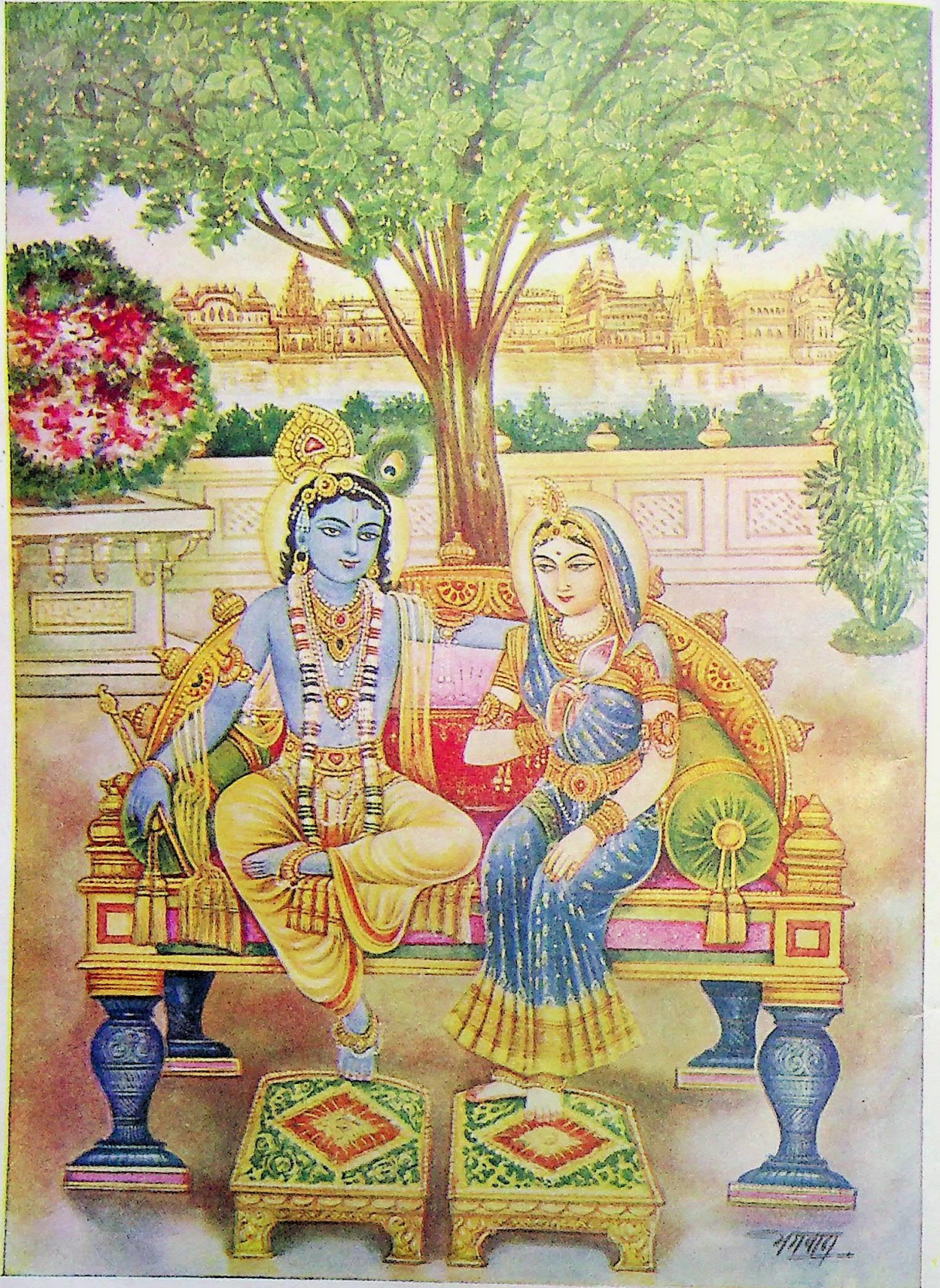
नादि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, सौराष्ट्रपुर



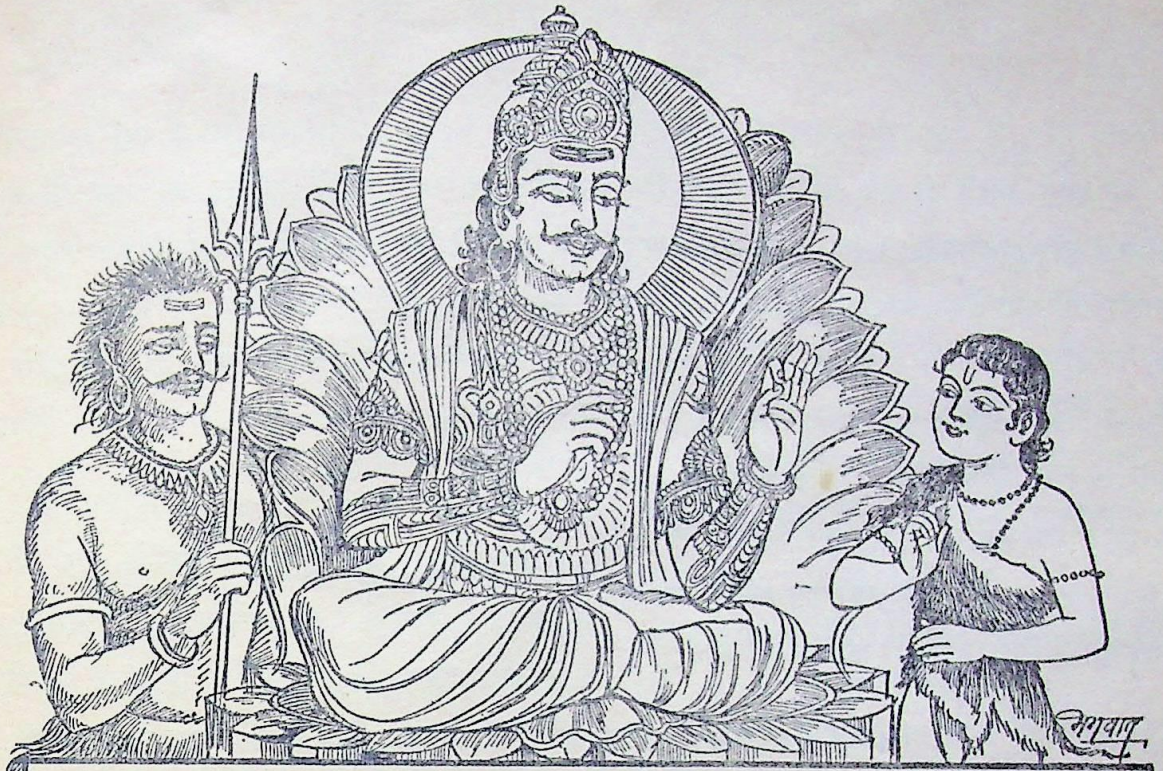








❁ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



# कल्याण

अथबोध्वं हरिभाषे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संसारं प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

( अग्निपुराण )

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर वैशाख, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, अप्रैल १९७१

{ संख्या ४  
पूर्ण संख्या ५३३

## ‘नैक बिलोकि री इक बार’

नैक बिलोकि री इक बार ।

जो तूँ प्रीति करन की गाहक मोहन हैं रिझवार ॥  
महारूप की रासि नागरी, नागर नंदकुमार ।  
हाव-भाव-लीला ललचौहीं लालन नवल बिहार ॥  
मोहि भरोसौ ब्यामसुँदर कौ करि राख्यौ निरधार ।  
नैक एक पल जो अभिलाषैं रूपरसिक बलिहार ॥  
— श्रीरूपरसिकदेवजी



## कल्याण

शरणागत भक्तमें दो बातें अपने-आप आती हैं— निर्भयता और निश्चिन्तता । हम किसी सर्वसमर्थके शरणागत हो गये और उसने हमें अपना लिया, इसके बाद भी यदि हम चिन्ता करते हैं, भय करते हैं तो शरण्यकी शक्तिमत्तामें हमारा विश्वास नहीं है । हमारे मनमें यह संदेह बना रहता है कि कदाचित् वे हमारा भय दूर न कर सकें, वे हमारी चिन्ताके कारणोंको मिटा न सकें । अतएव भगवान्‌के शरणागत होनेके साथ हमें निर्भय एवं निश्चिन्त होना ही चाहिये ।

शरणागतिमें प्रथम वस्तु है—विश्वास । बिना विश्वास शरणागति हो ही नहीं सकती । विश्वास होनेपर शरणागत भक्तमें चार चीजें अनिवार्यरूपसे आती हैं । पहली बात—वह भगवान्‌के अनुकूल आचरण करता है । शरणागत भक्तके मनमें आता है कि 'जो भगवान् इतने बड़े, इतने ऊँचे, इतने महान् हैं, उन्होंने मुझ-जैसे तुच्छ, नगण्य, पामर, नीचको अपनाया है—यह उनकी कितनी उदारता है । ऐसे उदारके प्रति मेरा कर्तव्य होता है कि मैं उनके अनुकूल आचरण करूँ ।' दूसरे—भगवत्स्मृति उसका स्वभाव बन जाता है । उसके मनमें आता है—'जब भगवान्‌ने कृपा करके सारी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली, तब उन्हें भूलकर किसका स्मरण करूँ ?' तीसरे—वह भगवान्‌से कुछ माँगता नहीं । उसके मनमें आता है कि 'जब भगवान् स्वयं सब कुछ करनेको तैयार हैं और जहाँतक मेरी तुच्छ बुद्धि जाती है, उससे भी परे वे कर रहे हैं, तब उनसे क्या माँगा

जाय ? वास्तवमें उनसे माँगना अपने-आपको ठगाना है ।' चौथे—वह सदा निर्भय एवं निश्चिन्त रहता है । सारी चिन्ता, सारी सँभाल जब भगवान्‌ने अपने ऊपर ले ली, तब वह क्यों चिन्तित हो तथा क्यों भय करे ?

कोई कह सकता है—'माना भगवान् शरणागत भक्तकी सँभाल करते हैं; पर वे किसीके द्वारा ही तैयार करवाते हैं, स्वयं थोड़े ही करने आते हैं ?' ऐसा मानना वास्तविक शरणागति नहीं है । शरणागत भक्तका तब यह दृढ़ विश्वास होता है कि स्वयं भगवान् सब काम करते हैं । पुराण, महाभारत आदिमें अनेकों कथाएँ उपलब्ध होती हैं, जहाँ भगवान्‌ने स्वयं प्रकट होकर सब काम किये हैं । जो भगवान् उस समय अपने भक्तोंके काम करते थे, क्या वे भगवान् आज नहीं हैं ? उनके कुछ परिवर्तन आ गया है ? नहीं, कदापि नहीं । भगवान् हैं, उनकी भक्तवत्सलतामें किसी प्रकारकी कमी आयी है और न उनकी शक्ति ही सीमित हुई है । कभी हमारा विश्वासमें है । जहाँ हमारा विश्वास सच्चा हुआ कि भगवान् आज भी प्रकट होकर हमारी सारी सँभाल करते हुए दिखायी देंगे । वस्तुतः शरणागतिकी मूल भित्ति विश्वास है । हम भगवान्‌के शरणागत हुए कि नहीं, इसकी जाँचके लिये उपर्युक्त चार कसौटियाँ हैं । अपने जीवनको इन चार कसौटियोंपर हम परख जायँ और भगवान्‌के शरणागत होकर जीवनको सुख बनायें ।



# ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोंयन्दकाके अमृतोपदेश

[ पुराने सत्सङ्गसे ]

अपना जो कुछ है, उसे मन-ही-मन 'परार्थ' कर दें ।

सब कुछ भगवान्‌के अर्पण कर दे और प्रत्येक कार्य भगवान्‌को पूछकर करे । भगवान् सबके हृदयमें नित्य विराजित हैं—'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' (गीता १५ । १५) । अपनेको भगवान्‌का प्रतिनिधि मानकर अपने हृदयमें स्थित भगवान्‌से पूछ-पूछकर सब काम करे । भाव सच्चा होनेसे हृदयमें जो प्रेरणा होगी, वह भगवत्प्रेरणा ही होगी ।

व्यवहारमें लोभ, विषमता, झूठ एवं कपट—इन चारका त्याग कर दे तो वह व्यवहार ही मुक्तिको देनेवाला हो जाता है । एक लोभका ही त्याग कर दे तो सब सुधार हो जाय । अपनी नौकरीसे या मकान-भाड़ेसे या थोड़ी-बहुत पूँजी हो तो उसके व्याजसे ही आजीविका चल सकती है ।

लोकसेवाके लिये व्यापार करे । अपना मूलधन बना रहे, बाकी उन रुपयोंके हेर-फेरसे लोगोंकी जो सेवा हो, करनी चाहिये । अपने मूलधनकी रक्षा करते हुए कम-से-कम नफेमें माछ बेधे । बराबर यह विवेक बना रहे कि रुपया भगवान्‌का, काम भगवान्‌का और हम भगवान्‌के । 'धर्मार्थ' किये हुए पैसोंकी भाँति अपनी पूँजीको समझे । जिस प्रकार धर्मार्थ की हुई पूँजीको काममें लेनेमें ग्लानि होती है, वैसे ही अपनी पूँजीको अपने लिये खर्च करनेमें ग्लानि हो, अर्थात् अनिवार्य आवश्यकताभरके लिये उसका उपयोग अपने लिये हो । इससे व्यवहारमें कष्ट होगा, पर इस साधनसे बुद्धि निश्चित है । निर्धन-से-निर्धन व्यक्ति इस साधनको कर सकता है । जिसके पास जो पूँजी हो—चाहे वह एक पैसा हो, चाहे वह दस करोड़ रुपये, उसको 'धर्मार्थ' की पूँजीकी भाँति मानकर अपने लिये उसका

उपयोग करे । अपना जो कुछ हो, उसे मन-ही-मन 'परार्थ' कर दे ।

संसारकी सेवा दानसे नहीं, क्रय-विक्रयरूप व्यवहारसे करे; अर्थात् क्रय-विक्रयमें पूर्ण सच्चाई बरतते हुए कम-से-कम लाभकी ओर दृष्टि रखे । यह बड़े त्यागका काम है । अपना घर छोड़नेसे भी सैकड़ोंगुना इसमें त्याग है । क्रय-विक्रयकी सब शंकाएँ करते हुए उसमें कम-से-कम लाभ लेकर अपना काम चलाना बड़ा ही कठिन है ।

भगवान्‌ने हमें विवेक दिया है, हमें उसका उपयोग करना चाहिये ।

हमने मनुष्योनिमें जन्म लिया है, अतएव मनुष्योचित ही हमारा प्रयत्न होना चाहिये । पर हम अपने प्रयत्नकी ओर देखें तो गड़बड़ी माझम होती है । मनुष्यका क्या कर्तव्य है, यह भगवान्‌ने श्रीरामचरितमानसमें बतलाया है—'नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो—यह मनुष्यका शरीर भवसागरसे तारनेके लिये जहाज है' । अर्थात् मानव-जीवन भगवत्प्राप्तिके लिये प्राप्त हुआ है, विषयभोगोंके सेवनके लिये नहीं । गीतामें भगवान्‌ने बतलाया है कि 'मानव-शरीरको पाकर भगवत्प्राप्तिरूप अपने लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये क्या करना चाहिये, क्या नहीं, इसके लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं'—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

(गीता १६ । १४)

अतएव भगवान्‌की आज्ञा मानकर हमें शास्त्रके आदेशानुसार जीवन व्यतीत करना चाहिये । कोई यदि कहे कि 'शास्त्र समझमें नहीं आता' तो इसका उत्तर यह है कि 'जहाँ शास्त्र समझमें न आये, वहाँ शास्त्रके ज्ञाता, शास्त्रके अनुसार आचरण करनेवाले



पुरुषको खोजना चाहिये ।' यदि संयोगवश इस प्रकारके व्यक्ति न मिलें तो भगवान् ने हमें विवेक दिया है, हमें उसका उपयोग करना चाहिये । हमें निरपेक्ष बुद्धिसे विचार करना चाहिये कि कौन कर्म हमारे लिये कर्तव्य है, कौन अकर्तव्य है । यदि हम ऐसा करेंगे तो हमें सही कर्तव्यका बोध अवश्य हो जायगा । उदाहरणके लिये लोकप्रसिद्ध है—'सत्य बोलना धर्म है'; पर दूसरा कहता है कि 'सत्य बोलनेसे हानि है' । यदि हम निरपेक्ष होकर अपनी बुद्धिसे विचार करें कि 'सत्य बोलना उत्तम है या झूठ बोलना?' तो हमें यही निर्णय मिलेगा कि 'सत्य बोलना उत्तम है' । इसी प्रकार यदि हम बुद्धिसे निर्णय चाहें कि—'व्यभिचार अच्छा है कि संयम?', 'चोरी अच्छी है या अपने हककी कमाई?', 'हिंसा अच्छी है कि दया?' तो हमें अपनी बुद्धिसे यह स्पष्ट उत्तर मिलेगा—'संयम', 'हककी कमाई खाना' तथा 'दया' भेष्ट हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी आत्मा, हमारा विवेक हमें अपने कर्तव्यका ज्ञान करानेको प्रस्तुत हैं । कभी इस बातकी है कि हम निरपेक्षभावसे इनसे निर्णय चाहते नहीं और जो निर्णय ये देते हैं, उसका पाठन नहीं करते ।

**लोकसेवाके साथ भजन आवश्यक है ।**

चित्त भजनसे हटे ही नहीं, ऐसी वृत्ति हो जाय तो कोई हर्ज नहीं; किंतु दुःख समझकर या झंझट मानकर जो लोग सेवाके काम या कर्तव्य-कर्मको भजनका बहाना लेकर छोड़ देते हैं, वे आगे चळकर प्रमादी हो जाते हैं । जो थोड़ी देर भजन करके बाकी समयमें लोकसेवाका काम करते हैं, उनके द्वारा की हुई सेवा बहुमूल्य हुआ करती है; क्योंकि बिना भजनके केवल लोकसेवा करनेवालेके भाव उच्च नहीं रह सकते । इसलिये कुछ देर भजन करना बहुत ही आवश्यक है ।

ईश्वर-सेवा समझकर भजन करते हुए जो लोकसेवा की जाती है, वह तो ईश्वर-सेवा ही है । ऐसा भाव न

हो पाये तो कर्तव्यकर्म समझकर भगवत्प्रीत्यर्थ यदि सेवा हो तो वह भी उत्तम है; किंतु जहाँ भजनविहीन केवल दयावश लोकसेवा की जाती है, वहाँ यह भाव आ जाना स्वाभाविक है कि 'मैं इन लोगोंपर उपकार करता हूँ, इनपर एहसान करता हूँ ।'

भजन एवं सेवाके सम्बन्धमें ये चार बातें ध्यानमें रखनी चाहिये—

( १ ) सर्वोत्तम बात यह है कि भगवान् का भजन स्वाभाविक हो, निरन्तर हो; भजनको छोड़कर किसी काममें प्रवृत्ति हो ही नहीं ।

( २ ) उससे जरा-सी नीची कोटि यह है कि भजन करता हुआ ही लोकसेवाके कार्य निष्कामभावसे करे ।

( ३ ) उससे भी नीची कोटि यह है कि कुछ देर भजन करे और कुछ देर लोकसेवाका काम करे ।

( ४ ) केवल लोकसेवाके कार्यमें ही लगा रहे । परंतु बिना भजनके केवल लोकसेवा करनेपर आगे चळकर भावपरिवर्तन होनेसे पतन होना सहज है ।

इन चारोंमें प्रधान भगवद्भजन है । यदि भजन नहीं होगा तो जीवन ही व्यर्थ है, उसमें अच्छे भाव ठहर नहीं सकते ।

**कर्मोंका ऐसा बोझ कभी अपने ऊपर न लें कि भजन करनेका समय ही न मिले ।**

एक व्यक्ति केवल भजन करता है, दूसरा केवल लोकसेवा करता है और तीसरा कुछ देर भजन करके अधिक समय लोकसेवाका कार्य करता है । इन तीनोंमें उत्तम केवल भजन करनेवाला है; क्योंकि वह सुरक्षित है, उसके पतनका डर नहीं है । केवल भजन ही एक ऐसी क्रिया है कि भजन करते हुए यदि मनुष्यकी धृष्टि भी हो जाय तो डर नहीं है । जहाँ भजनमें गौणबुद्धि है और कर्ममें मुख्यबुद्धि, वहाँ कर्ममें आसक्ति होनेपर भजनके झूट जाने और मनुष्यके गिरनेकी आशङ्का है; किंतु भजनमें यह बात नहीं है । कर्ममें अधिक समय लगानेसे गिरनेकी सम्भावना



प्यादा है। भजन करनेवालेके गिरनेकी सम्भावना नहीं है। जो भजन करनेवाले व्यक्ति गिरते देखे जाते हैं, वे वास्तवमें भजन करते ही नहीं; उनका ऊपरी—देखावटी भाव भजन करनेका होता है। यदि वास्तवमें भजन किया जाय तो भजन ही एक ऐसी वस्तु है कि वह सब कुछ कर सकेगा। वास्तवमें मानवके लिये भजनके सिवा कुछ अन्य काम करनेकी आवश्यकता नहीं है। जिनका भजनमें मन न लगे, वे दिनभर भगवत्सेवाकी भावनासे अष्टयाम पूजामें ही लगे रहें। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजद्वारा प्रतिपादित भगवान्की अष्टयाम-सेवाकी विधि बहुत ही सुन्दर है। जिनसे अनन्तर भजन न हो सके, उनको उचित है कि भजन-के साथ-साथ इस प्रकार समय-विभाग कर लें। गृहस्थके

लिये छः घंटा भजन, छः घंटा आजीविकाके कर्म, छः घंटा निद्रा एवं छः घंटा स्वास्थ्य-सम्बन्धी तथा लोक-सम्बन्धी कर्म करनेका विधान है। भजन करते समय यदि कोई लौकिक हानि हो जाय तो चिन्ता न करे; पर यदि चिन्ता होती हो तो भजनके बीचमें उठकर उस लौकिक हानिको न होने दे। हम जिस वर्ण एवं आश्रममें हैं, उसके कर्तव्यकर्म करनेके लिये हम बाध्य हैं; किंतु भगवत्प्रीत्यर्थ भगवत्-आज्ञा समझकर उन कर्तव्यकर्मोंको करें। कर्मोंका ऐसा बोझ कभी अपने ऊपर न लें कि भजन करनेका समय ही न मिले। अतएव अपने नित्यप्रतिके समयका ऊपर लिखे अनुसार विभाग कर लें, जिससे भजनके साथ-साथ कर्तव्यकर्म एवं सेवाकार्य भी होते रहें।

## भगवान्की महिमा

घर बन माहीं सुख नहीं, सुख है साईं पास ।  
 'दादू' ता खँ मन मिह्या, इन खँ भया उदास ॥  
 सोह हमारा साँझाँ, जे सब का पूरणहार ।  
 'दादू' जीवन-मरण का, जाके हाथ बिचार ॥  
 'दादू' जिन पहुँचाया प्राण कुँ, उद्दर उर्धसुख पीर ।  
 जठर-अगनि में राखिया, कोमल काया सरीर ॥  
 धनि-धनि साहिब ! तू बड़ा, कोन अनूपम रीति ।  
 सकल लोक सिर साइयाँ, है करि रखा अतीत ॥  
 'दादू' हूँ बलिहारी सुरत की, सब की करे सँभाल ।  
 कीड़ी-कुंजर पलक में करता है प्रतिपाल ॥  
 मीरा मुग़ खँ मिहिर करि, सिर पर पीया हाथ ।  
 'दादू' कलिभुग पया करे, जाई मेरा साथ ॥  
 एक लख बंदा जाणि बर, सुरज कोटि मिखाह ।  
 'दादू' गुरु मोर्विष विन तो भी तिमिर न जाह ॥

—संत दादूदासजी



## परमार्थकी पगडंडियाँ

( नित्यलीलालीन परम भ्रूयेय भीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )

नित्य-निरन्तर प्रभुकी मधुरातिमधुर स्मृति बनी रहनी चाहिये तथा उनकी प्रत्येक इच्छा पूर्तिमें अत्यन्त सुखका अनुभव करना चाहिये । अपना सब कुछ उनके अर्पण करके निश्चिन्त जाना चाहिये । अर्पण करनेका अभिमान भी न रहे । 'वे नित्य स्वामी हैं, मैं उनका हूँ'—यही रहना चाहिये । घरके सारे काम तथा घरवालोंकी निर्दोष आवाका पालन भी प्रभु-प्रीत्यर्थ चाहिये । अपने आत्माका सम्बन्ध प्रभुसे ही रहे । जगत्की कोई भी परिस्थिति हमारे जीवनपर प्रभाव न डाल सके । एक प्रभुकी विस्मृतिके सिवा अन्य किसी भी अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति हमारे मनमें शोभ न हो । प्रभुकी मधुर स्मृतिमें मग्न सदा-सर्वदा परमानन्दका अनुभव कर रहे । जगत्का कोई भी मानापमान, कोई भी लाभ-हानि, किसी प्रकार भी हमारे परमानन्दको क्षणालिये भी हटा या घटा न सके । सदा हृदय आनन्द-सुधा-तरंगोंसे लहराता रहे और उसके धितु बिखर-बिखरकर जगत्के अज्ञान्त तथा प्रज्वलनशील हृदयोंको सुख-सिन्धु-सुधाका स्वाद-संकेत देते ।

जो भगवान्का हो गया, उसके पीछे न तो राग-द्वेषरूपी चोर रहते हैं, न घर ही जेल रहता है और न मोड़की बेड़ियाँ ही पड़ी रहती हैं । फिर तो वह राग-द्वेषसे रहित होकर वर भगवान्के सन्निधमें रहता है और अपने प्रेमकी रज्जुसे भगवान्को बाँधे रखता है । इसी सार्धात्मना उनका होकर अपनेको उनकी मर्जीपर बिना किसी शर्तके छोड़ देना चाहिये और पद-तथा पल-पलमें उनके परमप्रेम-सुधाका आस्वादन करते हुए सदा परम प्रसन्न, परम प्रफुल्लित, परम उदालसमय रहना चाहिये । जगत्की कोई भी स्थिति, कोई भी प्राणी, कोई भी वस्तु हमारे परमानन्दको कभी भी जरा भी घटा न सके । हमारा आनन्द तो उत्तरोत्तर बढ़ता रहे । प्रेम प्रति बढ़नेवाला होता है । इससे आनन्द भी स्वाभाविक बढ़ेगा ही ।

तुम इतने उदास क्यों रहते हो ? भगवान्को नित्य अपने पास क्यों नहीं समझते ? वे सर्वदा तुम्हारे पास ही हैं, एक क्षणके लिये भी अलग नहीं होते—इस बातपर विश्वास करो । अनुभव भी करने लगोगे । शरीरपर घरवालोंका अधिकार है । वे उसे जहाँ रखना चाहें, वहाँ छोड़ पूर्वक रहने दो । मन तो भगवान्का है । उसमें निरन्तर भगवान्को बसाये रखो । उनकी स्मृतिके, उनकी मधुर मनोहर झाँकीसे हृदयको सदा भरा रखो । तुम्हारे इस हृदयके धनको छीन नहीं सकता । चाणीसे सदा भगवान्के नामको मन-ही-मन गुनगुनाते रहो । इस, सब ठीक तुम्हारे धर्ममें वह निश्चय क्यों नहीं होता कि भीभगवान्की तुमपर जगत् कृपा है और वे सर्वदा तुम्हारे पास ही रहते हैं ?

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ( गीता ६ । ३० )

बस, निरन्तर उन्हें देख-देखकर आनन्दमुग्ध रहा करो । ऐसा समझो, तुम्हारे लिये कोई दुःख-विषाद बना ही नहीं है । सचमुच भगवान्की कृपापर और उनके मङ्गल-विधानपर विश्वास



करनेवालेके लिये यह सब है ही नहीं । नित्य प्रसन्न रहा करो । उनका होकर फिर व्यसक्तता—  
पराधीन कैसी ? वहाँ तो नित्य आनन्द है, नित्य उत्सव है, नित्य उल्लास है, नित्य खिलास है,  
नित्य सौख्य है । समुद्र लहरा रहा है आनन्द-प्रेम-सुधाका; उसमें डूबे रहो और मस्त रहो ।  
भगवान् ने कहा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।

धर्मयः सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

(वाल्मीकिरामा० लंका० १८।३३)

“जो एक बार भी शरण होकर कह देता है—‘प्रभो ! मैं तेरा हूँ,’ उसको सबसे निर्भय कर देता  
हूँ—यह मेरा व्रत है ।” ये हमारे, हम उनके—फिर रोनेकी बात ही कहाँ है । ‘तुम उनके हो,  
वे तुम्हारे हैं’—यह विश्वास करो और उनका परम मधुर स्मरण करते हुए आनन्द-निमग्न बने रहो ।

शान्ति बाहर कहाँ है; शान्ति तुम्हारे अंदर है, सदा है । बस, यह विश्वास कर लो कि  
‘भगवान् मेरे सुहृद् हैं’, शान्ति मिल जायगी । तुम बाहरके हल्ले-गुल्लेसे अशान्त क्यों होते हो ?  
तुम अपने भगवान् की स्मृतिमें निरन्तर डूबे रहो । भवरोग फिर तुम्हारे पास कहाँसे रहेगा ?  
भवसागरमें तो वही डूबा रहता है, जो भगवान् की स्मृतिके पवित्र मधुर सागरमें नहीं डूब जाता ।  
तुम अभी पूरे नहीं डूब पाये हो तो भगवान् की कृपापर, उनके सौहार्दपर विश्वास करके प्रार्थना  
करो । उनकी कृपा तुम्हें उनकी मधुर स्मृतिमें तल्लीन कर देगी । तुम उनपर विश्वास करो—  
जयर्दस्ती करो । तुम पराधीन हो, सो ठीक है; हमें सदा ही भगवान् के पराधीन रहना चाहिये । इसकी  
चिन्ता क्यों करनी चाहिये ।

भगवान् की तुमपर बड़ी कृपा है तथा उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है—असम्भव भी सम्भव  
हो सकता है । तुम उस महती कृपापर विश्वास कर लो, तुम सबकुछ प्रसन्न हो जाओगे । तुम  
विश्वास करते भी हो, पर बीच-बीचमें संदेह कर बैठते हो । इस बुविधाको छोड़कर एक निश्चयपर  
अटक हो जाओ । तुमपर भगवान् की इतनी कृपा है कि उसका कहीं अन्त ही नहीं है ।

मैं, तुम-सभी श्रीभगवान् के चरण-प्रान्तमें रहूँ—उन्हींके चरण-तीर्थमें नहाया करूँ, प्रभुके चरण-  
कमल सदा हमारे हृदयमें विराजमान रहें तथा हमारा-अपना उनके चरण-कमलोंको छोड़कर और  
कुछ रहे ही नहीं—इसीके लिये भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये । मेरे हाथमें होता या मेरी कृपासे  
कुछ हो सकता तो फिर वह कृपा किस काम आती; मैं तो उस कृपाको बड़ी उदारताके साथ लुटा  
देता । पर ऐसी बात नहीं । विन्नोंसे क्यों डरना चाहिये, विन्न तो प्रभुके भेजे हुए ही आते हैं ।  
संसारकी तमाम प्रतिकूलताको अपने भगवान् की मर्जी समझकर अनुकूल बना लो, अनुकूलताको मत  
खोजो । सदा, सब अवस्थाओंमें प्रभु-कृपापर विश्वास करके अनुकूलताका अनुभव करो और  
प्रसन्न रहो । विसर्गमें सदा भगवान् का स्मरण करते हुए परम शान्ति और सुखका अनुभव करो ।

नियमका भजन बनता है तो प्रेमका भी बनना सम्भव है । ताप तथा व्याकुलता उत्पन्न  
होनेपर तो प्रेमका भजन स्वाभाविक ही बनने लगता है । नियमके भजनसे अन्तःकरण पवित्र होनेपर



भगवान्‌के लिये ताप तथा व्याकुलता पैदा हो जायगी। इसके जल्दी होनेके लिये कातरभावसे भगवान्‌ प्रार्थना करनी चाहिये। चाह उत्पन्न होनेमें भगवान्‌की कृपा बड़ी सहायक होती है। सबसे बड़ी तो है—संसारके भोग-पदार्थोंमें हमारी आसक्ति पनी है; उनमें सुखकी धारणा दृढ़ हो रही है। इसीसे इनके वियोग या वियोगकी आशङ्कामें तो दुःख, ताप, व्याकुलता होती है, पर भगवान्‌के लिये नहीं होती। भगवान्‌के भजन तथा भगवत्‌कृपासे ही यह भोग-सुखकी धारणा नष्ट होगी। भज करते ही रहना चाहिये—चाहे जैसे भी हो। भजनमें सदा असंतोष रहना चाहिये।

सांसारिक विघ्नोंका अवसान न हो, विघ्न-पर-विघ्न आते रहें तो उसमें भी प्रभुकी मङ्गल कृपाके दर्शन करो। यह समझो कि मेरी सारी संसारासक्तिका नाश करनेके लिये ही प्रभुकी मङ्गल कृपा विघ्नमयी भीषण मूर्ति धरकर पधारी है। प्रभु अब मेरी सारी आशा-आसक्ति और काम-वासनाका शीघ्र ही सर्वथा नाश करना चाहते हैं। अतः अब तो और भी जोरसे उनका भजन स्मरण करना है। बस, उनके मङ्गल-विधानमें सर्वथा और सदैव विश्वास करो और उनकी ओर दुई प्रत्येक परिस्थितिसे लाभ उठाओ। यह परम सत्य है कि वे प्रत्येक परिस्थितिको हमारे लाभ के लिये ही भेजते हैं। परिस्थिति वैसे ही अलग-अलग हो सकती है, जैसे निपुण वैद्यका विभिन्न प्रकारके रोगियोंके लिये विभिन्न प्रकारकी चिकित्साका चुनाव और प्रयोग। कहीं मीठी दवा, भरो भोजन और आराम मिलता है तो कहीं कड़वे भोजन, कड़वी दवा; कहीं अङ्गछेदन तो कहीं उपवासकी व्यवस्था की जाती है। पर दोनों ही स्थितियोंमें विधान होता है रोग-नाशके लिये। प्रत्येक प्रकार भगवान्‌के प्रत्येक विधानको मङ्गलमय समझकर सादर ग्रहण करो और हर परिस्थिति कृतज्ञतापूर्वक उनका स्मरण करते रहो।

यह कभी मत समझो कि भगवान्‌के घर, भगवान्‌के हृदयमें हमारे लिये जगह नहीं है। हमको तो वे अपने हृदयमें ही रखते हैं और वे सदा हमारे हृदयमें रहते हैं, पर सब प्रत्यक्ष नहीं होते। इसमें भी उनका कोई मङ्गलमय रहस्य ही है। अतएव सदा, सर्वप्रकार उत्कलित और प्रफुल्लित हृदयसे उनका मङ्गल-स्मरण करते रहो। समर्पण तो वे अपनी जीजका ही करा लेंगे, हमारी ओरसे समर्पणकी तैयारी होनी चाहिये। मनुष्यका कभी भी भरोसा न करना चाहिये। क्षणभङ्गुर प्राणीमें क्या सामर्थ्य है? यह तो सब श्रीभगवान्‌की महिमा है, जो निर्विकार हैं, सत्य हैं, सनातन हैं, अज हैं, अविनाशी हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, परम सुख हैं।

भगवान्‌की कृपापर अटल और अडिग विश्वास बना रहे—ऐसी तुम्हारी चाह बहुत उत्तम है। भगवान्‌ हमारी प्रत्येक चाहको जानते हैं और विश्वास रखो—वे सच्ची चाहको जरूर पूरी भी करते हैं।

भगवान्‌का तो स्वभाव ही दीनहितकारी है। वे सदा ही दीन-हीन-मलिन-पामरजनोंपर सात्वती प्रीति करते आये हैं—

निरद-हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति । ( तुलसी—विनयपत्रिका )

तुम क्यों मानते हो कि तुमपर भगवान्‌की अत्यन्त प्रीति और असीम कृपा नहीं है ?



निश्चय मान लो कि तुमपर भगवान्की अत्यन्त प्रीति और असीम कृपा है। वह कृपा तुम्हें दीखती नहीं, इससे क्या हुआ ? भूख-प्यास आँखोंसे दीखती हैं क्या ? मनके हर्ष-विषाद आँखोंसे दीखते हैं क्या ? तुम गहराईसे विचार करो—यदि तुम्हारे मनमें अडिग और अटल विश्वासकी चाह होती है, तुम निरन्तर उनके स्मरणमें डूबे रहना चाहते हो, तुम सर्वदा प्रभुको अपने हृदयमें बसाना चाहते हो, स्वयं उनके हृदयमें बसना चाहते हो, तुमको उनकी चर्चासे रहित बातें अच्छी नहीं लगती, तुम्हें उनकी मधुर लीला-चर्चा बिना चैन नहीं पड़ता, तुम सदा-सर्वदा उनकी संनिधिमें ही रहना चाहते हो—यह क्या उनकी प्रत्यक्ष महान् कृपा नहीं है ? आजके युगमें ऐसे कितने आदमी हैं, जिनके ऐसे भाव हैं ? अतएव तुम विश्वास करो, फिर अनुभूति भी हो जायगी।

x

x

x

x

कौन विषयी है और कौन साधक है—यह सब मत देखो। दूसरोंके दोष देखनेसे अपनेमें गुणका अभिमान जाग्रत् होता है। भगवान्की ओरसे वृत्ति हटाकर लोगोंके दोष-दर्शनमें लगा देनेसे चित्तमें एक नयी ज्वाला—नयी अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। सब भगवान्के हैं—यही समझो। भगवान्के अनुग्रहका आश्रय रक्खो। उनकी कृपासे सारे विघ्न टल जायँगे, अवश्य ही टल जायँगे। भगवान्का प्रसाद तुमको बड़े-बड़े विघ्नोंके सरदारोंका सिर कुचलकर आगे बढ़ा ले जायगा।

x

x

x

x

भगवान्की कृपापर विश्वास करो—जगत्की प्रतिकूलताको भगवान्की मङ्गलमयी लीला समझो। इस प्रतिकूलताके पर्देकी आड़में वे ही छिपे हैं—यह दृढ़ विश्वास कर लो; फिर प्रतिकूलतामें भी वे दिखायी देंगे। प्रत्यक्ष न सही, निश्चय धारणासे तो दीखेंगे ही। प्रतिकूलतासे दुखी होना तो भगवान्की मङ्गलमयतापर, उनके प्रेमपर, उनके मङ्गलविधानपर विश्वास न होना प्रकट करता है। तुम क्यों इतने अधीर तथा दुखी होते हो ? तुमपर भगवान्की बड़ी कृपा है। वे सदा-सर्वदा तुम्हारे साथ रहते हैं—इसपर विश्वास करो। फिर चाहे वे कहीं रक्खें—दूर रक्खें या पास, वैकुण्ठमें रक्खें या नरकमें। वे साथ रहते हैं, साथ रहेंगे। उनका बिछोह कभी होगा ही नहीं, चाहे वे स्थूल देहधारी न हों और स्थूल पाञ्चभौतिक नश्वर माया-देहधारी वे हैं भी नहीं। तब दुःख किस बातका ? हाँ, भगवान्का विरहताप यदि है, तब तो बहुत ठीक है; पर उससे मुक्त होनेकी इच्छा भी क्यों होनी चाहिये ? यदि वे अपने विरहकी आगमें जलाकर हमें अपने स्मरणका—हृदयके अंदर मधुर स्पर्शसुखका अनुभव कराना चाहते हैं तो बड़े ही आनन्दकी बात है। वे ऐसा ही कराते रहें और प्रसन्न होते रहें।

अपनेको हम भगवान्का मान लें। फिर भगवान् अपनी चीजको चाहे जहाँ जैसे रक्खें, चाहे जैसे बरतें। वे हमें अपनी चीज मानते हैं, इसीसे अपने मनकी करते हैं। यही तो हमारे लिये बड़े गौरव तथा सुखकी बात है कि वे हमें निस्संकोच अपनी वस्तु मानकर बरतते हैं। वे सुखी रहें—यही तो हमारे लिये परम सुख है। हम उनसे उनके सुखके सिवा अपने सुखकी अथवा और कोई कामना ही क्यों करें ?

x

x

x

x



तुमको भगवान् इन आँखोंसे चाहे न दिखायी दें, पर तुम निश्चय समझ लो कि वे तुम्हारे पास सर्वदा रहते हैं। विश्वास करो—वे कभी भी तुमको छोड़कर अलग नहीं हो सकते; पर तुम्हारा पूरा निश्चय न होनेसे तुम उन्हें भूले हुए हो, इसीसे अशान्तिका अनुभव करते हो। हरीकृष्ण अपने गलेमें ही है, वह कपड़ेसे ढका है—इस बातको भूल जानेसे मनुष्य उसको बाहर ढूँढ़ता है और न मिलनेपर दुखी होता है। जब याद आ गया, तब कपड़ा हटाकर देख लिया और हास्यमिल गया। इसी प्रकार भगवान् सर्वदा तुम्हारे पास रहते हैं—हृदयमें विराजित हैं, केवल निर्गुण निराकाररूपमें ही नहीं, तुम्हारे जाने-माने सगुण-साकाररूपमें भी। विश्वास करो कि वे साथ रहते हैं—सदा साथ रहते हैं। इसके बाद निश्चय होगा—रहते ही हैं। फिर उनकी इच्छा होगी, तब वे दीखने लगेंगे। यह उनकी इच्छापर छोड़ दो। वे सदा साथ रहते हैं—यह क्या उनकी कम कृपा है ? उनकी यदि स्वप्नमें भी छाँकी हो जाय तो बड़ा सौभाग्य है, उनकी महती कृपा है।

कदाचित् ऐसी बात न जँचे, यद्यपि यह है तो परम सत्य ही—तो उनके न मिलनेसे उनके वियोगमें, विरहमें जो उनका पल-पलमें स्मरण होता है, वह क्या कम सौभाग्य है ? उसमें क्या उनकी कम कृपा है ?

वे नहीं चाहते तो न मिलें, न दर्शन दें, बड़े-से-बड़ा दुःख दें; पर वह दुःख यदि निरन्तर उनका मधुर स्मरण कराता रहता हो तो क्या यह हमारी चाह नहीं होनी चाहिये कि उनके इस मधुर-मधुर स्मरण-सुखका महान् आनन्द—महान् सौभाग्य प्रतिक्षण मिलता रहे—चाहे वह वियोगजनित दुःखसे ही मिलता हो। वह दुःख वस्तुतः परमानन्दरूप है, जो नित्य-निरन्तर प्राण-प्रियतम प्रभुकी स्मृति कराता रहता है।

### ‘करौ भजन-उपाव’

जग में कहा कियो तुम आय ।  
 खान-जैसो पेट भरि कै, सोयो जन्म गँवाय ॥  
 पहर पछिले नहिं जागो, कियो ना सुभ कर्म ।  
 आन मारग आय लागो, लियो ना गुरुधर्म ॥  
 जप न कीयो, तप न साधो, दियो ना तैं दान ।  
 बहुत उरझे मोह मद में, आप कीया मान ॥  
 देह घर है मौतका रे, आन काहुँ तोहि ।  
 एक छिन नहिं रहन पावै, कहा कैसो होहि ॥  
 रैन-दिन आराम ना, काटै जो तेरी आव ।  
 चरनदास कहैं सुन सहजिया, करौ भजन-उपाव ॥

—संत चरनदासजी



# पागलकी झोली

## [ भगवत्सेवा ]

( लेखक—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज )

ब्रह्मा न जाये कोई भी क्षण,  
जीवनमें प्रभुसेवाहीन ।  
विषयविरत हो रहे सदा मन,  
सेवारहित हो ठडे दीन ॥

प्रियतम भगवान्की सेवाके अतिरिक्त भक्त और कुछ—  
धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नहीं चाहते, केवल सेवा ही उनके  
लिये काम्य है “आऊँगा, जाऊँगा, चरणोंकी सेवा करूँगा”  
बस, इतनेसे ही भक्त कृतार्थ हो जाता है ।

श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं, ‘स्वर्गसुख, सम्पदा, धन-पेश्वर्य  
एवं स्वर्गका राज्य’—ये तो तुच्छ बातें हैं;

सालोक्यसार्धिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।  
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

( श्रीमद्भागवत ३ । २९ । १३ )

‘सालोक्य, सार्धि, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य मुक्तिको  
मेरे दान करनेपर भी भक्तजन ग्रहण नहीं करते ।’

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यवाङ्मित्रतुष्टयम् ।  
गृह्णन्ति सेवया पूर्वाः कृतोऽन्यत्काङ्क्षविह्वलम् ॥

( श्रीमद्भागवत ९ । १ । ३७ )

भक्तकी प्रार्थना तो यही होती है—

ब्रह्मा न जाये कोई भी क्षण, जीवनमें प्रभुसेवाहीन ।  
विषयविरत हो रहे सदा मन, सेवारहित हो ठडे दीन ॥  
गृह-उपदेश, देवगृह-मार्जन, भीषिभूहिर्महामहाराज ।  
तुलसी, चन्दन, कुसुमचयन औ हृदयकमलमें टनका ध्यान ॥  
मन्त्रजाप, रूपाकृति-चिन्तन, मूर्कपाठ, स्तुति, संकीर्तन ।  
वेद-पुराण-शास्त्रका प्रपठन, विधिपूर्वक हो देवार्चन ॥  
पञ्चविधा पूजाका सेवन, वशमें वाक्य, देह और मन ।  
प्रेममूर्तिका प्रेमिल पूजन, दुःख बनेगा जीवनधन ॥  
सेवैव ऊर्ध्वं नयते ।

‘सेवा ही ऊर्ध्वलोकमें ले जाती है ।’ वह सेवा ही अहंता  
समताको नष्ट करके, देहभिमानको विगलित करके आत्म-  
साक्षात्कार कराती है । सेवा ही उस प्रेममय प्रियतमका  
प्रत्यक्ष दर्शन करा देती है, सेवा ही उस सुदयितको चिरप्रेमपाशमें  
बन्दी बनाकर रख छोड़ती है और उसके लिये किसी प्रकारका

साधन-भजन, योग-यज्ञ, तपस्या नहीं करनी होती । केवल सेवा-  
ही-सेवा । स्थूलशरीरमें सेवा । मानसिक सेवा । सेवाकारी सेवक  
जान ही नहीं पाते कि इस संसारपाशसे कब, किस प्रकार वे मुक्त  
हो चुके हैं । काम-क्रोधादिरूप ग्राह-मकरादिसे समाकुल भीम  
भवसागरको कब, किस प्रकार पार कर चुके हैं, यह उनको  
बोध ही नहीं होता ।

‘बहु स्वां प्रजायेयमिति ।’ ( भा० उपा० ४ । २ । ३ )

उपनिषद्में हम देखते हैं—भगवान्की इच्छा हुई,  
अनेक होकर जन्म ग्रहण करूँ और अनेक होकर, तृणमुच्छे-  
लेकर ब्रह्मापर्यन्तके वेधमें सजकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके  
रूपमें हमारे लीलामय ठाकुर लीला करने लगे । भगवान्  
भीत्रह्मासे कहते हैं—

अहमेवासमेदाग्रे नान्यथात् सदसत्परम् ।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत तत्परम् ॥

( श्रीमद्भागवत २ । ९ । ३२ )

‘सृष्टिके पूर्व एकमात्र मैं ही था—सत्, असत् या  
अन्यत् कुछ भी नहीं था । सृष्टिके पश्चात् जो कुछ भी  
स्थूल, सूक्ष्म वस्तुसमूह रहता है, वह सब भी मैं ही हूँ  
एवं सृष्टिके अन्त हो जानेपर एकमात्र परतत्त्व—मैं ही  
अवशिष्ट रहूँगा ।’ या भी मैं, हूँ भी मैं और रहूँगा भी मैं ।

‘नेह नानास्ति किञ्चन ।’ ( ब्रह्मसूत्र ४ । १ । १ )

‘यशं नाना कुछ भी नहीं है ।’

देवा मनुष्याः पक्षवः पक्षिवृक्षसरीसृपाः ।

रूपमेतदनन्तञ्च विष्णोर्भिन्नमिव स्थितम् ॥

( विष्णुपुराण १ । १९ । ४७ )

‘भिन्नके समान स्थित होनेपर भी देवता, मनुष्य, पशु-  
पक्षी, वृक्ष और सर्प—सभी अनन्त विष्णुके रूप हैं, जो  
भिन्न-से होकर स्थित हैं—यह जानकर समस्त स्यावर-जंगम  
जगत्को आत्मतुल्य देखना उचित है; क्योंकि विष्णु ही  
विश्वरूपधारी हैं ।’

यानि मूर्तान्यमूर्तानि यान्यत्रान्यत्र वा ऋचिच ।

सन्ति वै वस्तुजातानि तानि सर्वाणि तद्वपुः ॥

( विष्णुपुराण १ । २२ । ८३ )



‘जिस-किसी स्थानमें मूर्त ( साकार ), अमूर्त ( निराकार )—जो कुल भी वस्तुसमूह है, वह समस्त ही उनका शरीर है ।’

ज्योतीषि विष्णुर्भुवनानि विष्णु-

र्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च ।

नद्यः समुद्राश्च स एव सर्वं

यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्ण ॥

( विष्णुपुराण २ । १२ । ३८ )

‘विष्णु ही चन्द्रमा-सूर्य-नक्षत्रादि समस्त ज्योतिर्मण्डल हैं, विष्णु ही चतुर्दश भुवन, विष्णु ही निखिल अरण्य-पर्वत-समूह, समस्त दिशाएँ, नदीनिचय एवं सकल समुद्र हैं । सब कुछ वे ही हैं । विप्रवर ! भाव-अभाव जितने पदार्थ हैं, सब विष्णु ही हैं ।’

परमार्थं सारभूतं यदद्वैतमशेषतः ।

यही संक्षेपमें तुम्हारे प्रति मेरा उपदेश है । सभी वस्तुओंमें परमात्माका अभेद ज्ञान ही परमार्थ और सारभूत है ।

एकः समस्तं यद्विहासि किञ्चित्

तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत् ।

सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेत-

दात्मस्वरूपं त्वज्ज मेदमोहम् ॥

( विष्णुपुराण २ । १४ । २३ )

‘इस जगत्में जो कुछ है, वह सभी भीभगवान् अच्युत है । उनसे व्यतिरिक्त और कुछ नहीं है । तुम या मैं एवं जो समस्त पदार्थ हैं, वह सारा-का सारा ही आत्मस्वरूप है; अतएव भेद-मोहका त्याग कर दो ।’

ज्ञातमेतन्मया त्वत्तो यथा सर्वमिदं जगत् ।

विष्णुर्विष्णौ विष्णुतश्च न परं विद्यते ततः ॥

( विष्णुपुराण ३ । ३ । १ )

भीमैत्रेयजी कहते हैं—‘यह जगत् विष्णुस्वरूप है, विष्णुमें ही इसकी अवस्थिति है तथा विष्णुसे ही इसकी उत्पत्ति है; उन विष्णुसे व्यतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है, यह बात पहले आपसे मुझे शत हुई है ।’

व्यक्तः स एव साव्यक्तः स एव पुरुषोऽव्ययः ।

परमात्मा च विश्वात्मा विश्वरूपधरो हरिः ॥

( विष्णुपुराण ४ । ४ । ४५ )

‘वे अव्यय महापुरुष ही व्यक्त हैं और वे ही अव्यक्त । एवं वे विश्वात्मा परमेश्वर श्रीहरि ही विश्वरूप विराजमान हैं ।’

श्रीभगवान् श्रीशंकरजीसे कहते हैं—

मत्तोऽविभिन्नमात्मानं द्रष्टुमर्हसि शंकर ॥

योऽहं स त्वं जगच्चेदं सदेवासुरमानुषम् ।

×

×

×

अविद्यामोहितात्मानः पुरुषा भिन्नदर्शिनः ।

( विष्णुपुराण ५ । ३३ । ४७, ४८, ४९ )

‘हे शंकर ! आप अपनेको मुझसे अभिन्न जानें—मैं ही हूँ, आप भी वही हैं । इस देवासुर-मानव-परिपूर्ण जगत् भी मेरे स्वरूपमें अविद्यासे मोहित स्वभाववाले पुरुषगण भेदज्ञान करते रहते हैं ।’

मेरे ठाकुर सबके रूपमें सजकर लीला कर रहे हैं । भक्त इसे क्रमशः समझ पाता है—

वायुमग्निं सलिलं महीं च

ज्योतीषि सत्त्वानि दिव्यो द्रुमादीन् ।

सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं

यत्किञ्च भूतं प्रणमेद्वनन्यः ॥

( भीमद्वागवत ११ । २ । ४१ )

‘आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि, चन्द्रमा-आदि ज्योतिर्मय पदार्थसमूह, अखिल जीव, दसों दिशाएँ वृक्षसमूह, नदीनिचय तथा सागर समुदाय एवं इन व्यतिरिक्त जो कुछ भी है, सबको श्रीहरिका शरीर समझता हुआ अनन्य प्रेमी भक्त प्रणाम करता रहे ।’

भगवत्सेवा और भीभगवान्का नामसंकीर्तन करते भक्त आत्मविस्मृत हो जाते हैं । समस्त पदार्थ भीभगवान् हैं—इसका मनन करते हुए सबको प्रणाम करते रहते हैं । देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, कीट-पतङ्ग—सभी श्रीभगवान्के लीला-विग्रह हैं, परमात्मा लेकर हिमालयपर्यन्त सभी उनके लीला-शरीर हैं—ज्ञान दृढ़ होता जाता है—

यश्चारिभूतो मम सोऽपि विष्णुः ।

दिवं वियन्तः ककुभश्च विष्णु-

र्भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः ॥



न मेऽस्ति बन्धुर्न च मेऽस्ति शत्रु-

न भूतवर्गो न जनो मदन्यः ।

खं चाहमन्यच्च शरीरभेदे

विभिन्नमीशस्य हरेः शरीरम् ॥

(विष्णुमोक्ष)

.....जो मेरे शत्रु हैं, वे भी विष्णु हैं; स्वर्गलोक, आकाश, पृथ्वी, दिशाएँ—सभी विष्णु हैं। स्यावर-जंगमात्मक निखिल भूत-समुदाय विष्णु हैं, चौदहों भुवन विष्णु हैं। मेरा कोई बन्धु नहीं है, मेरा कोई शत्रु भी नहीं है, भूतग्राम भी मेरा नहीं है, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है। तुम या मैं अथवा अन्य कोई—सब श्रीभगवान् परमेश्वरके शरीरभेदसे पृथक् शरीरमात्र हैं ।'

अहं भगवत्स्य मम चासौ सुरेश्वरः ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

नमो भगवते तस्मै येन सर्वमिदं ततम् ।

तमेव च प्रपन्नोऽस्मि मम यो यस्य चाप्यहम् ॥

मैं उन श्रीभगवान्का हूँ, वे सुरेश्वर मेरे हैं, मैं उनके लिये अदृश्य नहीं होता, वे मेरे लिये अदृश्य नहीं होते। जिनके द्वारा यह सम्पूर्ण विश्व समावृत्त है, उन श्रीभगवान्को नमस्कार है। मैं उनका

शरणागत हूँ, वे मेरे हैं और मैं भी उनका ही हूँ ।'

सेवा करते-करते, सब कुछ श्रीभगवान्की देह देखते-देखते भक्तकी जब अपने शरीरपर—जिसको वह अपना शरीर कहता है और मनमें समझता है—दृष्टि पड़ती है, तब वह देह भी तो श्रीभगवान्का ही है; इसको स्नान कराना, भोजन कराना, सुलाना—यह भी तो भगवत्सेवा है, इस प्रकार जानता है। भक्त भोजन करके बोल्ता है—'प्रसाद सेवन किया।' सेवाके अतिरिक्त और कुछ भी उसका नहीं रहता।

समस्त जगत् ही जब श्रीभगवान्का शरीर है, तब यह भी तो उनका ही शरीर है; यह सोचकर भक्त आनन्दसे परिपूर्ण हो उठता है। जिसको इतने दिनोंतक मेरा शरीर कहकर जानता था, वह श्रीभगवान्का है—अहो! क्या ही आनन्द है !! क्या ही आनन्द है !! मैं निश्चिन्त हो गया हूँ; श्रीभगवान्का विग्रह\* ही श्रीभगवान्के समस्त लीला-विग्रहोंकी सेवा कर रहा है, अहो! क्या ही आनन्द है !! एकमात्र वे पुरुषोत्तम श्रीभगवान् ही सेव्य-सेवक, पूज्य-पूजकभावमें लीला कर रहे हैं।

जय श्रीभगवत्सेवाकी जय ।

जय सेवाकी जय ।

जय सेवाकी जय ।

## आश्रयके दस सोपान

जाके दस पैड़ी अति दृढ़ हैं। बिन अधिकार कौन तहाँ चढ़ि है ॥  
पहिले रसिक जनन कौ सेवै। दुजी क्या दृश्य धरि लेवै ॥  
तीजी धर्म सुनिष्ठा गुनि है। चौथी कथा अतुल है सुनि है ॥  
पंचमि पद-पंकज अनुरागै। षष्ठी रूप अधिकता पावै ॥  
सप्तमि प्रेम हिये बिरधावै। अष्टमि रूप ध्यान-गुन गावै ॥  
नौमी दृढ़ता निश्चय गहिवै। दसमी रस की सरिता बहिवै ॥  
या अनुक्रम करि जे अनुसरहीं। शनै-शनै जग ते निरवरहीं ॥  
परमधाम परिकर मधि बसहीं। 'श्रीहरिप्रिया' हित् संग लसहीं ॥

—श्रीहरिव्यास देवाचार्यजी

\* यह बात ज्ञानकी दृष्टिसे अथवा तात्त्विक प्रक्रियाके अनुसार कही गयी है, जहाँ उपासक उपास्यरूप होकर उपासना करता है—'देवो भूत्वा यजेद्देवम्।' भक्तकी दृष्टि दूसरी है। वह अपनेसे भिन्न सम्पूर्ण चराचर जगत्को अपने स्वामी भगवान्का स्वरूप समझता है और अपनेको सबके दासरूपमें देखता है—'सो अनन्य जाके अस्ति मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामी भगवंत ॥'—सम्पादक



## गीताका भक्तियोग

( पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या )

अभ्यन्ध

भगवान्ने चौथे अध्यायके ३३वें, ३४वें और ३८वें श्लोकोंमें ज्ञानप्राप्तिके लिये प्रेरणा एवं ज्ञानकी महिमा, पाँचवें अध्यायके १७वेंसे २६वें श्लोकोंतक निर्गुण-निराकारकी उपासना, छठे अध्यायके २४वेंसे २९वें श्लोकोंतक परमात्माके अचिन्त्य स्वरूपकी उपासना और आठवें अध्यायके ११वेंसे १३वें श्लोकोंतक अव्यक्त अक्षर उपासनाका महत्त्व बतलाया । छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें अनन्य भक्तिका उद्देश्य रखकर चलनेवाले साधक भक्तकी महिमा बतलायी और सातवें अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक जगह-जगह 'अहम्' और 'माम्' पद देकर विशेषरूपसे सगुण-साकार एवं सगुण-निराकारकी उपासनाकी विशेषता दिखलायी और अन्तमें ग्यारहवें अध्यायके ५४वें और ५५वें श्लोकोंमें अनन्य भक्तिकी महिमा एवं फल-सहित अनन्य भक्तिके स्वरूपका वर्णन हुआ । इसपर अर्जुनके मनमें यह जिज्ञासा हुई कि निर्गुण-निराकार भक्तकी और सगुण भगवान्की उपासना करनेवाले आरम्भसे लेकर अन्ततकके सभी समकक्ष साधकोंमें कौन-से साधक श्रेष्ठ हैं । उसी जिज्ञासाको लेकर अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं—

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।  
ये चाप्यक्षरमन्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

भावार्थ

इस श्लोकमें अर्जुनका साकार-निराकारके उपासकों-के तारतम्यके बारेमें प्रश्न है । एक ओर ( भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर ) भगवान्के सगुणरूपकी उपासना करने-वाले प्रारम्भिक साधनासे लेकर भगवत्प्राप्तिके अत्यन्त समीप पहुँचे हुए सभी साधक हैं और दूसरी ओर उन्हें

समकक्ष ( उसी मात्राके विवेक, वैराग्य, इन्द्रियसंयम साधन-सम्पत्तिवाले ) केवल अविनाशी निराकार ब्रह्म ही श्रेष्ठ भावसे उपासना करनेवाले हैं । इन दोनों प्रकारके उपासकोंमें भगवान्को कौन-से विशेष प्रिय हैं और कौन-सी उपासना सुगमतासे शीघ्र भगवत्प्राप्ति करानेवाले है ?—अर्जुनका यही प्रश्न है ।

टिप्पणी

साकार उपासना करनेवाले इन सभी साधकोंका वर्णन गीताजीके निम्नलिखित संख्यावाले श्लोकोंमें निम्नलिखित पदोंके द्वारा हुआ है—

अध्याय एवं श्लोक-पद

अर्थ

११-५५ मन्द्रक्तः, मत्परमः, मत्कर्मकृत् ( जो मेरा प्रेम मेरे परायण और मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मोंको करनेवाला है ) ।

५-३७ मन्त्रेनान्तरात्मना ब्रह्मावान् भजते ( मुझमें लगे हुए मन-बुद्धिवाला, ब्रह्मायुक्त जो भावक जो निरन्तर भजता है ) ।

७-१ मध्यासक्तमनाः भदाश्रयः योगं युञ्जन् ( मुझमें अनन्ययोगसे आशक्त हुए मनवाला मेरे परायण रहकर मेरे चिन्तनरूपी योगमें लगा हुआ ) ।

७-२१, २७ युक्तचेतसः मामाश्रित्य यतन्ति ( युक्तचित्तवाले प्रभु मेरे धारण होकर साधन करते हैं ) ।

८-७ मय्यर्पितमनोबुद्धिः ( मेरे प्रति अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला ) ।

८-१४ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ( मुझमें अनन्य चित्तसे स्थित हुआ जो सदा ही निरन्तर मेरा स्मरण करता है ) ।

११-१४ सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ( दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं ) ।



१-२२ अनन्याश्चित्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते (अनन्य भावसे मुझमें स्थित हुए जो भक्तजन मुझ परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते हैं) ।

१-३० भजते मामनन्यभाक् (अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझे (निरन्तर) भजता है) ।

१०-९ मच्चित्ता मदतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् (निरन्तर मुझमें मन लगाये रखनेवाले, मेरे प्रति ही प्राणोंका अर्पण करनेवाले (भक्तजन) आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए) ।

१२-२ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते (मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्तजन मुझे भजते हैं) ।

१२-६ अनन्येनैव योगेन मत्पराः उपासते (अनन्य भक्तियोगके द्वारा ही मेरे परायण हुए भक्तजन निरन्तर मेरी उपासना करते हैं) ।

१२-२० भक्ताः मत्परमाः पर्युपासते (जो भक्त मेरे परायण हुए साधन करते हैं) ।

अन्वय

ये भक्ताः एवम् सततयुक्ताः त्वाम् पर्युपासते ।

च ये अक्षरम् अव्यक्तम् अपि तेनाम् योगवित्तमाः के ॥ १ ॥

ये ( जो )

ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें भगवान्ने 'यः' और 'सः' पद जिस साधकके लिये प्रयोग किये हैं, उसी साधकके लिये दूसरे शब्दोंमें सगुण रूपकी उपासना करनेवाले सभी साधकोंके लिये यहाँ 'ये' पद आया है । इसी अध्यायके २२रे और २०वें श्लोकोंमें भी 'ये' पद ऐसे ही साधकोंके लिये आये हैं ।

भक्ताः ( भगवान्के प्रेमी )

भगवान्के सगुण रूपमें प्रेम रखनेवाले सभी साधकोंका वाचक यह पद है । नवें अध्यायके ३३वें श्लोकमें और इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें भी 'भक्ताः' पद साधक भक्तोंके लिये ही आया है ।

एवम् ( इस प्रकार )

इस प्रकार निरन्तर साधनमें लगे हुए ।

सततयुक्ताः ( निरन्तर आपमें लगे हुए )

भगवान्में अतिशय श्रद्धावाले साधक भक्तका एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति रहनेसे उसकी प्रत्येक क्रियामें (चाहे भगवत्सम्बन्धी जप-ध्यानादि हो, अथवा व्यावहारिक-उदाहरणार्थ शारीरिक और आजीविका-सम्बन्धी) उसका नित्य-निरन्तर सम्बन्ध भगवान्से बना रहता है । भगवान्से इस प्रकार नित्य-निरन्तर जुड़े रहनेका उद्देश्य रखनेवाले साधक भक्तोंका वाचक 'सततयुक्ताः' पद है ।

साधककी एक बड़ी भारी भूल होती है कि वह भगवान्का जप-स्मरण-ध्यानादि करते समय तो अपना सम्बन्ध भगवान्से मानता है और व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय अपना सम्बन्ध संसारसे मानता है । इस भूलका कारण समय-समयपर होनेवाली उसके उद्देश्यकी भिन्नता है । जबतक बुद्धिमें धन-प्राप्ति, मान-प्राप्ति, गृहस्थ-पालनादि भिन्न-भिन्न उद्देश्य बने रहते हैं, तबतक उसका सम्बन्ध निरन्तर भगवान्के साथ नहीं रहता । यदि वह अपने जीवनके एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्तिको भलीभाँति पहचान ले तो उसकी प्रत्येक क्रियाका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही हो जायगा । लोगोंको चाहे ऐसा दीखे कि भगवान्का जप-स्मरण-ध्यानादि करते समय उसका सम्बन्ध भगवान्से है—और व्यावहारिक क्रियाओंको करते समय भगवान्से नहीं है; परंतु एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही लक्ष्य रहनेसे वह नित्य-निरन्तर भगवान्के साथ जुड़ा हुआ है । इसलिये वह 'सततयुक्त' है ।

टिप्पणी

क्रियाके ठीक आरम्भमें और अन्तमें यदि साधकको भगवत्स्मृति है तो क्रिया-कालमें भी निरन्तर भगवत्स्मृति ही माननी चाहिये ।

त्वाम् ( आप सगुणरूप परमेश्वरको )

यहाँ 'त्वाम्' पदसे अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके इसी प्रत्यक्ष स्वरूपको लक्ष्य करके कह रहे हैं, जिसका



ग्यारहवें अध्यायके ५३वें और ५५वें श्लोकोंमें भगवान्-ने 'भाम्' पदसे कहा है। फिर भी इस पदसे उन सभी साकार रूपोंको ग्रहण कर लेना चाहिये, जो भगवान्-ने भिन्न-भिन्न अवतारोंमें धारण किये हैं। दिव्यधाममें भी भगवान्-का सगुण रूप विराजमान है—जिसे अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार लोग अनेकों रूपों और नामोंसे युक्त कहते हैं।

**पर्युपासते ( अतिश्रेष्ठभावसे भजते हैं )**

'पर्युपासते' पद अतिश्रेष्ठभावसे उपासना करनेवाले साधकोंके सम्बन्धमें कहा गया है। यही पद नवें अध्यायके २२वें श्लोकमें और इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें सगुण-साकार उपासनाके सम्बन्धमें आया है। इसी अध्यायके २२ श्लोकमें 'परया श्रद्धया उपासते' ( श्रेष्ठ श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं ) पदोंसे साकार उपासकोंकी ही बात भगवान्-ने कही है। इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें यही पद निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये आया है और पहले श्लोकके उत्तरार्द्धमें निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये अध्याहार किया गया है। चौथे अध्यायके २५वें श्लोकमें देवताओं-के उपासकोंके लिये इसी पदका प्रयोग किया गया है।

**च ( और )**

**ये ( जो )**

—निर्गुण-निराकारकी ही उपासना करनेवाले साधकोंका वाचक है। अर्जुनने श्लोकके पूर्वार्द्धमें जिस कोटिके सगुण-साकार-उपासकोंके लिये 'ये' पदका प्रयोग किया है, उसी कोटिके निर्गुण-निराकारके उपासकोंके लिये यहाँ 'ये' पदका प्रयोग किया गया प्रतीत होता है। इसी अध्यायके ३२ और ४४ श्लोकोंमें 'ये' और 'ते' पद एवं ५वें श्लोकमें 'तेषाम्' पद निर्गुण-निराकारके साधकोंके लिये आये हैं।

**अक्षरम् ( अविनाशी )**

'अक्षरम्' पद अविनाशी सच्चिदानन्दधन परब्रह्मका

वाचक है। इसकी विस्तृत व्याख्या इसी अध्यायके श्लोकमें की जायगी।

**अव्यक्तम् ( निराकार )**

जो किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं। यहाँ 'अव्यक्तम्' पदके साथ 'अक्षरम्' विशेष होनेसे यह निर्गुण-निराकार ब्रह्मका वाचक है। इस विस्तृत व्याख्या इसी अध्यायके ३२ श्लोकमें की जायगी।

**अपि ( ही )**

'अपि' पदसे यहाँ ऐसा भाव प्रतीत होता है। यहाँपर साकार-उपासकोंकी तुलना उन्हीं निराकार उपासकोंसे है, जो केवल निराकार ब्रह्मको श्रेष्ठ मानते और भजते हैं, न कि सगुण-साकारमें श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले निराकार-उपासकोंसे।

**[ पर्युपासते ] ( उपासना करते हैं ) अध्याहार तेषाम् ( उन दोनोंमें )**

'तेषाम्' पद यहाँ सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके उपासकोंके लिये आया है। इसी अध्यायके ५वें श्लोकमें 'तेषाम्' पद निर्गुणके उपासकोंके लिये आया है, जबकि ७ वें श्लोकमें 'तेषाम्' पद सगुण-उपासकोंके लिये आया है।

**योगवित्तमाः के ( अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ? )**

इन पदोंसे अर्जुनका प्रश्न यह है कि कौन-सा उपासक भगवान्-को विशेष प्रिय है और किस उपासकको सुगमतापूर्वक भगवत्प्राप्ति होती है।

**सम्बन्ध**

अर्जुनके उपर्युक्त प्रश्नके उत्तरमें भगवान्-निर्णय देते हैं—

**श्रीभगवानुवाच**

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।  
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥३३॥

**भावार्थ**

भगवान् निर्णय देते हुए कहते हैं कि मुझमें



मनको तन्मय करके, नित्य-निरन्तर मुझमें ही रमण करते हुए जो साधक परम श्रद्धासे मेरे सगुण रूपकी उपासना करते हैं, वे मुझे केवल निर्गुण-निराकारके उपासकोंकी अपेक्षा ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण योगियोंसे ( मेरी प्राप्तिके अन्य भिन्न-भिन्न साधनोंका अवलम्बन करनेवाले हठयोगी, राजयोगी, लययोगी आदि योगियोंकी अपेक्षा) अतिप्रिय और अत्युत्तम योगी मान्य हैं । मैं उनकी क्या बड़ाई करूँ ? मेरे वे अपने हैं और मेरे ही हैं । मेरे अपने हैं, इसलिये उनके साधनकी मैं रक्षा करता हूँ तथा स्वयं ही मैं उनका उद्धार कर देता हूँ । उनसे बढ़कर और कोई मेरे प्रियतम नहीं हैं । मेरी प्राप्तिके सर्वश्रेष्ठ साधनको धारण करनेके कारण मेरे मतमें वे ही वास्तवमें योगवेत्ता हैं ।

## टिप्पणी

भगवान्ने ठीक यही निर्णय अर्जुनको छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें बिना पूछे ही दे दिया था, किंतु उस विषयमें उनका अपना प्रश्न नहीं होनेके कारण अर्जुन उस निर्णयको पकड़ नहीं पाये थे । इसलिये इस अध्यायके पहले श्लोकमें उनको प्रश्न करना पड़ा ।

ऐसे ही साधकोंके मनमें किसी विषयको जाननेकी पूरी अभिलाषा और उत्कण्ठाकी कमीसे प्रश्न न होनेके कारण साधारणतया सत्सङ्गमें सुनी हुई और शास्त्रोंमें पढ़ी हुई साधन-सम्बन्धी मार्मिक और महत्त्वपूर्ण बातें भी वे पकड़ नहीं पाते । यदि उनके प्रश्नके उत्तरमें वही बात कही जाती है तो वे उसे अपने लिये विशेष बात समझते हैं और विशेषतासे पकड़ लेते हैं । साधारणतया सुनी हुई और पढ़ी हुई बातोंको अपने लिये न समझकर उसकी उपेक्षा कर देते हैं, यद्यपि सामान्यतया उस बातके संस्कार तो रहते ही हैं ।

## अन्वय

मयि मनः आवेश्य नित्ययुक्ताः ये परया श्रद्धया

उपेताः माम् उपासते ते मे युक्ततमाः मताः ॥ २ ॥

मयि मनः आवेश्य नित्ययुक्ताः ये परया श्रद्धया

उपेताः माम् उपासते । ( मुझमें मनको एकाग्र करके

निरन्तर मुझमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं ) ।

इन पदोंसे भगवान्ने खास तीन बातें बतलायी हैं, जो निम्नलिखित हैं—

( १ ) मयि मनः आवेश्य ( मनका लगाना ) ।

( २ ) नित्ययुक्ताः परया श्रद्धया ( श्रेष्ठ श्रद्धाका होना अर्थात् बुद्धिका लगाना ) और

( ३ ) माम् उपासते ( निरन्तर मेरी उपासना करना ) ।

मन वहीं लगेगा, जहाँ प्रेम होगा । जिसमें प्रेम होता है, उसीका चिन्तन होता है और उसीका वह सङ्ग चाहता है ।

साधककी बुद्धि वहीं लगेगी, जिसको वह सर्वश्रेष्ठ समझेगा । बुद्धि लगनेपर अर्थात् परमश्रद्धा होनेपर वह अपने द्वारा निर्णीत सिद्धान्तके अनुसार जीवन बनायेगा ( सिद्धान्तसे कभी विचलित नहीं होगा ) ।

निरन्तर उपासनाका तात्पर्य है—निरन्तर भजन । अर्थात् नामजप, चिन्तन, ध्यान, सेवा-पूजा—यहाँतक कि सम्पूर्ण क्रियामात्र ही भगवान्की उपासना है ।

श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निरन्तर भजन तभी होगा, जब साधक स्वयं भगवान्में लगेगा । स्वयंका लगाना यही है कि साधक अपने-आपको केवल भगवान्का ही समझे । नवें अध्यायके ३०वें श्लोकमें 'अनन्यभाक् भजते' ( अन्यको नहीं भजता ) पदोंसे साधकका यही निश्चय प्रतीत होता है कि 'मैं अन्यका नहीं, किंतु केवल भगवान्का ही हूँ ।'

'मैं केवल भगवान्का ही हूँ'—इसका तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर माता-पिता दोनोंके अंशसे बना है, वैसे ही जीवमें प्रकृति और परमात्मा दोनोंका अंश है । शरीर प्रकृतिका अंश है और जीव परमात्माका अंश



है—गीता १४। ३-४। 'ममैवांशो जीवलोके' ( इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही अंश है ) गीता १५। ७। प्रकृतिकी ओर वृत्ति न रखकर केवल भगवान्की ओर वृत्ति रखनेवाला ही यह कहेगा कि 'मैं भगवान्का हूँ।' 'मैं भगवान्का हूँ' कहनेवाला कोई नया सम्बन्ध भगवान्से नहीं जोड़ता। चेतन और नित्य होनेके कारण जीवका और भगवान्का स्वतःसिद्ध नित्य सम्बन्ध है और सदा ही रहेगा। इस सम्बन्धकी अखण्ड जागृति रखना ही इस उक्तिका लक्ष्य है।

जड और चेतन दोनोंका अंश होते हुए भी प्रायः साधारण मनुष्योंका जडताकी ओर ही मुख रहता है। चेतनको भुलकर जडताकी ओर मुख होनेके कारण जीव 'मैं' पनका सम्बन्ध शरीरसे मान लेता है। अर्थात् 'मैं शरीर हूँ' यह मान लेता है। फिर शरीरके साथ सम्बन्ध रहनेसे ही वर्ण, आश्रम, जाति, नाम, व्यवसाय और बाल्यादि अवस्थाओंको वह बिना याद किये भी अपनी ही मानता रहता है, अर्थात् कभी भूलता ही नहीं।

जब भ्रमसे जडके साथ माने हुए सम्बन्धकी भावना भी इतनी दृढ़ रहती है कि किसी अवस्थामें भी जीव उसे भूलता नहीं, तो फिर स्वयं चेतन और नित्य होते हुए यदि वह अपने सजातीय एवं नित्य रहनेवाले परमात्माके साथ अपने सच्चे सम्बन्धको सर्वथा पहचान ले तो किसी अवस्थामें भी परमात्माको कैसे भूल सकता है ? इसलिये उसे सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते हर समय प्रत्येक अवस्थामें ही भगवान्का स्मरण, चिन्तन स्वभावतः होगा, करना नहीं पड़ेगा।

जिस साधकका उद्देश्य सांसारिक भोगोंका संग्रह और उनसे सुख लेना नहीं है, किंतु एकमात्र परमात्माकी प्राप्ति ही है, उस साधकके द्वारा 'मैं भगवान्का हूँ' इस सम्बन्धकी पहचान प्रारम्भ हो गयी और इस पहचानकी पूर्णतामें उसके अंदर अहंकार, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ

और शरीरादिके द्वारा सांसारिक भोगोंसे अर्थात् प्रकृतिसे सुख लेनेकी इच्छा बिल्कुल नहीं रहेगी। केवल एकमात्र भगवान्का होते हुए भी जितने अंशमें वह प्रकृतिसे सुख-भोग करेगा, उतने अंशमें उसने इस सम्बन्धको दृढ़तासे पकड़ा नहीं है। उसका उतने अंशमें प्रकृतिकी ओर ही मुख है। इसलिये साधकको चाहिये कि वह प्रकृतिसे सर्वथा विमुख होकर अपने-आपको केवल भगवान्का ही माने।

**मयि मनः आवेद्य ( मुझमें मनको एकाग्र करके )**

चौथे अध्यायके १०वें श्लोकमें 'मन्मथा' पदसे छठे अध्यायके १४वें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके ५७वें और ५८वें श्लोकोंमें 'मच्चित्तः' पदसे, सातवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'मय्यासक्तमनाः' पदसे, आठवें अध्यायके ७वें श्लोकमें तथा इसी अध्यायके १३वें श्लोकमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' पदसे, नवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें तथा अठारहवें अध्यायके ६५वें श्लोकमें 'मन्मना भव' पदोंसे, दसवें अध्यायके ९वें श्लोकमें 'मच्चित्ताः' पदसे और इसी अध्यायके ८वें श्लोकमें 'मय्येव मन आधत्स्व' पदोंसे भगवान्में लगनेके लिये ही कहा गया है। अथवा ये पद उनके लिये आये हैं जिनका मन भगवान्में लगा हुआ है।

**नित्ययुक्ताः ( नित्य-निरन्तर भगवान्में लगे हुए )**

सातवें अध्यायके १७वें श्लोकमें 'नित्ययुक्ताः' पद सिद्ध भक्तका वाचक है, आठवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'नित्ययुक्तस्य' पद और नवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'नित्ययुक्ताः' पद साधक भक्तोंका वाचक है एवं सातवें अध्यायके ३०वें श्लोकमें 'युक्तचेतसः' पद साधक भक्तोंके लिये आया है।

**उपासते ( उपासना करते हैं )**

नवें अध्यायके १४वें श्लोकमें और इसी अध्यायके छठे श्लोकमें 'उपासते' पद सगुण भगवान्की उपासना



लिये आया है, नवें अध्यायके १५वें श्लोकमें 'उपासते' पद निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाके लिये आया है और तेरहवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'उपासते' पद गुरुजनों और महापुरुषोंके आज्ञानुसार साधना करनेके लिये आया है ।

ते मे युक्ततमाः मताः ( वे मुझे अत्युत्तम योगी मान्य हैं )

भगवान्ने इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें सगुण उपासकोंको 'अतीव मे प्रियाः' ( मेरे अत्यन्त प्यारे हैं ) कहा है और जो भगवान्के प्यारे हैं, वे ही तो श्रेष्ठ हैं ।

आठवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'तस्याहं सुलभः' पदसे सगुण उपासकोंके लिये भगवान्ने अपनेको सुलभ बताया है और पाँचवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'नचिरेण' पदसे एवं इसी अध्यायके सातवें श्लोकमें 'नचिरात्' पदसे भक्तोंको अपनी प्राप्ति शीघ्रतापूर्वक बतलायी है ।

ग्यारहवें अध्यायके ५४वें श्लोकमें भगवान् कह चुके हैं कि 'अनन्यभक्तिके द्वारा साधक मुझे देख सकता है, तत्त्वसे जान सकता है और प्राप्त कर सकता है'; परंतु अठारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें निर्गुण-

उपासकोंके लिये अपनेको केवल तत्त्वसे जानने और प्राप्त करनेकी ही बात कही है, उन्हें दर्शन देनेकी बात नहीं कही । इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सगुण-उपासकोंको भगवान्के दर्शन भी होते हैं, यह उनकी विशेषता है ।

छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें भगवान्ने अपने सगुणरूपमें श्रद्धा, प्रेम रखनेवाले साधकको सम्पूर्ण योगियोंसे श्रेष्ठ बतलाया । इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्को भक्तिका साधन ही विशेष प्रिय है । भगवान्में प्रेम होनेसे उनका भगवान्के साथ नित्य-निरन्तर प्रेम रहता है, कभी वियोग होता ही नहीं । इसलिये भगवान्के मतमें भक्त ही वास्तवमें उत्तम योगवेत्ता है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तकी इन विशेषताओंको लेकर ही भगवान् सगुण-उपासकोंको इन पदोंसे सर्वोत्तम योगी बतलाते हैं ।

यहाँपर 'ते मे युक्ततमाः मताः' बहुवचन पद देकर जो बात कही गयी है, वही बात छठे अध्यायके ४७वें श्लोकमें 'स मे युक्ततमो मतः' एकवचन पद देकर कही जा चुकी है ।

( कमशः )

## राधा-नामकी महिमा

कीरति कीरति-कुमरि की, कहि-कहि थके गनेस ।  
दस सत मुख बरनन करत, पार न पावत सेस ॥  
अज सिव सिद्ध सुरेस मुख जपत रहत वसु जाम ।  
बाधा जन की हरत है, राधा-राधा नाम ॥  
राधा-राधा जे कहैं, ते न परैं भव-फंद ।  
जासु कंध पर कमल-कर धरे रहत ब्रजचंद ॥  
राधा-राधा कहत हैं, जे नर आठौं जाम ।  
ते भव-सिंधु उलंघि कै, बसत सदा ब्रजधाम ॥

—श्रीहठीजी



## आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

संतके पास उनकी इच्छाके अनुसार चलनेकी इच्छा एवं चेष्टा लेकर रहें ।

सच्चे मनसे पवित्र एवं श्रद्धापूर्ण चेष्टा करनी चाहिये कि संतका सङ्ग अधिक-से-अधिक मिलता रहे । हाँ, उनके पास हम उनके होकर रहें, अपनी इच्छाके अनुसार उनको चलानेकी हास्यास्पद चेष्टा छोड़कर उनकी इच्छाके अनुसार स्वयं चलनेकी इच्छा एवं चेष्टा लेकर रहें । हम अपनी इच्छाके अनुसार चलनेके लिये संतको तंग करने लगते हैं, तभी श्रीकृष्णकी माया हमपर फिरती है और हमारे लिये ऐसा संयोग बन जाता है कि बाध्य होकर हमको संतके पाससे हटना पड़ता है । यदि वास्तवमें हम अपने जीवनको भगवन्मुखी बनानेकी इच्छा लेकर, पर्याप्तमात्रामें विनयका भाव लेकर, सांसारिक स्वार्थको जलाञ्जलि देकर संतके पास रहनेकी इच्छा करें, रहने लगे तो फिर हमारा प्रारब्ध बाधा नहीं दे सकता; श्रीकृष्णकी कृपा हमारी इस इच्छाको निमित्त बनाकर हमारे लिये तुरंत फलोन्मुख नवीन प्रारब्ध बना देगी तथा हमको संतके पवित्र सङ्गसे वञ्चित नहीं होना पड़ेगा ।

इसपर हम एक दलील दे सकते हैं कि 'क्या संतकी इच्छाके विपरीत चलनेकी हमारी शक्ति है ? हम तो सर्वथा उनकी रुचिके अनुसार ही चल्ते हैं ।' पर यह दलील मनका भ्रम है । अतएव इसे दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

किसी भी निमित्तसे पाप न हो—यह सावधानी रखते हुए निरन्तर नाम-जप कीजिये ।

सार बात इतनी ही है कि हम अपनी जानमें बेईमानी नहीं करें । अर्थात् अपनी पूरी शक्ति लगाकर यह चेष्टा करें कि मनसे निरन्तर भगवान्का स्मरण एवं वाणीसे आवश्यकताभर बोलनेके बाद निरन्तर नाम-

जप हो । यदि अपनी ओरसे हम चेष्टामें त्रुटि नहीं करें तो फिर भगवान्की कृपाके दर्शन हो जानेमें बिल्कुल नहीं होगा और उनकी कृपाके एक कणका अनुभव होते ही सारी उधेड़-बुन मिट जायगी, सारा कष्ट मिट जायगा तथा जीवन अपने-आप प्रभुके चरणोंमें समर्पित हो जायगा ।

पापोंका फल नरक है । अतः किसी भी निमित्तसे पाप नहीं हों । वहाँ यह बहाना नहीं चलता कि मैं अपने लिये पाप नहीं किया ।' पाप करनेवालेको ही पापका दण्ड भोगना पड़ता है । अतः किसीके मुलाहिजे से व्यापार आदिमें झूठ-कपट आदि नहीं करना चाहिये । सर्वथा झूठ-कपटसे हम बचें । इसके लिये यदि स्वजनोंका त्याग करना पड़े तो वह भी करनेके लिये तैयार रहना चाहिये नहीं तो स्वजनोंके साथ ही हमें डूबना पड़ेगा ।

अपनी सारी शक्ति लगाकर मन भगवान्से तथा संत पुरुषोंसे जोड़ दें ।

अपनी सारी शक्ति लगाकर मनको भगवान्से तथा संत पुरुषोंसे जोड़ दें । उदाहरणके लिये खूब तेज आग जल रही है । उसमें हम कोई भी चीज डाल दें, वह चीज भले ही गंदी-से गंदी क्यों न हो—यहाँतक कि वह पिघल ही क्यों न हो, आगमें पड़ते ही आग उसे अपना गुण दे ही देगी । आगमें पड़नी चाहिये, फिर आगका स्वाभाविक गुण ही है—अपने समान कर लेना । आगमें यह गुण कहाँसे आया ? श्रुतियाँ कहती हैं—'भगवान्से ही यह गुण आगमें आया है ।' भगवान्का गुण हममें आ जाय, इसमें तनिक भी आश्वयंकी गुंजाइश नहीं है । यही बात संत-पुरुषकी भी है क्योंकि शास्त्र यह बात स्पष्टरूपमें कहते हैं कि 'संत और भगवान्में बिल्कुल भेद नहीं है ।'



‘संतमें या भगवान्में प्रेम कैसे हो ?’—इस प्रश्नके उत्तरमें यही समझमें आता है कि संत एवं भगवान् दोनों ही प्रेमके समुद्र हैं; असीम प्रेम वहाँ निरन्तर लहरा रहा है। कोई भी—चाहे उसका मन कितना भी गंदा क्यों न हो, उसी गंदे-से-गंदे मनको लेकर यदि भगवान्से या संतसे उसे जोड़ दे तो निश्चित समझिये, गंदगी तो आप ही मिट जायगी और स्वयं मन ही प्रेमरूप हो जायगा, प्रेम-ही-प्रेम रह जायगा।

संतकी बात छोड़ दें, हम जिस किसी चीजसे मनको जोड़ दें, उसी चीजका गुण मनमें आ जायगा। अतएव हमारी दृष्टिमें जो सबसे ऊँचा पुरुष है, उसके साथ मनको जोड़ दें, उसके गुण हममें आ जायेंगे।

अहंकार है तो उसे रहने दें, पर भगवान् या संतसे मन जुड़ना चाहिये। फिर अहंकारको जलते देर नहीं लगती। पर वास्तवमें मन जुड़नेकी चाह नहीं है। ‘किस प्रकार मन जुड़े’—यह चाह भी हो तो काम बन जाय।

श्रद्धा करनेकी इच्छा तो हमको करनी पड़ेगी और उस श्रद्धाको अचल करनेका काम भगवान् करेंगे।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥

( ७।२१ )

अर्थात् ‘जो मनुष्य जहाँ, जिस देवतामें श्रद्धा करना चाहता है, मैं उसकी श्रद्धाको उसीमें अचल कर देता हूँ।’ भगवान्के कथनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रद्धा करनेकी इच्छा तो मनुष्यको करनी पड़ेगी और उसकी उस श्रद्धाको अचल करनेका काम भगवान् करेंगे। जब श्रद्धा अचल नहीं होती, तब यह निश्चय-पूर्वक समझ लेना चाहिये कि श्रद्धाकी इच्छा ही नहीं हुई। यदि इच्छा हुई होती तो भगवान्की बात क्या कभी झूठ हो सकती थी ?

भगवान् बिल्कुल भीतरकी बात जानते हैं, उनके सामने कोई पोल चढ़ ही नहीं सकती। हमारी इच्छाके तहमें—बिल्कुल भीतरी तहमें क्या वासना है, किस बातसे प्रेरित होकर हम कौन-सी इच्छा करने हैं, इसका जितना पता भगवान्को है, उतना हमको भी नहीं है। हमने इच्छा की कि हमारी किसी संत पुरुषमें श्रद्धा हो जाय तो निश्चय समझिये—यदि यह सच्ची इच्छा है तो—अवश्य-अवश्य हमारी श्रद्धा उस संत पुरुषमें भगवान् कर ही देंगे। ठगपर श्रद्धा करना हम चाहेंगे ही क्यों, और यदि भूलसे हम किसी ठगको महात्मा मान लें तो फिर यदि हमारे मनकी सच्ची इच्छा महात्मापर श्रद्धा करनेकी है तो भगवान् निश्चय हमको बतला देंगे। इतना ही नहीं, हमको सच्चे संतसे मिलाकर हमारी श्रद्धा भी उनमें करा देंगे।

### दो ही उपाय

दो ही उपाय हैं—( १ )—जिस प्रकार मशीन चलती है, उसी तरह यदि जीभसे जागनेसे लेकर सोनेतक नामका निरन्तर उच्चारण हो तो इतनी शीघ्रतासे भगवान्के अस्तित्वमें विश्वास होगा कि स्वयं चकित हो जाइयेगा। मन लगे तब तो और भी जल्दी होगा, नहीं लगनेपर भी सब उपायोंकी अपेक्षा इससे अत्यन्त शीघ्र यह बात हो जायगी।

( २ )—कोई महापुरुष सच्चा संत हो और उससे हृदयसे प्रार्थना की जाय अथवा भगवान्के सामने हृदयसे रोवे—‘नाथ ! मेरे मनमें आपके अस्तित्वपर अखण्ड-अटूट विश्वास हो जाय’, तो एक क्षणमें मनकी वृत्ति ऐसी आस्तिक बन जायगी कि हमारे पास रहनेवाले भी आस्तिक बनने लग जायँ।

असलमें उत्कट इच्छासे प्रार्थना ही नहीं होती। नहीं तो यह बिल्कुल ठीक है कि और प्रार्थनाकी सुनार्यीमें तो देर भी हो, किंतु यह प्रार्थना तो



भगवान् या संत अवश्य-अवश्य सुन लेते हैं। अतएव हम प्रार्थना करते चले।

‘भगवान् हैं, सर्वत्र हैं’—इस बातपर विश्वास करें।

‘भगवान् हैं, सर्वत्र हैं’—इस बातपर केवल विश्वास हो जाय। फिर ‘यह अमुक व्यक्ति है’, यह नहीं दिखायी देगा। दिखायी देगा—‘यह साक्षात् भगवान् है।’ कुछ करना थोड़े है, केवल विश्वास हो जाय कि यह ठीक बात है। फिर

कलममें, कागजमें, संसारके अणु-अणुमें भगवान् दिखाई देंगे—‘यो मां पश्यति सर्वत्र’। पर ‘भगवान् हैं’—

इस बातको हृदयसे माननेवाले बहुत थोड़े हैं। वास्तविकी कमी इसी बातकी तो है। हम किसी खजनके पास नहीं हैं। अब हमारे मनमें यह शङ्का नहीं है कि खजन हमें नहीं देख रहा है। ठीक इसी तरह भगवान् के अस्तित्वमें श्रद्धा हो जानेपर निरन्तर दिखायी देगा—भगवान् मुझे देख रहे हैं। फिर पाप होना असम्भव है।

## एकान्तका यथार्थ दर्शन

( लेखक—साधुवेपमें एक पथिक )

हमें यह दिखाया गया है कि ‘जो मनुष्य कभी अपने घरों, ग्रामों, नगरों, बाजारों और व्यापारोंमें लोभवश, मोहवश और कामनावश धन-संयोग, सुखोपभोग और स्त्री-पुत्र-परिवारके लिये भागता फिरता है, वही जत्र परिणामदर्शी-दूरदर्शी होता है, तत्र परमेश्वरको पानेके लिये अथवा शान्ति-मुक्ति-भक्ति-आनन्द पानेके लिये एकान्तकी खोजमें तीर्थों, मन्दिरों, पहाड़ों, जंगलों और गुफाओंकी ओर चल पड़ता है।’ परिणामदर्शी गुरुजनोंका निर्णय है कि जिस मनुष्यके मनमें काम-ही-काम है, वहाँ उसे विश्राम नहीं मिलता। जहाँ कामका अन्त होता है, वहीं विश्राम है। सुवासक्ति-वश संसारकी संगतिमें काम-ही-काम है। संसारसे निराश होनेपर भागदौड़के स्थिर होनेपर विश्राम-ही-विश्राम है। काम भोगके लिये है, विश्राम पूर्ण योगके लिये है। सारी भागदौड़ अहंकारके साथ रहनेवाली वासना, तृष्णा और कामना-पूर्तिके लिये ही है। यह अहंकार ही अनेक प्रकारके वेप बनाता रहता है। यही मोही, लोभी, अभिमानी, कामी, दुखी-सुखी और स्वार्थी तथा विचारक, उपदेशक, विरागी, त्यागी और संन्यासी बनाता है। इस अहंकारको अपनी संकल्प-पूर्ति, तृप्ति और संतुष्टिके लिये स्वभाव बदलनेमें अत्यन्त कठिनता होती है, पर वेप, नाम और स्थान बदलनेमें अधिक देर नहीं लगती।

इस अहंकारको अपने लिये कोई-न-कोई सङ्ग चाहिये; सफलताके लिये सम्बन्ध चाहिये और अपनी पुष्टिके लिये

देहके स्तरपर तथा मनोमय और विज्ञानमय कोषमें सङ्ग चाहिये। अहंकारको ही धन चाहिये, मनके अनुकूल भोग चाहिये, प्रतिकूलताओंका दुःख आनेपर शान्ति चाहिये और बन्धनोंसे मोक्ष चाहिये। अहंकारको ही भक्ति-मुक्ति शान्ति-सिद्धिके लिये सरल साधन चाहिये तथा साधनके लिये एकान्त स्थान चाहिये। गुरुविवेकने हमें सावधान किया है कि अहंकार अपनेको छोड़कर अज्ञानमें ही संसार सब कुछ चाहता है। यह अज्ञानमें धन, मान और भोगों साथ महत्वाकाङ्क्षी तो है ही, यह एकान्त, शान्ति, मुक्ति और सिद्धि भी अज्ञानमें ही चाहता है।

एक नगरमें संत-सम्मेलनका आयोजन था; उसमें मैं भी आमन्त्रित था। सम्मेलन-स्थलपर पहुँचते ही मैं एकान्त स्थानकी खोज की। प्रबन्धकोंने मुझे एक भवन दिखाया और कहा कि यह नितान्त खाली है, इसमें कोई नहीं रहता है; मैं उस भवनके एक कक्षमें ठहर गया। फिर तो जो भी आमन्त्रित साधु, विद्वान् और कथाव्याख्या आते, उनको उसी भवनके एकान्त होनेका परिचय दिया जाता और उसीमें सबको ठहराया जाता। रात्रिके भवन अनेक एकान्तवासियोंसे भर गया। जहाँ शान्त वातावरण माना था, वहीं भिन्न-भिन्न चर्चाओंकी ध्वनि रही थी। कहीं धूप-बत्ती तो कहीं बीड़ी-सिगरेटका सम्मेलन चल रहा था; वहींपर मैं एकान्तकी कल्पनामें अनेक



का भोग देख रहा था। प्रश्न बन रहा था कि क्या यही एकान्त है ?

स्पष्ट है कि हम अनेकों साधक एकान्तकी खोजमें स्वयंको ही खोये रहते हैं। जब अपनी मान्यताके अनुसार एकान्तको खोज लेते हैं, तब एकान्तके भोगी बन जाते हैं; पर एकान्तके सहारे सत्य-शान्तिके योगी नहीं हो पाते। जो स्वयंको ही खोये हुए हैं, उनके लिये परमात्माकी खोज और परमात्माको खोजनेके लिये एकान्तकी खोज तभी सार्थक होती है, जब उन्हें अपने खोये होनेका पता लग जाता है। मैं गुरु विवेकका आश्रय लेकर देख रहा था कि उपर्युक्त एकान्तमें अनेकोंकी भीड़ होनेपर जिसके भीतर जिस गुण या दोषकी प्रधानता थी, उसमें वही प्रकट हो रहा था। किसीके भीतर स्वादिष्ट पक्वान्न-मिश्राजका लोभ जाग्रत हो रहा था; कोई अपने अनुकूल सेवा न पाकर क्रोध कर रहा था; उसी क्रोधके समक्ष कोई हाथ जोड़कर क्षमा-याचना कर रहा था। किसीके भीतरसे प्रपञ्च-चर्चा निकल रही थी तो किसीके भीतरसे सत्-चर्चा—परमार्थ-चर्चा सुखरित हो रही थी। जो ऊपर होता है, वह तो सदा ही दीखता है; पर जो भीतर होता है, वह कभी-कभी सङ्गसे प्रकट होता है। प्रायः व्यवहारमें सरलता, ममता, मधुरता, प्रीति, उदारता ऊपर दीखती रहती है, पर लोभ, द्वेष, ईर्ष्या, काम, दम्भ और अभिमान आदि विकार भीतर रहते हैं तथा कभी-कभी सङ्गके प्रभावसे प्रकट होते रहते हैं। साधु-संन्यासी-विपरी-उदासीके त्याग, तप, ज्ञान, ध्यान और वेप आदि ऊपरसे तो सभी समय दीखते हैं, पर भीतरकी असाधुता, आसक्ति, ममता, कामना और अहंता आदि सङ्गसे कभी-कभी स्पष्ट दीख पड़ती हैं। प्रायः भीतर रहनेवाली असाधुता साधुके बाह्य वेपके अन्तरालमें बहुत दूरतक छिपी रहती है; भीतरका अशुभ प्रायः बाह्य शुभ प्रदर्शनसे ढका रहता है; यही तो कारण है कि असत्य जहाँ-तहाँ सत्यकी आकृति सजा लेता है, भीतरका अहंकार विनयकी मुद्रा बना लेता है।

सङ्गसे भीतर छिपा हुआ काम प्रकट होता है और प्रतिकूलतामें छिपा हुआ क्रोध प्रकट हो जाता है। साधक सावधान होकर काम-क्रोधसे अपने-आपको अलग करते

हुए सङ्गमें ही निष्कामतापूर्वक क्षमाभावको पूर्ण करता है। मनसे मुनकर माना जाता है, बुद्धियोगद्वारा माने हुएको यथार्थतः जाना जाता है और ज्ञानमें प्रज्ञा दृष्टि खुलनेपर सत्यका अनुभव किया जाता है। किसी जनशून्य स्थानको हम एकान्त मान लेते हैं। कुछ समय बीतनेपर उस एकान्तमें जो कुछ हम करते हैं और उसके परिणामके भोक्ता बनते हैं, उसे बुद्धियुक्त होकर जान पाते हैं। बुद्धियोगी जानता है कि उसने बाह्य दृष्टिसे जिस स्थानको एकान्त—जनशून्य माना है, वह केवल देहके लिये भले ही एकान्त हो, पर उसके मनमें तो कामनाओं, वासनाओं तथा भुक्त-अभुक्त स्मृतियोंका कोलाहल होता रहता है। प्रायः जब हम साधनाके लिये एकान्तमें बैठते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मन इधर-उधर भाग रहा है; पर मनके आने-जाने, भागनेकी मान्यता अविवेकमें है। बुद्धियुक्त होकर निरीक्षण करनेसे पता लगता है कि जब, सुमिरन और ध्यान करते समय मनमें उसकी ही याद आती है, जिस वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति और घटनासे सम्बन्ध है, अथवा उसीकी विशेष स्मृति होती है, जिससे राग-द्वेषपूर्वक सम्बन्ध है।

जिस प्रकार जिस स्थानमें अन्य कोई न हो, मनमें खटकनेवाला कोई कोलाहल न हो, वह शरीरकी दृष्टिसे एकान्त स्थान है, उसी प्रकार जब इन्द्रियोंके चञ्चल होनेके लिये शब्द-स्पर्श-रूपादि विषयोंसे सम्बन्ध न हो, तब इन्द्रिय-दृष्टिसे एकान्त है। उसी प्रकार जब मनमें किसीकी स्मृति न आती हो, संकल्प न उठता हो, कोई इच्छा-कामना आघात न करती हो, तभी मनके लिये एकान्त है और जब विचार शान्त हो रहे हों, तो वह शान्त स्थिति बुद्धिके लिये एकान्त है। अन्तमें जब 'मैं' के भीतर 'मेरा' स्फुरित नहीं होता, वही अपने-आपके लिये एकान्त है। जहाँ अनेक नामरूपात्मक दृश्य एक अखण्ड तत्त्वमें विलीन हो जाते हैं, वहीं एकान्त है, जहाँ समाधि सिद्ध होती है। इस समाधिमें सत्यकी अनुभूति होती है। एकान्त मानना भोगका साधन बनता है, एकान्तको जानना योगका साधन दीखता है और एकान्तमें होना समाधि-सिद्धिका साधन होता है।



# पशुबलि तथा नरबलि देवपूजा नहीं, सर्वोपरि पाप है

( लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा )

‘कल्याण’के ९वें वर्षके विशेषाङ्क ‘शक्ति अङ्क’के [ जो बड़ा लोकप्रिय रहा और आज जिसे लोग किसी भी मूल्यामें खरीदना तथा मँगाना चाहते हैं, पर जो नहीं मिल पाता ] सम्पादकीय लेखमें स्पष्टरूपसे लिखा गया था कि “माताको अपनी सभी संतानें समानरूपसे प्यारी होती हैं। जो अपनी भलाईकी इच्छासे माँकी गरीब संतान—बकरे, भैंसे और अन्यान्य पशु-पक्षियोंकी माँके नामपर बलि चढ़ाता है और उनके मांससे अपना पापी पेट भरता है, उसपर माँका भीषण प्रकोप ही होता है। ( इसमें भागवत तथा विष्णु-पुराणकी जड़भरतकथा भी परम प्रमाण है ) अतएव पशुबलिका सर्वथा त्याग करना चाहिये और मद्य मांसादिसे किसी भी देवी-देवताकी पूजा कदापि नहीं करनी चाहिये और न उन्हें प्रसादादिके रूपमें ग्रहण ही करना चाहिये। पूजा सदा सात्त्विक भावसे हो और वह भी यथाशक्ति निष्कामभावपूर्वक।”

पर इधर ज्ञात हो रहा है कि दो-तीन वर्षोंसे राजस्थानमें तथा उत्तरप्रदेशके देवरिया जिलेमें भी बालकोंकी बलि दिये जानेकी निरन्तर घटनाएँ बढ़ रही हैं। ( तथाकथित साधुओंद्वारा भी बालकोंके अपहरण एवं बलिकी घटनाएँ भी खूब हो रही हैं। ) गतवर्ष राजस्थानकी विधानसभा तथा दिल्लीकी लोकसभामें इसपर पर्याप्त हो-हल्ला भी हुआ और उन-उन व्यक्तियोंपर मुकदमे चलाये जाकर अपराधियोंको पर्याप्त दण्ड भी दिया गया। पर इधर देवरियाके ही रुद्रपुर थानेके तिवई गाँवमें स्थित कालीके मन्दिरमें एक पञ्चवर्षीय बालककी बलि दिये जानेका रोमहर्षक समाचार पुनः सभी समाचारपत्रोंमें प्रकाशित हुआ है। कहते हैं कि वह बालक अपने माता-पिताके साथ कुछ दिनोंके लिये ननिहाल आया हुआ था और गाँवके बालकोंके साथ जब वह बकरी चरा रहा था, तब उसे फुसलाकर कालीमन्दिरमें ले जाकर उसकी बलि चढ़ा दी गयी। वास्तवमें इस प्रकारके जघन्य, कुटिल तथा बर्बरतापूर्ण नीच कार्यसे करुणामूर्ति जगदम्बा कभी प्रसन्न नहीं हो सकती। अभी एक वर्ष भी नहीं हुआ है कि इसी देवरिया नगरके ( सम्भवतः प्यारेलाल

नामक ) एक सुनारको, जिसने लगातार कई और शिशुओंकी गड़े धनके लोभसे हत्या की थी, इसी अपराध कठोर कालेपानीकी सजा मिली थी। ध्यान चाहिये कि यदि इस परम नीच क्रियासे देवी प्रसन्न हुई होती तो उसे ( अथवा जड़भरतके जिघांसक भीलके गड़ा धन या साम्राज्य मिल जाना चाहिये ) न कि प्राणदण्ड या कठोर कालेपानीकी सजा तथापि अज्ञानान्ध लोगोंने बिना सोचे-विचारे उसी के पुनः एक निरीह बालककी हत्या-जैसा नीच कार्य भारतकी सात्त्विक पूजा-पद्धतिको कलङ्कित करते देवीका उपहास तथा अपना भी सत्यानाश किया। हार्डिंगने बड़ी कठोरता एवं तीक्ष्णतासे पहले थोड़े प्रचलित रही इस भ्रान्तिपूर्ण पाप-पद्धतिका उन्मूलन किया।\* आज भारतके शासकोंका भी यह पुनीत क

\* Of much the same nature was the suppression of human sacrifices among the Khonds of the Ganjam and Orissa hills, since that also was a barbaric custom conducted under religious sanction. But in the case of this religion was primitive, the custom was followed only by a small group of tribes, and suppression did not carry with it the possibilities of political danger.....British officers discovered that the primitive Khond tribes performed an annual sacrifice designed to ensure the fertility of their fields. They had a class of victims termed *mariahs*, consisting either of unfortunate persons kidnapped from the plains and sold to the Khonds, or of children of the victims so acquired.....In 1845 a single tribe sacrificed 240 victims in this manner in the area partly in the presidency of Bengal, partly in that of Madras....For some time difficulty was found in coordinating the governments. But in 1845 a special agency was constituted under the Governor-General. A military officer Colonel Campbell was appointed to wean the Khonds and in the process he.....released a large number of *mariahs*. ( Camb. Hist. Part V, Oxford. Part IV, Book 8, p. 593, Camb. Sh. Hist. III, page. 564 )



होता है कि वे इस प्रकारकी कुत्सित तथा जघन्य क्रिया-  
को सर्वथा उन्मूलित कर चोरी, डाका तथा तथाकथित  
साधुओंद्वारा बालकोंके अपहरण, ठगी एवं हत्या-संहार  
आदिका सर्वथा अन्त करनेका प्रयत्न करें। साथ ही बंगाल-  
की सहायताके लिये जिस प्रकार जनता आज शासकोंके  
साथ है, उसी प्रकार उसे अपने देशके इस कलङ्कको  
दूर करनेमें शासकोंके साथ हाथ बँटाना चाहिये। आश्चर्य  
है कि गीताप्रेसके अत्यन्त निकटवर्ती जनपदमें रहकर भी  
जहाँ उमे सस्ते रूपमें धार्मिक-सदाचारपूर्ण सत्साहित्य मिलने  
तथा पढ़नेका अवसर सदा सुलभ हो, गीता-रामायणका  
प्रचार हो, जनतामें इस प्रकारका कुत्सित विचार कैसे  
पनप पाया। योगदर्शन तथा मानसमें अहिंसा तथा  
परसुखदायकता एवं दयादिकी ही सर्वोपरि धर्म तथा

परपीड़नको बार-बार महापाप—सर्वोपरि पाप बतलाया  
गया है—

परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा। परनिंदा सम अधन गरीसा ॥  
पर हित सरिस धर्म नहीं माई। पर पीड़ा सम नहीं अधमाई ॥  
..... धर्म कि दया सरिस हरिजाना ॥  
—इत्यादि।

योगभाष्यमें स्पष्ट निर्देश है कि दया तथा अहिंसाके  
विरोधी सारे कर्म महापाप हैं—

सत्या वाग् यदि भूतोपघातपरा स्यात्, न सत्यं भवेत्।  
पापमेव भवेत्। (२।३०)

अर्थात् जिस सत्यसे किसीकी हिंसा हो, वह सत्य भी  
(जिसके लिये 'धर्म' न दूसर सत्य समाना' कहा गया है।)  
केवल पापपूर्ण होगा तथा नरकका ही मार्ग प्रशस्त करेगा।\*

## वृन्दावन-वासके लिये प्रेरणा

कहा-कहा नहीं सहत सीर।

स्याम-सरन विनु करम सहाइ न, जनम-मरन की पीर ॥  
करुणावंत साधु संगति विनु, मनहिं देय को धीर।  
भक्त भागवत विनु को भेटै, सुख दै दुख की भीर ॥  
विनु अपराध चहुँ दिसि बरसत, पिसुन-वचन अति तीर।  
कृष्ण-कृपा कवची तैं उवरैं, पावै तबहीं सीर ॥  
चेतहु भैया बेगि बढ़ी, कलि-काल-नदी गंभीर।  
'व्यास'-वचन—बलि वृन्दावन बसि, सेवहु कुंज कुटीर ॥

—संत श्रीव्यासदासजी

अर्थात्—उन्हीं दोपोंके समान गंजम जिले तथा उड़ीसाके पर्वतीय इलाकोंमें धार्मिक रुढ़ियोंके नामपर नरबलिकी एक बर्बर  
प्रथा प्रचलित थी, जिसका उन्मूलन किया गया। यह प्रथा एक थोड़ी संख्यावाली जातिमें ही प्रचलित थी और इसके उन्मूलन  
या निराकरणमें कोई राजनीतिक बाधा न थी। ब्रिटिश अफसरोंको पता लगा कि प्राचीन खोंडजातिके लोग प्रतिवर्ष अधिक पैदावारके  
लिये विशेष उत्सवोंपर ऐसे व्यक्तियोंकी बलि देते हैं। इस बलिके लिये वे धूर्ततापूर्वक मनुष्योंको और उनके बालकोंको चुराकर  
रखते थे, जिन्हें 'मरिहा' कहते थे। १८४१ में इस प्रकार २४० व्यक्तियोंकी बलि हुई, कुछेक बंगालमें और शेष मद्रासमें।  
इन दो प्रान्तीय सरकारोंके सहयोगमें पहले तो कुछ देर हुई, पर १८४५ई०में गवर्नर-जनरलद्वारा विधिपूर्वक एक विशेषदल  
गठित हुआ, कैम्पबेलको उसका अध्यक्ष बनाया गया और अन्तमें उसने इस जातिको दबाकर इस प्रथाका अन्त कर दिया  
और एक बड़ी संख्यामें मरिहों (बलि दिये जानेवाले मनुष्यों) का उद्धार किया।

\* इस लेखके लिखते-लिखते एक घटना और हो गयी, जिसमें दक्षिण भारतमें वारंगल नगरमें तो एक अबोध बालिका-  
की माता तथा भ्राताने ही लक्ष्मी-मन्दिरमें ले जाकर उसकी बलि चढ़ा दी और पुलिसने उन्हें पकड़कर चालान भी  
कर दिया। वास्तवमें इस अंधश्रद्धा तथा जघन्य प्रवृत्तिपर अत्यन्त खेद है। प्रत्येक समझदार व्यक्तिको इसके निराकरणके लिये जी  
भर प्रयत्न करना चाहिये।



# सुखी दम्पति

## [ कहानी ]

( लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी०एच्० डी० )

महात्मा कबीरदासके घरपर सत्सङ्ग करनेवालोंकी भीड़ लगी हुई थी ।

जिज्ञासु लोग जीवन तथा धर्मसम्बन्धी अनेक उलझनें उनके पास ले-लेकर आते और अपनी शङ्काओंका समाधान प्राप्त करते । कबीरदासके उत्तर अटपटे और मनपर स्थायी प्रभाव डालनेवाले होते थे । शरीर और आत्मामें अधिक-से-अधिक जितने सौन्दर्य और जितनी सम्पूर्णताका विकास हो सकता है, उसे स्पष्ट करना ही कबीरका उद्देश्य रहता था । आसपासके अनेक व्यक्तियोंके जीवन-ढालनेमें वे महत्त्वपूर्ण कार्य करते रहते और उनके ज्ञानके चक्षु खोलते रहते ।

उस दिन बहुत-से श्रद्धालु भक्त कबीरजीके घर पधारे । किसीने भक्ति, किसीने ज्ञान और किसीने योगपर अपनी शङ्काओंका समाधान कराया । महात्मा कबीरने सभीको संतुष्ट किया ।

काफी समय व्यतीत हो गया । सारे दिन वे बुरी तरह भक्तोंसे घिरे रहे थे । उन्होंने बताया—इस संसारमें अनेक प्रकारकी उपलब्धियाँ भरी पड़ी हैं । एक-एक कणमें विराट् शक्तियों और आत्मिक सम्पदाओंके अभ्यार भर पड़े हैं, पर उन्हें विकसित करना सतत अभ्याससे ही सम्भव है ।

लोग पूछते, 'महात्माजी ! कृपया बताइये, उन्नतिका उपाय क्या है ?'

वे उत्तर देते, 'मेरे भक्त ! कैसी भी विषम परिस्थितिमें उन्नति करनेका उपाय यह है कि अपने ज्ञान और अभ्यासकी शक्ति बढ़ाते रहो । धैर्य रखकर काम किये जाओ । तुम्हारी उन्नतिका कोई-न-कोई उपाय निकल ही आयगा ।'

श्रद्धालु भक्त एक-एक संतुष्ट होकर घर जा रहे थे । धीरे-धीरे उनकी श्रोता-मण्डली कम होती जा रही थी ।

लीजिये, संध्या रात्रिमें परिवर्तित होने लगी । अब, बस, अन्धकारने अपना साम्राज्य जमाना प्रारम्भ कर दिया है, अज्ञानकी कालिमाकी तरह !

लेकिन यह क्या !

एक जिज्ञासु भक्त अभीतक सत्सङ्ग-स्थलसे नहीं गया है ।

अरे, यह तो अपने प्रश्नोंकी पिटारी मनमें ही दबाये बैठा है !

क्या हैं इसकी जिज्ञासाएँ और शङ्काएँ ?

'कहिये, आप चुपचाप बैठे हैं ! आपको क्या पूछना है ?' महात्मा कबीरने उस व्यक्तिकी ओर देखकर प्रश्न किया ।

'जी, क्षमा करें । मेरी कुछ निजी समस्याएँ हैं । विल्कुल निजी—गुप्त.....पोशीदा...!' वह झिझकते हुए बोला ।

'कोई हर्ज नहीं, शर्माइये मत ! कहिये, क्या पूछना है आपको ?'

कबीरदास मुस्करा रहे थे । जहाँ निष्कपट मुस्कराहट है, वहाँ, भला, मनमें कोई दुर्भावना, स्वार्थ, ईर्ष्या आदि कैसा टिक सकते हैं ?

कबीरका आत्म-भाव देखकर वह व्यक्ति द्रवित हो उठा ।

तबतक उन्होंने उस भक्तके मुखमण्डलको ध्यानपूर्वक देखा । कहने लगे—'आपके चेहरेपर तो असंतोष और व्यग्रताकी कालिमा पड़ी दीखती है । इससे लगता है, आपका दाम्पत्य-जीवन अतृप्ति और कलहसे भरा है ।'

'तभी तो हिचक अनुभव कर रहा हूँ ।'

'कहिये, कहिये, क्या उलझन है ?'

मेरा दाम्पत्य-जीवन एक दिन भी शान्ति, सुख और संतोषके साथ नहीं बीता है । अनेक बार सम्बन्ध-विच्छेदकी कल्पना किया करता हूँ, गुरुदेव ! आश्चर्य है, आपने मेरे असंतोषको कैसे पहचान लिया ?'

'कोई हर्ज नहीं, तुम अपनी समस्या कहो ?'

'भगवन् ! क्षमा करें । मैं अपनी धर्मपत्नीसे संतुष्ट नहीं हूँ ।'

'आखिर क्यों ? कोई कारण तो होगा ही उसका ?'

'जी, उसके और मेरे स्वभाव, रुचि, आदतों और मानसिक विकास—सबमें भारी असमानता है । उसीके लेकर दाम्पत्य-जीवनमें परस्पर अनबन बनी रहती है । उसे



सही रूपमें काम करना नहीं आता। वह मेरा अनुशासन नहीं मानती। बहुत परीशान करती रहती है वह। क्या कहूँ कि मेरा दाम्पत्य-जीवन सुख-शान्तिमय हो जाय ? वह दुःखपूरित स्वरमें प्रार्थना करने लगा।

जिशासु व्यक्ति उत्तरके लिये कवीरदासका चेहरा निहारने लगा।

‘ठहरो, अभी समझाता हूँ। लेकिन कुछ देर ठहरना होगा !’

‘कोई हर्ज नहीं !’

कवीरदास फाटक खोल भीतर चले गये।

आगन्तुक कल्पना कर रहा था कि उन्हें कवीरके मुँहसे दाम्पत्य-जीवनकी सफलतापर कोई लंबा भाषण सुननेको मिलेगा, जिससे पत्नीसे उसकी कटुता और पारिवारिक कलह दूर हो ही जायगी; काले मेघोंमेंसे निकले सूर्यके समान तनावका दूषित वातावरण समाप्त हो जायगा। शायद वे उसे अपनी पत्नीकी भर्त्सना करनेकी सलाह देंगे !

थोड़ी देर बाद कवीर अंदरसे सूत लेकर लौटे। सूत कातकर जो कुछ मिलता था, उससे वे जीवनका निर्वाह करते थे।

वे उस व्यक्तिके सामने जैसे-के-तैसे निःसंकोच भावसे बैठ गये और सूत कातनेकी तैयारीमें लग गये।

दो-तीन मिनटके उपरान्त बोले—

‘अजी, बड़ा अँधेरा हो रहा है। मुझे सूत कातना है। इधर सूत कातनेमें कठिनाई अनुभव हो रही है। जरा तुम्हें तकलीफ तो होगी, दीपक जलाकर रख जाओ।’

अभी काफी अँधेरा नहीं हुआ था। साधारण काम करनेके लिये यथेष्ट उजाला था।

‘इस उजालेमें भी कवीर दीपक मँगवा रहे हैं ? प्रकाशमें भला, दीपकसे क्या करेंगे ? दिनमें दीपकके मद्धिम प्रकाशकी क्या उपयोगिता है ? जरूर ये सोचनेमें कोई गलती कर रहे हैं। चाँदनेमें दीपक ! अजीब मूर्खता है।’ यह सोचकर वे व्यक्ति मन-ही-मन कवीरकी मूर्खतापर हँसने लगे !

थोड़ी देरमें उस व्यक्तिने देखा एक सीधी-सादी भारतीय महिला अंदरसे दीपक जलाकर लायी और जहाँ कवीर सूत सुलझा रहे थे, वहाँ चुपचाप खड़ी गयी।

शामको ही दीपक ! प्रकाशमें ही यह टिमटिमाती

रोशनी ! दिनके चाँदनेमें ही—समयसे पूर्व ही दीपक जला लायी ! इस औरतने प्रतिवाद नहीं किया कि ‘दिनमें ही, भला, मुझे दीपक क्यों जलवाकर मँगवाया है ?’ कवीरकी धर्मपत्नी भी उन्हींकी तरह मूर्ख दीखती है। सूर्यके प्रकाशमें ही दीपक जलाकर ले आयी। यह नहीं कहा, ‘अभी घंटेभर दिन शेष है ? दीपककी अभीसे क्यों जरूरत पड़ गयी !’

थोड़ी देर बाद उनकी धर्मपत्नीने पुनः प्रवेश किया। इस बार उसके हाथोंमें दो गिलास थे, जिसमें दूध भरा हुआ था।

‘लैजिये, दूध पीजिये। हमारा आतिथ्य ग्रहण कीजिये।’ एक गिलास आगन्तुकके आगे बढ़ाती हुई वह स्त्री बोली।

वे दोनों दूधकी चुस्कियाँ ले रहे थे। तबतक गृहपत्नी अंदर चली गयी थी।

थोड़ी देर बाद वह फिर लौटी। ओ, इतनी जल्दी फिर वापस ?

‘जी, दूधमें मीठा तो कम नहीं रह गया है ?’ गृहपत्नीने पूछा।

‘नहीं, पर्याप्त चीनी है हमारे लिये।’ कवीरने मधुर मिश्री-सी वाणीमें उत्तर दिया। वे दूध उसी भावसे पीते रहे।

संयोगकी बात—

उनकी पत्नीकी दृष्टि कमजोर थी। सफेद रंगकी भूल्लमें बेचारी पत्नीने शक्करके स्थानपर दूधमें नमक डाल दिया था।

नमकीन दूधको ही पीकर कवीर दूधमें काफी मीठा बता रहे थे !

उस व्यक्तिने मन-ही-मन सोचा, ‘कवीरदासजी भी अजीब मूर्ख आदमी हैं। कह रहे हैं, दूधमें मीठा काफी है, जब कि दूधमें कतई भी मिठास नहीं है। नमक तथा चीनीमें ये अन्तर नहीं समझते ! उड़े विद्वान् बने फिरते हैं। इनसे, भला, सुखी दाम्पत्य-जीवनका रहस्य क्या माझूम होना है ? मैं भी कहाँ भूलकर गृहस्थ-जीवनकी शिक्षा लेने चला आया !’

इधर वह आगन्तुक झल्ला रहा था, उधर कवीरदास नमकीन दूध पीकर मुँह पोंछ रहे थे।

‘महाराज, मेरे प्रश्नका उत्तर मिल जाता तो मैं घर चला जाता !’



‘अरे भाई, समझा तो दिया तुम्हें !’

‘जी, अभी तक तो सुखी दाम्पत्य-जीवनके बारेमें आपने एक शब्द भी नहीं कहा है ।’

‘क्या और कुछ कहना शेष है ?’

‘महाराज, स्पष्ट कहिये । यों कुछ समझमें नहीं आता । मेरी धर्मपत्नीसे पटती नहीं । कैसे सुखी रहें ?’

‘मेरा उदाहरण देखो । सुखी दाम्पत्यके लिये यह आवश्यक है कि सदस्योंको अपने अनुकूल बनाओ, पर स्वयं भी परिवारके अनुकूल ढलो । दोनों बदलो । कुछ तुम पत्नीको सहन करो, कुछ आपकी पत्नी आपकी बात मानें । यह पारस्परिक सद्भाव, अपने साथीके प्रति पूरा और सच्चे हृदयसे प्यार समुन्नत गृहस्थकी आधार-शिला है ।’

‘प्यारका क्या तात्पर्य है ?’

‘साथीके दोषों और गलतियोंको सहानुभूतिपूर्वक क्षमा करते रहना । देखो, यदि आपसमें मतभेद या कोई गलत-फहमी हो भी जाय तो जल्दी-से-जल्दी उसे दूर करनेका प्रयत्न कीजिये । अहंभावसे बचिये । सरलता, मधुर भाषण और क्षमाशील स्वभावसे दाम्पत्य-जीवनके सूखते हुए वृक्षमें भी सरसता आ सकती है ।’

‘मैं तो कभी-कभी उसपर संदेह कर उठता हूँ ।’

‘यही कमजोरी है । एक दूसरेपर अविचल विश्वास रखिये । संदेहको पनपाकर ही अनेक दाम्पत्य-परिवार आज कष्ट भोग रहे हैं । इसलिये अच्छे दाम्पत्यके लिये संदेहके विपवृक्षको तो पनपने ही मत दीजिये । सब परिस्थितियोंमें एक-दूसरेका पूरा साथ दीजिये । कष्टोंको साथ सहकर और

सुखोंके दिन भी साथ रहकर काटिये । बीमारी, पीड़ा, दुःख मानसिक स्थितिमें एक-दूसरेका पूरा-पूरा साथ दीजिये ।

‘मैं तो उसकी टीका-टिप्पणी कर बैठता हूँ ? क्या करूँ ?’

‘व्यासम्भव एक-दूसरेकी आलोचनासे बचिये । कमजोरी और दोष किसमें नहीं हैं ? सर्वगुणसम्पन्न कौन है ? यदि आप परिवारमें सुख और शान्ति चाहते हैं तो दूसरेके दोष ढूँढनेकी आदत आज ही त्याग दीजिये । दोष निकाल रहेनेसे परस्पर कटुताकी भावना पैदा होती है ।’

‘समझ गया महात्मन् ! वस, अब तो निष्कर्ष निकाल लें । पूरेका सार कह दीजिये ।’ वह व्यक्ति पूछने लगा ।

‘सुनो, शास्त्रोंमें जो कहा गया है, वह सुखी दाम्पत्यका सार ही है :—

मा भेर्मासं विक्र्याऽऊर्जं वस्त्रं धिषणे विड्वी सती वीड्ये सूर्जं दधाथास्म । पाप्मा हतो न सोमः ॥

—यजुर्वेद ६ । ३

‘इसका क्या अर्थ है, महात्मन् ?’

‘इसका मतलब है कि पति-पत्नी परस्पर ऐसा व्यवहार करें, जिससे उनका पारस्परिक भय और उद्वेगका कलुषित मन नष्ट हो जाय । दोनोंकी आत्माओंकी एकता बढ़े । आप विश्वास, दृढ़ता और उत्साह बने रहें । इससे गृहस्थाश्रम ही स्वर्गीय सुखकी अनुभूति होती है । याद रखो, एक दूसरेके दोषोंका दर्शन और कटु आलोचनाएँ दाम्पत्य-जीवनका विष है ।’

‘अब मेरे मनकी शङ्काएँ समाप्त हो गयीं ! मैं सब सूत्रोंको सदा व्यवहारमें लाऊँगा ।’ कहकर वह व्यक्ति चला गया ।

## श्यामसे विनय

श्याम हौं तुमरे गरे परौ ।

जो बीती तुमही सौं बीती, मन मानै सो करौ ॥

करी अनीति कछू मित नाहीं, नख-सिख देखि भरौ ।

मो तन चितै आप तन चितवौ, अपने विरद ढरौ ॥

कीजै लाज सरन आए की, जिनि जिय दोष धरौ ।

अपनी जाँघ उघारें नहिं सुख, तुमहीं लाज मरौ ॥

विनती करौ काहि हौं, मिलि कै सब कोउ कहत बुरौ ।

‘रसिकदास’ आसा करुनानिधि तुमहिं ढरौ सौ ढरौ ॥



# वैष्णव-साधनाके महान् व्याख्याता श्रीरूप गोस्वामी

( लेखक—डॉ० श्रीसुबालालजी उपाध्याय 'शुकरतन' )

मानवीय मनकी रागात्मिका वृत्तिके स्पन्दनद्वारा महान्-से-महान् कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं। भारतके इतिहासमें प्रेममूलक भक्ति-आन्दोलनद्वारा जन-जीवन-समुद्रका अपूर्व मन्थन हुआ है। मुसलमानोंके आक्रमण और दुर्धर्ष अत्याचारोंके साथ ऐसा लगा कि यह दुर्दान्त शक्ति कहीं भारतवर्षकी उत्कृष्टतम उपलब्धियोंको कुचलकर तो नहीं रख देगी; किंतु उस समय वैष्णव-धर्मने ही इस अनुभववृद्ध देशके लोक-मानसको उस भयंकर तूफानके आगे खड़े रहनेकी शक्ति प्रदान की। उस समय जैन, बौद्ध, शक्ति तथा तान्त्रिक आदि अनेक मतोंद्वारा निरूपित विरक्ति तथा भोगकी अतिवादिताओं एवं अतिरञ्जनाओंका अतिक्रमण कर वैष्णव धर्मने एक नया प्रकाश दिया था।

वैष्णव-साधनाद्वारा विकसित जीवन-दृष्टि प्रवृत्तियोंके हननके स्थानपर मनुष्यकी विराट् एकता और जिजीविषाका पूरी ईमानदारीके साथ सम्मान करती है। वैष्णव-साधनामें जीवनके प्रति इस ज्वलन्त रागने नृत्य, संगीत, शिल्प-कला और संस्कृतिमें अपूर्व सरसताकी सृष्टि करते हुए, रससिक्त विपुल साहित्य-राशिके सृजनको प्रेरित और प्रोत्साहित किया। इस साधनाको अत्यन्त रसमय, भव्य और व्यवस्थित बनानेमें श्रीरूप गोस्वामीका योगदान महत्त्वपूर्ण है।

श्रीरूप गोस्वामी ( १६वीं शताब्दी ) को वैष्णव-साधना और भक्ति-रस-धाराका सार्थवाहक मानना चाहिये। उन्होंने अपनी प्रतिभा और कल्पनाके सहारे अनेक नये प्रसङ्गों, नयी लीलाओं एवं कथन-भङ्गिमाओंका केवल समावेश ही नहीं किया है, प्रत्युत इस सारी परम्पराको एक नयी दिशा भी दी है। रस-सिद्धान्तपर वैष्णव-साधनापरक, किंतु मनोविज्ञानसम्मत महाभाष्य करते हुए, अचानक ही सौन्दर्यबोधानुभवकी एक नयी भूमि खोज निकाली है। उनके विवेचनमें कामका आध्यात्मिकीकरण और भक्ति-सिद्धान्तकी सारी रहस्यमणियों हस्तामलकवत् दिखायी पड़ती हैं, जैसे कोई भक्ति-जगत् एवं कृष्णलीलाकी अन्तश्चेतनाकी जीवनी लिख रहा हो।

उन्होंने सामन्तीय संस्कृति और भारतीय मध्यकालीन मानसको हादिनी शक्तिके आह्लादमें प्रतिबिम्बित करके देखा है।

उनकी रचनाओंमें पारिभाषिक शब्दावली एवं सामान्य धारणाओंको परम्पराप्राप्त साहित्यसे उठाकर सम्पूर्ण अलंकार-शास्त्रको कृष्ण-रतिकी ओर किस प्रकार मोड़ा गया है, किस पद्धतिसे तमाम विस्तृतियोंका सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए, उन समस्त कथनोंको नाना स्रोतोंसे समस्थित, अनुमोदित एवं सैकड़ों उदाहरणोंद्वारा पुष्ट किया गया है, यह किसी भी सहृदय समीक्षकके लिये आश्चर्यका विषय हो सकता है। सर्वत्र धार्मिक, शृङ्गारिक, काव्यशास्त्रीय, सौन्दर्यबोधात्मक एवं वैष्णव-साधनामय अनुभवोंका गूढ़, किंतु रमणीय प्रक्षेपण हुआ है। प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित एवं कान्तासम्मित बोधोंके अखण्डैकव्यापार तथा मानवीय मनके रससिक्त भावोंकी कमनीय प्रतिष्ठा हुई है।

गौडदेश ( बंगाल ) के तत्कालीन शासक हुसेनशाहके मन्त्रीपद एवं सांसारिक समस्त वैभवको तुच्छ तृणकी तरह त्यागकर, महाप्रभु चैतन्यकी आशसे ब्रजमें जाकर श्रीकृष्ण-प्रेममें डूबे हुए रूप गोस्वामीने वैष्णव-साधनापरक एवं भक्तिशास्त्रीय ग्रन्थोंके प्रणयन तथा ब्रजतीर्थोंके उद्धारमें ही अपना सारा जीवन लगा दिया। श्रीवल्लभाचार्य तथा हरिव्रजीके नामसे प्रसिद्ध स्वामी हरिदास, श्रीहित हरिवंश एवं श्रीहरिराम व्यास भी उसी समय ब्रजमें भगवत्प्रेमकी वर्षा कर रहे थे। यह अत्यन्त प्रसिद्ध है कि मीरा भी रूप गोस्वामीकी साधनासे अत्यन्त प्रभावित तथा आकृष्ट हुई थीं।

श्रीरूप गोस्वामीकी साधना, विवेचना एवं दिनचर्या ब्रजमें रहनेवाली भक्तमण्डलीके लिये कितनी आकर्षक और प्रेरणा तथा प्रभावका केन्द्र थी, उनके समसामयिक श्रीहरिराम व्यासके एक पदसे इसकी कुछ झलक मिल सकती है—

साधु-सिरोमनि रूप-सनातन ॥

जिन की भक्ति एकरस निबही, प्रीति कृष्ण-राधा तन ।

जिनको काज सँवारयो चित दै, हित कोनौ छिन ता तन ॥



जिन के विषय बासना देखी, मनसा करी न बातन ।  
 (श्री) बृन्दावन की सहज माधुरी रोम-रोम सुख गातन ॥  
 सब तजि कुंज-कैलि भज वह निसि अति अनुराग सदा तन ।  
 तृनहु ते नीचे, तरुहु ते सहकर, अमानी, मान सुहात न ॥  
 असिधारा-व्रत ओर निबाहौ, तन-मन कृष्ण-कथा तन ।  
 करुणासिंधु कृष्णचैतन्य की कृपा फली दुहुँ भ्रातन ॥  
 तिन बिनु व्यास अनाथ भए, अब सेवत सूखे पातन ॥

इसी प्रकार समसामयिक तथा परवर्ती अनेक संत, साधक, भक्त और लेखकों ने श्रद्धा और आदरपूर्वक उनका स्मरण किया है । चैतन्य-सम्प्रदाय में महाप्रभु चैतन्य के बाद वे सर्वाधिक आदरणीय और साधना-पथ के प्रिय उपदेश हैं । उनके नाम पर ही चैतन्य-सम्प्रदाय को 'श्रीरूपानुग-ब्रह्म-माध्व-गौडीय सम्प्रदाय' भी कहा जाता है । 'श्रीरूपानुग-भजनसम्पत्', 'श्रीरूपानुग-भजनप्रणाली' आदि नाम उपासना-क्षेत्र में अत्यन्त लोकप्रिय हैं । उनको 'व्रजरस' और 'श्रीकृष्ण-प्रीति-प्राप्ति' में परम सहायक रूपमञ्जरी का अवतार माना गया है । श्रीरूप यद्यपि सनातन के छोटे भाई थे, फिर भी प्रभु के प्रथम कृपापात्र होने से ये वैष्णव-समाज में सनातन में पहले ही स्मरण किये जाते हैं । इसलिये सभी की जिह्वा पर रूप-सनातन नाम प्रचलित है, सनातन-रूप नहीं । साधक जन्म-जन्म में रूप गोस्वामी के चरणों की धूलिका स्थान पाने की प्रार्थना करते हैं—

आददानस्तृणं दन्तैरिदं याचे पुनः पुनः ।

श्रीमद्रूपपदाम्भोजधूलिः स्यां जन्म-जन्मनि ॥

महाप्रभु चैतन्य पर उनकी कविता के अद्भुत प्रभाव और श्रीराधा के चरणदास्य की प्राप्ति में भी श्रीरूप गोस्वामी के सङ्ग को अनिवार्य बताते हुए गोवर्द्धन भट्ट लिखते हैं—

तुण्डे ताण्डवनीतिमुख्यललितश्लोकावलीं यत्कृतां  
 मुक्ताभान्यतुलाक्षराणि च हरिगौरी विलोक्योन्मदः ।  
 घूर्णन् भक्तवृत्तो ननतं सहसा यं सप्रमोदं स्तुवन्  
 को राधापददास्यमत्र लभते तं रूपसङ्गं विना ॥

( रूप-सनातन-स्तोत्र )

श्रीरूप गोस्वामी के सम्बन्ध में इस प्रकार के उल्लेख सैकड़ों की संख्या में प्राप्त होते हैं, जिनका संग्रह करने पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन सकता है ।

वैष्णव-साधना भारतीय मनीषा की मधुरतम उपलब्धि है । अन्य साधनाओं की तरह वैष्णव रागशमन में विद्यमान नहीं करते; वे शमन के स्थान पर रागात्मक-जीवन का विकास करने वाली साधना-पद्धति का उपदेश करते हैं । फलतः वैष्णव-साधना का स्वरूप भक्ति-वल्लरी के उद्भव और विकास का इतिहास है । भक्ति-साधना के सम्पूर्ण इतिहास केवल श्रीरूप गोस्वामी का व्यक्तित्व ही ऐसा है, जिसने भक्तिको उसकी गरिमा के अनुकूल स्वरूप में प्रतिष्ठा करने वाली गरिमामयी ग्रन्थ-राशि को जन्म दिया । श्रीरूप गोस्वामी चैतन्य-सम्प्रदाय के हृदय और मस्तिष्क दोनों हैं । वे हृदय से हैं सरस कवि और मस्तिष्क से हैं वैष्णव-साधना के तलस्पर्शी व्याख्याता और व्यवस्थापक । उनके द्वारा विरचित प्रमुख ग्रन्थ हैं—भक्तिरसामृतसिंधु, उज्ज्वल-नीलमणि, नाटक-चन्द्रिका, विदग्ध-माकललित-माधव, दानकैलि-कौमुदी, उद्भव-संदेश, हंसदूत, स्वभाव-पद्यावली, लघुभागवतामृत, गणोद्देशदीपिका ( कृष्ण और लघु ), मथुरा-महिमा, उपदेशामृत, स्मरण-मञ्जल और निकुञ्ज-रहस्यस्तव ।

भजनानन्द-रस ही चित्कण भक्त-जीविका सर्वस्व है । अन्य-निरपेक्षता, सार्वत्रिकता एवं सदातनत्व के कारण भक्ति सर्वसाधनगरीयसी है । ज्ञानयोगादिकी अपेक्षा भक्ति भगवदुपलब्धिका उत्कर्ष है । यही साध्य वस्तु की अपेक्षा और बीच का एकमात्र प्रयोजन-तत्त्व है । प्रेमभक्ति अलौकिक कस्तूरी वितरित करने वाले महाप्रभु चैतन्य के जीवन में उद्बलित भक्तिके महान् रस-सागर प्रत्यक्ष द्रष्टा श्रीरूप गोस्वामी ने रस-शास्त्र की प्राचीन परम्परा को धार्मिक-भाव और वैष्णव-साधना से मिलाकर भक्ति-रसरूप में प्रतिष्ठित किया । रूप गोस्वामी के पहले की कृति भक्ति-रसका सम्पूर्ण निर्वचन नहीं करती । जिस प्रकार भाव अलंकार-शास्त्र के आचार्य माने जाते हैं, अथवा जिस प्रकार वामन ने रीति, कुन्त ने वक्रोक्ति, आनन्दवर्धन ने एवं क्षेमेन्द्र ने औचित्य की प्रतिष्ठा की है, उसी प्रकार श्रीरूप गोस्वामी को शास्त्रीय-दृष्टि से भक्ति-रस के प्रतिष्ठित होने का गौरव प्राप्त है ।

उनका भक्ति-रसामृतसिंधु भक्ति-रसका प्रधान ग्रन्थ है । इसमें भक्ति-रस से सम्बन्धित उन सभी प्रश्नों का विचार किया गया है, जिनसे वह साहित्य शास्त्र



प्रणालीके अनुसार, निर्वाधरूपसे रसके स्थानपर प्रतिष्ठित हो सके। भक्ति-रसकी मुख्यता एवं उसके भेद-प्रभेदोंका विवेचन नितान्त मौलिक तथा वैष्णव-जगतके लिये एक नवीन घटना है। यह वैष्णव-साधना और भक्ति-शास्त्रके इतिहासमें अपने-आपमें अजर, अमर और अप्रतिम ग्रन्थ है। वस्तुतः इसको भक्ति-रस-सिद्धान्तका विश्वकोष कहना अनुचित न होगा।

वैष्णवोंने मनुष्यके सम्पूर्ण रागात्मक-जीवनका विषय भगवान्‌को बनाकर उसे दिव्यरागमें परिणत करनेपर बल दिया है। तदनुसार श्रीरूप गोस्वामीने उज्ज्वल-नीलमणिमें शृङ्गारात्मक मधुर-रसका विशद प्रतिपादन किया है। इसमें मधुर-रसके नायक (श्रीकृष्ण), नायिका (श्रीराधा), गोपियाँ, सखी, यूथेश्वरी आदि परिकरोंका विविध मनःस्थितियाँ, परिस्थितियाँ, क्रिया, चेष्टा, वचन आदिका मार्मिक विवेचन और उद्घाटन, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभाव आदिका वैष्णव-साधनाके अनुरूप मौलिक, सूक्ष्म और विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण प्राप्त होता है। गोपी और सखियोंका वर्णनकरण, यूथेश्वरी-भेद, श्रीराधाकी सर्वोपरि प्रतिष्ठा, स्थायीभाव एवं महाभावका विलक्षण वर्णन—ये सभी उनकी प्रतिभाकी मौलिक उपलब्धियाँ हैं। रूप गोस्वामी कवि तथा आचार्य दोनों ही थे, साथ ही विराट् प्रतिभाके धनी एवं नितान्त निष्ठावान् साधक। उनके आलंकारिक और कविसृजनने सम्मिलित होकर, प्रेममत्त्वका सूक्ष्म, सुकुमार विश्लेषण और समुचित उदाहरणोंका प्रस्तुतीकरण—इन दोनोंको ही सम्भव किया था। प्रेमकी नाना अवस्थाओंके चित्र, हृदयके गहरे भावोंके विवरण तथा हृदयकी क्षण-क्षणमें उदीयमान वृत्तियोंके गम्भीर मनोवैज्ञानिक परीक्षणमें रूप गोस्वामीकी प्रतिभाकी अपूर्वताका दर्शन होता है।

भक्ति-रसके शृङ्गारमूलक गुह्यरसके प्रस्थापनमें इसका सर्वाधिक महत्त्व है। यह अपने विषयका नितान्त मौलिक और हृदयावर्जक ग्रन्थ है। वैष्णव-साधना और साहित्य-संसारको यह रूप गोस्वामीकी सबसे बड़ी देन मानी जानी चाहिये। वस्तुतः यह नायक-नायिकाओंके शृङ्गार, प्रेमाश्रूणा, सज्जा, रंगों, रागों, भावों आदिका एक संदर्भात्मक वैष्णव शृङ्गार-ग्रन्थ-सा बन गया है। भरतके नाट्यशास्त्रके बाद यह दूसरा समर्थसौन्दर्य-तत्त्वविषयक संदर्भ-ग्रन्थ है। उनकी ये दोनों ही अमर कृतियाँ

निश्चित ही अकृतपूर्वा हैं। इनमें वैदुष्य है, शास्त्र-ज्ञान है, चिन्तन है, साधना है, सर्जनात्मक प्रतिभा और विवेचनी मनीषाका अपूर्व योग है। निस्संदेह समस्त भारतीय साहित्यमें ये ग्रन्थ अपने विषयके निराले, अन्यतम तथा विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे स्वयं अपनेमें पर्याप्त हैं। ये उस मूलस्रोत अथवा मानसरोवरके सदृश हैं, जहाँसे अनेक अविच्छिन्न धाराएँ निकलकर बहती हैं।

रूप गोस्वामीका उद्देश्य भक्ति-रसकी सर्वाङ्गपूर्ण प्रतिष्ठा करना था। इसके लिये उन्होंने विविध दिशाओंमें प्रयत्न किया। रसका सम्बन्ध मुख्यतः नाट्यसे है। आचार्य रुद्रटके पूर्वतक तो एकमात्र नाट्यसे ही रसका सम्बन्ध माना जाता था। वैष्णव आचार्यको निज ध्येय-प्राप्तिमें इस अभावका अनुभव हुआ और उन्होंने वैष्णव-रस-शास्त्रके अनुकूल 'नाटक-चन्द्रिका' एवं नाटकद्वय (विदग्ध-माधव, ललित-माधव) की रचना की।

'नाटक-चन्द्रिका'को हम नाट्य-शास्त्रका मधु-संचय कह सकते हैं। अपने सिद्धान्तानुसार उसको सुखादु रूपमें प्रस्तुत कर देना—यही उसकी मौलिकता है। वैष्णव-साधना और भक्ति-रसके क्षेत्रमें यह अत्यन्त मौलिक प्रयास है।

'विदग्ध-माधव' व्रजलीला-वर्णनसे सम्बन्धित है, जिसमें रस-परिपाककी दृष्टिसे कविद्वारा अनेक नवीन प्रकल्पनाएँ की गयी हैं। इसमें नाटकके माध्यमसे वैष्णव-साधनाका परम रसमय चित्रण है। सर्वत्र एक भावुकतापूर्ण निःश्वास व्याप्त है। श्रीराधाके माध्यमसे परमसत्ताकी अनुभूतिसे सम्बन्धित मानवात्मके प्रयासको पूरे आवेगके साथ व्यक्त किया गया है। अलौकिक प्रेमके शक्तिशाली चित्रसे मण्डित यह एक महान् नाटक है।

'ललित-माधव' श्रीकृष्णकी द्वारकालीलासे सम्बन्धित है। प्रस्तुत नाटकमें मधुर-रस-साधनासे सम्बन्धित संकेत-सूत्रोंको उन्होंने अधिक सावधानीसे संजोया है। इसमें साधकके लिये शारीरिक अथवा मानसिक रूपसे व्रजवासकी आवश्यकता, गोकुलवासियोंद्वारा रसिक-शिरोमणि श्रीकृष्णकी प्राप्ति की सुलभता, परकीयाभावका कुशलतापूर्वक समर्थन, वेदान्तियोंकी निर्विशेष-ब्रह्मानुसंधानरूप मुक्तिकी तुच्छता तथा वैष्णवोंकी चरम उपलब्धि आदिका प्रमुदित होकर नाटकीय पद्धतिसे हृदयावर्जक रूप उपस्थित किया गया है। विप्रलम्भ-



रसपोषक 'दानकलिकौमुदी' में भी मधुर-रसका ही मर्मस्पर्शी चित्रण है।

उनके 'उद्धव-संदेश' और 'हंसदूत' में श्रीकृष्ण-वियोग में साधक की प्राणद्रावक स्थिति और विरहप्रधान संदेश-काव्यों की मधुरिमा की छुलन है। रूप गोस्वामी के ये दोनों ही काव्य श्रीकृष्ण और गोपियों की भक्ति-भावना से भीगे हुए, अन्तरतम की सहज और तीव्र आकुलता से व्याप्त श्रीराधा की मर्मद्रावक दशाओं के पुरस्कर्ता, प्रेम-जगत् के सारभूत महाभाव की अनेक स्थितियों के उद्घाटक और भक्तिशास्त्रों की चरमनिष्ठा आत्मसमर्पण के वर्णन से पूर्ण हैं।

श्रीराधा-कृष्ण की ललित गीतियों एवं स्तुतियों से युक्त 'स्तवमाला' भक्त के दैन्यपूर्ण मृदुभावों की प्रसाद और मधुरगुणयुक्त शब्दों में ग्रथित वनमाला है, जिसमें भक्त-हृदय के गहरे भाव व्यक्त किये गये हैं। 'पद्मावली' में वैष्णव कविताओं का दुर्लभ संकलन है। रसपूर्ण भावों एवं साधना के विविध स्तरों और मान्यताओं को व्यक्त करनेवाले ये दोनों ही ग्रन्थ वैष्णवों के परमधन हैं।

'उपदेशामृत', 'निकुञ्जरहस्यस्तव' आदि लघुकाय ग्रन्थ वैष्णवों के मार्गदर्शक तथा साधकों के लिये श्रीकृष्ण के नित्यपरिकरों की आनुगत्यमयी सेवा में लीला-स्मरण की दृष्टि से अत्यन्त सहायक हैं। 'लघुभागवतामृत' के 'कृष्णामृत' और 'भक्तामृत' नामक दोनों खण्डों में अवतारवाद, भगवत्त्व, प्रभु श्रीकृष्ण की सर्वातिशयिता और भक्तों में गोपियों एवं श्रीराधा की सर्वोपरि प्रतिष्ठा की विस्तृत समीक्षा और पूर्ण विवेचना की गयी है।

परिकर भी स्वरूप-शक्तिका ही प्रकाश होने के कारण नित्य तथा अप्राकृत हैं। विभिन्न लीलाओं को समेटने के कारण 'गणोद्देशदीपिका' (वृहत् और लघु) में परिकरों की एक विराट् कल्पना रूप गोस्वामी ने की है। वैष्णव-साधना में लीला-रस के आस्वादन के लिये धाम का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण के सहश ही उनके धाम, परिकर आदि भी प्रकाश-भेद से अलग-अलग स्थानों पर प्रकाशित हैं। महाप्रभु ने रूप गोस्वामी को ब्रजतीर्थों के उद्धार का काम सौंपा था। धाम के वर्णन तथा ब्रजतीर्थों के उद्धार-कार्य के आधार-ग्रन्थ के रूप में अनेक पुराणों से आवश्यक वचनों का संग्रह करके उन्होंने पृथक्-रूप से 'मधुरा (मथुरा)-महिमा' की भी रचना की।

इस प्रकार वैष्णव-साधना से सम्बन्धित नाम, लीला, धाम, भक्ति-रस-सिद्धान्त, मधुर-रस और ग्रन्थों की भी रचना कर, रूप गोस्वामी ने किसी समस्या को छोड़ा नहीं है। उनका यह प्रदेश कि अपूर्व, अप्रतिम और युगान्तकारी है, इसका मूल्य उनके समसामयिक और परवर्ती किसी भी सम्प्रदाय वैष्णव-साधकों की रचनाओं पर पड़नेवाले प्रभाव से जा सकता है। मधुसूदन सरस्वती और पण्डित जगन्नाथ जैसे अपने क्षेत्र के अद्वितीय मनीषि रचनाओं में भी उनके प्रभाव को देखा गया है।

उनमें काव्य-शास्त्र की आचार्य-चेतना, दास्य एवं कवि-चेतना का दुर्लभ समन्वय हुआ था। वे साथ ही दार्शनिक, कवि, मनीषी, आचार्य और बढ़कर श्रीकृष्ण-चरणों में सर्वथा समर्पित भागवत-विशेष हैं। संसार में इन अनेक विशेषताओं का एकत्र सम्मिलन विरल है। वैष्णवधर्म और संस्कृत के बहुत थोड़े-से हुए कवि, आचार्य और भक्तों में उनका स्थान उनके प्रभावशाली व्यक्तित्व, तपोमय जीवन, प्राण-पाण्डित्य, अद्भुत अभिव्यञ्जना-शैली, अपार सम्पत्ति और साधना से वैष्णव-धर्म और संस्कृत-साहित्य दोनों ही उपकृत हुए हैं।

श्रीजीव गोस्वामी ने 'श्रीरूपगोस्वामिगुणलेशदर्शक' की रचना की है, जिसमें उनके अनेक असाधारण गुणों का वर्णन है। वे एक पद्य में उनको समुद्र से भी अधिक गम्भीर, चन्द्रमा से भी अधिक शीतल, भूमि से अधिक सहनशील और बृहस्पति से भी अधिक शक्ति-सम्पन्न स्वीकार करते हैं। श्रीगोवर्द्धन भट्ट ने 'सनातन-स्तोत्र' के ४८ पद्यों में से ४० पद्यों में केवल गोस्वामी के काव्य-वैभव, आचरण और व्यक्तित्व की चर्चा की है। उन्होंने लिखा है—'व्यक्ति तभीतक योग, न्यायशास्त्र और ब्रह्म-चिन्तन में लग सकता है, तक उसने श्रीरूप के ग्रन्थों का अध्ययन नहीं किया'। उन्होंने मरुभूमि में ऊँचे गृह का निर्माण करने, बाहुओं के द्वारा आकाश का स्पर्श करने, प्रचुर रत्नों द्वारा सूर्य को ढकने और पङ्क्तु के द्वारा पहाड़ पर चढ़ने, श्रीरूप के पद-कमल के आश्रय के बिना श्रीरूप के चरणों के दास्य की उत्सुकता तथा प्राप्ति को अतृप्त बताया है।



कृष्णदास कविराज अपने महान् ग्रन्थ 'चैतन्य-चरितामृत' के प्रत्येक परिच्छेदके अन्तमें श्रीरूप गोस्वामीके चरणोंका स्मरण करते हैं। ब्रजभाषाके अनेक कवियोंने अतिविनम्रतापूर्वक उनका स्मरण किया है। विश्वनाथ चक्रवर्तीने उनकी 'वाणीको अमृतकी दिव्य नदी' कहा है। कवि कर्णपूर गोस्वामी उनको 'मूर्तिमान् शृङ्गार' और ब्रह्मसूत्र-भाष्यकार बलदेव विद्याभूषण उनको 'सत्कवित्वमें देवाचार्य (बृहस्पति)', तत्त्वज्ञानमें महर्षि व्यास और

शृङ्गारार्थव्यञ्जनामें शुक्रदेव-सदृश स्वीकार करते हैं।  
 देवाचार्यं यं विदुः सत्कवित्वे पाराशर्यं तत्त्ववादे महान्तम् ।  
 शृङ्गारार्थव्यञ्जने व्याससूनुं स श्रीरूपः पातु नो भृत्यवर्गान् ॥  
 (लघुभागवतामृत-टीका)

श्रीभक्तिवेदान्त सरस्वती सारे यूरोपमें रूप गोस्वामी-द्वारा व्यवस्थापित और व्याख्यात वैष्णव-साधनाका ही प्रचार करनेमें लगे हैं और उसका आकर्षण सम्पूर्ण विश्वमें चर्चाका विषय बना हुआ है।

## भगवत्प्रार्थनाका स्वरूप एवं आदर्श

(लेखक—पं० श्रीजयकान्तजी झा)

कुल लोग सोचते हैं कि अमुक शब्द, अमुक भजन अथवा अमुक पदको किसी विशेष रीतिसे बोलने या गानेको ही 'प्रार्थना' कहेंगे। दूसरे लोग कहते हैं कि लक्ष्मी, वैभव, अधिकार, यश, संतान-प्राप्ति अथवा ऐसी ही किसी सांसारिक एषणाकी सिद्धिके लिये ईश्वरसे नम्रतापूर्वक याचना करना ही 'प्रार्थना' है। यदि इन अर्थोंमें हम प्रार्थनाको लेते हैं तो हमारी प्रार्थनाका मूल्याङ्कन बहुत ही अपूर्ण और निम्नकोटिका है।

ध्यानपूर्वक मनन करनेपर शत होता है कि मनुष्यकी सर्वोच्च शक्तियोंका परमात्मशक्तिके साथ तादात्म्य ही मानव-जीवनके उत्कर्षकी चरम सीमा है। इस अन्तिम ध्येयपर पहुँचनेके लिये जो क्रियाशील प्रवृत्ति है, वही हमारी 'प्रार्थना' है।

देह, चित्त और आत्माके पूर्ण समन्वयात्मक ऐक्यसे उत्पन्न अपूर्व आनन्द, शान्ति और अपार बलका अनुभव हमको प्रार्थनामें ही मिलता है। प्रार्थना एक ऐसी शक्तिका तेजपूर्ण केन्द्र है, जिससे सतत निकलनेवाला आत्मशक्तिका सौम्य प्रकाश हमारे हृदयमें अपूर्व शान्ति और शीतलताका संचार करता है। अल्पशक्ति मानव इसके द्वारा अपने मन और आत्माको अनन्त-शक्ति परमात्माके साथ जोड़ता है और फलस्वरूप वह बहुत ही प्रतिभाशाली, उन्नत एवं चैतन्य बन जाता है।

'प्रार्थना' संतोंके, भक्तोंके और महात्माओंके जीवनकी समृद्धि है, शान्ति है, बल है। वे अपने जीवनकी प्रत्येक घड़ी और पलमें प्रार्थनाके अगम्य प्रभाव और अपरिमित

शक्तिका अनुभव करते हैं। प्रार्थनाके निर्मल और शान्त जलमें निमज्जन करनेवालोंको जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसके सामने संसारका कोई सुख अथवा स्वर्गके विलास-वैभवका कोई आनन्द टिक नहीं सकता। सच्ची प्रार्थना केवल ईश्वरकी पूजा या बाह्य उपासनामात्र नहीं है, बल्कि प्रार्थना-में लीन हुए मनुष्यके भीतरसे सहज ही निस्सृत होनेवाला तथा परमेश्वरके अगाध शक्ति-सागरमें विलीन होनेवाला एक अदृश्य आत्मशक्तिका स्रोत है। अखिल ब्रह्माण्डके स्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, सर्वोद्धारक, परमपिता, 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' स्वरूप, सर्वव्यापी होकर भी अदृश्य रहनेवाले परमात्माके साथ एकतान होनेका प्रयास ही 'प्रार्थना' है। इसका अन्तिम लक्ष्य केवल परमात्माके साथ आत्माका ऐक्य-सम्पादन है।

यदि हम सच्चे दिलसे, एकचित्तसे, विनम्रभावसे प्रार्थना करनेका अभ्यास बना लें तो थोड़े ही समयमें हमको अपने जीवनमें अद्भुत परिवर्तन दिखायी पड़ने लगेगा, अपने प्रत्येक कार्य एवं व्यवहारमें इसके प्रभावकी गहरी छाप पड़ी हुई जान पड़ेगी। जिस व्यक्तिका आन्तरिक जीवन विशुद्ध हृदयसे की गयी प्रार्थनाके फल-स्वरूप उन्नत हो गया है, उसकी मुख-मुद्रा देखने ही योग्य होती है। वह कितना शान्त, समदर्शी और कितने अनोखे ओजसे देदीप्यमान दिखायी देता है! उसके स्वभाव और व्यवहारमें कितना सौजन्य और कितना सौम्य भाव निखर उठता है! उसका हृदय निर्दोष एवं सरल हो जाता है। वह जिघ्र इष्टि डाढता है, उसे अपने प्रियतम प्रभुकी मधुर



झाँकी मिलने लगती है । अंग्रेजी भाषामें व्यक्त किसी भक्तकी यह उक्ति सदैव ध्यानमें रखनेयोग्य है—

If we live a life of prayer,  
God is present everywhere.

सच्चे दिलसे प्रार्थना करनेवाले भक्तके अन्तःकरणकी गहराईमें ईश्वरके प्रति ऐसा अटल विश्वास तथा प्रेमकी ऐसी ज्योति चमकती रहती है कि उसके पवित्र प्रकाशमें वह अपनेको भलीभाँति देख सकता है । अपने दोष, अपने अंदरकी स्वार्थ-वृत्ति, तुच्छ अभिमान या क्षुद्र वासनाओंका अनुभव होनेके कारण उसे अपनी अल्पता, नैतिक उत्तरदायित्व, बौद्धिक लघुता एवं सांसारिक लोभ तथा आसक्तियोंकी असारताका सच्चा भान होता है और इस प्रकार वह अधिकाधिक सात्विक होकर प्रभुका सामीप्य प्राप्त करता है ।

‘प्रार्थना’ वास्तवमें अकारण-करुण, अखिल-ब्रह्माण्ड-नायक पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीभगवान्से शुद्ध हृदयकी वार्त्ता है, प्रभुसे भावनात्मक भेंट है, जीवका परमात्माके सम्मुख होना है । साधन सुगम है, पर फल महान् है—

सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अथ नासहिं तबहीं ॥

इसिलिये ‘प्रार्थना’ जीवके कल्याणका एक महत्त्वशाली साधन है । ‘प्रार्थना’के स्वरूपपर भी थोड़ा विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है—

( १ ) परमात्माकी सत्ता, उसके औदार्य, वात्सल्य, सर्वविध सामर्थ्य, दयालुता आदि कल्याणमय गुण-गणोंपर दृढ़ विश्वास हुए बिना किसी प्रकारकी प्रार्थना करना सम्भव नहीं है । इस विश्वासके अभावमें यदि किसी प्रकार प्रार्थना की भी गयी, तो वह निरर्थक होगी ।

( २ ) दूसरा अनिवार्य अङ्ग है—‘विनय’ । अहंकार और अभिमान प्रार्थनाके भावके विघातक हैं । गजेन्द्रको जबतक अपने बलका एवं अपने यूथके अन्यान्य गजोंकी शक्ति और साहाय्यका अभिमान रहा, तबतक वह भगवत्प्रार्थना नहीं कर सका । जब ग्राहसे संघर्ष करते-करते उसके मन, बल और ओज—सब शिथिल हो गये, अन्यान्य गज भी उसकी रक्षा करनेमें असमर्थ सिद्ध हुए, तब अन्ततोगत्वा सबका भरोसा छोड़कर उसने प्रभुकी शरण ली ।

( ३ ) प्रार्थनाके लिये तीसरा अनिवार्य अङ्ग है—‘शुद्धता’ । लोकमें हम प्रबल शत्रुसे पराभूत होकर कोई उपाय न देखते हुए अपने हितोंकी रक्षाके लिये कपट और दुर्भाव रखते हुए भी केवल नीतिकी प्रार्थना कर सकते हैं । परंतु भगवत्प्रार्थनाके लिये ‘शुद्धता’ परमापेक्षित है ।

अब आइये, प्रार्थनाके आदर्शोंपर भी सूक्ष्म दृष्टिपात करें—

( अ ) आदर्श प्रार्थना यन्त्रवत् की हुई या तोल-स्वरूपकी नहीं होती । अधिकतर हम प्रार्थनाके स्तोमन्त्र यन्त्रवत् बिना उनका अर्थ ध्यानमें लिये पढ़ जाते क्या पढ़ा, इसका भी ध्यान हमें नहीं रहता । इसमें योग नहीं होता । मुँहसे प्रार्थना, मनका विषयोंमें भ्रम यह है यन्त्रवत् प्रार्थनाका स्वरूप । इससे भी किंचित् होता है, पर आदर्श प्रार्थना इसके विपरीत होती । आदर्श प्रार्थनामें शरीर, मन, वाणी—तीनोंका सहयोग है । तीनों अपने आराध्यदेवकी सेवामें एकरूप होते ऐसे महाभागके शरीरसे होनेवाली प्रत्येक क्रिया आराध्यदेवके आज्ञा-पालनार्थ और उनकी प्रसन्नताके होती है । प्रार्थना-कालमें शरीरका रोम-रोम प्रेमसे पुल्ल होता है, मनमें उठनेवाली प्रत्येक वृत्ति भगवत्प्रेमसे रुक होती है, मुँहसे निकलनेवाला प्रत्येक शब्द भगवत्परिप्लुत होता है ।

( आ ) आदर्श प्रार्थना सकाम न होकर पूरिष्काम होती है । सच्ची प्रार्थना स्वार्थका सौदा नहीं । अपने आराध्यदेवके प्रति हृदयमें उफनते हुए आविष्करण है । यत्किंचित् भी सकामभाव या स्वार्थ प्रार्थनाको उसके सच्चे एवं विशुद्धरूपसे भ्रष्ट कर देता है ।

( इ ) सच्ची प्रार्थनामें किसी प्रकारका दम्भ, दिखावा या मिथ्याचार नहीं होता । वह इन बातोंसे बहुत दूर है । वह अपने आराध्यदेवके सम्पर्कमें ही कृतकृत्यता एवं सदैव उनकी प्रसन्नतामें अपनी प्रसन्नता समझती है ।

( ई ) ऐसी प्रार्थना बाहरी या दिखाऊ धार्मिक खानापूरीके लिये नहीं होती । यह तो हृदयकी वस्तु है । इसलिये वह अहर्निश चलनेवाली है । बिना प्रार्थना एक क्षण भी साधकको बेचैन कर देता है ।

‘तद्विस्मरणे परमग्न्याकुलता ।’ ( नारद-भक्ति-सूत्र )



( उ ) सच्ची प्रार्थनामें साधक अपने इष्टदेवकी सन्निधिका निरन्तर अनुभव करता है और फलस्वरूप उसका जीवन आमूल बदल जाता है एवं कभी भी, किसी अवस्थामें उससे पापाचरण होनेकी सम्भावना नहीं रहती । साथ ही उसके सम्पर्कमें रहनेवाले सभी व्यक्ति—चाहे वे परिवारके हों अथवा मित्ररूप हों—सबके ऊपर उसकी अमिट छाप पड़ जाती है तथा साधकका वातावरण शान्ति, दया, समता, उदारता, करुणा, संतोष, सहनशीलता आदि दैवी सम्पदाओंसे परिप्लावित हो उठता है ।

( ऊ ) सच्ची प्रार्थनामें रत साधक परहितमें ही अपना स्वार्थ समझते हुए अपने स्वार्थकी ओर ताकतातक नहीं । सर्वत्र प्रेममय परमात्माके दर्शन करते हुए वह चराचरको उन्हींसे व्याप्त देखता है । 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिः' इसी आधारपर उसके प्रत्येक कर्म होते हैं ।

( ऋ ) सच्ची प्रार्थनाके प्रभावसे साधकके सभी आचार-विचार और क्रियाएँ दिव्यत्वसे ओतप्रोत रहती हैं । उसकी प्रत्येक क्रियामें सहज ही विश्वकल्याणका स्रोत उमड़ता रहता है । वह आदर्श मानवके रूपमें सदा-सर्वदा समाजका कल्याण करता रहता है । अज्ञानी जगत्के तापत्रयसे पीड़ित मानवों और नित्य शुद्ध-बुद्ध-सुक्त सच्चिदानन्द प्रभु—इन दोनोंके बीच सेतु बनकर वह विश्वोद्धार करता रहता है ।

सच्ची प्रार्थनाकी महिमाका विस्तृत वर्णन किया जाय, थोड़ा है । हृदयसे निकली सच्ची प्रार्थनामें अगाध शक्ति होती है; क्योंकि हृदयकी प्रबल भावशक्तिमें पाथरको भी पिघलानेकी शक्ति होती है । फिर यहाँ तो जिनके प्रति यह प्रार्थना की जाती है, वे जीवमानके कम-जगन्नाथके परम हितैषी, अनन्त करुणा, दया, क्षमा, क्षमसे सम्पन्न परम कारुणिक, भक्तवत्सल, दयानिधान, छात्रात् परमपिता परमात्मा ही होते हैं, तब भला इसका प्रभाव ऊपर क्यों न होगा !

मानव-समाजके सम्मुख प्रार्थनाके आदर्शोंको उपस्थित करनेवाले अगणित परम भागवतोंकी कथाएँ हमें इस मार्गपर चलनेमें अत्यन्त सहायक सिद्ध होती हैं । अतः उनकी कथाओंका निरन्तर भवण एवं मनन करके हम कुतकृत्य हो सकते हैं—

होकर भगवान्से नृसिंहवतार धारणकर आसुरी शक्तिको विफल कर दिया ।

सच्ची प्रार्थनाके बलपर ही बालक ध्रुवने ध्रुवपद प्राप्त करके अपना नाम सार्थक कर दिखाया ।

इसी प्रार्थनाके कारण गजेन्द्रकी आर्त्त पुकार सुनकर भगवान् वैकुण्ठ छोड़कर दौड़ पड़े और भक्तकी रक्षा की ।

इसी प्रार्थनाने द्रौपदीके लज्जा-रक्षणार्थ भगवान्से अम्बरावतार धारण करवाया ।

व्रज-गोपाङ्गनाओंकी सच्ची प्रार्थनाने शान और मुक्तिको भी ठुकराकर अपनी परम प्रेमरूपा भक्तिका आदर्श स्थापित कर दिया ।

भगवान् कृष्णसे माता कुन्तीकी प्रार्थना किसीसे छिपी नहीं है, जिसमें उन्होंने निरन्तर विपत्तिकी ही माँग की है, जिससे सम्पत्तिके मदमें कहीं अपने आराध्यदेवकी विस्मृति न हो जाय ।

प्रार्थनाके सच्चे प्रेमी महात्मा गांधी तो यहाँतक कहते थे कि मैं भोजनके बिना रह सकता हूँ, किंतु प्रार्थनाके बिना नहीं; क्योंकि 'प्रार्थना' मन और आत्माका भोजन है ।

प्रार्थनाका यथार्थ एवं महान् आदर्श हमें यूनानके तत्त्वदर्शी महात्मा सुकरातके जीवनमें मिलता है, जो सदैव भगवान्से यह प्रार्थना किया करते थे कि 'हे प्रभो ! मैं अपने हिताहितके विषयमें अबोध हूँ । अतः जिसमें मेरा अहित हो, वह माँगनेपर भी मुझे न दें; जिसमें मेरा हित हो, बिना माँगे ही मुझे दे दें ।'

प्रार्थनामय जीवनको ही एकमात्र आधार बनाते हुए हमें भी गल्लद बाणीसे प्रभुसे यही प्रार्थना करनी चाहिये कि—

मेरी चाही करन की, जो है तुम्हरी चाह ।

तो अपनी चाही करो, यह है मेरी चाह ॥

मेरी चाही हो वही, जो है तुम्हरी चाह ।

तुम्हरी अनचाही कभी, मत हो मेरी चाह ॥

तुम्हरी चाही में, प्रभो ! है मेरा कल्याण ।

मेरी चाही मत करो, मैं मूर्ख अनजान ॥

सारांश यह कि विश्व-कल्याणके लिये एकमेव भगवत्प्रार्थनाका मार्ग ही अनुकरणीय है ।

हरिः ओम् तत्सत् ।

सच्ची प्रार्थना की बालक प्रह्लादने, जिसके प्रेम-वशवर्ती



## सेवा-पथ

( लेखक—श्रीरजेंद्रप्रसादजी जैन )

शिष्य—सेवामार्गमें आनेवाली कुछ कठिनाइयाँ आपके सम्मुख रखनेकी वृष्टता करता हूँ। आशा है, आप कोई-न-कोई उपाय ऐसा बतलानेकी कृपा करेंगे, जिससे उन कठिनाइयोंपर विजय प्राप्त की जा सके।

गुरु—मैं तुम्हारी कठिनाइयाँ सुनना चाहता हूँ।

शिष्य—जिसकी सेवा की जाती है, वह कुछ दिनोंके पश्चात् उस सेवाको अपना अधिकार मानने लगता है और किसी कारण यदि हम वह सेवा करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तो वह फिर विरोधी बन जाता है। इस प्रकार सेवा शत्रुताका कारण बन जाती है। यही नहीं, एक सेवा अन्य अनेक सेवाओंकी माँगको जन्म देती है। जिस प्रकार भोगका परिणाम दुहरा होता है—एक वासनाकी तृप्ति और अनेक नयी वासनाओंका जन्म, इसी प्रकार सेवाका परिणाम भी दुहरा होता है—सेवाके प्रति कृतज्ञता और सेवकके प्रति अन्य नयी आशाओंका जन्म। यही कारण है कि कुछ दिनोंतक मैत्री रहनेके पश्चात् टूट जाती है। यदि उसके नियमनके पीछे कोई धार्मिक, सांस्कृतिक अथवा पारिवारिक चेतना होती है, या कोई रसात्मक अनुभव होता है तो वह फिर जुड़ जाती है; नहीं तो वह टूटी हुई मैत्री उपेक्षा और कहीं-कहीं विरोध या शत्रुताका रूप धारण कर लेती है। सेवा विषमताको जन्म देती है। प्रत्येक व्यक्तिके साधन सीमित होते हैं। वह विशेष क्षेत्रमें ही सेवा-कार्य करता है। जिनकी सेवा की जाती है, वे प्रसन्न हों या न हों, जिनकी नहीं कर पाते, वे बुरा मानने लगते हैं। जिनकी सेवा की जाती है, वे भी इस भयसे कटने लगते हैं कि कहीं हमें सेवाका बदला न चुकाना पड़े। फिर प्रत्येक व्यक्तिके स्वाभिमानको इससे ठेस पहुँचती है कि उसके ऊपर दूसरोंकी सेवा-

का ऋण है। प्रत्येक व्यक्ति अपनेको स्वावलम्बी करना चाहता है, चाहे वह दूसरोंपर कितना ही अधिकार क्यों न रहा हो।

गुरु—तुम चाहो तो प्रत्येक सेवा-मार्गमें आने कठिनाइयोंकी व्याख्या करते रह सकते हो। ये कठिनाइयाँ हैं, परंतु इनका कारण कुछ भ्रम हैं। प्र तो हम दूसरोंकी वासनापूर्तिको ही सेवा मान रहे हैं, जब कि वह सेवा नहीं। दूसरोंका कल्याण करना सेवा है। वासनापूर्ति और कल्याणमें अन्तर है। कल्याणके निमित्त ही कुछ कामनाओंकी पूर्ति की जा चाहिये, परंतु प्रत्येक कामनाकी पूर्ति कल्याण नहीं है। ईश्वरीय विधान प्राणीमात्रके कल्याणके लिये स प्रयत्नशील है, कामनाकी पूर्तिके लिये नहीं। जब हम किसी प्राणीके कल्याणके लिये प्रयत्न करते तब ईश्वरीय शक्ति हमारी सहायता करती है और हम किसी प्राणीकी ऐसी कामना-पूर्तिमें लग जाते जो कल्याणमार्गके विरुद्ध हो, तब हम ईश्वरीय शक्ति विरुद्ध लड़ते हैं और विडम्बना यह कि उसे सेवा नाम देकर उल्टे पुरस्कार चाहते हैं।

सेवा-मार्गमें दूसरी भ्रान्ति यह है कि हम जिस सेवा करते हैं, उसी प्राणीसे उसका प्रत्युपकार चाहते हैं। हम नहीं समझते कि सारा ब्रह्माण्ड एक विश्वात्मा परमात्मा का शरीर है। यदि हमने मुखको भोजन दिया है तो यह आवश्यक है कि मुख ही उसका मूल्य चुका उसका मूल्य हाथ चुका सकता है। यही सेवा संदर्भमें समझना चाहिये। यदि हमने किसीकी विश्वात्माकी सेवा सम्पन्न कर की है तो वह अपने अन्तः से सेवाका मूल्य और किसी अङ्गके द्वारा चुका देगा। जिनमें भी हम यही देखते हैं। बच्चोंकी सेवाका मूल्य



उन बच्चोंसे न माँगकर उनके माता-पितासे माँगते हैं। सेवा की, उन्होंने कुछ नहीं दिया; परंतु एक बार भी यह नहीं बतलाते कि हमारे पास कितना सुख उन लोगोंद्वारा आया है, जिनकी हमने कोई सेवा नहीं की। यही बात दूसरोंको कष्ट पहुँचानेके विषयमें भी समझ लेनी चाहिये। जिनको हमने पीड़ा दी है, आवश्यक नहीं, वे ही हमपर बदलेमें चोट करें। वह चोट कहींसे भी अनायास आ सकती है। आयेगी अवश्य।

## परम धर्म—अहिंसा

### [ मांसाहार मनुष्यके लिये हिंसा एवं अधर्म ]

( लेखक—डा. श्रीमानसिंहजी. के. एस. )

अहिंसा ही परम धर्म है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। संसारके सभी प्रमुख धर्म-सम्प्रदायोंके धर्मग्रन्थोंका ध्यानपूर्वक अध्ययन करनेपर हमें यह भलीभाँति ज्ञात होगा कि कोई भी धर्मग्रन्थ हिंसा एवं मांसाहारकी आज्ञा नहीं देता। प्राचीन ग्रन्थोंमें कहीं-कहीं कुछ विशेष परिस्थितियोंमें सम्मति दी गयी है, जो अर्थयुक्त है। इसके अतिरिक्त जहाँ-कहीं हिंसा, मांसाहार एवं मत्तपानकी खुली झूट दी गयी हो, वहाँ उसका या तो अर्थ कुछ और ही होगा, अथवा वह तथाकथित आज्ञा कुछ स्वार्थी तत्त्वोंने गढ़कर कालान्तरमें धर्मशास्त्रोंमें सम्मिलित की है, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये; क्योंकि एक ही ग्रन्थमें एक-दूसरेके विपरीत आज्ञाओंका समन्वेष असम्भव प्रतीत होता है।

इस सम्बन्धमें सनातनधर्म, इस्लाम एवं ईसाइयत (Christianity) के धर्मशास्त्रोंसे कुछ अंश प्रमाणके रूपमें नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनको बुद्धि-विवेककी कसौटीपर कसकर यह समझा एवं निर्णय किया जा सकता है कि जीव-हिंसा तथा मांस-भक्षण मनुष्यके लिये कहाँतक न्यायोचित है।

सनातनधर्मके प्राचीन धर्मग्रन्थ मनुस्मृतिमें वर्णित निम्न श्लोकोंपर विचार कीजिये—

योऽहिंसकानि भूतानि दिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।

स जीवश्च मृतश्चैव न कश्चित्सुखमेधते ॥

( ५ । ४५ )

‘जो अहिंसक प्राणियोंकी अपने सुखकी इच्छासे हिंसा

करता है, वह जीता हुआ ही मृतकके समान है और उसे कहीं भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती।’

भगवान् मनु फिर कहते हैं—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।

चंस्कृता चोपहृता च खादकश्चेति घातकाः ॥

( ५ । ५१ )

‘जीव-वध करनेकी अनुमति देनेवाले, वध किये हुए जीव-शरीरोंके टुकड़े-टुकड़े करनेवाले, वध करनेवाले, मांसका क्रय-विक्रय करनेवाले, मांस पकानेवाले, परोसने या लानेवाले और मांस खानेवाले—इन आठ प्रकारके मनुष्योंकी गणना घातकोंमें ही होती है।’ फलतः ये सभी महापातकी हैं।

हिंदू धर्मशास्त्रोंमें निर्दिष्ट उक्त निषेधाज्ञाओंके अतिरिक्त अन्य धर्मसम्प्रदायोंके गुरु एवं महात्माओंने भी हिंसाको अधर्म एवं पाप मानकर अपने अनुयायियोंको इससे बचे रहनेका उपदेश दिया है। इस्लामी एवं ईसाई धर्मशास्त्र एवं फकीर और महात्माओंने हिंसाको परमात्मा (खुदा या God) की मर्जीके विरुद्ध एवं पापकर्म कहा है। इस्लामधर्मके मुख्य धर्मशास्त्र कुरानकी निम्नलिखित आयतोंसे यह बात भलीभाँति स्पष्ट होती है—

### कुरान सारा हज आयत—३६

‘लेयनाल्लहाह ऊहू मोहा व लादेमाओहा वलाकौ यनालहू

अन्तकवामिनकुम’

अर्थ—जिनको तुम कुर्बानीके नामसे मारते हो, उन-



उन जानवरोंका मांस एवं खून अल्लाहके पास नहीं पहुँचते ।  
उसके पास पहुँचती है तुम्हारी परहेज-गारी, अर्थात् इत्या  
करनेसे परहेज । अहिंसाका पूर्णतः पालन ही उसको  
कबूल होता है ।

### कुरान ख़रा इनाम आयत—१३६

‘बमिनरु अनआमें हमूलतुन व फर्शकुलू मिम्मा रिज़क  
कुमुअल्ला हो ।’

‘मैंने जानवरोंमेंसे बोझ उठानेवाले इसलिये पैदा किये  
हैं कि तुम उनसे बारबरदारी अर्थात् बोझ उठाने और हल  
जोतनेका काम लो । और उनको खाओ, जो जमीनसे लगी  
हुई हैं—अर्थात् अन्न, सब्जी, कंदमूल, फल इत्यादि; क्योंकि  
अल्लाहने इन्हीं वस्तुओंको रिज़क यानी खानेको दिया है ।’

इसी तरह महात्मा शोख़सादी फरमाते हैं—

मवारा दरपये आज़ार हच खाहीकुन कि  
दर शरीअते मा अजीगुना है नेस्त ।

‘किसी जीवको दुःख देनेके पीछे मत पड़ो और जो चाहे  
करो; क्योंकि मेरे धर्मशास्त्रमें इससे बढ़कर और दूसरा कोई  
पाप नहीं है ।’

ईसाई-धर्मके मुख्य दस नियमोंमें एक अहिंसा ( Non-  
violence ) भी है । इसके प्रमुख ग्रन्थ बाइबलमें जीव-हिंसा-  
के सम्बन्धमें कई जगह स्पष्टतया निषेधाज्ञाएँ हैं, जिनके कुछ  
अंश नीचे दिये जाते हैं:—

### New Testament, Romana Chapter XIV, 20-21:—

‘For meat destroy not the work of God.  
All things, indeed are pure; but *it is* evil for  
that man who eateth with offence. *It is*  
good neither to eat flesh, nor to drink wine,  
nor *any thing* whereby thy brother stum-  
bleth or is offended, or is made weak.,

‘मांसके लिये ईश्वरकी रचनाको नष्ट मत करो । संदेह  
नहीं कि सब वस्तुएँ, जो ईश्वरने बनायी हैं, पवित्र हैं । परंतु  
जो मनुष्य दूसरे प्राणीको दुःख पहुँचाकर खाता है, वह  
पाप करता है । मांस खाना एवं मदिरापान करना अच्छा नहीं  
है और न किसी प्रकारका ऐसा कार्य करना ही उत्तम है,  
जिससे तुम्हारे भाईको ठोकर लगे अथवा धक्का पहुँचे या  
दुःख हो तथा निर्वन्धता प्राप्त हो ।’

### Micah, Chapter III, 2-4:—

Who hate the good, and love the evil,  
who pluck off their skin from off them and  
their flesh from off their bones; who  
also eat the flesh of my people, and flay  
their skin from off them; and they break  
their bones and chop them in pieces, as  
for the pot, and as flesh within the caldron.  
Then shall they cry unto the LORD, but  
they will not hear them; he will even hide  
his face from them at that time, as they  
have behaved themselves ill in their  
doings.

‘जो लोग भलाईसे घृणा करते हैं और बुराईसे प्यार  
करते हैं, जो पशु-पक्षियोंकी खाल उनके शरीरसे और मांसको  
उनकी हड्डीसे खींच लिया करते हैं, जो मेरे बनाये हुए  
जीवोंका मांस-भक्षण करते हैं, उनसे उनका चमड़ा उधेड़ देते हैं  
जो उनकी हड्डियोंको तोड़ डालते हैं और उनके टुकड़े-टुकड़े  
कर डालते हैं तथा अनेक विभिन्न पात्रों यानी देगचोंमें उनके  
मांसको पकाते हैं, यदि वे हजारों बार ईश्वरके सामने पुकारें  
तो भी वह उनकी एक नहीं सुनेगा । जबकि उस समय वह  
अपना मुँह उनसे छिपा देगा; क्योंकि उन लोगोंने अपराध  
करनी बहुत ही बुरी की है ।’

### Genesis, Chapter I, 29:—

And God said, Behold, I have given  
you every herb bearing seed, which is  
upon the face of all the earth, and every  
tree, in which is the fruit of a tree yielding  
seed; to you it shall be for meat.

‘ईश्वरने कहा—‘मैंने प्रत्येक ओषधि ( गेहूँ, चावल,  
जौ, चना इत्यादि ), जिन्हें खानेके पश्चात् उसके बीजों  
आगेके लिये फल हो सकती है अर्थात् उस जातिका वितरण  
नहीं होता और जो सर्वत्र पृथ्वी-मण्डलपर है, तुमको दी है  
वे वृक्ष भी तुम्हें दिये हैं, जिनमें फल लगते हैं और जिन  
फलमें बीज होता है । ये ही तुम्हारे भोज्य पदार्थ हैं ।’

### Hosia, Chapter VI, 6:—

For I desire mercy and not sacrifice  
and the knowledge of God more than  
burnt offerings.



“ईश्वर कहता है कि मैं दया चाहता हूँ, बलिदान नहीं। ईश्वरका ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान, इवनसे उत्तम है, न कि यज्ञमें दी गयी पशुबलि।”

यदि धर्मके आधारपर जन-समुदायका विभाजन किया जाय तो सबसे अधिक संख्या इन तीन धर्मोंके अनुयायियोंकी ही रहेगी और जैसा कि हम देख चुके हैं, ये तीनों धर्म (सनातनधर्म, इस्लाम एवं ईसाई धर्म) जीवहिंसाको पातक एवं अहिंसाको सिद्धान्तरूपमें स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त और भी जितने छोटे-छोटे धर्म एवं सम्प्रदाय संसारमें विद्यमान हैं, जहाँतक हमने समझा है, उनमेंसे कोई भी जीवहिंसाको अच्छा नहीं बतलाता।

यह तो रहा जीवहिंसाका धार्मिक ग्रन्थोंके आधारपर विवेचन। अब हमें आजके स्वतन्त्र विचारधारावाले लोगोंके समक्ष इस सम्बन्धमें मौलिक रूपसे, सामान्य बुद्धि-विचारके आधारपर सृष्टिकर्ताके प्राकृतिक नियमोंका विश्लेषण करना है।

कोई भी व्यक्ति, जो पुनर्जन्म एवं सृष्टिके रचयितामें किञ्चिन्मात्र भी विश्वास करता है, अपने विवेकसे यह समझ सकता है कि उसका किस कामके करने या न करनेमें कितना अधिकार है। सृष्टिके उत्पत्तिकर्ताने संसारमें अनेक प्रकारके जीव उत्पन्न किये हैं और यह देखनेमें आता है कि प्रत्येक जीवके प्रत्येक कार्यकी प्राकृतिकरूपसे कुछ सीमा निर्धारित है। जिन जीवोंको प्रकृतिने मांसाहारी बनाया है—जैसे कि शेर, चीता, तेंदुआ, गीध, चील इत्यादि—वे दूसरे जीवोंका मांस भक्षण करते हैं और जो जीव शाकाहारी हैं—जैसे हाथी, घोड़ा, गाय, भैंस, बकरी, भेड़, बंदर, कबूतर इत्यादि, वे मांस-भक्षण नहीं करते। जो जीव मर्यादाका उल्लङ्घन करता है, यानी धर्म त्यागकर अधर्म करता है, वह अन्तमें निश्चय ही विनाशको प्राप्त होता है। धर्मरक्षारे रक्षा होती है।

प्रकृतिने मनुष्यको मांसाहारी जीवोंकी श्रेणीमें रखा है अथवा नहीं और मनुष्यके लिये कितनी हिंसा किस रूपमें अनिवार्य या मर्यादित है, इसका निर्णय हमें करना है। जहाँतक मांसाहारका प्रश्न है, मनुष्य और उसके समक्ष अन्य जीवोंकी शारीरिक आकृति एवं आहार-विहारका तुलनात्मक दृष्टिसे विवेचन करनेपर मनुष्यके मांसाहारी अथवा शाकाहारी होनेका निर्णय हो सकता है। अन्य सभीपक्षी जीवोंसे तुलना करनेपर मनुष्यकी आकृति लंगूर,

बंदर, रीछ एवं चिम्पांजी इत्यादिसे अधिक मिलती-जुलती है और कुछ लोगोंका ऐसा अनुमान है कि ये ही मनुष्यके पूर्वज हैं, हालाँकि इनके और मनुष्यके बीचकी स्थितिवाला कोई जीव न तो कभी किसीके देखनेमें आया है और न सुननेमें ही। इससे सिद्ध होता है कि यह सिर्फ एक मनगढ़ंत कल्पना है। फिर भी हम यह देखते हैं कि मनुष्यके समान आकृतिवाले ये सभी प्राणी शाकाहारी ही हैं, जो प्राकृतिक दृष्टिसे मनुष्यके शाकाहारी होनेकी पुष्टि करते हैं।

जीव-सृष्टिका निम्नलिखित चार श्रेणियोंमें विभाजन किया गया है—(१) पिण्डज, (२) अण्डज, (३) स्वेदज, (४) उद्भिज्ज। इन विभागोंमें मनुष्य पिण्डजमें शामिल है। अतः हम इस श्रेणीके ही जीवधारियोंका तुलनात्मक विवेचन करते हैं। पिण्डज प्राणियोंमें तीन प्रकारके जीव हैं—

(१) वे जीव, जो फल-फूल, अन्न, कंद-मूल एवं घास इत्यादि वनस्पतियोंद्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। इस श्रेणीमें बंदर, लंगूर, गाय, भैंस, घोड़ा, हाथी, भेड़, बकरी, ऊँट इत्यादि जीव आते हैं।

(२) वे जीव, जो दूसरे जीवोंको मारकर उनके मांस-द्वारा अपना जीवन-निर्वाह करते हैं—जैसे शेर, चीता, तेंदुआ, भेड़िया इत्यादि।

(३) वे जीव, जो मांस एवं अन्न-दूध दोनोंको ही ग्रहण करते हैं—जैसे कुत्ता, बिल्ली इत्यादि।

चूँकि प्रश्न मनुष्यके मांसाहारी अथवा शाकाहारी होनेका है, अतः मनुष्यके आहार-विहारकी तुलना अन्य पिण्डजोंके आहार-विहारसे भी करनी चाहिये।

इस सम्बन्धमें सबसे पहले, समस्त मांसाहारी एवं शाकाहारी जीवोंके पेय पदार्थ ग्रहण करनेकी प्रक्रियाको ध्यान-पूर्वक देखनेसे ज्ञात होगा कि समस्त मांसाहारी प्राणी जीभ लटकाकर (जीभद्वारा) पेय पदार्थ ग्रहण करते हैं, जब कि शाकाहारी प्राणी (गाय, भैंस, बकरी इत्यादि) मुँह लगाकर होठद्वारा ही पेय पदार्थ ग्रहण करते हैं। चूँकि मनुष्य भी होठोंद्वारा ही पेय पदार्थ ग्रहण करता है, अतः वह स्वभावतः ही शाकाहारी है। दूसरे, जन्मके समय समस्त मांसाहारी जीवोंकी आँखें बंद रहती हैं, जब कि शाकाहारी जीवोंकी आँखें जन्मने ही खुली रहती हैं। इससे भी मनुष्यका शाकाहारी होना सिद्ध होता है। तीसरे, अँधेरेमें शाकाहारी जीवोंको कम



दिखायी देता है। इसके विपरीत मांसाहारी जीव अन्धकारमें भी अपना शिकार देख लेते हैं। चौथे, मांसाहारी नर-मादा सम्भोगके समय जब मिलते हैं, तब उसकी समाप्तिसे पूर्व अलग नहीं हो पाते, जब कि शाकाहारी जीवोंके साथ ऐसी बात नहीं है। पाँचवें, मांसाहारी जीवोंके शरीरमें पसीना नहीं आता, किंतु शाकाहारी जीवोंको स्वेद आता है। छठे, मांसाहारी जीवों तथा शाकाहारी जीवोंकी आँतोंकी बनावटमें भी अन्तर होता है। शाकाहारी प्राणियोंकी आँतें मांसाहारी प्राणियोंकी अपेक्षा बड़ी होती हैं। सातवें, मांसाहारी प्राणियोंके बगलके दाँत (खूँटे) बाकी दाँतोंकी अपेक्षा बड़े होते हैं, जब कि शाकाहारियोंके साथ ऐसा नहीं है।

मांसाहारी एवं शाकाहारी जीवधारियोंकी शारीरिक रचना एवं उनके आहार-विहारके तुलनात्मक विवेचनसे यह स्पष्ट है कि चूँकि मनुष्यमें भी अन्य शाकाहारी प्राणियोंके समान ही गुण एवं धर्म विद्यमान हैं, अतः सृष्टिकर्ताके विधानानुसार अथवा प्राकृतिक दृष्टिसे वह शाकाहारी ही है। तीसरे प्रकारके जीव, जो मांसाहार भी करते हैं और अन्न-दूधसे भी निर्वाह करते हैं—जैसे कुत्ता, बिल्ली इत्यादि, ये वास्तवमें मांसाहारी ही हैं। मनुष्यके सम्पर्कमें आनेसे ही ये दोनों प्रकारके आहारके अभ्यासी हो गये हैं।

जैसा हमने सिद्ध किया है, मनुष्यको प्रकृतिने शाकाहारी ही बनाया है। यदि वह मांसाहार करता है तो प्रकृतिके विरुद्ध कार्य करता है और प्रकृतिका यह सिद्धान्त है कि उसके विरुद्ध कार्य करनेवालोंको स्वयं ही कष्ट एवं हानि उठानी पड़ती है और वे अन्तमें विनाशको प्राप्त होते हैं—जैसे जलप्रवाहके प्रतिकूल दिशामें प्रयास करनेसे शारीरिक कष्ट होता है, विशेष हानि भी होती है और शारीरिक शक्तिकी सीमा समाप्त हो जानेपर शरीरान्त भी हो सकता है।

यह पहिले ही कहा जा चुका है कि संसारके तीन बड़े धर्म-सम्प्रदायों तथा अनेक दूसरे सम्प्रदायोंने जीव-हिंसाका निषेध किया है। चूँकि मांसकी प्राप्ति बिना जीव-हिंसाके होती ही नहीं और हिंसा करना पाप है, अतः मांसाहार भी अप्राकृतिक, अधर्म एवं पाप है, यह बात मनुष्यको अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। लोगोंका यह कहना कि चूँकि उनके पूर्वज मांस खाते आये हैं, इसलिये वे भी खाते हैं, हेय—अनुचित है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि वे निरुत्तर होनेके कारण मांस-भक्षण करनेके लिये कोई बहाना ढूँढ़ते हैं।

बहुत-से लोग मांस और अंडेको वनस्पतिकी अपेक्षा अधिक पुष्टिकर मानते हैं और इसी बहाने इनका भक्षण करते हैं परंतु उनका यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है। आज डाक्टरों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि मांसमें पौष्टिक तत्त्व अत्यंत कम हैं। मांसके ३६ प्रतिशतमें ही वह अंश—तत्त्व रहता है जिससे पुष्टि होती है। शेष ६४ प्रतिशत भागमें सिर्फ पानी रहता है। अनाजके १०० भागोंमें ८० से लेकर ९० तक भागोंमें पुष्टिकारक तत्त्व रहता है तथा केवल १०-२० भागमें पानी रहता है।

यह भी देखनेमें आता है कि लोग मांस-प्राप्तिकी आस सुगंध, मछली और अन्य जीव पालते हैं और उनका अन्नकी पौष्टिक सामग्री खिलाकर तैयार करते हैं। वे यह मान जाते हैं कि उक्त जीवोंको अन्न-सामग्री खिलानेके बदले कितना मांस प्राप्त कर पाते हैं और वह मांस उस अन्नके बदलेमें खाद्यकी समस्या किस हदतक सुलझाता है। आर्थिक दृष्टिसे मांस मँहगा होनेके कारण पालनेवालोंको कुछ आर्थिक लाभ भले ही हो जाय, परंतु उन्हें अन्न-व्ययके बदलेमें मांस कम ही प्राप्त होगा।

कुछ लोग स्वादके लिये ही मांसाहार करते हैं। सम्बन्धमें तो केवल इतना ही कहना काफी है कि किसी गंदे-से-गंदे पदार्थको स्वादिष्ट बनाया जा सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ईश्वरप्रदत्त या प्राकृतिक भोज्य पदार्थ है।

निम्नलिखित सारणीसे यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाय है कि कुछ वनस्पतियोंमें मांस एवं अंडेसे अधिक पौष्टिक तत्त्व है—

पदार्थ	प्रोटीन अर्थात् मांस बनानेवाला अंश	उष्णोदक अर्थात् चर्बी बनानेवाला अंश	कैलोरीज अर्थात् उत्पादकमान प्रति पाउंड
भैंसका दूध	४.०	७ से ९ तक	४८०
मुर्गीका अंडा	१४.८	१०.५	७२०
मांस	२४.००	२.५	२७६
सोयाबीन	४०.००	२०.३	२१००

आजकल हमारे देशके समस्त खाद्य-समस्या भीषणत्व विद्यमान है। इस समस्याके निराकरणके लिये अनेक ढूँढ़े जा रहे हैं। जन-संख्या न बढ़ने देनेके लिये भी अनेक



उपाय किये जा रहे हैं। यहाँतक कि गर्भपात-जैसे अमानवीय कृत्यके लिये भी कानूनमें छूट देनेके प्रश्नपर विचार हो रहा है। कुछ लोग मांसाहारको खाद्य-समस्याका एक हल मानकर उसे बढ़ावा दे रहे हैं। इसकी पूर्तिके लिये वृहत्परिमाणमें जीववध करने, मत्स्य पालने एवं अंडोंका उत्पादन करनेके बड़े-बड़े केन्द्र खोले जा रहे हैं और इन उद्योगोंको शासनद्वारा अधिक-से-अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है। किंतु इन उपायोंसे खाद्य-समस्याका हल तो सम्भव नहीं, वरन् इसके विपरीत मनुष्यका मनुष्यतासे पतन अवश्यम्भावी है। इतना ही नहीं, अपितु पशु-पक्षियोंका मांस-भक्षण करके मनुष्य क्रमशः मनुष्यतासे गिरकर हैवान और हैवानसे शैतान ही बनेगा।

जब अनेक प्रकारके जीवोंका वध करके उनका मांस एकत्रित किया जा सकता है, तब इसका अर्थ यह हुआ कि मांस-मांसमें विशेष अन्तर नहीं है। इससे यह समझमें आता है कि मनुष्य अब कैसे-कैसे जवन्य कर्म करनेपर उतारू हो चला है। इन्हीं प्रवृत्तियोंके विकसित हो जानेका परिणाम है कि लोगोंने बालकोंका अपहरण एवं वध करके उनका मांस खाद्य-सामग्रीके रूपमें बेचा तथा भक्षण किया और कराया। मनुष्यका यदि इतना पतन हो सकता है तो धर्म और संस्कारका त्याग करके प्रतिदिन मरनेवाले हजारों मनुष्योंसे और भी अधिक मांस प्राप्त किया जा सकता है। यही नहीं, फिर तो खाद्य-समस्या हल करने एवं जनसंख्या कम करनेके हेतु ऐसी आशा भी दी जा सकती है कि निश्चित रूपसे अधिक संतान पैदा करनेपर शेष संतान सरकारको भोज्य-पदार्थके निमित्त भेंट कर दी जाय। क्या कोई भी समाज या शासक इस प्रकार मानव-जातिसे मांस प्राप्त करनेकी बात पसंद कर सकता है? यदि नहीं, तो फिर दूसरे जीवोंका मांस-भक्षण करनेमें मनुष्यका क्या अधिकार है? क्या अपने स्वाद एवं उदर-भरणके लिये ईश्वरद्वारा रचे गये जीवोंकी हत्या करना पाप या अधर्म नहीं है? क्या यही मान्यता है? हमने इन जवन्य कृत्योंसे अपने-आपको कितना पतित कर लिया है?

हमारे देशने अपने आध्यात्मिक एवं नैतिक बलसे संसारके समस्त देशोंकी गुरुता प्राप्त की थी। संसारको सत्य, अहिंसा एवं मानवताका पाठ पढ़ाया था, जिन आदर्शोंको सामने रखकर संसारके अन्य देश इस दिशामें अपना स्तर ऊँचा कर रहे हैं। इसके विपरीत हम पतनके गर्तकी ओर चले जा रहे हैं और उलटे उनकी नकल करते जा रहे हैं।

हमारे देशमें धरतीकी कमी नहीं है। साथ ही भारत-माताके सपूतोंकी भी कमी नहीं। प्राकृतिक साधनोंसे भरा हुआ हमारा देश है। हम चाहें तो धन-धान्यसे स्वयं तो आत्मनिर्भर हो ही सकते हैं, साथ ही दूसरोंकी भी सहायता कर सकते हैं। हमारे सामने जापान-सरीखे देशोंके उदाहरण हैं, जो थोड़ी-सी धरतीपर वर्षमें पाँच-छः फसल तैयारकर प्रचुरमात्रामें खाद्यसामग्री पैदा कर लेते हैं। अपने उपभोगसे बचाकर दूसरे देशोंको निर्यात भी कर देते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है, हम भी खाद्यके क्षेत्रमें न केवल आत्म-निर्भर, वरन् दूसरे देशोंकी भी सहायता करनेमें समर्थ हो सकते हैं। परंतु यह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने इतिहासके अनुसार अपनी परम्परागत संस्कृति, अधिकार एवं मानवधर्म (अर्थात् अनादि सनातन धर्म) के रक्षार्थ कार्य करना ही अपना धर्म एवं कर्तव्य समझकर कर्म करनेको उद्यत होंगे। तभी हम वास्तविक रूपमें देशकी रक्षामें समर्थ हो सकेंगे। जंबतक हमें अपना ही ज्ञान नहीं कि हम कौन हैं, हमारा देश, हमारी संस्कृति और धर्म क्या है, तबतक सच्चे अर्थमें हम अपने-आपको अज्ञानतावश मिटाते ही रहेंगे और इसका परिणाम अन्तमें विनाश ही होगा। अतः सावधान होनेमें ही हमारी कुशल है।

इसी प्रकार गोवध-बंदी-आन्दोलन भी महात्माओं एवं धार्मिक भावुक भारतीयोंद्वारा चलाया जा रहा है। शासनसे अनेक प्रकारके उत्तर-प्रत्युत्तर चल रहे हैं। परंतु गोवध बंद होनेमात्रसे मार्गदर्शन नहीं होगा। आज जो हमने पशु-पक्षियोंको मारना, खाना, बेचना ही कर्तव्य अथवा खाद्य-समस्याका हल मान लिया है, इसके त्यागसे स्वयं ही मार्ग प्रशस्त होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।

कहा है:—

“Where there is a will, there is a way.”

इन सब बातोंसे यह सिद्ध हो चुका है कि अहिंसा ही मानवका परम धर्म है और हिंसा ही पातकोंमें जकड़ने वाला है। चूँकि मांसकी प्राप्ति बिना हिंसाके हो ही नहीं सकती, अतः हिंसा और मांसाहारमें प्रवृत्ति पाप और मानवमात्रके लिये अप्राकृतिक अर्थात् अधर्म है, परिणामतः पतनका कारण है। अतः मांसाहार एवं जीवहिंसाने त्यागकर, अहिंसका अवलम्बन करके धर्मके मार्गपर आलूढ़ होना ही प्रत्येक मानवका परम पवित्र कर्तव्य एवं धर्म है।



## आखिर हम करते क्या हैं ?

( लेखक—श्रीहरकिशनदासजी अग्रवाल )

प्रायः हरेक मनुष्य किसी-न-किसी दौड़में चला जा रहा है; किंतु उसे यह पता नहीं कि वह कहाँ जा रहा है, उसे करना क्या है । हरेक मनुष्य जाने-अनजाने शान्तिकी खोजमें लगा है, किंतु वह जितना आगे बढ़ता है, शान्ति उतनी ही दूर आगे सरकती जाती है । जैसे हम जहाँ खड़े हैं, वहाँसे दूर, आकाश पृथ्वीके साथ मिला लगता है, किंतु ज्यों-ही हम आगे चलते हैं, आकाश और पृथ्वीका मिलन दूर होता जाता है ।

वस्तुतः आकाश तथा पृथ्वीका मिलन कभी हुआ ही नहीं; किंतु हमें मिथ्या प्रतीति होती है, जो कि भ्रान्ति है । आँखोंसे तो हमें आकाश और पृथ्वी मिलते प्रतीत होते हैं, किंतु जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, वह मिलन भी दूर होता जाता है । आगे बढ़नेपर भी हम इस भ्रान्तिका निवारण नहीं कर पाते । न समझते हुए भी समझते हैं कि आकाश और पृथ्वी दूर नहीं ।

मरुमरीचिकाका जल हमें प्रतीत होता है, किंतु यदि हम गागरमें जल लेने जायँ तो हमें कहीं जलकी प्राप्ति नहीं होती और हम घोर निराशा ले वापस लौटते हैं । जल लेनेके लिये हम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते हैं, त्यों-त्यों जल भी आगे बढ़ता जाता है । अन्तमें मनुष्य जलकी तलाशमें हिरनकी तरह भटकता हुआ अपने प्राण दे देता है ।

हम उपाय तो करते हैं शान्तिका, किंतु हमारे हाथ अशान्ति ही लगती है । हम धन-दौलत, स्त्री-परिवार, मकान-भूमि तथा सम्पत्ति इत्यादि शान्तिके लिये एकत्र करते हैं; फिर सोचते हैं कि हमारी शादी हो जायगी तो हम शान्त हो जायँगे । शादीके बाद बच्चोंकी सोचते हैं कि बच्चे होनेपर शान्ति मिलेगी । फिर जब बच्चे हो

जाते हैं, तो सोचते हैं कि जब ये बड़े हो जायँगे तो हम वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर लेंगे । किंतु उनकी सोच और बच्चे भी हो जाते हैं । फिर भी वे उनके मोहमें इतने बँध जाते हैं कि उन्हें आयाकी तरह गोदमें सारे दिन खिलते रहते हैं । हम समझते हैं कि हमारे सुखका साधन है, जब कि कहीं सुखका साधन नहीं । जिंदगीका अन्त सामने दिखायी देता है, कि दुःखका अन्त कहीं दिखायी नहीं देता ।

हमने कई घरोंमें बड़े गौरसे देखा है कि कि सारे दिन करती क्या हैं । वे आपसमें बातें कर रही हैं, साड़ीके डिजायन अथवा किसी आमूखे वारेमें चर्चा करती रहती हैं । अगर दूसरी स्त्री नये जेवर पहने हों, तो मनमें ईर्ष्या शुरू हो जाती है, जो कि कामनाको जन्म देती है और कामना तक पूरी नहीं होती, तबतक उंसीकी उधेड़बुनमें होती रहती है ।

हम प्रायः दूसरोंकी चर्चा करते रहते हैं कि मनुष्य ऐसा है, उसके पास इतना धन है, उसका बुढ़ापेमें नयी शादी कर ली, उसके लड़केका चलन अच्छा नहीं, उसने अमुक मोटर एवं मकान ले लिया । बस, इसी चक्रमें हमारा जीवन व्यतीत जाता है और हम लक्ष्यसे कोसों दूर हो जाते हैं । जीवनका लक्ष्य तो था शान्ति, पर हम अशान्त हो

एक छोटे-से नगरमें एक महात्मा किसी सेठसे मिल गया । सेठ बड़ा प्रसन्न था; किंतु उसी सेठके पास महात्मा पाँच वर्षके बाद फिर गया तो सेठ बड़ा दुःखी था । महात्माने पूछा, 'क्यों सेठजी ! व्यापार इत्यादि सब ठीक है न ?' सेठ दबी आवाजमें बोला— 'महाराज ! व्यापार तो पहलेसे अच्छा है ।' महात्मा बोला—



‘फिर आप खिन्न क्यों हैं ?’ इसका उत्तर देनेमें जब सेठको संकोच प्रतीत हुआ, तब महात्माने सेठानीसे पूछा। सेठानीने महात्माको बताया कि पहले इस नगरमें तीन मंजिल्का मकान हमारा ही था; पर अब एक अन्य मकान पाँच मंजिल्का बन गया है, सेठ उसीको देखकर खिन्न हो गये हैं। अब पहले-सी प्रफुल्लता उनमें नहीं।

एक महात्मा किसीके घर ठहरा। उसे सेठ बड़ा खिन्न-सा लगा। उसने जब सेठसे इसका कारण पूछा, तब सेठ बोला—‘मुझे पाँच लाखका घाटा लग गया है।’ महात्माने यही बात सेठानीसे पूछी कि ‘सेठको घाटा कैसे लग गया है ?’ सेठानीने कहा—‘उन्हें पाँच लाखका घाटा नहीं लगा, बल्कि पाँच लाखका नफा हुआ है।’ संतने पूछा कि ‘फिर सेठ खिन्न क्यों है ?’ सेठानी बोली—‘उन्हें दस लाख नफेकी आशा थी, पर मिला केवल पाँच ही; इस कारण आपको उन्होंने पाँच लाखका घाटा बताया।’

नफेमें भी यदि हम घाटा ही देखेंगे, तो घाटेमें क्या देखेंगे—यह तो ईश्वर ही जाने।

हमारी सारी दौड़ व्यर्थके चिन्तन और चिन्तामें ही समाप्त हो रही है और शक्तिका हास हो रहा है। हम दूसरोंकी चर्चा तो करते हैं, किंतु अपने बारेमें कुछ नहीं जानते। जबतक हम अपने बारेमें नहीं जानेंगे, तबतक बाहरके पदार्थ, व्यक्ति अथवा विषयका आनन्द व्यर्थ है।

हम किसीकी शादीपर जाते हैं तो दो-तीन दिन-तक उसीके बारेमें चर्चा करते रहते हैं कि भोजनमें—दहीबड़ोंमें नमक और बर्फीमें मीठा अधिक था और घरवालोंने चटनी तो रखी ही नहीं। ऐसी-ऐसी व्यर्थकी बातें करते रहते हैं, जिनका न आगा है न पीछा; किंतु हमें मन लगानेके लिये कुछ-न-कुछ बात करनेको चाहिये। हमें एक क्षण भी निष्क्रिय बैठना नहीं

आता; घरमें और कुल नहीं होगा तो हम रेडियो ही लगा लेंगे। रेडियोके गाने सुनना बुरी बात नहीं, किंतु सारे-सारे दिन उसे ही सुनते रहना कहाँतक ठीक है ? फिर आजकल तो सरकारने रेडियोमें व्यापारी विज्ञापन भी शुरू कर दिया है, जिससे संगीत होता है ३ मिनिटका और विज्ञापन होता है ६ मिनिटका। यह भी दूसरोंके बारेमें ही जानकारी है, अपने बारेमें नहीं।

हम किसी स्त्रीकी ओर देखते हैं कि यह लंबी अथवा नाटी, गोरी अथवा काली है, उसके बाल ऐसे हैं, आँखें ऐसी हैं; ऐसी कई प्रकारकी कल्पनाएँ उसके बारेमें करते रहते हैं। अगर स्त्री जैसी है, उसे वैसी ही देखें और अपनी कल्पनाको न दौड़ायें तो वह देखना सही देखना हो जाय। देखनेके साथ जब कल्पनाएँ मिल जाती हैं, तब हमारा देखना विकृत हो जाता है। अगर मनुष्य सुबहसे शामतक अपने कृत्योंकी डायरी रखे और उसे एक माह बाद देखे तो उसे ऐसा प्रतीत होगा कि जैसे वह पागल है; क्योंकि पागलखानेके पागल भी यही सब करते हैं। उनमें भी विचारोंकी तीव्रता है। ‘मैं यह कर दूँगा’, ‘उसे मार दूँगा’, ‘उसने मुझे क्या समझ रखा है ?’ पागल इस प्रकारकी बातें करते रहते हैं, इसलिये वे पागल हैं। पागल दूसरोंको तो पागल समझता है, पर अपने-आपको नहीं। यही तो पागलपन है। जिस मनुष्यको अपने पागलपनका पता लग जाय, वह कभी पागल नहीं रह सकता। बिना प्रयोजन और बिना लक्ष्यका चिन्तन और चिन्ता—यही तो हम सारे दिन करते रहते हैं, जिससे समयकी बर्बादी होती है और जीवनका हास हो जाता है। किंतु हमने सोचा ही नहीं कि हम इस दुनियामें किस लिये आये हैं और हमारा लक्ष्य क्या है। हम संत पुरुषोंके पास जाते ही नहीं; हम समझते हैं कि साधुओंमें रखा ही क्या है। हम साधुओंको भी असाधुवृत्तिसे ही देखते हैं, साधु भी हमें असाधु ही दिखायी देते हैं।



जब मनुष्यकी ऐसी स्थिति हो जाती है, तब उसे कोई भला दीखता ही नहीं। वह अपने अहंकारमें इतना फूला रहता है कि हर बातमें—‘मैं-मैं’ करता रहता है। ‘मैंने ऐसे किया, मैंने वैसे किया, अगर मैं न होता तो शायद प्रलय हो जाता, यह विचार मेरा है, यह काम मैंने ही किया’—इस प्रकारके व्यर्थ चिन्तनमें हम जीवन खो देते हैं। जब कि जीवन वर्तमानमें है; फल-फल, क्षण-प्रतिक्षण जीना है। अगर हमने क्षणभर जीना नहीं सीखा तो हमने जीना ही नहीं सीखा। जो मनुष्य क्षणभर जीना जानता है, उसने

जीनेका रहस्य सापन्न लिया है और जो व्यर्थ चिन्तन चिन्तामें समय बर्बाद करता है, वह जीवनको देता है।

अगर हमारा करना लक्ष्यके लिये है तो हर एक काम हमें लक्ष्यके समीप ले जायगा, लक्ष्य सरा याद बना रहेगा। हमारा सोचना-विचारना, उठना, बैठना, देखना-सुनना किसी उद्देश्यको लेकर और उद्देश्यपूर्तिका जीवन मनुष्यको दुखी एवं अशान्त होनेसे बचा सकता है, एक-न-एक दिन उसे लक्ष्य प्राप्ति करा देता है।

## वह अनोखा दाता है

( लेखक—श्रीराधेश्यामजी बंका, एम० ए० )

सूर्य अपना प्रकाश देता है, अपनी उष्णता देता है और देता है सभीको। सूर्यकी दृष्टिमें भेद नहीं। जलको, थलको; जड़को, चेतनको; पूर्वको, पश्चिमको; मूर्खको, पण्डितको—सभीको समानरूपसे अपना प्रकाश और अपनी उष्णता दे रहा है। न जाने कबसे दे रहा है और न जाने कबतक देता रहेगा। उसका दान सभीके लिये उन्मुक्त है। कोई शर्त नहीं, कोई बूल्य नहीं; जो लेना चाहे, ले, जितना लेना चाहे, ले; सूर्यकी ओरसे कोई प्रतिबन्ध नहीं। यह हमपर है कि उसके प्रकाशको स्वीकार करनेके लिये हमारे द्वार खुले हैं अथवा बंद। उसकी उष्णतासे हम लाभ उठाते हैं अथवा नहीं।

लहलहाती और महमहाती वाटिकाका सौन्दर्य और सौरभ किसके मनको नहीं मोह लेता ? खिले पुष्पोंने वाटिकाको सौन्दर्य और सौरभसे आपूर्ण कर दिया। जो भी वाटिकामें आया, जो भी पुष्पोंके समीप खड़ा हुआ, उसे देखने और सूँघनेका सुख मिला। हर एक देखे, हर एक सूँघे। वाटिकाके सौन्दर्य और सौरभपर कोई

प्रतिबन्ध नहीं। कोई भी आकर देख सकता है, सूँघ सकता है। जितनी देर चाहे, देखे और सूँघे; पर कभी पुष्प मना करते हैं और न कभी वाटिका रोके है। अब यह हमपर है कि वाटिकाके पुष्पोंके सौन्दर्य और सौरभका दान स्वीकार करते हैं अथवा नहीं।

हमारी-तुम्हारी स्वीकृतिसे निरपेक्ष होकर सूर्य अपना सर्वस्व दे रहा है, वाटिका अपना सर्वस्व दे रही है, जिस प्रकार सूर्य और वाटिका उसकी सृष्टि है, उसी प्रकार चाँद और सितारे, सरिता और सागर, वन उपवन—सभी सृष्टि उसीकी है और सम्पूर्ण सृष्टि दान निरपेक्ष है, निरन्तर है। सभी दाता हैं। वैसे ही दाता हैं, जैसा दाता है इनको सृष्ट करनेवाला। स्रष्टा, वैसी ही सृष्टि।

स्रष्टा ने सूर्य और चन्द्रमाकी, वन और वाटिकाकी, सरिता और सागरकी सृष्टि की। मानवमात्रके लिये सूर्यकी सम्पत्ति है, चन्दाकी चाँदनी है, वनकी वनस्पति है, वाटिकाका वैभव है, सरिताका जल है, सागरका मंडार है। कोई भेदभाव नहीं। कोई छोटा और



नहीं। आस्तिक और नास्तिकका कोई अन्तर नहीं। उसकी सम्पूर्ण श्री सभीके लिये है, उसकी सम्पूर्ण सृष्टि सभीके लिये है। इतना ही नहीं, वह स्वयं भी सभीके लिये है। वह विश्वके मङ्गलका विधान करता है, अमङ्गलका निवारण करता है। उसे सभी मानव प्यारे हैं, उसके अपने हैं। उसका प्रत्येक कार्य विश्व-मङ्गलकी भावनासे प्रेरित है और विश्व-मङ्गलमें प्रतिकलित होता है।

हम जानें अथवा न जानें, जानकर भी मानें अथवा न मानें, पर एक है, जो जाननेवालेको भी देता है और न जाननेवालेको भी; माननेवालेको भी देता

है और न माननेवालेको भी। जो उसकी स्तुति करते हैं, उनको वह प्यार करता है और जो अस्तुति करते हैं, उनको भी प्यार करता है। उसका अस्तित्व तुम स्वीकार करो तो, इन्कार करो तो, तुम कुछ भी करो, वह तुमको देता ही रहता है। देता-ही-देता है—वह दे रहा है और देता ही रहेगा। उसका देना हमारी-तुम्हारी मान्यतापर निर्भर नहीं है। उसका दान हमारे-तुम्हारे ज्ञानाज्ञान-सापेक्ष नहीं है। वह अनोखा दाता है, जो अनन्त कालसे सभीको सब कुछ देता चला आ रहा है और अनन्त कालतक अनवरत देता रहेगा।

## स्वर्ण-क्षुधा

[ ऐतिहासिक कहानी ]

( लेखक—श्रीरामजी खरे 'कुसुम' )

भारतपर सम्राट् सिकंदरने आक्रमण किया। भारतकी पवित्र भूमिमें प्रवेश करनेके लिये उसे सर्वप्रथम अजेय योद्धा और महाराज पौरवराजसे युद्ध करना नितान्त आवश्यक था। सिकंदर पौरवके बल-पराक्रमको सुन चुका था; अतः वह अपने सैनिकोंको सिंधु नदीके उसी पार छोड़कर एक दूतके वेषमें पौरवराजसे मिलने आया।

महाराज पौरव देश-भक्त और योद्धाके साथ ही मानव-पारखी भी थे। उन्होंने सिकंदरको लघुवेषमें भी पहचान लिया, किंतु प्रकट नहीं किया; वद्यपि सिकंदरने अपना रूप बड़ी दक्षतासे बदला था। सम्राट् सिकंदरने राजदूतके वेषमें महाराजसे अपने सम्राट्का संदेश कहा कि सिकंदर मनुष्योंके पैरपर तो क्या; सिरपर पैर रखकर भी चल सकनेमें समर्थ हैं। वे अनगिनत राजा-महाराजाओंके राजमुकुटोंका मूल्य एक मामूली गेंदसे ज्यादा नहीं समझते। उन्होंने कितने मुकुटोंको गेंदकी तरह उछालकर फेंक दिया है और वही सम्राट् आज आपसे मित्रता करना चाहते हैं। आप उन्हें पंजाबके बीचमेंसे भारतकी राजधानी दिल्लीकी ओर जाने दें। आपको इस कार्यसे क्षति नहीं होगी। अतः आपको सम्राट्के संदेशका स्वागत करना चाहिये।

पौरवराजने संदेश सुना और मुस्कराकर बोले—

‘राजदूत! इस तो देशके सेवक पहिले हैं, बादमें किसीके मित्र। जिसने हमारे देशको या देशकी स्वतन्त्रताको हानि पहुँचे; ऐसा कोई भी कार्य हम नहीं कर सकते। आपके सम्राट् सामर्थ्यवान् हैं; हमारे सिरोंको कुचलकर ही भारतकी राजधानीतक जा सकेंगे। रही बात मित्रताकी, तो हम तो सारे विश्वको ही अपना मित्र मानते हैं। हम देशके दुश्मनोंसे भी हाथ मिलानेको तैयार हैं, किंतु महलोंमें नहीं, रणक्षेत्रमें तलवारों ही हाथ मिलायेंगी।’

इस उत्तरके साथ ही महाराजने राजदूतको भोजन-हेतु आमन्त्रित किया। दरबार समाप्त होते ही महाराज पौरव अपने मित्रों, स्वजनों, मन्त्रियों, सेनापति एवं अतिथिके साथ भोजनशालामें पधारे। सूर्यरश्मियों-जैसे चमकते स्वर्ण-रजतके पात्रोंमें भोजन परोसा गया। सभीकी थालियोंमें भोजन परोसा गया; पर राजदूतकी थाली खाली थी। वह हैरान-सा महाराजकी ओर देख रहा था।

‘अब हमारे अतिथिका प्रिय भोजन इन्हें परोसा जाय।’ राजाने आज्ञा दी।

आज्ञा पाते ही सेनेकी थालीमें दो सेनेकी रोटियाँ एवं चाँदीके कटोरेमें हीरे-मोतियोंका चूर्ण राजदूतवेवधारी सिकंदरको परोसा गया।



पञ्चकवलके बाद सभीने भोजन प्रारम्भ किया, पर सिकंदर अपनी इस अवमाननासे आश्चर्य-चकित हो रहा था।

‘अतिथि ! हमें अफसोस है कि हम इससे मँहगा भोजन प्रस्तुत करनेमें असमर्थ हैं।’

सिकंदर तिलमिला उठा। वह बोला—‘यह क्या मजाक है, पौरवराज ?’

‘मित्र ! यह मजाक नहीं है, आपका प्रिय भोज्य ही आपको दिया गया है। अब ये रोटियाँ और शाक अपने सम्राट् को जाकर देना और कहना कि, वे इसी भोजनसे अपनी भूख बुझायें।’

विश्व-विजयका स्वप्न देखनेवाला सिकंदर तड़प उठा। उसने कहा—‘क्या आज तक किसीने सोने-चाँदीकी रोटियाँ खायी हैं, जो मैं खाता ?’

‘मेरे प्रिय मित्र सिकंदर ! जब तुम जानते हो कि पेट सोनेकी रोटियोंसे नहीं भरता, सिर्फ अनाजकी रोटियाँ ही

पेटकी भूषा तृप्त कर सकती हैं, तब फिर उन्हीं सोनेकी रोटियोंके लिये क्यों तुम करोड़ों घर बर्बाद करते फिर हो ? क्यों संसारको नष्ट करनेपर तुले हो ? अन्नके क्या मानव-रक्तसे लहलहाते हैं ? नहीं, उन्हें तो पसीनेकी कप और शान्तिकी हवा चाहिये, जिसे तुम नष्ट कर रहे हो। तुम्हें अनाजके बदले सोने-चाँदीकी भूख ज्यादा थी, कारण मैंने तुम्हारे लिये सोनेकी रोटियाँ बनवायी थीं।’

अपने पहचाने जानेसे सिकंदर काफी लजित हुआ वह बुरी तरह घबरा गया था। पर राजा पौरवने बड़े प्रेम से उसे भोजन कराया और उसकी सेनामें भी भिजवा दिया।

महाराज पौरवकी इस सीखसे सम्राट् सिकंदर उठा। भारतसे लौटनेपर फिर उसने किसी देशपर चढ़ाई नहीं की। उसकी समझमें यह बात अच्छी तरहसे आ गई कि मनुष्यकी भूख सोने-चाँदीसे नहीं, अनाजसे ही शान्त हो है और अनाज पैदा करनेमें परिश्रमकी आवश्यकता है, लड़ाई-झगड़े या खून-खराबीकी नहीं।

## दुःखमें सुख

( लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया )

पुराने जमानेमें भारतके अन्य विभागोंकी भाँति राजस्थानमें भी ऐसी मान्यता थी कि अगर किसी व्यक्तिकी अर्थीमें पुत्रका हाथ नहीं लगे या क्रिया-कर्म करनेके लिये पुत्र न हो तो उसे मोक्ष नहीं मिलता। इसलिये वहाँ ‘निपूते’को गाली बहुत खराब मानी जाती थी। पुत्र-प्राप्तिके लिये लोग व्रत-पूजन और कठिन तपस्या करते थे।

शेखावाटी अञ्चलके एक शहरमें एक धनाढ्य सेठ थे। सब प्रकारकी धन-सम्पत्तिसे भरा-पूरा घर होनेपर भी पति-पत्नी संतानके बिना दुखी रहते थे। उन्होंने अनेक प्रकारके व्रत-उपवास, दान-धर्म और तीर्थयात्रा की; परंतु परमात्माने उनकी एक न सुनी। प्रौढावस्था होने लगी, तब एक प्रकारसे दोनों निराश-से हो गये। पड़ोसमें उन्हींकी जातिकी एक गरीब परिवार था, जिनके यहाँ सात लड़के थे। एक दिन दोनों पति-पत्नी उनके घर गये। देखा कि

डेढ़-दो वर्षसे लेकर चौदह-सोलह वर्षतकके बच्चे आँगनमें खेल रहे थे। उन्हें देखकर दोनोंकी आँखें जुड़ा गयीं। सेठानीने गृहस्वामिनीसे कहा—‘बहिन लोग मुझे ‘निपूते’ कहकर ताना देते हैं। तुम्हारे सेठ जब दूकानसे सुने घरमें आते हैं तो दुखी-से रहते हैं। मैं तुम्हारेसे आँचल पसारकर एक बच्चेकी भीख माँग रही हूँ। परमेश्वरने तुम्हें सात दिये हैं—इनके साथ सौ हो जायँ।’

बहुत आरजू-मिन्नतके बाद भी उन लोगोंके निराश लौटना पड़ा।

फतेहपुर ( शेखावाटी ) के पासके एक टीलिया नाथ-सम्प्रदायके एक महात्माजी रहते थे। सब प्रकारके निराश होकर एक दिन वे उनकी शरणमें गये और पकड़कर रोने लगे।

कहते हैं कि नाथजी महाराज वचन-सिद्ध



उन्होंने कहा कि 'अकालका वर्ष है, भूखे-नंगे बच्चोंका पालन करो—भगवान् तुम्हारी सुनेगा ।'

अपने गाँव आकर वे एक बड़े नोहरेमें गरीबोंके भूखे बच्चोंको खिलाने-पिलाने लगे । दोनों पति-पत्नी सारे दिन उनकी देखभाल करते रहते ।

भगवान्की कृपासे एक वर्षके भीतर ही उनके घरमें पुत्र-जन्म हुआ । उस अवसरपर सेठजीने जी खोलकर दान-धर्म और पूजा-पाठ किया । सारे गाँवमें मिश्री-बादाम भेजे ।

बच्चेको लेकर नाथजी महाराजकी सेवामें गये । महाराजजीने कहा कि 'आप दोनोंकी अवस्था भगवान्-के भजन करनेकी है । संसारकी मोह-मायामें जितना काम पड़ोगे, उतना ही अच्छा है ।'

सेठ-सेठानी उस समय इतने हर्ष-विभोर थे कि नाथजीकी इस गूढ़ बातपर उन्होंने ध्यान नहीं दिया ।

सुखके दिन बीतते देर नहीं लगती । देखते-देखते बिहारी स्वस्थ, सोलह वर्षका हो गया । बहुत ही सुन्दर, शिक्षित और विनयी ।

दीपावलीके बाद वे प्रतिवर्ष महाराजजीके पास बिहारीके साथ प्रणाम करने जाते थे । उस बार उन्होंने जब उसके विवाहके करनेकी आज्ञा चाही, तब महाराजजीने टाल-मटोल कर दी और कहा कि 'इतनी जल्दी क्या है ?'

इकलौता लाड़-प्यारका बालक था । सेठ-सेठानी कभी उसे आँखोंसे ओझल नहीं होने देते थे । कभी-किसी दिन उसका पेट या सिर दुखने लगता तो वैद्य-डाक्टरोंसे घर भर जाता । परंतु कहते हैं कि मृत्यु सौ रास्ते बना लेती है ।

राजस्थानमें जिस दिन अच्छी वर्षा हो जाती है, लोग हर्ष-विभोर होकर तालाब—पोखरेमें कितना पानी जमा हुआ है, यह देखनेको जाते हैं । पानीको सिरसे लगाकर आचमन करते हैं ।

ऐसे ही एक दिन बिहारी मित्रोंके साथ गाँवके जोहड़पर गया था । आचमन करते समय पैर फिसल गया और क्षणभरमें ही वह जलमग्न हो गया । बहुत बड़ा तालाब भी नहीं था, परंतु साथियोंके बहुत प्रयत्न करनेपर भी कुछ फल नहीं निकला ।

सेठ-सेठानीका बुरा हाल था । पागल-से हो गये वे । तालाबमें डूबनेके लिये जिद करने लगे । लोगोंने मुश्किलसे पकड़कर रक्खा ।

दूसरे दिन ही दोनों महाराजजीके टीलेपर जाकर उनके पैर पकड़कर बैठ गये । कहने लगे कि 'आपने हमें इस बुढ़ापेमें उलटा दुखी कर दिया । इससे तो अच्छा होता कि हमारे पुत्र पैदा ही न होता ।'

नाथजीने बहुत समझानेका प्रयत्न किया कि 'जो कुल होता है, सब ईश्वरेच्छासे होता है और मनुष्यको उसे शिरोधार्य करना ही चाहिये । बिहारीसे तुम्हारा इतने दिनोंका ही सम्बन्ध था ।'

बहुत विनती-प्रार्थनापर महाराजने कहा कि 'एक गरीब अनाथ बच्चोंका स्कूल खोलकर उनकी पढ़ाईकी और रहने-खानेकी व्यवस्था करो ।'

सेठजीने अपने एक मकानमें ही इस प्रकारके एक छोटे बच्चोंका स्कूल खोल दिया । दोनों पति-पत्नी दूसरे सारे कार्योंको छोड़कर सुबहसे शामतक उनकी शिक्षा, देखभाल और खाने-पिलानेकी व्यवस्था करने लगे ।

बच्चे उनसे इतने हिल-मिल गये कि उन्हें 'माताजी-पिताजी' कहने लगे । कभी उनकी गोदमें जाकर बैठ जाते तो कभी पीछेसे आकर आँखें बंद कर देते । कभी कोई बच्चा बीमार हो जाता तो उनके हाथसे दवा लेनेकी जिद करने लगता ।

'महाराज आपके आदेशका हम पालन कर रहे हैं । हमें उन बच्चोंमें अपना बिहारी मिल गया ।'



# ‘कल्याण’का आगामी विशेषाङ्क—‘श्रीरामाङ्क’

[ सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे सादर प्रार्थना ]

संयम, सदाचार, स्वार्थत्याग, माता-पिता एवं अन्य गुरुजनोंका सम्मान एवं सेवा, परस्पर सौहार्द तथा प्राणिमात्रकी भगवद्भक्तिसे सेवा—भारतीय धर्म एवं संस्कृतिके आधारस्तम्भ हैं। वर्तमान युगमें इन सभी आदर्श गुणोंका जगत्में शोचनीय हास हो रहा है। सर्वत्र अनाचार, दुराचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, व्यभिचार, मर्यादाहीनता एवं उच्छृङ्खलताका बोलबाला है। सत्यनिष्ठा, ब्रह्मचर्य एवं मर्यादित जीवनका लोप-सा हो रहा है। भोगलिप्सा अमर्यादरूपसे बढ़ रही है। परस्पर विद्वेष एवं कलह, मुकदमेबाजी, चोरी-डकैती, मार-काट, जीव-हिंसा, परस्वापहरण, घूसखोरी एवं स्वार्थपरायणता सीमाको पार कर चुके हैं। विद्यार्थियोंमें अनुशासनहीनता, गुरुजनोंके प्रति अवज्ञा तथा उद्दण्डता स्वभावगत हो गयी है। हमारे निकटतम पड़ोसी बँगलादेशमें अधिकारोन्मत्त शासकोंद्वारा मानवताका जो भीषण संस्कार हो रहा है, उसने विश्वकी आत्माको दहला दिया है।

इस घोर नैतिक पतनसे समाज, देश एवं विश्वकी रक्षा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके चरित्रके, जो सभी दृष्टियोंसे आदर्श था, अनुशीलन एवं अनुकरणसे ही हो सकती है। इसके अतिरिक्त श्रीराम और श्रीकृष्ण भारतीय संस्कृतिके प्राण ही नहीं, हम भारतीयोंके जीवन-सर्वस्व हैं। इनकी उपासना देशके सभी विभागोंमें तथा सनातन आर्यधर्मके सभी सम्प्रदायोंमें व्यापकरूपसे प्रचलित है। भगवान् श्रीकृष्णके बहुमुखी जीवन, स्वरूप एवं चरित्रका ‘कल्याण’के श्रीकृष्णाङ्कमें विशदरूपसे विवेचन हो चुका है। इसी प्रकार श्रीरामका ऐतिहासिक एवं नित्य-स्वरूप, चरित्र एवं उपासना भी सबके लिये विशेषरूपसे मननीय एवं विवेचनीय हैं, यही सोचकर आगामी वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें ‘कल्याण’का ‘श्रीरामाङ्क’ निकालनेका निश्चय किया गया है। आशा है, इस निश्चयका ‘कल्याण’के सभी पाठक एवं पाठिकाएँ हृदयसे अनुमोदन एवं अभिनन्दन करेंगे। हमारे इस प्रयासकी सफलता ‘कल्याण’पर अहैतुकी कृपादृष्टि रखनेवाले तथा ‘कल्याण’को

सदा अपना माननेवाले अनुभवी संत-महानुभावों एवं विद्वान् लेखकोंके कृपापूर्ण सहयोग एवं सद्भावनापर ही निर्भर है। आशा है, सा-भौंति इस बार भी वे हमें प्रचुरमात्रामें प्राप्त होंगे।

यद्यपि श्रीरामसे सम्बन्ध रखनेवाले ‘रामायण’, ‘मानसाङ्क’, ‘संक्षिप्त वात्मीकि-रामायणाङ्क’, ‘श्रीरामचर्यानामृताङ्क’के रूपमें चार विशेषाङ्क पहले निकल चुके हैं, फिर भी श्रीरामभक्तोंमें माँग रही है कि ‘श्रीकृष्णाङ्क’की भाँति इस रूपसे ‘श्रीरामाङ्क’ भी निकाला जाय, जिसमें श्रीरामके स्वरूप तथा उनके आदर्श चरित्रके विभिन्न पहलु पर प्रकाश डाला जाय। इसी पवित्र अभिसन्धि है। लेख हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत, बँगला, मराठी अथवा गुजरातीमें भेजे जा सकते हैं। विशेषकर कौन-कौनसे विषय रहेंगे, इसका दिग्दर्शन करके लिये एक संक्षिप्त विषय-सूची आगे दी जा रही है। लेखक महोदय चाहें तो विषय-सूचीके अन्तिम किसी अन्य श्रीराम-सम्बन्धी विषयपर भी भेज सकते हैं। लेख स्पष्ट, सुवाच्य, संक्षिप्त विषयसे सम्बद्ध होने चाहिये तथा हाशिया छोड़कर पंक्तियोंके बीचमें पर्याप्त अन्तर देकर पन्नेके एक ओर लिखने चाहिये। एक ही विषयपर बहुत अधिक आनेपर सारे लेखोंको देना सम्भव नहीं है, केवल चुने हुए लेख ही दिये जा सकेंगे।

सैकड़ों लेखोंको पढ़ने तथा उनमेंसे उचित योग्य सामग्रीको छानने, सजाने, चित्र तैयार करना तथा पौने दो लाख अङ्क छापनेमें पर्याप्त समय अंशित होगा। इसलिये लेखक महोदयोंसे प्रार्थना है कि वे अपनी बहुमूल्य रचनाएँ जूनके अन्त अथवा अगस्त के अन्त में भेज दें, जिससे अङ्क समयपर निकल जा सके। देरीसे आनेवाली रचनाओंकी स्वीकार करनेमें कठिनाई होगी। साथ ही लेखक महोदयोंसे प्रार्थना है कि लेख भेजनेका कष्ट वे ही करें, जिस विषयपर अधिकार हो, जो लेखनकलासे परिचित हों तथा जो अपने भावोंको सुचारुरूपसे सुपाठ्यरूपमें व्यक्त कर सकें।

विनीत—चिम्बनलाल गोस्वामी—सम्पादक



# ‘कल्याण’ के आगामी अर्थात् जनवरी १९७२ के विशेषाङ्क— ‘श्रीरामाङ्क’ की प्रस्तावित संक्षिप्त विषय-सूची

- १—‘शुद्ध ब्रह्म परात्पर राम’
- २—मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम
- ३—भुवनमङ्गल श्रीराम
- ४—विश्वमोहन श्रीराम
- ५—श्रीराम-तत्त्व
- ६—श्रीसीता-तत्त्व
- ७—श्रीसीताराम-तत्त्व
- ८—‘गिरा अरथ जल बीच सम कहिअत भिन्न न भिन्न’
- ९—‘रामस्तु भगवान् स्वयम्’
- १०—‘रामो विग्रहवान् धर्मः’
- ११—त्याग और तपकी आदर्श मूर्ति भगवान् श्रीराम
- १२—श्रीराममें भगवत्ता और मानवताका अद्भुत सम्मिश्रण
- १३—शील, शक्ति एवं सौन्दर्यके मूर्तिमान् विग्रह श्रीराम
- १४—‘महिमा नाम रूप गुण गाथा । सकल अमित अनंत रघुनाथा ॥’
- १५—अनन्त अप्राकृत गुणगणोंके निलय भगवान् श्रीराम
- १६—‘निरूपम न उपमा आन राम समान राघु निगम कहै’
- १७—भगवान् श्रीरामका लोकरक्षक रूप
- १८—भगवान् श्रीरामका लोकरञ्जक रूप
- १९—श्रीरामावतारकी विशेषता
- २०—भगवान् श्रीरामके अवतारका प्रयोजन
- २१—भगवान् रामकी जन्मकुण्डली और आविर्भाव-काल
- २२—भगवान् शिवके उपास्य श्रीराम
- २३—भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीलाओंमें समता विषमता
- २४—भगवान् श्रीरामका अद्भुत सौन्दर्य
- २५—भगवान् श्रीरामका अद्भुत शील-स्वभाव
- २६—‘उमा राम सुभाउ जिन्ह जाना । ताहि भजन तजि भाव न आना ॥’
- २७—भगवान् श्रीरामके आदर्श गुण
- २८—भगवान् श्रीरामकी देवभक्ति
- २९—भगवान् श्रीरामकी गुरुभक्ति
- ३०—भगवान् श्रीरामकी मातृभक्ति
- ३१—भगवान् श्रीरामकी पितृभक्ति
- ३२—भगवान् श्रीरामका भानुप्रेम
- ३३—भगवान् श्रीरामका आदर्श पत्नीप्रेम
- ३४—भगवान् श्रीरामका एकपत्नीव्रत
- ३५—भगवान् श्रीराम पिताके रूपमें
- ३६—भगवान् श्रीरामकी प्रजावत्सलता
- ३७—आदर्श राजा श्रीराम
- ३८—भगवान् श्रीरामकी मैत्रीका आदर्श
- ३९—भगवान् श्रीरामकी ब्रह्मण्यता
- ४०—भगवान् श्रीरामकी भक्तवत्सलता
- ४१—भगवान् श्रीरामकी शत्रुवत्सलता
- ४२—भगवान् श्रीरामकी लोकप्रियता
- ४३—भगवान् श्रीरामकी आदर्श राजनीति
- ४४—भगवान् श्रीरामका कलाप्रेम
- ४५—भगवान् श्रीरामकी आदर्श युद्धनीति
- ४६—वेदोंमें भगवान् श्रीराम
- ४७—उपनिषदोंमें भगवान् श्रीराम
- ४८—पुराणोंमें भगवान् श्रीराम
- ४९—योगवासिष्ठके श्रीराम
- ५०—वाल्मीकिके श्रीराम
- ५१—विभिन्न रामायणोंमें भगवान् श्रीराम
- ५२—तन्त्र-ग्रन्थोंमें श्रीराम
- ५३—पञ्चरात्र आगममें भगवान् श्रीराम
- ५४—काव्य और महाकाव्योंमें भगवान् श्रीराम
- ५५—नाटक-ग्रन्थोंमें भगवान् श्रीराम
- ५६—वैष्णव-ग्रन्थोंमें भगवान् श्रीराम
- ५७—जैन और बौद्ध मतोंकी श्रीरामकथाएँ
- ५८—श्रीशंकर-सम्प्रदायमें श्रीरामोपासना
- ५९—श्रीवैष्णव (रामानुज) सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम
- ६०—श्रीवैष्णव (रामानन्द) सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम
- ६१—श्रीवल्लभ-सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम



- ६३-गौडीय मध्व सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम  
 ६४-श्रीविष्णुस्वामीके मतमें श्रीराम  
 ६५-श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम  
 ६६-श्रीराधावल्लभ सम्प्रदायमें भगवान् श्रीराम  
 ६७-अन्यान्य सम्प्रदायोंमें भगवान् श्रीरामकी उपासना  
 ६८-सिख मत और 'राम' नाम  
 ६९-श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायमें रामोपासना  
 ७०-कबीरपंथ और श्रीराम  
 ७१-तुलसीके श्रीराम  
 ७२-सूरदासका रामचरितचित्रण  
 ७३-केशवदासका श्रीरामचरितचित्रण  
 ७४-अन्यान्य कवियोंका रामचरितचित्रण  
 ७५-'राम सकल नामन्ह ते अधिका ।'  
 ७६-'रामु न सकहिं नाम गुन गाई ।'  
 ७७-भगवान् श्रीरामका नित्य धाम—श्रीसकेत  
 ७८-श्रीअयोध्यापुरीका स्वरूप, माहात्म्य एवं उसकी स्थिति  
 ७९-भगवान् श्रीरामका वनगमन-मार्ग  
 ८०-भगवान् श्रीरामके समयका भारत  
 ८१-श्रीरामकालीन भूगोल  
 ८२-श्रीरामसम्बन्धी तीर्थ और उनकी लोज  
 ८३-श्रीरामके समयकी सामाजिक स्थिति  
 ८४-श्रीरामके समयकी सांस्कृतिक स्थिति  
 ८५-भगवान् श्रीरामके परिकर और परिच्छद  
 ८६-भगवान् रामकी पञ्चाङ्गोपासना  
 ८७-भगवान् श्रीरामकी चतुर्व्यूहोपासना  
 ८८-श्रीसीताकी उपासना-विधि  
 ८९-भगवान् श्रीसीता-रामकी युगल-उपासना  
 ९०-श्रीसीता-कवच, स्तोत्र, मन्त्र-तन्त्र, सहस्रनाम आदि  
 ९१-श्रीरामसम्बन्धी कतिपय श्रेष्ठ स्तोत्र, सहस्रनाम आदि  
 ९२-भरत-कवच, स्तोत्र, मन्त्र एवं पञ्चाङ्ग-उपासना  
 ९३-लक्ष्मण-कवच, स्तोत्र, मन्त्र एवं पञ्चाङ्ग-उपासना  
 ९४-शत्रुघ्न-कवच, स्तोत्र, मन्त्र एवं पञ्चाङ्ग-उपासना  
 ९५-हनुमत्-कवच, स्तोत्र, मन्त्र, पञ्चाङ्ग-उपासना आदि  
 ९६-श्रीरामके दर्शनार्थ विविध प्रयोग  
 ९७-उपनिषदोंमें श्रीरामके साक्षात्कारके साधन

- ९९-श्रीरामनवमी-व्रतविधि  
 १००-श्रीजानकीनवमी-व्रतविधि  
 १०१-श्रीरामार्चाविधि  
 १०२-भगवान् श्रीरामके विविध ध्यान  
 १०३-भगवान् श्रीरामके निवासस्थान  
 १०४-रामसेवक श्रीहनुमान्  
 १०५-शरणागत भक्त विभीषण  
 १०६-श्रीरामभक्त विविध पशु-पक्षी  
 १०७-श्रीरामभक्त जटायु  
 १०८-भगवान् सूर्य और उनका वंश  
 १०९-भगवान् श्रीरामके पूर्वज  
 ११०-श्रीराम—एक ऐतिहासिक महापुरुष  
 १११-रामभक्तिकी निर्गुण परम्परा  
 ११२-श्रीरामभक्तिमें मधुर उपासना  
 ११३-श्रीरामकी रासलीला  
 ११४-श्रीरामभक्तोंकी विस्तृत परम्परा  
 ११५-विविध देश-विदेशोंमें श्रीरामोपासना  
 ११६-वालीद्वीपकी श्रीरामोपासना-पद्धति  
 ११७-श्रीराम-सम्बन्धी कतिपय श्रेष्ठ सूक्तियाँ  
 ११८-देश-विदेशोंमें श्रीरामलीलाकी परम्परा  
 ११९-देश-विदेशके श्रीराम-मन्दिर  
 १२०-श्रीरामके सम्बन्धमें पाश्चात्य विद्वानोंके कुछ विचित्र  
 अनुसंधान और उनकी समीक्षा  
 १२१-रामराज्यका स्वरूप और उसकी महत्ता  
 १२२-'रामराज कर सुख संपदा । वरनि न सकइ फनीस सारदा ॥'  
 १२३-भगवान् श्रीरामकी आदर्श दिनचर्या  
 १२४-विभिन्न भारतीय भाषाओंमें श्रीरामचरित  
 १२५-श्रीरामका अनुसरण ही शरण  
 १२६-मन्त्र-रामायण और मन्त्र-भागवत  
 १२७-भगवान् श्रीरामकी लीलाओंका तिथिक्रमसे वर्णन  
 १२८-विशिष्ट श्रीराम-साहित्य  
 १२९-देशकी वर्तमान विघटनात्मक परिस्थितिकी सुधारनेके  
 लिये श्रीरामचरित्रकी उपयोगिता  
 १३०-मानस-चतुश्शती-समारोह-सम्बन्धी कार्य-कलाप—उनके  
 रूपरेखा



## परमार्थ-पत्रावली

( ब्रह्मालीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र )

( १ )

सादर विनयपूर्वक प्रणाम । आपका कार्ड मिला । समाचार विदित हुए । आपके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

१—‘लिङ्ग’ शब्दका अर्थ है—चिह्न ( प्रतीक ) । इसी प्रकार मूर्ति भी प्रतीक ही है । अतः दोनोंमें कोई भेद नहीं है । बोलचालकी भाषामें ‘लिङ्ग’ शब्दका अर्थ जननेन्द्रिय मान लेनेके कारण ही यह प्रश्न उठता है, र वास्तविकता इससे भिन्न है ।

इसके अतिरिक्त ऐसी बात भी नहीं है कि शंकर भगवान्की मूर्तिपूजा नहीं होती; शिवजीकी मूर्तिकी जा भी होती है । वेद-मन्त्रोंमें भी उनके स्वरूपका वर्णन आता है; उनको ‘गिरीश’ और ‘त्रिनेत्र’ बताया गया है ।

‘अन्य देवताओंकी पूजा मूर्तिमें ही होती है, अन्य कारसे नहीं होती’—ऐसी बात भी नहीं है ।

सुपारीको या गोबरके लड्डूको अथवा गुड़के टुकड़े-को गणेशजी मानकर उनकी पूजा की जाती है । खण्डकी नदीसे प्राप्त हुए गोल-मटोल पत्थरको या लंबे आकारके किसी सुन्दर काले पत्थरको शालग्राम मानकर पूजा की जाती है । किसी भी शिलाखण्डको भैरव यदि देवताओंका स्वरूप मानकर श्रद्धालु लोग पूजा करते देखे जाते हैं । चावलोंकी छोटी-छोटी ढेरियोंको नवग्रह मानकर उनकी पूजा की जाती है । कुशाके सप्त ऋषि मानकर उनकी पूजा की जाती है । इस प्रकार अनेकों प्रकारसे देवताओंका प्रतीक बनाकर पूजा की जाती है । तः इसमें संदेहके लिये कोई स्थान नहीं है । देवता प्रतीकमें नहीं, किंतु पूजा करनेवालेकी भावनामें । इसी प्रकार कागज और स्याहीयुक्त पुस्तकको ‘वेद’ कहते हैं और उससे काम भी चल जाता है—

स्तवमें न तो कागज वेद है, न स्याही; ‘वेद’ नाम ईश्वरीय ज्ञानका है, जिसका कोई मानस उपाय

पर उसे समझने और समझानेके लिये उसकी मूर्तिकी कल्पना करनी ही पड़ती है; इसी प्रकार ईश्वरोपासनाके लिये उसकी—विभिन्न प्रतीकोंकी कल्पना सार्थक है ।

( २ )

सादर दृष्टिस्मरण । आपका पत्र इसके पूर्व भी मिला था और उसका उत्तर भी विस्तारपूर्वक दे दिया था । आपको मिल गया होगा ।

अपने जीवनका परिचय लिखा, सो ठीक है । साधनके लिये जिन-जिन बातोंकी आवश्यकता है, उनमें बहुत-सी आपको भगवान्की कृपासे अनायास ही प्राप्त हैं ।

आपने पूछा कि ‘गृहस्थाश्रममें रहते हुए भोगवासनाका परित्याग किस प्रकार किया जाय ?’ इसके उत्तरमें लिखना है कि ‘भोग-वासनाका परित्याग करनेके लिये किसी भी आश्रमके कारण सुगमता या कठिनाई नहीं है । संन्यास-आश्रम ग्रहण कर लेना भोग-वासनाका त्याग नहीं है ।’

जबतक मनुष्य शरीरको ही अपना स्वरूप और उससे सम्बन्धित प्राणि-पदार्थोंको अपना मानता रहता है, तबतक भोग-वासनाओंका अन्त नहीं होता । इन सबको भगवान्के अर्पण करके जब इनमें अहंता और समताका सर्वथा त्याग कर देता है और यह समझता है कि मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिका समूह यह शरीर भगवान्का दिया हुआ है, इसमें मेरा कुछ नहीं है; इसी प्रकार इससे सम्बन्ध रखनेवाले प्राणी और पदार्थ भी उसीके हैं, इनको उसीकी प्रसन्नताके लिये उसके विधानानुसार उसकी सेवामें लगा देना है; एवं उसीकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहते हुए उसकी मर्जीमें अपनी मर्जी मिला देना है, अपने सुख-भोगके लिये कुछ नहीं करना है; खाना-पीना, सोना, हँसना-रोना आदि जो कुछ भी करना है, एक ऐकटर ( अभिनेता ) की भाँति उस प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही करना है, तभी भोग-



( ३ )

सादर हरिस्मरण ।

आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः इस प्रकार है—

आपने संन्यास-वन्दन-कार्य अवतक आरम्भ नहीं किया है, यह तो गलती हुई । अब उसे तत्काल आरम्भ कर दीजिये; देर करके उस गलतीको और मत बढ़ाइये । पुनः उपनयन-संस्कार न करा सकें तो कोई बात नहीं, अब नित्यकर्म आरम्भ कर दीजिये । कालियुग-में ऐसी गलतियाँ क्षम्य हैं ।

( २ ) आपने अपने बाल छँटवा दिये, शिखा नहीं रखी, उसके लिये भी अब आप दुःख न कीजिये । इस पत्रके मिलते ही शिखा-स्थानके केश—बाल जितने भी बड़े हैं, उनको सुरक्षित रखकर अन्य केशोंको छोटे करवा लीजिये । शिखाके केश धीरे-धीरे बढ़ते रहेंगे, शिखाचिह्न सुरक्षित रहेगा और वे केश ही शिखा मान लिये जायेंगे । द्विजोचित कर्म करनेका अधिकार तो आपको विचार बदलनेके साथ ही प्राप्त हो गया, इस प्रकार मानना चाहिये और तत्काल नित्यकर्म आरम्भ कर देना चाहिये ।

( ३ ) अविवाहित व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रममें एक ही यज्ञोपवीत रखे, ऐसा विधान है; पर जोड़ा रखनेमें भी कोई अपराध नहीं है । अतः धारण करनेके बाद निकालनेकी जरूरत नहीं है, जोड़ा ही पहने रहना चाहिये ।

( ४ ) आसनोंका साधन किसी जानकार पुरुष-से उसके सामने सीखना चाहिये; पत्रसे पूरी बात नहीं समझायी जा सकती । साधारण मनुष्योंके लिये स्वस्तिक आसन ही अच्छा रहता है । 'योगदर्शन'में तो आसनके विषयमें स्पष्ट लिखा है कि "सुखपूर्वक स्थिर बैठना ही 'आसन' है ।" गीतामें उसका विधान करते समय लिखा है कि 'शरीर, गला और सिर—ये तीनों सीधे, सम और स्थिर रहने चाहिये । हाथ-पैरोंको साधक अपनी

कुशका आसन बिछाकर उसके ऊपर नरम बिछा ले, जो कि ऊनका हो । या उसे प्रतिदिन धो सके तो रुईके सूतका भी चल सकता है । कुशका ऊपर उसे भी बिछाना अच्छा है, नहीं तो कुशका ऊपर बार-बार मन जायगा और साधनमें विघ्न पड़ेगा ।

आसनपर बैठकर आसनशुद्धिका मन्त्र बोलकर के छीं-छींसे आसनको पवित्र करना ठीक रहेगा ।

( ५ ) पवित्री केवल एक अनामिका अँगुली पहननी चाहिये । जो अँगुली अङ्गुष्ठकी ओरसे और कनिष्ठिकाकी ओरसे दूसरी है, अर्थात् अँगुलीके पासवाली अँगुलीको ही 'अनामिका' जाता है । बायें हाथकी पवित्री कुशके तीन तिन तथा दाहिने हाथकी पवित्री दो तिनकोंसे बनी हुई चाहिये । दो या तीन अँगुलियोंमें धारण करनेकी नहीं है । पवित्रीके बदले अँगुठी पहननेकी प्रथा पर कुशकी पवित्री ही श्रेष्ठ मानी गयी है ।

( ६ ) श्रुति अर्थात् वेदमें जिन कर्मोंके विधि-विधान है, उनको 'श्रौत' कहते हैं । पर गणना उन्हींमें है तथा स्मृति, गृह्यसूत्र आदिमें विधान है, उनको 'स्मार्त' कहते हैं । षोडश स नित्यकर्म संन्यासवन्दन आदिकी गणना स्मार्त कर्मों

आचमन ताँबेकी आचमनीसे करनेकी अपेक्षा तीर्थसे करना ही उत्तम है । हथेलीके निम्नभाग 'ब्राह्मतीर्थ' कहा गया है ।

( ७ ) शास्त्रीय कर्मकाण्डमें बायें हाथका दोनों हाथ मिलाकर किये जानेवाले कर्ममें अर्घ्य-प्रदान करना, स्तुति-प्रार्थना करना आदि ।

आपके प्रश्नोंका उत्तर, मेरी मान्यताके जैसा उचित माह्रूम हुआ, लिख दिया है; वास्तविक तो कोई पण्डित हूँ और न व्यवस्था देनेका मेरा अधिकार है, मैंने तो अपनी सम्मतिमात्र लिख दी है ।



## सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन

(नित्यलीलालीन श्रीभाईजीके पुराने सत्सङ्गसे चयन किये हुए)

१-‘प्रेम’का अर्थ है—भगवत्प्रेम । ‘प्रेम’के नामपर जगत्में ‘काम’ चलता है । वह हमारी चर्चाका विषय नहीं है । भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सहजमें नहीं होती । बहुत ऊँची साधनाकी सिद्धिके पश्चात् भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है ।

२-भगवत्प्रेम क्या है—यह कोई बता नहीं सकता । कहनेके लिये कुछ सांकेतिकरूपसे समझनेके लिये कह सकते हैं—यह भगवान्की अपनेमें ही अपने-से ही अपनी लीला है ।

३-भगवान्के साथ खेले—ऐसा भगवान्का साथी कौन है ? भगवान् जिस खेलको खेलें, ऐसा खेल कौन-सा है ? वास्तवमें उनके योग्य न कोई साथी है न कोई खेल है । अतएव भगवान् ही प्रेमास्पद हैं, भगवान् ही प्रेमी हैं और भगवान् ही प्रेम हैं ।

४-खयं ही प्रेमी और प्रेमास्पद बनकर—एक-दूसरेकी प्रीतिके आश्रयालम्बन और विषयालम्बन बनकर जो भगवान्की परम दिव्य अचिन्त्यानन्त गौरवमयी पवित्रतम लीला चलती है—वास्तवमें इसे ही भगवत्प्रेम कहते हैं । इस प्रेममें ऐसा माना जाता है और यह परम सत्य है कि भगवान् ही खयं अपने आनन्द-स्वरूपको—अपने भावस्वरूपको लेकर अनन्त लीलारूप धारण किये रहते हैं ।

५-भगवान् श्रीकृष्ण ही ‘राधा’स्वरूपमें लीला करते हैं । अतएव श्रीराधा भगवान्से सर्वथा अभिन्न हैं । श्रीराधाके बिना श्रीकृष्णका और श्रीकृष्णके बिना श्रीराधाका अस्तित्व नहीं । दोनोंका अविनाभाव-सम्बन्ध है । रसराज महाभावके प्रेमके विषय बनते हैं और महाभाव रसराजके प्रेमका विषय बनता है । इस प्रकार परस्पर बड़ी पवित्र लीला चलती है ।

६-श्रीराधा महाभावरूपा हैं और श्रीराधाके आराध्य, प्रेमास्पद, परमप्रेष्ठ हैं—रसराज श्रीकृष्ण ।

७-श्रीराधाके भावोंका, श्रीराधाके अचिन्त्यानन्त भाव-समुद्रकी परम विभिन्न परमानन्दमयी तरंगोंका न तो कोई वर्णन कर सकता है, न गणना और न इनके स्वरूपका विश्लेषण । अनादिकालसे अनन्तकालतक प्रेमकी विशुद्ध परमाह्लादमयी तरंगें—रसमयी मधुर तरंगें उठती रहती हैं और बड़े-बड़े प्रेमी भक्त, बड़े-बड़े भाग्य-शाली ऋषि-मुनि और कोई-कोई देवता ही उन रस-मधुर-तरंगोंके दर्शन कर पाते हैं, आस्वादन तो बहुत दूर ।

८-श्रीराधाके प्रेमकी विभिन्न तरंगोंका वर्णन नहीं हो सकता—केवल शाखाचन्द्रन्यायसे संकेतमात्र होता है । जैसे किसीको द्वितीयाका चन्द्रमा दिखलाना है तो यह कहा जाता है कि ‘देखिये, सामने उस ढालसे इतना ऊपर चन्द्रमा दिखायी दे रहा है ।’ ढालसे उतना ऊपर चन्द्रमा नहीं है, पर ढालका संकेत करके चन्द्रमाको दिखानेकी प्रक्रिया होती है । इसी प्रकार श्रीराधाके गुणोंका, भावोंका संकेतमात्र किया जाता है, वर्णन नहीं । वर्णन तो असम्भव है ।

९-जगत्में धनविषयक मान्यता पृथक्-पृथक् है—किसीका धन विद्या है, किसीका धन बुद्धि है, किसीका धन विषय हैं, किसीका सम्पत्ति, किसीका धन सोना, किसीका धन पारलौकिक सुख । पर सर्वस्व-समर्पणमयी श्रीराधाके जीवनका धन क्या है—श्रीकृष्ण ।

१०-जहाँ प्रेमका प्रारम्भ होता है, वहीं त्यागकी पराकाष्ठा होती है । त्याग जहाँ पूर्णताको प्राप्त हो जाता है, पहुँच जाता है, वहाँसे भगवत्प्रेमका आरम्भ होता है ।

११-भगवत्प्रेमी सर्वदा, सर्वथा मुक्त होते हैं; मायाका राज्य उनके समीप नहीं जा पाता । वह तो दूरसे ही विलीन हो जाता है । जैसे पौ फटना आरम्भ होते ही अन्धकार मरने लगता है, उसी प्रकार प्रेम-सूर्यके उदयकी तो बात ही क्या, प्रेमके उषःकालमें ही मायाका अन्धकार सारित हो जाता है, मिट जाता है, मर जाता है ।



१२—भगवान्की मधुर लीलामें उनका ऐश्वर्य छिपा रहता है, क्रियाशील नहीं होता । जिन भगवान्के भयसे भय काँपता है, जिनके भयसे काल, यगराज आदि अपने-अपने कर्तव्यमें संलग्न हैं, वे ही श्रीकृष्ण वात्सल्यकी मूर्ति श्रीयशोदा मैयाकी बाँटसे भयभीत हो जाते हैं ।

१३—भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वरूप, लीला आदिसे माधुर्यका इतना प्रसार करते हैं कि सबका चित्त उनकी ओर खिंचता चलता है । उनकी आकर्षण-लीला निरन्तर चलती रहती है ।

१४—मधुर लीलामें ऐश्वर्य आता है तो वह सेवा करनेके लिये; छिपकर माधुर्यको कम करने या हटानेके लिये नहीं ।

१५—प्रेमीमें जब प्रियतम भगवान्से मिलनकी इच्छा जगती है, तब वह मार्गकी कठिनाइयोंकी ओर दृष्टि नहीं डालता । बस, मिलनकी त्वरामें वह चल पड़ता है । फिर चाहे वह मार्गकी गर्मासे जलकर भस्म क्यों न हो जाय, उसकी उसे कुछ परवा नहीं । वह प्रियतमसे मिले बिना रह नहीं सकता । एक कथा आती है—  
भगवान् श्रीकृष्णमसुन्दर पहाड़पर सबन छायामें जाकर बैठ गये । पहाड़पर जानेका रास्ता पथरीला, सीधी चढ़ाई, मार्गमें एक भी पेड़ नहीं और मत्थाहका समय । एक सखीको प्रियतमके समीप जाना है । वह पहाड़पर चढ़ने लगी । देखनेवालोंने उसे रोका—‘इतनी कड़ी धूपमें पहाड़पर कैसे चढ़ोगी, झुलस जाओगी’; पर उसने किसीकी एक बात भी नहीं सुनी । तप्त पथरोंपर जब उसके चरण टिकते थे, तब उसे अनुभव होता कि कोई शीतल गद्दी बिछी हुई है और ऊपर कोई शीतल छाया करता चला जा रहा है । प्रत्येक चरण उसे प्रियतमके निकट अनुभव करा रहा था; बस, इसी हेतुसे उसे ऐसा सुखद अनुभव हो रहा था । यह है प्रेमकी विलक्षणता ।

१६—जहाँ दी हुई वस्तुके बदले देनेवाला कुछ स्वीकार कर लेता है, वहाँ उसे कुछ देकर उसके ऋणसे छुटकारा पाना सरल है । जहाँ देनेवाला निरन्तर देता

ही है और वह इस आप्रहसे देता है कि उसकी वस्तुको स्वीकार करना ही पड़ता है, वहाँ देने के ऋणसे मुक्त होना कभी भी सम्भव नहीं है । जहाँ लेनेवाला एक हो और ऐसे देनेवाले अनेक तो ऋण कभी चुक ही नहीं सकता । व्रजवासी सम्बन्धमें यही बात है । वहाँ सब-के-सब का श्रीकृष्णके लिये अपना सर्वस्व अर्पण करते रहते हैं । बदलेमें वे कुछ भी स्वीकार करनेको तैयार नहीं । स्थितिमें भगवान् श्रीकृष्णको उन सबका नित्य ऋणी रहना पड़ता है ।

१७—जिनकी कृपाप्राप्तिके लिये बड़े-बड़े अपने चित्तको समाहितकर उनका ध्यान करते हैं, फिर भी सफल नहीं हो पाते, वे ही भगवान् अपनी समस्त भगवत्ताको भूलकर मैयाके सामने छोटे बालक बने हुए बैठे रहते हैं और मैया हितकी कामनामें संलग्न रहती है । XXXXX स्मरणमात्रसे जगत्का हित होता है, उन्हीं श्रीकृष्णका हित करनेके लिये मैया यशोदा उन्हें है, डपटती है । यह है व्रजप्रेमकी विलक्षणता ।

१८—व्रजलीलामें भगवान्का ऐश्वर्य यदि कभी उसका दर्शन करने आता है तो वह मैयाके वात्सल्य-स्नेहधारा में वह जाता है और मैया आनन्दविभोर है । भगवान्की लीलाओंका रस लेती रहती है । नन्दरानीको अपने अप्रतिम वात्सल्यमें ऐश्वर्यकी हो ही नहीं पाती और वे भगवान्की लीलाको रूपमें अनुभव कर प्रेममें विभोर होती रहती हैं ।

१९—प्रेममयकी प्रेमाधीनता ही श्रीकृष्णमें अक्षय का कारण बन कभी उन्हें पराजितरूपमें प्रकट है और कभी असमर्थरूपमें । XXXभक्तकी प्रसन्न भगवान्का स्वरूपानन्द-सिन्धु उछलने लगता है । हेतु है कि भक्तका आनन्द-वर्धन करनेके लिये अपनी पराजय स्वीकार करते हैं । सर्वसमर्थ होते भी साधारणसे काममें भी अपनी असमर्थता प्रकट होते हैं ।



२०—जो कुछ है, वह भगवान् है और जगत्में जो कुछ हो रहा है, वह भगवान्की लीला है। पर जहाँ भगवान्के साथ रागात्मिका भक्तिका सम्बन्ध है, वहाँ भगवान्की लीलाएँ विभिन्नरूपमें प्रकट होती हैं। वहाँ भगवान् अपना वह रूप भी प्रकट करते हैं, जो उनकी भगवत्ताकी दृष्टिसे अग्राह्य है, त्याज्य है।

२१—प्रेमी भक्तको भगवान्की स्मृतिमें, उनके गुणोंकी चर्चामें इतना रस आता है कि वह भगवान्के मिलनको भी उसके समक्ष तुच्छ समझता है। एक कथा आती है—कुछ सखियाँ बैठी परस्पर श्रीकृष्णके प्रेमकी चर्चा कर रही थीं। इतनेमें श्रीकृष्ण वहाँ आ गये। सखियोंको लगा—विघ्न आ गया। प्रेमके प्रवाहमें उन्हें श्रीकृष्ण विघ्नस्वरूप अनुभव हुए। प्रेम-चर्चामें उन्हें इतने आनन्दकी अनुभूति हो रही है कि उसके बीचमें आनन्दके मूल श्रीकृष्णकी उपस्थिति भी उन्हें विघ्न प्रतीत होती है। परस्पर परामर्श करके उन्होंने कुछ सखियोंको तैयार किया कि वे श्रीश्यामसुन्दरको वाटिकामें नवीन विकसित पुष्पोंके सौन्दर्य-माधुर्यका आस्वादन करानेके लिये ले जायँ।

२२—प्रेमीको भगवान्के नाम-स्मरणमें अद्भुत सुखकी अनुभूति होती है। उसे निरन्तर नाम-स्मरण करते हुए भी तृप्ति नहीं होती। श्रीराधाजीने कहा है—“करोड़ जिह्वाएँ हों तो ‘श्याम’ नामका माधुर्य लिया जाय, एक जिह्वासे ‘श्याम’ नामके माधुर्यका क्या पता लगे।”

२३—भगवान्की सेवाके जो नित्य परिकर हैं, उनको नित्य आनन्द क्यों प्राप्त होता रहता है? उसमें छः हेतु हैं, तीन भगवान्में और तीन परिकरोंमें। भगवान् अभौतिक—दिव्य, अविनाशी हैं, नित्य हैं और अपने स्वरूप-सौन्दर्यमें नित्य वर्धनशील हैं। तथा परिकरोंमें नित्यवर्धनशील अभिलाषा, नित्य वर्धनशील सेवा-शक्ति तथा नित्य सुखकी अभिवृद्धि है। इन हेतुओंसे परिकरोंको नित्य आनन्दकी प्राप्ति होती है।

२४—भगवान्के सौन्दर्य-माधुर्यका स्मरण-चिन्तन बहुत सरल एवं सुन्दर साधन है। इस चिन्तनमें भगवान्की सुन्दरता और मधुरताका कण भी, छायाकी छाया भी यदि कहीं अन्तरमें उतर आये तो वहाँसे प्रेमका सूत्रपात हो जाता है—प्रेमका ऐसा स्वभाव है।

२५—भगवत्प्रेम ऐसी ‘बीमारी’ है कि जल्दी यह लगती नहीं और लगनेपर कभी मिटती नहीं, बढ़ती ही चली जाती है। पर यह सब जानते हुए भी प्रेमी लोग चाहते हैं कि यह ‘बीमारी’ बनी रहे और वह वाव कभी सूखे नहीं, सदा हरा ही रहे।

२६—जो कभी, किसी प्रकार प्रेमसमुद्रमें डूब जाता है, वही जानता है कि उसका स्वाद कैसा है तथा वह कितना मधुर लगता है।

२७—जगत्में जो सौन्दर्य-माधुर्य दिखायी पड़ता है, वह सब-का-सब नकली है। वास्तवमें जगत्में सौन्दर्य और माधुर्य हैं ही नहीं; यहाँ तो सब बीभत्स है। किसीका बड़ा सुन्दर शरीर है, हम उसे देखकर विमोहित होते हैं। पर जब उसके प्राण निकल जाते हैं—आत्मा शरीरसे विलग हो जाता है, तब रात्रिमें उसके समीप बैठनेमें डर लगता है। वही आकृति है, वही वर्ण है, वही रूप है; पर वह भीषण मादूम होता है। अच्छे-अच्छे व्यक्ति उस प्राणहीन शरीरके पास अकेले नहीं बैठना चाहते; दो-चार साथी खोजते हैं। कोई पूछे—‘अबतक तुम अकेले बैठे थे, उनसे बातें कर रहे थे, अब अकेले बैठनेमें क्यों डरते हो?’ तो इसका उत्तर यह है कि ‘जिसके पास बैठनेमें सुखका अनुभव होता था, जिससे हम बात करते थे, वह निकल गया, चला गया।’

२८—जगत्में सौन्दर्य-माधुर्य देखना नकली पीतलको सोना मानना है, विषको अमृत समझना है। जितना भी जगत्का सौन्दर्य-माधुर्य है, वह विष है; शास्त्रकारोंने, महात्माओंने उसे विष बतलाया है—

‘विषयान् विषवत् त्यजेत्।’



## पढ़ो, समझो और करो

( १ )

### गृहस्थकी उदारता

सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका गीतापर 'तत्त्वविवेचनी' नामक टीका लिख रहे थे। कुछ महीनोंके लिये मैं उनके निवास-स्थान बाँकुड़ा ( पश्चिम बंगाल ) में ही रह रहा था। वहाँसे आनेके समय श्रीसेठजी और उनके विद्वान् भ्राता श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाने मुझसे कहा—'पण्डितजी ! आपके घरमें लड़कीका विवाह होनेवाला है। आप हमारी इस बर्तनकी दूकानमें घुस जाइये और आपको जितना चाहिये उतना बर्तन छूँटकर अलग कर दीजिये। हम आपके साथ भेज देंगे।' उनकी यह उदारता देखकर मेरा हृदय भर आया। बर्तन मैंने सौ, दो सौ रुपयोंकी कीमतके ही लिये, परंतु उनसे जो उन्मुक्त हृदय-उदारताकी शिक्षा ली, वह अबतक कभी-कभी याद आ जाती है। किसीको कुछ देना हो तो मुट्ठी बाँधकर नहीं दिया जाता।

—स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती 'चिन्तामणि'

( २ )

### मैं ऋण चुका रहा हूँ

भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके पास एक व्यक्ति आया। 'मेरी बीमार पत्नी अस्पतालमें है—सहायता दीजिये।' उन्होंने सहायता दी। कुछ दिन बाद आया—'अस्पतालमें बच्चा हुआ है, सहायता दीजिये।' तब भी दी। कुछ दिन बाद आया—'हालत खराब है, कुछ और दीजिये।' तब भी दी। कुछ दिन बाद आया—'हालत खराब है, कुछ और दीजिये।' तब भी दी। पाँच-दस दिन बाद आया—'मर गयी, अन्त्येष्टि कैसे करें?' फिर भी दी। 'घर जानेके लिये किराया चाहिये।' फिर भी दी। किसीने पूछा—'भाईजी ! यह कैसा आदमी है ? कोई ठग लगता है।'।

श्रीभाईजीने कहा—'मुझे पहले ही दिनसे माझम न पत्नी बीमार, न बच्चा, न अस्पताल, न पूरु परंतु जब यह मेरे सम्मुख आकर बैठता है, तब मैं है कि इसने पूर्वजन्ममें मुझे कोई ऋण दे रक्खा है इसका ऋणी हूँ और वही चुका रहा हूँ।'।

श्रीभाईजीके मनमें यह भाव ही नहीं था कि इसका उपकार कर रहा हूँ।' ठगके प्रति दुर्भाव की बात ही क्या।

—स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती  
'चिन्तामणि'

( ३ )

### आज भी 'श्रवणकुमार' हैं

मैं धर्मग्रन्थोंमें और संत-महात्माओंके श्रीमुखसे पिताके अनन्य भक्त श्रीश्रवणकुमारकी अपने पिताके प्रति विलक्षण निष्ठा एवं भक्तिकी कथा और सुना करता था; किंतु पाठकोंको यह आश्चर्य एवं प्रसन्नता होगी कि इस कलिकात् 'श्रवणकुमार' दृष्टिगोचर होते हैं। हमारे जगद्गुरु प्रधान भारतवर्षका 'मातृदेवो भव', 'पितृदेवो भव' यह आदर्श सिद्धान्त रहा है, जिसपर प्रत्येक भारतीयको गर्व है।

मैं आज भारतवर्षके सुप्रसिद्ध 'कल्याण' मासिक के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंके समक्ष एक ऐसे उच्च चरित्रवान् किंवा इस युगके 'श्रवणकुमार'की देखी सत्य ( वदना ) प्रस्तुत कर रहा हूँ। अनुपमेय है।

वदना अभी थोड़े ही दिन पूर्व—दि० २९ १९७० की है। गोरखपुरस्थित 'गीताप्रेस' ( मद्रास् भारतके प्राचीन धर्म-ग्रन्थोंके प्रकाशनका प्र...



केन्द्र है ) में एक ऐसे महानुभावका शुभागमन हुआ, जो अपने सिरपर रक्खी डोलीमें अपनी परम पू० वृद्धा माताजीको बिठाये हुआ था । उसने गीताप्रेसके द्वारपर डोली रक्खी और सादर अपनी वृद्धा माताजीको डोलीसे उतारा । दोनोंने 'गीताप्रेस'के गीताद्वारको हाथ जोड़कर प्रणाम किया । अकस्मात् मेरी दृष्टि इस अद्भुत घटनापर केन्द्रित हो गयी । मैंने उत्सुकतापूर्वक आगन्तुक सज्जनसे पूछा—'आप किस उद्देश्यसे यात्रा कर रहे हैं और आपका स्थान कहाँ है ?' तो उन्होंने बहुत ही नम्रतापूर्वक और मधुर वाणीमें कहा—'बाबूजी ! मैं केवट जातिका हूँ और सीतापुर मेरा निवासस्थान है । मेरी पू० वृद्धा माताजीकी हार्दिक इच्छा है कि भारतवर्षके प्रधान-प्रधान तीर्थोंकी यात्रा करूँ ! अधिक विस्तारसे क्या कहूँ, बाबूजी ! अपनी पू० वृद्धा माताजीका यह 'तीर्थयात्रा' का पवित्र संकल्प मैं इस रूपमें पूरा कर रहा हूँ ।" यह पुनीत अभिलाषा और पावन दृढ़ संकल्प सुनकर मैं भावविभोर हो गया और एकाएक माता-पिताके परम-भक्त श्रवणकुमारकी कथाकी मेरे मानस-पटलपर पुनरावृत्ति होने लगी । हृदय पुलकित हो उठा और मन-ही-मन मैं इस महान् भाग्यशाली व्यक्तिके प्रति 'धन्य, धन्य' कह उठा ।

दोनोंने श्रद्धापूर्वक करवद्ध हो गीताप्रेस और लीला-चित्र-मन्दिर आदि दर्शनीय स्थलोंका दर्शन किया । तत्पश्चात् वह भारतमाताका लाल अपने दुष्कर कार्यको पूर्ण करनेके लिये महान् तीर्थयात्रामें अग्रसर हुआ । वह अनुपम झाँकी आज भी मेरी आँखोंके आगे घूम रही है ।

धन्य है उनका जीवन !

—भालचन्द्र शर्मा 'विद्यारद'

( ४ )

हेनसांग देखते रह गये

बरसातका मौसम ! अलकनन्दा नदीकी बरसाती

तरंगोंपर नाव थी और उछलती तरंगोंसे चञ्चल नावपर थे हेनसांग । चञ्चलता बाहर भी थी और भीतर भी, बाहर तरंगोंकी और भीतर भावनाओंकी । बाढ़के कारण तीव्रगामिनी अलकनन्दा नदीकी उत्ताल तरंगें रह-रहकर नावसे टकरा रही थीं और डगमगाती नौकाका नाविक रह-रहकर डर रहा था, कहीं नाव डूब न जाय । भयभीत नाविकने तय किया कि बोझिल नौकाको हल्का करनेके लिये कुछ सामान नदीमें फेंक देना चाहिये, अन्यथा यह डगमगाना बंद न होगा । नाविकने हेनसांगसे कुछ सामान नदीमें फेंक देनेके लिये निवेदन किया, जिससे नौका सुरक्षित गन्तव्य स्थानपर पहुँच सके ।

हेनसांग चिन्तितुर हो उठे । उनकी भावनाएँ भी चञ्चल हो उठीं । सामानके रूपमें उनके पास थी वह अमूल्य निधि, वे अमूल्य ग्रन्थ, जो नालन्दा विश्वविद्यालयसे मिले थे । हेनसांग चीनसे भारतीय विद्यार्थियोंका अध्ययन करनेके लिये आये थे और अध्ययनोपरान्त स्वदेश लौटते हुए हेनसांगको विश्व-विद्यालयके आचार्यने अलभ्य ग्रन्थ एवं अमूल्य वस्त्राभूषण विदाईमें दिये थे । भेंटस्वरूप मिली हुई किसी भी वस्तुको अलग करना, अलग करके नदीमें फेंकना, इसकी कल्पनामात्रसे मर्मान्तक पीड़ा हो रही थी, पर दूसरा उपाय भी क्या था ? यदि कुछ अंश नहीं फेंका जाता है तो सर्वांशकी यहीं जल-समाधि निश्चित है ।

अत्यधिक विषण्ण-हृदयसे नदीमें फेंक देनेके लिये चीनी-यात्री हेनसांगने अपने हाथमें कुछ ग्रन्थोंको उठाया । हाथ काँप रहे थे, अंघर सूख रहे थे और नेत्र छलक रहे थे ।

जिस समय हेनसांग नालन्दा विश्वविद्यालयसे विदा हुए थे, उस समय एक युवकको आचार्यने उनके साथ भेज दिया था, जिससे उनकी वापसी यात्रा निर्विघ्न



पूर्ण हो सके। वह युवक भी इसी नाममें था। उस युवकने नाविकके उस निवेदनको भी सुन लिया था और वही अब देख रहा था, हैनसांगके मुखकी मलिनताको तथा मानसके मन्थनको। तुरंत ही उस युवकने मन-ही-मन कुछ निर्णय किया और एक अचिन्त्य उल्लासके साथ तत्क्षण हैनसांगके हाथोंको धामकर कहा—‘आर्य ! आप यह क्या कर रहे हैं ? नौकाके बोझको हल्का करनेके लिये क्या इन अमूल्य ग्रन्थोंका जल-विसर्जन करेंगे आप ? इस उद्देश्यके लिये तो किसी अन्य नगण्य वस्तुका भी विसर्जन किया जा सकता है।’ इतना कहकर वह युवक नदीमें कूद पड़ा। हैनसांग देखते रह गये, चकित भावोंसे, अवाक् मुद्रासे तथा स्तब्ध अन्तरसे कि अलकनन्दाकी उछलती-मचलती तरंगें उस युवकको बहा ले गयीं। सजल नेत्रोंसे नतमस्तक होकर हैनसांगने उस युवकके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

युवककी आत्म-बलिसे नौकाका डगमगाना रुक गया, परंतु चीनी-यात्री हैनसांगको यह भी ज्ञात हो गया कि हिंदूधर्म एवं हिंदू-संस्कृतिकी अमरताका रहस्य क्या है।

—श्रीहृदय

( ५ )

ईमानदारी

कुछ समय पहलेकी बात है, मैं राजकोटमें अपने मित्रके यहाँ ५-६ दिनके लिये गया था। वे अकेले थे। रोज बड़े सबेरे साढ़े चार बजे दूध देनेवाली ग्वालिन आकर दरवाजा खटखटाती और हमलोग कच्ची नींदमें जँभाई लेते हुए उठते और दूध लेकर पुनः सो जाते।

एक दिन मित्र जल्दी उठे। दूधवाली अभी तक आयी नहीं थी। उन्होंने मुझसे कहा कि ‘मुझे आज एन० सी० सी० परेडमें सम्मिलित होना है, इसलिये

जरा जल्दी जाना पड़ेगा; ऐसी बात है कि ग्वालिन देने आये, तब तुम आलमारीमेंसे १०) निकालकर उसे दे देना। मैंने विस्तरपर पड़े-पड़े ही चढ़ाई मुँह बाहर निकालकर स्त्रीकृतिके रूपमें गर्दन दिखा दी। जाते-जाते उन्होंने मुझे फिर कहा—‘भूलना न।’ मैंने जख्म दे देना; दूधवाली मैंसे माँगेगी नहीं।’ चले गये और मैं सो गया।

दरवाजेकी साँकल खटखटानेकी आवाज कानों पड़ते ही मैं जँभाई लेता हुआ दूध लेनेके लिये उठे लगा। उस समय उसे मैंने देनेकी बात याद आयी। नींदमें ही मैंने पैन्टकी जेबसे नोट निकालकर दूधवाली को दे दिया और दूध लेकर लौट आया।

प्रातःकाल ८ बजे चुके थे। मैं खबबार लेकर पढ़ने बैठा। ९ बजे मेरे मित्र वापस आये। चाय पीते-पीते मेरे मित्र कहने लगे—‘आपने दूधवालीके पैसे दे दिये या नहीं ? उसने मुझे कल कहा था कि घरमें अनाज लाना है। दस रुपये दे दें तो ठीक। महीना पूरा होनेमें तो देर है, लेकिन रुपये दे दें तो ठीक रहे। लड़कोंको भोजन मिल जाय। इसलिये मैं दो बार याद करके आपको कहा था।’ मैंने १०) अपने पाससे दे दिये। प्याला नीचे रखते-रखते मैंने कहा। उन्होंने उत्तर दिया—‘तुमने अपने पाससे क्यों दिये ?’ मैंने कहा नहीं था कि आलमारीमेंसे दे देना।’ ‘नींदसे जगकर मैं आलमारी खोलनेकी संज्ञा क्यों करता ?’ मैंने संक्षेपमें उत्तर दिया। अभी हम बात कर ही रहे थे कि वह दूधवाली आयी और आते ही कहने लगी—‘लो, तुम्हारे नब्बे रुपये।’ मित्रने दूधवालीकी ओर देखते हुए कहा—‘बहिन, ये नब्बे रुपये तुम किस बातके दे रही हो ?’ मेरी ओर उँगलीसे निर्देश करते हुए उसने कहा—‘बाबू, आपके इन मित्रने मुझ दस रुपयेके बदले सौ रुपयेका नोट मुझे दिया था।’



मुझे तो कुछ पता ही न था । इसलिये मैंने कहा, 'बहन, तुम्हारी कोई भूल होगी । मैंने तुमको दस रुपयेका नोट ही दिया था ।' दूधवालीने कहा—'भाई, तुमको ख्याल नहीं होगा । तुम अपना हिसाब मिलाकर देखो ।'

मैंने तुरंत पैंन्टकी जेब सँभाली और मेरे आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा, जब मैंने देखा कि सौ रुपयेका नोट उसमें नहीं था । मेरी जेबमें १४०) थे—दस-दसके चार नोट और एक सौका । मैंने देखा कि दस-दसके चार नोट तो थे, सौका नोट नहीं था । मैं विचारमें पड़ गया । मुझे विचारमें पड़े देखकर वह बहन बोली—'भाई, तुमने ही भूलसे मुझे दसके बदलेमें सौ रुपयेका नोट दे दिया था । तुम्हारे सिवा और किसीसे मैंने पैसा लिया ही नहीं । इसलिये ये तुम्हारे ही रुपये हैं, इन्हें ले लो ।' और यह कहकर उसने मेरे हाथमें रुपये थमा दिये ।

मैं विचारमें पड़ गया कि कितनी ईमानदार बहू थी । घरमें खानेके लिये पैसे नहीं थे, दूसरोंके पैसे बिना मेहनतके न लेना ! कितनी उच्च भावना !

उस ईमानदार बहनकी मैंने मन-ही-मन वन्दना की ।

'अखण्ड आनन्द' — श्रीजिसंग कुमार थरजिया

( ६ )

अधिकारी ऐसे हों

थोड़े दिनों पहले हमारे घर एक निवृत्तिप्राप्त सरकारी अधिकारी आये थे । उन्होंने अपने कार्यकालमें बहुत इन्स्पेक्शन किये थे । उन्होंने अपना एक अनुभव इस प्रकार सुनाया—

उनका दल एक प्राइवेट अस्पतालका इन्स्पेक्शन करने गया । साथमें एक सर्जन थे । अस्पतालके व्यवस्थापकोंने गोलमालको दबा देनेके उद्देश्यसे हमेशाकी

तरह इस दलको भी खुश करनेके लिये उनके अतिथि-सत्कारकी भव्य योजना की । शराबकी भी व्यवस्था थी । परंतु यह दल दूसरी ही मिट्टीका बना था । तटस्थ-भावसे उन्होंने इन्स्पेक्शन शुरू किया । दलमें स्थित सर्जनने सबसे पहले रोगियोंके एक-एक विस्तरके पास जाकर उनकी कठिनाइयाँ सुननी प्रारम्भ कीं । सरकारी प्रांटका उपयोग किस प्रकार किया गया है, इसकी जाँच की । अस्पतालके कर्मचारियोंकी मीटिंग करके उनकी जो कठिनाइयाँ थीं, उनके विषयमें चर्चा की और उनपर होनेवाले अन्यायोंकी जाँच की ।

'सरकारी प्रांटका दुरुपयोग किया गया है तथा अस्पतालकी व्यवस्थामें कुछ आवश्यक फेरफार तुरंत होना चाहिये'—इस प्रकारके निर्देशके साथ इन्स्पेक्शन रिपोर्ट तैयार की गयी । कार्यकर्ताओंको इस बातकी गन्ध लग गयी । अतः उन्होंने गोलमालको दबा देनेके लिये दौड़-धूप शुरू कर दी । इन्स्पेक्शन पार्टीपर अधिकारियोंका सब तरीकेसे दबाव शुरू हुआ, लेकिन ये लोग अपने निर्णय-पर दृढ़ रहे । सर्जनने कहा—'अधिकांश इन्स्पेक्शन पार्टियाँ जो आती हैं, खाने-पीनेकी तथा अन्य प्रकारकी सुविधाओंपर किस प्रकार और कितना ध्यान रखा गया है, उसीके आधारपर इन्स्पेक्शन रिपोर्ट तैयार करती हैं । हम इसके विरुद्ध हैं । इस प्रकार इन्स्पेक्शन करनेका कोई अर्थ नहीं है । इन्स्पेक्शन करनेके बाद हमारा कर्तव्य है कि जिस संस्थाका इन्स्पेक्शन किया है, उस संस्थाकी कठिनाइयाँ दूर करके उसे स्वस्थ स्थितिमें लानेके लिये आवश्यक प्रयास तुरंत करे । केवल कागजोंमें रिमार्क देनेका कोई अर्थ नहीं है । वास्तवमें हमारे द्वारा किसी संस्थानका इन्स्पेक्शन पूरा हुआ हम तभी मानेंगे, जब हमारे द्वारा उस संस्थाके सुधारके लिये सक्रिय कदम उठाये जायँ—इसके लिये प्रयत्न हो ।'

'अखण्ड आनन्द'

—गुणवंशी त्रिवेदी



( ७ )

## पात्रताकी कदर

सन् १८८७ ई०में बंगालमें एक अंग्रेज अधिकारीकी मृत्यु हुई । उसके पास बहुत तरहकी पुस्तकोंका एक विपुल संग्रह था, जिनको नीलाम करनेकी विज्ञप्ति उसने छपायी । उसके पुस्तक-संग्रहमें फ्रेंच भाषामें छपी हुई गणितशास्त्रकी एक सुन्दर पुस्तक भी थी । उस समय बंगाल हाईकोर्टमें डाक्टर रासबिहारी घोषके नीचे आशुतोष मुखर्जी भी बकालत करते थे । उनको गणित-विद्याका बहुत शौक था और वे फ्रेंच भाषा भी पूर्णतया जानते थे । उनकी उस पुस्तकको खरीदनेकी बहुत इच्छा थी ।

नीलामके स्थानपर उपस्थित होकर उन्होंने देखा कि एक अंग्रेज अधिकारी नीलाम कर रहे थे । उस बीचमें एक दूसरे अंग्रेज आकर नीलाम करनेवालेके कानमें कुछ कहकर चले गये ।

थोड़ी देर बाद उस गणितशास्त्रकी पुस्तकके नीलामकी बारी आयी । आशुतोष जो बोली लगाते उसपर एक रुपया बढ़ाकर अपनी ओरसे वह नीलाम करनेवाला कह देता । इस प्रकार आशुतोषने बढ़कर १००) तक बोली बोल दी, लेकिन साथ-साथ नीलाम करनेवाला भी एक रुपया बढ़ाता ही गया ।

आशुतोष भी आँख मूँदकर चढ़ा-चढ़ीमें बोली बढ़ाते गये और अन्तमें १५०) देनेको तैयार हो गये । नीलाम करनेवालेने १५१) बोलकर वह अत्यन्त जीर्ण पुस्तक अपने पास रख ली । उस पुस्तकके प्राप्त न होनेपर आशुतोष निराश तो हो गये, लेकिन उन्होंने यह जानना चाहा कि नीलाम करनेवाला एक रुपया किस लिये बढ़ाता गया ।

नीलाम करनेवालेसे पूछनेपर उसने कहा कि 'मुझे

जो अंग्रेज साहब कानमें कह गये थे, वे हाईकोर्टके जज ओकेनली साहब थे और वे हुक्म दे गये । इसलिये यह ग्रन्थ मैंने उनके लिये रख लिया है ।'

दूसरे दिन हाईकोर्टके जजके पास वह पुस्तक १५१) के बिलसहित पहुँची तो उनके आश्चर्यसे ठिकाना न रहा । उन्होंने नीलाम करनेवालेसे इस कारण पूछा ।

नीलाम करनेवालेने खुलासा किया कि 'आशुतोष मुखर्जी नामके बंगाली युवकने १५०) तक लगाया, इसलिये मैंने एक रुपया बढ़ाकर आपके लिये किताब रख ली ।

दूसरे दिन अदालतमें जस्टिस ओकेनलीने डाक्टर रासबिहारी घोषसे पूछा कि 'आशुतोष मुखर्जी नाम किसी युवकको आप जानते हैं ?' डा० रासबिहारी घोषने कहा—'हाँ जी, वह मेरे हाथके नीचे ही का सीख रहा है ।' जज साहबने आशुतोषको अपने भेजनेके लिये कहा ।

डा० रासबिहारी घोषका परिचय-पत्र लेकर आशुतोष मुखर्जी जस्टिस ओकेनलीके पास गये । जज साहबने परिचय-पत्र फाड़ डाला और कहा—'तुम्हारे लिये किताब का परिचय-पत्रकी आवश्यकता नहीं है । यह पुस्तक तुम्हारा परिचय दे रही है ।' इतना कहकर उन्होंने नीलाममें खरीदी हुई पुस्तक उनके सामने रख दी ।

इसके बाद जस्टिस ओकेनली और युवक वकील आशुतोष इस प्रकार दिल खोलकर बातें करने लगे जैसे वे पुराने दोस्त हों । आशुतोष भी जजसाहबके सद्ब्यवहारसे प्रसन्न हो गये । जज साहब तो युवक आशुतोषके उच्च अध्ययन और अगाध गणितप्रेमके देखकर मुग्ध हो गये थे । जज साहबने ऐसे सुपात्रके सुन्दर कद की ।

‘अखण्ड आनन्द’

—अरविन्दकुमार जी-सा



# श्रीऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरु, राजस्थान

( गीताप्रेसद्वारा संचालित सांस्कृतिक शिक्षा-संस्था )

इस संस्थाकी संस्थापना लगभग ४९ वर्ष पूर्व ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रयत्नसे हुई तबसे अबतक इसका कार्य चल रहा है ।

इसमें—

प्रवेश-आयु—१. आठसे ग्यारह वर्षतकके द्विज—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ब्रह्मचारी लिये जाते हैं ।

२. सोलह वर्षकी अवस्थातक ब्रह्मचारीको आश्रममें रक्खा जाता है ।

पढ़ाई—३. संस्कृत—वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयकी प्रथमा परीक्षातक ।

अंग्रेजी-मैट्रिक ( राजस्थान माध्यमिक शिक्षा-परिषद् ), गीता १८ अध्याय उत्तमा परीक्षातक ।

वेद—रुद्री, दण्डक, कर्मकाण्ड आदि ।

मंथ्या अनिवार्य—ब्रह्मचारियोंके लिये उपनयन-संस्कारयुक्त होकर त्रिकाल-संथ्या, गायत्री-जप तथा अग्निहोत्र करना एवं नियमित व्यायाम करना अनिवार्य है ।

शुल्क—( १ ) ब्राह्मण-क्षत्रिय ब्रह्मचारीसे ३३ ) और वैश्य ब्रह्मचारीसे ३५ ) मासिक । कमसे कम छः मासका शुल्क अप्रिम देना पड़ता है । इसमें शिक्षा, वस्त्र, औषध, भोजन, दूध आदि सबका व्यय शामिल है ।

( २ ) प्रवेशकालमें अभिभावकोंको १०० ) एक सौ रुपये जमानतके रूपमें जमा करने पड़ते हैं, जो पूरी शिक्षा प्राप्त करके निकलनेपर लौटा दिये जाते हैं—किंतु विद्यार्थीको बीचमें निकालनेपर वापस नहीं किये जाते ।

छः मासतक ब्रह्मचारीको अस्थायी भर्तीमें रक्खा जाता है । तदनन्तर योग्य सिद्ध होनेपर स्थायी भर्तीमें ले लिया जाता है । जो अपने सुयोग्य, स्वस्थ बालकको इस आश्रममें भर्ती कराना चाहें, वे निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करें । विद्यार्थी चैत्रकृष्ण १ से श्रावण शुक्ल १५ तदनुसार १३ मार्चसे ६ अगस्त १९७१ ई० तक ही भर्ती किये जायेंगे ।

—मन्त्री—ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, चूरु ( राजस्थान )

## प्राचीन भारतमें गोमांस—एक समीक्षा

आकार २२×३६ डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या २३८, सजिन्द मूल्य २.००,  
डाकखर्च १.४० पैसे ।

जब-जब गोवधवन्दीका आन्दोलन या उसकी चर्चा चलती है, तब-तब कुछ लोग अपनी भ्रान्त धारणाके अनुसार समाचार-पत्रोंमें इस विषयका लेख प्रकाशित कराते रहते हैं कि प्राचीन भारतमें गोहत्या होती थी और गोमांस खाया जाता था, जिससे जनता भ्रममें पड़ जाती है । इस भ्रमके निवारणार्थ इस पुस्तकमें कुछ शास्त्रीय समाधानोंका संकलन किया गया है । कुछ विशिष्ट शङ्काओंका समाधान श्रीजयदयालजी डालमियाने परिश्रमपूर्वक कुछ विद्वानोंके सहयोगसे किया है । इसके अशुशीलनसे पाठक अवश्य समझ जायेंगे कि 'वैदिक कालमें गोहिंसा और गोमांस-भक्षण प्रचलित था'—यह मत सर्वथा मिथ्या है



श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी का रामचरितमानसके कुछ अलग-अलग संस्करण

( १ ) रामायण १८.०० रुपयेवाली ( दाकार सटीक संस्करण )—

आकार २२×२९—४ पेजी, पृष्ठ-संख्या ९८४, चित्र रंगीन ८, सजिल्द मूल्य

( २ ) रामायण ११.०० रुपयेवाली ( बृहदाकार मूल संस्करण )—

आकार २२×२९—४ पेजी, पृष्ठ-संख्या ५८०, चित्र रंगीन ८, सजिल्द मूल्य

( ३ ) रामायण ८.५० रुपयेवाली ( सटीक )

आकार २२×२९—८ पेजी, पृष्ठ-संख्या १२००, चित्र रंगीन ८, सजिल्द मूल्य

( ४ ) रामायण मझोली सटीक ४.०० रुपयेवाली—

आकार २२×२९—१६ पेजी, पृष्ठ-संख्या १००८, चित्र रंगीन ८, सजिल्द मूल्य

( ५ ) रामायण मूल पाठभेद ३.७५ रुपयेवाली—

आकार २२×३६—१६ पेजी, मोटा टाइप, पृष्ठ-संख्या ८००, सजिल्द मूल्य

( ६ ) रामायण मूल मझला २.०० रुपयेवाली—

आकार २०×३०—१६ पेजी, पृष्ठ-संख्या ६०८, सजिल्द मूल्य

( ७ ) रामायण मूल गुटका .९० पैसेवाली—

आकार २२×२९—३२ पेजी, पृष्ठ-संख्या ६८८, चित्र रंगीन २, सजिल्द मूल्य

सभी पुस्तकोंका डाकखर्च अलग ।

अधिक जानकारीके लिये सूचीपत्र अलगसे मंगाइये । व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )

### ‘कल्याण’के प्राप्य विशेषाङ्क

( १ ) ३७ वें वर्षका—संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त-पुराणाङ्क—पृष्ठ-संख्या ६८२, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा १,

इकारंगे ६, रेखाचित्र १२०, मूल्य

( २ ) ४० वें वर्षका—धर्माङ्क—पृष्ठ-संख्या ७००, बहुरंगे चित्र १४, दोरंगा १, सादा चित्र ४,

रेखाचित्र ८१, मूल्य ७.५०, सजिल्द

( ३ ) ४१ वें वर्षका—श्रीरामवचनानुताङ्क—पृष्ठ-संख्या ७०४, बहुरंगे चित्र १४, दोरंगा १,

रेखाचित्र ६४, मूल्य ८.५०, सजिल्द

( ४ ) ४२ वें वर्षका—उपासनाङ्क—पृष्ठ-संख्या ७००, बहुरंगे चित्र १६, दोरंगा १, रेखाचित्र ३४,

यन्त्र तथा मुद्राएँ ८, मूल्य ९.००, सजिल्द

( ५ ) ४३ वें वर्षका—परलोक और पुनर्जन्माङ्क—पृष्ठ-संख्या ६९६, बहुरंगे चित्र १९, दोरंगा २,

सादे चित्र ५९, ( ११ मासिक अंकोंसहित ) मूल्य ९.००, सजिल्द

( ६ ) ४४ वें वर्षका—अग्निपुराण-गर्गसंहिता अङ्क—पृष्ठ-संख्या ७००, बहुरंगे चित्र १८, दोरंगा

१, रेखाचित्र १९, मूल्य ९.००, सजिल्द

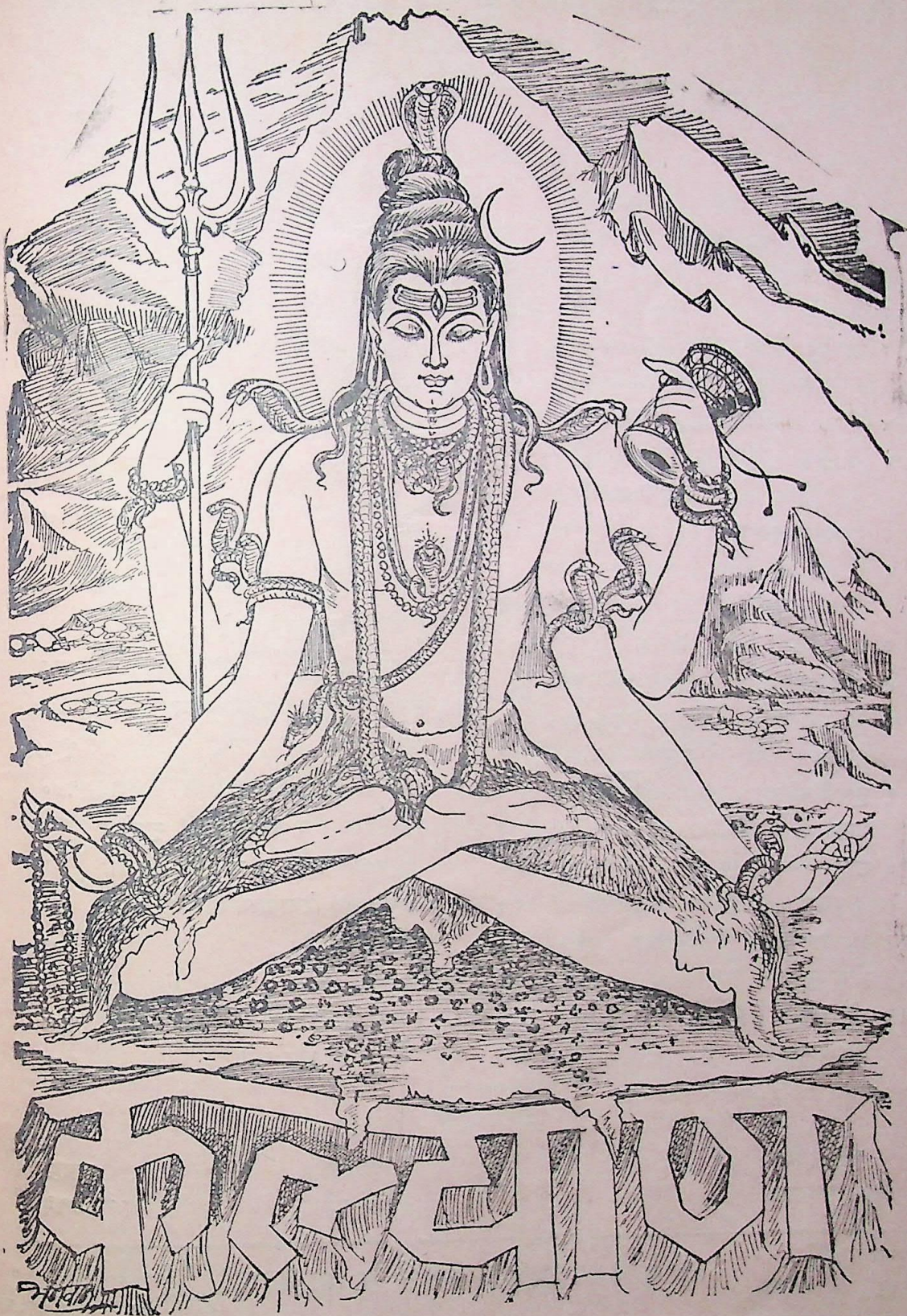
( ७ ) ४५ वें वर्षका—अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराण-अङ्क—पृष्ठ-संख्या ७५६, बहुरंगे चित्र

१३, मूल्य १०.००, सजिल्द

प्राहक बनकर मंगाइये ।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’ गोरखपुर







हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६५,०००

## विषय-सूची

कल्याण, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९०, मई १९०१

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१ श्यामाजूसे विनय [ संकलित ] ( श्रीरूपगोस्वामिविरचित गान्धर्व- प्रार्थनाष्टक, ३ )	... ८९३	१३-जीवन—एक दृष्टि [ कविता ] [ श्री- भगवानशरणजी भारद्वाज 'प्रदीप' १३६ ए० ( संस्कृत-हिंदी ) ]	... ९२१
२ कल्याण	... ८९४	१४-परमार्थ-पत्रावली ( ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयंकाके पुराने पत्र )	९२७
३ ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयंकाके अमृतोपदेश ( पुराने सत्सङ्गसे )	८९५	१५-अकेलापन ( श्रीमती खरोज गोयंका )	९२९
४ श्यामकी छवि [ संकलित ] ( श्रीरसिकदेवजी )	८९७	१६-अस्पृश्यता पाखण्ड नहीं, दूसरोंके प्रति घृणा नहीं ( पं० श्रीनरनारायणजी आलोपा, एम० ए०, साहित्यालंकार )	९३०
५ परमार्थकी पगडंडियों ( नित्यलीलालीन रम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन )	... ८९८	१७-गांधी-जीवन-सूत्र ( श्रीकृष्णदासजी भट्ट )	९३१
६ गीताका भक्तियोग ( पूज्य स्वामीजी श्रीराममुखदासजी महाराज )	... ९०२	१८-सज्जन और दुर्जनकी खोज [ कहानी ] ( डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच्० डी० )	... ९३६
७ आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ	... ९०८	१९-नाम-मोह—एक महारोग ( श्रीअगरचन्दजी नाहटा )	... ९३८
८ वर्गाश्रमकी ऐतिहासिकता ( डॉ० श्री- नीरजाकान्त चौधरी [ देवशर्मा ] एम० ए०, एल्. एल्. बी०, पी-एच्० डी० )	९११	२०-चँदरी बुआ ( श्रीरामेश्वरजी टॉटिबा )	९४०
९ सुखकी गवेषणा ( महन्त श्रीतपस्वीन्द्रजी शास्त्री तलेगाँवकर )	... ९१३	२१-भक्त-गाथा [ दक्षिण भारतकी सुप्रसिद्ध महिला-संत कारैकाल अम्मैयार ] ( श्री बल्लभदासजी विन्नानी 'ब्रजेश', साहित्यरत्न, साहित्यालंकार )	... ९४३
१० उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुधर्मों- परपुराण. ( पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा )	९१५	२२-मोहनकी उलटी रीति [ संकलित ] ( भारतेन्दु हरिश्चन्द्र )	... ९४७
११ रामलीला-नाटक ( पद्मभूषण डॉ० श्रीरामकुमारजी वर्मा )	... ९१८	२३-पढ़ो, समझो और करो	... ९४८
१२ श्रीविष्णुप्रिया [ एकाङ्की नाटक ] ( लाल श्रीप्रद्युम्नसिंहजी )	... ९१९		

## चित्र-सूची

१-भगवान् शिव	( रेखाचित्र )	... मुखपृष्ठ
२-श्यामा-श्याम	( तिरंगा )	... ८९३

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.०० } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ } साधारण प्रति भारतमें ६०  
विदेशमें १६.०० ( १८ शिलिंग ) } विदेशमें २० १.०० ( १५ पैसे ) }

आदि संपादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । संपादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री  
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



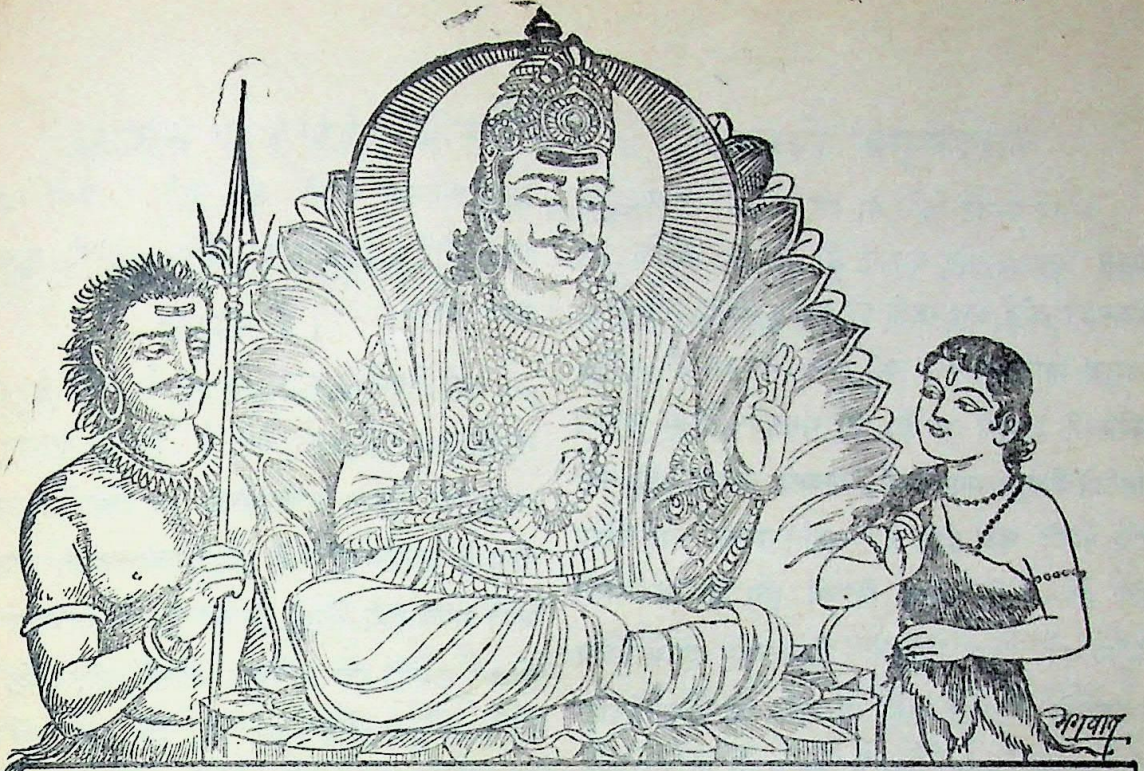






श्यामा-श्याम





# कल्याण

अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

( अग्निपुराण )

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर ज्येष्ठ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, मई १९७१ { संख्या ५  
पूर्ण संख्या ५३४

## श्यामाजूसे विनय

श्यामे रमारमणसुन्दरतावरिष्ठ-

सौन्दर्यमोहितसमस्तजगज्जनस्य ।

श्यामस्य वामभुजयुद्धतनुं कदाहं

त्वामिन्दिराविरलरूपभरां

भजामि ॥

( श्रीरूपगोस्वामिविरचित गान्धर्वप्रार्थनाष्टक, ३ )

श्यामाजू ! आपकी सौन्दर्यराशि भगवान् नारायणकी अर्धाङ्गिनी श्रीरमादेवीमें भी नहीं पायी जाती । आपके प्रियतम श्यामसुन्दर भी अपने उस सौन्दर्यके द्वारा, जो भगवान् लक्ष्मीकान्तके अङ्गसौष्ठवमें भी श्रेष्ठ है, जगत्के समस्त जीवोंको मोहित किये लेते हैं । मेरा वैसा सौभाग्य कब होगा, जब मैं आपके श्रीविग्रहको अपने प्रियतमकी वाम भुजामें आवेष्टित देखूँगा ?



## कल्याण

वैराग्य प्रेमकी भित्ति है, यह सत्य है; पर वास्तविक प्रेममें वैराग्यकी कोई कल्पना ही नहीं है; क्योंकि वहाँ वैराग्यकी कोई वस्तु रहती ही नहीं। प्रेमका अर्थ है—विशुद्ध भगवदनुराग। जहाँ किसी अन्य प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति आदिमें राग है, वहाँ भगवत्प्रेम है ही नहीं। इसलिये विशुद्ध भगवत्प्रेममें वैराग्यकी कल्पना ही नहीं है। वैराग्य वहीं होता है, जहाँ रागका कोई विषय शेष हो—जैसे अमुक विषयमें राग है तो उससे वैराग्य करें, उस विषयसे आसक्तिको हटायें। जब प्रेमास्पदके अतिरिक्त किसी भी प्राणी, पदार्थ, परिस्थिति-की सत्ताका भाव ही नहीं है, तब उनसे राग हटानेका, वैराग्य करनेका प्रश्न ही नहीं बनता। वस्तुतः प्रेममें प्रेमास्पदकी सत्ता ही रह जाती है और उन्हींमें पूर्णानुराग, पूर्ण ममत्व केन्द्रित हो जाता है। अतएव वास्तविक प्रेममें वैराग्यकी कल्पना नहीं है। पर इसका अर्थ कोई उल्टा न समझ ले कि 'जब प्रेममें वैराग्य-की आवश्यकता नहीं है, तो क्या रागकी आवश्यकता है?' यह तो सत्यका उपहास करना है। जहाँ विषयमें राग है, वहाँ भगवत्प्रेम है ही नहीं—यह सिद्धान्त मान लेना चाहिये। जबतक भोग्यपदार्थोंमें, परिस्थितियोंमें, प्राणियोंमें राग है, आसक्ति है, उनसे सुखकी वाञ्छा है, उनकी ओर चित्तका आकर्षण है, तबतक भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव हुआ ही नहीं। भगवत्प्रेम जहाँ वास्तविक रूपमें जग उठता है, वहाँ किसीमें भी

आसक्ति-ममता रहती ही नहीं। ऐसी अवस्था में भगवत्प्रेमीमें विषयानुराग होगा—इसको कल्पना कहा जायगा।

जहाँ विषयोंकी सत्ता ही नहीं है, वहाँ न राग न वैराग्य। वहाँ रह जाते हैं केवल भगवान् भगवान्की सेवा। भगवत्प्रेमीका भगवत्सेवामें पूर्ण होना होता है, उससे वह कभी विरत नहीं होना चाहता। अपने भगवान्की सेवामें उसकी पूर्णतम आसक्ति है तथा उसकी यह आसक्ति बढ़ती रहे, इसके साथ वह सतत प्रयत्नशील रहता है और भगवान्से मिलने लिये प्रार्थना करता है। वह भगवत्सेवाको छोड़ पाँच प्रकारकी मुक्तियोंको भी स्वीकार नहीं करता। भगवान्ने कहा है—मेरे जन मेरी सेवाको छोड़ मुक्तिको भी स्वीकार नहीं करते—

सालोक्यसार्धिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

(श्रीमद्भागवत ३।२९।१)

जहाँ पूर्णानुराग है, वहाँ सेवानुराग भी है। करनेकी सामर्थ्य, सेवाकी शक्ति, सेवाका अवसर इनमें दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती रहे—प्रेमीकी चाह एवं चेष्टा रहती है। सेवक भक्तोंमें श्रीहनुमान् नाम मुख्यरूपसे आता है। वे सेवाके सिवा कुछ नहीं जानते। वे सेवामें अपने-आपको भूल रहे सच्चे प्रेमीका यही स्वरूप है।



# ब्रह्मलोक परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[ पुराने सत्सङ्गसे ]

**मुक्तिकी प्राप्तिमें हमारा स्वाभाविक नित्य अधिकार है ।**

मुक्तिमें मनुष्यमात्रका नित्य अधिकार है । जो लोग यह कहते हैं कि मुक्ति किसी वर्णविशेष, आश्रमविशेष अथवा कालविशेषमें ही होती है, उनकी बातें कभी सुननी-माननी नहीं चाहिये । मुक्तिके लिये सभी वर्ण, आश्रम एवं काल समान हैं । फिर इस कल्किकालमें तो भगवान्की उदारताकी सीमा ही नहीं है । इस प्रकारका मौका पाकर भी यदि हमलोग मुक्तिसे वञ्चित रह गये तो समझना चाहिये कि हमारी मूर्खता एवं दुर्भाग्यकी सीमा नहीं है ।

हमलोगोंने अपने आत्माके कल्याणको बहुत ही कठिन समझ लिया है, वास्तवमें यही सबसे बड़ी भूल है । हमलोगोंको यह विश्वास रखना चाहिये कि मनुष्य चाहे जैसा—पापी-से-पापी एवं मूर्ख-से-मूर्ख हो, उसका बहुत ही शीघ्र उद्धार हो सकता है । हमलोगोंको रुपया कमानेमें जितना और जैसा परिश्रम करना पड़ता है, भगवान्की प्राप्ति करनेमें उतने और उस प्रकारके परिश्रमकी आवश्यकता नहीं है । आवश्यकता है केवल सहज विश्वासकी कि जब भगवान्ने हमें मनुष्य बनाया है, तब मुक्तिकी प्राप्ति हमारा स्वाभाविक नित्य अधिकार है ।

गीता अध्याय ७के १९वें श्लोकमें भगवान्ने कहा है—‘बहूनां जन्मनामन्ते’ । हमें भगवान्की इस वाणीपर विश्वास कर यह मान लेना चाहिये कि हमारा यह अन्तिम जन्म है । इसके बाद और जन्म हमलोगोंको नहीं लेना पड़ेगा । चौरासी लाख योनियोंके बाद जो यह मनुष्य-शरीर हमको मिला है, यही

हमारा आखिरी जन्म है । इस मनुष्यजन्मको पाकर भी यदि हमलोगोंका कल्याण नहीं हुआ तो हमारे लिये यह बड़ी ही लज्जा एवं दुःखकी बात होगी । यदि हम मुक्तिकी प्राप्तिके अधिकारी नहीं हुए होते तो सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् भगवान् हमलोगोंको मनुष्यजन्म क्यों देते ? वे हमें गधा-कुत्ता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग—कुछ भी बना सकते थे । अतएव यह विश्वास कर लेना चाहिये कि मनुष्य-शरीर सब जन्मोंका अन्तिम जन्म है और यह आगेके सब जन्मोंका अन्त करनेवाला है । जो इस प्रकारका विश्वास कर लेता है कि ‘हम मनुष्य हैं, अतएव भगवान्की कृपासे हमारा कल्याण सुनिश्चित है’, मेरी समझमें उसका कल्याण हो जायगा, इसमें तनिक भी शङ्काके लिये स्थान नहीं है ।

**प्रमाद साक्षात् मृत्युका ही स्वरूप है ।**

साधकको सबसे पहले प्रमादका त्याग करना चाहिये । प्रमाद साक्षात् मृत्युका ही स्वरूप है । महाभारत, उद्योगपर्वमें संत सुजानने महाराज युधिष्ठिरको बतलाया है कि ‘यह प्रमाद ही मृत्यु है ।’ गीतामें भगवान्ने इसे तमोगुणसे उद्भूत कहा है—

‘प्रमादमोहौ तमसो—’ (१४।१७)

प्रश्न होता है कि ‘प्रमाद है क्या ?’ न करने योग्य कर्मों अर्थात् निषिद्ध कर्मोंको करना तथा करने योग्य कर्तव्यकर्मोंको न करना ‘प्रमाद’ है । कर्तव्यकर्म प्रत्येक वर्ण एवं आश्रमके लिये शास्त्रोंमें निश्चित किये गये हैं । व्यक्तिविशेषके लिये प्रतिदिनके जीवनमें भी कुछ विशेष कर्तव्य होते हैं । सत्य-अहिंसा आदिका पालन, दुखियोंकी सेवा, माता-पिता-गुरुजनोंकी सेवा, अपने अधिकारके अनुसार प्रतिदिन भगवान्का पूजन-



ध्यान एवं स्वाध्याय आदि मनुष्यमात्रके लिये कर्तव्य हैं। इनका बड़ी तत्परता एवं दृढ़तासे पालन करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त जो कर्म शास्त्रोंमें निषिद्ध माने गये हैं, उनको नहीं करना चाहिये। शास्त्र-विपरीत कर्मोंका करना पाप है, अपराध है। साधु-संन्यासियोंके लिये कर्मके आरम्भमात्रका त्याग बतलाया है, पर गृहस्थको कर्तव्यकर्मोंका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये। गृहस्थ कर्म करे, उत्साह एवं लगनसे कर्म करे, पर सदा सावधान रहे।

बुरे कर्मोंके साथ-साथ दुर्भावका त्याग भी आवश्यक है। दुर्भावका सम्बन्ध हृदयसे है। किसीके प्रति वैरभाव, घृणाभाव, अहितभाव तथा काम, क्रोध, मद, मोह, अभिमान—ये सभी दुर्भाव हैं। इन सबका त्याग भी साधकके लिये परमावश्यक है। पर दुर्भावका त्याग दुराचरणके त्यागसे कठिन है। मनुष्य यह निश्चय कर ले कि 'मैं यह बुरा कर्म नहीं करूँगा' तो वह बुरा कर्म फिर उससे हो नहीं सकता; पर दुर्भाव हृदयमें प्रविष्ट रहता है। उसकी सफाई करनेमें बड़े मनोबलकी आवश्यकता है।

प्रमादके त्याग एवं कर्तव्यकर्मोंके तत्परतापूर्वक अनुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्की घोषणा है—

‘स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।’

( गीता १८।४५ )

**प्रार्थनाका उत्तर भगवान्की ओरसे अवश्य मिलता है।**

भगवान्की प्रार्थनाका बड़ा महत्त्व है। अतएव प्रार्थनाके सम्बन्धमें कुछ बातें जान लेनी चाहिये—

( १ ) यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि जिससे हम प्रार्थना कर रहे हैं, वह यहाँपर उपस्थित है और

हमारी प्रत्येक बातको सुन रहा है। संदेहयुक्त प्रार्थना कभी सफल नहीं होती।

( २ ) जिससे हम प्रार्थना कर रहे हैं, वह हम अन्तरकी बात भी जाननेवाला है, वह अन्तर्यामी है अतएव जो भी प्रार्थना हो, वह अन्तर्हृदयसे होनी चाहिये। कोई कहे—‘हमारे हृदयमें आतुरता नहीं है, हम कैसे अन्तर्हृदयसे प्रार्थना करें’, तो इसके लिये भी भगवान्से प्रार्थना करनी चाहिये।

( ३ ) भगवान् प्रार्थनाको पूर्ण करते ही हैं— इस बातपर दृढ़ विश्वास करना चाहिये।

( ४ ) प्रार्थनाके लिये शब्दाडम्बरकी, पर-गायकी अथवा संस्कृत-श्लोकोंकी आवश्यकता नहीं है। अप्रसिद्धी-सारी भाषामें अथवा मौन रहकर भी प्रार्थना की जा सकती है। प्रार्थना हृदयकी चीज है, दिखावट नहीं। प्रार्थना स्वाभाविक होनी चाहिये, जैसे कभी भूख लगनेपर स्वाभाविकरूपसे माताके लिये रोता है।

( ५ ) प्रार्थनामें ‘दैन्य’ होना चाहिये। हृदय खोलकर भगवान्के सामने रख देना चाहिये। अर्थात् अपने हृदयमें जैसा भाव आये, उसे छिपाये नहीं, उस रूपमें भगवान्के सामने रख दे।

( ६ ) भाव सच्चा होनेसे मेरा विश्वास है कि प्रार्थनाका उत्तर भगवान्की ओरसे अवश्य मिलता है और प्रार्थना करनेवालेको यह अनुभव होने लगता है कि ‘भगवान्ने मुझे अपना लिया है’। आजतक सच्चा भावसे प्रार्थना करनेवालोंकी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं हुई। भक्त बालक गोविन्दके लिये मूर्ति चेतन होकर खेलनेके लिये बाहर आ गयी, प्रह्लादके लिये खंभेमें भगवान् प्रकट हो गये, तो क्या आजकल भगवान् कहीं चले गये हैं? भगवान् तो यहीं हैं, परन्तु अज्ञान विश्वास ही नहीं होता उनपर, जिससे वे प्रकट नहीं



भगवान्‌के सामने हृदय खोलकर खूब रोइये,  
जिससे फिर आगेके लिये रोना न पड़े ।

प्रत्येक भाई-बहिनको इस बातका विचार करना चाहिये कि हमारा कितना समय चला गया है और हमने कितनी उन्नति की है । यदि हमलोग गौर करके देखेंगे तो पता चलेगा कि अधिकांश व्यक्तियोंका जैसा साधन होना चाहिये था, वैसा साधन अभीतक उनसे नहीं बन पा रहा है । अतएव हमें सोचना चाहिये कि हमारी कल ही यदि मृत्यु हो जाय तो कैसी दुर्दशा होगी । क्या हमारे पास इस प्रकारका कोई उपाय है, जिसके द्वारा हम शरीरको कायम रख सकेंगे ? क्या हमारे पास इस प्रकारका साधन है कि जिसके बलपर जबतक हमारे कल्याणका काम इस शरीरसे नहीं हो जायगा, तबतक हम अपना यह शरीर बनाये रखेंगे ? इससे पहले हम नहीं मरेंगे ? यदि नहीं, तो हमलोगोंको अपने आत्माके कल्याणके लिये दिन-रात प्रयत्न करके अपना उद्धार कर लेना चाहिये । अपने आत्म-कल्याणकी चिन्ताके कारण हमारी रातमें नींद और दिनमें भूख-प्यास बिदा हो जानी चाहिये ।

देखें, वर्ष-के-वर्ष बीत गये हैं, पर हम वहीं पड़े हैं—

जैसे हमने एक स्थानपर ही डेरा डाल दिया हो । अब हमलोगोंको विशेष प्रयत्न करके खूब तेजीके साथ आगे बढ़ना चाहिये । हम समझते हैं कि हम प्रतिदिन भजन-ध्यान-स्मरण करते हैं; पर साधनकी यह मन्दगति बहुत ही हानिकर है । विचार करना चाहिये कि गतवर्ष हमारे साधनकी जो स्थिति थी, वह कितनी बड़ी है । यदि साधनकी स्थितिमें सुधार नहीं हुआ, अर्थात् साधन बढ़ा नहीं तो खूब पश्चात्ताप होना चाहिये तथा अकेलेमें भगवान्‌के सामने हृदय खोलकर खूब रोना चाहिये, फूट-फूटकर रोना चाहिये । यदि हम इस प्रकार भगवान्‌के सामने हृदय खोलकर खूब रोयेंगे तो फिर हमको आगेके लिये रोना नहीं पड़ेगा; अन्यथा सदाके लिये रोना-ही-रोना है ।

हमारा साधन कहाँतक, किस लक्ष्यतक पहुँच चुका है—इस बातकी जाँच करनेके लिये—इसका माप-तौल करनेके लिये भगवान्‌के गीताके बारहवें अध्यायमें ( श्लोक-संख्या १३से २०वें तक ) एक काँटा-कसौटी बतायी है । हमें चाहिये कि हम निरन्तर अपने मनको, जीवनको उस काँटेपर तौलकर देखते रहें कि हम कहाँ हैं, अभी कितना और चढ़ना शेष है ।

## श्यामकी छवि

सोहत नैन-कमल रतनारे ।

रूप भरे मटकत खंजन-से, मनो वान अनियारे ॥  
माथे मुकुट, लटक ग्रीवा की, चित ते टरत न टारे ।  
अलिंगन जु झुकि रहे वदन पर, केस ते घूँघुरवारे ॥  
छूटे बंद, झीन तन बागो, मुकर रूप तन कारे ।  
ढरकि रही माला मोतिन की, छुकि छैल मतवारे ॥  
अंग-अंग की सोभा निरखत, हरषत प्रान हमारे ।  
'रसिक' बिहारी की छवि निरखत, कोटिक कविजन हारे ॥

—श्रीरसिकदेवजी



## परमार्थकी पगडंडियाँ

( नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन )

भगवान् हमारे अत्यन्त निकट हैं, सदा अति निकट ही रहते हैं, दिन-रात रहते हैं; उनका विद्यो योग कभी होता ही नहीं; हमारा शरीर नहीं रहता, तब भी वे तो रहते ही हैं। नरकमें भी हम साथ रहते हैं, वैकुण्ठमें भी रहते हैं। वे कभी साथ छोड़ देंगे, ऐसी तो कल्पना ही नहीं करनी चाहिए बस, उन्हें सदा—चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जागते अपने पास समझना चाहिये—समझना ही चाहिये, अनुभव करना चाहिये। जब वे साथ हैं, नित्य अपने पास हैं, तब यह विश्वास हो उनके होनेका अनुभव भी होने लगता है। सदा-सर्वदा उनकी सन्निधिका अनुभव किया करो। वे क्षणके लिये भी तुमसे अलग नहीं होते, यह निश्चय समझो। फिर वे साथ रहें या साथ रक्खें—हम कोई प्रश्न ही नहीं है। वे सदा ही, सर्वत्र ही साथ हैं—

‘तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।’

‘मैं उससे कभी अलग नहीं होता और वह मुझसे कभी नहीं अलग होता।’ यह भगवान्ते है। इस बातका विश्वास करो, अनुभव करो।

भगवान् छोड़ना जानते ही नहीं। एक बार जो उनका हो जाता है, वे सदाके लिये उसके हो जाते हैं। उनका और हमारा सम्बन्ध कभी टूटनेवाला है ही नहीं—इस बातपर हमें विश्वास करना चाहिए और दिन-रात उनकी अनन्त असीम कृपाके अगाध सागरमें अपनेको निमग्न देखना चाहिये। ऊपरकी दिनमें-रातमें, जीवनमें-मृत्युमें, सुखमें-दुःखमें, मधुरमें-अपानकमें—सदा-सर्वत्र उनकी अशेष-कृपा ही फैल रही है। 'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती।'

मनमें निश्चय कर लेना चाहिये—‘भगवान् मेरे हैं और मैं भगवान् का हूँ’। जबतक शरीरमें अहंता और शरीरसे सम्बन्धित प्राणि-पदार्थमें ममता रहती है, तबतक साधना आगे नहीं बढ़ती; दिन-रात प्राणि-पदार्थोंमें राग-द्वेष बना रहता है। इसलिये या तो शरीर और संसारको असत् समझकर अहंता-ममता मिटा देना चाहिये या बहुत ही सरल दूसरी चीज यह है कि ‘अहंता’ ( मैं ) को भगवान् की दासी बना ( अर्थात् मैं न शरीर हूँ, न पुरुष-स्त्री हूँ, न और कुछ हूँ, न और किसीका हूँ । मैं तो एकमात्र उर्ध्वप्राणी ‘दास’ हूँ । ) और सारी ‘ममता’ को—सारे ‘मेरेपन’ को भगवान् से जोड़ दो ( अर्थात् कोई प्राणी-पदार्थ मेरा नहीं है; एकमात्र भगवान् मेरे हैं, भगवान् के श्रीचरण ही मेरे हैं । मैं उनका हूँ और वे मेरे ) । फिर अपने-आप ही सारी अशान्ति, सारे दुःख-दोष दूर हो जायेंगे । उनका अनन्त-सुखमय स्मरण तुम्हारे जीवन बन जायगा । इसमें पहले विश्वास करना होगा कि ‘मैं उनका ही हूँ और वे ही मेरे हैं’ । इस वाद निश्चय होगा कि ‘ऐसा ही है’ । फिर अनुभूति होगी—‘मैं उनका ही हूँ और वे ही मेरे हैं’ ।

वियोगमें स्मृति निश्चित रहती ही है; स्मृति न रहे तो वियोगका अनुभव ही कैसे हो। प्रभु स्मृति कैसे भी हो—प्रेमीके लिये तो वह सर्वथा आनन्ददायिनी ही होनी चाहिये। प्रेमी तो उस संयोग सुखको भी त्याज्य समझता है, जो स्मृतिके मधुर सुखको मिटानेवाला है। अतएव प्रत्येक वियोगस्थितिमें सुख ही होना चाहिये। यह स्मृति ही 'भगवत्प्रेम' है। नारदजीने कहा है—तद्विस्मयपरमव्याकुलता ।'



विस्मृतिमें परम व्याकुलता होनी चाहिये, वह चाहे संयोगमें हो; और प्रभुकी स्मृतिमें ही परम आनन्द होना चाहिये, फिर वह चाहे चिर-वियोगमें ही हो। यही हेतु है कि प्रभुप्रेमी वियोगसे नहीं घबरता।

‘प्रभुकी कृपा हम सभीपर सदा-सर्वदा’, अनन्त है,’ इस बातपर दृढ़ विश्वास कर लेना चाहिये। हमारी अयोग्यता प्रभु-कृपामें जरा भी बाधक नहीं हो सकती। व्यक्तिका प्रभुकृपापर तथा अपनी अयोग्यता-पर पूरा विश्वास हो जाय अर्थात् अपनी अयोग्यता और प्रभुकी कृपा जहाँ एक साथ मिल जायँ, वहाँ प्रभुकी प्राप्ति हो जाती है। प्रभु-कृपाकी प्राप्ति के लिये अपनी अयोग्यता ही योग्यता तथा अधिकार है। मनुष्य बेचारा किसपर क्या कृपा करे, वह तो स्वयं ही कृपाका भिखारी है। वस, भगवान्की अमोघ कृपापर ही हम सबको विश्वास करना चाहिये।

‘न मुझे शक्ति-सामर्थ्य है, न अपने किसी साधनका भरोसा है’—बेसा मानना भगवान्की कृपा प्राप्त करनेका सुन्दर तरीका है। जिसको अपने साधनका भरोसा है, वह किसीकी कृपा क्यों चाहेगा? तुम्हारे मनमें जो प्रभुका ही भरोसा है, वह बहुत ही अच्छी बात है। यह भरोसा ही इस बातको स्पष्ट सिद्ध करता है कि ‘तुमपर भगवान्की बड़ी कृपा है’। तुम्हारा वह भावमय मनोरथ अत्यन्त श्रेष्ठ और भगवान्को बहुत प्रिय है कि तुम सर्वदा, सर्वत्र, सभी दिशाओंमें, भारी-से-भारी कष्ट-दुःखमें भी भगवान्की अनन्त कृपाको देखते रहो, भगवान्का वरद हस्त सदा ही मस्तकपर रहे, वे कभी जरा भी पृथक् हों ही नहीं तथा सारी प्रतिकूलता भगवान्में समाकर अनुकूलता बन जाय। जिस भगवान्की कृपाने तुम्हारे मनमें यह इच्छा उत्पन्न की है, उसी भगवान्की कृपासे तुम्हारी यह सदिच्छा पूर्ण भी होगी। भगवान्की कृपा सदा ही अमोघ है। तुम्हारा सदा ही वह परम हित करनेमें लगी है। वह कृपा ही तुम्हारे विश्वास-को अनन्य तथा अमिट करके तुम्हें भगवान्की नित्य संनिधिमें रख देगी।

तुम कहते हो—‘मैं भगवान्की सारी कृपा नहीं चाहता, मुझे तो अपने हिस्सेकी ही चाहिये’, पर कृपामय भगवान्की कृपामें हिस्सा-पाँती नहीं होती, वह तो सारी-की-सारी ही मिलती है। उसमें विलक्षणता यही है कि सारी दे देनेपर भी सारी बची रहती है। भगवान्के सम्बन्धमें उपनिषद्की वाणी है—‘पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।’ पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर पूर्ण ही बचा रहता है। जैसे भगवान्का स्वरूप नित्य पूर्ण है, उसी प्रकार भगवान्की दिव्य कृपाका स्वरूप भी नित्य पूर्ण है। अपनी उदारतावश यदि तुम अधूरी कृपामें प्रसन्न हो जाओ तो तुम्हारी इच्छा है। भगवान् तो सदा-सर्वदा अपनी पूर्ण कृपा ही देनेको प्रस्तुत हैं।

मेरे भगवान् और तुम्हारे भगवान् दो नहीं हैं। वे एक ही सबके हैं और सभीकी प्रार्थना सुनते हैं, किसीकी उपेक्षा नहीं करते। भगवान्के लिये नगण्य जीव भी उतना ही प्रिय है, जितना कोई महान् प्राणी। पर जो कोई विश्वासपूर्वक अपनेको बिना शर्त उनके चरणोंपर चढ़ा देता है, उसके प्रति तो उनका स्नेह-सागर सहज उमड़ पड़ता है। फिर वे उसको सर्वथा अपनाकर अपना बना लेते हैं और उसके अपने बन जाते हैं तथा उसके द्वारा वे ही सब कुछ करते-कराते हैं। वह तो केवल लोगोंके देखनेमें करनेवाला दीखता है। तुम भगवान्से प्रार्थना किया करो—मन-ही-मन अपनी मूकभाषामें। वे अन्तर्यामी अन्तरकी भाषाको बहुत जल्दी समझते हैं।

अनन्त दयार्णव, सहज सुहृद् भगवान् कभी भी अपने सौहार्दसे हमलोगोंको वञ्चित नहीं करते। प्रेमावेशमें हम उन्हें उलाहना दें, निष्ठुर बतायें या और कुछ भी कहें तो वे इससे प्रसन्न ही होते हैं, कभी



नाराज होते ही नहीं। वे हृदयके भावको देखते हैं, भाषाको नहीं। अटपटी भाषा तो उन्हें प्रिय हुआ करती है। पर यह निश्चय है कि वे न तो हमारी कभी उपेक्षा करते हैं, न हमारे हितसे कभी हाथ हटाते हैं, कभी कठोर होते हैं। तुम प्रसन्न रहा करो। भगवान् परीक्षा नहीं ले रहे हैं। उनकी कृपाका पार नहीं। वह तो सदा असीम है, अनन्त है। तुम चाहते हो कि तुमपर कृपा हो जाय, तो क्या इस समय तुम कृपा नहीं है ? तुम कृपापर विश्वास करो और निश्चिन्त हो जाओ। उनकी कृपापर विश्वास होनेपर तीन बातें अवश्य होती हैं—( १ ) वित्कुल निश्चिन्तता आ जाती है, ( २ ) स्मरण उत्तरोत्तर बढ़ता है तथा ( ३ ) परम संतोष हो जाता है—कुछ भी चाह नहीं रह जाती। भगवान् की कृपा अनाथ-अभागा, दीन-हीन, मलिन-पतित कभी नहीं रहता। उसके सद्भावसे दूसरोंको भी भगवान् की कृपा प्राप्त हो जाती है और वे सनाथ बन जाते हैं। अतएव तुम ऐसी बात कभी न सोचा करो, न कल्पना करो, न किया करो। हाँ, उन्हें प्रेमका उलाहना देना हो, प्रेमवृद्धिके लिये तो दूसरी बात है। भगवान् के सम्मुख जानेपर सारे पाप कट जाते हैं। फिर पापका फल कहाँ रहता है। फिर तो भगवान् की लीला रहती है और रहता है उनके प्रेमभरे हृदयसे किया हुआ हमारे लिये प्रेमभरा मङ्गलविधान। उसमें जरा भी दुर्भाव क्यों होना चाहिये।

संसारकी अनित्यता, क्षणभङ्गुरता तथा दुःखमयताको देखकर भी हमारे मनमें वैराग्य नहीं होता—यही तो मोह है। यह मोह मिट जाय तो फिर राग-द्वेष आदि जो बन्धन और दुःखके प्रधान कारण हैं रहें ही नहीं। इसके लिये भगवान् की कृपा ही एकमात्र प्रधान उपाय है।

भगवान् का मार्ग तो बहुत सुगम है, पर साथ ही बहुत कठिन भी है। भगवत्-कृपाका भरोसा हो जानेपर बहुत सुगम है, नहीं तो बहुत कठिन है। अपनेको पता ही नहीं लगता और हम समझते हैं कि भगवान् की स्मृति हो रही है, पर मन किसी अनुकूलताकी उपासनामें लगा रहता है। इसीलिये प्रतिकूलता सहन नहीं होती—जरा सी प्रतिकूलता मनमें तूफान पैदा कर देती है। पर जहाँ भगवान् की कृपापर भरोसा होता है, वहाँ प्रतिकूलतामें भगवान् के दर्शन होते हैं और वह दर्शन स्वारी प्रतिकूलताओं में अनुकूलतामें परिवर्तित कर देता है। भगवत्कृपाका दर्शन अमुक परिस्थितिमें हो, अमुकमें न हो—इसका तो अर्थ होता है कि अमुक परिस्थितिकी अनुकूलताको भगवत्कृपा मानना और अमुक परिस्थितिकी प्रतिकूलताको भगवत्कृपा नहीं मानना। यह भगवत्कृपाका अखण्ड दर्शन नहीं है, जो भगवत्कृपापर भरोसा होनेपर हुआ करता है। तुमपर भगवान् की जो अनन्त, असीम कृपा है, वह कभी मिट या घट नहीं सकती। जो कृपा स्वरूपतः घटती, बढ़ती या हटती है, वह भगवत्कृपा नहीं है। हाँ, हमारा विश्वास जैसा होता है, वैसी ही वह दिखायी देती है—घटती, मिटती, हटती और बढ़ती हुई। पर वास्तवमें भगवत्कृपा सदा सर्वत्र पूर्ण होती है। इस महान् कृपापर दृढ़ विश्वास करो और उसपर भरोसा करो। तुम निरन्तर इस अनन्त कृपासमुद्रमें डूबे रहोगे। निस्सन्देह मेरे पास तो यदि कोई बल-भरोसा है तो वस, इस कृपाका ही।

जहाँ विशुद्ध प्रेम है, वहाँ तो प्रेम ही परम मूल्यवान् वस्तु है, वहाँ निराशाका कोई प्रश्न ही नहीं है। वहाँ तो सब प्रेम-ही-प्रेम है और उसमें कामना, वासना एवं गुणदर्शनको कोई स्थान न होनेसे वह नित्य निर्मल है तथा उसमें नित्य नयी-नयी आशा-किरणोंका विकास होता रहता है ? प्रेम कभी समाप्त होता ही नहीं, पूरा होता ही नहीं; वह तो बढ़ता ही रहता है। वस, सर्वोत्तम सम्बन्ध यही होता चाहिये, जिसमें केवल विशुद्ध प्रेमका अमृत भरा रहे।



मनमें निरन्तर प्रभुकी संनिधिका अनुभव होता है, यह बहुत ही उत्तम बात है। शरीर कहीं भी रहे, किसी भी स्थितिमें रहे, मन यदि सदा प्रभुके पास है तो हम सदा प्रभुके पास हैं। और जहाँ प्रभु रहते हैं, वहाँ जगत्के काम-क्रोधादि दूषित विकारोंकी तो बात ही क्या, जगत् भी नहीं जा सकता। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—“संसार ! तुम मेरे समीप नहीं आ सकते। तुम वहाँ जाओ, जिसके हृदयमें नन्दनन्दन न बसते हों”—

‘सहित सहाय तहाँ बसि अब, जेहि हृदय न नंदकुमार।’

—गोपियोंने तो संसारकी बातसे बहुत दूर ही परमात्मातकके लिये हृदयमें स्थानका अभाव बताया और दिन-रात सभी अवस्थाओंमें श्रीश्यामसुन्दरके हृदयमें बसे रहनेका अनुभव बताया—

नाहिन रह्यो हिय महीं और । नंदनंदन अछत कैसे आनिण उर और ॥  
चलत-चितवत दिवस जागत, सुपन सोवत रात । हृदय तें वह स्याम मूरति छिन न इत-उत जात ॥

उस व्यक्तिका महान् सौभाग्य है, जिसके हृदयमें प्रभु नित्य बसते हैं। तुम्हें जो जागते समय तथा स्वप्नमें भी प्रभुकी संनिधिका अनुभव होता है, यह बहुत ही उत्तम बात है। जो इस प्रकार भगवान्को नित्य-निरन्तर अपने मनमें बसाये रखते हैं—वैसे ही जैसे लोभी धनको बसाये रखता है, ‘लोभी हृदय बसइ धनु जैसे’—उनके भगवान् स्वयं प्रेमी बन जाते हैं और उसे सुख पहुँचानेमें ही स्वयं सुखका अनुभव करते हैं।

भगवान् कभी क्षणभरके लिये भी मनसे न निकलें, इसमें सावधानी रखना। जगत्का कोई भी विषय, कोई भी प्रलोभन, कोई भी दुःख, कोई भी सुख हमारे मनको क्षणभरके लिये भी अपनी ओर न खींच सके—इसके लिये सचेत रहना तथा भगवान्की असीम अनुलनीय कृपापर विश्वास रखकर नित्य निश्चिन्त रहना चाहिये।

× × × × ×

मृत्यु बूढ़ा-वालक नहीं देखती। हम सभीके शरीरोंकी एक दिन ऐसी दशा होनी है। जैसा जिसका संसारमें रूप होगा, उसीके अनुसार कुछ दिन रो-गाकर संसार उसे भूल जाता है; अपने कर्म-संस्कार ही साथ जाते हैं। इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधानीके साथ नित्य-निरन्तर भगवान्का स्मरण करते हुए भगवत्सेवाके भावसे ही यथायोग्य शुभ कर्मोंका आचरण करना चाहिये। मृत्युको देखकर संसारसे तथा भोगोंसे वैराग्य होना चाहिये। हृदयमें भोगोंके बदले भगवान्का पवित्र निवास हो। प्रभुकी स्मृति प्राणोंके साथ घुल-मिल जाय। इसलिये जीवनका एक क्षण भी पाप-चिन्तन और व्यर्थ-चिन्तनमें न खोकर सदा-सर्वदा प्रतिक्षण भगवत्स्मरणकी चेष्टा रखनी चाहिये। तुम सर्वदा-सर्वथा प्रभुपर ही निर्भर हो, यह बहुत ही अच्छी बात है। जो वास्तवमें प्रभुपर निर्भर होता है, परम-प्रेमास्पद, करुणासागर, अकारण कृपालु, सहज सुहृद् हमारे वे प्रभु उसके जीवनको निर्विघ्न बनाकर अपना लेते हैं। उसके हृदयको अपना नित्य निवास बना लेते हैं तथा उसको अपने हृदयमें लोभीके धनकी ज्यों बसा लेते हैं।

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु ।  
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥  
अस सजन मम उर बस कैसे । लोभी हृदय बसइ धनु जैसे ॥

—अपने हृदयको यदि हम और सब चीजोंसे खाली करके प्रभुके लिये उपयुक्त कर दें तो प्रभु उसे अपना नित्य-निवास बनाकर एक क्षणके लिये भी वहाँसे नहीं हटते, इस बातपर विश्वास करके प्रभुके शरणापन्न हो जाना चाहिये।



# गीताका भक्तियोग

( लेखक-पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज )

[ गताङ्क पृष्ठ ८५१ से आगे ]

सम्बन्ध

पूर्वश्लोकमें भगवान्ने सगुण-उपासकोंको सर्वोत्तम योगी बतलाया, इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या निर्गुण-उपासक सर्वोत्तम योगी नहीं है ? इसपर भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।  
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥  
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।  
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

भावार्थ

इन श्लोकोंमें भगवान्ने निर्गुण उपासनाके विषयमें चार बातें बतलायी हैं—( १ ) निर्गुण-तत्त्वका स्वरूप क्या है ? ( २ ) साधक स्वयं क्या है ? ( ३ ) उपासनाका स्वरूप क्या है ? और ( ४ ) प्राप्त क्या करता है ?

टिप्पणी

अर्जुनने पहले श्लोकके उत्तरार्द्धमें जिस निर्गुण-तत्त्वके लिये 'अक्षरम्' और 'अव्यक्तम्'—दो विशेषण देकर प्रश्न किया था, उसी तत्त्वका विस्तारसे वर्णन करनेके लिये भगवान्ने छः विशेषण और दिये, अर्थात् कुल आठ विशेषण दिये, जिनमें पाँच निषेधात्मक ( अक्षरम्, अनिर्देश्यम्, अव्यक्तम्, अचिन्त्यम् और अचलम् ) और तीन विधेयात्मक ( सर्वत्रगम्, कूटस्थम् और ध्रुवम् ) हैं ।

निर्गुण-तत्त्वका कभी 'क्षरण' अर्थात् नाश नहीं होता, इसलिये वह 'अक्षरम्' है; वाणीसे, संकेतसे अथवा उपमाके द्वारा किसी प्रकार भी उसका स्वरूप कहा और समझाया नहीं जा सकता, इसलिये 'अनिर्देश्यम्' है; किसी भी इन्द्रियका विषय न होनेसे अर्थात् निराकार होनेसे 'अव्यक्तम्' है; मन-बुद्धिके द्वारा चिन्तनसे सर्वथा परे होनेके कारण 'अचिन्त्यम्' है; गतिशील न होनेके कारण 'अचलम्' है; सभी देश, काल, वस्तुओंमें परिपूर्ण होनेसे 'सर्वत्रगम्'

है; सबमें रहते हुए भी निर्विकार होनेके कारण 'कूटस्थ' है और उसकी सत्ता निश्चित और नित्य होनेके कारण 'ध्रुवम्' है ।

निर्गुण-साधनामें ऐसे तत्त्वपर दृष्टि रहनेसे जो देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण है, 'साधक' समबुद्धयः' हैं । भोगोंकी सत्ता माननेसे ही भोग भोगोंमें इच्छा होती है और भोग भोगे जाते हैं, परन्तु साधकोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा दूसरी सत्ता न रहे, इन्द्रियसंयम स्वतः होगा । सबमें आत्मबुद्धि होनेके कारण उनकी सब प्राणियोंके हितमें रति स्वतः ही रहती है, इसलिये वे 'सर्वभूतहिते रताः' हैं ।

साधकका हर समय उस तत्त्वकी ओर रहना 'उपासना' है । भगवान् कहते हैं कि 'ऐसे साधकोंको जो निराकार ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, वह मेरी ही प्राप्ति है; क्योंकि ब्रह्म ही हूँ ।' ( गीता १४ । २७ )

अन्वय

तु, ये, इन्द्रियग्रामम्, संनियम्य, अचिन्त्यम्, सर्वत्रगम्, अनिर्देश्यम्, च, कूटस्थम्, ध्रुवम्, अचलम्, अव्यक्तम्, अक्षरम्, पर्युपासते, ते, सर्वभूतहिते रताः, सर्वत्र समबुद्धयः, माम्, एव, प्राप्नुवन्ति ॥ ३-४ ॥

तु ( और )

'तु' पद यहाँ साकार-उपासकोंसे निराकार-उपासकोंकी भिन्नता दिखलानेके लिये आया है । गीताजीमें भी स्थानोंमें 'तु' पद प्रकरणकी भिन्नता दिखलानेके लिये ही आया है, जैसे इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें 'तु' पद सिद्ध भक्तोंके प्रकरणसे साधक भक्तोंके प्रकरणका पार्थक्य करनेके लिये आया है ।

ये ( जो )

'ये' पद निर्गुण ब्रह्मके उपासकोंका वाचक है । इसी अध्यायके चौथे श्लोकमें 'ते' पद इन्हीं साधकोंके लिये आया है ।



इन्द्रियग्रामम् संनियम्य ( इन्द्रियोंके समुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके )

‘सम्’ और ‘नि’ दो उपसर्ग ‘यम्’ क्रियाके साथ देकर भगवान् ने बताया कि इन्द्रियोंको एक तो सम्यक् प्रकारसे एवं दूसरे निःशेषरूपसे वशमें करे, जिससे वे किसी ओर भी न जायँ । अगर इन्द्रियाँ अच्छी प्रकारसे वशमें नहीं होंगी तो निर्गुणकी उपासना कठिन होगी । सगुण-उपासनामें तो ध्यानका विषय सगुण भगवान् होनेसे इन्द्रियाँ अपने-आप भगवान् में लग जायँगी; क्योंकि इन्द्रियाँ स्वयं सगुण हैं, अतएव सगुण विषयमें स्वतः लग जाती हैं । अतः सगुण-उपासनामें इन्द्रियसंयमकी आवश्यकता होते हुए भी उतनी अधिक आवश्यकता नहीं है, जितनी निर्गुण-उपासनामें है; क्योंकि निर्गुण-उपासनामें चिन्तनका कोई आधार न रहनेसे इन्द्रियोंका सर्वथा संयम हुए बिना विषयोंमें मन जाता ही रहेगा और विषयोंका चिन्तन होकर साधकके पतनकी ओर जानेकी विशेष सम्भावना है ( गीता २। ६३-६४ ) । अतः इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाते हुए सम्यक् प्रकारसे और निःशेषरूपसे वशमें करना है । इन्हें केवल बाहरसे ही वशमें नहीं करना है, अपितु साधकको चाहिये कि विषयोंके प्रति उसके अन्तरका आंशिक राग भी न रहे; क्योंकि जबतक विषयोंमें यत्किंचित् भी राग है, तबतक ब्रह्मकी प्राप्ति कठिन है ( गीता ६। ३६; १५। ११ ) ।

दूसरे अध्यायके ६८ वें श्लोकमें ‘इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः निगृहीतानि’ पदोंसे, चौथे अध्यायके २१ वें श्लोकमें ‘यतचित्तात्मा’ पदसे, पाँचवें अध्यायके ७ वें श्लोकमें ‘विजितात्मा, जितेन्द्रियः’ पदोंसे, छठे अध्यायके ७ वें श्लोकमें ‘जितात्मनः’ पदसे और ८ वें श्लोकमें ‘विजितेन्द्रियः’ पदसे सिद्ध महापुरुषोंकी अच्छी प्रकारसे जीती हुई इन्द्रियोंका वर्णन हुआ है ।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि ‘आत्मा’ पद गीताजीमें शरीरके लिये, मन-बुद्धिके लिये और मन-बुद्धि-

इन्द्रियोंसहित शरीरके लिये भी आया है । अतः जहाँ आत्माको वशमें करनेकी बात है, वहाँ प्रसङ्गके अनुकूल ही अर्थ ले लेना चाहिये ।

दूसरे अध्यायके ६१ वें श्लोकमें ‘सर्वाणि संयम्य’ पदोंसे और ६४ वें श्लोकमें ‘रागद्वेषवियुक्तैः, इन्द्रियैः’ पदोंसे, तीसरे अध्यायके ७ वें श्लोकमें ‘मनसा इन्द्रियाणि नियम्य’ पदोंसे, चौथे अध्यायके २६ वें श्लोकमें ‘श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु’ पदोंसे और २७ वें श्लोकमें ‘सर्वाणीन्द्रियकर्माणि...आत्मसंयमः’ पदोंसे तथा ३९ वें श्लोकमें ‘संयतेन्द्रियः’ पदसे, पाँचवें अध्यायके २८ वें श्लोकमें ‘यतेन्द्रियमनोबुद्धिः’ पदसे, छठे अध्यायके ६ ठे श्लोकमें ‘आत्मना जितः’ पदोंसे, १२ वें श्लोकमें ‘मनः एकाग्रं कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः’ पदोंसे, १४ वें श्लोकमें ‘मनः संयम्य’ पदोंसे, २४ वें श्लोकमें ‘इन्द्रियग्रामं विनियम्य’ पदोंसे और ३६ वें श्लोकमें ‘वश्यात्मना’ पदसे, आठवें अध्यायके १२ वें श्लोकमें ‘सर्वद्वाराणि संयम्य’ पदोंसे, सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकमें ‘दमः’ पदसे और अठारहवें अध्यायके ५२ वें श्लोकमें ‘यतवाक्कायमा नसः’ पदोंसे साधकोंको इन्द्रियाँ वशमें करनेके लिये कहा गया है ।

तीसरे अध्यायके ६ ठे श्लोकमें ‘कर्मेन्द्रियाणि संयम्य’ पद दम्भाचारीके द्वारा हठपूर्वक इन्द्रियोंके रोके जानेके विषयमें आये हैं । यहाँ ‘संयम्य’ पद इन्द्रियोंको विषयोंसे हठपूर्वक रोकनेके लिये आया है, न कि इन्द्रियोंको वशमें करनेके लिये ।

अचिन्त्यम् ( मन-बुद्धिसे परे )

मन-बुद्धिके चिन्तनसे सर्वथा परे होनेके कारण ‘अचिन्त्यम्’ पद सच्चिदानन्दधन ब्रह्मका वाचक है । दूसरे अध्यायके २५ वें श्लोकमें ‘अचिन्त्यः’ पद आत्माके स्वरूपके वर्णनमें आया है और आठवें अध्यायके ९ वें श्लोकमें ‘अचिन्त्यरूपम्’ पद सगुण-निराकारका वाचक है ।



### सर्वत्रगम् ( सर्वव्यापी )

सभी देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें परिपूर्ण होनेसे ब्रह्म 'सर्वत्रगम्' है। नवें अध्यायके छठे श्लोकमें 'सर्वत्रगः' पद दृश्यत्रगत्में सर्वत्र विचरनेवाली वायुका विशेषण है।

### अनिर्देश्यम् ( अकथनीयस्वरूप )

इदंतासे जिसे नहीं बताया जा सकता अर्थात् जो भाषा, वाणी आदिका विषय नहीं है, वह 'अनिर्देश्यम्' है। निर्देश अर्थात् संकेत उसीका किया जा सकता है, जो एकदेशमें हो; किंतु जो तत्त्व सर्वत्र परिपूर्ण हो, उसका संकेत किया जाना असम्भव है।

### च ( और )

### कूटस्थम् ( सदा एकरस रहनेवाला )

यह पद नित्य, निर्विकार, सदा एकरस रहनेवाले सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक है। सभी देश, काल, वस्तु और व्यक्तियोंमें रहते हुए भी उस तत्त्वमें निर्विकारता और निर्लेपता है। वह तत्त्व जैसा है, वैसा ही रहता है। उसमें कभी, किञ्चित्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता। इसलिये वह 'कूटस्थम्' है। छठे अध्यायके ८वें श्लोकमें 'कूटस्थः' पद निर्विकार ज्ञानी महात्माओंका वाचक है और पंद्रहवें अध्यायके १६वें श्लोकमें 'कूटस्थः' पद जीवात्माका वाचक है।

### ध्रुवम् ( नित्य )

जिसकी सत्ता निश्चित और नित्य है, उसे 'ध्रुवम्' कहते हैं। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म सत्तारूपसे सर्वत्र विराजमान रहनेसे 'ध्रुवम्' है। आठ विशेषणोंमें सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषण 'ध्रुवम्' ही है। इसका अर्थ है— जो सत्तारूपसे सर्वत्र है। दूसरे अध्यायके २७वें श्लोकमें 'ध्रुवम्' पद 'निश्चित' अर्थका बोधक है।

### अचलम् ( अचल )

हिलने-डुलनेकी क्रियासे सर्वथा रहित सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका वाचक 'अचलम्' पद है। दूसरे अध्यायके २४वें

श्लोकमें 'अचलः' पद जीवात्माके लक्षणोंमें आया और ५३वें श्लोकमें 'अचला' पद बुद्धिकी स्थिर वाचक है; छठे अध्यायके १३वें श्लोकमें 'अचलम्' ध्यानयोगकी विधिमें शरीरको हिलने-डुलने न देनेके आया है; सातवें अध्यायके २१वें श्लोकमें 'अचल' पद श्रद्धाकी स्थिरताका द्योतक है और आठवें अध्यायके १०वें श्लोकमें 'अचलेन' पद मनकी एकाग्रताके आया है।

### अव्यक्तम् ( निराकार )

जो व्यक्त न हो अर्थात् मन, बुद्धि और इन्द्रिय विषय न हो और जिसका कोई रूप या आकृति न हो उसे 'अव्यक्तम्' कहते हैं। दूसरे अध्यायके २४वें श्लोकमें 'अव्यक्तः' पद आत्माके स्वरूपके वर्णनमें आया है और २८वें श्लोकमें 'अव्यक्तादीनि' तथा 'अव्यक्तनिधनानि' पदोंका प्रयोग यह बतलानेके लिये किया गया है कि प्राणियोंके जन्मसे पहले एवं मरनेके बाद उनका स्थूलशरीर प्रत्यक्ष नहीं दिखायी देता; सप्तम अध्यायके २४वें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद और ४थे अध्यायके ४थे श्लोकमें 'अव्यक्तमूर्तिना' पद दोनों सगुण-निराकार परमात्माके वाचक हैं; आठवें अध्यायके १८वें श्लोकमें 'अव्यक्तात्' और 'अव्यक्तसंज्ञके' तथा २०वें श्लोकमें 'अव्यक्तात्' पद ब्रह्मके सूक्ष्म शरीरके वाचक होनेके कारण प्रकृतिके वाचक हैं। तेरहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद प्रकृतिका वाचक है। आठवें अध्यायके २०वें और २१वें श्लोकोंमें 'अव्यक्तः' पद, इसी अध्यायके पहले श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद और ५वें श्लोकमें 'अव्यक्तासक्तचेतसः' के अन्तर्गत 'अव्यक्त' पद तथा 'अव्यक्ता गतिः' पद सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके लिये आये हैं।

### अक्षरम् ( अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म )

'न क्षरति इति अक्षरः' जिसका कभी क्षरण अथवा विनाश नहीं होता, वह 'अक्षरम्' है। यहाँ 'अक्षरम्'



पद अविनाशी सच्चिदानन्दवन ब्रह्मका वाचक है । आठवें अध्यायके ३२ और ११वें श्लोकोंमें, ग्यारहवें अध्यायके १८वें और ३७वें श्लोकोंमें तथा इसी अध्यायके पहले श्लोकमें 'अक्षरम्' पद निर्गुण ब्रह्मका वाचक है, आठवें अध्यायके २१वें श्लोकमें 'अक्षरः' पद परमगति का वाचक है और १३वें श्लोकमें तथा दसवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'अक्षरम्' पद प्रणव का वाचक है तथा पंद्रहवें अध्यायके १६वें श्लोकमें 'अक्षरः' पद दो बार आया है और दोनों ही बार जीवात्माके लिये आया है ।

**पर्युपासते ( निरन्तर उपासना करते हैं )**

इन श्लोकोंमें आठ विशेषणोंसे ब्रह्मका स्वरूप बतलाकर जो कुछ विशेष वस्तु-तत्त्वका लक्ष्य कराया गया है और उससे जो एक विशेष वस्तु समझमें आती है, वह बुद्धि-विशिष्ट ब्रह्मका ही स्वरूप है; क्योंकि निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्मका स्वरूप विधि या निषेध किसी भी प्रकारसे पूर्णतया नहीं बताया जा सकता । इसलिये निर्गुण-तत्त्वका लक्ष्य रखकर बुद्धि-विशिष्ट ब्रह्मकी उपासना करना ही निर्गुण-ब्रह्मकी उपासना है । इस तरह उपासना करनेसे साधकको निर्गुण-ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ।

**ते ( वे )**

**सर्वभूतहिते रताः ( सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए )**

( १ ) प्राणिमात्रके हितमें अर्थात् सेवामें जो लगे हुए हैं, वे 'सर्वभूतहिते रताः' हैं ।

( २ ) प्राणिमात्रके हितमें जिनकी प्रीति है, वे 'सर्वभूत-हिते रताः' हैं ।

( ३ ) 'सर्वभूतानाम् हिते ( परमात्मनि ) रताः ते सर्वभूतहिते रताः' ।

अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंका वास्तविक हित परमात्मा ही है और परमात्मामें जो रत हैं, वे 'सर्वभूतहिते रताः' हैं ।

कर्मयोगके साधनमें आसक्ति, ममता और स्वार्थके

त्यागकी मुख्यता है । मनुष्य जब शरीर और पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगायेगा तो उसकी आसक्ति, ममता और स्वार्थभाव स्वतः हटेगा । जिसका उद्देश्य प्राणिमात्रकी सेवा करना ही है, वह अपने शरीर और पदार्थोंको ( दीन, दुखी, अभावग्रस्त ) प्राणियोंकी सेवामें लगायेगा ही । प्राणियोंकी शारीरिक सेवासे अहंता और उनकी सेवामें पदार्थोंको लगानेसे ममता हटेगी । इसलिये कर्मयोगके साधनमें सब प्राणियोंके हित अर्थात् सेवामें लगना अत्यावश्यक है । अतः 'सर्वभूतहिते रताः' इस पदका कर्मयोगका आचरण करनेवालोंके सम्बन्धमें प्रयोग करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है । परंतु भगवान्ने इस पदका प्रयोग यहाँ तथा पाँचवें अध्यायके २५वें श्लोकमें दोनों ही जगह निर्गुण-उपासकोंके विषयमें किया है । अतः यहाँ इस पदसे भगवान्का विशेष तात्पर्य है ।

एक अत्यन्त मार्मिक बात यह है कि प्राणिमात्रके हितमें की जानेवाली सेवाका भाव असीम है, पदार्थोंसे की जानेवाली सेवा असीम नहीं होती; क्योंकि मात्र पदार्थ मिलकर भी सीमित ही होते हैं और सीमित पदार्थोंसे की जानेवाली सेवा भी सीमित ही होगी । अतः उनसे असीमकी प्राप्ति नहीं होगी । दूसरी बात यह है कि पदार्थ एवं क्रिया सीमित होनेपर भी रति असीम होनेसे असीम तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि जिनकी प्राणिमात्रके हितमें प्रीति हो, उनके पास वस्तु बची रहने-पर भी बाधा देनेवाली नहीं होगी । उदाहरणार्थ—भगवान् श्रीरामके प्रकट होनेके समय महाराज दशरथजीने—

'सर्वस दानं दीन्ह सब काहू । जो पाचा राखा नहिं ताहू ॥'

—के अनुसार अपना सर्वस्व छुटा दिया; परंतु जिसे जो कुछ मिला, उसने भी उसे अपने पास नहीं रखा । जब क्रिया और पदार्थ भी प्राणिमात्रके हितमें रति होनेसे असीम होकर असीमकी प्राप्ति करा देते हैं, तब प्राणिमात्रके हितमें अर्थात् सेवामें ही जिनकी रति है,



उनके उस असीम भावसे असीम तत्त्व मिल जाय, इसमें तो कहना ही क्या है ।

निर्गुण-उपासकोंकी साधनाके अन्तर्गत अवान्तर भेद अनेकों होते हुए भी मुख्य भेद दो हैं—

( १ ) जड-चेतन और चर-अचरके रूपमें जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब आत्मा ही है या ब्रह्म है ।

( २ ) जो कुछ दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह मायामय है—इस प्रकार बाध करके जो शेष बच रहता है, वह आत्मा या ब्रह्म है ।

पहली साधनामें 'सब कुछ ब्रह्म है', इतना सीख लेने मात्रसे ज्ञाननिष्ठा सिद्ध नहीं होती । अन्तःकरणमें जबतक काम-क्रोधादि विकार हैं, तबतक ज्ञाननिष्ठाका साधन होना बहुत कठिन है । पाँचवें अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः' ( कर्मयोगके बिना ज्ञाननिष्ठा कठिन है ) पदोंसे भगवान् ने बतलाया है कि कर्मयोगीके लिये जैसे सभी प्राणियोंकी सेवाके हितमें प्रीति होना अत्यावश्यक है, वैसे ही निर्गुण-उपासना करनेवाले साधकोंके लिये भी प्राणिमात्रके हितमें रति होना आवश्यक है । इसीलिये भगवान् ने यहाँ ज्ञानयोगके प्रसङ्गमें 'सर्वभूतहिते रताः' पदका प्रयोग किया है, जिसका तात्पर्य यह है कि अपने शरीर तथा पदार्थोंको दूसरोंकी सेवामें लगानेसे ही उनकी अहंता तथा ममता मिटेगी ।

दूसरी साधनामें संसारसे उदासीन रहकर जो साधक एकान्तमें ही तत्त्वका चिन्तन करते रहते हैं, उनकी उक्त साधनामें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग सहायक तो है, परंतु केवल कर्मोंको स्वरूपसे त्यागने मात्रसे सिद्धि प्राप्त नहीं होती ( गीता ३ । ४ का उत्तरार्द्ध ), अपितु सिद्धि प्राप्त करनेके लिये भोगोंसे वैराग्य और शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें अपनेपनके त्यागकी अत्यन्त आवश्यकता है ।

सांख्ययोगीका लक्ष्य शरीरसे अलग होना है न कि

संसारसे; क्योंकि जबतक वह अपनेको शरीरसे संलग्न नहीं समझ लेता, तबतक संसारसे अलग रहने में लक्ष्य-सिद्धि नहीं होती; क्योंकि शरीर भी तो संसार का ही एक अङ्ग है और शरीरसे अहंता, ममता, आसक्तिका मिटना ही उससे वास्तविक अलग होना है । इसलिये अहंता, ममता, आसक्ति मिटानेके लिये उक्त प्राणिमात्रके हितमें लगना अति आवश्यक है । दूसरी बात यह है कि साधक सर्वदा ही एकान्तमें रहे, सम्भव भी नहीं है; क्योंकि शरीर-निर्वाहके लिये उसे व्यवहार-क्षेत्रमें आना ही पड़ता है और वैराग्यकी कठोरता होनेपर व्यवहारमें कठोरता आनेकी सम्भावना रहती है एवं कठोरता आनेसे व्यक्तित्वका विलय अर्थात् अहंताका नाश नहीं होगा । सुतरां तत्त्वकी प्राप्तिमें कठिनाई होगी । व्यवहारमें कहीं कठोरता न आ जाय, इसलिये भी सभी भूतोंके हितमें रत रहना उसके लिये अत्यावश्यक है । यह माना जा सकता है कि ऐसे साधकोंके द्वारा सेवाके कार्योंका विस्तार नहीं होगा परंतु भगवान् कहते हैं कि उनकी भी सभी प्राणियोंके हितमें रति होनेके कारण वे अपनी साधनामें तत्परतासे आगे बढ़ेंगे ।

यदि यह मान लिया जाय कि साधक सर्वथा एकान्तमें ही परमात्म-तत्त्वका चिन्तन करता रहता है, तो उसके लिये यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह दूसरों प्राणियोंकी सेवामें कैसे लगेगा और 'सर्वभूतहिते रताः' पदका प्रयोग उसके लिये कैसे उपयुक्त होगा ? इसका उत्तर यह है कि वह भी सब भूतोंके वास्तविक हित परमात्मामें ही सर्वथा लीन रहनेके कारण 'सर्वभूतहिते रताः' है । अतः ऐसे लोगोंके लिये भी यह पद ठीक ही प्रयुक्त हुआ है ।

जैसे मनुष्य अपने शरीरकी सेवा स्वतः ही बिना किसीके उपदेश किये बड़ी सावधानीसे करता है एवं



करनेका अभिमान भी नहीं करता, वैसे ही सिद्ध महापुरुषोंकी सर्वत्र आत्मबुद्धि होनेसे उनकी सबके हितमें रति स्वतः रहती है ( गीता ६ । ३२ ) । उनके द्वारा प्राणिमात्रका कल्याण होता है; परंतु उनके मनमें इस भावकी रेखा भी नहीं होती कि मैं किसीका कल्याण कर रहा हूँ; उनमें अहंताका सर्वथा अभाव जो है ।

अतः साधकको चाहिये कि सर्वत्र आत्मबुद्धि करके संसारके किसी भी प्राणीको किंचिन्मात्र भी दुःख न पहुँचाकर सदा तत्परतासे स्वाभाविक ही उनको सुखके पहुँचानेमें ही प्रीति करे । इस प्रकार सबके हितमें प्रीति करनेसे उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है ।

पाँचवें अध्यायके २५वें श्लोकमें 'सर्वभूतहिते रताः' पद निर्गुण-उपासकोंके लिये आया है ।

**सर्वत्र समबुद्धयः ( सबमें समान भाववाले )**

इस पदका भाव यह है कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मके उपासकोंकी दृष्टि सर्वत्र एवं सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थोंमें परिपूर्ण परमात्मापर ही रहनेके कारण किसी भी समय विभ्रम होती ही नहीं ।

यहाँ ज्ञाननिष्ठावाले उपासकोंके लिये इस पदका प्रयोग करके भगवान् एक विशेष भाव प्रकट करते हैं । वह यह कि ज्ञानमार्गियोंके लिये एकान्त देशमें रहकर तत्त्वका चिन्तन करना ही एकमात्र साधन नहीं है; क्योंकि व्यवहारकालमें ही विशेषतासे 'समबुद्धयः' पदकी सार्थकता होती है । दूसरे, संसारसे हटकर शरीरको निर्जन स्थानमें ले जाना ही सर्वथा एकान्त-सेवन नहीं है; क्योंकि शरीर भी तो संसारका ही एक अङ्ग है । वास्तविक एकान्तकी सिद्धि तो परमात्मतत्त्वके अतिरिक्त किसी अन्यकी अर्थात् शरीर और संसारकी सत्ता न होनेसे ही होती है । साधना करनेके लिये यह एकान्त भी उपयोगी है; परंतु ऐसे एकान्तसेवी साधकके द्वारा व्यवहारकालमें भूल होनी सम्भव है, जब कि वास्तविक

एकान्तसेवी महापुरुषोंके द्वारा भूल कभी होती ही नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें दूसरी सत्ताका सर्वथा अभाव है । अतः साधकको चाहिये कि वास्तविक एकान्तको लक्ष्यमें रखकर अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे अपनी अहंता-ममता हटाकर उस सर्वत्र परिपूर्ण ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित रहे । ऐसे लोग ही वास्तवमें 'समबुद्धयः' हैं ।

गीताजीमें 'समबुद्धि'का तात्पर्य 'समदर्शन' है, न कि 'समवर्तन' । पाँचवें अध्यायके १८वें श्लोकमें भगवान्ने विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चण्डाल—इन पाँच प्राणियोंके नाम गिनाये हैं, जिनके साथ व्यवहारमें किसी भी तरह समता होनी असम्भव है, वहाँ भी 'समदर्शिनः' पद ही प्रयुक्त हुआ है । इससे तात्पर्य यह निकला कि वर्त्ताव कभी समान नहीं हो सकता; वर्त्तावमें भिन्नता अनिवार्य है । परंतु ऐसे साधकोंकी दृष्टि सम्पूर्ण प्राणी-पदार्थोंकी आकृति और उपयोगितापर न रहकर उनमें परिपूर्ण परमात्मापर रहनेसे उनमें आन्तरिक समता रहती है । अतः 'समबुद्धयः' पदसे आन्तरिक समताकी ओर ही लक्ष्य है, व्यावहारिक समताकी ओर नहीं ।

सिद्ध महापुरुषोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा दूसरी सत्ता न रहनेसे वे सदा और सर्वत्र 'समबुद्धयः' ही हैं, जब कि साधकोंकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा अन्य पदार्थोंकी भी जितने अंशमें सत्ता रहती है, उतने अंशमें उनकी बुद्धिमें समता नहीं रहती । अतः साधककी बुद्धिमें अन्य पदार्थोंकी अर्थात् संसारकी सत्ता जितनी-जितनी कम होती चली जायगी, उतनी-उतनी ही उसकी सम-बुद्धि होती जायगी ।

साधक अपनी बुद्धिसे सर्वत्र परमात्माको देखनेकी चेष्टा करता है, जब कि सिद्ध महापुरुषोंकी बुद्धिमें परमात्मा इतनी घनतासे परिपूर्ण हैं कि उनके लिये परमात्माके सिवा और कुछ है ही नहीं । इसलिये उनकी



बुद्धिका विषय परमात्मा नहीं है, अपितु उनकी बुद्धि ही परमात्मासे परिपूर्ण है। अतएव वे 'सर्वत्र समबुद्धयः' हैं।

पाँचवें अध्यायके १९वें श्लोकमें 'येषां साम्ये स्थितं मनः' पद और छठे अध्यायके ९वें श्लोकमें 'समबुद्धिः' पद इसी अर्थमें सिद्ध भक्तोंके लिये प्रयुक्त हुए हैं। छठे अध्यायके ३२वें श्लोकमें 'समं पश्यति' पदका भी सिद्ध भक्तोंके लिये ही प्रयोग हुआ है।

'पश्यति' ( देखना ) तीन तरहसे होता है—( १ ) नेत्रोंसे देखना, ( २ ) बुद्धिसे देखना और ( ३ ) अनुभवद्वारा स्वरूपतः देखना।

यहाँ 'पश्यति' पद अनुभवके अर्थमें आया है। छठे अध्यायके २०वें श्लोकमें 'समदर्शनः' पद साम्य लिये आया है।

माम् एव प्राप्नुवन्ति ( मुझको ही प्राप्त होते हैं )

इन पदोंसे भगवान् यह स्पष्ट करते हैं कि 'निर्गुण' उपासक कहीं यह न समझ लें कि 'निर्गुण-तत्त्व' दूसरा है और मैं ( सगुणरूप ) कोई दूसरा और 'निर्गुण-तत्त्व' एक ही हैं। ब्रह्म-तत्त्व मुझसे नहीं है—

'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' ( गीता १४।२७ )

सगुण और निर्गुण दोनों मेरे ही दो रूप हैं।

## आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

भगवान् भक्तवाञ्छा-कल्पतरु हैं।

एक बात गिरह बाँधकर रखिये—'भगवान् भक्तवाञ्छा-कल्पतरु हैं' अर्थात् उनसे कोई भी कुछ भी चाहे, वे वही चीज उसे उसी क्षण देते हैं और आप यदि कोई ऐसी चीज माँग बैठें कि उसके मिलनेसे आपकी हानि होगी तो दो बातोंमेंसे एक बात करते हैं—या तो उसके मनसे उस चीजकी इच्छा मिटाकर उसके मनको ही शान्त बना देते हैं अथवा वह चीज देकर साथ ही उससे होनेवाली हानिसे बचनेका उपाय भी कर देते हैं। अर्थात् जिस चीजसे उसकी हानि होगी, उसके लिये यदि वह जिद कर बैठा कि 'हमें तो वह दे ही दें'—बिल्कुल बालककी तरह अड़ गया—तो फिर भगवान् तो सर्वसमर्थ हैं। वे चीज भी अवश्य दे देते हैं और उससे जो हानि हो सकती है, उससे बचनेका उपाय भी कर देते हैं। यही बात सब चीजोंके विषयमें समझनी चाहिये। भगवान्के लिये लाख, करोड़, अरब रुपया देना अथवा मोक्ष देना—दोनों समान हैं; न तो उनके लिये मोक्षकी कोई कीमत है न धनकी। इसी प्रकार श्रद्धा चाहते ही वे श्रद्धा निश्चय

करा ही देंगे। पर ये सब बातें उसीके लिये हैं जिसका सचमुच भगवान्पर एकनिष्ठ भरोसा है।

जिस मनकी बात आप कह रहे हैं, वही मनमें भगवान् हैं और वे जानते हैं कि यह क्या चाहता है। वे बिल्कुल—रती-रती जानते हैं कि आपके मनमें क्या है। आप भी या संसारमें कोई नहीं जानता कि असलमें आपके मनमें क्या है। वे ठीक-ठीक जानते हैं। और यदि आपकी चिन्ता सच्ची है और किसी ऐसी चीजकी नहीं है जिससे हानि होनेकी सम्भावना हो तो उस चाहकी पूर्ति अभी, इसी क्षण कर दें या चाह ही मिटाकर शान्ति दे दें।

आप कह सकते हैं कि 'जब वे रती-रती सुन रहे हैं, जान रहे हैं, तब फिर वे क्यों कहते हैं?' इसका उत्तर यही है कि 'वे ही जानते हैं कि सोचनेसे दो ही बातें समझमें आती हैं—( १ ) सब चाह नहीं है, ( २ ) या ऐसी चाह है, जिस पूर्तिमें आपकी हानि हो। तीसरी कोई बात समझमें



नहीं आती। सच्ची चाहकी यही पहचान है कि बस, केवल वही चाह रहेगी, और सब खाहा।

**संत भगवान्‌के प्रतिनिधि हैं।**

देवताओंके विषयमें तो आप यह समझें कि जैसे मजिस्ट्रेट है, कलक्टर है, कमिश्नर है, वैसे ही वे हैं। मजिस्ट्रेट आदिका अधिकार बँधा हुआ है; इतना-इतना काम वे कर सकते हैं, उससे अधिक नहीं। उस अधिकारके अंदर किसीके लिये वे जो चाहें, कर सकते हैं; पर अधिकारके बाहर मजाल नहीं है कि वे कलक्टर, कमिश्नर किसीको कुछ दे सकें या किसीका बिगाड़ कर सकें। वैसे ही देवताओंकी शक्ति सीमित, बँधी हुई है अर्थात् उनके अंदर यह शक्ति भगवान्‌की ओरसे दी हुई है कि 'तुमलोग इतना-इतना काम कर सकते हो।' इन्द्र, अग्नि, वरुण—सब देवता हैं। मान लीजिये, इनका यज्ञ कोई करता है; यदि यज्ञ ठीक-ठीक विधि-विधानसे पूरा हुआ तो इनकी जितनी शक्ति है, उसके अनुसार वे उस यज्ञका पूरा-पूरा फल दे देंगे। पर सभी चीज वे नहीं दे सकते। संत-महापुरुष तो भगवान्‌के प्रतिनिधि हैं। बादशाहके प्रतिनिधिको यह पूरा-पूरा अधिकार रहता है कि वह राज्यमें जो चाहे, वही कर सकता है। बादशाहकी तरह ही उसकी शक्ति होती है तथा उसकी आज्ञाका पालन राज्यके समस्त बड़े-से-बड़े कर्मचारियोंको करना पड़ता है; नहीं करेंगे तो वे हटा दिये जायँगे। संत भगवान्‌का प्रतिनिधि होता है, वह चाहे जो कर सकता है। उसका प्रत्येक वचन भगवान्‌का वचन है, उसकी कही हुई प्रत्येक आज्ञा भगवान्‌की आज्ञा है।

संतकी पहचान असम्भव है; पर दो कसौटियाँ हैं, जिनपर कसकर चलनेसे पछताना नहीं पड़ेगा—  
१—जिस पुरुषके सङ्गसे आपमें भगवान्‌के प्रति बढ़नेकी रुचि उत्पन्न हो तथा २—जिसके सङ्गसे आपमें गीताके

१६वें अध्यायमें कही हुई दैवीसम्पदाके छत्तीस गुण आयें, वह आपके लिये 'संत' है।

**साधककी इच्छापर ही व्रजवासकी अखण्डता निर्भर है।**

श्रीराधा-गोविन्दके चरण-कमलोंको न भूँटें, यही साधवान्‌ रहनेकी बात है। श्रीराधारानीने अत्यन्त दया करके जिन्हें वृन्दावनवास दे दिया है, उनके लिये यह निश्चित है कि जो खुशीसे वृन्दावन छोड़कर नहीं जाना चाहता, उसे वे अपने महलसे कभी बाहर निकालतीं भी नहीं। वे उसे ही बाहर जाने देती हैं, जो स्वयं जाना चाहता है। अतः जबतक कोई जाना नहीं चाहता, तबतक श्रीराधारानी उसे नहीं निकालेंगी—यह परम सत्य है। हाँ, कहीं वह अन्य स्थानका आनन्द लेना चाहने लग जाय तो श्रीराधारानी ऐसी सरल स्वभावकी हैं कि वे किसीकी भी इच्छामें बाधा नहीं देतीं। जहाँ उन्होंने देखा कि वह अन्य स्थान देखना चाहता है, बस, तुरन्त वे भी श्रीकृष्णसे कह देंगी—'प्यारे! इसे वहाँ पहुँचा दो।' साधककी इच्छापर ही व्रजवासकी अखण्डता निर्भर है। यदि साधक वहाँसे नहीं जाना चाहता, तो निश्चित है कि श्रीराधारानी उसे कभी नहीं निकालेंगी।

एक कविने गाया है—

काहे कौं रे नाना मत सुनै तूँ पुरानन के,  
तैं ही कहा तेरी मूढ़, गूढ़ मति पंग की।  
बेद के विबादन कौ पावैगो न पार कहूँ,  
छाँड़ि देहु आसा सब दान, न्हान गंग की॥  
और सिधि सोधै अब नागर न सिद्ध कछु,  
मानि लेहु मेरी कही वार्ता सुदंग की।  
जाहु व्रज, मोरे! कोरे मन कौ रंगाइ लै रे,  
बृन्दावन-रैन रची गौर-स्यास रंग की॥

—जिन्होंने व्रजवास अपना लिया है, उन्हें चाहिये कि व्रजवासका आनन्द लेते हुए जीवनके शेष दिन बिता दें तथा श्रीराधारानीकी कृपाके भरोसे



निश्चिन्त रहें। मनमें निश्चय कर लें कि अन्त समय तो श्रीभानुकिशोरी श्रीकृष्णचन्द्रके साथ मुझे लेने अवश्य पधारेंगी। भला, कोई उनके निवासस्थानपर आकर इतने दिनोंतक बसा रहे और वे एक बार भी दर्शन देने न पधारें—यह भी कभी हो सकता है? 'वे तो आयेंगी ही'—यह दृढ़ विश्वास करके परम उल्लाससे ब्रजवासका सुख छूटें। सर्वथा सत्य सिद्धान्त है—यदि हमलोग श्रीभानुकिशोरीकी कृपाके बलपर ऐसी आशा लगाये रहेंगे तो कभी निराशा नहीं होगी। वास्तवमें श्रीभानुकिशोरी कितनी कोमलहृदया हैं, कौसी करुणामयी हैं, इसकी कल्पना ही अभी हमलोगोंको नहीं हुई। यदि कल्पना हो गयी होती तो हमलोग आनन्दसे पागल-जैसे हो गये होते। जो हो, खूब मौजसे ब्रजमें बस रहना चाहिये; भले ही घरपर वज्रपात होता रहे, ब्रज छोड़कर ठस-से-मस न हुआ जाय। बस, निश्चिन्त चित्तसे श्रीराधारानीके धाममें निवास कीजिये। सदा याद रखें—भगवान् और भगवान्के धाममें किंचित् भी अन्तर नहीं है। श्रीधामके सम्पर्कमें आना सर्वथा श्रीकृष्णके सम्पर्कमें आना है।

**उत्साह कभी मत तोड़िये और लेते**

**जाइये श्रीकृष्णका नाम।**

जीवनको सर्वथा प्रभुके चरणोंमें समर्पित करके निश्चिन्त हो जाइये। सब चिन्ता छोड़कर प्रियतम श्रीकृष्णकी चिन्ता कीजिये। कुछ भी बदलना नहीं है। वे जहाँ, जिस रूपमें रखना चाहें, वहीं, उसी रूपमें रहिये; केवल मनकी गति बदल दीजिये। इस मनने न जाने कितनी जगह ममत्व कर रक्खा है। इन ममत्वरूपी बिखरे हुए कच्चे धागोंको बटोर लीजिये और उनकी मोटी रस्सी बँट लीजिये तथा उसी रस्सीसे अपने मनको प्रभुके चरणोंमें बाँध दीजिये। इतना ही करना है। भगवान् श्रीराम यही कहते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥

सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बारी  
 × × ×  
 अस सज्जन मम उर बस कैसैं । लोभी हृदयँ बसइ धनु

—मनमें बार-बार सोचिये, दृढ़ धारणा कीजिये 'प्रभुकी हमपर बड़ी कृपा है'। यह बात केवल कहनेसे मान लें, यह नहीं; यह तो वस्तुस्थिति प्रभुने अपनी कृपाका द्वार खोल रक्खा है। कृपाका आश्रय करके उनकी कृपाको अधिक-से-अधिक मात्रामें ग्रहण कीजिये और उनपर न्यौछावर हो जाय।  
 सच मानिये, श्रीकृष्णसे अधिक प्यार करने निरन्तर आपकी सँभाल करनेवाला आपको कहीं मिलेगा। परम श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) ने सत्सङ्गमें एक बार एक कथा सुनायी। "एक योगभ्रष्ट महात्मा कहीं पैदा हुए थे। एक दिन वे धूलिपर खेल रहे थे। राजाकी सवारी निकली। पूछा—'धूलिसे क्यों खेलते हो?' महात्माने कहा—'धूलिसे शरीर पैदा हुआ, धूलिमें मिल जायगा; धूलिसे खेलते हैं।' राजाने कहा—'मेरे साथ क्यों महात्माने कहा—'चल सकता हूँ, पर मेरी शर्तें हैं।' राजाने शर्तें पूछीं। महात्माने कहा—'पहली शर्त है—हम खूब सोयें, पर तुम कभी सोओ और मेरी सँभाल करो। दूसरी शर्त है—खुद मत खाओ और हमें खूब खिलाओ। तीसरी शर्त है—तुम कोई भी कपड़ा मत पहनो और पहननेके लिये खूब कपड़ा दो एवं चौथी शर्त है—तुम बराबर मुझे साथ रखो।' राजाने कहा—'कहाँ माननेकी शर्तें हैं। आपके सोनेपर सो सकता हूँ; जैसा खाता हूँ, वैसा खिला सकता हूँ; जैसे पहनता हूँ, वैसे पहननेको दे सकता हूँ और जब कभी जाऊँ तो साथ ले चल सकता हूँ। इतनी बातें सकती हैं।' महात्माने कहा—'तब तुम्हारे दीनके पास जाकर क्या करूँगा। मेरा मास्कि है कि जो कभी खप तो सोता नहीं, मैं खूब



हूँ और वह बराबर जागते रहकर मेरी सँभाल करता है। खयं कुछ भी खाता नहीं और मुझे खिलता है। खयं कपड़े नहीं पहनता और मुझे बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहननेको देता है और मेरे साथ ही निरन्तर रहता है, एक क्षणके लिये भी मुझे छोड़कर कहीं भी नहीं जाता।”

ठीक ऐसे ही प्रियतम श्रीकृष्णको छोड़कर इस संसारमें भोगोंके पीछे क्यों भटक रहे हैं? भोग छोड़ दीजिये, यह नहीं कहता; पर भोग भोगिये श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये। देहकी सँभाल कीजिये— पर यह समझकर, भीतरी मनसे यह दृढरूपसे मानकर

कि देह उनकी ही सम्पत्ति है। उनकी कृपाका आश्रय करके बढ़नेकी चेष्टा कीजियेगा तो कुछ भी असम्भव नहीं है। मनमें दोष भरे हैं, माना; पर यदि आप उत्साह तोड़ेंगे तो ये और भी तंग करेंगे। उनके चरणोंका आश्रय करके दोषोंको निकाल डालिये, एक क्षणके लिये भी निराश मत होइये। हतोत्साह होना क्षीण हुए दोषोंको बल देना है। दोषोंको निकालनेकी चेष्टा करनेपर ये मनमें छिप जाते हैं और जिस क्षण मनुष्य उत्साहभङ्ग करता है, उस समय दोष जोर मारने लगते हैं। इसलिये उत्साह कभी मत तोड़िये और लेते जाइये श्रीकृष्णका नाम !

## वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

[ वर्ष ४४, अङ्क १०, पृ० १२७४ से आगे ]

( लेखक—डॉ० श्रीनीरजाकान्त चौधरी [ देवशर्मा ] एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी० )

### गीताध्यान

‘ऊरुभङ्ग’ नाटकमें पाया जाता है—

भीष्मद्रोणतटां जयद्रथजलां गान्धारराजहृदां  
कर्णद्रोणकृपार्श्मिन्क्रमकरां दुर्योधनस्रोतसम् ।  
तीर्णः शत्रुनदीं शरासिंसिकां येन प्लवेनार्जुनः  
शत्रूणां तरणेषु वः स भगवानस्तु प्लवः केशवः ॥

यह श्लोक ‘गीताध्यान’ के ‘भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला’ इत्यादि श्लोकके अविकल रूपसे अनुरूप है। ‘गीताध्यान’ का प्रथम श्लोक ‘नमोऽस्तु ते व्यास विशालबुद्धे’ इत्यादि ब्रह्मपुराणमें ( २४५।१९ ) देखा जाता है। और एक श्लोक ‘पाराशर्यवचः सरोजममलम्’ इत्यादि भविष्यपुराणमें भी मिलता है।

गीता भासको विदित थी। ‘कर्णभार’ नाटकका यह बारहवाँ श्लोक—

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यशः ।  
उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे ॥

गीताके ‘हतोऽपि प्राप्स्यसि स्वर्गम्’ ( २।३७ ) इस श्लोकका समानार्थक है।

सुतरां, देखा जाता है कि भासके समय गीताका अस्तित्व तो था ही, ‘गीताध्यान’ भी प्रसिद्ध था। अर्थात् ईसापूर्व पञ्चम शताब्दीमें भी गीता सर्वजनमान्य शास्त्रग्रन्थ था। इसके अतिरिक्त यह भी प्रमाणित होता है कि ब्रह्मपुराण और भविष्यपुराण भासके कालकी अपेक्षा भी अत्यन्त प्राचीन हैं ( तिलक-गीतारहस्य ५७-७४ पृष्ठपर द्रष्टव्य )। भास गीतासे सुपरिचित थे, इसमें आश्चर्य-जैसी कोई भी बात नहीं है। कारण, उनके अनेक नाटक ही महाभारतकी कथावस्तुके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। किंतु जो कहते हैं कि गीता ईसवी शताब्दीके कालमें महाभारतमें प्रक्षिप्त हुई थी, उनको इस विषयपर पुनः विवेचना करनेके लिये मैं अनुरोध करता हूँ।

### ८-भारतीय लिपिका प्रमाण०

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ( मैक्समूलर प्रभृति ) के मतमें भारतमें प्राचीनकालमें वर्णमाला या लेखनकी पद्धति नहीं थी; क्योंकि वेदमन्त्र कण्ठस्थ रखने होते थे, अतएव समस्त शास्त्र या दूसरी विद्याएँ भी पुस्तकाकारमें नहीं थीं, सब मुखस्थ ही रहती थीं। सभी कार्य मौखिकरूपसे ही चलते थे। इस मतमें अनेक दोष हैं, परंतु स्थानाभावके



कारण उनकी आलोचना यहाँ सम्भव नहीं। अवश्य ही भासके नाटकोंसे प्रमाणित होता है कि लिखनेके उपकरण-नियमादिकी सुदृढयन्त्रके प्रवर्तित होनेके पूर्व समस्त सभ्य जातियोंमें स्वाभाविकरूपसे जैसी भी स्थिति रही हो, भासके युगका भारतवर्ष उसकी अपेक्षा किसी तरह पिछड़ा हुआ नहीं था।

‘शाकुन्तल’की भाँति उस कालमें भी अँगूठीपर नाम अङ्कित होता था।

‘तेन हि भणाहिकि नाम एदं अकरवम्’ (अवि० २।५२)। ‘तस्स लेहस्स अवसाणं पेक्खिअ। (तस्य लेखस्यावसानं प्रेक्ष्य)। (नलिनिका—अविमारक ६।५७)

इसी प्रकार बाणपर रथीका नाम अङ्कित रहता था। (पञ्चरात्र, अभिषेक, दूतघटोत्कच द्रष्टव्य)। पञ्चरात्रमें देखा जाता है कि किसी आधुनिक राज्यके युद्धविभाग (Military Department)से प्रसरित होनेवाले मिलिटरी डिस्पैच अथवा रिपोर्टके समान कविके युगमें भी योद्धाओंके विशिष्ट वीरत्वका वर्णन पुस्तकमें लिपिबद्ध करनेका नियम था।

‘दृष्टपरिच्छदानां योधपुरुषाणां कर्माणि पुस्तकमारोपयति कुमारः।’

(भट्टवाक्य-पञ्च० २।२७)

जिन समस्त योद्धाओंने उत्तर-गोघृहमें शौर्यप्रदर्शन किया था, उत्तर उनके नाम पुस्तकमें लिपिबद्ध करा रहे थे, इसीलिये विराटकी सभामें उनके लौटकर आनेमें विलम्ब होता है।

इसी प्रकार ‘चारुदत्त’में भी पाया जाता है—

‘नानापट्टणसमागदेहि आमिण्हि पुत्तखआ वाइअन्ति।’

(नानापत्तनसमागतैरागमिः पुस्तकानि वाच्यन्ते।)

(विदूषक—चारु० ४।५)

‘प्रतिशा’ नाटकमें महामन्त्री यौगन्धरायण उदयनके समीप पत्रवहक दूतको प्रेषित करनेके लिये कहते हैं—

‘त्वय्यंतां लेखः प्रतिसरा च’ (प्रतिशा० १।३)

(ईसापूर्व) पञ्चम शताब्दीमें क्यों, उसके बहुत पहलेसे ही वर्णमाला और लेखन-पद्धति भारतमें थी, इसमें किसी संदेहके लिये तिलभर भी स्थान नहीं है। महाभारत भासका बहुत पूर्ववर्ती है, उसमें भी

लिखनेका वर्णन मिलता है। महाभारत आज भी सर्वाधिक बृहद् ग्रन्थ है। यह सुख-ही-सुखद्वारा होकर भाटोंके कण्ठस्थ हो गयी—ऐसा मत उपहास ही है। प्रक्षिप्तवादकी परिपुष्टिके उद्देश्यसे ही इन कल्याणोंकी सृष्टि हुई है। केवल भ्रान्त धारणा इनकी प्रसूति हुई है, यह बात समझमें नहीं आती।

## उपसंहार

भास-साहित्यके विषयमें गवेषणाकी बहुत गुंजायमानता है। ऊपर केवल किंचित् निदर्शन ही चेष्टा की गयी है। भासने कालिदासके समान कोई महाकाव्य नहीं लिखा, किंतु वे भी भारतके श्रेष्ठ महाकाव्यों की बीच वरेण्य और अन्यतम हैं, यह बात निस्संदेह है। उनकी रचनाशैली उनकी अपनी ही है। एक एवं गांभीर्य दृढ़रूपसे स्थान-स्थानपर प्रतिस्फुटित है। दुर्योधन आदिके चरित्र भी उनकी लेखनीके प्रभाव उदात्तनायकोचित हो उठे हैं। वर्तमानकालमें भास नाटक केवल संस्कृत-साहित्यमें ही नहीं, विश्वसाहित्यमें सर्वाधिक प्राचीन होनेका दावा रखते हैं। सुतरां इतिहासिक मूल्य अपरिसीम है।

ईसापूर्व पञ्चम शताब्दी एवं उसके पूर्वकाल में जो झाँकी इनसे हम पाते हैं, उससे देखा जाता है कि शास्त्रानुमोदित वर्णाश्रमधर्म उस कालमें पूर्ण महिमाके साथ भारतमें प्रतिष्ठित था। उस समय देवताओं एवं गो-ब्राह्मणोंमें प्रगाढ़ भक्ति थी। पितृ-मातृ-सेवा पुत्रोंका आदर्श कर्तव्य था। नाति-अवगुण्ठन (घूँघट) का व्यवहार करती थीं एवं परपुरुषों के साथ वार्तालाप तो दूर रहा, उनकी चर्चातक नहीं करती थीं। भासके नाटकोंमें पातिव्रत्यका उच्च वर्ण पाया जाता है। मध्यम व्यायोगमें हिडिम्बा-चर्चा कविकी एक अनवद्य सृष्टि है। बौद्ध और जैन-प्रवर्तन उपधर्म उस कालमें भारतमें प्रचलित अवश्य थे, किंतु उनकी मान्यता नहीं थी। सभी प्रकारकी देवपूजा, शिवलिङ्ग-प्रभृतिकी पूजा होती थी, इसका भी प्रमाण उपलब्ध होता है। रामायण, महाभारत, गीता, भागवत, विष्णुपुराण, हरिवंश, ब्रह्मपुराण, भविष्यपुराण-प्रभृति शास्त्रग्रन्थ एवं नाट्यशास्त्र-प्रभृति भासके युगमें वर्तमान में इसमें संदेहकी कोई गुंजाइश नहीं हो सकती।



## सुखकी गवेषणा

( लेखक—महन्त श्रीतपस्वीन्द्रजी शास्त्री तळेगाँवकर )

‘अशान्तस्य कुतः सुखम्—अशान्तको भला सुख कहाँ ?  
सुख शान्तिमें है । शान्तिका निवास मनकी प्रसन्नतामें है ।  
मानसिक प्रसन्नता कामनाओंके त्यागसे प्राप्य है । भौतिकवाद  
सुखकी कामनाका प्रतीक है । आज प्रत्येक भौतिकवादी  
अधिकतम सुख-साधन जुटानेमें बद्धपरिस्तर है । प्रत्येक  
प्राणी सुखका अनुभव इन्द्रियोंद्वारा करता है । इन्द्रियोंका  
प्रेरक मन है । मन संकल्पात्मक होता है । उसके संकल्प  
असमाप्य हैं, अतः कठिन परिश्रम करनेपर भी अत्यन्त  
मानव सुखी नहीं हो सकता ।

ययाति राजा था । उसे सभी सुख-साधन उपलब्ध थे ।  
वह इन्द्रियाराम था । वह नानाविध भोगोंका उपभोग करके  
अपनेको संतुष्ट करना चाहता था । उसका प्रयत्न प्रशंसनीय  
था, पर वह इन्द्रियोंको तृप्त न कर सका । संकल्प नित  
नये उठते । उन्हें पूरा करते-करते ययाति हार गया । अन्तमें  
उसने राजा भर्तृहरिके शब्दोंमें अनुभव किया—‘भोगा न भुक्ता  
वयमेव भुक्ताः ।’ अर्थात्—‘मैं भोगोंको भोगकर सुखी न  
हो सका, प्रत्युत भोगोंने मेरे शरीरका भोग लगा लिया ।’  
भोगासक्त लोगोंकी परम्पराके लिये अपना अनुभव व्यक्त  
करते हुए उसने कहा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अर्थात्—प्रिय भौतिकवादी साथियो ! सांसारिक पदार्थ  
हमें कभी भी स्थायी सुख नहीं दे सकते । वे स्वयं नश्वर हैं,  
अतः तज्जन्य सुख भी अनित्य हैं । मनुष्य विचारता है—  
इच्छित वस्तुका उपभोग करके मैं तृप्तकाम हो जाऊँगा,  
परन्तु उसका यह विचार मिथ्या है । जैसे प्रज्वलित अग्निपर  
धृत डालनेसे वह और अधिक धधक उठती है, वैसे ही  
कामनाएँ भोगसे शान्त तो होती ही नहीं, उल्टे बढ़ जाती हैं ।  
मेरी यह अनुभवकी बात है कि इस पथका पथिक कदापि  
सुखी नहीं हो सकता ।

आज ही जनता नीमका पेड़ लगाकर आम खाना चाहती  
है, जो बिल्कुल असम्भव बात है । यदि हम शान्तिका  
साम्राज्य चाहते हैं तो हमें यह मार्ग त्यागना होगा । सही  
रास्ता अपनाकर ही हम सही अर्थोंमें सुखी हो सकते हैं ।

उस सन्मार्गका निर्देश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण  
कहते हैं—

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

( गीता २ । ७१ )

अर्थात्—यदि हम सुख-शान्तिके इच्छुक हैं तो हमें  
इच्छाओंकी पूर्तिका प्रयत्न त्यागना होगा । मनके संकल्प-  
विकल्पोंको मारना होगा । इन्द्रियोंपर कठोर संयम रखना  
होगा । सारथि जैसे कुमार्गगामी घोड़ेकी लगामको जोरसे  
खींचकर उसे सन्मार्गपर चलनेको बाधित करता है, वैसे  
ही हमें भी प्रयत्न करना होगा । दुनियावी चीजोंकी ममताको  
त्यागना होगा । अहंकारको नामशेष करना होगा । त्यागी  
बनकर ही हम सुखी हो सकेंगे, भोगी बनकर नहीं; क्योंकि  
गीतामें कहा है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

( २ । ७० )

अर्थात्—कामना करनेवाला कदापि सुख-शान्तिको  
नहीं प्राप्त कर सकता । जो उभरती कामनाओंको संयम-  
द्वारा मिटाना जानता है, वही सुखका अधिकारी है । जैसे  
सैकड़ों नदियोंके जलके आ मिलनेपर भी समुद्र क्षुब्ध नहीं  
होता, वैसे ही कामनाओंके प्रादुर्भावसे मानवको क्षुब्ध नहीं  
होना चाहिये । जैसे गरम लोहेपर पानीकी बूँदें विलीन हो  
जाती हैं, वैसे ही संयमसे इच्छाओंको विलीन करनेवाला  
प्रयत्नशील पुरुष ही सुखको प्राप्त कर सकता है, दूसरा  
नहीं ।

मनोवाञ्छित पदार्थको पाकर इन्द्रियाँ सशक्त हो जाती  
हैं, उनका संयम करना कष्ट-साध्य हो जाता है । संयमके  
बिना इन्द्रियाँ प्राणीका घात करती हैं, उसे मोह-गर्तमें  
ढकेलकर मार डालती हैं; तब पछतावेके सिवा मनुष्य कुछ  
भी नहीं कर सकता । कहा भी है—



कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग-

मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।

एकः प्रमादी स कथं न हन्यते

यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

अर्थात्—हिरन केवल श्रवणेन्द्रियके कारण मारा जाता है । शब्द श्रवणेन्द्रियका विषय है । उस विषयकी प्राप्तिके लिये हिरन अत्यन्त लालायित रहता है । शिकारी हिरनकी इसी कमजोरीसे लाभ उठाकर मधुर संगीत आदिका निनाद सुनाकर उसे पकड़ लेते हैं या मार डालते हैं । हाथी वनका शक्तिशाली प्राणी है । वह भी स्पर्श-सुखकी कामनामें अपना जीवन समाप्त कर लेता है । यदि त्वक्-इन्द्रियपर उसका संयम हो तो उसे कौन मार सकता है ? फर्तिगा रूपकी आसक्तिमें जल मरता है । नेत्रेन्द्रियपर उसका वश नहीं । दीप-ज्वालाकी उज्ज्वलताको देख वह संयम खो बैठता है और अन्तमें रूपकी लोलुपतामें अपनी आहुति दे बैठता है । भौरा सुगन्धिके लोभमें अपनी इह-लीला समाप्त कर लेता है । घ्राणेन्द्रियको वशमें न रखनेके कारण ही उसका परिणाम भयंकर निकलता है । मछली अगाध जलमें सुरक्षित रहकर भी रसनाके रस-लोभमें फँसकर अपने प्रिय प्राण गँवा बैठती है । एक ही इन्द्रियके वशीभूत होकर जब मृग-गज आदि आत्म-हानि कर बैठते हैं, तब पाँच-पाँच इन्द्रियोंके विषयोंके सेवन करनेवाले मानवका विनाश हो जाय, इसमें क्या आश्चर्य है ।

भौतिकवाद मानवोंको इन्द्रिय तथा मनकी कामनाओंको पूर्ण करनेकी प्रेरणा करता है । उसका कहना है—‘प्राणियोंको येनकेनापि प्रकारेण कामनाओंको तृप्त करना चाहिये ।’ किंतु आध्यात्मिकवाद कहता है—‘नहीं, पर-पीड़न करके निज-सुखकी अभिलाषा करना मूर्खता है, स्वार्थ है ।’ जिन इन्द्रिय-सुखोंकी इच्छासे हम दूसरोंके अधिकारका हनन करते हैं, उनका स्वत्व छीनकर उससे स्वयं सुखी बनना चाहते हैं, वे सुख भी तो अनित्य हैं, क्षणिक हैं । क्षणिक सुखके लिये मनुष्यको अत्याचार, अन्याय तथा स्व-शक्तिका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये ।

आजकी जनता यदि भौतिकवादको छोड़कर आध्यात्मिक-वादके सुसङ्गमें आ जाय, तो ये सभी झंझटें मिट जायँ । न कालाबाजार रहे, न छिपा धन । भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा

विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

प्रसादमधिगच्छति ॥

( गीता २ । ६४ )

अर्थात्—मानव-शरीरमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जिनके रूप, रस, गन्ध, शब्द तथा स्पर्श—ये पाँच विषय हैं । इनके सेवनसे मनुष्यको सुख मिलता है । अतः सुख-प्राप्ति उसका अनुराग हो उठता है । अनुरागके कारण वह जिन खो बैठता है । जब उसे मनचाहे विषयकी प्राप्ति नहीं होती तब वह अविवेकी बन जाता है । अविवेक आपत्तियोंका आश्रय है । अतः मनुष्यको चाहिये कि वह इन्द्रियोंको अपने वश रखनेका उद्यम करे । ‘किं दूरं व्यवसायिनाम्—उद्योगेति लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं ।’ जितेन्द्रिय पुरुष विषयोंके उपभोग करके भी उनके प्रति राग-द्वेषमें नहीं फँसता । जे विदेही जनकके समान संसारमें निर्लेप होकर रहता है ।

एक बार जनकसे एक सेवकने आकर कहा—‘नृपवर ! आप जल्दीसे राज-प्रासादसे बाहर निकल आयें । महलके चारों ओरसे आगने लपेट लिया है । बिलम्बसे आपका मर अवश्य हो सकता है ।’

जनकने उत्तर दिया—‘बन्धुओ ! घबराओ मत । ‘मिथिलायां प्रदग्ध्वार्या न मे दहति किञ्चन ।’ मेरा है क्या जिसके लिये चिन्ता करूँ, प्रासादकी तो बात ही क्या ! मिथिला अथवा शरीरसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं । ये जलें या रहें । यह है अध्यात्मवादकी सच्ची शिक्षा । इसीसे मनुष्य सर्व सुख-शान्ति पा सकता है ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—‘मनुष्य पहले विषयोंका मनसे चिन्तन करता है । प्रतिदिनके चिन्तनसे मनुष्यके मनमें आसक्ति पैदा हो जाती है । आसक्तिके कारण मनुष्य उसको प्राप्त करनेकी कोशिश करता है । उसकी प्राप्तिके लिये वह आकाश-पाताल एक कर डालता है; किंतु जब उसकी कामना पूरी नहीं होती, तो वह कुपित हो उठता है । क्रोधान्ध होकर वह विवेक-शक्ति खो बैठता है । अविवेकसे स्मरणशक्ति क्षीण हो जाती है । स्मरणशक्तिके अभावमें बुद्धि अपना कार्य ठीकसे नहीं कर सकती । न बुद्धि पुरुषका नाश अवश्यम्भावी हो जाता है ।’

एक बार राजा पुरुरवा स्वर्गकी अप्सरा उर्वशीपर मुग़ हो उठा । उसने भी इनके अलौकिक रूप और गुणोंसे आकृष्ट होकर इनके पास रहना स्वीकार कर लिया । राजा उसके सहवासमें रहकर अपनी कामनाओंको सतृप्त करनेके लिये विषयोंका उपभोग करने लगा । दिन बीतते गये परंतु राजाका मन न भरा ।



एक दिन अतृप्त राजाको छोड़ उर्वशी चल निकली। कामी राजाने उर्वशीको रोकनेका अतीव प्रयत्न किया। अनेकविध प्रार्थनाएँ कीं; किंतु उर्वशीको रुकना नहीं था, वह न रुकी।

इस चोटसे राजाका प्रसुप्त ज्ञान जाग उठा। उसने कहा—‘अहह, मैं कितना मूर्ख हूँ ! इस उर्वशीमें रखा ही क्या है ? प्रत्येक नर-नारीका शरीर मल-मूत्रसे भरा है, जिसकी दुर्गन्धके आगे मनुष्य खड़ा भी नहीं रह सकता।’

भौतिक पदार्थोंकी चाहमें मनुष्य अपना सब कुछ गँवा बैठता है। उनकी चक्काचौंध तथा बाह्य आडम्बरको देख मनुष्य उनकी ओर खिंचता चला जाता है। आजकल भौतिक वस्तुओंको प्राप्त करनेकी होड़-सी लग गयी है। प्रत्येक प्राणीका यही प्रयत्न है। इस भौतिकवादने जन-जीवनको

दुःखमय बना दिया है। आध्यात्मिकवादको तो कोई पूछता ही नहीं। किंतु सच्चे सुखकी उपलब्धि उसके बिना कभी नहीं मिल सकती। दोनोंका सम्बन्ध परस्पर छत्तीस ( ३६ ) के अङ्कके समान है। भौतिकवाद तथा आध्यात्मिकवादमें समता आ ही नहीं सकती। दोनोंके मुख दो विरुद्ध दिशाओंकी ओर हैं। अतः सुखकी इच्छा रखनेवालेको अध्यात्मवादको ही अपनाना चाहिये। कामनाओंका संयम और इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाला ही सच्ची शान्तिको प्राप्त कर सकता है। कामनाओंके प्रकोपसे भौतिकवादी मनुष्यके मनमें सदा खलबली मची रहती है। वह सुख-चैनकी साँसतक नहीं ले सकता। वह सुख-साधन जुटाते-जुटाते चल बसता है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—  
अशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

## उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण

( लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा )

( १ )

जैसा कि हम ‘कल्याण’के गत तीसरे अङ्कके पृष्ठ-८०३ पर लिख आये हैं, आज उपपुराणोंका एक प्रकार-से सर्वथा लोप-सा ही हो रहा है। ‘कल्याण’ के विगत विशेषाङ्कमें प्रथम बार मूलसहित ‘नरसिंहपुराण’ नामक उपपुराणका सानुवाद प्रकाशन हुआ। अतः अब उपपुराणोंके सम्बन्धमें विशेष जानकारीके लिये कुछ पाठकोंके उत्सुकतापूर्ण पत्र आने लग गये हैं। वास्तवमें उपवेदोंके समान ही ‘उपपुराण’\* नाम भी लघुता या हीनताका द्योतक नहीं है। ‘उप’—उपसर्गके पूजा, उपचर्या, प्रतिष्ठा, सेवा, दान, सदृशता, प्रतिपत्न आदि अनेक श्रेष्ठ अर्थ भी होते हैं—

उद्योगः सविपूजासु शक्ताचारम्भदानयोः ।

उपासन्नेऽधिके हीने सादृश्यप्रतियत्नयोः ॥

( द्रष्टव्य विश्वप्रकाशकोश, पृष्ठ १८९, हेमचन्द्र,

भेदिनी, उपसर्गार्थसंग्रहकोश तथा उपसर्गभाष्य, श्लोक १९ इत्यादि )

अतः उपकार, उपचय, उपपन्नता, उपज्ञा, उपासना, उपदेश, उपहार, उपनयन, उपक्रम, सूर्योपस्थान, षोडशोपचार आदिके समान ‘उपपुराण’में भी ‘उप’का अर्थ

\* भागवत ( १२।७।१०, २० ) आदिके अनुसार अपपुराण, मुल्लकपुराणादि शब्द भी पुराणोंकी दशलक्षणात्मकके सामने पक्ष लक्षणोंके ही द्योतक हैं, किसी हीन भावनाके नहीं।

‘श्रेष्ठ’ही है, ‘हीन’ नहीं। ( विशेष जानकारीके लिये ‘उपासना-अङ्क’, पृष्ठ ११५ की टिप्पणी देखनी चाहिये। )

डा० आर० सी० हजरा ( R. C. Hazra ) पुराणोंके जाने-माने विद्वान् हैं। उन्होंने दो जिल्दोंमें ‘Studies in the Upapurāṇas’ नामकी पुस्तक लिखी है। उसमें उन्होंने बड़े धड़ल्लेसे उपपुराणोंकी महत्ता प्रतिपादित की है। सी० आर० स्वामिनाथन्ने इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें ठीक ही लिखा है कि उपपुराण भी पुराणोंकी तरह मान्य एवं स्वतन्त्र हैं। अतः प्राचीन परम्परागत रूढ़ि कि ‘उपपुराण पुराणोंके परिशिष्टमात्र हैं और उनमें कोई मौलिक विचार नहीं है’, इस पुस्तकद्वारा सर्वथा खण्डित हो जाती है—

‘The traditional view that the Upapurāṇas are only supplements to the Mahāpurāṇas and have no independent authoritative-ness, has been disproved in this book and the more logical theory that they have originated naturally and simultaneously with the growth of diverse sects and worships like the Śākta, Pāśupata, Pāñcharātra and Bhāgavata during or before the early days of the Gupta period has been shown.”



स्वयं डॉ० हजराने भी लिखा है कि इन उपपुराणोंसे शाक्त, पाशुपत, पाञ्चरात्र तथा वैष्णव मतोंके विकास-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्योंकी जानकारीमें सहायता मिलती है; अतः इनका अध्ययन परम आवश्यक है—

“The Upapurāṇas are exclusively adapted to suit the purposes of local cults and the religious needs of different sects,.... incidentally, a study of the textual aspects of these Purāṇas with their subsequent accretions and alterations may afford valuable informations about the historical developments of the various sects to which they originally belonged.”

( २ )

अपनी पुस्तक ‘Studies in the Upapurāṇas’ के ४-१३ तकके पृष्ठोंमें उन्होंने उपपुराणोंकी २३ भिन्न नामावलियाँ प्रस्तुत की हैं । पर नरसिंहपुराणका नाम सबसे सम्मिलित है । यहाँ केवल वे थोड़े-से उद्धरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जो प्रायः डॉ० हजरानेकी पुस्तकमें नहीं हैं—

इस सम्बन्धमें वामन शिवराम आण्टेने हेमाद्रि ( चतुर्वर्ग-चिन्तामणि ) के नामसे निम्नलिखित श्लोक लिखे हैं—

आद्यं सनत्कुमारोक्तं नारसिंहमतः परम् ।  
तृतीयं नारदं प्रोक्तं कुमारं तु भाषितम् ॥  
चतुर्थं शिवधर्माख्यं साक्षान्नन्दीशभाषितम् ।  
दुर्वाससोक्तमाश्चर्यं नारदोक्तमतः परम् ॥  
कापिलं मार्कण्डेयं चैव तथैवोशनसेरितम् ।  
ब्रह्माण्डं वासुकिं चाथ कालिकाह्वयमेव च ॥  
माहेश्वरं तथा साम्बं सौरं सर्वार्थसंचयम् ।  
पाराशरोक्तं प्रवरं तथा भागवतद्वयम् ॥

वास्तवमें ( प्रायः ) ठीक ये ही श्लोक थोड़े पाठान्तरसे\* कूर्मपुराण ( रॉयल एसियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, १८९० ई० ) की प्रतिमें १ । १ । १७-२० में भी हैं, जो निश्चय ही शुद्धतर हैं । एम० एम० विलियमने अपने प्रसिद्ध संस्कृत-अंग्रेजी कोषके पृष्ठ २०२ पर ‘उपपुराण’ शब्द-पर निम्नलिखित टिप्पणी दी है—

१. स्कान्दमुद्दिष्टं, २. वामनं, ३. मारीचं तथैव भार्गवाह्वयम् ।

\* कूर्मपुराण १ । १ । १—७२० का पाठान्तर—

“A secondary or minor Purāṇa (Eighteen are enumerated; the following is the list in the Kūrma-Purāṇa, 1-Saṅkumāra, 2-Nārasimha ( from Nṛsiṃha ), 3-Bhaṇḍa†, 4-Śiva-Dharma, 5-Daurvāsas, 6-Nārādīya, 7-Kāpila, 8-Vāmana, 9-Auśas, 10-Brahmaṇḍa, 11-Vārūṇa, 12-Kālī, 13-Māheśvara, 14-Sāmba, 15-Saura, 16-Pārāśara, 17-Mārīcha and 18-Bhāgavata.”

ध्यानसे देखनेपर पता चलता है कि सेंट विलियमसकी यह नामावली भी ठीक वही है, जिसे वे तथा आण्टेने लिखा है और जो मूलतः कूर्मपुराण १ । १७-२० में प्राप्त होती है । हाँ, इनमें बहुत थोड़ा अन्तर अवश्य है, जिसे हम पाठपुष्टतामात्र कह सकते हैं । यही नामावली याज्ञवल्क्यस्मृतिके विविध टीकाकार वीरमिश्र, अपरार्क ( या अपरादित्य ), बालम्भट्टी-सुबोधिनी, बालक्रीडाकारादि तथा शैव रत्नाकरकारादि ( भाग १ । १८ ) भी उसके भिन्न प्रकरणोंमें देते हैं ।

( २ ) आनन्दरामायण ८ । ८ । ५२-५७ में नामावली इस प्रकार है—

विष्णुधर्मोत्तरं शैवं बृहन्नारदमेव च ।  
भगवत्याः पुराणं च लघुनारदमेव च ॥  
भविष्यत्पर्वधण्डं स्यात्तन्त्रं भागवतं तथा ।  
अष्टमं नारसिंहं स्यात्पुराणं रेणुकाभिधम् ॥  
दशमं तत्त्वसारं स्याद् वायुप्रोक्तं तथैव च ।  
नन्दिप्रोक्तं द्वादशं स्यात्तथा पाशुपताभिधम् ॥  
यमनारदसंवादस्तथा हंसपुराणकम् ।  
विनायकपुराणं च बृहद्ब्रह्माण्डमेव च ॥  
पुण्यं विष्णुरहस्यं स्यादिति ह्यष्टादशानि वै ॥

इसके अनुसार श्रीविष्णुधर्म, शिवपुराण, बृहद्ब्रह्माण्डपुराण, लघुनारद, भविष्योत्तर, भागवततन्त्र, नन्दिपुराण, रेणुकापुराण, तत्त्वसार, वायुपुराण, नन्दिपुराण, पाशुपतपुराण, हंसपुराण, यमनारदसंवादका कोई उपपुराण, बृहद्ब्रह्माण्डपुराण तथा श्रीविष्णुरहस्य-उपपुराण हैं ।

( ३ ) इसके अतिरिक्त मत्स्यपुराण, बृहद्मत्स्यपुराण, कालिकापुराण एवं शिवपुराण आदिमें उपपुराणोंकी सूची प्राप्त होती है, जो इससे भिन्न हैं । बृहद्मत्स्यपुराण उपपुराणोंकी निम्नलिखित नामावली निर्दिष्ट है—

† Erroneous instead of ‘Skanda’.



तथान्युपपुराणानि कथयामि शुद्धा शृणु ।  
 आद्याद्यादिपुराणं स्वाद्यादित्याख्यं द्वितीयकम् ।  
 ततो बृहन्नारदीयं नारदीयं ततः स्मृतम् ॥  
 नन्दिकेशपुराणं च बृहन्नन्दीश्वरं तथा ।  
 आस्रं क्रियायोगसारं कालिकाद्वयमेव च ॥  
 ततो धर्मपुराणं च विष्णुधर्मोत्तरं तथा ।  
 शिवधर्मं विष्णुधर्मं वामनं वारुणं तथा ॥

नारसिंहं भार्गवं च बृहद्धर्मं तथोत्तरम् ।

एतान्युपपुराणानि संख्यावद्वाङ्मयं तु ॥

( बृहद्धर्मपुराण, पृ० १६५, १ । २५ । २२-२४ )

इसके अनुसार आदिपुराण, आदित्यपुराण, बृहन्नारदीय,  
 नारदपुराण, नन्दीश्वर, बृहन्नन्दिकेश्वर, क्रियायोगसार,  
 कालिकापुराण, धर्मपुराण, विष्णुधर्मोत्तर, शिवधर्म,  
 विष्णुधर्म, वामन, वारुण, नारसिंह, भार्गव, बृहद्धर्म,  
 बृहद्धर्मोत्तर—ये १८ ही—उपपुराण हैं ।

इसके अतिरिक्त बृहद्विवेकग्रन्थमें एक चौथा क्रम भी मिलता है, जो इस प्रकार है:—

आद्यं सनत्कुमारं च नारदीयं बृहच्च यत् । आदित्यं मानवं प्रोक्तं नन्दिकेश्वरमेव च ॥

कौर्मं भागवतं ज्ञेयं वासिष्ठं भार्गवं तथा । सुद्वलं कल्किदेव्यौ च महाभागवतं तथा ॥

बृहद्धर्मं परानन्दं वह्निं पाशुपतं तथा । हरिवंशं ततो ज्ञेयमिदमौपपुराणकम् ॥

इस प्रकार उपपुराणोंके ये चार मुख्य क्रम प्राप्त होते हैं । यहाँ अकारादिक्रमसे तुलनाके लिये ये चारों क्रम  
 उपस्थित किये जा रहे हैं—

कूर्मपुराणादिका क्रम	आनन्दरामायणका क्रम	बृहद्धर्मपुराणका क्रम	बृहद्विवेकका क्रम
उशनापुराण	कालिकापुराण	आदिपुराण	आदित्यपुराण
कपिलपुराण	गणेशपुराण	आदित्यपुराण	कल्किपुराण
कालिकापुराण	तत्त्वसार	कालिकापुराण	कूर्मपुराण
दुर्वासापुराण	नन्दिपुराण	क्रियायोगसार	देवीपुराण
नरसिंहपुराण	नरसिंहपुराण	धर्मपुराण	नन्दिकेश्वरपुराण
नारदपुराण	नारदपुराण ( यम-नारद-संवाद )	नन्दिपुराण	परानन्दपुराण
पराशरपुराण	पशुपतिपुराण	नरसिंहपुराण	पाशुपतपुराण
ब्रह्माण्डपुराण	बृहन्नारदीयपुराण	नारदपुराण	बृहद्धर्मपुराण
भागवत या भार्गवपुराण	ब्रह्माण्डपुराण	बृहद्धर्मपुराण	बृहन्नारदीयपुराण
मरीचिपुराण	देवीभागवतपुराण	बृहद्धर्मोत्तरपुराण	भागवतपुराण
मानवपुराण	भविष्योत्तरपुराण	बृहन्नन्दीश्वरपुराण	भार्गवपुराण
माहेश्वरपुराण	रेणुकापुराण	बृहन्नारदीयपुराण	महाभागवतपुराण
वारुणपुराण	लघुनारदपुराण	भार्गवपुराण	मानवपुराण
शिवपुराण	वायुपुराण	वामनपुराण	सुद्वलपुराण
सनत्कुमारपुराण	विष्णुधर्मोत्तरपुराण	वारुणपुराण	वसिष्ठपुराण
साम्बपुराण	विष्णुरहस्य	विष्णुधर्मपुराण	वह्निपुराण
सौरपुराण	शिवपुराण	विष्णुधर्मोत्तरपुराण	सनत्कुमारपुराण
स्कन्दपुराण*	हंसपुराण	शिवधर्मोत्तरपुराण	हरिवंशपुराण

इन चारोंका क्रम परस्पर बहुत कम मिल रहा है । नरसिंहादि बहुत थोड़े-से नाम ऐसे हैं, जो सबमें ही प्रायः  
 उपलब्ध हैं । आदित्य, सौर आदि कुछ नाम भिन्न होनेपर भी एकार्थवाची हैं । इस तरह हाजराके अनुसार इनकी संख्या  
 १०० से भी ऊपर पहुँच जाती है । तथापि उनमेंसे अब दो-चारको छोड़ कोई भी प्राप्य नहीं रह गये हैं । कुछ थोड़े-से  
 ऐसे हैं, जो किन्हीं बड़े पुस्तकालयोंमें प्राप्त हो सकेंगे । अब अगले अङ्कमें हम श्रीविष्णुधर्मपर विस्तारसे विचार करेंगे ( क्रमशः )

\* यहाँ संहितात्मक स्कन्दपुराणसे तात्पर्य है ।



# रामलीला-नाटक

( लेखक—पद्मभूषण डॉ० श्रीरामकुमारजी वर्मा )

संत तुलसीदास विश्वकवि हैं। उनके मानसने देशको जो आत्मविश्वास और आत्मसम्मान दिया है, वह संसारके किसी ग्रन्थने नहीं। उनका मानस भारतीय संस्कृतिका आदर्श ग्रन्थ है।

देशमें सर्वत्र मानसचतुश्शती मनायी जा रही है। उनके मानसका प्रचार और प्रसार समस्त संसारमें होना चाहिये। इसी मानसके आधारपर देशभरमें रामलीलाका अभिनय होता है; किंतु यह रामलीला स्थानविशेषके प्रभावोंसे कभी-कभी हास्यास्पद और धर्मके परिहासके रूपमें हो जाती है। विदेशी लोग जब रामलीलामें विभिन्न ढंगका मनमाना अभिनय श्रीराम और सीताके रूपमें देखते हैं तो हमारे धर्म तथा उसके सांस्कृतिक दृष्टिकोणके सम्बन्धमें सही चारणा नहीं बनाते।

इस चतुश्शतीमें कम-से-कम इतना तो हो जाना चाहिये कि सारे देशमें रामलीलाका शुद्ध और पवित्र रूपसे मानकीकरण (Standardization) हो जाय और रामचरित और महाकवि तुलसीदासके रामविषयक अन्य ग्रन्थोंके आधारपर रामलीला-नाटकका एक रूप स्थिर हो जाय। यदि रामलीलाद्वारा जनतामें नैतिकता और धार्मिकताके प्रति भाव उत्पन्न हो जाय तो हमारा राष्ट्रीय चरित्र जो दिनों-दिन गिर रहा है, वह पुनः सुधारके मार्गपर अग्रसर हो जायगा। अतः यह आवश्यक है कि रामलीला एक संस्थाके रूपमें संगठित हो और केवल विजयादशमीपर ही नहीं, वर्ष-भर उसका अभिनय हो, जिससे हमारा राष्ट्रीय ग्रन्थ राष्ट्रके जन-जनमें परिब्याप्त हो जाय। रामलीलाका अभिनय किस प्रकार हो—इसके सम्बन्धमें कुछ सुझाव प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

१—रामलीला सुले रंगमञ्चपर हो, जिससे जनताके अधिक-से-अधिक लोग उसे देख सकें। किंतु आवश्यक यह है कि दर्शकोंके बैठनेकी समुचित व्यवस्था हो, जिससे वे असुविधाके कारण शोर न मचायें। लाउडस्पीकर ऐसे हों कि समस्त जनताको एक हल्के-से-हल्के स्वरमें कही जानेवाली बात सुनायी दे। दर्शकोंके मध्यमें पान-बीड़ी, मूँगफली और दहीबड़े बेचनेवालोंकी आवाजें नहीं होनी चाहिये।

२—मञ्चपर दो परदे हों—एक बाहरी यवनिका और एक भीतरी। उसपर प्रकाशकी—साथ ही रंगीन प्रकाश व्यवस्था हो, जिससे विशेष रसात्मक स्थलोंको उपयुक्त रंगों किरणोंसे प्रभावशाली बनाया जा सके।

३—एक सज्जा-कक्ष हो, जिसमें सजावटकी सारी व्यवस्थाओंकी वेशभूषा आदि हो।

४—रामलीलाका एकमात्र आधार रामचरितमानस और रामकथाविषयक तुलसीदासके ही ग्रन्थ हों। बीच-बीच किसी प्रकारका या किसी अन्य व्यक्तिका काव्य न हो।

५—रामचरितमानसका अत्यन्त मधुर और प्रभावशाली ढंगसे पाठ करनेवाले चार अथवा कमसे कम दो व्यक्ति हों।

६—मानसपाठ अथवा संगीतके लिये अच्छे और उपयुक्त वाद्ययन्त्र भी हों।

७—जहाँ कथाका वर्णन है, वहाँ उद्घोषक मानसके अंशोंको पाठ करें। जहाँ पात्रोंके बोलने या संवादके प्रसङ्ग हों, उन प्रसङ्गोंको पहले उद्घोषक मानसकी पङ्क्तियोंको स्वरसे गा दें, उसके उपरान्त पात्र उसे गद्य-शैलीमें कहें। यह अनुवाद सरल और सुगोचर होना चाहिये। अरबी-फारसीके शब्द न रहें और उच्चारण एकदम शुद्ध हो।

८—पात्र यदि स्वाभाविक वेशविन्यासमें आवे तो अच्छा हो। मुखौटोंका क्रमशः बहिष्कार करना चाहिये। कभी-कभी मुखौटे हास्यास्पद हो जाते हैं। जीवनका और व्यक्तिको यदि स्वाभाविक और व्यावहारिक रूप हो तो अच्छा है।

९—आरम्भमें शङ्ख-ध्वनि हो और विशेष अवसरोंपर पुष्प वर्षा हो, जिससे पवित्रताका भाव हृदयमें जाग्रत् हो।

१०—रामलीलाके समारोहमें जो विविध चौकियाँ नगरी निकाली जाती हैं, उनमें केवल रामचरितमानसकी कथाके प्रसङ्ग ही इस रूपमें सजाये जायें कि उनमें रामकथाका क्रमिक विकास लोगोंके सामने स्पष्ट हो सके। प्रत्येक चौकीके साथ जो भक्तगण और कार्यकर्ता रहें, वे संगीतके साथ उस चौकीके सम्बन्धित रामचरितमानसके अंशोंका गान करते चले। प्रत्येक चौकीके साथ शङ्ख-नाद हो तथा पुष्पवर्षाका भी प्रयत्न रहे।



# श्रीविष्णुप्रिया

[ एकाङ्की नाटक ]

( रचयिता—लाल श्रीप्रद्युम्नसिंहजी )

## प्रथम दृश्य

( नवद्वीपमें एक साफ-सुथरी-सी कोठरी है । एक तरफ़ा बिछा हुआ है । पुस्तकें इधर-उधर बिखरी हैं । भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति स्थापित है । एक सुन्दर १६वर्षकी बाला चिन्तित, नत-मस्तक, उदास, हाथ-पर-हाथ रखे बैठी है । उसी समय निमाई—एक सुन्दर नवयुवक चुपके-से प्रवेश करता है । निर्निमेष बालाकी ओर देखता है । कन्या आहट पाकर खड़ी हो जाती है । )

निमाई—प्रिये ! आज यह क्या ? तुम इतनी चिन्तित ! सदैव प्रसन्न रहनेवाली इतनी उदास—व्यथित ! प्रफुल्लित चेहरा इतना मुरझाया ! क्या बात है ? बताओ तो सही । ( विष्णुप्रिया कुछ बोलती नहीं । एक बार देखकर सिर नीचा कर लेती है । आँखोंमें आँसू छलक पड़ते हैं । ) क्या बात है ? बोलती क्यों नहीं ? भायके-से कोई दुःखद समाचार मिला है क्या ? वहाँसे मैं तो सबको सकुशल देखकर आ रहा हूँ ।

विष्णुप्रिया—( सिर नीचा किये हुए ) आप मुझसे सब बातें छिपाते हैं । क्यों, क्या यह सच नहीं कि आप गयाधाम जानेवाले हैं ? और सुना है कि कल ही जानेवाले हैं ।

निमाई—( हँसकर ) ठीक है । गयाजी पिताजीको पिण्ड देने जा रहा हूँ । शीघ्र ही लौट आऊँगा । पुत्रका पिताके प्रति भी कुछ कर्तव्य होता है । चिन्ताकी क्या बात है ?

विष्णुप्रिया—बात तो छोटी-सी है ; किंतु न जानें क्यों दिल भर-भर आता है । बहुत रोकनेपर भी आँसू नहीं रुकते । मैं स्वयं नहीं चाहती कि आपके प्रस्थानके समय कोई अशुभ बातें सोचूँ । पूर्वमें भी तो आप बाहर गये, उसके बाद आपकी लक्ष्मी नहीं रही । कहीं उस घटनाकी पुनरावृत्ति न हो ।

निमाई—संयोगको लोग भूलसे कार्य-कारणका रूप देने लगते हैं । यदि ऐसी सम्भावना होती तो इस बार मैं अपनी

लक्ष्मीके लिये सब कार्य बंद कर देता । मैं शीघ्र ही गयाधाम होकर तुम्हारे पास आ जाऊँगा । एक लक्ष्मी तो रूठकर चली गयी, दूसरीको नहीं जाने दूँगा । तुम तो लक्ष्मी नहीं, महालक्ष्मी—विष्णुप्रिया भी हो । फिर विद्यार्थियोंको भी तो पढ़ाना है । इस पुनीत कर्तव्यकी तो अवहेलना देर तक नहीं की जा सकती । ( ठुड्ठो पकड़कर विष्णुप्रियाका मुख ऊपर उठाते हैं । ) प्रिये ! धैर्य धारण करो । तुम्हें माँको भी धैर्य देना है ।

विष्णुप्रिया—( आँसू पोंछते हुए मुस्कुरानेका प्रयत्न करती है । धीरेसे ) न जाने जी क्यों इतना सशङ्कित हो रहा है । ( अन्यमनस्क होकर ) मेरे लिये नहीं तो विद्यार्थियोंके लिये अवश्य शीघ्रता कीजियेगा ।

निमाई—( मुस्कुराते हुए ) स्त्री अपने बीचमें किसीको नहीं आने देना चाहती । तब भी कोई न कोई बिना बुलाये आ ही जाते हैं ।

## दूसरा दृश्य

( अर्द्धरात्रिका समय । चारों ओर निस्तब्धता छायी हुई । दो चारपाइयाँ बिछी हैं । एक ओर निमाईका हँसता हुआ चित्र लगा है । एक चारपाई खाली है । एक चारपाईके कोनेमें विष्णुप्रिया बैठी है । चेहरा मुझाया है । आँसू बह रहे हैं । निमाईके चित्रकी ओर देखते हुए कभी-कभी आँखें पोंछ लेती है । उसी समय उसकी सास शचीदेवी गम्भीर मुद्रामें प्रवेश करती हैं । उनको देखकर विष्णुप्रिया आँसू पोंछती हुई खड़ी हो जाती है । )

शचीदेवी—पुत्री ! तेरा दुःख नहीं देखा जाता । कुमुदिनी चाँदको देखकर प्रफुल्लित हो रही थी । चाँदमें जब पूर्ण ज्योत्स्ना आ रही थी, एकाएक राहुने उसे ढक लिया, जिससे कुमुदिनीने मुझांना प्रारम्भ कर दिया । यह दुःख देखा नहीं जाता । बेटी ! इस तरहसे कबतक इस दुःखको भोलेगी ! निमाईको कुछ कहती क्यों नहीं !



विष्णुप्रिया—आपका दुःख क्या किसीसे कम है ? जब आप ही, जिन्होंने आपको जन्म दिया, पाल-पोसकर इतना बड़ा किया, उन्हें नहीं सँभाल सकती, तब मेरा क्या बश है ? मैं तो सब प्रयत्न करके हार गयी ।

शचीदेवी—आखिर इस समय यहाँ न होकर मेरा निमाई है कहाँ ? क्या आज भी वह पूजा-कक्षमें चला गया ?

विष्णुप्रिया—हाँ, माँ ! वे तो जिस दिन गयाधामसे लौटे, उस दिनसे सदैव रातको भोजन कर लेनेपर कुछ देर मेरे पास बैठनेके पश्चात् कोई-न-कोई बहाना बनाकर मुरली-मनोहरकी मूर्तिके पास जाकर बैठ जाते हैं ।

शचीदेवी—चलो, आज दोनों वहीं चलो । देखें, क्या करते हैं ? वहीं चलकर अपने लोगोंके प्रति भी जो उसका उत्तरदायित्व है, उसे जाग्रत् करनेका हम दोनों संयुक्त प्रयत्न करें । क्या मनुष्य ईश्वर एवं घरके प्रति अपने कर्तव्यका निर्वाह एक साथ नहीं कर सकता ?

विष्णुप्रिया—जैसी माताजीकी आज्ञा ! किंतु जब आप उन्हें रास्तेमें नहीं ला सकतीं, तब मेरे साथ रहनेसे क्या लाभ होगा ?

शचीदेवी—ठीक है । अकेले प्रयत्न करके हार चुकी हूँ । आज देखें, संयुक्त प्रयासका क्या प्रतिफल होता है ?

( दोनों चुपकेसे पूजाकक्षमें जाती हैं । भगवान् श्रीकृष्ण एवं राधाकी मूर्ति एक कमरेमें विराजमान है । कृष्णके एक हाथमें बाँसुरी है । राधाका एक हाथ नृत्यकी मुद्रामें उठा है । सामने निमाई ध्यान लगाये बैठे हैं । कभी खिलखिलाकर हँसते हैं, कभी फूट-फूटकर रोते हैं । कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगते हैं, कभी सुमधुर स्वरमें भगवान्‌का कीर्तन करने लगते हैं । यह स्थिति देखकर शचीदेवी और विष्णु-प्रिया स्तब्ध रह जाती हैं । कुछ देर बाद दोनों आँसू रोकनेपर भी नहीं रोक पातीं, सिसकने लगती हैं । विष्णुप्रिया हाथ दबाती है । निमाई खड़े हो जाते हैं । माँको देखकर विस्मयसे )

निमाई—माँ ! तुम यहाँ—इस समय ( विष्णुप्रियाको देखकर घीरेसे ) पुत्रवधूके साथ ।

शचीदेवी—निमाई ! निमाई !! ( गला भर आता है ) तुम्हें क्या हो गया ? गया जानेके पूर्व तुम हँसते थे, खेलते थे—सब कार्य करते थे, विद्यार्थियोंको पढ़ाने नियमित पाठशाला जाते थे । अब तुम्हें क्या हो गया ? दवा-दारु की, पूजा-पाठ कराया । तुम भूले-से, भटके-से सब कुछ देखते हुए भी कुछ नहीं देखते हुए प्रतीत होते चित्त ठिकाने नहीं रहता । क्या बात है ? कितने बार धर चुकी । घर-गृहस्थीका कार्य कैसे चलेगा ?

निमाई—माँ ! मैं स्वयं नहीं जानता कि मुझे क्या हो रहा है । गयाधाममें विष्णुपादका दर्शन किया । पंडोंने बताया कि यह वह स्थान है, जहाँ भगवान्‌के चरणोंसे गङ्गा निकलती है, जो संसारका मूलधार है । उसी समय मैं संशोहीन हो गया । संज्ञा वापस आनेपर संसार मुझे नये रूपमें दीखने लगा । सर्वत्र श्रीकृष्ण, उनकी मुरलीकी मनोहर कड़वी उन्हींके बीचमें राधा अभिन्न रूपमें दीखने लगी । क्या करूँ ?

शचीदेवी—भगवान्‌के साथ क्या उनकी माया—संसार नहीं देख सकते ? मुझे, माँ ( पुत्रवधूकी ओर संकेत करते हुए ) को, पाठशाला, यहाँके विद्यार्थी, घर-गृहस्थीके कार्य नहीं देख सकते, जो सब आँखोंसे स्पष्ट दिखायी देते हैं । तुम्हीं बताओ, मैंने अपनी आठ कन्याओंको एकके बाद एक काल-कवलित होते देखा । तुम्हारा भाई विक्वरूप तुम्हारे अवस्थाका होकर एक दिन हम सबको त्यागकर चला गया । तुम्हारे पिता भी नहीं रहे । केवल तुम और तुम्हारी यह बचची है । बुढ़ापेके, जीवनके अवलम्ब तुम भी क्या हमें लगाना देना चाहते हो ? दोनों किसके सहारे, कैसे जीवित रहेंगे ? बताओ न ! बताओ ( आँखोंमें आँसू छलछला आते हैं ) ।

निमाई—( गम्भीर स्वरमें ) आँखें नहीं देखती । नहीं देख सकतीं । नहीं तो संसारमें अपना और परमात्मा रह जाता । सब एक हो जाते । माँ ! तुम जो कुछ कहती हो, सब ठीक ही कहती हो । संसारके लोग सब संसारको ही देखते हैं । उसके ऊपर, नीचे, बीचमें क्या है—नहीं देखते । सम्भव है, यह देख भी नहीं सकते और देखना देखना नहीं चाहते । माँ ! तुम तो इतना दुःख सह सकती हो कि मुझे विश्वास होता है, संसारके सुखके लिये, संसारके विषय-ज्वाला शान्त करनेके लिये अपनी सुख-शान्तिका शीतल जल उड़ेलकर उसे शान्त करोगी । यही क्या कम है कि आप



कन्याओंके काल-कवलित होनेपर विश्वरूप तुम्हें अपना रूप दिखाकर विश्वरूपमें मिल गया। अभीतक मैं तुम्हारे पास हूँ। मेरे बाद तुम्हारी यह ( विष्णुप्रियाकी ओर संकेत करते हुए ) तुम्हारा सहारा बनकर रहेगी।

शचीदेवी—बेटा ! ऐसी अशुभ बात मुँहसे न निकालो। भौंके लिये पुत्र और पत्नीके लिये पति ही सब कुछ है। अच्छा, मैं चलों, ( पुत्रवधूकी ओर संकेत करते हुए ) तुम भी प्रयत्न कर लो।

विष्णुप्रिया—( चलनेको तत्पर होते हुए ) जब आप ही सफल नहीं होती हैं, जिन्होंने जन्म दिया, पाला-पोसा, तब मैं क्या कर सकती हूँ ?

शचीदेवी—नहीं बेटा ! मनुष्यके जीवनमें सबका अपना-अपना स्थान होता है। प्रयत्न करके देख लो।

( प्रस्थान करती हैं )

विष्णुप्रिया—कैसा परिवर्तन है गयाजी जानके पूर्व और वहाँसे लौटनेके पश्चात् ! कितना अच्छा होता कि मैं भी आपकी लक्ष्मीकी तरह भाग्यवान् होती और आपके आनन्दके पूर्व वियोगकी ज्वालामें ही जलकर भस्म हो जाती। प्रभो ! क्या हो गया है ? बताइये, कैसे जीवित रहूँ ? जलेपर नमक लगानेकी बात सुनी है कि आप सब छोड़कर संन्यासी हो रहे हैं।

निमाई—( कुछ मुस्करानेका प्रयत्न करते हुए ) गयाजी जानेपर यह सचमुच हुआ है कि मैं वह नहीं रह गया हूँ। वहाँ इच्छा हुई कि मैं विश्वरूपकी तरह तुम सबसे सदाके लिये नाता तोड़कर अदृश्य हो जाऊँ; किंतु यहाँका तुम सबका आकर्षण मुझे खींच लाया, अब भी खींच रहा है। पता नहीं इस संघर्षका क्या अन्त होगा। मुझे तुम दोनोंके प्रति कर्त्तव्यका भान है, किंतु नियति मुझे तुम सबके परे—दूर उठाना चाहती है। माँ और तुमको मैं कैसे भूल सकता हूँ ?

विष्णुप्रिया—मैं तो केवल इतना ही जानती हूँ कि जिस दिनसे होश सँभाला, आपको देखा। अनायास एक लताकी भाँति ऊपर उठनेके लिये, जीवित रहनेके लिये आपकी ओर खिंचती रही। आपमें मैं महान् वृक्ष पाकर उसके चारों ओर लिपट गयी, उसके जीवनमें घुलमिल गयी। अब आप मुझे समूल नष्ट करनेको अपना सहारा उठा रहे हैं। कैसा न्याय है !

निमाई—प्रिये ! मैं सब कुछ जानकर भी अनजान बन रहा हूँ। मुझे चारों ओर भगवान् श्रीकृष्णकी माधुरी मूरत दिखलायी पड़ती है, मुरलीकी ध्वनि सुनायी पड़ती है। साथ ही चारों ओर मूर्खता और स्वार्थका अन्धकार देखता हूँ, जिसमें कोई हिंदू बना हुआ है, कोई मुसल्मान है, कोई किसीको अल्लूत, किसीको काफिर और किसीको भलेच्छ समझता है। मेरी समझमें नहीं आता कि ये ब्रह्मको, खुदाको माननेवाले ऐसी भूलें क्यों करते हैं। मुझे वेदना होती है। एक पुकार उठती है—सबको राह बताओ, सबको प्रेम और भक्तिके सूत्रमें बाँध दो।

विष्णुप्रिया—यह सब कार्य आप घरमें रहकर भी कर सकते हैं।

निमाई—( कुछ सोचकर ) प्रयत्न करूँगा। चलो, विलम्ब हुआ; सोनेके कक्षमें चलें ( टोकरीसे फूलमाला निकालते हुए फिर कंधेपर हाथ रखकर ) चलो, चलें। ( दोनों प्रस्थान कर शयन-गृहमें प्रवेश करते हैं। )

( बड़े प्रेमसे विष्णुप्रियाको माला पहिनाते हैं, जूड़ेमें फूल खोंसते हैं, बड़े प्रेमसे विष्णुप्रियाका चिबुक उठाते हैं.....विष्णुप्रियाका मुँह लज्जासे लाल हो जाता है। )

विष्णुप्रिया—( धीरेमें ) ईश्वर ऐसा प्रेम और सुख स्थायी रखे।

निमाई—( मुस्कराते हुए ) वर्तमानको देखो, भविष्यकी चिन्ता मत करो। रात अधिक हो गयी है, सो जाओ।

विष्णुप्रिया—वही रात आपके लिये भी है। आप विश्राम करें। जो बहुत दिनोंसे अपूर्ण थी, वह साध आज पूरी करूँगी। आपके पैर पलोटूँगी।

( धीरे-धीरे पैर दबाने लगती है। निमाई निद्रामग्न हो जाते हैं। कुछ समयतक विष्णुप्रिया बड़े प्रेमसे निमाईके मुखकी ओर देखती है, धीरेसे चुम्बन लेती है, फिर निमाईके पैरके पास सो जाती है। कुछ समय बाद निमाईकी नाँद खुलती है। प्रियाको सोते देखकर धीरे-धीरे उठते हैं। )

निमाई—(स्वगत) अब समय आ गया है। अभी



कभी भी नहीं। स्त्री और माता—सबको छोड़ना होगा। अपना सब कुछ छोड़कर सबको सब कुछ देना होगा। बुढ़ने सब कुछ छोड़ा था, लोगोंको त्याग और तपस्या सिखानेके लिये, जन्म, मरण, जरासे बचानेके लिये। हमें सबको प्रेमका पाठ पढ़ाना है—जन्म, मरण, जराके बीच। सब मनुष्योंको एक ईश्वरकी संतान होनेके नाते उसके प्रेममें पागना है। व्यष्टि-समष्टिको प्रेम एवं ईश्वरके नाम-कीर्तन और स्मरणके आधारपर एक करना है। (विष्णुप्रियाका चुम्बन लेनेको झुकते हैं। फिर सजग होकर) सांसारिक सुखोंसे होनेवाली तृप्तिमें अतृप्ति भरी रहती है; इन्हें छोड़ना पड़ेगा। सब छोड़ना पड़ेगा। (कक्षमें जलते हुए दीपकको देखकर) मुझे तो इस दीपककी भाँति जलते हुए सबको प्रकाश देना है। (प्रस्थान करते हैं। कुछ समय पश्चात् विष्णुप्रिया उठती है। निमाईको न पाकर 'माँ! माँ!' चिल्लाती है और रोना प्रारम्भ करती है।)

विष्णुप्रिया—( माँको देखकर ) माँ ! सबको छोड़कर चले गये।

शचीदेवी—निमाई ! निमाई !! ( संशाहीन होकर गिर पड़ती है—विष्णुप्रिया भी संशाहीन हो जाती है—लोग दौड़कर आते हैं और हवा करने लगते हैं। )

### तीसरा दृश्य

( विष्णुप्रिया पूजागृहमें बैठी-बैठी आँसू बहा रही है। सामने राधाकृष्णकी मूर्ति विराजमान है। संध्याका समय है, सूर्यदेव अस्त हो रहे हैं। उसी समय विष्णुप्रियाकी सखी कञ्चना आती है। )

कञ्चना—विष्णुप्रिया ! संध्या हो रही है। तुम अकेली रो रही हो; धीरज धरो। जब माँ शान्तिपुरसे निमाईजीको बुलानेके लिये अन्य सब नवद्वीपवासियोंके साथ गयी हैं तो वे अवश्य वापस आयेंगे।

विष्णुप्रिया—कञ्चना ! सोचो तो, मैं कितनी पापिनी हूँ कि मेरे प्राणेश्वर अपने प्रिय शिष्य नित्यानन्दको, अपनी माँ और समस्त नवद्वीपवासियोंको अपने नये जीवनकी सूचना दें—बुलायें, किंतु मेरे लिये यह आशा हो कि केवल मैं उनके दर्शनके लिये भी न जा सकूँ और इतनेपर भी तुम कहती हो कि मैं न रोऊँ और जीवित रहूँ। आँसू ही मुझे जीवित रख रहे हैं। मन और हृदय अपनी दुःख-ज्वालाको आँसूके

रूपमें निकाल रहे हैं और विरहकी तपन उनके मुँसे दुःखमें डूब मरनेसे बचा रही है।

कञ्चना—स्वामीने सोचा होगा कि तुम जो उनके केशोंमें मुस्कुराते, सुन्दर रेशमी वस्त्रोंसे सज्जित, धारण किये हुए देखती थीं, नये रूपमें दण्ड-धारण कोपीनसे सज्जित न देख सको या देखकर दुखी हो। इसलिये उन्होंने तुम्हें न बुलाया हो। संन्यासियोंके होते हैं। उनका भी तो पालन उन्हें करना चाहिये।

विष्णुप्रिया—कञ्चना ! धन्य हो ! क्या तुम समझती हो कि मैं केवल पापिनी ही नहीं, कुटिल भी हूँ, जो पति सुवेशमें ही देख सकती हूँ, कुवेशमें नहीं ?

कञ्चना—राम ! राम !! मैंने तो यह नहीं कहा !

विष्णुप्रिया—क्यों ? यदि कोई पति अपनी रुग्णावस्थामें सेवा-हेतु इसलिये न आने दे कि वह अपने स्वस्थ-अवस्थामें रह चुकी है—रुग्णावस्थामें न रह सकेगी, स्त्रीको संसार क्या कहेगा ?

कञ्चना—मैं तो केवल इतना ही जानती हूँ कि तुम्हें जितना प्यार करते थे, उतना प्यार किसी पति पत्नीको नहीं दिया।

विष्णुप्रिया—( सकुचा जाती है ) प्यार करते यह हो सकता है; किंतु वही स्मृति तो अब दुःखको बढ़ाती है। अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि संसारको अभयदान देनेके लिये ही दण्ड धारण है, किंतु मुझे दुनियासे अलग करके निकाल बाहर है—कमण्डलु धारण किया है मेरे दुःखको सींचनेके जिससे जगत्को शान्ति और सुख मिले ! क्या जगत्के और अभाव मेरे कारण थे कि सब उनसे मिल सकते नहीं ? मुझे दूधमें पड़ी मक्खीकी तरह फँककर सबको लिया ! यह कैसा प्यार ! पूर्वका भाग्य वर्तमान और तीव्र बनाता है।

कञ्चना—सखी ! तुम्हारी बातें सुनकर मैं भी अकेली रह गई हूँ। जबतक श्वास, तबतक आस ! आज कई दिन गुज़रे गये। माँजी एवं पुरवासी निमाईजीके साथ वापस होंगे। उनके आते ही तुम्हारे समस्त दुःख दूर हो जायेंगे। ( नेपथ्यमें—'चैतन्य महाप्रभुकी जय !', 'शची माँकी जय !' ) श्वनि सुनायी पड़ती है। देखो ! मैंने कहा था न शीघ्र ही माँके साथ आते होंगे।



( शचीदेवी गम्भीर मुद्रामें प्रवेश करती हैं )  
शचीदेवी—( विष्णुप्रियाको प्रेमसे गले लगाकर ) निमाई—  
निमाई मिल गया ।

विष्णुप्रिया—( व्यग्रताके साथ ) आप क्या अकेली ही  
ली आयीं ?

शचीदेवी—( उदास ) नहीं बेटी, समस्त पुरवासी भी  
आये हैं । ( आँखोंमें आँसू छलक आते हैं । ) किंतु निमाई  
ही आया ।

कञ्चना—आप सभीको वचन देकर गयी थीं कि आप  
नहें अपने साथ लिवा लायेंगी ।

शचीदेवी—वचन अवश्य दिया था, किंतु वह अब निमाई  
ही रहा । न तो वे कुञ्चित केश, न वह हँसी और न  
वह रेशमी कुर्ता, कुपट्टा और घोती ही रही है । उनका  
मान ग्रहण कर लिया है केशरहित, गम्भीर, कौपीनधारी  
एक संन्यासीने । निमाई हो गया है अब चैतन्य, जिसे उस  
श्याम देखकर मैं अचेत हो गयी । मूर्च्छा टूटनेपर मैंने देखा  
उसका नया जन्म हो गया है, जिसमें वह सबका सब कुछ  
मिले हुए भी किसीका कोई नहीं है । वह ज्योतिर्मय हो गया  
है । उसे देखकर मैं भूल गयी कि वह मेरा पुत्र था । वचन  
बाद कर आग्रह किया तो अन्तमें गम्भीर मुद्रामें उसने कहा—  
माँ ! इस शरीरने तुझसे जन्म पाया है । जो कुछ भी मैं हूँ  
या होऊँगा, उस सबका आदि श्रेय केवल तुझे ही है, जिसका मैं  
सदैव ऋणी रहूँगा । जो तू कहेगी, वही करूँगा । आज्ञा दे ।  
मैं अवाम् रह गयी । भारतीय माँ होकर पुत्रको पथभ्रष्ट  
होनेके लिये कैसे कह सकती थी । मुँहसे यही निकल—  
‘पुत्र ! सन्मार्ग छोड़नेके लिये तुम्हें मैं नहीं कह सकती ।  
नया बाना तेरी इच्छा पूर्ण करे ।’ पुत्री ! सब दोष मेरा है ।  
मुझे जितना उलाहना दो, थोड़ा है ।

विष्णुप्रिया—( कुछ सोचते हुए, धीरेसे ) भारतीय माँ  
अपदि पुत्रको पथभ्रष्ट नहीं देख सकती तो पत्नी होकर मैं  
कैसे विपरीत आचरणके लिये कहूँ ? किंतु.....पतिके बिना  
कैसे प्राण रखूँ ?

( अचेत होकर गिर पड़ती है )

चतुर्थ दृश्य

( विष्णुप्रिया कृशित देह, सफेद वस्त्र पहिने बैठी  
है । माथेपर सिंदूर लगा है । सामने चैतन्यका चित्र

चृत्यकी मुद्रामें लगी है पार्श्वमें श्रीकृष्ण एवं  
राधाकी मूर्ति है । )

विष्णुप्रिया—( स्वगत ) कितने वर्ष बीत गये । सब लोग  
जाते हैं, दर्शन कर आते हैं । मुझे जानेकी आज्ञा नहीं ।  
दुनिया उनकी है, किंतु मैं नहीं । जैसे मैं दुनियाके बाहर  
हूँ—मैं, जो उनके सबसे समीप थी, अब उनसे दूर—बहुत  
दूर हूँ । उनकी सर्वस्व होते हुए भी उनकी अब कोई नहीं ।  
दिनके पश्चात् सप्ताह, मास, वर्ष बीतते चले जा रहे हैं ।  
उनका यश दिन-दूना, रात-चौगुना बढ़ता जा रहा है ।  
पूर्वकी सुखद स्मृतियाँ वर्तमानके दुःखको गाढ़ा करती हैं ।  
ग्रीष्मके दिनोंमें उनको देखकर तपन बुझती थी, सुन्दर  
माथेपर श्रमबिन्दु देखकर शीतलता होती थी । अब शरद्  
ऋतुकी शीतलतामें वियोगकी तपन झलसाती-सी प्रतीत होती  
है । वर्षाकालमें जब बादल गरजते थे, बिजली चमकती थी—मैं  
बबराकर उन्हें पकड़ लेती थी और धैर्य देनेके लिये वे मुझे  
गले लगा लेते । अब बादल गरजते हैं, बिजली चमकती है;  
किंतु वह ध्वनि और प्रकाश जैसे मेरे अभाग्यकी घोषणा एवं  
अन्धकारमें मेरी दुर्दशाको दुनियाके समक्ष उजागर कर देना  
चाहते हैं । शरद्, हेमन्त और शिशिर तब और अबके ।  
उस समय उनको समीप पाकर हम दोनों एक हो जाते थे,  
अब विरहमें एक-दूसरेसे कितने दूर ! बसन्त ! ‘बसन्त’ नाम  
लेते समय एक टीस उठती है । ( कञ्चना धीरेसे दबे पाँव  
सुन्दर आभूषणोंमें भरा एक थाल लिये आती है और निस्तब्ध  
होकर विष्णुप्रियाका कथन सुनने लगती है । ) जब पशु-पक्षी,  
वृक्ष-प्लताएँ आह्लादित होते हैं—सब वृक्ष फूलोंसे लद जाते  
हैं, उस समय मेरे मन—हृदय-कमलपर तुषार पड़ता है—वह  
सुरक्षा जाता है । हे ईश ! क्या तुमने मुझे सुख  
दिया था—केवल दुःख बढ़ानेके लिये ? प्राण दिसा  
था—जीवित मृत्यु दिखलानेके लिये ? मेरे दुःखके बोझको  
और भी असहनीय बनानेके लिये ? माँको छोड़ गये हैं,  
जो ग्रीष्म-शरद्-वर्षाकालमें दरवाजा खोलकर बैठती हैं—  
अपने पुत्रकी प्रतीक्षामें कि उन्हें कष्ट न हो । उनके मनका  
भोजन बनाकर प्रतीक्षामें बैठती हैं । जब मैं उनसे भोजनके  
लिये आग्रह करती हूँ तो वे कहती हैं कि ‘उन्होंने अभी खाया  
नहीं, मैं कैसे खा लूँ ?’ वर्ष-पर-वर्ष बीतते जा रहे हैं; किंतु उन्हें  
विश्वास नहीं होता कि उनका पुत्र यह त्यागकर चला गया  
है । क्या उनके वियोगका दारुण दुःख मुझे मारनेके लिये  
पर्याप्त नहीं था कि वे माँका भी दुःख देखनेके लिये मुझे छोड़



कभी भी नहीं। स्त्री और माता—सबको छोड़ना होगा। अपना सब कुछ छोड़कर सबको सब कुछ देना होगा। बुढ़ने सब कुछ छोड़ा था, लोगोंको त्याग और तपस्या सिखानेके लिये, जन्म, मरण, जरासे बचानेके लिये। हमें सबको प्रेमका पाठ पढ़ाना है—जन्म, मरण, जराके बीच। सब मनुष्योंको एक ईश्वरकी संतान होनेके नाते उसके प्रेममें पागना है। व्यष्टि-समष्टिको प्रेम एवं ईश्वरके नाम-कीर्तन और स्मरणके आधारपर एक करना है। (विष्णुप्रियाका चुम्बन लेनेको झुकते हैं। फिर सजग होकर) सांसारिक सुखोंसे होनेवाली तृप्तिमें अतृप्ति भरी रहती है; इन्हें छोड़ना पड़ेगा। सब छोड़ना पड़ेगा। (कक्षमें जलते हुए दीपकको देखकर) मुझे तो इस दीपककी भाँति जलते हुए सबको प्रकाश देना है। (प्रस्थान करते हैं। कुछ समय पश्चात् विष्णुप्रिया उठती है। निमाईको न पाकर 'माँ! माँ!' चिल्लाती है और रोना प्रारम्भ करती है।)

विष्णुप्रिया—( माँको देखकर ) माँ ! सबको छोड़कर चले गये।

शचीदेवी—निमाई ! निमाई !! ( संज्ञाहीन होकर गिर पड़ती है—विष्णुप्रिया भी संज्ञाहीन हो जाती है—लोग दौड़कर आते हैं और हवा करने लगते हैं। )

### तीसरा दृश्य

( विष्णुप्रिया पूजागृहमें बैठी-बैठी आँसू बहा रही है। सामने राधाकृष्णकी मूर्ति विराजमान है। संध्याका समय है, सूर्यदेव अस्त हो रहे हैं। उसी समय विष्णुप्रियाकी सखी कञ्चना आती है। )

कञ्चना—विष्णुप्रिया ! संध्या हो रही है। तुम अकेली रो रही हो; धीरज धरो। जब माँ शान्तिपुरसे निमाईजीको बुलानेके लिये अन्य सब नवद्वीपवासियोंके साथ गयी हैं तो वे अवश्य वापस आयेंगे।

विष्णुप्रिया—कञ्चना ! सोचो तो, मैं कितनी पापिनी हूँ कि मेरे प्राणेश्वर अपने प्रिय शिष्य नित्यानन्दको, अपनी माँ और समस्त नवद्वीपवासियोंको अपने नये जीवनकी सूचना दें—बुलायें, किंतु मेरे लिये यह आशा हो कि केवल मैं उनके दर्शनके लिये भी न जा सकूँ और इतनेपर भी तुम कहती हो कि मैं न रोऊँ और जीवित रहूँ। आँसू ही मुझे जीवित रख रहे हैं। मन और हृदय अपनी दुःख-ज्वालाको आँसूके

रूपमें निकाल रहे हैं और विरहकी तपन उनको मुझे दुःखमें डूब मरनेसे बचा रही है।

कञ्चना—स्वामीने सोचा होगा कि तुम जो उन केशोंमें सुस्क्रुताते, सुन्दर रेशमी वस्त्रोंसे सज्जित, धारण किये हुए देखती थीं, नये रूपमें दण्ड-कमण्डल कोपीनसे सज्जित न देख सको या देखकर दुखी हो। इसलिये उन्होंने तुम्हें न बुलाया हो। संन्यासियोंके होते हैं। उनका भी तो पालन उन्हें करना चाहिये।

विष्णुप्रिया—कञ्चना ! धन्य हो ! क्या तुम समझती कि मैं केवल पापिनी ही नहीं, कुटिल भी हूँ, जो पति सुवेशमें ही देख सकती हूँ, कुवेशमें नहीं ?

कञ्चना—राम ! राम !! मैंने तो यह नहीं कहा !

विष्णुप्रिया—क्यों ? यदि कोई पति अपनी कृणावस्थामें सेवा-हेतु इसलिये न आने दे कि वह उसे स्वस्थ-अवस्थामें रह चुकी है—कृणावस्थामें न रह सकेगी, स्त्रीको संसार क्या कहेगा ?

कञ्चना—मैं तो केवल इतना ही जानती हूँ कि तुम्हें जितना प्यार करते थे, उतना प्यार किसी पति पत्नीको नहीं दिया।

विष्णुप्रिया—( सकुचा जाती है ) प्यार करते यह हो सकता है; किंतु वही स्मृति तो अब दुःख बढ़ाती है। अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि संसारको अभयदान देनेके लिये ही दण्ड धारण है, किंतु मुझे दुनियासे अलग करके निकाल बाहर है—कमण्डलु धारण किया है मेरे दुःखको सींचनेके जिससे जगत्को शान्ति और सुख मिले ! क्या जानते और अभाव मेरे कारण थे कि सब उनसे मिल सकते नहीं ? मुझे दूधमें पड़ी मक्खीकी तरह फँककर सबको लिया ! यह कैसा प्यार ! पूर्वका भाग्य वर्तमान और और तीव्र बनाता है।

कञ्चना—सखी ! तुम्हारी बातें सुनकर मैं भी रो रही हूँ। जबतक श्वास, तबतक आस ! आज कई दिन गये। माँजी एवं पुरवासी निमाईजीके साथ वापस होंगे। उनके आते ही तुम्हारे समस्त दुःख दूर हो जायेंगे ( नेपथ्यमें—'चैतन्य महाप्रभुकी जय !', 'शची माँकी कृपा' ) श्वनि सुनायी पड़ती है। ) देखो ! मैंने कहा था न शीघ्र ही माँके साथ आते होंगे।



( शचीदेवी गम्भीर मुद्रामें प्रवेश करती हैं )

शचीदेवी—( विष्णुप्रियाको प्रेमसे गले लगाकर ) निमाई—

मेरा निमाई मिल गया ।

विष्णुप्रिया—( व्यग्रताके साथ ) आप क्या अकेली ही चली आयीं ?

शचीदेवी—( उदास ) नहीं बेटो, समस्त पुरवासी भी लौट आये हैं। ( आँखोंमें आँसू छलक आते हैं । ) किंतु निमाई नहीं आया ।

कञ्चना—आप सभीको वचन देकर गयी थीं कि आप उन्हें अपने साथ लिवा लायेंगी ।

शचीदेवी—वचन अवश्य दिया था, किंतु वह अब निमाई नहीं रहा । न तो वे कुञ्चित केश, न वह हँसी और न वह रेशमी कुर्ता, दुपट्टा और घोती ही रही है । उनका ध्यान ग्रहण कर लिया है केशरहित, गम्भीर, कौपीनधारी एक संन्यासीने । निमाई हो गया है अब चैतन्य, जिसे उस दशामें देखकर मैं अचेत हो गयी । मूर्च्छा टूटनेपर मैंने देखा कि उसका नया जन्म हो गया है, जिसमें वह सबका सब कुछ होते हुए भी किसीका कोई नहीं है । वह ज्योतिर्मय हो गया है । उसे देखकर मैं भूल गयी कि वह मेरा पुत्र था । वचन याद कर आग्रह किया तो अन्तमें गम्भीरमुद्रामें उसने कहा— 'माँ ! इस शरीरने तुझसे जन्म पाया है । जो कुछ भी मैं हूँ या होऊँगा, उस सबका आदि श्रेय केवल तुझे ही है, जिसका मैं सदैव ऋणी रहूँगा । जो तू कहेगी, वही करूँगा । आज्ञा दे । ' मैं अवाक् रह गयी । भारतीय माँ होकर पुत्रको पथभ्रष्ट होनेके लिये कैसे कह सकती थी ! मुँहसे यही निकल— 'पुत्र ! सम्मार्ग छोड़नेके लिये तुम्हें मैं नहीं कह सकती । नया बाना तेरी इच्छा पूर्ण करे । ' पुत्री ! सब दोष मेरा है । मुझे जितना उलाहना दो, थोड़ा है ।

विष्णुप्रिया—( कुछ सोचते हुए, धीरेसे ) भारतीय माँ यदि पुत्रको पथभ्रष्ट नहीं देख सकती तो पत्नी होकर मैं कैसे विपरीत आचरणके लिये कहूँ ? किंतु.....पतिके बिना कैसे प्राण रखूँ ?

( अचेत होकर गिर पड़ती है )

चतुर्थ दृश्य

( विष्णुप्रिया कृशित देह, सफेद वस्त्र पहिने बैठी है । माथेपर सिंदूर लगा है । सामने चैतन्यका चित्र

मृत्युकी मुद्रामें लगी है पार्श्वमें श्रीकृष्ण एवं राधाकी मूर्ति है । )

विष्णुप्रिया—( स्वगत ) कितने वर्ष बीत गये । सब लोग जाते हैं, दर्शन कर आते हैं । मुझे जानेकी आज्ञा नहीं । दुनिया उनकी है, किंतु मैं नहीं । जैसे मैं दुनियाके बाहर हूँ—मैं, जो उनके सबसे समीप थी, अब उनसे दूर—बहुत दूर हूँ । उनकी सर्वस्वहोते हुए भी उनकी अब कोई नहीं । दिनके पश्चात् सप्ताह, मास, वर्ष बीतते चले जा रहे हैं । उनका यश दिन-दूना, रात-चौगुना बढ़ता जा रहा है । पूर्वकी सुखद स्मृतियाँ वर्तमानके दुःखको गाढ़ा करती हैं । शीघ्रके दिनोंमें उनको देखकर तपन बुझती थी, सुन्दर माथेपर श्रमबिन्दु देखकर शीतलता होती थी । अब शरद् ऋतुकी शीतलतामें वियोगकी तपन झूलसाती-सी प्रतीत होती है । वर्षाकालमें जब बादल गरजते थे, बिजली चमकती थी—मैं धबकाकर उन्हें पकड़ लेती थी और धैर्य देनेके लिये वे मुझे गले लगा लेते । अब बादल गरजते हैं, बिजली चमकती है; किंतु वह ध्वनि और प्रकाश जैसे मेरे अभाग्यकी घोषणा एवं अन्धकारमें मेरी दुर्दशाको दुनियाके समक्ष उजागर कर देना चाहते हैं । शरद्, हेमन्त और शिशिर तब और अबके । उस समय उनको समीप पाकर हम दोनों एक हो जाते थे, अब विरहमें एक-दूसरेसे कितने दूर ! बसन्त ! 'बसन्त' नाम लेते समय एक टीस उठती है । ( कञ्चना धीरेसे दबे पाँव सुन्दर आभूषणोंसे भरा एक थाल लिये आती है और निस्तब्ध होकर विष्णुप्रियाका कथन सुनने लगती है । ) जब पशु-पक्षी, वृक्ष-वृक्षाएँ आह्लादित होते हैं—सब वृक्ष फूलोंसे लद जाते हैं, उस समय मेरे मन—हृदय-कमलपर तुफान पड़ता है—वह मुरझा जाता है । हे ईश ! क्या तुमने मुझे सुख दिया था—केवल दुःख बढ़ानेके लिये ? प्राण दिया था—जीवित मृत्यु दिखलानेके लिये ? मेरे दुःखके बोझको और भी असहनीय बनानेके लिये ? माँको छोड़ गये हैं, जो ग्रीष्म-शरद्-वर्षाकालमें दरवाजा खोलकर बैठती हैं—अपने पुत्रकी प्रतीक्षामें कि उन्हें कष्ट न हो । उनके मनका भोजन बनाकर प्रतीक्षामें बैठती हैं । जब मैं उनसे भोजनके लिये आग्रह करती हूँ तो वे कहती हैं कि 'उन्होंने अभी खाया नहीं, मैं कैसे खा दूँ ? ' वर्ष-पर-वर्ष बीतते जा रहे हैं; किंतु उन्हें विश्वास नहीं होता कि उनका पुत्र यह त्यागकर चला गया है । क्या उनके वियोगका दारुण दुःख मुझे मारनेके लिये पर्याप्त नहीं था कि वे माँका भी दुःख देखनेके लिये मुझे छोड़



गये हैं, जिससे अपना असहनीय दुःख दबाकर वेदनामयी माँ-को सँभादूँ ! ( आवेशमें, कुछ अस्फुट शब्दोंमें ) देखती हूँ, तुम मुझे कैसे छोड़ते हो ? मुझे निर्वल समझ गृह-मन्दिर त्यागकर भाग गये ( आँखें मूँदती हुई ); किंतु देखूँ, तुम मेरे मन और हृदय-मन्दिरको छोड़कर कैसे भाग सकते हो ! ( कञ्चनाके सिसकनेकी ध्वनि सुनकर ) सखी ! तुम यहाँ कैसे ! रोती क्यों हो ?

कञ्चना—मैं बड़ी देरसे यहाँ खड़ी देख रही थी। मैं तुम्हारा सुख-स्वप्न भङ्ग करना नहीं चाहती थी, किंतु तुम्हारे मुखरूपी प्रभातके शरद्-चन्द्रकी क्षीणता न देख सकी। बहुत प्रयत्न करनेपर भी आँसू न रोक सकी और न सिसकना।

विष्णुप्रिया—सुख-स्वप्न न कहो। वे केवल निद्रित अवस्थामें ही आ सकते हैं। किंतु ईश्वरसे वह भी नहीं देखा जाता, वे नींद भी नहीं आने देते। यहाँ तो दिन-रात दुःखमय वियोगकी विरह-ज्वालामें सुलगती रहती हूँ। इस थालमें क्या है ?

कञ्चना—क्षमा करना। प्रभुको जो वस्त्र-आभूषण राजा प्रतापरुद्रने भेंट किये थे, उन्हें प्रभुने यहाँ दामोदरपण्डित द्वारा भिजवाया है। वे बाहर खड़े हैं।

विष्णुप्रिया—( कौतूहलपूर्वक ) देखें, क्या है ? ..... कञ्चना । ( थाल नीचे रख एक-एक करके आभूषण तथा और सामान देखती हैं। उद्भिन्नतासे ) यह तो प्रभु स्वयं आ गये हैं—स्वयं विरक्त होकर मुझे रागी बनाने-हेतु । ( घड़ेसे पानी निकालकर मुँह धोती है, कंधी करती है, आभूषण धारण करती है। सुहाग-त्रिदी लगाती है, फिर उत्सुक होकर निमाईके चित्रके समक्ष नाचने-गाने लगती है । )

प्रियतम-रूप	हुमानी	अँखियाँ ।
जाग्रत	ही	जुनु सन्मुख देखें,
सोवत	सपन	सजा गई रतियाँ ॥ प्रियतम० ॥
गौर	बरन	ज्यों कंचन राजै,
माथे	चंदन-वंदन	साजै,
आँख	रुजारे	कमलकी कलियाँ ॥ प्रियतम० ॥
त्याग	दई	जुनु दूधमे माखी,
किंचितहूँ	नहिं	करुना राखी,
मन	बृंदावन-कृष्णमय	गलियाँ ॥ प्रियतम० ॥

कञ्चना—क्या रूप ! क्या मधुर कल-कण्ठ है ! कहीं यह कोयलकी वाणी तो नहीं ? नाच ! मयूरनीका नाच । दामोदर-पण्डित प्रभुके पाससे आये हैं; क्या उनसे कुछ पूछना चाहोगी ?

विष्णुप्रिया—जब प्रभुने मुझे त्याग दिया, तब फिर मैं कौन हूँ ? ( कुछ सोचकर ) नहीं, नहीं ! उन्होंने मुझे छोड़ा है, मैंने नहीं। अवश्य बुलाओ, शीघ्र बुलाओ। उनको देखकर कुछ सान्त्वना मिलेगी। ( कञ्चनाकी ओर देखकर ) सम्भव है, मैं न बोल सकूँ तो हमारी ओरसे सब पूछ कर लेना। किंतु ठहर ! इन वस्त्रोंमें तो उन्माद था। प्रतीत होता था कि प्रभु इन वस्त्रोंके रूपमें स्वयं आये अब वे छोड़कर—त्यागकर पुनः चले गये। मैं अपने पूछ आती हूँ। ( शयन-कक्षमें जाकर, भूषण उतारकर, सफेद धोती पहिने वापस आती है । )

कञ्चना—( हँसकर ) जब वे यहाँ थे, तब तो यह मैं नहीं दिया। अब, जब संन्यासी हो गये, तब सब अधिकार रही हो !

विष्णुप्रिया—( लजाकर ) अब तो वे संन्यासी होकर हो गये। बिना अधिकारके भी पूछ सकती हो।

( कञ्चना 'दामोदर चाचा, दामोदर चाचा' पुकारती है। दामोदर-पण्डित गम्भीर मुद्रामें सिर झुका कर आते हैं । )

दामोदर—( विष्णुप्रियाको ) माँ ! प्रणाम ।

( विष्णुप्रिया सिर झुका लेती है और उस आँखोंसे अविरल अश्रुपात होने लगता है। बोली प्रयत्न करती हैं, किंतु बोल नहीं पातीं । )

कञ्चना—चाचाजी ! बतलाइये, जिस दिन प्रभुने सबको छोड़ा, उस दिनसे वे कैसे और कहाँ रहते हैं ? सन्तान होनेके एक सप्ताह पश्चात् प्रभुकी सूचनापर माँ और पुत्र प्रभुके पास गये थे, उसके बाद उनका कोई सम्पर्क नहीं मिला ।

दामोदर—( थोड़ेमें ) केशव भारतीके आश्रममें सन्तान लेनेके पश्चात् वे निमाईसे बदलकर 'चैतन्य' और 'गौराङ्ग' महाप्रभु नामसे विख्यात हो गये हैं। उन्होंने सिर मुँड़ा लिया है। भगवत् धारण कर लिया है। कोपीन, मिट्टीका करपात्र और दण्ड कम्बल ही उनकी सम्पत्ति है। दिनमें एक बार जो कुछ भोजन खाता है, पा लेते हैं। दिन-रात भगवन्नाम लेते हुए आँसू बहाते रहते हैं। ( विष्णुप्रिया, जो अबतक सिसकती रही थी, अब रोना प्रारम्भ कर देती है । )

कञ्चना—बहिन ! रोना तो अब हमें जीवनभर है ।



समय तो चाचाजीसे उनके बारेमें जाननेका अवसर मिला है, अतः उसका कुछ उपयोग कर लो ।

( विष्णुप्रिया कुछ शान्त होती है )

दामोदर—( विष्णुप्रियाकी ओर संकेत करते हुए ) ऐसी ही शक्तिके आधारपर तो निमाई गौराङ्ग महाप्रभु हो गये । सूर्यकी भाँति उनका यश चतुर्दिक् फैल रहा है । समस्त भारतका वे भ्रमण कर चुके हैं । चोर-डाकू, ब्राह्मण-शूद्र, मुसल्मान—सब एक हो रहे हैं । बीजको उगने और फलनेके लिये नष्ट होना पड़ता है; किंतु उसके लिये भी पृथ्वी और पानीकी आवश्यकता पड़ती है, हृत्स्थानीया आप हैं । शिवके लिये जैसे गौरी, रामके लिये सीता और विष्णुके लिये लक्ष्मी हैं, वैसे ही महाप्रभुके लिये आप हैं ।

विष्णुप्रिया—( कुछ उत्तेजनासे ) पुरुषोंको बातें बनाना खूब आता है । क्या राम, शिव, विष्णुने किसीको त्यागा था ? सबको साथ रखा था । किंतु यहाँ तो मुझे सबके साथ दर्शनार्थ जाना भी मना है । पतितोंका उद्धार करते हैं, सबको भक्ति एवं प्रेममें एक करते हैं । क्या मेरे लिये केवल इसलिये कि मैं उनकी सब कुछ थी, दूसरा नियम बना लिया है ? क्या मेरी बलि देकर ही संसारको सुख और शान्ति दी जा सकती है ?

दामोदर—साँजी ! क्षमा करें । वर्तमान कलिकालके घोर अन्धकारमें प्रकाश और प्रगति केवल त्याग और तपस्यासे ही हो सकती है, जिसके आप दोनों दाहिने और बायें हाथ-पैर हैं, रथके दो पहिये हैं । महान् लोगोंके चरित्रपर लोग क्या टिप्पणी कर सकते हैं ? भगवान् श्रीकृष्णने राधाको वृन्दावनसे मथुरा पहुँचनेके बाद याद नहीं किया ? किंतु तब भी राधा कृष्णमयी बनी रहीं एवं कृष्ण राधामय बने रहे ।

कञ्चना—ठीक कहते हैं । यदि राधा कृष्णमयी थीं तो हमारी सखी निमाईमय अवश्य हो गयी है । केवल उन्हींका ध्यान और पूजा करती रहती है । किंतु क्या राधाको विरहकी ज्वालासे बचानेके उद्देश्यसे ज्ञानयोग सिखानेके लिये कृष्णने उद्धवको राधाकी याद करके नहीं भेजा था ?

दामोदर—अच्छी याद दिलायी । मैं तो यहाँका विषादमय वातावरण देखकर सुखद संदेश सुनाना भूल ही गया था—प्रभु स्वयं जगन्नाथधामसे वृन्दावन जाते समय यहाँ शीघ्र ही आनेवाले हैं ।

[ नेपथ्यसे ] ( 'गौराङ्ग महाप्रभुकी जय', 'चैतन्य महाप्रभुकी जय' का घोष; 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण हरे हरे' एवं 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे' का मधुर कीर्तन )

कञ्चना—चलो, चलो; दर्शन कर लें ।

दामोदर—प्रभु आ रहे हैं । घोष सरोवरके समीप सुनायी पड़ रहा है । चलो, दर्शन कर मन शान्त करें ।

विष्णुप्रिया—( कुछ सोचकर ) ठीक कहते हैं । हाँ, चलो, चलें । बुद्ध आये थे, तब यशोधरा राहुलको देकर ऋणमुक्त हो गयी थी; किंतु मेरे पास देनेके लिये है ही क्या ! चलो, चलें ।

( तीनों प्रस्थान करते हैं । मार्गमें 'श्रीकृष्ण, राधाकृष्ण' गाते हुए, कोपीन धारण किये, कमण्डलु लिये, खड़ाऊँ पहिने चैतन्य महाप्रभु दिखलायी पड़ते हैं । पीछे-पीछे अपार जनसमूह 'चैतन्य महाप्रभुकी जय', 'गौराङ्ग महाप्रभुकी जय' कहता हुआ आ रहा है । विष्णुप्रिया उन्मादिनीकी भाँति दौड़कर चैतन्यके पैरोंपर गिर पड़ती हैं । चैतन्य स्तब्ध-से रुक जाते हैं । )

चैतन्य—तुम कौन ?

विष्णुप्रिया—( आवेशमें उठकर हाथ जोड़कर बैठ जाती है ) हे नाथ, मैं कौन ? संसारके उद्धारका बीड़ा उठाकर, मुझ अभागिनको, जिसे केवल आपका सहारा था, भूल गये !

चैतन्य—( अन्यमनस्क होकर—धीमे स्वरमें ) हाँ, हाँ, पहचान गया । विष्णुप्रिया ? तुम तो विष्णुप्रिया हो । तुम्हें किस वस्तुकी आवश्यकता हो सकती है । जिनकी तुम प्रिया हो, उन्हींका प्रिय बननेके लिये तो मैं प्रयत्न कर रहा हूँ ।

विष्णुप्रिया—नाथ ! मैं कुछ नहीं जानती । केवल अपने प्राणको जानती हूँ । आपके लिये जीती हूँ, आपके लिये मरूँगी । ध्यानमें भी आप ही दिखलायी देते हैं । मुझ अबलाको कुछ तो अवलम्ब दीजिये, जिसका आधार पाकर मैं जी सकूँ ।

चैतन्य—संन्यासीके पास देनेके लिये है ही क्या । ( खड़ाऊँ उतार देते हैं )—वनवासी राम भी भरतको यही



दे सके थे । ( विष्णुप्रिया प्रणाम करके खड़ाऊँ उठाकर  
माथेसे लगा लेती हैं । )

विष्णुप्रिया—भरतजीको तो केवल १४ वर्षका सहारा  
चाहिये था; किंतु मुझे तो जीवनभरका अवलम्ब चाहिये ।

( जनसमूह देवी 'विष्णुप्रिया'की जय'का घोष करता

है । चैतन्य जंगे पर 'राधा-कृष्ण' कीर्तन करते

बढ़ जाते हैं । विष्णुप्रिया अश्रु बहाती, स्तब्ध,

देखती रह जाती हैं । धीरे-धीरे जयघोषका स्वर

होता जाता है ।

## जीवन—एक दृष्टि

[ रचयिता—श्रीभगवानशरणजी भारद्वाज 'प्रदीप' एम० ए० ( संस्कृत-हिंदी ) ]

( १ )

नहीं यह भोग या भवरोगका आगार है जीवन ।

नहीं साधुत्वका पाखण्डमय आचार है जीवन ॥

न जीवन सेज सुमनोंकी सरस मकरन्दमय मादक,  
प्रखर असिधार है, बलिदानका व्यापार है जीवन ॥

( २ )

घृणा, ईर्ष्या, कलहका तो नहीं भण्डार है जीवन ।

नहीं विद्वेष, छल, मात्सर्यका आगार है जीवन ॥

न जीवन कामनाओंका मंदिर आख्यान है, साथी !  
परम करुणेश जगदाधारका उपहार है जीवन ॥

( ३ )

तपस्या, त्याग, संयमकी धधकती आग है जीवन ।

सुहृदता, प्रेम, मुदिताका मधुरतम फाग है जीवन ॥

निरर्थक है न यह, इसमें भरे हैं दिव्य गुण सारे,  
दनुजतापर मनुजताकी विजयका राग है जीवन ॥

( ४ )

प्रबल अज्ञान-तममें पुण्य पावक-गान है जीवन ।

प्रलय-पलमें सृजनकी बाँसुरीकी तान है जीवन ॥

मनुज दुर्दैव-चक्रव्यूहमें फँस हार क्यों माने ?  
सफलता, सिद्धि औ' सामर्थ्यका आह्वान है जीवन ॥

( ५ )

जगज्जननी उमाकी मोहनी मुस्कान है जीवन ।

महेश्वरका महामङ्गल-भरा वरदान है जीवन ॥

सनातन ज्ञानकी गङ्गा, चिरंतन कर्मकी गीता,

जगत्पतिसे प्रणय-संधानका सोपान है जीवन ॥



## परमार्थ-पत्रावली

( ब्रह्मलीन परम भजेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र )

( १ )

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । प्रभु तो मनुष्यमात्रको ही नहीं, जीवमात्रको अपना मानते हैं; उन्होंने अपनी ओरसे कभी, किसीसे सम्बन्ध तोड़ा नहीं है । इस प्राणीने स्वयं ही अपने उन नित्यसम्बन्धीसे विमुख होकर इस संसारसे सम्बन्ध जोड़ लिया है । अतः वह प्रभुके सम्मुख होकर, उनपर दृढ़ विश्वास करके, जब चाहे उनका हो सकता है । इसमें कोई कठिनाई नहीं है ।

मोह-पाश अपना ही बनाया हुआ है, कहीं बाहरसे नहीं आया है । अतः वास्तवमें उसको तोड़ना कठिन नहीं है । साधकको कभी निराश नहीं होना चाहिये । प्रभुकी महती कृपासे जो विवेक हमें प्राप्त है, उससे अपना जीवन सर्वथा पवित्र बना लेना चाहिये ।

प्रबल इच्छा होनेपर भी यदि सत्सङ्गके लिये वहाँ आनेका संयोग न हो तो उसमें भी प्रभुकी कृपाका अनुभव करते हुए, वहाँ पुस्तकद्वारा सत्सङ्ग करके, प्रभुमें मन लगाना चाहिये । प्रभुमें प्रेम हो जाना ही असली 'सत्सङ्ग' है ।

आपकी यदि सर्वापरि चाह यह है कि संसारकी किसी भी परिस्थितिमें क्लेशका अनुभव न हो तो हरेक परिस्थितिको साधन-सामग्री मानकर उसका सदुपयोग करते रहिये । वह भी किसी सुख-भोगके लिये या दुःखके भयसे नहीं, एकमात्र प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही हो ।

सदा-सर्वदा यह भाव बनाये रखना कि मैं प्रभुका हूँ तथा मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और यह शरीर तथा समस्त प्राणि-पदार्थ आदि जो कुछ भी प्राप्त है,

सब प्रभुका ही है, इसमें मेरा कुछ नहीं है; मेरे तो एकमात्र प्रभु हैं—बहुत ही उत्तम है । इन भावोंको सुरक्षित रखते हुए जो कुछ करें, भगवान्की प्रसन्नताके लिये ही करें । ऐसा करनेसे शीघ्र ही प्रभुका प्रेम प्राप्त हो सकता है ।

व्यवहारकालमें अड़चन तभीतक आती है, जबतक साधकका यह विश्वास दृढ़ नहीं होता कि 'मैं प्रभुका हूँ, एक प्रभुके अतिरिक्त और कोई भी मेरा नहीं है' । यह भाव दृढ़ हो जानेपर जब साधक किसीसे भी किसी भी प्रकारके सुखकी आशा नहीं रखता, सर्वथा सबसे निराश हो जाता है, तब वह जिन-जिन भगवत्सम्बन्धी भावोंको चाहता है, वे बिना किसी कठिनाईके अपने-आप प्रभु-कृपासे उसमें आ जाते हैं ।

किसी प्रकारके सुख-भोगमें रमण न करना ही साधनमें प्रगतिका सरल उपाय है । शान्तिजनित सुख सात्त्विक है, किंतु वह भी रुकावट डालनेवाला है ( गीता १४ । ६ देखें ) । अतः साधकको शान्तिके सुखमें भी रमण नहीं करना चाहिये । सुखका उपभोग करना, उसका न रहना और पुनः उसकी लालसा होना—यह साधनमें उन्नति करनेवाला नहीं है । जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसमें न तो रमण करे और न उससे नीचे उतरे, किंतु आगेके रसकी लालसा बढ़ती रहे—इसीका नाम उन्नति है ।

( २ )

सादर हरिस्मरण । पत्र आपका मिला । भगवान्का अनन्य प्रेम उन करुणा-वरुणालयकी अहैतुकी कृपाका ही फल हो सकता है, यह निःसंदेह सत्य है । आपका यह अनुभव सराहनीय है ।



श्रीधनश्यामका स्वभाव ही रीझना है। ये तो प्रेमके भूखे हैं; जहाँ भी कुछ सम्भावना होती है, वहाँ रीझ जाते हैं।

शुद्ध प्रेम अवश्य ही एक दिव्य अलौकिक शक्ति है। प्रभुकी अहैतुकी कृपा सभी प्राणियोंपर है, उसकी वर्षा निरन्तर हो रही है। जो उसपर विश्वास करके उसके आश्रित हो जाते हैं, वे सब प्रकारसे निहाल हो जाते हैं—इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

प्रभु शरण देनेके लिये अपना हाथ पसारे रहते हैं; पर कोई उनके सहारेकी आवश्यकता ही न माने, अपने ही बलके अभिमानमें डूबा रहे, तो प्रभु क्या करें ?

वास्तवमें परमात्मा अलभ्य नहीं है, उसको प्राप्त करनेकी इच्छाकी जागृति ही अलभ्य हो रही है। उसे प्राप्त करनेकी आवश्यकता यदि अन्य सब प्रकारकी इच्छाओंको नष्ट कर दे तो परमात्मरूप अलभ्य वस्तु तो मिली हुई ही है; क्योंकि वह अलभ्य वस्तु सर्वत्र है, सदा है। उससे साधककी किसी प्रकारकी भी दूरी नहीं है।

वे दयालु भगवान् वास्तवमें कठोर हो नहीं सकते। उन्होंने कठोरता सीखी ही नहीं है। फिर भी भावकको जो कठोरता-सी प्रतीत होती है, उसे भी वे दूरी नहीं समझते, क्योंकि यह भी मिलनकी लालसाको बझानेवाली ही है। साधकके जीवनमें निराशाको स्थान नहीं मिलना चाहिये तथा किसी प्रकारके रसका उपभोग नहीं होना चाहिये। पूर्णरसाखादनकी लालसा नित्य नयी बढ़ती रहनी चाहिये। यह लालसा ही उसका अस्तित्व हो जाय। यही जीवन है, ऐसा अनुभव होने लगे।

प्रेमकी बातें सुननेका अवकाश तो प्रेमीको ही होता है, जो प्रेमका तत्त्वज्ञ है। दूसरा कोई न मिले

तो वह प्रेमियोंका सरदार परमात्मा तो सुननेके लालायित है ही, उसे ही सुनाते रहना चाहिये।

प्रभु अकिंचन-प्रेमी, पतित-पावन और भक्त हैं—इस दृढ़ विश्वासके साथ अपनेको उनके सौं कर देना, उन्हींपर सर्वतोभावेन निर्भर हो उनकी इच्छा पूर्ण होनेमें ही सुखका अनुभव करना यही अन्तिम और परम पुरुषार्थ है।

जीवका नित्यसखा प्रभु सदैव जीवका साथ हुआ है। इस जीवने उसकी ओरसे मुँह फेर रखा। बस, इधरसे उधर मुँह फेरना है; फिर विलम्ब नहीं

( ३ )

सादर हरिस्मरण। आपका काँट मिला। इस प्रकार है—

आसरा तो परम सुहृद् प्रभुका ही चाहिये; मैं तो एक साधारण मनुष्य हूँ, मुझमें किन्हीं आश्रय देनेकी सामर्थ्य नहीं है।

आप यदि समझते हैं कि आपमें कामकी सब अवगुण भरे हुए हैं और यह भी समझते हैं कि इनको रखना नहीं है, इनमें सुख और शान्ति नहीं है तो फिर अपने विवेकका अनादर करके इनमें फँस रहे हैं। अपने विवेकका आदर करके सदा अनुसूचित जीवन बनानेसे ही शान्ति मिल सकती है उसके बिना नहीं।

आपको दुनियाकी ओर नजर डालनेकी आवश्यकता है, जब कि आप अपनेको साधक बनना चाहते हैं तथा परमशान्तिस्वरूप प्रभुको प्राप्त करना चाहते हैं ?

दुनिया क्या करता है—इसे देखना, दूसरों की आलोचना करना साधन नहीं है; यह तो साधन मद्वाविघ्न है।



निष्काम कर्मयोग तो कामनारहित होनेपर अपने-आप होता है। उसके लिये कर्मफलके रूपमें मिलनेवाली सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियोंकी आशाका त्याग करना, किसीसे भी किसी प्रकारके सुखकी आशा न करना ही साधन है।

होग भी तभी आता है, जब मनुष्य उससे मिलने-वाले मान-बड़ाईके सुखको चाहता है। उस चाहको छोड़ देनेपर ढोंगका समूल नाश हो जाता है।

मनुष्यको बेकार तो किसी समय भी नहीं रहना चाहिये। हर समय भगवत्कृपासे प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और सामग्रीका यथावश्यक विवेकपूर्वक सदुपयोग करते रहना चाहिये।

अपने मनकी बात दूसरोंसे पूरी करानेकी आशा न करके अपने कर्तव्य-पालनद्वारा दूसरोंके मनकी धर्मयुक्त बात पूरी करते रहना चाहिये। इन्द्रियों और मनकी बातका आदर न करके विवेकका आदर करना चाहिये। उसीके अनुरूप अपना जीवन बनाना चाहिये।

शान्ति तो आपके अंदर हा है। वह बाहर खोजनेपर कहीं नहीं मिल सकती। परम सुबद्ध प्रभु-पर दृढ़ विश्वास करके उनके हो जायें। उनके सिवा संसारमें किसीको अपना न समझें तो शान्ति आपकी खुशामद करेगी, आपको शान्तिके पीछे दौड़ना नहीं पड़ेगा।

## अकेलापन

( लेखिका—श्रीमती सरोज गोयनका )

शाम हो चली थी। घरमें सूनूपनका राज्य था। घरके सभी मेहमान आज जा चुके थे। बच्चे भी बाहर चले गये थे। शान्ति इतनी थी कि मन अकबका-सा गया था। चुपचाप पड़े-पड़े अनोखा-सा अकेलापन महसूस कर रही थी।

लोचने लगी कि 'अकेलापन मनुष्यको अखरता क्यों है? क्यों मनुष्य साथ चाहता है—साथ खोजता है? क्यों टुकैला बनना चाहता है?'

बैसे तो मनुष्य संसारमें आता-जाता अकेला ही है, किसीका भी साथ नहीं मिलता। पर जबतक संसारमें मनुष्य विचरता है, तबतक साथी बनाता है—जीवन-साथी, दोस्त, बच्चे, माँ, बहन—न जाने किन-किन नातोंसे साथ जोड़ता है।

सच पूछो तो यह साथ कितने दिनका! सब ही तो छूट जाता है—सब ही तो खो जाता है। वास्तवमें कोई उसका अपना नहीं होता। मनुष्य भूलसे समझ बैठता है—'यह साथ ही मेरा सब कुछ है—मेरा प्राण है।' कुछ दिनोंमें ही उसे आभास हो जाता है, वह चला गया—उसका साथ छूट गया—मेरा वह नहीं था। अगर उसका था तो उससे बिछुड़ा

क्यों? दूसरा खोजता है, उसे भी खोता है—इसी प्रकारसे चक्र चलता रहता है।

अकेला मनुष्य अपनेको तथा दूसरे भी उसे अभागा—बदनसीब समझते हैं। क्या वास्तवमें हम सभी अभागे या बदनसीब नहीं हैं? हम सभी तो अकेले हैं।

विचारधारा रुकती नहीं—चल रही थी। क्या हम सबका अकेलापन महसूस करना स्वाभाविक नहीं? क्या हम सब अकेले नहीं?

हम क्या हैं? क्यों अकेले हैं? क्या हम सब उस परम परमात्माके अंश नहीं हैं? क्या हम उससे बिछुड़े हुए नहीं हैं? न जाने कबसे उसके साथते छूटे पड़े हैं। हम अपने अंशको भुला बैठे हैं। तभी यहाँ-वहाँ खोजते-फिरते हैं—उस अंशको, जिससे मिलकर 'एक' हो जायें; उसकी पहचान भूल बैठे हैं। अगर पहचानमें आ जाय तो हम फिर साथ-ही-साथ हैं। वह 'एक' अकेला अपनेमें ही सब है। उस निराळे 'एक' को पहचानना ही साथ है। वही तो सभी नातोंसे अलग नाता है—वही हमारा साथी है। बाकी तो अज्ञानके घर हैं—खोज हैं—भटकन हैं।



धारे-धारे 'भयैकपन' मन्त्रा लगाने लगा । थोड़ी देरके लिये मैंने अपनेको 'उभसे' जोड़ जो दिया था, अपने सन्ने साथीकी खोज जो कर ली थी ।

मैं पलंगसे उठी । सामने ही गोपालकी मूर्ति रखी थी ।

आपने आप ही शब्द निकल गये— 'आपो ! मुझे भी ही बनाये रखो, मुझे अभागी—बदनशील ही रहने दो, तुम मुझे अकेलेपनमें ही मिले हो और मिलते रहो । चुपचाप सस्तक झुक गया, जैसे मुझे सब कुछ मिल गया है ।

## अस्पृश्यता पाखण्ड नहीं, दूसरोंके प्रति घृणा नहीं

( लेखक— १० मोनरनारायणजी वासोपा, २५०५०, साहित्याकाश्रम )

राष्ट्रीय समाज संघके आग्रहपर मुझे महर्षि दधीचि-जयन्ती-समारोहके अवसरपर सितम्बर १९६६में बंबई जानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ । इन्हीं दिनों मैं पूना गया और उस समय एक सजातीय बन्धुने, जो वहाँ सी० आई० डी० विभागमें इन्स्पेक्टर थे, बतलाया कि सरकारने कुछ समय पूर्व चार कुत्ते ऐसे मँगवाये हैं, जो चोरीका और चोरका पता लगानेमें अत्यन्त सहायक सिद्ध हुए हैं ।

उन्होंने मुझे अनेक चित्र दिखाये, जिनमें यह प्रदर्शित किया गया था कि हजारोंकी संख्यामें एकत्रित हुए जनसमूहमें ये कुत्ते व्यक्तियोंको सूँघते-सूँघते जब चोरी करने-वाले व्यक्तिके पास पहुँचते हैं, तब चटसे उसके हाथको अपने मुँहसे जोरसे पकड़ लेते हैं ।

जनसमूहमें इस प्रकार पकड़े गये व्यक्तियोंके चित्र देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ और मुझसे उन्हें कौतूहलवश अनेक प्रश्न पूछे बिना न रहा गया ।

मैंने पूछा—'ये कुत्ते किस प्रकार चोरका पता लगा लेते हैं ?' उत्तर मिला—'प्राण-शक्तिसे' । जिस स्थानपर चोरी होती है, वहाँ कुत्तेको ले जाया जाता है और वह उस स्थानकी वस्तुको ( तिजोरी, संदूक आदिको ) सूँघता है और फिर वहाँसे रवाना हो जाता है । जिवरसे चोर गया होता है, उसी मार्गका अनुसरण करता है और चोरका अपनी प्राण-शक्तिसे पता लगा लेता है और चटसे उसे ( हाथ या किसी अङ्ग आदिमें ) जोरसे पकड़ लेता है । इसपर उसके पीछे जानेवाले आरक्षी उस व्यक्तिको गिरफ्तार कर लेते हैं । इस प्रकार पकड़े गये व्यक्ति शत-प्रतिशत चोरी करनेवाले ही निकलते हैं ।

फिर मुझे उन चार कुत्तोंके रखनेके स्थान बतलाये गये । वे कुत्ते जुदी-जुदी कोठरियोंमें थे । मुझे बताया गया कि उनके भोजन करानेके पात्र ( प्लेट आदि ) जुदे रखे जाते हैं । पानी पिलानेके पात्र भी जुदे हैं । तक ही नहीं, उनके नहलानेकी साबुन टिकिया भी कुत्तेको पोलनेके लिये टोबेल भी जुदे थे ।

मेरे पूछनेपर कि 'यह सब क्यों ?' मुझे उत्तर मिला कि 'इनको रखनेके लिये विशेष हिदायतें प्राप्त हुई हैं । इन्हें एक-दूसरेका स्पर्श न करने दिया जाय, जुदी-जुदी कोठरियोंमें रखा जाय ।'

इन्हें भोजन शामिल न दिया जाय । जुदे-जुदे पानी दिया जाय । यहाँतक कि मौँज लेनेके बाद भी पानी दूसरोंके प्रयोगमें न लाया जाय । नहलानेके लिये तौलिये आदि भी जुदे-जुदे रखे जाय ।

यदि ऐसा न किया जायगा तो इनकी प्राण-शक्ति नष्ट हो जायगी और ये बाजारमें घूमनेवाले कुत्तों-जैसे हो जायेंगे । बात साधारण-सी मान्य होती है; किंतु गहरा विचार करनेपर पता चलता है कि अस्पृश्यताकी भावना कितनी है ।

यदि विशेष शक्ति, ज्ञान, विवेक, संयमितता सुरक्षित रखना है, तो अस्पृश्यताके नियमोंका पालन करना होगा ।

अस्पृश्यता पाखण्ड नहीं, दूसरोंके प्रति घृणा मात्र भी नहीं, केवल अपनी विशेष शक्तिकी सुरक्षा के लिये आत्मसंयमनार्थ प्रतिबन्धोंको लगाये रखना है ।



# गांधी-जीवन-सूत्र

[ प्राण जाईं वरु वचनु न जाई ]

( केवल—श्रीकृष्णजी कहें )

‘बंद टरै, सूरज टरै; टरै जगत बबदहार ।

पै ददव्रत हरिचंद को टरै न सत्य बिचार ॥

राजा हरिश्चन्द्रकी कहानी किसे नहीं मालूम ! ऊपर दिये हुए दोहेमें ग्रथित आदर्श उनके जीवनका सूत्र था ।

गांधीने भी इसे अपना जीवन-सूत्र बना लिया था ।

हुआ यह कि गांधी उस समय दस-बारह बरसका बच्चा था । राजकोटमें पढ़ता था । आजकलके लड़के तो स्कूलकी किताबें कम पढ़ते हैं; बाहरकी फालतू किताबें और पत्र-पत्रिकाएँ ही ज्यादा पढ़ते हैं । पर गांधी था सीधा-सादा, शरमीला लड़का । स्कूलकी घंटी बजते ही स्कूल पहुँचता और छुट्टीकी घंटी बजते ही घर भागता । घरपर भी स्कूलकी ही किताबें पढ़ता और सबक तैयार करता । दूसरी चीजें पढ़नेका न तो उसे कोई शौक था, न फुर्सत थी ।

फिर भी पिताजीकी खरीदी एक पुस्तकपर उसकी दृष्टि पड़ ही गयी । पुस्तकका नाम था—‘श्रवण-पितृभक्ति नाटक’ । गांधीने उसे देखा तो बड़े चावसे उसे पढ़ गया ।

उन्हीं दिनों शीशेमें तस्वीर दिखलानेवाले लोग घर-घर घूमते थे । उनसे गांधीने श्रवणकुमारका वह चित्र भी देख लिया; जिसमें वह अपने माता-पिताको काँवरमें बैठाकर यात्रापर ले जाता है ।

अपनी ‘आत्मकथा’में गांधी लिखता है—‘दोनों चोजोका मुझपर गहरा असर पड़ा । मनमें इच्छा होती कि मुझे भी श्रवणके समान बनना चाहिये । श्रवणकी मृत्युपर उसके माता-पिताका विलाप मुझे आज भी याद है । उस ललित छंदको मैंने बाजेपर बजाना भी सीख लिया था ।’

यह तो हुआ गांधीपर एक संस्कार । पिता और माता-की सेवाका जो अद्भुत आदर्श उसने उपस्थित किया, उसकी तहमें यह अङ्कुर भी था ही ।

गांधीके जीवनको प्रभावित करनेवाला बचपनका दूसरा प्रसङ्ग है—हरिश्चन्द्र नाटक ।

गांधी लिखता है—

“इन्हीं दिनों कोई नाटक-कम्पनी आयी थी और उसका नाटक देखनेकी इजाजत मुझे मिली थी । हरिश्चन्द्रका आख्यान था । उस नाटकको देखते हुए मैं थकता ही न था । उसे बार-बार देखनेकी इच्छा होती थी; लेकिन यों बार-बार जाने कौन देता ! पर अपने मनमें मैंने उस नाटक को सैकड़ों बार देखा होगा । मुझे हरिश्चन्द्रके सपने आते । ‘हरिश्चन्द्रकी तरह सत्यवादी सब क्यों नहीं होते !’ यह धुन बनी रहती । हरिश्चन्द्रपर जैसी विपत्तियाँ पड़ीं, वैसी विपत्तियोंको भोगना और सत्यका पालन करना ही वास्तविक सत्य है । मैंने मान लिया था कि नाटकमें जैसी लिखी हैं, वैसी ही विपत्तियाँ हरिश्चन्द्रपर पड़ी होंगी । हरिश्चन्द्रके दुःख देखकर, उनका स्मरण करके मैं खूब रोया हूँ । आज मेरी बुद्धि समझती है कि हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था । फिर भी मेरे विचारमें हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं । मैं मानता हूँ कि आज भी उन नाटकोंको पढ़ूँ, तो मेरी आँखोंसे आँसू बह निकलेंगे ।”

विश्वामित्रको सारा राज्य दान करनेके बाद उसे दक्षिणा-से सिक्त करनेके लिये राजा हरिश्चन्द्र तीन लोकसे न्यायी काशीमें डोमके हाथ बिके थे । उनकी रानी शैब्याको एक ब्राह्मणने खरीदकर दासी बना लिया था । बेटे रोहिताश्वको जब सर्पने डँस लिया और उसके दाह-संस्कारके लिये शैब्या श्मशान-घाटपर पहुँची, तब वहाँ तैनात हरिश्चन्द्र बिना कर्म लिये जलाने नहीं दे रहे थे । उस समय शैब्याने अपनी आधी साड़ी फाड़कर दी थी । ये सब घटनाएँ किसे नहीं झलातीं । न रहे हों हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक राजा; पर सत्यव्रतके पालनके लिये उनके अपार कष्ट सहनेकी यह कहानी पत्थरको भी द्रवित करनेकी क्षमता रखती है । फिर गांधी उस समय १०-१२ सालका भोला-भाला बालक ही था । उसके जीवनपर हरिश्चन्द्रके इस आख्यानद्वारा सत्यकी जो गहरी छाप पड़ी, वह जीवनके अन्ततक कायम रही । सत्यकी यह निष्ठा उसकी रंग-रगमें समा गयी । सत्य उसके जीवनका सूत्र बन गया ।

गांधीका सारा जीवन एकमात्र सत्यकी ही खोजना है ।



‘परमेश्वर सत्य है’ कहनेके बजाय वह कहने लगा—‘सत्य ही परमेश्वर है। सत्य ही साध्य है। हमें अपना जीवन सत्यमय बनाना है। सत्य है, असत्य नहीं है। सत्य स्वयंसिद्ध है। अहिंसा उसका सम्पूर्ण फल है, अहिंसा सत्यमें छिपी हुई है। अहिंसा सत्यका प्राण है। जो सत्य जानता है, मन, वचन और कर्मसे सत्यका पालन करता है, वह परमेश्वरको सहजानता है।’

गांधीने अपना सारा जीवन सत्यमय बनाया। सत्यपालन-के लिये उसने सर्वस्व त्याग देनेको कसर कस ली। व्यक्तिगत जीवनमें ही नहीं, सार्वजनिक जीवनमें भी उसने सत्यनिष्ठाकी प्रतिष्ठा स्थापित की।

गांधीको बचपनसे ही सत्यकी लगन लगी। राजा हरिश्चन्द्रकी कहानी रात-दिन उसकी आँखोंके आगे नाचती रहती थी। मनमें भी सत्य हो, वचनमें भी, कर्ममें भी। पर यह साधना कोई दाल-भातका कौर तो है नहीं। गांधीको पग-पगपर कठिनाईका सामना करना पड़ता, पर हर कठिनाई उसे कुछ-न-कुछ सिखाकर जाती।

पिताजी बीमार थे। गांधीकी इच्छा थी कि वह उनकी सेवा करे। स्कूलकी छुट्टी होती और वह तुरत घर पहुँचकर पिताजीकी सेवामें जुट जाता। उन्हीं दिनों स्कूलके हेडमास्टर दोरावजी एदलजी गीमीने सभी लड़कोंके लिये कसरत करनेका नियम अनिवार्य करा दिया। गांधीने प्रार्थना की कि ‘पिताजीकी सेवाके लिये उसे कसरतसे छुटकारा दिया जाय’, पर हेडमास्टर साहब माने नहीं।

एक शनिवारकी बात है। पढ़ाई तो उस दिन सुबह हो गयी, कसरतके लिये ४ बजे बुलाया गया। मोहनदास गांधीके पास घड़ी थी नहीं, उधर आसमानमें बादल छाये हुए थे, समयका ठीक अंदाज नहीं लग सका। परिणाम यह हुआ कि गांधी जब कसरतके लिये स्कूल पहुँचा, तबतक सब लड़के कसरत-करके घर जा चुके थे।

दूसरे दिन गीमी साहबने रजिस्टर देखा तो उसमें गांधी गैरहाजिर था। पूछा—‘कल तुम कसरतमें क्यों नहीं आये?’

गांधीने सही-सही कारण बता दिया।

गीमी साहबको उससे समाधान नहीं हुआ। उन्होंने नियमानुसार एक-दो आना जुर्माना ठोक दिया।

गांधी खिचता है—‘मैं झूठा ठहरा। मुझे बहुत दुःख हुआ। कैसे सिद्ध करूँ कि मैं झूठा नहीं हूँ? कोई उपाय न

रहा। मन मसोसकर रह गया। रोया। समझा कि बोलनेवाले और सच्चा काम करनेवालेको गाफिल भी रहना चाहिये। अपनी पढ़ाईके समयमें इस तरहकी यह पहली और आखिरी गफलत थी। मुझे धुँधली-सी याद कि आखिर मैं यह जुर्माना माफ करा सका था।’

सत्यके पालनके लिये सतर्कता और सावधानी भी आवश्यक है, यह बात गांधीने उक्त दिनसे गॉट बाँध ले

X

X

X

‘गांधीकी आत्मकथा’में सत्यके मार्गमें आनेवाली प्रकाशकी कठिनाइयोंके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

अंग्रेजोंके समान बलशाली बन सकनेके लिये और भारतसे मार भगानेके लिये गांधीके कुछ कुमित्रोंने मांसाहारके लिये प्रलोभित किया। अपने पैसे खर्च करके मांसाहारका प्रबन्ध करते, पर जब-जब ऐसा प्रसङ्ग आ तो घर जानेपर माँ जब भोजनके लिये बुलाती, तब गांधी वहाने बनाने पड़ते। उसे कहना पड़ता—‘आज भूल न खाना हजम नहीं हुआ है’। पर भीतरसे उसका कचोटता। हर बार उसे भारी आघात लगता—यह हार सो भी माँके सामने।

साथ ही यह भी चिन्ता होती कि वैष्णव माता-पिताको यदि कहीं पता चल जायगा कि बेटे मांसाहारी गये तो उनके दिलपर तो मानो बिजली ही दूट पड़ेगी।

सत्यका साधक जब ऐसे प्रलोभनोंमें पड़ता है, तो उसका जी भीतरसे उसे बार-बार कचोटता है—‘छि-छि-क्या कर रहे हो यह गलत काम!’

गांधीकी अन्तश्चेतना भी उसे बार-बार धिक्कारने लगी अन्ततः उसने निश्चय कर लिया कि ‘मांसाहार भले आवश्यक है, पर उसके लिये माता-पिताको धोखा देना और झूठ बोलना तो मांस खानेसे भी बुरा है। इसलिये माता-पिताके जीते-जी मांस नहीं खाऊँगा। उनकी मृत्युके स्वतन्त्र होनेपर खुले रूपमें मांस खाना चाहिये’।

—यों माता-पिताके सामने झूठ न बोलनेके निश्चयने गांधीसे मांसाहार छुड़वा दिया।

X

X

X

गांधीकी सत्यकी साधनाने उसे इसी प्रकार व्यभिचारसे और अन्य ऐसे ही पापोंसे बचाया। विचार जाते समय मॉने उससे वचन लिया कि वह न तो मांसाहार



करेगा, न शराव पीयेगा और न परस्त्री-सङ्ग करेगा । गांधी-की ये प्रतिज्ञाएँ उसके चरित्रको निर्मल बनाये रखनेमें सदैव उसकी सहायक सिद्ध हुई ।

और बादमें तो गांधीने जो कुछ किया, वह सत्यके पालनके लिये ही किया । सत्य उसके लिये सीमित और परिहित नहीं था । केवल वाणीका ही नहीं, आचारका भी सत्य था, विचारका भी । उसका स्वभाव ही बन गया कि जो कह दिया, सो करना है । जो निश्चय कर लिया, जो प्रतिज्ञा कर ली, उसे हर हालतमें पूरा करना है । रामायणमें उसने पढ़ा था कि रघुकुलकी रीति है कि प्राण भले चले जायँ, पर वचनका पालन करना ही है—

रघुकुल रीति सदा चलि आई ।

प्राण जाहुँ बरु वचनु न जाई ॥

गांधी कहता था—जो प्रतिज्ञा करो, प्राण देकर भी उसका पालन करो । जो वचन दो, उसे हर हालतमें पूरा करो । जो निश्चय करो, उसकी पूर्तिके लिये कोई बात उठा मत रखो—

तनु तिय तनय धामु धनु धरनी ।

सत्यसंध कहूँ तृन सम बरनी ॥

जब कोई व्यक्ति प्रतिज्ञा करके उसका पालन नहीं करता, उसकी पूर्ति नहीं करता, उससे बच निकलनेके लिये बहाने बनाता, तब गांधीको बड़ा क्षोभ होता था । वह कहता भी—

‘तुम मुझे गाली दो, लातोंसे, जूतोंसे ठुकराओ, मारो, पीटो, मेरे मुँहपर थूक दो, तो भी मुझे क्रोध नहीं आयेगा; परंतु यदि तुम दिये हुए वचनका पालन नहीं करोगे तो मुझे क्रोध आ जायगा ।’

ऐसे अनेक प्रसङ्गोंपर गांधी प्रायश्चित्तस्वरूप अनशन करता था । वह कहता था कि मेरे सामने जब कोई असत्य बोलता है, तब मुझे उसपर क्रोध होनेके बजाय स्वयं अपने ही ऊपर अधिक क्रोध आता है; क्योंकि मैं जानता हूँ कि अभी मेरे अंदर—तहमें असत्यका वास है ।’

X

X

X

अहमदाबादमें मिल-मजदूरोंकी हड़तालके प्रसङ्गमें जब मजदूर डगमगाने लगे, तब गांधीको इसी प्रकारकी वेदना हुई और वह प्रायश्चित्तस्वरूप अनशन करनेके लिये तैयार हो गया ।

X

X

X

वकालतका पेशा करनेवाले कालेको सफेद बताते हैं, सफेदको काला; यह बदनाम पेशा है । लोग मानते हैं कि वकील लोग सचको झूठ साबित करा देते हैं, झूठको सच । तभी तो सैकड़ों अपराधी जुर्मसे साफ छूटकर मूँछोंपर ताव देते हुए घूमते हैं और बेचारे निरपराध लोग सजा काटते हैं । वकील यह कहकर बरी हो जाते हैं कि ‘हमें तो अपने मुक्किलको बचाना है । जिसका पैसा खाते हैं, उसके लिये झूठ बोलनेमें क्या हर्ज ।’

गांधीने अपने वकालती जीवनमें इस पद्धतिको उलट दिया । उसने न्यायालयमें सत्यकी प्रतिष्ठा की । उसने अपने उदाहरणसे सिद्ध कर दिया कि वकील भी सच बोल सकते हैं और सच्चे मुकदमोंकी पैरवी करके सत्यकी विजयमें सहायक बन सकते हैं । वह लिखता है—

“...मैं स्वयं सत्यका पुजारी हूँ । जिन दिनों मैं वकालत करता था, मैंने अपने मुक्किलोंसे कह रखा था कि ‘यदि आप मुझे अपना वकील बनाना चाहते हैं तो आपको मुझसे सारी बातें सच-सच बतानी होंगी । मैं झूठे मामलेकी पैरवी नहीं करूँगा ।’ परिणाम यह हुआ कि मेरे पास सच्चे और खरे मामले ही लाये जाते थे ।”

गांधीको यदि मुकदमेके दौरानमें पता चलता कि मुक्किल उससे झूठ बोला है अथवा उसने कोई सही जानकारी उससे छिपायी है तो वह बीचमें ही उस मुकदमेको छोड़ देता, फिर भले ही कितनी ही अधिक फीसका घाटा क्यों न होता । जो व्यक्ति सत्यको अपने जीवनका ध्रुवतारा बना लेता है, उसे सत्यके मार्गपर जानेसे कौन विचलित कर सकता है ?

सत्यके साधकको सतत सावधान तो रहना ही पड़ता है, उसे अपनी वाणीपर भी सतत नियन्त्रण रखना पड़ता है । उसे हर शब्दको तौल-तौलकर बाहर निकालना पड़ता है । यथासम्भव मौनका उसे पालन करना पड़ता है । गांधी कहता था—

“अनुभवने मुझे सिखाया है कि सत्यके पुजारीके लिये मौनका सेवन इष्ट है । मनुष्य जाने-अनजाने भी प्रायः अतिशयोक्ति करता है । अथवा जो कहनेयोग्य है, उसे छिपाता है या दूसरे ढंगसे कहता है । ऐसे संकटोंसे बचनेके लिये भी मितभाषी होना आवश्यक है । कम बोलनेवाला मनुष्य बिना विचारे नहीं बोलेगा । वह अपने प्रत्येक शब्दको तौलेगा ।”

X

X

X



गांधीकी तीन बंदरोंवाली तस्वीर बहुत प्रसिद्ध है। एक बंदर मुँहपर हाथ रखे है, दूसरा आँखोंपर और तीसरा कानोंपर। तीनों यह शिक्षा देते हैं कि 'बुरी बात मत बोलो, बुरी बात मत देखो और बुरी बात मत सुनो।'।

गांधी इस तस्वीरको अपने सामने रखता था। सतत सावधानीके लिये कैसा उज्ज्वल आदर्श ! एक बार कच्छके चमन कविने मौलाना रुमका यह अनमोल शेर गांधीके पास भेज दिया—

रुब बिबन्दो चश्म बंदो शोश बन्द,

गर नबीनी रिरें हक, बरमा बिखन्द।

'नू अपने ओठ बंद रख, आँख बंद रख, कान बंद रख। इतनेपर भी तुझे सत्यका गूढ़ तत्व न मिले, तब मेरी हँसी उड़ाना।'।

गांधीने २९ जुलाई १९३९के 'हरिजन-सेवक'में इस अमूल्य रत्नकी प्रशंसा करते हुए लिखा था—

'आज जब कि हम मनमानी बकवास करते रहते हैं, जब कान यथेच्छ सत्य-असत्य गंदी बातें सुनते रहते हैं, तब इसे वचनवाणकी तरह सीधे हमारे हृदयमें बिंध जाना चाहिये। सत्यकी शोधकी ऐसी ही कठिन शर्त है। हम भले ही ओठ, कान और आँखें पूरी तरह बंद न करें; किंतु यदि कर लें तो इससे कुछ गँवायेंगे नहीं। परंतु हम इतना तो अवश्य कर सकते हैं—ओठसे असत्य या कटु वचन न बोलें, कानसे किसीकी निन्दा या गंदी बात न सुनें, आँखसे अपनी इन्द्रियोंको विचलित करनेवाली कोई वस्तु न देखें। हम सत्य ही बोलें, वही सुनें जो हमें आगे ले जाय और आँखसे ईश्वरकी दया-ममता देखें, संतजनोंका दर्शन करें। जो ऐसा करेगा, वही सत्यका दर्शन पा सकेगा, वही शुद्ध सत्याग्रही हो सकेगा और उसकी तपश्चर्यासे हम शान्तिमय स्वराज्यकी झाँकी पा सकेंगे। अन्य सब प्रयत्न मिथ्या हैं।'।

सत्यके साधकके लिये कैसा अनुपम पाथेय !

× × ×

एक बार कस्तूरबाके स्वास्थ्यकी दृष्टिसे यह जरूरी लगा कि वे दाल छोड़ दें, नमक छोड़ दें।

गांधीने बासे कहा—'दाल छोड़ दो, नमक छोड़ दो तो तुम जल्दी ठीक हो जाओगी।'।

पर दाल छोड़ना, नमक छोड़ना कोई आसान बात है ?

बाने कहा—'मुझे छोड़नेको तो कहते हो, तुम्हीं छोड़ तो जानूँ !'

गांधी बोला—'अच्छी बात। छोड़ा मैंने सालभरके लिये। तुम छोड़ो या न छोड़ो, मैं छोड़ रहा हूँ।'।

बा तो शर्मसे कट गयी। उसके मनमें कल्याणतक नहीं कि गांधी ऐसा करेगा। उसने तो सहजभावसे ऐसी बात कही थी; फिर वह लाख गिड़गिड़ायी, पर गांधी तो पक्का था। बोला—'जो कह दिया सो कह दिया। जो व्रत ले लिया, सो ले लिया। तुम घबराती क्यों हो ? इस बहाने तुम्हारे प्रति अपना प्रेम-प्रदर्शन करनेका मुझे एक मौका तो मिला !'

× × ×

जीवनकी संध्या-वेलाकी बात है।

गांधी पूर्वी बंगालके उपद्रवग्रस्त क्षेत्रका दौरा कर रहा था।

श्रीरामपुर गाँवमें उसकी तबीअत खराब हो गयी। एक ग्रामवासीके कहनेसे उसने हरी पत्तियोंका काढ़ा पी लिया। वह काढ़ा उसके लिये सुसीबत हो गया।

उस दिन ५ मील दूर चण्डीपुर जाना था गांधीको। नावका रास्ता। नदीमें सवार भरी थी। रास्तेमें ही गांधीको दस्त और कै शुरू हो गयी। कमजोरी इतनी बढ़ी कि बेहोशी आ गयी। उन दिनों निर्मल बाबू गांधीके मन्त्रीका काम कर रहे थे। उन्होंने यह हालत देखकर सोचा कि श्रीरामपुर लौट चलना ठीक होगा। लिहाजा नाव उल्टी दिशामें घुमा दी गयी।

थोड़ी देरमें गांधीकी बेहोशी दूर हुई; पूछा—'चण्डीपुर कितनी दूर है ?'

लोगोंने कहा—'बापू ! आपकी हालत खराब देखकर हमलोग श्रीरामपुर वापस लौट रहे हैं।'।

'यह कैसे होगा, निर्मल बाबू ? वचन दिया है न चण्डीपुरवालोंको ! नावको लौटाओ। मैं मर भी जाऊँ तो तुम कह सकते हो कि गांधीने जान देकर भी अपने वचनका पालन किया।'।

आँसूभरी आँखोंसे लोगोंने नावकी दिशा बदली। गांधीने चण्डीपुरकी समामें लोगोंसे देरसे पहुँचनेके लिये माफी माँगी। कमजोरीके कारण उससे बोला नहीं जा रहा था। लेटे-लेटे उसने धीमे शब्दोंमें भाषण दिया।



पर यह कैसे होता कि गांधीने पहुँचनेको कहा था तो वहाँ वह न पहुँचता ।

×

×

×

गांधीका सारा जीवन ऐसी प्रेरक घटनाओंसे ओतप्रोत है । वह कहता था—

“मैं दूर-दूरसे विशुद्ध सत्यकी—परमेश्वरकी झाँकी कर रहा हूँ । मेरा यह विश्वास दिन-दिन बढ़ता जाता है कि एक सत्य ही है । उसके अलावा दूसरा कुछ भी इस जगत्में नहीं है । यह विश्वास किस प्रकार बढ़ता गया है—इसे जो जानना चाहें, वे जानकर मेरे प्रयोगोंके साक्षीदार बनें और उस सत्यकी झाँकी भी मेरे साथ करना चाहें, तो भले करें । साथ ही मैं यह भी अधिकाधिक मानने लगा हूँ कि जितना कुछ मेरे लिये सम्भव है, उतना एक बालकके लिये भी सम्भव है । मेरे पास इसके लिये सबल कारण है । सत्यकी शोधके साधन जितने कठिन हैं, उतने सरल भी हैं । वे अभिमानीको असम्भव मालूम होंगे और एक निर्दोष बालकको बिल्कुल सम्भव लगेंगे । सत्यके शोधकको रजःक्षणसे भी लघु होकर रहना पड़ता है ।”

गांधीकी सत्यकी यह साधना हमारे नेत्रोंके समक्ष है । उसका यह जीवन-सूत्र हमारा भी जीवन-सूत्र बन सकता है । इसमें कठिनाई कुछ नहीं, मुश्किल कुछ नहीं । करनेवालोंको कुछ मुश्किल नहीं होता, न करनेवालोंको सामने परोसी थालीसे कौर तोड़कर मुँहमें ले जाना भी मुश्किल होता है । गांधी कहता था—

“सत्यकी आराधनाके लिये ही हमारा अस्तित्व, इसीके लिये हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसीके लिये हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिये । ऐसा करना सीख जानेपर दूसरे सब नियम सहजमें हमारे हाथ लग जा सकते हैं । उनका पालन भी सहज हो जा सकता है । सत्यके बिना किसी भी नियमका शुद्ध पालन अशक्य है ।

“साधारणतः सत्यका अर्थ बोलना मात्र ही समझा जाता है, लेकिन हमने विशाल अर्थमें ‘सत्य’ शब्दका प्रयोग किया है । विचारमें, वाणीमें और आचारमें सत्यका होना ही सत्य है ।”

इस सत्यके पालनमें पग-पगपर कठिनाइयाँ उपस्थित

होत हैं । उसके लिये गांधीने एक महीनेका एक नुस्खा दिया है । वह कहता है—

“जो बात अहिंसाकी है, वही सत्यकी समझिये । गायको बचानेके लिये झूठ बोला जा सकता है या नहीं?—इस उलझनमें पड़कर अपनी नजरके नीचे जो रोज हो रहा है, उसको भूल जायें तो सत्यकी साधना न हो सकेगी, यों गहरे पानीमें बैठना सत्यको ढाँकनेका रास्ता है । तत्काल जो समस्याएँ रोज हमारे सामने आकर खड़ी हो रही हैं, उनमें हम सत्यका पालन करें तो कठिन अवसरोंपर क्या करना होगा, इसका ज्ञान हमें अपने-आप हो जायगा ।

“इस दृष्टिसे हममेंसे हरएकको केवल अपने आपको ही देखना है । अपने विचारसे क्या मैं किसीको ठगता हूँ ! अगर मैं धा को खराब मानता हूँ और उसको बताता हूँ कि वह अच्छा है तो मैं उसे ठगता हूँ । बड़ा या भला कहलानेकी इच्छासे जो गुण मुझमें नहीं है, उसे दिखानेकी कोशिश करता हूँ ! बोलनेमें अतिशयोक्ति करता हूँ ! किये हुए दोष जिसको बता देने चाहिये, उससे छिपाता हूँ ! मेरा साथी या अफसर कुछ पूछता है तो उसके जवाबमें बातको उड़ा देता हूँ ! जो कहना चाहिये उसे छिपाता हूँ ! इनमेंसे कुछ भी करते हैं तो हम असत्यका आचरण करते हैं । यों हरएकको रोज अपने आपसे हिसाब लेकर अपने आपको सुधारना चाहिये । जिसको संच बोलनेकी ही आदत पड़ गयी हो, ऐसी स्थिति हो गयी हो कि असत्य मुँहसे निकल ही न सके, वह भले ही अपने आपसे रोज हिसाब न माँगे; पर जिसमें लेशमात्र भी असत्य हो या जो प्रयत्न करके ही सत्यका आचरण कर सकता हो, उसे तो ऊपर बतायी हुई रीतिसे इन्हीं या इस तरहके जितने सूझें, उतने सवालोंने जवाब रोज अपने आपको देना चाहिये । यों जो एक महीना भी करेगा, उसे अपने आपमें हुआ परिवर्तन स्पष्ट दिखायी देगा ।”

आइये, गांधीके सत्यके जीवन-सूत्रको अमलमें लानेके लिये हम आजसे ही अपनेको इस कसौटीपर कसना शुरू कर दें । हम आत्मनिरीक्षण शुरू कर दें ।

सत्यरूपी परमेश्वर हमें सत्यके मार्गपर बढ़ायेगा ही । शर्त इतनी ही है कि हममें गांधीकी तरह सत्यके प्रति इतनी उत्कृष्ट आस्था होनी चाहिये कि ‘प्राप्त जाहुँ वरु बचनु न जाई’ ।



# सज्जन और दुर्जनकी खोज

[ कहानी ]

( लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच्० डी० )

‘खोज लाये दुर्जन ?’ गुरु द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरसे पूछा । युधिष्ठिर चुप खड़े थे, सोच-विचारमें डूबे हुए ।

‘मैंने तुम्हें आज्ञा दी थी कि समाजमें जाओ, तरह-तरहके लोगोंसे मिलो, बातें करो, उनके चरित्रोंका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करो और ध्यानपूर्वक मुझे एक दुर्जन खोजकर लाओ । इतने दिनों तुम्हें विद्याध्ययन कराया है, शास्त्रोंका नवनीत पिलाया है । तुम शास्त्रोंमें पारंगत हो । न्याय, धर्म, नीति और सत्यरक्षामें हमारे सब शिष्योंमें श्रेष्ठ हो । मनुष्यके चरित्रका अध्ययन देखें, तुम्हारा कितना गहन है ! एक दुर्जन खोजकर प्रस्तुत करो, युधिष्ठिर !’

युधिष्ठिरसे गुरु द्रोणाचार्य प्रश्न पूछ रहे थे, पर वे चुप । विचारोंमें निमग्न !

‘अरे युधिष्ठिर ! तुम चुप कैसे खड़े हो ? तुम-जैसे कुशाग्र-बुद्धि विद्यार्थीपर तो मुझे सदासे गर्व है । तुम्हें जो काम दिया था, वह तुमने किया या नहीं ? यह जवाब दो ।’

‘गुरुदेव ! क्षमा करें ।’ वे फिर चुप हो गये ।

‘आखिर क्या बात है ? तुम अपने-आपको स्पष्ट क्यों नहीं करते ? क्या कठिनाई है ? तुम गुरुकुलमें शास्त्रीय विद्याध्ययन पूर्ण कर चुके हो । हमारे समस्त विद्यार्थियोंमें सज्जन हो । जो काम सौंपा था, वह तुमने किया या नहीं ? कुछ कहते क्यों नहीं ?’ वे युधिष्ठिरको निहारते रहे ।

‘गुरुदेव ! मैं हार गया, थक गया ।’ युधिष्ठिरने निराश स्वरमें उत्तर दिया ।

‘ऐं ! हार गये ? क्या कह रहे हो, युधिष्ठिर ?’

द्रोणाचार्यने आश्चर्यसे पूछा । ‘कैसे हार गये ? तुम दूर-दूरतक घूम आये हो । असंख्य लोगोंसे मिले हो । शहर और ग्रामोंमें ढूँढ़ते फिरे हो । न जाने कहाँ-कहाँकी खाक छानी है ! फिर कहते हो कि हार गये, दुर्जन न ढूँढ़ पाये ?’

‘गुरुदेव ! मैं दूर-दूरतक घूमने गया, लोगोंसे मिला-जुला । उनके गुणोंको देखा और जाँचा, हर प्रकार परीक्षण किया; पर खेदके साथ कहना पड़ा है कि मुझे दुर्जन न मिला ।’

‘अरे, दुर्जन कोई भी न मिला ?’ आश्चर्यनिष्ठ हर्षके स्वरमें द्रोणने पूछा ।

‘हाँ, गुरुदेव ! क्षमा करें, मुझे दुर्जन कोई भी न मिला । मैं अपनी असफलता स्वीकार करता हूँ । मैं बहुत घूमा-फिरा, पर दुर्जन खोजे न मिला.....’

‘तुम्हें क्या दिखायी पड़ा उनमें ।’ द्रोणने पूछा ।

‘गुरुजी ! मैं दुर्जनता तलाश करता रहा, पर मुझे तो हर किसी व्यक्तिमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपमें सज्जनता ही दृष्टिगोचर हुई । सभी सज्जन लगे । कोई बुरा व्यक्ति न मिला, क्या करूँ ?’

‘क्या कहा ? स्पष्ट करो अपना दृष्टिकोण युधिष्ठिर ! कुछ समझमें नहीं आया ।’

‘गुरुजी ! मैं जहाँ कहीं भी गया, वहाँ मुझे सज्जन ही मिले । मैंने जिस किसीको भी परखा, उसमें सद्गुणोंके ही दर्शन हुए । अच्छाईकी शुभ किरणें फैली हुई मिलीं । मैंने जिस किसीको भी दुर्जन समझकर टटोला, उसमें सज्जनताके प्राणतक मिले । कोई खराब आदमी न मिला ।’



‘सज्जनताके प्राणतत्त्व मिले ? यह क्या कह रहे हो, युधिष्ठिर ?’

‘गुरुदेव ! अन्तरात्माको शब्दोंमें उँडेल रहा हूँ । मुझे तो हर किसी व्यक्तिमें सज्जनता और ईश्वरकी झाँकी दिखायी देती रही । दुर्जन एक भी न मिला ।’

गुरु द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरको प्यारसे गले लगा लिया । उन्हें अपने प्रिय शिष्यमें कुछ ऐसा दैवी गुण दिखायी दे रहा था, जिसे उनकी आत्मा अनुभव कर रही थी । उनका रोम-रोम आनन्दमें डूबा हुआ था, पर कोई कुछ कह न पा रहा था । वे अपने गुरुरूपकी सर्वोच्च सिद्धि मान रहे थे ।

× × ×

दूसरे दिन गुरु द्रोणने दुर्योधनको बुलाकर उसका भी उसी प्रकार परीक्षण किया । वे बोले, ‘दुर्योधन ! अब तुम्हारा शिक्षाक्रम समाप्त होता है । हमें तुम्हें शास्त्रोंका जितना ज्ञान कराना था, वह सब पुस्तकीय ज्ञान तुम्हें दे चुके हैं । अब तुम्हें एक कार्य सौंपते हैं । करोगे, दुर्योधन ? तुम्हारी परीक्षा लेनी है ।’

‘अवश्य, गुरुदेव ! आप आज्ञा दें । जरूर गुरुजीकी आज्ञाका पालन करूँगा ।’ दुर्योधनने उत्तर दिया ।

‘एक सज्जन खोजकर लाओ, दुर्योधन !’

‘सज्जन खोजकर लाऊँ ? ठीक है, गुरुदेव ! मैं जाता हूँ, सज्जन खोजकर सेवामें प्रस्तुत करूँगा ।’

दुर्योधन चला गया—सज्जन व्यक्तिकी खोजमें !

‘सज्जन व्यक्ति ! अरे, यह तो बड़ा सरल-सा कार्य है ! इसे तो मैं अनायास ही कर डालूँगा ।’ दुर्योधनने मन-ही-मन सोचा ।

वह एक सज्जन व्यक्तिकी तलाश करने लगा । अनेक मानव-समुदायोंमें घूमता फिरा, लोगोंसे मिला-जुला, बातचीत की, उनके चरित्रोंका परीक्षण किया । उनके मनमें छिपे हुए गुप्त भावों और मनके भेदको जाननेकी युक्तियाँ कीं । सज्जन आदमी चाहिये था ।

लेकिन यह क्या ? उसने जितने भी व्यक्तियोंको परखा, उसे वे सब दुर्जन-ही-दुर्जन प्रतीत हुए । सबमें एक-से-एक बढ़कर छल-छद्म, कपट-स्वार्थ, पाप ही दृष्टिगोचर हुए । ऊपरसे वह जिसे शरीफ समझता, अंदरसे उसे वही खोखला मिलता । जिसे वह गुणोंसे प्रकाशित समझता, वही कलङ्करूपी अन्धकारसे काला मिलता । कोई उसे जुएमें लगा मिला, तो दूसरा रिश्तत या वेईमानीसे अनधिकारपूर्वक धन हड़पता प्रतीत हुआ । सर्वत्र विनाशकारी परिस्थितियाँ दिखायी दीं । उसने पाया कि सभ्यता और शराफतका बाना पहिने अनेक लोग चुपचाप मनमानी शराब पीकर आपसमें लड़ते रहते हैं और नशेमें धुत् होकर रात-भर इधर-उधर घूमते रहते हैं । खोजते-खोजते वह थक गया, पर उसे कोई सज्जन न मिला । ‘हे ईश्वर ! क्या दुनियामें कोई सज्जन नहीं है ?’ वह सोचने लगा ।

थका-हारा, पराजित-सा दुर्योधन गुरु द्रोणाचार्यके सामने खड़ा था । कुछ कह नहीं पा रहा था ।

‘कहो, दुर्योधन ! सज्जन खोजकर लाये ?’

‘क्षमा करें, गुरुदेव ! सज्जनकी तलाशमें मैं असफल रहा । मैंने बहुतेरा खोजा, पर मुझे तो हर जगह दुर्जन-ही-दुर्जन मिले । उनमें मुझे सैकड़ों दुर्गुण ही दिखायी दिये, सद्गुण दृष्टिगोचर ही न हुए । मैं अपने-आपको इस खोजमें असफल मानता हूँ ।’

दुर्योधन कुछ देर चुपचाप खड़ा रहा ।

फिर ठंडी आह भरकर पूछने लगा, ‘गुरुदेव ! इसका क्या कारण है ? क्या दुनियामें कोई भी सज्जन नहीं है ?’

द्रोणाचार्य कहने लगे, ‘दुर्योधन ! ऐसी बात नहीं है । संसारमें दुर्जन और सज्जन, काँटे और फूल, पत्थर और रत्न, कालिमा और प्रकाशकी तरह सभी जगह मिलते हैं । समाजमें सभी प्रकारके, सभी स्वभावों-रुचियोंके, गुण-अवगुणोंसे परिपूर्ण व्यक्ति उपलब्ध हैं ।



‘पर मुझे सज्जन क्यों नहीं मिला, गुरुदेव !’  
दुर्योधनने आगे पूछा ।

‘दुर्योधन ! बुरा मत मानना । यह सब दृष्टिका  
हेर-फेर है । जो व्यक्ति जैसा स्वयं होता है, उसे  
सब अपने ही समान दृष्टिगोचर होते हैं ।’

‘फिर मनुष्य-जीवनकी सफलता किस बातमें निहित  
है, गुरुदेव ?’

‘दुर्योधन ! सुनो, शास्त्रोंमें इसका उत्तर है—

येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा ।

तेन सहस्रधारेण पवमानीः पुनन्तु नः ॥

( सामवेद ५ । २ । ८ ( ५ ) )

मनुष्यके जीवनकी सफलता इस तत्वमें निहित  
है कि वह आत्मिक और मानसिक दोषोंको त्यागकर  
अपने दृष्टिकोण और मनको निर्मल और पवित्र बनाये ।

आत्मा मल-विशेष और आवरणरहित बने—इसके लिये  
अनेक उपाय वेदोंमें वर्णित हैं । अतः वे पठनीय हैं ।

दुर्योधन सोच रहा था, ‘जो जैसा स्वयं होता है,  
उसे सब अपने ही समान दृष्टिगोचर होते हैं ।  
गुरुदेवने बड़ी अनुभवपूर्ण बात कही है यह !’

यह संसार वैसा ही है, जैसे वास्तवमें हम स्वयं  
हैं । हम खुद ही अपनी आन्तरिक छाया, अपने  
मनोभाव, रुचि, अनुभव बाहरी संसारमें फैकते हैं ।  
यदि हमें संसार अच्छा प्रतीत होता है तो इसका  
कारण यह है कि हमारी स्वयंकी भावभूमि उन्नत है ।  
हम अपनी भावनाओंमें स्वस्थ और सज्जन हैं । यदि  
हम स्वयं दुर्जन हैं, तो इसका कारण यह है कि  
हमारे गुप्त मनमें गंदगी एकत्रित हो गयी है, जिससे  
दुर्गन्ध बाहर फैली हुई है ।

## नाम-मोह—एक महारोग

( लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा )

यशःकामना आज सबसे बड़ी बीमारी हो गयी है ।  
कोई भी कवि या लेखक अपनी रचनाको, चाहे वह  
साधारण-सी ही क्यों न हो, प्रकाशित हुआ देख प्रसन्न  
होता है । प्रकाशित करानेका प्रयत्न करता है—केवल  
इसीलिये कि उसका नाम पत्र-पत्रिकाओंमें आये । कोई  
भी व्यक्ति किसी भी संस्थाको ?) भी दान देते समय  
इच्छा रखता है कि किसी पत्रमें उसका उल्लेख अवश्य  
होना चाहिये । इससे उसे आनन्द होता है । मन्दिर  
और धर्मशालाके निर्माणमें सहायता प्रदान करनेपर एक  
शिलालेख अवश्य दीवालमें लगाना चाहिये । यह नाम-  
प्रकाशनकी ही महिमा है कि जो व्यक्ति साधारण  
तौरपर दस-बीस रुपये प्रदान करनेमें संकोच करता है,  
उससे नाम-प्रकाशनका लोभ दिखाकर हजारों रुपये  
लिये जा सकते हैं । यही हाल पुस्तक-प्रकाशनका है ।  
किसीसे यों जाकर आप केवल पुस्तक खरीदनेको

कहें तो टका-सा जवाब मिलेगा कि ‘भाई ! हम  
इसका क्या करेंगे ? हमें पढ़ना तो आता ही नहीं ।  
परंतु उनका फोटो दिया जाय और जीवनचरित्र छपा  
जाय तो वे उस पुस्तकके प्रकाशनका सारा भार  
स्वीकार कर लेंगे और आगे आपसे उसका हिस्सा  
भी न माँगेगे । ऐसी हालतमें पुस्तक किसी भी कामकी  
न हो, तो भी आपका काम बन जायगा । लेकिन यह  
बात यहीं तक सीमित नहीं रहती, लेखकको भी अपनी  
कृतिका मोह रहता है और इस कारण वह भी उचित  
अनुचित करनेके लिये तैयार हो जाता है । कई लेखक  
इसके लिये दूसरोंकी रचनाओंपर भी अपने नाम  
छाप लगाते नजर आते हैं । यह इसी नाम-मोहकी  
महिमा है ।

यही बात पूजा, प्रतिष्ठा, धूमधाम, स्वधर्म-वास्तविक  
उद्यापन, रथयात्रा, सभापतित्व आदिके विषयमें कही जा



सकती है। केवल धार्मिक ही नहीं, सामाजिक, राज-नीतिक और पारिवारिक कार्यों और प्रसङ्गोंपर नामके लिये हजारों और लाखों रुपये पानीकी तरह बहानेवाले कई मिल सकते हैं; लेकिन गुप्त सहायताके लिये उनकी इच्छा नहीं होती। स्थायी प्रभाव रखनेवाले ठोस कार्योंके लिये भी वे तैयार नहीं होंगे, यदि उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि इसमें तत्काल वाहवाही नहीं मिलनेवाली है। इसीलिये सच्चा और स्थायी कार्य नहीं हो पाता। दिखावटी, प्रदर्शनके कार्य ही अधिक होते हैं। यह नाम-मोहरूपी महारोगका ही प्रभाव है।

भारतवर्षके प्राचीन इतिहासका अनुशीलन करनेपर ज्ञात होता है कि हमारे पूर्वज कार्य तो बहुत सुन्दर और उपयोगी करते थे, परन्तु उनका उद्देश्य परोपकार और आत्मकल्याण ही होता था, यशोलिप्सा और नामवरी नहीं। प्राचीन साहित्यमें अनेकों ग्रन्थ ऐसे उपलब्ध हैं, जिनके रचयिताओंके नामतकका पता नहीं चलता। यदि किन्हीं-किन्हींके नाम ज्ञात हुए तो दूसरे साक्ष्यों-द्वारा बड़े परिश्रमके बाद ही। इसी प्रकार मन्दिर और धर्मस्थानों आदिमें भी शिलालेख बहुत कम प्राप्त होते हैं। परन्तु हमें नाम-मोहने इतना विवेकहीन बना दिया कि उन प्राचीन स्मारकोंकी किंचित् मरम्मत, जीर्णोद्धार अथवा रूपान्तर करवाकर अपना नाम खुदवा देते हैं और पूर्वजोंकी स्मृति एवं महान् कार्य-कलापोंको सदाके लिये विस्मृतिके गर्भमें डाल देते हैं।

वास्तवमें देखा जाय तो गुण और कर्तव्य ही अमरता प्रदान करते हैं, नाम तो आयुके साथ ही मिट जाता है। नाम उन्हींका अमरता और स्थायी महत्त्वको प्राप्त करता है, जो काम कर जाते हैं, कर्तव्यकी वेदीपर अपना जीवन समर्पण कर जाते हैं। कृषकके लिये धान्य बड़ी चीज है, घास तो बिना इच्छाके अपने-आप उग आती है और उसका लाभ उसे मिल जाता है। कार्य किया है तो नाम स्वतः मिल जायगा। परन्तु

जहाँ केवल नाम ही उद्देश्य है, वहाँ काम लुप्त हो जायगा।

बहुत बार ऐसा होता है कि काम एक करता है और यश दूसरा हथिया लेता है। सम्पत्ति और सत्ताके द्वारा ही यह हथियानेका चक्र चलता है। दान देनेपर किसी धनिकका नाम तो तत्काल प्रसिद्धिमें आ जायगा, परन्तु उस दानका उपयोग करके जिसने उसे सार्थक किया, उसकी कोई गिनती ही नहीं होती। काम करनेवाला सेठ नहीं, नौकर या कार्यकर्ता होता है। युद्धमें लड़ते हैं, अपने प्राणोंकी आहुति देते हैं सैनिक; परन्तु नाम सेनापति या राजाका होता है। इस प्रकार एकका लाभ दूसरा हथिया लेता है। कई विद्वानोंकी रचना उनके आश्रयदाता राजादिके नामसे ही प्रसिद्ध होती है, कई लोग दूसरोंकी रचनाओंको खरचित घोषित करनेका कुत्सित प्रयत्न भी करते हैं।

आश्रित कवियोंके आश्रयदाताओंके नामपर प्रसिद्ध रचनाएँ अनेक मिलती हैं। इसे साहित्यवेत्ता एवं इतिहासज्ञ अच्छी तरह जानते हैं। आज भी कई सेठ और त्यागी रुपये देकर विद्वानोंके नामको मिटानेका घृणित कर्म करते हैं। यह सारी बुराई नाम-मोहरूपी महारोगका परिणाम है।

हमारे मनीषियोंने इस बुराईको हटानेके लिये बहुत सुन्दर उपदेश दिये हैं; परन्तु किसे अवकाश है उनकी ओर ध्यान देनेका! हमारी दृष्टि तो अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी हो रही है। अन्यथा कविवर ब्रनारसीप्रसादके ये शब्द कितने उद्बोधक हैं! जरा ध्यानसे पढ़िये और अपनी वृत्तिका निरीक्षण कीजिये—

धिर न रहै नर-नाम की कथा जथा जल-रेख।

एते पर मिथ्या-मति ममता करै विशेष॥

× × × ×

जहाँ सत्कार्य है, गुण है, वहाँ नाम तो बिना चाहे मिल जाता है। गुलाबका पुष्प नहीं कहता कि मेरे



पास आओ, मेरी प्रशंसा करो; पर उसकी सुगन्ध जिसकी नाकमें पहुँचती है, वह स्वतः आकर्षित हो कहने लगता है, 'क्या बढ़िया सुगन्ध है; चलो, उसके पास चलें।' एक व्यक्ति चुपचाप एकान्तमें कोई सत्कार्य करता है, पर उसके सत्कार्यकी सुगन्ध छिप नहीं सकती और दूनी

प्रशंसा होती है। नामकी अपेक्षा रखनेवाले दिग्गज लोग अधिक होते हैं। वे उतने महत्त्वका काम करते। अतः वह नाम भी थोड़े समयमें भुल जाता है। इसलिये नाम-मोह एवं यशोलिप्साके नहीं पड़ना चाहिये।

## चँदरी बुआ

( लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया )

राजस्थानमें पुराने जमानेमें ऐसी प्रथा थी कि एक ही गाँवमें शादी-विवाह नहीं होते थे। लड़कीको दूसरे गाँवमें देते थे और दूसरे गाँवकी लड़कीको बहू बनाकर लाते थे। यहाँतक होता था कि अगर किसी गाँवमें बारात आती तो घर-पक्षके गाँवकी जितनी भी लड़कियाँ वहाँ ब्याही हुई होतीं, सबको मिठाई भेजी जाती थी।

अपने गाँवकी लड़कीको, चाहे वह किसी भी जातिकी हो, आयुके अनुसार भतीजी, बहिन या बुआ कहकर पुकारा जाता था। मुझे याद है कि हमारे घरके पासमें एक मुसलमान लखारोंका घर था और हम उन सबको चाचा, ताऊ या चाची, ताई कहकर पुकारते थे।

अब गाँव, कस्बोंमें परिवर्तन हो गये हैं और यातायातके साधन सुलभ होनेसे आवागमन भी बढ़ गया है, इसलिये यह प्रथा कम होती जा रही है।

इस कथाकी नायिका चँदरी बुआका जन्म राजस्थानकी बीकानेर रियासतके एक गाँवमें आजसे ११० वर्ष पहले एक ब्राह्मण-परिवारमें हुआ था।

जब चँदरी १२ वर्षकी हुई, तब उसका विवाह हुआ। पासके गाँवसे बारात आयी और सारे कार्य धूम-धामसे सम्पन्न हुए।

उसका पिता साधारण स्थितिका ब्राह्मण था, परंतु उन दिनों विवाह-शादियोंमें घरवालोंको कुछ विशेष नहीं

करना पड़ता था। गाँवके पुरुष और स्त्रियाँ सारे कामका आपसमें बँटवारा कर लेते थे। प्रति घरसे एक-दो रुपये टीके या बानके रूपमें भी दिये जाते थे, किन्तु माँ-बापका खर्चका बोझ भी कम हो जाता था।

विवाह तो बचपनमें ही हो जाते, पर गौना तो पाँच वर्ष बाद होता था, उससे पहले बहू ससुराल नहीं जाती थी। चँदरीके पतिका देहान्त गौना होने पूर्व ही हो गया, फिर वह ससुराल नहीं गयी। मायके ही रहने लगी।

पहले तो वह शायद 'बेटी' या 'बहिन' के नामसे पुकारा जाती रही होगी; पर मैंने जब होश सँभाला, तबतक प्रौढ़ा हो चुकी थी और उसे 'बुआ' का पद मिल चुका था। उसके माँ-बाप स्वर्गवासी हो चुके थे। वह सुहृल्लेकी 'बुआ' कहलाने लगी थी।

दान-दक्षिणाके प्रति उसे प्रारम्भसे ही रूखी थी। इसीलिये सबके साथ उसके अच्छे सम्बन्ध होने पर वह श्रम करके ही अपना जीवन-निर्वाह करती। सुबह ४ बजे उठकर चक्की पीसने बैठ जाती। सूर्योदयतक ८ से १० सेरतक अनाज पीस लेती। इससे उसे प्रतिदिन २ से २॥ आनेतक कमाई हो जाती। उसे कभी कामका अभाव न रहता; क्योंकि एक तो काममें स्वच्छता रखती तथा दूसरे अनाजको साफ पीसती तथा पिसाईमें आटा घटाती न थी।



जब कभी हमारी नींद पहले खुल जाती, तब चँदरी बुआके भजन तथा चक्कीकी आवाज सुनायी पड़ती। उन दिनों अलार्न बड़ियाँ तो सुलभ थीं नहीं, अतः जिसे कभी मुहूर्त साधकर जाना होता या पहले उठना होता, वह चँदरी बुआको समयपर जगानेको कह जाता और वह उसे नियत समयपर जगा देती। उस समय तारोंको देखकर समयका ज्ञान बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंको रहता था।

उसकी आवश्यकताएँ कम थीं, इसलिये दो-ढाई आनेमें सामान्य जीवन-निर्वाह हो जाता था। चँदरी बुआने इससे अधिक कमानेकी आवश्यकता कभी नहीं समझी। दिनमें वह मुहल्लेके बच्चोंकी देख-भाल करती तथा कोई बीमार होता तो उसकी सेवा करती रहती। उन दिनों प्रसवका काम सयानी स्त्रियाँ या दाइयाँ ही सँभालती थीं। कठिन-से-कठिन समयमें भी चँदरीके आ जानेपर घरवालोंको और जवाको सान्त्वना एवं साहस मिल जाता था।

उसने जीवनका सारा प्रेम और ममत्व दूसरोंके बच्चोंपर उँड़ेल दिया। मुहल्लेके बच्चे सारे दिन उसे घेरे रहते थे—किसीको पतंगके लिये लेही चाहिये तो किसीको अपनी गुड़ियाके विवाहके लिये रंग-विरंगे कपड़े। उसके दरवाजेसे निराश जाते किसीको नहीं देखा।

संगीतकी शिक्षा प्राप्त किये बिना ही उसे ताल और खरका यथेष्ट ज्ञान था। विधवा होनेके कारण विवाह-शादीके गीत तो नहीं गाती, परंतु भजन और रातीजगा (रात्रि-जागरण) उसके बिना नहीं जमते थे। मीरा और सूरके पदोंको इतनी लवलीन होकर मधुर रागिनीसे गाती कि सुननेवाले भाव-विभोर हो जाते।

जब वह काफी वृद्धा हो चली थी, तब भी मैंने उसे देखा था। उस समय अनाज पीसना तो उसके वशकी बात नहीं थी, फिर भी कुछ छोटा-मोटा काम काती रहती थी। वह इतनी बूढ़ी हो चली थी कि

उसके हाथ और गर्दन काँपने लग गये थे और आवाजमें भी हकलाहट-सी आ गयी थी।

प्रतिवर्ष गर्मीके मौसममें लोग हरिद्वार और वररिकाश्रम जाते थे। चँदरी बुआसे लोगोंने बहुत बार आग्रह किया, परंतु उसका एक ही जवाब होता कि 'मुझ गरीब और अभागिनके भाग्यमें तीर्थ-स्नान कहाँ है? यह सब तो सौभाग्यशाली लोगोंको मिलता है।'।

एक दिन उसने मुझे बुलाया और कहने लगी— 'आजकल स्वास्थ्य जरा ठीक नहीं रहता; पता नहीं कब शरीर छूट जाय। मेरी इच्छा अपनी ससुरालके गाँवमें एक कुआँ बनानेकी है। वहाँ एक ही कुआँ है। इसलिये गर्मीमें गायेँ और ढोर तो प्यासे रहते ही हैं, मनुष्योंको भी पूरा पानी नहीं मिलता। तुम पता लगाकर बताओ कि एक कुएँपर कितना खर्चा आयेगा।' मैं आकर सोचने लगा कि 'बुढ़ापेमें बुआका दिमाग खराब हो गया है। आजकल दोनों वक्तका खाना भी खुद नहीं जुटा पाती, इसपर भी कुआँ बनानेकी धुन लगी है।'।

बात आयी-गयी हो गयी; परंतु १०-१२दिन बाद देखता हूँ कि लाठी टेकती बुआ सुबह-ही-सुबह हाजिर है। मनमें अपनेपर ग्लानि और क्षोभ हुआ कि 'जिसकी छत्रछायामें बचपनके इतने वर्ष बिताये, जिससे नाना प्रकारके छोटे-मोटे काम लिये, बहुत रात गये तक कड़नियाँ सुनीं—उसके एक छोटे-से कामपर भी मैंने ध्यान नहीं दिया।'।

मैंने कहा—'वहाँ पानी बहुत नीचा है, इसलिये कुएँपर दो-ढाई हजार रुपये खर्च होंगे। यदि कुई (छोटा कुआँ) बनायी जाय तो शायद डेढ़ हजारतकमें बन सकेगी।'।

मेरा उत्तर सुनकर बुआके झुर्रियोंसे भरे चेहरेपर एक गहरी उदासी छा गयी और मन-ही-मन कुछ हिसाब-सा लगाने लगी। दूसरे दिन मुझे अपने घर आनेको कहकर चली गयी।



अगले दिन जब मैं उसके यहाँ पहुँचा तो देखा कि वह मेरी प्रतीक्षा कर रही है। थोड़ी देर बाद इधर-उधर देखकर मुझे भीतरकी एक कोठरीमें ले गयी। खाटके नीचेसे एक पुराना डिब्बा निकाला और उसे खोलकर मेरे सामने उँडेल दिया।

विक्टोरिया, एडवर्ड और जार्ज पञ्चमकी छापके पुराने रुपये थे तथा कुछ रेजगारी थी। थोड़े-से चाँदीके गहने थे और एक सोनेकी मूरत थी, जो शायद उसकी माँने उसके विवाहके समय उसको दी होगी।

मैं रुपये गिन रहा था और पिछले ६०-७० वर्षोंका इतिहास मेरे मानसमें तैर रहा था। सोच रहा था— इस वृद्धाकी सारी उम्रकी कड़ी कमाईका यह पैसा है, जो उसने कठिन जीवन बिताकर, यहाँतक कि तीर्थ-यात्राकी बलवती इच्छाको भी दबाकर इकट्ठा किया है। आज जीवनके संध्याकालमें सारा-का-सारा परोपकारमें लगा देना चाहती है। गिनकर मैंने बताया कि 'लगभग ९००) रुपये हैं। ३००) रुपयेके गहने होंगे। इतनेमें काम बन जायगा; जो कुछ थोड़ी कमी रहेगी, उसकी व्यवस्था हो जायगी। कोई चिन्ताकी बात नहीं है।'।

वह बोली—'बेटा ! मेरे पतिके निमित्त कुआँ बनेगा। इसमें दूसरोंका पैसा कैसे ले सकूँगी। नहीं होगा तो एक मजदूर कम रखकर कुछ काम मैं कर दिया करूँगी।' मैंने पूछा, 'बुआ ! कुएँपर किसके नामका पत्थर लगेगा ?' अपनी धुँधली आँखोंको कुछ फैलानेकी चेष्टा करते हुए बुआने जवाब दिया कि 'नामकी इच्छासे पुण्य घट जाता है। फिर मनुष्य तो स्वयं क्षणभङ्गुर है, उसके नामका मूल्य ही क्या ?'

मुझे इस अपढ़ वृद्धाके तर्कपर आश्चर्यके साथ श्रद्धा हो रही थी। यह कुआँ बनानेके परोपकारी कामके वास्ते

सर्वस्व लगाकर भी न तो अपना और न अपने पतिके नामका पत्थर लगानेकी इच्छा रखती है—जब कि आज १ लाख लगाकर ५ लाखकी इमारतपर या संस्थाके साथ अपना नाम लगानेकी होड़ धनवान् और विद्वानोंमें लड़ रही है तथा उद्घाटन-समारोह किसी मन्त्री या नेतासे कराये, इसपर भी काफी सोच-विचार होता है। तै नहीं कर पा रहा था कि कौन बड़ा दानी है और किसका दान अधिक सात्त्विक है।

कुछ दिनों बाद उस गाँवमें गया तो देखा कि कुआँ बन रहा था और चँदरी बुआ भी मजदूरोंके साथ टोकरा ढो रही थी। उसकी लगन और परिश्रम देखकर दूसरे मजदूर-कारीगर भी जी-जानसे काममें जुटे थे। कुआँ बनकर तैयार हो गया, परंतु चँदरी बुआ थककर बीमार हो गयी। जिस दिन हनुमान्जीका जागरण और प्रसाद हुआ, वह वेहोश-सी थी।

किसीने कहा—'बुआ ! तुम्हारे कुएँका पानी तो बहुत मीठा निकला है, परंतु तुम तो बहुत दिन नहीं पी सकोगी।' वह बोली—'मेरा इसमें क्या है ? तुम सब लोगोंमें रहकर कमाया हुआ पैसा था, वह भले काममें लग गया। दूसरोंके कुआँसे सारी उम्र पानी पिया है, इसलिये इस छोटे-से प्रयत्नके द्वारा मैंने अपना ऋण चुकानेका प्रयास किया है। मेरी अन्तिम इच्छा है कि जब मेरे प्राण निकलें, गङ्गाजलकी जगह इसी कुएँका पानी मेरे मुँहमें डालना।'।

हनुमान्जीके जागरणमें आस-पाससे देहातके काफी लोग इकट्ठे थे। थोड़ी देर बाद ही वहीं सबके सामने बुआका देहान्त हो गया।

आज वह गाँव बड़ा हो गया है और दूसरे कुएँ भी बन गये हैं, परंतु चँदरीके कुएँके पानीके समान मीठा पानी किसीका भी नहीं है।



## भक्त-गाथा

[ दक्षिण भारतकी सुप्रसिद्ध महिला-संत कारैक्काल अम्मैयार ]

( लेखक—श्रीवल्लभदासजी विद्याना 'व्रजेश', साहित्यरत्न, साहित्यालंकार )

संत सुन्दरने, जिनकी शैव मतके चार प्रमुख आचार्योंमें गणना है, तमिळनाडुके सिद्ध एवं प्रतिष्ठित शैव संतोंकी एक सूची तैयार की थी। इसमें ६० पुरुषों और तीन स्त्रियों—कारैक्काल अम्मैयार, पाण्ड्य-कुलकी महारानी मंगैयर्क-राशियार और संत सुन्दरकी माता इशैशानियारके नाम थे। संत अम्मैयारका जन्म कारैक्कालमें हुआ था; इसीलिये उन्हें 'कारैक्काल अम्मैयार' कहा जाता है। अम्मैयारका जन्म किस शताब्दीमें हुआ, इसके विषयमें कोई निश्चित सूचना तो उपलब्ध नहीं है, लेकिन इस बातके प्रमाण अवश्य हैं कि वे शैव आचार्य तिरुज्ञानसम्बन्धके समयसे पहलेकी थीं। आचार्य तिरुज्ञानके सम्बन्धमें प्रामाणिकरूपसे यह ज्ञात है कि वे सातवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें हुए थे। इसलिये अम्मैयारका जीवनकाल ४०० से ६०० ईसवीके बीचमें कहीं रहा होगा।

कारैक्काल अम्मैयारकी जीवन-गाथाके बारेमें सूचना प्राप्त करनेका मुख्य स्रोत तिरुतोण्डर-पुराण चोळ सम्राट् कुलोत्तुङ्ग द्वितीय (ईसवी ११३३ से ११४६) के प्रधान मन्त्री केक्किलारके लिखे हुए इस ग्रन्थको 'पेरिया' अर्थात् 'वृहत्पुराण' भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त संत अम्मैयारकी काव्य-रचनाओंसे भी उनकी मान्यताओं, आकाङ्क्षाओं और आध्यात्मिक सिद्धियोंके बारेमें पर्याप्त सूचना प्राप्त होती है।

अब इस लेखमें पाठकोंको अम्मैयारके जीवनचरित्रका परिचय देनेके लिये पेरिया पुराणमें वर्णित वृत्तान्त लगभग जैसा-का-तैसा प्रस्तुत किया जायगा।

कारैक्काल कई सदियोंसे एक महत्त्वपूर्ण और समृद्ध व्यापार-केन्द्र बना हुआ था। उस बंदरगाहसे बड़े पैमानेपर आयात-निर्यातका व्यापार हुआ करता था। वहाँके धनाढ्य वणिक् और व्यापारी अपने समस्त कार्य-कलापमें सत्यके सिद्धान्तोंका पालन किया करते थे। इस वणिक्-समुदायके मुखिया धनदत्तके घरमें अम्मैयारने जन्म लिया। इस विलक्षण सुन्दर और सौम्य कन्याका नाम रखा गया—पुनीतवती।

पुनीतवतीने शैशवकालमें ही भक्तिमार्ग अपना लिया था। तुतला-तुतलाकर वह भगवान् शंकरके नामका जप करती

और आह्लादित हो उठती। बड़ी होनेपर उन्होंने अपनी एक कवितामें लिखा—

‘हे सकलब्रह्माण्डके उज्ज्वल नीलकण्ठवाले स्वामी ! मैंने जयमे बोलना सीखा है, तेरे ही नामका उच्चारण किया है। तेरे ही श्रीचरणोंमें अपना सम्पूर्ण प्रेम समर्पित किया है; कब तू प्रसादाभिमुख होकर मेरे कंधोंको हरेगा ?’

पुनीतवती बड़े घरकी बेटी थी और वह भी इकलौती। उसके लालन-पालनमें किसी तरहकी कोरैकसर नहीं रहने दी गयी थी। वह जैसे-जैसे बड़ी होती गयी, उसका रूप भी उतना ही निखरता चला गया। लेकिन वह तो रूप-सौन्दर्य, अलंकार-आभूषण—इन सबसे बिल्कुल अनभिज्ञ थी। और तो और, उसके खेल भी शिव-आराधनाके खेल होते थे, वरौंदा बनाने या गुड़ियाका ब्याह रचानेके नहीं। शिवके भक्तोंके प्रति उसकी श्रद्धा और उसका सेवाभाव दोनों बराबर बढ़ते गये।

बाल्यकालको पारकर पुनीतवतीने कैशोर्यकी पहली सीढ़ी-पर कदम रखा। हिंदू मान्यताओंके अनुसार लड़की जब बड़ी और सयानी हो गयी, उसपर घरसे बाहर न जानेका प्रतिबन्ध लगा दिया गया। स्वजन उसके विवाहकी चिन्ता करने लगे। उन दिनों एक अन्य बंदरगाह नागपट्टिणम्में निधिपति नामक एक धनाढ्य व्यापारी रहता था। उसने अपने बेटे परमदत्तका पुनीतवतीसे सम्बन्ध करानेके लिये बड़े-बूढ़ोंको कारैक्काल भेजा। पुनीतवतीके पिता धनदत्तने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। कारैक्कालमें बड़ी घूमधामसे परमदत्तने पुनीतवतीका पाणिग्रहण किया। धनदत्तने इकलौती बेटीको विदा करनेमें अपनेको असमर्थ पाया और परमदत्तसे अपने ही यहाँ रह जानेका अनुरोध किया। परमदत्त कारैक्कालमें ही रहने लगा। धनदत्तने बेटी और दामादको रहनेके लिये एक महल दे दिया और दामादको अपना अलग कारबार चलानेके लिये पर्याप्त धन-राशि भी दी।

इस प्रकार पुनीतवतीके वैवाहिक जीवनका आरम्भ हुआ। शकुन सभी शुभ प्रतीत होते थे। वह अपने पतिको



अच्छा मानती थी, उसकी सेवा करती थी। अच्छे संस्कारों-वाली स्त्रीकी भाँति हर तरहसे वह उसे सुखी और प्रसन्न रखनेका यत्न करती थी। लेकिन भगवान् शिवके प्रति पुनीतवतीकी अगाध भक्ति, जो बाल्यकालमें ही प्रस्फुटित हो चुकी थी, निरन्तर बढ़ती चली गयी। जब कभी शैव साधु-संत उसके द्वारपर आते, वह उनका श्रद्धा और सम्मान-पूर्वक स्वागत करती, उन्हें दान-दक्षिणा देती। साधुओंकी संगतिमें उसकी धार्मिक वृत्ति और भी प्रखर हो गयी। परमदत्तका धर्म-कर्ममें अधिक विश्वास नहीं था, लेकिन उन्होंने पुनीतवतीकी धार्मिक वृत्तिमें कभी बाधा नहीं डाली।

एक दिन परमदत्त अपनी दुकानपर बैठे हुए थे। कुछ लोग उनसे मिलने आये और उन्होंने परमदत्तको दो बहुत ही स्वादिष्ट आम भेंट किये। परमदत्तने नौकरके हाथ वे आम घर भिजवा दिये। पुनीतवतीने उन्हें सँभालकर रख दिया। थोड़ी देर बाद एक वृद्ध शैव पुनीतवतीके द्वारपर आया। वह बहुत ही थका हुआ और कई दिनोंका भूखा दीख पड़ता था। पुनीतवतीने तुरंत उस साधुको भोजन करानेकी व्यवस्था की। उसने साधुको हाथ-पैर धोनेके लिये जल दिया और पत्तल बिछा दी। लेकिन उस समय रसोईमें केवल भात पका हुआ था, कोई शाक तैयार नहीं था। पुनीतवतीने भात परोस दिया और पतिके भेजे हुए दो आमोंमेंसे एक साधुकी पत्तलपर रख दिया। उस भोजन और गृहलक्ष्मीके स्वागत-सत्कारसे साधु बहुत ही संतुष्ट हुआ। उसने पुनीतवतीको धन्यवाद दिया और आशीर्वाचन कहकर चला गया।

दोपहरमें परमदत्त भोजन करनेके लिये घर आये। आदर्श एवं आज्ञाकारिणी पत्नी पुनीतवतीने उन्हें भोजन करानेके लिये भात और नाना प्रकारके सुस्वादु व्यञ्जन परोसे और बचा हुआ आम भी पत्तलपर रख दिया। आम परमदत्त-को इतना मीठा और अच्छा लगा कि वह तुरंत माँग कर बैठा कि 'दूसरा आम भी लाओ'। पुनीतवती एक क्षण किंकर्तव्यविमूढ़ हुई बैठी रही। पतिकी आज्ञाका पालन करनेके लिये वह उठी और वहाँ गयी, जहाँ आम रखे थे। उसने भगवान् शिवका स्मरण किया और कहा—'प्रभो! मुझे बचाइये और एक आम यहाँ लाकर रख दीजिये'। इतनी प्रार्थना करनी थी कि उसने देखा सामने एक बहुत अच्छा आम रखा हुआ है। उसने बिना कुछ कहे शान्त मनसे वह आम पतिकी पत्तलपर रख दिया। परमदत्तने आम खाया

और चकित से रह गये। कहने लगे—'यह तो पहले मैं भी कहीं अधिक स्वादिष्ट है। ऐसा आम तो मैंने इसके तन न कभी देखा, न खाया। यह तो पिछले आमके साथ आम नहीं हो सकता। बताओ, तुमने यह कहाँ पाया'।

पुनीतवती असमंजसमें पड़ गयी और उसका धरधराने लगा। एक ओर भक्त होनेके नाते उसका कर्तव्य था कि दैवी कृपासे जो चमत्कार हुआ था, उसे भेद किसीको न बताये। दूसरी ओर पातिव्रत्यका यह आश था कि वह पतिकी आज्ञाका पालन करे और जो सूझ उसके पतिने माँगी है, वह उसे दे। अन्तमें उसने यह निश्चय किया कि पातिव्रत्य धर्म निभाना ही उसका पहला कर्तव्य है। अतएव उसने अपने प्रभुसे क्षमा-याचना करनेके पतिको सारी घटना बता दी। परमदत्त यह वृत्तान्त सुन ठगे-से रह गये। लेकिन अविश्वास उनके मनमें पर नहीं लगा और वे कह बैठे—'यदि वास्तवमें भगवान् शिव तुमपर ऐसी कृपा है तो वैसा ही एक और आम प्राप्त दिवाओ'। अब पुनीतवती क्या करे? मनको स्थिर कि कुछ दूर हटकर खड़ी हो गयी और आकाशको सन्तुष्ट करके बोली—'प्रभो! वैसा ही एक और फल मेरे अन्यथा तुम्हारी यह भक्ता पतिके सामने झूठी हो जाय'। उसका यों कहना था कि फिर वैसा ही एक और फल हाथमें आ गया। आम पतिको दिया गया तो वे आश्चर्यचकित रह गये; पर जब वह आम उनके हाथमें आकर पुनः पतित हो गया, तब वे बहुत घबरा गये।

कुछ देरतक उनके मुँहमें कोई शब्द नहीं निकल समझ गये कि पुनीतवती कोई साधारण स्त्री नहीं है। कोई देवी है, जिसने मानवीय चोला धारण कर रखा है। उसे पत्नीके रूपमें अपने साथ रखना ठीक नहीं। परमदत्त कारैककाल छोड़कर जानेकी तैयारी करने लगे। पुनीतवतीको अपनी पत्नी नहीं, कोई देवी मानने लगे।

प्रार्चन तमिलनाडुमें कई व्यापारी अपने-अपने लेकर समुद्रपारके देशोंमें व्यापार करने जाते थे। परमदत्त भी कुछ व्यापारी जहाज बनवाये और अपना माल लेकर देशोंको गया। वहाँ खासा मुनाफा कमाकर वह स्वदेश लौट लेकिन कारैककाल या नागपट्टिणम् न जाकर वह उत्तर गया, जो पाण्ड्यनरेशोंकी राजधानी थी। वहाँ जाकर बस गया और उसने किसीको यह नहीं बताया कि वह कारैककालका है तथा पुनीतवतीसे उसका विवाह हो



हे। यही नहीं, उसने मदुरैमें एक कन्यासे विवाह भी कर लिया और इसकी खबर कारैकाल नहीं पहुँचने दी। तदनन्तर अपनी दूसरी पत्नीसे उसे एक लड़की हुई। परमदत्त हर रोज अपनी पहली पत्नी पुनीतवतीका देवीके रूपमें पूजन किया करता था। उसने अपनी कन्याका नाम श्रद्धावश (पुनीतवती) ही रखा। उधर पुनीतवती इस सारे इतिहाससे अनभिज्ञ अपनी गृहस्थी चलाये जा रही थी और पातिव्रत धर्मका निर्वाह कर रही थी।

कोई भी बात अधिक समयतक छिपी नहीं रह सकती। पुनीतवतीके सम्बन्धियोंको अन्ततः यह पता चल ही गया कि परमदत्तने मदुरैमें दूसरा विवाह करके नयी गृहस्थी बसा ली है। इस समाचारकी पुष्टि करनेके बाद पुनीतवतीके सम्बन्धी पुनीतवतीको एक सुन्दर पालकीमें बैठाकर सुदूर बसे हुए नगर मदुरै ले गये। मदुरै पहुँचकर उन्होंने परमदत्तको पुनीतवतीके आगमनकी सूचना दी। पहले तो परमदत्त कुछ घबराये, लेकिन फिर स्वस्थ होकर उन्होंने पुनीतवतीका स्वागत किया, अपनी नयी पत्नी और कन्याका परिचय दिया और फिर पुनीतवतीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। परमदत्तकी दूसरी पत्नीने भी पुनीतवतीके पैर छूए। इस रहस्यमय व्यापारसे पुनीतवती और उसके सम्बन्धी अतिशय चकित हुए। परमदत्त बोले—‘देवी! आपकी कृपासे मैं यहाँ रह रहा हूँ और मैंने अपनी बच्चीका नाम आपके नामपर ही रखा है’। सम्बन्धियोंने कहा—‘आपने अपनी पत्नीके पैर छूए, यह लीला कुछ समझमें नहीं आयी।’ परमदत्तने स्पष्ट और दृढ़ स्वरमें उत्तर दिया—‘पुनीतवतीजी कोई साधारण स्त्री नहीं हैं। इनके देवी स्वरूपका ज्ञान होनेपर ही मैंने इन्हें अपनी पत्नी समझना छोड़ दिया है। मैं इन्हें अपनी श्रद्धा और भक्तिका पात्र समझता हूँ और इसी श्रद्धावश मैंने अपनी लड़कीका नाम इनके नामपर रखा है। इसीलिये मैंने इनके श्रीचरणोंमें प्रणाम किया, आप भी वैसा ही करें।’

यह सुनकर सम्बन्धीगण स्तब्ध रह गये। पुनीतवतीकी भी विचित्र दशा हुई। उसने त्रिपुरारि महादेवका स्मरण किया और भाव-विह्वल होकर अन्तर्मनसे प्रार्थनाके निम्न लिखित शब्द कहे—‘प्रभो! आप मेरे पतिका आचरण देख ही रहे हैं। मैं अब क्या कर सकती हूँ। इस देहको, इस रूप-सौन्दर्यको मैं पतिके लिये ही बनाये हुए थी। आप मुझे देहहीन, रूप-सौन्दर्यहीन करके मुक्ति दिला दीजिये।’

मैं प्रेत-छाया बनूँ और कायाके पिंजरेसे मुक्त होकर दिन-रात आपके श्रीचरणोंके अनुरागमें लीन रहूँ।’ इस प्रकार वह भक्ति-भावमें डूबी खड़ी रही और कैलासपतिने प्रसादाभिमुख हो उसकी याचना स्वीकार की। पुनीतवतीकी काया बदल गयी। उसकी सुन्दर देहवल्ली, जो आत्माके सौन्दर्यसे और भी प्रदीप्त हो उठी थी, सहसा कुम्हल गयी और प्रेतछायावत् कंकाल बन गयी। वह इतनी कुरूप हो गयी कि देखनेवालोंको भय लगने लगा। इन्द्र आदि देवताओंने उसपर नन्दनवनके पुष्पोंकी वर्षा की और दैवी संगीतधारा गूँज उठी। देव-किन्नर आदि स्वर्गके निवासी आह्लादित हो उठे। उधर पुनीतवतीमें यह चामत्कारिक परिवर्तन होता देख सम्बन्धीजन भयभीत हो गये और डरते-डरते प्रणाम करके वहाँसे भाग खड़े हुए।

फिर कारैकाल अम्भेयारके जीवनका एक नया अध्याय शुरू हुआ। उन्होंने भगवान् शिवकी प्रशस्तिमें काव्य-रचना आरम्भ की और अनुभव किया कि त्रिपुरारि महादेवका वरद हस्त उनपर बना हुआ है। धारणा है कि इस चरम अवस्थामें उन्होंने तमिळ्में गीतोंकी रचना की। इनके दो संकलन हैं—‘अरपुदा तिश्वन्तादि’, जिसमें एक सौ एक पद हैं और दूसरा ‘तिश् इरट्टै मणिमालै’, जिसमें बीस पद हैं।

पुनीतवतीकी देहका प्रेतछायामें बदल जाना सांसारिक सुखोंकी तिलाञ्जलिका प्रतीक बन गया। वे मोह-माया पूर्णतया भूल गयीं और कैलास पर्वतपर आसीन भगवान् शिवके दर्शनकी अभिलाषा उनके मन-प्राणपर हावी हो गयी। वे उत्तर दिशामें कैलास-वात्राके लिये चल पड़ीं। रास्तेमें जो भी लोग मिलते, उन्हें देखकर डर जाते; लेकिन इससे वे जरा भी विचलित नहीं हुईं। उन्होंने कहा—‘विशाल विश्वके आठ कोनोंमें एकत्रित जनताके, जो चिरन्तन सत्यसे अनभिज्ञ हैं, सम्मुख मैं किसी भी रूपमें प्रकट हूँ, इससे कोई भी अन्तर नहीं पड़ता, यदि सच्चे दाता भगवान् शिव मुझे अपने भक्तोंमें मान लें।’

कारैकाल अम्भेयार जब कैलास पर्वतकी चढ़ाई कर रही थी, तब उनकी अन्तरात्मामें एक अवोष्य भावना आयी कि उन्हें इस पर्वतपर पैरोंसे नहीं, अपितु सिरके बल चढ़ना चाहिये। कई लेखकोंके मतानुसार उन्होंने केवल इस प्रकारका जीवनक्रम अपनाया, जो सांसारिक व्यवहार और



रीतियोंसे सर्वथा विपरीत है; किंतु अन्य विद्वान् इससे सहमत नहीं। वे इसका शाब्दिक अर्थ लगाते हैं कि विदेवेश्वरके भक्तोंके द्वारा सभी कुछ सम्भव है। वे अपने इष्टदेवके लिये कुछ भी कर सकते हैं। उनके मन, मस्तिष्क और शरीर आराध्यके आधिपत्यमें हैं। वास्तविकता कुछ भी हो, अम्मैयार कैलास पर्वतकी चोटीपर स्थित अपने इष्टदेवके निवासस्थानपर पहुँच गयीं।

अम्मैयारके इष्टदेव शिवकी अभयदायिनी अर्धाङ्गिनी उसकी दृष्टि जब इन भक्ताकी प्रेतछायापर पड़ी, तब उन्होंने अपने स्वामी महेश्वरको सम्बोधित कर कहा— 'स्वामिन् ! देखो, तुम्हारे प्रति इस आत्माका कितना अलौकिक प्रेम है, जो उसकी कंकाल बनी हुई कायासे अभिव्यक्त हो रहा है।' महेश्वर बोले— 'प्रिये ! जानती हो, यह काया जो प्रतिक्षण हमारी ओर बढ़ती आ रही है वस्तुतः मेरी माँ है। उसका वर्तमान उपासक रूप, जो मैंने उसकी भक्तिसे विभोर होकर प्रदान किया था, केवल मात्र मेरे प्रति की गयी सच्ची लगन और अनन्य-भक्तिका परिणाम है।' जब अम्मैयार अपने आराध्य शिवके सम्मुख उपस्थित हुई, तब शिवने उन्हें 'जननी' कहकर सम्बोधित किया। भावनाओंसे अवरुद्धकण्ठ हुई अम्मैयार शिवको 'पिता' कहकर आराध्यके चरणोंसे लिपट गयीं। तदुपरान्त शिवने अपनी भक्तासे उसकी मनोकामना जाननी चाही। अम्मैयारने जो उत्तर दिया, वह कवि सैकिलारकी आत्म-विस्मारक कवितामें अङ्कित है। अम्मैयारने सर्वप्रथम अपने इष्टदेवके अनन्त, अमिट और सर्वश्रेष्ठ प्रेमकी याचना की और फिर इस प्रकार स्तुति की—

'मुझे जन्म-मृत्युकी यातनासे मुक्ति दें; किंतु यदि आपकी रुचि यही है कि मैं पुनः जन्म लूँ तो यह वरदान दें कि आपकी मुधि सदैव बनी रहे। हे धर्मदेव ! मुझे एक वरदान और प्रदान करें कि जब आप ताण्डव नृत्य करें, तब मैं आपके चरणोंके निकट खड़ी उसे देख सकूँ।'।

इस प्रार्थनासे प्रसन्न शिवने वरदान दिया कि वह तिरुवाल्काडु स्थानपर उनके शाश्वत नृत्यको आनन्दविभोर होकर देखेगी और उनकी स्तुति करेगी। यह आशीर्वाद पाकर अम्मैयार प्रफुल्लित हो उठीं और उनके आनन्दकी सीमा न रही। वे तत्काल कैलाससे तमिलनाडु लौट आयीं

और उन्होंने सीधे तिरुवाल्काडुकी ओर कूच किया। वहाँ वे सिरके बल प्रविष्ट हुईं। तबसे वे निरन्तर वहाँ स्थित नटराज शिवके शाश्वत ताण्डव नृत्यका अवलोकन करती रहती हैं। उस पवित्र देवस्थानपर पहुँचनेके पश्चात् अम्मैयारने शाश्वत नृत्यको निहार ग्याह स्तोत्रोंकी दो काव्य-मालाएँ रचीं, जिनमें तिरुवाल्काडुमें हो रहे भगवान् शंकरके विराट् नर्तकरूपका वर्णन है।

उक्त विवरणसे स्पष्ट है कि अम्मैयारका सांसारिक प्रति शिक्षा, संस्कृति और आध्यात्मिक ज्ञानमें उतना समुन्नत नहीं था, जितनी उसकी पत्नी थी। इन दोनोंकी तुलना जीवन-चरित्र-लेखकने अपनी वाक्चातुरीसे दी है। उन्हे जहाँ पतिकी उपमा यौवनमय बलिष्ठ वृषभसे दी है, वहाँ पत्नीकी उपमा उस कोमल-कान्त-कलेवरा मयूरीसे दी है, जो चाहे तो अपने परोंकी सुन्दरता प्रदर्शित करे या न करे। ऐसी विषमतामें भी अम्मैयारने अपने पतिको सदैव सम्मान प्रदान कर कर्तव्यपरायणा पत्नीकी तरह सेवा की। स्पष्ट है, अम्मैयार एक सुशिक्षिता स्त्री थीं, जो उच्चकोटिके भक्ति-काव्यकी रचना कर सकती थीं। उनकी रचनाएँ तमिलके शैव-साहित्यमें सम्मिलित करनेके योग्य समझी गयीं। संत सम्बन्ध तथा आजतकके अन्य संतोंने उनका सम्मान किया है। आज भी उनकी प्रतिमा शैव मन्दिरोंमें अन्य ६३ नायनार संतोंकी प्रतिमाओंके साथ पायी जाती है।

उदाहरणके लिये अरुपद् तिरुवन्तादिमेंसे कुछ पद्योंके अर्थ नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

१—मेरे इष्टदेव, जो मुण्डमाला धारण किये तथा आगकी लपटें हाथमें लेकर ताण्डव नृत्य करते हैं, यदि मेरा कष्ट निवारण न करें, सुखपर दया न दिखायें और मेरा पथ प्रदर्शन न करें, तो भी मेरा हृदय उनके प्रति अगाध प्रेम और भक्तिसे विमुक्त नहीं हो सकता।

२—कुछ लोगोंके अनुसार भगवान् स्वर्गमें वास करते हैं, तो कुछ लोग उन्हें वैकुण्ठवासी बताते हैं; परंतु मेरे आराध्य, जो ज्ञानेश्वर और विषपानके कारण नीलकण्ठ हैं, मेरे हृदय-मण्डलमें निवास करते हैं।

३—मेरा ही हृदय पवित्र है, मैंने ही जन्म-मरणके बन्धन तोड़े हैं और मेरी तपस्या ही चरितार्थ और फलीभूत हुई है; क्योंकि मैं अपने स्वामी त्रिलोचनकी चरण-सेवा



रत हूँ, जो बाधवर धारण किये हुए हैं और विभूति रमाते हैं ।

४—मेरे महेश्वरकी अनुकम्पासे ही समस्त विश्व शासित है, उनकी दयासे ही प्राणी जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति पाता है । मैं उन्हीं महेश्वरकी कृपासे सर्वोच्च वास्तविकता और मूलतत्त्वका अनुभव करती हूँ । अतः संसारकी समस्त दुर्लभ-से-दुर्लभ वस्तुएँ मेरे लिये हस्तामलकवत् हैं ।

५—मेरा ध्यान एक ही ओर केन्द्रित है । मेरा एक ही अटल निश्चय है और मेरे हृदयकी एक ही निधि है—वह यह कि मैं उन स्वामीकी सेविका बनूँ, जिनके ललाटपर द्वितीयाका चन्द्रमा विराजमान है, जिनकी जटाओंसे गङ्गा प्रवाहित है और जिनके एक हाथमें विस्फुल्लिङ्गयुक्त अग्नि है ।

६—क्या मैं उन्हें 'हर' कहूँ, 'ब्रह्मा' कहूँ या इन दोनोंसे परे ? मैं नहीं जानती कि उनका वास्तविक स्वरूप क्या है ।

७—वही जानता है, वही सिखाता है, वही ज्ञानेश्वर है और वही मौलिक सत्ता है, जिसको जानना अभीष्ट है । वही प्रकाश-पुञ्ज अग्नि है, वही पृथ्वी और आकाश है ।

८—जो अज्ञानी प्राणी उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते, उनका उपहास करते हैं, वे केवल बाह्य आकारको देखते हैं, जिसपर विभूति लगी है और गलेमें मुण्डमाला है—भानो प्रेतका आकार हो ।

९—केवल पुस्तकीय ज्ञानपर आधारित ज्ञानवाले विद्वान् ही विवाद करते हैं, जिनमें धार्मिक ग्रन्थोंमें निहित मूल सत्यके समझनेकी क्षमता नहीं है । चिरंतन सत्यके खोजी सच्चे भक्तके सम्मुख भगवान् स्वयं ही उस रूपमें प्रकट होते हैं, जिसमें उसका भक्त उसे देखनेकी अभिलाषा रखता है ।

१०—मेरे परमपिता ! मेरी केवल एक ही आकाङ्क्षा और उत्कण्ठा है कि मैं उस क्षेत्रको जान सकूँ, जहाँ तुम महाप्रलयकी निशामें हाथमें अग्नि धारण किये ताण्डव नृत्य करते हो ।

११—विराट् नृत्यमें रत तुम्हारे पद संचालनसे पृथ्वी और आकाश नष्ट हो जाते हैं, तुम्हारे सिर उठाते ही स्वर्गका चन्द्रमा फट जाता है । जब तुम्हारी सुशोभित भुजाएँ गति करती हैं, तब कामदेव काँप उठता है । विशाल विश्वका रंगमञ्च तुम्हारे नृत्यके भारको उठा नहीं सकता ।

१२—हमने मृत्युपर विजय पायी और नरकसे बचे, हमने शुभाशुभ कर्मोंके बन्धन भी तोड़ डाले—यह सब तभी सम्भव हुआ, जब हमने अपने अस्तित्वको पूर्णतः महेश्वरके पवित्र चरणोंमें रत कर दिया—उन महेश्वरके, जिन्होंने अपने तीसरे नेत्रकी अग्निसे त्रिपुरासुरोंके गर्दोंको ही भस्मसात् कर दिया ।

## मोहनकी उलटी रीति

भरोसौ रीझन ही लखि भारी ।

हमहू कौं विस्वास होत है, मोहन 'पतित-उधारी' ॥

जो पेसौ सुभाव नहिं होतौ, क्यों अहीर कुल भायौ ।

तजि कै कौस्तुभ-सौ मनि गल क्यों गुंजा-हार धरायौ ॥

कीड मुकुट सिर झोंडि पखौजा मोहन कौ क्यों धारयौ ।

फँड कसी टैंटिन पै, मेवन कौ क्यों खाद बिसारयौ ॥

पेसौ उलटी रीति देखि कै, उपजति है जिय आस ।

जग-निन्दित 'हरिचंदडु' कौ अपनावहिने करि दास ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र



## पढ़ो, समझो और करो

( १ )

### यह आचारनिष्ठा जगत्को पवित्र करती रहेगी

परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार २२ मार्चको प्रातःकाल अपना पार्थिव कलेवर त्यागकर भगवान्की नित्यलीलामें लीन हो गये। वे भगवान्में ही जीये, भगवान्में ही रहे और अन्तमें भगवान्में ही लीन हो गये। उन्होंने अपने जीवन, व्यवहार, कार्य, वाणी, लेखनी—इतना ही नहीं, अपने श्वास-श्वाससे भगवद्वाक्का प्रचार-प्रसार किया। आस्तिकताकी साकार प्रतिमा उनका जीवन था।

भक्त अखिल विश्व-त्राहण्डके रूपमें अपने प्रभुको ही अभिव्यक्त हुआ अनुभव करता है। अतः सभी भूत-प्राणियोंके प्रति उसका आत्मभाव रहता है और इससे उसमें नित्य अहिंसाकी प्रतिष्ठा रहती है। श्रीभाईजीके जीवनमें भी हम इसका आदर्श रूप प्राप्त करते हैं। उन्होंने जीवनभर अपने कण-कणसे अहिंसा, प्राणीप्रेम एवं पवित्रताका दान किया है।

वे आदर्श गृहस्थ संत थे। अतएव शरीरकी अस्वस्थतामें उपचार करवाते थे; पर इस बातका वे बराबर ध्यान रखते थे कि जो औषध वे ले रहे हैं, उसमें किसी भी रूपसे कोई जान्तव पदार्थ अथवा अन्य कोई अशुद्ध वस्तु न हो। आजकल पशु-पक्षियोंकी हत्या कर उनके रक्त, मांस एवं विभिन्न अङ्गोंके रसोंसे अनेक प्रकारकी औषधोंका निर्माण हुआ है, जो अनेक भीषण रोगोंमें बहुत लाभप्रद भी सिद्ध हुई हैं; परंतु श्रीभाईजी इस प्रकारकी औषधोंसे सदा सर्वथा सावधान रहे। वे प्रयोग की जानेवाली प्रत्येक औषधमें सम्मिलित किये गये पदार्थोंके विषयमें पूरी जानकारी करनेके पश्चात् ही उसका सेवन करते थे। किसी औषधमें यदि तनिक भी कोई जान्तव पदार्थ सम्मिलित पाया जाता था तो वे उसे नहीं लेते थे, फिर चाहे वह कितनी ही महत्त्वपूर्ण नसों न हो।

लगभग बीस वर्षसे उन्हें मधुमेह ( डायबिटीज ) की बीमारी थी। इसके लिये वे अपने भोजनपर बराबर नियन्त्रण रखते थे तथा आवश्यक होनेपर कुछ दवा भी ले लिया करते थे। मित्रोंने तथा डाक्टरोंने 'इन्सुलिन' का इन्जेक्शन लेनेके लिये अनेक बार कहा; पर वे जानते थे कि 'इन्सुलिन' पशुओंके किसी अङ्गविशेषके रससे बनता

है। अतएव उन्होंने इसका सेवन कभी नहीं किया। अन्तिम बीमारीके समय उनके पेटमें भीषण पीड़ाकारक एक गोला बन गया था, जो डाक्टरोंकी रायमें फोड़ा या कैन्सर था। स्थानीय डाक्टरोंके आग्रहपर कानपुर और दिल्लीके बड़े सर्जन बुलाये गये, जिन्होंने २५ और २७ फरवरीको परमपूज्य श्रीभाईजीको देखा। दोनों ही अनुभवी सर्जनोंने राय दी कि तत्काल ऑपरेशन किया जाय, अन्यथा जीवनको खतरा है। दिल्लीके सर्जन महोदयने तो यहाँतक कहा—“घरवाले इनका जीवन महीनों-वर्षोंतक देखना चाहते हैं, पर वर्तमान परिस्थितिमें ये कुछ ही दिनोंके मेहमान हैं। ऑपरेशनसे आशा होती है कि इनका जीवन बच जाय; पर मधुमेहकी स्थितिमें ऑपरेशन खतरेसे खाली नहीं है। हम पूरा प्रयत्न रखेंगे कि इनके सिद्धान्तकी रक्षाके लिये 'इन्सुलिन'के इन्जेक्शन न दिये जायँ।” स्थानीय डाक्टरों तथा कतिपय स्वजनोंने श्रीभाईजीपर दबाव डाला कि वे ऑपरेशनके लिये तैयार हो जायँ; पर श्रीभाईजीने सर्जन महोदयसे पूछा—“ऑपरेशनके बाद यदि मधुमेहके कारण घाव नहीं भरा तो आप क्या करेंगे? सर्जन महोदय श्रीभाईजी-जैसे संतके सामने सच्ची बात न छिपा सके। उन्होंने कहा—“उस स्थितिमें हम आपकी जीवन-रक्षाके लिये आपसे छिपाकर 'इन्सुलिन' दे देंगे। उस समय हमारा कर्तव्य किसी भी उपायसे आपके जीवनको बचाना होगा। पेटके ऑपरेशनमें 'इन्सुलिन'के इन्जेक्शनके सिवा मधुमेहके नियन्त्रणके लिये दूसरा कोई साधन हमारे पास नहीं है।” इसपर श्रीभाईजीने कहा—“‘इन्सुलिन’का प्रयोग करके अपना जीवन मैं बचाना नहीं चाहता। जीवन तो एक दिन जाना ही है। फिर किसी प्राणीकी हिंसासे बने 'इन्सुलिन'को लेकर इसे बचानेका पाप क्यों स्वीकार किया जाय ?” और उन्होंने ऑपरेशन न करानेका अपना विश्वास सब डाक्टरों और स्वजनोंको सुना दिया। सर्जन महोदय श्रीभाईजीकी इस दृढ़ताको देखकर बड़े चकित रह गये। उन्होंने कहा—“भाईजी ! आपकी महानताका यही हेतु है कि आप सिद्धान्तको जीवनसे श्रेष्ठ मानते हैं। अन्यथा हम जानते हैं कि बड़े-बड़े धार्मिक लोग 'इन्सुलिन'का प्रयोग बिना किसी हिचकके बराबर कर रहे हैं।”

डाक्टर साहबकी बात सुनकर श्रीभाईजीने कहा—“हमारे



परम श्रद्धेय ब्रह्मलीन श्रीसेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी, जो इस गीताप्रेमके मूल संस्थापक थे, आचारनिष्ठा तो और भी कठोर थी। उन्होंने जीवनभर आयुर्वेदिक ओषधियोंको छोड़कर अन्य किसी चिकित्सा-पद्धति (पैथी) की दवाइयोंका सेवन नहीं किया। आयुर्वेदिक ओषधियोंमें भी वे केवल उन्हीं ओषधियोंको लेते थे, जिनमें कोई अशुद्ध वस्तु सम्मिलित नहीं होती। जान्त्रिक पदार्थोंसे बनी ओषधियोंका तो उनके सामने कोई प्रश्न ही नहीं था। लगभग २० वर्ष पूर्व वे सत्सङ्गके लिये गोरखपुर पधारे थे। एक दिन अचानक उनके उदरमें भीषण शूल उत्पन्न हुआ। स्थानीय वैद्यराजोंके निर्देशनमें कई तरहके उपचार हुए; पर शूलमें कमी नहीं हुई, वह बराबर बढ़ता ही गया। सभी स्वजन चिन्तित हो गये। श्रद्धेय श्रीसेठजी ऐलोपैथिक दवा छूतेतक नहीं थे, पर कुछ स्वजन स्थानीय सिविल सर्जन महोदय कैप्टन श्रीराजेन्द्रप्रसादजीको रोगका निदान करनेके लिये बुला लाये। कैप्टन श्रीराजेन्द्रप्रसाद बड़े ही निपुण डाक्टर थे। उन्होंने काफी देरतक देखा। शूलकी बढ़ती हुई भीषणतासे वे चिन्तित हो गये। उन्होंने गम्भीरताके साथ स्वजनोंको समझाया कि 'इन्हें ऐलोपैथिक दवा-इन्जेक्शन देने चाहिये, अन्यथा जीवन खतरेमें है'। स्वजनोंने श्रीसेठजीकी आचार-निष्ठा बताते हुए ऐलोपैथिक दवा करनेमें सर्वथा लाचारी व्यक्त की, पर सिविल सर्जन महोदय स्थितिकी गम्भीरतासे पूर्ण परिचित थे। वे नहीं चाहते थे कि आचार निष्ठाके नामपर इतने बड़े संतका जीवन खतरेमें रहे। वे श्रद्धेय श्रीसेठजीके पास पहुँचे और गम्भीर स्वरमें बोले—'महाराज! आप बड़े ही बुद्धिमान हैं। हम आपको विश्वास दिलाते हैं कि हम कोई भी अशुद्ध चीज आपको नहीं देंगे। आप हमारी ऐलोपैथिक दवा ले लीजिये। पीड़ा बड़ी तीव्र है और बराबर बढ़ रही है। उचित दवा न होनेसे कुछ भी हो सकता है।' श्रद्धेय श्रीसेठजीने डाक्टर महोदयकी हितभरी सलाह सुनी और वे सहजभावसे डाक्टर साहबसे बोले—'ऐलोपैथिक दवा न लेनेसे मृत्युसे बढ़कर और तो कुछ नहीं होगा! वहाँतक हम निश्चय किये बैठे हैं। इससे अधिक कुछ और हो तो डाक्टर साहब! कहिये।' डाक्टर साहब इस बढ़ताको देखकर चकित रह गये। भगवान्ने व्यवसायी की। बस एक-दो दिनमें ठीक हो गया।''

अहिंसाका उपदेश तो सभी करते हैं, पर समयपर उसका पालन विरल ही कर पाता है। परम श्रद्धेय

श्रीसेठजी एवं श्रीभाईजीकी यह आचारनिष्ठा जगत्को पवित्र करती रहेगी।

—कृष्णचन्द्र भगवाकर

( २ )

## समयपरकी सृष्टि

मैं जूनागढ़के अध्यापन-मन्दिर (Training College) में प्रशिक्षण प्राप्त करनेके लिये गया था। उन दिनों वहाँके चौकीदारने एक सुन्दर प्रसङ्ग सुनाया। अध्यापन-मन्दिरमें लगभग १५०-१६० प्राथमिक शिक्षालयोंके शिक्षक गाँव-गाँवसे प्रशिक्षण ग्रहण करने आते हैं।

उन प्रशिक्षण ग्रहण करनेवाले अध्यापकोंका वेतन वहींसे मिलता था। पहली अथवा दूसरी तारीखको लगभग ४-५ वजे कर्क सरकारी खजानेमेंसे वेतन लेकर आ जाता और सायंकालकी प्रार्थनाके समय सभी शिक्षकोंको वह चुका दिया जाता। कदाचित् देर-सवेर हो जाती तो दूसरे दिन वेतन चुकाया जाता।

इसी तरह एक बार वेतनकी रकम तो आ गयी, परंतु संयोगवश वेतन न चुक सका और वह रकम आचार्य श्री (प्रिंसिपल) के पास रखी गयी।

रातके समय चार-पाँच घरमेंदू चोर-डाकू रुपयोंको शकटनेकी नीयतसे इकट्ठे होकर इनकी मंजिलमें चढ़ गये। ऊपर आनेका मार्ग तो खुला ही था।

मानस-शास्त्री आचार्यने तुरंत निर्णय लिया। उन्होंने विचार किया कि यदि ये डाकू इस रकमको ले गये तो सभी शिक्षक तथा भिल-भिल गाँवोंमें रहनेवाले इनके दुश्मनी इस महीनेमें बड़ी कठिनाईमें पड़ जायेंगे। परंतु अब क्या हो! तुरंत ही अनुभवी आचार्य वेतनके पैसोंवाली थैलीको छोड़कर घरमें पड़ी दूसरी थैलीको लेकर नीचेकी तरफ दौड़े और हल्ला मचाकर चौकीदार एवं शिक्षार्थियोंको पुकारने लगे। इधर उन चोर-डाकूओंने समझा कि साहब पैसोंकी थैलीको ही लेकर भागे हैं। उन्होंने तुरंत ही पीछे-पीछे जाकर आचार्यके चिरपर लाठी जड़ दी। थैली उनके हाथसे गिर पड़ी। डाकूओंको यही चाहिये था। बस, वे थैली लेकर भाग खड़े हुए। सामने चौकीदार मिला; परंतु वह उन्हें रोकनेकी चेष्टा करता, इसके पूर्व ही उन्होंने उसे भी एक लाठी जड़ दी। चोर भाग गये, शिक्षार्थी लोग इकट्ठे हो गये। कुछ लोग चोरोंके पीछे भागे। थोड़े-से लोग आचार्यश्री तथा चौकीदार-



की सेवामें लग गये । सभी शिक्षार्थी शिक्षकोंको लगा कि इस महीनेका वेतन गया । अब तो चोर पकड़े जायें तो भले ही कुछ बात बने ।

परंतु सबको अचरजमें डालते हुए आचार्यश्रीने अपनी युक्ति उनके सामने प्रकट की और शिक्षकोंके मुँहपर हँसी आ गयी । शिक्षकोंके इस आनन्दको देखकर आचार्यश्री घड़ी भरके लिये अपना दुःख भूल गये । “अखण्ड आनन्द”

—मजलाल र० दावडा

( ३ )

### पढ़ा-लिखा कौन ?

एक बार मैं हडालसे बोटाद रेलगाड़ीमें जा रहा था । भीड़ बहुत थी । मुझको बड़ी मुश्किलसे जगह मिली । मेरी बगलमें एक माताजी बैठी थीं । उनके चेहरेपर दिखायी देनेवाली झुर्रियाँ उनकी आयुको बता रही थीं । उनके साथ लगभग १२ वर्षका एक लड़का था ।

घंघुकासे भीड़ बढ़ने लगी । हमारे डिब्बेमें चार-पाँच गड़ेरियोंकी झियाँ धक्का-मुक्कीके बीच किसी तरह चढ़ीं । उनमेंसे दो झियाँकी गोदमें छोटे बच्चे थे । जगह कहीं भी थी नहीं । हमारे सामनेकी सीटपर दो शिक्षित महिलाएँ बैठी थीं । उन गड़ेरियोंके बच्चे रो रहे थे, उन्हें चुप रखनेके लिये वे झियाँ उन्हें हथेलियोंमें लेकर धपसु-धपसु कर रही थीं । उनकी इस क्रियासे वे शिक्षित महिलाएँ उबल पड़ीं और एकने उन गड़ेरियोंसे कहा “सीधे खड़ी रहना हो तो खड़ी रहो, नहीं तो दूर हट जाओ । तुमलोगोंमें समझ बिरकुट नहीं है; दूसरोंको तुम कितना हैरान करती हो, इसका तुमको पता है ?” उनमेंसे एक जीने कहा “बड़ी बहिन ! बच्चे रोयें तो उनको चुप कराना चाहिये न ! हम आपको कुछ कहती थोड़े ही हैं, आप आरामसे बैठी रहें ।”

कोई कुछ बोले, उसके पहले ही मेरी बगलमें बैठी हुई माँजी उठकर खड़ी हो गयीं । उनके साथ ही वह लड़का भी खड़ा हो गया और वे गड़ेरियोंकी झियाँ जैसे उनकी अपनी लड़कियाँ हों, इस प्रकार वे माँजी प्रेमभरे स्वरमें उनसे बोलीं—“तुम इन छोटे बच्चोंको कहाँ तक रक्काओगी ! यहाँ बैठ जाओ ।” उन औरतोंने बैठनेमें बहुत बानाकानी की; परंतु माँजीने उनको बलपूर्वक अपनी जगहपर बैठा दिया और हम सब लोग आँखें फाड़कर उनको देखते रहे ।

मैंने माँजीसे कहा—“माँजी ! आप बूढ़ी हैं; किसीका

धक्का लगेगा तो गिर पड़ोगी । आप मेरी जगहपर बैठ जाइये ।” उत्तर मिला, “ना रे भाई, मुझे बैठना नहीं है । मुझे तो अभी-अभी उतर जाना है । यह तो पंछियोंका मेला है ।” मैंने माँजीको बार-बार समझाकर बड़ी कठिनाई अपनी जगहपर बैठाया ।

भीमनाथ स्टेशनपर माँजीको उतरना था । स्टेशन आनेपर मैंने माँजीको बाँह पकड़कर बड़ी मुश्किलसे निकाला, सही-सलामत गाड़ीसे नीचे उतारा और उनका सब सामान भी उतार दिया । माँजीको मैं कुछ दूरतक पहुँचाने लगा गया । माँजी बहुत प्रसन्न हुई और बोली, “बेटा ! तुमने हमारे लिये बहुत कष्ट सहा, भगवान् तुमको दीर्घजीवी एवं स्वस्थ बनाये रखें ।” “अखण्ड आनन्द”

—जयसिंह शर्मा

( ४ )

### जगमगाती हुई ज्योति

रात्रिके ९ बजेके आसपास वायुमण्डल शान्त हो गया क्योंकि पावस ऋतुकी पहली वर्षा अभी-अभी होके चुकी थी । अपने नित्य नियमके अनुसार मैं एक हलवाईके दूकानपर बैठा-बैठा गप हाँक रहा था । देहातकी दूकानके पास दूसरी कोई दूकान नहीं थी । उसकी बगलमें अतिथि-अभ्यागतोंके लिये पान्थशाला है । गाँवोंमें घूमनेवाले जातियोंके डेरे उसी क्षेत्रमें दिखायी पड़ते थे । उनके टिमटिमाते हुए दीपक जमीनपर फैली हुई एक हारमालके तरह दीख पड़ते हैं । हतनेमें उस दूकानपर एक बुढ़िया आकर खड़ी हो गयी । वेप-भूषासे वह गड़ेरियोंकी ली प्रतीत होती थी । वह जी लालटेनकी रोशनीके संदे प्रकाशमें अत्यन्त निकट आकर धीरेसे बोली—“ओ सेठ, आपने गाँठिया ( एक प्रकारकी मिठाई ) मुझे दो, मैं पैसा मिट्टूंगी, आज पानी बरस रहा था, फलतः मुझे काम नहीं मिला । मैं तो किसी तरह भूखे पेट रात निकाल दूंगी; लेकिन लड़का भूखा है, उसे रात निकालनी कठिन हो जायगी । हलवाईने उधार देनेसे साफ इनकार कर दिया । बुढ़िया खान-बदल लौट पड़ी । मुझे केवल ये चार आखिरी वायुमण्डलमें उसके उद्गार रूपमें सुनायी दिये—“हे प्रभु ! उस हलवाईने मुझसे कहा कि ऐसे तो बहुत लोग आया करते हैं । यदि उनको उधार दिया करूँ तो एक दिन अपने लिये बच्चोंको बेंचना पड़ेगा । ऐसी भिवारिनोंका क्या भरोसा ?” बुढ़िया कुछ दूर गयी होनी, मैंने उसको आवाज देकर



बुलया और ढाई सौ ग्राम गाँठियाका एक रुपया मैंने अपनी ओरसे चुका देनेकी बात कही; परंतु बुढ़ियाने सष्ट इनकार कर दिया और कहा, 'भैया ! हम कोई मँगते-भित्तारी नहीं हैं, व्यापारी हैं । इस प्रकार हरामका नहीं खाते । यह लड़का पानी पीकर रात गुजार देगा और हमलोग समझेंगे कि मारवाड़के मरुस्थलमें हैं ।' इस प्रकार कहकर वह बुढ़िया वापिस चल पड़ी; अन्तमें मैंने उसका एक रुपया अपने जिम्मे लेकर उसको एक रुपयेका गाँठिया उधार दिला दिया । 'रुपया कल मिल जायगा, भगवान् तुमको करोड़ों वर्ष, जीवित रखे' यह कहकर बुढ़िया चली गयी ।

तीन-चार दिन बाद रातको नित्यक्रमके अनुसार मैं उस हलवाईकी दुकानपर आया और चार दिन पहलेकी बात याद करके वह मुझसे कहने लगा—'साहब ! वह बुढ़िया गयी तो चली ही गयी, अभी तक आयी नहीं । आप भावनाके चक्करमें आ गये । यह जमाना दूसरा है । भाई, दया करनेवालेको उसकी दया ही खा जाती है, समझे ।'

मैं इसका उत्तर सोच ही रहा था, इतनेमें वह बुढ़िया आकर खड़ी हो गयी और उसने अपने मैली-कुचैली ओढ़नीके छोरपर लगायी हुई गाँठको खोलकर चार चवन्नियाँ निकाली और बोली—'ले, भाई ! यह रुपया । तीन दिनसे कुछ भी काम नहीं मिला था; इस कारण देरी हुई, माफ करना ।'

मैं कुछ बोले, इसके पहले ही वह हलवाई कुछ हँसा और बोला—'साहब ! आप आदमीको ठीक परख लेते हैं ।' और वह मानवताकी जगमगाती ज्योति अपने ठिकानेपर पहुँची, उसके साथ ही मैंने भी अपने बरकी राह पकड़ी । 'आखण्ड आनन्द'

—जगीन दे

( ५ )

**धन्य माता ! धन्य खालसा !!**

कुछ दिनों पहले एक स्नेही अपने मेहमानको लेकर मिलने आये । सामान्य बातचीतके बाद उन्होंने बताया कि वे भाई कराँची रहते थे । वे देशका विभाजन होते समय पाकिस्तान छोड़कर और लोगोंके साथ बड़ी कठिनतासे भारत आये । उन्होंने अपने सामने घटी हुई एक घटनाका इस प्रकार वर्णन किया ।

नवलखीके लिये स्टीमर शामको ४ बजे खुलनेवाला था । बंदरतक पहुँचानेवाले वाहनोंको प्राप्त करनेमें कठिनाई

थी । वाहन थोड़े थे और मुसाफिरोंकी जबरदस्त भीड़ थी । मुवहसे ही लोग बंदरपर पहुँचनेकी कोशिशमें थे । ज्यों-ज्यों करके आदमी पहुँचे; परंतु अकस्मात् यह घोषणा हुई कि स्टीमर डेढ़ घंटे देरसे खाना होगा । सामानमें छोटी-छोटी गठरी और थैलियोंके सिवा किसीके पास कुछ न था । हमारे समीप पति-पत्नी और दो बालकोंका एक कुटुम्ब बैठा था । मुँहपरका पसीना पोंछते हुए स्त्रीने अपनी बारह वर्षकी पुत्रीसे कहा, 'अच्छा तो लाओ, अब बच्चेको स्नानपान करा दूँ ।' उसने कहा—'बच्चा मेरे पास नहीं है ।' 'हैं' आँखें फाड़कर स्त्रीने पुत्री और पतिकी ओर देखा और किसीके हाथोंमें बच्चेको न देखकर वह काँप उठी । 'तुम कोई बच्चेको नहीं लाये ? जो भी वस्तु हाथ लगी, मैं तो उसे बटोरनेमें लग गयी और तुम यों ही हाथ-पैर हिलते हुए बच्चेको छोड़कर चले आये ? जाओ, जल्दी जाओ, बाबूको ले आओ ।'

बड़ीभर पहले जो हारी-थकी और विनम्र थी, उसका रूप ही बदल गया । लाल-लाल उड़ा हुआ चेहरा, शरीरमें कँपकंपी और अग्नि बरसानेवाली आँखें । पत्नीके रोद्र रूपका ताप पति न सह सका, नम्र होकर बोला, 'मैं तो समझा कि तुम जेती आओगी । वापिस जाना हो तो कैसे, जानेकी स्थिति ही नहीं रही । स्टीमरके छूटनेमें आधा-पौन घंटा है । इतने समयमें.....'

'लंबी-चौड़ी बहसके लिये समय नहीं है; तुम जाते हो कि मैं जाऊँ ?' पति आँख भी ऊँची नहीं कर सका । कोई कुछ समझे, उसके पहले तो वह स्त्री क्रुद्धकर स्टीमरपरसे दरवाजेपर आयी । 'कोई अवधित घटना हो गयी' ऐसी बात दो-एक आदमियोंने समझी और उन्होंने स्त्रीको रोकनेका प्रयत्न किया; परंतु वह स्त्री रुकी नहीं, भाग खड़ी हुई ।

बात ऐसी हुई थी कि शरणार्थी-शिविरसे निकलकर स्टीमरपर जानेके पहले बदलनेके लिये जो कुछ भी कापड़े मिल सकते थे, उन्हें साथ लेकर वह कुटुम्ब टैक्सीमें चला आया था । वह स्त्री अपने आठ महीनेके बच्चेको सुलाकर, जल्दी-जल्दी जो कुछ वह ले सकती थी, लेकर थैलियाँ तैयार करनेमें लग गयी तथा दो बालकोंको साथ लेकर उसका पति जल्दीसे नीचे उतर आया और स्त्री भी चार थैलियाँ लेकर बड़े झपाटेसे चली आयी और सब लोग बंदरपर एकत्रित हो गये । उतावली तथा सिरपर झुमते हुए भयके कारण, बच्चा किसी-न-किसीके पास होगा, यह समझकर किसीने बच्चेका ख्याल नहीं किया और वह घरमें ही सोया



रह गया। हिंदुओंको जितना भय था, उससे ज्यादा जोखिम सिकलें—खालसाओंको थी। ऐसे एक खालसाकी टैक्सीमें बैठकर यह कुदृश्य आया था। स्त्रीने उस खालसाको देखा और घबरायी हुई उसके पास पहुँची। 'मेरा छोटा बच्चा पीछे छूट गया है; उसको लेने जाना है, चलते हो? एकाध क्षणमें ही उस खालसाने छातीपर दुलककर पड़ा हुआ अपना सिर उठाया। उसकी आँखोंमें चमक आयी और शरीरमें इस प्रकारकी स्फूर्ति प्रकट हो गयी, जैसे उसने उस स्त्रीके साथ चलनेका निर्णय कर लिया हो।

साठ मीलकी गतिसे वह टैक्सी उस बस्तीवाले भागमें आगे बढ़ी। बीचमें आततायियोंकी कई टोलियाँ भी दीख पड़ीं। सिख होनेके कारण पगड़ी और दाढ़ी धारण किये हुए उस ड्राइवरके साथ वह हिंदू नारी जा रही थी। उसको घेरकर तथा आगे हाथ बढ़ाकर रोकनेकी चेष्टा भी की गयी; परंतु जीवनको हथेलीपर रखकर मृत्युके साथ युद्ध करनेके लिये रणभूमिमें बढ़ते हुए तथा जीवनको महँगी-से-महँगी कीमतपर बेचनेका निर्णय किये हुए खालसा सामने आती हुई भीड़को चीरता हुआ बगलसे टैक्सीको निकालता हुआ चला गया।

टैक्सी दरवाजेपर आ गयी। बौखलायी हुई माताको दुमंजिलेकी दूसरी सीढ़ीपर पैर रखते ही ऊपरसे बालककी चीख सुनायी दी। बच्चा सुरक्षित है, यह विश्वास होते ही उस स्त्रीने दो-दो सीढ़ियोंको एक साथ लॉघकर उसको उठा लिया; चूमा और छातीसे लगाकर लौट पड़ी।

इधर बंदरसे उस स्त्रीकी टैक्सी जैसे ही चली, सब लोग प्रकाशके वेगसे स्टीमरपर एकत्रित हो गये। सबके मुँहसे "शम-राम"की ध्वनि निकल पड़ी। पहले तो वह स्त्री जिस प्रकार बच्चेको इतनी दूर छोड़कर चली आयी थी, उसे देखते हुए सम्भव नहीं लगा कि बालक जीता-जागता मिल जायगा। लोग सोच रहे थे—कोई उसे उठा ले गया होगा अथवा थानेमें रख आया होगा अथवा किसी जालिमके हाथसे वह मारा गया होगा। जो भी हो, बच्चा उसे अब नहीं मिलेगा। उस स्त्रीका यह पागलपन है, जो उस बच्चेको लेने गयी है। उसका लौट आना सम्भव नहीं। कोई उसे काट डालेगा अथवा पकड़ लेगा। वह जीती-जागती लौट नहीं सकेगी। अनजान सिखके साथ वह गयी है। वह खालसा ही उसको उड़ा न ले जाय अथवा किसीको

सौंप न दे, इसका क्या भरोसा!? इस प्रकार जितने आदमी उतने ही तर्क किये जाने लगे।

समय बीतता गया। स्टीमरने जल्दी-जल्दी वे सीढ़ियाँ दीं और लंगर उठानेकी तैयारी करने लगा। इतनेमें तो वह टैक्सी स्टीमरके किनारे आ लगी। व्यवधानके बाद स्तनपानसे तृप्त होकर बालक माँकी गोदमें सो गया था। बच्चेको गोदमें लिये वह स्त्री टैक्सीसे उतरी। वह सिख भी उतरा। जिस बाँहसे उसने लिये हुए बच्चेको थाम रखा था, उसपर धारण की हुई दो सोनेकी पहुँचियाँ उस स्त्रीने अपने दूसरे हाथसे निकाल लीं। छलछलती हुई आँखों एवं गद्गद कण्ठसे पहुँचियोंको सिखके सामने रखकर वह बोली—“भाई! तुमने मेरा बच्चा मुझको दिया है, जीती-जी में तुम्हारा उपकार नहीं भूल सकती। पैसा मेरे पास नहीं है, ये दो पहुँचियाँ देती हूँ, एक जानेकी तथा दूसरी लौटनेकी।”

“नहीं चाहिये, बहिन! मुझे कुछ नहीं चाहिये। तुम्हें अपना लाल मिल गया, यही मेरा भाड़ा है। मुझको मेरे जीवनका डर था; परंतु अब काटा जाऊँ, तो भी कोई चिन्ता नहीं है। आजकी बातसे मुझे संतोष है। तुम्हें मुझे भाई बनाया है और मैंने तुमको बहन बनाया है। मुझे बहुत खुशी है। ले, बहिन! यह भाईका कपड़ा।

स्त्रीको उस खालसाकी दूटी-फूटी गुजराती लसझमें आने और वह उसे रोके, इसके पहले खालसा एक दस रुपयेका नोट उसके उस हाथमें, जिससे वह बच्चेको थामे हुई थी, रखकर चलता बना। उसकी आँखोंसे आँसू टपक रहे थे परंतु वे आँसू आत्मसंतोषके थे और उसके पैर मजबूत पड़ रहे थे। उसके एक-एक पगमें दुर्लभ मानवता टपक रही थी। उधर तीन पाटियोंका कामचलाऊ पुल पार करके वह स्त्री अपने पति एवं बच्चोंके पास पहुँची। उसकी आँखोंमें भी आँसू थे पर वे वीर-रसके अनन्तर प्रकट होनेवाले शान्त रस थे। वह तहाँ 'वाह प्रभु', 'धन्य माताकी हिम्मत' और 'धन्य खालसाकी मानवता'—इन्हीं शब्दोंका स्वर वायुमण्डलमें गूँज रहा था।

एक तरफ गतिमान् स्टीमरमें सर्वस्व खोकर भी अपने सर्वस्वको लौटा लानेके संतोषसे छलकते हुए हृदय एवं वाणीको लिये हुए माता जा रही थी, उसकी विरज्जु दिशा में अपनी एकमात्र मोटर और जीवन दोनोंको जोखिममें डालकर प्रकट की गयी मानवतासे विभोर मानव जा रहा था।

धन्य माता! धन्य मानवता! “अखण्ड आनन्द”  
—भोगीलाल



## ‘कल्याण’ के कृपालु पाठकोंसे विनम्र क्षमा-प्रार्थना

इस वर्ष कुछ विशेष परिस्थितियों और अपरिहार्य कारणोंसे जनवरी ७१ का विशेषाङ्क पर्याप्त विलम्बसे ३१ मार्चको प्रकाशित हुआ था। प्राहक महानुभावोंको फरवरीका साधारण अङ्क यद्यपि विशेषाङ्कके साथ ही भेजा गया था, फिर भी दोनों अङ्कोंके प्राहकोंकी सेवामें पहुँचते-पहुँचते अत्यधिक विलम्ब हो गया। इससे ‘कल्याण’ के प्रेमी प्राहकों तथा पाठकोंको जो कष्ट हुआ, बार-बार पत्र लिखने पड़े—इसका हमें खेद है। लगभग पौने दो लाख प्राहकोंको रजिस्ट्री तथा वी० पी० भेजनेमें तथा फिर वी० पी० के रुपये डाकघरसे मिठनेपर प्यास्थान चढ़ाने और दूसरी व्यवस्था करनेमें भी कुछ अधिक समय लग जाना स्वाभाविक है। परिणामतः आगेके अङ्क भेजनेमें भी विलम्ब होता गया।

परिस्थितिवश मार्च तथा अप्रैलके अङ्क जूनमें भेजे जा सके। अब मईका अङ्क जुलाईमें प्रकाशित होकर भेजा जा रहा है, जबकि इस समयतक जुलाईका अङ्क भेजा जाना चाहिये था। आशा है, इस अपरिहार्य विलम्ब-के लिये, जिसे हम क्षमा करके भी दूर नहीं कर पाये, ‘कल्याण’ के प्रेमी पाठक हमें कृपापूर्वक क्षमा करेंगे।

आगामी मासके अङ्कोंके प्रकाशनमें भी विलम्ब हो सकता है, अतः इसके लिये भी कृपालु पाठक अधीर न हों। ऐसी प्रार्थना है।

विनीत-व्यवस्थापक ‘कल्याण’ गोरखपुर

## श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानस भारतीय वाङ्मयके ऐसे दिव्य रत्न हैं, जिनके अध्ययनसे तथा प्रतिपाद्य सिद्धान्तोंके मननसे अन्तरमें अचिरस्य-अलौकिक ज्योति प्रस्फुटित हो उठती है। एक ओर व्यक्तिकी व्यक्तिगत जीवन समुन्नत होता है तो दूसरी ओर समाजका सम्पूर्ण वातावरण भ्रेष्ठ गुणोंसे सुवासित होता है। आजके तमसाच्छन्न समाजमें तो ऐसे दिव्यग्रन्थोंके अधिकाधिक पाठ और स्वाध्यायकी आवश्यकता है, जिससे इनके आदर्शोंका अधिकाधिक प्रचार हो तथा उनकी जन-मानसमें प्रतिष्ठा हो। इसी उद्देश्यसे ‘गीता-रामायण-प्रचार-संघ’की स्थापना हुई। इसके सदस्योंको नियमित रूपसे गीता और मानसका पाठ-स्वाध्याय करना होता है। गतवर्ष सदस्योंकी संख्या ५५,००० से अधिक थी। इस संस्थाके द्वारा श्रीगीताके ६ प्रकारके और श्रीरामायणके ३ प्रकारके एवं उपासना-विभागमें नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिमें या मानसिक पूजा करनेवाले सदस्य बनाकर श्रीगीता और श्रीरामायणके अध्ययन एवं उपासनाके लिये प्रेरणा की जाती है। विशेष जानकारीके लिये पत्र-व्यवहार करना चाहिये। पता इस प्रकार है—

मन्त्री—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश होकर)  
जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)



## कृपालु ग्राहकोंसे दो-दो नये ग्राहक और बनानेकी प्रार्थना

कृपालु ग्राहकोंसे यह बात छिपी नहीं है कि उनका 'कल्याण' विशुद्ध भगवत्सेवा भावसे निकाला जाता है, उसके संचालकोंके मनमें आर्थिक लाभकी दृष्टि तो न कभी रही है न लाभ तो दूर रहा, उल्टे उसके प्रकाशनमें प्रायः घाटा ही रहता है। उसके विशेषाङ्कोंमें इतनी अधिक बहुमूल्य सामग्री एवं चित्र आदि रहते हैं तथा कागज आदिके दाम एवं कर्मचारियोंका वेतन आदि इतने बढ़ गये हैं कि जितने मूल्यपर वह ग्राहकोंको दिया जाता है, उससे कहीं अधिक व्यय उत्पन्न हो जाता है।

इसके अतिरिक्त 'कल्याण'के द्वारा आध्यात्मिक जगत्की जो अनुपम सेवा हो रही है, सबपर प्रकट है। ऐसी दृष्टामें उसका जितना अधिक प्रचार-प्रसार होगा, उतना ही जगत्का महत्त्व होगा। विश्वमें नास्तिकता एवं भौतिकवादकी शक्ति इतनी प्रबल होती जा रही है कि उसपर यदि रोक नहीं लगायी गयी तो विश्वका संहार निश्चित है। इसलिये आत्मरक्षाके लिये भी आस्तिकों एवं ईश्वरवादियोंका यह कर्तव्य है कि वे आस्तिकता एवं अध्यात्मवादके प्रचारके लिये किये जानेवाले प्रयत्नोंका समर्थन करें एवं उन्हें बल दें।

इस वर्षके विशेषाङ्क 'श्रीअग्निपुराण-गर्गसंहिता नरसिंहपुराण-अङ्क'की विद्वानोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उसमें भारतीय संस्कृतिकी अतुलनीय महिमाको प्रकट करनेवाली तथा भक्तिभाव हृदयमें संचार करनेवाली इतनी उपयोगी सामग्री तथा आकर्षक चित्र दिये गये हैं कि उसको पढ़ना आरम्भ करनेपर जल्दी छोड़नेका मन नहीं होता। आशा है, इन सभी दृष्टियोंसे प्रत्येक ग्राहक महानुभाव इसके दो-दो नये ग्राहक और बनानेमें हमारी उत्साहपूर्वक सहायता करेंगे। गतवर्षका विशेषाङ्क जिसकी १,६५,००० प्रतियाँ छपी गयी थीं, हाथोंहाथ बिक गया था। इसीसे प्रोत्साहित होकर इस वर्ष यह अङ्क उससे भी अधिक संख्यामें छपा गया। परंतु इस वर्ष विशेषाङ्क अब भी बच गये हैं।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )

## श्रीगीता और रामायणकी परीक्षाएँ

हिंदू वाङ्मयके दिव्यतम रत्न हैं—श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस, जिनमें श्रेय-प्रेम पूर्ण विवेचन है। ये वास्तवमें सार्वभौम तथा सर्वकल्याणकारी पवित्र ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंका आनंद लेनेसे लोक, परलोक और परमार्थ—सभी सुधरते हैं। भारत ही नहीं, भारतके बाहर भी इन ग्रन्थोंका गौरवपूर्ण तथा मङ्गलमयी श्रेष्ठताका समादर है। इन ग्रन्थोंका दिव्यालोक जन-जनतक पहुँच सके तथा उनकी जागतिक या आध्यात्मिक उन्नतिके पथको आलोकित किया जा सके, एतदर्थ गीता और रामायण-परीक्षाकी व्यवस्था की गयी थी। परीक्षामें उत्तीर्ण छात्र पुरस्कृत भी होते हैं। सैकड़ों स्थानों पर परीक्षा-केन्द्र हैं। विशेष विवरणकी जानकारी नियमावलीसे हो सकती है। परीक्षा-सम्बन्धी सभी बातों की जानकारीके लिये नीचे लिखे पतेपर पत्रव्यवहार करें।

व्यवस्थापक—गीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम ( ऋषिकेश )  
जनपद—पौड़ी गढ़वाल ( उ० प्र० )



# कल्याण





## विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, जून १९७१

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—दुर्गाजीसे प्रार्थना [ संकलित ] ...	१५३
२—कल्याण ...	१५४
३—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश (पुराने सत्सङ्गसे) ...	१५५
४—श्रीमाताजीकी बातचीत (श्रीमाँ, श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी; प्रेषक—श्रीजलेश्वरजी) ...	१५७
५—मनुष्य-शरीरकी दुर्लभता [ कविता ] (संत श्रीसेवगरामजी महाराज) ...	१६०
६—परमार्थकी पगडंडियाँ (नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन) ...	१६१
७—भक्तिदर्शनकी कतिपय विशेषताएँ (अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज) ...	१६६
८—प्रभु-मूर्ति कृपामई है [ कविता ] (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) ...	१७३
९—गीताका भक्तियोग—३ (पूज्य स्वामीजी श्रीराममुखदासजी महाराजद्वारा की	

विषय	पृष्ठ-संख्या
गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या) ...	१७४
१०—गांधी-जीवन-सूत्र (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ...	१७९
११—आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ ...	१८६
१२—तौल [ रूपक-कहानी ] (श्रीभगवान-प्रसादजी तिवारी) ...	१८९
१३—परमार्थ-पत्रावली (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र) ...	१९१
१४—उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णु-धर्मोत्तरपुराण—२ (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ...	१९४
१५—आध्यात्मिक साधनाके लिये त्रिदोष (श्रीअगरचन्दजी नाहटा) ...	१९७
१६—परम वैष्णव नारद (डॉ० श्रीगोपीनाथजी तिवारी, एम० ए०, पी०एच० डी०) ...	१९९
१७—श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार-के अन्तिम उपदेश ...	१००४
१८—पढ़ो, समझो और करो ...	१००९

## चित्र-सूची

१—युगल सरकार	(रेखाचित्र)	... मुखपृष्ठ
२—माँ दुर्गा	(तिरंगा)	... १५३

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.०० } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ } साधारण प्रति भारतमें ६०  
विदेशमें १६.०० (१८ शिलिंग) } विदेशमें ८० १.०० (१५ पौण्ड)

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्बनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री  
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



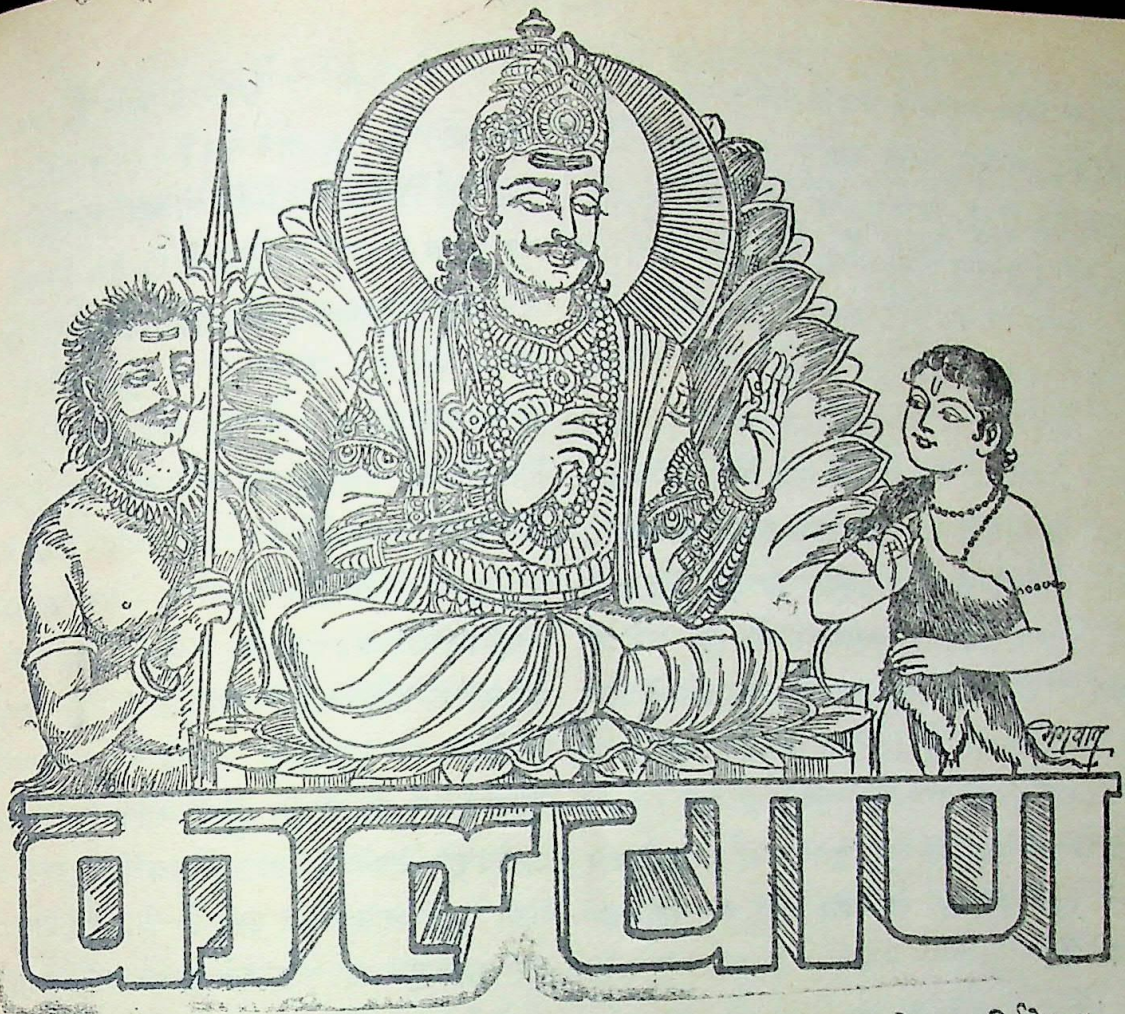






माँ दुर्गा





अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संसारं प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

( अग्निपुराण )

वर्ष ४५

गोरखपुर, सौर आषाढ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, जून १९७१

संख्या ६

पूर्ण संख्या ५३५

## दुर्गाजीसे प्रार्थना

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या

निर्दोषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या

तामखिकामखिलदेवमहर्षिपूज्यां

भक्त्या नताः स्म विदधातु शुभानि सा नः ॥

( श्रीदुर्गासप्तशती ४ । ३ )

सम्पूर्ण देवताओंकी शक्तिका समुदाय ही जिनका स्वरूप है तथा जिन देवीने अपनी शक्तिसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रक्खा है, समस्त देवताओं और महर्षियोंकी पूजनीया उन जगदम्बाको हम भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं । वे हमलोगोंका कल्याण करें ।



भगवान्‌के शरणापन्न भक्तको शास्त्रोक्त एवं भगवान्‌के अनुकूल आचरण करना चाहिये; पर विश्वास केवल भगवान्‌पर ही रहे, अपने कर्मपर नहीं, अपने पुरुषार्थ-पर नहीं। भगवान्‌ अपने मनकी वस्तु अपने मनसे देते हैं। हमारा मन भगवान्‌के मनतक पहुँच नहीं सकता, बुद्धि भी वहाँतक नहीं पहुँच सकती। अतः जो व्यक्ति मन और बुद्धिका आश्रय लेकर भगवान्‌के सामने माँगने जायगा, वह क्या माँगेगा—यह भोग, वह भोग। हमारी यह माँग भगवान्‌के मनसे सदा कम ही रहेगी। अतः माँगनेकी बात भगवान्‌पर ही छोड़ दें; उनसे कहें—“नाथ ! हम तो तुम्हारे हो गये; तुम चाहे दो अथवा मत दो। हमें उससे मतलब नहीं। हमें तो केवल एक बातसे मतलब है कि तुम निरन्तर यह मानते रहो—‘यह हमारा है’। बस, और कुछ नहीं। तुम्हारे मनमें निरन्तर यह बात बनी रहे कि ‘यह हमारा है और हमारे मनमें निरन्तर यह बात बनी रहे कि ‘हम तुम्हारे हैं।’”

‘भगवान्‌ हमारे हैं, हम भगवान्‌के हैं’—यह विश्वास, जो जितना कर सके, करके देख ले। इसका प्रत्यक्ष फल सामने आयेगा। भगवान्‌ उधारकी चीज नहीं हैं। कोई भी विश्वास करके देख ले, तुरंत उत्तर मिलेगा। कमी होती है तो विश्वासकी। भगवान्‌को भूलकर अन्यत्र सुख खोजते रहिये, शान्ति खोजते रहिये; कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। जिन खेतोंमें लहसुन-प्याज की खेती की गयी हो, उसमेंसे हम केसर खोजें तो चाहे खोजते हुए मर भले ही जायँ, केसर हाथ नहीं लगेगी। जब वे खेत केसरके हैं ही नहीं, तब उनमेंसे केसर मिलेगी कैसे ? भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।  
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५।२२)

—ये जितने भी संस्पर्शज भोग हैं, सब-के-सब ‘दुःखयोनि’ हैं—दुःखोंके खेत हैं। इन दुःखोंके खेतोंमें यदि कोई सुखकी आशा करे तो वह निराश ही होगा। यह हमारा कितना बड़ा मोह है कि हम निरन्तर नये भोगोंसे, नयी-नयी संसारकी परिस्थितियोंसे सुख आशा करते हैं। यही भ्रम है। सुख वहाँ है नहीं, शान्ति वहाँ है नहीं। जो चीज जहाँ है नहीं, वह कब मिलेगी कैसे ? इसी खोजमें हम भटकते रहते हैं निरन्तर एक योनिसे दूसरी योनियों में। नाना प्रकारके कष्टोंको सहते हुए, दुःख भोगते हुए हम कहते हैं—‘इस बार मिलेगा, ‘यहाँ मिलेगा और इस बार मिलेगा’—यह कहते हुए हम मर जाते हैं, किंतु मिलता कुछ भी नहीं। हाथ-हाथ करते हुए जीवन ही चला जाता है। पर मनुष्य-जीवन बहुमूल्य है। उसको इस प्रकार खोना नहीं चाहिये। अतएव हम अपनेको भगवान्‌के चरणोंमें डाल दें—विना शर्त विश्वास करके डाल दें कि “हे नाथ ! जो कुछ करो, तुम करो। हम तो तुम्हारे अनुकूल आचरण करते हैं। बस, फिर तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। तुम जैसा चाहो, वैसा करो। कुछ दे दो, चाहे कुछ छीन लो; खर्ग ले जाओ, चाहे नरकमें डाल दो। न हमें प्राप्त करनेका सुख है, न छिननेका दुःख। न स्वर्गका प्रलोभन, न नरकका भय। तुम हमें नरक ले जाओगे तो तुमको साथ-साथ नरक जाना पड़ेगा। तुम्हारे बिना हम नरक जायँगे क्या ? हम जीव तो चेतन हैं नहीं; हमारे अंदर जो चेतन आत्मा है, वह तुम ही तो हो—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

(गीता १०।२०)

उसी आत्माके रूपमें तुमको ही नरक भोगना पड़ेगा। केवल एक ही बात है—‘तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं’—इस बातमें गड़बड़ी न हो।”



# ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[ पुराने सत्सङ्गसे ]

निरन्तर अपना विवेक बनाये रखिये ।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।  
( गीता १६ । ५ )

अर्थात् 'दैवी सम्पदा मुक्ति प्रदान करनेवाली है, जब कि आसुरी सम्पदा बन्धनका हेतु है ।' अन्तःकरणकी दो प्रधान वृत्तियाँ हैं—मन एवं बुद्धि । मनको खभावतः दुर्गुण एवं दुराचार प्रिय लगते हैं; कारण, मन आपात-समयीय वस्तुओंकी ओर सरलतासे आकृष्ट होता है । बुद्धिका काम उचित-अनुचितका निर्णय करना है । इससे बुद्धि मनको दुर्गुण-दुराचारके त्याग एवं सद्गुण-सदाचारके ग्रहणकी प्रेरणा देती है । परंतु जब हम बार-बार मनके प्रलोभनके सामने बुद्धिके निश्चयको महत्त्व नहीं देते, तब धीरे-धीरे बुद्धिका निश्चय भी मनके अनुकूल होने लगता है और मनुष्यका विनाश हो जाता है—'बुद्धिनाशात्मजश्च्यति' । ( गीता २ । ६२ )

अतएव मनुष्यको अपना विवेक निरन्तर बनाये रखना चाहिये । बुद्धि निरन्तर मनपर नियन्त्रण रखे और उसे यह समझाती रहे कि 'अमुक काम करनेमें तुम्हारी हानि है और अमुक काम करनेमें तुम्हारा लाभ है ।' जब मन बुद्धिके निश्चयको मान लेगा, तब वह स्वतः दुर्गुण-दुराचारसे हट जायगा । एक व्यक्ति रोगी है । वैद्य कहते हैं—'अमुक चीज तुम्हारे लिये कुपथ्य है । यदि तुम उसे नहीं छोड़ोगे तो तुम्हारा रोग बढ़ जायगा और तुम्हारी मृत्यु भी हो सकती है ।' रोगीको वह वस्तु बहुत प्रिय है; किंतु वैद्यके आदेशपर उसे विश्वास है, इससे वह उस वस्तुका त्याग कर देता है । इसी प्रकार यदि हमारा शास्त्र एवं संतोंपर विश्वास हो जाय तो हम दुर्गुण-दुराचारोंकी तरफ ताकेंतक नहीं । संतोंने कहा है—

नर तनु पाइ विषयँ मन देहीं । पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं ॥

संतोंकी इस चेतावनीपर विश्वास करके विषयमात्रसे हमें बचना चाहिये और सद्गुण-सदाचारको अमृत मानकर उसका सेवन करना चाहिये ।

प्रेम एवं श्रद्धाके साथ साधना करनेवाला ही भगवान्को प्राप्त करनेमें सफल होता है ।

भगवान्को प्राप्त करनेके लिये सीधा साधन है— भगवान्के स्वरूपको आपने अपनी बुद्धिसे जैसा समझा है, उसे हर समय याद रखना चाहिये । दूसरोंकी बुद्धिमें भगवान्का जो स्वरूप सूक्ष्म या सूक्ष्मतर समझा जा चुका है, उससे आपका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । आपने अपनी बुद्धिके द्वारा भगवान्के स्वरूपको जैसा समझा है, आपके लिये वही स्वरूप ठीक है । भगवान्के स्वरूपको समझनेमें आपके द्वारा यदि कोई त्रुटि या न्यूनता है तो उसकी जिम्मेदारी आपपर नहीं है । उसकी जिम्मेदारी भगवान्पर है और उसकी पूर्ति स्वयं वे ही कर सकते हैं । आप यह कह सकते हैं कि 'भगवान्के स्वरूपको हमने अपनी स्थूल बुद्धिसे जैसा समझा है, उसकी अपेक्षा एक बुद्धिमान् शास्त्रवेत्ता पुरुष विद्या एवं शास्त्रज्ञानसे पुष्ट सूक्ष्म बुद्धिसे निश्चय ही भगवान्के सूक्ष्मतर स्वरूपको समझ सकेगा; हम तो अभी उसकी कल्पना भी करनेमें समर्थ नहीं हैं; अतएव हमारी अपेक्षा उस विद्वान् शास्त्राभ्यासी पुरुषको भगवान्की प्राप्ति शीघ्र होनी चाहिये ।' परंतु आपका यह तर्क ठीक नहीं है । सम्भव है कि शास्त्रोंका भर्मज्ञ तथा शास्त्राभ्याससे सूक्ष्म हुई बुद्धिके द्वारा भगवान्के सूक्ष्म स्वरूपको समझनेवाला पुरुष अपनी उस समझका उपयोग नहीं करता—वह भगवान्के स्वरूपकी उपासना नहीं करता । लौकिक व्यवहारमें हम देखते हैं कि एक व्यक्तिने अपने गन्तव्य स्थानतक पहुँचनेका बड़ा सुगम



रास्ता समझ लिया है; पर उस सीधे रास्तेको जानते हुए भी यदि वह उस रास्तेको पकड़कर उस स्थानतक पहुँचनेका प्रयत्न नहीं करता तो वह अपने लक्ष्य-स्थानपर कैसे पहुँच सकता है। इसके विपरीत दूसरे व्यक्तिने अपने गन्तव्य स्थानका जो रास्ता समझा है, वह बड़ा विकट एवं लंबा है; पर वह उस रास्तेको पकड़कर चल रहा है तो यह निश्चय है कि देर-सवेर वह अपने लक्ष्यतक पहुँच ही जायगा। यही बात साधनाके क्षेत्रमें है। जो व्यक्ति अपनी समझसे अपने ज्ञानका उपयोग करके प्रेम एवं श्रद्धाके साथ भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधनामें लग जाता है, वही सफल होता है।

**विरोधी तत्त्वोंसे बचते रहिये, नहीं तो जीवन नष्ट होते देर नहीं लगेगी।**

साधकको अपनी साधनामें लगे रहते हुए विरोधी तत्त्वोंसे बराबर सावधान रहना चाहिये, तभी उसकी साधना सफल हो सकती है। अन्य साधनानियोंके साथ-साथ उसे चाहिये कि वह निम्नलिखित चार प्रकारके व्यक्तियोंसे बराबर बचता रहे—उन्हें भयावह समझता रहे। जैसे हमलोग प्लेग आदि भीषण रोगों एवं मृत्युसे बराबर भयभीत रहते हैं, उसी प्रकार इन व्यक्तियोंसे बचना चाहिये—

(१) जो व्यक्ति नास्तिक हैं—अर्थात् जो ईश्वर एवं धर्मको नहीं मानते, इस प्रकारके व्यक्ति सबसे अधिक हानिकारक हैं; कारण, भगवान् एवं धर्मका विश्वास ही मनुष्यके अस्तित्वका आधार है। बिना इस विश्वासके मनुष्य मनुष्य ही नहीं रहता, तब वह साधना क्या करेगा।

(२) जो लोग स्वयंको गुरु कहकर दूसरोंको शिष्य बनानेके प्रयत्नमें रहते हैं, इस प्रकारके व्यक्तियोंकी प्रवृत्तिके मूलमें रहता है—केवल स्वार्थ—शिष्योंको

ठगनेकी इच्छा। अतएव जो लोग अपना नाम जपवाना चाहें, अपना ध्यान करवाना चाहें, अपनी पूजा करवाना चाहें, अपने प्रति सर्वस्व अर्पण करवाना चाहें—उन लोगोंसे सदा सावधान रहना चाहिये।

(३) जो लोग तुच्छ प्रकृतिके हैं, दुष्टात्मा हैं—अर्थात् काम-क्रोध आदिके परायण हैं। शास्त्रमें आया है—यदि सामनेसे एक मदनोन्मत्त हाथी आता हो और दूसरी ओरसे एक दुष्टात्मा, तो दुष्टात्माके चंगुलमें न जाकर अपनेको हाथीके समर्पित कर देना चाहिये; क्योंकि हाथीसे एक बार ही मृत्यु होगी, पर दुष्ट व्यक्तिके सङ्गसे मनुष्य न जाने कितनी बार पापरूपी मृत्युको प्राप्त होगा तथा उसे जन्मान्तरमें नरकोंकी प्राप्ति होगी।

(४) पुरुषोंको परस्त्रीका सङ्ग तथा स्त्रीको पुरुषका सङ्ग नहीं करना चाहिये। अच्छी नीयतसे किये हुए सङ्गमें भी धोखा होनेकी सम्भावना रहती है।

जो लोग अपना कल्याण चाहते हैं तथा जो अपनी साधनाको निर्विकल बढ़ाना चाहते हैं, उनको उपर्युक्त चार प्रकारके व्यक्तियोंसे सदा बचना चाहिये, नहीं तो जीवन नष्ट होते देर नहीं लगेगी।

**राज-धर्म छोड़कर अपने गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणाम करनेका नियम बना लें।**

व्यवहार-शुद्धिके लिये एक सरल उपाय यह है कि घरमें या बाहर जो भी हमसे अवस्था, ज्ञान, आचरण, पद, वर्ण अथवा आश्रम—किसी भी दृष्टिसे बड़े हों, उनको प्रातःकाल शौच-स्नानादिके बाद नमस्कार करना चाहिये। यह एक-दो क्षणका काम है और इसमें विशेष परिश्रम भी नहीं है; किंतु इसका फल अमोघ है। नमस्कारसे गुरुजनोंको संतोष होता है और वे हृदयसे आशीर्वाद देते हैं, जिसके फलस्वरूप विद्या, बल, आयु और यश—इन चारकी वृद्धि होती है। इसीसे नमस्कार हमारे धर्मका एक विशेष अङ्ग माना गया है।



मायानन्द ने भी गीतामें इस बातको स्पष्टरूपसे कहा है—

‘देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं’ (गीता १७।१४)

अर्थात् देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका

पूजन करना—उन्हें नमस्कार करना चाहिये।

नमस्कारसे परस्पर प्रेम बढ़ता है। यह प्राचीन परिपाटी है कि जब किसीकी किसीसे लड़ाई हो जाती है तो परस्पर मेल होनेपर छोटा बड़ेको नमस्कार करता है अर्थात् अपनी भूलके लिये क्षमा-याचना करता है।

यदि हम अपने गुरुजनोंको नित्य नमस्कार करें तो स्वाभाविक ही लड़ाई-झगड़ेसे बचेंगे। मनमें स्वतः संकोच होगा कि जिन्हें प्रातःकाल प्रणाम करते हैं, उनकी बातकी कैसे अवज्ञा करें। साधनामें भी नमस्कार

बहुत आवश्यक है। नमस्कारका अर्थ है—अपने अहंको दूसरेके सामने झुकाना। यही साधनाका मूल है। इसीसे शास्त्रोंमें दृश्यमात्र—जड़-चेतन सबको नमस्कार करनेको साधनरूपमें कहा गया है। तुलसीदासजीने भी कहा है—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

अतएव अपनी योग्यताको भूलकर, लाज-शर्म छोड़कर, अपने गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणाम करनेका नियम बना लेना चाहिये। अच्छे कामको करनेमें कभी भूलकर भी संकोच-शर्म नहीं करनी चाहिये। संकोच-शर्म तो झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार करनेमें, मांस-मदिराके सेवनमें तथा दुर्गुण-दुराचारोंके आचरणमें करनी चाहिये।

## श्रीमाताजीकी वातचीत

[ शरीरकी अभीप्सा ]

( ले०—श्रीमाँ, श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी )

तुम्हारी अभीप्सा शारीरिक भी हो सकती है— इस अर्थमें कि शरीर यह अनुभूत करे कि उसे एक प्रकारका संतुलन प्राप्त करना चाहिये, जिसमें सत्ताके सभी भाग अच्छी तरह संतुलित रहें; और यह कि तुम्हें रोगोंको दूर रखनेकी अथवा, यदि वे दुष्टतावश तुम्हारे अंदर घुस आयें, तो उनपर शीघ्रतासे विजय प्राप्त करनेकी क्षमता हो; और यह भी कि शरीर सदा सामान्य-रूपसे सामञ्जस्यपूर्ण और स्वस्थ अवस्थामें रहकर क्रिया करे। यह है शारीरिक अभीप्सा।

प्र०—शरीरमें अभीप्सा कैसे आ सकती है; क्योंकि सोचनेकी क्रिया तो मन करता है।

उ०—जबतक सोचनेकी क्रिया मन करता है, तबतक तुम्हारा शरीर तीन-चौथाई जड़ है और उसमें अपनी निजी चेतना नहीं है। एक विशुद्ध शारीरिक चेतना होती है, शरीरकी चेतना—शरीर अपने प्रति

सचेतन रहता है और उसमें अपनी निजी अभीप्सा होती है। जबतक तुम अपने शरीरके विषयमें सोचते हो, तबतक तुम अपना शारीरिक चेतनामें नहीं हो। शरीरकी एक चेतना है, जो व्यक्तिगतरूपसे उसकी अपनी है और मनसे बहुत स्वतन्त्र है। शरीरको अपनी निजी क्रियाकी या अपने निजी संतुलन या असंतुलनकी पूर्ण चेतना होती है; और यदि उसमें कहीं कोई गड़बड़ी पैदा हो जाती है तो उसे पूरी तरह बिल्कुल ठीक-ठीक पता चल जाता है कि वह किस विशेष स्थानपर है; और वह उसके साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखता है और कोई बाहरी अभिव्यक्ति न होनेपर भी उसे बहुत ठीक-ठीक अनुभूत करता है। शरीर इसके प्रति सचेतन होता है कि उसकी सभी क्रियाएँ सामञ्जस्यपूर्ण, संतुलित, सुनियमित और जैसे उन्हें चलना चाहिये वैसे चल रही हैं या नहीं;



उसमें एक प्रकारकी परिपूर्णता होती है, परिपूर्णता, आनन्द और शक्तिकी भावना— जीनेके, क्रिया करनेके, जीवन और शक्तिसे भरे संतुलनके भीतर गति करनेके आनन्द-जैसी कोई वस्तु । अथवा शरीर इसके प्रति सचेतन हो सकता है कि मन और प्राणने उसके साथ दुर्व्यवहार किया है, अथवा इससे उसके संतुलनमें हानि पहुँची है और उससे वह कष्ट पा रहा है । यह उसके अंदर असंतुलन सृष्ट कर सकता है ।

तुम इतनी हदतक अपनी शारीरिक चेतनाका विकास कर ले सकते हो कि यदि तुम शरीरके बिल्कुल बाहर चले जाओ, यदि शरीरसे प्राण बिल्कुल बाहर निकल आयें, तो भी शरीरकी अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्र चेतना रहती है, जो उसे यह क्षमता प्रदान करती है कि वह प्राणके बिना भी रह सके, बिल्कुल स्वतन्त्ररूपसे अपनेको हिला-डुला सके, अनेकों प्रकारके अत्यन्त सरल कार्य कर सके । शरीर बोलना सीख सकता है, मन और प्राण उससे बाहर, बहुत दूर कहीं अन्यत्र व्यस्त हो सकते हैं; किंतु जो सूत्र उन्हें जड़ पदार्थसे मिलाता है, उसके माध्यमसे वे अब भी एक ऐसे शरीरद्वारा अपनेको व्यक्त कर सकते हैं, जिसमें न मन है न प्राण और जो इतनेपर भी बोलना सीख सकता है, दूसरे जो कहें उसे दुहरा सकता है, हिल-डुल सकता है—मैं यह नहीं कहती कि वह कोई बड़े भारी काम कर सकता है, पर वह हिल-डुल सकता है, जैसे बोलना वैसे ही लिखना सीख सकता है । वह बोलना जरा धीमा, जरा कठिन प्रकारका होता है, किंतु अन्ततः यह इतना स्पष्ट ( काफी शब्द ) बोल ले सकता है कि लोग उसे समझ लें । और फिर भी मन और प्राण बिल्कुल निकल गये, उससे बाहर हो गये हो सकते हैं । यह है शारीरिक चेतना ।

और तब, जब तुम शरीरकी यह चेतना विकसित कर चुके होते हो, तब तुम्हें भिन्न-भिन्न चेतनाओंके पारस्परिक विरोधका बड़ा स्पष्ट बोध हो सकता है । जब शरीरको किसी वस्तुकी आवश्यकता होती है और वह इसके विषयमें सचेतन होता है कि उसे वह चाहिये और प्राण कोई अन्य वस्तु चाहता है और मन भी कोई और ही वस्तु, तब उनके बीच बहस छिड़ जा सकती है, पारस्परिक विरोध और संघर्ष हो सकता है; और तुम भलीभाँति समझ जा सकते हो कि शरीरका संतुलन क्या है, शरीरकी अपनी निजी आवश्यकता क्या है और प्राण, अज्ञ होनेके कारण, उसमें किस प्रकार हस्तक्षेप कर उसका संतुलन बिगाड़ देता है और उसके विकासमें बहुत हानिकार सिद्ध होता है और जब मन पहुँचता है, तब वह कोई और गड़बड़ी उत्पन्न कर देता है; और लो, अब प्राण और शरीरके बीच जो अव्यवस्था थी, उसमें एक और जुड़ जाता है । यह अपने विचारों, अपने मा-दण्डों, अपने सिद्धान्तों, अपने विधानों और नियमों आदिको उसमें घुसेड़ डालता है; और चूँकि इसे दूसरोंकी आवश्यकताका ठीक-ठीक पता नहीं होता, यह वही करना चाहता है जो दूसरे करते हैं । मानव प्राणियोंका स्वास्थ्य पशुओंकी अपेक्षा अधिक नाजुक और अनिश्चित होता है; क्योंकि उनका मन हस्तक्षेप करके शरीरका संतुलन बिगाड़ देता है । शरीरको आपपर छोड़ देनेसे उसमें एक बड़ी सुनिश्चित सहजवृत्ति होती है । उदाहरणके लिये शरीरको अपने आपपर छोड़ देनेपर, वह बिना आवश्यकताके कभी नहीं खायेगा और न कोई ऐसी वस्तु खायेगा जिससे उसकी हानि हो, सोनेकी आवश्यकता होनेपर सोयेगा, काम करनेकी आवश्यकता होनेपर काम करेगा । शरीरकी एक बड़ी सुनिश्चित



सहजवृत्ति होती है। ये तो मन और प्राण हैं, जो इसे अव्यवस्थित कर देते हैं—एक अपनी कामनाओं, अपनी मनमौजी इच्छाओंद्वारा, दूसरा अपने सिद्धान्तों, अपने मताग्रहों, अपने विचारों, अपने विधानोंद्वारा। और दुर्भाग्यवश, जिसे सम्य सम्राज समझा जाता है, उसमें जो शिक्षा बच्चोंको दी जाती है, उससे शरीरकी यह इतनी सुनिश्चित सहजवृत्ति पूर्णतः नष्ट हो जाती है, इसे छोड़कर बाकी सबका राज्य हो जाता है और तब, जो होना है, वही होता है तुम उन चीजोंको खाते हो, जिनसे तुम्हारी हानि होती है, विश्रामकी आवश्यकता होनेपर तुम विश्राम नहीं करते या ऐसे काम करते हो, जिन्हें नहीं करना चाहिये और तुम अपना स्वास्थ्य बिल्कुल बिगाड़ लेते हो।

प्र०—सक्रिय श्रद्धा और महान् विश्वास क्या एक ही वस्तु नहीं हैं ?

उ०—आवश्यक नहीं। यह जानना होगा कि श्रद्धा किस तत्त्वका बना है और विश्वास किस तत्त्वका बना है; क्योंकि उदाहरणार्थ, यदि तुम सामान्य जीवन बिता रहे हो, जीवनकी सभी परिस्थितियाँ बिल्कुल सामान्य हैं तुम बहके विचारों या अवसाद लानेवाली शिक्षासे रहित हो, तो जवानीभर और सामान्यतः तीस वर्षतक जीवनमें तुम्हारा पूर्ण विश्वास होता है। उदाहरणके लिये यदि तुम ऐसे लोगोंसे घिरे नहीं हो जो, ज्यों ही तुम्हें जरा-सा झुकाम हुआ, धबरा जाते हैं और तुम्हें दवाइयाँ देने लगते हैं, यदि तुम सामान्य परिवेशमें हो और किसी भी चीजके शिकार हो जाते हो—किसी दुर्घटनाके या छोटी-मोटी बीमारीके—तो शरीरको यह निश्चित होती है, यह पूर्ण विश्वास होता है कि 'सब ठीक हो जायगा। यह कुछ भी नहीं है, यह चला जायगा। यह अवश्य चला जायगा। मैं कल या कुछ दिनोंमें बिल्कुल ठीक हो जाऊँगा।' तब, तुम्हें चाहे

जो कुछ भी हुआ हो, तुम निश्चय चंगे हो जाओगे। यही शरीरकी सामान्य अवस्था है पूर्ण विश्वास कि 'हमारे सामने सारी जिदगी पड़ी है और सब ठीक ही होगा।' और इससे बड़ी सहायता मिलती है। तुम दसमें नौ बार अच्छे हो जाते हो। 'यह कुछ नहीं है, यह है क्या, यह एक आकस्मिक दुर्घटना है, यह ठीक हो जायगा, यह कुछ नहीं है।' कितने लोग हैं, जो इस प्रकारके विश्वासको बहुत लंबे समयतक बनाये रखते हैं; उन्हें कुछ हो नहीं सकता और यदि उन्हें कुछ हो भी तो उसका किसी प्रकारका मूल्य नहीं होता। निश्चय ही यह सब ठीक हो जायगा; उन लोगोंके सामने सारी जिदगी होती है। स्वभावतः, यदि तुम ऐसे परिवेशमें रहते हो जहाँके विचार अस्वस्थ हैं और लोग अपना समय तुम्हें आपदाओं और विपदाओंकी कथा सुनानेमें बिताते हैं तो उसकी प्रतिक्रिया तुम्हारे शरीरपर होती है। वरना, शरीर जैसा है, वैसी अवस्था चालीस वर्ष, पचास वर्षतक बनाये रख सकता है—यह उन लोगोंपर निर्भर करता है, जो संतुलित और सामान्य जीवन जीना जानते हैं। किंतु ऐसा तभी सम्भव है, जब शरीरको अपने जीवनमें पूर्ण विश्वास होता है। पर जब, जैसा कि मैंने कहा, दूषित और अस्वस्थ कल्पनाएँ लिये विचार जीवनमें घुस आता है, तब सब कुछ बदल जाता है। मैंने ऐसे उदाहरण देखे हैं कि बच्चोंको छोटी-मोटी चोटें आयीं, जो दौड़नेमें या खेलनेमें लगा करती हैं और उन्होंने इसके विषयमें सोचातक नहीं, वे तुरंत चली गयीं।

मैंने ऐसे दूसरे लोग भी देखे हैं, जिनके परिवार-वालोंने बचपनमें होश आनेके साथ उन्हें सिखा दिया था कि 'सब कुछ खतरनाक है, सर्वत्र कीटाणु विद्यमान हैं। सावधान रहना चाहिये, साधारण-सा घाव भी सर्वनाशी हो सकता है, पूर्णतः जागरूक रहकर



सावधानी बरतनी चाहिये कि कोई गम्भीर बात न हो जाय.....। तब उन्हें पट्टी बाँधनेकी, कीटाणुनाशक औषधसे धोनेकी आवश्यकता पड़ती है और वे पूछते रहते हैं— 'मुझे क्या होने जा रहा है? ओह! शायद मुझे धनुषपटकार हो जायगा, बिपैला ज्वर हो जायगा.....' स्वभावतः ऐसी अवस्थामें तुम जीवनके प्रति अपना विश्वास खो बैठते हो और शरीर इसे बड़ी तीव्रतासे अनुभव करता है। इसकी प्रतिरोध करनेकी शक्ति तीन चौथाई चली जाती है। किंतु सामान्यतः, स्वभावतः, यह शरीर ही है, जिसे पता होता है कि उसे स्वस्थ रहना चाहिये और वह यह भी जानता है कि प्रतिरोध करनेकी शक्ति उसमें है। और यदि उसे कुछ होता है तो वह घटित होनेवाली स्थितिसे कहता है—'यह कुछ नहीं है, यह चली जायगी, तू उसकी परवा न कर, वह समाप्त हो गयी।' और वह चली जाती है।

यह है पूर्ण विश्वास।

अब तुमने कहा—'सक्रिय श्रद्धा।' सक्रिय श्रद्धा और वस्तु है। यदि तुम्हारे अंदर भागवती कृपामें श्रद्धा है तो भागवती कृपा तुम्हारी चौकसी कर रही है—और जो कुछ भी हो, भागवती कृपा तुमपर चौकसी करती रह विद्यमान है, तो इसे तुम जीवनभर और सर्वदा बनाए रख सकते हो; और इसके साथ तुम सारे संकटोंको पार कर सकते हो, सारी कठिनाइयोंका सामना कर सकते हो और तुम्हें कुछ नहीं होता; क्योंकि तुम्हारे साथ श्रद्धा और भागवती कृपा विद्यमान हैं। यह एक ऐसी शक्ति है, जो अनन्तगुनी अधिक प्रबल, अधिक चेतन, अधिक स्थायी है तथा जो तुम्हारी शारीरिक रचना निर्भर नहीं करती; अतः वह परम सत्यपर निर्भर करती है और उसे कोई ढिगा नहीं सकता। यह बहुत मित वस्तु है। (प्रेषक—श्रीजलेश्वरजी)

## मनुष्य शरीरकी दुर्लभता

अब कहा सोय, 'राम' कह, भाई! रैन गई, वासर भयो आई ॥  
 पूर्व पुन्य ते नर-देह पाई। हरि बेमुख मत भूल गमाई ॥  
 ताते पइ उर करो विचारा। नर-तन मिलै न बारंबारा ॥  
 जात कपूर उड़ै कर सेती। तो बहुरै आवै नहिं जेती ॥  
 तिरिया तेल चढ़ै इक वारा। बहुरि न चढ़हि दूसरी वारा ॥  
 केल फूल-फल एकहि होई। बहुरै फल लागै नहिं कोई ॥  
 काच फूट किरखी हुय जावै। सो बहुरै साबत नहिं थावै ॥  
 सुतिया छिटक परी सिध माँहीं। सो कबहुँ कर आवै नाहीं ॥  
 एक बार कागज लिख सोई। जो दूसर लिखिहै नहिं कोई ॥  
 जो मोती बाँधत जो फूटा। तो कबहुँ मिले नहिं पूठा ॥  
 फाट पषाण तेड़ जो आई। सो कबहुँ मिलें न मिली ॥  
 सती सिंगार किया सज सोई। या तन और करै नहिं कोई ॥  
 ऐसे ही यह नर-तन कहिये। सो बिनसैं बहुरै नहिं पड़ये ॥  
 नर-तन अखै होय तब, भाई! 'सेवगराम' राम लिख लाई ॥

—संत श्रीसेवगरामजी महाराज



## परमार्थकी पगडंडियाँ

( नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) के अमृत वचन )

नित्य-निरन्तर भगवान्‌का मधुर स्मरण करते रहना । यह निश्चय रखना कि भगवान्‌ अत्यन्त कोमलस्वभाव, दीनवन्धु, पतितपावन हैं । वे सहज ही क्षमाशील हैं । अपनी भूलोंके लिये पश्चात्ताप करते हुए यदि हम उनकी दयालुतापर विश्वास करके उनके शरणापन्न हो जायें तो वे हमें तुरन्त अपना लेते हैं । वे कुछ भी दोष-अपराध नहीं देखते । वे अकारण कुपालु तथा सहज सुहृद् हैं । अतएव उनके शील-स्वभावकी ओर देखकर निरन्तर उनके शरणापन्न हो रहना चाहिये । जहाँतक बने, मनमें सांसारिक वासनाका, इन्द्रियवृत्तिकी इच्छाका लेश भी नहीं आना चाहिये । यह बहुत बड़ी बाधा है । इससे सदा बचना चाहिये और सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करके उन्हींकी स्मृतिमें चित्तको अक्षुण्णरूपसे लगाये रखना चाहिये । मनमें कभी निराश, उदास एवं विषादग्रस्त नहीं होना चाहिये । वे कहते हैं—‘मा शुचः—मत सोच करो’ । तब भी यदि हम सोच करते हैं तो दो ही बातें हैं—या तो हम शरणापन्न नहीं हैं या उनपर हमारा विश्वास नहीं है ।

×

×

×

×

प्रभु हमारे मनके भीतर-से-भीतरकी बातको, स्थितिको प्रत्यक्षवत् देखते हैं । उनसे कुछ छिपा भी नहीं है । सब कुछ देख-जानकर वे हमारे प्रेमास्पद परम सुहृद् प्रभु हमारे लिये जो कुछ विधान करते हैं, वही हमारे लिये मङ्गलमय है । उसे सदा-सर्वदा परम प्रफुल्लित चित्तसे स्वीकार करना चाहिये । ऐसा होनेपर भी प्रभुके लिये विरह होना—प्राणोंका छटपटाना दोष नहीं है, परम वाञ्छनीय है । प्रभु-विरह प्रभुकी नित्य मधुर स्मृति करानेवाला होनेके कारण अत्यन्त ही आदरकी वस्तु है । इसलिये कुछ प्रेमीजन तो मिलनकी अपेक्षा भी विरहको अधिक आदर देते हैं और उसके सदा बने रहनेमें ही सुखका अनुभव करते हैं । कहीं-कहीं मिलन-विरह दोनोंका मिलन भी हो जाता है । प्रेमकी बड़ी अटपटी स्थिति है ।

×

×

×

×

प्रभु हम सबकी सुनते हैं, पूरी-पूरी सुनते हैं; पर वे करते हैं अपने मनकी । खास करके उनके लिये वे निःसंकोच होकर और भी अपने मनकी करते हैं, जिन्होंने अपने आपको उनके समर्पण कर दिया है । वे तो उन्हींके हाथके खिलौने हो गये हैं, वे चाहे जैसे खेलें—खिलायें । ‘प्रभुकी इच्छामें मेरा कोई वश नहीं है’—यों न सोचकर प्रभुकी इच्छामें हमलोगोंको परम प्रसन्नताका अनुभव करना चाहिये । सदा-सर्वदा प्रभुका मङ्गलमय चिन्तन करना चाहिये तथा कभी भी, कहीं भी प्रभुको अपनेसे दूर नहीं समझना चाहिये । वे सदा सर्वत्र हमारे साथ रहते हैं—सोते-जागते, खाते-पीते, सुख-दुःख, स्वर्ग-नरक—सभीमें, सभी समय । अतएव उन्हें निरन्तर अपने अत्यन्त समीप समझकर परम प्रसन्न रहना चाहिये और उनका चिन्तन करना चाहिये ।

×

×

×

×

तुम्हारी यह कामना कि ‘प्रभुकी मधुर स्मृति मेरे हृदयमें, मेरे रोम-रोममें, मन-बुद्धि-इन्द्रियमें सदा समायी रहे, कभी उनका मनसे वियोग न हो, कभी भी प्रभु मुझको छोड़कर इधर-उधर न चले जायें, प्रेम कभी भी कम न हो, बल्कि बढ़ता चला जाय, गङ्गाकी धाराकी भाँति चित्तकी गति अनवरत प्रभुकी ओर बिना किसी रुकावटके निरन्तर बढ़ती रहे, कभी दूसरी ओर दृष्टि जाय ही



नहीं, इसके लिये समय ही न मिले'—बहुत ही सुन्दर और सुखद है। जहाँ अहेतुक सहज प्रभु-प्रेम होता है, वहाँ प्रभु किसी भी परिस्थितिमें रक्खें, उनका संयोग रहे या वियोग—प्रेममें कमी हो नहीं सकती। प्रेमकी धाराके रुकने तथा कम होनेकी तो कोई कभी कल्पना ही नहीं। जहाँ नीच स्वार्थ होता है और केवल निज सुखकी इच्छा होती है, वहाँ प्रेमके कम होनेकी कल्पना होती है। दिव्य चिन्मय प्रेममें दूसरा रहता ही नहीं। फिर दूसरेकी ओर ताकनेका समय मिलनेका भी कोई प्रश्न ही नहीं है। इसीलिये भगवत्प्रेमी पुरुष प्रभुमें निमग्न हुए आनन्द-सुधा-रसका पान किया करते हैं, सदा मस्त रहते हैं।

× × × ×

यह निश्चय समझो कि तुमपर भगवान्की बड़ी कृपा है और उन्होंने तुमको अपना लिया है। अतः तुम्हें भगवान्की कृपापर विश्वास करके यह निश्चय कर लेना चाहिये तथा संतोष भी करना चाहिये कि भगवान् जब, जैसा, जो ठीक समझते हैं, वही करते हैं और वही करेंगे तथा उसीमें हमारा परम हित है। वे कृपासिन्धु कृपा करेंगे ही। मनमें उदास, निराश तथा चिन्ताग्रस्त कभी नहीं होना चाहिये।

× × × ×

मनकी साध तो प्रेमराज्यमें कभी पूरी होती ही नहीं; क्योंकि प्रेम अनन्त है। प्रेमीके हृदयकी जलन भी बड़ी मधुर होती है; क्योंकि वह प्रेमवैचित्त्यवश उनके नित्य पास रहनेपर भी नित्य वियोगका अनुभव कराकर प्रकट होती है। सचमुच ऐसे व्यक्ति जगत्के लिये बेकाम हो जाते हैं। उनका कौन स्पर्श करे और उन्हें स्पर्श करनेका अधिकार भी किसको है? जिसे नित्य भगवत्-संस्पर्श प्राप्त है तथा जो भगवान्का है, उसकी ओर दूसरा देख ही कैसे सकता है? उसके लिये तो सारा जगत् मिट गया। भगवान्के सिवा कुछ रहा ही नहीं। फिर वह किसका, कैसे स्पर्श करे? जिनका स्पर्श उसे प्राप्त है, वे उसे छोड़ते ही नहीं—

चलत, चितवत, दिवस जागत, सुपन सोवत रात ।

हृदय ते वह खाम मूरति छिन न हृत-उत जात ॥

और दूसरोंकी वह स्मृति ही क्यों करे ?

× × × ×

तुम्हारा यह कहना सचमुच ठीक ही है कि हम प्रभुकी कृपा तथा उनकी इच्छासे ही उन्हें याद कर सकते हैं। यह सर्वथा सत्य है कि भगवान्का भजन, भगवान्का स्मरण, भगवान्में मन-बुद्धिका समर्पण सब भगवत्कृपासाध्य ही है। अपने पुरुषार्थसे यह सब कुछ नहीं होता; परंतु बात इतनी ही समझनी है कि क्या हमपर भगवत्कृपा नहीं है? भगवान्की कृपा नहीं है, ऐसा सम्भव ही नहीं है। उनका अपार, अनन्त, असीम कृपा निरन्तर है। हम उस कृपा-समुद्रमें ही डूबे हैं; बस, कसर इतनी है कि उस नित्य, अपरिसीम कृपापर हमारे विश्वासमें कुछ छुट्टि है। विश्वास जितना ही बढ़े और यथार्थ होगा, उतनी ही कृपाकी अधिक अनुभूति होगी और उनका स्मरण अधिक होगा और जगत्की चिन्तन घटेगा। जगत्की अनुकूलता-प्रतिकूलता भी तभीतक है, जबतक हम जगत्के दास बने हुए हैं, अपनेको विषयोंकी गुलामीमें समर्पण कर रक्खा है। जिस क्षण हम भगवान्के हो जायेंगे, उत



क्षण सारी अनुकूलता-प्रतिकूलता मिट जायगी—भगवान् का मधुर स्मरणजनित परमानन्द ही हमारा जीवन बन जायगा । न जागतिक दुःख रहेगा, न सुख । ब्रह्माजीने भगवान् से कहा था—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।

तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥

(भागवत १०।१४।३६)

हे श्रीकृष्ण ! जबतक मनुष्य तुम्हारा नहीं हो जाता, तभीतक राग-द्वेष आदि चोर लगे रहते हैं, घर कैदखानेके समान हमें सदा बाँधे रखता है और हमारे पैरोंमें मोहकी बेड़ियाँ पड़ी रहती हैं । अतः हमें उनकी कृपाका अनुभव करके उनका ही बन जाना चाहिये । यह अनुभव कृपापर विश्वास करनेसे ही हो जायगा ।

x

x

x

x

प्रभुकी मङ्गलमयी इच्छा समझकर प्रसन्न रहना चाहिये । प्रभुकी अहैतुकी कृपापर विश्वास करके मनमें तो सदा ही प्रसन्न रहना चाहिये । मनमें प्रतिकूलताका भाव न रहे तथा सभी समय, प्रत्येक अवस्थामें भगवान् का मङ्गलविधान मानकर प्रसन्न रहा जाय, तो बहुत उत्तम है । जब हम सब बातें सबके अनुकूल नहीं कर सकते, हमारी बात, हमारी क्रिया दूसरोंके मनके प्रतिकूल होती है, तब दूसरे हमसे प्रतिकूल आचरण करें, इसमें हमें बुरा क्यों मानना चाहिये ? क्यों सबसे अनुकूलताकी आशा करनी चाहिये ? फिर भगवान् की ओर चलनेवाले तथा विषयासक्त लोगोंके तो मार्ग ही दो होते हैं और वे एक-दूसरेसे उल्टे होते हैं । भगवान् के मार्गपर चलनेवाले लोगोंको विषयी लोग मूर्ख मानते हैं । वे उनका उपहास करते हैं । लोक-प्रतिकूलता उनके अङ्गका आभूषण बन जाती है । अतएव सदा सब अवस्थामें खूब प्रसन्न रहकर मनसे भगवान् की स्मृतिमें निमग्न रहना और भगवान् को अपने समीप अनुभव करते रहना चाहिये—भगवान् अपने जनको कभी छोड़ नहीं सकते । भगवान् के सम्बन्धमें यह समझना चाहिये कि भगवान् हमारे हैं, उनपर हमारा अधिकार है । भगवान् से डरनेकी आवश्यकता नहीं है । आवश्यकता है उनको सुखी देखनेकी । हमारी प्रत्येक क्रियासे उनको सुख हो, वस यही साधना और यही साध्य है ।

x

x

x

x

सच्चा मूल्य आत्माका है और वह अपने प्रियतम भगवान् के साथ तादात्म्य प्राप्त कर चुकता है । फिर मन, इन्द्रिय तथा शरीरकी बात ही कहाँ है । सच्ची आत्मीयता प्राप्त हो गयी, उस भक्तका—प्रेमीका शरीर कहीं रहे, वह भगवान् से कभी विलग होता ही नहीं, हो सकता नहीं ।

प्रभु ही मेरे सब कुछ हैं, वे सर्वसमर्थ हैं, वे भिखारियोंके दाता हैं, अनाथितोंके आश्रय हैं । वे ही मेरे सब कुछ हैं । पर भगवान् केवल सर्वसमर्थ दाता और आश्रय ही नहीं, वे प्रेमके भूखे हैं, प्रेमियोंको प्रेमास्पद मानते हैं और अपनेको उनका ऋणी मान लेते हैं । वे प्रेमी-सर्वस्व, प्रेमस्वरूप तथा आत्मस्वरूप हैं ।

x

x

x

x

इस संसारमें जिसका कोई नहीं होता, उसीके भगवान् होते हैं । संसारमें कोई अपना न रहे—ऐसी स्थिति सौभाग्यका चिह्न तथा भगवत्कृपाका फल है । भगवान् तो कहते हैं—



जिसका कोई नहीं जगत्में, उसका प्रियतम होता मैं ।  
 वह मेरे हियमें नित बसता, उसके हिय सुख सोता मैं ॥  
 नहीं छोड़ता कभी उसे, मैं रहता नित्य उसीके पास ।  
 वही हृदय-स्वामी है मेरा, मैं उसका निश्चय ही दास ॥

‘जिसका जगत्में कोई नहीं होता, उसका एकमात्र प्रियतम मैं होता हूँ । वह निरन्तर मेरे हृदयमें बसता है, मैं उसके हृदयमें सुखसे सोता हूँ । मैं उसे कभी नहीं छोड़ सकता, नित्य-निरन्तर उसीके पास रहता हूँ । वह मेरे हृदयका स्वामी है और मैं निश्चय ही उसका दास हूँ ।’

इस प्रकार भगवान् ऐसे प्रेमीको केवल हृदयमें ही नहीं बसाते, उसके हृदयमें ही नहीं बसते, निरन्तर उसके पास रहते हैं, उसे कभी छोड़ते ही नहीं, वरं अपना हृदय-स्वामी बनाकर उसके दास हुए रहते हैं । दास, भला, स्वामीको छोड़कर कहाँ जाय ? अतएव जो भगवान्‌का हो जाता है और जिसको भगवान् स्वीकार कर लेते हैं, सबमुच उसका चित्त भगवान् सदाके लिये चुन लेते हैं और चित्त-चित्तके बदलेमें अपनेको दे डालते हैं—पूरा दे डालते हैं ।

x

x

x

x

यदि हमारे हृदयमें जरा भी भगवद्भक्ति या भगवत्प्रेम है तो भगवान् किसी रूपमें हमारे पास नित्य रहते ही हैं । हमारी बुद्धि, हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ पूर्णरूपसे नित्य भगवान्‌में ही रमण न करके जगत्में रमती हैं, इसीसे हमें उनके पास रहनेका अनुभव कम होता है । पर भगवान् कहते हैं, इससे हमें ऐसा ही मानना चाहिये और उनके नित्य पास रहनेका विश्वासपूर्वक निश्चय करना चाहिये, चाहे वे दीखें नहीं । साथ ही बुद्धि-मन-इन्द्रियोंको पूर्णरूपसे निरन्तर भगवान्‌में रमण करनेकी आदत डालनी चाहिये । यह काम मनके द्वारा ही हुआ करता है ।

x

x

x

x

मनको सदा-सर्वदा विषय-चिन्तनसे हटाकर भगवच्चिन्तनमें लगाये रखना चाहिये । विषय भगवच्चिन्तन होनेपर विषयोंका चिन्तन अपने-आप ही छूट जाता है । परन्तु कहीं-कहीं अमन भगवच्चिन्तनके नामपर भी विषय-चिन्तन होता रहता है । हमें पता भी नहीं लगता कि विषय चिन्तन हो रहा है और ज्यों-ज्यों विषय-चिन्तन होता रहता है, त्यों-त्यों चित्त विषय-सागरमें डूबता जाता है और उसीमें मिथ्या आनन्दका बोध करता है । भगवत्तमें भगवान्‌ने कहा है—

विषयान् यापतरिचत्तं विषयेषु विषज्जते । मामनुस्मरतरिचत्तं मय्येव प्रविलीयते ॥

(११।१४।१७)

‘बार-बार विषयोंका चिन्तन करनेसे चित्त विषयोंमें निमग्न होता है और मेरा चिन्तन होनेमें ही तन्मय हो जाता है ।’ अतएव सदा-सर्वदा सावधानीसे विषय-गन्धसे रहित विशुद्ध भगवच्चिन्तन करना चाहिये । जितना चित्त विषयोंमें आविष्ट होता है, श्रीकृष्णमें चित्तका आवेदा उतना ही अधिक दूर हो जाता है—

विषयाविष्टचित्तानां

कृष्णवेशः

सुदूरतः ॥

भगवान्‌के चिन्तनमें एक मधुर आनन्दकी अनुभूति होनी चाहिये । फिर वह छूटता नहीं और दूसरे चिन्तनोंको नष्ट कर देता है ।

x



तुम मनमें चिन्ता मत किया करो । भगवान्की कृपा तथा उसके मङ्गलविधानपर विश्वास रक्खा करो । वे हमारे लिये जब जो, जैसी व्यवस्था करें, उसीमें मङ्गल है । संसारकी तो सभी चीजें अनित्य और परिवर्तनशील हैं । उनके परिवर्तनमें भगवान्की लीलाका अनुभव करना चाहिये । संसारमें संयोग-वियोग होते ही रहते हैं । मनको, जहाँतक बने, प्रभुके चरणोंमें लगाये रखना चाहिये ।

x x x x

मनका मिलन प्रत्यक्ष मिलनेसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण तथा स्वष्ट होता है । जिनको यह सौभाग्य प्राप्त है, वे ही इसे जानते हैं । शरीर दूर रहनेपर भी मनके मिलनमें कितना अधिक निकटका सम्बन्ध रहता है, कितनी अधिक संनिधि रहती है, यह अनुभवका विषय है और मनका मिलन ही असली मिलन है । भगवान्ने गीतामें मन-बुद्धिके समर्पण—मनके मिलनपर ही विशेष जोर दिया है । शरीरका मिलन किसी भी कारणसे, किसीके द्वारा भी हट सकता या हटाया जा सकता है, पर मनके मिलनको हटानेकी शक्ति किसीमें नहीं है । यह चलते-फिरते, सोते-जागते, एकान्तमें-भीड़में, बाहर-भीतर, दिन-रात, घरमें-जंगलमें, मन्दिरमें-महलमें, पूजास्थलमें-रणशेखरमें—सभी अवस्थाओंमें और सभी समय बना रह सकता है । उसमें न एकान्त स्थानकी आवश्यकता है, न एकान्त समयकी । परम स्वतन्त्रतासे वह हो सकता है, रह सकता है । अर्जुनसे भगवान्ने कहा था—‘तुम मनसे मुझमें मिले रहो और शरीरसे युद्ध करो ।’ अतएव शरीर घरमें रहे, घरके काममें रहे—मन भगवान्के पास सदा रहे या मनमें केवल भगवान् ही सदा बसे रहें ।

x x x x

भगवान्को सर्वसमर्पण करनेके बाद मनुष्य निश्चय ही भगवान्की वस्तु हो जाता है । फिर भगवान् उसे अधिकारपूर्वक अपने इच्छानुसार बरतते हैं । इस प्रकार जो भगवान्की वस्तु हो जाता है और भगवान् जिसे इच्छानुसार बरतते हैं, उसीका जीवन धन्य है । फिर उसे न तो कुछ पानेकी चिन्ता रहती है न सोचनेकी ही कोई बात उसके लिये रह जाती है । उसके लिये सोचना, करना-कराना—सब प्रभु अपने जिम्मे ले लेते हैं । वह तो सर्वथा निश्चिन्त और योगक्षेमकी कल्पनाको छोड़कर नित्य-निरन्तर प्रभुके मधुर चिन्तनमें ही लगा रहता है । वह धन्य है ।

x x x x

भगवान्का स्वभाव एवं विरह है—‘जो उनका हो जाता है, उसे सदाके लिये अपनाकर वे स्वयं उसके बन जाते हैं ।’ भूलना, त्यागना, हृदयमें न बसना, न बसाना—ये सब तब रहते ही नहीं । भगवान्ने दुर्वासासे कहा है—‘ऐसे प्रेमी भक्त मेरा हृदय होते हैं, मैं उनका हृदय होता हूँ । वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते, मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता ।’ जब वे स्वयं ही हृदय हो जाते हैं और भक्त प्रेमीको अपनाकर अपना हृदय बना लेते हैं, तब त्यागकी तो कल्पना ही नहीं । वे उस प्रेमीके पराधीन हो जाते हैं । उसके मनमें अपने मनका प्रवेश कराकर एक-मन, एक-प्राण हो जाते हैं । यही प्रेमका आदर्श है । भगवान् इसमें कोई विलक्षण बात नहीं करते, उनका स्वभाव ही ऐसा विलक्षण है । वे जिसको अपने हृदयमें बसा लेते हैं, वह चाहनेपर भी फिर उनसे अलग नहीं हो सकता । उसे तो वहाँ सदाके लिये बँधे रहना पड़ता है । यों प्रेमी और प्रेमास्पद भगवान् एक-दूसरेके द्वारा बाँधे जाते हैं और एक दूसरेको बाँध लेते हैं । यह बन्धन बड़ा ही अनोखा एवं मधुर होता है, अतएव इससे मुक्ति न भगवान् चाहते हैं, न प्रेमी चाहता है ।

( पुराने पत्रोंसे उद्धृत )



# भक्तिदर्शनकी कतिपय विशेषताएँ

( लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज )

## १-भक्तिकी आवश्यकता

जीवकी ब्रह्मभावापत्ति मुक्ति है। जीव ब्रह्मसे अत्यन्त अभिन्न हैं, तब जीवोंकी ब्रह्मभावापत्तिमें बाधा क्या है ? सच तो यह है कि जीवोंका जन्म-मरणरूप संसार सहज नहीं है, त्रिगुणात्मक अन्तःकरणकी उपाधिके कारण है—ठीक वैसे ही, जैसे जपाकुसुमके सांनिध्यसे स्फटिकमें लालिमा। भक्तिदर्शनका यह कहना है कि औपाधिक होनेके कारण ही केवल ज्ञानसे संसारकी निवृत्ति नहीं हो सकती। ( आरोप्य जहाँ असंनिहित होता है, वहाँ अधिष्ठानके ज्ञानमात्रसे निवृत्त हो जाता है; परंतु जहाँ वह संनिहित होता है, वहाँ ज्ञानमात्रसे निवृत्त नहीं हो सकता, जैसे जपा-कुसुमकी स्फटिकगत लालिमा। वह स्फटिकके ज्ञान-मात्रसे निवृत्त नहीं हो सकती। ) उसकी निवृत्ति उपाधि अथवा उपाधेय—दोनोंमेंसे एककी निवृत्ति होनेपर अथवा सम्बन्धकी निवृत्ति होनेपर ही हो सकती है। उपाधिका संयोग रहनेपर चाहे कितना भी उच्चकोटिका दर्शन हो, स्फटिककी लालिमाका भ्रम निवृत्त नहीं हो सकता। अब इस प्रसङ्गपर दृष्टि डालिये, क्या सर्वसत्ता-स्फुरणात्मक परमात्मा मिट सकता है ? क्या उपाधि और उपाधेयके स्वरूपतः अभिन्नत्वरूप सम्बन्धकी निवृत्ति होना शक्य है ? अन्ततः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उपाधिकी निवृत्तिसे ही भ्रमकी निवृत्ति शक्य है, केवल आत्मज्ञानसे नहीं। उपाधि-ज्ञानके लिये कुछ दूसरा उपाय करना चाहिये। वह क्या है ? ईश्वर-भक्ति। वह अलौकिक होनेके कारण प्रत्यक्ष-अनुमान आदिके द्वारा साध्य नहीं है, श्रुति-स्मृति-प्रमाणसे सिद्ध है। गीता ( अध्याय १४ ) में सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंको बन्धनका

हेतु बताया गया है। साथ ही भक्तियोगके गुणातिक्रमण और ब्रह्मभावापत्तिका भी निरूपण है। इस प्रकार स्वयं भगवान् ही अपनी भक्तियोग त्रिगुणात्मक अन्तःकरणके लयके अनन्तर ब्रह्मभावापत्ति मुक्तिका हेतु बतलाते हैं। ( स्वप्नेश्वर-भाष्य )

## २-क्या आत्मज्ञान व्यर्थ है ?

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि आत्मज्ञान व्यर्थ नहीं है, भक्तिमें उपयोगी है। यह अश्रद्धाके मलका प्रक्षालन कर देता है। ज्ञानसे अन्तःकरण रूप उपाधिके धर्मका अध्यास दूर नहीं हो सकता, क्योंकि यह उपाधि जैसे ज्ञानके पूर्व अपरोक्ष है, वैसे ही ज्ञानके अनन्तर भी अपरोक्ष रहेगी। अतः भगवद्भावाके अविगमके लिये त्रिगुणात्मक उपाधि परे जो तत्त्व है, उसका ज्ञान अपेक्षित है। ज्ञान संशयको काटता है—‘ज्ञानसंछिन्नसंशयम्’ ( गीता )। भक्तिदर्शनके मतमें संसार अज्ञानकृत नहीं है। यदि अज्ञानकृत होता तो ज्ञानसे निश्चय ही निवृत्त हो जाता। संसारका कारण अभक्ति है। अतः भक्तिके द्वारा अभक्तिके दूर होनेपर संसारकी निवृत्ति हो जाती है। पराभक्ति ही जीवनमुक्ति है। विष्णु पुराणमें कहा गया है—

तावदार्तिस्तथा वाञ्छा तावन्मोहस्तथाऽलुखम् ।  
यावन्न याति शरणं त्वामशेषाघनाशनम् ॥  
( १।१।७३ )

‘हे प्रभो ! जबतक निखिलपापपाहारी आपकी शरणमें यह जीव नहीं आता, तबतक आर्ति, वाञ्छा, मोह और दुःख बने रहते हैं।’ और भी कहा गया है कि ‘जन्मोंकी परम्परा, यमकिंकरोंके डर और यातना, विविध प्रकारके दैन्य, यमराजका



बार भयंकर दर्शन और अहंता-ममताकी लहरियोंसे युक्त भृगतृष्णाके जल—ये सब जीवको इस कारण प्राप्त हो रहे हैं कि वह भगवान्‌के चरणारविन्दसे विमुख हो रहा है ।'

जन्मानि घोरयमकिंकरताडनानि  
दैन्यानि तानि तपनात्मजदर्शनानि ।

जन्तोर्हंममतरंगकुरङ्गतृष्णाः

कृष्णाङ्घ्रिपङ्कजपराङ्मुखतानुभावः ॥

इसके अतिरिक्त भक्ति-सिद्धान्तमें सत्य परमेश्वर और उनकी सत्यशक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण प्रपञ्चको सत्य ही माना जाता है । यह संसार ईश्वरका संकल्प है और ईश्वर सत्यसंकल्प है । इसी प्रकार सुखादिकी उपलब्धि भी अन्तःकरणके द्वारा ही होती है । ऐसी स्थितिमें केवल आत्मज्ञानसे ही मुक्ति न होकर भक्तिसे प्राप्त होती है ।

यह ध्यान देने योग्य है कि कुछ दर्शन 'त्वं'-पदार्थ-प्रधान होते हैं—जैसे पूर्वमीमांसा, सांख्य एवं योग । पहलेमें त्वं-पदार्थ कर्ता धर्मानुष्ठान कैसे करे, इसका निरूपण है । उसमें ईश्वरकी चर्चा नहीं है । ईश्वर हो, न हो, जीवके द्वारा अनुष्ठित कर्म 'अपूर्व' उत्पत्तिके द्वारा अपना फल दे लेते हैं—फल चाहे इस लोकमें मिले, चाहे परलोकमें, इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें । यह एक बहिरङ्ग दर्शन है । सांख्यदर्शन विवेक-प्रधान है । वह दृश्यसे द्रष्टाको विवेक कर लेता है । इस दर्शनमें भी द्रष्टा और दृश्य—दो ही विभाग होनेके कारण ईश्वरका विशेष निरूपण नहीं है । यह 'त्वं'-पदार्थको कर्तृत्वसे मुक्त कर लेता है । योगदर्शन चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर द्रष्टाके स्वरूपावस्थानका प्रतिपादन करता है । वृत्तियोंके निरोधकी प्रक्रियामें 'तत्'-पदार्थरूप ईश्वरका निरूपण किया गया है; परंतु वृत्तियोंका निरोध हो जानेपर वहाँ भी ईश्वरकी उपयोगिता नहीं रहती । समाधिके

साधन, विपत्तियों और अन्तमें कैवल्य । कैवल्य 'त्वं'-पदार्थका ही होता है । अतः ये तीनों दर्शन 'त्वं'-पदार्थ-प्रधान हैं ।

न्याय और वैशेषिक 'तत्'-पदार्थका प्रतिपादन करते हैं । भक्तिदर्शन मुख्यरूपसे उन्हींके द्वारा प्रतिपादित परमेश्वरको स्वीकार करके भक्तिविषयक मीमांसा करता है । यह श्रौत होनेके कारण द्रव्यों, परमाणुओं अथवा दूसरे पदार्थोंके अनुसंधानमें न लगकर भगवान् और भक्तिका ही वर्णन करता है । यह दर्शन भी 'तत्'-पदार्थ-प्रधान ही है । अतः यह 'त्वं'-पद-वाच्यार्थ एवं 'तत्'-पद-वाच्यार्थमें एक लक्ष्यार्थका निरूपण करके शांकर वेदान्तके समान अद्वैत तत्त्वका निरूपण नहीं करता । जिन आचार्योंने वेदान्तदर्शनकी 'तत्'-पदार्थ-प्रधान व्याख्या करके उसमें भक्तिदर्शनके समान ही भगवान् और भक्तिका प्रतिपादन किया है, उनकी कथा दूसरी है । भक्तिदर्शन भगवान्‌में भक्तिपूर्वक बुद्धिका लय हुए बिना संसारकी निवृत्ति नहीं मानता । अतः इसके मतमें आत्मज्ञान संसारका निवर्तक नहीं, केवल अन्तःकरणके अश्रद्धा, संशय आदि मलोंके क्षालनमें ही उपयोगी है । जैसे कोई मनुष्य जब किसी सम्राट्‌से मिलनेके लिये जाता है, तब क्षौर, स्नान, सद्ब्रह्मधारण, अलंकरण, संस्करण आदिके द्वारा अपनेको सज्जित करके उसके सम्मुख उपस्थित होता है, उसी प्रकार जीव जब ईश्वरके सम्मुख उपस्थित होता है, तब प्रमाद, आलस्य, अशान्ति, क्रोध, लोभ, औद्वत्य, अभिमान आदिका परित्याग करके—क्योंकि ये आत्मधर्म नहीं हैं, सङ्गदोषसे आगन्तुक हैं—अपने सहज, निर्मल स्वरूपसे ही प्रपन्न—शरणागत होता है । यही आत्मज्ञानका उपयोग है ।



३-क्या जीव और ब्रह्म वस्तुतः पृथक्-पृथक् हैं ?

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जीवकी ब्रह्मभावापत्ति 'मुक्ति' है । प्रश्न यह है कि यदि जीव और ब्रह्म वस्तुतः पृथक्-पृथक् हैं तो जीव, जो ब्रह्मसे भिन्न है, ब्रह्मस्वरूप कैसे हो सकता है ? इस सम्बन्धमें भक्तिदर्शनका यह दृष्टिकोण है कि वस्तुतः जीव और ब्रह्म अनेक नहीं, एक ही हैं । उपाधिके योगसे नानात्व है और उपाधिके हानसे एकत्व है । 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' यह श्रुति भक्तिदर्शनको मान्य है । जैसे जलमें सूर्य अथवा चन्द्रमाके अनेक प्रतिबिम्ब दीखते हैं, वैसे ही उपाधिके कारण ब्रह्म भी अनेक दीखता है । जब पराभक्तिसे जीवकी उपाधि बुद्धिका प्रहाण हो जाता है, तब जीव ब्रह्म ही है । दर्पण आदिकी उपाधि हटा देनेपर प्रतिबिम्ब भी प्रकाशात्मा आदित्य ही है ( शाण्डिल्यभक्तिसूत्र ३।२।१ )

यदि यह माना जाय कि जीव परमात्मासे पृथक् हैं और परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं—क्योंकि इस प्रकार माननेपर बद्ध-मुक्तिकी व्यवस्था ठीक-ठीक बैठ जाती है, तो यह ठीक नहीं है । इसका कारण यह है कि फिर जीवोंका परमेश्वरके साथ कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता । जीवों और ईश्वरमें क्या द्रष्टा-दृश्यरूप सम्बन्ध सिद्ध हो सकेगा ? दीपकोंको एक-दूसरेकी अपेक्षा नहीं होती । ईश्वर ज्ञेय हो जायगा, प्रकाश्य जड हो जायगा । इसलिये यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जगत्-प्रकाशक-रूपसे ही चिदात्माकी सिद्धि होती है । वह भ्रम और प्रमाके अधिष्ठान रूपसे ही सिद्ध होता है । भक्तिदर्शनकी एक विशेष बात यह है कि भ्रम और प्रमा—दोनों बुद्धिमें होते हैं और बुद्धि एक सच्ची वस्तु है । अनन्य भक्तिसे बुद्धि जब ब्रह्माकार होती है, तब वह ब्रह्ममें लीन हो जाती है; क्योंकि यह बुद्धि भी भजनीय ब्रह्मसे अभिन्न ही है । फिर जीवके ब्रह्मभावापन्न

होनेमें कोई संशय नहीं रह जाता । अतः जीव जन्म-मरणका कारण अज्ञान नहीं, अभक्ति है । भक्ति होनेपर जन्म-मरणकी निवृत्ति हो जाती है साथ ही यह बात भी है कि अज्ञान किसी वस्तुका कारण नहीं हो सकता । वह तो केवल मानसिक विभ्रमोंका ही हेतु हो सकता है ( शा० भ० ३।२।२ )

४-क्या बुद्धि और दृश्य-प्रपञ्च मिथ्या हैं ?

सगुण-ब्रह्मविद्यामें परब्रह्म परमात्मा परमेश्वर है । वह स्वभावसे ही अनेकानेक चित्र-विक्रित शक्तियोंसे युक्त है । उसका पारमैश्वर्य अवाधित है । उसमें यह सूक्ष्म-स्थूल प्रपञ्च वैसे ही रहता है जैसे घरमें वर्तन और वर्तनमें वस्तु । ब्रह्ममें शक्ति और शक्तिमें प्रपञ्च । यह शक्ति और शक्तिमान् मिलकर ही जगत्के कारण होते हैं । अतः भक्तिदर्शनके दृष्टिकोणसे चेत्या प्रकृति और चिद्ब्रह्म—दोनों ही सत्य हैं; तीसरी कोई वस्तु नहीं है ( शा० भ० २।१।१४ ) विशेष यह है कि ब्रह्मकी शक्ति होनेके कारण चेत्या प्रकृति उसके विलास मिथ्या नहीं हैं ।

‘शक्तित्वान्नाचृतं चेत्यम् ।’

( शा० भ० २।१।१४ )

अभिप्राय यह है कि जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अग्निस्वरूपा ही होती है, वैसे ही ब्रह्मकी शक्ति भी ब्रह्मस्वरूपा ही है । इससे अद्वैत श्रुतिमें विरोध नहीं होता; क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् कारण और कार्यमें जो अभेद है, उसीमें श्रौत-अद्वैत तात्पर्य है ।

५-वेद पौरुषेय हैं ?

भक्ति-सिद्धान्तमें तीन प्रमाण माने जाते हैं । रुद्रके तीन नेत्र हैं, विशाट्के तीन चिह्न हैं—



चन्द्रमा और अग्नि, वैसे ही भक्तिदर्शनमें शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष—तीन प्रमाण स्वीकृत हैं (३।२।७)। भक्तिदर्शनका मुख्य प्रमेय परमेश्वर है और यह सम्पूर्ण प्रापञ्च उससे भिन्न नहीं है; क्योंकि सब कुल शक्ति-शक्तिमानका ही स्वरूप है। शक्ति माया है और वह जड़ एवं सामान्य है। वह नित्य ज्ञेय ही है, अतः उसको मिथ्या नहीं कहा जा सकता। जितने भी व्याप्य हैं, उनमें व्यापक एक ही है; अतः ईश्वर ही सारी सृष्टिका मूल कारण और निर्माता है। सारी बुद्धियाँ भी उसीमें हैं। किसी प्राणीकी बुद्धिसे सृष्टि-निर्माण नहीं किया जा सकता। वही ईश्वर धर्माधर्मके अनुसार चाचर प्राणियोंकी सृष्टि करके उनकी भलाईके लिये वेदोंका निर्माण करता है। जैसे पिता पुत्रोंका उत्पादन करके उन्हें उनके हितका ज्ञान और उनके द्वारा अहितका परिहार करानेके लिये उन्हें शिक्षा देता है, वैसे ही परमात्मा भी जीवोंको इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहारके लिये श्रुतिका निर्माण करता है।

कर्मोंका फल भी ईश्वर ही देता है। इस सम्बन्धमें उत्तरमीमांसाके साथ भक्ति-मीमांसाका मतैक्य है। पूर्वमीमांसामें कर्म अपूर्वोत्पादनद्वारा स्वयं अपना फल लेता है—ऐसा माना गया है, चाहे ईश्वर हो या न हो। भक्तिदर्शन ईश्वर-प्रधान है। इसका सिद्धान्त है कि जैसे राजा अपने रोष-तोषके द्वारा निग्रहानुग्रह करता है, वैसे ही परमेश्वर भी। भक्तिसिद्धान्तमें यदि वेदको अनिर्मित मान लिया जाय तो वह ईश्वरसे भिन्न एक सतन्त्र सत्ताके रूपमें सिद्ध हो जायगा, जो भक्तिदर्शनको इष्ट नहीं है। परंतु वेदके पौरुषेय होनेका अर्थ यह कदापि नहीं है कि वह किसी जीवकी रचना है। जीवमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदि दोषोंकी सम्भावना रहती है, अतः वेद ईश्वर-रचना होनेपर भी अपौरुषेयके समान ही निर्दोष और प्रामाणिक है।

## ६-भक्ति वेदप्रतिपाद्य है।

शाण्डिल्यने स्वयं कहा है—

‘भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्यः।’ ‘पुराणेतिहासाभ्यां च।’  
(१।२।९-१०)

—इसका अभिप्राय है कि ईश्वरने स्वयं अपनी वाणी-रूप श्रुतिके द्वारा आज्ञा की है कि श्रुति तथा इतिहास-पुराणोंसे भक्तिका स्वरूप जानना चाहिये। इन सूत्रोंकी व्याख्यामें नारायणतीर्थने ऋग्वेदके ऐसे अनेक मन्त्र उद्धृत किये हैं, जिनमें नामस्मरण, श्रवण-कीर्तन, भगवद्दर्शन, शरणागति, भगवत्प्रसाद, आत्मसमर्पण आदिका वर्णन है। उनके अनुसार वेदोंमें न केवल साधनरूपा श्रवण-कीर्तनादि-लक्षणा भक्तिका ही वर्णन है, अपितु भावमयी, रागात्मिका, रसमयी भक्तिका भी वर्णन है। ऋग्वेद (६।१।५) में परमेश्वरका रक्षक एवं माता-पिताके रूपमें वर्णन मिलता है। ऋग्वेद (८।९८।११) में अत्यन्त भक्तिभावके साथ उनका माता-पिताके रूपमें स्मरण किया गया है। वहाँ इन्द्रको पिता ही नहीं, पितृतम एवं श्रेष्ठ सखाके रूपमें निर्दिष्ट किया गया है। किसी-किसी मन्त्रमें ऐसे अनुरागका वर्णन है, जैसे पत्नी अपने प्राणनाथ पतिदेवका आलिङ्गन कर रही हो—

‘परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिम्।’

(१०।४३।१)

ऋग्वेद (१०।४०।२) में तो परमेश्वरके प्रति प्रेयसी-प्रियतमभावकी पराकाष्ठा ही कर दी गयी है। ऐसा लगता है, मानो परकीया भावसे उपासनाका वही बीज हो।

## ७-भक्ति क्या है ?

सभी भक्तिदर्शन तात्पर्यतः परमेश्वरके प्रति परमानु-रक्तिको ही ‘भक्ति’ कहते हैं। नारदने भक्तिका रूप ‘परमप्रेम’ और स्वरूप ‘अमृत’ कहा है। शाण्डिल्यने अमृतको फल कहा है। अङ्गिराने स्नेह, प्रेम एवं



श्रद्धाके अतिरेकसे ईश्वरके प्रति अलौकिक अनुरागको ही 'भक्ति'की संज्ञा दी है। अज्ञातकर्तृक भक्तिमीमांसामें भक्तिको मनके 'उल्लास-विशेष'का नाम दिया गया है। ये आचार्य भक्तिको भाव कहना पसंद नहीं करते। उनके मतमें रसकी समग्र सामग्रीसे भक्तिका आविर्भाव होता है, इसलिये वह रस ही है। वह जन्य नहीं है, स्वयं उल्लसित रस है। स्वामी श्रीहरिहरानन्दारण्य भक्तिके दो भेद मानते हैं। जिसमें सुखोपलब्धि होती है, वह 'अपरा भक्ति' है और जिसमें शान्ति होती है, वह 'परा'। अपरा भक्तिसे परा भक्ति निष्पन्न होती है। दृढ़ रतिसे अन्यके प्रति वैराग्य हो जाता है और केवल भजनीयके स्वरूपकी ख्याति होकर उसमें निष्ठा हो जाती है। यह परा भक्ति है और इसीसे शाश्वती शान्ति मिलती है।

यह भक्ति ज्ञानरूपा नहीं है; क्योंकि जिसका ज्ञान हो, उसकी भक्ति हो—यह नियम नहीं है। किसी-किसीका ज्ञान होनेपर उससे द्वेष भी हो जाता है। अनुराग द्वेषका विरोधी है। ज्ञान राग और द्वेष दोनोंमें अनुगत है। अनुरागीपर भगवान्की कृपा होती है और उसे पूर्ण निःश्रेयसकी प्राप्ति हो जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रयोजनकी पूर्तिके लिये भक्ति सर्वथा समर्थ है। जिन लोगोंका यह कथन है कि भक्ति एक क्रिया है और उससे प्राप्त होनेवाला फल अनन्त नहीं हो सकता, उनका वैसा आक्षेप यथार्थ नहीं है; क्योंकि भक्ति प्रयत्नानुविधायिनी नहीं है। संसारमें स्त्री-पुत्र-मित्रविषयक प्रेम भी प्रयत्नपूर्वक नहीं किया जाता, स्वाभाविक ही हो जाता है; फिर ईश्वरविषयक भक्तिका तो कहना ही क्या है। अतएव उसका फल न उत्पाद्य होता है न विनाश्य। वह भी ज्ञानके समान ही पहलेसे विद्यमानको ही आविर्भूत करती है, निर्माण नहीं करती। इसीसे गीतामें ज्ञानवान्की प्रपत्तिका निरूपण

है—देखिये (७।१९)। वास्तविकता यह है कि बिना भक्तिके धर्म, योग और ज्ञान भी सम्पुष्ट नहीं होते। उन्हें भी भक्तिकी अपेक्षा होती है। गीतामें ही कर्मी, ज्ञानी और योगियोंसे भक्तको श्रेष्ठ बताया गया है। जहाँ-जहाँ भक्तिसे ज्ञानकी प्राप्ति कही गयी है, वहाँ-वहाँ देव-भक्तिमें तात्पर्य है।

किसी-किसीका यह आक्षेप है कि राग अविद्याका वंश-परम्परामें है और वह एक क्लेश है; परंतु यह सिद्धान्त केवल संसार-रागके सम्बन्धमें है। भक्ति परमेश्वर-विषयक राग है। इसमें केवल वृत्ति-निरोध करना होता अथवा द्रष्टाको अपने स्वरूपमें स्थित होना होता, तो उनका आक्षेप सत्य होता। यहाँ तो सम्पूर्ण विश्वसिद्धि बुद्धिको परमेश्वरमें लीन होना है और वह भी अपने अभिन्ननिमित्तोपादान कारणमें। इसलिये उत्तमास्पद, कारणरूपद, ईश्वररूपद राग होनेके कारण उपाधिविच्छेदके द्वारा वह मोक्षका हेतु है। कोई भी राग या सङ्ग है; इसलिये त्याज्य नहीं है कि वह राग या सङ्ग है; संसारानुबन्धी होनेके कारण ही त्याज्य होता है।

भक्ति कर्माङ्ग भी नहीं है; क्योंकि परोक्षफल स्वर्गादि-साधनके अनुष्ठानके लिये श्रद्धाकी आवश्यकता होती है, उसके लिये ईश्वर-भक्तिकी आवश्यकता होती है। कहीं-कहीं एक ही साथ 'श्रद्धा-भक्ति-समाप्ति' ऐसा उल्लेख मिलता है। 'श्रद्धावान् भजते'—गीतामें भी है।

## ८-भक्तिकी पहचान

प्रतितन्त्र सिद्धान्तोंका खण्डन कर देनेपर समानतन्त्रोंका समन्वयकी दृष्टिसे आलोचन करने निर्विवादरूपसे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर परमानुराग ही 'भक्ति' है। परंतु परमानुराग स्वसंवेद्य वस्तु है, उसको दूसरा कोई नहीं पहच



सकता । ऐसी स्थितिमें सहज ही यह प्रश्न उठता है कि उसकी व्यावहारिक पहचान क्या है ।

( क ) पराशरनन्दन व्यासका अभिमत यह है कि पूजा ( व्रित्तजा, तनुजा और मानसी ) आदिमें अनुराग होना भक्तिका लक्षण है । जिससे प्रेम होता है, उसकी सेवाके रूपमें वह अभिव्यक्त होता है ।

( ख ) गर्गाचार्यका मत है कि जिससे प्रेम होता है, उसके चरित्र, नाम, गुण आदिका श्रवण-वर्णन और उनको गुनगुनाना प्यारा लगता है । ईश्वर-भक्तिकी भी यही पहचान है ।

( ग ) शाण्डिल्य ऋषिका कथन है कि परम प्रियतम ईश्वरकी जो भी वस्तु अपनेको प्यारी लगे, उसीमें रम जाना भक्तिका लक्षण है ।

( घ ) भरद्वाज कहते हैं कि परमानन्दमें मग्न होकर परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करना भक्ति है; अर्थात् जिससे जिसका प्रेम होता है, वह उसकी महिमाका ख्यापन करता है ।

( ङ ) कश्यपका मत है कि अपने सभी कर्म भगवान्‌के प्रति अर्पण करना भक्तिका लक्षण है । इसका अर्थ यह है कि भक्त जो कुछ भी करे, भगवान्‌की प्रसन्नता और सेवाके लिये । इसमें कर्मका नियम नहीं है । शौच-स्नानादिके द्वारा भी अपनेको शुद्ध करके परमेश्वरके सम्मुख होना भक्ति है ।

( च ) श्रीकृष्ण, शुकदेव, प्रह्लाद एवं वसिष्ठादि ऋषियोंका अभिप्राय है कि सम्पूर्ण जगत्‌को भगवद्रूप समझकर उसकी सेवा करना भक्तिका लक्षण है ।

( छ ) देवर्षि नारद कहते हैं कि अपना समग्र आचरण प्रभुको अर्पित कर दे और यदि कभी भगवद्विस्मरण हो जाय तो परम व्याकुलताका उदय हो ।

( ज ) ब्रजवासियोंका मत है कि अपनी मति, रति, गति, जीवन एवं प्राणोंको भगवान्‌में लीन कर देना ही भक्ति है ।

ये सभी लक्षण अन्ततः अन्तःकरणरूप उपाधिको जगत्‌के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण, अचिन्त्य-अनन्त-कल्याणगुणगणनित्य, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरमें लीन कर देते हैं । इसलिये सभी भगवद्भक्तिके ही विशेष विलास एवं अनुभाव हैं ।

## ९-भक्ति कैसे मिले ?

इसमें संदेह नहीं कि भक्ति-सिद्धान्तका सर्वस्व ईश्वर ही है । जीव और जगत्‌ उससे अभिन्न हैं । ऐसी स्थितिमें ईश्वरके अथवा उससे अभिन्न भक्तजनों-के अनुग्रहके बिना भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती; परंतु यह अनुग्रह प्राप्त करना जीवके पौरुषके वशमें नहीं है । अतः साधनके रूपमें अनुग्रहकी गणना नहीं की जा सकती । जीव केवल इतना ही कर सकता है कि वह इस अनुग्रहकी प्रतीक्षा करे, आकुल-व्याकुल अन्तरसे । दूसरी बात यह हो सकती है कि क्षण-क्षण और कण-कणमें अनुग्रहका ही समीक्षण किया जाय । यह प्रतीक्षा और समीक्षा जीवकी ओरसे की जाती है । अतः इसका साधन-कोटिमें संनिवेश हो जाता है । इसीसे देवर्षि नारदने महत्कृपा अथवा भगवत्कृपा-लेशसे भक्तिकी प्राप्ति बतलायी है ।

स्वधर्मका निष्काम आचरण करके उसके द्वारा भगवान्‌की आराधना उनके संतोषका हेतु है । योगाभ्यासके द्वारा विषयाभिमुख मनको लौटाकर ईश्वरके सम्मुख करना भी भक्तिका हेतु है । विनय और दैन्यके द्वारा अपने अहंको अत्यन्त क्षीण कर देनेपर भी अन्तःकरणमें भगवान्‌का आविर्भाव हो जाता है । भक्ति-सिद्धान्तमें मुख्य बात यह है कि



विषयभोग और आसक्तिका परित्याग करके निरन्तर भगवद्भजन करनेसे भगवान्‌के आनन्दरसात्मक स्वरूपका आविर्भाव होकर वह अन्तःकरण-वृत्तिको भगवदाकार बना देता है, यही भक्ति है। रस है—परमेश्वर। रसात्मिका वृत्ति है—भक्ति। भजन अर्थात् रसास्वादन—ऐसा रसास्वादन, जिसमें भोक्ता, भोग और भोग्यकी त्रिरूपता भङ्ग हो जाय। क्या भोग्य है और क्या भोक्ता—इसका पता ही न चले। ऐसी भक्ति प्राप्त करनेके लिये अङ्गिरा ऋषिने सात भूमियोंके अवलम्बनकी चर्चा की है।

( अ ) भगवान्‌के नामका आश्रय—मन्त्र वे होते हैं, जिनकी ध्वनिका सम्बन्ध अधिदैव जगत्‌से होता है। पूर्वमीमांसकोंने तो यहाँतक माना है कि देवता नामका कोई अर्थ और जाति न होनेपर भी मन्त्रोच्चारण-समकाल ही देवताकी उत्पत्ति हो जाती है। परन्तु उपासना-शास्त्रके अनुसार देवताका वास्तविक अस्तित्व होता है। भिन्न-भिन्न मन्त्रोंके द्वारा भिन्न-भिन्न देवताओंकी आराधना की जाती है। परन्तु भगवान्‌का नाम उस कोटिका नहीं है। भगवान्‌का नाम जीवोंके कल्याणके लिये उन्हींका एक आविर्भाव-विशेष है। नाम ब्रह्म है। जो भगवान्‌ हैं, वही नाम है। इस प्रकार नामका आश्रय लेकर उसके कीर्तन, जप, श्रवण, ध्यान, स्मरण आदिके द्वारा उसको अपने हृदयमें उतारा जाता है। नामाकारवृत्तिमें नाम स्वयं भगवान्‌ है और प्रीतिमयी वृत्ति साक्षात् भक्ति है। नामकी स्वयंप्रकाशता ही भक्तिकी स्वयंप्रकाशता भी है।

( आ ) रूपका आलम्बन—यद्यपि भगवान्‌के नाम और रूपमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है, तथापि साधनकी दृष्टिसे नाम कर्मभूमिमें अवतीर्ण होकर साधकका कल्याण करता है और रूप ज्ञानभूमिमें। वाक् कर्मेन्द्रिय है

और नेत्र ज्ञानेन्द्रिय। इस दृष्टिसे नामकी अपेक्षा रूपका सूक्ष्मभूमिमें प्रारम्भ होता है। इसमें संदेह नहीं कि नाम रूपके बिना भी भगवत्स्वरूपको प्रकट करनेमें समर्थ है तथापि सामान्यरूपसे नाम प्रकाशक और रूप प्रकाश्य है। जैसे बाह्य वस्तुके दर्शनके लिये रूप प्रमाण है और नेत्र प्रमाण, वैसे ही भक्तिराज्यमें भगवद्रूप प्रमाण है और नाम नेत्रस्थानीय प्रमाण। आप नामको दुहराइये, हृदयमें रूपका दर्शन होने लगेगा। रूपमें प्रीति और तन्मयता, तन्मयतासे उपाधिका विलय और भगवान्‌से एकता। इस प्रकार रूपका आलम्बन अन्तःकरण-वृत्तिको परमेश्वरमें लीन कर देता है। उपाधिके लीन हो जानेपर आत्मा-परमात्मामें भेद करनेवाली कोई वस्तु नहीं रह जाती।

( इ ) विभूतिका दर्शन—गीताके दसवें अध्यायमें योग और विभूतिका वर्णन है। योग है हृदयमें ध्यान और विभूति है व्यवहारदशामें प्रत्येक वस्तुको भगवद्भावसे परिपूर्ण देखना। दोनों दशाओंमें परमात्माका दर्शन होनेसे अविकम्प योग अर्थात् भगवान्‌में अखण्ड समाधि प्राप्त होती है। इसके लिये जन-जनमें, कण-कणमें, क्षण-क्षणमें भगवान्‌की विभूतियोंका दर्शन करना आवश्यक है। इस प्रकारकी सावधानी उपाधिको तन्मय कर देती है और जीव भगवान्‌से मिल जाता है।

( ई ) सर्वत्र भगवान्‌की शक्तिका चिन्तन—जैसा कि गीतामें कहा गया है, आदित्यमें तेज, चन्द्रामें आह्लादन एवं अग्निमें दाहन आदिकी जितनी शक्तियाँ हैं, सब परमेश्वरकी ही हैं। पृथिवीमें धारण, जलमें आस्वादन, वायुमें प्राणन एवं आकाशमें अवकाशदान—सब परमात्माका ही है। इस प्रकार जगत्‌की समस्त स्थूल-सूक्ष्म शक्तियोंमें भगवद्भावका चिन्तन करनेसे मन परमात्मामें लीन हो जाता है।



( उ ) गुणोंका दर्शन—इस नाम-रूपात्मक प्रपञ्चमें जो कुछ है, वह सब त्रिगुणमयी भगवच्छक्तिका विलास है। जो कुछ तमोगुणी मूढद्रव्य, रजोगुणी स्पन्दन और सत्त्वगुणी ज्ञानप्रकाश है—सब भगवान्‌के आश्रित और उनके द्वारा नियन्त्रित ही हैं। जब जीवकी दृष्टि गुणोंकी सीमा पार करके गुणाधार, गुण-नियन्ता, गुण-प्रकाशक, गुणोपादान, गुणविलासी परमेश्वरका दर्शन करने लगती है, तब सब गुण परमेश्वरमें लीन हो जाते हैं और जीव सगुण ईश्वरमें समाधिस्थ हो जाता है।

( ऊ ) परमात्मभावकी भावना—जो कुछ ज्ञात होता है और जो कुछ प्रिय लगता है, वह सब सच्चिदानन्दात्मक परमेश्वरका ही भावोन्मेष है। अतः समस्त वस्तु, ज्ञान और प्रियताके रूपमें परमेश्वरकी भावना महाभाव-समाधिका हेतु है। इससे आकारकी भिन्नता, वृत्तियोंकी अनेकता और प्रियकी विविधता समाप्त हो जाती है। सबमें एकताका स्फुरण होने लगता है।

यह एकता जीव और ईश्वरके बीचके व्यवधानको गला देती है।

( ऋ ) स्वरूपकी अनुभूति—यह बात पहले ही कही जा चुकी है कि जीव और ईश्वरके स्वरूपमें वस्तुतः भेद नहीं है, केवल बुद्धिकी उपाधि ही भेद उपस्थित करती है। जब बुद्धिमें स्वरूपकी एकता आरूढ़ हो जाती है, तब वह अपनेको पृथक् नहीं दिखाती। ऐसी अवस्थामें प्रभु और प्रभुकी शक्तिके सिवा और कुछ शेष नहीं रहता। इस एकरस अनुभवमें समाधि और व्यवहार एक हो जाते हैं।

यहाँतक यह कहा गया कि भक्तिका प्रत्येक अङ्ग साधन भी है, फल भी है। भक्ति स्वयं फलरूपा है—ऐसा सनत्कुमार, नारद, शाण्डिल्य—सबका मत है। सम्पूर्ण फलोंके फल हैं—भगवान्। जहाँ वृत्ति उनसे एक हो जाती है, वहीं वह भक्ति हो जाती है। भक्ति चाहे जैसे भी मिले, भक्तिमें आप्रह है, साधनमें नहीं।  
( क्रमशः )

## प्रभु-मूर्ति कृपामई है

यों मन कबहुँ तुमहिं न लाग्यो ।  
ज्यों छल छाड़ि सुभाव निरंतर रहत विषय अनुराग्यो ॥  
ज्यों चितई परनारि, सुने पातक-प्रपंच घर-घर के ।  
त्यो न साधु, सुरसरि-तरंग-निरमल गुनगन रघुवर के ॥  
ज्यों नासा सुगंध-रस-बस, रसना षट्‌रस रति मानी ।  
राम प्रसाद माल-जूठन लागि त्यो न ललकि ललचानी ॥  
चंदन, चंदबदनि-भूषन-पट ज्यों चह पाँवर परस्यो ।  
त्यो रघुपति-पद-पदुम-परस को तनु पातकी न तरस्यो ॥  
ज्यों सब भाँति कुदेव-कुठाकुर सेये बपु-बचन-हिये हूँ ।  
त्यो न राम सुकृतग्य, जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ ॥  
चंचल चरन लोभ लागि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे ।  
राम-सीय-आस्रमनि चलत त्यो भए न समित अभागे ॥  
सकल अंग पद-विमुख, नाथ ! मुख नाम की ओट लई है ।  
है तुलसिहि परतीति एक, प्रभु-मूर्ति कृपामई है ॥  
—गोस्वामी तुलसीदासजी



# गीताका भक्तियोग

( पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके चारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या )

[ गताङ्क पृष्ठ १०८से आगे ]

सम्बन्ध

अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें दूसरे श्लोकमें भगवान्ने सगुण-उपासकोंको सर्वोत्तम योगी बतलाया और तीसरे तथा चौथे श्लोकमें निर्गुण-उपासकोंको अपनी प्राप्तिकी बात कही । अब दोनों प्रकारकी उपासनाओंके अवान्तर भेद और कठिनता एवं सुगमतामूलक तारतम्य आगे तीन श्लोकोंमें बतलाते हैं ।

श्लोक

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ १ ॥

भावार्थ

यहाँ भगवान् कहते हैं कि दोनों प्रकारके उपासकोंकी अपनी-अपनी उपासनामें रुचि, श्रद्धा, वैराग्य और इन्द्रिय-संयम आदिकी दृष्टिसे लक्ष्य-प्राप्तिमें योग्यता समान होते हुए भी निर्गुण-उपासकोंको देहाभिमानके कारण अपने साधन-में परिश्रम और कठिनाई अधिक प्रतीत होगी तथा लक्ष्य-प्राप्तिमें भी अपेक्षाकृत विलम्ब होगा । जितना-जितना देहाभिमान नष्ट होता जायगा, उतना-उतना ही साधक तत्त्वमें प्रविष्ट होता जायगा और उसका क्लेश कम होता जायगा । देहाभिमानी निर्गुण-उपासक अपने विवेकका आश्रय लेकर ही साधन करते हैं तथा उनका लक्ष्य निर्गुण-निराकार होनेसे चिन्तनका कोई आधार नहीं रहता । इसलिये उनकी मन-बुद्धिको निराकार-तत्त्वमें स्थित होनेमें बहुत कठिनाई पड़ती है । यद्यपि सगुण-उपासकोंमें भी उसी मात्राका देहाभिमान रहता है, उनकी मन-बुद्धिके लिये ध्यानका विषय भगवान्का सगुणरूप होनेसे तथा भगवान्के ऊपर ही निर्भर रहनेसे उन्हें साधन क्लेशयुक्त नहीं प्रतीत होता । भगवान्की

लीला, गुण, प्रभाव आदिका चिन्तन, कथा और जप-आदिमें उनकी मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके तल्लीन होनेके कारण उनको सुख प्रतीत होता है । इसी दृष्टिसे यहाँ कहा गया है कि निर्गुण-उपासकोंको साधनामें अपेक्षाकृत अधिक क्लेश होता है ।

अन्वय

तेषाम्, अव्यक्तासक्तचेतसाम्, क्लेशः, अधिकतरः, हि, देहवद्भिः, अव्यक्ता, गतिः, दुःखम्, अवाप्यते ॥

तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम् ( उन निराकार ब्रह्ममें आसक्त हुए चित्तवाले ) [ साधकोंके साधनों ]

‘अव्यक्तमें आसक्त चित्तवाले’ विशेषणसे यहाँ उपासकोंकी ओर संकेत किया गया है, जो निर्गुण उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं, परंतु जिनका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें सर्वथा आविष्ट नहीं हुआ है । तत्त्वमें सर्वथा आविष्ट होनेके लिये तीन बातोंकी आवश्यकता होती है—( १ ) रुचि, ( २ ) विश्वास और ( ३ ) योग्यता । आसक्त चित्तवालोंकी निर्गुण-उपासनाको माननेके फलस्वरूप उसमें कुछ रुचि तो पैदा हो गयी है और विश्वासपूर्वक वे साधना करने भी लग गये हैं परंतु वैराग्यकी कमी एवं देहमें अभिमान होनेके कारण जिनका चित्त तत्त्वमें पूरी तरह प्रविष्ट नहीं हो पाया है, ऐसे साधकोंके लिये ही ‘अव्यक्तासक्तचेतसाम्’ पदका प्रयोग हुआ है ।

भगवान्ने छठे अध्यायके २७वें और २८वें श्लोकोंमें ‘ब्रह्मभूत’ अर्थात् ब्रह्ममें अभिन्न भावसे स्थित साधकको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है; परंतु २९वें श्लोकमें ‘क्लेशः अधिकतरः’ पदोंसे यह स्पष्ट कर दिया है कि इन साधकोंका चित्त ब्रह्मभूत साधकोंकी



निर्गुण-तत्त्वमें सर्वथा प्रविष्ट नहीं हो पाया है। अतः उन्हें 'अव्यक्त'में आसक्त चित्तवाला' कहा गया है। चित्त सर्वथा आविष्ट न होनेका अभिप्राय यह है कि वह अभीतक शरीर और संसारसे सर्वथा उपराम नहीं हो सका है और न अभीतक उसकी स्थिति ब्रह्ममें निश्चल भावसे हुई है।

तेहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'अव्यक्तम्' पद प्रकृतिके अर्थमें आया है तथा अन्य कई स्थलोंमें भी वह प्रकृतिके लिये आया है। अतः यह प्रश्न होता है कि यहाँपर भी 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पदका अर्थ 'प्रकृतिमें आसक्त चित्तवाले पुरुष' ले लिया जाय तो क्या आपत्ति है? इसके उत्तरमें यह निवेदन है कि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनने प्रश्नमें 'त्वां पर्युपासते', 'अक्षरम् अव्यक्तम् (पर्युपासते)', 'तेषाम् योगवित्तमाः के' (आपके सगुणरूप परमेश्वरकी और निराकार स्वरूपकी जो उपासना करते हैं, उनमें श्रेष्ठ कौन हैं?) कहकर 'त्वाम्' पदसे सगुण रूपका और 'अव्यक्तम्' पदसे इसके विपरीत निर्गुण-निराकार स्वरूपके विषयमें ही प्रश्न किया है। इसलिये उसी प्रश्नके उत्तरमें भगवान् ने 'अव्यक्त' पदका व्यक्तरूपके विपरीत निराकार रूपके लिये ही प्रयोग किया है, प्रकृतिके लिये नहीं। अतः यहाँ प्रकृतिका प्रसङ्ग न होनेके कारण 'अव्यक्त' पदका अर्थ 'प्रकृति' नहीं लिया जा सकता।

नवें अध्यायके चौथे श्लोकमें 'अव्यक्तमूर्तिना' पद सगुण-निराकार स्वरूपके लिये आया है। ऐसी दशामें प्रश्न होता है कि "यहाँ 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पदका अर्थ 'सगुण-निराकारमें आसक्त चित्तवाले पुरुष' ले लिया जाय तो क्या आपत्ति है?" इसका उत्तर यह है कि इसी अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुनके प्रश्नमें 'त्वाम्' पद सगुणके लिये और 'अव्यक्तम्' पदके साथ 'अक्षरम्' पद निर्गुण-निराकारके लिये आया है। 'ब्रह्म क्या है?'—

अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान् बतला चुके हैं कि 'परम अक्षर ब्रह्म है' अर्थात् वहाँपर भी 'अक्षरम्' पद निर्गुण-निराकारके लिये ही आया है। इसलिये 'अव्यक्तम् अक्षरम्' पदोंसे जिस निर्गुण ब्रह्मकी बात अर्जुनने पूछी थी, उनके उस प्रश्नके उत्तरमें यहाँ 'अव्यक्त' पदसे वही निर्गुण ब्रह्म लिया जा सकता है, सगुण-निराकार नहीं।

**'क्लेशः अधिकतरः'** (क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष है)

—इस पदका मुख्यतासे यह भाव है कि जिनका चित्त निर्गुण-तत्त्वमें सर्वथा प्रविष्ट नहीं हुआ है, ऐसे निर्गुण-उपासकोंको देहाभिमानके कारण अपनी साधनामें अपने समकक्ष साकार-उपासकोंकी अपेक्षा परिश्रम अर्थात् कठिनाई विशेष होती है; और गौण रूपसे यह भाव है कि यहाँ प्रारम्भिक अवस्थासे लेकर शेष सीमातकके सभी निर्गुण-उपासकोंको सगुण-उपासकोंकी अपेक्षा कठिनता विशेष होती है।

साधक दो तरहके होते हैं—

(१) ऐसे साधक होते हैं, जो सत्सङ्ग, विचार आदिके फलस्वरूप साधनमें प्रवृत्त होते हैं। अतः इनको अपने साधनमें क्लेश होता है।

(२) ऐसे साधक होते हैं, जिनकी साधनामें स्वतः रुचि होती है। इनको अपने साधनमें क्लेश नहीं होता।

यहाँपर यह शङ्का हो सकती है कि 'साधक दो ही तरहके क्यों होते हैं?' इसका समाधान यह है कि 'गीताजीमें योगभ्रष्टकी गतिके वर्णनमें भगवान् दो ही गतियोंका वर्णन करते हैं।'।

(१) उनमेंसे कुछ तो पुण्यलोकोंमें जाते हैं, वहाँके भोग भोगकर लौटनेपर श्रीमानोंके घरमें जन्म लेते हैं और



फिर साधना करके परमात्माको प्राप्त करते हैं । ( गीता ६ । ४१ और ४४ )

( २ ) दूसरे सीधे ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेते हैं और फिर साधना करके परमात्माको प्राप्त करते हैं । ऐसे साधकोंको 'दुर्लभतर' बतलाया है ( गीता ६ । ४२, ४३ और ४५ ) ।

उपर्युक्त विवेचनसे ऐसा जान पड़ता है कि पहली गतिवाले वे साधक हैं, जो सत्सङ्ग-विचार आदि फलस्वरूप साधनामें लगे हैं और दूसरी गतिवाले वे साधक हैं, जिनकी साधनामें स्वतः रुचि है ।

( अब नीचे सगुण-उपासना और निर्गुण-उपासनाकी सुगमता और कठिनातापर विचार किया जा रहा है । )

### सगुण-उपासनाकी सुगमताएँ—

( १ ) सगुण-उपासनामें मन-इन्द्रियोंको सगुण-स्वरूप तथा उसके नामजप, ध्यान, लीलाचिन्तन, कथाश्रवण आदिका आधार रहता है । भगवान्‌के परायण होनेसे उसकी मन-इन्द्रियाँ भगवान्‌के स्वरूप एवं लीलाओंके चिन्तन, कथा-श्रवण, भगवत्सेवा और पूजनमें सरलतासे लग जाती हैं । इसलिये सांसारिक विषयचिन्तनकी सम्भावना कम रहती है ।

( २ ) सांसारिक आसक्तिसे ही साधनमें क्लेश होता है, परन्तु यह साधक इसे दूर करनेके लिये भगवान्‌के ही आश्रित रहता है । इसे भगवान्‌का ही बल होता है । विल्ली जैसे अपने बच्चेकी रक्षा स्वयं करती है, वच्चा तो केवल माँपर निर्भर रहता है, उसी तरह यह साधक भगवान्‌पर ही निर्भर रहता है । भगवान् ही इसकी सार-सँभाल करते हैं ।

‘सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा ।

भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा ॥

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी ।

जिमि बालक राखइ महतारी ॥’

( अरण्य ० ४२ । ४-५ )

अतः इसकी सांसारिक आसक्ति सुगमतासे मिट जाती है ।

( ३ ) आठवें अध्यायके १४वें श्लोकमें ऐसे उपासकोंके लिये भगवान्‌ने अपनेको सुलभ बतलाया है—‘तस्याहं सुलभः पार्थ ।’ ‘सुलभ’ शब्द गीताजीमें एक ही बार आया है ।

### निर्गुण-उपासनाकी कठिनाताएँ—

( १ ) तत्त्व निर्गुण होनेके कारण मन-इन्द्रियोंके लिये कोई आधार नहीं रहता और कोई आधार न रहनेके कारण इन्द्रियोंके द्वारा विषय-चिन्तनकी अधिक सम्भावना है; क्योंकि बुद्धिमान् यत्नशील साधकके चित्तको भी ये इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं ( गीता २ । ६० ) और विषयचिन्तनके फलस्वरूप साधक पतनके गड्ढेमें जा सकता है ( गीता २ । ६२-६३ ) ।

( २ ) सांसारिक पदार्थोंमें जितनी आसक्ति रहती है, उतना ही साधनमें क्लेश अधिक प्रतीत होता है । साधक उसे विवेकके द्वारा हटाना चाहता है, विवेकका आश्रय लेकर साधन करता है और इसे अपने साधनका ही बल है । बंदरीका बच्चा जैसे माँको पकड़े रहता है और अपनी पकड़से ही अपनी रक्षा मानता है; उसी तरह यह साधक अपने साधनके बलपर ही अपनी उन्नति मानता है । इसीलिये श्रीराम-चरितमानसमें भगवान्‌ने इसे अपने बड़े लड़केकी तरह बतलाया है ।

‘मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानों ।’

( अरण्य ० ४२ । ८ )

( ३ ) ऐसे उपासकोंके लिये गीताजीमें कहीं भी भगवान्‌ने अपने तत्त्वको सुलभ नहीं बताया है ।



(४) ऐसे उपासकोंके लिये गीताजीमें जगह-जगह 'नचिरेण' पदसे भगवान्ने शीघ्र ही अपनी प्राप्ति बतलायी है (गीता ५।६; १२।७)।

(५) सगुण-उपासकोंके अज्ञानरूपी अन्धकार-को भगवान् ही मिटाकर तत्त्वज्ञान भी वे ही दे देते हैं (गीता १०।१०-११)।

(६) इनका उद्धार भगवान् करते हैं (गीता १२।७)।

(७) ऐसे उपासकोंमें यदि कोई सूक्ष्म दोष रह जाता है तो भगवान् सर्वज्ञ होनेके कारण उसे जान लेते हैं और कृपा करके दृष्टा देते हैं (गीता ४।२२)।

(८) ऐसे उपासकोंकी उपासना भगवान्की उपासना है और भगवान् सदा-सर्वदा पूर्ण हैं ही। अतः भगवान्की पूर्णतामें यत्किञ्चित् भी संदेह न रहनेके कारण श्रद्धा सुगमतासे हो सकती है।

(९) ऐसे उपासक भगवान्को कृपालु मानते हैं, सुतरां कृपाके आश्रयसे सब कठिनाइयोंको पार कर जाते हैं। इसलिये उनके लिये साधन सुगम हो जाता है और भगवत्कृपाके बलपर ही वे शीघ्र भगवत्प्राप्ति कर लेते हैं (गीता १८।५६-५७)।

(१०) मनुष्यमें क्रिया करनेका अभ्यास तो रहता ही है, इसलिये उसे उन क्रियाओंको परमात्माके लिये करनेमें केवल भाव ही बदलना है, क्रियाएँ तो वे ही रहती हैं। अतः उनके लिये सुगम होती हैं और भगवान्के लिये कर्म करनेसे वे कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।

(४) ज्ञानयोगियोंकी लक्ष्य-प्राप्तिके सम्बन्धमें 'नचिरेण' पद गीताजीमें कहीं भी नहीं आया है। चौथे अध्यायके ३४वें श्लोकमें 'नचिरेण' पद ज्ञानके अनन्तर शान्तिकी प्राप्तिके सम्बन्धमें आया है, न कि तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके सम्बन्धमें।

(५) निर्गुण उपासक तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति स्वयं करते हैं (गीता १२।४)।

(६) वे स्वयं अपना उद्धार करते हैं अर्थात् निर्गुणतत्त्वको प्राप्त करते हैं (गीता १२।४)।

(७) ऐसे उपासकोंमें कमी रह जाती है तो उस कमीका ज्ञान होनेमें उन्हें बहुत देरी लगती है और ठीक-ठीक पहचाननेमें कठिनाई रहती है। हाँ, कमीको ठीक-ठीक पहचान लेनेपर तो वे भी उसे सुगमतापूर्वक दूर कर सकते हैं।

(८) चौथे अध्यायके ३४वें और तेरहवें अध्याय-के ७वें श्लोकोंमें भगवान्ने ज्ञानयोगियोंको ज्ञानकी प्राप्तिके लिये गुरुकी उपासनाकी आज्ञा दी है, किंतु गुरुकी पूर्णताका निश्चित पता न होनेपर अथवा गुरुके पूर्ण न होनेपर स्थिर श्रद्धाके होनेमें कठिनाता होगी तथा साधनकी सफलतामें भी देरी होनेकी गुंजाइश रहेगी।

(९) ऐसे उपासक तत्त्वको निर्गुण, निराकार और उदासीन मानते हैं। यद्यपि तत्त्व सच्चिदानन्द-धनताके अन्तर्गत आनन्दस्वरूप होनेसे कृपालु है, प्रेमाश्रय है, तो भी वे उसे उदासीन माननेके कारण कृपाके अनुभव होनेमें आड़ लगा लेते हैं। अतः कृपाका अनुभव न होनेसे उन्हें अपने साधनके बलपर तत्त्वकी प्राप्तिमें आनेवाले विघ्नोंको पार करनेमें कठिनाई प्रतीत होती है और इसीलिये विलम्ब होता है।

(१०) ज्ञानयोगी क्रियाओंको प्रकृतिके अर्पण करता है और तीव्र वैराग्य होनेसे ही क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण हो सकती हैं। यदि वैराग्यमें थोड़ी भी कमी रह गयी तो क्रियाएँ प्रकृतिके अर्पण नहीं होंगी और साधक स्वयं उनमें बँध जायगा।



( ११ ) पदार्थोंका हृदयमें आदर रहते हुए भी वे यदि किसीके उपयोगमें आ जाते तो उन्हें त्यागनेमें कठिनता नहीं होती । सत्वात्रोंके लिये पदार्थोंके त्यागमें और भी सुगमता है तथा भगवान्‌के लिये तो वह त्याग बहुत ही सुगमतासे हो सकता है ।

( १२ ) साधनमें पूरी रुचि न होनेसे क्लेश प्रतीत होता है; परंतु साधकको भगवान्‌पर विश्वास हो जानेसे साधनमें क्लेश कम होता चला जायगा ।

( १३ ) इस साधनामें विवेक और वैराग्यकी उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी प्रेम और अपनत्वकी । उदाहरणके लिये द्रौपदीकी औरोंके प्रति द्वेष-वृत्ति रहते हुए भी उसकी पुकारमात्रसे भगवान्‌ प्रकट हो जाते थे; क्योंकि वह भगवान्‌को अपना मानती थी और भगवान्‌का स्वभाव है कि वे भक्तके दोषोंकी ओर देखते ही नहीं । भगवान्‌ तो अपने साथ भक्तके सम्बन्ध और प्रेमको ही देखते हैं और भगवान्‌के साथ अपनापनका सम्बन्ध जोड़ना उतना कठिन नहीं है, जितना कि पात्र बनना कठिन है ।

हि ( क्योंकि )

देहवद्विः ( देहाभिमानियोंद्वारा )

देहवत्, देही, देहिनः और देहभृत्—इन चारों पदोंका अर्थ साधारणतया 'देहधारी पुरुष' लिया गया है । प्रसङ्गानुसार इनका अर्थ 'जीव' और 'आत्मा' भी लिया जाता है । यहाँपर इस पदका अर्थ 'विशेषतासे देहाभिमानि पुरुष' लेना चाहिये; क्योंकि निर्गुण-उपासकोंके लिये श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'अव्यक्तासक्तचेतसाम्' पद आया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि 'वे निर्गुण-उपासनाको श्रेष्ठ तो मानते हैं, परंतु उनका चित्त देहाभिमानके कारण निर्गुण-तत्त्वमें अभीतक सर्वथा आविष्ट नहीं हुआ है ।'

दूसरे अध्यायके २२वें श्लोकमें 'देही' पद जीवात्माके

( ११ ) जबतक साधकके चित्तमें पदार्थोंका आदर है, तबतक पदार्थोंको मायामय समझकर त्यागना उसके लिये कठिन पड़ेगा ।

( १२ ) साधनमें पूरी रुचि न होनेसे ही क्लेश होता है । पूरी रुचि होनेसे क्लेश नहीं होता, जैसे छठे अध्यायके २८वें श्लोकमें ब्रह्मभूत साधकको सुखपूर्वक ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है ।

( १३ ) साधक पात्र बननेपर ही तत्त्वको प्राप्त कर सकेगा और पात्र बननेके लिये विवेक और तीव्र वैराग्यकी आवश्यकता होगी, जिनको प्राप्त करना सहज बात नहीं है ।

लिये और ३०वें श्लोकमें 'देही' पद आत्माके लिये प्रयुक्त है । पाँचवें अध्यायके १३वें श्लोकमें 'देही' पद सांख्ययोगके ऊँचे साधकका बोधक है और चौदहवें अध्यायके २०वें श्लोकमें 'देही' पद सिद्ध पुरुषके लिये आया है; क्योंकि लोकदृष्टिमें वह शरीरधारी ही दीखता है ।

दूसरे अध्यायके १३वें और ५२वें श्लोकोंमें 'देहिनः' पद, तीसरे अध्यायके ४०वें और चौदहवें अध्यायके ५वें तथा ७वें श्लोकोंमें 'देहिनम्' पद, आठवें अध्यायके ४थे श्लोकमें 'देहभृताम्' पद, चौदहवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'देहभृत्' पद, सत्रहवें अध्यायके २२वें श्लोकमें 'देहिनाम्' पद और अठारहवें अध्यायके ११वें



श्लोकमें 'देहभृता' पद सामान्य देहाभिमानी पुरुषोंके लिये प्रयुक्त हुए हैं ।

अव्यक्ता गतिः ( अव्यक्तविषयक गति )

ब्रह्मके निर्गुण-निराकार स्वरूपकी प्राप्तिको 'अव्यक्ता गतिः' कहा है । साधारण पुरुषोंकी स्थिति व्यक्त अर्थात्

देहमें होनेके कारण अव्यक्तमें स्थित होनेमें उन्हें कठिनाई पड़ती है । साधक यदि अपनेको देहवाला न माने तो अव्यक्तमें स्थिति सुगमतापूर्वक और शीघ्रतासे हो सकती है ।

दुःखम् अवाप्यते ( दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है )  
( क्रमशः )

## गांधी-जीवन-सूत्र

[ संयम—मनका, तनका, वचनका ]

( लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट )

आजादी मिलनेके कुछ दिन पहलेकी घटना है ।

गांधी मस्सीमें धूपमें चटाईपर बैठा लिख रहा था कि एकान्त पाकर हमारे जेलके साथी महावीर त्यागीने २७ साल बाद उसके पैर छू लिये ।

गांधीको न तो 'महात्मा' की उपाधि पसंद थी और न पैर छुआना ।

करुणाभरी आँखोंसे उसने त्यागीकी ओर देखकर कहा—'आज तूने ऐसी बेवकूफी क्यों की ? पहले तो ऐसा नहीं करता था ।'

त्यागी तो स्तब्ध ।

लगा जैसे चोरी करते पकड़ा गया हो ।

गांधीने फिर पूछा—'बोलो' ।

श्रमाके स्वरमें उसने शिक्षकते हुए कहा—'शुभ चरणोंको साक्षी करके एक प्रतिज्ञा कर ली है, बापू !'

'वह क्या—

'वरसोंसे प्रयत्न कर रहा हूँ । आत्मबलकी कमीके कारण मेरा कोई भी प्रण, प्रतिज्ञा और व्रत सफल नहीं हो सका—

'श्रुत नहीं बोलूँगा—बोलता हूँ ।

'सिगरेट नहीं पीऊँगा—पीता हूँ ।

'गुस्सा नहीं करूँगा—अधिकाधिक करता हूँ ।

'दैनिक व्यायाम करूँगा—नहीं करता ।

'बाला कहनेकी आदत छोड़ दूँगा—नहीं छूटी ।

'दैनिक सूत काटूँगा—नहीं कातता ।

ऐसी निर्णयविहीन आत्माको दुनियासे छिपानेके लिये परदेमें लपेटे फिरता हूँ । आज एक छोटी-सी प्रतिज्ञा की है कि जिन हाथोंसे चरण छूये हैं, उनमें किसीका अहित न करूँगा । शुभ चरणोंके प्रतापसे शायद निभ जाय ।'

गांधीने 'आरपार' होनेवाली अपनी दृष्टिसे क्षणभरमें मानो त्यागीकी आत्माका एक्सरे कर लिया, फिर गर्दन हिलाकर कहा—'अच्छा व्रत लिया ।'

कुछ रुककर फिर कहा—'अच्छी प्रतिज्ञा की । इसके बाद किसी दूसरी प्रतिज्ञाकी आवश्यकता नहीं । वह तो एकके साथे सब सभ जाता है । तुम अपना कोट खूँटीपर टाँगो तो उसके साथ आस्तीन और जेब—सब टँग जायगी । अधिक ऊँचा करो तो अकेला कालर ही ऊँचा नहीं उठेगा, सारा कोट उठेगा । तो फिर तुम्हारा यह व्रत निभ जानेसे सम्पूर्ण आत्मा तो बल मिलेगा, फिर सिगरेट भी छूट जायगी । अच्छा व्रत लिया । ऐसा चरण तो गेज नू सकते हो ।'

× × ×  
कैसा पुनीत प्रसङ्ग !

संयम गांधीका जीवन-सूत्र था ।



‘संयमके सम्बन्धमें गांधी कहता था—

‘संयमका, ब्रह्मचर्यका पालन बहुत कठिन, लगभग असम्भव माना गया है। उसके कारण हूँदनेपर पता चलता है कि ब्रह्मचर्यका संकुचित अर्थ किया गया है। जननेन्द्रिय ( लिङ्ग-योनि )के विकारोंपर अङ्कुश रखना ही ब्रह्मचर्यका पालन है, ऐसा माना गया है। मुझे लगता है कि यह अधूरी और गलत व्याख्या है। सारे विषयोंपर अङ्कुश रखना ही ब्रह्मचर्य है। जो दूसरी इन्द्रियोंको जहाँ-तहाँ भटकने देता है और एक ही इन्द्रियको रोकनेकी कोशिश करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है—इसमें क्या शङ्का है ? कानोंसे विकारकी बातें सुनं, आँखोंसे विकार पैदा करनेवाली चीजें देखें, जीभसे विकारोंको उत्तेजित करनेवाली चीजें स्वादसे खायें, हाथसे विकारोंको बढ़ानेवाली वस्तुएँ छुयें और फिर भी जननेन्द्रियको रोकनेका इरादा कोई रखे तो यह आगमें हाथ डालकर न जलनेकी कोशिश करने-जैसा होगा। इसलिये जो जननेन्द्रियको रोकने-का निश्चय करे, उसे तमाम इन्द्रियोंको उनके विकारोंसे रोकनेका निश्चय करना ही चाहिये।’

वही बात—‘कोटको खूँटीपर टाँगो तो आस्तीन और जेब—सब टाँग जायँगी।’

काम-वासनापर विजय प्राप्त करनी है, ब्रह्मचर्यका पालन करना है, तो सर्वेन्द्रिय-संयम करना ही होगा।

एकाङ्गी संयमका कोई अर्थ नहीं। संयम करना है तो मन, वचन और कर्म—तीनोंका संयम करना होगा। हम विकारोत्तेजक दृश्य भी देखते रहें, गंदे सिनेमा और नाटक भी देखते रहें, अश्लील साहित्य भी पढ़ते रहें, हमारी इन्द्रियाँ विषयोंकी, भोगकी दिशामें मनमानी झूट भी लेती रहें, मनमें भी हम विषयोंका चिन्तन करते रहें—तो ब्रह्मचर्य सधेगा कैसे ?

मनसे, वचनसे, कर्मसे किसी भी इन्द्रियसे यदि विषय-का चिन्तन होता है तो उसका कुपरिणाम होनेवाला ही है। उसे रोक नहीं जा सकता।

गांधी तो सत्यशोधक था। सत्यशोधकके पास दुराव-छिपाव-जैसी कोई बात तो होती नहीं। सन् १९२४ में एक बार एक भाईने उससे पूछ दिया—‘ब्रह्मचर्यका अर्थ क्या है ? ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन सम्भव है क्या ? अगर है तो क्या आप उसका पालन करते हैं ?’

गांधीने उसका उत्तर देते हुए लिखा—

‘ब्रह्मचर्यका पूरा और ठीक अर्थ तो ब्रह्मकी खोज है। ब्रह्म सबमें बसता है और इसलिये अन्तर्धान होनेसे तथा उससे उत्पन्न अन्तर्ज्ञानसे उसकी खोज हो सकती है। यह अन्तर्ज्ञान इन्द्रियोंके सम्पूर्ण संयमके बिना असम्भव है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यका अर्थ है—सब इन्द्रियोंका हर समय और हर जगह मन, वचन और कर्मसे संयम।

‘जो व्यक्ति—पुरुष या स्त्री—ऐसे ब्रह्मचर्यका पूर्ण पालन करता है, वह सर्वथा विकाररहित होता है। इसलिये ऐसे स्त्री-पुरुष ईश्वरके निकट रहते हैं, ईश्वर-जैसे होते हैं।’

‘मुझे जरा भी शङ्का नहीं कि इस प्रकारके ब्रह्मचर्यका मन, वचन और कर्मसे पूरी तरह पालन करना सम्भव है। मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि इस ब्रह्मचर्यकी पूर्ण अवस्थातक मैं अभी नहीं पहुँच पाया हूँ। उस अवस्थातक पहुँचनेका प्रयत्न मैं निरन्तर करता रहता हूँ। इसी शरीरके द्वारा उस स्थितिक पहुँचनेकी आशा मैंने छोड़ नहीं दी है। तनपर तो मैंने नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। जगत्-अवस्थामें मैं सावधान रह सकता हूँ। वाणीके संयमका पालन करना भी मैं ठीक-ठीक सीख गया हूँ। विचारोंपर अभी मुझे बहुत कुछ नियन्त्रण करना बाकी है। जिस समय जिस बातका विचार करना हो, उस समय उसके सिवा दूसरे विचार भी मेरे मनमें आते हैं। फिर भी जगत्-अवस्थामें मैं विचारोंको परस्पर संवर्ष करनेसे रोक सकता हूँ।’

मेरी ऐसी स्थिति कही जा सकती है कि गंदे विचार मेरे अंदर कभी नहीं आ सकते। परंतु निद्रावस्थामें विचारोंपर मेरा नियन्त्रण कम रहता है। नींदमें अनेक प्रकारके विचार आते हैं। अकल्पित सपने भी आते हैं और कभी कभी इसी देहमें की हुई क्रियाओंकी वासना भी जाग्रत



होती है। वे विचार जब गंदे होते हैं तो स्वप्नदोष भी हो जाता है। यह स्थिति विकारी जीवकी ही हो सकती है।

मेरे पापयुक्त विकार क्षीण होते जा रहे हैं, परंतु उनका नाश नहीं हो पाया है। यदि मैं विचारोंपर भी नियन्त्रण प्राप्त कर सका होता तो पिछले दस वर्षोंमें जो तीन रोग—पसलीका दर्द, पेचिश और अपेंडिसाइटिस—मुझे हुए, वे कभी न होते। मैं मानता हूँ कि नीरोग आत्माका शरीर भी नीरोग होता है।

( हिंदी नवजीवन २५-५-२४ )

× × ×

गांधीके इस लेखके प्रकाशित होनेके बाद एक सज्जनने महादेव देसाईको लिखा—“विलायतकी हमारी यात्राके समय प्रलोभनोंके रहते भी मैंने और मेरे मित्रोंने अपने चरित्रको पूरी तरह शुद्ध रखा। हम मांस, मद और स्त्रीसे तो बिल्कुल दूर ही रहे। लेकिन गांधीजीका उक्त लेख पढ़नेके बाद एक मित्रने हिम्मत हार दी और मुझसे कहा—‘इस भगीरथ-प्रयासके बाद जब गांधीजीकी यह स्थिति है, तब हमारी क्या विरात ? ब्रह्मचर्य-पालनकी कोशिश करना बेकार है। गांधीजीकी स्वीकारोक्तिने मेरी दृष्टि बिल्कुल ही बदल दी है। आजमे मुझे झूठा ही समझो।’ उसे समझानेकी मेरी सारी दलील बेकार गयी। जिस चरित्रपर कलङ्कका छोंटा भी न पड़ा था, वह कीचड़से सन गया। अगर कोई आदमी गांधीजीको उसके इस पतनके लिये जिम्मेदार ठहराये तो वे स्वयं उसे क्या जवाब देंगे ? गांधीजीकी स्वीकारोक्तिने मेरी सुरक्षितताकी भावनाको जड़से हिला दिया है। सत्य और नग्न सत्यको कहना बेशक बहादुरीकी बात है, परंतु दुनिया और ‘नवजीवन’ तथा ‘यंग इण्डिया’ के पाठक इसमें गांधीजीके बारेमें गलत राय कायम करेंगे।”

गांधीने इस पत्रका उत्तर देते हुए १८ फरवरी १९२६ के ‘हिंदी नवजीवन’में लिखा—

“इस शिकायतमें मुझे आश्चर्य नहीं हुआ। असहयोग आन्दोलन जब पूरे जोरपर था और स्वतन्त्रता-संग्रामके बीच जब मैंने अपनी ‘समझकी एक भूल’ हो जानेकी बात स्वीकार की, तब एक मित्रने निर्दोषभावसे मुझे लिखा था। ‘अगर यह भूल थी तो भी आपको उसे स्वीकार नहीं करना चाहिये था। लोगोंको यह माननेके लिये उत्साहित करना

चाहिये कि दुनियामें कम-से-कम एक आदमी तो ऐसा है, जो भूल-भ्रमसे परे है। लोग आपको ऐसा ही मानते थे। पर आपके अपनी भूल स्वीकार करनेसे वे हिम्मत हार जायेंगे।’ यह आलोचना पढ़कर मुझे हँसी भी आयी और दुःख भी हुआ। पत्र लिखनेवालेके भोलेपनपर मुझे हँसी आयी। लेकिन लोगोंको एक पतनशील प्राणीके भूल और भ्रमसे परे होनेका विश्वास दिलाया जाय, यह विचार ही मेरे लिये असह्य था। जो आदमी जैसा है, उसे वैसा जाननेमें सदा सब लोगोंका हित ही है। इससे कभी कोई हानि नहीं होती। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि मेरे तुरंत अपनी भूलें स्वीकार कर लेनेसे लोगोंका हर तरहसे हित ही हुआ है। कम-से-कम मेरे लिये तो वह आशीर्वाद रूप ही सिद्ध हुआ है।

“यही बात मैं अपने दूषित स्वप्नोंकी स्वीकृतिके बारेमें भी कह सकता हूँ। पूर्ण ब्रह्मचारी न होते हुए भी यदि मैं वैसा होनेका दावा करूँ तो उसमें दुनियाकी बड़ी हानि होगी; क्योंकि वह ब्रह्मचर्यकी उज्ज्वलताको मलिन बनायेगा और सत्यके तेजको धूमिल कर देगा। झूठे दावे करके ब्रह्मचर्यका मूल्य घटानेका साहस मैं कैसे कर सकता हूँ।

“मैं सच्चा साधक हूँ, मैं पूरा जाग्रत रहता हूँ, मेरा प्रयत्न अथक और अडिग है—इतना ही जान लेना दुनियाके लिये काफी क्यों न होना चाहिये ? इतना ही जानना औरोंको उत्साहित करनेके लिये पर्याप्त क्यों न होना चाहिये ? झूठी प्रतिज्ञाओंसे सिद्धान्त स्थिर करना गलत है। यह तर्क क्यों किया जाय कि जब मुझ-जैसा आदमी भी मलिन विचारोंसे न बच सका, तब औरोंके लिये क्या आशा की जा सकती है। उसके बजाय यह क्यों न सोचा जाय कि अगर गांधी, जो एक दिन काम-वासनाका गुलाम था, आज अपनी पत्नीका मित्र और भाई बनकर रह सकता है और सुन्दर-से-सुन्दर युवतीको भी अपनी बहिन या बेटाके रूपमें देख सकता है, तो छोटे-से-छोटा और पापके लड्डूमें गिरा हुआ आदमी भी ऊपर उठनेकी आशा रख सकता है ? ईश्वर अगर ऐसे कामी पुरुषपर दया कर सकता है, तो निश्चय ही दूसरे सब लोग भी उसकी दयाके अधिकारी होंगे।

“पत्र लिखनेवाले जो मित्र मेरे दोषोंको जानकर पीछे हट गये, वे जीवनमें कभी आगे बढ़े ही न थे। वह उनकी झूठी साधुता थी, जो हवाके पहले झोंकेमें उड़ गयी। सत्य,



ब्रह्मचर्य-पालन तथा दूसरे सनातन सिद्धान्त मुझ-जैसे अपूर्ण मनुष्योंकी साधनापर आश्रित नहीं होते । वे तो उन बहुसंख्यक पुरुषोंकी तपश्चर्याके अटल आधारपर खड़े होते हैं, जिन्होंने उनकी साधनाका अथक प्रयत्न किया और जो अपने जीवनमें उनका सम्पूर्ण पालन कर रहे हैं ।”

×                      ×                      ×

मनुष्य संयम-पालन करनेका जी-जानसे प्रयत्न करे और इस व्रतकी सफलताके लिये ईश्वरसे सतत प्रार्थना करता रहे तो ईश्वर उसपर दया दिखायेगा ही—इसमें संदेहके लिये गुंजाइश ही नहीं । हाँ, यदि उसका प्रयत्न ढीला रहेगा अथवा उसके मनमें अहंकार आ घुसेगा तो किसी भी क्षण उसका पतन सम्भव है ।

गांधीकी ब्रह्मचर्यकी साधना बहुत लंबी थी, फिर भी उसे सतत सावधान रहना पड़ता था । इस मार्गमें कैसे-कैसे शटके लगते हैं, इसके उदाहरण गांधीजीकी साधनामें हूँदे जा सकते हैं ।

एक नमूना लीजिये, १९३६ की बात है । गांधी बीमार पड़ा । पौष्टिक तत्वोंकी कमी और सार्वजनिक कामोंके बहुत बढ़ जानेसे स्नायुओंपर जोर पड़नेसे बीमारी टेढ़ी हो चली । लिहाजा डाक्टरोंने साधारण सावधानी बरती और सरदार बल्लभभाई पटेल और सैठ जमनालाल बजाज गांधीके स्वेच्छाप्रेरित कड़े जेलर बन बैठे । भाषण, प्रवचन, लेख, पत्र-व्यवहार आदि तमाम कार्यक्रमोंपर कड़ी रोक लगा दी गयी और गांधीको अधिक-से-अधिक आराम देनेका प्रबन्ध कर दिया गया । खानपान, निद्रा, व्यायाम, मनोरञ्जन आदि सारी बातोंपर कड़ी पाबंदी लगा दी गयी ।

नतीजा !

गांधीको फुर्सत-ही-फुर्सत मिल गयी । आराम-ही-आराम ! उस मौकेपर गांधीको आत्मनिरीक्षणका काफी समय मिला । २६ फरवरी १९३६ के ‘हरिजन सेवक’में वह लिखता है—

“इतना आराम मैं कभी न करता । इससे मुझे केवल स्वास्थ्यलाभ ही नहीं हुआ, बल्कि आत्मनिरीक्षणसे मुझे यह भी मालूम हुआ कि गीताका जो अर्थ मैं समझा हूँ, उसका पालन करनेमें मैं कितनी बड़ी गलती कर रहा हूँ । मुझे पता चला कि जो विविध समस्याएँ मेरे समक्ष उपस्थित हुईं, उनपर अनासक्त भावमें मैंने विचार नहीं किया । यह

स्पष्ट है कि उनमेंसे अनेकमें मेरे हृदयपर अमर छाप और मैंने उन्हें भीतरकी भावुकताको जामन करने के लिये स्नायुओंपर जोर डालने दिया है । दूसरे शब्दोंमें गीताके भक्तको उनके प्रति जैसा अनासक्त रहना चाहिए वैसे मेरा मन या शरीर नहीं रहा है ।

“डाक्टरलोग मुझे यह चेतावनी देते हुए कभी नहीं थकते थे कि हमारे आसपास जो घटनाएँ घट रही हैं, उनसे मुझे उत्तेजित हरगिज नहीं होना चाहिये । कोई दुःखद घटना उत्तेजक घटना अथवा समाचार मेरे सामने न आये, इसकी भी खासतौरपर सावधानी रखी गयी । उन्हें यह विश्वास नहीं रहा कि अनासक्त भावमें मैं कोई काम कर सकता हूँ । मेरा बीमार पड़ जाना उनके लिये इस बातका बड़ा प्रमाण था कि अनासक्तिकी मेरी जो ख्याति है, वह झूठी है और इसमें मुझे अपना दोष स्वीकार करना ही पड़ेगा ।

“लेकिन अभी सबसे बुरी बात तो होनी बाकी थी । सन् १८९९ से मैं जान-बूझकर और निश्चयके साथ ब्रह्मचर्य का पालन करनेकी कोशिश करता रहा हूँ । मेरी ब्रह्मचर्यकी व्याख्याके अनुसार इसमें न केवल शरीरकी, बल्कि मन और वचनकी शुद्धता भी शामिल है और सिवा इसके अपवादके, जिसे कि मानसिक स्थूलन कहना चाहिये, अनेक वर्षोंसे अधिक समयके सतत एवं जागरूक प्रयत्नों की वीच मुझे याद नहीं पड़ता कि कभी भी मेरे मनमें इस सम्बन्धमें ऐसी बेचैनी पैदा हुई हो, जैसी इस बीमारी के समय मुझे महसूस हुई । यहाँतक कि मुझे अपनेमे निराशा होने लगी ।

“लेकिन जैसे ही मेरे मनमें विकारकी भावना उठी, मैंने अपने साथियों और डाक्टरोंको उससे अवगत कर दिया । लेकिन ये इसमें मेरी कोई मदद नहीं कर सके । मैंने उनकी आशा भी नहीं की थी । अलबत्ता, इस अनुभवके बाद मैंने उस आराममें कमी कर दी, जो कि मुझपर जबरन लाया गया था । अपने इस बुरे अनुभवको स्वीकार कर लेने पर मुझे बड़ी शान्ति मिली; मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, मानो मेरे ऊपरसे बड़ा भारी बोझ हट गया और कोई हानि हो सकने के पहले ही मैं सँभल गया ।”

×                      ×                      ×

छत्तीस सालकी साधनाके बाद भी मनमें विकार आ सकते हैं, इसलिये ब्रह्मचर्यके साधकको जीवनके अन्तिम



संख्या ६]

अगतक इस विषयमें जागरूक रहना चाहिये । पलभरकी असावधानी जिंदगीभरकी साधनापर पानी फेर दे सकती है, इस बातका सदैव सरण रखना चाहिये ।

इतना ही नहीं; ब्रह्मचर्यके साधकको संयमकी किसी भी सीमाका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये । पता नहीं, किस इन्द्रियका जरा-सा अपयंम कहाँ और किस अंग साधकको पतनके गर्तमें डुवा दे ।

सन् १८९१ में विलायतमें लौटनेके बाद गांधीने अपने परिवारके भाइयोंके बच्चोंको अपने संरक्षणमें ले लिया और उनके बालक-बालिकाओंके कंधोंपर हाथ रखकर उनके साथ घूमनेकी आदत डाल ली । इनके बड़े हो जानेपर भी गांधीकी यह आदत जारी रही । धीरे-धीरे इस ओर लोगोंका ध्यान आकर्षित होने लगा ।

जनता तो जनता । वह तो अच्छी बातमें भी बुरी बात मूँच लेती है । निर्दोष वार्तापर भी सदोषकी शङ्का उठाने लगती है । गांधीकी यह आदत भी जनताकी आलोचनाका विषय बन गयी । किसी-किसी अखबारने इसपर शीर्षक देना शुरू किया—‘प्लेण्ट्स आलसो लाइक फ्लैस ।’—संतों-महात्माओंको भी मांसल अङ्गोंका स्पर्श रुचिकर लगता है ।’

गांधीको ऐसा नहीं लगता था कि वह बड़ी उम्रकी लड़कियों या स्त्रियोंके कंधोंपर हाथ रखकर चलता है तो कोई भूल कर रहा है; पर जब उसके दो साथियोंने १९३५ में वर्षामें आकर उससे कहा कि ‘आपकी यह आदत सम्भव है दूसरोंके लिये बुरा उदाहरण बन जाये । इसलिये आप इसे बंद कर दें’, तभी एक निर्णयात्मक घटना घटी । विश्वविद्यालयका एक तेज विद्यार्थी अकेलेमें एक लड़कीके साथ सभी तरहकी आजादीसे काम लेता था और कहता था कि मैं उसे सगी बहनकी तरह प्यार करता हूँ । कोई उसपर अपवित्रताका आरोपण करता तो वह नाराज हो जाता । उधर वह लड़की इस युवकको सर्वथा पवित्र और भाईके समान मानती । वह उसकी चेष्टाओंको पसंद नहीं करती, आपत्ति भी करती; पर उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि उसकी आपत्तिजनक चेष्टाओंको रोक सके ।

गांधीने गम्भीरतासे इन बातोंपर विचार किया और तत्काल लड़कियोंके कंधोंपर हाथ रखकर चलनेकी अपनी इतनी पुरानी आदतका त्याग कर दिया । वह लिखता है—‘ऐसी बात नहीं कि यह निर्णय करते समय मुझे गहरा

दुःख न हुआ हो । इस प्रथाके कारण कभी कोई अपवित्र विचार मेरे मनमें नहीं आया । मेरा आचरण पिताके-जैसा रहा है, पर ऊपरकी घटनाने मुझे अपनी यह आदत छोड़ देनेके लिये सचेत कर दिया; फिर मेरा लड़कियोंके कंधोंपर हाथ रखकर चलनेका व्यवहार चाहे जितना पवित्र रहा हो ।’

× × ×

ब्रह्मचर्यके सम्बन्धमें हमारे यहाँ बहुत अधिक साहित्य उपलब्ध है । उनमें नाना प्रकारके निषेध भरे पड़े हैं । उसमें नारी-शरीरकी निन्दा तो है ही, उससे सर्वथा दूर रहने, उसका स्पर्श न करने, मनमें भी उसका चिन्तन न करने आदिके बारेमें अनेक बातें रखी हैं । अपने-अपने स्थानपर उन सब बातोंका उपयोग भी है । पर गांधीका कहना था—

‘ब्रह्मचारी रहनेका अर्थ यह नहीं कि मैं किसी स्त्रीका स्पर्श न करूँ, अपनी बहनका भी स्पर्श न करूँ । परंतु ब्रह्मचारी होनेका अर्थ यह है कि किसी स्त्रीका स्पर्श करनेसे किसी प्रकारका विकार मनमें उत्पन्न नहीं होना चाहिये, जिस तरह कागजको स्पर्श करनेसे कोई विकार उत्पन्न नहीं होता । मेरी बहन बीमार हो और उसकी सेवा करनेमें, उसका स्पर्श करनेमें, ब्रह्मचर्यके कारण मुझे हिचकना पड़े तो मेरा ब्रह्मचर्य तीन कौड़ीका है । जिस निर्विकार दशाका अनुभव हम मृत शरीरका स्पर्श करके कर सकते हैं, उसी निर्विकार दशाका अनुभव जब हम किसी परम सुन्दरी युवतीका स्पर्श करनेपर भी कर सकें तभी कहा जायगा कि हम ब्रह्मचारी हैं ।’

× × ×

‘अहिंसा और ब्रह्मचर्य’की व्याख्या करते हुए २३ जुलाई १९३८ के ‘हरिजन-सेवक’में गांधी लिखता है—

‘कहा जाता है कि ब्रह्मचारीको स्त्रियोंका स्पर्श तो क्या, उनका दर्शन भी कभी नहीं करना चाहिये । निरसंदेह, किसी ब्रह्मचारीको विकारी बनकर किसी स्त्रीको न तो छूना चाहिये, न देखना चाहिये और न उसके विषयमें कुछ कहना या सोचना ही चाहिये । लेकिन ब्रह्मचर्यविषयक पुस्तकोंमें हमें यह जो वर्णन मिलता है, उसमें इसके महत्वपूर्ण क्रिया-विशेषण ‘विकारी बनकर’का उल्लेख नहीं मिलता । इसका उल्लेख न करनेकी वजह यह मालूम पड़ती है कि ऐसे मामलोंमें मनुष्य निष्पक्षभावसे निर्णय नहीं कर सकता और इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कय ऐसे सम्पर्कसे उसके



मनमें विकार पैदा हुआ और कब नहीं। कामविकार अक्सर अदृश्य रूपमें ही उत्पन्न हो जाता है। इसलिये दुनियामें आजादीसे सबके साथ हिलने-मिलनेपर ब्रह्मचर्यका पालन यद्यपि कठिन है, फिर भी अगर संसारसे नाता तोड़कर एकान्तवास करनेपर ही उसका पालन हो सकता हो तो उस ब्रह्मचर्यका विशेष मूल्य नहीं है।

‘जो भी हो, मैंने तो तीस वर्षसे अधिक समयसे प्रवृत्तियों के बीच रहते हुए भी ब्रह्मचर्यका खासी सफलताके साथ पालन किया है। ब्रह्मचर्यका जीवन वितानेका निश्चय कर लेनेके बाद पत्नीके साथके व्यवहारको छोड़कर बाहरके लोगोंके साथ मेरे आचरणमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। दक्षिण अफ्रीकामें भारतीयोंके बीच मुझे जो काम करना पड़ा, उसमें मैं स्त्रियोंके साथ आजादीके साथ हिलता-मिलता था। ट्रांसवाल और नेटालमें शायद ही कोई ऐसी भारतीय स्त्री रही होगी, जिसे मैं न जानता होऊँ। मेरे लिये तो वे सब बहनें और बेटियाँ ही थीं।

‘मेरा ब्रह्मचर्य पुस्तकोंसे प्राप्त किया हुआ नहीं था। मैंने तो स्वयं अपने तथा उन लोगोंके मार्गदर्शनके लिये, जो मेरे कहनेपर इस प्रयोगमें शामिल हुए थे, अपने ही नियम बना लिये थे। मैंने इसके लिये पुस्तकोंमें वर्णित निषेधोंका अनुसरण नहीं किया है, धार्मिक साहित्यतकमें स्त्रियोंका, जो सारी बुराई और प्रलोभनके द्वारके रूपमें वर्णन किया गया है, उसे तो मैंने इससे भी कम स्वीकार किया है।

‘मैं तो ऐसा मानता हूँ कि मुझमें जो भी अच्छाई है, वह सब मेरी माँके बदौलत है। इसलिये स्त्रियोंको मैंने कभी कामवासनाकी वृत्तिके साधनके रूपमें नहीं देखा, बल्कि हमेशा उसी श्रद्धाके साथ देखा है, जो मैं अपनी माताके प्रति रखता हूँ।’

मनुष्य स्त्रीमात्रको जब माँ—मातृवत् परदारेषु—मानकर चलता है, तब कामवासनाको उसके निकट फटकनेका अवसर ही नहीं मिलता। ब्रह्मचर्यकी साधनामें कठिनाई इसीलिये आती है कि हमारे मानसमें स्त्री मातृरूपमें बैठती नहीं। मनमें जब मातृभावना नहीं रहेगी, तभी मनुष्यके पतनकी आशङ्का रहेगी।

रामकृष्ण परमहंससे एक दिन किसीने पूछा—‘महाराज, आप अपनी पत्नीके साथ गार्हस्थ्य-जीवन क्यों नहीं बिताते?’ बोले—‘तुमने कार्तिकेयका किस्सा नहीं सुना?’

‘एक दिन कार्तिकेयने अपने नाखूनसे एक चिन्मयी नौच-खरोंच दिया। घरपर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि गालपर उसी तरहकी खरोंच पड़ी है। चकित होकर पूछा—‘माँ! तेरे गालपर खरोंच कैसी लगी है?’

‘जगन्माता बोली—‘बेटा, यह तेरी ही तो करता तूने ही अपने नाखूनसे मुझे खरोंच दिया है।’

‘कार्तिकेयने पूछा—‘मुझे तो याद नहीं कि मैंने गालपर कब नोचा-खरोंचा।’

‘माँने कहा—‘क्यों, बेटा! तू भूल गया, आज तू बिल्लीको नोचा-खरोंचा था न?’

‘कार्तिकेयने कहा—‘वह तो नहीं भूल, पर तूने तो नहीं नोचा-खरोंचा था? तेरे गालपर यह निशान उभर आया?’

‘माँ बोली—‘बेटा, मेरे सिवा संसारमें और कौन है? तू यदि किसीको सताता है तो मुझे ही न सताता है?’

‘कार्तिकेय अवाक् रह गये। उस दिनसे उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि ‘मैं विवाह ही न करूँगा। विवाह किसी साथ करूँ? जगत्की सारी स्त्रियाँ तो मेरी माँ ही हैं।’

रामकृष्ण परमहंस बोले—‘कार्तिकेयकी तरह मेरे भी जगत्की सारी स्त्रियाँ मातृवत् ही हैं। फिर कैसे गृहस्थ-जीवन बिताऊँ?’

‘सर्वरूपमयी देवी सर्व देवीमयं जगत्।

अतोऽहं विश्वरूपां तां नमामि परमेश्वरीम्॥

×

×

×

सच्चा ब्रह्मचारी मन-वचन-कर्मसे निर्विकार होता है। गांधीके शब्दोंमें—‘ब्रह्मचर्य मनकी स्थिति है। वह आचार या व्यवहार उसकी पहचान और उसकी निशान है। जिस पुरुषके मनमें जरा भी विषयवासना नहीं रहे, वह कभी विकारके वश नहीं होगा। वह किसी स्त्रीके चाहे जिस स्थितिमें देखे, चाहे जिस रूप-रंगमें देखे, उसके मनमें विकार पैदा नहीं होगा। वही स्त्रीके समझना चाहिये। लेकिन जिसके मनमें विकार उठा करते हैं, उसे तो सगी बहन या बेटाको भी नहीं देखना चाहिये।’

×

×

×

ब्रह्मचर्यका उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट स्वरूप यह है कि सुन्दरी सुन्दरी युवतीके साथ रहते हुए भी मनुष्यके मनमें विकार



कल्याणतक न हो। गांधीने इस आदर्शतक पहुँचनेके लिये प्राणपणसे चेष्टा की। जीवनके अन्तिम क्षणोंमें उन्होंने कुमारी मनु गांधीके साथ जो प्रयोग किये, उनका किशोरलालजी मशरूवाला जैसे व्यक्तियोंने भी विरोध किया था, यहाँतक कि गांधीके इस सम्बन्धके लेखकोंको भी उन्होंने 'हरिजन'में नहीं छपा, यद्यपि गांधीका नाम उसके सम्पादकके स्थानपर छपा था। श्रीप्यारेलालने 'लास्टफेज' में विस्तारसे इसका वर्णन किया है।

पर सत्यका साधक तो ऐसे विरोधोंकी परवा करता नहीं। गांधीका तो सारा जीवन ही सत्यकी प्रयोगशाला था। उसने अपनेको ब्रह्मचर्यकी कड़ी-से-कड़ी कसौटीपर कसकर देखा। सत्तर वर्षकी भी उम्रमें वह पुकार-पुकारकर कहता था—'यदि इस उमरमें भी स्त्रियोंके प्रति मेरे भीतर कामवासना जागे तो एकसे अधिक पत्नी करनेकी हिम्मत मुझमें है। मैं छिपे या खुले स्वेच्छाचारमें विश्वास नहीं रखता। स्वेच्छाचार मेरी दृष्टिमें कुत्तेका आचार है। छिपे प्रेममें तो ऐसे आचारके सिवा नामर्दी भी है।'।

गांधीके खुले जीवनपर आक्षेप भी होते रहते थे। ५ नवम्बर १९३९ के 'हरिजन-बन्धु'में इस सम्बन्धमें गांधी लिखता है—'अपने जीवनमें मुझे सम्बन्ध रखनेवाली एक भी बात मैंने गुप्त नहीं रखी है। अपनी कमजोरियाँ मैंने खुले आम समय-समयपर स्वीकार की हैं। मेरा विश्वास है कि यदि वासना मुझे खींचे तो उसे स्वीकार करनेकी हिम्मत मुझमें है। जब अपनी पत्नीके साथ भी वासना-तृप्ति करनेमें मुझे घृणाका अनुभव होने लगा और इस सम्बन्धमें मैंने अपनी पूरी परीक्षा कर ली, तभी १९०६ में मैंने ब्रह्मचर्यका व्रत लिया। यह व्रत मैंने अपने भीतर देशकी सेवाके प्रति भक्ति तथा निष्ठा बढ़ानेके लिये लिया था। उसी दिनसे मेरे खुले जीवनका आरम्भ हुआ। उसके बाद 'यंग इण्डिया' और 'नवजीवन'के लेखोंमें वर्णित प्रसङ्गोंके सिवा मेरी अपनी पत्नीके साथ या परस्त्रीके साथ किसी भी समय बंद कमरेमें रहने अथवा सोनेकी बात मुझे याद नहीं है। मेरे लिये वे कालरात्रियाँ थीं, परंतु मैं बार-बार कह चुका हूँ कि मेरी अपनी कुप्रवृत्ति होनेके बावजूद ईश्वरने मुझे उबार लिया है।

'जिस दिनसे मेरा ब्रह्मचर्य आरम्भ हुआ, उसी दिनसे हम दोनों पति-पत्नीके सच्चे स्वातन्त्र्यका आरम्भ हुआ। मेरी पत्नी अपने प्रभु और स्वामीके रूपमें मेरी सत्तासे मुक्त

होकर स्वतन्त्र बनी और मैं अपनी उस वासनाकी गुलामीसे मुक्त हुआ, जो मेरी पत्नीको तृप्त करनी पड़ती थी। अपनी पत्नीके प्रति मेरा जो आकर्षण था, वैसा आकर्षण उस अर्थमें दूसरी किसी भी स्त्रीके प्रति कभी नहीं रहा। पतिके रूपमें अपनी पत्नीके प्रति तथा अपनी माताके सामने भी हुई प्रतिज्ञाके प्रति मैं इतना वफादार था कि दूसरी किसी स्त्रीकी गुलामी मैं कर ही नहीं सकता था।

'परंतु जिस प्रकार मुझमें ब्रह्मचर्यका विकास हुआ, उसने मुझे स्त्रीको मनुष्यकी माताके रूपमें देखना सिखाया और इसलिये मैं अनिवार्यरूपमें स्त्रीजातिके प्रति आकर्षित हुआ। मेरी दृष्टिमें स्त्री इतनी पवित्र और पावन बन गयी कि उसकी ओर मैं वासनाकी नजरसे देख ही नहीं सकता था। इस प्रकार प्रत्येक स्त्री मेरी बहन या पुत्री-जैसी बन गयी।

"आश्रममें मैं जहाँ सोता हूँ, वहाँ मेरे आसपास सब जगह स्त्रियाँ सोती हैं; क्योंकि वे मेरे समीप अपनेको हर तरहसे सुरक्षित मानती हैं। हमारे आश्रममें एकान्त-जैसी कोई चीज होती ही नहीं।"

X X X

गांधीकी ब्रह्मचर्यकी यह साधना कठिन तो है, पर असम्भव नहीं। किसीके लिये भी यह असम्भव नहीं। हम हों, आप हों, कोई भी हो, वह गांधीके इस जीवन-सूत्रको अपना जीवन-सूत्र बना सकता है।

सवाल है कि इसका उपाय क्या है, इसका साधन क्या है ?

गांधीसे इस बारेमें बार-बार प्रश्न किये जाते थे, बार-बार वह उनके उत्तर देता था। उसका यह उत्तर ब्रह्मचर्यके साधकोंके लिये उपयोगी सिद्ध हो सकता है—

'ब्रह्मचर्यके मार्गपर चलनेका पहला कदम है—उसकी आवश्यकताका भान होना। इसके लिये ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी पुस्तकोंका पठन और मनन आवश्यक है।

'दूसरा कदम है—धीरे-धीरे इन्द्रिय-निग्रह करना। इन्द्रियोंपर काबू पाना। ब्रह्मचारी स्वादपर अङ्कुश रखे। जो कुछ वह खाये, पोषणके लिये ही खाये। आँखोंसे गंदी वस्तु न देखे। सदा शुद्ध वस्तुएँ ही देखे। किसी गंदी वस्तुके सामने आँखें बंद कर ले। इसीलिये सम्य स्त्री-पुरुष चलते-फिरते इधर-उधर देखनेके बदले जमीनपर ही नजर रखें और शरीरकी तुच्छताका ही दर्शन करें। वे



कानसे कोई भीमत्स बात कभी न सुनें, नाकसे विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तुएँ न सूँघें, अपने हाथ-पाँवका भी वे कभी बुरे काममें उपयोग न करें और समय-समयपर उपवास करें ।

तीसरा कदम यह है कि ब्रह्मचारी अपना सारा समय सत्कार्यमें, जगत्की सेवामें ही बिताये ।

चौथा कदम यह है कि ब्रह्मचारी सत्सङ्गका सेवन करे । अच्छी पुस्तकें पढ़े और आत्मदर्शनके बिना विकार जड़-मूलसे नष्ट नहीं हो सकते, यह समझकर रामनामका सदा रटन करे और ईश्वर-प्रसादकी याचना करे ।

तात्पर्य संयम मनका, तनका, वचनका, सेवा, सत्सङ्ग और रामनाम—यही है ब्रह्मचर्यकी साधनाकी कुंजी ।

ब्रह्मचर्यकी यह साधना प्रत्येक व्यक्तिके लिये सम्भव है । विवाहितोंके लिये भी गांधीने रास्ता निकाल रखा है—

‘विवाहितका अविवाहितकी तरह हो जाना । विवाहित स्त्री पुरुष एक दूसरेको भाई-बहन मानने लग जायें तो सारे झगड़ोंसे वे मुक्त हो जाते हैं । संसारभरकी सारी खिचाँ बहनें हैं, माताएँ हैं, बेटियाँ हैं—यह विचार ही मनुष्यको एकदम ऊँचे ले जानेवाला, बन्धनसे मुक्ति देनेवाला हो जाता है ।’

आइये, गांधीके इस जीवन-सूत्रको हम भी अपना जीवन-सूत्र बनायें । उसके लिये हम सर्वेन्द्रिय-संयमकी आदत डालें । संयम मनका भी हो, तनका भी और वचनका भी । उसके साथ-साथ रामनामका एकतारा चौबीसों घंटे चलता रहे । सर्वेन्द्रिय-संयमकी खूँटीपर कोट टाँग दीजिये, बस, बेड़ा पार है, और जब यह स्थिति होगी, तब हमारी सफलता निश्चित है ।—

‘सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू ।

बड़ रखवार रमापति जासू ॥’

## आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

भगवान्‌के नामका आश्रय दृढ़तासे पकड़ लीजिये ।

‘.....भगवान्‌के नामका आश्रय दृढ़तासे पकड़ लीजिये । अन्य साधनोंका विरोध नहीं है । सब करें, अच्छी तरह करें; पर आश्रय ‘नाम’का पकड़ें । जैसे छोटा बच्चा माँका अञ्चल पकड़े रहता है, इसके बाद—‘हमें यह चाहिये, वह चाहिये’—सब चीजें खोजता है;—बाप-भाई-बहिन सबको चाहता है, परंतु माँका अञ्चल नहीं छोड़ता । वह ऐसा इसलिये करता है कि उसे इस बातका भरोसा है कि माँ उसकी अपने अहैतुक स्नेहसे सदैव रक्षा करेगी । वैसे ही नामका आश्रय पकड़ लें और फिर इसके बाद सब करें । ऐसा करनेपर ‘नाम’ हमें तार देगा । सभी (साधन) अच्छे हैं, सदाचार अच्छा है; पर अन्तिम समयतक सदाचार सिद्ध नहीं हुआ तो ? सब चाहते हैं, मन वशमें हो, बहुत ठीक; परंतु अन्ततक मन वशमें नहीं हुआ तो ? दैवी-सम्पदाके गुण होने आवश्यक हैं, बहुत ठीक; पर यदि मरते समयतक वे

नहीं आ सके तो ? ध्यान होना उत्तम बात है, पर यदि अन्ततक नहीं हुआ तो ? ऐसे ही सब साधनोंकी बात है । परंतु यदि ‘नाम’का आश्रय पकड़े रहेंगे तो वह ‘नाम’ हमें तार देगा । और सब साधनोंमें भावकी जरूरत है । भाव होगा तो काम होगा । पर ‘नाम’ बिना भावके ही हमारा काम कर देगा ।

हमलोग कलियुगी प्राणी हैं । हमारी बच्चेकी-सी हालत है । दिन-रात मैलेमें लिपटे हुए हैं । यदि बच्चा अपना मैला धोता रहे तो वह धोते-धोते मर जायगा । उसका मैला तो माँ धोयेगी । इसी तरह ‘नाम’ हमारा निस्तार करेगा और सब साधनोंमें तो हमें उठना है, पर ‘नाम’ तो स्वयं हमें अपनी शक्तिसे उठानेवाला है । यह कितना अन्तर है ! दूसरे साधनोंमें तो हमें शक्ति लगानी पड़ेगी, पर ‘नाम’ स्वयं अपनी शक्तिसे काम कर देगा । मनसे न हो, भावसे न हो—कोई बात नहीं, केवल जीभसे ‘नाम’ लें; सकाम, निष्काम—कैसे भी करें, आदत डाल लें । जँभाई लेते, चलते-फिरते, छींकते आदि



हर एक क्रियामें—जिस प्रकार हो, 'जीमसे' नाम लेते रहना चाहिये । माता देवहूतिने कहा है—

अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान्  
यजिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्त्रुरार्या  
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥

( श्रीमद्भा० ३ । ३३ । ७ )

यहाँपर 'श्वपच'का अर्थ मामूली चण्डाल नहीं—  
'कुत्तेका मांस खानेवाला चण्डाल' है । उसकी जीभपर  
ही नाम रहनेकी बात है, मनसे लेनेकी नहीं; इस  
प्रकार जीमसे 'नाम' लेनेवाला भी श्रेष्ठ माना गया है ।  
तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।  
मेरे तो माय-बाप दोउ आखर..... ॥

शाखाय्ययन और संत-महात्माओंके सत्सङ्गसे यही  
निष्कर्ष समझमें आता है कि एक ही बात है और वह  
है—'नामका आश्रय' । ऋषि-मुनि—सभी एक मतसे  
निश्चय करके कह गये हैं कि इस कलियुगमें और कोई  
सहारा नहीं है । बड़े-बड़े साधनोंकी बात भले ही कर  
लें । सचमुच जो 'नाम'का आश्रय छोड़कर दूसरे साधनों-  
में लगते हैं, वे प्रायः दोनों तरफसे जाते हैं । 'नाम' तो  
दिया छोड़ और दूसरा साधन सधा नहीं ।

x x x x x

नामजपके नियमके सम्बन्धमें एकमात्र हमारे हृदय-  
की उत्कण्ठा ही मुख्य वस्तु है । लगन रहनेपर भगवान्  
उसे अवश्य निभायेंगे । यदि नामजपकी संख्या पूरी न हो  
पाये तो इसके लिये मनमें सचमुच दुःखका अनुभव  
होना और भविष्यमें प्रभुसे प्रार्थना करते हुए 'अब फिर  
कभी ऐसी भूल नहीं होगी ।' ऐसा संकल्प करना यह  
सबसे उत्तम प्रायश्चित्त है ।

x x x x x

चिन्ता करना छोड़ दें । मन नहीं लगता, यह नहीं

होता, वह नहीं होता—यों कहना 'नाम'पर अविश्वास  
करना है । 'नाम' होता है न ? बस, सब ठीक है ।  
दिनभरमें एक बार भी तो 'नाम' निकल जाता ही है ।  
फिर विश्वास कर लें, हमारा उद्धार यही 'नाम' कर देगा ।

महात्माका सङ्ग करनेवालेके मनमें न कोई शङ्का  
होती है न कोई प्रश्न उठता है ।

लोग प्रश्न पूछते हैं—'महापुरुषोंके पास जानेपर  
प्रश्न याद नहीं आते और उनसे वियोग होते ही वे  
प्रश्न फिर उठ खड़े होते हैं, क्या करना चाहिये ?'  
इसका उत्तर यही है कि महापुरुषोंकी यही महिमा है ।  
प्रश्न, उधेड़-बुन—सब-के-सब अन्धकारमें ही होते हैं ।  
महापुरुषोंके सामने जानेपर अन्धकार मिट जाता है,  
फिर प्रकाश-ही-प्रकाश बच जाता है । निरन्तर सूर्यके  
पास रहनेवालोंको अन्धकारका दर्शन ही नहीं होता, उसी  
प्रकार निरन्तर महात्माका सङ्ग करनेवालेके मनमें न  
कोई शङ्का होती, न कोई प्रश्न उठता है । वहाँ केवल  
प्रेमकी धारा ही नित्य-निरन्तर बहती रहती है ।  
श्रीनारायणस्वामीजी वृन्दावनके एक बड़े ऊँचे महात्मा हो  
गये हैं । लोग देखते कि वे प्रतिदिन कुसुम-सरोवरसे  
दौड़ते हुए एक-दो मील जाते, फिर वहाँ कुछ ही क्षण  
ठहरकर पीछेकी ओर दौड़ते हुए कुसुम-सरोवर पहुँच  
जाते । प्रतिदिन उन्हें ऐसा करते देखकर लोगोंने  
पूछा—'बाबा ! ऐसा क्यों करते हैं ?' स्वामीजीने  
बहुत आग्रह करनेपर बताया—'क्या बताऊँ ? मैं देखता हूँ  
कि श्रीकृष्ण सामने खड़े हैं; मुझसे रहा नहीं जाता, मैं  
पकड़नेके लिये दौड़ पड़ता हूँ; वे भागते हैं, मैं भी  
भागता हूँ । जब दौड़ते-दौड़ते थक जाता हूँ तो देखता  
हूँ कि अब वे मेरे पीछेकी ओर खड़े हैं । मैं भी पीछे  
मुड़ जाता हूँ । मैं पुनः पकड़ना चाहता हूँ । वे भागने  
लगते हैं, मैं भी पकड़नेके लिये दौड़ता हूँ । इस प्रकार  
दौड़ते-दौड़ते कुसुम-सरोवर वापस आ जाता हूँ ।'



लोगोंने पूछा—‘बाबा ! श्रीकृष्णसे कुछ पूछते हो कि नहीं ?’

स्वामीजीने कहा—“भैया ! क्या बताऊँ ? पहले तो बहुत-सी बातें याद रहती हैं । सोचता हूँ, ‘यह बात पूछूँगा, वह पूछूँगा’ पर जिस समय वे सामने आते हैं, उस समय सब कुछ भूल जाता हूँ । केवल उनका अनुपम मुखड़ा ही देखता रह जाता हूँ ।” यही बात होती है महात्माओंके सम्बन्धमें भी । जिसके सामने उनका जितना अधिक पर्दा उठा रहता है, वह मनुष्य उतना ही अधिक उनके प्रेमको ग्रहण करता है । प्रेम-ग्रहण होने लगनेपर शङ्का—प्रश्न नहीं होते । जो प्रश्न होते भी हैं, वे सर्वथा अलौकिक प्रेमके अङ्ग ही होते हैं, प्रेममय होते हैं, प्रेमके प्रवाहको और भी प्रखर बनानेवाले होते हैं ।

**आपकी दृष्टिमें संसारमें जो सबसे ऊँचा पुरुष हो, उसके संरक्षणमें अपना जीवन बितानेकी चेष्टा करें ।**

‘भगवान्की दयाको कैसे अनुभव करें’—इस प्रकारकी लालसा होनी बड़ी उत्तम बात है, पर सच्ची बात यह है कि इस लालसाको और भी पुष्ट करना पड़ेगा । एक चीज जो हमलोगोंमें बहुत कम पायी जाती है, वह है—‘श्रद्धा’ । शास्त्रों एवं संतोंकी बातपर जबतक हम विश्वास नहीं करेंगे, उनकी कही हुई बातोंका पालन नहीं होगा, तबतक भगवान्की कृपाका अनुभव होना कठिन-सा है । इसलिये आपकी दृष्टिमें संसारमें जो सबसे ऊँचा पुरुष हो, उसके संरक्षणमें अपना जीवन बितानेकी चेष्टा करें । ऊँचा पुरुष कौन है ?—इस बातके लिये भी आपको पहले शास्त्रपर श्रद्धा करनी पड़ेगी और ऊँचे पुरुषके लक्षण जो शास्त्रमें आये हैं, उनके आधारपर ऐसे पुरुषकी खोज करनी पड़ेगी । ऊँचे पुरुषोंकी जाँच करनेमें भी आपकी भूल हो सकती

है, पर यदि आप शुद्ध नीयतसे भगवान्का आश्रय पकड़कर बढ़ेंगे तो प्रभु सँभाल लेंगे । वे सबके प्र-प्रदर्शक हैं, सर्वज्ञ हैं; वे सच्ची लालसा होनेपर सब प्रकारका संयोग दया करके जुटा देते हैं । अतः आप सबसे पहले यही चेष्टा करें । गीताके १६वें अध्यायमें स्वयं भगवान्ने २६ दैवी गुणोंका वर्णन किया है । वे गुण जिस व्यक्तिमें अधिक-से-अधिक घटते हुए दिखायी दें, उसके हाथमें आप अपना जीवन दे दें । यह बात करनेकी है; सचमुच जीवनकी इसीमें सार्थकता है । भोग भोगते हुए ही यदि मनुष्य-जीवन भी समाप्त हुआ तो फिर हमारे एवं कुत्तेमें क्या अन्तर है ? पशु भी भोग भोगते हैं, हम भी भोग भोगते हैं । शास्त्र तो कहते ही हैं, अब वैज्ञानिकोंने भी यह सिद्ध किया है कि भोग भोगनेमें पशुओंको भी उतना ही आनन्द मिलता है, जितना मनुष्यको । इसलिये प्रत्येक मनुष्यको शीघ्र-से-शीघ्र अपना मनुष्य-जीवन सफल बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये । यदि सोचते-सोचते ही समय बीत गया तो फिर सिवा पछतानेके और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा, ऐसा ऊँचे-ऊँचे संतोंका अनुभव है । वे संत कभी झग नहीं बोले, उनका कोई भी स्वार्थ नहीं था । वे ऐसा कहते हैं तो हमें मान लेना चाहिये कि वस्तुतः शीघ्र-से-शीघ्र मनुष्य-जीवनके असली लक्ष्यको प्राप्त करने इसीमें हमारी सफलता है । बस, गम्भीरतासे विचार करें एवं जीवनको प्रभुके हाथमें समर्पण कर देनेकी शुद्ध लालसा लेकर आगे बढ़ें ।

**भगवान्से प्रार्थना करें—‘नाथ ! संतोंके प्रति निःस्वार्थ प्रेम उत्पन्न कर दो ।’**

हाथ जोड़कर, दीन होकर रोते हुए हमलोगोंसे भगवान्से प्रार्थना करें—‘प्रभो ! अत्यन्त पामर, दीन हीन, मलिन, विषयोंके कीट हमलोगोंपर अपनी दया



प्रकाशित करो । नाथ ! तुम्हारे जन—संतोंके प्रति निःस्वार्थ प्रेम, केवल प्रेमके लिये प्रेम उत्पन्न कर दो । प्रतिदिन प्रार्थना करें । प्रार्थनासे बड़ा काम होता है । ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे भगवान् न दे सकें । ऐसी कोई प्रार्थना नहीं, जिसे भगवान् पूरी न कर सकें । वे असम्भवको सम्भव, एक क्षणमें सबके लिये बिना पक्षपातके कर सकते हैं । पर हमलोगोंका उनपर विश्वास नहीं, यही दुर्भाग्य है—

हरिसे लगा रहूँ रे भाई । तेरी बनत-बनत बनि जाई ॥

भक्त भारतेन्दु बाबूका एक पद है, उसकी दो पंक्तियाँ ये हैं—

जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नितही करत बुराई ।  
तो तुम भले होइ छाँड़त हौ काहें, नाथ ! भलाई ? ॥

‘नाथ ! मैं बुरा हूँ, बुरा करना मेरा स्वभाव है,

मैं नित्य-निरन्तर बुराई ही करता रहता हूँ, बुराई करनेसे कभी भी नहीं चूकता, अपना स्वभाव मैं नहीं छोड़ता ? तब मेरे नाथ ! तुम भले होकर अपना स्वभाव क्यों छोड़ते हो ? तुम्हारा स्वभाव तो भला करना है ही, फिर तुम भी अपना स्वभाव मत छोड़ो ।’

बिल्कुल ऐसी ही बात भगवान् करते हैं । जैसे सूर्यमें यह शक्ति ही नहीं कि वे किसीको अन्धकार दे सकें, वैसे ही भगवान्में—विनोदकी भाषामें कहनेपर यह कहा जा सकता है कि उनमें यह शक्ति नहीं कि वे किसीकी बुराई कर सकें । अब हम सोचें—जीत किसकी होगी ? एक ओर अखिलब्रह्माण्डपति अपने स्वभावका पालन करेंगे और एक ओर तुच्छ प्राणी अपने स्वभावका पालन करेगा । इन दोनोंमें निश्चय ही जीत भगवान्की होगी ।

## तौल

### [ रूपक कहानी ]

( प्रेषक—श्रीभगवान्सादजी तिवारी )

बोधीराम बहुत परीशान है; क्योंकि वह खरे स्वभावका आदमी है । लकड़ी, साग-तरकारी और किरानेसे लेकर सोने-चाँदी एवं कपड़ेतकके व्यापारियोंपर उसे बड़ी चिढ़ है । चाहे नये पैसोंका चलन हो या नये नाप-तौलोंका, व्यापारियोंकी सभीमें सब समय चाँदी चित है । ये लोग प्रत्येक परिवर्तनपर चीजोंके भाव बड़ी खूबसूरतीसे बढ़ा देते हैं और तौलमें कमी कर देते हैं । तौलके नये बाट अब चलते हैं, परन्तु ग्रामीण जन अभी सेर, पाव, छटाँक आदि शब्दोंका प्रयोग करके ही सौदा खरीदते हैं । सेर अर्थात् किलोग्राम, पाव अर्थात् ढाई सौ ग्राम और छटाँक अर्थात् पचास ग्राम । बोधीरामने किरानेकी दूकानपर एक पाव जीरा माँगा । दूकानदार दो सौ ग्रामके वजन भर जीरा देने लगा । बोधीरामने आपत्ति की और कहा कि ‘२५० ग्राम जीरा दो ।’ इसपर झगड़ा हो गया और इतना बढ़ गया कि खासी भीड़ इकट्ठी हो गयी । एक संत भी कहींसे आते हुए उस भीड़में रुक गये । झगड़नेवालोंको समझानेके हेतु वे आगे बढ़े । संतको हस्तक्षेप करते देखकर सब लोग

शान्त हो गये । संतने कहा—‘क्यों झगड़ते हो मेरे भाई ? ग्राहक और दूकानदार दोनों ही अपना लाभ छोड़कर हानि प्राप्त करनेके लिये झगड़ रहे हो !’ ग्राहकने कहा—‘इसमें सरासर मेरी हानि है, महाराज ! मैं पैसे पूरे दे रहा हूँ और दूकानदार मुझे ५० ग्राम जीरा कम दे रहा है ।’ संतने कहा—‘अच्छा ! तुम सब लोग आँख बंद करके बैठ जाओ ! मैं तुम्हें इसके रहस्यका दर्शन कराता हूँ ।’ जन-समुदाय आँख बंदकर बैठ गया । संतने एक लोटा जल अभिमन्त्रितकर उससे समुदायको परिवर्द्ध कर दिया और सभीको आँख खोलनेके लिये कहा । लोगोंने देखा सामने प्रत्यक्ष नाटक हो रहा है ।

तराजूके एक पलड़ेपर कबूतर बैठा है । समीपके वृक्षपर बाज पक्षी है और तराजूके दूसरे पलड़ेपर राजा शिबि अपने हाथों अपने शरीरका मांस काट-काटकर रखते जा रहे हैं, परन्तु सारे शरीरका मांस भी कबूतरके बराबर न हो सका । बाज पक्षी बोल उठा—‘रहने दो, राजन् ! बस करो, अब तुम्हारे शरीरमें कुछ भी शेष नहीं रहा । तुम



यह कह दो कि मैं पूरी तौल देनेमें असमर्थ हूँ, मैं प्रसन्नता-पूर्वक कम तौलसे ही संतुष्ट हो जाऊँगा ।' राजा शिवि बहुत दुखी होकर बोले—'मुझे धर्मच्युत होनेका परामर्श मत दो, पक्षी ! कम तौल देकर मैं तुम्हारा ऋणी नहीं रहना चाहता । ऋणी ही संसारके बन्धन एवं आवागमनका कारण है । यह शरीर नश्वर है । इसके द्वारा जीवन रहते हुए आत्मोद्धारका प्रयत्न कर लेना श्रेयस्कर है । यह लो, मैं अपना सम्पूर्ण शरीर तराजूको अर्पण करता हूँ ।' राजा शिवि जैसे ही तराजूके पलड़ेपर बैठनेको उद्यत हुए कि वह कबूतर बन गया देवराज इन्द्र और बाज बन गया धर्मराज ! दोनोंने राजाके उचित तौल और शरणागतरक्षाकी सराहना करते हुए उन्हें पुष्ट-शरीर कर दिया ।

( पटाक्षेप ) लोगोंने दूसरा दृश्य देखा—

बावन अङ्गुलके छोटेसे भगवान् दैत्यराज बलिसे तीन डग भूमिकी याचना कर रहे हैं । राजा बलि उदारहृदयसे कहते हैं—'तीन डगकी बात मत करो, बटुक ! तुम्हें जितनी जमीन चाहिये, ले लो ।' भगवान् बोले—'नहीं, मुझे तीन डग भूमि ही चाहिये, राजन् ! सच्ची नाप-तौलको मैं प्रधानता देता हूँ ।' राजा बलिने उपहासपूर्वक कहा—'अच्छा, बटुक ! ले लो तीन डग भूमि ! अच्छी बड़ी-बड़ी डगोंसे नाप लेना ।' बटुकने मुस्कराकर कहा—'हाँ, राजन् ! तुम्हारी आज्ञासे मैं बड़ी डगोंसे नापनेका प्रयत्न करूँगा ।' लोगोंने देखा कि वामन महाराजकी एक डग इतनी लंबी गयी कि उससे ऊपरके सातों लोक नप गये और दूसरी डगसे नीचेके भी सातों लोक । अब तीसरी डगके लिये पूछ रहे हैं राजा बलिसे—'तीसरी डगसे क्या नाप लूँ, राजन् !' राजा बलि अवाक् ! भगवान् बोले—'कोई दुःखकी बात नहीं, राजन् ! तुम स्वीकार कर लो कि मैं तीन पग भूमि देनेमें असमर्थ हूँ । मैं इसपर संतुष्ट हो जाऊँगा ।' राजा बलि दुःखित होकर बोले—'भगवन् ! पूरी नाप न देनेवाला व्यक्ति ऋणी होता है और उस ऋणको चुकानेके लिये कई बार कई योनियोंमें जन्म लेकर भुगतते रहना पड़ता है । आप तीसरा पग मेरे शीशपर रखकर मेरे धर्मको बचायें ।' भगवान्ने राजा बलिकी नेक-नीयतपर प्रसन्न होकर उनके दरवाजेपर रक्षकका कार्य किया ।

( पटाक्षेप ) तीसरा दृश्य प्रारम्भ हुआ—

ब्राह्मणदेव कह रहे हैं—'अरे सदनवा ! तौलनेका यह पत्थर तू मुझे दे दे ।' सदन ईश्वर, गौ एवं ब्राह्मणका भक्त है । उसने बाटका वह पत्थर सहर्ष ब्राह्मणको दे दिया । शालग्रामको प्राप्तकर विप्र प्रसन्नतापूर्वक उनका पूजन करने लगे । तीसरे दिन ब्राह्मणको स्वप्नमें शालग्राम भगवान् आदेश देते हैं कि 'प्रातःकाल होते ही तुम मुझे सदनके घर पहुँचा दो । सदनके पाससे निकल आनेपर मैं दुखी हूँ ।' ब्राह्मणने कहा—'भगवन् ! सदन तो कसाई है—मांसविक्रेता है, अत्यन्त निकृष्ट व्यापार है उसका, आश्चर्य है कि आप उसके पास सुखी थे और मेरे पास दुखी हैं । मैं तो वेदपाठी, कर्मकाण्डी उच्चवर्णका विप्र हूँ और आपका पुजारी हूँ । आप मेरी सेवा स्वीकार नहीं कर रहे हैं, भगवन् !' भगवान् बोले—'भाई ! मुझे लोगोंकी नेक-नीयतीसे मतलब है । व्यापार या कोई भी कार्य मनुष्य अपने उदर-पोषणके लिये करे, परंतु ईमानको दृष्टिमें रखकर । सदन अधिक नहीं है । वह मांस खरीदकर साधारण मुनाफेसे बेचता है । वह मुझे बाट बनाकर मेरी तौलभर सचाईसे सौदा देता है । वह स्वयं शाकाहारी है और सदैव मेरा मानसिक नाम-जप करता रहता है । इसलिये वह मुझे बहुत प्रिय है । तुम मुझे शीघ्र वहाँ पहुँचा दो ।'

लोगोंने देखा कि शालग्राम लिये हुए ब्राह्मणदेव सदनके घर पहुँचे । सदनके भगवान् फिर तराजूके बाट बन गये । सदन ब्राह्मणके चरणोंपर और ब्राह्मण सदनके चरणोंपर नत-मस्तक हो रहे थे ।

संतने ताली बजायी, दृश्य समाप्त हो गये । लोगोंकी समझमें अब नाप-तौलकी महिमा आ गयी । कोई भी अब एक दूसरेका ऋणी नहीं रहना चाहता था । पूरी नाप, पूरी तौल और पूरे पैसे देनेके अभ्यस्त तो लोग हो ही गये; बाप ही जिसको जिसका जितना भी कुछ देना था, याद कर-करके एवं खोज-खोजकर चुकानेकी फिकरमें लग गये । लोग अपने ईमानको प्रतिदिन तौलने लगे ।



## परमार्थ-पत्रावली

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र)

( १ )

सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । आपने कई प्रश्न पूछे हैं, उनका उत्तर क्रमशः नीचे लिखा जाता है—

( १ ) आपने अपने जीवनकी चर्चा करते हुए यह लिखा है कि 'मुझे क्रोध आ जाता है, इसकी ओषधि चाहिये।' क्रोधकी शान्तिके लिये निम्नलिखित वड़े ही सुगम उपाय हैं । इनमेंसे जो-जो आपकी प्रकृतिके अनुकूल पड़ें, उन्हें काममें लाकर देखें—

( क ) अपने साथियोंसे या अन्य किसी भी व्यक्ति या वस्तुसे सुखकी आशा न करना और अपने कर्तव्य-पालनद्वारा अपने घरवालोंका और अन्य लोगोंका भी हित करते रहना ।

( ख ) प्रत्येक घटनामें दूसरोंकी भूल न देखकर अपनी भूलको सूक्ष्मदृष्टिसे देखना और पुनः वैसी भूल न करनेका दृढ़ संकल्प करना ।

( ग ) अपना किसीपर कोई अधिकार न मानना अर्थात् अधिकारके अभिमानका त्याग कर देना ।

( घ ) क्रोध उत्पन्न होते ही मौन धारण कर लेना और उस घटनापर विचार करनेमें लग जाना ।

( च ) दूसरोंसे अपने मनकी बात पूरी करानेकी इच्छा न करना और दूसरोंके मनकी बात जो धर्मानुकूल है, उसे जहाँतक हो सके पूरी करते रहना ।

( छ ) सबको प्रभुकी प्रजा समझकर, सबमें प्रभु विराजमान हैं—इस भावसे सबके साथ प्रेम करना । किसीमें भी समता और आसक्ति न करना ।

( ज ) अपने मनके विपरीत जो भी हो, उसे भगवान्की कृपा समझकर प्रसन्न रहना ।

( झ ) क्रोधसे मुक्ति पानेके लिये नामजप भी बड़ा सहायक है ।

( ट ) यदि अपने स्वार्थका त्याग कर दिया जाय तो क्रोधकी जड़ ही कट सकती है ।

जबतक आप अपने अभिमानको सुरक्षित रखेंगे और दूसरोंके कर्तव्यको एवं उनके दोषोंको देखते रहेंगे तथा उनके कर्तव्यद्वारा अपने मनकी बात पूरी करानेकी इच्छा रखेंगे, तबतक क्रोधका नाश होना कठिन है । इसलिये आपको चाहिये कि अभिमानको छोड़ दें, दूसरोंके कर्तव्यद्वारा अपने मनकी बात पूरी करानेकी इच्छा न करें तथा दूसरोंके दोषोंको न देखें और न उनका वर्णन ही करें । भगवान् सबमें हैं और सभी भगवान्के हैं—यह समझकर प्रभुके नाते सबसे हार्दिक प्रेम रखें तभी क्रोधका नाश हो सकता है । क्रोध किसी कर्मका फल नहीं है । यह तो साधकके प्रमादसे ही आता है । अतः इसका नाश करनेमें मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र है ।

( २ ) न्यायाधीशका पद कोई बुरी चीज नहीं है, बुराई तो उसके घमंडमें है; अतः पद बदलना आवश्यक नहीं । आप अपनी जानकारीके अनुसार, बिना किसी पक्षपातके, ईमानदारी और सचाईके साथ, किसी प्रकारकी मान-बढ़ाई या अर्थके लोभमें न पड़कर एवं किसीसे भी भयभीत न होकर अभियुक्तोंको कानूनानुसार दण्ड देते हैं और मुकदमोंको जहाँतक बनता है जल्दी-से-जल्दी निपटा देते हैं, यह बड़ी अच्छी बात है । इस भावसे किये जानेवाले न्यायमें निरपराधको दण्ड मिलनेकी गुंजाइश कम रहती है ।

( ३ ) प्रतियोगिता परीक्षामें बैठना, अपना पद बढ़ानेके लिये उचित चेष्टा करना तो बहुत ही आवश्यक है,



उसे करना ही चाहिये एवं उन्नतिसे निराश भी नहीं होना चाहिये। पर परिणाममें जो कुछ हो, उसे भगवान्की कृपा समझकर हर हालतमें प्रसन्न रहना चाहिये। ऐसी कोई भी चेष्टा नहीं की जानी चाहिये, जो धर्मके विरुद्ध हो तथा जिसमें झूठ, कपट आदिकी क्रिया हो या किसीका अहित हो।

( ४ ) आध्यात्मिक कल्याणके मार्गमें प्रगतिकी प्रेरणा तो प्रभुकी कृपासे जीवनकी प्रत्येक घटनाद्वारा मिलती रहती है। साधकको चाहिये कि वह प्रभुपर अटल विश्वास करके उनका हो जाय। एक प्यारे प्रभुको ही अपना माने। सबके साथ जो माना हुआ सम्बन्ध है, उसे तोड़कर अपने नित्य-सम्बन्धी प्रभुसे सम्बन्ध जोड़ ले; ऐसा करनेसे उनके स्मरणमें स्वाभाविक रुचि बढ़कर उनका प्रेम बड़ी सुगमतासे प्राप्त हो सकता है।

( ५ ) दूसरोंके दोषोंको न देखना, किसीसे भी घृणा या द्वेष न करना, अपने दोषोंको सावधानीके साथ देखना और उनसे दुखी होकर उनको मिटा देना, दूसरेके दोषोंको देखकर उसमें रस न लेना तथा किसीकी भी निन्दा न तो करना और न सुनना ही दोषोंकी निवृत्तिका उपाय है।

शेष भगवत्कृपा।

( २ )

सप्रेम हरिस्मरण। आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

१—श्रद्धापूर्वक भगवान्को मानकर अपने आपको उनके समर्पण कर देना तथा अन्य किसी भी व्यक्ति, पदार्थ आदिको अपना न मानकर एकमात्र भगवान्को ही निरन्तर स्मरण करना—यह संक्षेपमें भक्तिके साधन-का स्वरूप समझना चाहिये।

२—‘मनमें संकल्प-विकल्प होते रहते हैं, अहं-

भावना बनी है एवं दूसरोंकी त्रुटियाँ देखनेमें सुख मिलता है’—इन दोषोंसे छुटकारा वास्तवमें इन्हें अवगुण मानना इनसे घृणा करनेपर स्वयमेव हो जाता है। संसार आसक्ति रहनेसे ही तरह-तरहके संकल्प-विकल्प होते हैं। अतएव संसारको नाशवान्, क्षणभङ्गुर एवं अनिश्चित समझकर उससे वैराग्य करना चाहिये। अहं में यह भावना हमारी मानी हुई है, वास्तवमें यह बात नहीं है। इसमें अज्ञान ही कारण है, जिसका नाश करने होते ही हो जाता है। इसलिये ईश्वरविषयक ज्ञानके लिये सत्सङ्ग करना चाहिये एवं धार्मिक पुस्तकों की गीता आदिका स्वाध्याय करना चाहिये और उनके भावोंको समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। दूसरे दोषोंका दर्शन करनेमें सुख मिलता है, यह भी अज्ञान ही है। इसका परिणाम बहुत बुरा है। दूसरोंके अवगुण देखनेसे वे अवगुण अपनेमें आते हैं एवं किन्तु अवगुण देखे जाते हैं, उससे द्वेष होता है। इसलिये सबके गुणोंका ही दर्शन करना चाहिये ताकि अधिकारिक प्रेम बढ़े एवं अपनेमें गुणोंका ही प्रवेश हो जाय। जबतक भगवान्की प्राप्ति नहीं होती है, तबतक अवगुण किसी-न-किसी रूपमें रह ही जाते हैं। भगवान्के मिलनेमें बाधक होते हैं। इसलिये अवगुणोंका परित्याग करने तथा ईश्वरकी प्राप्ति करने लिये शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिये।

३—भगवान्का जो हमसे नित्य सम्बन्ध है, उसे स्वीकार कर लेनेपर अर्थात् भगवान्को सर्वस्व मान लेनेपर ही उनका नित्य स्मरण बना रह सकता है जो भगवान्से नित्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है, उसे किये कोई वातावरण बुरा नहीं रहता है। उसे सुख मिल जाती है—इसमें तो कहना ही क्या है; तब ही-साथ प्रभुका प्रेम भी मिल जाता है।

शेष भगवत्कृपा।



( ३ )

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपके प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार है—

( १ ) सृष्टि पहले कभी नहीं थी—ऐसी बात नहीं है । सृष्टि और प्रलय अनादि हैं । प्रलयके बाद जब भगवान् पुनः नयी रचना करते हैं, तब वे पूर्वकृत कर्मोंके फलरूपमें नाना सृष्टिको उत्पन्न करते हैं । भगवान्का मन न तो चञ्चल होता है, न वे किसीको अपनी ओरसे कष्ट देते हैं । वे तो सबपर कृपा-ही-कृपा करते हैं । अतः जीवोंके दुःख-सुखके विषयमें भगवान्पर दोषारोपण करना अज्ञता है ।

( २ ) बुरा कर्म करनेवालेको जो भगवान् दण्ड देते हैं, यह भी उनकी कृपा ही है । वे तो दण्ड देकर भी उसका सुधार ही करते हैं । यदि वे अपना अपराध क्षमा कराना चाहें, पुनः अपराध न करें तो भगवान् क्षमा भी कर देते हैं ।

( ३ ) भगवान्के 'हुक्म' बिना पेड़का एक पत्ता भी नहीं हिलता—यह सर्वथा सत्य है । भगवान्ने ही हरेक व्यक्तिको कर्म करनेकी शक्ति दी है और उन्होंने ही साथ-साथ विवेक दिया है तथा कर्मका विधान भी बना दिया है । उस शक्तिका सदुपयोग करना या दुरुपयोग करना—इसमें केवल मनुष्यको दया करके इसलिये स्वतन्त्रता दे दी है कि वह शक्तिका सदुपयोग करके अपना उद्धार कर ले । पर कोई भगवान्की कृपासे प्राप्त विवेक और सामर्थ्यकी अवहेलना और दुरुपयोग करे तो उसका बुरा फल उसीको भोगना पड़ता है ।

भगवान् सबमें व्यापक हैं, इसीलिये वे सबको सत्प्रेरणा देते रहते हैं । पर उस प्रेरणाका अनादर करके कोई न माने तो भगवान् जबरदस्ती नहीं करते, दण्ड देते हैं; यह उनका विधान है ।

जो पाप ( बुरा ) कर्ममें बिना इच्छाके मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है, उसमें भगवान्का हाथ नहीं है, कामका हाथ है और यह काम मनुष्यका महान् शत्रु है । यह बात भगवान्ने गीता अध्याय ३ श्लोक ३६ से ४३ तक अर्जुनके पूछनेपर अच्छी तरह समझायी है । जो बुरा काम आप कामकी प्रेरणासे करेंगे उसके जवाबदार अवश्य आप रहेंगे और रहते हैं । उसका बुरा फल आपको भोगना पड़ता है, इसमें कोई संदेह नहीं है । जो अच्छे कर्मोंका फल भोगेगा उसीको तो बुरेका फल भोगना पड़ेगा; दूसरा कौन भोगेगा ?

भगवान्की प्राप्ति होनी ही मनुष्य-जन्मकी सार्थकता है; यह सर्वथा सत्य है ।

जो इस संसाररूप मेलेसे निकलना चाहता है, इसमें फँसा रहना नहीं चाहता, जिसे इसमें रस नहीं आता, जो भगवान्के वियोगको सहन नहीं कर सकता, उसे परमदयालु भगवान् अवश्य ही हाथ पकड़कर अपने पास खींच लेते हैं; इसमें कोई संशय नहीं । पर कोई उनके वियोगमें व्याकुल हो तब तो ।

भगवान् यह नहीं देखते कि इसकी बुद्धि प्रबल है या कमजोर । वे देखते हैं उसके हृदयका भाव । अतः हरेक मनुष्य भगवान्को प्राप्त कर सकता है, इसमें कोई शेष भगवत्कृपा ।

कठिनाई नहीं है ।

## भूल-सुधार

'कल्याण' के गत पाँचवें ( मई १९७१के ) अङ्कके पृष्ठ ८९५ के दाहिने स्तम्भकी नीचेसे ११वीं पंक्तिमें संत सुजानके नामसे जो वाक्य उद्धृत किया गया है, वह वास्तवमें महर्षि सनत्सुजातके द्वारा राजा धृतराष्ट्रके प्रति कहा गया था, न कि संत सुजानके द्वारा महाराज युधिष्ठिरसे । दृष्टिदोषसे छपी हुई इस भूलको कृपया पाठक-पाठिकाएँ सुधार लेंगी ।

जून ६—

—सम्पादक



# उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण

( लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा )

[ गताङ्क पृष्ठ ११७ से आगे ]

( २ ) यह उपेक्षा क्यों ?

अभी कुछ दिन पहलेतक तो पाश्चात्योंकी भरपूर चेष्टा यही थी कि उपपुराणों क्या, पुराणोंका भी पठन-पाठन या उसपर श्रद्धा-विश्वास कहीं किसी प्रकार कुछ भी न रहने पाये। वे पुराणोंको 'गप', 'नानीकी कहानी' और 'बच्चोंकी बातें' कहते थे।\* भारतीय इतिहासके लिये उन्होंने इन्हें सर्वथा अप्रमाण सिद्ध करनेका प्रयत्न किया और ईंट, पत्थर, मुद्रा, शिलालेख एवं खुदाइयोंसे निकाली गयी चीजोंके आधारपर मनगढ़ंत इतिहास लिखना आरम्भ किया।† उन्हें केवल भारतकी पराजयका ही इतिहास लिखना अभीष्ट था। पुराणोंमें भारतको विश्वके समस्त आर्यजाति, आर्यधर्म, भाषा, संस्कृति आदिकी उद्गमभूमि, मूलस्थान बतलाया गया था। इन पुराणोंमें भारतीयोंकी दिग्विजयोंकी शौर्यगाथा भरी थी, सच्चा इतिहास था। भला, इसे पाश्चात्यलेख

\* "The Purāṇas are 'folk-tales', 'Childish legends' without an order and any value and the Hindoos do not possess any historical sense." × × ×

"Until these last years, neither in universities nor in the official books of western indologists appeared any systematic studies on the Purāṇas."

( J. Roger Revier - 'Western Orientalism and the Purāṇas' )

† "The earlier writers of ancient history with a few exceptions neglected the study of the Puranic literature for want of confidence in its authenticity. Sir William Jones, at the end of the eighteenth century, drew the attention of scholars to the historical value of the literature, when the source of the African river Nile could be traced with the help of the Puranic account of the Nile river in Kuśadwipa, i.e., the modern Nubi. During the first half of the nineteenth century, Wilkins, Captain Trozer, Dr. Mill, James Princep and others opened a new avenue for historical research by the discovery of available epigraphic and numismatic treasures. This also led to the neglect of Puranic studies. ( S. D. Gyani: Introduction to the 'Agni-Puran—A study'—p. 35 ).

कैसे सहन करते हैं? पर पार्जितरने देखा कि यह अंधेरा

† 'अमृतवाजारपत्रिका' तथा 'Northern India Patria' ६-६-७१ के परिशिष्टाङ्कके पृष्ठ ३ पर सुकुमारी भट्टनायक पुस्तक 'Indian Theogony' की जोगेशचन्द्रद्वारा समीक्षा प्रकाशित है। 'Truth' १८-६-७१ के पृष्ठ १४७ पर भी इसका कुछ उद्धृत है। इन सबमें अंग्रेजोंकी कूटनीतिपर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। वास्तवमें द्रविडवि जाति-भाषा-प्रान्त-भेद, उत्तर-भारत-भेद आदि अनेक झगड़ोंकी जड़ यह अंग्रेजोंका निराला प्रचार ही है कि 'आर्य मध्यएशियामें रहते थे, प्राकृतभाषा संस्कृतकी जड़ है' इत्यादि। इनकी कुछ मूल पंक्तियोंको लिखते लोभ संवरण नहीं हो सका, अतः नीचे दी गयी है श्रीजोगेशचन्द्रजी लिखते हैं:—

"The Westerners suffer from some not unnatural complexes and inhibitions to accept the view that India is the land of their forefathers; the religion, languages and culture were all that they took with them from India. This attitude is mainly responsible for propagating the theory that the Aryans came to India from Central Asia, while some of them went to the other parts of the world. This attitude has again led them to designate their languages Indo-European family of languages in preference to the Aryan family of languages and even to construct a theoretical language, very akin to Sanskrit, as their parent language. But they are not prepared to accept Sanskrit as such."

"For over a century we have been regaled with the story of cattle-raising Cossack type of people living in Central Asia, who suddenly broke away into Europe on the west to become the progenitors of modern Europe, to Russia and India and the South; when they entered India they slaughtered the far more civilized Dravidians, destroyed their civilization and in doing so became civilized themselves; what if the far more civilized Dravidians, who still hold the South India, never mention any such disaster, never display any book or literature of that period, never even mention clash;...A tremendous literature grew on this hypothesis. The idiosyncrasy 'Adi Dravida movement' was founded on the



बहुत दिनोंतक नहीं चल सकेगा; अतः उन्होंने पुराणोंका भी आश्रय लेकर इतिहासपर चार पुस्तकें लिख डालीं। अश्वमेधकी नील नदीके उद्गमके अन्वेषणमें भी पुराणोंसे सहायता मिली थी। अतः विलियम जोन्सने भी इनका एशियाटिक सोसाइटीद्वारा प्रकाशन आरम्भ कराया। तबसे लोगोंका पुराणोंकी ओर कुछ ध्यान जाने लगा। पर म्लेच्छ-वचन शासनमें प्रायः हजारों वर्षोंकी उपेक्षा आदिके कारण उपपुराणोंका साहित्य तो प्रायः सर्वथा अलभ्य-सा हो गया। डा० हाजराने उधर प्रयत्नका श्रीगणेश तो किया, पर वह प्रगति नहीं कर सका और उपपुराणोंकी समस्या कुछ भी सुलझ न पायी।

कुछ विद्वानोंने दश-लक्षणात्मक महापुराणोंको ही वादका माना है। कुछने लेखके प्रथमांशमें दी हुई उपपुराणोंकी तालिकाके अन्तर्गत कूर्म, वामन, ब्रह्माण्ड, हरिवंश आदिको छुट (अन्य) पुराण माना है। कुछने इन्हें भागवत, महाभागवत, देवीभागवत, देवीपुराण आदि-जैसे (एकके ही अनेक पुराण, उपपुराण) होनेकी कल्पना की है। (इनमेंसे तीन पुस्तकें तो प्राप्य हैं, पर देवीपुराण इधर गायब हो रहा है।) स्कन्दपुराणके भी खण्डात्मक तथा स्कन्धात्मक दो रूप प्राप्त हैं ही। पर मानवपुराण, वासिष्ठपुराण आदिसे तो मनुस्मृति, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थोंका ही अनुमान होता है; क्योंकि इस प्रकारकी पुस्तकोंके निबन्ध-ग्रन्थोंमें भी उल्लेख या उद्धृत वचन आदि (references) प्राप्त नहीं होते। इसके अतिरिक्त औशनस, कापिल, दौर्वासस, वारुण, परानन्द, रेणुकापुराण आदि नाम इतने कम परिचित हैं कि ये कहीं पुस्तकालयादिमें भी न होंगे। मोरकेद्वारा प्रकाशित 'स्मृतिसंदर्भ'में इनमेंसे कुछ नामोंकी कुछ स्मृतियाँ अवश्य हैं।

### ( ३ ) श्रीविष्णुधर्मोत्तरकी समस्या

अस्तु, इन उपपुराणोंमें श्रीविष्णुधर्मोत्तर इस समय शुद्ध रूपमें प्राप्त है, यद्यपि सर्वमान्य वैष्णव-साहित्यमें

hypothesis. Sanskrit was declared to be a successor of Prakrit only. This book shows a glimmer of sense and one feels that this long reign of lie founded by European scholars, nurtured by Max-Muller, avidly swallowed by our own imitators—that long reign is now about to end."

( 'Truth'—Calcutta—XXXIX. 10 )

श्रीविष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत, श्रीवैष्णवधर्मशास्त्र (विष्णु-धर्मसूत्र—इसपर नन्दपण्डितकी संस्कृतकी टीका है। इसके अतिरिक्त वैष्णवधर्मशास्त्र नामका अंश महाभारत अश्वमेध-पर्वमें है—देखिये, दाक्षिणात्य संस्करण या गीताप्रेसके संस्करणका अन्तिम भाग। यह 'बृद्धगौतमस्मृति'के नामसे अलग स्वतन्त्र ग्रन्थरूपमें भी प्रकाशित है; पर इन दोनोंमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं है), विष्णुरहस्य, वैष्णवरत्नाकर, विष्णुयामलतन्त्र, वैष्णवकर्णाभरणसंग्रह आदि ग्रन्थ मुख्य हैं। पर इनमें श्रीविष्णुधर्मोत्तर ही सबसे बड़ा है। इसके ढेर-के-ढेर वचन हेमाद्रि, स्मृतिचन्द्रिका, निर्णयसिन्धु, स्मृतिरत्नाकर, कृत्यकल्पतरु, मदनपारिजातादि निबन्धों तथा प्राचीन टीकाओंमें भी प्राप्त होते हैं। इसमें ८०० तो अध्याय हैं तथा कम-से-कम २० हजार श्लोक हैं। रोचकता तथा सौन्दर्यमें भी यह किसीसे न्यून नहीं है। भगवान् विष्णुकी महिमा तो इसमें सर्वत्र निरूपित है। संगीत, साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला एवं विश्वविज्ञानका भी यह महाकोश या विश्वकोश है। धर्म तथा आचारपर इसमें सैकड़ों अध्याय हैं। (द्रष्टव्य—'कल्याण'का 'धर्माङ्क', पृष्ठ ३०९) वेङ्कटेश्वर प्रेसकी प्रतिमें ऊपर टाइपिलपर इसे 'महापुराण' कहा गया है; पर पुष्पिकामें कुछ नहीं है। यह प्रति केवल दो पाण्डुलिपियोंके आधारपर छपी थी। अतः कुछ अंश खण्डित है। बड़ौदामें इसका प्रकाशन आरम्भ हो गया है, पर ग्रन्थ पूरा नहीं हुआ है। अतः इसके संशोधनकी समस्या अभी शेष ही है।

### ( ४ ) पुराणोंमें श्रीविष्णुधर्मका उल्लेख

पुराणोंमें भी उपपुराणोंके विषयमें बहुत कुछ सामग्री प्राप्त है। विष्णुपुराण ३।६।२४—३० में पुराणाचार्योंकी विस्तृत सम्प्रदायपरम्पराका उल्लेख है। मत्स्यपुराण ५३।५९—६३ में नरसिंहपुराणको पद्मपुराणका ही उपभेद या उपपुराण बतलाया गया है। इसी प्रकार साम्ब-पुराणको भविष्यपुराणका, नन्दिपुराणको स्कन्दपुराणका और आदित्य या सौरपुराणको भी कहीं ब्रह्मका और कहीं भविष्यका उपभेद या उपपुराण बताया गया है—

पाद्ये पुराणे तत्रोक्तं नरसिंहोपवर्णनम् ।  
तच्चाष्टादशसाहस्रं नरसिंहमिहोच्यते ॥  
नन्दाया यत्र माहात्म्यं कार्तिकेयेन वर्ण्यते ।  
नन्दीपुराणं तल्लोकैराख्यातमिति कीर्त्यते ॥  
इत्यादि ( मत्स्य० ५३।५९—६०; सौरपुराण ७।१२ )



इसी प्रकार नारदपुराण १५।१६—२२ में विष्णु-धर्मोत्तरको विष्णुपुराणका ही भाग बतलाया गया है। इस अध्यायके १से १६श्लोकोंतक तो विष्णुपुराणके ६ अंशों की सूची है; फिर, जैसा कि हम पहले लिख आये हैं, स्पष्ट बतलाया गया है कि इसके आगे श्रीविष्णुधर्मोत्तर है और वह धर्म, अर्थ, व्रत, यम-नियम, ज्योतिष, वेदान्तादि सर्वलोकोपकारी विद्याओंका महाकोश है—

अतः परं तु सूतेन शौनकादिभिरादरात् ।

पृष्टेन चोदिताः शश्वद्विष्णुधर्मोत्तराह्वयम् ॥

नानाधर्मकथाः पुण्या व्रतानि नियमा यमाः ।

धर्मशास्त्रं चार्थशास्त्रं वेदान्तं ज्योतिषं तथा ॥

तथा "नानाविद्यास्तथा प्रोक्ताः सर्वलोकोपकारिकाः ॥

( नारदपुराण, पूर्वभाग १५।१७—२० )

लिङ्गपुराणको छोड़कर सभी पुराण विष्णुपुराणको २३ या २४ हजार श्लोकोंका ग्रन्थ बतलाते हैं, पर गीताप्रेस, बंगवासीप्रेस, नवलकिशोरप्रेस तथा वेङ्कटेश्वरप्रेस आदिके संस्करणोंमें विष्णुपुराणमें केवल ६ हजार ४ सौ श्लोक ही प्राप्त हैं।\* अतः निश्चय ही नारदादिपुराणोंके अनुसार इसमें विष्णुधर्मको भी सम्मिलित मानना होगा। इस प्रकार भी पुराण-उपपुराणोंमें कोई विशेष भेद नहीं दीखता।

### ( ५ ) खिलांश भी पुराण ही हैं।

‘कल्याण’ ४५।३ में ‘नरसिंहपुराण’ शीर्षक लेखकी अन्तिम टिप्पणीमें वेद-पुराणोंके खिलभागोंकी चर्चा है। इसी प्रकार सौर आदि उपपुराणोंमें उन्हें पुराणोंका खिलांश कहा

\* डा० काणेने इसपर कई मतोंकी बात लिखी है, यथा—

“Viṣṇuchitta says ( on Viṣṇupurāṇa III. 6. 20—22 ) that the extent of Viṣṇupurāṇa is various, given as 8, 9, 10, 22 & 24 thousand ślokas, while the Bhāgavata, the Brahmasaivarta and the Padmapurāṇa say that it contains 15 thousand. The Skanda ( V. 3 ) and the Matsyapurāṇa ( 53 ) say that it contains 16 thousand.”

( History of Dharmasastra, Volume I, p. 62 )

पर टीकाकारका यह कथन ठीक नहीं है। डा० काणेको भी पुराण देख लेने चाहिये थे। वास्तवमें ( लिङ्गपुराणको छोड़ ) विष्णुपुराणकी श्लोकसंख्या सर्वत्र प्रायः २३ सहस्र ही निर्दिष्ट है। दृष्टव्य, अग्निपुराण २७२।३, इत्यादि।

गया है।\* जैसे श्रीसूक्तादि ऋग्वेदके ही अंश हैं वैसे ही ये खिलांश भी इन पुराणोंके ही अंश हैं। महाभारत १२।३१८।१० तथा भागवत १।५।४ के ‘प्रतिष्ठास्यति ते वेदः सखिलः सोत्तरो द्विज’ आदिमें यही बात कही गयी है। इसकी टीकामें पण्डित नीलकण्ठ तथा तैत्तिरीयारण्यक, प्रपा० १०।१ के आरम्भमें आचार्य सायणने भी ऐसा ही अर्थ किया है। इसी प्रकार खिलवर्ण होनेपर भी हरिवंशको भी महाभारतका ही अंश माना जाता है। ‘खिल’ न रहे तो वस्तु निखिल या अखिल न बन सके। अतः महाभारतके पारायणमें ‘हरिवंश’का भी पाठ अनिवार्य माना गया है। इसी प्रकार ‘खिल’ भागोंके बिना वेदोंका पाठ भी अपूर्ण ही रहता है। शुक्लयजुर्वेदका तो बीचका २६वाँ अध्याय ही ‘खिल’ संज्ञक है—‘इदानीं खिलान्मुच्यन्ते’ ( महीधरभाष्य )। ऐसी दशामें यदि विष्णुधर्मोत्तर आदि उपपुराण खिलांश हों तो भी परम पूज्य हैं।

### ( ६ ) रचनाकाल

पाश्चात्य दृष्टिकोणके अनुसार डा० हाजराने इसका समय ४थी और ५वीं शतीके बीचका माना है—

“I am inclined to place the date of composition of the Viṣṇudharmottara between 400 and 500 A. D. (‘Aśwamedha’ p. 199 and the Journal of the University of Gauhati, Assam Vol. III, 1952, p. 42 )

किंतु यह पाश्चात्य दृष्टिकोण है। इसके अनुसार तो ब्रह्मवैवर्तको १४वीं शतीतककी रचना माना गया है। इस तरह अपने मतानुसार ये लोग ‘विष्णुधर्म’को परम प्राचीन ग्रन्थ मानते हैं; पर वास्तवमें इसका रचनाकाल ‘महाभारत’ युद्धके कुछ ही बाद अर्थात् आजसे ५ सहस्र वर्ष पूर्वके आस-पास होना चाहिये।

\* According to Saurapurāṇa the Upapurāṇas are the Khilas or supplements of the Purāṇas and it also calls itself as the Khila of Brahmapurāṇa:—

खिलान्युपपुराणानि यानि चोक्तानि सूरिभिः ।

इदं ब्रह्मपुराणस्य खिलं सारमनुत्तमम् ॥

( Saurapurāṇa I. 12; ‘Purāṇas and their references’ )



## ( ७ ) इसकी आचार्य-परम्परा

भगवान् व्यास ही पुराणोपपुराणके आद्याचार्य हैं । रोमहर्षण इनके शिष्य थे । इन्हें लोग 'सूत' भी कहते थे । इनके सुमति, अग्निवर्चा, मित्रायु, शांसपायन, अकृतव्रण और सार्वणि—ये छः शिष्य थे । इनमें पिछले तीनों संहिताकर्त्ता रहे हैं । पर इनका मूल ग्रन्थ रोमहर्षणका ही संस्करण था । इन सबके सम्मिलित प्रयासके परिणाम ही ये पुराण-उपपुराण हैं ।

## ( ८ ) विष्णुधर्मकी महिमा

इसकी महिमा अनन्त बतलायी गयी है । इसके एक

अध्यायके पाठका फल पुष्करतीर्थमें उपवास कर चारों वेदोंके पारायण एवं श्रवण करनेके समान है । उसके सब पितर भी तर जाते एवं कृतकृत्य हो जाते हैं—

श्रुत्वाध्यायं तदाप्नोति पुराणस्यास्य भक्तिः ।

अब अगले अङ्कमें इसमें निरूपित विस्तृत वैष्णवादि सिद्धान्तों तथा ज्ञान-विज्ञानके सार तत्त्वोंपर संक्षेपसे विचार किया जायगा तथा यह भी दिखलाया जायगा कि इससे प्रभावित होकर ठीक इसी प्रकारकी कितनी विशाल साहित्य-राशिका आगे चलकर निर्माण हुआ ।

( क्रमशः )

# आध्यात्मिक साधनाके त्रिदोष

( लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा )

प्रत्येक प्राणी उन्नतिकी ओर अग्रसर होना चाहता है, पर जहाँतक बाधक तत्त्वोंका सम्पर्क परिज्ञान न हो एवं उनको दूर न किया जाय, उन्नति असम्भव है । आध्यात्मिक उन्नतिके लिये भी उसके बाधक तत्त्वोंका जानना परमावश्यक होता है । इस लेखमें जैसे तीन दोषोंपर संक्षेपसे प्रकाश डाला जा रहा है—( १ ) ममत्व, ( २ ) कपट और ( ३ ) अवगुण-प्राप्ति दृष्टि । जहाँतक ये दोष रहते हैं, वहाँतक साधना अग्रसर एवं फलवती नहीं होती ।

१. ममत्व—जहाँतक सांसारिक पदार्थोंमें आत्माकी आसक्ति रहेगी, आत्माका लक्ष्य बहिर्मुखी रहनेके कारण आत्मानुभवका मार्ग बंद ही रहेगा । इसलिये सारे भौतिक पदार्थों एवं भावोंसे अपनी आत्माको अलग, भिन्न समझकर उनके आकर्षणको रोकना बहुत ही आवश्यक है । पदार्थोंकी आसक्ति हटते ही आत्माके स्वरूपका दर्शन एवं अनुभव होगा, जो आत्मोन्नतिका प्रथम सोपान है ।

जिन-जिन वस्तुओंको आत्मा अपनी समझता है, उनकी प्राप्ति, अभिवृद्धिमें हर्ष एवं विनाश तथा

क्षीणतामें शोक होता है । जहाँ ममत्वका भाव नहीं, वहाँ हर्ष और शोकका प्रादुर्भाव नहीं होता । कचित् होता भी है तो अत्यल्प एवं क्षणिक । आत्म-द्रव्य वास्तवमें इन पाञ्चभौतिक द्रव्योंसे सर्वथा भिन्न है और दृश्यमान सभी पदार्थ-भौतिक हैं; क्योंकि पुद्गलके सिवा पदार्थ अरूपी हैं । अरूपी पदार्थपर आसक्ति नहीं होती । जिसे हम देखते हैं, सुनते हैं, चखते हैं, सूँघते हैं और स्पर्श करते हैं, अर्थात् पाँचों इन्द्रियोंद्वारा जिनके साथ हम अपना किसी प्रकारका सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उन्हींका मन विचार करता है, अच्छे या बुरे, मेरे या तेरेकी कल्पना करते हैं और उस कल्पनाके द्वारा ही आत्मा अपने स्वरूप ( विचार ) से च्युत होकर उनके प्रति आकर्षित होता है । इसीलिये 'मैं और मेरा' इस मोहका मूल माना गया है ।

पर पदार्थके संयोगसे आत्मा विभाव दशाको प्राप्त होता है । इसलिये सर्वसङ्ग-परित्याग—अपरि-ग्रहता, निर्गन्धताको जैनधर्ममें प्रमुख स्थान दिया गया है । जैन तीर्थंकर स्वयं इनका आदर्श उपस्थित



करते हैं, अर्थात् साधनाका प्रारम्भ सर्वसङ्ग-परित्यागसे ही करते हैं। आसक्तिका परिहार पदार्थों—द्रव्योंके स्वरूपज्ञान एवं परिणामोंके ज्ञान-द्वारा होता है। इनका मूल तन्त्र है—‘एगोहू नत्थिमे कोह, नाहमन्नस्स कस्सवि’ मैं किसी का नहीं, मेरा कोई नहीं—मेरी आत्मा अकेली है। मनुष्य जरा-सा विचार करे तो इस अकेलेपनका सहज अनुभव हो जाता है। जन्मके समय आत्मा अकेला ही उत्पन्न होता है। मृत्युके समय भी सारे पदार्थोंको छोड़कर वह अकेला ही परलोक जाता है। रोगादि दुःख भी आत्माको अकेले ही भोगने पड़ते हैं। अतः आत्मा अकेला ही है। बाह्य संयोग—धन-दौलत, कुटुम्ब-परिवार—यहाँ तक कि देह भी अपना नहीं है। तब उनपर ममत्व रखना मूर्खता एवं अज्ञानता नहीं तो क्या है? योगी पुरुषोंने सबसे बड़ी भूल इसीको बतलाया है। जो पदार्थ अपने नहीं, उन्हें अपना मान लेना अपने स्वरूपको भूल जाना है।

बहिर्मुखी वृत्तिके कारण आत्माकी सारी शक्ति बाह्य पदार्थोंकी ओर लगी है और वह उनकी लाभ-हानिमें ही सुख-दुःख मान बैठा है, अन्यथा सुख अथवा आनन्द कहीं बाहरसे आनेवाली चीज नहीं। अपने वास्तविक स्वरूपके अज्ञानके कारण ही वह इधर-उधर दौड़-धूप कर रहा है। यदि मैं अकेला हूँ, कोई भी चीज मेरी नहीं है, तब उनपर आसक्ति कैसी! आनन्द यदि मेरे पास है, तो उसकी प्राप्ति के लिये दौड़-धूप क्यों? इसपर विचार करिये—पौद्गलिक (भौतिक) सभी पदार्थ विनाशी हैं, आत्मा अरूपी एवं अविनाशी है, दृश्यमान सभी चीजें पुद्गलकी बनी हुई हैं; अतः ममत्वको हटाकर आत्माका अन्तर्मुखी होना आध्यात्मिक साधनके लिये परमावश्यक कार्य है।

२. कपट—वस्तुके स्वरूपको अन्य प्रकारसे दिखाने का प्रयत्न ‘कपट’ है। मेरे हृदयमें कुछ और है, बोलता-कुछ और हूँ और कहूँगा कुछ और होगा—यह आत्मोन्नतिका परम बाधक है। इस प्रपञ्च-जाल में आत्मा बड़ी मलिन हो जाती है। भूमिकाकी युक्ति बिना सुभग चित्रोंका आलेखन सम्भव नहीं। इस प्रकार आत्माका सरल—निष्कपट होना उसकी भूमिका शुद्धिका द्योतक है। जो अधिक बकता है, उसके पीछे भ्रम फैलानेकी वृत्ति काम करती है, उसके सद्वृत्तियाँ पनप नहीं सकतीं। चित्त बहिर्मुखी बन रहता है। कैसे अपने दोषोंको छिपाया जाय, दूसरों को ठगा जाय—इसीमें चित्त फँसा रहता है। सुविचारोंको अवकाश कहाँ! जो पापी है और अपने पापको छिपानेका प्रयत्न कर लोगोंके समक्ष अपने धर्मा दिखलानेकी कोशिश करता है, उसका सुख बहुत ही कठिन है।

३. अवगुणग्राही दृष्टि—यह भी एक बड़ा भ्रम अवगुण है। इसके कारण मनुष्य अवगुणोंकी ओर अग्रसर होता है। ऐसा आत्मा हजार गुणोंको न देखता, बल्कि छिन्दान्वेषी होकर अवगुणकी ओर झुकता है। यह नहीं सोचता कि दोष हम सबके हैं, किसीमें कम और किसीमें अधिक। और पाप दोषोंको देखनेसे लाभ ही क्या? एक संतने सन्तम्बन्धमें बहुत ही सुन्दर कहा है—‘अरे आत्मा! तू जलती हुई अग्निको क्या देखता है? स्वयं तेरे पैरोंमें अग्नि सुलग रही है, उसे देख। पराये में तेरे कपड़े धोनेसे वे उज्ज्वल कैसे होंगे! थोड़े-बड़े अवगुण सभीमें होते हैं, तेरेमें भी हैं; तब अपने दोषोंको क्यों नहीं देखता, परायी निन्दामें क्या लगा है? निन्दा करनेकी यदि तेरी आदत पड़ गयी है, तो अपने दोषोंकी निन्दा कर। अतः अपने दोषोंकी ओर दृष्टि डाल और दूसरोंकी निन्दाको छोड़।’



‘मनुष्य जैसे विचारोंमें रहता है, वैसा ही बन जाता है।’ अवगुणोंको ढूँढ़नेकी दृष्टि रखनेसे वह स्वयं अवगुणोंका भाजन हो जाता है। इसलिये इस दृष्टि-दोषका निवारण कर हमारे लिये अपनी दृष्टिको गुणप्राहिणी बनाना आवश्यक है। अवगुण देखने हों तो अपने देखो, जिससे उन्हें छोड़नेकी भावना जगे तथा आत्मा दोषरहित बने। औरोंके तो गुण ही देखो, जिससे स्वयं गुणी बनो

और गुणोंके प्रति तुम्हारा आकर्षण बढ़े।

इन तीनों दोषोंकी विवेचनाका सार यही है कि इनके कारण आत्माकी दृष्टि पदार्थोंकी ओर संलग्न रहती है, जिससे आत्माको बढ़नेका अवकाश ही नहीं मिलता, विकास नहीं होता। अतएव बहिर्मुखी वृत्तियोंकी ओरसे हटकर अन्तर्मुखी होनेका लक्ष्य रखा जाय, ममत्व, कपट और अवगुणप्राहिणी दृष्टिसे बचा जाय, तभी आत्मोन्नति होगी।

## परम वैष्णव नारद

( लेखक—डा० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम्० ए०, पी०-एच्० डी० )

भारतीय साहित्य-परम्परामें देवर्षि नारद सर्वाधिक चर्चित पौराणिक महापुरुष हैं, जिनका व्यक्तित्व विभिन्न मार्गस्थलियोंका संधिस्थल है, अतः विचित्र, अद्भुत और अद्वितीय हैं। ऋषि तीन प्रकारके होते हैं—ब्रह्मर्षि, देवर्षि और राजर्षि। इसमें भी नारद, कणाद-कपिल, शुक्रदेव, सनकादिक, वाल्मीकि, भृगु, पराशर, वसिष्ठ, अगस्त्य, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र, भरद्वाज, अङ्गिरा, जाबालि आदिको, जिनका उल्लेख पुराणोंमें प्राप्त है, ऊँचे आसनपर प्रतिष्ठित किया गया है। किंतु इन ऋषि-मुनियोंमें नारदने सबसे अधिक सम्मान पाया है और वे सर्वत्र कहीं-न-कहीं दृष्टिगोचर हो जाते हैं। जब कि अन्य ऋषियोंका जीवन दो-एक गुणों अथवा दो-एक विशिष्ट कार्योंसे सम्पृक्त है, नारदजीकी जीवनपट्टी विविध प्रकारके रंगोंसे रञ्जित है। वे गायनाचार्य हैं और सर्वदा अपनी वीणाके स्वरोंमें हरि-गुण-गान करते रहते हैं; किंतु विचित्रता यही है कि किसी स्थानपर दो-चार दिन या दो-चार प्रहरके लिये जमकर हरि-कीर्तन नहीं करते, वरन् निरन्तर गतिशील हैं और गाते-गाते एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँच जाते हैं। नारदजीकी गति अव्याहत है और वे कहीं भी पलक मारते पहुँच सकते हैं। वे परम वैष्णव हैं और भक्तोंमें उन्हें स्थूणीय उच्च आसन मिला है। भक्तिके सम्यक् प्रसार-प्रचारार्थ उन्होंने ‘भक्ति-सूत्र’ नामक ग्रन्थकी रचना की, जो भक्तिमार्गके प्रौढतम दो सिद्धान्त-ग्रन्थों ‘नारद-कृत

भक्तिसूत्र’ और ‘शाण्डिल्य-कृत भक्तिसूत्र’में प्रतिष्ठित है। नारदकृत दूसरा ग्रन्थ ‘पञ्चरात्र’ है। वाल्मीकि-रामायण और श्रीमद्भागवतके प्रेरणास्रोत भी नारद ही हैं। नारद ही वाल्मीकिको रामकथा सुनानेवाले हैं। व्यासमुनि सप्तदश पुराणोंकी रचनाके पश्चात् भी अशान्त, असंतुष्ट तथा तप्त थे। वे सोच न पा रहे थे कि कौन-सा कार्य करूँ, जिससे उनके हृदयको शान्ति प्राप्त हो, तभी नारद आये और उन्होंने कहा—‘ऋषिवर! हरिलीलाका वर्णन करो, तभी शान्ति आकर तुम्हारे हृदयमें आसीन होगी।’ फलतः व्यासमुनिने भागवतको जन्म दिया। नारद-जीवनकी इसी पृष्ठभूमिने गोस्वामी तुलसीदासजीसे यह लिखवाया—

सुक सनकादि भगत मुनि नारद । जे मुनिवर विग्यान बिसारद ॥  
प्रनवउँ सबहि धरनि धरि सीसा । करहु कृपा जन जानि मुनीसा ॥

कृष्णकाव्य और रामकाव्यके साथ नारद जुड़ गये हैं। फलतः गोस्वामीजीने भी देवर्षिको मानसमें महत्त्व प्रदान किया है। वे रामके परम भक्त हैं और आरम्भसे अन्ततक स्थान-स्थानपर चित्रित हैं। अठारह बार नारदजी मानसमें अत्याधिक रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं। अकेले वे ही भक्तराज हैं, जिनको प्रत्येक समय प्रत्येक स्थलपर रामके पास पहुँचनेकी खुली छूट है। कभी वे अकेले जाते हैं, कभी अन्योके साथ—



बार बार नारद मुनि आवहि । चरित पुनीत राम के गावहि ॥

जब भी भगवान् राम कोई लीला करते हैं, तब नारद आकर देख जाते हैं और जाकर पिता ब्रह्माके यहाँ उस लीलाका ब्यौरा देते हैं, जिसे सुनकर ब्रह्मा तथा ब्रह्माके अन्य मानसपुत्र सनकादिक आनन्दमें मग्न होकर नारदको सराहते हैं—

नित नव चरित देखि मुनि जाहीं । ब्रह्मलोक सब कथा कहाहों ॥  
मुनि विरंचि अतिसय सुख मानहि । पुनि पुनि तात करहु गुन गानहि ॥  
सनकादिक नारदहि सराहहि । जद्यपि ब्रह्म निरत मुनि आहहि ॥

अन्य मुनि तथा सनकादिक कहते हैं—‘नारदजी ! हम भी साथ चला करेंगे ।’ फलतः राज्यतिलकके पश्चात् नारद सनकादिकको नित्य साथ ले आते हैं और सभी ऋषि रामका दर्शनलाभ करते हैं—

नारदादि सनकादि मुनीसा । दरसन लागि कोसलाधीसा ॥  
दिन प्रति सकल अजोध्या आवहि । देखि नगरु विरागु बिसरावहि ॥

भक्तिका सम्बन्ध हृदयसे है । जो भाव-भीने हृदयसे हरिको पुकारता है, हरि उसको दर्शन देते हैं । हृदयकी प्रवृत्ति है कि जिसके साथ यह सदा वास करता है, उससे अनुराग करने लगता है । भाई-भाई और दो सखाओंके प्रेमका रहस्य सतत सहवासमें ही छिपा है । जिस स्थानपर वर्षों रहते हैं, उससे अनुराग हो जाता है । अतः गोस्वामीजीका मत है कि सदा रामके ही साथ रहना चाहिये । यह साथ कैसे सम्भव है ? सदा रामनाम जपनेसे । गोस्वामीजीने सबसे अधिक बल राम-नाम-जपपर दिया है । उनका कथन है कि ‘सदा राम-नाम जपो । सदा राम-नाम जपनेसे उससे अनुराग हो जायगा । यह जप मानसिक अधिक होगा, यद्यपि आरम्भमें जिह्वा इसका माध्यम होगी ।’ मानसमें नारद राम-नामके सबसे बड़े जापक हैं । तभी तो वे रामके प्रिय बन गये हैं—

नारद जानेउ नाम प्रतापू । जगु प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू ॥  
पम्पा-सरोवरपर वृक्ष-छायामें बैठे रामके पास नारद

आते हैं । राम प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगने कहते हैं । धन, मान, स्वर्ग-सुख, मोक्ष आदि नारदकी दृष्टिमें आ ही नहीं सकते थे । अन्य भक्तोंसे भगवान्से भक्ति माँगी है । शरभङ्गने ‘जोग-जग्य जप’ देकर भक्ति वर पाया—

जोग जग्य जपतप व्रत कीन्हा । प्रभुकहँ देइ भगति वर लीन्हा ॥

इन्द्रने माँगा—

दे भक्ति रमानिवास वास हरन सरन सुखदायक ।  
शम्भुकी याचना थी—

बार बार वर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग ।  
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग ॥

सनकादिकने रामसे वर माँगा—

देहु भगति खूपति अति पावनि । त्रिविधि ताप भव दाप नसावनि ॥

किंतु नारद भगवान्से माँगते हैं—

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका । श्रुति कह अधिक एक तें एका ॥  
राम सकल नामन्ह तें अधिका । होउ नाथ अघ खग गन वधिका ॥

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।  
अपर नाम उडगन बिमल बसहुँ भगत उर ब्योम ॥

नारदका स्पष्ट कथन है कि ‘राम-नामरूपी चन्द्र ही भक्तिरूपी रात्रिको प्रकाशित करनेवाला है । अतः हे राम ! आपका नाम मेरे तथा अन्य भक्तोंके उरमें सदा विराजमान रहे ।’

गोस्वामीजीने सत्सङ्गपर बहुत बल दिया है । उनका अभिमत है—

मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ॥  
सो जानब सतसंग प्रमाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥

यह तथ्य सर्वसिद्ध है कि मनुष्य-जीवनपर वातावरणका प्रभाव कम नहीं पड़ता । उसके जीवन-निर्माणमें वातावरणका प्रमुख हाथ रहता है । अन्योके अतिरिक्त किसी मनुष्यके संगी-साथी वातावरणका प्रधान अङ्ग कहलाते हैं और उसकी सफलता-असफलतामें इनका गहरा हाथ रहता है । अतः



गोस्वामीजी बार-बार मानसमें सुसङ्ग और कुसङ्गके फलोंको चित्रित करते रहते हैं। राम और लक्ष्मणकी सफलतामें यदि विश्वामित्रका बहुत बड़ा हाथ था तो कैकेयीको गिरानेमें मन्थरा कारण बनी। स्वयं भगवान् रामने साधु-सङ्ग महिमा गायी है और साधुओंके लक्षण गिनाये हैं। भगवान् रामसे साधु-सङ्ग-महत्ता एवं साधु-लक्षणोंका उपदेश प्राप्त करनेवाले मानसके दो ही पात्र हैं—भरत और नारद। भरतका जीवन साधु-जीवनका सर्वोच्च उदाहरण है। फलतः वे साधु-लक्षण जाननेके लिये सर्वश्रेष्ठ पात्र माने ही जायेंगे। दूसरे हैं—मुनि नारद। अरण्यकाण्डमें नारदके प्रश्न करनेपर राम नारदको साधु लक्षण बताते हैं और कहते हैं—

मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेत । कहि न सकहिं सारद श्रुति तेत ॥

नारदको क्यों भगवान्ने साधु-लक्षण-उपदेशका पात्र समझा ? क्योंकि नारद साधु-सङ्गसे ही जीवनकी इतनी ऊँचाई प्राप्त कर पाये थे। गोस्वामीजीका कथन है कि साधु-सङ्ग-महिमाका स्पष्टीकरण वाल्मीकि तथा अगस्त्यकी भाँति नारदने स्वयं किया था—

बालमीक नारद घटजोनी । निज निज मुखनि कही निज होनी ॥

नारदने कहाँ अपनी यह कथा कही है ? श्रीमद्भागवत (१।५-६) में नारद ऋषि व्यासको अपना गत जीवन बताते हुए कहते हैं—“मैं दासीपुत्र था। मेरी माँ ऋषियोंकी सेविका थी। वहाँ सदा ज्ञान-चर्चा होती थी। उनके संसर्ग और उनकी जूठन खानेसे मेरी बुद्धि निर्मल हो गयी। कृपा कर उन ब्राह्मणोंने मुझे ज्ञान दिया और भगवत्-रहस्य समझाया। तब मेरी बुद्धि भगवत्-परायण हो गयी। मेरी माँको सर्पने डस लिया और वह मर गयी। अब स्वतन्त्रता-पूर्वक मैं भगवान्में लीन हो गया। प्रभुने हृदयमें दर्शन दिया और कहा—“इस जन्मके पश्चात् मैं साक्षात् मिलूँगा।” मैं मृत्युके पश्चात् भगवान्में मिल गया और कल्पान्तके बाद मैंने ब्रह्माके बारह मानसपुत्रोंमेंसे अन्यतमके रूपमें जन्म ग्रहण किया। यह सब सत्सङ्गका ही फल था कि मैं ज्ञानमय हरिभक्तिरूपी अपूर्व फल प्राप्त कर सका।”

नारदजी स्वयं तो राम-परायण हैं ही, दूसरोंको भी विरक्त और हरिपरायण बनानेका उद्योग करते हैं। पुराणोंमें इसके अनेक उदाहरण भरे हैं। गोस्वामीजी शिव-विवाह-प्रसङ्गमें, व्यास-स्तुतिके माध्यमसे, सप्तर्षियोंद्वारा नारदकी प्रशंसा कराते हुए तीन उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

दच्छसुतन्ह उपदेसेन्हि जाई । तिन्ह फिर भवनु न देखा आई ॥  
चित्रकेतु कर घर उन घाला । कनककसिपु कर पुनि अस हाला ॥

प्रजापति दक्षके पुत्रोंकी कथा भागवत और मत्स्य-पुराणमें प्राप्त होती है। दक्षप्रजापतिने दस सहस्र (मत्स्यपुराणके अनुसार एक सहस्र) पुत्र उत्पन्नकर उन्हें आज्ञा दी कि “तपस्या करके शक्ति प्राप्त करो और मानवी सृष्टिकी वृद्धि करो।” सभी पुत्र सिन्धु नदी और सिन्धुके संगमपर तपस्यारत हुए। नारदने आकर उन्हें ब्रह्माकी ओर मोड़ दिया। वे फिर घर न गये। पुनः दक्षने एक सहस्र पुत्र उत्पन्न किये और उन्हें सृष्टि बढ़ानेकी आज्ञा दी। वे भी इसके लिये तपस्या करने गये। नारदने पुनः उन्हें ईश्वर-परायण बना दिया और वे भी घर न लौटे। दक्षने यह सुनकर नारदको शाप दिया कि नारद कहीं स्थिर होकर निवास न कर पायेंगे। चित्रकेतुका इकलौता पुत्र मर गया। वह बड़ा दुखी था। अङ्गिराके साथ जाकर नारदने उसे उपदेश दिया और उसे ज्ञान तथा भक्तिका उपदेश देकर मोहमायासे मुक्त कर दिया। प्रह्लादको भी भगवान्की भक्ति और राम-नाम-स्मरणका उपदेश नारदने गर्भमें दिया। फलतः प्रह्लादने पिताका विरोध किया और अग्नेको सदा वैष्णव घोषित किया तथा इसके लिये सभी संकट सहे।

गोस्वामीजीने देह, गेह और नेहकी सार्थकता तभी मानी है, जब इनके द्वारा रामकी भक्ति सम्पन्न होती रहे। यदि ये बाधक हों तो इनका त्याग करना ही उचित है। विनयपत्रिकाका एक प्रसिद्ध पद (१७४) है—

जकें प्रिय न राम-बैदेही ।

तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥

तज्यो पिता प्रह्लाद, विभीषण वंशु, भरत महतारी ।

बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-वनिनन्हि, मण मुद-मंगलकारी ॥

पदमें दिये गये भरत और विभीषणके उदाहरण मानसमें प्राप्त हैं ही, जिन्होंने माता और भ्राताको त्याग दिया। मानसमें गोस्वामीजी नारी-निन्दा करते अग्रते नहीं। अरण्यकाण्डके अन्तमें वे अपने मनसे भी कहते हैं—

दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग ।

भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग ॥

कामका साकार रूप नारी ही है और पङ्क्तिारोंमें यह प्रमुख है। इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर वे नारी-निन्दामें प्रवृत्त होते हैं। अरण्यकाण्डका यह दोहा घोषित करता है



कि गोस्वामीजी पुरुषोंके लिये ही प्रधानतया मानसका निर्माण कर रहे हैं। वे उससे कहते हैं—‘काम-क्रोध-मद-लोभके पाशमें न फैल। बस, रामको हृदयमें रखकर अपना कर्तव्य करता चल। ध्यान रख, कामका रूप नारी तेरे मार्गमें सबसे अधिक बाधक है। अतः अपने मनको उससे हटा ले, नारी-रूप दीपशिखाका उसे पतंग न बनने दे।’ किंतु नारीका मोह छूटना क्या सरल है? विश्वामित्र और पराशर इसकी दुस्त्यजताके उदाहरण हैं। नारी-पाश अत्यन्त प्रबल है। अतः इसकी काट भी प्रबलतासे की गयी है और नारीकी बार-बार निन्दा करके मानव-मनको उधरसे विकर्षित किया गया है। स्त्रीके लिये तो सरल मार्ग बता दिया गया है कि पति परायणता उसके लिये पर्याप्त है। नारी-निन्दा स्वयं कवि-नै की है और पात्रोंने भी। भगवान् राम भी दो स्थानोंपर नारी-निन्दामें प्रवृत्त होते हैं—एक सीता-वियोगमें अत्यन्त उद्भ्रान्त होकर और दूसरे नारदके सम्मुख। इस नारी-निन्दाके व्याजसे भगवान् राम भी यही उपदेश देते हैं कि मेरे सच्चे भक्तको नारी-मोहसे दूर रहना चाहिये। इसके उदाहरण भी नारदजी हैं।

स्त्रीसे सदा दूर रहनेवाले ऋषि नारदकी दुर्गति भी मानसमें प्राप्त होती है। गोस्वामीजी मुख्य कथाके बाहर इस प्रसङ्गको विस्तारसे ग्रहण करते हैं, जो किसी भी राम-काव्यमें नहीं प्राप्त होता। शिवपुराणमें अवश्य यह कथा है; किंतु वहाँ राजाका नाम अम्बरीष है और राजकुमारीका नाम श्रीमती है। मानसमें राजाका नाम शीलनिधि है और राजकुमारीका नाम विश्वमोहिनी है, जिसको देखकर नारद उसपर आसक्त हो जाते हैं और मनमें संकल्प करते हैं—‘मैं ही इससे विवाह करूँगा।’ इसके लिये बस, वे हरिसे उनका रूप माँगते हैं। हरि नारदके हितार्थ हरि (बंदर) रूप दे देते हैं और स्वयं जाकर राजकुमारीसे विवाह कर लेते हैं। आगववूला होकर नारद भगवान् हरिको उस राजकुमारीके साथ देखकर दो शाप देते हैं—(१) तुम भी नारी-विरहमें तड़पोगे और (२) यह वानररूप तुम्हारी सहायता करेगा। इस प्रसङ्गद्वारा रामावतारका एक कारण पुष्ट किया और दूसरे नारद-जैसे श्रेष्ठ भक्तको नारी-पाशसे मुक्त किया। अरण्यकाण्डमें इसका स्पष्टीकरण भी उपस्थित है। भगवान्को सीता-विरहमें दुखी देखकर नारदको पश्चात्ताप होता है। वे भगवान्से पूछते हैं—‘प्रभो! एक बात बताइये, आपने

मुझे विवाह करनेसे क्यों रोका था?’ राम उत्तर देते हैं—‘नारद! जो मेरे भक्त मुझपर ही आश्रित हैं, मैं उनके समान उनको रक्षा करता हूँ। मेरे दो पुत्र हैं—जानी और दूसरे मेरे आश्रित भक्त। जानी प्रौढ़ पुत्र है और भक्त बालक। दोनोंको काम और क्रोध तपाते हैं। मैं उनको आश्रित बालक अर्थात् भक्तकी ओर देखता हूँ, जानी अपने पैरोंपर खड़ा होकर सबसे लोहा लेता है। तुमको भी विवाह न करने देकर नारी-पाशसे बचाया। नारद धन्य लो—

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि ।

तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि ॥

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता । मोह विपिन कहुँ नारि वसता ।  
जप तप नेम जलाश्रय झारी । होइ ग्रीष्म सोषद सब नारि ॥

× × ×

धर्म सकल सरसीरुह बृन्दा । होइ हिमतिन्हहि दहइ सुख संता ।

× × ×

बुधि बलसील सत्य सब मीना । बनसी सम त्रिय कहहि प्रवीना ।

अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि ।

ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि ॥

नारदमें उपकार-वृत्ति बहुत है। इसी वृत्तिके कारण विषयी जीवोंको भगवान्की ओर प्रेरित करते रहते हैं। पौराणिक कथाओंमें लोकहित-कामनासे वे कुछ-न-कुछ कर दिखायी पड़ते हैं। कभी वे स्वयं उपाय बताते हैं, कभी विष्णुसे जाकर पूछते हैं। ऊँच-नीच, सुर-असुर, पक्षी—कोई भी हो, वे उसकी सहायताको प्रस्तुत करते हैं। घूमते-घूमते जो कोई उनके सम्मुख आया, उसके दुःख दूर करनेका साधन उन्होंने तुरंत बताया। जीवोंके शीरघुनाथकी भी सहायताके लिये नारदजी पहुँचते हैं। इन्द्रजित्ने राम-लक्ष्मणको नागपाशसे बाँध दिया, वे गरुडको तुरंत भेजकर नागपाश कटवाते हैं और भगवान्को बचाने लड़ते हैं—

इहाँ देवरिषि गरुड पठायो । राम समीप सपदि सो आनयो ।

खगपति सब धरि खाए माया नाग बरूथ ।

माया बिगत भए सब हरषे वानर जूथ ॥

खगपति गरुडने देवर्षिके निर्देशानुसार यह कार्य कर दिया, किंतु उन्हें एक रोगने पकड़ लिया। वे सोचने लगे—‘क्या ये भगवान् हैं, जो नागपाशको काट सके?’ इस संदेहने उन्हें बड़ा उद्विग्न कर दिया।



नारदने गरुडकी सहायता की और गरुडको मार्ग बतलाया—  
गरुड ! ब्रह्माके पास जाओ ।’

पुराणोंके अनुसार लोकहित-कामनासे नारदजीने राक्षस-विनाशमें प्रत्यक्ष या परोक्ष सहायता पहुँचायी है । भगवत और विष्णुपुराणमें नारद कंसको समझाकर उसे अधिक अन्याय करनेके लिये प्रेरित करते हैं, ताकि भगवान्‌का अवतार हो । रामचरितमानसमें वे राक्षस-विनाशमें प्रत्यक्षरूपसे सहायता नहीं देते । हाँ, कुम्भकर्णको इसकी सूचना देते हैं । कुम्भकर्णको जब जगाया जाता है, तब वह रावणसे कहता है—

मरु न कोन्ह तैं निसिचर नाहा । अब मोहि आई जगाएहि कहा ॥  
अहह बंधु तैं कोन्ह खोटाई । प्रथमहि मोहि न सुनाएहि आई ॥  
नारद मुनि मोहि ग्यान जो कहा । कहतेउँ तोहि समय निरवहा ॥

यह प्रसङ्ग अध्यात्मरामायण ( ७/७/५९-६० ) में प्राप्त है, जहाँ रावणको कुम्भकर्ण बतलाता है कि ‘‘एक बार मैं वनमें बैठा था । नारदमुनिने उस वन-मार्गसे जाते हुए बताया था कि ‘तुम दोनोंके अत्याचारसे पृथ्वी पीड़ित है । भगवान्‌ विष्णु रामका अवतार लेकर तुम दोनोंको मारने आये हैं ।’ पुनः जब भगवान्‌ राम कुम्भकर्णका वध कर डालते हैं, तब नारद आकाशमें उपस्थित होकर भगवान्‌का गुणगान करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि ‘प्रभो ! रावणको भी शीघ्र मारकर पृथ्वीका भार हरिये’—

गगनोपरि हरि गुन गन गाए । रुचिर वीररस प्रभु मन भाए ॥

देवर्षि नारदका ज्योतिषी-रूप बार-बार मानसमें प्राप्त होता है । नारदजा हस्तेरेखा एवं मुख-मण्डल देखकर भविष्य-वाणी करते हैं और वह सदा सच उतरती है । विश्वमोहिनीका मुख देख वे निष्कर्ष निकालते हैं—

जो एहि वरइ अमर सोइ होई । समरभूमि तेहि जीत न कोई ॥  
सेवहि सकल चराचर ताही । वरइ सीलनिधि कन्या जाही ॥

और विश्वमोहिनीको ऐसा ही वर विष्णुरूपमें प्राप्त हुआ, यद्यपि नारदने उससे विवाह करनेका पूरा उद्योग किया । राजा हिमवान्‌की पुत्री गिरिजाकी हस्तेरेखा देखकर नारदने कहा—

सब लच्छन संपन्न कुमारी । होइहि संतत पियहि पिअरी ॥  
सदा अचल एहि कर अहिवाता । एहि तैं जसु पैहहि पितु माता ॥

होइहि पूज्य सकल जग माहीं । एहि सेवत कलु दुर्लभ माहीं ॥  
अच्छा, हे राजा हिमवान्‌ ! इसको कैसा पति प्राप्त होगा, यह भी बताता हूँ ।

अगुन अमान मातु पितु होना । उदासीन सब संसय लीना ॥  
जोगी जटिल अकाम मन नगन अमंगल वेष ।  
अस स्वामी एहि कहँ मिलिहि परी हस्त असि रेख ॥

जनक-दुलारी जानकीके लिये भी नारदने भविष्यवाणी की थी—‘हे सीता ! तुझे सुन्दर साँवला वर प्राप्त होगा, जिसका नाम राम होगा ।’ फलतः जब पुष्प-वाटिकामें एक सर्पिणी आकर सीतासे सुन्दर साँवले दशरथकुमारका वर्णन किया, तब सीताको नारदके वचनोंका स्मरण हो आया और उत्सुकतापूर्वक सीताजी उस सुन्दर राजकुमार रामको देखनेके लिये चलीं—

सुमिरिं सीय नारद वचन उपजी प्रीति पुनीत ।

चकित त्रिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगो समीत ॥

नारदकी भविष्यवाणी कभी भी असत्य न होगी, इसका अटूट विश्वास मानसमें स्थान-स्थानपर अङ्कित है । स्वयं जगदम्बा पार्वती जानकीको आशोर्वाद देती हुई कहती हैं—  
नारद वचन सदा सुचि साचा । सो वरु मिलिहि जाहि मनु राचा ॥

मनु जाहि राचेउ मिलिहि सो वरु सहज सुंदर साँवरो ।

करुना निधान सुजान सीलु सनेहु जानत रावरो ॥

जब पार्वतीके लिये नारदकी भविष्यवाणी हुई, तब पार्वतीके माता-पिता तथा पार्वतीको नारदजीके वचनोंपर पूर्ण विश्वास था कि ये अवश्य सत्य सिद्ध होंगे—  
श्रुति न होइ देवर्षि बानी । सोचहि दंपति सखीं सयानी ॥

× × ×

नारद कहा सत्य सोइ जाना ।

संत, महीसुर और भक्तमें गोस्वामीजाने कोई अन्तर नहीं माना है । नारदजी परम संत हैं, जिनके जीवनमें लोकहित व्याप्त है; वे परम वैष्णव हैं, जिनका प्रत्येक श्वास भगवान्‌को ध्याता है; वे परम निष्ठावान्‌ गायक हैं, जिनकी प्रत्येक तान भगवान्‌के गुणगानमें व्यय होती है; वे परम गतिमान्‌ हैं, जिनका प्रत्येक कदम भगवान्‌के पास पहुँचता है; वे परम ज्ञानी हैं, जिनका ईश्वराय ज्ञान, मानवज्ञान और ज्योतिष-ज्ञान मानवोंको ईश्वरकी ओर ले जाता है और दुष्टोंका नाश कराता है ।



# श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अन्तिम उपदेश

भक्त, भक्ति, भगवंत, गुरु, चतुर नाम, वपु एक ।

इन के पद बंदन किए नासत बिघ्न अनेक ॥

संतोंका जीवन, व्यवहार, वाणी—सब कुछ अपने प्रभुकी सेवामें नियोजित रहता है। वास्तवमें संतके 'अहं' की पृथक् कोई सत्ता ही नहीं रहती, उसका 'अहं' समष्टिके 'अहं'में विलीन हो जाता है। अतएव संतका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता; भगवान् ही संतमें अवस्थित रहकर उसके माध्यमसे सब कार्य करते हैं। परम श्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) इसी कोटिके संत थे, जो भगवान्में ही जीये, भगवान्में ही रहे और अन्तमें भगवान्में ही विलीन हो गये। 'कल्याण'के माध्यमसे उन्होंने ४४ वर्षों-तक अपने इष्टदेवरूप चराचर विश्वकी जो सेवाएँ कीं, वे अप्रतिम हैं। इस लंबी अवधिमें लाखों-लाखों देशवासी उनके उपदेशामृतका पानकर भगवान्की ओर आकृष्ट हुए हैं और उन्होंने जीवनके परम लक्ष्य—भगवान् या भगवान्के प्रेमकी प्राप्तिके महत्त्वको समझा है और इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये किस प्रकार सुगमतासे बढ़ा जा सकता है, इसकी शिक्षा ग्रहण की है। हजारों-हजारों निराश व्यक्तियोंने आशा, उत्साह, स्फूर्ति, नवीन चेतना प्राप्त की है और उत्साहहोनता, निराशा और विनाशके गर्तमें गिरकर वे अपना सर्वस्व नष्ट करनेकी कुचेष्टासे विरत हुए हैं। आपसके मनोमालिन्यको धोकर परस्पर प्रेमकी प्रतिष्ठा करनेकी प्रेरणा कितने परिवारोंको, कितने स्वजनोंको, कितने मित्रोंको प्राप्त हुई है—इसका हिसाब लगाना असम्भव है। मानव-स्वभावकी दुर्बलताओंसे घिरे रहकर सन्मार्गसे फिसलते हुए कितने-कितने साधक, गृहस्थ, विरक्त, नवयुवक भगवान्की सौहार्दमयी पतितपावनताका परिचय प्राप्तकर, पापपङ्कसे निकलकर सत्त्वगुणकी ओर अग्रसर हुए और उन्नतिके शिखरपर पहुँचे हैं! जीवनकी ऐसी कौन-सी गुत्थी, समस्या, पहेली, उलझन है, जिसका समाधान श्रीपोद्दारजीकी लेखनी या वाणीसे निकले शब्दोंसे प्राप्त न हुआ हो। यही हेतु है कि २२ मार्च १९७१ को प्रातःकाल जब ये महामानव अपनी इहलौकिक लीलाको संवरणकर भगवान्की नित्य-लीलामें लीन हो गये, तब देशके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक विषादकी एक तीव्र लहर दौड़ गयी और अच्छे-अच्छे विरक्त महात्माओंतक, जिनकी दृष्टिमें जगत्का अस्तित्व ही

नहीं है, श्रीपोद्दारजीके तिरोधानसे मर्माहित हो उठे और उनके नेत्रोंसे अश्रुप्रवाह बह चला। देशके एक विरसे दूसरे सिरेतकसे अगणित लोगोंके करुण पत्र, तार, टेलीफोन आते हैं और अवतक आ रहे हैं, जिनको देखकर पता चलता है कि श्रीपोद्दारजीका 'परिवार' कितना विस्तीर्ण, कितना विशाल था। सहस्रों व्यक्तियोंको अपने सगे-स्वजनों, गुरुजनों, प्रेमियोंकी विदाईसे जितनी पीड़ा नहीं हुई, उतनी पीड़ा उन्हें श्रीपोद्दारजीकी विदाईसे हुई है। अतएव हमारे पास ऐसे व्यक्तियोंके आग्रहभरे पत्र आ रहे हैं कि उन महामानवके अन्तिम समयके उपदेशोंको 'कल्याण'में प्रकाशित किया जाय, जिन्हें पढ़ सुनकर लोग सत्प्रेरणा एवं सच्ची शिक्षा प्राप्त कर सकें। प्रेमी एवं स्वजनोंके इस आग्रहके पालनसक संक्षेपमें कुछ बातें नीचे दी जा रही हैं।

जवतक बोलनेकी शक्ति रही, श्रीभाईजी अपनी वाणीसे कुछ ऐसी बातें बराबर कहते रहे, जिनसे लोक-परलोक दोनोंका सुधार हो, जो प्रेय एवं श्रेय दोनोंकी प्राप्ति सहायक हों। पर दुःख है कि उनकी पूरी वाणी संग्रह नहीं की जा सकी। एक स्वजनने कुछ बातें संग्रह की हैं, वे नीचे दी जा रही हैं। ये बातें समय-समयपर संग्रह की हैं अतएव इनमें कोई क्रम नहीं है। सम्मान्य पाठक-वृन्द इसके लिये हमें क्षमा करेंगे।

जीवन-मरण विधिके हाथ है। शरीरके निर्माणके साथ ही उसके विनाशका समय भी निश्चित हो जाता है। बीमारी तो एक बहाना मात्र है, वह शरीरके नाशमें हेतु नहीं होता। शरीर तो श्वास पूरे होनेपर ही जाता है। श्वास पूरे होनेपर पश्चात् लाख प्रयत्न करनेपर भी एक श्वास भी नहीं आ सकता। इसी प्रकार जन्मके साथ ही यह भी निर्धारित हो जाता है कि इस जीवनमें कौन-कौन-से सुख-दुःखोंका भोग करना है। जीवनभर परम सात्त्विक, ईमानदार, सत्यपरायण रहनेवाले व्यक्ति भीषण कष्ट भोगते देखे गये हैं तथा दिन-रात पापमें रत, दूसरोंका अहित करनेवाले तथा असत्यपरायण व्यक्ति सदा स्वस्थ रहते हैं। फिर संत-जगत् कष्ट-भोग क्यों और कैसे करता है, इसका विश्लेषण लौकिक मन-बुद्धिद्वारा होना सम्भव नहीं। शरीरकी दृष्टिसे लगभग दो वर्षोंतक श्रीभाईजीने भीषण व्याधिका उपभोग किया। पर भीषण कष्टकी इस लंबी अवधिमें भी वे उससे सर्वथा अप्रभावित रहे।



न उन्हें कोई भय था न चिन्ता, न दुःख न विषाद । वे सर्वथा शान्त, सुस्थिर, अविचल, अम्लान रहे—अपनी मस्तोमें मस्त रहे । ऐसा लगाता था, जैसे वे इस भीषण व्याधिके प्रथमात्र हैं । इस बीमारीके सर्वप्रथम दर्शन २२ अप्रैल १९६९ को मृषिकेशमें हुए थे । पीछे इनके दौरा बराबर आते रहे । इस दौरके समय उनके पेटमें दाहिनी ओर पित्ताशय ( Gall Bladder ) एवं वृक्क ( Kidney ) के बीच एक गोला-सा बन जाता था तथा उसमें और पेटके ऊपरी भागमें भीषण पीड़ा होती थी । दर्दका शमन होनेके साथ-साथ वह गोला भी अदृश्य हो जाता था । कई प्रकारसे एक्सरे ( x-ray ), लिया गया; पाखाना, पेशाब, खून आदिकी कई प्रकारसे जाँच की गयी । पर डाक्टर-वैद्य किसी निष्कर्षपर नहीं पहुँच पाये कि इस पीड़ाका वास्तविक कारण क्या है । पित्ताशय एवं मूत्राशयमें पथरी है, यह तो सभी डाक्टरोंकी निश्चित राय थी; पर पेटमें जिस स्थानपर गोला बनता था, वह इन दोनोंके कारण हो—ऐसा वे निश्चित-रूपसे निदान नहीं कर सके । पेटकी जितनी भीषण व्याधियाँ हो सकती हैं, सभीकी आशङ्का किसी-न-किसी रूपमें बतलायी जाती थी—जैसे आँतका मुड़ जाना, पेटमें फोड़ा बनना, आँतके किसी मार्गका सड़ना, वायु-गुल्म, वृक्कका अपने स्थानसे हट जाना आदि । कैंसर होनेका भी संदेह हो रहा था । ४ नवम्बर १९७० को जो भीषण दौरा हुआ था, उसके बादसे गोला पूर्णतः शमन नहीं हुआ । यद्यपि उसकी आकृति दौरके शमन हो जानेपर कुछ कम हुई थी । फिर भी उसका स्पष्ट अनुभव होता था तथा उसे दवानेसे पीड़ा होती थी । इससे डाक्टरोंका यह अनुमान और भी पुष्ट हो गया कि पेटमें कैंसर पनप रहा है । १६ फरवरी १९७१ के पश्चात् पीलियाका अनुभव होने लगा—पेशाब पीला हो गया, आँखें पीली हो गयीं तथा शरीर भी पीला हो गया । जो गोला बना हुआ था, वह बहुत कड़ा हो गया और समूचा पेट अस्वाभाविक स्थितिमें रहने लगा । अन्तिम दिनोंमें बीच-बीचमें श्वास-कष्टका अनुभव होने लगा, जिससे यह स्पष्ट अनुमान होता था कि पेटमें कैंसर है । पर पेटको खोले बिना यह किसीके लिये निश्चितरूपसे कहना सम्भव नहीं था कि रोग क्या है ।

जनवरी मासके अन्तिम सप्ताहकी बात है—

रोग बढ़ता जा रहा था । स्थानीय डाक्टर महोदय:

जिन्हें श्रीभाईजीके परिवारका एक अङ्ग ही समझना चाहिये, बड़े चिन्तित हो रहे थे । बीच-बीचमें उनकी आँखें सजल हो जाती थीं । उनकी इस विवशताकी स्थितिको देखकर श्रीभाईजीने उनसे कहा—‘आपलोग मुझे प्रेमसे देखनेके लिये आते हैं, तो मैं भी प्रेमसे दिखा देता हूँ, दवा आदि लेता हूँ । जब आपलोगोंको जाँचसे कोई गम्भीर बात ज्ञात होती है, तब आपलोग बड़े गम्भीर हो जाते हैं, आपसमें धीरे-धीरे परामर्श करने लग जाते हैं; पर मुझपर रोगकी गम्भीरताके ज्ञानका कुछ भी प्रभाव नहीं है । मेरा दृढ़ विश्वास है कि जो होना है, वह होगा ही; पहलेसे ही उसके लिये रोने क्यों बैठें ? मृत्यु जब आनी होती है, तभी आती है; मनुष्य चिन्ता और भयसे बार-बार क्यों मृत्युको प्राप्त हो ? शरीरकी अस्वस्थताको दूर करनेके लिये आपलोग पूरे प्रयत्नशील हैं ही, मैं भी दवा ले रहा हूँ । बीमारी जब ठीक होनेकी होगी, तभी होगी; यदि बढ़नी होगी तो बढ़ेगी ही । आपलोग अपनी समझसे अच्छे-से-अच्छे उपचार कर रहे हैं । इसपर भी बीमारी बढ़ती जा रही है । भीषण कष्ट है, पर अंदर-ही-अंदर मुझे बड़ा आनन्द है । पीड़ाके रूपमें भगवान्‌के सम्पर्ककी अनुभूति हो रही है । कष्ट-पीड़ाके रूपमें भगवान् ही वाद आते हैं—कष्ट-पीड़ा भी तो भगवान्‌के ही रूप हैं ।’

चन्दनके समीप चाहे जिस भावनासे पहुँचा जाय, चन्दन पास आनेवालेको सौरभ ही देता है । संतोंके जीवनमें इसके प्रत्यक्ष उदाहरण प्राप्त होते हैं । श्रीभाईजी भी अपने उपचारके लिये पधारे हुए डाक्टर महोदयोंका ‘उपचार’ करना चाहते थे । उन्हें डाक्टर महोदयोंके ‘भवरोग’की चिन्ता थी । वे जानते थे कि डाक्टर महोदयोंके पास समयका अत्यन्त अभाव रहता है । अतएव एकान्तमें बैठकर भजन-पूजन करना उनके वशका नहीं । इन्हें ऐसा ही साधन बतलाना चाहिये, जिससे ये लोग अपना चिकित्साका कार्य करते हुए ही जीवनके चरमोद्देश्य—भगवत्प्राप्तिको चरितार्थ करनेमें सफल हो सकें । जिस दिन अस्पतालके विश्रामका दिन होता था, उस दिन श्रीभाईजी डाक्टर महोदयोंको प्रेरित करते हुए कहते—‘आपलोगोंके पास जो रोगी आते हैं, उनकी सेवा भगवान्‌की सेवा है । भगवान्‌ने गीतामें आदेश दिया है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति भानवः ।

( १८१४९ )



‘अर्थात् जिसके जिम्मे जो काम हो, वह अपने उसी कामके द्वारा भगवान् की सेवा करे ।’ आपलोगोंके जिम्मे रोगियोंकी सेवाका काम है । वास्तवमें रोगीके रूपमें भगवान् ही आपसे सेवा चाहते हैं । रोगीको देखते, उससे बात करते, उसको दवा देते समय यह भाव आपलोगोंको मनमें रखना चाहिये कि भगवान् ही हमसे इस रूपमें सेवा ले रहे हैं । जहाँ रोगीके रूपमें भगवान् की अनुभूति हुई, वहाँ उसका उपचार सुन्दर-से-सुन्दर रूपमें होगा और वह क्रिया भजन बन जायगी तथा वह भगवान् की प्राप्ति करानेवाली हो जायगी ।’ डाक्टर महोदय इस प्रकार व्यावहारिक भजनका तरीका प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाते थे ।

दूसरे दिन श्रीभाईजी उसी प्रसङ्गको आगे बढ़ाते हुए फिर कहने लगे — ‘‘भगवान् ने गीतामें कहा है—

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।

‘अपने कर्तव्यका पालन करो—नहीं-नहीं, ‘समाचर’ अर्थात् भली प्रकार ठीक-ठिकानेसे उसका आचरण करो । ‘कैसे करो?’ ‘‘मुक्तसङ्गः’’—आसक्ति-ममतारहित होकर—लगाव ( attachment ) न रखते हुए करो ।’ ‘क्यों करो?’ ‘तदर्थम्’—अर्थात् भगवान् की प्रसन्नताके लिये करो । आप समझें रोगीके रूपमें स्वयं भगवान् हैं, इनकी सेवा आसक्ति-ममतासे रहित होकर अपनी पूरी समझ-बूझके साथ करनी चाहिये ।’ इस प्रकार भीषण स्थितिमें भी वे अपने रोगकी विस्मृति कर डाक्टर महानुभावोंके ‘भवरोग’की निवृत्तिकी चिन्ता करते और उसकी निवृत्तिका सरल मार्ग बताते । डाक्टर महानुभाव आश्चर्यचकित थे कि ये कैसे व्यक्ति हैं, जो सर्वथा लाचारी एवं भीषण चिन्ताकी स्थितिसे भी अप्रभावित रहकर अपने आदर्श स्वभाव एवं ‘कर्तव्य’का पालन करते हैं ।

फरवरीके प्रथम सप्ताहमें—

डाक्टर महानुभावोंको अपने विषयमें चिन्तित देखकर श्रीभाईजीने उनसे कहा—‘आपलोग जब देखने आते हैं, उस समय मुझे रोग याद आ जाता है; अन्यथा जब दिनमें मैं कमरा बंद किये अकेला रहता हूँ, तब रोगकी स्मृति प्रायः नहीं रहती । मैं अपने काममें, सरणमें लगा रहता हूँ ।’

× × × ×

श्रीभाईजी पुनः बोले—‘‘शरीर ही बीमार होता है,

आत्मा बीमार थोड़े ही होता है । हमने शरीरके साथ अपना तादात्म्य कर रक्खा है, इससे शरीरकी अस्वस्थताके साथ हम अस्वस्थ हो जाते हैं । दूसरे, हमारे विचारोंका शरीर पर स्वास्थ्यपर बड़ा प्रभाव पड़ता है । मैंने प्रायः एक प्राप्ति डाक्टरकी लिखी पुस्तक अंग्रेजीमें पढ़ी है । उन्होंने समझानेके लिये कि विचारोंका शरीरकी स्वस्थता-अस्वस्थता पर कितना प्रभाव पड़ता है लिखा है—मेरा एक रोग ठीक हो गया था । मैं उसे देखने उसके काममें गया तो मैंने पाया कि वह प्रायः ठीक हो गया है । मैंने उसे देखकर कह दिया कि, आप प्रायः ठीक हो गये हैं । आर्य रिपोर्ट तैयार है, मँगवा लीजिये ।’ उधर मेरा एक दूसरा रोग उसी दिन बहुत अधिक अस्वस्थ हो रहा था । मैंने रोगीको देखनेके बाद उस रोगीको देखने उसके कक्षमें पहुँचा, रक्त, पेशाब आदि लेकर जब मैं अस्पताल पहुँचा और मैं उन चीजोंकी जाँच करवायी तो मुझे लगा—‘यह रोगी जल्दी ही विदा होनेवाला है । मैंने तुरंत उसकी रिपोर्ट तैयार की और उसमें लिखा कि अब आप जल्दी ही विदा होनेवाले हैं । जो काम आपको करना हो, कर लीजिये, वसीयतनामा ( Will ) लिखना हो तो वह लिख लीजिये । मैंने अपने सहायकको दे दी । उससे रिपोर्ट मेजनेमें भूल हो गयी । उसने मरणासन्न रोगीकी रिपोर्ट ठीक होनेवाले रोगीकी भाँति भिजवा दी । ठीक हुए रोगीने रिपोर्ट पढ़ी तो वह चला गया । उसमें स्पष्ट लिखा था —‘अब तुम्हारे बचनेमें कुछ भी आशा नहीं है ।’ बेचारा रोगी यह रिपोर्ट पढ़ते ही हकबका गया और वह सचमुच विदा होनेकी स्थितिमें आ गया । घरवाले अचानक उसकी ऐसी स्थिति देखकर चला गये । दौड़कर वे अस्पतालसे डाक्टर साहबको लिवा ले गये । और उन्होंने बताया कि ‘जबसे रोगीने आपकी भेजी रिपोर्ट देखी है, तभीसे उसकी हालत इस प्रकार गम्भीर हो गयी है ।’ डाक्टर साहबने अपनी भेजी रिपोर्ट माँगी और उसे देखते ही वे समझ गये कि किस प्रकार कम्पाउंडरकी भूलसे दूसरे मरणासन्न रोगीकी रिपोर्ट इनके पास पहुँच गयी है । डाक्टर साहबने रोगीको तथा उसके घरवालोंको समझाया कि ‘यह रिपोर्ट भूलसे यहाँ आ गयी है । आपकी रिपोर्ट अस्पतालमें रखी हुई है । आप बिल्कुल ठीक हैं, आप को लौट सकते हैं ।’ इतना ही नहीं, उन्होंने शय्य आदर्श भी भेजकर उनकी रिपोर्ट मँगवायी और उन्हें दिखायी । अपनी भेजी रिपोर्ट देखकर वह व्यक्ति प्रफुल्ल हो उठा और भूल



भयके कारण उसके शरीरमें जो-जो विकृतियाँ उत्पन्न हुई थीं, वे सब ठीक हो गयीं। विचारोंका इतना प्रभाव पड़ा।”

इसी प्रकार रतनगढ़ (राजस्थान)की एक घटना श्रीभाईजीने सुनायी—“एक सामान्य ब्राह्मण-परिवारमें स्त्रीनेश्रावणी पूर्णिमाके दिन श्रवणकुमारकी आकृति द्वारपर अङ्कित करनेके लिये एक लोटेमें गेरू धोलकर रक्खा। पूर्णिमाके दिन प्रातःकाल सूर्योदयके पश्चात् जल्दी ही भद्रा लगानेवाली थी। अतएव उसने रात्रिमें ही गेरूको पीसकर पानीमें धोलकर लोटेमें रख दिया था, जिससे सबेरे उठते ही वह भद्रासे पहले श्रवणकी प्रतिकृति अङ्कित कर ले। चारपाईके नीचे लोटा रखकर वह सो गयी। पासकी चारपाईपर उसके पति सोये थे। प्रातः सूर्योदयसे पूर्व उन्हें शौच जानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। वे उठे और उन्होंने चारपाईके नीचे रखा हुआ लोटा उठा लिया और शौचके लिये पासके जंगलमें चले गये। मलत्याग करनेपर जब उन्होंने अपवित्र अङ्गको धोया तब देखा—सारी जमीन लाल हो गयी है, उनको लगा—पाखानेके रास्तेसे इतना खून गिरा है। ‘इतना खून गिरा है’—यह बात मनमें आते ही वे घबरा उठे और बेहोश होकर वहीं गिर पड़े। कुछ देर बाद किसी पड़ोसीने उन्हें वहाँ जंगलमें अचेत अवस्थामें पड़े देखा और वह जैसे-तैसे उन्हें घर लाया। उनकी हालत गम्भीर होने लगी। इधर स्त्रीने देखा कि ‘आज त्योहारका दिन है। ये बीमार हो रहे हैं। त्योहारकी पूजा नहीं हो पायेगी तो और अपशकुन होगा। भद्रा लगानेवाली है, उचित यही है कि जल्दीसे श्रवणकी आकृति अङ्कित कर दी जाय।’ इसके लिये वह गेरूका लोटा ढूँढ़ने लगी, पर लोटा उसे वहाँ नहीं मिला। वह बड़ी दुखी हो गयी और घबरायी हुई कहने लगी—‘अरे! चारपाईके नीचेसे लोटा किसने लिया?’ ब्राह्मणको कुछ होश हो चला था, उसने पत्नीकी बात सुनी। उसने हिम्मत करके जैसे-तैसे उत्तर दिया—‘चारपाईके नीचे रखा लोटा तो मैं शौचके लिये ले गया था।’ स्त्रीने कहा—‘रात्रिमें उसमें गेरू धोलकर रखी गयी थी, जिससे भद्रा लगानेके पूर्व श्रवणकी आकृति बना दी जाय।’ गेरूकी बात सुनते ही ब्राह्मणमें चेतनता आ गयी, वह हठात् उठ बैठा और पूछने लगा—‘क्या सचमुच उसमें घोली हुई गेरू थी?’ ब्राह्मणीने उत्तर दिया—‘हाँ। उसमें गेरू ही थी।’ लोटेमें गेरू ही थी—इतना निश्चय होते ही ब्राह्मणकी कायरता दूर हो गयी, वह उठ

बैठा और कहने लगा—‘अरे, वह सब गेरूका रंग था, मुझे कुछ भी नहीं हुआ है; मेरे शरीरसे खून नहीं गिरा है।’ और वह ब्राह्मण ठीक हो गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि विचारोंका, मनके भावोंका शरीरपर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है।”

भाईजीने आगे बताया—‘क्रोधके आवेशसे रक्तचाप बढ़ जाता है, हृदयकी धड़कन बढ़ जाती है। जो व्यक्ति हृदयकी तकलीफसे बचना चाहता हो, वह क्रोध करना छोड़ दे।’

‘इन तथ्योंको ध्यानमें रखते हुए डाक्टरको चाहिये कि जब वह रोगीको देखे तो मुखकी मुद्राको कभी गम्भीर न बनाये। हँसमुख रहे। इससे रोगीका बहुत कुछ रोग तो बिना दवा ही ठीक हो जाता है।’

डाक्टर महोदय श्रीभाईजीके इस गम्भीर विवेचनसे बड़े प्रभावित हुए और अपने लिये एक सुन्दर उपदेश प्राप्त करके प्रसन्न हो गये।

× × ×

१७ फरवरीकी बात है—

डाक्टर महोदयोंके प्यार एवं स्नेहसे गदगद हुए श्रीभाईजीने कहा—‘आपलोगोंका प्रयत्न सफल नहीं हो रहा है, इसका आपलोग कुछ विचार न करें। आप सद्भाव एवं प्यार दे रहे हैं—इसमें उससे बड़ा बल मिलता है। सद्भाव एवं प्यारभरे हृदयका बड़ा प्रभाव होता है। यह बात केवल कहनेकी नहीं है, तथ्य है।’

× × ×

मुँहद्वारा पथ्य प्रायः नहीं जा पारहा था। अतएव पोषणके लिये नसद्वारा ग्लूकोज सलाइन चढ़ाया जाता था। २५ फरवरीको ग्लूकोज सलाइन चढ़ने (transfusion) के समय श्रीभाईजीने कहा—‘प्रार्थनाका बड़ा चमत्कारिक प्रभाव होता है। हमने अपने जीवनमें इसका बहुत बार अनुभव किया है। प्रार्थनासे भीषण-ले-भीषण रोग ठीक हो सकते हैं, इसकी एक घटना स्मरण हो आयी है। कलकत्तेमें श्रीरूडमलजी गौयन्दका एक प्रसिद्ध व्यवसायी कुछ हैं। एक बार उनको प्लेग हुआ।



१०४-५ डिग्री बुधवार और दोनों जाँघोंमें बड़ी गिल्टियाँ निकल आयी थीं। उस समय कलकत्तेमें सर कैलासचन्द्र बोस बड़े प्रसिद्ध डाक्टर थे। उन्हें बुलाया गया। उन्होंने देखकर कहा—‘जीनेकी आशा नहीं है। रात निकलना कठिन है। सावधान रहना चाहिये।’ वे यह कहकर चले गये। श्रीरुड़मलजी संस्कृतके पण्डित थे। भागवत पढ़ा करते थे। भागवतके माहात्म्यमें एक जगह नारदजीने श्रीसनकादिसे उनकी प्रशंसामें यह कहा कि ‘आप सदा बालकरूपमें इसलिये बने रहते हैं कि आप ‘हरिः शरणम्’ मन्त्रका जप नित्य करते हैं।’ श्रीरुड़मलजीको वह प्रसङ्ग स्मरण हो आया। उन्होंने अपने सेवक गोविन्दको बुलाया और कहा—‘गङ्गाजल लाओ, शरीर पोंछेंगे।’ गङ्गाजल आ गया। उन्होंने अँगोछेको गङ्गाजलमें भिगोकर सारा शरीर पोंछवाया। कमरा बंद करके भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्ति सामने रख ली और श्रीकृष्णमें मन लगाकर ‘हरिः शरणम्’ मन्त्रका जप करने लगे। १-२ घण्टेतक तो वे जप करते रहे, पीछे उन्हें स्मरण नहीं रहा कि क्या हुआ। लगभग ४ बजे जब चेतना हुई; तब उन्हें लगा—शरीर हल्का है, बुखार नहीं है। उन्होंने टोलकर देखा—दोनों गिल्टियाँ भी गायब हैं। तब उन्होंने उठकर एवं चलकर देखा—बिल्कुल स्वाभाविकता अनुभव हुई। तब उन्होंने कमरेका फाटक खोला और नौकरको आवाज दी। नौकर आया और सेठजी अपने दैनिक कृत्यमें लग गये। अब वे बिल्कुल स्वस्थ थे।

“दूसरे दिन प्रातःकाल सर कैलास श्रीरुड़मलजीके पङ्क्तिमें एक अन्य रोगीको देखने आये। रोगीको देखनेपर डाक्टर साहबने सेठजीके परिवारके एक सज्जनसे पूछा—‘आपलोग रात्रिमें कितने बजे स्मशानघाटसे लौटे?’ उन्होंने पूछा—‘किसकी अन्त्येष्टिकी बात कह रहे हैं?’ डाक्टर साहब बोले—‘श्रीरुड़मलजीकी हालत रातमें बहुत अधिक खराब थी, रात्रिमें उनका शरीर शान्त हो गया होगा और अन्त्येष्टि भी हो गयी होगी। आपको पता नहीं चला क्या?’ सेठजीने कहा—‘इसमें तो कुछ भी पता नहीं है।’ तब डाक्टर साहब पता लगाने श्रीरुड़मलजीके घरपर आये। आते ही उन्होंने देखा कि श्रीरुड़मलजी चाँदीकी चौकीपर

चाँदीके थालमें पीताम्बर पहने प्रसाद पा रहे हैं। उन्हें प्रकार खाते देख डाक्टर साहबको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उन्हें लगा—‘इन्होंने रात जैसे-तैसे निकाल दी है और ये संनिपातकी अवस्थामें खाने बैठ गये हैं।’ डाक्टर साहब पूछा—‘सेठजी! किसके कहनेसे खा रहे हैं?’ बोले—‘जिसे दवासे ठीक हुए हैं?’ इतना सुननेपर भी डाक्टर साहबको लगा—‘ये संनिपातमें ही बोल रहे हैं।’ डाक्टर साहब घरवालोंको सावधान करके चले गये कि ‘आपलोग सारा रखें, ये संनिपातमें खा रहे हैं।’ पर श्रीरुड़मलजी तो पूर्ण स्वस्थ हो गये थे। उन्होंने छककर प्रसाद पाया और पूर्ण स्वस्थ रहे।

“पीछे श्रीरुड़मलजीने स्वयं पूरी बात सुनायी कि डाक्टर साहबने कह दिया कि रात्रि निकलनी कठिन है, तब मरनेका सोच तो रहा नहीं। भागवत-माहात्म्यके अन्तमें श्रीनारद-सनकादिका प्रसङ्ग स्मरण हो आया और हमने कैसा ही किया।’

“—इस प्रकार हमारे सामने यह घटना हुई है। ऐसे अनेकों प्रसङ्ग हमने देखे-सुने तथा अनुभव किये हैं कि ‘भगवान्पर विश्वास हो और सच्चे हृदयसे भगवान्से प्रार्थना की जाय तो भगवान्के यहाँ सब कुछ सम्भव है।’ पर मैं यह सब सुनानेका यह अर्थ नहीं कि आपलोग मेरे लिये प्रार्थना करें। मेरे मनमें न जीनेकी इच्छा होती है न मरनेकी। जैसा भगवान्ने रच रक्खा है, वही होना चाहिये। हम शरीर तो हैं नहीं, हम हैं आत्मा। शरीरके जतने आत्माका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। पीड़ा शरीरमें होती है। कभी अनुभव होती है, कभी नहीं भी होती। आपलोग निश्चित हो जायें और निश्चय कर लें तो कलसे दवा बंद कर दें। फिर जैसा होना होगा, हो जायगा। उसके लिये भगवान्के विचारको बदलनेकी हमलोग चेष्टा ही क्यों करें। भगवान्से प्रार्थना हो तो उनके विधानके अनुकूल हो। यदि कहीं भगवान्के विधानके विरुद्ध हमारी इच्छा हो तो उसे वे पूरी न करें—यह प्रार्थना करनी चाहिये।”

( होप अगले अङ्कमें )



## पढ़ो, समझो और करो

( १ )

( क )

### संध्या-वन्दन अखण्ड

सेठ श्रीजयदयालजी गोयन्दका कहीं सत्सङ्ग-प्रवचन करते थे तो संध्योपासनका समय अवश्य बचा लेते थे। एक दिन उन्होंने बताया कि 'जबसे मैंने यज्ञोपवीत ग्रहण किया है, तबसे अबतक ( लगभग पचास वर्षमें ) कभी संध्योपासनमें अन्तर नहीं पड़ा। यथाशक्ति कालातिक्रमण भी नहीं किया, कर्मातिक्रमणकी तो बात ही क्या है। जल न मिलनेपर बालूसे अर्घ्य दिया। ट्रेनमें होनेपर समयपर मानविक करके बादमें क्रियारूपसे भी कर लिया। संध्या-वन्दन एक नित्यकर्म है। इसके न करनेपर प्रत्यवाय्य लगता है। द्विजातिका यह अवश्य-कर्तव्य धर्म है। सूतक-पातकमें भी निर्जल और बिना मालाके संध्या होती है।'

अपने धर्मका यह अपूर्व निर्वाह उनकी दृढ़ निष्ठाका ही सूचक है।

( ख )

### दुःख मिटानेकी युक्ति

जिन दिनों 'गीतातत्त्व-विवेचनी' टीका लिखी जा रही थी, श्रीभाईजी वहीं रह रहे थे। मैं भी था। श्रीमोहनलालजीका एक नन्हा-सा बच्चा शरीर छोड़ गया। मोहनलालजी सेठजीके छोटे भाई तो थे ही, दत्तक पुत्र भी थे। बच्चेको लेकर हमलोग श्मशान गये। लौटनेपर देखा कि सेठजी अत्यन्त व्याकुल हैं। सब लोग उनकी सेवा-शुश्रूषामें लग गये। समझाने लगे—'आप इतने दुखी हो जायेंगे तो लोग क्या कहेंगे? आप इतने विचारवान्, भगवद्भक्त, सत्पुरुष हैं। लोग कहेंगे कि जब इनका दुःख नहीं मिटा, तब भगवान्के मार्गपर चलनेसे हमारा दुख क्या मिटेगा।' सेठजीने कहा—'यदि घर-बाहरका कोई भी प्राणी मेरे सामने दुखी होकर आयेगा तो मैं फिर दुखी हो जाऊँगा। इसलिये तुम लोग यह प्रतिज्ञा करो कि कोई दुखी नहीं होगा तो मैं

व्याकुल नहीं रहूँगा।' ऐसा ही किया गया और सब ठीक-ठाक हो गया।

मैंने दूसरे दिन एकान्तमें सेठजीसे पूछा—'क्या सचमुच आपको इतना दुःख हुआ?' सेठजीने कहा—'मैंने सोच-विचारकर दुखी होनेका अभिनय किया था। यदि मैं व्याकुल न होता तो घरके सब लोग रोते-पीटते और मैं उन्हें समझाते-समझाते थक जाता। जब मैं दुखी हो गया तो सब लोग समझदार हो गये और मुझे समझाने लगे। अकेले मेरे दुखी होनेसे सबका दुःख मिट गया।'

लोगोंका दुःख मिटानेकी भी कला होती है, जो किसी-किसी सत्पुरुषको आती है।

—पू० स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती

( २ )

### ग्रामीण देव-मानव

एक बार वैशाख मासके मध्याह्नके तापमें अपनी बैलगाड़ी लेकर मैं खेतसे आ रहा था। मेरे खेतमें काम करनेके लिये समीपके गाँव बखतपुरके आठ-दस मजदूर रक्खे हुए थे। वैशाखके तापका तो कहना ही क्या था, आकाशसे जैसे अग्निवर्षा हो रही थी। हमारे पास पीनेका पानी समाप्त हो गया था और सभीको बड़ी प्यास लगी थी। मेरे गाँवमें पहुँचे बिना कहीं भी पानीका मिलना सम्भव न था और यदि मैं बखतपुर लौटता तो और भी दो-तीन मीलका चक्कर पड़ता और बैलोंको भी परेशानी होती।

बीचमें ही दो रास्तोंके मिलनेपर सब मजदूरोंको मैंने बैलगाड़ीसे उतारते हुए कहा—'इस स्थानपर एक प्याऊ होती तो क्या ही अच्छा होता? योही लोग पानी पी लेते?'

'भाई!' मजदूरोंमेंसे एक बोला—'यहाँ 'हड़ाला' गाँवके एक सेठ प्रतिवर्ष प्याऊ लगाते थे, न जाने क्यों इसी साल नहीं लगाया।'

मैंने कहा—'प्याऊके लिये कुछ करना ही चाहिये, इतने भयंकर तापमें बेचारे किसी मुलाफिरका प्राण भी जा सकता है।'

—और सभी मजदूर बैलगाड़ीसे उतरकर अपने गाँवकी ओर चल दिये और मैं अपनी बैलगाड़ीमें अपने गाँवकी दिशाको चला।



मैं सोचने लगा—‘इस मार्गमें एक प्याऊ तो अवश्य होनी चाहिये । इटाला, बखतपुर और कमालपुर—इन तीनों गाँवोंका यह सीमामार्ग है । बैलगाड़ीमें जानेवाले तो कदाचित् साथमें पानी लेकर भी जा सकते हैं, किंतु सामानको साथमें लेकर चलनेवालोंकी क्या दशा होती होगी ?’ और बाल-बच्चोंको साथमें लेकर जानेवालोंका क्या होता होगा ? अतः आगामी वर्षमें तो इसी स्थानपर प्याऊका प्रवन्ध करना ही होगा । इस ग्रीष्मकालमें तो किसी बेचारेकी जान जानेका भय है ।’

खेतका काम पूरा हो जानेके कारण आठ दिनतक तो मैं अपने घरपर ही रहा । उसके बाद खेतपर जाते-जाते मैंने देखा—जिस स्थानपर प्याऊकी आवश्यकता मैं सोच रहा था, ठीक उसी स्थानपर एक छोटी-सी झोंपड़ीमें बैठे हुए एक बालकको दो-तीन ताजे पानीके मटके और पानी पीनेके दो-तीन छोटे डिब्बोंको देखकर मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा । मैंने देखा, बालक कुछ जाना-पहचाना-सा था । मैंने पूछा—‘भाई, यह प्याऊ किसने लगवाया ?’

सहजभावसे बालकने कहा—‘भाईजी ! उस दिन आप कह रहे थे न, कि ‘यहाँ एक प्याऊ हो तो बड़ा अच्छा है’; उसी समय मैं अपने बापके साथ यहाँ कंडे बटोर रहा था । घरपर जाकर मैंने अपने बापसे कहा—‘बापू ! हमलोग वहीं प्याऊ लगा दें तो कैसा रहे !’

बापूने यह छोटी-सी झोंपड़ी बना दी ? रोज सुबह मेरी माँ, बाप और मैं मिलकर ये तीन मटके पानीके भर लेते हैं । मैं यहाँ बैठकर प्यालोंको पानी पिलाता हूँ । शाम होते ही ये छोटे-छोटे डिब्बे यहीं रखकर अपने घर चला जाता हूँ ।’ मैंने प्रश्न किया—‘प्याऊ बनानेके लिये पैसे देनेको तुझे किसीने कहा है ?’

‘नहीं, भाई । यह तो हमलोग अपनी इच्छासे करते हैं । आप भी लीजिये, पानी बहुत ठंडा है ।’ लड़केने सहजभावसे उत्तर दिया ।

मैंने पानी पिया, खूब ठण्डी हुई कलेजेमें । उसे दस पैसे देनेको मैंने हाथ बढ़ाया, तब वह बोला—‘ना, भाई ! पैसे देनेको मेरे बापने मुझे मना किया है ।’ मैंने उसे खूब समझाया, मगर उसने पैसे न लिये ।

मैं सोचने लगा, ‘छोटे-से इस बालककी कितनी उच्च भावना है !—अन्यके लिये कुछ कर गुजरनेमें इसमें कैसी लगन है !’ घरका काम चौपट करने की औरोंके लिये सुखका

मार्ग खोल देनेवाले गरीबलोग भी इस दुनियामें हैं—वातका मुझे ज्ञान हुआ । अमीर लोग जो नहीं कर सकते वह गरीब कर सकता है । सच्चा पुण्य तो मानव-सेवामें ही है ।

—जेसंगकुमार वर्मा

( ३ )

## भाग्य, पत्तेकी आड़में

सुरेन्द्रनगर जिलेके सेजकपुर गाँवमें ओघड़ नीमना नामक एक व्यक्ति रहता था । छोटी-सी दुकान और मामूली-सा घर था उसका । पड़ोसमें एक गौरीशंकर गोर रहते थे । गाँवमें ‘नारायण हरे’ की पुजा लगाकर गोर भिक्षा माँग लाते थे । किसीका सुझाव निकासकर, किसीका भविष्य देखकर और यजमानवृत्ति गौरीशंकर गोर अपनी गृहस्थी चला रहे थे । इस ओघड़ अपनी दूकानमें चूड़ियाँ, नमक-मिर्च आदि बेचकर कुछ कमा लेता था ।

किसीका हक न छीनकर पसीनेकी कमाई खानेवाले जवान ओघड़के आँगनमें एक दिन सवेरे ही गौरीशंकर गोर आये । ओघड़के हाथको देखकर गोरने भविष्यकी बात बताते हुए कहा—‘ओघड़ ! तू एक नहीं, दो-चार लाख का मालिक बनेगा । तेरे द्वारा अनेकोंके दुःख दूर होंगे । तू मातृभूमि-जन्मभूमि सेजकपुरका सच्चा सेवक बनेगा । तेरे हस्तरेखा तो राजाके समान है ।’

—‘तो चाचाजी !’ प्रसन्न होकर ओघड़ बोला—‘जितने लाख रुपये मुझे मिलेंगे, उनमेंसे आधे रुपये आपने हूँगा ।’

दस-पंद्रह दिनके बाद ओघड़के मनमें विचार आया—‘बम्बई जाकर देखूँ तो, भाग्यमें क्या लिखा है ?’ और पत्नीकी चूड़ियाँ बेचकर, करीरपर जितने कपड़े थे, उन्हें लेकर वह बम्बईमें आया । प्रथम रात्रि उसने एक लकड़ीके व्यापारीकी दूकानकी बाहरी चौकीपर सोकर काट दी और उसी दिनसे लकड़ीके व्यापारीका व्यापार बढ़ गया । व्यापारि ओघड़को बुलाकर कहा—‘आजसे तुम बाहर-चौकीपर सोकर दूकानमें ही सोना । आजसे तुम अपनेको हमारे नौकरकी तरह मानना ।’

अब तो ओघड़ मुनीम बन गया । सच्ची निष्ठा, निराला स्वभाव और सरलताके द्वारा उसने व्यापारीके हृदयपर अधिक

\* सौराष्ट्रमें कुकुरको ‘गोर’ कहते हैं ।



कर लिया। अब वह स्वयं मलवार जाकर लकड़ी खरीदने लगा। इधर उसका व्यापार भी प्रतिदिन अधिकाधिक बढ़ने लगा। सठने अगले वर्ष ओघड़को दूकानकी आयका आधा साझेदार बना दिया। अब वह 'ओघड़ नीमजी पेठ' कहलाने लगा। वड़े पेठजी अब बृद्ध हो गये थे, अतः पूरा व्यापार ओघड़को सौंपकर उन्होंने निवृत्ति ले ली।

एक दिन रात्रिमें ओघड़को स्वप्नमें आदेश मिला—  
“मैं भूमिके नीचे दब रहा हूँ, गाँवके मध्यमें उत्तरकी ओर भूगर्भमें स्थित अपने पुरातन मन्दिरमें मैं रह रहा हूँ। अपने गाँवमें जाकर मुझे बाहर निकालो, मैं हूँ सेजकपुरका ग्राम देवता गणेश।”

गाढ़ निद्रासे जागकर ओघड़ सोचने लगा। उसे स्मरण आया, गौरीशंकर गोरका ज्योतिष और उसे अपने द्वारा दिया हुआ यह वचन कि—“चाचाजी! मुझे जितने लाख रुपये मिलेंगे, उनमेंसे आधे रुपये मैं आपको दूँगा।” ओघड़के दृष्टिपथमें उसका सारा भूतकाल खड़ा हो गया और वह बम्बईसे सेजकपुर जा पहुँचा। सर्वप्रथम गणपतिके स्वप्नादेशके अनुसार भूमिपूजन करके उसने मन्दिरको बाहर निकाला। धूमधामसे गणपतिकी प्रतिष्ठा-पूजा की गयी। गाँव-भरमें प्रसाद बाँटा गया।

इस तरह 'श्रीगणेशाय नमः' करके अब ओघड़ गोरदादाके वहाँ पहुँचा और उनके चरणमें उसने रुपयोंका ढेर लगा दिया। और प्रणाम करके वह बोला—“चाचाजी! लीजिये, यह ओघड़की स्वल्प भेंट। आपको याद होगा, आपने कहा था, 'तू चार-पाँच लाखका मालिक बनेगा' और मैंने कहा था—“तो चाचाजी! उन रुपयोंमेंसे आधे रुपये मैं आपको दूँगा।”

“भाई! यह तो तेरे भाग्यका पैसा है और तेरा ही माना जायगा। तेरे द्रव्यमेंसे मुझे एक पाई भी नहीं चाहिये, यह तो तेरे नसीबका है।”

“चाचाजी!” ओघड़ बोला। “अगर आपको नहीं चाहिये, तो मुझे भी नहीं चाहिये; ब्राह्मणको दिया हुआ धन वापस नहीं लिया जाता।”

इधर ब्राह्मणदेव धन लेना अस्वीकार कर रहे थे और ओघड़ भी दिये हुए धनको वापस लेना पाप समझ रहा था। अन्ततोगत्वा पंचोंको बुलाया गया और पंचोंने निर्णय दिया—  
“इस धनका सदुपयोग किसानोंकी सहायता और लोक-कल्याणमें किया जाय।” सेजकपुरके छोटे-मोटे किसान जमींदारोंके कर्जसे

दबे हुए थे, उन्हें ३०-३५ हजार रुपये व्यय करके कर्ज मुक्त किया गया। इस तरह ओघड़की जन्मभूमिके गरीब लोगोंको चिन्तामुक्त करनेके बाद भी उनके बहुत रुपये बचे रहे। उनमेंसे भूखोंको अन्न, खुले अङ्गुलियोंको वस्त्र आदिकी सहायता दी गयी। इस तरह अपने धनका सदुपयोग करके ओघड़ सकुटुम्ब बम्बई लौट गया। समयपर उसने देहत्याग किया। आज भी बम्बईके घाटकोपर मोहल्लेमें उसका निवासस्थान 'ओघड़ नीमजी मैन्शन'के नामसे पहचाना जाता है।

—पद्मिनीराम जोशी

( ४ )

### कर्तव्यनिष्ठ पुलिस

कुछ समय पूर्व मेरे चाचाजीको अपने प्रवासमें हुए अनुभवको उन्हींके शब्दोंमें लिख दे रहा हूँ—

“थोड़े दिन पूर्व मैं मोडासासे गोधरा जाती हुई मोटर बसमें सकुटुम्ब सफर कर रहा था। मध्याह्नका समय था और गरमी असह्य थी। गरमी सहन न होनेके कारण मैंने अपना कोट उतारकर सामनेवाली ऊपरकी जगहपर रख दिया। उसकी जेबमें १५० रुपये थे और गोधरा आते ही हमलोग उतर पड़े। वहाँसे स्टेशन पहुँचकर हमें उसी दिन कोटा जाना था। जल्दीसे टिकट कटा ली, अब गाड़ी आने-भरकी देर थी। उसी समय मुझे याद आया कि 'कोट तो मोटरबसमें ही रह गया था। शीघ्रता, गरमी और लोगोंकी भीड़में मैं उसे उतारना ही भूल गया था। अब वह कोट मिलेगा या नहीं? १५० रुपये जो उसमें थे, उनका अवकाश होगा?’

“इसी चिन्ताने मेरे मनको घेर लिया। इतनेमें ही मेरे साथ बसमें बैठकर आया हुआ एक पुलिसमैन वहाँ आ पहुँचा। उसे पहचानकर मैंने अपनी चिन्ताका कारण बतलाया। पुलिसमैनने मुझे धीरज देकर कहा—“घबराइये मत, अपने पुत्रको आप मेरे साथ भेजिये; आपका कोट लेकर मैं शीघ्र लौट आऊंगा।”

—और ताँगा करके वह शीघ्र ही बस-स्टैंडपर पहुँचा और कण्ठकटरसे उसने पूछा—“बसमें एक कोट रह गया है, मिला है तुम्हें?”

“नहीं” कण्ठकटरने कहा—“साहब, मुझे पता नहीं है; बस आकर ज्यों ही खड़ी हुई कि मैं आफिसमें चला गया था।”

—तो भी पुलिसमैनने हिम्मत नहीं छोड़ी। उसने वहाँ खड़ी हुई खाली बसमें जाकर देखा तो कोट वहाँ पड़ा था, जहाँ मैंने स्वयं उसे रखा था। पुलिसमैनने रुपये भी गिन लिये



और कण्डेक्टरको ऐसी बेपरवाही भविष्यमें न करनेको कहा । ताँगा करके दोनों वापस आ गये । मेरे पुत्रके हाथमें कोट देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ और पुलिसको धन्यवाद देकर मैंने दस रुपयेका नोट उसके हाथमें रख दिया ।

“पुलिसमैनने ताँगेका किराया काटकर शेष पैसे मेरे हाथमें देते हुए कहा—‘भाई ! मैंने तो अपना कर्तव्यपालन किया है, ताँगेके किरायेके सिवा अन्य कुछ भी नहीं लूँगा ।’”

आज जब कि पुलिसवाले कर्तव्यहीनके रूपमें पहचाने जाते हैं, वहाँ इस पुलिसमैनकी कर्तव्यनिष्ठा, निर्लोभता एवं रिश्तत या इनामतक न लेनेकी वृत्ति देखकर मैंने उसकी मानसिक वन्दना की ।

—अमृतलाल रामजीभाई पटेल

( ५ )

### गन्ध फैलती है

आजसे लगभग ३०-३२ वर्ष पहलेका यह प्रसङ्ग है, परंतु आज भी मुझे यह ताजा लगता है । उस समय हम लोग करौंचीमें रहते थे और हमारी ननिहाल मोरवाँ थी । हर बड़ी छुट्टीमें हमलोग वहाँ जाते । उस बार भी गये । तीन दिनका रास्ता था । बालकपनके बेजवाबदार, निर्दोष जीवनके बीच इतनी लम्बी यात्रामें हमलोगोंको खूब आनन्द आता ।

हम मोरवाँसे वापस करौंची जा रहे थे । हम चार-पाँच भाई-बहिन और हमारी माँ थी । शामको ७ बजे ट्रेन खुली । तीसरे दिन शामको उभे करौंची पहुँचना था ।

दूसरे दिन सबेरे मेहसाना स्टेशन आया और हमारा डिब्बा कटनेको था । फलतः ३ घंटे स्टेशनपर पड़े रहना था । उस जगह हमारी जातिके एक स्नेही सजन रहते थे । उनकी स्थिति अच्छी थी । पत्नी एवं बालकोंके अतिरिक्त भंडारी एवं नौकर-चाकरोंसे घर भरा था । उनको हमारे मोरवाँसे प्रस्थान करनेकी सूचना मिली, फलतः वे स्टेशनपर आ गये । हमको अपने घर चलनेका आग्रह किया और बोले—“रसोई तैयार है, समय पर्याप्त है । अतः सब लोग घर चलो और नहा-धोकर, खा-पीकर मजेमें स्टेशन पहुँच सकोगे ।”

हमलोग गये । मकान बड़ा था । ऊपर नहाने-धोने और नीचे भोजनकी व्यवस्था थी ।

ऊपर सब लोग बारी-बारीसे नहाये-धोये और नीचे

आमरस एवं पूड़ीका भोजन किया और फिर वापस स्टेशन चले आये ।

हम दोनों बहिनोंने और माँने गहने पहन रखे थे । दोनों हाथोंमें पोंहचियाँ थीं और दोनों बाँहोंपर एक हाथमें कड़ा और एक हाथमें पट्टा पहन रखा था । मेहसाने खाना खाया, उसके दूसरे दिन मेरी माँको अचानक खाना आया कि एक बाँहपर तो कड़ा है, किंतु दूसरे बाँहका पट्टा गायब है ।

पट्टा कब गिरा, कैसे गिरा—यह सोचनेपर भी कुछ पता नहीं चला । फिर गिरा कैसे ? याद करके सोचा गया कि पट्टा अन्तिम बार कहाँ था । विचार करनेपर याद आई कि पिछले दिन स्नानके मध्यमें हाथमें साबुन लगाते समय वह निकलकर गिरने लगा था, अतः उसे उतारकर बगल में रख दिया गया था । वह अनुमानतः चार-साढ़ेचार तैलियाँ धोया था । नहाकर वापस पहन लेनेकी बात सोची थी, परंतु माँ जल्दीमें उसको पहनना भूल गयी । अब क्या हो ! उन स्नेही सजनकी नेकनीयतीके विषयमें तो दो सतों में नहीं, किंतु नौकरोंका घर था । यदि वह आभूषण किसे नौकरके हाथ पड़ गया तो मिलनेकी आशा नहीं की जा सकती थी ।

डाकसे खबर देना अथवा तारसे पूछना करौंची पहुँचनेपर ही सम्भव था । ईश्वरपर भरोसा रखकर कि “सच्ची कमाईकी चीज कहीं जायेगी नहीं”, हमलोग शान्त थे । पर माँके मनमें तो चिन्ता हो ही रही थी ।

शामको करौंची पहुँचे । पिताजी स्टेशनपर आये थे । माँने उनसे सारी बात कही और आश्चर्यकी बात कि दूसरे ही दिन बिना हमारी किसी तार-चिट्ठीके हमारे उस प्रेमीका संवाद मिला कि “पट्टा यहीं रह गया था । हमने उसको सँभालकर रख दिया है और किसी योग्य आदमीके साथ भेज देंगे । चिन्ता मत करना ।”

कुछ समय बीतनेके बाद हमारी जान-पहचानकी एक बहिन मेहसानासे आ रही थी । उसके साथ हमारे उन स्वजनने पट्टा हमारे पास सही-सलामत पहुँचा दिया ।

आज वे प्रेमी मौजूद नहीं हैं, परंतु उनकी सज्जनताकी सुवास अबतक फैल रही है । ‘अखण्ड आनन्द’

—उर्मिला डी० माँक



आकार—डबल क्राउन आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ६०२, सुन्दर तिरंगे चित्र १२, कपड़ेकी सुन्दर मजबूत जिल्द, मूल्य ९.००, डाकखर्च २.२५, कुल लागत ११.२५ ।

परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अत्यन्त निकटस्थ एक 'साधु' ने आजसे लगभग पचीस वर्ष पहले उनके प्रेमपूर्ण अनुरोधपर भगवान् श्रीकृष्णकी व्रजलीलाओंका एक छोटा-सा शब्दचित्र प्रतिमास 'कल्याण'में देनेके लिये प्रस्तुत कर देना स्वीकार किया था और यह कम कई वर्षोंतक अनवरतरूपसे चलता रहा । वे शब्द-चित्र 'श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन' शीर्षकसे धारावाहिकरूपसे 'कल्याण'में छपते रहे । 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंको वे इतने पसंद आये कि तबसे अबतक इनको पुस्तकाकारमें प्रकाशित करनेका आग्रह बना ही रहा । भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे अब यह सुयोग प्राप्त हुआ है कि उन शब्द-चित्रोंको ग्रन्थका रूप दिया गया है ।

इस ग्रन्थमें लीलाओंका क्रम श्रीमद्भागवतके अनुसार रखा गया है और भगवान् के जन्मसे लेकर उनकी बाललीलाओं एवं पौगण्ड लीलाओंका ही वर्णन इसमें है । आशा है, पाठकोंको इस ग्रन्थके अध्ययनसे श्रीकृष्णकी दिव्य मनोहारिणी लीलाओंका अनुशीलन करनेमें पर्याप्त सहायता मिलेगी ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )

## नये ग्राहक शीघ्रता करें

इस वर्षके विशेषाङ्क "अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराण-अङ्क" की विद्वानों तथा विचारशील पुरुषोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है । इसमें भक्तिभावका हृदयमें संचार करनेवाली इतनी उपयोगी सामग्री दी गयी है कि उसको पढ़ना आरम्भ करनेपर जल्दी छोड़नेका मन नहीं होता । इसकी उपादेयता इस तथ्यसे प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है कि इसकी अबतक एक लाख साठ हजार प्रतियाँ बिक चुकी हैं । लगभग पंद्रह हजार नये ग्राहकोंको यह विशेषाङ्क और सुलभ हो सके, ऐसी व्यवस्था है । जिन प्रेमी महानुभावोंको ग्राहक बनना हो, वे तुरंत १०.०० दस रुपये मनीआर्डरसे भेज दें या बी० पी० द्वारा अङ्क भेजनेका हमें आदेश दें । सजिल्द विशेषाङ्कका मूल्य ११.५० है ।

इसी प्रकार इसका प्रचार चाहनेवाले जो सज्जन नये ग्राहक बनानेका प्रयत्न करते हैं या प्रचारार्थ संस्थाओंमें वितरण करना चाहते हैं, वे भी शीघ्रता करें । इन पंद्रह हजार अङ्कोंके बिक जानेपर इसकी पुनः छपनेकी सम्भावना नहीं है । देरी कर देनेसे अङ्क समाप्त हो जानेपर 'नये ग्राहक' बनने और बनानेवाले सज्जनोंको निराश ही होना पड़ेगा ।

व्यवस्थापक—'कल्याण', गोरखपुर

## आवश्यक सूचना

विभिन्न स्थानोंसे हमें हालमें सूचना मिली है कि प्रो० स्वामी दिव्यानन्द सरस्वती नामके कोई सज्जन, जो अपनेको 'मानव-सेवा हिंदू-प्रचारकेन्द्र'के संस्थापक, अध्यक्ष एवं संचालक घोषित करते हैं तथा 'आधुनिक विवेकानन्द'के नामसे अपना प्रचार करते हैं, 'कल्याण'के आदि सम्पादक नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका एक पत्र प्रकाशित कर बैठवा रहे हैं, जिसमें उनके कार्यकी प्रशंसा की गयी है, तथा श्रीपोद्दारजीके उस पत्रका उपयोग करके पैसे एकत्र कर रहे हैं । हमें इस बात नहीं वे सज्जन कैसे हैं और इस प्रकार एकत्रित किये हुए पैसोंका कितने अंशमें सदुपयोग कर रहे हैं । हम इस विशिष्टिके द्वारा 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंको सावधान कर देना अपना कर्तव्य समझते हैं और उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे जाँच-परखकर अपनी जिम्मेवारीपर उक्त सज्जनको आर्थिक सहायता प्रदान करें, श्रीपोद्दारजीके पत्रसे प्रभावित सर्वथा न हो । क्योंकि हम निश्चितरूपसे नहीं कह सकते कि श्रीपोद्दारजीके जिस पत्रको छपवाकर वे सज्जन वितरित कर रहे हैं, वह वास्तवमें उसी रूपमें उन्होंने इनको दिया था; कारण उस पत्रकी कोई प्रतिलिपि कार्यालयमें हमें नहीं मिली, जिससे इस बातकी जाँच की जा सके ।

—सम्पादक 'कल्याण'



## कामवृक्षसे अनुराग कैसा ?

हृदि काममयश्चित्रो मोहसंचयसम्भवः ।  
 अज्ञानरूढमूलस्तु विधित्सापरिषेचनः ॥  
 रोषलोभमहास्कन्धः पुरा दुष्कृतसारवान् ।  
 आयासविटपस्तीव्रशोकपुष्पो भयाङ्कुरः ॥  
 नानासंकल्पपत्राढ्यः प्रमादात् परिवर्धितः ।  
 महतीभिः पिपासाभिः समन्तात्परिवेष्टितः ॥  
 संरोहत्यकृतप्रज्ञे पादपः कामसम्भवः ।  
 नैव रोहति तत्त्वज्ञे रूढो वा छिद्यते पुनः ॥  
 कृच्छ्रोपायेष्वनित्येषु निस्सारेषु फलेषु च ।  
 दुःखादिषु दुरन्तेषु कामयोगेषु का रतिः ॥

( महाभारत, अनुशा० १४५ अ० द्वात्रिंशत्प्रति )

एक काममय वृक्ष है, जो मोहसंचयरूपी बीजसे उत्पन्न हुआ है । वह काममय विचित्र वृक्ष हृदयदेशमें ही स्थित है । अज्ञान ही उसकी मजबूत जड़ है । सकाम कर्म करनेकी इच्छा ही उसे सींचना है । रोष और लोभ ही उसके विशाल ( जुड़े हुए ) तने हैं । पाप ही उसका सार-भाग है । आयास-प्रयास ही उसकी शाखाएँ हैं । तीव्र शोक पुष्प है, भय अङ्कुर है । अनेक संकल्प उसके पत्ते हैं । यह प्रमादसे बढ़ा है । बड़ी भारी पिपासा या तृष्णा ही लता बनकर उस कामवृक्षसे चारों ओर लिपटी हैं । अज्ञानी मनुष्यमें ही यह काममय वृक्ष उत्पन्न होता और बढ़ता है । तत्त्वज्ञ पुरुषमें यह अङ्कुरित ही नहीं होता; यदि हुआ भी तो कट जाता है । यह कामवृक्ष कठिन उपायोंसे नष्ट किया जा सकता है, अनित्य है । इसके फल निस्सार हैं, इसका आदि और अन्त भी दुःखमय है । इससे सम्बन्ध जोड़नेमें क्या अनुराग हो सकता है ?



# कलेशापी





हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण, १, ६५, ०००

## विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, जुलाई १९७१

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-श्रीराधाजीसे विनय [ संकलित ] ...	१०१३
२-कल्याण ...	१०१४
३-राम विरहीकी स्थिति एवं परिणाम [ कविता ] ( संत श्रीदादूदयालजी ) ...	१०१५
४-ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश ( पुराने सत्सङ्गसे ) ...	१०१६
५-लज राखौ गिरिधारी [ कविता ] ( श्रीसूरदासजी ) ...	१०१८
६-परमार्थकी पगडंडियाँ [ नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दार ) के अमृत-वचन ] ...	१०१९
७-भक्तिदर्शनकी कतिपय विशेषताएँ—२ ( अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज ) ...	१०२३
८-गीताका भाक्त्योग—४ ( पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज ) ...	१०२९
९-आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ ...	१०३६
१०-गांधी-जीवन-सूत्र ( श्रीकृष्णदत्तजी-भट्ट ) ...	१०३८
११-अनन्य शरणागति [ कविता ]	

विषय	पृष्ठ-संख्या
( श्रीसूरदासजी ) ...	१०४२
१२-चोर ( श्रीरामेश्वरजी टांटिया ) ...	१०४३
१३-नैतिक मर्यादाओंका उल्लंघन न करें ( प्रेसक-श्रीबीरबलप्रसादजी शुक्ल ) ...	१०४५
१४-उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णु-धर्मोत्तरपुराण—३ ( श्रीजानकीनाथजी शर्मा ) ...	१०४७
१५-परमार्थ-पत्रावली ( ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र )	१०५०
१६-कैसी बीती ? ( श्रीअगरचंदजी नाहटा )	१०५३
१७-तुझमें है अद्भुत धन [ गद्य-काव्य ] ( श्रीमोतीलालजी सुराना ) ...	१०५४
१८-महात्मा सेरफिम ( श्रीरामलालजी, बी० ए० ) ...	१०५५
१९-श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अन्तिम उपदेश ( संग्रहकर्ता-श्रीकृष्ण-चन्द्रजी अग्रवाल ) ...	१०५७
२०-सर्वत्र भगवदनुभूति [ कविता ] ( श्रीभाईजी ) ...	१०६२
२१-एक दृष्टिकोण ( श्रीसिद्धराजजी ठड्डा )	१०६३
२२-पढ़ो, समझो और करो ...	१०६७

## चित्र-सूची

१-बसुदेवजी श्रीकृष्णको गोकुल ले जा रहे हैं ( रेखाचित्र ) ...	मुखपृष्ठ
२-श्यामसुन्दरकी वंशी बजाती हुई श्रीराधा ( तिरंगा ) ...	१०१३

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.००

विदेशमें १६.०० (१८ शिलिंग)

जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

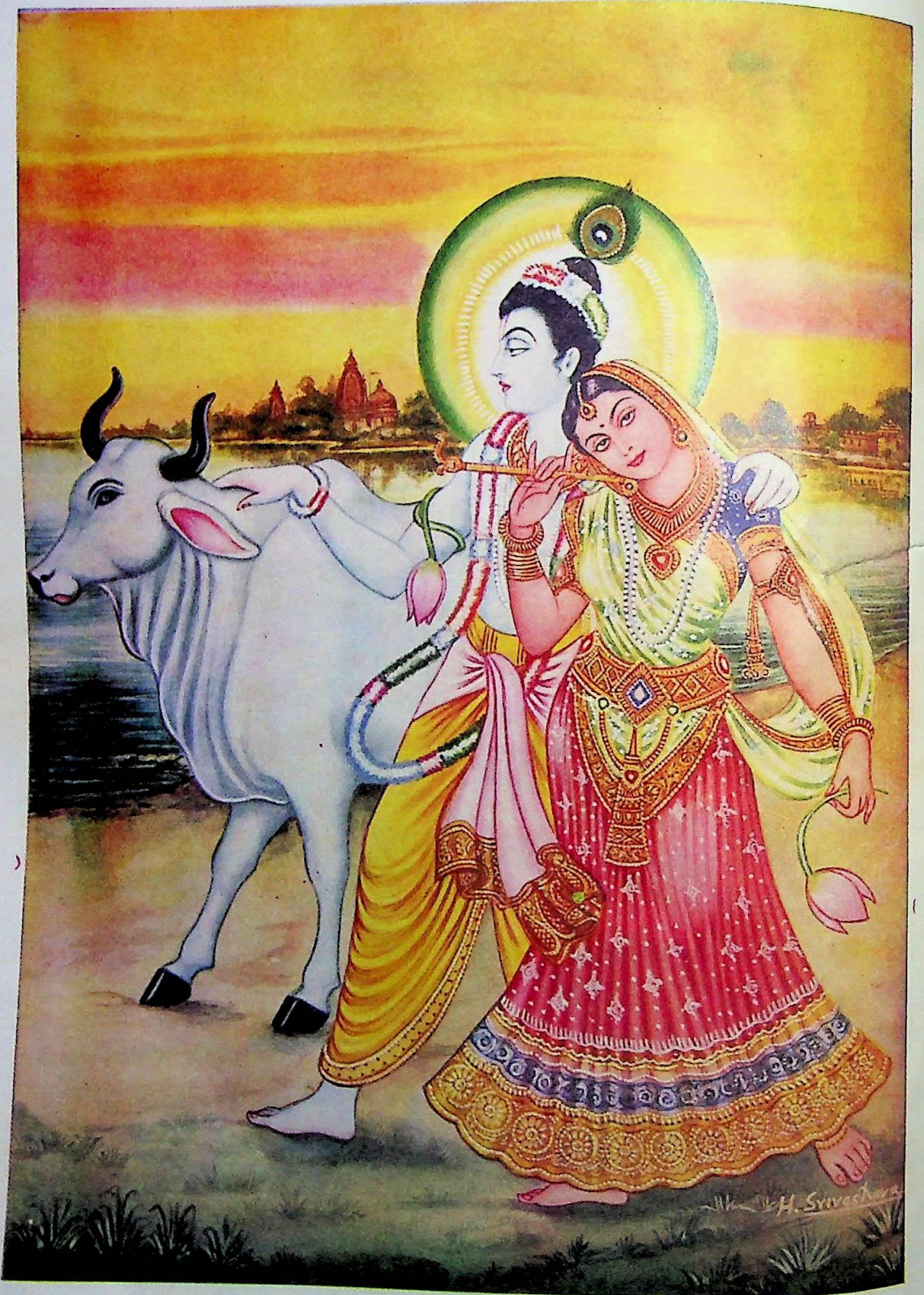
साधारण प्रति भारतमें १०.००  
विदेशमें १०.०० (१५ पैसे)

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्बनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री  
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



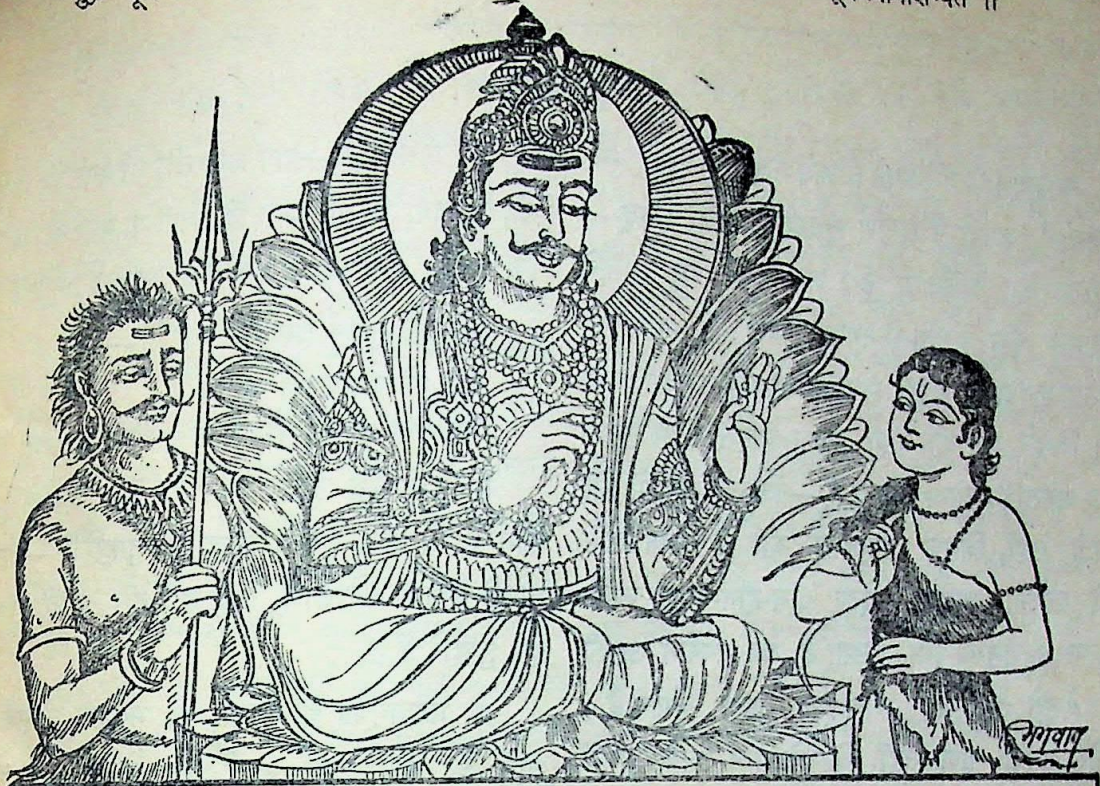






श्यामसुन्दरकी वंशी बजाती हुई श्रीराधा





# कलयाण

अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

( अग्निपुराण )

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर श्रावण, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, जुलाई १९७१ { संख्या ७  
पूर्ण संख्या ५३६

श्रीराधाजीसे विनय

त्वां च बल्लवपुरंदरात्मज  
त्वां च गोकुलवरेण्यनन्दिनि ।  
एष मूर्ध्नि रचिताञ्जलिर्नमन्  
भिक्षते किमपि दुर्भगो जनः ॥

( श्रीरूपगोस्वामी )

हे गोपेन्द्रकुमार और हे वृषभानुनन्दिनि ! मस्तकपर अञ्जलि  
बाँधकर नमस्कार करता हुआ यह अभागा आप दोनोंसे कृपाकी  
याचना करता है ।



## कल्याण

भगवान् ने गीतामें अपने विषयमें कहा है—‘सुहृदं सर्व-भूतानाम्’ अर्थात् मैं सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद्—अकारण हित करनेवाला हूँ। भगवान् की इस उक्तिके आधारपर एक नगण्य-से-नगण्य व्यक्ति भी भगवान् को ‘अपना’ कह सकता है और सचमुच भगवान् उसके ‘अपने’ हैं। जिससे हम बात नहीं करना चाहते, जिसे समाज तुच्छ मानता है, नगण्य मानता है—जिसकी संसारमें कोई गिनती नहीं, जिसपर संसारका कोई भी व्यक्ति दृष्टि नहीं डालना चाहता—ऐसा दीन-हीन-नगण्य व्यक्ति भी जब भगवान् की ओर देखता है, तब भगवान् उसकी ओर देखते हैं—यह भगवान् का सहज स्वभाव है। किसीसे उनको घृणा नहीं, किसीके प्रति उनके मनमें वैषम्य नहीं, किसीसे उनके मनमें द्वेष नहीं, वे सम हैं—

‘समोऽहं सर्वभूतेषु’ (गीता ९।२९)

‘मेरा सर्व भूत-प्राणियोंमें सम भाव है।’

किंतु समस्त भूत-प्राणियोंमेंसे जो कोई भी उनसे कहेगा—‘हम तुम्हारे’, भगवान् उसके लिये कहेंगे—‘हाँ! हाँ! तुम हमारे।’ इतना ही नहीं, वे एक बात और साथमें कह देंगे—‘तुम हमारे हो तो हम तुम्हारे हैं।’

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।

—ये भगवान् विष्णुके वचन हैं—‘साधु (भक्त) मेरा हृदय है और मैं उनका हृदय हूँ।’ भगवान् इतना कहकर ही विराम नहीं ले लेते, वे अपनेको कितने छोटे दायरेमें ले आते हैं—

‘मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ।

(श्रीमद्भागवत ९।४।६८)

‘मेरे सिवा किसी दूसरेको वे नहीं जानते और उनके सिवा किसी दूसरेको रंचकमात्र भी मैं नहीं जानता।’

कितना अपनत्व है, कितनी आत्मीयता है! सचमुच भगवान् का ऐसा ही उदार स्वभाव है। उन्हें जो चाहो

सो बना सकते हो—चाप बना लो, माँ बना लो, भैंस बना लो, बेटा बना लो, पति बना लो, मालिक बना लो—यहाँ कि ‘चाकर’ बना लो; वे सब कुछ बननेको प्रस्तुत हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

ऐसो को उदार जग साहीं ।

बिनु सेवा जो द्वै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं ॥

सचमुच ऐसा उदार कौन है, ऐसा दयालु कौन है, जो बिना सेवाके केवल ‘हम तुम्हारे हैं’—यह मात्रसे घोषणा कर डाले, ‘हाँ, हाँ, तुम हमारे हो तो हम तुम्हारे हैं।’

जो भगवान् का हो जाता है, भगवान् जिसके जाते हैं, सारे सद्गुण अपने-आप उसमें आने लगते हैं—सद्गुण उसकी सेवा करनेमें अपना सौभाग्य मानते हैं। सचमुच ऐसा भक्त सद्गुणोंकी अपेक्षा नहीं करता। सद्गुण स्वयं अपने-आपको धन्य बनानेके लिये उसकी सेवा करनेमें नियुक्त होते हैं। सद्गुणोंका सौभाग्य इसीमें है कि वे ऐसे भक्तकी सेवामें रहते हैं। इस प्रकार भगवान् का हो जानेपर सद्गुणोंको लानेका प्रयत्न करना पड़ता, सद्गुण उसमें अपने-आप आ जाते हैं और फिर भगवान् कह देते हैं—‘हम तुम्हारे हैं।’ अतः बस, यही करना है कि अपनी सारी ममता-आसक्ति भगवान् में लगा दें और कह उठें—‘भगवान् मेरे, और कुछ मेरा नहीं; मैं केवल भगवान् का, और किसीका नहीं।’ अर्थात् अपनी सारी ममता भगवान् पर और भगवान् की सारी ममता अपनेपर अनुभव करें।

भगवान् ने भी अपने भजनका यही तरीका बताया है—

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी।

‘संसारके प्रति अपने ममत्वरूपी धागोंको बटोरकर और उन सबकी एक डोरी बटकर उसके द्वारा जो अपना मनको मेरे चरणोंमें बाँध देता है—सारे सांसारिक



सम्बन्धोंका केन्द्र मुझे बना लेता है, वह मेरे दिया है। वस, हम अपने उस नित्य सम्बन्धको याद हृदयमें बस जाता है। हम भगवान्की इस कर लें और पुकार उठें—‘नाथ ! हम तो भूल ही वाणीपर विश्वास करें और भगवान्को अपना बना लें। गये थे—तुम तो हमारे थे ही और हमारे ही रहोगे। जीवन जा रहा है; कब मृत्यु हो जाय—कुछ पता अव हम इस सम्बन्धको नहीं भूलेंगे। अव तुम हमें नहीं। अतएव निरन्तर तैयार रहना चाहिये और मत भूलो और हम तुम्हें नहीं भूलें।’ हम रात-दिन तैयारी यही है कि ‘हम भगवान्के हो जायँ—होहि भगवान्को यही कहें और बार-बार मन-ही-मन इसकी राम को।’ इतना हुआ कि भगवान् तो अपनानेको तैयार ही आवृत्ति करें—‘हम भगवान्के ! हम भगवान्के ! हैं। भगवान्के साथ यह सम्बन्ध नया नहीं जोड़ना हम भगवान्के ! भगवान् हमारे ! भगवान् हमारे ! भगवान् है; हमारा और उनका यह सम्बन्ध नित्य है, सनातन हमारे !!! जगतका ‘हमारा-हमारा’ सब झूठा है। ‘यह है। सचमुच भगवान् ही हमारे हैं और हम भगवान्के घर हमारा, यह मकान हमारा, यह शरीर हमारा’—ही हैं; पर इस सम्बन्धको हमने भुला रखा है। पुरुष यह सब झूठा है। वास्तवमें कोई भी हमारा नहीं है, जो ‘स्वस्थ’ था, वह ‘प्रकृतिस्थ’ हो गया—अर्थात् केवल भगवान् हमारे हैं। हम इसीकी रात-दिन आवृत्ति मायामें स्थित होकर उसने अपने नित्य सम्बन्धको भुला करें—‘भगवान् हमारे हैं।’ यही परम साधन है।

## राम-विरहीकी स्थिति एवं परिणाम

विरहिणि रोवै रात दिन, झुरै मनही माहिं ।  
 ‘दादू’ औसर चलि गया, प्रीतम पाये नाहिं ॥  
 पिय बिन पल-पल जुग भया, कठिन दिवस क्यूँ जाइ ।  
 ‘दादू’ दुखिया राम बिन, काल रूप सब खाइ ॥  
 सहजै मनसा मन सधै, सहजै पवना सोइ ।  
 सहजै पाँचों थिर भये, जे चोट विरह की होइ ॥  
 ‘दादू’ पड़दा पलक का, एता अंतर होइ ।  
 ‘दादू’ विरही राम बिन, क्यूँ करि जीवै सोइ ॥  
 रोम-रोम रस-प्यास है, ‘दादू’ करहिं पुकार ।  
 राम घटा दल उमँगि करि, वरसहु सिरजनहार ॥  
 तलफि-तलफि विरहिणि मरै, करि-करि बहुत विलाप ।  
 विरह-अग्नि में जल गई, पीव न पूछै वात ॥  
 राम विरहिणी है गया, विरहिणि है गइ राम ।  
 ‘दादू’ विरहा वापुरा, ऐसे करि गया काम ॥

—संत दादूदयालजी



# ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

( पुराने सत्सङ्गसे )

परमात्मा सर्वत्र चर-अचर सब भूतोंमें समानरूपसे व्याप्त है ।

भगवान्ने गीतामें कहा है—

वहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।  
सूक्ष्मत्वात्तद्विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥  
( १३ । १५ )

‘पूर्णब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण चराचर भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है; पर भगवान्का वह स्वरूप सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय अर्थात् जाननेमें नहीं आता, वह दूर-से-दूर और पास-से-पास भी है ।’ इसपर शङ्का होती है कि ‘जब भगवान्का स्वरूप इतना सूक्ष्म है कि वह जाननेमें नहीं आता, तब वह सर्वत्र किस प्रकारसे व्याप्त है ?’ इस बातको एक दृष्टान्तसे समझना चाहिये—

आपके हाथमें एक तौलिया है । आपसे कोई पूछता है—‘आपके हाथमें क्या है ?’ तो आप कहते हैं कि ‘तौलियेके अतिरिक्त मेरे हाथमें कुछ भी नहीं है ।’ पर गहराईसे विचार करनेपर तौलियेके अतिरिक्त पहली चीज यहाँपर प्रकाश है । यदि यहाँपर अँधेरा हो, प्रकाश न हो तो आपको यह तौलिया दिखलायी ही नहीं पड़ सकती । दूसरी चीज यहाँपर आपके नेत्रोंकी वृत्ति है । यदि आपके नेत्रोंकी वृत्ति यहाँपर मौजूद न हो तो आपको यह तौलिया नहीं दिखायी पड़ सकती थी । आप नेत्रोंकी वृत्तिको तौलियेकी ओरसे हटा लें तो आपको तौलियेका दिखायी देना बंद हो जायगा । तीसरी चीज है—आपका मन । आप नेत्रोंसे तौलियेको देखते रहें; पर यदि मन यहाँ न होगा तो नेत्रोंके देखते हुए भी आपको यह तौलिया दिखायी नहीं पड़ेगी । चौथी चीज है—बुद्धि । बुद्धि यहाँपर मौजूद न होती तो इस बात-

का निर्णय किसने किया है कि ‘यह तौलिया है, या अन्य चीज नहीं ?’ इन चीजोंसे भी सूक्ष्म एक चीज और है । वह है—आपकी आत्मा । यदि आपकी आत्मा यहाँपर नहीं होती तो इस बातका अनुभव किसको हुआ कि यह तौलिया है ? आत्मा परमात्माका ही स्वरूप है और वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है । इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि परमात्मा सर्वत्र, सभी चर-अचर भूतोंमें समानरूपसे व्याप्त है, पर अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे साधारण दृष्टिसे वह जाननेमें नहीं आता ।

दृश्य-प्रपञ्चको परमात्माका स्वरूप मानकर तदनुसार आचरण एवं व्यवहार करना चाहिये ।

संसार प्रकृतिका कार्य है—ऐसा आपके अनुभव में आता है तथा पढ़े-लिखे लोग भी कहते हैं; पर भगवान्का कथन एवं संत पुरुषोंका कथन और अनुभव इसके सर्वथा विपरीत हैं । श्रीरामचरितमानसमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके श्रीमुखके वचन हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।  
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥  
( किष्किन्धाकाण्ड दो० ३ )

‘हे हनुमान् ! अनन्य वही है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर ( जड़-चेतन ) जगत् मेरे स्वामी भगवान्का रूप है ।’

यही बात भगवान् श्रीकृष्णने भी गीतामें बतलायी है—

वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।  
( ७ । १९ )

‘जो ज्ञानवान् पुरुष इस सचराचर रूपमें मुझसे वासुदेवको अनुभव करता है, वह बहुत ही दुर्लभ है ।’



इस प्रकार स्वयं भगवान् एवं महापुरुष यह बतलाते हैं कि दृश्य-प्रपञ्च प्रकृतिका कार्य नहीं, भगवान्का स्वरूप है। अतएव चाहे यह हमें भगवत्स्वरूपमें दिखलायी न पड़े, तब भी हमें ऐसा विश्वास कर लेना चाहिये; क्योंकि जो लोग वास्तवमें समझदार होते हैं, वे जो कुछ सामने प्रतीत होता है, उसको न मानकर जैसी वस्तुस्थिति होती है, उसीको मानते हैं और जो मूर्ख होते हैं, वे सामने जैसा, जो कुछ प्रतीत होता है, उसको वैसा ही मान बैठते हैं।

कई बार नये स्थानपर दिग्भ्रम हो जाता है और हम पूर्वको पश्चिम और पश्चिमको पूर्व मानने लगते हैं। पर ज्यों ही सूर्योदय होता है कि वह दिग्भ्रम दूर हो जाता है और वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है। ग्रीष्म ऋतुमें मरुभूमिमें जलकी प्रतीति हो जाती है; पर निश्चय करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि वह जल नहीं है, मरुस्थल है। इसी प्रकार विवेकके उदय होनेपर यह अनुभव हो जाता है कि यह दृश्य-प्रपञ्च प्रकृतिका कार्य नहीं, परमात्माका स्वरूप है। अतएव साधकको चाहिये कि महापुरुषोंके अनुभव एवं उनके वचन तथा स्वयं भगवान्की वाणीपर विश्वास करके इस दृश्य-प्रपञ्चको परमात्माका स्वरूप मानकर तदनुसार आचरण एवं व्यवहार करे।

**दुर्गुण-दुराचाररूपी शत्रुओंपर विशेष ध्यान रखिये।**

सदाचार एवं धर्मका पालन करते समय एक बातपर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि जो हमारे साधनके शत्रु हैं, वे धर्म और ईश्वरभक्तिकी ही ओटमें छिपना चाहते हैं। जिस प्रकार दीपकके नीचे अँधेरा रहता है, उसी प्रकार साधनके शत्रु धर्म और ईश्वरभक्तिकी ओटमें छिपे बैठे रहते हैं। वे शत्रु कौन-से हैं ? आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप, द्वेष, पाखण्ड, मान-बड़ाईकी कामना आदि साधनके शत्रु हैं और ये मौका लगनेपर चोरी एवं डाका

डाला करते हैं। इसलिये इन दुर्गुण-दुराचारोंको खोज-खोजकर नष्ट कर डालना चाहिये। घरमें छिपे चोर-डाकू बहुत अधिक धोखा दिया करते हैं, बाह्यके चोर-डाकू उतना धोखा नहीं दे सकते। अतएव घरमें छिपे चोर-डाकूओंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये और मौका पाते ही इनको मार डालना चाहिये।

साधनमें उन्नति हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि इस तथ्यको ठीकसे समझकर तदनुसार आचरण किया जाय। ऐसा करनेसे साधन ठीकसे चलेगा और आपका कल्याण होनेमें किसी प्रकारकी शङ्काकी बात नहीं रहेगी। किसी बातको ठीकसे समझना क्या है ? वह बात जीवनमें धारण हो जाय। जबतक कोई बात धारण नहीं होती, तबतक यही मानना पड़ेगा कि आपने उस बातको अच्छी प्रकारसे अभी नहीं समझा है। यदि किसी वस्तुके लिये कहा जाय कि यह आप-के लिये हानिकार है, आपका अहित करनेवाली है, तो क्या आप उस वस्तुको किसी भी रूपमें ग्रहण कर सकते हैं ? कभी नहीं। अपनी समझसे तो आप अपनी हानि करनेवाली वस्तुको भूलकर भी ग्रहण नहीं करेंगे और न उसे ग्रहण करनेकी बात सोचना ही चाहेंगे। इसी प्रकार यदि यह समझमें आ जाय कि आलस्य, प्रमाद आदि हमारे शत्रु हैं और वे हमारे अंदर ही छिपे बैठे हैं, तो आप कभी भी इन्हें प्रोत्साहन नहीं देंगे, अपितु उनके विनाशके लिये जी-जानसे प्रयत्न करेंगे। अतएव आवश्यकता इसी बातकी है कि आलस्य, प्रमाद आदि हमारे परम शत्रु हैं—इस बातपर दृढ़ विश्वास कर लिया जाय।

**विश्वास कीजिये—भगवान्की सामर्थ्यके सामने दोषोंकी कुछ भी सामर्थ्य नहीं है।**

अपने मनमें यह विश्वास रखना चाहिये कि सब समय भगवान्को याद रखनेसे साधनमें उत्तरोत्तर वृद्धि



होकर निश्चय ही हमारा कल्याण हो सकता है । ऐसा दृढ़ निश्चय रखते हुए साधनके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये । साथ ही यह आशा रखनी चाहिये कि साधनके द्वारा हमारी अवश्य उन्नति होगी और हम जल्दी-से-जल्दी भगवान्‌का दर्शनलाभ कर सकते हैं । हमें उन्नतिकी निरन्तर प्रतीक्षा करनी चाहिये । हम अपने किसी प्यारे स्वजनके आनेकी जैसी प्रतीक्षा करते हैं, वैसी ही प्रतीक्षा हमें अपनी साधनाकी उन्नतिके लिये करनी चाहिये ।

अपनेमें जितने दुर्गुण एवं दुराचार हों, उनके नाशके लिये मनमें साहस रखना चाहिये । दुर्गुण एवं दुराचारोंका नाश होना भगवत्कृपासे कोई कठिन काम नहीं है । अतएव भगवत्कृपाका बल रखते हुए प्रयत्न करना चाहिये । प्रयत्न करनेपर भी इन दुर्गुणोंका जितना नाश होना चाहिये, उतना नाश होता हुआ

दिखायी न दे तो हमें छान-बीन करनी चाहिये कि अपने साधनमें क्या त्रुटि है । खोज करनेपर साधनमें जो त्रुटि दिखायी दे, उसको पूरी तत्परतासे दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । मनमें यह विश्वास रखना चाहिये कि भगवान्‌की सामर्थ्यके सामने दोषोंकी कुछ भी सामर्थ्य नहीं है । सद्गुण-सदाचारकी प्राप्तिमें इस प्रकारका विश्वास रखना चाहिये कि उनकी प्राप्ति बहुत ही शीघ्र अनायास हो सकती है; क्योंकि ये आत्माके स्वाभाविक धर्म हैं । यदि हममें सद्गुण एवं सदाचारकी वृद्धि नहीं होती तो उसमें हमारी मूर्खता ही हेतु है, दूसरा कोई हेतु नहीं । अपनी इस मूर्खताके लिये हमें लज्जा एवं शर्म आनी चाहिये और सद्गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो पा रही है, इसके लिये मनमें दुःख करना चाहिये । यदि वास्तविक दुःख होगा तो सद्गुण एवं सदाचारके आनेमें विलम्ब नहीं होगा ।

## लाज राखौ गिरिधारी

अब की टेक हमारी, लाज राखौ गिरिधारी !

जैसी लाज रखी पारथ की, भारत जुद्ध मैझारी ।

सारथि है कै रथ कौं हाँक्यौ चक्र सुदरसन धारी ।

भक्त की टेक न टारी ॥

जैसी लाज रखी द्रौपदि की, होन न दीन्हि उधारी ।

खँचत-खँचत दोउ भुज थाके, दुस्सासन पचि हारी ।

चीर बढ़ायौ मुरारी ॥

सूरदास की लज्जा राखौ, अब को है रखवारी ।

राधे राधे श्रीवर प्यारी श्रीवृषभानदुलारी ।

सरन तकि आयौ तुम्हारी ॥

—श्रीसूरदासजी



## परमार्थकी पगडंडियाँ

[ नित्यलीलीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )के अमृत-वचन ]

भगवान्‌के साथ हमारा एक बार संयोग हो जानेपर फिर कभी वियोग नहीं हो सकता। थोड़ा-सा भी संयोग हो जाय तो भी भगवान्‌ उसे छोड़ते नहीं। पर यह बात भगवान्‌में ही है। संसारकी वस्तु तथा यहाँके प्राणि-पदार्थ तो संयोग-वियोगशील हैं ही। जो सारी ममताको छोड़कर भगवान्‌का हो जाता है, भगवान्‌ सदा उसको बड़े लोभसे अपने हृदयमें बसाये रखते हैं—

अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे ॥

हमारे हृदयमें प्रभु रहें, हमारे हृदयका संयोग प्रभुसे सदा बना रहे, कभी विलोह हो ही नहीं, तो भगवान्‌की भी ममता हमारे प्रति हो जाती है। भगवान्‌ कहते हैं—

ये दारागारपुत्रात्तान् प्राणान् बित्तिमिं परम्।

द्वित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ॥

साधवो हृदयं मद्यां साधूनां हृदयं त्वहम्।

मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥

( भागवत ९।४।६५, ६८ )

अर्थात् 'जो स्त्री, मकान, पुत्र, वन्धु-बान्धव, प्राण-धन, इहलोक, परलोक आदि सभीको छोड़कर—सबकी ममता त्यागकर मेरे शरण आ जाता है, उसको मैं कैसे छोड़ दूँ...ऐसा साधु मेरा हृदय है और मैं ऐसे साधुका हृदय हूँ; वह मेरे सिवा और किसीको नहीं जानता, मैं उसके सिवा और किसीको नहीं जानता।'।

भगवान्‌ सदा हमारे अपने हैं, पर हम उनके नहीं होते—हम अपनी सारी ममता उनको नहीं देते; इसीलिये हम उनकी ममतासे वञ्चित रहते हैं, उनके हृदयमें लोभीके धनकी भाँति स्थान नहीं पाते।

×

×

×

×

जगत्‌के पदार्थोंकी आशा रखना, किसी भी रूपमें इन्द्रिय-भोगोंमें सुख समझना और उनकी कामना करना, शरीरके आराम तथा भान आदिके लिये इच्छा करना—ये ही सब दुःख, अशान्ति और विषादके कारण हैं। नित्य-निरन्तर हर हालतमें भगवान्‌की कृपाका अनुभव करते हुए, प्रत्येक स्थितिमें संतोष मानते हुए केवल भगवान्‌का ही आश्रय करनेसे अशान्ति-दुःख मिट सकते हैं। बस, भगवान्‌का स्मरण-भजन होता रहे, फिर शरीर चाहे जिस हालतमें रहे। इन्द्रियसुखोंसे सर्वथा उपराम होकर मन भगवान्‌का चिन्तन करता रहे। यहाँकी प्रत्येक वस्तु अनित्य ( नष्ट होनेवाली ) और अपूर्ण ( अभावका ही अनुभव करानेवाली ) है। इनसे सुख कैसे हो सकता है? सुख विषय-वैराग्य और भगवान्‌के भजनमें ही है। अतएव जगत्‌को भूलकर केवल भगवान्‌में ही रमे रहो। संसारका सुख केवल मृगतृष्णाके समान है। यहाँ सुखका लेश भी नहीं है।

×

×

×

×

संसारमें मिलन-अमिलन तो प्रायः प्रारब्धाधीन हैं और इसमें महत्त्व ही क्या है? सच्ची बात तो यह है कि हमारे मनमें सदा भगवान्‌से मिलनकी चाह जाग्रत्‌ रहनी चाहिये और वे भगवान्‌ सदा मिले



हुए हैं ही। चाह उनकी मधुर स्मृति कराती है, जो मिलनसे भी बढ़कर सुखदायिनी होती है। इससे भगवत्प्रेमीजन भगवान् की वियोगजनित पीड़ा में उनकी मधुर स्मृतिका अति मधुर आस्वादन पाकर परमातिशय सुखका अनुभव करते हैं। हम सबको, वस, उन सच्चे सुहृद् परम प्रेमी, माधुर्य-सौन्दर्य-कारुण्य-औदार्य-सौशील्यके अगाध समुद्र भगवान् की स्मृति में ही डूबे रहना चाहिये। मनुष्य तो बालूकी भीत है; कब ढह जाय, क्या पता है। विजलीकी चमकका क्या भरोसा? वस, हमलोगोंके जीवनका एकमात्र आधार, आश्रय, लक्ष्य, गति—सब कुछ भगवान् ही होना चाहिये।

x

x

x

x

‘प्रभु ही जीवनके सब कुछ बन जायँ, अपना कुछ रह ही न जाय’—ऐसी इच्छा बहुत ही ठीक है। सच्ची इच्छाको भगवान् अवश्य पूरी करते हैं। तुम ऐसा मानते ही क्यों हो कि भगवान् ने कुछ बाकी रखा है। तुम, वस, विश्वास करके यों मान लो कि ‘भगवान् ही मेरे हैं और मैं उनका हूँ।’ उनकी कृपा तो अपार है ही और वह भी अहैतुकी। पर प्रेममें कृपाकी भी कोई महत्ता नहीं है। प्रेमीके प्रेम-रसास्वादनके लिये भगवान् स्वयं ही लालायित रहते हैं। हम ऐसे भगवान् के सुखमें सुखी रहनेवाले बन जायँ कि वस, भगवान् को ही हमारी सदा चाह बनी रहे। वे हमें अपने पास रखनेमें और हमारे पास रहनेमें ही सुखका अनुभव करें।

x

x

x

x

तुम्हारे ये शब्द मुझे बहुत अच्छे लगे—‘अब तो प्रभुकी शरणमें आ गया हूँ। सब तरफसे मन-बुद्धि-इन्द्रियोंको समेटकर प्रभुके चरणोंमें रख देता हूँ, प्रभुके चरणोंमें लगा देना चाहता हूँ। मैं अब संसारके प्राणि-पदार्थोंके लिये नहीं रोता, अब तो प्रभुके लिये ही रोना रह गया है। मेरे मन-बुद्धि-प्राणोंपर, रोम-रोमपर, श्वास-श्वासपर प्रभुका अधिकार है। मेरा अपना कुछ भी नहीं है। प्रभुकी अखण्ड मधुर स्मृति ही मेरी है, उसमें अपने-आपको भूल जाऊँ, अपने-आपको सदाके लिये खो दूँ, अपनेको डुबो दूँ। मेरी अपनी अलग कामना, वासना, इच्छा आदि रहे ही नहीं।’ भगवान् को ये भाव अत्यन्त प्रिय हैं। तुमपर भगवान् की बड़ी कृपा है, जो तुम्हारे मनमें ऐसे सद्भावोंकी उत्पत्ति होती है। भगवान् के शरणापन्न होनेवालोंके लिये ये परम आदर्श भाव हैं।

x

x

x

x

मनुष्य भूलसे भगवान् की आशा न करके, भगवान् की शरण न होकर—सांसारिक प्राणि-पदार्थोंका आशा-भरोसा करते हैं, उनके शरणापन्न होना चाहते हैं; इसीसे उन्हें निराशा तथा दुखी होना पड़ता है।

x

x

x

x

भगवान् की कृपा एवं उनके मङ्गलविधानपर विश्वास करनेवालेको सदा प्रत्येक परिस्थितिमें संतुष्ट तथा प्रसन्न रहना चाहिये। जीवन-मृत्यु, लाभ-हानि, मान-अपमान, प्राप्ति-विनाश, संयोग-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता—सभी मङ्गलमयकी मङ्गलमयी लीलाके मङ्गलमय दृश्य हैं। इन सभी दृश्योंमें मधुर आनन्द-सुधासे परिपूर्ण लीलामयकी लीलाचातुरीको देख-देखकर सुप्रसन्न होना चाहिये।

x

x

x

x

तुम मनमें बहुत-बहुत प्रसन्न रहना, किसी प्रकार भी दुखी मत होना। मैं तुमसे यह सुनना चाहता हूँ कि ‘मेरे लिये जगत् में दुःख नामकी कोई वस्तु है ही नहीं।’ भगवान् के प्रेम-राज्यमें तो दुःखकी कल्पना ही नहीं है। उनके जगत् में वस्तुतः दुःख नहीं है। उनका जगत् भी सच्चिदानन्दस्वरूप ही है। हम जगत् में



उनको न देखकर भोगोंको देखते हैं, इसीसे जगत् 'दुःखालय' के रूपमें प्रतीत होता है। तुम यह मान लो कि तुम्हारे लिये जगत्में दुःख बना ही नहीं है। तुम परिस्थितियोंमें सुख-दुःखकी कल्पना क्यों करते हो ?

अनन्य प्रेमकी प्राप्ति प्रभु-कृपासे ही होती है; पर प्रभु-कृपा तो अपनेपर असीम, अनन्त है ही। हमारे विश्वासकी ही कमी है। 'उनका भजन नित्य-निरन्तर होता रहे, कभी भी क्षणभरके लिये भी उन्हें भूला न जाय, अपने साधनका कोई बल न रह जाय'—यह मनोभावना बड़ी ही सुन्दर है तथा भगवान्को सुख देनेवाली और उनके अनन्य भजनकी स्थितिको समीप लानेवाली है। हम जो कहते हैं—'हम सर्वथा प्रभुके बन जायँ और प्रभु हमारे बन जायँ'—सो प्रभु तो नित्य हमारे हैं ही। हम प्रभुके पूरे बन नहीं पाते, इसीसे प्रभुके हमारे होनेका हमें अनुभव नहीं होता। रही पाप-तापकी बात, सो पाप-ताप तो उसी क्षण नष्ट हो जाते हैं, जिस क्षण हम प्रभुके सम्मुख होते हैं।

संसारकी अनित्यता, क्षणभङ्गुरता तथा दुःखमयताको देखकर भी हमारे मनमें वैराग्य नहीं होता, यही तो मोह है। यह मोह मिट जाय तो फिर राग-द्वेष आदि, जो बन्धन और दुःखके प्रधान कारण हैं, रहें ही नहीं। इसके लिये भगवान्की कृपा ही एकमात्र उपाय है।

घरवालोंके सम्बन्धमें तुमको अपने मनमें जरा भी दुःख नहीं मानना चाहिये। वे तो बेचारे निमित्त-मात्र हैं। घरवाले तुम्हारे साथ जो व्यवहार करते हैं, उसमें भी भगवान्का मङ्गलविधान ही काम करता है, जो तुम्हारे अच्छेके लिये ही होता है। इसपर विश्वास रखना।

जगत्की वस्तुका यह स्वभाव है कि जिस वस्तुको मनुष्य चाहता है, वह सहज नहीं मिलती। या अलग हो जाती है तो उसकी स्मृति बहुत बढ़ जाती है और कहीं-कहीं तो उस मधुर स्मृतिका निरन्तर अमृत-प्रवाह बहने लगता है, जो समीप रहनेकी अपेक्षा अधिक सुखद और सरस होता है। अवश्य ही सांसारिक प्राणि-पदार्थोंमें या सांसारिक प्राणि-पदार्थोंके लिये ऐसी वृत्ति होनेपर उसका नाम 'आसक्ति' होता है तथा उसका फल दृढ़ बन्धन होता है। वही भगवान्में या भगवान्के लिये होनेपर उसका नाम 'प्रेम' होता है। और प्रेम तो स्वयं फलरूप ही होता है, उसका कोई दूसरा फल नहीं होता। जिस प्रेमका कोई दूसरा फल हो सकता है, वह प्रेम नहीं है, प्रेमके नामपर कामकी ही वहाँ क्रीड़ा होती है। भगवत्प्रेमीगण भगवत्सङ्गकी अपेक्षा भी भगवान्की नित्य स्मृतिको अधिक महत्त्वकी वस्तु मानते हैं। इसलिये कहीं-कहीं भगवान्का वियोग भी भगवान्की मधुर स्मृतिका कारण होनेसे भक्तोंके—प्रेमियोंके लिये अधिक वाञ्छनीय माना गया है।

भगवान् हमारे गुणोंको देखकर हमें अपनाते हों, ऐसी बात नहीं है। वे केवल देखते हैं हमारी भावनाको। गुण-दोषका विचार उनके हृदयमें अपनोंके प्रति नहीं होता। हमें उनकी स्वाभाविक वत्सलतापर भरोसा रखना चाहिये।

निरन्तर भगवान्के प्रेममें विभोर रहना तथा किसी भी प्रकारकी कोई चाह या किसी भी स्थितिकी कोई परवा न रखकर प्रतिपल उनके मधुर मुस्कानयुक्त मुख-कमलको हृदयके पवित्र तथा एकदर्शी



नेत्रोंसे निहारते रहना चाहिये। तुमको इसमें बिना किसी संदेहके विश्वास रखना चाहिये कि 'भगवान् तुमको अपना लिया है।' अतः तुमको अब निश्चिन्त हो जाना चाहिये; अब चिन्ता या चिन्तन करना है तो केवल चिन्तामणिचतुर प्रभुका। रात-दिन उन्हींके साथ घुल-मिलकर रहना है, उन्हींका स्मरण करना है तथा उनके सिवा जगत्का कोई चिन्तन रहे ही नहीं। जगत्का कभी कोई चिन्तन हो तो वह भी केवल उन्हींके सम्बन्धसे केवल उन्हींको लेकर। अन्य किसीकी सत्ता न रहे और न किसीसे सम्बन्ध रहे। ऐसा विश्वास करो एवं ऐसा बार-बार निश्चय करो कि 'तुम ऐसे बन गये हो'।

x

x

x

x

संसारके चित्र कभी मनमें आयें तो या तो उन्हें ललकारकर निकाल दो या उन्हें प्रभुके बना दो। तुम कहोगे कि 'मुझमें कोई बल नहीं है, कोई सामर्थ्य नहीं है'। ठीक है। पर प्रभुमें तो सब सामर्थ्य है। तुम केवल इच्छा और निश्चय करो फिर सारा काम बना-बनाया ही है। तुम्हें अपने बलकी कोई आवश्यकता नहीं। तुम्हारी तो अनन्य इच्छा, अकाट्य निश्चय होना चाहिये; फिर प्रभु अपनी चीजों आप ही सँभालेंगे, उन्हें कहनेकी आवश्यकता नहीं है। हम केवल यही मानते रहें—'हम केवल उन्हींकी चीज हैं। उनके सिवा हमारा न कोई है न किसीसे किसी प्रकारका सम्बन्ध है। सारे नाते-नेह, सारी प्रीति, सारा अपनापन, आत्मीयताका सम्बन्ध एकमात्र उन्हींसे है। सब कुछ वे ही हैं।' बार-बार सोचो निश्चय करो, अनुभव करो—ऐसा ही है, ऐसा ही है। तुम्हारे निश्चयसे ही तुम्हें अनुभव हो सकता है कि जीवन-मरण, सुख-दुःख भी वे ही हैं।

x

x

x

x

तुमने अपने विषयमें जो कुछ लिखा, उससे तुम्हारे मनमें चलते हुए दो भाव-प्रवाहोंका पता लगता है—(१) कभी तो तुम अपनेको बहुत दुखी मानते हो तथा (२) कभी हृदयमें प्रभुकी बहुत सीधे स्मृतिके परमानन्दका अनुभव करते हो। तुम्हारी इस द्विविध मनोवृत्तिसे तुम्हारे हृदयके प्रभु-प्रेमका पता लगता है। प्रेम तो कभी यह कहना जानता ही नहीं—'मैं पूरा हो गया'; उसमें तो सदा कमीका अभाव ही अनुभव होता है। तुम्हारी यह चाह सचमुच प्रेमकी ही शुभ चाह है कि 'मेरी चित्तवृत्ति एकमुखी बन जाय। मेरे चित्तमें दूसरी बात रहे ही नहीं, नित्य-निरन्तर प्रभुकी मधुर-मधुर स्मृतिमें ही मैं डूबा रहे, दूसरी कोई बात सुहाये ही नहीं आदि।' यह चाह ही प्रभुकी नित्य अखण्ड स्मृति बनी रहनेका परम साधन है।

x

x

x

x

'तुम्हारा श्रीभगवान्में मन समर्पित हो जाय, तुम भगवान्के हो जाओ, भगवान् तुम्हारे हो जाय'—यह मैं हृदयसे चाहता हूँ। मैं तो मानता हूँ कि तुम भगवान्के ही हो, भगवान्ने तुमको स्वीकार कर लिया है। हृदयमें भगवान्की स्मृति हो—इसका बहुत मूल्य है। मैं तो प्रत्येक व्यक्तिसे यही कहता हूँ कि 'मनमें भगवान्की स्मृति निरन्तर बनी रहे और एक क्षणके लिये भी उनका विस्मरण न हो, तभी जीवन सफलता है।'।

x

x

x

x

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने जो कुछ कहा है, उसका अक्षर-अक्षर सत्य है। भगवान्ने जो कुछ कहा है वे वैसा ही करनेको सदा तैयार रहते हैं और निश्चित वैसा ही करते भी हैं। जो उनके वचनोंपर विश्वास करके उनका बन जाता है, उसको वे तुरंत अपनाकर आत्मसात् कर लेते हैं, अपने हाथका यन्त्र बना लेते हैं—इसमें जरा भी संदेह नहीं करना चाहिये।

( पुराने पत्रोंसे संगृहीत )



## भक्तिदर्शनकी कतिपय विशेषताएँ-२

( लेखक-अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज )

[ गताङ्क पृष्ठ ९७३ से आगे ]

### १०-भक्तिका परिपाक

जैसे 'मैं जानता हूँ', 'मैं चाहता हूँ'—ये वृत्तियाँ स्वप्रत्यक्षगम्य हैं, वैसे ही 'मैं अनुरागी हूँ', 'सेवक हूँ'—ये वृत्तियाँ भी स्वप्रत्यक्षगम्य ही हैं । परंतु इनके परिपाकका निर्णय प्रत्यक्षके द्वारा नहीं हो सकता । लोकमें जानकारी, चाह, अनुराग, सेवा—ये सब बदलते हुए देखे जाते हैं । अतः लौकिक दृष्टिसे ही इनके सम्बन्धमें निर्णय किया जा सकता है । जैसे अपने प्रियतमके नाम, चरित, चिह्न आदिके दर्शन-श्रवणसे आँखोंमें आँसू, शरीरमें रोमाञ्च, मुँहकी लाली आदि देखकर हृदयके प्रेमका अनुमान किया जाता है, वैसे ही भक्तिके सम्बन्धमें भी है । महात्माओंने भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें इनका वर्णन किया है, यथा—

( १ ) सम्मान—चाहे अर्जुन किसी भी अवस्थामें हों, श्रीकृष्णका दर्शन होते ही भक्ति और प्रेमसे उठकर खड़े हो जाते थे ।

( २ ) बहुमान—राजा इक्ष्वाकु कमल, कृष्णसार मृग और मेघको देखकर कमलनयन कृष्ण और मेघश्यामके स्मरणमें मग्न होकर उनका भी सत्कार करते थे, अर्थात् जिस नाम, रूप, वस्तु, चिह्न या सम्बन्धसे अपने प्रियतमका स्मरण हो, उसका भी आदर करना भक्तिका अनुभाव है ।

( ३ ) प्रीति—विदुर कहते हैं—'पुण्डरीकाक्ष ! आपके इस घरमें स्वयं पधारनेसे जिस प्रीति, तृप्ति और आनन्दका उदय हुआ है हृदयमें, उसे मैं क्या बताऊँ ? आप तो हृदयमें ही विराजमान अन्तरात्मा हैं ।'

( ४ ) विरह—गोपियाँ कहती हैं—'सखि ! क्या बताऊँ, गुरुजनोंके सम्मुख कहना योग्य नहीं है ।

अथवा, सखि ! हम जब विरहकी आगसे जली जा रही हैं, तब ये गुरुजन हमारा क्या कर लेंगे ?'

( ५ ) इतर-विचिकित्सा ( इष्टदेवसे भिन्नके प्रति संदेहयुक्त दृष्टि )—शिवभक्त उपमन्यु वर देनेके लिये आये हुए इन्द्रसे कहते हैं—'मैं शंकरजीकी आज्ञासे कीट-पतंग बन जाऊँगा, परंतु इन्द्र ! मैं तुम्हारा दिया हुआ त्रिलोकीका राज्य भी नहीं चाहता ।'

( ६ ) महिमाकी वृद्धि—यमराजने नरकमें दुःख भोगते हुए प्राणियोंसे कहा—'तुमने कलेश-निकन्दन केशवदेवकी आराधना क्यों नहीं की ?' यमराजने अपने दूतोंके कानमें भी कहा—'मैं वैष्णवोंका शासक नहीं हूँ । तुम उन्हें मेरे लोकमें मत लाया करो ।'

( ७ ) तदर्थ प्राणस्थिति—श्रीहनुमान्जीने भगवान् रामचन्द्रसे कहा—'मैं आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये पृथिवीपर तभीतक रहूँगा, जबतक संसारमें आपकी पावनी कथा सुननेको मिलती रहेगी ।'

( ८ ) तद्दीयता—उपरिचर वसु कहते हैं—'मेरा सब कुछ—शरीर, राज्य, धन, पत्नी, पुत्र, वाहन भगवान्का ही है ।' उनकी ऐसी दृष्टि निरन्तर बनी रहती थी ।

( ९ ) सगमें भगवद्भाव—ग्रहादका कहना था—'जो कुछ—मैं-मेरा, तू-तेरा और निखिल जगत् है, वह सब भगवद्रूप ही है ।'

( १० ) अप्रतिकूलता—भगवान् अपनी मान्यता और मनके विपरीत करें, तब भी उनके अनुकूल ही रहना । भीष्मको मारनेके लिये रथका चक्का लेकर श्रीकृष्ण दौड़े । भीष्मपितामह कहते हैं—'आइये-आइये, प्रभु ! अपने कर-क्रमलोंसे ही इस शरीरका अन्त



कर दीजिये । आपकी मार दुलार और प्यारसे भी बड़ी है ।' इत्यादि ।

### ११—भक्तिका अधिकारी

सभी दर्शनोमें और धर्मशास्त्रोंमें अनुबन्ध-चतुष्टयके प्रसङ्गसे अधिकारीका विचार मिलता है । जैसे ब्रह्म-विचारमें शम-दमादिसम्पन्न मुमुक्षु अधिकारी है । यज्ञ-यागादिके अनुष्ठानमें अर्थी, समर्थ, विद्वान् एवं शास्त्रद्वारा अनिषिद्ध अधिकारी है । शास्त्रीय निषेध वर्णाश्रमकी दृष्टिसे होते हैं । ब्राह्मण राजसूय नहीं कर सकता और क्षत्रिय बृहस्पति-सव । परंतु भक्तिमें सबका समान अधिकार है । अज्ञातकर्तृक 'भक्तिमीमांसा'में कहा गया है कि यदि अधिकारीको कुछ विशेषण देना ही हो तो उसे नामादिके उच्चारणमें समर्थ, इच्छुक अथवा ज्ञाता कहा जा सकता है । उसे किसी भी अवस्थामें शास्त्रद्वारा निषिद्ध नहीं कहा जा सकता । 'सामर्थ्यमर्थिता विद्या बाधिकारिविशेषणं नान्यदश्रुतेः ।' भक्तिमें ज्ञानकी भी उतनी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि ज्ञानतः-अज्ञानतः—कैसे भी नामोच्चारण किया जाय, वह अज्ञात अमृतके समान अपना फल देता है—'अज्ञानादथवा ज्ञानात्' ( भागवत ), 'अविदुषाम्' ( भा० ) । अपेक्षित ज्ञान गुरूपदेशसे भी प्राप्त हो सकता है । पूर्वजन्मके श्रवणादि-संस्कार भी उदित हो सकते हैं । मनुस्मृति और महाभारतमें भी ऐसे-प्रसङ्ग हैं । 'अन्त्यादपि परं धर्मम्'—अन्यजसे भी श्रेष्ठ धर्म ( आत्मज्ञान ) का ग्रहण करे' ( मनु० २।२३८ ) ।

जैसे अपने स्वामी, माता-पिता—और तो क्या, अपने आत्माको सुख पहुँचानेका, सेवा करनेका सभीको अधिकार होता है, उसी प्रकार सबके पिता, सबके स्वामी, सबके आत्मा परमेश्वरकी सेवा—प्रेममयी भक्ति करनेका सभीको अधिकार है । इसीसे शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्रमें यह निर्देश है—'आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात्सामान्यवत्' ( २।२।७८ )—जो नीच-से-नीच योनिमें उत्पन्न हुए हैं, वे भी भक्तिके अधिकारी हैं, क्योंकि

सभी समानरूपसे दुःखकी निवृत्ति चाहते हैं उन्हें भी इतिहास-पुराण, गुरुपरम्परा आदिके द्वारा भजनीयके स्वरूपका ज्ञान और भजनकी प्रक्रिया का ज्ञान हो ही सकती है । इस सूत्रकी टीका 'भक्तिचन्द्रिका' में एक श्रुति उद्धृत की गयी है—

'अपि वा चाण्डालः शिव इति वाचं वेदते सह संवसेत्' ।

भक्तिसिद्धान्तमें यह बात मान्य है कि भक्ति प्रारब्धजन्य जात्यादिकृत अपवित्रताको मिटा देती है । 'श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते' ( भा० ३।३३।६ ) । इसकी व्याख्यामें श्रीजीवगोस्वामी कहा है कि 'अधिकारीको यज्ञ-यागादि करनेसे जिस फल प्राप्ति होती है, वह फल भक्तको नाम-श्रवण-कीर्तनादि ही प्राप्त हो जाता है ।'

आङ्गिरस भक्ति-दर्शनमें सबके अधिकारी होनेका यह हेतु बताया गया है कि भगवान्की भक्तिमें सबकी समता है, अर्थात् हृदयमें अनुराग, भगवदाकार वृत्ति भगवान्में विलय, नामकीर्तन आदि सभी कर सकते हैं । अनुरागमें अधिकार-भेदका प्रश्न ही कहाँ है जिसके हृदयमें भगवान्के प्रति अनुरागका उदय होता जाता है, वह चाहे कोई पशु-पक्षी भी क्यों न हो पवित्र हो जाता है—भक्तिः पुनाति मन्त्रिणं स्वपाकानपि सम्भवात् ।' ( भा० ११।१४।२१ )

नारद-भक्तिदर्शनमें स्पष्ट कह दिया गया है कि 'भक्तिः जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं करता होता । इसका कारण यह है कि वे सब इन बाह्य भेदोंके ओरसे दृष्टि हटाकर भगवान्के सम्मुख हो जाते हैं भगवान्के अपने हो जाते हैं' ( सूत्र ७२-७३ ) ।

सबका निष्कर्ष यह है कि जैसे अन्यान्य साधनोंके विविध प्रकारके अधिकार-भेद होते हैं, वैसा अधिकार-भेद भक्ति-मार्गमें नहीं है । यह इसकी एक असाधारण विशेषता है ।



## १२-ध्यान-सम्बन्धी नियम

भक्तिसिद्धान्तमें कहाँ बैठकर, किस समय, किस रूपका ध्यान किया जाय—ऐसा कोई नियम नहीं है। जहाँ कर्मकाण्डमें, 'पूर्वदिशामें ब्रह्मयज्ञ करे', 'प्राचीप्रवण होकर वैश्वदेव-याग करे,'—ये सब नियम होते हैं, वैसे भक्तिमें नहीं। कहीं भी, किसी ओर मुख करके बैठ जाइये। 'अपराह्णमें पितृयज्ञ करना चाहिये, वसन्त ऋतुमें अग्न्याधान' इत्यादि कालनियम भी भक्तिमें अपेक्षित नहीं हैं। अपने इष्टदेवको सोते, बैठते, चलते, खाते-पीते—किसी भी अवस्थामें देख सकते हैं। इस प्रकार पूर्वमीमांसाके कोई नियम भक्तिमें मान्य नहीं हैं। ऐसा होनेका कारण है—पूर्वमीमांसामें ईश्वरकी आवश्यकता ही नहीं। पूर्वमीमांसाकी दृष्टिमें वह न जगत्का आधार है न उपादान, न कर्ता है न फलदाता, न वेदका वक्ता है न हमारा अन्तर्यामी स्वामी। वहाँ तो कर्म ही सब कुछ बना बैठा है। ईश्वरकी करुणाका लेश भी नहीं है। अपना पौरुष बेचारा कहाँतक, क्या करे ? भक्तिसिद्धान्तमें सब कुछ ईश्वर है; उसका अनुग्रह, करुणा-प्रसाद जीवका सर्वस्व है। इसलिये जीव, जहाँ कहीं, जब कभी, जिस किसी रूपसे उसका स्मरण करता है, वहाँ और उसी समय, वह अनुकम्पा-कम्पित होकर जीवके भीतर-बाहर प्रकट हो जाता है।

वस्तुतः हम अगले जन्ममें या परलोकमें कुछ प्राप्त करनेके लिये ईश्वरका ध्यान करते हों और उसके लिये अपूर्वोत्पादनकी अपेक्षा हो, तब हमें बहुत-से देश-काल आदि नियमोंके बन्धनमें बँधना पड़े। जब हम केवल यह चाहते हैं कि हम प्यारेको देखें और वह हमें देखे, तब स्थान और समयका बन्धन नहीं हो सकता। 'खटखट' 'पटपट'—चाहे जो भी संकेत हो सकता है। पथपर चलते-चलते या झरोखेसे झाँकते-झाँकते भी नयन-तृप्ति हो सकती है। भक्तिका ध्यान है—मनस्तृप्ति, आनन्दका आविर्भाव। जहाँ चित्त

निर्मल हो, जहाँ इष्टदेवका स्मरण हो, जहाँ उनके रूप-लीला-नाम-धाममें तन्मयता हो, वही काल, वही देश, वही स्थिति सर्वोत्तम है। भक्तिका ध्यान, अर्थात् तत्काल भजन-रसका अनुभव। इसमें अदृष्ट नहीं, दृष्ट सुखकी प्रधानता है।

स्वेताश्वतर उपनिषद्में और गीतामें जो स्थानकी समता, पवित्रता आदिका वर्णन है, वह प्राणायामकी दृष्टिसे है। प्राणायाममें गर्मी-सर्दी, धूल-धक्कड़ होनेसे स्वास्थ्यकी हानि होती है। भक्तिमें हम इतने समयसे इतने समयतक, केवल इस स्थानमें, केवल इस अवस्थामें अपने प्रियतम-को सुख पहुँचायेंगे, दूसरे समयमें, दूसरी जगह, दूसरी अवस्थामें नहीं, यह नियम हो ही नहीं सकता। यह सिद्धान्त वेदान्तदर्शनको भी अभीष्ट है—

‘यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्।’ (ब्रह्मसूत्र ४।१।११)

अतः पूर्वमीमांसाकी रीतिसे ध्यानका नियम भक्तिदर्शनको मान्य नहीं है। यह भी भक्तिदर्शनकी दूसरी असामान्य विशेषता है।

## १३-थोड़ी-सी भक्तिमें भी महापाप-निवारणकी शक्ति है।

भगवान्का थोड़ा-सा भी स्मरण अथवा नामकीर्तन बड़े-से-बड़े पापोंको नष्ट कर देता है। श्रीमद्भागवतमें अज्ञानसे उच्चरित भगवन्नामको भी महापापका दाहक माना है। संकेत, परिहास, टेक, डाँट-फटकार और अवहेलनासे भी नामोच्चारण समस्त पापोंका नाशक होता है। अजामिलने मरते-मरते अपने 'नारायण' नामक पुत्रको पुकारा था और वह कल्याणपथका पथिक हो गया था। सात्वतसंहितामें कहा गया है कि 'अशुद्ध रूपमें उच्चारण किया हुआ नाम भी कानमें पड़नेपर मुक्तिका साधन हो जाता है।'

जहाँ अज्ञान है, वहाँ श्रद्धाका तो प्रश्न ही नहीं उठता। तब जिज्ञासा होती है कि 'विना ज्ञान और



श्रद्धाके दुष्टचित्त पुरुष भी यदि नामका फल प्राप्त करता है, तो इसका कोई महान् कारण होना चाहिये ।' यही विवेचनका विषय है । धर्मानुष्ठानमें शास्त्रोक्त अधिकारी, विधि-विधान, द्रव्य, समय, स्थान, मन्त्र आदिकी समग्रता अपेक्षित होती है । उससे जो अपूर्व उत्पन्न होता है, वह कर्तृमें रहता है और समयपर अपना फल प्रकट करता है । परंतु भक्तिमें ऐसी बात नहीं है । भक्तिसिद्धान्तमें जीवका पौरुष अकिंचित्कर है, भगवान्का अनुग्रह ही सब कुछ है । नाम, धाम, स्मरण, पूजाका कोई भी बहाना मिला और भगवान्की कारुण्यशक्ति वहाँ अवतीर्ण हो गयी । वहाँ जीवका पौरुष जीवका हित नहीं करता, भगवान्की अनुकम्पा ही जीवका कल्याण करती है । अतएव वास्तविक नामकी आवश्यकता नहीं पड़ती, नामाभाससे ही भगवान्की कृपा उतर आती है । धर्म-‘त्वं’-पदार्थ-प्रधान है और भक्ति ‘तत्’-पदार्थ-प्रधान—यह पहले ही कह चुके हैं ।

अब प्रश्न यह होता है ‘कि जब अत्यन्त हल्के-फुल्के नामाभाससे भी संतुष्ट होकर प्रभु सब पापोंका विनाश कर देते हैं, तब कोई कृच्छ्रचान्द्रायण, सांतपन, क्षौर, तीर्थस्नान, सांक्सरव्रत आदि बड़े-बड़े प्रायश्चित्त क्यों करे ?’ इसका उत्तर यह है कि पहले तो इतने बड़े-बड़े प्रायश्चित्तोंके जानकार महाजनोंको यह विश्वास ही नहीं होता कि नामोच्चारणमात्रसे गुरुतम पापोंका प्रायश्चित्त हो सकता है । स्वल्पपुण्यवान्को नामादिपर विश्वास नहीं होता । दूसरी बात यह है कि एक ही रोगका औषध सेरभर काष्ठौषधि भी हो सकती है और जीरेभर संजीवनी बूटी भी । परंतु जो संजीवनीको पहचानता नहीं, वह उसको औषध कैसे मानेगा और कैसे बतायेगा ? अतः जिनकी रुचि महान् अनुष्ठानोंमें है, वे महान् अनुष्ठान करेंगे और जिनकी रुचि मृतसंजीवनी नामसुधामें है, वे उसका सेवन करेंगे । यह कस्तूरी है, इसके तिलभरका सेवन ही बड़े-से-बड़े रोगका निवर्तक

है । कर्मकाण्डमें भी सबका तिरस्कार करके विशिष्ट किया जाता है । ज्योतिष्टोमका फल प्राप्त करनेके लिए दर्शपूर्णमासका अनुष्ठान होता है । बड़े धर्ममें जीवकी शक्ति काम करती है और छोटे-से काममें ईश्वरकी शक्ति स्कन्दपुराणमें ऐसे वचन मिलते हैं कि ‘जिस पापका प्रायश्चित्त अल्पसाध्य हो, उसका प्रायश्चित्त भी दुस्साध्य बताना चाहिये । इससे मनुष्य पाप करनेसे डरता है । हल्का-फुल्का प्रायश्चित्त नहीं बताना चाहिये; क्योंकि इससे बतानेवालेको पापकी प्राप्ति होती है ।’ इसका अभिप्राय यह निकलता है कि दुस्साध्य प्रायश्चित्त एक विभीषिका है और लोगोंकी पाप-प्रवृत्ति रोकने लिये उनके निर्देशकी आवश्यकता है । पाप हो जाने तो भक्तिके अङ्गोंद्वारा ही उसका निवारण करना चाहिए । इसीसे शाण्डिल्यका वचन है—

‘लच्चपि महत्क्षेपकम्’० ।

वैसे तो सामान्यरूपसे पुराणोंमें अर्थवादकी कल्पना को अनुचित बताया गया है । अर्थवाद माननेवाले पुण्य भी अर्थवादमात्र रह जाते हैं और उन्हें नरक प्राप्ति होती है । परंतु नामके सम्बन्धमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि नाम-माहात्म्यको कभी अर्थवाद नहीं मानना चाहिये—

श्रुतिस्मृतिपुराणेषु नाममाहात्म्यवाचिषु ।  
येऽर्थवाद इति ब्रूयुर्न तेषां निरयश्चयः ॥

इससे अन्य विषयोंमें भीमांसाका द्वार खुला रहता है, पाण्डित्य भी चरितार्थ होता है और यह निकलता है कि अविरोध अर्थका निरूपण करनेवाला इतिहास-पुराणको अप्रामाणिक नहीं मानना चाहिये । नाम-महिमाको अर्थवाद मानना नामापराध है, इससे नामका फल प्रतिबद्ध हो जाता है ।

नाम-महिमाको अर्थवाद माननेका क्या कारण है ? क्या नामकीर्तन, नामस्मरणादिकी विधि नहीं है ? वह केवल किसी विधि-विधानका शेष ही है ?



उसका तात्पर्य नामोच्चारणमें न होकर कहीं अन्यत्र है ? यह कहनेमें कोई संकोच नहीं है कि सम्पूर्ण पापोंके नाशके लिये नामोच्चारणका स्पष्ट विधान प्राप्त होता है । जैसे ब्रह्महत्यासे संतरणके लिये अश्वमेधका विधान है, वैसे नामस्मरणका भी । यह दूसरी बात है कि अश्वमेध एक बार होकर समाप्त हो जायगा और नामस्मरण अन्तर्देशके सूक्ष्मतम प्रदेशमें प्रवेश करके ऐसा जम जायगा कि फिर मुक्तिपर्यन्त उस अन्तःकरणका परित्याग नहीं करेगा । इस प्रकार यदि द्रव्यादिकी दृष्टिसे अश्वमेध महान् होगा तो जीवके अन्तर्जीवनमें व्याप्त हो जानेके कारण नाम भी महान् हो जायगा । ऐसी स्थितिमें नाममाहात्म्यको अर्थवाद मानना सर्वथा अनुचित है ।

यह कहना कि नामसंकीर्तनकी महिमा केवल कलियुगके लिये है—यह नामकी महिमाका यथार्थ कथन नहीं, निन्दा है । किसी भी वस्तुके सम्बन्धमें यह कहना कि यह इसी गाँवमें या इसी समयमें अच्छी है, उसकी महिमाको संकुचित करना है । नाम-महिमाको हम इस रूपमें भी कह सकते हैं कि सत्ययुग-त्रेता आदिमें दोष कम हैं और वे ध्यान, योग एवं अर्चाके द्वारा दूर कर दिये जाते हैं, जब कि कलियुगमें दोष बड़े-बड़े हैं, अनेक हैं, गहराईमें घुसे हुए हैं, उनको दूर करनेके लिये स्वयं भगवान् ही नामावतार ग्रहण किया है । 'नाम' भगवान् के अनुग्रहका आविर्भाव है । यह रूपको प्रकट करता है । यह ध्यानको सहारा देता है, यज्ञको पूर्ण करता है और अर्चामें मन्त्र वनता है । वेदोक्त साधन होनेके कारण यह नित्य है और चारों युगोंमें अपना प्रभाव अक्षुण्ण रखता है । न्यूनकी पूर्णता और छिद्रका समाधान नामसे ही सम्पन्न होता है ।

लोकव्यवहारमें दो प्रकारके लोग देखनेमें आते हैं । कोई कठिन कर्तव्य पूर्ण करनेमें उत्साहसे प्रवृत्त होते हैं

और कोई सुगमको पूर्ण करनेके लिये । कोई कठिन सुनकर डर जाते हैं, कोई सरल सुनकर उपेक्षा करते हैं । ऐसी स्थितिमें जिनकी रुचि सांक्सरिक व्रत, कृच्छ्रचान्द्रायण आदिमें हो, प्रायश्चित्तके लिये उन्हें उन्हींका अनुष्ठान करना चाहिये । जिन लोगोंका नाममें विश्वास है, उन्हें नामजप आदि करना चाहिये । किसीकी रुचि महत्तम होती है, किसीकी अल्पमें । भक्तिसिद्धान्त मीमांसकोंके विश्वास और अनुष्ठानपर कोई आक्षेप नहीं करता; परंतु वह जीवके पौरुषके सम्मुख भगवान् के अनुग्रहको महान् मानता है और नामाभाससे भी भगवान् प्रसन्न होकर जीवका कल्याण कर सकते हैं—इसका पूर्णतः प्रतिपादन करता है । अजामिलके प्रसङ्गमें एक टीकाकारने लिखा है कि 'गाँवार वैद्य और मर्मज्ञ वैद्यमें जो अन्तर होता है, वही इस प्रसङ्गमें समझना चाहिये ।'

## १४-भक्तिके गुण

भक्तिमीमांसाका मत है कि भागवत मतमें 'भक्ति' ही परमपुरुषार्थ है, 'मोक्ष' परमपुरुषार्थ नहीं । इसके लिये भक्तिविषयक भिन्न-भिन्न सूत्रोंमें भक्तिको 'फलरूप' अथवा 'स्वयंफलरूप' कहा गया है ।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' में श्रीमद्भागवतके इस श्लोकका अभिप्राय बतानेके लिये कि 'भक्तजन भगवान् के देनेपर भी सालोक्यादि मुक्तियोंको स्वीकार नहीं करते' भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया गया है ।

(१) क्लेशघ्नी—भक्ति क्लेशका नाश करती है । क्लेश तीन प्रकारके होते हैं—पाप, पापके बीज और अविद्या । पाप दो प्रकारके होते हैं—अप्रारब्ध-पाप और प्रारब्ध-पाप । भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें कहा गया है कि 'जैसे प्रदीप्त अग्नि ईंधनको भस्म कर देती है, वैसे ही भगवद्विषयक भक्ति संचितादि पाप-समूहोंको सम्पूर्णतः भस्म कर देती है ।' प्रारब्ध-पापके



सम्बन्धमें यह कहा गया है कि 'जातिः श्वयच भी भगवन्नामके श्रवण-कीर्तनादिसे यज्ञके योग्य हो जाता है।' उपर्युक्त ग्रन्थकी 'दुर्गमसंगमनी' टीकामें स्पष्ट किया गया है कि 'भक्ति दुर्जातिप्रापक प्रारब्ध-पापका नाश करके यज्ञ-योग्य, जातिके कारणरूप पुण्यकी प्राप्ति करा देती है'। अप्रारब्धफल पाप तीन प्रकारके होते हैं—कूट, बीज और फलोन्मुख। वे सब भक्तिसे नष्ट हो जाते हैं—यह पद्मपुराणका वचन है। भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें यह आता है कि 'इन्द्रियोंके संयम और मनको निर्विषय बनानेसे ग्रन्थिभेद नहीं होता, परंतु भक्ति कर्माशय-ग्रन्थिका सर्वथा भेदन कर देती है।' इसका अर्थ है कि भक्तिमें अविद्याको नष्ट करनेकी भी सामर्थ्य है।

(२) शुभदा—भगवान्की भक्ति सर्वात्माकी सेवा है। चूँकि वे सर्वात्मा हैं, इसीसे उनकी भक्ति करनेसे सम्पूर्ण विश्वको तृप्त करनेका फल मिल जाता है। भक्तमें सारे सद्गुण निवास करते हैं। भक्तको लौकिक सुख, ब्रह्मलोकपर्यन्त पारलौकिक सुख और भागवत-सुखकी भी प्राप्ति होती है।

(३) मोक्षसुख छोटा है—हृदयमें भक्ति महारानीके किञ्चित् स्थिररूपमें विराजमान होते ही चारों पुरुषार्थ तृणवत् हो जाते हैं। मुक्ति आदि सिद्धियाँ और अद्भुत भुक्तियाँ भक्तिकी दासी हैं। अर्थरूप पुरुषार्थ बाह्य है, स्पष्टतः नश्वर। भोग श्रमसापेक्ष एवं वासनाके द्वारा बन्धनका हेतु है, धर्म क्रियाजन्य होनेके कारण अनन्तफलका हेतु नहीं है। मोक्ष तत्त्वज्ञानके द्वारा बाधित यथास्थितिसे उपलक्षित अपना आत्मा ही है। उसके साथ कोई प्राप्य-प्रापक भाव नहीं है। चाहे विषय भासमान हो, चाहे न हो, वह बाधित होना चाहिये। आत्मा ही मोक्ष है। भक्तिसिद्धान्तमें बुद्धिरूप उपाधिका लय हो जानेपर स्वाभाविक परमेश्वरैक्य ही मोक्ष है; परंतु भक्ति बन्धन और मोक्ष दोनोंमें रहती है।

(४) भक्ति दुर्लभ है—दुर्लभता दो प्रकारकी है।

(१) जीव यज्ञादि साधन-सहस्रसे भी अपने पौनःपुन्य बलपर भक्तिको सुगम नहीं बना सकता। (२) भगवान् भी भजन करनेवालोंको मुक्ति सुलभ कराते हैं, परंतु भक्ति सबको नहीं देते। भागवतमें कहा है—

'मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्।'

(५) भक्ति एक विशेष प्रकारका घनानन्द है—यहाँतक कहा गया है कि ब्रह्मानन्दको यदि प्राप्ति गुणित कर दिया जाय, तो भी वह भक्तिसुखाभोगके परमाणुकी भी तुलना नहीं कर सकेगा। ब्रह्मानन्द शान्त है और भागवतानन्द उल्लासात्मक। इसमें प्रेम-पिपासा और रसतृप्ति युगपत् निवास करते हैं। श्रीकृष्ण स्वामीने कहा है कि 'कथामृत-समुद्रके विहारमें इतना परमानन्द है कि उसके सामने चतुर्वर्ग—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष तृणके समान लगते हैं।'।

(६) भक्ति श्रीकृष्णको आकृष्ट करती है—सगुण-ब्रह्मविद्याकी यह और असाधारण विशेषता है। यह भगवान्को प्रियतमसे प्रेमी बना देती है। इतना आकर्षण धर्मानुष्ठान, विवेक, योगाभ्यास, विद्या, तपस्य एवं त्यागमें नहीं है; क्योंकि भक्ति केवल श्रम, जानकी अथवा स्पर्शमात्र नहीं है। यह प्रेम है, आकर्षण है हृदयकी एकता है। इसमें स्वयं भगवान् भक्तसे आनन्द लेते हैं। वे पाण्डवोंके घर बिना बुलाये जाते और रहते हैं। यशोदा-नन्दकी गोदमें सिर रखकर रोते हैं। सुदामाके आलिङ्गनसे इतना आनन्द पाते हैं कि उनके नेत्रोंसे अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। रुक्मिणीके लिए इतने बेचैन होते हैं कि उन्हें रात्रिमें निद्रा नहीं आती। यशोदाके हाथों बँध जाते हैं। गोपियोंके प्रति अपने-अपने निछावर कर देते हैं। 'कहीं मेरे कठोर स्पर्शसे राधा-रानीके अङ्गमें खरोंच न लग जाय' इस डरसे उन्हें मनके हाथोंसे छूनेमें भी डरते हैं। इस प्रकार भगवान्को वशमें करनेमें सामर्थ्य भक्तिमें है।

'भक्तेः फलमीश्वरवशीकारः।' (समाप्त)



# गीताका भक्तियोग

( लेखक—पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज )

[ गताङ्क पृष्ठ ९७९ से आगे ]

सम्बन्ध

( पाँचवें श्लोकके ऊपर दिया हुआ है )

श्लोक

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।  
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

भावार्थ

निर्गुण-उपासकोंसे भिन्न अपने अनन्यप्रेमी सगुण-उपासकोंके विषयमें भगवान्ने यहाँपर तीन बातें बतलायी हैं—

( १ ) मेरी प्राप्तिका उद्देश्य रहनेसे उनके सभी कर्म सर्वथा मेरे ही समर्पित होते हैं ।

( २ ) मुझको ही परम श्रेष्ठ और परम प्राप्य मानकर वे मेरे ही परायण रहते हैं ।

( ३ ) मेरे सिवा और किसी वस्तुमें आसक्ति न रहनेके कारण नित्य-निरन्तर मेरा ही ध्यान-चिन्तन करते हुए वे मेरी ही उपासना करते हैं ।

ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें भगवान्ने अनन्य भक्तके लक्षणोंमें तीन विधेयात्मक ( 'मत्कर्मकृत्', 'मत्परमः' और 'मद्भक्तः' ) और दो निषेधात्मक ( 'सङ्गवर्जितः' और 'निर्वैरः' ) पद दिये हैं । उन्हीं पदोंका अनुवाद यहाँ इस प्रकारसे हुआ है—

( १ ) 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य' पदोंसे 'मत्कर्मकृत्'की ओर लक्ष्य है ।

( २ ) 'मत्पराः' पदसे 'मत्परमः' का संकेत है ।

( ३ ) 'अनन्येनैव योगेन' पदसे 'मद्भक्तः'का लक्ष्य कराते हैं ।

( ४ ) 'अनन्येनैव योगेन'का तात्पर्य यह है कि भगवान्में ही अनन्यतापूर्वक लगे रहनेसे उनकी और

कहीं किंचिन्मात्र भी आसक्ति न रहनेके कारण वे 'सङ्गवर्जितः' हैं ।

( ५ ) अन्यमें आसक्ति न रहनेके कारण उनके मनमें किसीके प्रति भी वैर, उत्तेजना और क्रोध आदिका भाव नहीं रह सकता, इसलिये 'निर्वैरः' पदका भाव भी इसके अन्तर्गत आ जाता है । परंतु भगवान्ने इसे स्पष्ट करनेके लिये १३वें श्लोकमें सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें सबसे पहले 'अद्वेषा' पदका प्रयोग किया है ।

अन्वय

तु, ये, मत्पराः, सर्वाणि, कर्माणि, मयि, संन्यस्य,  
माम्, एव, अनन्येन, योगेन, ध्यायन्तः, उपासते ॥ ६ ॥

तु ( इसके विपरीत )

ये ( जो )

'ये' पद यहाँ निर्गुण-उपासकोंके प्रकरणसे सगुण-उपासकोंके प्रकरणको अलग करनेके लिये आया है । ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें और इसी अध्यायके २२ श्लोकमें जिन उपासकोंका वर्णन हुआ है, उन्हीं उपासकोंका प्रकरण इस श्लोकसे प्रारम्भ करते हैं ।

मत्पराः ( मेरे परायण हुए )

परायण होनेका अर्थ है—भगवान्को परम पूज्य और सर्वश्रेष्ठ समझकर अपने आपको भगवान्के समर्पित किये रहना । सर्वथा भगवान्के परायण होनेसे सगुण-उपासक अपने आपको भगवान्का यन्त्र समझता है और क्रियामात्रको भगवान्के द्वारा की हुई मानता है, फलतः वह कर्तृत्वाभिमानसे रहित हो जाता है ।

दूसरे अध्यायके ६१वें श्लोकमें, छठे अध्यायके १४वें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके ५७वें श्लोकमें 'मत्परः' पदसे, नवें अध्यायके ३४वें श्लोकमें



‘मत्परायणः’ पदसे तथा ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें ‘मत्परमः’ पदसे ‘मत्पराः’ ( मेरे परायण ) पदका भाव ही बताया गया है ।

### सर्वाणि कर्माणि ( सम्पूर्ण कर्मोंको )

यहाँपर ‘कर्माणि’ पद स्वयं ही बहुवचन होनेसे सम्पूर्ण कर्मोंका बोध कराता है, परंतु इसके साथ ‘सर्वाणि’ विशेषण देकर सभी लौकिक अर्थात् शारीरिक और आजीविकासम्बन्धी एवं पारलौकिक अर्थात् जप-ध्यान-सम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाओंका इसमें समाहार किया गया है ।

नवें अध्यायके २७वें श्लोकमें वर्णित ‘यदश्नासि’ पदसे शरीर-निर्वाह और आजीविकासम्बन्धी सम्पूर्ण क्रियाएँ, ‘यज्जुहोषि’, ‘ददासि यत्’ और ‘यत्तपस्यसि’ पदोंसे यज्ञ, दान, तप आदि सम्पूर्ण वैदिक कर्म और ‘यत्करोषि’ पदके अन्तर्गत अन्य सभी तरहकी क्रियाएँ आ जाती हैं । अतः मन, वाणी और शरीरसे जितनी भी क्रियाएँ होती हैं, उन सभीका इस पदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

### मयि संन्यस्य ( मुझमें अर्पण करके )

इस पदसे भगवान् क्रियाओंका स्वरूपसे त्याग करनेकी बात नहीं कहते; क्योंकि पहली बात तो यह है कि स्वरूपसे कर्मोंका त्याग सम्भव ही नहीं है ( गीता ३ । ५; १८ । ११ ) । दूसरी बात यह है कि सगुण-उपासक क्रियाओंको यदि प्रमादसे छोड़ भी देगा तो वह त्याग मोहपूर्वक किया गया होनेसे ‘तामस त्याग’ होगा ( गीता १८ । ७ ) और यदि दुःस्वरूप समझकर शारीरिक क्लेशके भयसे उन्हें वह छोड़ता है तो वह ‘राजस त्याग’ होगा । अतः ऐसा करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध छूटेगा नहीं । इसलिये कर्मोंसे मुक्त होनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य कर्मोंमें ममता, आसक्ति और फलेच्छाका त्याग करे; क्योंकि ममता, आसक्ति

और फलेच्छा आदिके द्वारा क्रियाके साथ जो सम्बन्ध जोड़ा जाता है, वही बाँधनेवाला है, कर्म स्वरूपतः कर्म मनुष्योंको बाँधते नहीं । साधकका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति होनेसे उसमें पदार्थोंकी इच्छा नहीं रहती और अपने आपको भगवान्का समझनेसे उसकी कर्मोंसे ममता हटकर भगवान्में हो जाती है । कर्त्तव्य स्वयं अर्पित होनेसे उसके सम्पूर्ण कर्म भगवदर्पित होते हैं । उसी अर्पणका ‘सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः’ पदोंसे संकेत है ।

तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें ‘अथात्मचेतसा मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य’ पदोंसे, पाँचवें अध्यायके १०वें श्लोकमें ‘ब्रह्मण्याधाय कर्माणि’ पदोंसे, नवें अध्यायके २८ वें श्लोकमें ‘संन्यासयोगयुक्तात्मा’ पदसे, ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें ‘मत्कर्मकृत्’ पदसे, इसी अध्यायके १० वें श्लोकमें ‘मत्कर्मपरमो भव’ एवं ‘मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्’ पदोंसे, अठारहवें अध्यायके ५७वें श्लोकमें ‘चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य’ पदोंसे और ६६वें श्लोकमें ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ पदोंमें किसी भी पदमें भगवान्ने स्वरूपसे कर्मोंकी त्यागकी बात नहीं कही है, अपितु कहीं ‘अथात्म-चेतसा’से कर्मोंका अर्पण कहा है, कहीं ‘ब्रह्म’में अर्पण कहा है और कहीं ‘चेतसा’ ( चित्त )से कर्मोंका अर्पण कहा है । इसका तात्पर्य चित्तसे भगवान्को कर्म अर्पण करना ही है । साधककी मन-बुद्धिमें यह निश्चय है कि ‘मैं भगवान्के सर्वथा अर्पित हूँ और मेरे परम प्राप्य भगवान् ही हैं ।’ ऐसे मन-बुद्धिसे युक्त साधक जो कर्म करता है, उसके कर्म वास्तवमें भगवदर्पित हैं ।

### टिप्पणी

मुझमें अर्पणके कई भेद हैं, जिनको ‘मददर्पण’, ‘मदर्थकर्म’ और ‘मत्कर्मकृत्’ के नामोंसे कहा गया है ।

( १ ) ‘मददर्पण कर्म’ उन कर्मोंको कहते हैं, जिन कर्मोंका उद्देश्य पहले कुछ और हो, किंतु क्रिया करते समय



[७]

या क्रियाके पश्चात् उन्हें भगवान्‌के अर्पण कर दिया जाय । जैसे ध्रुवकी तपस्या प्रारम्भ तो हुई राज्यकी इच्छाको लेकर, परंतु उन्होंने तपस्याकालमें ही तपस्यारूपी कर्मको भगवान्‌के अर्पण कर दिया । अतः भगवदर्पित होनेके कारण उस तपस्याके फलस्वरूप उसे भगवत्प्राप्ति हुई ।

(२) 'भूदर्थ कर्म' वे कर्म हैं, जो प्रारम्भसे ही भगवान्‌के लिये किये जायँ या भगवत्सेवारूप हों । भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करना, भगवान्‌की आज्ञा मानकर कर्म करना और भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्म करना—ये सभी भगवदर्थ कर्म हैं ।

(३) 'भूतकर्मकृत्'में उन कर्मोंका संकेत है, जो स्वयं भगवान्‌के परायण होकर मात्र भगवान्‌के लिये किये जायँ ।

भक्तियोगी जैसे अपनी क्रियाओंको भगवान्‌के अर्पण करके कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है, वैसे ही ज्ञानयोगी क्रियाओंको प्रकृतिमें होती हुई समझता है और अपनेको उनसे सर्वथा असङ्ग और निर्लिप्त समझता है । गीताजीमें इस बातको अनेक प्रकारसे कहा गया है । यथा—

(१) इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके अर्थोंमें बरत रही हैं (५।९) ।

(२) प्रकृतिके कार्यरूप इन्द्रियाँ प्रकृतिके कार्यरूप इन्द्रियोंके विषयोंमें बरत रही हैं (३।२७; १३।२९) ।

(३) 'नवद्वारे पुरे संन्यस्य—नौ द्वारोंवाले प्रकृतिके कार्यरूप शरीरमें न्यास करके' (५।१३) ।

(४) 'स्वभावस्तु प्रवर्तते—प्रकृति ही सब कुछ करती है' (५।१४) ।

(५) अठारहवें अध्यायके १४वें और १५वें श्लोकोंमें कर्मोंके सम्पादनमें पाँच हेतु गिनाये गये । वहाँपर एक हेतु 'कर्ता' भी है ।

यदि ज्ञानयोगी अपनेको सर्वथा असङ्ग और निर्लेप मानकर उन क्रियाओंका कर्त्ता नहीं बनता तो उस स्थितिमें क्रियाओंके होनेमें पाँच हेतु गिनाये गये हैं ।

पाँचों ही प्रकारसे कर्मके होनेमें मूल बात यह है कि ज्ञानयोगी प्रकृतिको कर्त्ता मानता है और स्वयं कर्मोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है ।

कर्मयोगी दो प्रकारके होते हैं—(१) भक्तिप्रधान कर्मयोगी और (२) कर्मप्रधान कर्मयोगी ।

(१) भक्तिप्रधान कर्मयोगीका कर्त्तृपिन बदलकर भगवान्‌में ही लीन हो जायगा अर्थात् वह भगवान्‌को ही कर्त्ता मानेगा और स्वयं निमित्तमात्र ही रहेगा ।

(२) कर्मप्रधान कर्मयोगी पदार्थ, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिसे सेवा करते-करते जब 'अहं'को भी सेवामें लगा देगा, तब जो तत्त्व है, वह ज्यों-का-त्यों रह जायगा ।

अतः उपर्युक्त दोनों ही मार्गोंसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले पुरुषमें कर्मोंसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहेगा; क्योंकि उसमें न तो फलेच्छा और कर्तृत्वाभिमान हैं न पदार्थ, शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें समता ही । फलतः वह कर्मोंको अपने मानता नहीं अर्थात् कर्मोंमें भी उसकी समता नहीं रहती । इस प्रकार कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हो जाना ही वास्तविक समर्पण है । सिद्ध पुरुषोंकी क्रियाओंका स्वतः ही समर्पण होता है और साधक पूर्ण समर्पणका उद्देश्य रखकर वैसे ही कर्म करनेकी चेष्टा करता है ।

माम् ( मुझ समुणरूप परमेश्वरको )

एव ( ही )

अनन्येन योगेन ( अनन्ययोगसे अर्थात् अनन्यभक्तिसे )

'अनन्येन योगेन' इन पदोंमें इष्टविषयक और उपाय-सम्बन्धी, दोनों प्रकारकी अनन्यताका संकेत है अर्थात् उसके इष्टदेव भी भगवान् हैं, उनके सिवा और कोई भजनेयोग्य उसकी दृष्टिमें है ही नहीं और इष्टकी प्राप्तिके लिये आश्रय भी उन्हींका है ।

आठवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'अनन्यचेताः' पदसे और २२वें श्लोकमें 'अनन्यया' पदसे, नवें अध्यायके १३वें श्लोकमें 'अनन्यमनसः' पदसे और ३०वें श्लोकमें 'अनन्यभाक्' पदसे, तेरहवें अध्यायके १०वें श्लोकमें 'अनन्ययोगेन' पदसे एवं चौदहवें अध्यायके २६वें श्लोकमें 'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन' पदोंसे अनन्य भक्तिका ही लक्ष्य है ।

ध्यायन्तः ( निरन्तर चिन्तन करते हुए )

उपासते ( भजते हैं )

सम्बन्ध—

( पाँचवें श्लोकके ऊपर दिया हुआ है । )

श्लोक

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥



## भावार्थ

इसी अध्यायके छठे श्लोकमें 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य' ( सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके ), 'भक्तपराः' ( मेरे परायण होकर ) और 'अनन्येन योगेन मां ध्यायन्तः' ( अनन्ययोगसे मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए ) पदोंसे भगवान् अपने प्रेमी सगुणोपासकोंके लक्षण बतला चुके हैं । उन सभी लक्षणोंका समाहार यहाँ एक पद 'मय्यावेशितचेतसाम्—मुझमें चित्त लगानेवाले'से किया गया है । ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें ऐसे भक्तोंको 'मामेति' पदसे अपनी प्राप्ति बतलायी गयी । यहाँ भगवान् उनके लिये एक विशेष बात कहते हैं कि 'भक्तोंको विघ्न-बाधाओंसे बचाकर उनका मैं स्वयं अतिशीघ्र मृत्युमय संसारसमुद्रसे उद्धार कर देता हूँ ।'

## अन्वय

पार्थ, तेषाम्, मयि, आवेशितचेतसाम्, अहम्,  
नचिरात्, मृत्युसंसारसागरात्, समुद्धर्ता, भवामि ॥७॥

पार्थ—( हे अर्जुन )

पृथाका पुत्र होनेसे अर्जुनका एक नाम 'पार्थ' भी है ।

## टिप्पणी

अर्जुनका 'पार्थ' सम्बोधन भगवान्के साथ प्रियता और घनिष्ठ सम्बन्धका द्योतक है । गीताजीमें भगवान्के वचनोंमें ३८ बार 'पार्थ' सम्बोधनका प्रयोग हुआ है । यह अन्य सभी सम्बोधनोंकी अपेक्षा अधिक है । इसके बाद सबसे अधिक प्रयोग 'कौन्तेय' सम्बोधनका हुआ है, जिसकी आवृत्ति २४ बार हुई है ।

गीतामें अर्जुनके प्रति भगवान्को जब कोई विशेष बात कहनी होती है या आश्वासन देना होता है या उनके प्रति भगवान्का प्रेम विशेषरूपमें उमड़ता है, तब भगवान् उन्हें 'पार्थ' कहकर पुकारते हैं । इस सम्बोधनके प्रयोगद्वारा मानो वे यह याद दिलाते हैं, 'तुम मेरे बुआके लड़के ही नहीं हो, अपितु मेरे प्यारे भक्त और सखा भी हो । ( गीता ४ । ३ ) अतः तुम्हें मैं विशेष गुह्यतम बातें बतलाता हूँ और जो कुछ भी कहता हूँ, तुम्हारे हितके लिये कहता हूँ और सत्य कहता हूँ ।'

'पार्थ' सम्बोधनसे भगवान् विशेषरूपसे यहाँ इस श्लोकमें यह लक्ष्य कराते हैं कि 'अपने प्रेमी भक्तोंका मैं स्वयं तत्काल

उद्धार कर देता हूँ ।' यही नहीं, अपने भक्तका उद्धार करते भगवान् अति प्रसन्न होते हैं ।

जैसे भगवान्को 'पार्थ' सम्बोधन बड़ा प्रिय था, वैसे ही अर्जुनको 'कृष्ण' नाम बड़ा प्रिय था । अर्जुनने गीताजीमें ९ बार भगवान्को 'कृष्ण' नामसे सम्बोधित किया है । अन्य सभी नामोंकी अपेक्षा भगवान्के इस नामका प्रयोग गीतामें सबसे अधिक हुआ है ।

गीताजीके निम्नाङ्कित श्लोकोंमें 'पार्थ' सम्बोधन आया है और वहाँ वह क्या विशेषता रखता है—इसका अनु दिग्दर्शन कराया जाता है—

## अध्याय-श्लोक

## विशेषता

१ । २५ अर्जुनके अन्तःकरणमें अपने आत्मीय जनोंके प्रति जो मोह विद्यमान था, उसको जाग्रत करते हुए पहले-पहल भगवान्ने अर्जुनको 'पार्थ' कहकर पुकारा है ।

२ । ३ पृथाके संदेशकी स्मृति दिलाकर अर्जुनके अंदर क्षत्रियोचित वीरताका भाव जाग्रत करनेके लिये ।

२ । २१ आत्माके नित्य और अविनाशी स्वरूपको लक्ष्य करानेके लिये ।

२ । ३२ कर्तव्यकी स्मृति दिलानेके लिये ।

२ । ३९ कर्मयोगके साधनकी ओर लक्ष्य करानेके लिये ।

२ । ४२ कर्मयोगमें खास बाधा सकाम भावकी है उसे हटानेके उद्देश्यसे उसकी हानियोंकी ओर भगवान् अर्जुनका ध्यान दिलाते हैं ।

२ । ५५ निष्काम भावसे बुद्धि स्थिर हो जाती है—इसकी ओर लक्ष्य करानेके लिये ।

२ । ७२ निष्काम भावसे युक्त साधककी ब्रह्ममें ही स्थिति होती है, यह बतलानेके लिये ।

३ । १६ अपने कर्तव्यका पालन न करनेमें कितना दोष है, इस ओर लक्ष्य करानेके लिये ।

३ । २२ अपना उदाहरण देकर भगवान् अन्वयमुल्लेख कर्तव्यपालनकी आवश्यकताकी ओर ध्यान दिलाते हैं ।

३ । २३ विहित कर्मोंका पालन न करनेसे कितनी हानि होती है, इस ओर लक्ष्य करानेके लिये ।



७]

- ४।११ अपने स्वभावका रहस्य बतलानेके लिये ।  
 ४।१२ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर कुछ भी करना, पाना और जानना शेष नहीं रहता, इस महत्वपूर्ण स्थितिकी ओर ध्यान दिलानेके लिये ।  
 ६।४० अत्यधिक ध्वराये हुए अर्जुनको आश्वासन देते हुए एवं बड़े प्यारसे धीरेज बँधाते हुए भगवान् उन्हें 'पार्थ' और 'तात' कहकर पुकारते हैं । 'तात' सम्बोधन गीताजीमें केवल इसी जगह आया है ।  
 ७।१ समग्ररूपकी विशेषता कृपापूर्वक बिना पूछे ही बतलानेके लिये ।  
 ७।१० 'उत्पत्ति-विनाशरहित' मैं ही सब प्राणियोंका साक्षात् कारणरूपी बीज हूँ—यह बात बतलानेके लिये ।

अर्जुनके प्रश्नपर आठवाँ अध्याय प्रारम्भ हुआ । नहीं तो भगवान् अपना ओरसे नवाँ अध्याय ही प्रारम्भ करते । अन्तकालीन गतिके विषयमें अर्जुनका प्रश्न रहा, अतः उसे विशेषतासे ध्यान देकर सुननेके लिये इस अध्यायमें पाँच बार 'पार्थ' सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है ।

- ८।८ अन्तकालीन गति भगवान्में ही हो—इस ओर लक्ष्य करानेके लिये ।  
 ८।१४ अपने अनन्य प्रेमी भक्तोंके लिये अपनेको सुलभ बतलानेके लिये । 'सुलभ' शब्द गीताजीमें एक ही बार आया है ।  
 ८।१९ जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं होगी, तबतक जन्म-मरणरूपी बन्धन रहेगा ही—इस बातकी ओर लक्ष्य करानेके लिये ।  
 ८।२२ जन्म-मरणरूपी बन्धनसे छूटनेके लिये अनन्य भक्ति ही सरल उपाय है—यह बतलानेके लिये ।  
 ८।२७ शूद्र और कृष्ण मार्गोंको जाननेसे निष्कामभावकी प्राप्ति सहज ही हो सकती है—यह बतलानेके लिये ।  
 ९।१३ साधकोंके लिये दैवी सम्पत्तिकी आवश्यकता दिखलानेके लिये ।

९।३२ अपनी शरणागतवत्सलता प्रकट करनेके लिये—कोई भी कैसा ही पापी क्यों न हो, बिना किसी जाति-आश्रमके भेदसे मेरी शरण होनेपर उसे मेरी प्राप्ति हो जायगी, यह बतलानेके लिये ।

१०।२४ संसारसे उद्धार करनेवाले गुरु ही होते हैं । बृहस्पतिजी सबसे श्रेष्ठ गुरु हैं—इसलिये संसारका बन्धन छुड़ाकर उद्धार करानेवाली मेरी विभूति, मेरे ही स्वरूप हैं—यह बतलानेके लिये ।

११।५ अर्जुनमें कृतज्ञता, विनम्रता और निरभिमानता आदि गुणोंको देखकर भगवान्का कृपास्रोत उनकी ओर उमड़ पड़ा, अतः इस एकादश अध्यायमें वर्णित अपने सारे अनन्त रूपके प्रभाव और ऐश्वर्यका दर्शन उन्हें कराते हैं ।

१२।७ का भाव ऊपर लिखा जा चुका है ।

१६।४ संक्षेपसे आसुरी सम्पत्तिका वर्णन करते हुए उससे सावधान करनेके लिये ।

१६।६ विस्तारसे आसुरी सम्पदाका रूप बतानेके लिये; क्योंकि साधकके लिये आसुरी सम्पदाका त्याग अत्यन्त आवश्यक है ।

१७।२६ अर्जुनको आसुरी सम्पदासे दूर रखकर सत्की ओर लक्ष्य करानेके लिये—सत् (परमात्मा) की ओर चलनेसे सभी कर्म सत्कर्म और सभी भाव सद्भाव हो जाते हैं, यह बतलानेके लिये ।

१७।२८ श्रद्धासहित कर्म करना ही दैवी सम्पदा है, इस ओर लक्ष्य करानेके लिये ।

गीताके अठारहवें अध्यायमें पूर्व अध्यायोंके सभी उपदेशोंका सार होनेसे भगवान्के द्वारा ८ बार 'पार्थ' सम्बोधन प्रयुक्त हुआ है ।

१८।६ कर्मयोगके विषयमें अपना निश्चित किया हुआ उत्तम मत बतलानेके लिये ।

जितने काम होते हैं, बुद्धिके प्रकाशसे ही होते हैं, अतः साधकको चाहिये कि हर समय अपनी बुद्धिको सात्त्विक ही



रखनेका प्रयास रखे, यह बतलानेके लिये ।

१८।३० सात्त्विक बुद्धि धारण करनेके लिये ।

१८।३१ राजसी बुद्धिका त्याग करनेके लिये ।

१८।३२ तामसी बुद्धिका त्याग करनेके लिये ।

सात्त्विक धृति साधकके लिये विशेष आवश्यक है; अतः साधकको चाहिये कि हर समय सात्त्विक धृति धारण करनेका प्रयास करे ।

१८।३३ सात्त्विक धृति धारण करानेके लिये—यह समझानेके लिये ।

१८।३४ राजसी धृतिका त्याग करानेके लिये ।

१८।३५ तामसी धृतिका त्याग करनेके लिये ।

१८।७२ उपदेशके अन्तिम श्लोकमें 'पार्थ' सम्बोधन देकर उसकी स्थिति जाननेके लिये प्रश्न करते हैं कि तुमने मेरे उपदेशको ध्यानपूर्वक सुना कि नहीं ? यदि मेरे उपदेशको ध्यानपूर्वक सुना होगा तो तुम्हारा मोह अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिये ।

**तेषाम् मयि आवेशितचेतसाम्** (उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका )

'जिन साधकोंका लक्ष्य—उद्देश्य—ध्येय भगवान् ही बन गये हैं, जिन्होंने भगवान्में ही अनन्य प्रेमद्वारा अपने चित्तको लगा दिया है, भगवान्को ही सर्वश्रेष्ठ समझकर अपनी बुद्धिको भी लगा दिया है—इस प्रकार जो मन-बुद्धिको भगवान्में अर्पण करके स्वयं भगवान्में ही लग गये हैं, उनके लिये यह पद आया है ।

**अहम् ( मैं )**

**नचिरात् ( शीघ्र ही )**

**मृत्युसंसारसागरात् ( मृत्युरूप संसार-समुद्रसे )**

जैसे सागरमें जल रहता है, वैसे ही संसारमें नाश होनेवाले प्राणी-पदार्थ ही रहते हैं, कोई भी प्राणी-पदार्थ क्षणमात्रके लिये भी स्थिर नहीं है, इसलिये संसार-सागरको 'मृत्यु-संसार-सागर' कहा गया है ।

मनुष्यमें स्वभावतः अनुकूल-प्रतिकूल—दो-दो वृत्तियाँ रहती हैं । संसारकी घटना, स्थिति तथा प्राणी-

पदार्थोंमें अनुकूल-प्रतिकूल वृत्ति राग-द्वेष उत्पन्न मनुष्यको संसारसे बाँध देती है ( गीता ७।२७ ) । यहाँतक देखा जाता है कि साधक भी सम्प्रदाय-विशेष और संतविशेषमें अनुकूल-प्रतिकूल भावना करके राग-द्वेषके शिकार बन जाते हैं, जिससे वे संसार-समुद्रसे जल्दी पार नहीं हो पाते । गीताजीमें भगवान्ने स्थान-स्थानपर इन द्वन्द्वोंसे ( अनुकूल-प्रतिकूल भावनासे ) मुक्त होनेपर ही जोर दिया है—जैसे 'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो' ( ५।३ ); 'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः' ( ७।२८ ); 'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः' ( १५।५ ); 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते' ( १८।१० ); 'रागद्वेषव्युदस्य च' ( १८।५१ ) । इसलिये यदि साधक भक्त अपनी सारी अनुकूलता परमात्मामें कर ले—अर्थात् एकमात्र भगवान्से ही अनन्य प्रेमका सम्बन्ध जोड़ ले एवं सारी प्रतिकूलता संसारमें कर ले अर्थात् संसारसे सर्वथा विमुख हो जाय, तो वह इस संसार-बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाय । अनुकूल-प्रतिकूल—ये दो वृत्तियाँ रखना ही संसारमें बँधना है ।

जीवमें प्रकृति और परमात्मा दोनोंका ही अंश है । जड़ प्रकृति और चेतन परमात्माके सम्बन्धसे ही जीवमें 'अहं' अर्थात् 'मैं'की स्फुरणा होती है । इस 'मैं'का सम्बन्ध जीवने भूलसे शरीरके साथ इतनी घनिष्ठतासे जोड़ लिया कि वह अपने आपको—'शरीर मैं हूँ'—इस प्रकार मानने लग गया । शरीरमें अहंता और शरीरसे सम्बन्धित प्राणी-पदार्थोंमें ममता करके संसारमें बँध गया । प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारदिमें किसी प्रकारका भी सम्बन्ध जोड़ना जन्म-मरणका हेतु है ( गीता १३।२१ ) । यदि साधक ठीक विचारपूर्वक 'मैं' का आधार समझ ले तो संसारसे मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाय । 'मैं'का मूल आधार परमात्मा है जो नित्य और चेतन है । जीव परमात्माका अंश होनेके



कारण परमात्मासे अभिन्न है । शरीरके साथ 'मैं'का सम्बन्ध जोड़ लेनेसे जीवको परमात्माके साथ अपनी अभिन्नताकी विस्मृति हो गयी है—इस विस्मृतिको हटाकर वह परमात्मामें अपनी स्वतःसिद्ध अभिन्न स्थिति-का अनुभव कर ले और जड-नाशवान् प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर एवं संसारसे ( जिसके साथ 'मैं' का सम्बन्ध कभी हुआ ही नहीं—केवल भूलसे ही माना गया है ) जोड़े हुए सम्बन्धको छोड़ दे तो वह इस मृत्यु-संसार-सागरसे सदाके लिये मुक्त हो जाय ।

टिप्पणी

गीताजीके निम्नलिखित पदोंमें मृत्युसंसारसागरकी ओर ही लक्ष्य है—

दूसरे अध्यायके ३९वें श्लोकमें 'कर्मबन्धम्' पद जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए शुभ-अशुभ कर्मोंके संचित संस्कार-समुदायका नाम है । जयतक कर्मोंका बन्धन है, तबतक मनुष्य आवागमन-चक्रसे नहीं छूट सकता, इसलिये संसारको 'कर्मबन्धम्' कहा गया है । तथा ४०वें श्लोकमें 'पहतो भयात्' पद जन्म-मृत्युरूप महान् भयका बोधक होनेसे 'मृत्युसंसारसागर'के अर्थमें ही आया है और ५०वें श्लोकमें 'मुक्तदुष्कृते' पदसे, नवें अध्यायके २८वें श्लोकमें 'शुभाशुभफलैः कर्मबन्धनैः' पदोंसे एवं अठारहवें अध्यायके १२वें श्लोकमें 'अनिष्टमिष्टम्, मिश्रम्, फलम्' पदोंसे 'मृत्युसंसार-सागर'का ही लक्ष्य कराया गया है; क्योंकि वहाँ गिरकर अर्थात् संसारमें जन्म लेकर ही जीव कर्म-समुदायके फलरूप पाप-पुण्योंको भोगता है । चौथे अध्यायके १६वें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके पहले श्लोकमें 'अशुभात्' पद 'मृत्युसंसारसागर'के अर्थमें ही आया है; कारण, संसारका बन्धन ही अशुभ है । आठवें अध्यायके १५वें श्लोकमें 'दुःखालयम्-अशाश्वतम्' पदोंसे 'संसार'का ही बोध कराया गया है । जैसे औषधालयमें औषध ही मिलती है, वैसे ही संसारमें दुःख-ही दुःखका अनुभव होता है, अतः वह

'दुःखालयम्' है तथा क्षणभङ्गुर होनेके कारण उसे 'अशाश्वतम्' कहा गया है । नवें अध्यायके ३३वें श्लोकमें 'अनित्यम्-असुखम्' पदोंसे भी 'संसार'का ही बोध कराया गया है—संसार सदा नित्य नहीं रहता, इसीलिये उसे 'अनित्यम्' कहा गया है । भोगोंमें सुखकी प्रतीति होते हुए भी वास्तवमें उनमें सुख नहीं है; अर्थात् संसारमें कहीं सुख है ही नहीं । अतः इसे 'असुखम्' कहा गया है ।

समुद्धर्ता ( उद्धार करनेवाला )

भगवान्का साधारण नियम है कि जो जिस भावसे उन्हें भजता है, उसी भावसे भगवान् उसे भजते हैं ( ४।११ ) । अतः वे कहते हैं—

'यद्यपि मैं सबमें समभावसे स्थित हूँ ( ९।२९ ) तथापि जिनका उद्देश्य मैं हूँ, जो मेरे लिये ही सम्पूर्ण कर्म करते हैं और मेरे परायण हुए मेरा ही जप-व्यान-चिन्तन आदि करते हैं, ऐसे भक्तोंका मैं सम्यक् प्रकारसे उद्धार करता हूँ ।'

इस पदके अन्तर्गत भगवान्का यह भाव भी है कि 'वह मेरी कृपासे साधनकी सारी विघ्न-बाधाओंको पार करके मेरी कृपासे ही मेरी प्राप्ति कर लेता है ( १८।५६—५८ ); साधनकी कमीको पूरी कराके उसे अपनी प्राप्ति करा देता हूँ ( ९।२२ ); उन्हें अपने समग्ररूपको समझनेकी शक्ति देता हूँ ( १०।१० ); उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं तत्त्वज्ञानसे उनके अज्ञानजनित अन्धकारका नाश कर देता हूँ ( १०।११ ) और उनको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देता हूँ ( १८।६६ ) ।'

भवामि ( होता हूँ )

( क्रमशः )



## आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

महापतित भी भगवान्‌का प्यार पा सकता है ।

यदि आप अशान्तिका अनुभव करते हों तो भगवान्‌की शरणमें जाइये । चाहे कोई अत्यन्त नीच, सर्वथा अधम, सबकी नजरसे गिरा हुआ—कैसा भी क्यों न हो, यदि वह सच्चे मनसे भगवान्‌की शरणमें चला जाय तो वे उसे तत्क्षण हृदयसे लगा लेते हैं । जो निरन्तर भजन करनेवाला है, उसे वे बहुत प्यार करते हैं—यह ठीक है; किंतु महापतित भी उनका प्यार पा सकता है । केवल नीयत होनी चाहिये प्यार पानेकी । एक बारके लिये सच्चे मनसे उनके सम्मुख होना चाहिये । आप भी हृदय खोलकर उनके सामने कहिये—‘दयामय ! मुझ-जैसे प्राणीको तो केवल अहैतुकी कृपासे ही अपनाना होगा ।’ यदि सचमुच इस प्रकारकी प्रार्थना आप हृदयसे करें तो फिर सब व्यवस्था अपने-आप बैठ जायगी । प्रार्थना हृदयसे नहीं होती, इसीलिये प्रभु भी सुनकर भी नहीं सुनते । किंतु जबतक हृदयसे न हो, तबतक केवल वाणीमात्रसे भी करें, करें अवश्य । वाणीमात्रकी प्रार्थना भी बहुत लाभदायक है ।

x

x

x

सब चिन्ता छोड़कर मनको प्रभुमय बना लीजिये ।

जो श्वास बीत गये, वे लौटेंगे नहीं; उनका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग—जो होना था, वह तो हो गया । अब जितने बचे हैं, उनको बड़ी सावधानीसे भगवान्‌के भजन-स्मरणमें बितायें । सारा विवेक बटोरकर बार-बार यह निश्चय कीजिये—यहाँकी कोई चीज भी साथ नहीं जायगी । धन, परिवार, पुत्र, मान-प्रतिष्ठा—सब यहीं रह जायँगे और मन अच्छे-बुरे संस्कारोंको लेकर आपके साथ चलेगा । ऐसी दशामें जो सबसे

अच्छी चीज हो, उसे ही उस मनमें भरिये । सब अच्छी वस्तु हैं—भगवान् ! उनसे उत्तम और कुछ भी नहीं है; उन्हींको भरिये । सब चिन्ता छोड़कर मनको प्रभुमय बना दीजिये, बनानेकी चेष्टा कीजिये । सब अनन्त आनन्दमें डूब जायँगे और जगत्‌को भी पान कर दीजियेगा ।

एक इत्र बेचनेवालेको लीजिये । वह जहाँ अपना इत्र बेचने बैठ जाता है, वहाँका वातावरण इत्रों सुगन्धसे भर जाता है । ऐसा क्यों होता है ? क्योंकि उसके डिब्बेमें इत्र भरा हुआ है । किसीके न चाहने पर भी सुगन्ध उसे मिलती है । इत्र बेचनेवाला भी यदि न चाहे, तो भी सुगन्ध लोगोंको मिलती ही है । इसी प्रकार यदि आप अन्तःकरणमें भगवान्‌को भर सकें, तो फिर स्वयं आनन्दमें निमग्न होकर सारे जगत्‌में जो भी आपके सम्पर्कमें आयँगे, उन्हें भी दिव्य आनन्दका दान करेंगे, तरण-तारण बन जायँगे ।

मृत्युका ठिकाना नहीं । उसके पहले-पहले अपने जानमें पूरी शक्ति लगानी चाहिये । फिर कृपासय प्रकमी पूरी करेंगे । अनन्त कृपा बरस रही है, उसे ग्रहण कीजिये । कृपाको आनेके लिये, अन्तःकरणमें प्रवेश करनेके लिये आप मार्ग दे दें, बस ।

प्रतिकूल परिस्थितिमें भी भगवान्‌की दया देखिये

जो हुआ, हो रहा है, होगा, वह सर्वथा मङ्गलमय विधानके अनुसार होगा; सभी बातोंमें सर्वथा केवल मङ्गल-ही-मङ्गल भरा है । यह ठीक है कि हमलोगोंकी दृष्टि सीमित रहती है, अनुकूल परिस्थितिमें भगवान्‌की दया दीखता है; पर सच मानिये, भगवान्‌की दया अनुकूल परिस्थितिमें है, ठीक उतनी ही प्रतिकूल परिस्थितिमें है । जिस दिन मनुष्य



आपको उनके चरणोंमें समर्पित कर देता है, उस दिन यह बात समझमें आती है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। उसके पहले शास्त्रके वचनोंपर, संतोंके अनुभूतियुक्त वचनोंपर विश्वास करके ऐसी भावना करनी पड़ती है। जितनी मात्रामें भावना दृढ़ होती है, उतनी ही मात्रामें दुःख भी कम हो जाता है। अवश्य ही भजन इस बातमें अत्यधिक, सबसे अधिक सहायक होता है। आप किसी संतसे मिलना चाहते हैं, पर नहीं मिल पाते—इस बातके अन्तरालमें भी बड़ा मङ्गल छिपा है। यह मानें और यह ठीक समझें कि जिस दिन भगवान् उन संतको आपसे मिलाना उचित समझेंगे, उस दिन अपने-आप बिना किसी चेष्टाके वे मिल जायेंगे, अपने-आप वैसे संयोग बन जायेंगे।

देखें, आगमें यह गुण होता है कि यदि गंदी-से-गंदी चीज भी उसमें डाल दें तो आग उसका गंदापन नष्ट करके उसे अपना स्वरूप देती है। आगकी यह शक्ति जहाँसे आती है, जो समस्त शक्तियोंका केन्द्र है, वह यत्न है—भगवान् ! बड़ी आसानीसे कृपामय सब मल नष्ट करके अपने प्यारे भक्तको अपने समान कर लेते हैं। उनमें तनिक भी भेद-भाव नहीं है। उनके लिये सब समान हैं। उनके सम्मुख जाने भरकी देर है। इसीलिये उनकी ओर मुँह करें, मुँह करनेकी चेष्टा करें, चाह करें। इसमें भी वे सहायता करेंगे।

किसी भी असत् कमाईको स्वीकार न कीजिये।

भजनके साथ-साथ यदि कई खास बातोंपर ध्यान दिया जाय तो बहुत शीघ्र भजनका प्रत्यक्ष फल सामने आने लगता है। उन्हींमें एक बात है—सात्त्विक पवित्र अन्नका भोजन, अर्थात् यह कि अन्न सात्त्विक हो तथा सात्त्विक विधिसे तैयार किया जाय। पर सबसे अधिक इस बातका विचार आवश्यक है कि अन्न सात्त्विक कमाईका है कि नहीं। यह बात साधारण जान पड़ती

है; पर मनको दूषित बनानेके लिये यह कितनी जिम्मेवार है—इसका महाभारतकी एक कथासे पता चलता है। भीष्मपितामहके विषयमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने कहा था—‘युधिष्ठिर ! ज्ञानके सूर्य ( भीष्मपितामहजी ) अस्त होने जा रहे हैं; उनसे जो सीखना हो, सीख लो।’ ऐसे भीष्मपितामहकी बुद्धि दूषित अन्न खानेसे विगड़ गयी थी। कथा आती है कि भीष्मजी शरशय्यापर जब उपदेश कर रहे थे, तब द्रौपदी हँस पड़ी। भीष्मने पूछा—‘वेग्री ! तू हँसी क्यों ? तू पतिव्रता है, तुम्हारी-जैसी स्त्री अकारण नहीं हँस सकती।’ द्रौपदीने कहा—‘पितामह ! मैं यह सोचकर हँसी कि आपका यह ज्ञान उस समय क्या हो गया था, जब मेरी साड़ी भरी सभामें खींची जा रही थी।’ भीष्मने कहा—‘तू ठीक कहती है, बेटी ! बात यह है कि उस समय मैं पापात्मा दुर्योधनका अन्न खाता था, इसलिये मेरी बुद्धि कुण्ठित हो गयी थी और मैं न्याय-अन्यायका विचार नहीं कर सका !’ अस्तु, जब भीष्म-सरीखे महात्माकी बुद्धि विगड़ सकती है, तब फिर हम-लोग तो कलियुगी महान् पाप प्राणी स्वभावसे ही हैं। इसलिये आप यदि इस विषयमें सावधान रहें तो बड़ी शान्ति मिलेगी। मरना है, शरीरसे वियोग होगा ही; और वस, उसी क्षण आपका अपने पुत्र, परिवार, स्त्री, परिजन-सबसे नाता टूट जायगा। साथ चलेंगे कर्मोंके संस्कार और कर्मोंके करते समय जो पाप-पुण्यका बोझ इकट्ठा हुआ है, वह। फिर बुद्धिमानी इसीमें है कि किसी भी असत् कमाईको स्वीकार न करें। परिवारके बहानेसे मन धोखा देता है, पर इसी धोखेसे अन्तक संसारमें भटक रहे हैं। खूब सावधान होना चाहिये। यह ठीक है कि यदि आप ब्राह्मणकुलमें पैदा हुए हैं तो अयाचित दान स्वीकार कर सकते हैं; पर मन बड़ा धोखेबाज है। इससे पद-पदपर सावधान रहना चाहिये, एक पैसा भी स्वीकार करनेमें पहले अवश्य विचार लें।



सत्यका आश्रय लेनेसे यदि आपको प्रत्यक्षमें बहुत आर्थिक हानि हो और उससे पारिवारिक भरण-पोषणमें बड़ी कठिन समस्या उपस्थित हो जाय, तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये । भरण-पोषणके लिये आपका ग्राममें जाकर मुट्ठी-मुट्ठी चावल माँगकर भिक्षावृत्तिसे जीवन-निर्वाह करना, भिक्षा भी न मिलनेपर भूखों मर जाना अच्छा है पर उदर-भरणके लिये अथवा परिवारकी रक्षाके लिये किसी भी असत् कमाईको स्वीकार करना अच्छा नहीं । यह बात आजकल बहुत कठिन-सी प्रतीत होती

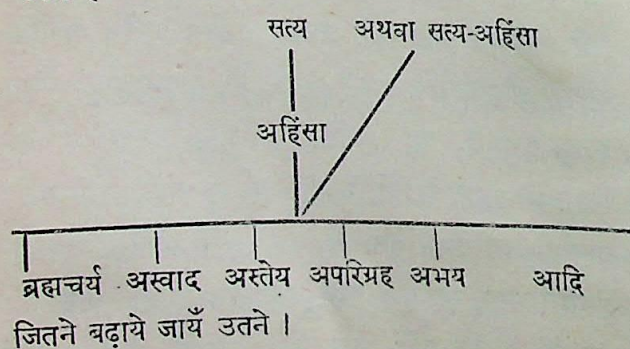
है, वातावरणका असर सबके ऊपर कम-बेशी मात्रामें पड़ चुका है । इसलिये सत्यके लिये मरना बहुत कठिन बात जान पड़ सकती है, पर है यही असली मार्ग । इसीमें शान्ति है, इसीमें सुख है । इसके विपरीत चाहे कोई हो, यदि वह असत् मार्गका अवलम्बन करता है तो उसका वर्तमान जीवन भी दुःखसे बीतेगा और परलोक तो अन्धकारमय है ही । इसलिये प्रार्थना है, खूब सावधान रहें । प्रभुके मार्गकी ओर बढ़नेमें सत्यपूर्ण, सदाचारपूर्ण जीवन बड़ा सहायक होता है ।

## गांधी-जीवन-सूत्र

### [ अस्तेय-अपरिग्रह-स्वेच्छा-दारिद्र्य ]

( लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट )

गांधीने अपने लिये, अपने आश्रमवासियोंके लिये, जो जीवन-सूत्र बनाये थे, उनमें अहिंसा और सत्यके बाद अस्तेयका नंबर आता था, फिर ब्रह्मचर्यका और तब अपरिग्रहका । योगशास्त्रमें भी अष्टाङ्गयोग-मार्गमें यमकी जो साधना है, उसमें ये पाँचों व्रत आते हैं । सभी धर्मग्रन्थोंमें भिन्न-भिन्न शब्दोंमें इन व्रतोंपर जोर दिया गया है । यों गांधीका यह मानना था कि सब व्रत सत्य और अहिंसाके अथवा सत्यके गर्भमें रहते हैं और वे इस तरह बताये जा सकते हैं—



अस्तेयका सीधा-सा अर्थ है—चोरी न करना । स्थूल चोरी तो सभी जानते हैं । कोई रम्मासे सेंध मारकर चोरी करता है, कोई सेफ्टीरे जरसे जेब साफ करके । कोई

जालसाजी, धोखेवाजीसे चोरी करता है, कोई छुरा, पिस्तौल और बंदूक दिखाकर परायी सम्पत्ति हथिया लेता है । चोरीके असंख्य प्रकार हैं, पर गांधीके लक्ष्योंमें तो स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म चोरी करनेका भी निषेध था । उसकी व्याख्या करते हुए वह लिखता है—

“चोरीका अपराध तो हम सब कम या ज्यादा मात्रामें, जानमें या अनजानमें करते ही हैं । दूसरेकी वस्तुको उसकी अनुमतिके बिना लेना तो चोरी है ही, मनुष्य अपनी कही जानेवाली चीज भी चुराता है । उदाहरणार्थ, किसी पिताका अपने बालकोंके जाने बिना, उन्हें मालूम न होने देनेकी इच्छासे चुपचाप किसी चीजका खाना । यह कहा जा सकता है कि आश्रमका वस्तु-भंडार हम सबका है, परंतु उसमेंसे जो चुपचाप गुडकी डली भी लेता है, वह चोर है । एक बालक दूसरे बालककी कलम लेकर ‘भेरी’ कहता है, तो वह चोरी करता है ।

“किसीके जानते हुए भी उसकी चीजको उसकी आज्ञाके बिना लेना चोरी है । यह समझकर कि वह किसीकी भी नहीं है, किसी चीजको अपने पास रख लेनेमें भी चोरी है । राहमें पड़ी हुई चीजके मालिक हम नहीं हैं, बल्कि उस प्रदेशका राजा या व्यवस्थापक है । आश्रमके नजदीक मिली कोई चीज



आश्रमके मन्त्रीको सौंपनी चाहिये और यदि वह आश्रमकी नहीं है तो मन्त्री उसे सिपाहीको सौंप दे।

“इतनेतक तो समझना साधारणतः सहज ही है, परंतु अस्तेय इसमें बहुत आगे जाता है। जिस चीजके लेनेकी हमें आवश्यकता न हो, उसे जिसके पास वह है, उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है। ऐसी एक भी चीज नहीं लेनी चाहिये, जिसकी जरूरत न हो। संसारमें इस तरहकी अधिक-से-अधिक चोरी खाद्य-पदार्थोंकी होती है। मुझे अमुक फलकी आवश्यकता नहीं है, तो भी यदि मैं उसे लेता हूँ, तो वह चोरी है।

“उक्त समस्त चोरियोंको बाह्य या शारीरिक चोरी कह सकते हैं। इससे सूक्ष्म और आत्माको नीचे गिरानेवाली या पतित बनाये रखनेवाली चोरी मानसिक है। मनसे किसीकी चीजको पानेकी इच्छा करना या उसपर झूठी नजर डालना चोरी है। किसी उम्दा चीजको देखकर ललचा जाना मानसिक चोरी है। उपवासी दूसरेको खाते देख यदि मन-ही-मन स्वाद लेने लगता है तो चोरी करता है।

“अस्तेय-व्रतका पालक भविष्यमें प्राप्त होनेवाली चीजोंके लिये हवाई किले नहीं बाँधा करता। जैसे चीजकी, वैसे ही विचारकी भी चोरी होती है। किसी उत्तम विचारके अपने मनमें उत्पन्न न होनेपर भी जो अहंकारवश उसे अपना बताता है, वह विचारकी चोरी करता है।

“अतः अस्तेय-व्रतका पालन करनेवालेको बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बहुत सादगीसे रहना पड़ता है।”

× × ×

स्पष्ट है कि अस्तेय-व्रतकी साधना सरल नहीं है। स्थूल और बाह्य चोरीका त्याग करके जब हम मानसिक चोरीके त्यागकी दिशामें बढ़ेंगे, तब हमें लगेगा कि हम आवश्यकतासे अधिक रत्ती भर भी चीज न तो लें न मनमें उसकी कल्पना ही करें, न हम भविष्यके लिये हवाई किले बाँधें और न हम किसी वस्तुके लिये मनमें लालच करें।

यहाँपर हम अपरिग्रहके क्षेत्रमें प्रवेश करते हैं। सच पूछा जाय तो अस्तेय और अपरिग्रह एक ही सिक्केके दो बाजू हैं। अस्तेय-व्रतका साधक अपरिग्रही होगा ही। गांधी उसकी व्याख्या करते हुए कहता है—

“अपरिग्रहका सम्बन्ध अस्तेयसे है। जो चीज मूलमें

चोरीकी नहीं है, पर अनावश्यक है, उसका संग्रह करनेसे वह चोरीकी चीजके समान हो जाती है। परिग्रहका अर्थ संचय या इकट्ठा करना है। सत्यशोधक अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता।

“आदर्श आत्यन्तिक अपरिग्रह तो उसीका होता है, जो मन और कर्मसे दिगम्बर हो। अर्थात् वह पक्षीकी तरह ग्रहहीन, अन्नहीन और वस्त्रहीन रहकर विचरण करे। अन्नकी उसे रोज आवश्यकता होगी और भगवान् रोज उसे देंगे। पर इस अवभूत स्थितिको तो विरले ही पा सकते हैं। हम तो सामान्य कोटिके सत्याग्रही ठहरे, जिज्ञासु ठहरे। हम आदर्शको ध्यानमें रखकर नित्य अपने अपरिग्रहकी जाँच करते रहें और जैसे बने वैसे उसे करते रहें।

“केवल सत्यकी—आत्माकी दृष्टिसे विचारें तो शरीर भी परिग्रह है। भोगेच्छाके कारण हमने शरीरका आवरण खड़ा किया है और उसे टिकाये रहते हैं।

“वस्तुकी भाँति ही विचारका भी परिग्रह नहीं होना चाहिये। जो मनुष्य अपने दिमागमें निरर्थक ज्ञान ठूस रखता है, वह परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वरसे विमुख रखते हैं या ईश्वरकी ओर नहीं ले जाते, वे सब परिग्रहमें शुमार होते हैं और इसलिये त्याज्य हैं।”

× × ×

भारतीय दर्शनमें अपरिग्रहकी उत्तम कोटियाँ दी गयी हैं। संन्यासी सारे परिग्रहोंका त्याग कर देता है। उसे समाजमें रहना पड़ता है, इसलिये वह केवल कौपीन धारण करता है, जैन दिगम्बर मुनि तो उसका भी त्याग कर देते हैं।

शंकराचार्यने अपने ‘यति-पञ्चक’में कौपीनधारी संन्यासियोंकी कैसी सुन्दर व्याख्या की है—

वेदान्तवाक्येषु सदा रमन्तो

भिक्षाजमात्रेण च तुष्टिमन्तः।

अशोकवन्तः कर्णकवन्तः

कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥ १ ॥

मूलं तरोः केवलमाश्रयन्तः

पाणिद्वयं भोक्तुममग्रयन्तः।

कम्पामपि क्षियमिव कुत्सयन्तः

कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ॥ २ ॥



नान्तं न मध्यं न बहिः स्मरन्तः

कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः ।

स्वानन्दभावे

परितुष्टिमन्तः

स्वच्छन्तसर्वेन्द्रियवृत्तिमन्तः ॥ ३-४ ॥

वेदान्त-वाक्योंमें ही वह सदा रमण करता है; भिखायें जो मिल जाता है, उसीमें संतुष्ट रहता है। उसे किसी बात-का शोक नहीं होता। करुणासे वह ओतप्रोत रहता है। वृक्षोंके मूलमें उसका डेरा रहता है। दोनों हाथ ही उसके पात्र होते हैं—करपात्री होता है वह। स्त्रीकी भाँति गुदड़ी-को भी वह हेय मानकर त्याग देता है। न उसे अन्तकी परवा होती है, न मध्यकी और न बाहरकी। किसीकी कोई याद नहीं। आत्मानन्दमें वह सदा मग्न रहता है। सारी इन्द्रियोंको वह भीतर-ही-भीतर शान्त किये रखता है।

धन्य है ऐसा कौपीनधारी !

भर्तृहरि भी ऐसी ही अनुपम स्थितिकी आकाङ्क्षा करते हैं—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।

कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः ॥

एकाकी, निःस्पृह, शान्त, करपात्री और दिगम्बर कब हो पाऊँगा मैं, हे शम्भो ! तभी न मैं कर्मोंके प्रभावसे अपनेको मुक्त कर पाऊँगा ?

× × ×

ऐसे ही परमहंसोंकी स्थितिका वर्णन करते हुए नजीर कहता है—

कुछ जुलम नहीं, कुछ जोर नहीं,

कुछ दाद नहीं, फरियाद नहीं ।

कुछ कैद नहीं, कुछ बंद नहीं,

कुछ जब्र नहीं, आजाद नहीं ॥

शार्गिर्द नहीं, उस्ताद नहीं,

वीरान नहीं, आबाद नहीं ।

हैं जितनी बातें दुनिया की,

सब भूल गये कुछ याद नहीं ॥

हर आन हँसी, हर आन खुशी,

हरवक्त अमीरी है, बाबा ।

जब आशिक मस्त फकीर हुए,

फिर क्या दिङ्गीरी है बाबा ॥

अपरिग्रहकी इस मस्तीका क्या कहना । आनन्द ही

आनन्द चारों ओर । मानव इसी आनन्द-सागरमें आठ पहर, चौसठ घड़ी डूबा रहता है ।

×

×

×

कोई चिन्ता नहीं, कोई स्पृहा नहीं । कुछ लेना नहीं, कुछ देना नहीं । जो कुछ मिले सो खाना; दाताका नाम जपना ! औलियोंकी, संतोंकी, मस्तीकी यही स्थिति रहती है ।

पर हम तो ठहरे दुनियादार आदमी । हम क्या करें ?

गांधीने इसी प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा है कि 'इसके लिये हम दिन-दिन अपना परिग्रह घटाते चलें ।'

कैसे ?

कोचरव आश्रमके संस्मरण लिखते हुए प्रभुदास भाई गांधी कहते हैं—

“एक दिन अपरिग्रहके सम्बन्धमें समझाते हुए गांधीने कहा—अपरिग्रहका व्रत सत्य और अहिंसाके व्रतसे कम महत्त्वका नहीं है। अपरिग्रहका अर्थ है—अपने पास सामान कम-से-कम रखना। जिन वस्तुओंके बिना हमारा काम चल सकता है, उन वस्तुओंको हमें बटोरना नहीं चाहिये। अगर हमारा काम एक कुर्सीसे चल सकता है तो दूसरी कुर्सी हमें अपने पास नहीं रखनी चाहिये। छोटी कुर्सीसे चलता हो तो बड़ी कुर्सी नहीं लेनी चाहिये। यहाँ तो हमने कुर्सी रखी ही नहीं। नीचे ही बैठते हैं। बिछानेके लिये न जाजम रखी न गलीचा। काम करनेके लिये मेज चाहिये। छोटी-सी मेज बनानेकी बात मैंने मगनलालसे कही है। मंगलदास सेठने कहा है कि वे लकड़ी यहाँ मेज देंगे और हमलोग अपने हाथसे उस लकड़ीको चीरकर मेज बनायेंगे। हमारे साथ मिस्टर कैलेनवेकका सामान भी दक्षिण अफ्रीकासे आया है। उसमें तुमलोगोंने देखा होगा कि उनके चश्मेके बहुत सारे काँच रखे हैं। एक या दो चश्मेसे उनका काम नहीं चलता। उसी तरह सात दिनोंके लिये अलग-अलग उस्तरे भी उनके सामानमें हैं। और भी बहुत सारी चीजें उनके पिटारोंमें हैं, जिनके बिना आसानीसे एक आदमीका जीवन चल सकता है।

“पश्चिममें सुधारोंका लक्षण ही माना गया है कि आदमीकी जरूरतें जितनी बढ़ सकें, उतनी बढ़ानी चाहिये। इसीको वे लोग तरक्की मानते हैं। पश्चिमके इस प्रयास को हमें अपनाना नहीं है। हमें तो अपने देशके छोटे-छोटे



किसानोंके जीवनसे सीखना है। कम-से-कम कपड़ोंमें वह गुजर कर सकता है। अपने घरमें वर्तन और दूसरा सामान बहुत कम रखता है। फिर भी पूरा परिश्रम करता है और अपने मनमें संतुष्ट और प्रसन्न रहता है। हमारी प्रगति अपने लिए ज्यादा सामान जोड़नेमें नहीं है, लेकिन थोड़े-से साधनोंके सहारे बढ़िया-से-बढ़िया काम करनेकी कलामें हमारी प्रगति होनेवाली है। अधिक धन बटोरने या सामान इकट्ठा करनेका मतलब है—औरोंकी आयको छीनना; इसकी जड़में हिंसा ही है। अपने लिये औरोंपर संकट लादना हिंसा ही कहलायेगी।

“मृत्यु, अहिंसा और ब्रह्मचर्यको हमें अपने मनमें पक्का करना है और अपरिग्रहको अपने रोजके व्यवहारमें लाना है। बाहरसे देखनेवाले हमारी सचाई और दया-भावना-की कसौटी आसानीसे नहीं कर सकते। लेकिन अपरिग्रह तो देखते ही समझमें आनेवाली बात है। अपरिग्रहके लिये हम संक्षेपमें कह सकते हैं कि हमारा जीवन सादे-से-सादा हो। बनावट—आडम्बरसे रहित, सीधा-सादा रहन-सहन हम अपनायें। इस दिशामें सदैव हमारा जागरूक प्रयत्न होना चाहिये।

× × ×

कोचरव आश्रममें गांधीके इस आदर्शका बड़ी बारीकीसे पालन किया जाता था। पानीकी एक बूँदतक व्यर्थ न खर्च होनेकी सावधानी बरती जाती थी।

अपरिग्रहकी साधना गांधीको स्वेच्छा-दारिद्र्यकी दिशामें ले गयी। गोपालकृष्ण गोखले दक्षिण अफ्रीकाका दौरा करने गये थे। उन्होंने बादमें लिखा था—‘गांधीने अपना सब कुछ बलिदान कर दिया है। उनकी बकालत बड़े जोरसे चल रही थी। उससे उन्हें सालाना ५-६ हजार पौंड प्राप्त हो जाते थे। यह रकम दक्षिण अफ्रीकामें किसी भी बकीलेके लिये बहुत अच्छी बात मानी जायगी; किंतु वे इस सबका परित्याग करके प्रतिमास तीन पौंडपर गलियोंमें रहनेवाले सर्वथा विपन्न आदमीकी जिंदगी बिता रहे हैं।’

पर गांधीको गरीबोंके साथ तादात्म्यकी इस साधनामें कम कठिनाइयाँ नहीं उठानी पड़ीं। अपने संघर्षोंकी कहानीमें वह कहता है—

“जब मैंने अपनेको राजनीतिक जीवनके भेवरोंमें लिंचा हुआ पाया, तब मैंने अपने आपसे पूछा कि मुझे अनैतिकतासे,

असत्यसे और जिसे राजनीतिक लाभ कहा जाता है, उससे अछूता रहनेके लिये क्या करना जरूरी है? आरम्भमें मुझे काफी कठिन संघर्षसे गुजरना पड़ा और अपनी पत्नीके साथ तथा अपने बच्चोंके साथ भी बहुत झगड़ना पड़ा। मैं इस दृढ़ निश्चयपर पहुँचा कि यदि मुझे उन लोगोंकी सेवा करनी है, जिनके बीच मुझे जीवन बिताना है और जिनकी कठिनाइयोंको मैं दिन-प्रतिदिन देखता हूँ तो मुझे अपनी समृद्धी सम्पत्ति तथा सारे परिग्रहका त्याग कर देना चाहिये।

“ऐसा नहीं है कि इस निश्चयपर पहुँचते ही मैंने प्रत्येक वस्तुका परित्याग कर दिया। पहले-पहल इस दिशामें मेरी प्रगति धीमी रही। अब जब मैं संघर्षके उन दिनोंकी याद करता हूँ, तब देखता हूँ कि आरम्भमें वह दुःखद भी था। लेकिन ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, मैंने यह महसूस किया कि कई अन्य चीजोंका भी, जिन्हें मैं तबतक अपनी मानता था, मुझे त्याग करना चाहिये और एक समय ऐसा आया, जब उन वस्तुओंका त्याग मेरे लिये निश्चितरूपसे हर्षका विषय हो गया। तब एकके बाद एक ये सारी वस्तुएँ बहुत तेजीसे मुझसे छुटती गयीं। मेरे कंधोंसे एक भारी बोझ उतर गया। मुझे महसूस हुआ कि अब मैं आसानीसे चल सकता हूँ और अपने बन्धुओंकी सेवाके अपने कार्यको भी अधिक निश्चिन्तता और अधिक प्रसन्नताके साथ कर सकता हूँ। फिर तो किसी भी चीजका परिग्रह मेरे लिये कष्टदायक और भाररूप बन गया।

“इस हर्षके कारणकी खोज करते हुए मैंने पाया कि यदि मैं किसी भी चीजको अपनी मानकर अपने पास रखता हूँ तो मुझे उसकी सारी दुनियासे रक्षा भी करनी पड़ती है। मैंने यह भी देखा कि कई लोग ऐसे हैं, जिनके पास वह चीज नहीं है और यदि वे भूखे, अकालपीड़ित लोग मुझे एकान्तमें पायें तो केवल मेरे पासकी उस चीजका मुझे एकान्तमें पायें तो केवल मेरे पासकी उस चीजका बँटवारा करके ही वे संतुष्ट नहीं होंगे, बल्कि उसे मुझसे छीन भी लेंगे और ऐसी हालतमें मुझे पुलिसकी सहायता भी प्राप्त करनी होगी। मैंने अपने आपसे कहा—यदि वे इसे चाहते हैं और लेते हैं, तो ऐसा वे किसी ईर्ष्यापूर्ण हेतुसे नहीं करते, लेकिन इसलिये करते हैं कि उनकी आवश्यकता मेरी आवश्यकतासे कहीं अधिक है।

“और, तब मैंने अपने आपसे कहा—‘परिग्रह एक अपराध है। मैं तभी अमुक चीजोंका संग्रह कर सकता हूँ,



जब मुझे शान्त हो कि दूसरे भी, जो उन चीजोंका संग्रह करना चाहते हैं, ऐसा कर सकते हैं । लेकिन हम जानते हैं कि ऐसा होना असम्भव है । अतः एक ही चीज ऐसी है, जो सबके द्वारा की जा सकती है और वह है—अपरिग्रह । दूसरे शब्दोंमें—स्वेच्छापूर्ण त्याग ।”

× × ×

एक ओर गांधीने अपरिग्रहकी साधना की, दूसरी ओर उसने गरीबीका गौरव किया । उसने महसूस किया कि ‘हमारे देशमें गरीबीकी अपनी एक शान है । यहाँ गरीबकी अपनी गरीबीकी शरम नहीं मालूम होती । वह अमीरके महलसे अपनी झोपड़ीको ज्यादा पसंद करता है । यही नहीं, बल्कि उसे उसपर नाज भी होता है । भौतिक वस्तुओंके मामलेमें गरीब होनेपर भी उसकी आत्मा गरीब नहीं होती । भारतके लोगोंमें एक ऐसा वर्ग है, जो अपनी जरूरतोंको कम करनेमें खुशी महसूस करता है ।’

ऐसे लोगोंकी चर्चा करते हुए गांधी कहता है—“ये लोग कपड़ेके छोटे-से टुकड़ेमें अपने लिये मुट्ठीभर आटा, चुटकी-भर नमक और मिर्च लेकर निकल पड़ते हैं । ये लोग कुँएसे पानी खींचनेके लिये अपने कंधेपर डोरी और लोटा लिये चलते हैं । उनके पास इसके अलावा और कोई चीज नहीं होती । हर रोज वे १०-१२ मील पैदल चल लेते हैं । अपने पासके कपड़ेमें ही वे अपनी जरूरतका आटा सान

लेते हैं । ईंधनके लिये पेड़ोंकी सूखी टहनियाँ चुनकर ले आते हैं और उसकी आँचपर अपने साने हुए आटेके टिककड़ सेंक लेते हैं । इस तरह सिका हुआ टिककड़ ‘बाटी’ कहलाता है । मैंने यह बाटी चखी है और मुझे वह बहुत स्वादिष्ट लगी है । असलमें स्वाद भोजनमें नहीं होता, बल्कि ईमानदारीसे की गयी मजदूरी और मनके संतोषसे जो भूख पैदा होती है, वही भोजनको स्वाद देती है । ईश्वर ऐसे ही लोगोंका साथी, मित्र या सहायक बनता है ।”

× × ×

जब मनुष्य अस्तेय और अपरिग्रहकी दिशामें बढ़ता है, सूक्ष्मतासे सोचने लगता है, तब वह स्वेच्छा-दारिद्र्यकी ओर जाता ही है । गांधीने वही किया ।

हम भी यदि गांधीके चरण-चिह्नोपर चलना चाहते हैं तो उसका एकमात्र उपाय यही है कि हम दिन-दिन अपना परिग्रह घटाते चलें । सादा और पवित्र जीवन हमारा आदर्श हो । आवश्यकताएँ बढ़ानेके बजाय घटानेपर जब हम कटिबद्ध हो जायँ, तभी हम आत्मोन्नति कर सकेंगे, तभी हम देश और संसारकी उन्नति कर सकेंगे । जीवनकी सार्थकता इसीमें है—

“कर गुजरान गरीबीमें !

## अनन्य शरणागति

तुम तजि और कौन पै जाऊँ ?

काँके द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर हथ कहा बिकाऊँ ॥  
 ऐसौ को दाता है समरथ, जाके दिये अघाऊँ ।  
 अंत काल तुम्हरो सुमिरन गति, अनत कहूँ नहिं दाऊँ ॥  
 रंक सुदामा कियौ अजाची, दियौ अभय पद ठाऊँ ।  
 कामधेनु, चिंतामणि दीन्हौ, कल्पवृक्ष तर छाऊँ ॥  
 भव-समुद्र अति देखि भयानक, मन में अधिक डराऊँ ।  
 कीजै कृपा सुमिरि अपनौ प्रन, सूरदास बलि जाऊँ ॥

—सूरदासजी



## चोर

( लेखक— श्रीरामेश्वरजी टांटिया )

रातके नौ बजे थे। भोजन करके कुछ पढ़ रहा था कि मकानके फाटकपर शोर-गुल-सा सुनायी दिया। थोड़ी देर तो ध्यान नहीं दिया; परंतु जब आवाजें रोने-चिल्लानेमें बदल गयीं, तब नीचे आना पड़ा।

देखा, २०-३० व्यक्ति एक १२-१३ वर्षके दुबले-से लड़केको घेरे हुए हैं। उसके नाक और मुँहसे खून निकल रहा है। लोग बीच-बीचमें उसे दो-एक धौल भी जमा देते हैं।

पूछनेपर पता चला कि पासके सिनेमा-घरके बाहर मूड़ी-चनाके खोमचेसे दूकानदारकी आँख बचाकर मूड़ी लेकर भागता हुआ यह लड़का पकड़ा गया। फिर तो मोहल्लेके वदमाश लड़कोंको अपना जोर आजमाइश करनेका मौका मिल गया और मारते-मारते इसकी यह हालत कर दी।

उस मासूम बच्चेके चेहरेपर करुणाकी मार्मिक याचना देखी तो खोमचेवालेको दो रुपये देकर बिदा किया और अन्य सब लोगोंको भी समझा-बुझाकर वहाँसे हटा दिया।

दरवानसे लड़केको भीतर लानेके लिये कहा। लड़का उस समय भी भयसे काँप रहा था और अंदर आनेमें झिझक रहा था। शायद डरता था कि कहीं और मार न लगे या कोई नयी विपत्ति न आ पड़े। एक प्रकारसे ढकेलते हुए ही उसे लाया गया। मैंने प्यारसे सिरपर हाथ रखकर जब पूछा कि उसने ऐसा बुरा काम क्यों किया, तब वह सुबक-सुबककर रोने लगा। थोड़ी देर तो कुछ बोल ही नहीं पाया। ऐसा लगता था कि मार और भूखसे बहुत ही व्याकुल हो गया है। उसे बेहोशी-सी आ रही थी। खानेके साथ एक गिलास गर्म दूध दिया, तब कहीं थोड़ा सँभल पाया।

मैंने उसे दूसरे दिन सुबहतक वहीं रहनेको कहा तो रोकर कहने लगा—‘मेरी बीमार माँ घरपर अकेली है और कलसे भूखी है, वह मेरी राह देख रही होगी। मुझे इतनी राततक न पाकर बहुत चिन्तित होगी। इसलिये इस समय जाने दीजिये।’ कुछ खाने-पीनेका सामान देकर दूसरे दिन उसे फिर आनेको कहकर भेज दिया।

दो-तीन दिन बीत गये। लड़केकी भोली सूरत भूल नहीं सका। दरवानको उसे बुलाने भेजा। देखा कि बालकके सिर एवं हाथपर पट्टी बँधी है और उसके साथ एक युवती किंतु कृशकाय और बीमार-सी स्त्री भी है। साड़ीमें जगह-जगह पेवंद लगे हुए थे, चेहरेपर दैन्य और बीमारीकी स्पष्ट छाया। फिर भी, उसके नाक-नकशकी सुघराईसे लगता था, शायद किसी समय बहुत ही रूपवती रही होगी।

कहने लगी कि उस दिनकी मारसे बच्चेको बुखार आ गया था, कहीं-कहीं सूजन भी। स्त्रीके बोलनेके लहजेसे समझ पाया कि पूर्वी बंगालकी है। जो आत्म-कथा उसने सुनायी, वह इतने दिनों बाद भी भूल नहीं सका हूँ और कभी-कभी जब दुबले-पतले बच्चोंको भीख माँगते देखता हूँ तो उस मासूम बच्चेकी तस्वीर आँखोंके सामने आ जाती है।

खुलनाके पासके किसी देहातमें उनकी अच्छी-खासी खेतीकी जमीन थी। एक छोटा-सा पोखर भी था। सब प्रकारसे सुखी गृहस्थी थी। देशके विभाजनके बाद भी वे लोग वहीं रह गये। यद्यपि नाना प्रकारके कष्ट और अपमान झेलने पड़ते, तथापि एक तो कहीं अन्यत्र आसरा नहीं था, दूसरे, पूर्वजोंके घर और जमीन आदिके प्रति मोह-ममता भी थी जो उन्हें गाँव छोड़कर चले जानेसे रोके हुए थी।



सन् १९५८ में एक दिन अचानक ही गाँवके हिंदुओंपर हमला बोल दिया गया। जो मुसलमान हो गये, उनका जान-माल बच गया; जिन्होंने सामना किया, वे काल कर दिये गये।

उसका पति वैष्णव, काष्ठीधारी कायस्थ था। किसी समय गाँवका मुखिया भी था और दोनों समय घरके ठाकुर-जीकी पूजा-अर्चना करता था। वह किसी प्रकार भी धर्म-त्याग करनेको तैयार नहीं हुआ। उसे खुदाके बंदोंने काटकर पासके पोखरमें डाल दिया। पड़ोसियोंके बीच-बचावसे किसी प्रकार बेचारी विधवा अपने ८ वर्षके बच्चेको साथ लेकर, सीमा पार करके भारतके 'वन-गाँव' में आकर रहने लगी। जो कुछ थोड़ा-बहुत सामान साथमें था, वह सब रास्तेमें लोगोंने छूट लिया।

उसने देखा कि वहाँपर पहलेसे ही पाकिस्तानसे आये हुए शरणार्थी बड़ी संख्यामें हैं और सरकारी कैम्पोंमें किसी प्रकार पेट पालन कर रहे हैं। परमात्माकी दयासे इनमेंसे बहुत-से अनेक प्रकारकी बीमारियोंसे जल्दी-जल्दी मरकर रोज-रोजकी यातनाओंसे शीघ्र-मुक्ति भी पा रहे हैं।

२६-२७ वर्षकी आयु, सुगठित अङ्ग-प्रत्यङ्ग। चेहरे-पर लावण्यकी स्पष्ट आभा। विपत्तिमें सुन्दरता भी अभिशाप बन जाती है। कैम्पके लिये नाम दर्ज करने-वाला इन्स्पेक्टर रातमें उसकी 'सरकी' में आकर लेट गया। शरणार्थियोंके पुनर्वास और उनकी देखभालके लिये रखे गये ये लोग इतने बेशर्म और निधड़क हो गये थे कि न तो उन्हें किसीकी निन्दाका डर था और न मान-मनुहारकी आवश्यकता। किसी भी शरणार्थी लड़की या स्त्रीके साथ मनचाहा व्यवहार करना ये अपना अबाध अधिकार मानते थे। वह बेचारी भी विपत्तिकी मारी, भूखे पेट और थके तनको लेकर आखिर विरोध कहाँतक कर पाती? कैम्पमें जगह और सरकारी सहायता नहीं मिलनेपर संतानसहित तिल-तिलकर मरना पड़ता। इसलिये जीवित रहनेके लिये इस अपमानको भी आवश्यक मान लिया गया था।

लेकिन सुरमा उस धातुकी नहीं बनी थी। वह अपना शरीर नहीं दे सकी और जोर-जोरसे चिल्लने लगी। खैर, उस समय तो वह इन्स्पेक्टर चुपचाप खिसक गया। परंतु दूसरे दिन तो फिर दरवाजा लेकर उसीके पास जाना पड़ता। सुरमाको यह स्वीकार न था। अतएव रजिस्ट्री आफिसमें न जाकर उसने अपने बच्चेको साथ लिया और रास्तेके अनेक कण्ड झेलने हुए कलकत्ता आ गयी। यहाँ उसे एक घरमें दाँवका काम मिल गया, रहनेको एक छोटी-सी कोठी भी।

रूपवती विधवा युवती मोहल्लेके युवकोंके लिये अपने-आपमें एक आकर्षण है। वे बिना काम ही उसके घरके आस-पास मँडराते। कभी सीटी और कभी गाने आवाजें कसते। लिहाजा उसे वह आसरा भी छोड़ देना पड़ा। सोचा तो यह था कि भारतभूमिमें अपने सहर्ष बन्धुओंके बीच जीवनके बाकी दिन किसी प्रकार चैनसे बिता पायेगी, अपने बच्चेकी जैसे-तैसे परवरिश करेगी किंतु, उसे क्या पता था कि पाकिस्तानकी तरह यहाँ भी मनुष्यके रूपमें भूखे भेड़ियोंकी कमी नहीं है।

कई बार मनमें आया कि तिजाव छिड़ककर सुंदर वदरंग कर ले, परंतु कुछ तो पीड़ाके भयसे और उस बच्चेका खयाल करके वह यह सब नहीं कर पायी।

कई जगह भटकते हुए उन्हें ठाकुरिया लेकर पान एक शरणार्थी परिवारके यहाँ रहनेका सहारा मिल गया। परंतु केवल आवासकी व्यवस्थासे पेटकी भूख तो नहीं मिटती। भीख माँगनेमें पहले-पहल तो झिन्नक हुई, फिर आदत पड़ गयी और किसी तरह दो जून लाने मिलने लगा।

बच्चा देखनेमें सुन्दर और बातचीतमें चतुर था। सुबह-शाम जो सैलानी लेकर आते, उनकी मोटरों पर सफाई और सम्हाल करता रहता। वे उसे दो-चार पैसे बख्शीशके तौरपर दे देते। कभी-कभी धमकाकर भी भगा देते।



एक दिन माँको बुखार आ गया। सीलनभरी जमीनपर बिना चारपाईके सोनेसे और भूखजनित कमजोरीसे यह साधारण और स्वाभाविक बात थी। डाक्टरको दिखानेका तो प्रश्न ही नहीं था, पड़ोसकी एक वृद्धाने उसे दो गोली कुनैनकी लाकर दी और मूड़ी खानेको कहा। वृद्धा मूड़ी लानेको घरसे निकला। दिनभर खड़ा रहनेपर भी उस दिन जब कुछ भी प्राप्ति नहीं हुई, तब उसने माँकी भूखका खयाल करके सड़कपरके खोमचेसे कुछ मूड़ी चुरा ली, परंतु भागते हुए वह पकड़ लिया गया।

यही कहानी थी, जो उसकी माँकी जबानी मैंने उस दिन सुनी थी।

लड़केकी पढ़ाई नहींके समान थी। इसलिये उसे

अपने आफिसमें चपरासीके रूपमें रख लिया गया। यह कई वर्ष पहलेकी बात है। सुरेन अब बड़ा हो गया है, उसने कुछ अंग्रेजी और हिंदी भी पढ़ ली है। मेरे यहाँ जितने कर्मचारी हैं, उनमें वह सबसे अधिक मेहनती और ईमानदार है। गरीब बंगालियोंमें लड़कियोंकी कमी नहीं है। सम्भव है, थोड़े वर्षों बाद उसका विवाह हो जाय, तब उसकी दुखिया माँको बहुत वर्षों बाद गृहस्थीका थोड़ा-सा सुख देखनेको मिले।

आज भी मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि क्या उस दिन सचमुच सुरेनने चोरी की। बादमें तो कभी भी कोई शिकायत नहीं मिली। क्या मनुष्य स्वभावसे चोर होता है या परिस्थितियाँ उसे मजबूर करती हैं ?

## नैतिक मर्यादाओंका उल्लङ्घन न करें

[ एक महात्माके प्रवचनके आधारपर ]

( प्रेषक—श्रीबीरबलप्रसादजी शुक्ल )

प्रत्येक मानवमें एक मौलिक इच्छा काम करती है—वह है सुखपूर्वक जीवन-यापन करनेकी इच्छा। अपने आपको हर प्रकारके सुख-साधनोंसे सम्पन्न देखना मानवकी एक मौलिक वृत्ति है। जीवनमें सुख-प्राप्तिकी यह इच्छा दो प्रकारसे परिलक्षित होती है। संसारमें एक तरहके मानव स्वयं अपनेको केन्द्र मानते हैं तथा जिस तरह भी आनन्द अथवा सुख उपलब्ध हो सके, उसके किये प्रयत्न करते हैं। वे तरह-तरहकी सामग्री एकत्रित करके ऐश-आरामके मार्ग खोज निकालते हैं। ऐसे मनुष्य अपने उद्देश्यमें किसी हदतक सफल भी होते हैं। वे अपने ही सुखपर केन्द्रित रहते हैं, उनके लिये दूसरोंकी स्थितिका महत्त्व नहीं होता। उनके सुखके द्वारा होनेवाले दूसरोंके कष्टका भी उनकी दृष्टिमें कोई महत्त्व नहीं होता है।

दूसरे प्रकारके व्यक्ति वे होते हैं, जो जीवनमें

प्राप्त सुखोंका दूसरोंके लिये त्याग करते हैं। दूसरोंको सुखी देख उन्हें सुख प्राप्त होता है, आनन्द एवं संतोष मिलता है। यह सुखी होनेका दूसरा रूप है। इसके लिये मनुष्य जीवनमें उन उच्चादर्शोंको लेकर चलता है, जिनसे सबको सुख मिले।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।  
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत् ॥

इन समाजवादी पवित्र विचारोंसे उसका हृदय ओतप्रोत रहता है। वह अपने प्रत्येक कार्य एवं आचरणका मूल्याङ्कन समाष्टिगत स्तरपर करता है।

यही स्वरूप मानवमें नैतिकता एवं धर्मव्यवस्थाका मूलधार है। इसमें जीवनका उद्देश्य भौतिकवादी न होकर अथात्मवादी होता है। यही समाजव्यवस्थाकी आधारशिला है, आत्मीयता—मानवताके विकासका केन्द्रबिन्दु है।



इसके विपरीत व्यक्तिगत स्वार्थपरता, अनैतिकता, अधार्मिकता एवं अनुचित स्वार्थभाव ही मनुष्य तथा समाजके विकासकी गतिका अवरोधक है तथा मनुष्यके नैतिक पतनकी निशानी है।

मानवकी नैतिक सीमाएँ ही उसकी सफलताकी सीमाएँ हैं। यह इतना स्पष्ट सत्य है कि किसी भी व्यक्तिकी सफलता-असफलता, योग्यता-अयोग्यता एवं आचरणकी शिष्टताका सही मापदण्ड उसी प्रकार बताया जा सकता है, जैसे गणितके सिद्धान्तोंके आधारपर किसी प्रश्नका हल निकाला जा सकता है।

जिस तरह आकाशमें फेंकी गयी वस्तु पृथ्वीपर लौट आती है, उसी तरह अच्छा या बुरा कर्म भी लौटकर कर्तापर ही आता है। प्रत्येक अनैतिक कार्यका परिणाम पराजय, असफलता, अपने लक्ष्यसे दूर हट जाना ही होता है। इसके विपरीत प्रत्येक नैतिक कार्य सफलता एवं लक्ष्यप्राप्तिके सुन्दर भवनका निर्माण करता है। किसी भी समाज अथवा राष्ट्रका उत्थान नैतिक शक्ति एवं ज्ञानके विकाससे ही होता है। नैतिक पतन ही विनाशका दूसरा रूप है।

कोई भी बुरा काम करनेपर हृदय धक्-धक् लगता है, रक्तका संचार बढ़ जाता है, पैर लड़खड़ाने लगते हैं, शरीरमें पसीना आ जाता है। ऐसा लगता है, मानो कोई रोक रहा है। कोई भी अनैतिक एवं बुरा काम करनेपर आत्मभर्त्सना होने लगती है, मन आत्मग्लानि तथा पश्चात्तापसे भर जाता है। यह सब अनैतिक भावके कारण होता है, जो उसके अन्तःक्षेत्रमें स्थित है। यह भाव मनुष्यकी चेतनाशक्तिका एक अङ्ग है, जो किसी कृत्रिम प्रयत्नका परिणाम नहीं, वरं जीवात्माके एक लंबे समयके संस्कार, अभ्यास और सृष्टिमें काम कर रहे दैवी विधानका व्यापक नियम है।

नैतिकताकी अवहेलना करनेपर मनुष्यको

सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाके अनुसार विभिन्न रूपोंमें दण्ड प्राप्त होता है। सरकार और समाजके दण्डसे मनुष्य किसी प्रकार बच भी सकता है, किंतु नियतिके विधानसे नहीं बच सकता, जिसका निर्णायक कहीं बाहर नहीं, स्वयं मनुष्यके अंदर ही विराजमान है। उसके अनुसार मनुष्य कई प्रकारकी शारीरिक एवं मानसिक तकलीफें सहन करता है, जो दोनों प्रकारके बाह्य दण्डोंसे अधिक कष्टकारक हैं। नैतिक भावसे अन्तरात्माकी आवाजके विरुद्ध आचरण करनेपर मनुष्यको आत्मभर्त्सना होने लगती है, जिससे मानसिक शक्ति एवं इच्छाशक्तिका भी पतन होने लगता है। इस प्रकार मानव हर तरहसे दीन-हीन बन जाता है। आन्तरिक जीवनकी छाया मनुष्यके बाह्य जीवनपर पड़ती है। इस प्रकार मानवका हर तरहसे पतन हो जाता है।

मनुष्य अपनी चालाकी एवं चतुरतासे अनैतिक कार्योंको छिपानेकी कोशिश करता है। बाह्य जगत्में वह सफल भी हो सकता है, किंतु दैवी विधानको धोखा नहीं दे सकता। कई बार मनुष्य अपनी धर्म-बुद्धि, नैतिकताकी आवाजको दवाने तथा पापको मुलाने-के लिये मनचाहे तर्क एवं विचारोंका अवलम्बन लेता है। अपने आचरणोंके औचित्यको सिद्धकर मनमें संतुष्ट होनेका असफल प्रयास करता है। दैवी विधान दूसरे ही ढंगसे पापका दण्ड और उसके प्रकाशित करनेका मार्ग खोज लेता है। इस दैवी विधानको जरा ध्यानसे सोचने-समझनेकी आवश्यकता है।

सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर दुःख, शोक, हानि, पीड़ा, क्लेशकी आड़में मनुष्यके अनैतिक कार्योंका परिणाम देखनेको मिलता है। दूसरोंकी नींद हराम करनेवाले स्वयं चैनसे नहीं सो सकते। चोर, लुटेरे, तस्करोंकी घर बसाकर सुख-शान्तिसे जीवन बिताते नहीं देखा जाता। धाज नहीं तो कल, अनैतिकताका



परिणाम दुःखदायी एवं विनाशकारी होता है ।

नैतिकता आधार-स्तम्भ नैतिकता है । इसीके सहारे सच्ची सुख-समृद्धिवासी प्राप्ति होती है । नैतिक आदर्शोंकी प्राप्ति सत्यकी प्राप्ति है । इन्हींके द्वारा मनुष्य निजानन्द, स्वातन्त्र्य एवं शक्ति प्राप्त करता है । यदि

मानव नैतिक सिद्धान्तोंके अनुसार कार्य करता रहे तो जीवनमें आनेवाली अनिश्चित घटनाओं, तूफानों एवं उलझनपूर्ण समस्याओंमें भी सम्पूर्ण सुरक्षा एवं शान्ति प्राप्त करके विश्वासके साथ जीवनमें समृद्धि-लाभ एवं विकास कर सकता है ।

## उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण

( लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा )

[ गताङ्क पृष्ठ ९९७ से आगे ]

### ( ९ ) श्रीविष्णुधर्मोत्तर और वैष्णवधर्म

श्रीरामकृष्ण गोपाल भंडारकरकी "Vaishnavism, Saivism and Minor Religious Systems" नामकी पुस्तक बहुत प्रसिद्ध है । १९१३ में वह प्रथम बार स्ट्रासबर्ग (Strassburg, Germany) से प्रकाशित हुई थी । उसमें उन्होंने प्राचीन वैष्णवोंके अनेक भेदोंका उल्लेख किया है । उनके मतसे भागवतमतानुयायी, पाञ्चरात्रमतानुयायी आदि वैष्णवोंके कई भेद थे । फिर पाञ्चरात्र आदिमें भी कई अवान्तर भेद थे । महाभारतके उल्लिखित नारायणीयधर्ममें यह मत पाञ्चरात्रोंकी अपेक्षा कुछ परिष्कृत हुआ । बुहलर तथा हाजरा आदिके अनुसार विष्णुधर्मोत्तर भी पाञ्चरात्रमतानुयायियोंका ही ग्रन्थ है, भागवतोंका नहीं—

"The Viṣṇudharmottara is avowedly a Vaiṣṇava work claiming to deal with the various duties of the Vaiṣṇavas. It belongs to the Pāñcharātras and is not a production of the Bhagavata sect, as Buhler takes it to be. It recommends the Pāñcharātra method of Viṣṇu-worship, adds great importance to the due observance of Pāñchakālā, holds the scripture of Pāñcharātra in high esteem and extols one who honours, or make gifts to, those who are versed in these scriptures." ( Indian Antiquary, XIX 1890, p. 382 )

इनके मतानुसार भागवतोंमें पारमहंस-भाव और भावाधिकता मुख्य वस्तु थी,\* जबकि पाञ्चरात्रमतानुयायियोंमें स्मार्त कर्मकाण्डके विस्तारपर अधिक बल दिया जाता था ।†

श्रीविष्णुधर्मोत्तर, प्रथमखण्डके ५१ से ६३ अध्यायोंतक

\* प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं

देव्या विमोहितमतिर्वत माययालम् ।

त्रय्यां

जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां

वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः ॥

( श्रीमद्भा० ६ । ३ । २४ )

† पुराणोंपर इन आधुनिक अनुसंधानोंसे हम मूलतया सहमत नहीं हैं । भागवत आदि ग्रन्थोंमें, जिन्हें ये लोग भागवतोंका साम्प्रदायिक ग्रन्थ मानते हैं, 'वैष्णव' शब्द भी बादरसे इसी भावमें गृहीत है । वरिष्ठ श्रीमद्भागवत पुराणमयलं यद्वैष्णवानां धनम् । ( यह श्लोक मूलभागवतके अन्तमें तथा पाश्चात्त भागवत-माहात्म्यमें भी आया है । ) में वैष्णवका धन 'भागवत' ही बतलाया है और ११वें स्कन्धमें स्मार्तमतका भी पूर्ण आदर है । अतः इन तीनोंमें कोई मौलिक भेद कदाचित् न था ।

इसी तरह ये लोग पुराणोंके सात द्वीपोंको ( जिसका विष्णुधर्मोत्तरके ६ से ११ तकके अध्यायोंमें वर्णन है ), जिनमें पर-परको जम्बू आदि पूर्व-पूर्वसे दिगुणमान तथा भिन्न आवरणोंसे आवृत बतलाया है, भारतके भीतर या अफगान, कम्बोडिया आदिमें मानते हैं, जैसा कि 'पुराणम्' १९७०के पत्रके अङ्क १ वर्ष १३, पृष्ठ ५४ ( Various other writers identify with different regions ) आदिमें प्राप्य है । इसमें परस्परविरोधी मतोंकी नो गणना ही नुस्खा नहीं ।



भगवान् विष्णु एवं उनकी उपासना-पद्धतिपर विस्तृत प्रकाश है। इसके ५२वें अध्यायमें एकमात्र अनिर्देश्य, अक्षरस्वरूप, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, आदिदेव जगन्नाथ विष्णुको ही सर्वोपरि ध्येय स्मरणार्ह तत्त्व बतलाया गया है। ( इस अध्यायमें गीताके १३वें अध्यायके कितने ही श्लोक हैं । ) ५६वें अध्यायमें भगवान्की दिव्य विभूतियोंका वर्णन है। ( इस प्रकारके वर्णन गीता अध्याय १०, भागवत स्कन्ध ११ । २० तथा शिवपुराण १। १५ एवं वायुपुराणोक्त माघमाहात्म्य अ० १७ आदिमें भी प्राप्त होते हैं । ) इसके ५८वें अध्यायमें भगवान् केशवके तुष्टिकारी साधनों, क्रियाकलापोंका कथन है। इस अध्यायके अधिकांश श्लोकोंके चतुर्थ चरणमें 'तस्मात्तुष्यति केशवः' आ जाता है। कुछ श्लोक बड़े हृदयग्राही हैं—यथा

शृणुते सर्वधर्मांश्च सर्वान् देवान् नमस्यति ।

अनसूयुर्जितक्रोधस्तस्य तुष्यति केशवः ॥

( १। ५७। ८ )

‘जो सभी सद्धर्मोंकी बातोंको आदरसे सुनता है, सभी देवताओंको प्रणाम करता है, किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं करता, क्रुद्ध नहीं होता, उसपर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं ।’

अप्रणम्य क्रियां कांचिद्यस्तु नारभते हरिम् ।

असम्भिन्नार्थमर्यादस्तस्य तुष्यति केशवः ॥

( वही ५७। २४ )

‘जो भगवान् विष्णुको नमस्कार किये बिना किसी भी कार्यका आरम्भ नहीं करता, जो शील, विनय तथा मर्यादासे सम्पन्न है, उसपर भगवान् केशव—विष्णु प्रसन्न रहते हैं ।’ इत्यादि ।

इसके आगे ६१से ६५तकके अध्यायोंमें वैष्णव-व्रतों तथा अभिगमन-उपादान-इत्यादि पञ्चवैष्णव-कलाओंपर विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। इसके ७४वें अध्यायमें भगवान् विष्णुके प्रमति, भीमरथ आदि कुछ ऐसे अवतारोंकी भी कथाका वर्णन है, जिनका उल्लेख प्रायः अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। फिर कल्प-मन्वन्तरादिका वर्णन तथा विष्णुमाहात्म्यके प्रसङ्गमें मार्कण्डेयजीकी कथा वर्णित है और भक्तकर्ममें ध्रुवादिकी । १२२-१२९तकमें कृष्णावतार एवं ( पुरुरवा- ) उर्वशीकी कथा है, जो नारायणके ऊरुसे

उत्पन्न हुई थी। फिर १४० से २०० अध्यायोंतक श्राद्ध, मन्त्र, देवालयनिर्माण एवं विष्णुपूजापद्धति-स्तुति आदि प्रसङ्ग हैं। २०० से २१७ तकके अध्यायोंमें श्रीरामकी कथाएँ हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलतीं। इसके आगे भी शिवचरित्र, विश्वकर्मा, विष्णुशयनोत्सव आदिकी कथाएँ हैं। इस खण्डमें २६९ अध्याय हैं।

## ( १० ) अन्य विषय

खण्ड २में विस्तारसे राजधर्मका निरूपण है। इसमें १८३ अध्याय हैं। इतना विस्तारसे राजनीतिका वर्णन और कहीं नहीं हुआ है। साथ ही इसमें राजोपयोगी धनुर्विद्या, ज्योतिर्विद्या, शकुनशास्त्र, रत्नशास्त्र, अश्व-गज-वृष-लक्षण-चिकित्सा आदिपर पूर्ण प्रकाश है।

तीसरे खण्डमें ३५५ अध्याय हैं। ( इस तरह समग्र ग्रन्थमें ८०७ अध्याय हुए । ) इसमें कई विशालकाय ग्रन्थोंका समावेश दीखता है—जैसे चित्रसूत्र, नाट्यशास्त्र, भाषा-लक्षणशास्त्र, छन्दःशास्त्र, अलंकारशास्त्र, प्रतिमा-प्रासाद-लक्षण एवं निर्माण-कला, यज्ञ-हवन-विधि, विविध विद्याओं आदिका तो ३०-३० अध्यायोंमें तथा क्षमा, दया, दान, ब्रह्मचर्य आदि सैकड़ों धर्मोंका एक-एक या दो-दो अध्यायोंमें निरूपण है। इसमें अनेक तीर्थ, पर्वत, नदियों, देवस्थानों एवं श्रृष्टि-आश्रमोंका भी वर्णन हुआ है। इसके अतिरिक्त सैकड़ों अन्य कथाएँ भी हैं।

## ( ११ ) ग्रन्थका रचनास्थल

A. M. Jackson ने बंबई शाखाकी एशियाटिक सोसाइटीके जर्नलके शताब्दी-संस्करणमें तथा E. J. Rapson ने कैम्ब्रिजके भारतीय इतिहास, जिल्द १ में पुराणोंके रचनास्थलोंपर विचार किया है, जिसका विस्तारसे उल्लेख हम ‘कल्याण’, वर्ष ४४ के अङ्क २, पृष्ठ ७२३ पर कर आये हैं। इसी प्रकार ‘Indian Antiquary’ जिल्द XIX, पृष्ठ ३८३ पर बुहलरने, ‘History of Indian Literature’ जिल्द १के पृष्ठ ५८०पर विंटरनीज ( Winternitz ) ने और ‘Studies in the Purāṇas’ जिल्द १के पृष्ठ २१६पर श्रीराजेन्द्रचन्द्र हाजराने भी श्रीविष्णुधर्मको काश्मीरकी रचना माना है—



"A study of the Viṣṇudharmottara shows that the author or authors of this work had an intimate acquaintance with the geography of Kashmir as well as of the Northern part of the Punjab. In Viṣṇudharmottara, III. CXXV. 10. Kashmir has been mentioned as a seat of Viṣṇu. From the evidences above it is highly probable that the Viṣṇudharmottara was composed somewhere in southern Kashmir."

पर नारदपुराणके पूर्वोक्त विवरणसे यह आजसे प्रायः ४ सहस्र वर्ष पूर्व भगवान् व्यासद्वारा बदरीनारायण (श्यामाश्रम) के व्यासाश्रममें ही रचित है । ( द्रष्टव्य R.G. Mankad की 'Indian Chronology' ).

## ( १२ ) प्रभावित ग्रन्थराशि

श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणसे मिलती-जुलती तथा प्रभावित साहित्यराशिमें निम्नलिखित कृतियाँ अत्यन्त महत्त्वकी हैं:—

श्रीविष्णुधर्मः, वैष्णवधर्मशास्त्र, अग्निपुराण ( प्रायः इसका तीन चतुर्थीश श्रीविष्णुधर्मोत्तरमें है ), नरसिंहपुराण, आनन्दरामायण, कामन्दकनीतिसार, शुक्रनीतिसार, वैशम्पायन-नीतिप्रकाशिका, अपराजितपृच्छा, अश्ववैद्यक, राजवैद्यक, शालिहोत्र, योगरत्नाकर, भावप्रकाश, काश्यपसंहिता, कर्मकाण्ड-क्रमावली, जातकचन्द्रिका, ज्योतिर्विदाभरण, ज्योतिर्निबन्ध, ज्योतिषकल्पद्रुम, फलदीपिका, धनुर्वेद-संहिता, नरपति-जयचर्या, प्रतापरुद्रयशोभूषणम्, बृहत्संहिता, मानसोल्लास ( अभिलषितार्थ-चिन्तामणि ), शैवरत्नाकर ( वसवराज-विरचित शिव-तत्त्व-रत्नाकर ), मातङ्गलीला, युक्तिकल्पतरु, योग-तरङ्गिणी, समराङ्गण-सूत्रधार, रसलक्षण, भरतनाट्य, काव्यादर्श ( दण्डी ), काव्यालंकार ( भामह, रुद्र आदि ), सामुद्रिकतिलक, शिल्परत्न, भावप्रकाश ( नाट्यग्रन्थ ), नाटकलक्षणसंग्रह कोश, प्राकृतप्रदीप, सर्वार्थचिन्तामणि, शारदातिलक और सौगन्धिकाहरण इत्यादि ।

अब अगले अङ्कमें संक्षेपमें उपर्युक्त ग्रन्थोंका कुछ तुलनात्मक अध्ययन तथा श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणके परम कल्याणकारी परामर्शप्रद सदुपदेशोंपर विचार किया जायगा । ( क्रमशः )

\* इस नामका भी एक अन्य पुराण है, जो 'बृहद्धर्म'में परिगणित हुआ है और जिसका एक हस्तलिखित प्रति पशियाटिक सोसाइटी, कलकत्तामें सुरक्षित है । उक्त सोसाइटीके ग्रन्थागारमें इस पुस्तक ( विष्णुधर्म ) की सामान्य ग्रन्थ-संख्या ४०९९ तथा हस्त-लिखित पुस्तक-संख्या १६७० है । इस ग्रन्थका हस्तलेख देवनागरी वर्णमालामें है । वही ४१०० संख्या ( हस्त ले० पुस्तक ३५०६ ) पर एक इसकी दूसरी प्रतिलिपि बंगाक्षरोंमें भी प्राप्त है । इसमें १०५ अध्याय तथा ४ हजारसे कुछ अधिक ही श्लोक हैं । इसके प्रथम अध्यायमें योगनिरूपण, दूसरेमें क्रियायोग एवं अम्बरीषकी विष्णुभक्ति, तीसरेमें शुक्राचार्यद्वारा प्रह्लादकी भागवतयमका उपदेश, अध्याय ४-१० में विष्णुसम्बन्धी व्रत-पूजनादि, ३५-३६ में भारतके ६८ तार्थ ( पुष्कर, प्रयाग, गया, जयन्ती, कुन्जय आदि; ये वे ही तार्थ हैं, जिनका वर्णन 'कल्याण'के गत तीसरे अङ्कके पृष्ठ ८२७ पर हो चुका है ), ४० से ४५ तकमें कर्मयोग, ४७ से ६० तकके अध्यायोंमें विविध दान-धर्म तथा शेष ग्रन्थमें विस्तारसे क्रियायोगका निरूपण है । ढा० हाजराके मतसे यह ग्रन्थ भागवतोंका है और चूँकि लक्ष्मीधर, चण्डेश्वर आदिने अपने ग्रन्थोंमें इसके लंबे-लंबे उद्धरण दिये हैं और आग्नेयपुराणपर भी इसका प्रभाव है, अतः यह ग्रन्थ ईसवी सन्की द्वितीय-तृतीय शता और पश्चिमोत्तर भारत ( पंजाब ) के किसी स्थानकी रचना है । "Thus the date of composition of the present Viṣṇudharma falls between 200 and 300 A. D....., and from the facts that of the holy places named in Chapter 36 almost all belong to Northern India, and a large number to its western part, and that the small river Devikā has been mentioned on two occasions and considered as much sacred as the Gangā, Yamuna etc., it appears that the Viṣṇudharma was written in the north-western part of Northern India pp. 143 and 155 *ibid.*" ( The Major Vaiṣṇava Purāṇas ) -



# परमार्थ-पत्रावली

( महालीन परम श्रेष्ठ श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र )

( १ )

सादर हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिला । आपके प्रश्नोंका उत्तर क्रमसे इस प्रकार है—

( १ ) वेदमें मूर्तिपूजाके प्रमाण बहुत हैं । पहले मूर्तिपूजाका अर्थ समझ लेना चाहिये ।

( क ) कोई भी आस्तिक सनातनधर्मी हिंदू वास्तवमें मूर्तिपूजा नहीं करता, अपितु मूर्तिको निमित्त बनाकर अपने इष्टकी ही पूजा करता है । जो लोग वेदका प्रमाण चाहते हैं, उनको विचार करना चाहिये कि वेद ईश्वरीय ज्ञानका नाम है या कागज और स्याहीका अथवा शब्दका । विचार करनेपर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि कागज और स्याहीद्वारा एक आकृति विशेषमें जो वेद नामसे कहे जानेवाले ग्रन्थ हमें उपलब्ध हैं, वे वेदके प्रतीक हैं, वेद नहीं; क्योंकि वेद अनादि और नित्य है । पुस्तक तो हमारे सामने छपी हुई और नष्ट होनेवाली है, उसे न तो अनादि कह सकते हैं और न नित्य ही । पर जिसको वेदका अध्ययन करना है, उस ज्ञानको प्राप्त करना है, उसे उस पुस्तकका, अकारादि वर्णोंका ( जो मूर्तिमान् हैं ) और वाणीका आश्रय लेना ही पड़ेगा । बिना उनके वह वेदको ( ईश्वरीय अनादि ज्ञानको ) नहीं पा सकता । इसी प्रकार उस सर्वशक्तिमान् ईश्वरको, जो अनादि, अनन्त, सर्वश, सर्वव्यापी और निराकार है, प्राप्त करनेके लिये प्रतीकका आश्रय भी लेना ही पड़ेगा । बिना मूर्तिके पूजा या उपासना कैसे होगी ! जो भाई 'ॐ'का जप करते हैं, उनको विचार करना चाहिये कि क्या 'ॐ' साकार नहीं है ।

( ख ) अथर्ववेदके काण्ड ८, अनुवाक ५, सूक्त ९, मन्त्र ६ में वैश्वानर ( विश्वरूप पुरुष ) भगवान्की प्रतिमाका वर्णन इस प्रकार आया है—

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि सौम्यावद्-  
रोदसी विषबाधे अग्निः ।  
ततः षष्ठादासुतो यन्ति स्तोमा  
उदिता यन्त्यभि पृथमहः ॥

( ग ) यजुर्वेद अध्याय ३, मन्त्र ६० में त्रिनेत्र भगवान् शंकरके पूजनकी बात कही गयी है । यथा—

अथर्वकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।  
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

'धन-धान्यको बढ़ानेवाले उत्तम गन्धसे युक्त त्रिनेत्र सम्पन्न शंकरकी हम पूजा करते हैं । वे हमको, जैसे पका हुआ फल वृक्षसे झड़ जाता है, वैसे ही मृत्यु ( जन्म-मरण ) के बन्धनसे मुक्त करें । मैं अमृतरूप परमात्मा आपसे कभी विमुक्त न होऊँ ।'

इस प्रकरणमें त्रिनेत्रसम्पन्न भगवान्का आगे-पीछे अनेक मन्त्रोंमें वर्णन है, उदाहरणके लिये केवल एक ही मन्त्र दिया गया है ।

( घ ) अथर्ववेद, काण्ड २, अनुवाक ३, सूक्त १३, मन्त्र ४ देखिये—

पुष्टश्मानमा तिष्ठ अश्मा भवतु ते तनुः ।

'हे भगवन् ! आप आवें, पत्थरमें स्थित हों । यह पत्थर आपका शरीर हो जाय ।' इस मन्त्रका मूर्तिमें प्राण-प्रतिष्ठा करते समय उच्चारण किया जाता है ।

( ङ ) सामवेद, पड़निश ब्राह्मणमें देखें—

देवतायतनानि कथयन्ते दैवतप्रतिमा इहान्ति स्तुति  
नृयन्ति स्फुटयन्ति स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति ।

'देवताओंके मन्दिर इगमगाते हैं, देवोंकी मूर्तियाँ हँसती हैं, रोती हैं, नाचती हैं, पसीजती हैं, उनके अङ्ग फट जाते हैं, नेत्र खोलती और बंद करती हैं ।'

( च ) यजुर्वेद अ० १६ मन्त्र २ देखें—

या ते रुद्र दिवा तनूरवोरापापकाशिनी ।  
तया नस्तन्वा शंतमया गिरिशन्ताभिवाकशीहि ॥

'हे रुद्रदेव ! तेरी जो भयानकताके दोषसे शून्य पुण्य पुण्यसे प्रकाशित होनेवाली कल्याणमयी मूर्ति है, हे कैलास पर्वतवासी शिव ! उस परम शान्त मूर्तिके द्वारा हमलोगोंकी ओर देखें ।

( छ ) भगवान् विष्णुकी मूर्तिका वर्णन तथा उनसे प्रार्थना आदि अथर्ववेद काण्ड ७, सूक्त २६-२७-२८ में बार-बार आयी हैं, पचमें कहाँतक लिखा जाय ।



और भी बहुत-से प्रमाण हैं; परन्तु जिनका आग्रह मूर्ति-पूजमें विश्वास न करनेका है, वे इन प्रमाणोंका अर्थ भी मनमाना कर लेते हैं। इसका क्या उपाय ?

(२) अवतारका वर्णन वेदोंमें बहुत जगह आया है। कुछ प्रमाणोंका दिग्दर्शन कराया जाता है—

(क) शुक्लयजुर्वेद अ० ३१; मन्त्र १९ पुरुषसूक्तमें देखिये—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।

समस्त प्रजाके स्वामी भगवान् गर्भके भीतर विचरते हैं। वे न जन्मते हुए ही बहुत प्रकारसे जन्म लेते हैं ।

यह कथन गीता अ० ४ श्लोक ६से बहुत ही मिलता-जुलता है। वहाँ लिखा गया है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

मैं अजन्मा, अविनाशी और समस्त प्राणियोंका ईश्वर हूँ; तो भी अपनी प्रकृतिका अधिष्ठाता होकर अपनी योग-मायासे प्रकट होता हूँ ।

(ख) मुण्डक उपनिषद्के मुण्डक ३, खण्ड २, मन्त्र २ में तथा कठोपनिषद्के अध्याय १, वल्ली २, मन्त्र २३में तो स्पष्ट कहा है कि जिस परमात्माका वर्णन पूर्वमें कर आये है, यह प्रवचनसे, प्रखर बुद्धिसे, बहुत सुननेसे नहीं मिलता है; किंतु यह जिसको स्वीकार कर लेता है, उसको प्राप्त हो सकता है—उसके सामने अपना शरीर प्रकट कर देता है ।

दोनों जगह एक ही मन्त्र है। उसमें स्पष्ट लिखा है—  
‘तस्य एष आत्मा विवृणुते तन्ं स्वाय’ अर्थात् ‘उसके लिये यह परमात्मा अपना शरीर (तन्म्) प्रकट कर देता है ।’  
इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् अपने भक्तोंको अपना दर्शन जब चाहें दे सकते हैं ।

(ग) त्रिविक्रम अवतारका वर्णन सामवेद अ० १८, खण्ड २, सूक्त १, मन्त्र १-३ देखें ।

इदं विष्णुर्विक्रमे त्रेधा निदधे पदम् ।

समूढमस्य पांसुले । १ ।

‘त्रिविक्रम-अवतारधारी भगवान् विष्णुने इस समस्त

त्रिलोकीको नापनेके उद्देश्यसे तीन प्रकारसे पैर रखे, अपने पैरकी रजसे समस्त जगत्को ढक दिया ।’

इसके बाद मन्त्र २ भी इसी विषयमें है। तीसरेमें विष्णुको इन्द्रका सखा बताया गया है। चौथेमें उनके परम-धामका कथन है। पाँचवेंमें उस परमधामकी महिमाका वर्णन है तथा छठा भी इसका समर्थक है ।

अथर्ववेद, काण्ड ७, सूक्त २७ के मन्त्र ४, ५, ६ और ७ ठीक इसी प्रकार हैं, दोनों जगह एक ही पाठ है। ऋग्वेदमें भी यही पाठ मिलता है ।

(३) यज्ञद्वारा हवन किये हुए अन्नसे देवताओंकी और पितरोंकी तृप्ति होती है, इसके प्रमाणोंसे तो चारों वेद भरे पड़े हैं। आप चाहें जितने मन्त्र वेदोंमें देख सकते हैं। अथर्ववेदके १८ वें काण्डका तीसरा सूक्त पूराका पूरा पितृयज्ञके वर्णनसे भरा है। इसमें दिव्य पितरोंके नाम, उनके लिये हवि अर्पण करनेका विधान, उनसे नाना प्रकारकी प्रार्थना, अग्निके द्वारा उनको कव्य और देवताओंको हव्य पहुँचानेका वर्णन आदि विस्तारसे हैं। इसी प्रकार और भी बहुत जगह है ।

यजुर्वेद, अध्याय १९-५८में पितरोंके विषयमें बहुत बातें स्पष्ट लिखी हैं। वहाँके कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं—

आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देव-यानैः । अस्मिन् यज्ञे स्वधया भदन्तोऽधिब्रुवन्तु तेऽवन्व-सान् ।

‘हमारे पितर देवयानमार्गसे इस यज्ञमें आवें। हमारी दी हुई स्वधासे प्रसन्न होते हुए बोलें और वे हमारी रक्षा करें ।’

यो अग्निः कव्यवाहनः पितॄन् यक्षइतावृधः ।

प्रेतु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥

( १९ । ६५ )

‘जो कव्यवाहन (कव्यका वहन करनेवाला) अग्नि-देवता सत्यकी वृद्धि करनेवाले पितरोंको अन्न पहुँचाया करता है, वह आज पितरोंको और देवताओंको उनके समर्पण की हुई हवि निवेदन करे ।’

इसके अगले मन्त्रमें कहा है कि वे पितृगण और देवतागण हविको भक्षण करें । ६७ वें मन्त्रमें यह भी कहा है कि ‘जो पितर लोग इस लोकमें हैं और जो यहाँ नहीं हैं, अन्य लोकमें हैं, जिनको हम जानते हैं और जिनको नहीं जानते, उन सबको हे जातवेद! अग्निदेव! आप जानते



हैं। अतः आप उनको पहुँचा दें। यह सब प्रकरण देखने योग्य है।

इसी प्रकार अथर्ववेदमें भी लिखा है—

त्वमग्न ईडितो जातवेदोऽवाङ्मन्यानि सुरभीणि कृत्वा ।  
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥

( १८ । ३ । ४२ )

हे जातवेदा अग्निदेवता ! हम आपकी स्तुति करते हैं, हमारी दी हुई हविको आप सुगन्धयुक्त करके देवताओंके लिये ले जायँ। आप पितरोंकी स्वधाके सहित हवि प्रदान करनेवाले हैं। वे पितर आपके द्वारा दी हुई उस हविको खायँ और हे अग्निदेव ! आप भी हमारे द्वारा दी हुई हविको खाइये।

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च ।  
यथाभागं हव्यदाति जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥

( ७ । १०९ । २ )

हे अग्निदेव ! आप अप्सराओंके लिये घृत ले जायँ तथा गणोंके लिये शक्कर और जल ले जायँ। अपने-अपने भागके अनुसार दोनों प्रकारकी प्राप्त हविको खानेवाले देवतागण संतुष्ट होंगे।

इस प्रकारके बहुत प्रमाण वेदोंमें जगह-जगह भरे पड़े हैं। पत्रमें अधिक लिखना कठिन है।

अथर्ववेद, काण्ड १८, सूक्त ३ के मन्त्र १२ में मित्रा-वरुण आदि देवताओंके नाम; मन्त्र १५-१६ में कण्व, जमदग्नि आदि १२ ऋषियोंके नाम तथा उनसे प्रार्थना; १४में पितरोंका विसर्जन तथा बुलानेपर पुनः आनेके लिये प्रार्थना, हविसे तृप्त होनेका कथन—इस प्रकारकी बहुत-सी बातें वेदमें हैं।

यदि कोई कहे कि यह सब जीवित पिता-पितामहोंके विषयका वर्णन है तो देखिये—

ये निखाता ये परोसा ये दग्धा ये चोद्धिताः ।

सर्वास्तानग्न आवह पितृन् हविषे अत्तवे ॥

( १८ । २ । ३४ )

हे अग्ने ! जो पितर गाड़े गये हों, जो जंगलमें रख दिये गये हों, जो जला दिये गये हों, अथवा जो फेंक दिये गये हों, उन सबको तुम हवि-भक्षण करनेके लिये बुला लाओ।

( ४ ) शंकर भगवान्की पूजाका प्रकरण वेदमें बहुत जगह है। 'लिङ्ग' शब्दका अर्थ प्रतीक या चिह्न है, उपस्थ-इन्द्रिय

नहीं। पूजा प्रतीककी ही होती है। कोई भी देवता प्रत्यक्ष स्थूल रूपसे प्रकट हो जाय और उसकी पूजा की जाय—ऐसा होना तो बहुत कठिन है। प्रतीकमें उनका आवाहन किया जाता है, भावसे उनका आगमन मानकर पूजा की जाती है और वह देवता उस पूजासे प्रसन्न होता है, क्योंकि देवता भावग्राही होते हैं। इस प्रकारकी पूजा करनेका विधान वेदोंमें भरा पड़ा है। इन्द्र, वरुण, प्रजापति, क्षेत्रपाल, शिव, विष्णु, वसु, रुद्र, अश्विनीकुमार आदि सभी देवताओं की पूजाका जगह-जगह वेदमें वर्णन है।

( २ )

प्रेमपूर्वक हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आप सत्सङ्गमें न आ सके, इसमें अपने भाग्यका दोष नहीं मानना चाहिये, प्रत्युत इसमें भी प्रभुकी कृपाका अनुसंधान करके सत्सङ्गके प्रति प्रेमकी वृद्धि हो, ऐसा भाव रखना चाहिये तथा आजतक सत्सङ्गमें जितनी बातें सुनी और समझी हैं, उनके अनुसार अपने जीवनमें जो-जो कर्म हैं, उनको दूर करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। अपने साधनमें किसी प्रकारके अभावका रहना सहन नहीं होना चाहिये। सुखके प्रलोभनमें आकर और दुःखके भयसे उन कर्मियोंका पोषण नहीं करना चाहिये।

महापुरुषोंकी और प्रभुकी कृपाका लाभ तो कोई भी उसे स्वीकार करके तथा उसका आदर करके अर्थात् उनके अवहेलना न करके उठा सकता है। अपने मनकी बात पूरी करने और दूसरोंसे पूरी करानेका आग्रह छोड़ देना महापुरुषोंके और प्रभुके अनुकूल हो जानेमें कोई कठिन नहीं रहती।

भगवान्की निरन्तर स्मृति तो उनमें प्रेम होनेपर ही हो सकती है। दृढ़ विश्वासपूर्वक प्रभुको अपना मानना चाहिये। तथा दूसरे किसी भी व्यक्ति या पदार्थकी तो बात ही क्या, इस शरीरको भी अपना नहीं मानना चाहिये; तब भगवान्में प्रेम हो सकता है।

एक साधक दूसरे साधकसे साधनके विचारों की बातचीत करे—यह बहुत लाभकी बात है। इसमें दोनोंकी ही हित है। ऐसा विचार-विनिमय परस्पर उन साधकोंके अवश्य करना चाहिये, जिनकी प्रकृतिका और साधनका मेल हो, जिनमें परस्पर हितकी भावना हो तथा आपसी संकोच न हो। परंतु बातचीत करते समय अपनी-अपनी कमीकी सामने रखकर बात करनी चाहिये तथा उन



पूर्विका उपाय सोचना चाहिये । अपने गुणोंका प्रकाशन करना हितकर नहीं होता । प्रभुकी कृपाके महत्त्वको व्यक्त करनेके लिये अपनी जिन-जिन अच्छाइयोंको कहना आवश्यक हो, उन्हें कहा जा सकता है; पर कहीं भी उसमें अभिमान नहीं आना चाहिये ।

भगवान्ने गीतामें अध्याय १२ श्लोक १३ से अध्यायकी समाप्तिक अपने प्रिय भक्तोंके लक्षण बताये हैं । वैसा बन जाना ही प्रभुका और महापुरुषोंका प्रिय बनना है । अतः उस प्रकारके जीवनमें जो-जो कमियाँ अपनेमें प्रतीत हों, उनको दूर करते रहना चाहिये ।

महापुरुषोंको अपना सब कुछ समझनेका भाव पहले

स्पष्ट समझ लेना चाहिये । महापुरुष हाड़-मांसके शरीरका नाम नहीं होता । वह उस अनन्त विज्ञानस्वरूप प्रभुका ही रूप है, उससे भिन्न नहीं है । अतः भगवान्को अपना सब कुछ समझना ही महापुरुषको अपना सब कुछ समझना है । ऐसा समझ लेनेके बाद भगवान्का भजन-स्मरण नहीं करना पड़ता, अपने आप होता है, छूट ही नहीं सकता । भजन-स्मरण ही उसका जीवन बन जाता है; उसको ऐसा भास भी नहीं होता कि मैं भजन-स्मरण करता हूँ । अतः वह आज्ञानुसार भजन-स्मरणकी चेष्टा करनेवालेकी अपेक्षा उनकी कृपाका अधिक लाभ उठा रहा है, ऐसा कहा जा सकता है । शेष भगवत्कृपा ।

## कैसी बीती ?

( लेखक—श्रीभगरचंदजी नाइव )

ठीक संध्याका समय है । मन्दिरोंमें आरतीकी झालरें बजने लगी हैं । पक्षी मीठा कलरव करते हुए अपने-अपने घोंसलेकी तरफ आने लगे हैं । बाहर चरने गये हुए पशु हर्ष-विभोर हो गाँवकी तरफ आ रहे हैं । अब एक-आध बटेमें सूर्य अस्त होनेवाले हैं ।

इतनेमें एक महात्मा घूमते-घूमते ब्यासपुर गाँवमें आ ठहरे । पास ही एक हलवाईकी दूकान है । महात्मा हलवाईके पास गये और उन्होंने हलवाईके यहाँ रात्रि व्यतीत करनेकी इच्छा प्रकट की । हलवाई—“महात्माजी ! आप खुशीसे पचारिये, आप-जैसे महात्माओंके चरणोंसे मेरा आँगन पवित्र हुआ । आज मैं धन्य हो गया ।”

महात्माने हलवाईकी दूकानके एक कोनेमें बैठ अपना संभ्या-वन्दन किया, आवश्यक क्रिया सम्पन्न की और प्रभु-स्मरणकर आत्मचिन्तन करने लगे । अन्तमें सब जीवोंसे क्षमा-याचनाकर रातके बारह बजे जमीनपर हाथका तकिया बना ( हाथ सिरके नीचे रखकर ) सुखपूर्वक मीठी निद्रामें सो गये ।

हलवाईकी दूकानके सामने ही राजाका महल था । झरोखेमें खड़े राजाकी दृष्टि हलवाईकी दूकानकी ओर गयी । वहाँ उन्होंने एक महात्माको देखा । अत्यन्त सादे और जीर्ण वस्त्र पहने, पृथ्वीपर सोये महात्माको देख राजाने सोचा—“यह कोई गरीब भिक्षुक है

सोनेतकका ठिकाना नहीं । सो मैं सबेरे इसे अपने पास बुलाकर, इसे जो भी चाहिये, देकर सुखी करूँगा । मेरे पास बहुत सम्पत्ति है; मेरा कर्तव्य है कि मैं गरीबोंके दुःखकी तरफ देखूँ ।”

राजा ऐसा विचार करते-करते रात्रिके बारह बजेके पञ्चात् फूलोंकी सेजपर सो गये और निद्रामें लीन हो गये ।

रात्रि बीती, प्रभात हुआ । पक्षियोंका प्रातःगान शुरू हुआ । भक्तजनोंने भगवान्की विबुद्धका खान शुरू किया; राजा जागे । प्रातःकालीन नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे निवृत्त होकर एक सैनिकको आदेश दिया—“जाओ, सामने हलवाईकी दूकानमें पिछली रात एक महात्मा आये हैं, उन्हें बुला लाओ !” “जी, सरकार !” कहकर सैनिक चला गया और महात्माके पास जाकर विनीत शब्दोंमें बोला—“आपको राजा साहब बुला रहे हैं ।” यह जानकर महात्माने शान्तभावसे कहा—“भाई ! राजाको मुझसे क्या काम है ?”

सैनिक—“महात्मन् ! राजा क्यों बुला रहे हैं, यह तो मुझे ज्ञात नहीं । हमारे-जैसे महान् राजा आपको बुला रहे हैं, यह आपके सौभाग्यका सूचक अवश्य है ।”

यह सुनकर महात्माके मनमें थोड़ी हँसी आयी; फिर गम्भीर मुद्रामें राजाकी ओर चले ।

महात्माको अपनी तरफ आते देख राजा बोले—



‘पधारिये, महाराज ! रात कैसी बीती ?’ महात्मने निर्भयतापूर्वक जवाब दिया—‘आधी आप-जैसी और आधी आपसे अच्छी !’ यह सुनकर राजाको आश्चर्य हुआ । राजा—‘‘महात्मन् ! थोड़ा विचार करके बोलिये । आपके लिये सोनेका तो उपयुक्त स्थान भी नहीं था—एक तरफ राखकी ढेरी और दूसरी तरफ मिठाई बनानेकी कड़ाही । आप हाथका तक्रिया लगाये जमीनपर तो सो रहे थे और शरीरपर चूहे उछल-कूद कर रहे थे । ऐसी अवस्थामें तो आप सो रहे थे । फिर आप कह रहे हैं, ‘आधी आप जैसी और आधी आपसे भी अच्छी !’”

महात्मा—‘‘सुनिये, राजन् ! जरा स्वस्थ होइये, क्रोध न करें । मैं आपसे पूछता हूँ, आप कितने बजे सो गये थे ?’

राजा—‘‘महात्माजी ! बारह बजनेके पश्चात् ।’

तब महात्मा बोले—‘‘राजन् ! मैं रातको बारह बजे सो गया था । अब आप कहिये, रात बारह बजनेके पश्चात् आप और मैं दोनों निद्रास्थ हो गये और निद्रास्थ होनेके पश्चात् जमीन और फूलोंकी सेजमें क्या अन्तर रह जाता है ?’

राजा—‘‘हाँ ! हैं तो दोनों एक-जैसे ।’

महात्मा—‘‘तो राजन् ! बारह बजेके पश्चात्की रात तो आपकी और मेरी एक-सी हो गयी । बारह बजनेके पहले आपने क्या-क्या किया ?’

तब राजाने कहा—‘‘महात्मन् ! मुझे बारह बजेसे पहले बहुत काम थे । दूसरेके राज्यपर चढ़ाई करनेके सम्बन्धमें प्रधान मन्त्रीके साथ विचार-विमर्श किया । खजाना पूरा है या नहीं, यह खजानचीसे पूछा—फिर खजाना पूरा करनेके लिये खजानचीको आज्ञा दी । कोई रानी अपसन्न हो गयी थी, उसे प्रसन्न किया । इसके अतिरिक्त राजकुमारोंके सम्बन्धमें बातचीत करने आदि कार्योंमें बारह बज गये । यह सुनकर महात्मने कहा—‘‘राजन् ! मैंने बारह बजेसे पहले क्या किया, सुनो ! मैंने संध्या-वन्दन किया । भगवान्का स्मरण किया । समस्त जीवोंसे क्षमा-याचना की, आत्म-चिन्तन कर अपना समय शुभ काममें बिताया और अपने राज्यके लगड़े और खटपटकी बातें कीं । इसीसे मैंने आपसे कहा—‘आधी रात्रि तो आप-जैसी ही मेरी गयी और आधी आपसे अधिक अच्छी । बोलिये, यह मेरी बात सत्य है या नहीं ?’

यह सुनकर राजा बोले—‘‘महात्मन् ! क्षमा करिये । आपकी बात सत्य है । आपने आज मेरा अज्ञान दूर कर दिया । ‘‘सच्चा आनन्द त्यागमें है, भोगमें नहीं, यह मैंने आज ही सीखा है । आप कोई दुखी भिक्षुक नहीं हैं—आप तो महान् आत्म-सम्पत्तिके मालिक हैं, जब कि मैं इतनी-इतनी धन-सम्पत्ति होते हुए भी अत्यन्त गरीब और क्षुद्र हूँ ।’

महात्माके चेहरेपर अद्भुत कान्ति और प्रसन्नता देख राजाने उन्हें नमस्कार किया और क्षमा माँगी ।

## तुझमें है अटूट धन

वरिद्धीको रोता देख  
योगी एक बोला यों—  
‘तेरे ही घरके कोनेमें  
खरचा एक सोनेका ।’  
सुनकर खुश हुआ वह,  
जाकर खोदा वहाँ ।  
पहले तो मिट्टी पायी,  
बाद मिला घड़ा वह ।

सद्गुरु उपदेश दे—  
‘तुझमें है अटूट धन,  
मत डर उपसर्गसे ।  
बैठ जा, ध्यान कर,  
आत्मतत्त्व खोज ले ।  
छोड़ दे कंकर-मिट्टी ।  
उद्यमके बिना नहीं  
होगी कभी भी सिद्धी ।’

—मोतीलाल सुराना



# महात्मा सेरफिम

( लेखक—श्रीरामलालजी वी० ए० )

संत सदाचार और सत्य-विचारके धनी होते हैं। वे समस्त विश्वके नागरिक होते हैं और सभी लोग समान-रूपसे उनके निष्पक्ष आचार-विचारसे लाभ उठाते हैं। महात्मा सेरफिम इसी तरहके उच्चकोटिके संत थे। 'सेरफिम' शब्दका आशय है—बिना जीवनमें उतार-चढ़ावकी चिन्ता किये परमात्माके भजनमें सदा लगे रहनेवाला। महात्मा सेरफिम निस्संदेह सेरफिम ही थे। वे शान्तिके देवदूत थे, उन्हें एकान्तमें रहकर आत्मसाधनामें लगे रहना बड़ा अच्छा लगता था।

संत सेरफिमने १७५९ ई० में १९ जुलाईको रूसमें जन्म लिया था। उनके माता-पिता बड़े सदाचारी और धार्मिक प्रवृत्तिके थे। इसलिये उनका पालन-पोषण पवित्र संस्कारोंके वातावरणमें हो सका। जब वे केवल तीन सालके थे, उनके पिता चल बसे। उनकी मा अग्राथाने उनका पालन-पोषण किया। सेरफिमको सात सालकी अवस्थामें मा उन्हें उपासना-घर ले गयी। उपासना-घरमें एक ऊँचे स्थानपर बंटा लगा था। सेरफिम उसे देखते-देखते छतपर इतने किनारे चले गये कि जमीनपर गिर पड़े, पर उन्हें चोट नहीं आयी। उन्होंने कहा कि 'स्वर्गकी देवीने मुझे अपने आँचलमें लिपा लिया था। मैं उसके साथ उड़कर नीचे आ गया।' निस्संदेह वे परमात्माकी कृपासे बच गये।

उन्होंने अपना जीवन लोगोंकी सेवामें लगा दिया। उन्नीस सालकी अवस्थामें सारव मठमें प्रवेश कर उन्होंने कठोर सेवान्वत अपना लिया; उन्हें जो काम सौंपा गया था, उसे बड़ी लगन और सावधानीसे करते थे। लोगोंके लिये भोजन बनाते थे, बड़ईका काम करते थे, उपासनाके समयकी सूचना देनेवाला घंटा बजाते थे, उपासना-संगीतमें लोगोंका साथ देते थे, लोगोंके कपड़े सिलते थे तथा जलानेके लिये जंगलसे लकड़ी काटकर लाया करते थे। वे कहा करते थे—'आशा माननेसे बड़ा दूसरा कोई काम नहीं है। यह उपवास और प्रार्थनासे भी अधिक महत्वपूर्ण है। बिना किसी अशान्ति और चिड़चिड़ाहटके हमें सब तरहका दुःख सह लेना चाहिये। साधु वह है, जो दूसरोंद्वारा उकसाये जानेपर भी शान्त और सहनशील बना रहता है।'।

वे अपना समय एकान्त-सेवनमें सार्थक करते थे। वे सारव मठके निकट ही जंगलमें जाकर आत्मसाधना किया

करते थे; उनके लिये उसी जंगलमें एक शौपड़ी बना दी गयी थी। दिनमें वे मठमें रहकर लोगोंकी सेवा किया करते थे और शाम होते ही जंगलवाली शौपड़ीमें आकर परमात्माकी उपासना और आराधनामें सारी रात लगे रहते थे।

चौतीस सालकी अवस्थामें सेरफिम तैम्बव मठमें भेज दिये गये। उन्हें मठकी ओरसे जंगलमें शान्तिपूर्ण ढंगसे साधना करनेकी स्वतन्त्रता दे दी गयी। उनके जीवनने कठोर तप अपनाया। शौपड़ीमें खानेका थोड़ा-सा सामान था, एक चूल्हा था। यही उनकी सम्पत्ति थी। जाड़ेमें वे लकड़ी काटकर रातको जलाते थे और अपनी शौपड़ी गरम रखते थे; गरमीके दिनोंमें साग-सब्जी पैदाकर जीविका चलाते थे। मच्छड़ उन्हें बहुत परेशान करते थे; मच्छड़ोंके काटनेसे कभी-कभी उनका शरीर खूनके कणोंसे भर उठता था, पर वे केवल हतना ही कहा करते थे कि इन बातनाओंसे भोगमय जीवनकी कामनाएँ और विलासिताएँ शान्त हो जाती हैं; अपने आप दब जाती हैं। कभी-कभी काम करते-करते उनका मन परमात्माके चिन्तनमें इस तरह तल्लीन हो जाता था कि काम करनेके यन्त्र हाथसे अपने आप छूटकर जमीनपर गिर पड़ते थे और वे समाधिस्थ हो जाते थे। उनके चेहरेपर दिव्य तेज दीख पड़ता था।

मठ और उनकी शौपड़ीके ठीक आवे रास्तेपर एक बड़ा-सा गोल चिकना पत्थर था। वे रोज रातको पत्थरके सामने जाकर खड़े हो जाते थे या घुटनोंके बल छुककर दोनों हाथ ऊपर उठाकर परमात्मासे प्रार्थना किया करते थे, 'हे परमेश्वर ! मुझ जैसे पापीपर कृपा कीजिये।' दिनमें अपनी शौपड़ीके दरवाजेपर एक बड़ा पत्थर रखकर उसे बंद कर देते थे और भीतर एकान्तमें बैठकर परमात्माका भजन किया करते थे। इस तरह उन्होंने निरन्तर एक हजार रात और एक हजार दिनतक भजन किया, पर उन्हें ऐसा करते कोई भी नहीं देख सका।

संत सेरफिम आजीवन आध्यात्मिक रहस्योंकी खोज करते रहे। वे मौन रहा करते थे और आवश्यक वस्तुके लिये संकेतसे ही काम चला लिया करते थे। उनकी दिव्य शक्तिसे खिचकर जंगली जानवर उनके वशमें हो जाया करते थे और अभय होकर उनकी शौपड़ीके आसपास घूमा करते थे। एक दिन एक पेड़के तनेपर बैठकर वे एक



जंगली भालूको सूखी रोटी खिला रहे थे। पीटर नामके एक व्यक्तिने उनको ऐसा करते देख लिया। सेरफिम संकोचमें पड़ गये। वे प्रचार और प्रसिद्धिसे दूर रहते थे। उन्होंने पीटरसे निवेदन किया कि मेरे जीवित रहते इस बातकी जानकारी किसीको भी न होने पाये।

संत सेरफिम गलत रास्तेपर चलनेवालोंको सही रास्तेपर चलनेका उपदेश देते थे। एक दिन वे अपने हाथसे मठके कामके लिये नरकट उखाड़ रहे थे। उन्होंने एक आदमीको अपने सामने खड़ा देखा। वह अपने बाल-बच्चों तथा परिवारके लोगोंको छोड़कर तीर्थयात्रा कर रहा था। उसने सोचा था कि ऐसा करनेसे परमेश्वर प्रसन्न होंगे। महात्मा सेरफिमने उसको समझाया कि 'स्त्री तथा बाल-बच्चोंको घरपर असहाय छोड़कर इस तरह परमात्माको प्रसन्न करनेकी भावना भ्रममात्र है। आप घर जाइये, घरके लोगोंको दयनीय हालतमें छोड़कर तीर्थोंमें घूमनेसे परमात्माकी कृपा नहीं मिला करती। घर जाकर गल्लेकी दूकान कीजिये, परिवारका पालन-पोषण कीजिये; यही परमात्माकी पूजा है।'

एक समयकी बात है। जॉन नामके एक नवदीक्षित व्यक्तिने महात्मा सेरफिमसे कहा कि 'मैं अपने हाथोंमें जंजीर बाँधना चाहता हूँ, शरीरपर जानवरके बालसे बना एक पहनावा रखना चाहता हूँ; मुझे व्रतमें सफल होनेका आशीर्वाद दीजिये।' महात्मा सेरफिमने समझाया कि 'जवतक मन संयत न हो जाय, सहनशीलता और तितिक्षाका अभ्यास हट न हो जाय, तबतक वैराग्यका उदय नहीं होता।' उन्होंने जॉनके कान पोंटकर कहा कि 'बाहरी वेश-भूषाका कोई महत्त्व नहीं है। यदि आपको कोई कनेठी लगाये तो समझना चाहिये कि यही सबसे बड़ी जंजीर है, यह लेहेकी जंजीरसे कहीं अधिक गुणकारी है।' महात्मा सेरफिम जॉनकी ओर बढ़े, ऐसा भाव प्रकट किया कि मानो उसके चेहरेपर श्रुतना चाहते हैं। संतने कहा कि 'यदि आपके मुखपर कोई इस तरह श्रुतता है और आप सह लेते हैं तो समझना चाहिये कि यही सबसे अच्छा पहनावा है। इससे मनमें सहज दैन्यका उदय होता है। तपका फल मनोनिग्रह है।' जॉनकी आँख खुल गयी।

महात्मा सेरफिमकी कृपासे मोटोविलोव नामके एक व्यक्ति परमात्माके भक्त बन गये। एक दिनकी बात है। बड़े जोरका हिमपात हो रहा था। भयानक ठंड थी। चारों ओर कोहरेसे अँधेरा छाया था। मोटोविलोव एक पेड़की डालपर बैठे थे। उनके ठीक सामने दूसरी ओर संत सेरफिम थे। सेरफिमने कहा—'परमात्माकी प्रेम-प्राप्ति ही मानव-

जीवनका वास्तविक लक्ष्य है। इस तरहकी दिव्य प्रेम-प्राप्ति परमात्माकी प्रार्थनासे सम्भव है। सदा अपने-आपसे प्रेम करना चाहिये कि मैं परमात्माके प्रेममें स्थित हूँ या नहीं।'

मोटोविलोवने कहा कि मैं 'आपकी बात नहीं समझ सका।' संतने कहा कि 'हम दोनों ही इस समय परमात्माकी प्रेममयी सत्तामें स्थित हैं। मेरी ओर देखिये।' मोटोविलोवने कहा कि 'मैं आपकी ओर नहीं देख सकता। आपकी आँखोंमें अद्भुत तेज है। आपका चेहरा सूर्यसे भी अधिक प्रकाशमय है। आपसे आँख मिलानेमें मेरी आँखोंमें पीड़ा होती है।' महात्माने समझाया कि 'डरना नहीं चाहिये। आप मेरी ही तरह दिव्य प्रकाशसे भर उठे हैं। आप परमेश्वरके प्रेममें स्थित हो गये हैं।' मोटोविलोवने देखा कि संतके चारों ओर दिव्य प्रकाश-मण्डल है। संतने कहा कि 'यही दिव्य परमात्मभावकी स्थिति है, इसमें आत्मा चिन्मय आनन्दमें विभोर हो उठता है।'

मोटोविलोवने कहा कि 'मैं इतना आनन्दमग्न हूँ कि मुझे अपने भीतर बड़ी गरमी लग रही है। साथ-ही-साथ बड़ी सादक स्वच्छ गन्धकी प्रतीति हो रही है।' संत सेरफिमने समाधान किया—'यह सच है कि बाहर अधिक ठंड है, हिमपात हो रहा है; पर दिव्य परमात्मभावसे अभिभूत होनेके नाते हम दोनोंको गरमी लग रही है और इस दिव्य गन्धकी तुलना धरतीपर पायी जानेवाली मधुरतम गन्धसे भी नहीं हो सकती।'

संत सेरफिमने पवित्र संदेश दिया, 'आप अपने भीतर शान्तिको अनुभव कीजिये, सारा संसार आपके पीछे-पीछे चलेगा। विनम्रता ही जीवनकी आधारशिला है, इससे परमात्माकी कृपा मिलती है।'

महात्मा सेरफिमका आध्यात्मिक सिद्धान्त यह था कि 'परमात्मासे ही प्रेम करना चाहिये, उन्हींको जानना और समझना चाहिये। वे हमारा साथ कभी नहीं छोड़ते।' उन्होंने कहा—'शब्दोंके द्वारा दूसरोंका प्रतिरोध करनेसे कलह होता है और भीतर-ही-भीतर दूसरोंकी प्रतिरोध-भावना पैदा होने या पचा देनेसे आत्मशान्ति मिलती है।'

जीवनके अन्तिम समयमें महात्मा सेरफिमके हृदयमें आत्मशान्ति भर उठी। सब लोगोंने उनके माध्यमसे दिव्य परमात्मभावका रसास्वादन किया। वे सरलता और विनम्रताकी सजीव मूर्ति थे।



# श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अन्तिम उपदेश

[ गताङ्क पृष्ठ १००४ से आगे ]

‘कल्याण’के पिछले अङ्कमें हमने देखा कि किस प्रकार असह्य पीड़ा एवं सर्वथा लाचारीकी स्थितिमें भी परम श्रेष्ठ श्रीभाईजीने सर्वथा निश्चल, निर्विकार, शान्त एवं प्रफुल्लित रहकर अपने आचरणके द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि पीड़ा शरीरमें होती है, आत्मा उससे सर्वथा अप्रभावित है। साथ ही वे अपनी वाणीद्वारा इस संदेशको विश्व-ब्रह्माण्डके वायु-मण्डलमें प्रसारित करते रहे।

श्रीभाईजीके भौतिक कलेवरका भगवान्‌के विधानानुसार अथ अवसान होना था। अतएव शरीर उस ओर अग्रसर हो रहा था। कोई भी उपचार सफल नहीं हो पा रहा था। भौतिक साधन तभी सफल होते हैं, जब उनकी सफलता भगवान्‌के विधानके अनुसार अभिप्रेत होती है। भगवान्‌के विधानके प्रतिकूल जगत्‌की किसी भी शक्तिका कोई भी प्रयत्न कारगर नहीं हो सकता। पर अन्तिम स्वास्तक तात्त्विक प्रयत्न करते रहना शास्त्र एवं संतोंके आदेशानुसार कर्तव्य है।

श्रीभाईजीकी शारीरिक स्थितिमें जब कोई सुधार लक्षित नहीं हो रहा था, तब स्थानीय डाक्टर महानुभावोंके आग्रहसे गोरखपुरसे बाहरके योग्य डाक्टर महानुभावोंको बुलाया गया। १६ फरवरीको कानपुर मेडिकल कालेजके सर्जरीके प्रोफेसर डा० ताराचन्दजी विशुद्ध आत्मीयताके नाते श्रीभाईजीको देखनेके लिये पधारे। डा० ताराचन्दजी श्रीभाईजीका निरीक्षण करनेपर चिन्तित हो उठे। वे रोगकी भीषणतासे परिचित थे। उन्होंने बड़े गम्भीर एवं चिन्तित स्वरमें अपनी अनुभवशुद्ध राय दी—‘तत्काल ऑपरेशन किया जाना चाहिये, अन्यथा जीवनको खतरा है। इतना गम्भीर ऑपरेशन यहाँ होना सम्भव नहीं। बाहर जाना चाहिये।’ डाक्टर साहबकी राय सुनकर घरवाले, स्वजन एवं स्थानीय डाक्टर महानुभाव—सभी घबरा गये। प्रायः सभी ऑपरेशनपर जोर देने लगे। बाहर जानेका निश्चय तत्काल होना चाहिये, सब ओरसे यही माँग आने लगी। सबकी भय एवं चिन्तासे अभिभूत मनः-स्थिति देखकर श्रीभाईजीने डा० चक्रवर्ती महोदयको अपने पास बुलाकर बीरेसे कहा—‘मेरी शरीरमें आल्ला नहीं है। शरीर जब जाना होगा, जायगा। कर्तव्य है कि अवतक

शरीर है, तबतक इसकी सँभाल करनी चाहिये।’ पीछे श्रीभाईजी बँगलामें बोलने लगे—

‘आमार शरीरसे सङ्गे सम्बन्ध रखेके बलिगा वेदनार बोध हय। जखन शरीरसे सङ्गे आमार सम्बन्ध थाके ना, तखन व्यथा अनुभव करिबार प्रश्नई उठे ना।’

—हमारा जब शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, तब वेदनाका बोध होता है; पर जब शरीरसे अपनेको पृथक् अनुभव करता हूँ, तब कष्टके अनुभवका प्रश्न ही नहीं रहता। पर यह बात आपसे कहनेमें संकोच नहीं है; कारण, आप श्रीरामकृष्ण परमहंसके भक्त हैं। बाहर जानेपर वहाँके स्वजनों एवं डाक्टरोंके सामने यह बात कहनेमें हमें संकोच होगा।

‘निजे एक टु अभिमान व्यक्त न होय,  
डाक्टरसे अपमान ना होउक’।

—अपनेमें तनिक भी अभिमान व्यक्त न हो तथा डाक्टर महानुभावोंका भी अपमान न हो—इसपर खयाल रखना है। मेरे उपर्युक्त कथनमें लोगोंको अभिमान दीखेगा और डाक्टर महानुभाव अपना अपमान मानेंगे कि हमारे चिकित्सा-विज्ञान-सम्मत परामर्शको ये लोग भाडुक्तावश अस्वीकार कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त रोगीके शरीरकी लाचारीकी स्थितिमें आवश्यक उपचार करना डाक्टर महानुभावोंका कर्तव्य है। हम अपने सिद्धान्तकी हदतासे डाक्टर महानुभावोंके आवश्यक उपचार करनेके मार्गमें बाधा उपस्थित करके उन्हें कर्तव्यव्युत्त करें—इमें इस बातका भी संकोच है।

इस प्रकार अपने सिद्धान्तकी रक्षाके साथ दूसरेके कर्तव्य-पालनका इतना ध्यान इस लाचारीकी स्थितिमें भी श्रीभाईजी रख रहे हैं—यह देखकर डा० चक्रवर्तीकी आँखें सजल हो उठीं।

श्रीभाईजीने आगे कहा—‘भगवान्‌पर विश्वास करके अपनी जो मान्यता है, सिद्धान्त है, उसके अनुसार इलाज किया जाय। किसीका तिरस्कार न हो जाय—मुझे यह संकोच बना है। बाहर जानेपर हमारा संकोच और बढ़ेगा। वहाँ डाक्टरोंने परिस्थितिकी गम्भीरताको समझकर कोई बात कही,



हम उसे न मान पाये तो उनका तिरस्कार होगा । वे लोग इनसुलिन-जैसी अशुद्ध, अपवित्र, हिंसायुक्त औषध देंगे; सब लोग कहेंगे—‘शरीर बचाना धर्म है, पीछे प्रायश्चित्त कर लिया जायगा ।’ इस प्रकार अशुद्ध औषध सेवनकर पीछे प्रायश्चित्त करनेकी बात छोड़िये । वह हमें किसी भी रूपमें मान्य नहीं है । इन सभी कारणोंसे बाहर जानेमें हम हिचकते हैं ।

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हम ऑपरेशनसे डरते हैं । ऑपरेशन करानेमें हमें कोई डर नहीं है । ऑपरेशन करानेवाले बहुत लोग अच्छे होते हैं; हमारा रोग अच्छा नहीं होगा, कौन कह सकता है । अच्छा होना होता है तो हो जाता है, नहीं होना होता तो नहीं होता । चिकित्सा कर्तव्य है, करनी चाहिये; पर दवा रोगीको बचा नहीं सकती । इसके अतिरिक्त हम जानते हैं, शरीरसे हमारा सम्बन्ध नहीं; शरीरकी बीमारीसे आत्मा बीमार नहीं होता—यह भरेगा नहीं और शरीर जबतक है, तबतक यह बीमार है, रहेगा—

देहिनोऽस्मिन्मया देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

( गीता २ । १३ )

‘जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती हैं, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है ।’ ये सब बातें जीवनभर कही हैं, पढ़ी हैं, लिखी हैं; ये सब अपने लिये नहीं हैं क्या ? वास्तवमें हमलोगोंको मोह हो गया है । नाम-रूपको लेकर हमने मान लिया है कि ‘मैं देह हूँ’ और अपनेको बीमार अनुभव करने लगे हैं । न ‘यह’ देह है, न ‘यह’ बीमार है ।”

डा० चक्रवर्ती महोदयने श्रीभाईजीके इन शब्दोंको सुनकर आत्मविभोर हो गये ।

उसी सायंकाल घरवालों, डाक्टरों एवं स्वजनोंके सामने प्रातःकालके प्रसङ्गको दोहराते हुए श्रीभाईजीने बोलनेकी शक्ति क्षीण होनेके कारण बीच-बीचमें विराम लेते हुए कहा—‘हम बाहरवालोंके समक्ष भी अपने सिद्धान्तपर दृढ़ रह सकते हैं, पर उसमें उनके तिरस्कार होनेका मनमें संकोच है ।..... पीड़ा शरीरमें है । जब हम उसे स्मरण नहीं करते, तब पीड़ा अनुभव नहीं होती । अभी हमारे पेटमें बहुत दर्द था और है; पर जबतक आपलोगोंसे बात की, तबतक उसका कुछ भी

अनुभव नहीं रहा, दर्दको भूले रहे । बाहर जानेपर बाहर जाकर डाक्टरों—मित्रोंका तिरस्कार न हो जाय, हमें इसीकी विचार-चिन्ता है ।.....’ इसके अतिरिक्त हमारे मनमें आता है कि बाहर जानेकी बात तभी होती है, जब आपलोगोंके उपचारसे लाभ न हो; पर आपलोगोंके विशुद्ध प्यारसे भरे हृदयमें तो भगवान् प्रकाश नहीं देंगे, बम्बई-कलकत्ताके बड़े-बड़े डाक्टर, जो पैसैको प्रधानता देकर आयेंगे तथा सब काम करेंगे, उनसे भगवान् प्रकाश देंगे—यह तो केवल आस्तिकताका जमा है—उपहास है ।..... जगत्की दृष्टिसे जो अच्छे-से-अच्छे साधन उपलब्ध हों, उनको किया जाय; पर विश्वास भगवान्के मङ्गलविधानपर रहे ।.....’ हमारा विचार तो निश्चित है—किसी भी हालतमें इनसुलिन नहीं लेना है, चाहे प्रा रहें या जायें ।

× × × ×

रोग सुरसाकी भाँति अपना रूप-विस्तार करता जाता था और उसके विकराल रूपको देखकर डाक्टर महानुभाव चिन्तित होते जा रहे थे । २७ फरवरीको दिल्लीके प्रसिद्ध सर्जन डा० मेहरा श्रीभाईजीको देखनेके लिये पधारे । उन्होंने भी परिस्थितिकी गम्भीरताको समझकर अपनी राय दी—‘ऑपरेशन करानेसे आशा है कुछ लाभ हो । पर रक्तमें शर्करा ( Sugar ) बढ़ी हुई है, इससे इनसुलिनकी आवश्यकता पड़ सकती है । ऑपरेशन करनेके पश्चात् घाव यदि नहीं भरा तो श्रीभाईजीकी जीवन-रक्षाके लिये छिपाकर इनसुलिन देना पड़ सकता है ।’ इसपर श्रीभाईजीने दृढ़ताके साथ कहा—“इनसुलिनका प्रयोग करके मैं अपना जीवन नहीं बचाना चाहता । जीवन तो एक दिन जायगा ही । फिर किसी प्राणीकी हिंसासे बने ‘इनसुलिन’को लेकर इसे बचानेका पाप क्यों स्वीकार किया जाय ?” डाक्टर मेहरा श्रीभाईजीको इस दृढ़ताको देखकर चकित रह गये । उन्होंने कहा—“भाईजी ! आपकी महानताका यही हेतु है कि आप सिद्धान्तको जीवनसे श्रेष्ठ मानते हैं । अन्यथा हम जानते हैं कि बड़े बड़े धार्मिक लोग ‘इनसुलिन’का प्रयोग बिना किसी हिचकके बराबर कर रहे हैं ।”

× × × ×

उपचार चल रहा था, पर स्थितिमें सुधार होनेके स्थान पर वह निरन्तर बिगड़ती जा रही थी । डाक्टर महानुभावोंकी चिन्ता बढ़ रही थी । उसे देखकर श्रीभाईजीने कहा—



देखिये, विपरीत स्थितिमें भगवान्पर विश्वास बढ़ता रहे, यही तो आस्तिकता है । ..... मैं अभी सोच रहा था कि व्यष्टि एवं समष्टिमें ऐसे अवसर आते हैं, जब चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार छा जाता है । जहाँ भी हाथ डालिये, निराशा, असफलता ही मिलती है । जिससे सुरक्षाकी आशा करते हैं, उससे पराभव प्राप्त होता है । इसी प्रकार शरीरकी ऐसी स्थिति हो रही है कि जो कुछ भी दिया जाता है, वह विपरीत फल दिखाता है । आपलोग अपनी समझसे पूर्ण सहायनासे उपचार कर रहे हैं । आपलोगोंके स्नेह-प्यारको देखकर मैं आपलोगोंका हृदयसे कृतज्ञ हूँ । प्यार-स्नेहका बदला नहीं दिया जा सकता । भगवान् उसका बदला देते हैं । आपलोग विश्वास रखें, यह भगवान्का विपरीत रूप है; भगवान्का भयानक रूप भी होता है । मैं भीतरसे बहुत प्रसन्न हूँ । जब कष्ट अधिक होता है, तब उसका अनुभव होता है; पर मेरे मनमें चिन्ता नहीं है । अपने कर्तव्यमें कमी नहीं करनी चाहिये । अभी रोग और बढ़ सकता है—मस्ता हो सकता है, बीकोलाई ( B-coli ) हो सकती है । जब राजा कमजोर होता है, तब छोटे-छोटे शत्रु भी सिर उठाने लग जाते हैं । ऐसी ही इस शरीरकी दशा हो रही है । वह अत्यधिक कमजोर हो गया है । अतएव नये-नये रोग प्रकट हो रहे हैं । आपलोग चिन्ता न करें; जैसा होना है, होगा और उसमें मङ्गल ही होगा ।

रोगकी निरन्तर बढ़ती स्थितिको देखकर सबका चित्त बड़ा उदास रहने लगा; जो श्रीभाईजीके दर्शनार्थ आता, उसकी आँखें छलक पड़तीं । श्रीभाईजी इस अधीरताको कम करना चाहते थे, अतएव वे उद्बोधन करते हुए कहते—“भगवान्ने गीतामें कहा है—“जन्ममृत्युजराव्याधि-दुःखदोषानुदर्शनम् ।”

—जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग निरन्तर शरीरके साथ लगे हैं; इन सबको देखकर शरीरसे वैराग्य करना चाहिये । ..... संसारका अर्थ है—“संसरति इति संसारः ।” अर्थात् जो गतिमान् है, चल रहा है, उसका नाम ‘संसार’ है । यहाँ कोई भी स्थिति स्थायी नहीं है । हमलोगोंका बचपन बीता, युवावस्था बीती; बचपनकी वे उमंगें, वे विचार मर गये; इसी प्रकार बुढ़ावस्था भी मर जायगी ।

“शरीरके प्रति (मैं) तथा ‘मेरापन’ हो रहा है, इसीसे दुःख-सुख होते हैं । यह (मैं-मेरापन) हटा कि फिर कुछ भी नहीं है । ..... वस, प्रतिकूलतामें, विपरीततामें, भगवान्पर विश्वास बना रहे, बढ़ता रहे—यह विश्वास कि जो हो रहा है, भगवान्के मङ्गलविधानसे ठीक हो रहा है ।”

स्वजन, मित्र, डाक्टर महानुभाव रोगकी निरन्तर बढ़ती एवं गम्भीर होती हुई स्थितिमें भगवान्की मङ्गलमयताके दर्शन करनेमें अपनी असमर्थताका अनुभव कर रहे हैं, इस तथ्यसे श्रीभाईजी परिचित थे । अतः वे जब भी कुछ बोलने-की शक्ति अनुभव करते, इसी बातको दोहराते । ३ मार्चको अपने पुराने सहयोगी, स्वजन, वन्धु डॉ० भुवनेश्वरप्रसादजी मिश्र ‘माधव’की आँखोंमें जब उन्हें अश्रुविन्दु दिखायी दिये, तब उन्हें सान्त्वना देते हुए श्रीभाईजीने कहा—“प्रतिकूलतामें भगवान्की मङ्गलमयतापर विश्वास हो, तभी तो विश्वास है । शरीर रहे चाहे न रहे, उनसे यह न कहा जाय कि आप इस प्रतिकूलताको बदलिये ।”

श्रीभाईजीके २६ फरवरीके उपर्युक्त स्पष्टीकरणके बाद गोरखपुरसे बाहर जाकर ऑपरेशन करानेकी बात समाप्त हो गयी थी । पर बाहरसे डाक्टर बुलाकर परामर्श करनेका आग्रह सब ओरसे चल ही रहा था । ४ मार्चको एक कैसरके विशेषज्ञ महानुभावको बम्बईसे बुलानेकी चर्चा हुई । श्रीभाईजीको इस बातकी जानकारी हो गयी । वे घरवालोंसे बोले—“डाक्टरोंको बाहरसे क्यों बुला रहे हैं ? वे लोग बाहरसे आयेंगे, वही बात बतायेंगे जो यहाँके डाक्टर महानुभाव बतला रहे हैं । बाहरसे डाक्टरोंको बुलानेमें जो रुपया खर्च कर रहे हो, वह गरीबोंकी सेवामें खर्च करना चाहिये ।”

६ मार्चको दर्दका भीषण दौरा आया । कई तरहके इंजेक्शन देनेके बाद लगभग एक घंटेमें दर्द कुछ शान्त हुआ । डॉ० लाहिड़ी महोदय आजके दर्दकी भीषणताको देखकर बहुत ही चिन्तित एवं व्यथित हो रहे थे । घरवालों एवं स्वजनोंकी आँखें बरस रही थीं । श्रीभाईजी इस गम्भीरताको कम करनेके उद्देश्यसे बोले—



‘भगवान् कहते हैं’—

‘आमि तोमार कथा सुनिबो ना;

आमि तोमार कथा मानिबो ना;

आमि यथेच्छाचारी,

जा इच्छाहोवे करिबो;

तातेइ तोमार कल्याण।’

‘मैं तुम्हारी बात सुनूँगा नहीं, मैं तुम्हारी बात मानूँगा नहीं, मैं यथेच्छाचारी हूँ—जो मनमें आयेगा करूँगा और उलीमें तुम्हारा मङ्गल है। XXX भगवान् जो करते हैं, उसमें मङ्गल ही-मङ्गल है। XXX आपलोग प्यारसे, सद्भावसे, हितदृष्टिसे जो कर रहे हैं, करते रहिये। वह सफल नहीं हो रहा है तो क्या; आपकी भावनाके कारण वह मङ्गलमय है। भावना ही किसी कार्यको शुभ-अशुभ रूप देती है। यद्य भी किया जाय तो वह अशुभ भावनासे अमङ्गल हो सकता है। आपलोग रोगीका ऑपरेशन करते हैं, उसका अङ्ग काटते हैं; पर उसमें रोगीकी हित-भावना होनेसे आपकी वह क्रिया मङ्गलमयी होती है।’

X X X

७ मार्चको अपने परिवारके व्यक्तियोंके समक्ष श्रीभाई-जीने कहा—

‘जबसे मैंने होश सँभाला है, किसीका बुरा नहीं किया है न चाहा है। XXX सबमें भगवान्को देखनेका प्रयत्न किया है। इसमें कहीं सफल हुआ हूँ, कहीं असफल भी। XXX शत्रु तो मेरा कोई है ही नहीं। XXX शरीरमें कष्ट होनेसे मुझे उसकी अनुभूति होती है, पर मैं भीतरसे बहुत प्रसन्न हूँ।’

X X X

१० मार्चको रात्रिमें साढ़े ग्यारह बजे श्रीभाईजीका जी धबराने लगा। पासमें बैठी बच्ची राधाने कहा—‘नानाजी! आपका जी धबरा रहा है?’ श्रीभाईजीने कहा—‘हाँ, जी धबराता है, पर मेरा क्या लेता है।’ बच्चीने उत्तर दिया—‘नानाजी! आपका जी धबराना देखकर हमलोगोंका तो जी धबराता है।’ श्रीभाईजी पुनः बोले—‘न जीनेका अर्थ है न मरनेका अर्थ है; सब व्यर्थ है। जो जीको अपना मानता है, उसका जी धबराता है। मैं जीको अपना नहीं मानता तो मेरा जी क्यों धबरायेगा?’

X X X

श्रीभाईजीकी अनुभूति थी कि भगवान्के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी कोई सत्ता नहीं है। उनकी यह अनुभूति ‘कल्याण’के जन्मसे पूर्वसे ही थी। अपनी इस मान्यतासे उन्होंने विक्रम-संवत् १९८०से पूर्व एक पदमें अभिषेक किया था, जो इस प्रकार है—

देख दुःखका वेष धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ।

जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ ॥

नाथ! छिपाओ तुम मुँह अपना, चाहे अति अंधियारेमें।

मैं लूँगा पहचान तुम्हें इक कोनेमें, जग सारेमें ॥

रोग-शोक धनहानि दुःख अपमान घोर अति, दारुण ह्वेना।

सबमें तुम, सबही तुममें, अथवा सब तुम्हारे ही देश ॥

तुम्हारे बिना नहीं कुछ भी जब तब मैं फिर किसलिये डरूँ।

भृत्य-साज सज यदि आओ तो चरण पकड़ सानन्द मल्ल।

दो दर्शन चाहे जैसा भी दुःखवेष धारणकर, नाथ।

वहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं पकड़ूँगा जोरोंके साथ ॥

इसके पश्चात् ‘कल्याण’के माध्यमसे तथा प्रवचनोंद्वारा अपनी इस अनुभूतिको उन्होंने सहस्रों बार दोहराया। जीवनके अन्तिम वर्षोंमें तो उनकी स्थिति विचित्र हो गई थी। उस समयकी उनकी अनुभूतिके विषयमें मुझसे कुछ प्रश्न प्राणी क्या लिखे। रोग बढ़ता जा रहा था एवं पोषण तत्त्व किसी भी रूपमें शरीरमें नहीं पहुँच पा रहा था। इससे उन्हें बोलनेमें कष्ट हो रहा था। ८ मार्चको अचानक उनके मनमें आया—अपनी इस अनुभूतिको लिखितरूपमें जगत्को दे जाऊँ। उन्होंने सर्वथा अशक्तिकी अवस्थामें काँपते हुए हाथोंसे कलम पकड़ी और छेटे-छेटे दो पद लिखे जो उनकी उस समयकी मनःस्थितिके सजीव चित्र हैं। जगत्के लिये उनके ये अन्तिम लिखित उपदेश हैं; पर दुःखकी बात है कि उन्होंने ये दोनों पद बँगला लिपिमें लिखे। शारीरिक भीषण अशक्ति एवं हाथ काँपनेके कारण उनके इन पदोंकी लिखावट अस्पष्ट है। बहुत प्रयत्न करनेपर भी अभीतक वे दोनों पद पूरे पढ़नेमें नहीं आये। उनका जितना अंश स्पष्ट हो पाया है, वह नीचे दिया जा रहा है—

अबकी बार व्याधि.....पीड़ा सज प्रिय तुम आये।

बीच-बीचमें स्वाँग बदलते रहते तुम मनमाये ॥

देख तुम्हारी इस आकृतिको घरवाले धरिये।

.....



संख्या ७

होंड शरीर तुम्हें पा नित मैं सानंद भोज समाऊँ ।  
..... मैं सुख-संग सिंघाऊँ ॥  
पर कैसे बच्चों, मित्रों, घरवालोंको समझाऊँ ।  
कैसे आशासन दूँ, कैसे उन्हें रहस्य बताऊँ ॥

× × ×  
मेरी करुण प्रार्थना सुनकर इन्हें तुम्हीं समझा दो ।  
..... सबको कुछ अपना मर्म जता दो ॥  
हो जायें ये निहाल जानकर गूढ़ रहस्य तुम्हारा ।  
मिट जायें तुरंत इनका भ्रम-शोक, मोह-दुख सारा ॥  
पा जायें ये तुमसे, प्यारे ! ज्ञान-प्रेम सुख-आलय ।  
सदा-सर्वदाको मिट जायें मायामय दुःखालय ॥  
तुमसे होता नहीं अमङ्गल कभी किसीका प्यारे ।  
करते नित मङ्गल ..... ॥  
भोक्त-भोग्य-भोग सब कुछ ही यहाँ बने हो तुम ही ।  
खेल-खिलौना बने ..... खेलते तुम ही ॥  
कभी ..... सब बन स्वयं नाचते-गाते ।  
कभी व्याधि ..... दुख शोक मोह सज पड़े सिसकते ॥  
लीलामय ! तुम नित मनमानी लीला करते रहते ।  
..... ॥  
क्यों वैसी रचना करते हो, मजा तुम्हें क्या आता ।  
होता कोई ..... तो इसे समझ कुछ पाता ॥

× × ×  
१३ मार्चको रात्रिमें डा० चक्रवर्तीसे बोले—‘आप जो  
कर रहे हैं, वह भगवान्की सेवा कर रहे हैं और भगवान्की  
सेवा करनेवालेको भगवान् ही मिलते हैं ।’ इसके पश्चात्  
परिवारवालों, स्वजनों एवं मित्रोंके प्यारकी बात कही तथा  
अपने जीवनके सम्बन्धमें उन्हीं बातोंको दोहराया, जो ७ मार्च-  
को उन्होंने कही थीं । उस दिन उनके कहनेमें सबको ऐसा  
लगा, जैसे वे सबसे बिदाई ले रहे हों । उनकी बातें सुननेपर  
सभीके नेत्र बरस पड़े । वातावरण अत्यन्त गम्भीर हो गया ।  
पर उपाय क्या था ?

१४ मार्चको सायंकालसे शरीरकी स्थिति गम्भीर होने  
लगी । रक्तचाप (ब्लडप्रेसर) बहुत कम हो गया; नाड़ी रुक-  
रुककर चलने लगी, हृदयकी ध्वनिमें परिवर्तन आ गया;  
श्वासकी गतिमें विकार आ गया । डाक्टर-वैद्योंकी रायमें  
श्रीभाईजीके लिये प्रभातका दर्शन कठिन था; पर इस गम्भीर  
स्थितिमें भी श्रीभाईजी निश्चिन्त थे, शान्त सस्थिर थे ।

रात्रिमें साढ़े बारह बजे जब डाक्टर चक्रवर्ती उनकी नाड़ी  
अनुभव करनेकी असफल चेष्टा कर रहे थे, श्रीभाईजीने बहुत  
ही मन्द स्वरमें धीरेसे कहा—‘विचार-शक्ति बिल्कुल ठीक  
है; स्मरण-शक्ति कभी ठीक रहती है, कभी नहीं । मुँहसे  
बोला नहीं जाता ।’ इतना कहकर उन्होंने अपने काँपते हुए  
दाहिने हाथको धीरेसे ऊपर किया और डाक्टर साहबसे  
इशारेमें पूछा—‘आपने भोजन किया कि नहीं ? जहाँ घड़ी-  
पल गिने जा रहे थे, वहाँ श्रीभाईजीको डाक्टर साहबके  
भोजनकी चिन्ता बनी थी ! यह है उनकी वास्तविक स्थितिकी  
एक झलक ।

× × ×  
भगवान्के विधानसे शरीरको अभी एक सप्ताह और रहना  
था । दूसरे दिन प्रातःकाल स्थितिमें सुधार हो गया । नाड़ी  
पुनः अपने स्थानपर आ गयी, श्वासकी गति स्वाभाविक हो  
गयी; पर यह स्थिति २४ घंटे बाद पुनः परिवर्तित होने  
लगी । २-३ दिन बाद तो कई भीषण उपद्रव बढ़ गये;  
पर शरीरकी उस सर्वथा लाजवारीकी अवस्थामें तथा भीषण  
कष्टमें भी श्रीभाईजीके मुखपर, आँखोंमें वही प्रसन्नता, वही  
गम्भीरता, वही स्थिरता, वही निश्चिन्तता, वही प्यार झलक  
रहा था । उनकी विचार-शक्ति पूर्णरूपसे ठीक थी तथा वे  
अपने मनको अपने इष्टमें स्थिर किये हुए थे । जब पीड़ा  
अधिक होती, तब उनके मुखसे ‘राम राम’ या ‘नारायण-  
नारायण’ नामका उच्चारण होता था । श्रीभाईजीकी श्री-  
भगवान्के नामपर सबसे अधिक निष्ठा थी । एक बार  
उन्होंने ऋषिकेशके सत्सङ्गमें कहा था—‘मैं भगवान्के  
नामके जपपर जोर क्यों देता हूँ ? इसका कारण यही है कि  
मैंने जीवन भर यही किया है । जो कुछ भी अच्छी बात  
जीवनमें आयी है, वह नाम-जप एवं भगवत्कृपाके प्रतापसे ।  
पारमार्थिक जीवनका प्रारम्भ नाम-जपसे हुआ और जीवनमें  
साधना भी इसीकी हुई । मैं नाम-सहिमाको अर्थवाद नहीं  
मानता । मैंने नाम-जपसे बहुत-बहुत बड़े कार्य सफल होते  
देखे हैं और स्वयं मेरे जीवनमें हुए हैं । नामकी जो सहिमा  
कही जाती है, वह सत्य है और अनुभवकी वस्तु है । अतः  
इसे बलपूर्वक कहनेमें कोई संकोच नहीं ।’  
श्रीभगवान्नामकी इस निष्ठाका वे अन्तिम श्वासतक  
निर्वाह करते रहे । २० मार्चकी रात्रिकी बात है—श्रीभाईजी-  
के नीचेके होंठ हिल रहे थे, मानो उनमें कम्पन हो रहा



हो । डा० चक्रवर्ती महोदयके मनमें आया कि मुँहमें दाँत न होनेसे होंठ काँप रहा है । यदि इस प्रकार बराबर होंठमें कम्पन होता रहा तो दुर्बलता बढ़ती जायगी । वे श्रीभाईजीके समीप बैठकर बोले—‘भाईजी ! आपका होंठ काँप रहा है; दाँत लगा दिये जायँ, जिससे काँपना बंद हो जाय । कम्पन दुर्बलता बढ़ायेगा ।’ डा० साहबकी प्यार-भरी सलाहसे श्रीभाईजीका हृदय भर आया और उन्होंने अपनी वास्तविक बात उन्हें बतला दी । बोले—‘जप करछि’—‘जप कर रहा हूँ ।’ यह वह स्थिति थी कि जब शरीरका प्रत्येक कोष ( Cell ) पानीकी एक-एक बूँदके लिये तरस रहा था; मुँहमें ‘थ्रश’ ( Thrush—एक रोग-विशेष, जिसमें जीभ, मसूड़ों एवं गलेमें घाव हो जाते हैं, उनपर सफेद पपड़ी आ जाती है ) के कारण ड्रॉपसे बूँद-बूँद करके पानी जीभपर डाला जा रहा था और उसके ६ दिन पहलेसे नसद्वारा रक्तोस आदि नहीं जा पा रहा था—अर्थात् ट्रांस्यूजन ( Transfusion ) भी बंद था ।

विधिका विधान ! २१ तारीखके दोपहरमें कलाईके समीपसे नाड़ी लुप्त हो गयी; रक्तचाप बहुत कम हो गया, श्वास-कष्ट बढ़ गया तथा पेटमें भीषण दर्दका दौरा आ गया । इंजेक्शन दिये गये, पर दर्द कम नहीं हुआ । धीरे-धीरे नाड़ीने कोहनीका स्थान भी छोड़ दिया, पर श्रीभाईजीकी विचारशक्ति वैसी ही बनी हुई थी । सभी डाक्टर-वैद्य आश्चर्य-चकित थे । रात्रिमें लगभग ११ बजे ( अर्थात् शरीर छूटनेके ९ घंटे पूर्व ) जब डाक्टर चक्रवर्ती एवं डाक्टर शर्मा महोदय श्रीभाईजीको देख रहे थे, तब श्रीभाईजीने साहस करके अपना

दाहिना हाथ काँपते-काँपते थोड़ा-सा उठाया और दाँत करके पूछा—‘आपलोगोंने भोजन किया है कि नहीं ?’ श्रीभाईजीकी इस प्यारभरी सँभालने डाक्टरोंने हँसकर मथ दिया और उनके नेत्रोंसे आँसू बरस पड़े । अब जब डाक्टर महानुभाव इस प्रसङ्गको स्मरण करते हैं तो अधीर हो जाते हैं ।

X

X

X

जैसे-तैसे २२ तारीखका प्रातःकाल हुआ । सब ध्यान अनुभव किया, अब शरीरके अवसानका समय आ चुका है । उन्होंने श्रीभाईजीसे बड़े ही दैन्य एवं करुण प्रार्थना की । श्रीभाईजी शान्तचित्तसे सबकी प्रार्थना सुन रहे और अन्तमें उन्होंने अपने काँपते हुए दोनों हाथ उठाये और उन्हें मिला लिया—सबसे बिदाई ले ली । इससे दो दस मिनट पश्चात् एक हिचकी आयी, मुँहसे रक्त निकल निकला और श्रीभाईजी चिरनिद्रामें सो गये—भगवान्की नित्यलीलामें लीन हो गये । उनका दाहिना आशीर्वादकी मुद्रामें ऊपर उठा हुआ था तथा नेत्रोंमें प्यार, वही वात्सल्य, वही करुणा भरी थी । ऐसा लगता था—जाते-जाते वे सबपर अपने आशीर्वाद एवं प्यार वर्षा कर रहे हैं !

X

X

X

यह है श्रीभाईजीका अन्तिम उपदेश अपने शरीर एवं वाणीद्वारा । हम उनके इस उपदेशको मनोयोगपूर्वक पढ़ें, समझें एवं उसके अनुसार अपने जीवन बनायें । हरिः ॐ तत्सत् !! [ संग्रहकर्ता—कृष्णचन्द्र अग्रवाल ]

## सर्वत्र भगवदनुभूति

दुःख-सुख सारे, हर्ष-विषाद । मान अपमान, शोक-आह्लाद ॥  
अमरता-मरण, ज्ञान-अज्ञान । नरक अति घोर, परम कल्याण ॥  
सभीमें भरे तुम्हीं, भगवान् ! सभी करते तब लीला-गान ॥  
दृश्य, द्रष्टा, दर्शनके भेद । सभी तुममें, तुम सदा अभेद ॥  
इसीसे नित्य शान्त आनन्द । हृदयमें बसे नित्य स्वच्छन्द ॥  
दीखता मधुर तुम्हारा रूप । सदा सर्वत्र पवित्र अनूप ॥  
मिट गया सारा ममता-मोह । छा रहे चिदानन्द-संदोह ॥  
हुआ संकल्प-तमोका नाश । छा गया चारों ओर प्रकाश ॥

—श्रीभाईजी



# एक दृष्टिकोण

## [ गर्भपात-कानून या हत्याको मान्यता ? ]

( लेखक—श्रीसिद्धराजजी डड्डा )

२७ मई १९७१ को राज्यसभाने गर्भपातके सम्बन्धमें एक 'बिल' स्वीकृत किया है। यह बिल जल्दी ही अथ लोकसभाकी स्वीकृतिके लिये पेश होनेवाला है। जिस रूपमें यह कानून राज्यसभामें स्वीकृत हुआ है, उसका असर व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनपर बहुत दूरगामी होगा, अतः इस प्रश्नपर गम्भीरतासे विचार करनेकी आवश्यकता है।

गर्भवती स्त्रीका जीवन बचानेके सिवा किसी भी दूसरे कारणसे गर्भपात करना या कराना यह उस स्त्री तथा गर्भपात करनेवाले दोनोंके लिये भारतके मौजूदा कानूनमें ( इंडियन पिनल कोड, धारा ३१२ ) में जुर्म माना गया है। इसी प्रकारके या इससे भी सख्त कानून दुनियाके दूसरे देशोंमें भी थे, अथवा हैं।

एकका जीवन बचानेके लिये दूसरेका जीवन लेना कुछ संयोगमें अपराध नहीं माना जाता है, पर इसके अलावा किसी भी मानव-प्राणीकी हत्या सामाजिक और नैतिक, दोनों दृष्टिसे अपराध है। गर्भपात या भ्रूणहत्या भी उसी श्रेणीमें है। इसके अतिरिक्त, गर्भपातके परिणाम केवल सम्बन्धित व्यक्तित्व सीमित नहीं रहते हैं, उसके सामाजिक परिणाम भी बहुत व्यापक और विशेष महत्त्वके हैं। इसे ध्यानमें रखकर ही भारतीय समाजशास्त्रियोंने भ्रूणहत्याकी गिनती महापातकोंमें की है।

आजकी दुनियामें प्रगतिशीलताके नामपर स्वच्छन्द व्यवहारकी ओर झुकाव बढ़ रहा है और कई देशोंमें भ्रूणहत्यासे सम्बन्धित कानूनोंको ढीला किया जा रहा है। भारत सरकार जो कानून अब बना रही है, उसकी मुख्य बातें नीचे लिखे अनुसार हैं—

१—इस कानूनमें बताये गये संयोगों और कारणोंसे गर्भपात किया जाय तो वह अपराध नहीं माना जायगा।

२—गर्भाधान हुए १२ हफ्तेसे अधिक समय नहीं हुआ हो तो कोई भी रजिस्टर्ड चिकित्सक ( मेडिकल प्रेक्टिशनर ) और १२ हफ्तेसे अधिक, लेकिन २० हफ्तेसे अधिक समय न

हुआ हो तो कोई भी दो रजिस्टर्ड चिकित्सक, प्रामाणिकतासे ( इन गुड फेथ ) इस रायके हों कि गर्भाधान चालू रहने देनेमें गर्भवती स्त्रीके जीवनको खतरा है अथवा उसके शारीरिक या मानसिक स्वास्थ्यको हानि होनेका खतरा है, अथवा जन्म लेनेपर संतानको ऐसी शारीरिक या मानसिक विकृति होनेका खतरा है, जिससे वह विकलाङ्ग ( हैंडिकैप्ड ) रह जायेगा तो गर्भाधानका अन्त किया जा सकता है।

### स्पष्टीकरण

क—कोई गर्भवती स्त्री यह कहे कि गर्भाधान बलात्कारसे हुआ है तो ऐसे गर्भाधानसे उत्पन्न परितापसे स्त्रीके मानसिक स्वास्थ्यको गम्भीर हानि होना सम्भव है—ऐसा मान लेना चाहिये।

ख—संतानकी संख्या मर्यादित करनेके लिये कोई विवाहित स्त्री या उसका पति कृत्रिम उपाय काममें ले और वह निष्फल होनेसे गर्भाधान हो जाय, तो इस प्रकार अनिच्छासे हुए गर्भाधानसे परिताप पैदा होगा, जिससे स्त्रीके मानसिक स्वास्थ्यको गम्भीर हानि सम्भव है, ऐसा मान लेना चाहिये।

३—गर्भाधान चालू रहने देनेमें स्वास्थ्यको हानि होनेका खतरा है या नहीं। यह तय करनेमें गर्भवती स्त्रीके आस-पासके ( मौजूदा तथा निकट भविष्यमें होनेवाले ) वातावरणको ध्यानमें लाया जा सकेगा।

४—सरकारी अस्पताल या सरकारद्वारा स्वीकृत स्थानके सिवा अन्य किसी स्थानपर गर्भाधानका अन्त नहीं लाया जा सकेगा।

५—ऊपर बताये गये अनुसार गर्भपातके लिये समय-मर्यादा, स्थान-मर्यादा और दो डाक्टरोंकी सम्मति आदिकी मर्यादा बाँधनेमें आयी है। लेकिन कोई रजिस्टर्ड चिकित्सक प्रामाणिकतासे ऐसा मत रखे कि गर्भवती स्त्रीकी जिंदगी बचाने अथवा उसके शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्यकी गम्भीर एवं स्थायी हानि होनेसे रोकनेके लिये तत्काल गर्भाधानका



अन्त करना जरूरी है, तो वह उपर्युक्त मर्यादाओंका पालन न करते हुए भी वैसा कर सकेगा ।

६—इस कानूनके अनुसार कोई रजिस्टर्ड चिकित्सक प्रामाणिकताके साथ या वैसे इरादेसे गर्भाधानका अन्त करे और उससे कुछ हानि या हानि होनेकी सम्भावना हो तो उसके खिलाफ अदालतमें कोई कार्यवाही नहीं की जा सकेगी ।

उपर्युक्त बातोंसे यह स्पष्ट हो जायगा कि कानूनकी दृष्टिसे अब गर्भपातकी कार्यवाहीको इतना आसान और ढीला बनाया जा रहा है कि उसके लिये कोई खास रुकावट नहीं रह जायगी । इतनी ढिलाई बहुत कम देशोंमें हुई है । स्त्री गर्भपातकी इच्छा जाहिर करे और डाक्टर उसमें सहमत हो तो दोनोंके लिये मार्ग खुला है । डाक्टरके लिये तो यह कमाईका साधन है, इसलिये सहमत होना उसके तो हितमें ही है । कानूनमें लगभग सारी जिम्मेदारी और अधिकार डाक्टरके हाथमें दिये गये हैं । कानूनमें प्रामाणिकता ( गुड फेथ ) पर जगह-जगह जोर दिया गया है, लेकिन डाक्टरने प्रामाणिकतासे काम नहीं किया, यह यों भी साबित करना लगभग असम्भव है, पर प्रस्तावित कानूनमें इतने छिद्र हैं और इतनी बचतें रखी गयी हैं कि इस बारेमें डाक्टरको कोई खतरा नहीं है ।

मौजूदा कानूनमें स्त्रीकी प्राणरक्षाको ही गर्भपातके लिये जायज कारण माना गया है, लेकिन नये कानूनमें प्राणरक्षाके अलावा स्त्रीके शारीरिक या मानसिक स्वास्थ्यको हानि होनेका खतरा भी गर्भपातके लिये एक कारण माना गया है । यहाँतक भी गनीमत थी, लेकिन गर्भाधान चालू रहनेसे स्त्रीको शारीरिक अथवा मानसिक हानिका खतरा था या नहीं । इस बारेमें आगे जाकर कोई सवाल खड़ा न हो और कानूनकी पकड़ करीब-करीब न रहे, इस दृष्टिसे इसी कानूनमें यह पहलेसे ही तय कर दिया गया है कि किन परिस्थितियोंमें यह मान ही लिया जाना चाहिये कि गर्भवती स्त्रीके मानसिक स्वास्थ्यको गम्भीर हानि होगी । ( देखिये ऊपर स्पष्टीकरण 'क' और 'ख' ) इस प्रकार कानूनमें डाली हुई मर्यादाओंका बहुत अर्थ नहीं रह जाता ।

स्पष्टीकरण 'ख' कितना व्यापक है, वह थोड़ेसे विचारसे समझमें आ जायगा । गर्भाधान रोकनेका कृत्रिम उपाय किया गया है या नहीं और करनेपर भी वह असफल हुआ,

यह तो सम्बन्धित स्त्री या पुरुष ही कह सकता है, डाक्टर कैसे जाने ? डाक्टरको तो जो वह कहेंगे, वह मानना होगा और कृत्रिम उपाय करनेके बावजूद गर्भाधान होता है तो उससे स्त्रीको इतना ज्यादा मानसिक परित्याप होगा कि गर्भपात जरूरी है—यह विधान तो आश्चर्यजनक है । इन्हीं ऐसी कोई मर्यादा भी नहीं है कि दो-तीन संतान हो चुकी हों और फिर ऐसे उपाय निष्फल जायें तो गर्भपात करना । प्रथम गर्भाधानमें भी गर्भपात किया जा सकता है । इसके लिये स्त्रीकी जिंदगीको खतरा अथवा शारीरिक हानिकी सम्भावना हो यह भी जरूरी नहीं है । केवल इतना काफी है कि संतान नहीं चाहिये, उसके लिये कृत्रिम उपाय किये, लेकिन वह निष्फल गये, इसलिये गर्भपात करना है । इससे अधिक स्वच्छन्द व्यवहारकी कल्पना करना मुश्किल है ।

ऊपर दी गयी कानूनकी व्याख्याके पैरा नं० ३ में गर्भवती स्त्रीके 'आस-पासके ( सामाजिक, आर्थिक ) वातावरण'का जिक्र है और वह भी केवल मौजूदा वातावरणका नहीं, बल्कि नजदीकी भविष्यमें हो सकनेवाले वातावरणका यह एक ऐसा विधान है कि जिससे गर्भपात चाहनेवाली स्त्रीको अथवा करानेवालेको पूरी छूट मिलती है ।

इस नये कानूनके लिये कारण यह दिया जाता है कि मौजूदा कानून सख्त होनेसे बहुत बड़ी संख्यामें गर्भपातका काम छिपे-चोरी "नीम हकीम" लोगोंके जरिये होता है, जिसकी वजहसे स्त्रीको शारीरिक हानि और जानकी जोखिम रहती है । नये कानूनके लिये लोगोंका समर्थन प्राप्त करनेकी दृष्टिसे भारत सरकारकी ओरसे जो प्रचार किया जा रहा है, जिससे लोगोंकी दयाभावनाको उभारा जा सके और दूसरी ओर छिपे-चोरी, गंदे-संदे वातावरणमें, मन-चाहा पैसा एंठनेकी दृष्टिसे गर्भपात करानेवाली अवकचरी दाइयों या डाक्टरोंकी राक्षसी प्रतिमा खड़ी की जाती है, जिससे लोगोंको यह लगे कि सरकार शोषक और हृदयहीन लोगोंसे बचावके लिये ही यह कानून बना रही है ।

स्वास्थ्य और परिवार-नियोजन-विभागके केन्द्रीय राज्यमन्त्री श्री डी० पी० चट्टोपाध्यायने अंग्रेजी पाक्षिक "दी स्टेट्स" के दिनांक २१ जून, १९७१ के अंकमें कहा है कि राज्यसभाने जो बिल पास किया, वह "पिनलकोडकी कुछ शर्तोंको ढीला करनेके अलावा और कुछ नहीं करता ।"



पर कानूनकी जो धाराएँ उनपर दी गयी हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि श्रीचिट्टोपाध्यायका यह कथन सरासर झूठ है। उनपरसे यह साफ जाहिर है कि प्रस्तावित कानूनका उद्देश्य सिर्फ मौजूदा कानूनकी सख्तीको ढीला करने या स्त्रियोंकी प्राणरक्षा अथवा उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यकी रक्षाका नहीं है, बल्कि उसका असली मकसद जन-संख्या-वृद्धिको रोकनेके लिये गर्भपातका सहारा लेना है। संतति न होनेके लिये कृत्रिम उपाय किया जाय, यह समझमें आ सकता है; लेकिन उसके लिये भ्रूणहत्या करना भी जायज है, यह खतरनाक विधान है और गम्भीरतापूर्वक सोचनेकी बात है। आज परिवार-नियोजनके लिये कृत्रिम उपायोंका व्यापक प्रचार हो रहा है। उसके साथ-साथ अब भ्रूणहत्याका भी प्रचार होगा और उसकी योजनाका भी !

स्त्रीको शारीरिक और मानसिक हानिसे बचानेके लिये, उसके जानकी जोखिम कम करनेके लिये गर्भपात जरूरी है—ऐसी बात कही जाती है; लेकिन स्वयं गर्भपातसे भी कितनी शारीरिक और मानसिक हानि होती है, इसके बारेमें कुछ नहीं कहा जाता। निष्पक्ष डाक्टरोंका कहना है कि—

“अगर गर्भके कारण मानसिक दुष्परिणाम हो सकता है तो वह गर्भपातसे भी हो सकता है। ऐसी स्त्रियाँ बहुत कम होती हैं, भले ही वे अनचाहे हुए गर्भाधानसे कितना

भी मुक्त होना चाहती हों, जिनको गर्भपातके बाद पश्चात्ताप नहीं होता। यह प्रतिक्रिया मातृत्वकी स्वाभाविक भावना अथवा वृत्तिके कारण होती है। अगर वास्तवमें स्त्रीको यह भरोसा हो कि गर्भपात उसकी जानको बचानेके लिये जरूरी था, तब तो शायद यह प्रतिक्रिया कुछ नरम पड़ जाती है; लेकिन अगर गर्भपात तुच्छ, तात्कालिक भावनावश किया गया हो तो स्त्री फिर जीवनभर अपने इस अपराधकी भावनासे दुःख पाती रहती है।

गर्भपातका यह विधान वास्तवमें लाखों निरीह एवं निस्सहाय बच्चोंकी—ऐसे प्राणियोंकी जो मुकाबला नहीं कर सकते—हत्याको मान्यता देनेके समान है। इसका सामाजिक और नैतिक पहलू और भी अधिक गम्भीरतासे विचार करने लायक है। अपने अहंकारमें मनुष्य यह मान लेता है कि उसके खुदके तात्कालिक सुख अथवा स्वेच्छाचारके लिये लाखों निस्सहाय प्राणियोंकी हत्या करना भी जायज है। हजारों वर्षोंकी साधना और प्रयत्नसे साधे गये जीवनके पवित्र मूल्य ( सैक्रेटी ) को तुच्छ स्वार्थके लिये नष्ट करनेकी कोशिश की जा रही है। खासकर स्त्रियोंके ध्यानमें यह आना चाहिये कि यह उनको केवल भोगोंका साधन बनानेकी और उनके स्त्रीत्व और मातृत्वको नष्ट करनेकी योजना है।\* ( ‘सर्वोदय प्रेस सर्विस’के सौजन्यसे )

\* हमारे शास्त्रों एवं संत-महात्माओंने मनुष्य-जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बताया है। गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने रामचरितमानसमें कहा है—

‘कवहुँक करि करुना नर देही।

देत ईस त्रिनु हेतु सनेही’ ॥

( उत्तरकाण्ड )

‘यह जीव जब कर्मवश चौरासी लाख योनियोंमें भटकता-भटकता थक जाता है, तब उसके अकारण स्नेही भगवान् उसपर कृपा करके उसे मनुष्य-शरीर देते हैं।’ उसी प्रसङ्गमें गोस्वामीजीने उसे ‘भव वारिधि कहुँ बेरो’—संसार-समुद्रको पार करनेके लिये

जहाजके समान बताया है। अनादिकालसे जन्म-मृत्युके प्रवाहमें बहता हुआ जीव मनुष्य-जन्ममें ही उसके पार जा सकता है। कारण देव-पितर आदि ऊपरकी योनियाँ और पशु-पक्षी आदि अधम योनियाँ तो केवल भोग-योनियाँ हैं। ऊपरकी योनियोंमें भोगोंका बाहुल्य एवं नीचेकी योनियोंमें दुःखकी प्रचलता होनेसे उन-उन जीवोंकी बुद्धि कुण्ठित रहती है और वे अपने कल्याणकी बात सोच ही नहीं सकते। केवल मनुष्य ही ऐसा जीव है, जो संसारके भोगोंको दुःखयोनि समझकर उनकी ओरसे मनको हटाने एवं अपने वास्तविक स्वरूपको पहचाननेकी योग्यता रखता है।



हमारी अहिंसा-प्रधान संस्कृतिमें तो जीवमात्रको अवध्य बताया गया है। हमारे वेद पुकारकर कहते हैं—‘मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि—किसी भी जीवकी हिंसा न करो।’ फिर भ्रूणहत्याको तो बाल-हत्याके समान अक्षम्य बताया गया है। पुनर्जन्मके सिद्धान्तके अनुसार न जाने कैसी महान् आत्मा किसी जननीकी कूखमें आती है—कोई दिव्यदृष्टिसम्पन्न महापुरुष ही इस बातको जान सकते हैं। भागवतमें कथा आती है कि देव-शत्रु प्रबल-पराक्रमी दैत्यराज हिरण्यकशिपुके तपस्याके लिये अपनी राजधानीसे बाहर चले जानेपर अवसर पाकर देवराज इन्द्र उनकी पत्नी कयाधूको चुराकर ले जा रहे थे—इस अभिसंधिसे कि ‘इसके गर्भमें देवद्रोही हिरण्यकशिपुका अत्यन्त प्रभावशाली वीर्य है, उसके गर्भसे बाहर आनेपर उसे मैं मार दूँगा।’ देवर्षि नारद त्रिकालदर्शी ही नहीं, सबके मनकी जाननेवाले हैं। उन्हें इन्द्रकी दुरभिसंधि एवं कुकृत्यका पता चल गया। वे तत्क्षण इन्द्रके पास जा पहुँचे और उन्होंने इन्द्रको समझाया कि ‘इस दैत्यपत्नीके गर्भमें भगवान्‌का परम भक्त, अत्यन्त बली एवं निष्पाप महात्मा है। तुममें उसे मारनेकी शक्ति नहीं है। अतः इसे तुम छोड़ दो।’ देवर्षि नारद जगत्पूज्य हैं। उनकी बातको इन्द्र टाल नहीं सके। देवर्षि नारद कयाधूको अपने यहाँ ले गये और उसे हिरण्यकशिपुके तपस्यासे लौटनेतक अपने आश्रममें रक्खा। इस बीचमें उन्होंने उसे भागवतधर्मका रहस्य समझाया और विशुद्ध ज्ञानका उपदेश दिया। समय बीत जानेपर कयाधू तो उस उपदेशको भूल गयी, किंतु उसके गर्भमें स्थित भागवतरत्न प्रह्लादने अपनी प्रबुद्ध चेतनाके बलसे उस उपदेशको ग्रहण किया और उसके फलस्वरूप उन्हें वह दुर्लभ भक्ति प्राप्त हुई, जिसके प्रभावसे आततायी हिरण्यकशिपु उनका कुछ भी न बिगाड़ सका। उसकी दारुण यातनाएँ उनका बाल भी बाँका न कर सकीं और

अन्ततोगत्वा उन्होंने सर्वव्यापी भगवान्‌को खेममेंसे प्रकट करके जगत्‌को दिखा दिया कि भगवान् अणु-अणुमें व्याप्त हैं। वे भक्तके प्रीतिवश पत्थर-जैसी जड़ वस्तुमें भी प्रकट हो सकते हैं। हमारी मूर्तिपूजाका यही रहस्य है।

सारांश यह कि गर्भस्थ जीवका जीवन भूमिष्ठ जीवकी अपेक्षा कम मूल्यवान् नहीं है; कारण उसके अंदर वही आत्मा है, जो बालक, युवा एवं वृद्धके अंदर स्थित रहती है। अंग्रेजीमें एक लोकोक्ति है—“Child is the father of man”—जिसका भाव यह है कि बालक ही आगे चलकर प्रौढ़ बनता है। इसी प्रकार हम यह कह सकते हैं कि गर्भस्थ मानव ही आगे चलकर प्रौढ़ मानवके रूपमें परिवर्तित होता है। इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें भ्रूणहत्याको बहुत बड़ा पाप माना गया है। इन सब बातोंको देखते हुए हमारी सरकार गर्भपात-कानूनमें जो परिवर्तन करने जा रही है, वह कितना अनर्थकारी और हमारी आर्य-संस्कृतिके ही नहीं मानवताके प्रतिकूल होगा, इसे कोई भी समझ सकता है। अतः सभी विचारशील नगरियोंका कर्तव्य है कि वे इस नये कानूनका तीव्र विरोध करें—जगह-जगह सभा करके प्रस्ताव पारित करें तथा राष्ट्रपति एवं प्रधान मन्त्रीके नाम अधिकाधिक संख्यामें तार दें कि वे गर्भपातको कानूनकी मान्यता दिलानेका जो घातक प्रयास कर रहे हैं, वह सर्वथा निन्दनीय है। अतः इसके सम्बन्धमें जो विधेयक राज्यसभाके द्वारा स्वीकृत हो चुका है, उसे लोकसभामें कदापि न रखा जाय, कानूनका रूप तो उसे कदापि दिया ही न जाय। जनताको चाहिये कि वह लोकसभामें चुने हुए अपने प्रतिनिधियोंको भी बाध्य करे कि वे इस विधेयकको कभी पारित न होने दें।

—सम्पादक



# पढ़ो, समझो और करो

( १ )

## पवित्रताका ध्यान

परम श्रेष्ठ ब्रह्मलीन श्रीसेठजी श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी खान-पानकी पवित्रता एवं निष्ठा प्रसिद्ध है। वे खान-पानमें वस्तुकी पवित्रता एवं जिनके माध्यमसे वह वस्तु प्राप्त होती है उन व्यक्तियों एवं पात्रोंकी शुद्धिपर बड़ा ध्यान रखते थे। अपनी इस निष्ठाके निर्वाहके लिये वे चाहे जहाँका जल एवं भोजन स्वीकार नहीं करते थे, फिर चाहे वह भगवत्प्रसाद ही क्यों न हो। कई बार ऐसे प्रसङ्ग उपस्थित हो जाते थे, जहाँ प्रसादकी मर्यादा तथा आपसी व्यवहारका निर्वाह करना पड़ता था, वहाँ वे अपनी व्यवहार-कुशलतासे प्रसादकी मर्यादाका निर्वाह करते हुए—बिना किसीका चित्त दुखाये अपनी आचार-निष्ठाको अभ्युष्ण रखते थे। उनके जीवनमें ऐसे अगणित प्रसङ्ग हैं। पूज्य श्रीस्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी महाराजने कृपापूर्वक ऐसे दो प्रसङ्ग हमें लिखकर भेजे हैं, उन्हें हम नीचे दे रहे हैं—

( क )

सन् १९३८ के लगभग गीताप्रेसकी ओरसे एक तीर्थ-यात्रा स्पेशल ट्रेन निकली थी। उस यात्रामें लगभग तीन महीनेतक सेठजीके सम्पर्कमें रहना हुआ और उनके व्यवहार-पाठ्य एवं खान-पानकी पवित्रताकी निष्ठाके कई उदाहरण देखनेको मिले। हमलोग भावनगरका राजमहल देखनेके लिये गये। वहाँ राजा तो थे नहीं, परन्तु स्वागत-सत्कारका प्रबन्ध था। कार्यकर्त्ताओंने सेठजीसे आग्रह किया कुछ खाने-पीनेके लिये। सेठजी उत्तर देते थे—‘मैं अभी भोजन करके आया हूँ, भूख नहीं है।’ अन्ततः वे लोग जल पीनेके अनुरोधपर अड़ गये। सेठजीका उत्तर वही था—‘भूख नहीं है।’ हमलोग वहाँसे लौटे तो अवसर मिलनेपर मैंने सेठजीसे पूछा—‘वे लोग कहते थे जल पीनेको और आप मना करते थे खानेको। इसका क्या अर्थ है?’ सेठजीने बतलाया—‘प्यास लगी थी, वहाँका पानी पीना नहीं था तो मैं यह कैसे कह देता कि प्यास नहीं है।’ वे सामान्यतः कहीं ऐसा-वैसा जल नहीं पिया करते थे। वे अपने वाक्कुशलसे बिना वहाँके लोगोंका चित्त दुखाये बच आये।

( ख )

एक घटना और है—ब्रजभूमिके एक प्रतिष्ठित मन्दिरमें मैं उनके साथ ही गया था। सेवा-अधिकारीने मन्दिरसे बाहर निकलकर बड़े प्रेमसे भगवान्का चरणामृत दिया। मैंने बड़े प्रेमसे उसे पी लिया। परन्तु मैंने सावधानीसे देखा—सेठजीने अपना हाथ मुँहके ऊपरसे ले जाकर चरणामृत सिरपर डाल

लिया। बादमें मेरे पूछनेपर उन्होंने कहा—‘पता नहीं कैसे जलसे, क्या-क्या डालकर, कदसे चरणामृत रखा होगा। इसको बिना जाने समझे कैसे मुँहमें डाल लूँ?’ इस प्रकार चरणामृतको सिरपर डालकर श्रीसेठजीने अपनी खान-पान-सम्बन्धी नियम-निष्ठाका एवं चरणामृतकी मर्यादाका निर्वाह किया।

( २ )

## एक आदर्श राष्ट्रपति

[ स्विजरलैंडकी गणना परम सभ्य तथा समृद्ध देशोंमें है। इसका क्षेत्रफल १६ हजार वर्गमील है और वह २२ राज्योंमें विभक्त है। घड़ियोंके निर्यात तथा सैर-सपायोंके लिये तो यह परम प्रसिद्ध है। इसमें तीन बड़ी नदियोंका प्रवाह है और इसका ३१ हजार वर्गमीलका क्षेत्र प्रायः पर्वतीय है। इसमें जर्मन, फ्रेंच तथा इटालियन—तीन भाषाएँ बोली जाती हैं। यह प्रतिवर्ष ५ अरबके सिल्क (रेशमी कपड़े), घड़ियों तथा कसीदेकी सामग्रीका निर्यात करता है। यहाँ झीलें बहुत हैं। न्यू चैटेल झीलका क्षेत्र तो १०० वर्गमीलके लगभग है।\* ]

अभी कुछ मास पूर्व भिक्षु श्रीचमनलालजी वहाँ गये थे। उनकी वहाँ राष्ट्रपतिके ही कार्यालयमें एक अधिकारीसे राष्ट्रपतिके विषयमें कुछ बातें हुई थीं। इसका विवरण ‘Shooting Star’ पत्रिकाके मई १९७१के अङ्कमें प्रकाशित हुआ था, जिसे कलकत्तेके साप्ताहिक पत्र ‘Truth’ ने भी अपने १६ जुलाई १९७१के अङ्कमें ज्यों-का-त्यों प्रकाशित किया है। यहाँ उनके प्रश्नोत्तरका अविकल अनुवाद दिया जा रहा है। ]

\* The Swiss Confederation consists of 22 cantons (states) with a republican and federal constitution, each canton consisting of several small districts. It consists of three great river valleys (Rhones, Rhine and Aar). The lakes are very numerous. Switzerland exports several things, viz, watches, machines, silk cloths etc. It exported embroideries, silk cloths and watches of about 40 crore francs each in year 1920, and the present export is of about 50 crore francs each (Encyclopedia Britannica—Volume XXI, pp. 665—88, Edition 1947).



मैं कुछ ही दिन हुए स्विजरलैंडसे लौटा हूँ, जहाँ मैं अपनी पुस्तक 'Switzerland shows the way' (स्विजरलैंड—मार्गदर्शकके रूपमें) नया संस्करण तैयार करनेके लिये गया था। वहाँ बर्न (Bern) में मैं राष्ट्रपतिके कार्यालयमें एक ऐसे अधिकारीसे मिला, जो उनके साथ दस वर्षतक काम कर चुका था। उसके साथ मेरी जो बात-चीत हुई, उसे मैं शब्दशः प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्रश्न—आपके राष्ट्रपतिका प्रासाद कहाँ है ?

उत्तर—हमारे राष्ट्रपतिके लिये कोई प्रासाद नहीं है, उद्यान-युक्त कोई आवास भी नहीं। वे किराया देकर एक वासकक्ष (Flat) में रहते हैं।

प्रश्न—उनके सेवकोंकी संख्या कितनी है ?

उत्तर—स्विजरलैंडमें कितने सेवकोंका प्रश्न ही नहीं है, एकका होना ही एक वरदान है; किंतु राष्ट्रपतिके घर तो दिनमें बँधे समयके लिये एक दासी भर उनकी पत्नीकी सहायताके लिये आती है। उनकी पत्नी स्वयं एक प्राध्यापिका हैं।

प्रश्न—तब राष्ट्रपति अपने अतिथियोंको कहाँ ठहराते हैं ?

उत्तर—वे अपने अतिथियोंको होटलमें ठहराते हैं और वहीं उनका स्वागत-सत्कार होता है।

प्रश्न—आपके राष्ट्रपति विदेशयात्राके लिये कितनी बार जाते हैं ?

उत्तर—नहीं, जबतक वे राष्ट्रपतिका पद ग्रहण किये रहते हैं, उन्हें कहीं बाहर जानेकी अनुमति नहीं है। यही नियम है।

प्रश्न—कितने राष्ट्रपतियों अथवा देशके कर्णधारोंको आप प्रतिवर्ष निमन्त्रित करते हैं ?

उत्तर—अधिक-से-अधिक दो। इस वर्ष केवल एक ही आये थे—वे थे आपके राष्ट्रपति।

प्रश्न—देशके विभिन्न भागोंमें वे कितने उद्घाटनके कार्यक्रमों तथा स्वागत-समारोहोंमें सम्मिलित होते हैं ?

उत्तर—सात सदस्योंके मन्त्रिमण्डल (Council) में निमन्त्रणोंपर विचार होता है तथा उन्हींमेंसे एकको उत्सवमें सम्मिलित होनेके लिये नियुक्त कर दिया जाता है। राष्ट्रपति इन्ने-गिने समारोहोंमें ही सम्मिलित होते हैं; क्योंकि उनके लिये यहाँ अपने कामको सँभालना अनिवार्य है। गृह-मन्त्री भी वे ही होते हैं।

प्रश्न—क्या वे अधिकतर राष्ट्रीय अथवा अंतराष्ट्रीय प्रश्नोंपर ही भाषण देते हैं ?

उत्तर—केवल राष्ट्रीय विषयोंपर ही; परंतु वे वैज्ञानिक प्रश्नोंकी ही चर्चा कर सकते हैं और उस समय उनकी विदेशी समस्याओंसे तुलना कर सकते हैं।

प्रश्न—राष्ट्रपति कितने घंटे काम करते हैं ?

उत्तर—कार्यालयका निर्धारित समय तो नित्य नौ घंटेका है—प्रातःकाल ७.३० से दिनमें १२.३० तक तथा पुनः २.३० से ६.३० तक। प्रायः वे जल्दी ही आ जाते हैं, सात बजेसे भी पहले। कभी-कभी वे रातको ७.३० या ८ तक भी काम करते रहते हैं और घर भी काम साथ ले जाते हैं।

प्रश्न—घर बस्ता कौन पहुँचाता है ?

उत्तर—राष्ट्रपति स्वयं ले जाते हैं। हमारे यहाँ चपरासियों की व्यवस्था नहीं है।

प्रश्न—शासनने राष्ट्रपतिको कितनी मोटर-गाड़ियाँ दे रखी हैं ?

उत्तर—एक भी नहीं। कार्यालय आने-जानेके लिये वे बस या ट्रामका उपयोग करें—यही उनसे आशा की जाती है। बहुधा वे कार्यालय पैदल ही जाते हैं और दिनको भोजनके लिये बससे घर आते हैं।

प्रश्न—यदि बसमें भीड़ रहती है तो वे क्या करते हैं ?

उत्तर—किसी भी अन्य यात्रीकी भाँति वे भी खड़े रहते हैं। किसी महिलाके लिये बैठनेका स्थान न रहनेपर वे अपना आसन उसके लिये छोड़ देते हैं।

प्रश्न—राष्ट्रपति रेडियोपर कितने भाषण देते हैं ?

उत्तर—एक वर्षमें दो—एक पहली अगस्तको, जो हमारा राष्ट्र-दिवस है और दूसरा पहली जनवरीको, जब संवत्सरका आरम्भ होता है।

प्रश्न—क्या आपलोग अपने राष्ट्रपतियोंके चलचित्र बनाते हैं एवं उनके भाषणोंको पुस्तकाकार प्रकाशित करते हैं ?

उत्तर—नहीं, कभी नहीं।

प्रश्न—क्या इंग्लिस्तान तथा भारतवर्षकी भाँति आपके यहाँ भी राष्ट्रपतियोंके साथ तड़क-भड़कवाले अङ्गरक्षक रहते हैं ?

उत्तर—नहीं, राष्ट्रपतिको अपनी रक्षाके लिये एक व्यक्तिकी भी आवश्यकता नहीं है—सादी पोशाकमें भी कोई साथ नहीं रहता। उनकी लोकप्रियता ही उनका सबसे बड़ा कवच है। उनके कार्यालयके बाहर भी आपको कोई पुलिसका सिपाही दृष्टिगोचर नहीं होगा। कार्यालय एक छोटी-सी गलीमें स्थित है और कोई भी टहलता हुआ उसमें



कहा जा सकता है तथा लिफ्टके द्वारा राष्ट्रपतिके निजी सचिवके कार्यालयमें पहुँच सकता है। आपको रोकनेके लिये बंदूकधारी संतरी नहीं खड़े रहते। ऐसे हैं स्विजरलैंडके राष्ट्रपति।

इस विवरणपर किसी टिप्पणीकी कोई आवश्यकता नहीं। आधुनिक जगत्के अधिकांश देशोंको इससे शिक्षा लेनी चाहिये।

( ३ )

## निर्धन शाक-विक्रेताकी ईमानदारी

इस समय सौ और दस रुपयेके नोट इस प्रकारके चल रहे हैं कि उनके आकार-प्रकारसे उनका अन्तर समझना मल नहीं रह गया है। इस कारण अशिक्षित स्त्री-पुरुषोंकी तो बात ही क्या, पढ़े-लिखे व्यक्ति भी अनेक बार धोखा खानेकी स्थितिमें आ जाते हैं। ऐसी ही एक घटना मेरी पत्नीके साथ हुई।

बात गाजियाबादकी सन् १९६८ ई०के अक्टूबर मासकी है। मेरी धर्मपत्नी सब्जी खरीदने गयी। उसने एक रुपयेकी सब्जी ली और दस रुपयेके भ्रममें सौ रुपयेका नोट सब्जीवालेको दे दिया। सब्जीवालेसे नौ रुपये वापिस लेकर मेरी पत्नी घर लौट आयी।

तीसरे या चौथे दिन मेरी पत्नीने रुपयेका हिसाब किया तो वह घबरा गयी। उसे स्मरण आया कि सब्जीके मूल्यके रूपमें दस रुपयेके स्थानपर सौ रुपयेका नोट उसने दे दिया था। वह सोचने लगी—‘अब रुपये तो क्या मिलेंगे, पर एक बार चलकर पूछ तो दूँ।’

शाक-विक्रेताका नाम था श्रीगङ्गाशरण। दूरसे ही मेरी पत्नीको देखकर श्रीगङ्गाशरणने कहा—‘आइये बहिनजी, उस दिन रात्रिमें मैं पैसे गिनने लगा तो एक नोट कुछ बड़ा देखा। मनमें शङ्का हुई। ध्यानसे देखा तो वह सौ रुपयेका था। मैंने सोचा, यह नोट तो बहिनजीका ही होना चाहिये। मैंने आपके बाकी नब्बे रुपये एक पोटलीमें बाँधकर रख लिये और प्रतिदिन आपकी राह देखता हूँ। यह पोटली है। आप अपने रुपये गिन लीजिये।’

पत्नीकी प्रसन्नताकी सीमा नहीं रही। उसने पोटली खोलकर देवी तो उसमें पूरे नब्बे रुपये थे।

मेरी पत्नी श्रीगङ्गाशरण को दस रुपये देने लगी तो

उसने कहा—‘ना बहिनजी! अपने सत्य और ईमानकी कमाई मुझे मिल गयी है। इन रुपयोंको स्वीकारकर मैं अपना धर्म नहीं गँवाऊँगा।’

निश्चय ही वे पुरुष धन्य हैं, जो इस युगमें भी अपना ईमान नहीं खोते।

—श्रीलीलाधर मलहोत्रा

( ४ )

## अधिकारीकी ईमानदारी

यह बात सन् १९६८ ई०की है। संध्याका समय था। पण्डित श्रीसत्यस्वरूपजी कार्यालयसे इंडिया गेट होकर लौट रहे थे। उन्होंने देखा, मार्गमें एक बैग पड़ा हुआ है। बैगमें कुल २२००) नकद और कुछ आवश्यक कागज-पत्र थे। पण्डितजीने विचार किया, इसे चलकर थानेमें जमा कर दूँ, जिनका होगा, वे जाकर ले लेंगे। कुछ दूर चलनेपर उन्होंने फिर सोचा, जिनका बैग होगा, वे इसे ढूँढ़ते इस मार्गसे आ भी सकते हैं और पण्डितजी पुनः वहीं लौट आये, जहाँ उन्हें वह बैग मिला था और खड़े-खड़े प्रतीक्षा करने लगे।

कुछ ही देर बाद उन्होंने देखा, साइकिलपर सवार एक सज्जन अत्यन्त चिन्तित और उदास उधर ही आ रहे थे। आते ही उन्होंने बड़ी विनयसे कहा—‘जी, यह बैग मेरा है। इसमें मेरे कुल २२००) और अमुक-अमुक कागज-पत्र हैं। ये रुपये मैं बैंकमें जमा कराना चाहता था, पर देर होनेसे साइकिलपर बैग लटकाकर घर जा रहा था। पता नहीं, यह कैसे गिर पड़ा। घर पहुँचा, तब याद आयी। भागा आ रहा हूँ, मैं गरीब आदमी हूँ। थानेमें इसे जमा करा देनेपर मेरी दौड़-धूप और परेशानी बढेगी। आप मुझे लौटा देंगे तो मेरी चिन्ता मिट जायगी।’

उक्त सज्जनकी बातोंसे पण्डितजीको पूरा संतोष हो गया और उन्होंने बैग उन्हें दे दिया। बैग रुपये और कागज-पत्रोंसहित सुरक्षित मिल जानेपर उक्त सज्जनको कितनी प्रसन्नता हुई, वे ही जानते होंगे। हाँ, अपना कर्त्तव्य-पालन कर सकनेके कारण पण्डितजीके भी आनन्दकी सीमा नहीं रही। उक्त सज्जनने पण्डितजीको अनेक धन्यवाद दिये और वे सुखपूर्वक घर लौट गये। अपने घर वापिस आते समय पण्डितजीकी आत्मामें कितनी शान्ति थी, कोई भी ईमानदार महानुभाव सहज ही अनुमान कर सकते हैं।

—श्रीलीलाधरजी मलहोत्रा



( ५ )

## अविस्मरणीय

परिश्रमे से बेहतर है इंसान बनना ।

मगर इसमें पड़ती है मेहनत ज़ियादा ॥

—‘हाली’

इसी सन् ७१ के मई मासकी बात है । कॉलेजकी परीक्षा सम्पन्न हो जानेपर मैं अपने घर ( धानापुर, वाराणसी ) जानेके लिये गोरखपुरसे त्रिवेणी एक्सप्रेससे वाराणसी जा रहा था । मैं स्टेशन उस समय पहुँचा, जब गाड़ी छूटनेका समय हो चला था । मेरे साथ मेरे ही पड़ोस-के एक सज्जन और मेरा विस्तार तथा पुस्तकें आदि थीं । जिला कारागारके एक सिपाहीके (१००) भी उसके घर देनेके लिये मेरे पास थे, जिन्हें मैंने सुरक्षाकी दृष्टिसे अपने पड़ोसी बन्धुको दे दिया था । उक्त कान्स्टेबिल मेरी साइकिलके साथ मुझे स्टेशन पहुँचाने गये थे । पिताजीने कह दिया था कि बुक न होनेपर आप साइकिल लेते आइयेगा । किंतु जिस डिब्बेमें मैं बैठा, उसमें मेरे ही गाँवके एक और कान्स्टेबिल थे । बिना बुक की हुई साइकिल ले जानेकी मेरी इच्छा बिल्कुल नहीं थी, किंतु मेरे गाँवके कान्स्टेबिलने उस साइकिलको यह कहकर चढ़वा लिया कि आगे चलकर इसका चार्ज दे दिया जायगा । गाड़ी चल पड़ी थी । मैं शीघ्रतामें साइकिल उतरवा भी नहीं सका । गाड़ी भटनी जं० पहुँची । हमलोग टी०टी०को ढूँढ़ रहे थे, पर वे कहीं नहीं मिले । गाड़ी सीटी देकर चली ही थी कि दो-तीन कान्स्टेबिल मेरे डिब्बेमें घुस आये । उन्होंने कहा—साइकिल उतारिये । मेरे साथी तथा और कई लोगोंने उनसे प्रार्थना की कि आप साइकिलका जो भी चार्ज हो, ले लें । पर उन्होंने किसीकी एक न सुनी । अपना सारा सामान गाड़ीमें ही छोड़कर मैं साइकिलसहित प्लेटफार्मपर उतर आया ।

मैं अत्यन्त उदास और चिन्तित था । जी घबरा रहा था । मेरा सारा सामान और रुपये मेरे पड़ोसी बन्धुके पास थे । जल्दीमें वे कुछ निश्चय न कर सके और न मुझे कुछ रुपये ही दे सके । मेरे पाकिटमें कुल १६) पड़े थे । मेरे पास आकर टी० टी०ने कहा कि ‘आप या तो साढ़े बाईस रुपये जुर्माना दीजिये या मजिस्ट्रेटके पास चलिए ।’

मैं और घबरा गया । मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही थी । मेरे पास पूरे रुपये नहीं थे । मैं उन्हें कैसे देता और मजिस्ट्रेटके पास जानेपर पता नहीं, वे कितना जुर्माना करते । फिर मुझे भटनीसे वाराणसी जाना था । मेरा सारा सामान

गाड़ीमें ही छूट गया था । अपनी उस समयकी दुःख-मानसिक स्थिति में ही जानता हूँ । मैं मन-ही-मन भागवत स्मरण कर उनसे प्रार्थना करने लगा ।

जब मैं कुछ नहीं कर सका, तब पुलिसवाले मजिस्ट्रेटके पास ले चले और मैं व्याकुल होकर श्रीभगवान्को पुकारने लगा । मैंने श्रीभगवान्की कृपा प्राप्त एवं पुकारका प्रत्यक्ष चमत्कार देखा । पुलिसके साथ कुछ ही दूर चलनेपर अचानक एक सज्जनने मेरे पास आकर बड़े ही प्यारसे पूछा—‘क्या बात है ?’ मैंने उन्हें सारी स्थिति बता दी । उन्होंने सिपाहियोंसे कहा—‘चलिये, टी० टी०के चार्ज दे दिया जायगा ।’ उन्होंने टी० टी०के पास जाकर मुझे जितने रुपयेकी जरूरत थी, देकर रसीद कटवा दी और फिर मुझसे बोले—‘आप चिन्ता मत करिये । आपके ऊपर सुसीबत आती है ।’ और मुझे घरतक पहुँचानेके लिये उन्होंने रुपये दे दिये । मुझे सर्वथा अपरिचित व्यक्ति कुल मिलाकर उन्होंने १६) दिये ।

रुपये वापस करनेके लिये मैंने उनका पता पूछा । उन्होंने बता दिया । मैंने नोट कर लिया—‘अरशदअली इराक़ी आइडियल ग्लास एजेन्ट, पो० वित्थरारोड (बलिया) ।’

इसके अनन्तर पैसैंजर ट्रेनसे वाराणसी जानेके लिये मैं साइकिल बुक कराने गया । एक सज्जनने, जो देखकर भले आदमी प्रतीत होते थे, मुझसे कहा—‘(मुझे २) दीजिये मैं प्लेटफार्म आदि लाकर आपकी साइकिल बुक कर देता हूँ ।’ मैंने उन्हें तीन रुपये दे दिये । पर वे सज्जन गये तो गये ही रह गये । लौटे ही नहीं । जैसे-तैसे वाराणसी पहुँचा । घर पहुँचते ही मैंने पिताजीको पत्र दिया कि ‘आवश्यकतावश मैंने भटनी जं०पर इतना साहबसे २०) रुपये लिये थे । आप कृपया उन्हें शीघ्र भेज दें ।’

मेरा पत्र पाकर पिताजीने इराक़ी साहबको इस आशय का पत्र लिखा कि ‘प्रिय श्रीरामने आपको २०) भेजनेके लिये लिखा है । मैं आपसे परिचित नहीं हूँ । आप यदि मेरे गाँवके तो मैं दो-चार दिनोंमें ही सपरिवार घर जानेवाला हूँ । वहाँ आपके घर रुपये दे दूँगा या आप यहाँ आनेवाले होंगे । मुझसे अवश्य मिल लें, रुपये आपको तुरंत मिल जायेंगे । यदि यह सम्भव न हो और मैं जिस पतेपर आपका पता लिख रहा हूँ, वह ठीक है तो आप लौटती डाकके साथ काँड़ लिख दें । मैं तुरंत आपकी सेवामें रुपये भेज दूँगा ।’



चार-पाँच दिनोंमें ही इराकी साहबका इस आशयका पत्र पिताजीको मिला—

आदरणीय दुबेजी,

सप्रेम बन्दे ! आपका पत्र पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। आप-जैसे लोग भी अभी हैं, यह बड़ी खुशीकी बात है। मनी स्टेशनपर पुलिस भाई श्रीरामको साइकिलसहित मजिस्ट्रेटके पास ले जा रही थी। समयपर मैं पहुँच गया। मैंने उन्हें केवल १६) दिये थे। आप दुआ करें कि मैं निर्दोषीभर इसी तरह दूसरोंकी भलाई और नेकीकी राहपर चलता रहूँ।

आपका—अरशदअली इराकी

उन्होंने अपने पत्रमें एक शब्द भी नहीं लिखा कि आप मुझे रुपये भेज दीजिये। पिताजीने उनका कार्ड पाते ही दुरंत उनके प्रति अत्यन्त आभार प्रकट करते हुए १६) मनीआर्डरसे भेज दिये।

मैं प्रायः सोचा करता हूँ श्रीभगवान्की प्रार्थनामें कितनी शक्ति है। यदि दयामय प्रभुकी दयासे इराकी साहब उस समय नहीं मिलते तो मेरी क्या दशा होती। करुणामय प्रभुकी प्रार्थनाकी अमित शक्तिके साथ एक ओर इराकी साहबके परोपकारके भाव और दूसरी ओर मेरा ३) लेकर सक जानेवाले सज्जनका व्यवहार मेरे जीवनकी अविस्मरणीय घटना है। मैं बार-बार श्रीभगवान्के चरणोंमें प्रार्थना करता हूँ कि मेरा भी जीवन इराकी साहबकी तरह परोपकार एवं नेकीके काममें लगता रहे।

—श्रीराम दुबे

( ६ )

### जीवनको लाज न लगे ?

मैं गुजरातके भालप्रदेशमें प्रवासीके रूपमें रह रहा था। गाँव डेढ़ मीलकी दूरीपर था और मध्याह्न हो गया था। विश्राम करनेके विचारसे एक कूएँके समीप नीमकी छायामें हमलोग जा बैठे।

हमलोग वहाँ पहुँचें, इसके पूर्व ही हमारी नजर एक किसान भाईके ऊपर पड़ी। उसका एक पैर कटा हुआ था, पासमें ही लकड़ीकी बनी हुई बैसाखी पड़ी थी और वह खुरपीसे निकम्मा घास छील रहा था।

‘वहन !’ खेतमें दूरपर काम करती हुई अपनी बहनको

\* शायद इराकी साहबका यह तात्पर्य था कि आजकल अपरिचित व्यक्तिसे पैसे लेकर वापिस करनेकी बात कौन सोचता है।

उसने पुकारा। वहनको आयी देख वह बोला—‘इन भाइयोंको पानी तो पिला दे।’

वहनने झटसे कूएँमेंसे खींचकर पानी निकाला और हमलोगोंको पिलाया।

‘आपलोग यहाँ खेती करते हैं ?’ मेरेसे रहा न गया और मैं पूछ बैठा।

‘जी हाँ !’ बैठे-बैठे ही किसानने उत्तर दिया—‘नजदीकके गाँवमें हमलोग रहते हैं। आठ बीघेके इसटुकड़ेमें हम भाई-बहन खेती करते हुए जैसेतैसे दिन काट रहे हैं।’

‘—और आपका एक पैर तो निकम्मा-सा लगता है, ऐसी हालतमें खेती किस तरह सम्भव है ?’

‘जी हाँ !’ आजसे बारह वर्ष पूर्व एक काँटा चुभा था, वह पक गया और अन्तमें अस्पतालमें पैर कटवा देना पड़ा। इसी हालतमें बैठे-बैठे जो काम मुझसे हो पाता है, मैं करता हूँ, बाकी सब काम-काज वहन सँभाल लेती है।’

‘क्या वहनकी शादी नहीं की ?’

‘शादी तो की थी, किंतु दमेके रोगमें उसका पति मर गया ! उसके ससुरालमें अच्छी स्थिति है और उसे वहीं रहनेको ससुरालवाले कहलाते भी हैं। किंतु जबसे मैं लँगड़ा हुआ, मेरी पत्नी मुझे छोड़कर भाग गयी ! उसी समयसे वहन यहीं रह रही है। मैंने इसे बहुत समझाया कि तेरी ससुरालमें सभी प्रकारकी सुविधा होते हुए भी यहाँ रहकर इतना कष्ट क्यों उठा रही है ? किंतु उसने कह दिया—‘मेरे भाईको इतना कष्ट है और अब मैं वहाँ जाकर क्या करूँगी ? भाईकी विपदामें वहन भाग न बटाये तो जीवनको लाज न लगे ?’

—शब्दोंको सुनते ही, भाईके लिये खेती करनेवाली वहनकी मैंने वन्दना की और फिर प्रश्न किया—‘किंतु इस मध्याह्नके समयमें तो आराम करना चाहिये न ?’

‘आज हमारे गाँवमें ‘रविदादा’ आनेवाले हैं, अतः उनका उपदेश सुनना है। दोपहरके बाद आज काम नहीं करना है। झटपट काम निपटारकर घर लौट जानेकी शीघ्रता होनेसे—काम बाकी न रह जाय, इसीलिये काममें लग रहे हैं।’

बात सुनते ही मेरा हृदय भर आया। फिर मैंने मेरी भी पहचान दे दी और दोनों वहन-भाईने मुझे प्रणाम किया। मैं भी शर्मा गया और पीछेसे उन दोनोंके आग्रहसे मैंने उन्हींके घरपर अपना आसन जमाया। आज भी जब कभी भाईके लिये खेतका काम करती हुई उस वहनकी याद आ जाती है, मेरा मस्तक झुक जाता है।

—रविशंकर महाराज



( ७ )

### सच्चा पितृ-श्राद्ध

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरके दादा द्वारकानाथ ठाकुर कलकत्ताके एक प्रसिद्ध व्यापारी और जमींदार थे। देहान्तके समय वे अपने उत्तराधिकारियोंके लिये लाखों रुपयोंका ऋण छोड़ गये थे। इन सब बातोंके होते हुए भी वे एक व्यावहारिक ज्ञानवान्, असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उन्होंने अपने मरनेके कुछ दिन पहले ही अपनी सारी पैतृक सम्पत्तिका ट्रस्ट बनवा दिया था ताकि लेनदारोंका उसपर लेशमात्र भी हक न हो सके। उनकी मृत्युके बाद उनकी फर्मके मैनेजरने एक दिन लेनदारोंकी एक मीटिंग बुलवायी और उनके सामने फर्मका सब हिसाब पेश करते हुए कहा, 'फर्मकी आर्थिक स्थिति दिन-पर-दिन खराब होती जा रही है। फर्मके ऊपर इस समय एक करोड़ रुपयेका ऋण है और आमदनी केवल सत्तर लाख रुपयेकी। ऐसी परिस्थितिमें फर्मको तीस लाख रुपयेकी हानि हुई है। आपलोग चाहें तो फर्मकी जो कुछ भी सम्पत्ति है, उसे बेचकर अपनी रकम वसूल कर सकते हैं, परन्तु साथ-साथ यह भी अच्छी तरहसे समझ लें कि फर्मके उत्तराधिकारियोंकी जायदाद एक ट्रस्टीकी जायदाद है, जिसपर कानूनी दृष्टिसे आपलोगोंका लेशमात्र भी हक नहीं। अतः वारिसोंकी जायदाद-मेंसे आपलोगोंको एक फूटा छदाम भी उपलब्ध न होगा।'

इस समय फर्मके मुख्य मालिक देवेन्द्रनाथ भी सभामें उपस्थित थे। मैनेजरके उपर्युक्त खुलासेसे उन्हें असह्य व्यथा हुई। उनके रोयें-रोयेंमें हिंदुत्वकी भावना कूट-कूटकर भरी थी। अंग्रेजी भाषाके विद्वान् होते हुए भी उनका जीवन हिंदू-धर्मके संस्कारोंसे ओतप्रोत था। वे यह भलीभाँति जानते थे कि भारतकी प्राचीन मनुस्मृतिके नियम-कायदेके अन्तर्गत पुत्रको पिताकी सम्पत्ति उत्तराधिकारमें मिले या न मिले, फिर भी पुत्रका धर्म और कर्तव्य है कि वह पिता-द्वारा छोड़ा हुआ सम्पूर्ण ऋण अदा कर दे। देवेन्द्रनाथ फौरन उठ खड़े हुए और लेनदारोंको आश्वासन दिलाते हुए कहने लगे कि मैनेजरके कथनानुसार वारिसोंकी जायदादमेंसे आपलोगोंको एक पाई भी नहीं मिल सकती, परन्तु मैं एक हिंदू पिताका हिंदू पुत्र हूँ। हिंदू पुत्रका परम कर्तव्य है कि वह अपने पिताका पाई-पाई ऋण चुका दे। मैं और मेरे भाई विरासतमें मिली जायदादको बेचकर भी ऋण अदा कर दूँगे।

तीस वर्षके नवयुवकके मुँहसे इन निःस्वार्थ शब्दोंके सुनकर लेनदार स्तब्ध रह गये। उनके नेत्र आँसुओंसे भीरु गये। उन्होंने आपसमें कानाफूसी करते हुए गद्गद होकर कहा कि महावैभवमें पले इन लड़कोंने इस निर्णयको लेना जान-बूझकर मुसीबत मोल ले ली है। धन्य है उनकी नीयती, ईमानदारी और महान् त्यागको। यदि वे चाहते हैं तो कानूनकी आड़ लेकर लेनदारोंकी सारी रकम बड़े बड़े आसानीसे डकार जाते—उनका बाल भी बाँका न होए एवं उनकी नेकनीयती एवं ईमानदारीमें किसीको लेशमात्र भी संदेह न होता; क्योंकि भारतसरकारमें भी इस फर्मको काफी मान्यता एवं साख-धाक थी। वे बड़ी आसानीसे आपके जमानेके सफेदपोश चालाक चतुर व्यक्तिको तब गाँवका रुपया मारकर समाजके आदर्श एवं प्रत्यक्ष मति, सद्गुण-सम्पन्न अगुआ बन बैठते; क्योंकि आपके युगमें येन-केन-प्रकारेण धन हड़पनेवालोंको ही सब से चतुर समझा जाता है।

लेनदारोंके स्वार्थी हृदयोंमें लड़कोंके प्रति स्नेहपूर्ण पैदा हो गयी। उन्होंने एकमतसे निर्णय किया कि वे फर्मकी जायदादको नीलाम न करवायेंगे, बल्कि कुछ समयतक अपने कब्जेमें रखकर फिर वापस लड़कोंको लौटा देंगे। ऐसा ही हुआ। कुछ ही समय बाद लेनदारोंने फर्मका सारा कार्यभार देवेन्द्रनाथ और उनके बन्धुओंको सौंप दिया। तदुपरान्त उनके कुटुम्बके निर्वाहके लिये ढाई हजार रुपयेकी रकम देना शुरू कर दिया।

लायक पिताके लायक लड़कोंने इस झूठती फर्ममें इतनी अच्छी व्यवस्था की कि अल्प समयमें ही फर्म, जो हानिमें चल रही थी, बहुत लाभ देने लगी। इस लाभमेंसे लड़कोंने अपने पिताद्वारा छोड़ा हुआ पाई-पाई ऋण अदा कर दिया। लड़कोंके पिताने अपनी ख्यातिमें (जितेजी) एक धार्मिक संस्थाको अस्पताल बनवानेके लिये एक लाख रुपयेका दान देनेका वायदा किया था, जिसे वे फर्मके आर्थिक स्थिति बिगड़नेके कारण पूरा न कर सके थे। लड़कोंने पिताके इस प्रणको भी पूरा किया। इस तरह श्रम और बुद्धिमत्तासे काम लेकर अपनी कमाईमेंसे वह पूर्वक पितृऋण अदा करके देवेन्द्रनाथ और उनके बन्धुओंको सच्चा पितृ-श्राद्ध किया। ( 'कादम्बिनी' )

—श्रीबलभद्रासजी विन्नानी



# A Review of Beef in Ancient India

Size 18" × 22" (Demy) Octavo—232 Pages, Bound Rs. 2/-, Postage Rs. 1/40, Total Rs. 3/40.

Whenever the demand is made or an agitation takes place for the imposition of a ban on cow-slaughter, certain highly placed persons, out of ignorance or misunderstanding, publish articles in newspapers and magazines in which an effort is made to prove and establish that cow-slaughter was prevalent in Vedic India and beef was also taken. Simple persons get confused on reading these articles. From time to time, scholars have clarified the position by correct interpretation of such quotations in Hindi.

The work of collection and qualification has been done by Sri Jaidayal Dalmia with the co-operation of some scholars. This is an English version of the Hindi original. We hope that this book will be useful in removing from the minds of the general public such doubts as have crept into their minds thanks to the misleading articles tendentiously written by certain persons.

—The Manager, Gita Press, Gorakhpur.

## प्राचीन भारतमें गोमांस—एक समीक्षा

आकार १८×२२ (डिमाई) आठपेजी, पृष्ठ-संख्या २३८, सजिल्द मूल्य २.००, डाकखर्च १.४० पैसे ।

जब-जब गोवधबंदीका आन्दोलन या उसकी चर्चा चलती है, तब-तब कुछ लोग अपनी भ्रान्त धारणाके अनुसार समाचार-पत्रोंमें इस विषयका लेख प्रकाशित कराते रहते हैं कि प्राचीन भारतमें गोहत्या होती थी और गोमांस खाया जाता था, जिससे जनता भ्रममें पड़ जाती है । इस भ्रमके निवारणार्थ इस पुस्तकमें कुछ शास्त्रीय समाधानोंका संकलन किया गया है । कुछ विशिष्ट शङ्काओंका समाधान श्रीजयदयालजी डालमियाने परिश्रमपूर्वक कुछ विद्वानोंके सहयोगसे किया है । इसके अनुशीलनसे पाठक अवश्य समझ जायेंगे कि 'वैदिक कालमें गोहिंसा और गोमांस-भक्षण प्रचलित था'—यह मत सर्वथा मिथ्या है ।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

## नये ग्राहक शीघ्रता करें

इस वर्षके विशेषाङ्क "अग्निपुराण-गर्गसंहिता-नरसिंहपुराण-अङ्क" की विद्वानों तथा विचारशील पुरुषोंने भूरि-भूरि प्रशंसा की है । इसमें भक्तिभावका हृदयमें संचार करनेवाली इतनी उपयोगी सामग्री दी गयी है कि उसको पढ़ना आरम्भ करनेपर जल्दी छोड़नेका मन नहीं होता । जिन प्रेमी महानुभावोंको ग्राहक बनना हो, वे तुरंत १०.०० दस रुपये मनीआर्डरसे भेज दें या बी० पी० द्वारा अङ्क भेजनेका हमें आदेश दें । सजिल्द विशेषाङ्कका मूल्य ११.५० है ।

इसी प्रकार इसका प्रचार चाहनेवाले जो सज्जन नये ग्राहक बनानेका प्रयत्न करते हैं या प्रचारार्थ संस्थाओंमें वितरण करना चाहते हैं, वे भी शीघ्रता करेंगे । समाप्त हो जानेपर 'नये ग्राहक' बनने और बनानेवाले सज्जनोंको निराश ही होना पड़ेगा । इस विशेषाङ्ककी अबतक १,६२,००० प्रतियाँ व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस, गोरखपुर



## श्रीकृष्णकी जन्म-आरती

आरति श्रीवसुदेव-तनयकी ।

नन्दकुमार कृष्ण रसमयकी ॥

षडैश्वर्यमय पुरुष परात्पर,

मायापति, महान, मायापर,

विश्वातीत, विश्व, विश्वम्भर,

चिदानन्द-वपु इच्छामयकी ।

आरति श्रीवसुदेव-तनयकी ॥१॥

अविनाशी, अज, अखिलभुवनपति,

आदि-अन्त-विरहित, अविगत-गति,

सेवत सतत संत निर्मल-मति,

दीन-शरण्य विशद-आशयकी ।

आरति श्रीवसुदेव-तनयकी ॥२॥

मथुरा-कारागार धन्य कर,

प्रकटे चार भुजा आयुध धर,

देवकि-श्रीवसुदेव-सुखाकर,

सहज सुहृद अनुकम्पामयकी ।

आरति श्रीवसुदेव-तनयकी ॥५॥

असुरोद्धारक, दुष्कृतिनाशक,

स्थापक धर्म, अधर्म-विनाशक,

सदाचार-सद्भाव-विकाशक,

गो-द्विज-रक्षक, महिमायकी ।

आरति श्रीवसुदेव-तनयकी ॥३॥

व्रज पधार, कर लीला मञ्जुल,

नन्द-यशोदा-सुखकर, सुविमल,

व्रज-संरक्षक, अमित-शौर्य-बल,

शुचि सुषमा श्रीनन्दालयकी ।

आरति श्रीवसुदेव-तनयकी ॥६॥

पार्थ-सारथी गीता-गायक,

ज्ञान-भक्ति-सत्कर्म-विधायक,

लोक-संग्रही, लोक-सुनायक,

स्रष्टा, पालक, स्वयं प्रलयकी ।

आरति श्रीवसुदेव-तनयकी ॥४॥

परम मधुर रसराज, रसिकवर,

ललित त्रिभङ्ग-मधुर, मुरलीधर,

गोपी-गो-गोपाल-सुहृदवर,

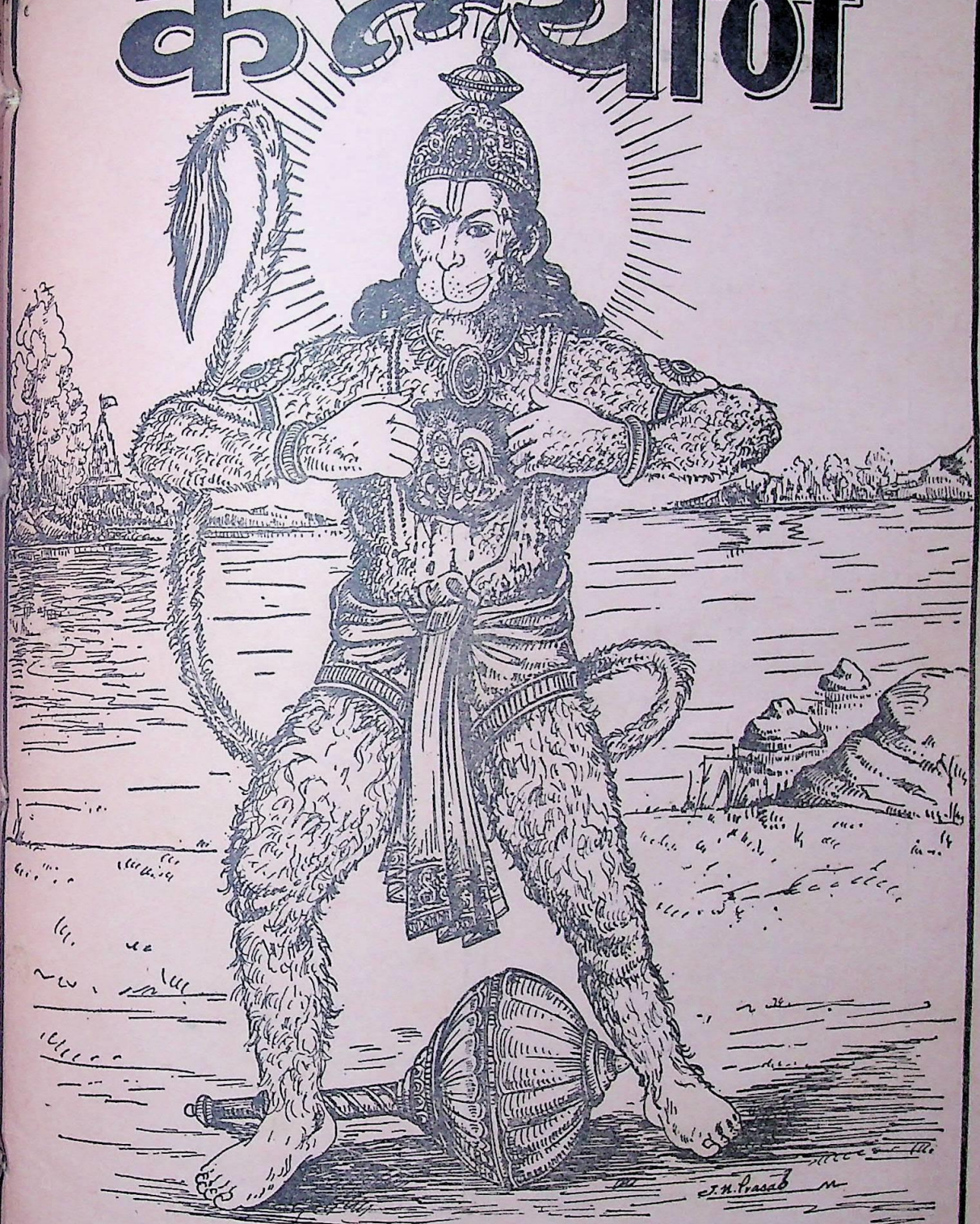
अमल असीम प्रेम आलयकी ।

आरति श्रीवसुदेव-तनयकी ॥७॥

—श्रीभाईजी



# कल्याण





हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥  
संस्करण, १,६५,०००

## विषय-सूची

कल्याण, सौर भाद्रपद, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, अगस्त १९७१

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-महाभाव-रसराज-वन्दना [ कविता ] ( श्रीराधाभाधव-रस-सुधा ) ...	१०७३	१४-‘जौं हम भले-बुरे तौ तेरे ।’ [ कविता ] ( श्रीसूरदासजी ) ...	१०९७
२-कल्याण ...	१०७४	१५-अविद्या ( माया ) का स्वरूप ( पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण- सांख्य-स्मृति-तीर्थ ) ...	१०९८
३-ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश ( पुराने सत्सङ्गसे ) ...	१०७५	१६-सर्प-दंशके उपचार ( पं० श्रीगोपालजी द्विवेदी, वैद्य ) ...	११००
४-भक्तकी अभिलाषा [ कविता ] ( श्री- मीराबाई ) ...	१०७७	१७-जब लोकमान्य तिलकने मांडले जेलको नालन्दा-विश्वविद्यालयमें बदल दिया था ( डा० श्रीसीतारामजी सहगल, शास्त्री, एम०, ए० एम० ओ० एल्०, पी-एच्० डी० ) ...	११०३
५-परमार्थकी पगडंडियाँ ( नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमान- प्रसादजी पोद्दारके अमृत-वचन ) ...	१०७८	१८-परमार्थ-पत्रावली ( ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र )	११०९
६-नाटकका राजा [ गद्य-काव्य ] ( श्रीमोती- लालजी सुराना ) ...	१०८१	१९-श्रीराधा-प्राकट्य-मंहेत्सव ...	११०८
७-ईश्वर आपके पास ( अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती ) ...	१०८२	२०-उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुबर्मों- त्तरपुराण ( पं० श्रीजानकीनाथजीशर्मा )	१११०
८-गीताका भक्तियोग-५ ( पूज्य स्वामीजी श्रीराममुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या ) ...	१०८५	२१-वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता ( डा० श्रीनीरजा- कान्तजी चौधुरी देवशर्मा, एम० ए०, पी-एच्० डी० ) ...	११११
९-प्रभु-मिलनका सुख [ कविता ] ( संत श्रीमानपुरीजी ) ...	१०८९	२२-अब्दुर्रहीम खानखानाका भक्ति-भाव और हिंदुत्व-प्रेम ( डॉ० श्रीबालकृष्णजी ‘अकिञ्चन’, एम० ए०, पी-एच्० डी० )	११२२
१०-आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ ...	१०९०	२३-जगत्की असारता [ कविता ] ( भारतेन्दु हरिदचन्द्रजी ) ...	११२४
११-हरि-विमुखताका परिणाम [ कविता ] ( संत श्रीरैदासजी ) ...	१०९२	२४-सत्सङ्ग [ कहानी ] ( श्रीलक्ष्मीनारायणजीशर्मा )	११२५
१२-जन्म कर्म च मे दिव्यम् (संतप्रवर परमहंस पं० श्रीरामचन्द्रजी शास्त्री डोंगरे महाराज; प्रेषिका-श्रीमती राधारानी चतुर्वेदी )	१०९३	२५-संतकी निर्भयता ( श्रीश्याममनोहरजी व्यास, एम० एस्-सी० ) ...	११२७
१३-मांसाहारसे हानि ( श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा ) ...	१०९६	२६-पढ़ो, समझो और करो ...	११२८

## चित्र-सूची

१-हनुमानजीके हृदयमें श्रीसीतारामकी झाँकी	( रेखाचित्र )	... मुखपृष्ठ
२-महाभाव-रसराज	( तिरंगा )	... १०७३

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.०० } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रामपते ॥ { साधारण प्रति भारतमें ६०.००  
विदेशमें १६.०० (१८ शिल्लिंग) } विदेशमें १०० (१५०)

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्पनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री  
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर









महाभाव-रसराज







## कल्याण

साधनाका स्वरूप निश्चय करनेके पूर्व साध्यका निरूपण और साध्यका निश्चय करना कर्तव्य है। हमें जीवनमें क्या प्राप्त करना है, कहाँ जाना है—जबतक यह निश्चय नहीं हो जाता, तबतक उसकी प्राप्तिका उपाय सोचनेका प्रश्न ही नहीं बनता। अतएव जीवनमें सर्वप्रथम यह निश्चय कर लेना है कि 'हमें भगवान्को प्राप्त करना है—भगवान्के धाम जाना है—भगवान्के श्रीचरणोंमें नित्य स्थान प्राप्त करना है—भगवान्के परमधामको प्राप्त करना है।' नाम कुछ भी रख लिया जाय, तत्त्वतः प्राप्तव्य वस्तु एक ही है।

साध्यका निश्चय होनेके पश्चात् मार्गका निश्चय किया जाता है। सबके लिये सब मार्ग उपयोगी नहीं होते। कारण स्पष्ट है कि प्रत्येककी रुचि एक-सी नहीं है, क्षमता एक-सी नहीं है, अधिकार एक-सा नहीं है। इसलिये अपनी-अपनी रुचि, क्षमता एवं अधिकारके अनुसार साधनाका मार्ग निश्चय करना चाहिये।

जब कहाँ जाना होता है तो उसके लिये राह-खर्च चाहिये, रास्तेमें टिकनेका स्थान चाहिये, रास्तेमें खान-पानकी व्यवस्था होनी चाहिये—आदि-आदि। इसी प्रकार पारमार्थिक साधनामें भी कुछ ऐसी चीजें हैं, जो सबको चाहिये—फिर चाहे वे निष्काम कर्मयोगका साधन करनेवाले हों, चाहे भक्तियोगका, चाहे अष्टाङ्गयोगका, चाहे ज्ञानयोगका, चाहे भगवत्प्रेमका। मार्ग कोई भी हो, मार्गमें सम्बल चाहिये, कुछ सहारा चाहिये, कुछ अवलम्ब चाहिये, कुछ तैयारी चाहिये। इसी तैयारीका योगदर्शनके अनुसार नाम है—'यम'। देखनेमें यह बहुत छोटी बात प्रतीत होती है, पर है यह बहुत बड़ी। जैसे बिना नींवके कोई मकान खड़ा नहीं हो सकता,

उसी प्रकार बिना मजबूत आधारके साधन नहीं चल सकता। इसी 'आधार' का नाम भगवान्ने गीतामें रखा है—दैवी सम्पत्ति; भक्तिशास्त्रवालोंने जहाँ रसका वर्णन किया है, वहाँ इसको 'शान्तरस'की संज्ञा दी है, प्रेमकी साधना करनेवालोंने इसे 'वैधीभक्ति—साधनभक्ति' कहा है तथा ज्ञानमार्गीयोंने 'षट्सम्पत्ति' कहकर इसका निरूपण किया है। इन सभीमें नामका भेद है तथा कुछ चीजोंकी संख्यामें भेद है, अर्थात् किसीमें छः, किसीमें दस तथा किसीमें इससे अधिक चीजोंके नाम गिनाये गये हैं। पर सबका भाव एक ही है कि मनके द्वारा, इन्द्रियोंके द्वारा, शरीरके द्वारा, बुरे कर्मोंका सर्वथा त्याग तथा अच्छे कर्मोंका ग्रहण करना चाहिये।

अच्छे-बुरे कर्मोंकी सूचीका कोई अन्त नहीं है। बुरे कर्मोंके परित्यागके सम्बन्धमें सूत्ररूपमें इतना समझ लेना चाहिये कि जो बात दूसरा हमारे साथ करे तो हमें बुरी लगती है, वैसी बात हम दूसरोंके साथ न करें। अच्छाईके ग्रहणमें हम जिस बातको दूसरोंसे अपने लिये चाहते हैं, वह हम दूसरोंके साथ करें। अर्थात् बुरा वह है, जिसे हम अपने लिये नहीं चाहते। अच्छा वह है, जिसे हम अपने लिये चाहते हैं। इस सिद्धान्तपर परखकर कर्तव्यका निर्णय करना चाहिये कि हमें क्या करना है, क्या नहीं करना है। संक्षेपमें, जिस किसी कार्यसे अपना और दूसरोंका परिणाममें अमङ्गल होता है, अहित होता है, वह बुरा कर्म है, पाप है और जिस कामसे अपना और दूसरोंका परिणाममें हित होता है, कल्याण होता है, वह अच्छा कार्य—पुण्य है। इस कसौटीपर कसकर हमें अपने मनके द्वारा, इन्द्रियोंके द्वारा, शरीरके द्वारा कर्म करने चाहिये। बस यही साधना है।



# ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[ पुराने सत्सङ्गसे ]

## भगवत्प्राप्तिका सुगम मार्ग—भक्ति

इस घोर कलिकालमें भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये भक्तिका मार्ग ही सुगम मार्ग है। भगवान्‌की भक्ति इस प्रकार करनी चाहिये जैसे उत्तम पतिव्रता स्त्री एक-मात्र अपने पतिसे ही प्रेम करती है। जो भक्त केवल भगवान्‌से ही प्रेम करता है, उसकी भक्तिको 'अव्यभिचारिणी भक्ति' कहते हैं। जो स्त्री अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषसे प्रेम करती है, उसको 'व्यभिचारिणी' कहते हैं। उसी प्रकार जो मनुष्य भगवान्‌से प्रेम न करके विषय-भोगोंसे प्रेम करते हैं, उनको 'व्यभिचारी भक्त' कहा जाता है। जो अव्यभिचारी भक्त होता है, उसको शीघ्र ही भगवान्‌की प्राप्ति होकर उसका कल्याण हो जाता है।

परमात्माके समान गुणवान् कोई भी नहीं है। उनकी सुन्दरताके सामने करोड़ों कामदेवोंकी सुन्दरता भी नगण्य है और उनकी सामर्थ्य ऐसी है कि वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। साथ ही वे श्रमा, दया, संतोष, शान्ति आदि गुणोंके सागर हैं। जो व्यक्ति ऐसे परमात्माको प्राप्त करना चाहे, वह उन्हें प्राप्त कर सकता है। उसके इस प्रयत्नमें महापुरुषोंसे बड़ी सहायता प्राप्त हो सकती है। महापुरुष भगवान्‌की भक्तिका प्रभाव, उनके गुण एवं सुन्दरताको बतलाकर जीवोंको भगवान्‌के प्रति आकृष्ट करते हैं। पीछे महापुरुषोंके बताये साधनोंको अपनाकर जीव भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध बना लेता है।

भगवान्‌की भक्ति करनेसे दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होता है और सद्गुण-सदाचारकी प्राप्ति होती है तथा अन्तमें भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। भक्तिका आधार

नियमोंका पालन है—जैसे ( १ ) शौच अर्थात् बाहर-भीतरकी शुद्धि, ( २ ) संतोष—जो कुछ अनुकूल-प्रतिकूल प्राप्त हो जाय, उसे भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर स्वीकार करना, ( ३ ) तप—धर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना, ( ४ ) स्वाध्याय—ईश्वर-सम्बन्धी सद्ग्रन्थोंका पठन-पाठन करना और ( ५ ) ईश्वर-प्रणिधान—भगवान्‌के शरण हो जाना।

इन पाँच नियमोंका आश्रय लिया जाय तो निश्चित-रूपसे भगवान्‌की प्राप्तिके मार्गमें बढ़ा जा सकता है।

आत्माके स्वरूपको पहचानकर कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डालिये !

'कठोपनिषद्'में यमराजने नचिकेताको समझाते हुए कहा है—'यह शरीर एक प्रकारका रथ है, बुद्धि इस शरीररूपी रथका सारथि है, मन ढगाम है और दस इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं।' रथका सारथि यदि सुयोग्य होता है तो वह घोड़ोंकी ढगामको ठीकसे खींचे रखकर रथको सड़कपर बढ़ाता चलता है और गन्तव्य स्थानपर पहुँचा देता है। यही बात शरीररूपी रथके लिये है। यदि मनुष्यकी बुद्धि ठीक-ठिकानेसे काम करती है तो वह मन-इन्द्रियोंको नियन्त्रित रखते हुए परमात्माकी प्राप्तिरूप लक्ष्यपर पहुँचा देती है। सड़कके किनारे ढगी हरी-हरी घासको देखकर घोड़े उधर भागते हैं, इसी प्रकार सुन्दर एवं आकर्षणयुक्त संसारके विषय-भोग इन्द्रियोंको अपनी ओर खींचते हैं। अतएव आवश्यकता है कि बुद्धिके द्वारा मनका नियन्त्रण होता रहे। मनके नियन्त्रणके साथ इन्द्रियोंका नियन्त्रण स्वाभाविक हो जायगा।



उपनिषद्की इस बातको प्रकारान्तरसे भगवान् ने, नहीं पड़ती। बिजलीके तारोंके स्पर्शसे बिजलीके होनेका गीतामें भी कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

( ३ । ४२ )

अर्थात् 'स्थूल-शरीरसे इन्द्रियाँ श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म हैं; इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे पर बुद्धि है और बुद्धिसे भी अत्यन्त पर आत्मा है।' इसलिये भगवान् ने कहा कि पहले इन्द्रियोंको वशमें करो—

'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य।' ( ३ । ४१ )

इन्द्रियोंके वशमें होनेसे मन वशमें आने लगेगा। जब घोड़े उदण्ड नहीं होते, तब लगाम खींचनेकी आवश्यकता ही नहीं होती। फिर बुद्धि मनसे श्रेष्ठ एवं बलवान् है। बुद्धिका मनपर नियन्त्रण रहेगा तो मन कुछ भी नहीं कर सकेगा। इसीसे भगवान् ने कहा है कि 'बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके दूर्जय कामरूप शत्रुको मार डालो।'।

..... संस्तव्यात्मानमात्मना ।

जहि शत्रुं मदाबाहो कामरूपं युगास्तदम् ॥

( ३ । ४३ )

—मनको वशमें करनेकी शक्ति बुद्धिको आत्मासे प्राप्त होती है। आत्मामें अनन्त बल है। बुद्धि उसीके बलको पाकर बलवान् और क्रियाशील होती है। अतएव आवश्यकता केवल इस बातकी है कि हम यह जान लें कि 'बुद्धिसे भी सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ हमारी आत्मा है'—

'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्या ।'

भगवान् की अनुभूति न होनेमें तीन हेतु—

अज्ञान, अश्रद्धा एवं संशय

बिजलीके तारोंमें बिजलीकी शक्ति प्रवाहित होती रहती है, पर सूक्ष्मतमरूपमें होनेसे वह आँखोंसे दिखलायी

अनुभव होता है, पर सूखे काठपर खड़े रहकर यदि बिजलीके तारोंसे कोई छू जाय तो उसे बिजलीकी शक्तिका अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार भगवान् की शक्तिसे जगत् के सब कार्य संचालित हो रहे हैं, पर सब कार्योंको देखते—अनुभव करते हुए भी उनमें भगवान् की शक्तिके दर्शन हम नहीं कर पाते। इसका हेतु है, हमलोग अज्ञान, अश्रद्धा एवं संशयरूपी सूखे काठपर खड़े होकर जगत् के कार्योंको देख रहे हैं। भगवान् ने गीतामें कहा है—

'अज्ञश्चाश्रद्धधानश्च संशयात्मा विनश्यति।'।

( ४ । ४० )

'विवेकहीन, श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है।' यहाँपर तीन तरहके काठ मौजूद हैं—एक, समझकी कमी, दूसरा, श्रद्धाकी कमी और तीसरा, प्रत्येक विषयमें संदेहका भाव। इन तीन हेतुओंके रहते हम भगवत्त्वत्त्वको नहीं समझ पाते। यदि इन हेतुओंका निराकरण हो जाय तो भगवान् के होनेका अनुभव, उनकी शक्तिका प्रभाव प्रत्यक्ष हो जाय। भगवान् तो सर्वत्र विद्यमान हैं ही और जगत् की प्रत्येक शक्तियुक्त क्रिया भगवान् के तेजके अंशसे ही सम्पन्न होती है ( गीता १० । ४१ )।

अज्ञान एवं अश्रद्धा पारमार्थिक साधनामें बाधक हैं, पर संशय उनसे भी अधिक हानिकारक है। भगवान् ने कहा है कि 'संशययुक्त पुरुषके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है'—

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

( ४ । ४० )

अब प्रश्न होता है कि संशयरूप महाशत्रुको कैसे जीता जाय। इसका उपाय भी भगवान् ने बता दिया है—'ज्ञानसंछिन्नसंशयम्' ( गीता ४ । ४१ ) अर्थात्







## परमार्थकी पगडंडियाँ

[ नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) के अमृत-वचन ]

मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रियाँसे होनेवाली प्रत्येक क्रिया भगवत्प्रीत्यर्थ ही होनी चाहिये । शुरुआत से ही क्रिया भगवत्प्रीत्यर्थ न हो तो पीछे उसे भगवान्‌के समर्पण कर देना चाहिये । इसी आशयसे श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावाद् ।  
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥

( ११।२।३४ )

जब भगवत्प्रीति ही जीवनका परम सुख बन जाता है, तब सहज ही सारे अङ्ग—भीतरी की बाहरी—केवल भगवत्सेवामें ही लग जाते हैं और इस सेवामें इतनी रति, प्रीति या सुखोपलब्धि होती है कि फिर वह प्रेमी भगवान्‌के देनेपर भी उनकी इस सेवाको छोड़कर मुक्ति स्वीकार नहीं करता । भगवान्‌ और भक्तका यह सम्बन्ध एक जन्मतक ही नहीं रह जाता, अनेक जन्म हो सकते हैं; पर सभी जन्मोंमें यह सम्बन्ध—भगवत्प्रीति-सम्पादनरूप सेवाका सम्बन्ध बना रहता है । इसीसे प्रह्लादने भगवान्‌से कहा था—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम् ।  
तेषु तेष्वाचला भक्तिरव्युतास्तु सदा त्वयि ॥  
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ।  
धामनुस्मरतः सा ये हृदयान्भाषसर्पतु ॥

( विष्णुपुराण १।२०।१८-१९ )

‘नाथ ! मैं जिन-जिन हजारों योनियोंमें जाऊँ, उन सभी योनियोंमें तुम्हारे प्रति मेरी अचला बनी रहूँ । अविवेकी मनुष्योंकी विषयोंमें जैसी नित्य प्रीति रहती है, तुम्हारा अनुस्मरण करने हुए वैसी मेरी प्रीति, हे अच्युत ! तुममें बनी रहे । तुम्हारी प्रीति मेरे हृदयसे कभी दूर न हो ।’

जीवन-मरण, संयोग-वियोग, लाभ-हानि, सुख-दुःख—सभी प्रभुके प्रीत्यर्थ ही हों तथा सभीमें सुखी देखकर सुखकी परम अनुभूति होती रहे ।

×

×

×

×

हृदयका जो अमूल्य धन है, वह कभी नष्ट नहीं हो सकता । वह धन है—प्रभुकी मधुर स्मृति । हृदयमें नित्य प्रभुके सांनिध्यकी अनुभूति—रोम-रोमसे उनके नित्य स्पर्शसुखानुभवका आनन्द । शरीर में रहे—हमारे मनमें प्रभुका नित्यनिवास हो या हमारा मन ही प्रभुकी लोभनीय सम्पत्ति बन जाय । प्रभुके समान प्रेमी प्रभु ही हैं । वे प्रेमीको प्रेमास्पद बनाकर नित्य उसको अपने हृदयमें बसाये हैं, क्षणभर भी दूर नहीं करते और स्वयं तो सदा प्रेमीके हृदयमें बसे ही रहते हैं । प्रेमीके मनको अपने पास रखने हैं और अपने प्रेम-सन्तान मनको प्रेमीकी सम्पत्ति बना देने हैं । भगवान्‌ रामका संवेदन



तत्त्व प्रेम कर धर्म भव तोरा । जानत प्रिया एक मनु मोरा ॥  
 मो मनु रहत सदा तोहि पाहीं । जानु प्रीति रस एतनेहि माहीं ॥

x

x

x

x

तुम्हारी यह चाह प्रभुके लिये बड़ी ही सुखकर एवं मधुर है कि चाहे तुम कहीं भी रहो, कैसी भी स्थितिमें रहो, प्रभुकी स्मृतिरूपी धन तुम्हारे हृदयसे कभी न निकडे । रात-दिन, सोते-जागते, उठते-पैठते, खाते-पीते, सदा-सर्वदा प्रभुके मधुर-मनोहर दर्शन हृदयमें होते रहें । प्रभु तो यह चाहते ही हैं । वे कभी अपने पेसे प्रेमीको अपने हृदयसे दूर नहीं करते । यह उनका सहज स्वभाव ही है । धन्य है इन प्रेमी और प्रेमास्पदको ।

x

x

x

x

जगत्में जगत्की दृष्टिसे केवल दुःख और मृत्यु ही हैं । भगवान्की दृष्टिसे भगवान् और भगवान्की नित्यलीला हैं । जो भगवान् तथा भगवान्की नित्यलीला देखते हैं, वे हर हालतमें सदा सुखी रहते हैं । जो जगत्के भोग-विषयोंको देखते हैं, वे रात-दिन दुःखाग्निमें जलते रहते हैं । अतएव जगत्के भोगोंसे मनको हटाकर नित्य भगवान्में लगानेमें ही बुद्धिमानी है ।

x

x

x

x

भगवान्की पवित्र स्मृति जैसे भी हो, परम मङ्गलमयी है । वह धोखेसे भी हो तो दर्ज नहीं । उनकी स्मृति सारे कलुष-कलङ्कोंको धोकर जीवनको विशुद्ध, उज्ज्वल एवं भगवान्के निजनिवासरूप बना देती है । अभागा तो संसारमें वह है, जो भगवच्चरणोंमें प्रेम न करके भोगोंमें प्रेम करता है—

मुनहु उमा ते लोग अभागी । हरि तजि होहि विषय अनुरागी ॥

जिनके भगवच्चिन्तन होता है, जिनका भगवच्चरणोंमें प्रेम है, वे जगत्में भोग-दृष्टिसे चाहे जैसे भाग्यहीन माने जाते हों, वस्तुतः वे ही सच्चे सौभाग्यशाली, सच्चे भाग्यवान् हैं । तुम भगवान्का नित्य चिन्तन करते रहो, अपनेको उनके श्रीचरणोंमें डाले रहो । फिर सारी बात आप ही सुधर जायगी । जबतक हम भगवान्के न होकर भोगोंके हैं, तभीतक सब विगड़ी हुई है—

तावद् रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृह गृहम् ।

तावन्मोहोऽड्भिनिगडो यावत् कुष्ण न ते जनाः ॥

( श्रीमद्भा० १० । १४ । ३६ )

ब्रह्माजीने कहा—“भगवन् ! जबतक मनुष्य तुम्हारे नहीं हो जाते, तभीतक रागद्वेषादि चोर लगे रहते हैं, तभीतक घर जेलखाना बना रहता है और तभीतक मोहकी बेड़ियाँ पैरोंमें पड़ी रहती हैं ।”  
 अतएव हमें चाहिये कि हम अपनेको भगवान्का बनाकर, जीवनको उनका अनुगत बनाकर, निश्चिन्त होकर उनका चिन्तन करें ।

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं भाजु ।

होहि राम कौ, नामु जपु, तुलसी तजि कुसमाजु ॥

x

x

x

x



भगवान्की कृपा तो सभीपर है; परंतु जो उनका होकर, उन्हींके प्रेममें सब-कुछकी समता त्यागकर रहना चाहता है, वह तो उनका प्रेमास्पद बन जाता है। भगवान्ने कहा है—

अस सज्जन मम उर बस कैसे । लोभी हृदय बसइ बहु जैस ॥

जैसे धनके लोभीके मनमें धन अत्यन्त प्रियरूपसे निवास करता है, वैसे ही भगवान्में ही प्रेम रखनेवाला व्यक्ति भगवान्के मनमें लोभीके धनकी तरह नित्य निवास करता है। अतः उसके समान परम सौभाग्यशाली कौन होगा ?

x

x

x

x

भगवान्को क्षणभर भी न भूलनेकी तुम्हारी इच्छा बहुत ही श्रेष्ठ है। भगवान्की मधुर स्मृति सर्वत्र बड़ी मूल्यवान् तथा परमप्रिय वस्तु है। 'स्मृति क्षणभरके लिये भी कहीं छूटी कि परम व्याकुलता हुआ पेसा हो जाय तो फिर स्मृति नहीं छूटती। हमलोग भगवान्की विस्मृतिको सह लेते हैं, इसीसे स्मृति छूटती है। भगवान् सब जगह रहकर भी एक ही जगह रह सकते हैं और रहते भी हैं तथा एक ही जगह रहकर भी अनन्त जगहोंको एक जगह बना सकते हैं। अर्थात् एक ही साथ अनन्त जगह रह सकते हैं और रहते भी हैं। वे सर्वसमर्थ हैं।

x

x

x

x

प्रतिकूल स्थितिमें भगवान्का मङ्गलविधान माननेकी बात कही जाती है, वह भी प्रेमकी दृष्टिसे तो नीची ही बात है। प्रेमी मङ्गल-अमङ्गल नहीं जानता, वह तो केवल प्रेमास्पदके सुखको ही जानता है। उसके लिये कभी कहीं प्रतिकूलता रहती ही नहीं, सर्वत्र सर्वदा अनुकूलता ही रहती है। वह निरन्तर और नित्य प्रेमास्पद प्रभुकी मधुर स्मृतिमें ही तल्लीन रहता है, शरीरका कुछ भी हुआ करे। जैसे सच्चा बानी नाम-रूपसे सदा पृथक्—ऊपर उठा हुआ होता है, वैसे ही सच्चा प्रेमी प्रेमास्पद प्रभुके मधुर स्वरणमें नाम-रूप ( शरीर और शरीरके नाम ) का परित्याग कर चुकता है। इससे वह सदा सुखी रहता है। अतएव वह हालतमें ही सुखी रहना चाहिये, दुःख करना भूल है। इससे प्रभुकी सतत मधुर स्मृतिमें बाधा आती है। अपनी शारीरिक पराधीनताका ख्याल आनेसे मानस-दुःख होता है और इस प्रतिकूलतामें कभी-कभी दूसरोंको कारण मान लेनेसे उनके प्रति सद्भावनामें कमी आ सकती है। ये तीनों ही बातें अपने लिये हानिकर हैं।

x

x

x

x

प्रभुका विरह-ताप होना सौभाग्यकी बात है। कई प्रेमी तो प्रभुके मिलनकी अपेक्षा प्रभुके विरह-तापमें विशेष सुखका अनुभव करते हैं। प्रभुका विरह जहाँ अत्यन्त दुःखद है, वहाँ प्रभुकी मधुर स्मृति नित्य सहायक होनेके कारण परम सुखरूप भी है। हमको यही मानना चाहिये और यही सत्य है कि 'प्रभुकी हमपर अनन्त कृपा है। प्रभु नित्य हमारे हैं। हमसे न्यारे वे कभी होते ही नहीं। सदा-सर्वदा रात-दिन, जाग्रत-स्वप्न—सबमें साथ रहते हैं।' ऐसी दृढ़ मान्यता हो जानेपर यह केवल मान्यता नहीं रहती, यही वास्तविक रूपमें स्फुरित होने लगता है और प्रभुकी संनिधिका अनुभव होने लगता है। खाते, सोते, बैठते, चलते करते अदि समय भी उनकी संनिधिका, उनके सामीप्यका अनुभव होने लगता है। जो विश्वास करते हैं, उन सभीको किसी-न-किसी अंशमें होता है। तुमको भी अवश्य होना चाहिये। तुम और भी दृढ़ विश्वास करो। यदि यह मानते हैं कि 'हम तो भगवान्को याद करते हैं, भगवान् हमको याद नहीं करते' तो यह मानना भी



नहीं है। भगवान् यदि कृपापूर्वक हमें याद न करें तो हम उन्हें याद कर ही नहीं सकते। अतः निरन्तर भगवान्को अपना मानना चाहिये और बार-बार यह विश्वास तथा अनुभव करना चाहिये कि भगवान् तथा भगवान्की कृपा नित्य-निरन्तर हमारे साथ है और भगवान्का दिव्य मधुर अनन्य प्रेम हमें प्राप्त हो रहा है।

x

x

x

x

हमारा मन बड़ा ही दुष्ट है। वह भौंति-भौंतिके वहाने बनाकर भोगोंमें रचा-पचा रहना चाहता है। प्रयत्न करते-करते भी वह चुपके-से हमारे जीवनमें भोगोंका दासत्व ला देता है। हम भगवान्को भूलकर भोगासक्त हो जाते हैं। यह बड़ी ही शोचनीय स्थिति है। अतएव हमें बड़ी सावधानीके साथ सदा-सर्वदा भोगासक्तिसे बचे रहकर पवित्र भावसे नित्यानन्दमय, सर्वमय तथा सर्वातीत भगवान्का स्मरण करते रहना चाहिये। सदा ध्यान रहना चाहिये—भगवान्के नामपर भी मनमें कहीं जगत् तो नहीं आ रहा है। यद्यपि जगत् भी भगवान्से ही भरा है, तथापि वह भगवान्को लिपाकर भोगोंके रूपमें आ धमकता है और हमारी मन-बुद्धिपर, शरीर-इन्द्रियोंपर अधिकार करके हमें भोगोंके नीच दासत्वमें लगा देता है। हमें पता नहीं रहता—हम कहाँ हैं और वैकुण्ठके नामपर नरकमें पहुँच जाते हैं। भगवान् सदा-सर्वदा बचावें।

x

x

x

x

यह सत्य है कि अच्छे-बुरे वातावरणका असर मनपर पड़ता है और यह भी सत्य है कि मनके विकारोंको, दुर्बलताओंको तथा दोषोंको दूर करने एवं भगवान्के प्रति दृढ़ विश्वास एवं आस्था उत्पन्न करनेके लिये सत्सङ्गकी आवश्यकता है। अतएव सत्सङ्गकी इच्छा तथा सत्सङ्ग-प्राप्तिके लिये प्रयत्न भी करना चाहिये। परन्तु यदि इतनेपर भी बाहरी सत्सङ्ग न मिले तो सत्सङ्गके लिये व्याकुल रहते हुए इसे भी भगवान्का मङ्गल-विधान मानना चाहिये। वे प्रभु तो अलग होते नहीं। वे स्वयं ही ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देंगे, जिससे सत्सङ्गसे बढ़कर लाभ उस विपरीत वातावरणमें ही हो जायगा। वे चाहेंगे तो सत्सङ्गका गुप्त अवसर जुटा देंगे—किसी संतको भेज देंगे या स्वयं ही प्रकट अथवा अप्रकटरूपसे समस्त विकारों, दुर्बलताओं तथा दोषोंको हरकर तुम्हें भलीभाँति अपना लेंगे। अतः जरा भी निराश न होकर सदा-सर्वदा भगवान्की कृपापर विश्वास रखो और सदा-सर्वत्र उनकी कृपाको देखते रहो।

## नाटकका राजा

नाटकका राजा  
मनमें सब समझे—  
यह तो नाटक है,  
मैं राजा काहेका।  
थोड़ी-सी देर बाद  
चलूँगा नंगे पैर,  
जाऊँगा बाजारमें  
लाऊँगा आटा-दाल।

पुण्यके उदयसे  
मिल गया मनुष्य-भ्रम—  
न तो तू मालिक है  
न जायेगा साथ टाट।  
विवेकसे काम कर,  
धर्म-करनी साथ जाये;  
साधुकी संगत कर,  
जीवनका सार पाये।

—मोतीलाल मुराना



# ईश्वर आपके पास

( लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती )

आस्तिकता और नास्तिकता दोनोंका फल प्रत्यक्ष है। ईश्वर और चैतन्यकी सत्ता-महत्ता स्वीकार न करनेका यह प्रत्यक्ष फल है कि हम, हमारा मन और शरीर-सब कुछ एक साथ मर जाता है और सदा-सर्वदाके लिये जड़तामें विलीन हो जाता है। इसके विपरीत ईश्वर अथवा चैतन्यका देहादिसे अलग विवेक कर लेनेवाले सदा-सर्वदाके लिये इष्टमें मिल जाते हैं। आस्तिकताका यह प्रत्यक्ष फल है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिये हम यों कह सकते हैं कि आस्तिककी दृष्टिमें देहसे पूर्व भी आत्माका अस्तित्व है और पश्चात् भी। देह उत्पन्न होता है, देहमें परिवर्तन होते हैं, देह मरता है, मरनेके बाद भी बदलता रहता है; परंतु आत्मा ज्यों-का-त्यों रहता है। नास्तिक इन बातोंकी हँसी उड़ाता है और अपनी खोज पूरी किये बिना ही बिना अनुभवके यह मान बैठता है कि चैतन्य सत्ता है ही नहीं। वह जड़ सचमुच ही आग्रहजड़ है। चेतन सत्ताकी साक्षात् अनुभूतिके लिये धर्मानुष्ठानके द्वारा देहेन्द्रियोंको नियन्त्रित करना पड़ता है। इसका फल यह होता है—जैसे छिलका अलग हो गया हो और गूदा तथा गुठली शेष रह गयी हो, उसी प्रकार मर्यादोचित, शिष्टानुशिष्ट कर्म करने एवं अमर्यादित, अनुचित, अशिष्ट कर्मका परित्याग कर देनेसे आत्मा कर्ताके रूपमें देहेन्द्रियादिकोंसे पृथक् निखर आता है। मनुष्यके लिये केवल दो ही गतियाँ हैं—या तो वह अपनेको जड़ताके प्रवाहमें डाल दे अथवा नियन्त्रण और संयम करके अपनेको चेतनकी ओर उन्मुख करे। चेतनको जानना-मानना ही धार्मिकताका प्रारम्भ है। सम्पूर्ण विश्वमें ऐसा कोई धार्मिक सम्प्रदाय नहीं है—भारतीय, अभारतीय, वैदिक या अवैदिक, जो किसी-न-किसी रूपमें चेतन सत्ताको स्वीकार न करता हो। चेतन सत्ताकी स्वीकृति ही धर्मकी मूलभित्ति है और धर्मानुष्ठान ही उसे जड़ताकी दृढ़ ग्रन्थिसे मुक्त करता है।

चेतन सत्ताकी स्वीकृति ही आस्तिकताका मूल है। अपनेको चेतन जान लेनेपर देह-इन्द्रियोंके भोग-भोग उतना मूल्याङ्कन नहीं रहता। देहाभिमान छूटता है, प्रयासकी दिशा बदल जाती है, मन वासनाका अनुसरण छोड़कर अनुशासनमें टिकने लगता और बारंबार चेतनके पास जाकर बैठता है। ईश्वरचैतन्यके पास बैठना 'उपासना' है और आत्मचैतन्यके पास बैठना 'योग' है। चैतन्यकी उपासना और उसमें स्थिति होनेसे देश-कालके बन्धन श्लथ हो जाते हैं और व्यक्तित्व जीवनकी उस अनन्त चैतन्य सत्तासे एक हो जाता है। नास्तिकता दुःख, अज्ञान तथा मृत्युका मार्ग है। आत्मज्ञान अनन्त जीवन, स्वतन्त्र सुख और परमानन्दका मार्ग है। दोनों मार्ग खुले हैं—'येनेष्टं तेन गम्यताम्'—जिससे जाना चाहो, जाओ। केवल दृष्टि ही दी जा सकती है। किसीको घसीटकर ले जाना न तो व्यावहारिक है, न उचित। अपने मनको अपने ही अन्तर्देशके सूक्ष्मतर प्रदेशमें प्रवेश करने दीजिये। उसे चेतनसे एक होने दीजिये। फिर सब समीप है। न ईश्वर दूर है और न तो उसके मिलनेमें देर है। नारायण दूर हो नहीं सकता। नरका हृदय 'नार' है और वही जिसका घर है, उसे 'नारायण' कहते हैं। वह तो यहीं है, अभी है और यही है। हममें है, हमारी माताके गर्भमें है, पिताके वीचमें है, गेहूँके कणमें है, पञ्चभूतमें है। उसके अतिरिक्त और है ही क्या? वह विश्व, विश्वातीत, विश्वसाक्षी, विश्वनिर्माता, विश्वोपादान एवं अद्वितीय है।

प्रश्न यह उठता है कि 'वह ईश्वर हमारे अन्तर्गत ही निरन्तर बैठा है तो दीखता क्यों नहीं?' आप दर्शनकी प्रक्रियापर ध्यान दें। हमारी इन्द्रियोंसे जो पदार्थ दीखते हैं, उनमें इन्द्रिय और पदार्थके बीचमें भी एक तीसरी वस्तु रहती है। उसको 'अधिदैव' कहते हैं। उदाहरणके लिये, नेत्र और रूपके बीचमें प्रकाशका होना आवश्यक है। नेत्र 'अध्यात्म' हैं, रूप 'अधिभूत' है और प्रकाश



‘अधिदैव’ है। इसी प्रकार जब साक्षी अपनी दृष्टिसे किसी वस्तुको देखता है, तब साक्षी और वस्तुके बीचमें ईश्वर होता है। जब बुद्धिसे हम औचित्य, न्याय्य अथवा धर्मका निश्चय करते हैं, तब बुद्धिको सहायता देनेवाले चैतन्य प्रकाशका नाम ही ‘वासुदेव’ होता है। जो सबकी बुद्धिके अन्तरमें रहकर उसका नियमन करता है, प्रेरणा और प्रकाश देता है, उसीको तो ‘ईश्वर’ कहते हैं। अच्छाई-बुराई, हित-अहितका ज्ञान किसके सहारे होता है? व्यष्टि एवं समष्टि बुद्धियों और उनके विषयोंको प्रकाशित करनेवाला कौन है? जिससे सब चमक रहा है, दमक रहा है, वही चैतन्य ज्ञानस्वरूप ईश्वर है।

‘यदि कोई टेलीफोन ( तडित्-स्वन ) पर ईश्वरसे बात करना चाहे तो किस नम्बरपर मिलाये?’—एक महात्मासे किसीने प्रश्न किया। महात्माने हँसकर उत्तर दिया—‘अपने हृदयका डायल निरभिमानताके नम्बरपर घुमाओ। ईश्वर तुम्हारी अन्तरकी ध्वनि सुनेगा और उत्तर भी देगा, चाहे कितनी भी बात कर लो—‘तद्दूरे तद्वन्तिके!’ ईश्वर दूरे दूर है, पास-से-पास है।’

ईश्वर और जीवके बीचमें कोई आवरण नहीं है। जीव और ईश्वर परस्पर घुल-मिलकर ही रहते हैं। वेदान्तियोंने मल, विक्षेप और आवरण—तीन दोष माने हैं; परंतु भक्तिसिद्धान्तमें आवरण दोष नहीं है। अंश और अंश, सिंधु और बिन्दु, जल तथा तरङ्गके बीचमें यवनिका कहाँ है? भक्तिके आचार्योंने स्पष्ट शब्दोंमें उद्घोष किया है कि ईश्वरके प्रति प्रेमकी न्यूनता अथवा ईश्वरसे विमुखता ही उसके दर्शनमें बाधक है। नर-नारायणसे दूर जा नहीं सकता। नारायण नरसे पृथक् कभी हो नहीं सकते। नर-नारायणकी सनातन अचल एकरस जोड़ी है। नारायण नर हैं तो नर नारायण है। प्रह्लादने कहा है कि यह सारी सृष्टि और स्वयं मैं ईश्वर ही हैं—

‘सकलमिदमहं च वासुदेवः।’ (वि० पु० ३।७।३२)

आश्चर्यकी बात तो यह है कि दर्शनशास्त्रकी कक्षामें परस्पर मतभेद रखनेवाले अद्वैती शंकर, विशिष्टाद्वैती रामानुज, विशुद्धाद्वैती वल्लभ और अचिन्त्य द्वैताद्वैती

वल्लभदेवविद्याभूषण—सभी प्रह्लादके इस वचनको अपने-अपने मतकी पुष्टिके लिये उद्धृत करते हैं और ‘सर्व खल्विदं ब्रह्म’ श्रुतिके समान ही स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्थामें ईश्वरके अदर्शनका कारण क्या? श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—‘यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमारे हृदयमें ईश्वरके प्रति अनुरागका उदय नहीं हुआ।’ यह अनुरागका अनुदय ही ईश्वरके दर्शनमें प्रतिबन्धक है।

अब प्रश्न है कि भक्ति क्या है? शाण्डिल्यके अनुसार ईश्वरमें परमानुराग ही भक्ति है। नारदके अनुसार वह परम प्रेमरूपा है, अमृतस्वरूपा भी है। अङ्गिरा-के अनुसार परमात्मा रसरूप है, इसलिये पूर्ण रसात्मिका वृत्ति ही भक्ति है। जिस किसी भी निमित्तसे प्रेमपूर्वक चित्त-वृत्तिका भगवदाकार होना ही ‘भक्ति’ है। मैंने एक महात्मासे प्रश्न किया—‘हमारे जीवनमें भक्ति कैसे प्रकट हो?’

उन्होंने कहा—‘माता जब बच्चेको पाठशाला भेजती है, तब साथमें कलेवा रखती है। आने-जानेके लिये सवारीकी और मार्गमें सुरक्षाकी व्यवस्था भी कर देती है। जबतक अपना शिशु माताके पास लौट नहीं आता, तबतक वह उसका ध्यान भी रखती है। क्या परमेश्वरने, हमारे सच्चे माता-पिताने हमें संसारमें खाली हाथ भेज दिया है? नहीं-नहीं, भक्ति तो हमारे साथ ही रख दी। यह शाश्वत पाथेय हमारे हृदयकी झोलीमें भरा है। कहाँ है वह भक्ति? उसके दर्शन दुर्लभ क्यों हो गये हैं? उत्तर स्पष्ट है। हमारे हृदयमें मोह है। उसकी दो वृत्तियाँ हैं—‘अहंता’ और ‘ममता’। देहमें अहंता प्रधान है, परिवार आदिमें ममता। मोहकी इन दोनों वृत्तियोंको मिटानेकी आवश्यकता नहीं है। बस, इन्हें भगवान्के साथ जोड़ना है। ‘मैं’ का पेट देहसे मत भरो, भगवान्-से भरो। ‘मेरापन’का पेट बेटेसे नहीं, धनसे नहीं, भगवान्से भरो। बस, मोहका रुख ईश्वरके सम्मुख कर दो। इसीका नाम ‘भक्ति’ है। इसी प्रकार काम, लोभ आदिका मुख भी भगवान्की ओर मोड़ दो। भगवान् ही परम सुन्दर, परम प्रिय हैं। भगवान् ही परम धन, सर्वस्व हैं। काम-लोभसे लड़ो मत! उनका रूपान्तर



कर दो । विषयके अतिरिक्त उनका और कोई रूप नहीं है । इसलिये जहाँ उनके विषयके रूपमें भगवान् होंगे, वहाँ ये ही 'भक्ति' बन जायेंगे । शान्ति युद्ध और संघर्षमें नहीं है, मनके भगवान् के साथ जुड़नेमें है । हम प्रह्लादके शब्दोंमें प्रार्थना करें कि 'अविवेकी पुरुष संसारके विषयोंमें जैसी प्रीति करते हैं, हमारी वैसी ही प्रीति आपके चरणोंमें बनी रहे'—

भगवान् के साथ प्रीति जोड़ें कैसे ? वृत्तियोंको कैसे मोड़ें ? विषयवासनाको कैसे छोड़ें ? इन चिराभ्यस्त सम्बन्धोंको कैसे तोड़ें ? उपाय यह है कि धन, परिवार, कामिनी और शत्रुके स्थानपर भगवान् को बैठकर उन्हें निकाल फेंकिये । प्यार और प्यास, लोभ एवं क्षोभ, क्रोध एवं शोध भगवान् के साथ जोड़िये । उन्हींके लिये रोइये, हँसिये । उन्हींसे लड़िये-झगड़िये । सम्बन्धके सारे बन्धन उन्हींके साथ बाँधिये । आप देखेंगे कि भगवान् की प्राप्ति के लिये जो कुछ साधन-सामग्री चाहिये, वह आपको पहलेसे ही प्राप्त है ।

हमारी भक्तिका क्या रूप हो ? आप पहले विचार कीजिये कि आपको भगवान् का अधिक वियोग पुरता है या संयोग । दोनों ही स्थितियोंमें आप गोपियोंकी वियोग-लीला और मिलनलीलाका अनुसंधान कर सकते हैं । यदि हम संसारकी अच्छी वस्तुओंको अपने साथ सटाकर रखना चाहें और बुरी वस्तुओंको हटा देना चाहें और बादमें भक्ति करनेकी योजना बनायें तो वह कभी सधेगी नहीं । बहुत लोग योजना बनाते-बनाते ही मर जाते हैं । संसारकी सब वस्तुओंको हटाना-सटाना शक्य नहीं है । थोड़ी-सी वस्तुओंको भी हटाना-सटाना देरतकके लिये नहीं हो सकता । यह कार्यक्रम तो कभी समाप्त नहीं हो सकता । इनसे सुखी-दुखी होना मूर्खता है । इनको जहाँ-का-तहाँ, ज्यों-का-व्यों रहने दिया जाय । इनसे छेड़-छाड़ करके रार मचाना अनावश्यक है । हमें यही नीति अपनानी पड़ेगी कि—

‘तू तो राम भजो, जग लड़वा दे ।’

मैंने एक महात्मासे प्रश्न किया—‘संसारको कितना

सुधार दिया जाय, कैसा सँवार दिया जाय या इसे कितना निखार दिया जाय कि इसको आप पसंद करेंगे ?’ उन्होंने कहा—‘भाई ! संसार तो हमें पसंद न आयेगा । हमें तो जिसको पसंद करना था, पसंद कर चुके हैं । हम क्या इसीके लिये पैदा हुए हैं ? यहाँ कबीरकी भाँति बेदाग जाना चाहिये—‘दास कबीर जतनसे ओढ़ी, ज्यों-की-व्यों धरि दीन्हि चरिया ।’ भगवान् ने हमें अनेक प्रकारकी वृत्तियाँ इसलिये दी हैं कि हम ऊँचे नहीं । ईश्वरने दुःख इसलिये दिया है कि हम संसारमें अटकें नहीं । निद्रा इसलिये दी है कि हम भटकें नहीं । अपने प्रिय स्थान अन्तर्देशका स्मरण बना रहे । चञ्चलता इसलिये दी है कि हम कहीं लटकें नहीं, किसीके प्रेममें फँस न जायँ । निच खीर खाते रहें, तो भी मन ऊँच जाता है । मन यदि चञ्चल है तो इस बंदरको मनमोहनके सामने नचाये । वृत्तियाँ चञ्चल हैं तो इन अप्सराओंको भगवान् के सामने रासमें लगा दीजिये । इसीसे ईश्वरके साथ जुड़ना सहज हो जाता है । जब आप यह कल्पना करेंगे कि ईश्वर हमारे साथ जगता है, स्नान एवं स्नानभाव करता है, हमारे साथ सोता और चलता है, तब आप देखेंगे सचमुच ईश्वर आपके साथ हैं । आपकी कल्पना ईश्वरके आरूढ़ होते ही वह कल्पना न होकर सच्ची हो जायगी । आप गोपियोंके सम्भोग-विप्रलम्भात्मक संयोग वियोगरूप प्रेमपर ध्यान दें, आपके हृदयमें वह प्रेम उतर आयेगा । भगवान् स्वयं प्रेमस्वरूप हैं । कुरुक्षेत्रमें यशोदा माताकी गोदमें सिर रखकर रोते हैं । सुदामाके पाँव आँसुओंसे धोते हैं, रुक्मिणीके लिये उनकी नींद नहीं आती । जीव और ईश्वर नित्य सदा हैं । उनके पास पहुँचे बिना जीव सुखी नहीं हो सकता । प्रारम्भ आस्तिकता, श्रद्धा, आस्था और दृढ़ निश्चय होता है । परंतु इसकी परिणति सत्यके साक्षात्कार होती है । सत्य अभी है, यहीं है, यही है और उन्हीं जुदा नहीं है । केवल एक बार उसकी ओर उन्हीं



## गीताका भक्तियोग-५

(पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुन्दरदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[ गताङ्क पृष्ठ १०३५ से आगे ]

सम्बन्ध

भगवान्ने दूसरे श्लोकमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ योगी बतलाया तथा छठे और सातवें श्लोकोंमें 'ऐसे भक्तोंका मैं उद्धार करता हूँ' यह बात कही। अब इस श्लोकमें अर्जुनको ऐसा श्रेष्ठ योगी बनानेके उद्देश्यसे ही आज्ञा देते हैं।

श्लोक

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।  
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

भावार्थ

बुद्धिको भगवान्में प्रवेश करा देनेका अर्थ है कि बुद्धिमें भगवान् ही रहें और मनको उनमें स्थापित करनेका भाव यह है कि प्रेमपूर्वक चिन्तन भगवान्का ही रहे। मन-बुद्धि संसारमें लगे रहनेके कारण भगवान् अत्यन्त समीप होते हुए भी अत्यन्त दूर प्रतीत होते हैं। मन-बुद्धिमें संसारका जितना महत्त्व होगा, उतनी ही भगवान्से दूरी दिखायी देगी। इसलिये अर्जुनको भगवान् आज्ञा देते हुए कहते हैं कि 'तू मन-बुद्धिको संसारके किसी प्राणि-पदार्थमें न लगाकर मुझमें ही लगा; इस प्रकार मन-बुद्धि सर्वथा मुझमें लगानेसे तू मुझे प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।' इस श्लोकमें साधककी ध्यानसे आगेकी स्थितिका वर्णन है; क्योंकि ऐसी स्थिति होनेपर ध्यान स्वतः होता है, करना नहीं पड़ता। ऐसे साधककी स्मृतिमें तो स्मृति है ही, भूलमें भी स्मृति रहती है।

### साधन-सम्बन्धी विशेष बात

भगवान्की प्राप्ति किसी साधन-विशेषसे नहीं होती। साधन शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके आश्रयसे ही होता है। शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिके कार्य

होनेसे जड़ वस्तुएँ हैं। जड़ पदार्थोंके द्वारा भगवान् खरीदे नहीं जा सकते; क्योंकि सम्पूर्ण प्रकृतिके पदार्थ मिलकर भी चिन्मय परमात्माके तुल्य नहीं हो सकते।

साधक जिस क्षेत्रमें रहता है, उसे उसी क्षेत्रमें पुरुषार्थसे ही अभिलषित पदार्थ मिलते दीखते हैं। अतः स्वाभाविक ही उसका यह भाव रहता है कि 'पुरुषार्थके द्वारा ही पदार्थ मिलते हैं।' इसलिये भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें भी वह यही सोचता है कि 'मेरे साधन-से ही भगवत्प्राप्ति होगी।'।

मनु-शतरूपा और पार्वतीको तपस्यासे ही अपने इष्टकी प्राप्ति हुई—इतिहास आदिमें ऐसी बातें पढ़ने-सुनने-से साधकके अन्तःकरणपर ऐसी छाप पड़ती है कि साधनसे ही भगवान् मिलते हैं और उसकी यह धारणा क्रमशः दृढ़ होती रहती है। किन्तु साधनसे ही भगवान् मिलते हों, ऐसी बात है नहीं। तपस्यादि साधनोंसे जहाँ प्राप्ति हुई दीखती है, वहाँ भी जड़के साथ माने हुए सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेसे ही वह हुई है, न कि साधनोंसे। साधनकी सार्थकता असाधनको दूर करनेमें अर्थात् जड़के साथ जोड़े हुए सम्बन्धका त्याग करानेमें है। जड़के साथ सम्बन्धका सर्वथा त्याग होनेपर भगवान् स्वतः प्राप्त हैं ही। अतः अपने साधनसे जो साधक भगवत्प्राप्ति मानते हैं, वे बड़ी भूलमें हैं। जिस साधनका तात्पर्य जड़ताका त्याग करानेमें है, उस साधनमें ममता करनेसे और उसका आश्रय लेनेसे जड़के साथ सम्बन्ध बना रहता है। जबतक जड़ताका यत्किंचित् भी आदर है, तबतक भगवत्प्राप्ति असम्भव है। इसलिये साधकको चाहिये कि शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंसे



और उनके द्वारा होनेवाले साधनसे भगवत्प्राप्ति होगी—  
ऐसी मान्यता न रखकर जडके साथ सर्वथा सम्बन्ध-  
विच्छेद कर ले ।

जडके साथ सम्बन्धका सर्वथा त्याग करनेके तीन  
मुख्य साधन हैं—( १ ) ज्ञानमार्गमें—विवेकके द्वारा  
जडताका त्याग कर दे; ( २ ) कर्मयोगमें—प्राणीमात्रकी  
सेवामें जड पदार्थोंको लगाकर सेवाके द्वारा जडतासे  
सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद कर ले और ( ३ ) भक्तिमार्गमें—  
भगवान्में मैं-मेरेपनके भावकी अखण्ड-जागृति करके  
जड संसारसे सर्वथा विमुक्त हो जाय ।

#### अन्वय

मयि, मनः, आधत्स्व, मयि, एव, बुद्धिम्, निवेशय,  
अतः, ऊर्ध्वम्, मयि, एव, निवसिष्यसि, संशयः, न॥ ८ ॥

**मयि मनः आधत्स्व मयि एव बुद्धिम् निवेशय—**  
( मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा । )

भगवान्के साथ जिनका नित्य संयोग है और उनसे  
कभी वियोग होता ही नहीं, भगवान्के मतमें वास्तवमें  
वे ही 'उत्तम योगवेत्ता' हैं । अर्जुनको निमित्त बनाकर  
सभी साधकोंको योगवेत्ता बनानेके उद्देश्यसे भगवान्  
आज्ञा देते हैं कि 'मुझको ही परम श्रेष्ठ और परम प्राप्य  
मानकर बुद्धिको मुझमें लगा दे और मुझको ही अपना  
प्यारेसे-प्यारा मानकर मेरे ही चिन्तनमें अपने मनको  
लगा दे ।'

मन-बुद्धि लगानेका तात्पर्य यह है कि अभीतक जिसका  
मन जड संसारमें ममता, आसक्ति, सुख-भोगकी इच्छा,  
आशा आदिके कारण बार-बार संसारका ही चिन्तन करता  
है एवं बुद्धि संसारमें ही ठीक-बेठीकका निश्चय करती है,  
जिसके कारण वह जीव संसारमें फँसा हुआ है, वह संसारसे  
हटाकर मनको बार-बार भगवान्में लगाये एवं बुद्धिके  
द्वारा दृढ़तासे निश्चय करे कि 'मैं केवल भगवान्का ही  
हूँ और भगवान् ही केवल मेरे हैं, सर्वोपरि, परम श्रेष्ठ,  
परम प्राप्य भगवान् ही हैं ।' ऐसा बार-बार अभ्यास

करते रहनेसे संसारका चिन्तन और आदर कम-  
घटने लगता है और अन्तमें सर्वथा नष्ट हो जाता है  
तथा एक भगवान्के साथ ही मेरापन रह जाता है ।  
यही मन-बुद्धिका भगवान्में लगना है ।

मन-बुद्धि लगानेमें बुद्धिका लगाना ही मुख्य है ।  
किसी विषयमें बुद्धिका ही निश्चय पहले होता है और  
फिर मन बुद्धिके उस निश्चयको स्वीकार कर लेता है ।  
तत्पश्चात् बुद्धि संशयरहित हो उस विषयमें स्थिर हो  
जाती है । जिन पुरुषोंका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति नहीं  
है, उनकी भी मन-बुद्धि वे जिस विषयमें उन्हें लगाना  
चाहेंगे, उस विषयमें लग जायँगी और उस विषयमें  
मन-बुद्धि लग जानेपर शक्तियों और सिद्धियोंकी  
तो प्राप्ति हो सकती है, किंतु उद्देश्य भगवत्प्राप्ति न  
होनेसे भगवत्प्राप्ति नहीं होगी । अतः साधकोंको चाहिये कि  
बुद्धिसे यह दृढ़ निश्चय कर ले कि 'मुझे भगवत्प्राप्ति ही  
करनी है ।' इस निश्चयमें बड़ी शक्ति है । भगवान्ने  
दूसरे अध्यायके ४१वें श्लोकमें व्यवसायात्मिका बुद्धि-  
की बड़ी प्रशंसा की है । ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि  
होनेमें भोग और संग्रहमें सुखकी आशा ही महान्  
बाधक है । संसारमें सुखकी आशासे ही मनुष्यकी  
वृत्तियाँ धन-मान आदिको लक्ष्य करती रहती हैं, इसलिये  
उसकी अनन्त बुद्धियाँ हो जाती हैं ( गीता २ । ४४ ) ।  
इस दृढ़ निश्चयमें इतनी पवित्रता है कि दुराचारी-से-  
दुराचारी पुरुषको भी भगवान् साधु माननेके लिये अर्जुनसे  
कहते हैं । इस निश्चयके प्रभावसे वह शीघ्र ही धर्मात्मा  
हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त  
हो जाता है ( गीता ९ । ३०-३१ ) ।

'मैं भगवान्का ही हूँ और भगवान् ही  
मेरे हैं'—साधककी दृष्टिमें ऐसा निश्चय बुद्धिमें  
होता है, परंतु बात वास्तवमें ऐसी नहीं है । बुद्धिमें  
ऐसा निश्चय दीखनेपर भी साधक स्वयं भगवान्में स्थित



संख्या ८]

है, उसे इस बातका पता नहीं होता। वह इसे जानता नहीं, पर वास्तवमें बात यही है। भगवान्‌में स्थित होनेकी क्या पहचान है? इसकी पहचान यह है कि वह इस सम्बन्धको कभी भूलता ही नहीं। यदि केवल बुद्धिकी ही बात हो तो भूल भी जाय, पर मैपनकी बात-बुद्धिसे निश्चय कर लेता है कि मैं अमुक गुरुजीका शिष्य हूँ—वह उस सम्बन्धके लिये कोई अभ्यास नहीं करता तो भी वह निश्चय उसके भीतरमें अटल रहता है—यादमें तो याद है ही, भूल भी याद है; क्योंकि मैं-पनमें है। ऐसे ही बुद्धिसे निश्चय होनेपर कि मैं केवल भगवान्‌का हूँ, भगवान्‌ ही केवल मेरे हूँ, यह निश्चय साधकके भीतर अटल पड़ा रहता है। अर्थात् वह स्वयं भगवान्‌में स्थित है, ऐसा निश्चय होनेपर मन-बुद्धि भगवान्‌में स्वतः लग जाती है।

भक्तिमार्ग और भक्तिप्रधान कर्मयोगमें मैं-मेरे-पनका भाव संसारसे सर्वथा हटकर भगवान्‌में ही रहता है। एवं ज्ञानमार्ग और कर्मप्रधान कर्मयोगमें 'मैं'का सर्वथा अभाव होकर एक ब्रह्मका ही भाव रहता है। अतः मैपनके भावको बदलनेसे या मैपनका अभाव होनेसे मन-बुद्धि स्वतः परमात्मामें लग जायँगी।

**भगवान्‌में मेरेपनके भावको स्थिर करनेके**

**सुगम उपाय**

वैसे साधारणतया हमारी अहंता अर्थात् मैपन शरीर और मन-बुद्धिके साथ दीखता है, परंतु वास्तवमें उसके साथ है नहीं। वचनसे 'लेकर आज तक मैं वही हूँ; पर शरीर, मन-बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि सब-के-सब बदल गये। अतः 'मैं' बदलनेवाला नहीं हूँ'—इस बातको आजसे ही दृढ़तापूर्वक मान ले। (वैसे साधारणतया मानना बुद्धिसे होता है, पर यहाँ स्वयंसे माननेकी बात है।)

कैसे मानें? एक ओर मैं नहीं बदला—यह सभीका प्रत्यक्ष अनुभव है और आस्तिक बुद्धिकी मान्यतावालोंके एवं भगवान्‌में श्रद्धा रखनेवालोंके भगवान्‌ कभी नहीं बदले; दूसरी ओर शरीर-मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि सब-के-सब बदल गये और दीखनेवाला संसार बदलता हुआ दीखता है। इसलिये न बदलनेवाला मैं और भगवान्‌ दोनों एक जातिके हैं, जब कि बदलनेवाला शरीर और संसार दोनों एक जातिके हैं। न बदलने-वाला मैं और परमात्मा—दोनों ही व्यक्तरूपसे नहीं दीखते, जब कि बदलनेवाला शरीर और संसार दोनों ही व्यक्तरूपसे प्रत्यक्ष दीखते हैं। अतः बदलनेवाला मैं नहीं हूँ, यह प्रत्यक्ष है।

'मैं'के होनेमें संदेह नहीं, मैपनका अभाव भी नहीं। मैं क्या हूँ, इसका तो पता नहीं; पर मैं हूँ, यह निस्संदेह बात है। जैसे संसार प्रत्यक्ष दीखता है, ऐसे ही मैपनका भी भान होता है। अतः 'मैं' क्या है, यह अनुभव करना साधकके लिये बहुत उपयोगी है। 'मैं' क्या है—इसका अनुभव कैसे करें? 'मैं' क्या है, इसका तो पता नहीं; परंतु संसार कैसा है, यह तो पता है ही। संसार उत्पत्ति-विनाशवाला है, सदा एकरस रहनेवाला नहीं है—यह सभीका अनुभव है; अतः इस अपने अनुभवको हर समय स्थायी रखो। यह नियम है कि संसार और 'मैं'—दोनोंमें किसी एकका पता ठीकसे लगनेपर दूसरेका पता स्वाभाविक—अपने-आप लग जायगा।

मैं चेतन और नित्य होनेसे उत्पत्ति-विनाशवाले जड़ संसारसे मेरा सम्बन्ध नहीं। मेरा तो स्वतःसिद्ध सम्बन्ध भगवान्‌से है, सदासे है। इस सम्बन्धको पहचानना ही 'मैं' क्या है, इसका अनुभव करना है और इस सम्बन्धको पहचान लेनेपर मन-बुद्धि स्वतः भगवान्‌में लग जायँगी।



जिन साधकोंका भगवान्में स्वाभाविक श्रद्धा और प्रेम है, उनके लिये यह साधन अत्यन्त उपयोगी है ।

मयि ( मुझमें ) । इसी अध्यायके २रे श्लोकमें भगवान्ने 'माम्' और 'मयि' पदोंका अपने जिस स्वरूपके लिये प्रयोग किया है, उसीके लिये यहाँ 'मयि' पद आया है ।

'एव' (ही) । यहाँ 'एव' पद अनन्यताके लिये है । भगवान्ने गीताजीमें स्थान-स्थानपर अपने प्रति अनन्यता लानेपर बहुत जोर दिया है । सातवें अध्यायके १४वें श्लोकमें 'मामेव' और अठारहवें अध्यायके ६६वें श्लोकमें 'मामेकम्' पदोंको इसी अनन्यताके लिये कहा गया है ।

आठवें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' पदके द्वारा साधकको भगवान्में मन-बुद्धि अर्पित करनेके लिये प्रेरित किया गया है ।

इसी अध्यायके १४वें श्लोकमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' पद जिसकी मन-बुद्धि भगवान्में सर्वथा अर्पित हो गयी है, ऐसे सिद्ध भक्तके लिये आया है ।

अतः ऊर्ध्वम्—( इसके उपरान्त ( तू )

इस पदका अभिप्राय यह है कि जिस क्षण मन-बुद्धि भगवान्में पूरी तरह लग जायँगी, उसी क्षण भगवत्प्राप्ति हो जायगी । ऐसा नहीं है कि मन-बुद्धि लगनेके बाद उनकी प्राप्तिमें कालका कोई व्यवधान रह जायगा ।

मयि एव निवसिष्यसि ( अत्र ) संशयः न—( मुझमें ही निवास करेगा, इसमें ( कुछ भी ) संशय नहीं ( है । )

भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन ! तू मुझमें ही निवास करेगा—इसमें संशय नहीं है ।' इसका अर्थ यह निकलता है कि अर्जुनके मनमें संशयकी

गुंजाइश है, तभी तो भगवान् 'न संशयः' पद देने के लिये । यदि संशय होनेकी गुंजाइश ही न होती तो इस पदके देनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती ।

मनुष्यके हृदयमें प्रायः यह बात जँची हुई है कि कर्म अच्छे होंगे, आचरण अच्छे होंगे, एकान्त आदिका सेवन करके ध्यान लगायेंगे, तब परमात्माकी प्राप्ति होगी और यदि ऐसे साधन नहीं हुए तो क्या प्रसन्न हो सकेगा, इस संशयको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं कि 'मेरी प्राप्ति का उद्देश्य रखकर मन-बुद्धिको मुझमें लगाना जितना कीमती है, उतने कीमती ये सब साधन नहीं हैं । अतः मन-बुद्धि मुझमें लगानेसे निश्चय ही मेरी प्राप्ति होगी, इसमें कोई संशय नहीं है ।' जबतक बुद्धिमें संसारका महत्त्व है, मनसे संसारका चिन्तन होता रहता है, तबतक वास्तविक स्थिति परमात्मामें होते हुए भी संसारमें ही स्थिति है । संसारका सङ्ग रहनेसे संसारचक्रमें घूमना पड़ता है । उपर्युक्त पदोंसे अर्जुनका संशय दूर करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'तू चिन्ता मत कर कि मुझमें मन-बुद्धि सर्वथा लगानेपर तेरी स्थिति कहाँ होगी । जिस क्षण तेरी मन-बुद्धि एकमात्र मुझमें सर्वथा लग जायँगी, उसी क्षण तू मुझमें ही निवास करेगा; क्योंकि तेरी मन-बुद्धिमें मेरे प्रति प्रियता और मेरा ही आदर है । अतः मेरे सिवा तेरी स्थिति कहाँ होगी ? अर्थात् मुझमें ही होगी ।

'अन्तकालमें मन जिसका चिन्तन करेगा, उसीकी प्राप्ति होगी ( गीता ८ । ६ ) । जब मन-बुद्धिको मुझमें ही लगा दिया, तब अन्तकालमें मेरा ही चिन्तन होगा, अतः निस्सन्देह मेरी ही प्राप्ति होगी ।'

'यहाँ साधक भगवान्से यह प्रश्न कर सकता है—'मन-बुद्धि आपमें लगानेके बाद मेरे कर्मोंका क्या फल होगा ? मुझे सिद्धि प्राप्त होगी कि नहीं ? मेरे आचरण अच्छे होंगे कि नहीं ? मेरे भाव कैसे होंगे ? मेरी गति क्या होगी ? आदि-आदि ।'



भगवान् कहते हैं—‘मन-बुद्धि मुझमें लगानेपर तुझे यह विचार करनेकी किचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। तू तो मुझमें ही निवास करेगा, इसमें संशय नहीं है।’

मन-बुद्धि भगवान्में लगानेके सिवा साधकके लिये और कोई कर्तव्य नहीं है। भगवान्में बुद्धि लगानेपर वह संसारके आश्रयसे रहित हो जायगा, मन भगवान्में लगनेसे संसारका चिन्तन नहीं होगा—संसारका किसी प्रकारका आश्रय और चिन्तन न रहनेसे भगवान्का आश्रय और भगवान्का ही चिन्तन होगा। भगवान् कहते हैं—‘मेरे आश्रय और चिन्तनसे मेरी ही प्राप्ति होगी। अतः मन-बुद्धि मुझमें लगानेपर निस्संदेह तू मुझमें ही निवास करेगा।’

भगवान् कहते हैं कि ‘यदि तू मन-बुद्धि मुझमें लगायेगा तो तेरी अचल श्रद्धा मैं अपने प्रति कर दूँगा।’ सातवें अध्यायके २१वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि ‘सकाम साधक जिस-जिस देवताको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस साधककी उस-उस देवताके प्रति श्रद्धाको मैं स्थिर कर देता हूँ।’ जब सकाम साधककी भी श्रद्धा उस देवताके प्रति भगवान् अचल कर देते हैं, तब अपनेमें मन-बुद्धि लगानेवालेकी श्रद्धाको अपनेमें क्यों नहीं अचल कर देंगे ? अवश्य कर देंगे। भगवान् कहते हैं कि ‘ऐसा होनेपर फिर तू मुझसे अलग नहीं हो सकेगा, मुझे ही प्राप्त होगा।’

जीवात्मा परमात्माका अंश है ही (गीता १५।७)।

मन-बुद्धिके राग-द्वेषपूर्वक संसारमें लगनेसे ही जीव अपनेको भगवान्से त्रिमुख मानता है। यदि वह मन-बुद्धिको सर्वथा भगवान्में ही लगा दे तो उसकी स्वतः परमात्मामें ही स्थिति रहेगी; क्योंकि अंश अंशीसे अलग नहीं रह सकता। भगवान् यहाँ कहते हैं कि ‘हे अर्जुन ! जब तुमने मन-बुद्धिको मुझमें ही लगा दिया, तब फिर तुम्हारी अपनी स्थिति स्वतः मुझमें हो गयी। इसलिये तुम्हें संशय करनेकी आवश्यकता नहीं है।’

आठवें अध्यायके ५वें श्लोकमें और दसवें अध्यायके ७वें श्लोकमें ‘न संशयः’ पद इसी भावमें भगवत्प्रातिविषयक संशय-निवृत्तिके लिये आया है।

चौथे अध्यायके ४२वें श्लोकमें ‘संशयम्’ पद अज्ञानके कारण होनेवाली ईश्वर, परलोक, आत्मा और जीवविषयक शङ्काओंके लिये आया है।

चौथे अध्यायके ४०वें श्लोकमें ‘संशयात्मा’ और ‘संशयात्मनः’ पद एक ही अर्थमें, अर्थात् जिसको हरेक विषयमें संशय होता रहता है, जो अपने अविवेकके कारण ठीक समझ नहीं पाता और महापुरुषोंके निर्णयमें संशय करता रहता है—ऐसे पुरुषके लिये ये दोनों पद आये हैं। ऐसा संशय साधकके लिये साधनामें अति बाधक है।

सिद्धिको प्राप्त न हुए साधकका कभी पतन तो नहीं हो जाता—इस बातको लेकर अर्जुनके मनमें जो संशय हुआ, उसी संशयकी ओर छटे अध्यायके ३९वें श्लोकमें आये हुए ‘संशयम्’ और

‘संशयस्य’ पद लक्ष्य कराते हैं। (क्रमशः)

## प्रभु-मिलनका सुख

भई अब मैं बैरागन बौरी, लागी हरि सौं दौरी ।  
छाँड़ी लोकलाज-चतुराई, बंसी सुनि उठि दौरी ॥  
ढूँढ़त-ढूँढ़त कान्हा भैंटे, सुख नहीं जात कहाँ री ।  
‘मानपुरी’ प्रभु परगट देखा, जहाँ-तहाँ धाय रह्यौ री ॥

—संत मानपुरीजी



## आसक्तिताकी आधार-शिलाएँ

मनको उधेड़-बुनसे खाली करके उसमें प्रभुकी  
मुख-शोभाको भरिये ।

विचार कीजिये—आपका घर और घरवाले आपके नहीं हैं। आप इसे अतिथिशाला, धर्मशाला मानें तथा इसमें रहनेवालोंको विभिन्न मार्गोंपर जानेवाले बटोही समझें। खूब प्रेम करें; पर वह प्रेम ठीक-ठीक वैसा ही होना चाहिये, जिससे असली घरकी विस्मृति न हो जाय। थोड़ी देरके लिये गम्भीरतासे विचारें—मृत्यु होनेके बाद आपका घरसे क्या सम्बन्ध रहेगा? जब एक दिन यह सम्बन्ध निश्चित छूट ही जायगा, तब वैसे घरमें यदि कम दिनके लिये रहनेको मिला तो दुःख किस बातका? दुःख तो इस बातके लिये भले ही होना उचित है कि 'ओह! कितना काल बीत गया, स्वामीके घर—असली घरमें एक बारके लिये भी पैर नहीं रक्खा।'।

आपकी यह अभिलाषा बड़ी सुन्दर है—'क्या किसी दिन यह जीवन भी होगा, जब श्रीगोपियोंकी तरह सारा विश्व प्रभुमय दीख सकेगा, सचमुच कामना और आसक्तिसे रहित मेरा हृदय किसी दिन एकमात्र प्रभुके लिये व्याकुल हो उठेगा?' ऐसी अभिलाषा भगवान्की अपार कृपासे ही होती है। अतः जो प्रभु आपके हृदयमें बैठकर इन भावोंकी स्फुरणा कर रहे हैं, वे अवश्य तथा निश्चय ही आगेका मार्ग भी प्रकाशित करेंगे। आप उनकी कर्ुणापर विश्वास कीजिये। हृदयकी सारी शक्ति बटोरकर मनमें यह निश्चय दृढ़तासे जमा लीजिये कि आपके ऊपर एकमात्र उन्हींका अधिकार है और फिर बस, एक ही बातके लिये हृदय निरन्तर पुकारे—'मेरे नाथ! वही करो, जो तुम्हारी इच्छा हो; बस, वही करो। तुम यन्त्री हो, मैं यन्त्र हूँ; तुम नचानेवाले हो, मैं कठपुतली हूँ।'।

'क्या हुआ, क्या नहीं हुआ; क्या होता है, क्या नहीं होता; क्या होगा, क्या नहीं होगा'—इस उधेड़-बुनसे मनको खाली करनेकी भरपूर चेष्टा कीजिये। इसके बदले मनमें भरिये उनकी अनुपम मुखशोभा, भरते चले जाइये। करना केवल इतना ही है। सब मानिये, मन जितना उस माधुरीसे सनेगा, उतनी ही शीघ्रतासे राह कट जायगी।

अनादिकालके पापके संस्कारोंने, आसक्तिसे मनको मैला कर रक्खा है। इसीलिये वह उस सौन्दर्यमें न रमकर जागतिक सौन्दर्यमें रमता है। श्रद्धेय श्रीमार्ज्जुने एक बार अपने अनुभवकी बात बतायी थी—'नाम लें जाओ। जितना अधिक लोगे, उतनी ही शीघ्रतासे मल धुलेगा।' यह बात बिल्कुल ठीक जँचती है, अनुभवमें भी आती है। इसीलिये खूब नाम लें और साथ-साथ मनको भी उनमें डुबाते चले जायँ। फिर सब अपने-आप हो जायगा।

मनको जगत्की बातोंसे खाली करके प्रियतम  
प्राणनाथकी छविके स्मरणसे भरें।

पारिवारिक उलझनोंको लेकर आपको उद्वेग होता है, यह स्वाभाविक है; पर जबतक इससे छूटनेका जो वास्तविक उपाय है, उसे नहीं करेंगे, तबतक व्याकुलता मिटनी, उद्वेग मिटना बड़ा ही कठिन है। परमार्थके पथिकके लिये यह सर्वथा उड़ा देनेकी चीज है; पर आपका मन कमजोर है; मनमें आसक्ति है और सबसे बड़ी बात यह है कि आपका मन जैसा प्रभुके चरणोंमें लगना चाहिये, वैसा नहीं लगा रहा है। इसीलिये ये उलझनें विकटरूपमें दीख रही हैं। सब मानिये, बहुत अधिक आवश्यकता इस बातकी है कि आप इन परिस्थितियोंको बिल्कुल महत्त्व न देकर एकान्त एवं शान्तचित्तसे अपना मन प्रभुके चरणोंमें



संख्या ८ ]

लानेकी चेष्टा करें । यदि आप चाहेंगे कि परिस्थिति पलटते तो ऐसा होना बड़ा ही कठिन है । इसका कारण यह है कि जगत्के प्रत्येक प्राणीकी प्रत्येक चेष्टाके धुंध-से-धुंध अंशका नियन्त्रण भगवान्की शक्तिसे होता है और उसमें कितना मङ्गल, किसका कैसे होता है, इसे केवल भगवान् जानते हैं । पर मङ्गल-ही-मङ्गल होता है, यह प्रत्येक उच्च संतका प्रत्यक्ष अनुभव है । अतः आपकी दृष्टिमें आपके मनसे सर्वथा प्रतिकूल चेष्टा करनेवालेकी प्रत्येक चेष्टा उनकी शक्तिसे नियन्त्रित है । वे चाहें तभी वे पलट सकती हैं, अन्यथा नहीं पलटेंगी— इस बातपर विश्वास होना बड़ा कठिन है । नहीं तो यह विश्वास होते ही सारा दुःख तत्क्षण मिट जाय ।

आप इस फेरमें मत पड़िये कि 'मेरा व्यवहार कैसे सुधरे, मैं अपने परिवारके व्यक्तियोंसे कैसा आचरण करूँ कि उनका और मेरा परम कल्याण हो ।' आप उनकी चिन्ता छोड़ दीजिये और यह चिन्ता भी छोड़ दीजिये कि 'मेरा व्यवहार सुधर जाय; ऐसा हो जाय कि वे लोग मुझसे प्रसन्न हो जायँ ।' ऐसा विचार करना लाभदायक होता है, पर सबके जीवनमें सब अंशोंमें एक प्रकारकी ही साधनाका क्रम नहीं हो सकता ।

संसारके प्रति उपरामताको रखते हुए बार-बार मनकी बिखरी हुई वृत्तियोंको इस कोलाहलसे हटाकर नित्य सुखमय प्रभुके चरणोंमें जोड़ते रहना—आप इसे ही करें । यदि आप मनको जगत्की एवं घरकी बातोंसे खाली करके प्रियतम प्राणनाथकी लुबिके स्मरणसे भरेंगे तो ये बातें इतनी तुच्छ-सी प्रतीत होंगी कि उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती । भगवान्की पूर्ण कृपा आपपर है । इतना ही नहीं, ये जटिल समस्याएँ भी आपको कीचड़से निकालनेके ही उपक्रम हैं ।

हृदयका एक बहुत बड़ा अंश अभी सांसारिक आसक्तियोंसे विरा हुआ है । शायद आपको पता भी

नहीं चलता होगा कि वह सांसारिक आसक्ति कैसी है, कहाँ है, किस रूपमें है; पर वह है । इन सारी आसक्तियोंको छोड़नेके लिये तैयार होना पड़ेगा । छूटेगी तो प्रभुके छुड़ाये, पर चाह आपको ही करनी पड़ेगी । सारांश यह है कि जिस-किसी भी प्रकारसे मनको इन उलझनोंको सुलझानेमें न लगाकर इनको भूलनेकी चेष्टा करें । थोड़ा कठिन है, पर प्रभु सहायक हैं; सब हो सकता है । आप गृहस्थ हैं और जबतक प्रभु चाहेंगे, तबतक उसमें रहना ही पड़ेगा । फलतः जीवन-निर्वाहके लिये भी चेष्टा करनी ही पड़ेगी । उसे कीजिये; कमाते हैं तो न्यायकी कमाई हो और उससे जो प्राप्त हो, उसे आपके परिवारकी जो सँभाल कर रहे हों, उन्हें सौंप दीजिये । घरमें सबसे सम्मान, प्रेम, हित और सत्य— इन चारों बातोंको ध्यानमें रखकर ही व्यवहार कीजिये ! बड़ी शान्तिसे रहिये । किसी दूसरेकी अशान्तिसे आप यदि अशान्ति मोल लेते हैं तो भूल करते हैं । ध्यान रखिये—कुछ भी अनहोनी नहीं होगी, एक पत्ता भी प्रभुके विधानसे ही हिलेगा । सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, इज्जत-बेइज्जती—सब ठीक नियमसे आयेंगे, उनके विधानसे आयेंगे । इसपर विश्वास करें, न करनेसे दुःख बढ़ेगा । कभी कुछ, कभी कुछ सोचते-सोचते माथा गंदे भावोंसे भरेगा । ऐसा न होकर वह भरे एकमात्र प्रभुके स्मरणसे, यह चेष्टा कीजिये ।

**भजनके लिये भजन, चिन्तनके लिये चिन्तन करनेकी चेष्टा कीजिये ।**

'जब नित्य-कर्म करने बैठता हूँ तो तमोगुण बहुत आ जाता है, ऊँघने लगता हूँ; इससे बहुत विक्षेप होता है ।'... इस प्रश्नके उत्तरमें विचार करनेपर तीन बातें ध्यानमें आती हैं—( १ ) जिसकी पाचनशक्ति खराब होती है, उसे आलस्य विशेष आता है; ( २ ) आवश्यकता-भर नींद रातमें न ली जाय तो दिनमें आलस्य आता है और ( ३ ) भगवान्के चरणोंमें



प्रेम न होनेके कारण उनके चिन्तनमें आनन्द नहीं आता और इसलिये वृत्तियाँ आलस्यसे अभिभूत होती हैं। ये ही तीन कारण प्रायः हेतु होते हैं। आप यथासम्भव पहले दो कारणोंपर विचार करके उनमेंसे कोई-सा होनेपर उन्हें सात्त्विक उपचारसे एवं आवश्यकता-भर नींद लेकर दूर करनेकी चेष्टा करें। पर ये दोनों ही गौण हैं। मुख्य बात तीसरी है। जिस क्षण प्रियतम प्रभुके चिन्तनमें रस आने लगेगा, उस क्षण आलस्य सर्वथा नहीं आ सकता। प्रेमी महात्मा तो ऐसे-ऐसे हो गये हैं, जो वे कभी सोते ही न थे। उन्हें जागनेकी चेष्टा करनी पड़ती हो, ऐसी बात नहीं। स्वाभाविक निरन्तर प्रेममें डूबे रहनेके कारण वे मायासे सर्वथा पार हो जाते हैं। पर हमलोग तो अभी जिस स्थितिमें हैं, उसीको लेकर विचार करना है। अतः किसी प्रकार भजन एवं चिन्तनमें रस आने लगे तो यह दोष दूर हो जाय। किंतु इससे भी एक ऊँची बात यह है कि रस आनेका भी भाव छोड़कर केवल भजनके लिये भजन एवं चिन्तनके लिये चिन्तन करनेकी चेष्टा की जाय। रस आना तो भजन एवं चिन्तनका आनुषङ्गिक फल है, वह तो आकर ही रहेगा ( जबतक नहीं आता, तभीतक ये दोष हैं )। इसलिये अपनी जानमें आलस्यके वशमें न होनेका बार-बार दृढ़ निश्चय करके भजन एवं स्मरणको बढ़ानेकी चेष्टा करें, उनकी कृपापर विश्वास करें। बस, आपका इतना ही काम है। वे चाहें तो अभी, इसी क्षण आपकी दशा महाप्रभु चैतन्य-देवकी-सी कर दें, जो निरन्तर १२ सालतक रोते रहे। गौड़ीय महात्माओंका विश्वास है कि महाप्रभु स्वयं

श्रीकृष्ण ही थे। अतः अपने मनमें ऐसी शङ्का हो सकती है कि 'वैसी अवस्था मेरी कैसे होगी' तो उन्हें छोड़ दें। आजतक जितने प्रेमी भक्त हो गये, उनमें ही बात सोचिये। आप विश्वास कीजिये—( १ ) श्रीकृष्णका जो सम्बन्ध उन प्रेमी महात्माओंसे था, ठीक वही-का-वही सम्बन्ध आपके साथ है। ( २ ) उन्हें विषमता नहीं है, वे आपको भी ठीक उतना ही प्यार करते हैं। ( ३ ) आपकी सब बात जानते हैं। ( ४ ) उनसे बढ़कर आपका हित करनेवाला न कोई है, न था, न होगा। ( ५ ) वे सर्वसमर्थ हैं, जिस क्षण जो चाहें, कर सकते हैं।

यदि इन पाँच बातोंपर दृढ़ विश्वास जमा सकें तो समझना चाहिये कि आप तो पूर्ण समर्पणके मार्गपर आखड़ हो गये। इसलिये सब चिन्ता छोड़कर इन पाँच बातोंपर विश्वास कीजिये—अडिग अटूट विश्वास कीजिये और जीभसे उनका अधिक-से-अधिक नाम लीजिये। मनको भी यथासम्भव उनमें लगानेकी चेष्टा कीजिये; पर न लगे तो घबराइये मत, निराश मत होइये। फिर कोई दोष नहीं रहेगा, सर्वथा निर्दोष बनाकर वे स्वयं आपको कलेजेसे लगा लेंगे। देरी नहीं होगी, इतनी जल्दी होगी, जितनी आप कल्पना भी नहीं कर सकते। पर यह सब विश्वास करनेसे होगा। इस विश्वासको प्राप्त करनेके लिये जो भी करना पड़े, वह करनेके लिये सच्चे मनसे तैयार हो जाइये; फिर यह विश्वास भी बहुत सस्ते मिलेगा। अवश्य ही, इस सौदेके लिये आपको तैयार होना चाहिये।

### हरि-विमुखताका परिणाम

हरि-सा हीरा छाँड़ि कै, करै आनकी आस ।  
ते नर जमपुर जाहिगे, सत भाषै रैदास ॥

—संत रैदास



# जन्म कर्म च मे दिव्यम्

( संतप्रवर परमहंस पं० श्रीरामचन्द्रजी शास्त्री डोंगरे महाराज )

[ प्रेषिका—श्रीमती रावारानी चतुर्वेदी ]

## वत्सासुर-वकासुर-अघासुर-वध

जब गोकुलकी लीला पूर्ण हुई, तब भगवान् कृष्ण-वन्दकी उम्र पाँच वर्षकी थी। लालाको वृन्दावन जानेकी इच्छा है।

गोकुलमें उत्पात होते हुए देखकर उपनन्द काकाने सूचित किया "कि हम सब बालकोंको लेकर अन्य स्थानपर रहनेके लिये चलें। इधरसे थोड़ी दूरपर वृन्दावन नामका वन है—वनं वृन्दावनं नाम।" वह रहने योग्य है।" यह बात सबको अच्छी लगी। राम-कृष्णको आनन्द हुआ। क्रीड़ामें बहुत आनन्द आयेगा। सब लोग राम-कृष्णके साथ वृन्दावनमें रहने आये हैं।

वृन्दावन अर्थात् भक्ति। वृन्दावन अर्थात् भक्तिका वन। बालक पाँच वर्षका हो जाय, तब उसे गोकुलमेंसे—चाहे जैसे लाड़-प्यारमेंसे, वृन्दावन ले जाओ। अर्थात् उसे भक्तिके वनमें ले जाओ। बालकके पाँच वर्षका होनेके बाद बालका लाड़ मत करना। बालकमें धर्मके संस्कार डढ़ करनेके लिये उसे बचपनमें ही धर्मकी शिक्षा देना प्रारम्भ करो। एकादशीके दिन बालकको अन्न मत दो। जो माता-पिता बालकको अच्छे संस्कार नहीं देते, वे बालकके दुश्मन हैं। जो माता-पिता बालकको धर्मकी शिक्षा, भक्तिकी शिक्षा नहीं देते, वे बालकके जीवनको बिगाड़नेके उत्तरदायी हैं।

बालकके मनमें विचार शीघ्र ही बैठ जाते हैं। बालकका हृदय कोमल होता है—उसको जिस ओर मोड़ोगे, उसी ओर वह मुड़ जायगा। अतएव बाल्यावस्थामें बालकोंको अच्छे संस्कार प्रदान करोगे तो युवावस्थामें वह नहीं बिगाड़ेंगा। वे अच्छे संस्कार ही उसकी रक्षा करेंगे।

कृष्णको उपनन्द काका वनमें ले गये। जिसे शानी बयोवृद्ध संतोंका सङ्ग प्राप्त होता है, उसके पतनका डर नहीं रहता। यदि कोई अकेला ही चलनेको जाता है तो उसके गिरनेका डर रहता है। किसीका हाथ पकड़कर चलोगे तो गिरनेका डर नहीं रहेगा। ईश्वरका हाथ पकड़कर चलोगे तो गिरनेका डर नहीं रहेगा।

वृन्दावनमें अकेले नहीं जाना चाहिये। अन्योको भी अच्छे सत्कर्मोंमें प्रेरणा देनी चाहिये। अतएव वे गोप-गोपियोंके सङ्ग वृन्दावन गये। वृन्दावनमें गोवर्द्धन पर्वत और यमुनाका तट देखकर राम-कृष्णको अतिशय आनन्द हुआ। वृन्दावनमें आनेके बाद गोपाल वत्सपालक हुए। सङ्गके सखाओंके साथ वे बछड़ोंको चराने जाते थे, यमुनाके तटपर सखाओंके साथ अनेक प्रकारके खेल खेलते थे। ये खेल दिव्य हैं।

भागवत, दशमस्कन्धके ग्यारहवें अध्यायमें भगवान् वत्सपाल बनते हैं। पंद्रहवें अध्यायमें लाला गोपाल बनते हैं, गायोंको चराने ले जाते हैं।

किसी-किसी अवसरपर बालकृष्ण वंशी भी बजाते थे और भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रीड़ाओंसे ग्वालवालोंको आनन्द प्रदान करते थे।

प्राणिमात्रको श्रीकृष्ण वंशीकी धुनसे टेरेते हैं, परंतु मोहक विषयोंमें लिप्त जीवको यह नाद सुनायी नहीं देता।

भक्तिके तटपर अर्थात् भक्तिमें दो विघ्न आते हैं—

( १ ) वत्सासुर—अज्ञान, अन्धश्रद्धा।

( २ ) वकासुर—दम्भ।

यमुनाजीका तट—भक्तिका तट

बगुलारूपी दम्भ आता है। यह वकासुर दम्भका प्रतीक है—उसी प्रकार, जैसे बहुत-से बगुला-भक्त बनते हैं।

भक्तिके तटपर ही दम्भ आता है। भक्तिमें किसीको ठगना मत। दम्भके समान कोई पाप नहीं है। अन्य पापोंका प्रायश्चित्त है, परंतु दम्भका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। जिसका स्वाँग ऊपरसे सुन्दर है, परंतु जिसकी करनी मलिन है, वही वकासुर है।

बगुलेकी चोंच है लोभ। जहाँ कीर्तिका मोह और घनका लोभ होता है, वहींपर दम्भ आ जाता है।

यमुनातट—भक्तिके तटपर दम्भ आता है तो भक्ति बिगड़ जाती है। प्रभुने वत्सासुर और वकासुरका वध किया। एक समय मनमोहन ग्वालवालोंके साथ बछड़े



चराते हुए वनमें आये । वे जंगलमें भिन्न-भिन्न प्रकारके खेल खेलने लगे ।

इन ग्वालवालोंके भाग्यका वर्णन कौन कर सकता है । जिसके दर्शन योगियोंको भी दुर्लभ हैं, वे उस परब्रह्मके साथ खेल रहे हैं । इतनेमें ही वहाँ अघासुर आया । अघासुरको कंसने भेजा था । वह पूतना और वकासुरका लघु भ्राता था ।

जहाँ अशान एवं दम्भ होता है, वहींपर पाप आता है ।

अघासुर विशाल अजगरका रूप धारण करके आया और समस्त ग्वालवालोंको निगलनेकी इच्छासे रास्तेमें पड़ गया । अघासुररूप अजगरके मुखको यह समझकर कि यह कोई पर्वतकी गुफा है, ग्वालवाल उसमें प्रवेश करनेको तैयार हुए । वे बोले—‘लाला कन्हैया ! यदि तू साथमें रहे तो फिर हमेंकोई डर नहीं है ।’ आजकाल लोग पैसोंको साथमें रखते हैं—परंतु परमात्माको नहीं । अकेले कहीं भी मत जाना । प्रभुको सङ्ग रखना अर्थात् प्रभुकी मूर्ति सङ्गमें रखकर घूमना—अजी नहीं, इससे तो प्रभुको श्रम होगा । प्रभुके सांनिध्यका निरन्तर अनुभव करना । मनसे प्रभुका निरन्तर स्मरण करना । बालकोंको दृढ़ विश्वास है कि यदि कन्हैया हमारे साथ है तो फिर कोई हानि नहीं । कृष्णके मुखारविन्दको देखते हुए ग्वालवाल अजगरके मुँहमें ताली बजाते और हँसते हुए प्रवेश कर गये । ग्वालवालोंको बचानेके लिये कन्हैयाने भी अघासुरके मुँहमें प्रवेश किया ।

जब बालकोंने अघासुरके मुँहमें प्रवेश किया, तब वे ताली बजाते हुए गये थे । भागवतमें समाधि-भाषा प्रधान है, लौकिक गौण । तात्पर्य यह कि जिसे समाधिका अभ्यास है, वही भागवतका अर्थ समझ सकेगा । विलासीके लिये भागवतका अर्थ समझाना कठिन है । ताली नाद-ब्रह्म है । नाद-ब्रह्म और नाग-ब्रह्म जब एक होते हैं, तब परब्रह्म प्रकट होते हैं ।

भीतर प्रवेश करके प्रभुने विशाल रूप धारण किया । अघासुरके प्राण छटपटाने लगे और ब्रह्मरन्ध्र-मार्गसे निकल गये । बालक तथा बछड़े बाहर आये ।

अघासुर अर्थात् पाप । अघासुर पापका स्वरूप है । जो पापमें या पापके साथ ही क्रीडा करता है, वह अघासुर है । पाप करनेमें जो सुखका अनुभव करे, वह अघासुर है । बहुत बार देखनेमें आता है कि पापी सुख भोग रहा है;

परंतु तब ऐसा समझना चाहिये कि यह उसके किसी पूर्वजन्मके पुण्योंका फल है; क्योंकि पापका फल तो सदैव दुःख ही होता है । कोई पुण्यशील व्यक्ति यदि दुखी दिखायी दे तो समझना चाहिये कि यह भी उसके किसी पिछले जन्मके पापका फल भोग रहा है ।

अनेकों बार मनुष्यको ऐसा आभास होता है कि मैं पाप कर रहा हूँ; परंतु वह पापको छोड़ नहीं सकता । पापके पंजरे छूटना कठिन है । पापकी टेव बहुत खराब है । पापको मनमें घर मत करने देना । मनुष्य शरीरसे बढ़कर जीभसे पाप करता है । बहुत-से जीभसे बढ़कर आँखोंसे पाप करते हैं । आँखोंसे भी बढ़कर बहुत-से मनसे पाप करते हैं । जबतक इन्द्रियोंमें पाप करनेकी आदत है, तबतक उन्हें भक्ति-रस नहीं प्राप्त होगा । इन्द्रियोंमें भक्ति-रस भरना हो तो उन्हें निष्पाप करो । पानीसे भरे हुए लोटेमें दूध भरना चाहोगे तो पहले पानीको बाहर निकालना ही होगा ।

इन्द्रियोंसे आत्मा इतनी मिल जाती है कि वह इन्द्रियोंसे पाप करती हुई देखती है, फिर भी उन्हें रोकती नहीं ।

जब मनमें पापका विचार उत्पन्न हो, तभी उसे उशी क्षण काट दो । जिसके अन्तरमें पाप आ गया, पाप उसे नहीं छोड़ेगा । कदाचित् पाप हो जाय तो प्रभुके समुत्तरोने लगे कि ‘प्रभु ! मेरे पापोंको क्षमा करो ।’

अघासुर अजगरके रूपमें आया था । यदि मनुष्य सावधान न रहे तो पाप उसे निगल जाता है ।

परब्रह्मके समान कोई पाप नहीं है । मनुष्य स्वयं ही सुधारता है । अन्योका जीवन बिगड़ रहा हो तो उसको वह परवा नहीं करता । पापकी आदत एक बार पड़ जाय तो वह फिर छूटेगी नहीं । मनुष्य पापपङ्कमेंसे नहीं छूटता । पाप शरीरमें प्रवेश कर गया तो फिर वह तुमको छोड़ेगा नहीं । जिस मनरूपी घरमें पाप है, उसमें परमात्मा नहीं पधारते ।

अजगरके मुखमें गये हुए ग्वालवाल स्वयं बाहर नहीं निकल सकते थे । श्रीकृष्ण उन्हें बाहर निकालते हैं । अजगरके मुँहमें गया हुआ कोई भी व्यक्ति स्वयं बाहर नहीं निकल सकता । अजगरके मुँहमें गये हुएको बाहरका व्यक्ति ही खींच सकता है । पापसे भगवान् ही बचा सकते हैं ।

पाप और साँप ( सर्प ) समान ही हैं । सर्प काटे तो दुख ही सर्पके काटे हुए उस अङ्गको अथवा अँगुलीको काट



जाय तो विष शरीरमें नहीं फैलता और प्राणरक्षा हो सकती है। इसी प्रकार पापका विचार उत्पन्न होते ही मनमें उसे निकाल दिया जाय तो उस व्यक्तिको पापसे बचाया जा सकता है। यदि पाप थोड़े-से समयके लिये भी मनमें घर कर गया तो फिर उसे रोकना कठिन हो जायगा।

पापका विचार करनेसे पाप दृढ़ होता है। पाप पृथ्वीसे आकाशतक व्याप्त है, जिस प्रकार अवासुरका एक ओट भरतीसे और दूसरा ओट आकाशसे लगा हुआ था।

जो मनमें है, वह वनमें भी है। अर्थात् जहाँ भी जाओगे, वहाँ-वहाँ पाप करनेके अवसर आ ही जायेंगे।

वासनासे व्याप्त जीवको अन्तरात्मा मना करती है तो भी वह पाप करता है। बहुत-सी बार वासनाकी बाढ़में ज्ञान बह जाता है, तब पाप हो जाता है। पाप ललचानेवाला होता है। कभी पाप करनेका अवसर आ जाय और पाप किये बिना नहीं रहा जाय या पाप किये बिना छुटकारा ही न हो या उससे बचनेका उपाय ही न हो तो पाप करते समय भगवान्‌को साथ रखकर पाप करो। देखो, यहाँ अर्थका अनर्थ न करना। पाप करते समय भी भगवान्‌को याद रखो—उनका स्मरण करो और सम्भव है तब पाप तुमसे हो ही नहीं।

पापको काट डालोगे तो पापका नाश हो जायगा। पापको हृदयमें रखोगे तो उसका नाश नहीं होगा।

कोई भी क्रिया शब्दोच्चारणके बिना नहीं होती। शब्दोच्चारण भले ही जीभसे न हो, पर मनसे तो होता ही है। जिस क्षण उसका शब्दोच्चारण हो, उसी क्षण उसे काट डालो, मनसे हटा दो।

संत निरन्तर प्रभुके नामका उच्चारण करते हैं, इसलिये उनसे पाप नहीं होता। अवासुरके पेटमें गये ही बिना रहा न जाय, तो जाओ। पर जाओ ताली बजाते हुए। प्रत्येक व्यक्ति समझता है कि असत्य बोलना पाप है, किसीका हृदय दुखाना पाप है; फिर भी पाप हो जाता है। प्रथम सिद्धान्त मुख्य है। पापको काट ही डालना चाहिये। जब ऐसा प्रतीत हो कि तुम्हारा मन तुम्हारे हाथसे निकला जा रहा है और मन तथा शरीरसे भी पाप होने-वाला ही है, तब भगवान्‌नामका कीर्तन करो। जो परमात्माको साथ रखकर पाप करता है, उसकी पापवासना छूट जाती है। पापकी टेव छुड़ानेका यही एक उपाय है। भगवान्‌से

प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ ! मेरी इस पाप-वासनाका विनाश करो।' बालक ताली बजाते हुए अर्थात् कीर्तन करते हुए अवासुरके मुँहमें गये थे। पाप यदि करो ही, तब परमात्माको साथ रखो। भगवान्‌से कहो, मैंने पाप किया है; परंतु हे 'प्रभु, साथमें तुम भी थे, अतः दण्ड दो और क्षमा भी कर दो।'।

मनुष्यको ज्ञान हो जाता है कि 'मैं कामी हूँ, क्रोधी हूँ।' जो समझकर पाप करता है, वह अवासुर है। जो पापमें सुख मानता है, पापमें क्रीड़ा करता है, वह अवासुर है।

भोगे बिना जिसका नाश नहीं होता, वह पाप है। पुण्यका नाश भोगे बिना हो सकता है। पुण्य भोगनेके लिये भी जन्म लेना पड़ता है। इसीलिये तो ऋषियोंको पुण्यको भी कृष्णार्पण करना पड़ता है। पुण्य कृष्णार्पण हो सकता है, किंतु पापको तो भोगे बिना छुटकारा नहीं है।

प्राग्बद्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।

किसी संत पुरुषकी कृपा हो, तभी पापकी वासना छूटती है। अन्तरात्माकी पाप करनेकी आकाङ्क्षा न होते हुए भी पाप हो जाता है। गीतामें भी अर्जुनका इस विषयमें प्रश्न है। यह सनातन प्रश्न है। भगवान्‌से वह पूछता है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः।

अनिच्छन्नपि द्वाण्यै बलादेव नियोजितः॥

(३।३६)

मनुष्यकी इच्छा न होते हुए भी वह किसके द्वारा पापमें प्रवृत्त होता है और पाप करता है? पाप करनेकी आकाङ्क्षा न होते हुए भी क्यों पाप करना पड़ता है?

भगवान्‌ समझते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। (३।३७)

रजोगुणसे उत्पन्न हुए काम और क्रोध पुरुषोंके महान् शत्रु हैं। वे ही उन्हें पाप करनेकी ओर घसीट ले जाते हैं।

अतएव सत्त्वगुणको बढ़ाकर रजोगुणको कम करो।

ताली बजाते हुए ब्रजवासी गोपगण पहले नादब्रह्ममें लीन हो जाते हैं और फिर उनका मन परब्रह्ममें लीन होता है। इसलिये पापसे बचनेके लिये पहले कीर्तन करो और फिर भगवान्‌में लीन होनेके लिये उन्हें अपने मनमें पधराओ। फिर जैसे गोपगणोंकी भगवान्‌से रक्षा की थी, वैसे ही तुम्हें भी वे पापसे बचा लेंगे। सत्त्वगुण बढ़ानेका यह निश्चित मार्ग है। तुम विश्वास करो।

(अनुवादक—श्रीबालकृष्ण चतुर्वेदी)



# मांसाहारसे हानि

( लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा )

यदि अहिंसा, धर्म तथा दयाकी बात कही जाय तो हमारे बहुत-से नये पढ़े-लिखे लोग उदाहरणपर-उदाहरण पेश करेंगे कि 'प्राचीन कालमें हमारे पूर्वज मांसाहारी थे । मांस खाना धर्मके प्रतिकूल आचरण नहीं है।' क्या होता था, क्या नहीं और कौन-सा इतिहास सही है, इसके ऊहापोहमें न पड़कर हम विचारें कि जिनकी मियाल पेश करते हैं, उनका कौन-सा गुण हमारेमें है । हर युगकी परिस्थिति और उसकी आवश्यकता भी भिन्न होती है । हर युगमें मनुष्यकी पाचन-शक्ति तथा शरीरकी भीतरी शक्तिमें भी अन्तर है ।

किंतु आजका मनुष्य शास्त्र, धर्म या दयाका सहारा छोड़ चुका है । जब वह चन्द्रमातक जा पहुँचा, तब उसे हर चीजका वैज्ञानिक निरूपण करना उचित प्रतीत होता है । वह तौलना चाहता है प्रत्येक वस्तुको विज्ञानके तराजूपर—चाहे वह भोजन हो अथवा रहन-सहन ।

पर विज्ञान भी अब मांसाहारको खतरनाक समझने लगा है । उसे पता चला है कि कृत्रिम ढंगसे 'पोल्ट्री फार्म' ( मुर्गी पालन-क्षेत्र )में पाली गयी मुर्गीको 'ल्यूकोसिस' नामकी बीमारी हो जाती है । संयुक्त राज्य, अमेरिकामें तथा भारतमें ही नहीं, हर देशमें नकली आँच देकर अंडेको सेते हैं । बच्चा पैदा होते ही उसे मोटा और स्वादिष्ट बनानेके लिये तरह-तरहके रसायनों तथा मांसऔर रक्तपर पाला जाता है । पानीकी जगह उसे खून पिलाया जाता है । ऐसा भोजन पाकर ये मुर्गियाँ साधारण पक्षी नहीं रह जाती । वे खूँखार, क्रोधी एवं मांसाहारी बनकर आपसमें एक दूसरेको खाने लगती हैं । अतएव ऐसी करोड़ों मुर्गियोंकी आँखपर पट्टी बाँधनी होती है या उनकी चोंच काट दी जाती है । इन्हें 'ल्यूकोसिस' नामक बीमारी हो जाती है । डा० मैकनायरके कथनानुसार संयुक्त राज्य, अमेरिकामें ३ करोड़ ७० लाख मुर्गियाँ इस बीमारीकी शिकार हो जाती हैं । अब विज्ञान पता लगा रहा है कि ऊपरसे देखनेमें स्वस्थ, पर भीतरसे रोगी मुर्गी खानेसे कितने करोड़ लोगोंका स्वास्थ्य गिर रहा है तथा भीतरी बीमारी, विशेषकर अँतड़ियोंका रोग पैदा हो रहा है । अन्ताराष्ट्रिय रिपोर्टके अनुसार संसारमें प्राप्त मुर्गियोंका ९० प्रतिशत 'ल्यूकोसिस' नामक बीमारीका शिकार है और इनका रोग

खानेवालोंको हो रहा है । इस रोगका फल काफी देर तक प्रकट होता है ।

## रोगी भोजन

हर एक व्यापारी जो मांस बेचनेका व्यापार करता है, चाहता है कि बलिदानका बकरा तगड़ा रहे । मांस बजतमें भारी पड़े तो पैसा ज्यादा मिले । इस कामके लिये आजके विज्ञानसे सहायता मिल रही है । कौन-सा रसायन लगानेसे मांस फूल जाय या कौन रसायन खिलानेसे जानवर तगड़ा हो—इसे मामूलीसे मामूली कसाई जानता है । पर ऐसे मांसा भोजन करनेवालोंपर क्या प्रभाव पड़ रहा है ? संयुक्त राज्य, अमेरिका में बिकनेवाले मांसकी परीक्षाके लिये सरकारी इंस्पेक्टर नियुक्त हैं । सरकारी रिपोर्टके अनुसार सन् १९६८-६९ में उनके द्वारा 'स्वीकृत' मुर्दे पशुओंमेंसे ३ करोड़, १ लाख पशुवास्तवमें भीतरी रोगसे पीड़ित थे । रसायनोंने उन्हें रोगी और अमोघ्य बना दिया था ।

'नैशनल आबजर्वर' ने मई ६, १९६८ के अपने अङ्कमें लिखा था, 'जिन लोगोंको मांस खाना ही हो उन्हें ध्यान रखना चाहिये कि वे रोगी मांस खा रहे हैं । उन्हें बहुत सावधान रहना चाहिये ।' डा० मैकनायर लिखते हैं—'चूँकि सरकारी इंस्पेक्टरने गोشتको सर्टीफिकेट दे दिया है, इसलिये यह नहीं समझना चाहिये कि उसे खानेमें कोई डर नहीं है ।'

जब इतने बड़े वैज्ञानिक प्रगतिवाले देशमें, जहाँ कसाई बाड़ेसे लेकर मांसकी दूकानतकमें पूरी छानबीन होती है तथा स्वच्छता आदिका पूरा प्रबन्ध है, वहाँकी हालत यह है, तब भारत-ऐसे देशमें—जहाँ ऐसे कार्यमें हर तरफ गंदगी है—क्या स्थिति होगी । नेवादा विश्वविद्यालयके डा० ड्रेकने 'डोवर्स जर्नल'के २४ फरवरी १९७० के अङ्कमें लिखा है कि 'आज जो भी मांस हम खा रहे हैं, वह अनेक रोग पैदा करता है ।'

## नकली गर्भाधान

टेक्सस विश्वविद्यालयके डा० पोपने प्रमाण देकर साबित किया है कि गाय या भेड़से जल्दी-जल्दी बच्चा पैदा कराकर उससे लाभ उठानेके जितने तरीके हैं, सब हानिकारक हैं । नकली गर्भाधानसे जानवरोंकी भीतरी शक्ति समाप्त हो जाती



संख्या ८ ]

१। संतानके प्रति स्वाभाविक प्रेम नहीं रहता । पेटके भीतर ऐसा दूषित रसायन पैदा होता है कि धीरे-धीरे दूध भी मिलना बंद हो जाता है । पशुमें प्राकृतिक उत्तेजना नही रहती है । रोगी संतान पैदा होती है । दूधमें एक प्रकारका रक्तमिश्रित जाता है । लन्दनके ‘संडे टाइम्स’ (८ सितम्बर, १९६८) के अनुसार पशुका गर्भाधान आधुनिक सभ्यताका घोर अत्याचार है । डा० पोप लिखते हैं कि ऐसे पशुओंका मांसके लिये जितना अधिक उपयोग हो रहा है, उतना ही मानवका स्वास्थ्य गिर रहा है ।

दूध बढ़ानेके लिये रासायनिक खाद्य तथा भोजनसे भी बड़ी हानि हो रही है । इस भोजनमें संखियाकी मात्रा भी बढ़ती है, जो मुर्गी या अन्य मांसके द्वारा खानेवालेके पेटमें जाती है । आर्बन विश्वविद्यालयकी खोज है कि रासायनिक खाद्य तथा भोजनपर पाले हुए पशुओंका भोजन तरह-तरहकी बीमारी पैदा कर रहा है । नये ढंगके भोजनसे पशुपालनका खर्च ५० प्रतिशत कम करके हम १०० प्रतिशत रोगका आवाहन कर रहे हैं । ‘डोवर्स जर्नल’ने २२ मई १९६९ के अपने अङ्कमें लिखा है कि ‘पशुके पेटमें इन रसायनोंका प्रभाव बुरा पड़ता है ।’ फ्रांसिस टी० कैडिलिनका मत है कि ‘ये दवाएँ जो हम जानवरोंके पेटमें पहुँचा रहे हैं, उनके द्वारा सामूहिक दुर्घटनाका वातावरण पैदा होता जा रहा है । हम आजकल रबी, पुराने अखबार भी पीसकर जानवरोंको खिला रहे हैं । क्या कागजका चूरा खाकर जो दूध मिलेगा, वह हमें स्वस्थ कर देगा ?’

### गोमांसका फल

संसारमें सबसे अधिक गोमांसका प्रचलन है । केवल इंग्लैंडमें प्रतिवर्ष प्रत्येक व्यक्ति औसतन १३० सेर गोमांस तथा

मुर्गीका मांस खा जाता है । गायके बछड़ेको मांसके लिये तगड़ा बनानेके लिये पैदा होते ही माँसे अलग कर एक बड़े हौदके कठघरेमें रख देते हैं । वहाँ हौदकी नलीसे उसे रासायनिक दूध पिलाते हैं । ६ से ८ हफ्तेतक ऐसी मशीनी मातासे पोषण कराकर उसे सूई लगायी जाती है । फिर वह १०००-१५०० मील दूरतक जहाजोंमें भरकर भेजा जाता है । नये स्थानपर पहुँचकर उसे बधिया किया जाता है, दागा जाता है । सींग काट दिये जाते हैं । यह सब काम ३ मिनटमें मशीन कर देती है । फिर उसे एक निश्चित वजनका बनानेके लिये रसायनका भोजन दिया जाता है । गोमांसके कारखानोंमें १०,००० से १००,००० लाख तक पशु रक्खे जाते हैं । ‘स्टीलवेस्ट्रोल’ नामक दवा इन्हें सूईसे तथा मुँहसे दी जाती है और अब विज्ञानको यह देखकर बड़ी पीड़ा हो रही है कि ऐसे तगड़े बछड़ोंके पेटमें कैंसरका भयानक रोग पैदा हो जाता है । जज लूथर एम० स्विगर्थ ने अपने एक फैसलेमें लिखा है कि ‘ऐसे ९० प्रतिशत बछड़ोंको कैंसरका होना सिद्ध है । अतएव विदेशोंमें गोमांसके विरुद्ध प्रतिक्रिया शुरू हो गयी है । गोमांस खानेवालोंको कैंसरका रोग बहुत होने लगा है ।’

डा० जान एन० एस० ह्वाइटने सलाह दी है कि ‘आजके युगमें मांसाहारसे अनेक रोग पैदा हो रहे हैं ।’ हम भारतमें गंदा, सड़ा भोजन तो बुरा समझते हैं, पर उससे भी गंदी चीज मांसके खानेमें हमें हिचक नहीं होती । इससे कैंसर, अंतर्द्वियोंका सड़ना तथा अनेक स्नायविक रोग पैदा होते हैं । जो लोग धर्मकी बात नहीं मानते, शायद वे विज्ञानकी बात मानकर मांसाहार छोड़ दें ।

## ‘जौं हम भले-बुरे तौ तेरे ।’

जौं हम भले-बुरे तौ तेरे ।

तुम्हें हमारी लाज-बड़ाई, बिनती सुनि प्रभु मेरे ॥

सब तजि तुम सरनागत आयौ, दृढ़ करि चरन गहे रे ।

तुम प्रताप बल बद्ध न काहू, निडर भए घर बेरे ॥

और देव सब रंक-भिखारी, त्यागे, बहुत अनेरे ।

सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा तें, पाप सुख जु घनेरे ॥

— श्रीसूरदासजी



# अविद्या ( माया ) का स्वरूप

( लेखक—पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-सौध )

कठोपनिषद्के प्रथम अध्यायकी द्वितीय वल्लीके चतुर्थ मन्त्रमें लिखा है—

दूरमेते विपरीते विपूची  
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।  
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये  
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥

यम और नचिकेताके संवादमें नचिकेताकी परीक्षा लेते हुए यमने कहा है कि 'विद्या और अविद्या—ये दोनों अत्यन्त विरुद्ध फल देनेवाली हैं। मैं तुझ नचिकेताको विद्याका अभिलाषी समझता हूँ; क्योंकि सांसारिक अनेक भोगोंको दिखलानेपर भी तुम्हारा मन उन भोगोंमें आसक्त नहीं हुआ।' अनित्य सांसारिक भोगोंमें अविद्या ( अज्ञान )-के कारण नित्यत्व बुद्धि होनेसे आसक्ति होती है और आसक्ति ही बन्धन अर्थात् जगत्में आवागमनका कारण है।

इसी बातको पञ्चम मन्त्रमें कहते हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः  
स्वयं धीराः पण्डितस्मन्यमानाः ।  
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा  
अन्धेनैव नीयमाना यथान्ध्राः ॥

अर्थात् 'जो अविद्या ( अज्ञान ) में पड़े हुए हैं एवं अपनेको शानी तथा पण्डित समझते हैं, वे मूर्ख ( अज्ञानी ) अंधे मनुष्यके नेतृत्वमें अंधा मनुष्य जैसे अनेक कण्टकादि-पूर्ण रास्तेमें भटकता रहता है, उसी तरह अनेक टेढ़े-मेढ़े रास्तोंमें अर्थात् अनेक बुरी योनियोंमें भटकते रहते हैं, अर्थात् उनको ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती।'।

इसी बातको श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इस रूपमें कहा है—

दैवी द्रोषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।  
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

( ७।१४ )

यह अविद्या ( माया ) तबतक मनुष्यको नहीं छोड़ती, जबतक वह भगवान्की शरणमें सर्वात्मना अपनेको नहीं ले जाता; क्योंकि भगवान्ने इस मायाको अपनी 'दैवी माया'

कहा है, इसलिये शरणागतवत्सल भगवान् अपना ज्ञान उसे इस दुःखालय जगत्के चक्रसे छुड़ा देते हैं।

जबतक यहाँके स्त्री-पुत्र-धन आदिसे मिथ्या प्रतीतिके कारण वैराग्य नहीं होता, तबतक ब्रह्म-प्राप्तिके अनुभव नहीं होता।

नचिकेता यमसे ब्रह्मविद्या जानना चाहता था; यमराजने अनेक तरहसे उसकी परीक्षा ली और ब्रह्मविद्याका उपदेश ग्रहण करनेकी योग्यताके विषयमें उसको निश्चय नहीं हुआ, तबतक उन्होंने उसको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं दिया; क्योंकि अयोग्य शिष्यको शिक्षा देने वह मरुप्रदेशमें बोये हुए अन्नके बीजोंकी तरह नष्ट हो जाता है। इसलिये 'शिक्षा'में लिखा भी है—

विद्या विद्वांसमेत्याह शेषविस्तेऽस्मि रक्ष माम् ।  
असूयकाय मां मा दा यथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥

अर्थात् 'विद्या विद्वान्के पास जाकर कहती है कि 'तुम्हारी निधि हूँ, तुम मेरी रक्षा करो। मेरी निन्दा करनेके एवं अपमान करनेवाले अर्थात् श्रद्धारहित मनुष्यको न दो। तात्पर्य यह है कि जो श्रद्धालु न हो, नास्तिक हो, उसको देनेसे मेरी शक्ति कम हो जायगी और योग्य व्यक्ति को देनेसे मेरा बल-पराक्रम बढ़ेगा।'।

यही कारण है कि इस समय गीता आदिकी विद्या विद्यालयोंमें दी जाती है तथा प्रायः जनसाधारणमें बड़े-बड़े महात्मालोग वेदान्तके गूढ़ तत्त्वोंका उपदेश करते हैं परंतु, एक तो मन्दबुद्धिताके कारण वह ग्रहण नहीं करता, दूसरे श्रद्धा न होनेसे लोग उसे सुनते भी उपेक्षा बुद्धिसे ही करते हैं। हम अपने बालकको जैसा बनाना चाहते हैं, वैसे वातावरण बालकको रखना चाहिये। अज्ञानतावश अनुचित करनेसे थोड़ा लाभ प्रतीत होने लगता है, तब हम बालकको वैसा करनेके लिये उत्साहित करते हैं और उस अनुचित कार्यका दुष्परिणाम होता है, तब हम उसे मोगते हैं।

विद्या प्राप्त करनेके विषयमें लिखा है—'वही बालक विद्या प्राप्त करता है, जो जनसमूहसे अर्थात् जहाँ मनुष्य



संख्या ८]

वर्णकी गणना करते हैं, ऐसे वातावरणसे सौंपकी तरह दूर रहे, जीमपर अपना प्रभुत्व रखे अर्थात् बुद्धिको प्रष्ट करनेवाले पदार्थोंको न खाये, स्त्रियोंके संसर्गको राजसियोंका संसर्ग समझकर उससे दूर रहे ।

यथा—

अहेरिव जनाद्धीतो मिष्टान्नात् सविषादिव ।

राक्षसीभ्य इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति ॥

आधुनिक भौतिक युगमें देह-संस्कारके अनेक पदार्थ उपलब्ध होते हैं, परंतु आत्मसंस्कारकी ओर उपेक्षा हो गयी है, जिससे शिक्षित वर्गमें भी अनीतिकी प्रचलता हो गयी है । आजकल प्रत्येक विषयको लोग तर्ककी कसौटीपर कसते हैं । परंतु जो विषय तर्कसे परे हैं, उनकी परीक्षा तर्कसे कैसे हो सकती है । यमने नचिकेताको इसलिये कहा था—

नैषा तर्केण मतिरापनेया

प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।

यां त्वमापः सत्यधृतिर्ब्रतासि

त्वाहङ्गो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥

( कठ० १ । २ । ९ )

अर्थात् 'यह जो मति तुमको अभेददर्शी आचार्योंसे प्राप्त है, उसका शुष्क तर्कके द्वारा परिहार नहीं किया जा सकता; क्योंकि हे प्रियतम ! आचार्योंने तुमको अच्छे ज्ञानके लिये उपदेश दिया है । जिस बुद्धिको तुमने मेरे वर-प्रदानके द्वारा प्राप्त किया है, उसके कारण तू सत्यधृति है । अर्थात् सत्यके ऊपर तुम्हारी निष्ठा है । हे नचिकेता ! तुम्हारे-जैसा सत्यनिष्ठ प्रश्नकर्ता अर्थात् जिज्ञासु मुझे प्राप्त हो ।'

अध्यात्म-विषयमें तार्किकोंका तर्क प्रमाण नहीं होता; क्योंकि दर्शनशास्त्रका सिद्धान्त है—“तर्काप्रतिष्ठानात्” तर्ककी कहीं निश्चित स्थिति नहीं है ।

आत्मसंस्कारके लिये श्रद्धापूर्वक अध्यात्म-विषयका अध्ययन करना चाहिये । संस्कृत आत्मामें ही गूढ़ विषय प्रतिफलित होते हैं । जैसे मलिन दर्पणमें प्रतिबिम्ब स्वच्छ और सुन्दर नहीं होता, उसी तरह मलिन बुद्धिमें अध्यात्म-विषयके उपदेश प्रतिबिम्बित नहीं होते । आचार-हीन पुरुषके मन और बुद्धि मलिन होते हैं । आचारहीन मनुष्य अपने कर्तव्यको नहीं समझता । इसीलिये महाभारतके अनुशासनपर्वमें लिखा है—

आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ।

अश्वयः पितरो देवा महाभूतानि धातवः ॥

‘आचारसे ही धर्म उत्पन्न होता है अर्थात् आचरण शुद्ध होनेसे धर्म ( कर्तव्य ) का ज्ञान होता है; क्योंकि भगवान् स्वयं धर्मके प्रभु हैं और सब ऋषिगण, पितृ-गण, देवगण और पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन सबकी स्थिति धर्मपर ही निर्भर करती है ।’ इस युगमें बालकोंके आचारपर ध्यान नहीं दिया जाता, जिससे विनाशी और आपातपरमणीय राजसिक सुखको ही परम पुरुषार्थ समझकर बालक इस ओर आकृष्ट हो जाते हैं । भौतिक उन्नति ही ही ध्येय बना लेनेसे वास्तविक मनुष्यजन्मको सफल बनानेवाली उन्नतिकी ओर ध्यान नहीं जाता ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने इसीको आसुरी सम्पत्ति कहा है । यथा—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

( ७ । १५ )

आसुरी सम्पदावाले मनुष्य दुष्कृति और मूढ़ अर्थात् अज्ञानी होते हैं; क्योंकि मायासे उनका ज्ञान अपहृत हो जाता है । अनित्य वस्तुमें नित्यबुद्धि, अशुचि पदार्थोंमें शुचिबुद्धि, मृत्युमें अमरत्वज्ञान, दुःखमें सुखका ज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञानका ही नाम अविद्या, अज्ञान अथवा माया है । जबतक मनुष्य अविद्यासे उत्पन्न मृत्युको विद्याज्ञानके द्वारा जीत नहीं लेता, तबतक जीवको शान्ति नहीं मिलती । अतः ईशावास्योपनिषद्के ११ वें मन्त्रमें लिखा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायामृतमश्नुते ॥

अतः मनुष्यको विद्या और अविद्या—दोनोंके स्वरूपका

ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । इन दोनों विषयोंके ज्ञानके लिये तत्त्वज्ञानी महात्माओंकी शरणमें जाना चाहिये और श्रद्धाके साथ, विनयपूर्वक प्रश्न करनेपर वे तत्त्वज्ञानी महात्मागण तत्त्वज्ञानका उपदेश करते हैं । इस विषयमें दो बातोंपर मनुष्यको अवश्य ध्यान रखना चाहिये । एक तो महात्मापर श्रद्धा, दूसरी विनय । जबतक ये दो बातें विद्यार्थीमें नहीं आतीं, तबतक न गुरु उपदेश ही देते हैं और न उपदेशका फल ही प्राप्त होता है । अतः अर्जुनसे भगवान्ने कहा है—



आँखके सामने अँधेरा हो जाय और साँपका काटा हुआ व्यक्ति खड़ा न रह सके तो समझना चाहिये कि विष उसकी त्वचामें है। उस समय अकवचकी जड़, चिचड़ी, तगर और प्रियङ्गुको पानीमें घोटकर पिलानेसे विषका प्रकोप शान्त हो जाता है।

जब त्वचासे विष रक्तमें चला जाता है, तब शरीरमें जलन और मूर्च्छा होती है, ठंडी चीज अच्छी नहीं लगती। उस अवस्थामें उशीर, चन्दन, कूट, तगर, नीलोफर, सिनुआरकी जड़, धतूरेकी जड़, हींग और मिर्च पीसकर पिलाना चाहिये। यदि इससे भी विष शान्त न हो तो कटेरी, इन्द्रायणकी जड़, सर्पगन्धा और वृश्चिककाली—इन सबको घृतमें पीसकर दे। यदि इससे भी विष शान्त न हो तो सिनुआर और हींगका नस्य दे, वही पिलाये और उसीका अञ्जन एवं लेप करे। इस प्रयोगसे रक्तगत विष शान्त हो जाता है। रक्तसे विष पित्तमें प्रवेश करता है, तब रोगी उठकर गिर पड़ता है। शरीर पीला हो जाता है। सभी दिशाएँ एवं वस्तुएँ पीली ही नजर आती हैं। मूर्च्छा और दाह भी होते हैं। ऐसी अवस्थामें पीपल, मधु, गहुआ, घृत, तूबीकी जड़ और इन्द्रायणकी जड़—सभीको पीसकर नस्य, लेप और अञ्जन करे।

पित्तसे विष कफमें प्रवेश करता है, तब शरीर जकड़ जाता है, श्वास लेनेमें कठिनाई होती है। कण्ठमें घर-घर शब्द होने लगता है और मुँहसे लार गिरने लगती है। ऐसी स्थितिमें पीपल, मिर्च, सोंठ, लोध, तुरई और मधुसार—इन सबको गोमूत्रमें पीसकर नस्य दे तथा पीनेको दे तो विषका वेग शान्त हो जाता है। जब कफसे विष वातमें प्रवेश करता है, तब पेटमें अफारा हो जाता है। दृष्टि भङ्ग हो जाती है और कुछ नहीं दिखायी देता। तब आलूकी जड़, खिरनी, गज-पीपल, भारंगी, देवदारु, सिनुआर, मधुसार और हींग—सभीको पीसकर गोली बना ले। गोलीको खाने, नस्यरूपमें लेने और लेप तथा अञ्जन करनेसे विष शान्त हो जाता है। जब वातसे विष मज्जामें पहुँचता है, तब दृष्टि नष्ट हो जाती है। समस्त अङ्ग बेसुध होकर मुरझा जाते हैं। ऐसी स्थितिमें घृत, खोंड़, मधु, चन्दन और खस—सभीको पीसकर पिलाने और नस्य, लेप तथा अञ्जन करनेसे विषका वेग शान्त हो जाता है। मर्मस्थानमें विष पहुँचनेपर सभी इन्द्रियाँ नष्ट हो जाती हैं। काटनेपर रक्त नहीं निकलता, बाल उखाड़नेपर भी कोई पीड़ाका

अनुभव नहीं होता। इस दशामें पहुँचे हुए रोगीको मृत्युके वश हुआ समझना चाहिये। सिद्ध मन्त्र और ओषधिसे शायद जीवनकी रक्षा हो जाय।

### कुछ उपचार

( १ ) साँपके काटे स्थानसे ४ अंगुल ऊपर डोरीसे कसकर बाँध दें और उस स्थानको दग्ध कर दें तो विषका नाश हो जाता है।

( २ ) आषाढ़ मासमें रविवारके दिन यदि सर्पगन्धा-भूल हाथमें बाँधे तो साँप नहीं काटता।

( ३ ) पुष्य नक्षत्रमें सफेद गदहपुर्नाकी जड़को १० तोला पानी या तण्डुलोदकमें घोलकर पीनेसे मनुष्य एक वर्षतक साँपके काटनेसे सुरक्षित रहता है।

( ४ ) मेष राशिपर सूर्यके स्थित होनेपर अर्थात् वैशाख मासमें नीमके २ पत्तोंमें मसूरके १ दानेको लपेटकर जो व्यक्ति खाय, उसे १ वर्षतक सर्प काटनेकी सम्भावना नहीं रहती।

( ५ ) नागपञ्चमीके दिन जिस घरमें विधिपूर्वक नागकी पूजा हो, उस घरमें साँपका भय नहीं रहता।

( ६ ) कुचिलाकी जड़को तण्डुलोदकके साथ पीसकर नस्य लेनेसे कालसर्पका काटा मनुष्य भी बच जाता है।

( ७ ) सहिजनके बीजका चूर्ण सिरिसके फलके स्वरसे १ सप्ताहतक भावितकर खरल कर रख ले। साँप काटनेपर उसके शुष्क चूर्णका नस्य लेनेसे अथवा अञ्जन करनेसे सप्ताहशका रोगी अच्छा हो जाता है।

( ८ ) 'रसेन्द्रसारसंग्रह'में 'विषवज्रपाती' रस नामक ओषधि लिखी गयी है। इसे १ माशा मात्रामें लेकर पुरुष-मूत्रानुपानसे दिया जाय तो कालसर्पसे काटा गया मनुष्य जिंदा होता है।

( ९ ) १ तोला नीलको १ छट्ठाँक जलमें घोलकर पिलानेसे लाभ होता है। यदि इससे लाभ न हो तो ५ तोला पानीमें नीलको घोटकर जल्दी-जल्दी थोड़ी मात्रासे पिळते जाना चाहिये। रोगीको सोने नहीं दे, निश्चय लाभ मिलेगा।

( १० ) भविष्यपुराणमें एक सिद्ध योग है, जिसे साक्षात् रुद्र कहा गया है, जो इस प्रकार है—

मयूर, नकुल, मार्जार—इन तीनोंका पित्त, छनालिकी जड़, केशर, भारंगी, कूट, काशमर्दकी छाल, उत्पल, कुमुद



और कमल—इन तीनोंकी केसरसे सभी दवाइयोंको समान भाग मिलाकर गो-मूत्रमें पीसकर नस्य दे और खानेके लिये भी दे, अंजन एवं लेप करे तो काल-सर्पसे भी डरा व्यक्ति शीघ्र ही विषमुक्त हो सकता है।

कौटिल्य (चाणक्य) ने अपने अर्थशास्त्रके 'निशान्तप्र-  
णिधि'में विषैले जन्तुओंसे रक्षाके उपायमें कहा है:—

गुडूच, शङ्खपुष्पी, सुस्तक, करोंदा गालकी बाँझी आदिको अन्तःपुरमें चारों ओर लगा देना चाहिये। सहिजनके गालपर जमे पीपलके पत्तोंका वन्दनवार बाँधनेसे अन्तःपुरके भीतर साँप, विन्डू, विषरूप आदि विषैले जन्तु नहीं रह सकते। बिल्ली, मयूर, नेवला और मृग भी साँपको खा जाते हैं। मैना, तोता भी अन्नमें साँपके विषकी आशङ्का होते ही शोर मचाने लगते हैं। कौब्र पक्षी तो जहरके समीप पहुँचते ही विह्वल हो जाता है। कोयल विषको देखकर मर जाती है। चक़ोरकी आँख विषको देखकर लाल हो जाती है।

साँप स्वयं आदमीकी आइट पाकर हट जाता है। इसकी गति पवनकी तरह तीव्र होती है। अतः वर्षा अथवा अन्य मौसमोंमें रातमें चलते-फिरते समय काठकी पादुका या बोलनेवाले जूते पहन लेने चाहिये। झाड़-झंखाड़ अथवा ऊबड़-खाबड़ जमीन तथा केलेके घने बगीचोंमें अथवा अतिमादक गन्धों और कभी-कभी रेडियोके संगीतसे प्रभावित होकर साँप आस पास दिखायी पड़ते हैं।

भारतीय धर्म-शास्त्रोंमें साँपको दूध पिलाने या उसे पूजनेका एक अर्थ यह भी है कि इन्हें छेड़ा न जाय। छेड़ने अथवा अनजानेमें छू जानेपर ये करारी चोट कर बैठते हैं। हर पढ़े-लिखे प्राणीको ऊपर बतायी दवाएँ तो प्रयोगमें लानी ही चाहिये। साथ ही अपने घर और आस-पासको साफ-सुथरा भी रखना चाहिये ताकि साँप आने ही न पाये।

## जब लोकमान्य तिलकने मांडले जेलको नालन्दा-विश्वविद्यालयमें बदल दिया था

(लेखक—डा० श्रीसीतारामजी सहगल, शास्त्री, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०, पी-एच० डी०)

[मैं अक्सर सोचता और विस्मित भी रहता कि महाराज तिलक मांडलेकी जेलमें किस प्रकार बौद्धिक कार्यमें जुझे रहे। उस विषम वस्तुस्थितिमें इस प्रकारका कार्य करना तभी सम्भव हो सकता है जब कि मनुष्य साधक, योगयुक्त और विशुद्धात्मा हो, जब कि वह सुख-दुःख, राग-द्वेष, लाभालाभ आदि इन्द्रियोंसे ऊपर उठा हो। लोकमान्य उस जेलमें अकेले थे। यदि कोई आ सकता था तो वह दुर्मुख जो जेलका अधिकारी था। जेलके साधारण कैदियोंको भी लोकमान्यसे दूर रखा जाता था। इसका परिणाम यह था कि वे अपनी पुस्तकोंमें ही योगीकी तरह रत रहते थे। साधारण व्यक्तिके लिये वह कितना तनावपूर्ण वातावरण था, यह बात समझमें आ सकती है। इन हालातोंमें तिलक महाराज किस प्रकार 'गीता-रहस्य' ग्रन्थरत्नकी रचना कर सके थे, यह आज भी मेरे लिये विषयका विषय है।]

—नेताजी सुभाषचन्द्र बोस

महर्षि अरविन्द देशभक्तोंमें देशभक्त और ऋषियोंमें ऋषि थे। एक संदर्भमें लिखते हुए उन्होंने कहा है—'लोकमान्यके जीवन तथा चरित्रके दो तथ्य देशके लिये महत्वपूर्ण हैं; क्योंकि उससे पूर्व वे मान्यताएँ देशके राजनीतिक जीवनमें अन्तिम श्वास ले रही थीं। इन दो तथ्योंमें पहला तथ्य है—अदम्य संकल्प, जो देशभक्तके हृदयमें विराजमान होकर उसे कर्मके लिये प्रेरणा देता रहता है। इसके बिना

महत्वाकाङ्क्षाएँ, उत्साह और अन्य भाव सिकका बनकर रह जाते हैं। संकल्प-शक्ति सृजनका काम करती है और वही व्यापक रूपमें प्रेरक रहती है। दूसरा तथ्य है—त्याग और बलिदानके लिये तैयार रहना, जिसका कुछ आधार आवश्यक होना चाहिये। त्यागके साथ साहस, धैर्य, बुद्धि और पराक्रम आदि गुण भी चाहिये। इनसे भरपूर होकर मनुष्य कष्टोंको झेल सकता है और उनपर विजय भी प्राप्त कर



सकता है । भारतमें किसी देशभक्तने यातनाओंको लोकसेवाके लिये तिलकके समान सहन नहीं किया, किसीने बलिदानोंमें निर्भय तथा निरुद्धेग होकर अपनेको आत्मसात् नहीं किया । तिलक महाराजका नाम इतिहासमें बेजोड़ मिसाल है । वे राष्ट्रपिता, ज्योतिःपुञ्ज और पृथिवीपुत्र हैं, जिन्होंने जीवनकी क्यारीमें सूखी हुई कोंपलोंको हरा-भरा किया और उन्हें अपने कार्योंसे सुरभित कर दिया । कालिदासकी तरह उन्होंने शिरीष-फूलोंके केसरदलसे ऐसे चित्रोंका निर्माण किया, जिनसे सहयोगियोंके चरित्र सुन्दरतासे ओत-प्रोत हो गये और पवित्रता भी अपनेको पवित्र मानने लगी ।

देशद्रोह-मुकद्दमेकी सफाईके लिये तिलकने इक्कीस घंटे और दस मिनटतक अपनी वक्तृता जारी रखी थी । विदेशी सरकार भारतकी आजादीकी भावनाको समाप्त कर देना चाहती थी । परंतु तिलक हिमालयकी तरह खड़े रहे—अदम्य और निःस्पृह । ब्रिटिश सरकारका शासन उनके सामने बौना बन गया । उन्हें छः वर्षकी कैद हुई, जिसके लिये उन्हें मांडलेकी जेलमें रखा गया ।

तिलक राजनीतिज्ञ न थे, वे बेजोड़ विद्वान् भी थे । महाराष्ट्रकी नस-नसमें भारतीयताका खून है, जो जोखिममें खौलने लगता है और शान्तिकी अवस्थामें देशका निर्माण करता रहता है । उनके सामने स्वामी विवेकानन्द देश और विदेशमें सूर्यकी तरह चमकते थे । वे भी वेदान्तमें कर्मयोगकी व्याख्या करते थे । एक बार एक ही रेलगाड़ीके डिब्बेमें दोनोंने यात्रा भी की थी । विवेकानन्द वाणी और ऋतुम्भरा प्रश्नके धनी थे । उन्होंने तिलकको कर्मयोगके लिये प्रेरित किया । जेलसे बढ़कर तिलकके जीवनमें कौन-सा सुनहरा अवसर हो सकता था, जब विवेकानन्दके मार्गको वे अपनी व्याख्यासे सुरभित कर सकते थे । तिलकने उस समयका भरसक लाभ उठाया और एक-एक पलका उपयोग करके गीताके कर्मयोग-रहस्यको समझानेमें जेलको नालन्दा-विश्वविद्यालयमें बदल दिया । उस ग्रन्थरत्नका भारतकी कई भाषाओंमें अनुवाद हुआ, जिससे देशकी मनीषाको समझनेके लिये दरवाजे और खिड़कियाँ खुल गयीं । देशमें भावात्मक एकता बढ़ी ।

मांडले जेलमें तिलकको एक सरकारी रसोइया मिला, जो मराठा था । वह महाराजके साथ दो वर्ष रहा । उसने

कुछ संस्मरण लिखवाये हैं, जो लोकमान्यके चरित्रर रेशनी डालते हैं ।

तिलक महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे । संस्कृतके धुरंधर विद्वान् थे । गणितज्ञ थे । एक बार उन्हें पूछा गया कि 'आ स्वतन्त्रताके बाद क्या काम करेंगे?' महाराजने जवाबमें कहा— 'मैं गणितका प्रोफेसर बूँगा ।' इससे उनकी गणितमें रुचि का पता चलता है । इसी गणितके सहारे उन्होंने वेद-रचनाकालपर अपनी खोजपूर्ण सम्मति भी लिखी है । एक योगीकी तरह वे प्रातःकाल उठते थे । मुँह तथा कुल्ला करके स्तोत्र पढ़ते थे । कुछ समयके लिये वे ध्यान करते थे । इसके बाद चाय पीते थे । तब अपने स्वाध्यायमें जुट जाते थे । नौ बजे स्नानके लिये नीचे उतरते थे । रसोइयाका उपनाम कुलकर्णी था, जो हर रोज धोती और पानी लगाकर रख देता था । नहानेके लिये पानी पर्याप्त और स्वच्छ चाहते थे । वे सप्ताहमें एक बार दाढ़ी बनाते थे । शुरू-शुरूमें एक कैदी उनकी दाढ़ी बनाता था, जिसका उस्तरा इतना भौंटा होता था कि बनवानेमें उन्हें कष्ट होता था । बनानेवाला कैदी उससे भी खराब था । शिकायत करनेपर बाहरसे नाई बुलवाया जाने लगा, जो एक रुपया लेता था । यह तिलक महाराजको अपनी जेबसे देना पड़ता था । एक बार उन्होंने कहा—“कुलकर्णी, हमारे राजा-महाराजा भी दाढ़ीपर एक रुपया खर्च न करते होंगे, जितना मुझे कैदीकी हैसियतसे करना पड़ता है । परंतु 'मरता क्या न करता' वाली बात है । मैं मधुमेह ( डाएबिटीज़ ) का शिकार हूँ । अगर सारे धंधे अपने हाथसे करूँगा तो बीमार हो जाऊँगा ।" गर्मियोंके मौसममें तिलक दो बार स्नान करते थे । एक वर्ष कैदी उनके कपड़े धोता था । स्नानके बाद वे माथेपर भस्मका तिलक लगाते थे, जो त्यागका चिह्न है । कुछ समयके बाद कुलकर्णीने चन्दनकी लकड़ीका प्रबन्ध कर दिया । दैनिक आहुति-कर्म अवश्य करते थे । एक बार उन्होंने कहा— 'कुलकर्णी ! यहाँ काफी समय मिलता है । पूनाकी तरह यहाँ जल्दी नहीं है, जहाँ मुझे खानेकी भी फुर्सत कम मिलती थी । हमलोग ब्राह्मण हैं । इसलिये गायत्री-जाप और वैश्वदेव-कर्म तो करने ही चाहिये ।'

खाद्य पदार्थोंमें रोटीका प्रयोग सुबह होता था । शामको भात और दाल खाते थे । कुछ समयके बाद उन्हें सप्ताहमें एक बार फल भी दिये जाते थे । उसके बाद



संख्या ८]

अन्तरा पापड़, मिर्च आदि वस्तुएँ भी मिलने लगीं। महाराज चटनीके भी शौकीन थे। खाते समय वे ध्यानमग्न रहते थे। ऐसा मादूम होता था कि किसी गीताके श्लोकके बारेमें विचार रहे हों। कुलकर्णीने लिखवाया है कि “एक बार मेरे भूल हो गयी। मैं दालमें नमक डालना ही भूल गया। महाराज खाकर प्रसन्न हो रहे थे। मूँछोंके साथ डेढ़ चैठक भी चल रही थी। जब मैंने भोजन किया तो मेरे हृदयमें भूलने हलचल पैदा कर दी; क्योंकि मेरी एक भी गिरावट हो जाती तो मैं जेलखानेका पंखी ही बना रहता। मैं दौड़कर महाराजके पास गया और हाथ जोड़कर भूलके लिये माफ़ी माँगने लगा। तिलक महाराजने प्रश्न किया—‘अरे, कौन-सी भूल और कैसी माफ़ी?’ मैंने काँपते हुए कहा—‘महाराज! आज दालमें नमक डालना भूल गया हूँ।’ तिलक महाराजने हँसकर कहा—‘दालमें नमक नहीं था? अरे, मुझे तो मादूम ही नहीं, परंतु भोजन तो स्वादिष्ट था। अगर नमक न भी था तो कुछ हरकत नहीं। स्वाद आना चाहिये, सो तो था ही।’

“प्रातःकाल भोजनके बाद वे अपने कमरेमें ही कुछ समयके लिये धूमते थे। फिर पढ़ना-लिखना शुरू हो जाता, जिसमें वे डूबे ही रहते थे। यह कार्यक्रम डेढ़ बजेतक चलता रहता था। मांडले गरम था, इसलिये वे नींबूका पानी लेते रहते थे। अगर कभी भूख रहती तो कभी दूध पीते और कभी फल खाते थे।

“इस समय मेरे भाग्य खुलते थे। वे मुझे पैंतालीस मिनटक कहानियाँ सुनाते थे। उनमें तुकाराम, स्वामी रामदास, श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, शिवाजी, कौरव-पाण्डव आदिकी कहानियाँ होती थीं। कभी-कभी हँसते भी थे। कभी पेशवाओंकी कुतुहली कहानियाँ और कभी-कभी अंग्रेजोंकी कूटनीतिपूर्ण कहानियाँ सुनाते थे। उनके पास संसारका एक नक्शा भी रहता था, जिसे वे हमेशा देखते रहते थे। फिर अपने पढ़ने-लिखनेमें जुझ जाते थे। इस समय उनकी चित्तवृत्ति योगियोंकी तरह रहती थी। उन्हें सख्त गर्मीकी छायाका आभास भी न होता था। पाँच बजे सायंकालका भोजन करते थे। छः बजे सायंकाल हमारी जेलकी कोठरी बंद हो जाती थी और हम दोनों बारह घंटे उस कबूतरखानेमें बंद रहते थे। वे रातको निर्विघ्न सोते थे। कभी-कभी तो बुरी भी लेते थे।”

रसोइयेको जेलकी वर्दी पहननेका हुकम था। जेल सुपरिंटेंडेंट उसे अधिक काम देना चाहता था। तिलकने

इसके विरोधमें पत्र भेजा—‘इस कैदीको मेरे पास रखना कानूनके विरुद्ध है। इसे कालेयानीकी सजा नहीं हुई है, तब वह मेरे साथ कैसे रह सकता है? साथ ही जेल-नियमोंके अन्तर्गत जो सुविधाएँ इसे मिलनी थीं, वे नहीं दी गयीं।’ इस वकालतसे उसे ‘वार्डर’ बनाया गया और कैदमें भी डेढ़ वर्षकी छूट दी गयी।

मांडले बड़ा गरम था। तिलक महाराजके शरीरमें फोड़े हो गये। उन्होंने बंबई सरकारको एक निवेदनपत्र भेजा, जिसमें कहा गया कि उन्हें अंडामनमें जमानतपर छोड़ दिया जाय। इस निवेदनको सरकारने नामंजूर कर दिया। इसपर महाराजने कहा—‘परमेश्वरकी इच्छा है कि मैं इसी कोठरीमें अन्तिम श्वास लूँ।’

लोकमान्य पुस्तकोंके अनन्य प्रेमी थे। एक दिन उनके रसोइयेने कहा—‘महाराज! आप हमेशा ही विचारोंमें उलझे रहते हैं।’ वे हँसकर बोले—‘कुलकर्णी! आदमीका सिर एक अनोखः ब्रह्माण्ड है और उसमें हरकतें बराबर होती रहती हैं। यहाँ मैं एक स्कूलका विद्यार्थी हूँ, यह कोठरी मेरी पाठशाला है, पुस्तकें मेरे लिये गुरु हैं, जेलर चपरासी हैं और तुम मेरे साथी हो। मैं इस स्कूलमें जर्मन, फ्रेंच, पाली और अन्य भाषाएँ सीख रहा हूँ। जेलसे रिहा होनेपर मेरा जर्मनी जानेका विचार है। क्या तुम मेरे साथ रसोई बनानेके लिये चलोगे?’

एक बार मांडलेमें हैजेका आतङ्क छा गया। तब उन्हें मिर्कटिला जेलमें ले जाया गया। जेलसे स्टेशनतक सैनिक तैनात कर दिये गये। लोगोंको पता लगा गया। भीड़ इकट्ठी हो गयी और नारे लगाये गये—‘तिलक महाराजकी जय’। जब वे मिर्कटिला जेल पहुँचे वहाँ भी लोगोंने जयकारपूर्वक अपने लाडले नेताका अभिनन्दन किया—‘तिलक महाराजकी जय’। इसपर जेलरने पूछा—‘आप किस रियासतके राजा हैं?’ तिलकने उत्तरमें कहा—‘मैं तो इस शरीरका भी मालिक नहीं हूँ, तब मेरा राज्य किस रियासतपर हो सकता है?’

कुलकर्णीको तिलक महाराजने पहले छोड़ा गया। उसने पूना पहुँचकर महाराजके कुशल-मङ्गलका समाचार दिया। जब तिलक रिहा हुए, तब कुलकर्णी फिर नमस्कार करनेके लिये आया। लोकमान्यके कहनेपर वह उनके पास ही रहने लगा। उसने कहा—‘मैं तो एक नीच, पामर हूँ। महाराजके सत्सङ्गसे मेरे जीवनपर जो धब्बा लगा हुआ था, वह धुल गया।’

ठीक ही कहा है—

‘सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ।’



## परमार्थ-पत्रावली

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र)

( १ )

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । मनुष्यको प्रतिकूल परिस्थितिसे ऊबना नहीं चाहिये । मनुष्य-जीवन बड़े ही महत्त्वका है । यह प्राणीको प्रभु-मिलनके लिये मिला है । इसीलिये महापुरुषोंने इसे 'साधनधाम' बताया है ।

अनुकूल और प्रतिकूल सभी परिस्थितियाँ मनुष्यको पूर्वकृत कर्मके फलरूपमें ही मिलती हैं । अतः मनुष्यको परिस्थितियोंके जालमें नहीं फँसना चाहिये—न तो अनुकूल परिस्थितिमें सुखभोगका रस लेना चाहिये और न प्रतिकूलमें विषादयुक्त और भयभीत होना चाहिये; प्रत्युत विवेकपूर्वक उनका सदुपयोग करना चाहिये ।

प्रतिकूल परिस्थिति पूर्वकृत पापकर्मोंका फल भुगताकर मनुष्यको शुद्ध बनाती है, संसारकी निस्सारताका दर्शन कराकर उसमें वैराग्य उत्पन्न करती है, संसारसे निराश होकर प्रभुपर निर्भर होनेकी प्रेरणा देती है; साथ ही यह भाव भी प्रदान करती है कि संसारमें कोई भी व्यक्ति वास्तवमें अपना हितकर नहीं है, एकमात्र प्रभु ही विश्वास करनेयोग्य और प्राणीके नित्य सङ्गी हैं । इस दृष्टिसे प्रतिकूल परिस्थितिका बड़ा महत्त्व है । इस महत्त्वको समझकर, संसारके पदार्थों और व्यक्तियोंसे निराश होकर उनसे किसी प्रकारकी भी आशा न करना और अपने नित्य-सङ्गी प्रभुपर दृढ़ विश्वास करके उनको अपना मानकर उनपर निर्भर हो जाना—यही उस परिस्थितिका सदुपयोग करना है । ऐसा करनेसे मनुष्य बड़ी सुगमतासे परम सुखी हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है ।

पाप करनेवाले चैनकी वंशी बजा रहे हैं, यह समझना भूल है । धन-सम्पत्तिके बढ़ जानेका नाम चैन

या सुख नहीं है । बड़े-से-बड़े धनी-मानी मनुष्यके अन्तः की पूर्ति कभी नहीं होती, प्रत्युत अभाव बढ़ता ही जाता है और लोभके कारण वह सर्वथा बेचैन ही रहता है । उसे न तो शान्ति मिलती है और न सुख ही ।

भलाईका परिणाम कभी बुराई नहीं होता, यह निश्चय समझना चाहिये ।

आपके साथ जो अधिकारी अत्याचार करते हैं, उनसे आप द्वेष न करें । अपने ऊपर होनेवाले अत्याचारको अपने कर्मका फल या भगवद्विधान मानकर क्रोधका त्याग करें एवं अपने कर्त्तव्यका धैर्यपूर्वक पालन करें, उनकी उन्नतिको देखकर ईर्ष्या न करें, उनके प्रति प्रेम-भाव रखें तथा उनके अत्याचारका उत्तर विनम्र भावसे प्रेमपूर्वक देते रहें । ऐसी चेष्टा करनेसे उनके स्वभावका परिवर्तन हो सकता है । आप धैर्यपूर्वक इस युक्तिको काममें लाकर देखें । यद्यपि पहले यह बड़ी कठिन औषध प्रतीत होगी, पर इसका परिणाम बड़ा ही उत्तम हो सकता है । आप अपने मनकी दुर्भावनाका त्याग करके चित्तको शुद्ध बनाइये । मैंने जो यह उपाय बताया है, वह वास्तवमें बड़ा ही सुगम है, क्योंकि इसमें किसी प्रकारकी पराधीनता नहीं है । ऐसे कोई वस्तु या योग्यताकी आवश्यकता इसमें नहीं है जो मनुष्यके पास न हो ।

( २ )

सादर हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । अपने अवगुणोंको देखकर शरीरका नाश कर लेनेकी सोचना तो महामूर्खता है । यह मनुष्य-शरीर बड़ा ही दुर्लभ है, इसे नष्ट करना महापाप है, अतः ऐसे विचार मनमें नहीं आने देने चाहिये; क्योंकि मरनेके समय भयानक दुःख तो होता ही है, इसके अलावा मरनेके बाद



[८]

आत्महत्याका नरकयातनारूप भयानक दण्ड भोगना पड़ता है।

समस्त विकारोंकी जड़ अज्ञान है। यदि अज्ञान न रहे तो किसी भी विकारकी सत्ता नहीं रह सकती। प्राणिमात्रमें सुखकी स्वाभाविक माँग है। उसीके प्रत्योभन-में यह इशर-उशर भटक रहा है, अनुचित-उचितका विचार छोड़कर ठोकरें खाता फिरता है। पर जब संसारमें कहीं भी इसे सुख नहीं मिलता, तब अपने कुत्थोंकी ओर दृष्टि जाती है। यह भी सबकी नहीं, नित्य प्रभुकी कृपा होती है, उसीकी दृष्टि इशर घूमती है। अतः आपको जो अपनेद्वारा होनेवाले कुकर्म और विकारोंपर घृणा होती है, यह प्रभुकी बड़ी भारी कृपा है। इस कृपाका और उस कृपाद्वारा मिले हुए विवेकका आदर करके आपको उस परम सुहृद् प्रभुसे प्रेम करना चाहिये। इन विकारोंसे दुखी होकर हलुके दिलसे प्रभुकी शरण ग्रहण कर लीजिये। वे सर्व-समर्थ प्रभु आपको क्षणभरमें निर्विकार कर सकते हैं। अब ? जब आपको अन्य किसीका भी भरोसा न रहे। भयवारी प्रभुके रहते हुए किसी भी परिस्थितिमें भयभीत होना एक प्रकारसे प्रभुकी कृपाका निरादर है।

हमारे प्रभु इतने कृपालु हैं कि वे पापीसे कभी कृपा नहीं करते; उनका नाम ही जो 'पतितपावन' रहता। जो अपने कुत्थोंसे दुखी हो जाता है और भविष्यमें उनको करना नहीं चाहता, उसे प्रभु अवश्य पवित्र बना लेते हैं।

प्रभु अपने दासमें अभिमानकी गन्ध भी नहीं रहने देना चाहते। अतः प्रभुने आपके अभिमानका नाश करनेके लिये यह परिस्थिति पैदा की है, इस भावनासे भक्ति होकर प्रभुकी कृपाका आश्रय लेकर प्रभुपर अपने-को छोड़ दें और मनमें यह प्रतिज्ञा करें कि अब मैं किसीके दोषोंको न तो देखूँगा न उनका चिन्तन ही

करूँगा और न अपने किसी प्रकारके गुणका अभिमान करूँगा। सच्चा गुण तो साधकका जीवन बन जाता है। अतः उसमें अभिमान नहीं होता।

दूसरोंकी उन्नतिको न सह सकनेका दोष तभीतक टिका रहता है, जबतक मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि हम सब उस एक ही प्रभुकी संतान हैं और हरेक-की उन्नति अपनी ही उन्नति है। जब मनुष्य सचमुच प्रभुका हो जाता है—एक प्रभुके अतिरिक्त किसीको अपना नहीं मानता और प्रभुके नाते सबको अपना मानने लगता है, तब यह अमर्षका दोष बड़ी सुगमतासे समूल नष्ट हो जाता है।

मनको डाँटने-फटकारनेकी अपेक्षा समझाकर काम लेना चाहिये। मन जो कुछ करता है, आपका बल पाकर ही करता है; उसमें अपना बल नहीं है। अतः आप मनको मदद न दीजिये। आपका सहयोग न मिलनेपर वह स्वतः शुद्ध हो सकता है।

परस्त्रीके प्रति माता, बहिन और कन्याकी भावना करनी उत्तम है, किंतु सबमें ईश्वर-बुद्धि की जाय तो और भी उत्तम है। ऐसी चेष्टा करनेपर कामका विकार नहीं होता।

राग-द्वेष तभीतक रहते हैं, जबतक हम किसीको अपना और किसीको पराया मानते रहते हैं। जब यह बात समझमें आ जाय कि अपने तो एकमात्र प्रभु हैं, और कोई अपना है ही नहीं, तब समस्त रागका नाश होकर प्रभुमें अनुराग हो सकता है; एवं जब यह समझ-में आ जायगा कि 'सभी प्रभुके हैं, इस नातेसे सभी अपने हैं, कोई दूसरा है ही नहीं' तब द्वेष भी समूल नष्ट हो सकता है। इन दोनोंका अन्त होते ही अन्तःकरण परम निर्मल हो जानेपर उसमें एकमात्र प्रभुके ही दर्शन होने लगते हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।



## श्रीराधा-प्राकट्य-महोत्सव

आज श्रीराधाजन्माष्टमी है। आजके ही मङ्गलमय दिवस साक्षात् सच्चिदानन्दरसविग्रहा, आनन्दाशघनीभूता, आनन्द-चिन्मयसप्रतिभाविता, मन्मथ-मन्मथ-मन्मथा, परमानन्द-परमा-नन्ददायिनी, रसिकेन्द्र-शिरोमणि-रस-प्रदायिनी, रसिकेन्द्रेश्वरी, साक्षात् ह्लादिनी श्रीराधिकाजीका अपने ननिहाल श्रीरावलग्राममें मङ्गलमय प्राकट्य हुआ था। परम और चरम त्यागका, सर्वसमर्पणमय उज्ज्वलतम प्रेमका, स्वसुखवाञ्छाविरहित प्रियतम-सुखेच्छामय स्वभावका और 'अहं' की चिन्ता, मङ्गलकामना ही नहीं, 'अहं' की स्मृतिसे भी शून्य प्रियतम-स्मृतिमय जीवनका कैसा स्वरूप होता है—श्रीराधाने अपने प्रत्यक्ष जीवनसे इसका एक नित्यचेतन क्रियाशील मूर्तिमान् उदाहरण उपस्थित करके जगत्के इतिहासमें एक अभूतपूर्व दान किया है। इस महान् दानका मङ्गलमूल आजका ही मङ्गलमय दिन है। इसलिये यह दिन धन्य है, यह भारतवर्ष धन्य है और इसके निवासी हमलोग भी धन्य हैं, जो आज श्रीराधाके प्राकट्य-महोत्सवके उपलक्ष्यमें उनका मङ्गलमय स्मरण कर रहे हैं।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके प्राकट्यके समय जिस आनन्द-रसकी धारा वही थी, आज उनकी आनन्द-रस-भावमयी इन हृदयेश्वरीके प्राकट्यके समय वह रस मानो समुद्र बनकर उमड़ चला और सभी दिशाएँ उस आनन्द-रससे आप्लावित हो गयीं।

नन्द-यशोदाके घर प्रकट हुए थे जब राधाप्रिय श्याम ।  
हुई प्रवाहित थी तब रस-आनन्द-सुधा-सरिता अभिराम ॥  
आज श्यामकी हृदयवल्लभा प्रकट हुई जब रावल-ग्राम ।  
उमड़ चला वह रस सागर बन, प्लावितकर सब दिशा ललाम ॥

फिर, सभी दिशाएँ जयध्वनिसे गूँज उठीं; ऋषिवर करभाजन, श्रृङ्गी, गर्ग और मुनि दुर्वासा पहलेसे ही पधारे हुए थे। उन्होंने वालिकाके मङ्गल ग्रह-नक्षत्रोंका शोध किया और कुण्डली बनायी। सम्पूर्ण व्रजमण्डलमें यह शुभ समाचार फैल गया। महाभाग नन्द-यशोदा सदल-बल उपहार लेकर पधारे। घर-घर बधाइयाँ बँटने लगीं। देवर्षि नारद आये और आनन्दरसमयी श्रीराधाका दर्शन-स्तवन करके कृतार्थ हो गये।

### श्रीराधाका स्वरूप और श्रीकृष्णके साथ

#### उनका अभेद

जैसे सच्चिदानन्दधन भगवान् श्रीकृष्ण नित्य हैं, समय-

समयपर इस भू-मण्डलमें उनका आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है, इसी प्रकार सच्चिदानन्दमयी भगवती श्रीराधाजी भी नित्य हैं। वास्तवमें भगवान्की निजस्वरूपा-शक्ति होनेके कारण वे भगवान्से सर्वथा अभिन्न हैं और समय-समयपर लीलाके लिये आविर्भूत-तिरोभूत हुआ करती हैं। नारद-पञ्चरात्रमें कहा गया है—

यथा ब्रह्मस्वरूपश्च श्रीकृष्णः प्रकृतेः परः ।  
तथा ब्रह्मस्वरूपा च निर्लिप्ता प्रकृतेः परा ॥  
आविर्भावस्तिरोभावस्तस्याः कालेन नारद ।  
न कृत्रिमा च सा नित्या सत्यरूपा यथा हरिः ॥

‘जैसे श्रीकृष्ण ब्रह्मस्वरूप हैं तथा प्रकृतिसे पर हैं, वैसे ही श्रीराधाजी भी ब्रह्मस्वरूपा, निर्लिप्ता तथा प्रकृतिसे पर हैं। भगवान्की भाँति ही उनका समय-समयपर आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है। वस्तुतः वे भी श्रीहरिके सदृश ही अकृत्रिम नित्य और सत्यस्वरूप हैं।’

### श्रीराधामें परस्परविरोधी गुणोंका समावेश

श्रीराधारानी भगवान् श्रीकृष्णका ही एक दूसरा स्वरूप हैं और उन्हींकी भाँति उनमें समस्त भगवदीय गुणोंका प्राकट्य है। प्रेमकी परमोच्च सीमास्वरूप महाभावरूपा होनेपर भी वे नित्य-निरन्तर अपनेमें प्रेमका अभाव देखती हैं। अतएव उनका वह दिव्य प्रेम प्रतिपल नित्य वर्द्धनशील है, वह कभी पूरा होता ही नहीं। वे नित्यपरिवर्द्धनशील, नित्यनवामान सौन्दर्य-माधुर्यका अगाध, अपरिसीम, अनन्त भंडार होनेपर भी अपनेमें कुरूपता देखकर कभी भी अपनेको प्रियतम श्यामसुन्दरके योग्य अनुभव नहीं करती और सदा सकुचाती रहती हैं। अनन्त अचिन्त्य-अनिर्वचनीय सहज दिव्य भगवत्स्वरूपा होनेपर भी वे अपनेको दोषागार मानकर लज्जित अनुभव करती हैं। शिव-ब्रह्मादि देवगण, नारद-सत्सुकुमा आदि मुनि, वसिष्ठ व्यासादि महर्षि, याज्ञवल्क्य-शुकदेव आदि ज्ञानी, अनसूया-अरुन्धती आदि सती-पतिव्रताशिरोमणि एवं ब्रह्मविद्या आदि प्रत्यक्ष ज्ञानमूर्ति देवियों आदिके द्वारा उपासित, आराधित, परमगौरवमयी, महामहिमामयी, निर्मल-प्रेमाकर-स्वरूपा होनेपर भी वे अपनेको गौरव-महिमा विहीन और विकारिहृदय-सम्पन्न बतलाती हैं और नित्य सहज अनुगत होनेपर भी पुनः-पुनः वक्रगतिका अवलम्बन करती हैं।



है। इस प्रकार उनमें नित्य-निरन्तर अनन्त अचिन्त्य निरतिशय परस्पर-विरोधी धर्म एवं भावोंका विकास रहता है।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण अभिन्न होनेपर भी विलक्षण प्रेम-सम्बन्धसे सम्बन्धित हैं। वे परस्पर प्रेमी भी हैं और प्रेमास्पद भी। परंतु अधिकांशमें श्रीराधा ही आश्रयात्मन्स्वरूपा बनी हुई श्रीकृष्णकी आराधना करके उन्हें सुख पहुँचाती रहती हैं। श्रीराधामें अनन्त गुण हैं। उनके स्वरूप-गुणोंको यथार्थतः पूरा कोई नहीं जानता।

### श्रीराधापूजनकी प्राचीनता एवं आवश्यकता

श्रीमद्देवीभागवतमें श्रीनारायणने नारदजीके प्रति 'श्रीराधाये स्वाहा'—इस षडक्षर राधामन्त्रकी अति प्राचीन परम्परा तथा विलक्षण महिमाके वर्णन-प्रसङ्गमें श्रीराधा-पूजाकी अनिवार्यता तथा परम कर्तव्यताका निरूपण करते हुए कहा है—

कृष्णार्चायां नाधिकारो यतो राधार्चनं विना ।

वैष्णवैः सकलैस्तस्मात् कर्तव्यं राधिकार्चनम् ॥

कृष्णप्राणाधिदेवी सा तदधीनो विभुर्यतः ।

रासेश्वरी तस्य नित्यं तथा हीनो न तिष्ठति ॥

राधोति सकलान् कामांस्तस्माद् राधेति कीर्तिता ॥

( देवीभागवत ९ । ५० । १६—१८ )

'श्रीराधाकी पूजा न की जाय तो मनुष्य श्रीकृष्णकी पूजाका अधिकारी नहीं बनता। अतएव समस्त वैष्णवोंको चाहिये कि वे भगवती श्रीराधाकी अर्चना अवश्य करें। ये श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं, इसीलिये भगवान् इनके अधीन रहते हैं। ये भगवान्के रासकी नित्य अधीश्वरी हैं। इन श्रीराधाके बिना भगवान् श्रीकृष्ण क्षणभर भी नहीं ठहर सकते। ये सम्पूर्ण कामनाओंका (राधन) (साधन) करती हैं, इसी कारण इन देवीका नाम श्री'राधा' कहा गया है। (इनकी पूजा अनिवार्य है।)'

### 'राधा' नाम तथा राधाष्टमी-व्रतकी महिमा

पद्मपुराणमें कथा आती है कि एक बार भगवान् शंकरने देवर्षि नारदसे कहा—“जो मनुष्य 'राधा-राधा' कहता है तथा स्मरण करता है, वह सब तीर्थोंके संस्कारसे युक्त होकर सब प्रकारकी विद्याकी प्राप्तिमें प्रयत्नवान् बनता है। जो 'राधा-राधा' कहता है, 'राधा-राधा' कहकर पूजा करता है, 'राधा-राधा' में जिसकी निष्ठा है, जो 'राधा-राधा' उच्चारण करता

रहता है, वह महाभाग वृन्दावनमें श्रीराधाकी सहचरी होता है। इस विश्वब्रह्माण्डमें यह पृथ्वी धन्य है, पृथ्वीपर वृन्दावनपुरी धन्य है। वृन्दावनमें सती श्रीराधाजी धन्य हैं, जिनका ध्यान बड़े-बड़े मुनिवर करते हैं। जो ब्रह्मा आदि देवताओंकी परमाराध्या हैं, जिनकी सेवा देवतालोग दूरसे ही करते रहते हैं, उन श्रीराधिकाजीको जो भजता है, उसको मैं भजता हूँ। हे महाभाग ! उनका कथा-कीर्तन करो, उनके उत्तम मन्त्रका जप करो और रात-दिन 'राधा-राधा' बोलते हुए नाम-कीर्तन करो। जो मनुष्य कृष्णके साथ राधाका (अर्थात् राधे कृष्ण, राधे कृष्ण) नामकीर्तन करता है, उसके माहात्म्यका वर्णन मैं नहीं कर सकता और न उसका पार ही पा सकता हूँ। गङ्गा, गया और सरस्वती सदा हितकारिणी नहीं होतीं, परंतु 'राधा'-नाम-स्मरण कदापि निष्फल नहीं जाता। यह सब तीर्थोंका फल प्रदान करता है। श्रीराधाजी सर्वतीर्थमयी, तथा सर्वैश्वर्यमयी हैं। श्रीराधा-भक्तके वरसे कभी लक्ष्मी विमुख नहीं होती। हे नारद ! उसके घर श्रीराधाके साथ श्रीकृष्ण वास करते हैं। श्रीराधाकृष्ण जिनके इष्टदेवता हैं, उनके लिये राधाष्टमी-व्रत ही सर्वश्रेष्ठ व्रत है। उनके घरमें श्रीहरि देहसे, मनसे कदापि पृथक् नहीं होते।" श्रीराधा-नाम तथा राधाष्टमी-व्रतकी इस महिमाको सुनकर मुनिश्रेष्ठ नारदजीने प्रणत होकर यथोक्त रीतिसे श्रीराधाष्टमीके दिन यजन-पूजन किया। जो मनुष्य इस लोकमें इस श्रीराधाजन्माष्टमी-व्रतकी कथाका श्रवण करता है, वह सुखी, मानी, धनी और सर्वगुणसम्पन्न हो जाता है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक श्रीराधा-मन्त्रका जप करता है अथवा नाम-स्मरण करता है, वह धर्मार्थी हो तो धर्म प्राप्त करता है, अर्थार्थी हो तो धन पाता है, कामार्थी पूर्णकाम हो जाता है और मोक्षार्थीको मोक्ष प्राप्त होता है। कृष्णभक्त वैष्णव सर्वदा अनन्यशरण होकर जब श्रीराधाकी भक्ति प्राप्त करता है, तब सुखी, विवेकी और निष्काम हो जाता है।

### श्रीराधाके त्यागकी अलौकिकता

पवित्र प्रेमकी प्राप्तिके लिये जिस त्यागकी आवश्यकता है, उससे भी कहीं अधिक त्याग श्रीराधामें स्वाभाविक है। वास्तवमें श्रीराधाजी दिव्य प्रेमस्वरूपा ही हैं, पर आदर्शके लिये उनका त्याग परमोज्ज्वल है और श्रीगोपाङ्गनाएँ भी उसीका अनुकरण करती हैं। श्रीकृष्णका सुख ही उनका



जीवन है। उन्हें न त्यागका भय है न त्यागकी आकाङ्क्षा; इसी प्रकार न वे भोग-वासना रखती हैं और न वे किसी निज-कल्याण-कामनासे भोग-त्याग करती हैं। उनका अपना न कोई काम है न उनके लिये कोई काम्य वस्तु है। वे केवल और केवल अपने श्यामसुन्दरको जानती हैं और अपने सहज सर्व-समर्पणद्वारा अनवरत उनको सुख पहुँचाया करती हैं। यही उनका जीवन-सार है—

सर्वत्यागमय पूर्ण समर्पण, दोषबुद्धि-विरहित व्यवहार।

भोग-मोक्ष-इच्छा-विरहित प्रियतम-सुख केवल जीवन-सार ॥

इस परम मधुरतम प्रेममें मोक्ष-सुखकी इच्छाको भी 'काम' माना जाता है, अतः उसका भी सहज त्याग हो जाता है, फिर जगत्के तुच्छ भोगोंकी तो बात ही क्या है। इस प्रेम-सुधाकी पवित्र मधुर धारा प्रतिक्षण बढ़ती हुई असीमकी ओर प्रवाहित होती रहती है।

प्रेम पवित्र परम उज्ज्वल, जो काम-कलुषसे रहित, उदार। शशधर-कला-सदृश प्रतिपल ही बढ़ता रहता सहज अपार ॥ नहीं कमी भी, किसी हेतुसे हो सकता उसका प्रतिरोध। नहीं कमी उसका कर सकता कोई लौकिक भाव विरोध ॥ धन-जन-तन, बहुभोगजनित सुख-दुःख प्रबलका तनिक अभाव। नहीं कमी होता प्रेमाप्लावित मनपर, रहता सद्भाव ॥ नहीं नरकका भय रहता कुल, रहता नहीं स्वर्गका काम। जीवन-मरण प्रेम-रसमें नित डूबे ही रहते अभिराम ॥ प्रियतम प्रभु वन स्वयं मधुरतम प्रेम-सुधा-रस-पारावार। करते परम मनोहर अपनेमें ही आप विचित्र विहार ॥ उठतीं ललित लहरियाँ उसमें, अनुपम, अमल, अमित, अविराम। देतीं सतत, अनन्त कालतक सुख शुचि, नित्य-नवीन, ललाम ॥ इह-पर रहता नहीं, नहीं रहता अनित्य दुःखमय संसार। उठता नहीं मोक्ष-सुखका भी मनमें किंचित् काम-विकार ॥ रहते प्रियतम सुख-सच्चिन्मय छाये एक सदा सर्वत्र। सदा अमृत-रस-वर्षा होती सुर-मुनि-दुर्लभ परम पवित्र ॥

श्रीगधामें इस प्रेम-समर्पणकी पूर्णता है। इसीसे वे परम अनुरागके मधुर सागरमें डूबी हुई, नित्य-निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णमें नित्य नये-नये सौन्दर्य-माधुर्यका अनुभव करती रहती हैं।

**साधनाकी दो धाराएँ, गोपीभावकी परम दुर्लभता**

यों तो साधनाकी दो धाराएँ हैं—अनादिकालसे। एक धारामें 'अहं'के परिणामकी चिन्ता है, 'अहं'के मङ्गलकी

भावना है। दूसरी धारामें 'अहं'का सर्वथा समर्पण है। इन्हीं दोनों धाराओंके अनुसार अध्यात्मराज्यकी धारा साधनाएँ चलती हैं। संक्षेपमें जिस धारामें कर्मकी और ज्ञानकी प्रधानता है, उस धारामें आत्मपरिणामकी चिन्ता है, 'अहं'के मङ्गलकी भावना है। भगवान्ने गीताके अन्तिम उपदेशमें कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

(१८।६६)

यह बड़ा सुन्दर, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपदेश भगवान्का है। परन्तु इस उपदेशमें 'पापनाशका प्रलोभन' है—'तुम्हारे पापोंका नाश मैं कर दूँगा, तुम चिन्ता न करो।' पापका भय है, नहीं तो चिन्ताकी कोई आवश्यकता नहीं। साधक सोचता है कि 'मेरे पापका नाश कैसे होगा, मेरा मङ्गल कैसे होगा?' इसमें 'अहं' के मङ्गलकी भावना है, 'अहं' के परिणामकी चिन्ता है।

इससे और आगे बढ़ते हैं तो कहते हैं कि 'हमारा बन्धनसे छुटकारा हो जाना चाहिये, मुक्ति मिल जानी चाहिये।' 'किसको?' 'जिसे बन्धन है, उसको।' 'मुक्तिकी चाहमें 'अहं' की अपेक्षा है ही। बन्धनकी कल्पनामें यह सहज बात है कि 'मैं बन्धनमें हूँ, मुझे मुक्ति मिले।' यहाँ मोक्षकी इच्छा है, जिसे 'मुमुक्षा' कहते हैं। इसका अर्थ यही होता है कि उसे बन्धनकी तीव्र वेदना है और वह बन्धनसे छूट जाना चाहता है। 'मैं बन्धनमें हूँ और मैं छूट जाऊँ।' यह जो बन्धनका बोध है, इसमें 'अहं'के मङ्गलकी आकाङ्क्षा भरी है। इसीसे जहाँ कोई प्रलोभन नहीं, जहाँ ऐसी कोई भावना नहीं, इसके बादकी वह स्थिति बतलाते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

यहाँ 'पापनाशका प्रलोभन' नहीं है। यहाँ साधकके मनमें यह नहीं है कि 'मुझे पाप लगेगा।' यहाँ तो वह 'ब्रह्मभूत' है, 'प्रसन्नात्मा' है। उसे न शोच है न आकाङ्क्षा है। स्वयमेव अपने-आप भगवान् आते हैं, भगवान्की भक्ति प्राप्त होती है। 'मेरी पराभक्ति प्राप्त करता है' यह दूसरे स्तरकी चीज है—'मद्भक्तिं लभते पराम्।' पर यहाँ भी भक्तिलाभकी आकाङ्क्षा है। जहाँ कोई आकाङ्क्षा नहीं, जहाँ कोई वासना नहीं, जहाँ 'अहं' का सर्वथा विसरण—



संख्या ८]

सम्पर्ण है, जहाँ केवल प्रेमास्पदके सुखकी स्मृति है और कुछ भी नहीं—यह एक विचित्र धारा है और इस धाराका मूर्तिमान् रूप ही 'श्रीराधा' हैं। जितनी और सखियाँ हैं, जितनी और गोपाङ्गनाएँ हैं, वे सब राधा-व्यूहके अन्तर्गत आती हैं और राधा इस भावधाराकी मूर्तिमती सजीव प्रतिमा हैं। राधाका आदर्श—राधाका जीवन इसीलिये 'ब्रह्मविद्या' के लिये भी आकाङ्क्षित है। यह कथा आती है पञ्चपुराणके पातालखण्डमें—ब्रह्मविद्या स्वयं तप कर रही हैं। उनको तर करते देखकर ऋषि पृच्छते हैं कि 'आप कौन हैं? आप क्यों इतना कठिन तप कर रही हैं?' ब्रह्मविद्याने कहा, 'मैं ब्रह्मविद्या हूँ।' ऋषियोंने पूछा, 'आपका कार्य?' ब्रह्मविद्याने कहा कि 'सारे जगत्को अज्ञानसे मुक्त करके ब्रह्ममें प्रतिष्ठित कर देना—यह मेरा कार्य है।' सारे जगत्के अज्ञान-तिमिरको सर्वदाके लिये हर लेना और ज्ञान प्रकाशित करना—यह उनका स्वाभाविक कार्य है। ऋषियोंने पूछा—'तो फिर आप तपस्या क्यों कर रही हैं?' वे यह तो न कह सकीं कि 'राधाभावकी प्राप्तिके लिये।' उनकी यह कहनेकी भी हिम्मत न पड़ी। उन्होंने कहा—'गोपीभावकी प्राप्तिके लिये।' गोपीभाव बड़ा विलक्षण है। श्रीराधा-माधवके सुखकी सामग्री एकत्र कर देना जिनके जीवनका स्वभाव है, वे हैं गोपी। अपनी बात कहीं नहीं है, जगत्की स्मृति नहीं है, ब्रह्मकी परवा नहीं है, ज्ञानका प्रलोभन नहीं है। अज्ञानका तिमिर तो है ही नहीं। वहाँ केवल एक ही बात है, दूसरी चीज है ही नहीं। गोपी केवल एक ही बातको लेकर जीवित रहती है कि वह राधा-माधवको कैसे सुखी देख सके। वस ! इसी गोपीभावमें इस प्रकारका प्रलोभन है, इस प्रकारका आकर्षण है कि ब्रह्मविद्या ही नहीं, स्वयं भगवान् इस भावकी प्राप्तिके लिये, इस रसका आस्वादन करनेके लिये, इस प्रकारकी लीला करनेको बाध्य होते हैं, जिससे इस परम पुनीत, परम आदर्श प्रेमराज्यकी कुछ थोड़ी-सी झाँकी जगत्को प्राप्त होती है।

### राधाभाव क्या है ?

तो यह श्रीराधा-भाव क्या है ? भगवान्के स्वरूपका एक भाव है—'आनन्द।' यह अंश नहीं, आनन्दांश नहीं। सत् भगवान्का स्वरूप, चित् भगवान्का स्वरूप, आनन्द भगवान्का स्वरूप। तो भगवान्का जो स्वरूपानन्द है, उस स्वरूपानन्दका वैष्णव-शास्त्रोंमें नाम है—'आह्लादिनी

शक्ति'। इस आह्लादिनीका जो सार है, जो सर्वस्व है, उसे कहते हैं 'प्रेम'। उस प्रेमका जो परम फल है, उसे कहते हैं 'भाव' और वह भाव जहाँ जाकर परिपूर्ण होता है, उसे कहते हैं 'महाभाव'। यह महाभाव ही 'श्रीराधा' हैं।

भावके अनेक स्तर हैं—रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव। ये सभी आह्लादिनी शक्तिके ही भाव हैं। इन सारे भावोंका जहाँ पूर्णतम प्रकाश, अनन्ततम प्रकाश है—वह 'श्रीराधा-भाव' है। अब श्रीराधा क्या हैं? यह कोई नहीं बता सकता कि वे क्या हैं। राधा हैं—श्रीकृष्णका सुख। राधा हैं—श्रीकृष्णका आनन्द। राधा न हों तो श्रीकृष्णके आनन्दरूपकी सिद्धि ही न हो। श्रीकृष्णके आनन्दका नाम है—'राधा'। इन राधाके अनेक स्तर हैं, अनेक स्वरूप हैं, अनेक विकास हैं। इसलिये आजका यह उत्सव कोई तमाशा नहीं है, न यह किसीका जन्मोत्सव मनाया जाना ही है। यह एक बहुत ऊँचे—ऊँचे-से-ऊँचे साधनका संकेत है। इस साधनके संकेतमें जो साधनकी दृष्टिसे समवेत होते हैं, उन्हें परमोच्च साधनका लक्ष्य प्राप्त होता है। तमाशा देखनेवालोंको तमाशा दीखता है। दोष देखनेवालोंको दोष ही मिलता है।

जैसे एक मूर्तिमान् रसराज श्रीकृष्णके द्वारा ही समस्त रसोंका अस्तित्व और प्रकाश है, वैसे ही एकमात्र मूर्तिमती महाभावस्वरूपा श्रीराधाके द्वारा ही अमूर्त-समूर्त सभी भावोंका विकास और विस्तार है तथा उन-उन विभिन्न भावोंके अनुसार ही तदनुरूप रसतत्त्वका ग्रहण होता है। एक ही विद्युत्-ज्योति विविध विभिन्न वर्णोंके बल्बों—विद्युत्-प्रकाश-आधारोंके सम्पर्कमें आकर जैसे विभिन्न वर्णवाली दिवायी देती है, वैसे ही एक ही भाव विभिन्न आधारोंके द्वारा उन-उनके अनुकूल रसतत्त्वका अनुभव करवाता है। एक ही रसका जो विभिन्न रूपोंमें आस्वादन है, उसमें आधार-भेदकी यह भाव-विभिन्नता ही कारण है। वैकुण्ठ आदिकी श्रीलक्ष्मी आदि, द्वारकाकी पद्महिषी आदि और विभिन्न-भावसमन्विता श्रीगोपाङ्गनाएँ—सभी इन मूल-महाभावरूपा ह्लादिनी (राधा) के ही विभिन्न-विचित्र विकास हैं। इनमें गोपीभाव परम और चरम त्यागमय होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ है।

### गोपाङ्गनाओंका स्वरूप

राधामुख्या श्रीगोपाङ्गनाएँ निर्मल प्रेमकी सजीव मूर्तियाँ हैं।



उनके पवित्र प्रेममें उनके लिये कुछ भी शेष नहीं बचता, उनका अपना अस्तित्व भी उनके अपने लिये नहीं रह जाता। वे केवल इतना जानती हैं कि वे श्रीकृष्णकी हैं, उनके देह-प्राण, मन-बुद्धि, अहंकार, आत्मा—सभी श्रीकृष्णके हैं और प्रत्येक स्थितिमें—लोकदृष्टिमें प्रतिकूल-से-प्रतिकूल मानी जानेवाली अवस्थामें भी उन्हें प्रेमास्पद श्रीकृष्णके मधुर प्रेम तथा उनके महान् दिव्य गुणोंके ही सहज मङ्गलदर्शन होते रहते हैं।

### श्रीराधा-प्रेमकी विलक्षण उदारता

श्रीराधा महाभावरूपा हैं और बड़ी उदारताके साथ नित्य निरन्तर भावका प्रवाह बहाती रहती हैं। वे सर्वथा त्यागमयी हैं। उनमें स्वसुखकी वासना है ही नहीं, केवल श्रीकृष्ण-सुख-कामना है। साथ ही वे यह भी चाहती हैं कि 'जैसे मेरे द्वारा प्रियतम श्रीकृष्णको सुख होता है, वैसे ही मेरी कायव्यूहरूपा समस्त गोपाङ्गनाओंके द्वारा भी उन्हें सुख मिले और उनके सुखसे मेरी वे सब सखियाँ भी परम सुखी हों।' वे श्रीकृष्णको केवल अपनी ही वस्तु मानकर उनको अपने ही प्रणयकक्षमें बंद नहीं रखतीं, बल्कि सबके सुखकी वस्तु बनाकर वे सबको सुखी करना चाहती हैं। उनके अनन्त विशुद्ध प्रेममें यह स्वाभाविक उदारता है।

राधा नहीं चाहतीं निज सुख निज प्रियतमसे किसी प्रकार। केवल प्रियतमके सुखसे वे होतीं परम सुखी अविकार ॥ केवल यही चाहतीं, प्रतिफल प्रियतम सुखी रहें अविराम। फल-फल उनको सुखी देखना-करना—यही एक, बस, काम ॥ भक्त-पराधीनता उनका है निर्मल स्वभाव अभिराम। राधा-पराधीन हो रहना लगता उन्हें अतुल सुख धाम ॥ राधा नहीं चाहतीं लेकिन उनपर अपना ही अधिकार। सभी प्राप्त हों प्रियतम-सुखको, करतीं यह अभिलाष उदार ॥ मुकुटहस्तसे वितरण करतीं प्रियको, प्रिय-सुखको भर मोद। 'सुखी करो सबको', नित प्रियसे कहतीं कर गम्भीर विनोद ॥ मैं गुणहीन, मलीन सर्वथा, क्यों मुझपर इतना व्यामोह! मुझसे सभी अधिक सुन्दर, शुचि, मधुर, शील-सद्गुण-संदोह ॥ प्रेम-रसास्वादन कर सबका, मुझे करो प्रिय! सुखका दान। रससागर! नटनागर! प्रियतम! मेरे एकमात्र भगवान् ॥

कैसा महान् आदर्श त्याग है! इसीलिये रासमण्डलमें असंख्य गोपाङ्गनाओंका समावेश है और असंख्य रूपोंमें—प्रत्येक दो-दो गोपाङ्गनाओंके बीचमें अगणित रूपोंमें प्रकट होकर श्रीकृष्ण उनके विशुद्ध प्रेमका रसास्वादन कर-करा

रहे हैं। श्रीराधारानीकी ही महान् उदारताका यह कैसा विलक्षण आश्चर्यपूर्ण मनोहर फल है!

प्रेममयी ब्रजरमणी-गण-मण्डलमें हुए सुशोभित श्याम। अगणित राशि तारिकामें अकलङ्क पूर्ण विधु विमल ललाम ॥ अथवा नव-नीलाम-श्याम घन दामिनि-दलमें रहे विराज। घन दामिनि दामिनि घन अन्तर अगणित उभय अतुल युति साज ॥

श्रीराधाका यह श्याम-प्रेम सीमित नहीं है। वह अनन्त है और वे उसका वितरण करके परम सुखी होती हैं। वे हर समय सचेत और सचेष्ट रहती हैं कि उनकी सखियाँ भी उन्हींकी भाँति प्रियतम-सुखका आस्वादन करें। प्रत्येक क्षेत्रमें उनका यह सहज उदार स्वभाव क्रियाशील रहता है।

### श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराधिका भी हैं और आराध्या भी

श्रीभाईजी कहते हैं—

मेरी राधा ऐसी हैं, जिनके पवित्रतम प्रेसराज्यमें मलिन काम और भोगके कल्पना-लेशका भी कभी-कहीं प्रवेश नहीं है। वे विलक्षण शृङ्गार धारण करती हैं, परंतु उसमें कहीं तनिक भी आसक्ति नहीं है; उनका पवित्र करनेवाला प्रेम मोहसे सर्वथा रहित है। उनमें ममता है, परंतु वह स्व-सुख-इच्छासे विरहित है। उनके अपने योगक्षेम पूर्णरूपसे प्रियतम श्रीकृष्णमें समर्पित हैं। वे खाती-पीती हैं, पर स्वादके लिये नहीं। वे अत्यन्त मानवती हैं, किंतु अभिमानसे रहित हैं। उनमें भोगोंका बाहुल्य है, पर भोग-दृष्टिसे वे नित्य भोगरहित हैं। वस्तुतः वे केवल अपने प्रियतमके ही पवित्रतम सुखकी खान हैं। उनका इन्द्रियसमूह, उनका शरीर, उनका मन, उनके प्राण, उनकी बुद्धि और उनका अहं—सभी कुछ प्रियतमके लिये ही हैं। उनसे उनका अपना कुछ भी काम नहीं है, वे सब सदा प्रियतमके कार्यमें ही लगे रहते हैं। श्रीराधासे जगत्में जगत्के सारे व्यवहार होते हैं, पर होते हैं वे सहज ही संयमपूर्ण। उनका किसीसे अपना कोई सम्पर्क नहीं है, केवल प्रियतमका सुख ही उनके जीवनका सार-सर्वस्व है। मेरे जीवनकी साध्य वे त्रिभुवनपावनी श्री-राधा ऐसी हैं, जो नित्यतृप्त भगवान् श्रीमाधवकी भी पवित्रतम परमाराध्या हैं।

मेरी उन राधाके शुचितम प्रेमराज्यमें नहीं प्रवेश। काम-भोगका मलिन, कभी भी किंचित कहीं कल्पना-लेश ॥ रागरहित शृङ्गार अनूठा, मोहरहित है पावन प्रेम। सुख-वाञ्छा-विरहित ममता है, पूर्ण समर्पित योग-क्षेम ॥



संख्या ८ ]

स्वर्गहित सब खान-पान हैं, है अभिमान-रहित अति मान ।  
मोग-बहुलता मोग-रहित नित, प्रियतम-सुखकी शुचितम खान ॥  
इन्द्रिय, तन, मन, प्राण, अहं, मति, हैं प्रियतमके लिये तमाम ।  
नहीं कार्य कुछ निजका उनसे, करते सब प्रियतमका काम ॥  
मनमग्न सहज ही होते जगमें, जगके सब व्यवहार ।  
नहीं किसीसे उनका मतलब, प्रियतम-सुख ही केवल सार ॥  
नहीं किसीसे उनका त्रिभुवन-पावनि जीवन-साध्य ।  
नहीं किसी हैं वे गया त्रिभुवन-पावनि जीवन-साध्य ॥  
नित्य-तृप्त श्रीमाधवकी जो हैं पवित्रतम परमाराध्य ॥

इन श्रीराधाका जीवन परम त्यागमय तथा सर्व-समर्पण-मय है और स्वरूपतः श्रीराधा श्रीमाधवसे सर्वथा अभिन्न रहती हुई ही दिव्य लीला-विहारिणी हैं ।

## वर्तमान युगमें जीवनको ऊपर उठानेके लिये श्रीराधाके त्यागमय चरित्रके अनुशीलनकी परमावश्यकता

मानवके गौरव तथा अभिमानके प्रतीक वर्तमान विश्वानके विकास-द्युति-सम्पन्न स्वर्णयुगमें अथवा आध्यात्मिक दृष्टिसे प्रायः सर्वत्र विस्तृत तमोमय घोर अज्ञानके युगमें—जिसमें प्रतिक्षण वर्धमान, नित्य अतृप्त भोगलिप्साके प्रभाव तथा मानवोचित त्यागके अभावसे मनुष्य असुर बन गया है—मानवके कर्तव्यपर गम्भीर विचार करना परमावश्यक है । यदि इस पतनके प्रवाहकी गति नहीं रुकी तो पता नहीं, विश्वमानव कितने दीर्घकालके लिये, कितने घोर अशकार-गतमें गिरनेको बाध्य होगा ।

जलकी धारा जबतक प्रवाहित रहती है, उसका गंदापन नष्ट होकर उसका वह जल निर्मल, शुद्ध बनता चला जाता है । परंतु शुद्ध जल भी यदि एक गड्ढेमें भरकर बंद कर दिया जाता है तो वह अत्यन्त मलिन हो जाता है, सड़कर वह गंदे कीड़ोंकी विहार-स्थली बन जाता है और नाना प्रकारके रोग-विस्तारमें कारण बनता है । इसी प्रकार जबतक सर्वलोक-कल्याणकारिणी भारतीय आर्य-संस्कृतिके अनुसार मानवकी जीवनधारा—विचार-कर्म-धारा अपने 'अहं'को अखिल विश्व-प्राणियोंके 'अहं'में मिलाकर—अपने 'स्व'को स्वयं देखकर सबके सुख-हित-सम्पादनमें अखण्डरूपसे प्रवाहित थी, तबतक सबका कल्याण ही अपना कल्याण समझा जाता था तथा सर्वहितकारी विचार एवं क्रिया-कलाप चलते थे । परंतु जबसे मानवका 'स्व' छोटे-से सीमाबद्ध

दायरेमें रुककर संकुचित और सीमित हो गया है, तभीसे उस 'स्व'का अभिलषित 'अर्थ'—'स्वार्थ' भी बहुत ही संकुचित होकर अत्यन्त निम्नस्तरपर आ गया । इसी नीच स्वार्थके कारण सर्वत्र त्यागका अभाव बढ़ता जा रहा है और मनुष्य विभिन्न कारणोंकी उद्भावनासे एक-दूसरेका शत्रु बनकर अपने ही विनाशपर तुल गया है । आज केवल राजनीतिमें ही नहीं, प्रायः सभी क्षेत्रोंमें—हमारा ही जीवन नहीं, व्यक्तिगत जीवनसे लेकर समस्त विश्वगत मानव-जीवनतक प्रायः इसी विनाशकी भयानक भूमिपर आ गया है । इसीलिये लोक-कल्याणकारी विज्ञानका भी मानवकी विपरीतदर्शिनी तामसी बुद्धिके अवाञ्छनीय जन-विध्वंसकारी उद्दण्ड प्रलयकाण्डोंमें प्रयोग किया जा रहा है । ऐसे दुस्समयमें त्यागकी महिमा बतलानेवाले साधनकी—त्यागमय पवित्र चरित्रके अध्ययन, परिचय, दर्शन और तदनुरूप जीवन-निर्माणके पुनीत कार्यकी बड़ी आवश्यकता है ।

आध्यात्मिक जगत्के साधन-क्षेत्रमें तो सर्वोच्च साधन-पदपर समारूढ तीव्र मुमुक्षु—मोक्ष-कामी पुरुष भी बन्धन-मुक्तिके स्वार्थवश मोक्षकी कामना करता है । यद्यपि यह कामना कामना नहीं मानी जाती—वह त्याज्य नहीं, बरं बड़े पुण्यफलसे प्राप्त, आदरणीय और वरणीय है, तथापि स्वार्थत्यागकी अत्युच्च भूमिकापर पहुँचनेके लिये इस कामनाका त्याग भी परमावश्यक है । इसके लिये भी ऐसे पुनीत चरित तथा परम पावन साधनके परिचयकी अनिवार्य आवश्यकता है । ऐसा त्यागमय जीवन सर्वत्यागमयी 'श्रीराधाजी' का है और इस प्रकारका साधन स्वसुख-वाञ्छा-कल्पना-लेशगन्धसे शून्य पवित्रतम 'प्रेम' है ।

श्रीराधाजी तथा श्रीगोपाङ्गनाओंके पुनीत चरित्रमें इसी परम त्यागमय पुनीत साधन तथा साध्यस्वरूपके दर्शन प्राप्त होते हैं । अतएव उसका गम्भीर हृदयसे संयतेन्द्रिय होकर जितना भी स्मरण-चिन्तन-मनन किया जाय, उतना ही मङ्गल है ।

'प्रेम' सीमित 'स्व'-रूपको तथा अपने सीमित स्वार्थको भुलाकर प्रेमास्पदके अखण्ड-स्मरण तथा उसीके सुख-हित-सम्पादनरूप स्वार्थमें अपनेको खो देता है, परंतु इतनेपर भी न अभिमान करता है न अहसान । आजका मानव यदि यह पाठ सीख ले तो वह सच्चा धर्मभक्त, जातिभक्त, देशभक्त, विश्वभक्त या विश्वमय प्रभुका अनन्यभक्त बन



सकता है। पर इसके अभावमें आज मनुष्य धर्म, जाति, देश, विश्व तथा विश्वात्मा भगवान्‌को भूलकर अपने कल्पित तथा सीमित नाम-रूपके सेवन तथा सुख-हित-सम्पादनमें लगा है, जिसका परिणाम पतन और विनाश है। इसीलिये प्रेम साधनकी आवश्यकता है। इस प्रेम साधनमें संलग्न होनेके लिये मनुष्यको बनना है—सच्चा प्रेमी। अर्थात् एकमात्र प्रेमास्पदको सुखका—सेव्य-सुखका विषय तथा अपनेको एकमात्र उसके सुखका सेवक या सुखका आश्रय बना लेना। इसके लिये राधा-चरित्रके, राधा-जीवनके स्मरणकी, राधाके त्यागमय आदर्श-जीवनके अध्ययनकी आवश्यकता है। इसीलिये इस प्राचीन परम्परागत राधा-प्राक्कथ्य-महोत्सवको नवीन रूपमें मनानेका यह धुन प्रयास है। अभी तो केवल विचारमात्र ही है, प्रयासका प्रारम्भ भी नहीं हुआ है। ऐसे प्रयासके लिये राधा-जीवनसे परिचित तथा उसमें श्रद्धा-सम्पन्न प्रयास करनेवालोंकी आवश्यकता है। अभी तो न रङ्गमञ्च है और न अभिनेता ही। केवल बाह्य विचारमात्र है। श्रीराधा इस अभावकी पूर्ति करेंगी, तभी कुछ होगा।

### जगत्का कल्याण—जगत्में सुखका विस्तार स्वार्थत्यागसे ही सम्भव है

आज जो समस्त विश्व-मानसमें एक भयानक द्वेष, पर-सुख-असहिष्णुता, भीषण कलह तथा हिंसाकी आग जल उठी है, एवं पता नहीं, वह कब भयानक मूर्तरूपमें भड़ककर मानवजातिका विनाश कर देगी, इसका प्रधान कारण है—स्वार्थका अत्यन्त संकुचित—सीमित हो जाना, मानवका एक छोटी-सी परिधिमें ही सुखकी कल्पना करना और स्वसुख-वासनाको ही एकमात्र जीवनका ध्येय बना लेना। विश्वबन्धुत्व या विश्वप्रेमकी कितनी ही लंबी-चौड़ी बातें की जायँ, विशाल योजनाएँ बनायी जायँ, सह-अस्तित्व या पञ्चशीलके नारे लगाये जायँ—जबतक मानव परसुखको ही निजसुख नहीं मानेगा, जबतक निजसुखका त्यागी और परसुखका विधायक नहीं बनेगा, तबतक सच्चे अर्थमें विश्वप्रेमका उदय कभी नहीं होगा। हमारी श्रीराधारानीने विश्वके सामने त्यागपूर्ण विशुद्ध प्रेमका जो एक महान् आदर्श उपस्थित किया है, वह अतुलनीय है—अनुपमेय है। उसका तनिक-सा भी भाव आजके विश्वमें आ जाय तो अखिल विश्व सुखी हो सकता है।

### प्रेमकी आधारशिला और उसकी प्रामाणिक प्रारम्भिक साधन

यह तो विश्वमानवके कल्याणकी बात हुई। पर आजका विषय-वासना-विमुग्ध, कामोपभोग-परायण, मोहावृत, ईश्वर तथा सत्कर्ममें अविश्वास करनेवाला मानव इस ओर क्यों ध्यान देने लगा? वह तो विनाशको ही विकास माने हुए है। वस्तुतः इस प्रेमकी चर्चा तो करनी है—प्रेमरसकी सच्ची पिपासावाले साधकोंके लिये। यह परम विशुद्ध प्रेम वस्तुतः केवल भगवान्‌में ही हो सकता है और इसका उदय भी उन्हीं सच्चे सौभाग्यशाली व्यक्तियोंके जीवनमें सम्भव है, जो भुक्ति-मुक्तिकी स्पृहाका सर्वथा त्याग करके एकमात्र श्रीराधा-माधव-चरणानुरागके लिये ही जीवनका एक-एक क्षण लगानेको प्रस्तुत हैं।

इस प्रेमका आधार है त्याग—त्याग भी ऐसा-वैसा नहीं, सर्वत्याग-सम्पन्न हो जानेपर बन्धनमुक्तिरूप जिस मोक्षकी प्राप्ति होती है, उस दुर्लभ मोक्षका भी त्याग कर देना पड़ता है। मोक्षका परित्याग या तो जगत्के भोगासक्त और पाप-परायण विषयी और पाप्मर लोग करते हैं, या वे करते हैं, जिनको मोक्षसे भी बढ़कर कोई विशेष वस्तु मिल जाती है। वह मोक्षसे भी श्रेष्ठ वस्तु है 'भगवत्प्रेम'। यही पञ्चम पुरुषार्थ है। इसकी प्राप्ति—विशेषतया गोपीभावके रूपमें इस प्रेमकी प्राप्तिके लिये एकान्त अनन्य लालसा, श्रद्धा-विश्वासपूर्ण निश्चयबुद्धि और दृढ़ साधन-प्रवृत्ति होनी चाहिये।

### उपसंहार

श्रीराधा श्रीकृष्णकी ही अभिन्नस्वरूपा हैं। भगवान्‌का जो आनन्दस्वरूप है, वही श्रीराधाके रूपमें अभिव्यक्त है। श्रीराधा-श्रीकृष्ण नित्य एक और अभिन्न हैं। श्रीराधा-श्रीकृष्णकी प्रेयसी हैं, श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराध्या हैं, उनकी भक्ता हैं, श्रीराधा श्रीकृष्णकी आराध्या—उपास्या हैं। श्रीराधा विश्वजननी हैं, विश्वमयी हैं, विश्वस्वरूपा हैं, विश्वातीता हैं। श्रीराधा योगमाया हैं, दैवीमाया हैं, निजमाया हैं। श्रीराधा श्रीकृष्णकी शक्ति हैं। यह शक्ति ही शक्तिमान् श्रीकृष्णकी आत्मा है। श्रीराधा कवियोंकी काव्यसामग्री हैं। श्रीराधा सबकी आराध्या हैं। श्रीराधा



अनिर्वचनीय हैं, श्रीराधा अचिन्त्य हैं । आज उन्हीं श्रीराधाके परम पावन प्राकट्यकी मङ्गलमयी तिथि है ।

आजका यह मङ्गल दिवस सभीके लिये परम मङ्गलमय, सर्वथा आदरणीय एवं परम सौभाग्यसूचक है; क्योंकि सच्चिदानन्दधन भगवान्की ह्लादिनी शक्ति, नित्यलीलामयी, भक्तानुनन्दिनी, कीर्तिदाकुमारी स्वामिनी श्रीराधाजीकी प्राकट्यलीला आजके दिन इस मङ्गलमय मध्याह्नके समय हो हुई थी । जैसे श्रीकृष्ण नित्य सच्चिदानन्दस्वरूप, समस्त अन्तारों तथा भगवत्स्वरूपोंके मूल, प्राकृत प्रपञ्चसे अतीत, दिव्यगुण-शक्तिमय तथा सौन्दर्य-माधुर्यके अनन्त निधि हैं, वैसे ही श्रीराधाजी भी नित्य सच्चिदानन्दस्वरूपा, लक्ष्मी-परवती आदि समस्त देवियोंकी भी आदि—मूलस्वरूप, प्राकृत प्रपञ्चसे अतीत, दिव्य गुण-शक्तिमय तथा ऐसे अनुपम अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यकी समुद्र हैं, जो सर्वाकर्षक श्रीकृष्णको भी नित्य आकर्षित किये रहते हैं । वस्तुतः श्रीकृष्ण और श्रीराधामें शक्तिमान् तथा शक्तिके सहस्र नित्य अभेद है । एक ही तत्त्व नित्य दो स्वरूपोंमें लीलायमान है ।

श्रीराधाजी भगवान् श्रीकृष्णकी ही अभिन्न मूर्ति हैं । उनकी पूजा सदासे होती आयी है और होनी चाहिये । भारतके जन-जनको चाहिये कि वह सर्वत्र श्रीराधाजन्माष्टमी-मत करने तथा महोत्सव मनानेका सत्प्रयास करे । शुद्ध

हृदयसे उत्साहपूर्वक स्वयं मनाये तथा लोगोंको प्रेरणा देकर मनवाये । इसमें उसका और जगतके जीवोंका, जो इस व्रत-महोत्सवका सेवन करेंगे, कल्याण होगा—इसमें कोई भी संदेह नहीं है ।

श्रीराधाके सम्बन्धमें इधर कुछ विशेष चर्चा होने लगी है । देशमें स्थान-स्थानपर श्रीराधाष्टमी-महोत्सव मनाये जाने लगे हैं । राधा-साधनाके लिये भी विभिन्न स्थानोंपर विभिन्न प्रकारकी संस्थाओंका निर्माण हुआ है । ये सब शुभ लक्षण हैं ।

शुद्ध श्रद्धासे मैं जो कुछ समझ पाया हूँ और भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीराधा और श्रीगोपाङ्गनाओंने अनन्त कृपापूर्वक मुझ नगण्यको अपना जैसा—जो कुछ परिचय प्रदान किया है, उसके अनुसार ये कुछ बातें मैंने निवेदन की हैं । आज श्रीराधा-प्राकट्यके इस पवित्र अवसरपर मेरा सबसे विनीत निवेदन है कि सभी तीव्र और अनन्य श्रद्धा-भक्तिके साथ श्रीराधामाधवकी आराधना-उपासनामें लगनेका निश्चय करें और तदनुसार साधन भी आरम्भ कर दें ।

करौ कृपा श्रीराधिका, विनवाँ वारंवार ।  
बनी रहे स्मृति मधुर सुवि मङ्गलमय सुखसार ॥  
श्रद्धा नित बढ़ती रहै, बढ़ै नित्य विस्वास ।  
अर्पण हों अवसेष अब जीवन के सब स्वास ॥  
श्रीराधारानीके श्रीचरणोंमें कोटि-कोटि नमस्कार ॥\*

\* भगवती श्रीराधाजीका प्राकट्य-महोत्सव नयी वस्तु नहीं है । पिछले पाँच हजार वर्ष पूर्व जबसे उनका धराधामपर अवतार हुआ, तभीसे प्रतिवर्ष महोत्सव मनाया जाता है । शास्त्रोंमें यह स्पष्ट आज्ञा है । पुराणोंमें 'पद्मपुराण' अत्यन्त प्राचीन है । उसमें स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिवर्ष महोत्सव मनानेका आदेश है तथा उसका महान् फल बतलाया गया है—

( पद्मपुराण, उत्तर०, अ० १६३ )

प्रत्यन्दमेव कुरुते राधाजन्ममहोत्सवम् ।

अवश्य ही श्रीराधाजीका लीला-सम्बन्ध लौकिक लीलासे कम रहा और भगवान्की ह्लादिनी आनन्दरूपा निजशक्ति होनेके कारण उनके आनन्दविधानसे ही विशेष सम्बन्ध रहा; अतः भगवान् श्रीकृष्णकी जैसे विभिन्न रूपोंमें तथा भावोंसे सर्वत्र पूजा-उपासना हुई, उनका प्राकट्य-महोत्सव जैसे सर्वत्र मनाया जाने लगा, वैसा श्रीराधाजीका स्वाभाविक ही नहीं मनाया गया । परन्तु भगवत्प्रेमके उच्चतम



साधनराज्यमें तो श्रीराधाजीके दिव्य आदर्शको सामने रखनेकी परम अनिवार्य आवश्यकता है ही; विश्वजगत्के मानवप्राणीके लिये भी पारस्परिक प्रेमकी वृद्धिके हेतु जिस त्यागकी आवश्यकता है और जिसके बिना प्रेम एक केवल मोहका पर्यायवाची बना रहता है, वह त्याग राधाजीके परम त्यागमय जीवनको भी आदर्श मानकर चलनेसे शीघ्र सिद्ध हो सकता है। इसके लिये श्रीराधाजीके दिव्य प्रेमका, दिव्य भावोंका, उनके महान् त्यागका, उनकी दिव्य जीवनचर्याका और उनके स्वरूप-तत्त्वका स्मरण परम आवश्यक है और इसी महान् उद्देश्यको लेकर हमारे परम श्रद्धेय नित्यलीलालीन श्रीभाईजीने लगभग ३० वर्ष पूर्व प्राचीन परम्परागत राधा-जन्म-महोत्सव देशभरमें व्यापकरूपसे मनाये जाने, उनकी महान् शिक्षाका प्रचार-प्रसार करके उसके द्वारा क्षुद्र 'स्व' की सेवामें लगे हुए पशुता तथा असुरताकी ओर जाते हुए अधोगामी मनुष्य-को ऊपर उठाकर उसको वास्तविक मानव बनाने तथा साधनाके उच्च स्तरपर पहुँचानेके लिये इस आयोजनका एक महोत्सवके रूपमें अपने यहाँ प्रारम्भ किया था। भगवान् श्रीराधामाधवकी कृपासे इस आयोजनमें उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त होती गयी और यह आयोजन एक साधनाके विशाल बोधिवृक्षके रूपमें परिणत हो गया। इतना ही नहीं, यहाँके महोत्सवसे प्रेरणा ग्रहणकर तथा 'कल्याण' में प्रकाशित इस महोत्सवोंपर दिये गये परम श्रद्धेय श्रीभाईजीके अनुभूतिपूर्ण, सारगर्भित प्रवचनोंसे प्रभावित होकर देशके कोने-कोनेमें श्रीराधारानीका यह प्राकट्य-उत्सव मनाया जाने लगा है। इसकी व्यापकता दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। परिणामस्वरूप श्रीराधारानी तथा श्रीगोपाङ्गनाओंके सम्बन्धमें फैले हुए मोहजनित दुर्भावोंका नाश होकर उनके परमोच्च दिव्य जीवनकी भी झाँकी कहीं-कहीं होने लगी है। आध्यात्मिक जगत् परम श्रद्धेय श्रीभाईजीके इस परम पावन प्रयासके प्रति सदा ऋणी रहेगा।

अपने निवासस्थान, गीतावाटिकामें प्रतिवर्ष होनेवाले इस श्रीराधाजन्म-महोत्सवपर परम श्रद्धेय श्रीभाईजी बराबर दो प्रवचन करते रहे हैं—एक दिनमें और दूसरा रात्रिमें। इस वर्ष उनके नित्यलीलालीन हो जानेके कारण उत्सवका यह परमोपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण अङ्ग खण्डित रहा (यद्यपि दोनों समय टेपरेकार्डरद्वारा संगृहीत उनके गत वर्षके प्रवचन सुनाये गये) तथा उत्सवमें सम्मिलित होनेवाले श्रीराधाभक्त उनकी परम पावन, प्रेरणादायक संनिधिसे भी वञ्चित रहे। श्रीभाईजीके वे लिखित प्रवचन गत १५-१६ वर्षोंसे 'कल्याण'में भी नियमपूर्वक छपते रहे हैं। इस वर्ष उनके स्थानपर श्रीभाईजीके पिछले कुछ प्रवचनोंका सार एवं मार्मिक अंश संग्रह करके एक लेखके रूपमें ऊपर दिया गया है। उत्सव भी प्रतिवर्षकी परम्पराके अनुसार बड़े ही समारोह एवं उत्साहके साथ मनाया गया, यद्यपि उसपर श्रीभाईजीके वियोगजन्य दुःखकी छाया अवश्य थी। फिर भी हमारा विश्वास है कि श्रीभाईजी अमूर्त रूपसे अवश्य उत्सवमें सम्मिलित रहे। श्रीराधारानीने चाहा तो आगे भी प्रतिवर्ष श्रीराधा-जन्म-महोत्सव गोरखपुरमें इसी प्रकार मनाया जाता रहेगा। हमारी श्रीराधारानीके भक्तोंसे विनम्र प्रार्थना है कि वे अपने-अपने स्थानपर व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूपमें प्रतिवर्ष इस महोत्सवका आयोजन करें और श्रीराधारानीकी कृपा प्राप्त करें। साथ ही परम भागवत श्रीभाईजीद्वारा प्रचारित साधना-जगत्की एक महती परम्पराको अभ्युन्नत बनाये रखनेमें अपना सहयोग प्रदानकर पुण्यके भागी बनें।

—चिम्नलाल गोस्वामी



# उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण

( लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा )

[ गताङ्क पृष्ठ १०४९ से आगे ]

## १३-तुलनात्मक अध्ययन

( २ ) अं० १३३-१४० अ० २२८-२३५

### ( क ) अग्निपुराण और श्रीविष्णुधर्मोत्तर

इत्यादि ।

अग्निपुराण ८वाँ महापुराण कहा जाता है—और कल्याणके पिल्ले दो विशेषाङ्कोंमें इसका पूरा अनुवाद प्रकाशित हो चुका है । विषयको समझनेके लिये इसमें टिप्पणियाँ भी प्रचुर संख्यामें दी गयी हैं । जहाँ विषय संक्षिप्त था, अनुवादक (पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री) ने बड़े श्रमसे दूसरे ग्रन्थोंका सहयोग लिया है । उदाहरणके लिये धनुर्वेद, राजनीति, कर्मकाण्ड, मन्त्र आदिके अंश द्रष्टव्य हैं । अनुवादमें लेखककी कर्मकाण्डकमावली, शारदातिलक, ईशानशिव-गुरुदेवदत्ति, अपराजितपृच्छा-जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थोंकी पूरी सहायता ली गयी है । वास्तवमें ये दोनों अङ्क 'कल्याण' के शक्ति-अङ्क, योगाङ्क, कृष्णाङ्क, शिवाङ्क आदिकी कोटिके या उत्तम संग्राह्य विशेषाङ्कोंमेंसे हैं और शोधकर्ताओंके लिये बड़े कामके ग्रन्थ होंगे और पीछे इनका मिलना भी कठिन हो जायगा, यद्यपि इसमें विष्णुधर्मोत्तरका पूरा उपयोग नहीं हो पाया ।

जब शास्त्रीजी अग्निपुराणपर काम करने यहाँ पधारे थे, तब मैंने उन्हें एक सूची भिजवायी थी; पर वह बीचमें ही खो गयी और उन्हें मिली नहीं । इसमें दोनोंके तुलनात्मक श्लोक, अध्यायोंका बड़े श्रमसे उल्लेख किया गया था । यहाँ तो कुछ थोड़े-से ही अध्याय दिये जा रहे हैं । अग्निपुराणके १५१-१७२ तकके अध्याय विष्णुधर्मोत्तर, खण्ड २, अ० ७६-१२४ तक मिलते हैं । इसी प्रकार २१८ से २४५ तक भी प्रायः विष्णुधर्मोत्तर २ । १०५ से १६० तक मिलते जाते हैं । ये विषय विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें विस्तारसे एवं अग्निपुराणमें संक्षेपसे निरूपित हैं—

( ख ) वि० ध०

म० पु०

( १ ) अ० १११-११९	अ० १९५-२०३ प्रायः सर्वथा मिलते हैं
" १४८-१५२	" ११५
( २ ) " २४-२८	" २१५-२१९
( २ ) " ६६-७०	" २२१-२५

### ( ग ) श्रीविष्णुधर्मोत्तर और भरतनाट्यम्

इसी प्रकार श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणके खण्ड ३, अध्याय २४से ३१तक 'भरतनाट्यम्'के अध्याय ६ से ९तकसे मिलते हैं ।

### ( घ ) श्रीविष्णुधर्मोत्तर और मन्वादि धर्मशास्त्र

इसी प्रकार मनुस्मृतिके पूरे २ से ६ अध्यायतकके प्रायः सभी श्लोक श्रीविष्णुधर्मोत्तरके दूसरे खण्डमें प्राप्त होते हैं ।

इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरके २ । ७२ एवं १०५वें अध्यायसे याज्ञवल्क्यस्मृतिके पहले अध्यायका अंश और श्रीविष्णुधर्मोत्तर ३ । ३२४-२५ का अंश नारदस्मृति अध्याय १ से ४ तक मिलता है ।

इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तरके रत्नपरीक्षा-प्रकरण, अश्व-वैद्यक, गजवैद्यक, राजनीति, धनुर्वेद, शास्त्रास्त्रविद्या, गृह-निर्माण-कला आदि अंश युक्ति-कल्पतरु, शैवरत्नाकर, अर्थशास्त्र, अपराजितपृच्छा आदि पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें प्राप्त होते हैं, जिनका विस्तारभयसे यहाँ वर्णन नहीं किया जाता ।

### १४-ग्रहकक्षाएँ ज्योतिर्विज्ञानानुसार ही

विष्णुधर्मोत्तरके अनुसार चन्द्रमा पृथ्वीके सर्वाधिक समीप, उसके ऊपर बुध फिर शुक, फिर क्रमशः सूर्य, मङ्गल, गुरु, शनि, अश्विन्यादि नक्षत्र, सप्तर्षि तथा ध्रुव आदि हैं । इसे ही आजका ज्योतिर्गणित तथा विज्ञान भी मानता है—

सप्तर्षिमण्डलं नित्यं तस्याधस्तात्प्रकीर्तितम् ।

... तस्याधस्ताच्छनैश्चरः ॥

तस्याधस्तात्तथा जीवस्तस्याधस्तात्कुजः स्मृतः ।

तस्याधस्ताद्दिनेशश्च तस्याधस्ताच्च भार्गवः ।

तस्याधस्ताद्बुधः प्रोक्तस्तस्याधस्ताच्च चन्द्रमाः ॥

( श्रीविष्णुधर्मोत्तर १ । १०६ । २१-२५ )



## १५-महत्त्वपूर्ण उपदेश

यों तो यह समूचा पुराण ही बड़े महत्त्वका है, पर इसके कुछ उपदेश तो अत्यन्त ही महत्त्वके हैं। जैसे—

लोकेश्वर भगवान् मधुसूदनके ( ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न सच्चे ) भक्तोंको राजा, चोर, अग्नि, सर्प एवं ब्राह्मणादि ( के शाप ) से एवं ग्रह-यम-शत्रुजनित भय नहीं होते—

पृथ्वीशतस्करभुजंगहुताशचिप्र-

दुःस्वप्नदुष्टग्रहमृत्युसपत्नजातम् ।

संविद्यते नहि भयं भुवनेशभर्तु-

र्भक्ताश्च ये मधुरिपोर्मनुजेषु तेषु ॥

( २ । १२२ । ३५ )

प्रातःकाल उठकर भगवान्का स्मरण करनेसे सारे पाप नष्ट होकर भावी दिन मङ्गलमय बीतता है—

शयनादुत्थितो यस्तु क्रीर्तयेन्मधुसूदनम् ।

क्रीर्तनात्तस्य पापानि नाशमायान्त्यशेषतः ।

अहोरात्रस्य शान्तिश्च तथा तेन कृता भवेत् ॥

( वही, २ । ३४१ । ३२—३४ )

## १६-इसके अनुवादादि

इसके चित्रसूत्र-अंशका अंग्रेजी-अनुवाद स्टीला करमरिशने किया एवं उसे प्रकाशित कराया है।

## १७-उपसंहार

( क ) \*अकारादि-क्रमसे सब उपपुराणोंकी तालिका—

१-अङ्गिरापुराण, २-आखेटकपुराण, ३-आदिपुराण, ४-आदित्यपुराण, ५-उशनःपुराण, ६-एकपादपुराण, ७-एकाम्रपुराण, ८-कपिलपुराण, ९-कल्किपुराण, १०-कालिका-पुराण, ११-क्रियायोगसार, १२-गणेशपुराण, १३-गरुड-

पुराण†, १४-तत्त्वसारपुराण, १५-देवीपुराण, १६-दौर्वास्य पुराण, १७-धर्मपुराण, १८-नन्दि या नन्दीश्वरपुराण, १९-नरसिंहपुराण‡, २०-नारदपुराण, २१-परानन्दपुराण, २२-पराशरपुराण, २३-पाशुपत, २४-प्रभासपुराण, २५-बृहद्धर्मपुराण, २६-बृहद्धर्मोत्तरपुराण, २७-बृहन्नन्दीश्वर-पुराण, २८-बृहन्नरसिंहपुराण, २९-बृहन्नारदीयपुराण, ३०-भविष्योत्तरपुराण, ३१-( देवी ) भागवतपुराण, ३२-भार्गवपुराण, ३३-मरीचिपुराण, ३४-महाभागवतपुराण, ३५-मानवपुराण, ३६-माहेश्वरपुराण, ३७-मुद्गलपुराण, ३८-रेणुकापुराण, ३९-लघुनारदपुराण, ४०-लीलावती-पुराण, ४१-वसिष्ठपुराण, ४२-वह्निपुराण, ४३-वायु या वायवीयपुराण, ४४-वारुणपुराण, ४५-विष्णुधर्मपुराण, ४६-( श्री ) विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ४७-विष्णुहस्त-पुराण, ४८-शिवपुराण, ४९-शिवधर्मोत्तरपुराण, ५०-सनत्कुमारपुराण, ५१-साम्बपुराण, ५२-सौरपुराण, ५३-स्कन्दपुराण, ५४-हंसपुराण और ५५-हरिवंशपुराण।

खोजनेपर निबन्धग्रन्थोंमें इनके अतिरिक्त कुछ और भी नाम मिलेंगे। १८ महापुराण, उतने ही अतिपुराण और उतने ही पुराण ( इनकी नामावली स्कन्दपुराणाङ्क पृ० ७ पर है )। स्थलपुराण, जैनियोंके पुराण, अपभ्रंशभाषाके पुराणादि इनसे सर्वथा भिन्न हैं। इससे ज्ञात हो सकता है कि पुराण-साहित्यराशि कितनी विशाल और लोकप्रिय थी और विधर्मियोंके द्वेषसे वह शतियोंतक नष्ट की जाती रहकर अब नगण्य संख्यामें शेष रह गयी है, जिसके पुनः संस्करणकी कोई आशा नहीं दीखती। इस दिशामें ईश्वरके अनुग्रहसे ही कुछ होना शक्य है और उन्हींकी कृपासे नष्टग्राम नरसिंहपुराणका इस वर्ष 'कल्याण' में प्रकाशन होकर, किन्हीं प्रकार उसकी रक्षा हुई और व्यापक प्रचार हुआ।

( समाप्त )

\* इस सूचीमें आये हुए अधिक नाम एकाम्रपुराणके ( अध्याय १, श्लोक २० से २३ ) में लिये गये हैं।

† इसे भी एकाम्रमें उपपुराण मान लिया है।

‡ इसके अगणित वचनोंको पीछेके निबन्धकारोंने दिया है, जिन्हें श्रीहाजराने बड़े ही श्रमसे संगृहीत कर प्रदर्शित किया है।



# वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

( लेखक—श्रीनीरजाकान्तजी चौधुरी 'देवशर्मा' )

## त्रिमुनि-व्याकरण

कात्यायन के पिछले अङ्कोंमें यह बतलाया जा चुका है कि ईसासे पूर्व पाँचवीं शताब्दीमें महाकवि भासने अपने नाटकोंकी रचना की थी। उस समय शास्त्रानुसार वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतमें सर्वत्र सगौरव वर्तमान थी। इस लेखमें हम सम्भवमें उससे भी प्राचीन कालके प्रमाण देनेकी चेष्टा ही जा रही है।

पाणिनि-प्रणीत अष्टाध्यायी, उसपर कात्यायनका वार्तिक तथा पतञ्जलिका महाभाष्य—ये तीनों मिलकर त्रिमुनि-व्याकरणके नामसे प्रसिद्ध हैं। लौकिक संस्कृत भाषा और लक्ष्मण इन व्याकरणोंका प्रभाव एवं अवदान अननुमेय एवं अनस्वीकार्य है।

पातञ्जल-महाभाष्य एक विराट् ग्रन्थ है। वह इन तीनोंमें सर्वापेक्षा अर्वाचीन है। मौर्य चन्द्रगुप्त एवं पुष्यमित्र शुङ्गका उल्लेख उसमें मिलता है। प्रसिद्ध है कि ये पतञ्जलि पुष्यमित्रके अश्वमेधयज्ञमें प्रधान पुरोहित थे। अतएव मोटा-मोटी उनका समय ईसापूर्व तीसरी शताब्दीसे दूसरी शताब्दी-के प्रथम भाग—२४०से १६० वर्षतक निश्चित किया जा सकता है।

कात्यायन मुनिने प्रायः ४२६३ वार्तिकोंमें अष्टाध्यायीके ३९९९ सूत्रोंकी व्याख्या की है। वे पाटलिपुत्रके किसी भी नन्दवंशी सम्राट्के मन्त्री थे। राजस्थानके सीमान्तमें सैन्धव नम्रके पहाड़ हैं। अलेक्जेंडरके भारत-आक्रमणके समय श्वभूति नामक राजा उस देशपर शासन करते थे। कात्यायन श्वभूतिके गुरु थे, ऐसा प्रवाद है। अतएव वे अनुमानतः ईसापूर्व ३७०—२९० वर्ष अर्थात् चौथी-तीसरी शताब्दीमें वर्तमान थे।

कात्यायनसे पहले और भी कई व्यक्ति अष्टाध्यायीके भाष्यकारोंके नामसे प्रसिद्ध थे, किंतु उनके ग्रन्थ अब लुप्त हो गये हैं। सम्भवतः और भी भाष्य होंगे; परंतु उनके नाम हमें मालूम नहीं हैं।

पाणिनिकी अष्टाध्यायी वर्तमानकालमें उपलब्ध संस्कृत व्याकरणोंमें ही नहीं, सुतरां समग्र पृथ्वीके व्याकरणोंमें सर्व-

प्राचीन व्याकरण है। पाणिनिने अपने सूत्रोंमें अपने पूर्ववर्ती कई प्रसिद्ध व्याकरणाचार्योंके नामोंका उल्लेख किया है। ये हैं—आपिशलि, चक्रवर्मा, शाकल्य, स्फोटायन, काश्यप, गार्ग्य, गालव, शाकटायन, सेनक एवं भारद्वाज। इनके अतिरिक्त भागुरि, काशकृष्ण, व्याडि आदि व्याकरण-शास्त्रियोंके नाम भी उन्हें ज्ञात थे। दैव-व्याकरणोंमें माहेश और ऐन्द्र ही प्रधान थे। कहना न होगा कि इन सबमें अब कोई भी ग्रन्थ नहीं मिलता।

विदेशी अनुसंधाताओंके मतमें पाणिनि ईसापूर्व चौथी शताब्दीके हैं। किंतु वस्तुतः वे कात्यायनके बहुत पहलेके हैं; क्योंकि पाणिनिके बाद तथा कात्यायनके पहले अष्टाध्यायीके अनेक भाष्यकार थे।

नेहरूजीने अपनी 'Discovery of India' नामक पुस्तकमें लिखा है कि पाणिनिने बुद्धसे पहले अपने व्याकरणकी रचना की थी। गोल्डस्टुकर (Goldstucker) के मतसे ईसाके ७०० वर्ष पहलेका समय पाणिनिका समय है। पण्डितवर्य गुरुपद हलदारने विशद आलोचनाके पश्चात् यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि पाणिनि ईसापूर्व नवीं शताब्दीके बादके तो हो नहीं सकते, बल्कि वे उसमें भी बहुत पहलेके हैं।

पाणिनिकी 'शिक्षा' उनकी रची हुई अष्टाध्यायीकी तरह वेदाङ्गके रूपमें परिगणित हुई है। उसमें वेदमन्त्रों एवं ब्राह्मणोंके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित उच्चारण कैसे होते हैं इसके चिह्न दिये गये हैं। इसलिये अनेक पाश्चात्य लेखक भी यह सोचते हैं कि वे वेदके ब्राह्मणभागके समकालीन थे। पाणिनि एकमात्र व्याकरणके ही श्रेष्ठ पण्डित हों, ऐसी बात नहीं है, उच्चारण-विज्ञानपर भी उनका अधिकार था। फलतः वे ध्वनि-शास्त्र (Phonetics) के भी विशिष्ट आचार्य थे। यह ध्वनि-तत्त्व वैदिक शास्त्रको समझने और उसका पाठ करनेका अपरिहार्य अङ्ग है।

'शिक्षापञ्जिका' के 'शंकरः शांकरो प्रादात्' इत्यादि श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। भगवान् शंकरने तपस्यासे संतुष्ट होकर महर्षि पाणिनिको डमरु-ध्वनिके द्वारा किस प्रकार

१. 'व्याकरण-दर्शने' इतिहास' (पृष्ठ २५ से)।



शिवसूत्र दिये थे, उसका इसमें वर्णन है। ये शिवसूत्र संख्यामें केवल चौदह हैं। भाषा अति संक्षिप्त है। यथा 'लण्'। नन्दि भाष्यमें ज्ञात होता है कि इन शिवसूत्रोंका गम्भीर आध्यात्मिक अर्थ भी है। प्रो० फ़ैडेगन (Prof. S. Faddegon) साहबने शिवसूत्रके ध्वनि-तत्त्वकी बड़ी प्रशंसा की है। 'शिवसूत्र' स्वयं महादेवने पाणिनिको प्रदान किये, यह बात अलौकिक होनेपर भी अति प्राचीन एवं विख्यात है। आयुर्वेद आदि अन्यान्य विद्याओंकी तरह व्याकरण भी शिव-प्रसाद है। शिव-प्रणीत 'माहेश व्याकरण' आदि व्याकरण-ग्रन्थके नामसे विख्यात है; किंतु आज वह प्राप्त नहीं है।

वेदाङ्ग छन्दःशास्त्रका पथिकृत् पिङ्गलाचार्यप्रणीत 'शिक्षाप्रकाश'में उल्लेख है। वे पाणिनिके भाई थे। पिङ्गलाचार्य जनमेजयके सर्पयज्ञमें ऋत्विक् थे, यह लोकश्रुति है। इसके सत्य होनेपर पाणिनिका समय, अनुमानतः ईसापूर्व ३००० अथवा अन्ततः ईसापूर्व १४०० ठहरता है।

अष्टाध्यायी प्राचीनतम व्याकरणमात्र ही नहीं है, बल्कि इसने पृथ्वीपर सर्वश्रेष्ठ व्याकरणके रूपमें चिरकालसे अधिकार कर रखा है, यह निःसंदेह है। अन्यान्य भाषाओंकी वर्णमालातक विज्ञानसम्मत तथा सुसम्बद्ध नहीं है। अंग्रेजी वर्णमालामें सिर्फ २६ अक्षर हैं, जो कि विशृङ्खलित रूपसे रखे गये हैं। हिब्रूमें स्वरवर्ण नहीं है, यही कहना होगा। अरबी-फारसीकी भी प्रायः यही स्थिति है। नुक्ता (बिन्दु) लगाकर ही काम चलाया जाता है। चीनी भाषामें अक्षर नहीं हैं, है चित्रलिपि (Pictogram)। प्राचीन मिस्रदेशके विषयमें भी यही बात है। सुतरां, अन्यान्य भाषाओंमेंसे कोई-सी भी (महाभारतके श्लोकमें म्लेच्छ भाषाको 'प्रलाप' कहा गया है) देवभाषा संस्कृतकी वर्णमाला, उच्चारण या व्याकरणकी तुलनामें ठहर नहीं सकती; पाणिनिके व्याकरणका तो प्रश्न ही अलग है।

पाश्चात्य समालोचकोंने एकमत होकर अष्टाध्यायीकी प्रशंसा की है। उनके मतसे भी यह जगत्को दिया गया एक श्रेष्ठ अवदान है। यह अतुलनीय है। कुछ लोगोंके मत यहाँ दिये जा रहे हैं।

अष्टाध्यायीमें समकालीन भारतीय समाज-व्यवस्थाके जो चित्र मिलते हैं, उनसे पता चलता है कि पाणिनिके युगमें वर्णाश्रम-धर्म पूर्णरूपसे वर्तमान था। जन्मद्वारा ही त्रिवर्णके धर्म-कर्मोंके अधिकार आदि निरूपित होते थे।

ब्राह्मोऽजातौ । ६ । ४ । १७१

भाष्य—ब्रह्मणोऽपत्यसित्यण् । जातौ त्वपत्ये ब्राह्मण इतीष्यते । अनपत्ये तु जातौ ब्राह्मी ओपचिन्ति तिलोप इष्यते ।

1. "Panini's book is something more than a mere grammar. It has been described by the Soviet Professor Th. Steherbatsky of Leningrad as one of the greatest productions of the human mind."

—Nehru, Discovery of India, 89

"The grammar of Panini is one of the most remarkable literary works that the world has ever seen, as no other country can produce any grammatical system at all comparable to it, either for originality of plan, or analytical subtlety."

—Sir M. Williams, Indian Wisdom, 72.

"The grammar of Panini stands supreme among the grammars of the world, alike for the precision of statement and for its thorough analysis of the rules of the language, and of the formative principles of words....."

.....It stands forth as one of the most splendid achievements of human invention and industry."

—Sir W. W. Himler, Imperial Gazetteer of India, 'India', 214.

नेहरूजी 'Discovery of India' नामक पुस्तकमें लिखते हैं कि "पाणिनिका ग्रन्थ निरा व्याकरण नहीं है, कुछ और भी अधिक है। लेनिनग्रेडके सोवियत अध्यापक शार्वाट्रिक उसका मानव-मस्तिष्ककी एक सर्वश्रेष्ठ उपजके रूपमें वर्णन करते हैं।"

सर मोनियर विलियम्स 'इण्डियन विजडम' नामक पुस्तकमें कहते हैं कि 'पृथ्वीपर समय-समयपर जिस सर्वापेक्षा असाधारण साहित्यका सृजन हुआ है; पाणिनि-व्याकरण उनमेंसे एक है क्योंकि दूसरे किसी भी देशमें विषय-विन्यासकी मौलिकता एवं पुष्कानुपुष्क विचारोंकी दिशामें जिसकी इसके साथ तुलना की जा सके, ऐसी कोई भी व्याकरणकी पद्धति नहीं दिखायी देती।'

सर विलियम हंटर 'इम्पीरियल गजेटियर' ग्रन्थमें अपना मत प्रकट करते हैं कि 'पाणिनिका व्याकरण पृथ्वीके सभी व्याकरणोंमें सर्वश्रेष्ठ स्थानपर अधिकार किये बैठा है। वक्तव्य विषयकी यथार्थता में, भाषाके नियमोंके सम्बन्धमें, अत्यन्त सूक्ष्म विचार तथा शब्दोंके व्युत्पत्ति-सम्बन्धी पद्धति—इन सभी बातोंमें यह सर्वश्रेष्ठ है।' मानवके आविष्कार तथा परिश्रमके निदर्शनकी यह एक सर्वोच्च गौरवमय कीर्ति है।'



इस सूत्रका अर्थ है—

ब्राह्मणवर्णके आदिपुरुष ब्रह्मासे 'ब्रह्मन्' शब्द बना है। 'ब्रह्मन्' शब्दका अर्थ भी 'ब्राह्मण' है। 'ब्रह्मन्' शब्दके आगे 'अपत्य' अर्थमें 'अण्' प्रत्यय करनेपर जातिपरिचायक 'ब्राह्मण' पद बनता है। किंतु अपत्यवर्णी न बनाकर सिर्फ जातिवाची बनानेके लिये 'अण्' प्रत्यय करनेसे निपातन द्वारा 'ब्राह्म' पद ही बनेगा, 'ब्राह्मण' नहीं होगा। 'ब्राह्म'का अर्थ है—ब्रह्मसम्बन्धी अथवा ब्रह्म-प्रतिबोध। यथा—ब्राह्मनारद, ब्राह्ममुहूर्त। इसका ललित 'ब्राह्मी' होगा। यह एक प्रकारकी ओषधिका नाम है।

इस सूत्रसे पता चलता है कि 'ब्रह्मन्'से बना हुआ 'ब्राह्मण' पद भी 'ब्रह्मन्' शब्दका समानार्थी है और यह मूलतः ब्राह्मणवर्णका वंशानुक्रमिक जातिवाचक है।

अतएव ब्राह्मण पुरुष ब्राह्मण पिता-मातासे जन्म देनेपर ही ब्राह्मण वर्ण और पदवी पाता है। गुण अथवा कर्मानुसार कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता, यह बात 'ब्राह्मण' शब्दके धातु-प्रत्ययगत व्याकरणसम्मत अर्थद्वारा स्वतः सिद्ध है। पाश्चात्य गवेषक तथा उनका अनुकरण करने-वाले एतद्देशीय किसी-किसीने 'ब्राह्मण'का अर्थ विद्वान्, पुरोहित, मुनि आदि किया है; किंतु उनकी यह उक्ति भ्रान्त तथा सम्भवतः अभिसंधिप्रणोदित है। संस्कृत व्याकरणके नियम एवं युक्तियाँ अकाट्य एवं अलङ्घनीय हैं। इसलिये किसीको इच्छा या सुविधानुसार उनमें हेरफेर करनेका अधिकार नहीं है।

पाणिनिके सूत्र तथा उनके भाष्यसे यह स्पष्टरूपसे समझमें आता है कि 'ब्रह्मन्' एवं उससे 'अण्' प्रत्यय-निष्पन्न 'ब्राह्मण'—इन दोनों ही शब्दोंसे मूलतः एक विशिष्ट जातिके पुरुषोंका बोध होता है और वे वंशानुक्रममें जन्मद्वारा ही ब्राह्मणवर्ण एवं पदवी लाभ करते हैं। 'ब्राह्मण' कहलानेके लिये पिता-माता दोनोंको ही ब्राह्मण होना चाहिये। किसी विशिष्ट गुण अथवा कर्मके फलस्वरूप कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता।

२. राजश्वशुरादयत् ।

'राजोऽपत्ये जातिग्रहणम् ।'

(४।१।१३७)

(वार्तिक)

राजः अपत्यम्=राजन्+यत्=राजन्य ।

इस सूत्रका अर्थ है—'क्षत्रियजातौ राजन्यशब्दस्य प्रयोगः, वैश्ये शूद्रे वा राजापत्ये राजन शब्दप्रयोगः—प्रदीप। 'राजन्' शब्दका अर्थ है—क्षत्रिय। उसके आगे अपत्यार्थमें 'यत्' प्रत्यय होता है। वार्तिककार कहते हैं—'क्षत्रिय जातिका बोध करनेके लिये उससे 'राजन्य' पद निष्पन्न होता है। किंतु क्षत्रिय जातिका बोध कराना अभिप्रेत न होनेपर 'राजन्य' न होकर 'राजन' बनेगा। 'राजन्य' शब्दका अर्थ है क्षत्रिय पिता-माताकी संतान। किंतु 'राजन्' अर्थात् क्षत्रिय पुरुषकी वैश्य अथवा शूद्रा स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न पुत्र क्षत्रिय नहीं कहलाकर 'राजन' कहलायेगा। एक ही प्रकृतिसे निष्पन्न होनेपर भी 'राजन्य' नहीं होगा।

अतएव 'राजन्' एवं 'राजन्य' दोनों शब्द एकार्थक होनेपर भी क्षत्रिय पिता-मातासे उत्पन्न क्षत्रियवर्णके पुरुषका ही 'राजन्य' शब्दसे बोध होगा।

पाश्चात्य गवेषकगण तथा उनके अनुयायी इस देशके निवासी कोई-कोई ऐतिहासिक अनार्य हूण, शक आदिको राजपूतोंका वंशधर मानते हैं; किंतु खोज करनेसे यह समझमें आ जायगा कि राजपूतगण क्षत्रिय हैं। 'राजपुत्र' का ही अपभ्रंश 'राजपूत' हो गया है। 'राजपुत्र' शब्द 'क्षत्रिय' अर्थमें संस्कृत-साहित्यमें अनेक स्थानोंपर व्यवहृत हुआ है। महाभारतमें द्रौपदी 'हे राजपुत्रि' कहकर सम्बोधित की गयी है।

कौरव, पाण्डव, यादव, सूर्यवंश आदि कुलोंके प्रदीप-रूप शूरवीर क्षत्रियगण अब भी भारतमें सर्वत्र फैले हुए हैं। पण्डितप्रवर महागोपाध्याय पं० गौरीशंकर ओझाने अपनी गवेषणाद्वारा अनेक राजपरिवारोंके प्रकृत इतिहासका उद्धार किया है। राजस्थान पृथ्वीमें एक विशिष्ट भूमि है। यह देश नाना बाधा-विपत्तियोंमेंसे गुजरनेपर भी प्रधानतः क्षत्रिय वीर-गणोंके शौर्य वीर्यके प्रभावसे प्रायः चिरस्वाधीन बना हुआ था। पठानों, भुगलों एवं अंग्रेजोंका आक्रमण तथा शासन क्षत्रियराजगणोंके राजत्वको सम्पूर्ण विध्वस्त नहीं कर सका। ताम्रशासन, शिलालेख आदिसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि राजपूत जाति शक, हूण, गुर्जर आदि बहिरागत किसी जातिके मिश्रणसे उत्पन्न एक नूतन समाज नहीं है। यह अपवाद हिंदू जातिकी पराधीनताको प्रमाणित करनेके लिये एक धूर्ततासे प्रेरित मिथ्या कौशलभर है।

—कमशः



# अब्दुरहीम खानखानाका भक्ति-भाव और हिंदुत्व-प्रेम

(लेखक—डॉ० श्रीबालकृष्णजी 'अकिञ्चन' एम्० ए०, पी०-एच्० डी०)

सम्राट् अकबरकी हिंदुओंके प्रति उदार नीति प्रसिद्ध है। उसीके स्वरूप उनके राजत्वकालमें हिंदुओंकी सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितिमें आशातीत सुधार हुआ। हिंदू न केवल अकबरी दरबारके नवरत्नोंमें सुशोभित थे, अपितु राज्यका बड़े-से-बड़ा दायित्व भी सँभालते थे। माल, आन्तरिक प्रबन्ध तथा सेना-जैसे महत्त्वपूर्ण विभागोंमें टोडरमल, वीरबल तथा मानसिंह-जैसे व्यक्ति प्रतिष्ठित थे। सर्वोच्च पदोंपर इस सबके परिणामस्वरूप एक पारस्परिक सहयोग एवं सद्भावका वातावरण तैयार हुआ और नयी पीढ़ीको धार्मिक कड़ुतासे मुक्त एक खुले वातावरणमें जीनेका अवसर प्राप्त हुआ। रहीम ( दिसम्बर १५५६ से मार्च-अप्रैल १६२७ ) ऐसे ही वातावरणकी उपज थे। वे जन्मसे मुसल्मान थे और अन्ततक मुसल्मान ही रहे। इस्लाम-हितके कार्य भी वे निरन्तर करते रहे। उन्होंने मक्काके यात्रियोंके लिये करमुक्त जहाज चलानेकी योजना बनायी और मस्जिदोंके लिये नाना प्रकारकी सुविधाओंकी व्यवस्था की। परन्तु उनके व्यक्तित्व एवं कृतियोंके अध्ययनसे स्पष्ट हो जाता है कि हिंदू एवं हिंदुत्वके प्रति उनके मनमें महान् आस्था थी।

उनके श्लोकोंको पढ़कर प्रतीत होता है, जैसे रहीम स्वयं भगवान् राम तथा कृष्णकी मूर्तिके चरणोंमें करबद्ध उपस्थित होकर उनसे भक्त-सुलभ नाना तर्कोंद्वारा अपने उद्धारकी याचना कर रहे हों—

आनीता नटवन्मया तव पुरः

श्रीकृष्ण या भूमिका।

प्रीतस्त्वं यदि चेन्निरिक्ष भगवन्

स्वप्रार्थितं देहि मे ॥

‘मैंने एक अभिनेताकी भाँति अनन्त जन्मोंमें विभिन्न शरीररूप वेश धारणकर तुम्हारे सामने जो खेल दिखाये हैं, उनसे हे श्रीकृष्ण ! यदि तुम प्रसन्न हो तो कृपा करके मेरी ओर निहार भर लो और मुझे वही दो, जो तुम्हें अभीष्ट हो।’

राधागृहीतमनसेऽमनसे च तुभ्यं

दत्तं मया निजमनस्तदिदं गृहाण ॥

‘श्रीकृष्ण ! यह मेरा मन तुम्हें अर्पित है, इसे तुम

स्वीकार करो; कारण, तुम्हारा मन तो श्रीराधारानीमें जुगलिया है, अतः तुम्हारे पास मन नहीं रह गया है।’

अहं चित्तेनाश्मा पशुरपि तवार्चादिकरणे

क्रियाभिश्चण्डालो रघुवर न मामुद्धरसि किम्।

‘श्रीरघुनाथजी ! मेरा चित्त पत्थरकी तरह कठोर है, तुम्हारे अर्चन आदिके विषयमें मैं पशुके तुल्य सर्वथा अज्ञ हूँ और कर्मोंसे मैं चण्डाल हूँ। फिर भी आप मेरा उद्धार क्यों नहीं करते ? तुमने पत्थर बनी हुई अहल्याको तार दिया, वानर-जैसे पशुओंका उद्धार कर दिया और निपाद-जैसे अस्पृश्योंको अपने स्पर्शद्वारा कृतार्थ कर दिया था। इत्यादि ऐसी पंक्तियाँ हैं जो कविकी आत्माके अन्तरगत निस्सृत प्रतीत होती हैं। प्रबोधन निम्नलिखित बरवै छन्दोंमें और भी स्पष्ट सुना जा सकता है—

मोहन जीवन-प्यारे, कस हित कीन।

दरसन ही कौ तरफत ये दग-मीन ॥

भजि मन राम सियापति, रघुकुल-ईस।

दीनबंधु, दुख टारन, कौसलधीस ॥

भजि नरहरि, नारायन, तजि बकवाद।

प्रगटि खंभ तें राख्यौ जिन प्रह्लाद ॥

( रहीम-रावली )

इनके अतिरिक्त अन्य कितने ही बरवै उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनसे उनका सगुण भगवान्के प्रति विश्वास तथा हिंदुत्वप्रेम स्पष्ट प्रतिभासित होता है। श्रीनाथजी-मन्दिरके दर्शनोत्सवसम्बद्ध तथा नाभाजीकृत भक्तमालमें उद्धृत दो पदोंमें ऐसा प्रतीत होता है कि कवि मानो मुरलीमनोहर पीताम्बरधारी कमलनयन मनमोहन कृष्णकी मधुमयी छविका छक-छककर रसपान कर रहा हो। भगवान्के भुवनमोहन रूपकी आत्माके उनके विशाल नेत्रोंका आकर्षण रहीमकी आत्माको कुछ ऐसे झकझोर रहे हैं कि वह व्याकुलता-पूर्ण पदावली पढ़ते ही बनती है।

छवि आवन मोहनलाल की ॥

काळे काळनि, कलित मुरलि कर, पीत पिछौरी साल की।

बंक तिलक केसर के कीने, दुति मानों विधु माल की ॥



हस्ता ८]

बिस्त नहीं, सखी ! मो मन तें चितवनि नयन बिसाल की ।  
नौ सरूप निरखै सोइ जानै, या रहीम के हाल की ॥  
( रहीम-रत्नावली )

रहीमको कृष्णके नेत्र, भाल और कर-कपोलोंने ही  
आकर्षित नहीं किया था; वे उनकी मन्द-मन्द मुसकान,  
अमृतमयी बतरानि तथा विशाल वक्षःस्थलपर मुक्तामालकी  
धरानि भी कम आकृष्ट न थे । रास-नृत्यके समय  
पीताम्बरका फहरना रहीमके हृदयमें उतनी ही गहरी आत्म-  
विस्मृति उत्पन्न करता था, जितनी अन्य किसी भक्तके  
हृदयमें—

कमल-दल नैननिकी उनमानि ।

बिस्त नहिं, सखी ! मो मन ते मंद-मंद मुसुकानि ॥  
बढ़ी रहै चित उर बिसाल की मुकुत माल थहरानि ।  
नृत्य समय पीतांबर हू की फहरि-फहरि फहरानि ॥  
अनुदिन श्रीवृंदावन ब्रज ते आवन-आवन जानि ।  
वह रहीम चित तेन टरति है सकल स्याम की बानि ॥

( रहीम-रत्नावली )

इन पदोंको पढ़ते ही भक्त-शिरोमणि सूरदासका  
स्मरण हो आना स्वाभाविक है । वैसी ही आसक्ति,  
वैसी ही ललक, वही निष्ठा और वही विनम्रतापूर्ण  
आकुलता । और सबके ऊपर भाषाका सौकुमार्य-  
भारत्य एवं प्रवाह । भाव एवं भाषा सभी दृष्टियोंसे  
उन्के पद सूरसे होड़ लेनेको तैयार हैं । काश, ऐसे कुछ  
पद और मिल पाते । रहीमका भक्त-हृदय घनाक्षर छन्दों  
और सबैयोंमें भी फूटा है । वैष्णव-प्रेम-धारा, सबैयोंमें तो  
और सवागुनी होकर बही है । इन सबैयों और घनाक्षरियोंमें  
सगुण रूपके प्रति जैसी निष्ठा, महाभारत एवं पुराणादिके  
खलों-जैसे उदाहरणोंका चयन, देवी-देवताओंके प्रति जितना  
पूज्य-भाव है, वैसा तो हिंदुओंके छन्दोंमें भी सर्वत्र नहीं  
मिलता । नीति, भक्ति, निष्ठा तथा काव्य-गरिमा आदि सबके  
साथ आपूरित वैष्णवी परम्पराकी एक घनाक्षरीका  
अवलोकन कीजिये—

बड़ेन सौ जानि-पहचानि कै 'रहीम' कहा,

जो पै करतार ही न सुख देनहार है ।

सीतहर सूरज सौ नेह कियौ याही हेत,

ताहू पै कमल जारि डारत तुषार है ॥

छीरनिधि माँहि धँस्यो, संकर के सीस बस्यो,

तऊ न कलंक नस्यो, ससि में सदा रहै ।

बड़ौ रिसवार है, चकोर दरवार है,

कलानिधि-सौ यार, तऊ चाखत अंगार है ॥

( रहीम-रत्नावली )

स्पष्ट है कि रहीमके अनुसार सुख, उच्च पद, बड़ोंकी  
जान-पहचान आदिसे नहीं, अपितु प्रभुकी कृपासे मिलता है ।  
सूर्यसे स्नेह होते हुए भी तुषार कमलको जला डालता है,  
चन्द्रमासे एकनिष्ठ प्रेम होते हुए भी चकोरको आग ही  
भखनी पड़ती है । दुर्भाग्यमें बड़ा दुःख-दैन्य क्या प्रयत्नोंसे  
हट पाता है ? बेचारे चन्द्रमाने कौन-कौनसे उद्यम नहीं किये कि  
विष्णुकी विश्रामस्थली क्षीरसागर तथा भगवान् शंकरके शीश-जैसे  
उच्च एवं अप्राप्य स्थलोंको प्राप्त करके भी क्या उसका कलङ्क  
मिट पाया है ? कहनेकी आवश्यकता नहीं, अकबर और  
जहाँगीर इत्यादिसे घनिष्ठतम सम्बन्ध होते हुए भी रहीमका  
अन्तिम जीवन ताप-शापसे आपूरित रहा है । अतः यह  
अनुभव उनके अपने जीवनका अनुभव है और अभिव्यक्ति,  
कमल, चकोर, क्षीरसागर एवं शंकर-शीशके माध्यमसे हुई  
है—गुलो-बुलबुलके माध्यमसे नहीं । यही है रहीमका हिंदुत्व-  
प्रेम ! इतना ही नहीं, जिस प्रकार भाग्यमें बड़ा दुःख हटाये  
नहीं हटता, उसी प्रकार भाग्य-बड़ा सुख भी प्राप्त होकर ही  
रहता है । एक सबैया लीजिये—

दीन चहँ करतार जिन्हें सुख, सो तो रहीम टरै नहि टारे ।

उद्यम-पौरुष कीन्हें बिना घन आवत आपुहि हाथ पसारे ॥

दैव हँसै, अपनी अपना विधि के परपंच न जात बिचारे ।

बेटा भयौ वसुदेव के धाम औ दुंदुभि बाजत नंद के द्वारे ॥

( रहीम-रत्नावली )

यहाँ हम इस वाद-विवादमें नहीं पड़ना चाहते कि रहीम  
भाग्यवादी थे या पुरुषार्थवादी । देखना यह है कि उन्होंने  
जो कुछ भी कहा है, वह हिंदुओंकी शैलीमें हिंदुओंके ग्रन्थोंके  
उदाहरण देते हुए कहा है । भाग्यकी महिमापर उन्होंने  
और भी कहा है—

जो पुरुषार्थ ते कहूँ, संपति मिलत रहीम ।

पेट लागि बैराट घर, तपत रसोई भीम ॥

( रहीम-रत्नावली )

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यहाँ भी तथ्य-पुष्टिका  
आधार नूर और दूरके नहीं, विराट और भीमके उदाहरण हैं,



जो हिंदुओंके पूज्य ग्रन्थ महाभारतकी कथासे लिये गये हैं ।  
महाभारत, रामायण तथा पुराणों इत्यादिसे सम्बद्ध उनके  
सैकड़ों संदर्भ प्रस्तुत किये जा सकते हैं । हम यहाँ तीनोंसे  
सम्बद्ध एक-एक उदाहरण देना ही पर्याप्त समझते हैं—

राम न जाते हिरन सँग, सीय न रावन साथ ।  
जो रहीम भावी कतहुँ होति आपुने हाथ ॥  
रहिमन दुरदिन के परे, बड़ेन किए घटि काज ।  
पाँच रूप पांडव भए, रथवाहक नलराज ॥  
माँगे घटत 'रहीम' पद, कितौ करौ बढ़ि काम ।  
तीन पैर बसुधा करी, तऊ बावनै नाम ॥

( रहीम-रत्नावली )

इस प्रकार रहीमके काव्यको देखकर यह स्पष्ट हो जाता  
है कि रहीमको हिंदू-परम्पराओं, रीति-रिवाजों और धर्मग्रन्थोंके  
प्रति गहरी आस्था थी । इस आस्था और ज्ञानका प्रयोग  
उन्होंने जिस विस्तार एवं शुद्धताके साथ किया है, वह अन्य  
मुसल्मान कवियोंमें सहज प्राप्त नहीं । कुछ कवियोंने तो  
हिंदू-संदर्भोंमें भयंकर भूलें भी की हैं । जायसीकी भूलोंको  
तो आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल बहुत पहले गिना चुके हैं ।  
रहीमके काव्यका आद्योपान्त अध्ययन कर लेनेके पश्चात्  
एक भी स्थल ऐसा प्राप्त नहीं होता, जिससे उनकी हिंदुत्वके  
प्रति किसी प्रकारकी अनास्था या अज्ञान प्रकट हो । शास्त्रीय  
अन्तःकथाओं, घटनाओं एवं तथ्योंको वे कुछ इस प्रकार  
प्रकट करते हैं, जिससे उनका हिंदुत्व-प्रेम ही प्रकट नहीं  
होता, अपितु संस्कृत-कवियों-जैसी पुनीत मौलिकता भी  
प्रतिभासित होती है ।

जे गरीब पर हित करें, ते रहीम बड़ लोम ।  
कहा सुदामा बापुसौ कृष्ण-मिताई जोम ॥  
बड़े दीन कौ दुख सुनै, लेत दया उर अनि ।  
हरि-हाथी की कब हुती, कहु 'रहीम' पहिचानि ॥

( रहीम-रत्नावली )

स्पष्ट है कि रहीमके हृदयमें वैष्णवी श्रद्धाकी परम पुनर्जा  
एवं प्रबल मन्दाकिनी प्रवाहित थी । उस पुण्य जलके  
प्रतापसे रहीमके मनकी सम्पूर्ण धार्मिक कटुता धुल-धुलकर  
समाप्त हो गयी थी । जितनी दिव्यता, निष्ठा एवं वैष्णव्य  
सूझ-बूझ उनके काव्यमें प्राप्त होती है, उतनी अनेकानेक  
हिंदुओंके काव्यमें भी नहीं । मुसल्मान होते हुए भी उन्होंने  
हिंदी और हिंदुत्वकी जो सेवा की है, उसके लिये सभी  
हिंदू उनके ऋणी हैं । अतः यह मुसल्मान कवि उतने ही  
नहीं, अपितु उससे भी अधिक आदरका पात्र है, जितने सु-  
तुलसी और नन्ददास । स्पृहणीय थी उनकी श्रद्धा और  
श्लाघनीय था उनका विश्वास—

धूरि धरत निज सीस पै, कहु रहीम कंहि काज ।  
जेहि रज मुनि-पतनी तरी, सो ढूँढ़त गजराज ॥  
रहिमन कौ कोउ का करै, ज्वारी, चोर लवार ।  
जो पत-राखनहार है, माखन-चाखनहार ॥

( रहीम-रत्नावली )

धर्म-निरपेक्ष भारतके लिये क्या रहीमका काव्य यहाँ  
चेतनाका आदर्श प्रेरणा-स्रोत नहीं हो सकता ?

## ‘जगतकी असारता’

मजा कहीं नहिं पाया जग में नाहक रहा भुलाया ।  
छिन के सुख की लालच जित तित खान लार टपकाया ॥  
यह जग में जिनको अपना कर झूठा भरम बढ़ाया ।  
तिन स्वारथ फँसि कूकर सूकर सब दुतकार बताया ॥  
अपना अपना अपना करकै बहुत बढ़ाई माया ।  
अंत सबै तजि दीनों मल सम जिनको अति अपनाया ॥  
साँचे मीत स्यामसुंदर सौं छिनहुँ न नेह बढ़ाया ।  
‘हरीचंद’ मल मूत्र कीट बनि नर-जीवनहि गँवाया ॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र



# सत्सङ्ग

[ कहानी ]

( लेखक—श्रीलक्ष्मीनारायणजी शर्मा )

( १ )

रात्रिका समय था । श्रीभगवदाश्रमजीका प्रवचन हो रहा था । विजलीकी रोशनीमें पीत-परिधानमें संतजीके मुखकी शान्ति तथा सौम्यता श्रोताओंको आकर्षित किये हुए थी । उनके प्रवचनमें गृहस्थ-जीवनके व्यावहारिक कर्तव्य-अकर्तव्य-की सरल भाषामें व्यवस्थित विवेचना थी । यही कारण था, जिसे उपस्थित श्रोता एकाग्रतासे प्रवचनको सुन रहे थे और वातावरणमें सन्धता थी ।

जगतबाबू श्रोताओंमें सबसे पीछे बैठे थे । आज पहला दिवस था; जब वे किसी संतके प्रवचनमें आदिसे अन्ततक उपस्थित रहे । उनको उपदेशकोंसे सबसे बड़ी यह शिक्षावत थी कि उनका उपदेश व्यावहारिक नहीं होता ।

प्रवचन समाप्त होते ही जगतबाबू संतजीके पास पहुँचे और धीरेसे बोले—‘महाराजजी ! कल आप मेरे यहाँ भिक्षा ग्रहण करनेकी कृपा करें ?’ ‘भैया !’ संतजी बोले । परंतु उनकी बातको काटते हुए जगतबाबूने अपनी बात चालू रखी—‘महाराजजी ! मैं ब्राह्मण हूँ । आप कच्चा भोजन या सक्के ? गोयल साहबके यहाँ आपको पक्का भोजन करना पड़ता होगा ।’ संतजीने स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा—‘तेल, खटाई और लाल मिर्च न हो भैया !’

जगतबाबू और उनकी पत्नीके मुखपर आज विशेष प्रकारकी प्रसन्नता थी । सात्विक भोजन बड़ी पवित्रतासे बनाया गया था । संतजीको भोजन कराते समय दम्पति समझ नहीं पा रहे थे कि उनकी एक अजीब-सी दशा क्यों हो रही थी । कुछ अद्भुत आनन्द मिल रहा था उनको ।

भोजनके पश्चात् संतजी कमरेमें एक तख्तपर बैठ गये । उन्होंने कमरेमें एक दृष्टि डाली । भगवान् श्रीकृष्णके चित्र टँगे थे । संतजीने कहा—‘बेटीको बुलाओ ।’ जगतबाबू और उनकी पत्नी तख्तके सामने फर्शपर बैठ गये । एक बार पत्नीके मस्तिष्कमें जगतबाबूकी दोष-दृष्टिका खयाल आया, परंतु उसने तुरंत समाधान कर लिया कि इन महात्मा-यें इनको क्या दोष दिखायी देगा ।

संतजीने पूछा—‘आप कुछ भगवद्भजन करते हैं ?’ दम्पतिने सिर झुकाकर स्वीकारात्मक उत्तर दे दिया । संतजीने फिर कहा—‘भैया ! मनुष्यका जन्म बड़ी कठिनाईसे मिलता है । फिर ब्राह्मण-शरीर तो किसी तपस्याका फल है । ईमानदारीसे जीविकोपार्जन करते हुए प्रभु-स्मरण अवश्य करना चाहिये । गृहस्थका यह परम कर्तव्य है ।’

पत्नीने सोचा—यह स्वर्ण अवसर है । पतिदेव शान्त हैं । महात्माजीसे प्रभावित हैं । वह बोली—‘बाबा ! इनको कुछ अशान्ति रहती है ।’ इसके पूर्व कि वह आगे कुछ कहती जगतबाबू बोल उठे—‘महाराजजी ! मेरी अशान्तिका कारण मेरी दोष-दृष्टि है । मैं इससे त्राण नहीं पा रहा हूँ ।’

संतजी एक क्षण गम्भीर हुए और फिर बड़े दृढ़ शब्दोंमें बोले—‘संसारकी दृष्टिमें तुम सुखी हो, परंतु आध्यात्मिकतामें तुम दरिद्र हो, इसलिये तुम्हारे आन्तरिक अशान्ति है ।’

संतजी फिर बोले—‘मैं तुमसे एक बात कहता हूँ । तुम उसपर विचार करना । प्रभु चाहेंगे तो तुम्हें शान्ति मिलेगी । किसी व्यक्तिसे कोई वस्तु प्राप्त करनेके लिये उसमें श्रद्धा रखनी होगी । बिना श्रद्धाके कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता । जिस वस्तुकी खोज करोगे, वही तुम्हें प्राप्त होगी । तुम दूसरोंमें अवगुण खोजोगे तो अवगुण ही तुम्हें प्राप्त होंगे । अबतक तुमने जिसकी खोज की, वही तुमको प्राप्त हुआ होगा और वही तुम्हारे पास है । अब सोचो, अबतक तुमने खोया ही खोया है । प्राप्त वस्तुको तुमने खोजा नहीं, फिर तुम्हारे पास उसके होनेका प्रश्न ही नहीं उठता । तुम्हारी दशा बड़ी दयनीय है । शान्ति कैसे मिल सकती है ?’

जगतबाबूकी दयनीय दशापर संतजी कुछ द्रवित हुए । संतका स्वभाव तो नवनीतका रूप है । तनिक उष्णता आयी कि पिघल गये । वे बोले—‘भैया ! तुम तो श्रीकृष्णके उपासक मालूम पड़ते हो । श्रीकृष्णने स्वयं कहा है—

‘अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।’

अर्थात् ‘मैं ही सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ और सब मेरे



द्वारा चेष्टा करते हैं ।<sup>१</sup> इसलिये जिसे तुम भला या बुरा समझते हो, उससे भला ले लो और बुरेसे घृणा न करो; क्योंकि वह भी प्रभुका है । विपक्ष साक्षात् काल है । उसके विपक्षे मृत्यु होती है, परंतु उसके विपक्षे ओषधि बनती है, जो प्राण-रक्षा करती है । फिर उससे घृणा क्यों ? क्या तुममें अवगुण नहीं हैं ?

अन्तमें वे कहने लगे—‘तुम श्रीकृष्णके उपासक हो । तुम्हारा प्रत्येक कार्य इस विचारके साथ होना चाहिये कि उससे तुम्हारे उपास्य-देवको प्रसन्नता हो । उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च नयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

‘सबमें उनके दर्शन करो । फिर हर क्षण और हर स्थानपर वे तुम्हारे पास हैं और जब वे तुम्हारे पास हैं, तब अशान्ति तुम्हारी ओर देख नहीं सकती । उपासनाके साथ-साथ प्रभुके वचनोंका पाठ करो और उनकी लीलाओंको पढ़ो, सुनो और सुनाओ । इसीमें तुम्हारा कल्याण है ।’

इस संत-भेटके पश्चात् जगतबाबूमें अद्भुत परिवर्तन आ गया । प्रातः प्रभुकी उपासना और गीताका पाठ तथा रात्रिको पत्नीको श्रोता बनाकर श्रीमद्भागवतका स्वाध्याय करते हुए भगवान्की लीलाओंको सुनाना उनकी निश्चित दिनचर्या बन गयी ।

( २ )

जगतबाबूने भोजन किया । कार्यालय जानेके लिये तैयार होकर अनायास बरंडेमें खड़े हो गये । उन्होंने देखा कि एक गौरवर्ण और विशालकाय महात्मा केवल कोपीन लगाये बड़ी मस्त चालसे सड़कपर उनकी कोठीकी ओर चले आ रहे हैं । अरे, वे तो कमरपर हाथ रखकर उनके फाटकके सम्मुख खड़े हो गये । जगतबाबू बरंडेकी सीढ़ियोंसे उतरते हुए बड़े नम्र भावसे बोले—‘महाराजजी ! भोजन पाइयेगा ?’ महात्माने सरल स्वभावसे कहा—‘इच्छा तो है, भाई !’

जगतबाबूने कमरेमें आसन बिछाया और महात्मासे बैठनेकी प्रार्थना की । वे बोले—‘महाराजजी ! भोजनमें कोई विशेष वस्तु तो नहीं होगी?’ महात्माने कहा—‘जो भगवान्का प्रसाद हो, ले आइये । हाँ, हम देहातमें भ्रमण करनेवाले साधु हैं । इसलिये चावल बना हो तो दही हो तो अच्छा है ।’

जगतबाबूने तुरंत दही मँगाया और थाल महात्माके सम्मुख रख दिया । महात्माने भोजन किया और चल दिये । जगतबाबू अतिथिको फाटकतक पहुँचाने गये । जगत-

बाबू जैसे ही लौटे, महात्माने लौटते हुए कहा—‘भाई ! एक प्रश्न है । तुमने मुझे अपने घरके भीतर ले जाकर भोजन कराया और यदि मैं डाकू हुआ तो ?’ जगतबाबू मुसकराये और विनीत भावसे बोले—‘आप डाकू हैं या आप जानते होंगे । मैंने तो आपमें एक साधु अतिथिके दर्शन किये । गृहस्थके परम कर्तव्यका पालन करते हुए उनकी यथाशक्ति सेवा की । आपने इस सेवाका सुखस्पर्श दिया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ ।’ महात्मा सड़कपर तेजीसे चले गये और जगतबाबू—

‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।’  
—गुणगुनाते हुए घरमें चले आये ।

( ३ )

पौषका महीना था । रात्रिके आठ बजे थे । कोहरा छाया हुआ था । शीत वायु वेगसे वह रही थी । कमरेके दरवाजे और खिड़की बंद करके जगतबाबू पलंगपर बैठे पुस्तक पढ़ रहे थे । उनकी दो पुत्रियाँ और एक पुत्र अध्ययनमें तल्लीन थे ।

किसीने दरवाजा खटखटाया । कमरेमें बैठे लोगोंका ध्यान उधर गया । जगतबाबूके केतसे लड़केने दरवाजा खोला । देखा, एक लंबा दृष्ट-पुष्ट व्यक्ति साफा, कोट और विरजिस पहने दरवाजेपर खड़ा था । जगतबाबूने कहा—‘आइये ।’ लड़कियाँ तुरंत भीतर चली गयीं और वह व्यक्ति जगतबाबूके सामने एक कुर्सीपर बैठ गया ।

वह बोला—‘आपने मुझे पहचाना नहीं ?’ जगतबाबूने नकारात्मक उत्तर दिया । उसने लड़केसे कहा—‘बेटा ! जरा अंदर चले जाओ ।’ लड़केके अंदर चले जानेपर वह व्यक्ति फिर बोला—‘बाबूजी ! मैं वही साधु हूँ, जिसको आपने इसी कमरेमें एक दिन दफ्तर जाते समय भोजन कराया था । वास्तवमें मैं डाकू हूँ । उस समय मैं और मेरे साथी पुलिसके घेरेसे छिपकर भागे हुए थे । मैं साधुका वेष बनाकर शहरकी ओर चला आया था । दो दिनका भूखा था । आपकी सज्जनतासे मैं बहुत प्रभावित हुआ था । मुझे ऐसा आभास हुआ था कि आप धार्मिक व्यक्ति हैं और आपपर खर्चका बड़ा भार है ।’ जगतबाबू कुछ कहना चाहते थे, परंतु उन्हें रोकते हुए कहा—‘मेरी पूरी बात सुन लीजिये । घबराइये नहीं । मेरा नाम रामसिंह है । आपने अखबारमें पढ़ा होगा कि कुछ दिन पूर्व मैं एक सेठके दो लड़कोंको पकड़कर ले गया था । कल उससे मुझे अस्सी हजार रुपये मिले हैं । मैं गरीबोंकी मदद भी करता हूँ । आपके दो



पुत्री शादीयोग्य हैं। इसलिये यह लीजिये, मैं बीस हजार आपको देनेके लिये लाया हूँ। यह कहते हुए उस व्यक्तिने अपने हाथका थैला जगतबाबूके सामने रख दिया।

जगतबाबू कुछ सकपकाये, परंतु साहस बटोरकर दृढ़तासे बोले—आप क्या थे और क्या हैं, इससे मुझे कुछ नहीं करना। मैंने एक साधु अतिथिको भोजन कराकर गृहस्थ-के परम कर्तव्यका पालन किया था। आपके प्रश्नका मैंने यही उत्तर दिया था। इस समय आप मेरे सम्मुख एक सभ्य पुरुषके वेषमें बैठे हैं। आपका यह धन पापका पैसा है। इसे आप तुरंत मेरे सामनेसे उठा लीजिये। मैं अपने कर्तव्योंके पालनका यथाशक्ति प्रयत्न करता हूँ और प्रभुने जो दिया है, उससे संतुष्ट हूँ।

कुछ मिनिट स्वध्वता रही। जगतबाबूने फिर कहा—मैं आपको उपदेश तो कर नहीं सकता, परंतु एक नम्र निवेदन

करूँगा कि आप इस पापकर्मसे बचनेका प्रयास कीजिये। जिस वेषको आपने धारण किया था, उसकी रक्षा करिये, नहीं तो साधारण मनुष्यका उस वेषसे विश्वास उठ जायगा, जो समाजके प्रति बड़ा अनर्थ होगा।

वह व्यक्ति उठा और बिना कुछ कहे चल दिया। जगतबाबू स्वभाववश उसके पीछे फाटकतक गये, नमस्कार किया। वह एक घोड़ेपर, जिसे आते समय वह फाटकके बाहर एक बिजलीके खंभेसे बाँध आया था, सवार हुआ। उसने हाथ जोड़कर जगतबाबूको फिर नमस्कार किया। घोड़े-को ऍड मारी और क्षणोंमें आँखसे ओझल हो गया।

ऐसा सुननेमें आता है कि चित्रकूटके वनोंमें एक साधु घूमते रहते हैं। वे केवल कोपीन पहने रहते हैं। लोग कहते हैं, पहले वे डाकू थे।

## संतकी निर्भयता

(लेखक—श्रीदयामनोहरजी व्यास, एम्० एस्-सी०)

यूनानके सम्राट् सिकंदरने सुन रखा था कि भारतमें बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी ऋषि-मुनि रहते हैं। ऐसे तत्त्वज्ञानियोंसे मिलनेकी उसकी बड़ी अभिलाषा थी।

भारत-आक्रमणके समय उसकी यह इच्छा पूरी हुई। एक दिन सिकंदर एक वनकी ओर भ्रमणार्थ चल पड़ा। कुछ दूर जाकर उसने एक महात्माको ध्यानावस्थित देखा। महात्माके पास न कोई वस्त्र थे न आभूषण और न किसी प्रकारका कोई ऐश्वर्य; पर फिर भी दीप्तिकी आभा उनके मुखसे ऐसी फूट रही थी, जैसे वे कोई सम्राट् हों।

सिकंदरने उन्हें प्रणाम करके पूछा—‘महाराज ! साधन-हीन होकर भी आपमें सम्राटों-जैसी तेजस्विता कहाँसे आयी है ?’ साधुने हँसकर उत्तर दिया—‘अरे सिकंदर ! तुम्हें पता नहीं; मेरा ईश्वर कितना दिव्य, तेजस्वी और महान् है। उसकी कृपासे ही मैंने तेजस्विताका एक अणुमात्र पाया है।’

सिकंदर महात्मासे बड़ा प्रभावित हुआ। उसने ऐसे महात्माको गुरु बनानेका निश्चय किया। इसी अभिप्रायसे उसने पूछा—‘महाराज ! आप मेरे गुरु बनकर मेरे साथ यूनान चलिये। मैं अपना सारा राज्य-वैभव, धन और सम्पत्ति आपके चरणोंमें न्योछावर कर दूँगा।’

महात्माने उत्तर दिया—‘सिकंदर ! मैं मुक्त साधु हूँ; मुझे धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्यसे क्या लेना-देना। जिसके पास मणि हो वह काँचके टुकड़ेके लिये क्यों तेरे साथ जायगा ?’

सिकंदरको अपनी उपेक्षापर बड़ा गुस्सा आया। उसने इसे अपना अपमान समझा।

वह तलवार खींचकर बोला—‘अभी मैं तुम्हें मार डालूँगा।’ साधु खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले—‘सिकंदर ! मैं तो यही चाहता हूँ कि तू मुझे मार डाले, पर क्या तेरे पास ऐसी तलवार है, जो मेरे ‘मैं’को काट डाले ? आत्मा अजर-अमर और ईश्वरांश है, शस्त्रादिसे उसका विनाश नहीं हो सकता। तेरी तलवार मेरे पाञ्चभौतिक देहको ही नष्ट करेगी, किंतु मेरी आत्माको नहीं। देह नश्वर है और आत्मा अजर-अमर।’

संतकी निर्भयताको देखकर सिकंदर हतप्रभ हो गया। तलवार फेंककर वह उनकी विद्वत्ताके आगे नतमस्तक हो गया। अपने अपराधके लिये वह महात्मासे क्षमा माँगने लगा।

क्षमाशील महात्माने उसे क्षमा कर दिया। भारतीय महात्माओंकी तेजस्विताकी एक झलक लेकर सिकंदर लौट पड़ा।

×

×

×



# पढ़ो, समझो और करो

( १ )

## प्रेतात्माकी शान्ति

दो वर्ष पूर्व कोटास्थित भक्त भावनदासजी कपड़ेवालेके घरमें आश्चर्यजनक आवाज हुआ करती थी । वह आवाज उनकी १२ वर्षीय पुत्रीको अधिक परीशान किया करती थी । श्रीभावनदासने समस्त घटना हमारे स्व० गुरु स्वामी प्रेमदासजीको लिख भेजी और शान्तिके उपायके लिये प्रार्थना की । गुरुजीने लिख भेजा कि 'लड़कीकी दादी ( श्रीभावनदासजीकी माता ) की आत्मा भटक रही है। उसकी शान्तिके लिये ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाय और श्रीगरुडपुराणका पाठ भी आरम्भ किया जाय ।'

गरुडपुराणका साप्ताहिक पाठ हुआ और ब्राह्मण-भोजन भी । पाठकी अवधिमें कोई भी आवाज नहीं हुई, लेकिन दूसरे दिन फिर प्रारम्भ हो गयी । फिर श्रीभावनदासजीने कोटासे उक्त घटनाका समाचार दिया और शान्तिके लिये आग्रह किया । पूज्य गुरुजीने फिर लिख भेजा कि 'आपने जो गरुडपुराणका पाठ कराया था, उसमें ब्राह्मणकी असावधानी और अशुद्धिके कारण विघ्न पड़ा होगा । अबकी बार किसी सुयोग्य ब्राह्मणसे वही कार्य फिर करवाना चाहिये ।'

उक्त क्रिया फिरसे सुयोग्य सदाचारी ब्राह्मणोंद्वारा करवायी गयी । अबकी बार ब्राह्मणोंको दान-दक्षिणासे प्रसन्न किया गया और गरुडपुराणका पाठ भी विधिपूर्वक कराया गया । प्रभु-कृपासे अब पूर्ण शान्ति बनी हुई है ।

—श्रीनारायणदासजी

( २ )

## टिकट-निरीक्षककी ईमानदारी

घटना दो वर्ष पहलेकी है । उस वर्ष दिसम्बरमें कड़ाकेकी सर्दी पड़ रही थी । ठंडकी वजहसे लोग रातको अपना कार्य जल्दी समाप्तकर ठंडसे बचनेके लिये कमबलमें जा घुसे थे । रात्रिका शान्त वातावरण था । रातके एक बजे मारवाड़ जंक्शनपर एक पैसेंजर गाड़ी आकर रुकी । कुछ यात्री उतरे, जिन्हें देखनेसे ऐसा प्रतीत होता था कि ये बाराती लोग हैं । ठंड लगनेके कारण उन्होंने गाड़ीसे जल्दी उतरकर

सामानको उतारा और बहुत कुर्तसि दूसरी सवारीगाड़ीमें, जो अहमदाबाद जानेवाली थी, जा बैठे । गाड़ी चल दी । गाड़ी अहमदाबाद जा पहुँची । सबेरे जब उन्होंने अपने सामानका निरीक्षण किया, तब यह देखकर वे हैरान हो गये कि उनकी टोकरी, जिसमें वधूके सोनेके आभूषण रखे थे, जो करीब ११ हजार रुपयेके थे, नहीं है । चोरी होनेके डरसे उन्होंने उसे एक पुराने कपड़ेमें बाँधकर टोकरीमें रखे थे । सारी चीजें अलग-अलग करके देखीं, पर वह कहीं नहीं मिली । सबका चेहरा पीला पड़ गया । वे घर क्या मुँह दिखायेंगे ? समुची आँखोंसे लगातार अश्रुधारा बहने लगी । उन्हें अपनी लापरवाहीपर बहुत क्रोध आया । उन्हें पूर्ण विश्वास था कि गाड़ी बदलनेके बाद उनके डिब्बेमें किसी यात्रीने प्रवेश नहीं किया था । उनकी गलती थी कि गाड़ी बदलनेके पश्चात् उन्होंने अपने सामानका पुनः निरीक्षण नहीं किया । कभी वे अपनेको और कभी अपने भाग्यको कोसते थे । वे सोच रहे थे, 'लड़की भी सुखसे नहीं जी सकेगी । परिवारके सभी लोग उससे घृणा करेंगे और ताने देंगे ।' विवाह होतेही अपशकुनका होना परिवारको निकट भविष्यमें आपत्ति आनेकी सूचना थी ।' सबके चेहरे मुरझा गये । सबके मनमें यह बात घर कर गयी कि उन्हें गहने वापस नहीं मिलेंगे । फिर भी मनुष्य आशाका दामन नहीं छोड़ता । जबतक साँस, तबतक आस । उन्होंने हिम्मत नहीं हारी । स्टेशन-मास्टरकी सहायतासे सभी जंक्शनोंपर फोन कर दिया ।

होनी बड़ी बलवान् होती है । जिस गाड़ीसे वे उतरे थे, वह गाड़ी उदयपुरके लिये रवाना हुई । गाड़ीमें चार-पाँच मुसाफिर चढ़े और उस डिब्बेमें अपना सामान जमा कर बैठ गये । आभूषण एक पोटलीमें बंद थे और एक पुरानी टोकरीमें रखे थे । ऊपर ढक्कन लगा हुआ था । गाड़ी अपनी रफ्तारसे आगे बढ़ रही थी । मावलीके आनेमें अभी आध घंटेकी दूर थी । एक स्टेशनपर एक टिकट-निरीक्षक चढ़ा । वह यात्रियोंके टिकट देखकर वहाँ बैठ गया । कुछ देर पश्चात् उसकी नजर उस पोटलीवाली टोकरीपर गयी । उसने उसे गौरसे देखकर यात्रियोंसे पूछा—'यह आपकी पोटली है ?'

'शायद पड़ोसी यात्रीकी होगी ।' एक यात्रीने जवाबमें कहा । 'मेरी नहीं है ।' दूसरेने कहा । और दूसरे यात्रीने



[हृदय ८]

नियमों थे, इसलिये उन्होंने सिर हिलाकर नहीं होनेका संकेत किया। कुछ देर पश्चात् मावली स्टेशन आ गया। टिकिट-निरीक्षकने टोकरी उठायी। उसे वह कुछ भारी प्रतीत हुई। वह उसे उठाकर उतर गया। कुछ दूर चला कि उसके मनमें कुछ घट्टा हुई। उसने टोकरी खोलकर पोतलीको भी खोला। उसमें सोनेके आभूषण—कंगन, पायल, नथ वगैरह थे।

वह सोचमें पड़ गया। इतनी बड़ी धनराशिका क्या किया जाय? मनने कहा—‘तुम इसे ले लो, इतनी राशि तुम निर्दगीके आधे वर्ष गुजारनेपर भी शायद ही इकट्ठी कर पाओ।’

आत्माने कहा—‘नहीं! तुम मत लो; यह किसी विवाहिता ब्रीका है। इस समय तुम उसके मनके दुःखका अंदाज नहीं लगा सकते। उसके मनसे निकली हुई बद्दुआएँ तुम्हारा निश्चित ही अन्त कर देंगी। आज यह घटना, जो उसके साथ घटी है, यदि तुम्हारी बहनके साथ या बेटीके साथ घटती तो तुम उस दुःखका अनुभव करते। इसलिये तुम इसे मत रखो।’

मनने कहा—‘हरिश्चन्द्र बननेकी कोशिश मत करो। दुनियाके कारोबार ऐसे ही चलते हैं। ऐसा मौका फिर न मिलेगा। इस कलियुगमें ईमानदारी दिखानेसे कोई लाभ नहीं। दुनियामें सभी लालची हैं। आज-कल किसीने पाया धन नहीं लौटाया है।’ आत्माने कहा, ‘नहीं! तुम यह क्यों भूलते हो, इस समय तुम नौकरीपर हो। तुम्हारा कर्तव्य गाड़ीमें मिले हुए मालको आफिसमें जमा करना है। तुम धनके लोभमें कर्तव्यसे विमुख मत होओ। चोरीका माल मोरीमें ही जाता है, यह सत्य है। इस पापके लिये भगवान् भी तुम्हें क्षमा न करेंगे। कर्तव्यके लिये लोभको छोड़ो, तभी तुम्हें शान्ति मिलेगी।’

इस प्रकार मन और आत्माके इस प्रतिद्वन्द्वमें आत्माने मनपर विजय प्राप्त की और उसने वैसे ही पोतली बाँध दी और स्टेशन-मास्टरको सूचित किया और उनके सामने उस टोकरीके मिलनेकी घटनाका वर्णन किया। स्टेशन-मास्टरने पुलिसको बुलाकर जाँच की। उसमें एक रसीद थी, जिसमें खरीदनेवालेका नाम-पता था। उसे फोनद्वारा बुलाया गया। काफी सबूत और जानकारी प्राप्त करनेपर माल उन्हें लौटा दिया गया। समुरकी आँखोंसे अश्रुधारा बह निकली। आज मानो उसने उस व्यक्तिमें साक्षात् ईश्वरके दर्शन

किये। उसके मुँहसे धन्यवादके शब्द नहीं निकल पाये। केवल आँसुओंकी गङ्गा और यमुना बहने लगीं।

जब उसे पता चला कि माल पानेवाला निरीक्षक गरीब है, तब उसने उसे इनामके तौरपर २००) देनेकी कोशिश की। इसपर टिकिट-निरीक्षकने मना करते हुए कहा, ‘सब श्रीनाथजीका प्रताप है, मैंने तो कुछ नहीं किया।’ और सिर झुकाये वह अपने घर चल दिया।

—एक सार्थ

( ३ )

### ईमानदारी

बात पिछले वर्षकी ही है। वृन्दावनमें होलीका उत्सव देख लेनेके बाद कुछ सेवक मुझे हरिद्वार ले गये थे। हरिद्वार-से लौटनेके दिन मैं तुलसीकी माला लेनेके लिये बाजार गया हुआ था। एक छोटी-सी दूकानसे मैंने कुछ तुलसीकी मालाएँ तथा कंठियाँ खरीदीं और पैसे देकर यात्रीनिवासपर लौट आया। करीब एक घंटे बाद पैसोंकी आवश्यकता होनेपर मैंने थैली देखा तो उसमें मखमली कपड़ेका मनीबैग नहीं मिला। मनीबैगमें अधिक रकमके साथ-ही-साथ पाकेट घड़ी भी थी। बहुत विचार करनेपर यही समझमें आया कि शायद तुलसी-मालाकी दूकानपर मनीबैग रह गया हो। समयको देखते हुए मिलनेकी आशा तो नहीं थी, लेकिन फिर भी मनके संतोष करनेके निमित्त पता लगानेको उस दूकानपर पहुँच ही गया। आश्चर्य! वे वयोवृद्ध सज्जन मेरी राह ही देख रहे थे। मनीबैगके बारेमें पूछते ही उन्होंने तुरंत अपनी पेट्टीसे निकालकर उसे मेरे हाथमें थमा दिया और बोले—‘इसे मैंने खोलकर भी नहीं देखा है; लेकिन इसके वजनको देखकर मैं यही सोच रहा था कि स्वामीजी वेप-भूषासे वृन्दावनके लगते हैं, इसलिये इस भारी रकमके गुम हो जानेपर उन्हें बड़ी परेशानी होगी।’ उनके इन सहातुभूतिपूर्ण शब्दोंको सुनकर मैंने मनीबैग उनकी ओर बढ़ाते हुए कहा कि ‘इसमेंसे आपकी जितनी इच्छा हो, उतनी रकम निकाल लें।’ लेकिन हाथ जोड़कर उन्होंने यही कहा कि ‘मैंने तो अपना फर्ज पूरा किया है। आप केवल इतना ही आशीर्वाद दें कि मेरे मनमें कभी बेईमानी न आये।’ मालाएँ तो अधिक लेनी नहीं थीं, लेकिन अपना फर्ज समझकर मैंने दूकानसे बहुत-सी मालाएँ खरीद लीं और उन्हें खुशकर, अन्तःकरणसे आशीष् देता हुआ यात्री-निवासपर लौट आया। इस कलिकालमें यदि सभी इस प्रकार



अपना कर्तव्य निभाने लगे तो पृथ्वीतलपर ही सुख-शान्तिसम्पन्न स्वर्ग उतर सकता है ।

—श्रीप्रेमस्वामी महाराज 'हितप्रेमा', श्रीराधागढ़

( ४ )

### भगवत्कृपाका चमत्कार

[ सच्ची घटना ]

मेरे लिये यह एक अद्भुत महान् घटना है ।

मैं प्राक्-विज्ञान ( १९७० ) की परीक्षा दे रहा था । नकल करनेकी पूरी धाँधली थी । मैंने नकल न करनेका निश्चय कर लिया था । इसका कारण यह नहीं कि मेरा पाठ पूर्णतः तैयार था; अपितु 'कल्याण'के किसी अङ्कमें मैंने पढ़ा था, 'भगवान्पर पूर्ण भरोसा करनेसे हर काम सफल हो जाता है ।' मैं भी उस लेखका ध्यान करके परीक्षा देने लगा और नकल नहीं की । मेरे सात पच्चे संतोषजनक हो गये, यह प्रभुकी ही कृपा थी । आठवें दिन भौतिक विज्ञानके प्रथम पत्रकी परीक्षा थी । उसके पच्चे देखते ही मेरे होश उड़ गये । मैं उनमेंसे एक ही प्रश्नका उत्तर लिख सकता था और लिखा भी । छः प्रश्नोंके उत्तर देने थे । मैं निराश-सा बैठा था । सभी लड़के नकल कर रहे थे । वहाँपर पुस्तकें भी थीं । मैं विचलित होने लगा; पर यह सोचकर कि 'द्वितीय पत्र ठीक हो जानेपर मैं उत्तीर्ण हो जाऊँगा ।' मैंने अपनी कापी जमा कर दी । दूसरे दिनकी भी स्थिति ठीक वही हो गयी । द्वितीय पत्रमें भी मैं दो प्रश्नोंका ही उत्तर दे सका । मैंने पास होनेकी आशा छोड़ दी । क्षणभरके लिये सोचा, 'चोरी करूँ तो सम्भव है पास हो जाऊँ ।' पर सद्बुद्धिने सहायता की । विचार बदल गये । अबतक तो चोरीकी जरूरत भी नहीं थी । सच्ची परीक्षाका तो क्षण भी यही था । मैंने अनुत्तीर्णताका सहर्ष स्वागत किया और भगवान्की याद कर चोरी नहीं की । मुझे बैठे देखकर पासके सज्जन मित्रने मुझे पुस्तकसे लिखनेका आग्रह किया । वे समझाने लगे—'आज सन्चाईका युग नहीं है, दोस्त ! जो चोरी-बेईमानी आदिका सहारा नहीं लेगा, उसका गुजारा नहीं है ।' मैंने उनसे कोई तर्क नहीं किया, पर हृदयने मुझसे कहा—'यही छिछली भावना ही तो हर किसीपर परदा डाले हुए है । इसी युगमें नहीं, किसी भी युगमें सत्यपथ कठिन होता है । सत्ययुगमें भी राजा हरिश्चन्द्रको सत्यवादी कहलानेके लिये कितना कष्ट सहना पड़ा था ।' इसी हृदयोक्तिने नकल न करने दिये ।

कापी उस दिन भी जमा कर दी । परीक्षाके बाद लोगोंने कापीका पता लगाने एवं पैरवी करनेको कहा । मैं उसे भी प्रभुके ऊपर भार देकर किसी बहाने ढाल गया ।

आपको यह जानकर अचम्भेके साथ प्रभुमें विश्वास होगा कि मात्र उनकी कृपासे मैं परीक्षामें उत्तीर्ण हो गया । अपके मेरे मित्र महोदय किसी गड़बड़ीसे पास नहीं हो सके । आनं विनय एवं दीन पुकार प्रभु जरूर सुनते हैं, यदि वह हृद विश्वासके साथ हो ।

'धन्य हैं कृपानाथ !'

—एक कल्याण-प्रेमी 'राहु'

( ५ )

### मातृ-भक्ति

५-६ वर्ष पूर्वकी बात है कि भाई रामपाल वंदे अपनी माताजी ( यानी हमारी बुआजी ) को साथ लेकर गुजरातके समस्त तीर्थोंका दर्शन कराने हेतु तीर्थयात्राके लिये निकले । साथमें उनकी धर्मपत्नी थीं, जो माताजीकी सेवाके उद्देश्यसे साथ गयी थीं एवं इस निमित्त तीर्थोंके दर्शन भी स्वतः हो जायेंगे, यह लोभ भी था । पहले वे लोभ अहमदाबाद गये, वहाँसे अपने बड़े भाई, जो वहाँ रहते थे, उनको भी तीर्थयात्रामें साथ ले लिया ।

यहाँ यह कहना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि हमारी बुआजी हृदयरोग आदिके कारण अस्वस्थ रहती हैं, एवं चलने-फिरनेमें भी उन्हें घुटनोंके दर्दके कारण कठिनाई होती है । लेकिन तीर्थयात्राके लोभके कारण उनकी रोगजन्य अशक्तता गौण हो गयी थी ।

उनके पैरों एवं घुटनोंमें काफी दर्द रहता था । गुजरातके सभी तीर्थोंके दर्शन कराते समय प्रातःकाल जानेके पहले एवं शामको लौटनेके बाद पैर एवं घुटनोंमें गर्म पानीसे सेंक एवं तेलमालिश आदि भाई, उनकी धर्मपत्नी एवं उनके बड़े भाई करते थे । इस तरह बुआजीके लिये चलना-फिरना सम्भव होता था । बुआजी बाजारका कुछ नहीं खाती थीं, इसलिए रामपालकी धर्मपत्नी स्नानादि कर उनके लिये भोजन भी स्वयं बनाती थीं ।

इस कार्यक्रममें गुजरातके सभी तीर्थोंके दर्शन हो गये । अन्तमें पहुँचे द्वारका । उन लोगोंको जानकारी न होनेके कारण एवं स्थानीय पंडेके आग्रहपर वे मन्दिरके पीछेकी तरफ धर्मशालामें ठहरे । वह धर्मशाला पंडेकी थी ।



[ ८ ]

वे लोग दोपहर १२ बजेके लगभग पहुँचे थे। पहुँचते ही नित्यकर्म एवं भोजनादिसे निवृत्त हो लिये। पहले कार्यक्रम था कि शामको दर्शनके लिये जायँगे। लेकिन तीर्थोंमें जानेके बाद दर्शनमें विलम्ब सहन कैसे हो? पंडाजी तो अपने कामसे वहीं चले गये थे, लौटकर आये ही नहीं।

बुआजीने कहा—‘चलो, दर्शन कर लें। इसमें पंडेकी आवश्यकता भी क्या है?’ रामपाल आदिने मातृ-आशा शिरोधार्य की और सब लोग दर्शनको चल पड़े। धर्मशालाके बाहर निकले तो हात हुआ कि यह तो मन्दिरका पिछवाड़ा है। वहाँसे चलकर किसी तरह मन्दिरके दरवाजेपर पहुँचे। लेकिन मन्दिरकी सीढ़ियोंको देखकर तो बुआजीकी हिम्मत फट हो गयी। सीढ़ियाँ संख्यामें ३०-४० थीं एवं काफी खड़ी यानी ऊँचाईपर थीं। बुआजीने कहा—‘इतने तीर्थ तो हो गये, अब इन सीढ़ियोंपर तो हम नहीं चढ़ सकतीं।’

रामपालको बड़ा दुःख हुआ। वह सोचने लगा कि ‘इतने तीर्थोंके बाद अब माताजी कह रही हैं कि सीढ़ियोंके कारण तीर्थ नहीं हो सकेगा। यह तो बड़े दुःखकी बात है। इनको ऊपर बैठकर या अन्य किसी साधनसे ऊपर ले जायँगे तो इनको संतोष नहीं होगा।’ रामपालने माताजीसे प्रार्थना की—‘हिम्मत मत हारिये, धीरे-धीरे ऊपर चलिए।’ लेकिन माताजीका साहस नहीं हुआ। उन्होंने कहा—‘भरे तो पैर ही नहीं उठ रहे हैं।’ इतनेमें भगवान्की प्रेरणा हुई या रामपालके मनमें क्या आया कि वह सहसा बोल उठे—‘आज हमने जीवनमें जितना पुण्य किया है, वह आपको समर्पित है, एवं आप हमारे पास रहे। अब आप स्वयंसे सीढ़ियोंपर चढ़ चले।’ इस समय रामपालके पास संकल्प करनेके लिये न जल था, न किसी मन्त्रकी ही उन्हें जानकारी थी। मानसिक संकल्पसे उन्होंने यह कहा, एवं बुआजी खट-खट सीढ़ियोंपर चढ़ गयीं एवं द्वारकाधीशके पावन चरणोंमें पहुँच गयीं।

बुआजी कृतकृत्य हो गयीं। रामपालकी आँखें भर आयीं एवं परिवारके लोग भी गद्गद हो गये।

बुआजीने कहा—‘बेटा रामपाल! यह तुमने क्या किया? इस तरह कहीं जीवनका पुण्य समर्पित किया जाता है?’

रामपालने कहा—‘माँ, तुम नहीं जानतीं, मैं व्यापारी हूँ; मैंने बहुत ज्यादा मुनाफेका सौदा किया है। आपको पुण्य अर्पण करनेसे मेरा पुण्य घटा नहीं है, बढ़ा ही है। आपने दर्शन कर लिये, इससे हमको बड़ी शान्ति हुई है; इससे

ज्यादा पुण्य मेरे लिये और क्या हो सकता है? इससे जितनी शान्ति और संतोष मुझे मिला है, वह इस जीवनमें कभी नहीं मिला है और न मिलेगा ही।’

—श्रीरामजीवनजी चौधरी

( ६ )

## श्रीदुर्गाकवचका प्रभाव

आजके भौतिकवादी युगमें भी यदि पूर्ण आस्थाके साथ अनन्यशरण हो जगज्जननी माँ दुर्गाकी आराधना की जाय तो वह निष्फल नहीं होती। इस तरहकी एक प्रत्यक्ष घटना देखनेको मिली है, जो निम्न प्रकारसे है—

वात सन् १९६८ ई० की है। एक सज्जन घरसे दूर अपनी नौकरीपर थे। वहीं उन्हें सूचना मिली कि उनके किसी शत्रुने उनके परिवारवालोंको चोरीके झूठे अभिशोगमें फँसा दिया है तथा वे लोग शीघ्र ही कारागारमें बंद होनेवाले हैं। यह सुनते ही उनके होश उड़ गये। कहींसे सहायताकी आशा न होनेपर उन्हें श्रीदुर्गाकवचका वाक्य—‘कवचे-नावृतो नित्यं यत्र यत्रैव गच्छति। तत्र तत्रार्थलाभश्च विजयः सार्वकामिकः॥’ स्मरण होआया। वे अनन्यभावसे पूर्व-स्मृतिके अनुसार कवचका पाठ करने लगे। धूम्रयानसे यात्रा करते हुए भी बिना किसी विशेष नियमके पाठ करते हुए थानेपर गये। विधिवेत्ताओं और पैरवीकारोंके अनुसार बिना हाजिर हुए और बिना एस० डी० ओ० की अनुमतिके जमानत होना असम्भव था, किंतु माँकी कृपासे कवचके प्रभावसे जमानत भी हो गयी और मुकदमेसे भी बेदाग छूट गये। तबसे वे सज्जन प्रतिदिन केवल विनियोगपूर्वक श्रीदुर्गाकवचका पाठ करते हैं और सानन्द जीवन-यापन करते हुए अपने हर कार्यमें सफलता प्राप्त करते हैं। उनका अनुभव है कि यदि अनन्य-भावसे कवचका पाठमात्र ही निरन्तर किया जाय तो यह पाठ मनोवाञ्छित फल देता है।

यह घटना सर्वथा सत्य है, किंतु उक्त सज्जनके निर्देशानुसार उनका नाम-पता नहीं दिया जा रहा है। यदि पाठक-गण उक्त घटनापर विश्वास करते हुए निष्ठाके साथ कवच-पाठ करें तो निरन्तर मङ्गल होता रहेगा, ऐसा मेरा भी पूर्ण विश्वास है।

—श्रीसुमेश्वर मिश्र

( ७ )

## छूत-अछूतका भेद

महात्मा प्रतिदिन जेल जाते और एक बंदीको उपनिषद्



पढ़ाया करते। बंदी कालकोठरीमें था, तो भी उसके जीवनमें अपूर्व मस्ती, विलक्षण ओज झलक रहा था। लगता था मानो वह उपनिषद् नहीं पढ़ रहा था, सोम-रसका पान कर रहा था।

चढ़ाव-ही-चढ़ाव हो, उतार न हो तो जीवन क्या? संकल्प-विकल्प, शान्ति-संघर्ष, उतार और चढ़ावका नाम ही तो जीवन है; एक-सी स्थिति होती तो संसारमें गति न होकर केवल शून्यता होती। बंदीका जीवन उसी प्रकार बीत रहा था, महात्मा नियमपूर्वक उसे उपनिषद् पढ़ाने जाते रहे।

एक दिन जब महात्मा उसके पास गये, उन्होंने अपने शिष्यके मनमें शान्ति और प्रसन्नताका अभाव ही नहीं पाया, देखा कि उसके मनमें कोई भय समा गया है। देखनेसे लगता था वह रातभर सोया नहीं था। महात्माने पूछा—‘तात ! ऐसी क्या बात हो गयी ? चिन्तातुर क्यों दिखायी दे रहे हो ? उपनिषद् पढ़कर भी जो व्यक्ति शान्ति न पाये, समझना चाहिये कि उसके लिये संसारमें और कहीं शान्ति नहीं।’ ‘आप ठीक कहते हैं, गुरुवर !’ बंदीने अत्यन्त विनीत भावसे उत्तर दिया। ‘किंतु न जाने क्यों आज रातभर एक भयंकर स्वप्नने मुझे पीड़ित करके रखा, नींद टूट गयी। तबसे उस स्वप्नकी भयंकरता मनसे दूर नहीं होती।’

‘क्या था वह स्वप्न ?’ संन्यासीने अगला प्रश्न किया। इस प्रश्नका उत्तर युवकने यों दिया—‘रात जब सोया तो स्वप्नमें अपने आपको एक गाँवके कच्चे मकानमें पाया। एक कोठरी दिखायी दी, जिसमें मेरी माँ बाल खोले बैठी बालोंको सुखा रही थी। तभी मैं हाथमें तलवार लिये अंदर चला गया और माँके बाल पकड़कर उसे कोठरीसे घसीटता हुआ बाहर बरामदेमें ले आया। माँ चिल्लाती रही, मैंने उसे छोड़ा नहीं। सहनमें आकर तलवारसे उसका वध कर दिया। आप जानते हैं मैं अपनी माँको कितना प्यार करता हूँ, और मेरी माँ भी मुझसे कितना स्नेह करती है। जो बात मेरी कल्पनामें भी नहीं आयी, वह स्वप्नमें कैसे आ गयी ? यह भयंकर स्वप्न रातमें कई बार देखा, उसी कारण मन उदास है।’

महात्माने कुछ विचार किया और पूछा, ‘कल खाना किसने बनाया था ? बाहरसे मँगाकर तो कुछ नहीं खाया ?’ युवकने उत्तर दिया, ‘नहीं गुरुदेव ! पर हाँ, कलका खाना

पहलेसे खादिष्ट अवश्य था; लगता था किसी नये रसोदयेन बनाया है।’ महात्माजीने और कुछ पूछे बिना बंदीको अधिकारीके पास जाकर पूछा—‘क्या कल किसी नये बंदीने भोजन पकाया था ?’ कारागृह अधिकारीने कहा, ‘हाँ’ और साथ ही उसका रिकार्ड मँगाकर देखा तो पता चला कि वह व्यक्ति गाँवका रहनेवाला है और अर्न्त माँकी हत्याके अपराधमें आजीवन सजा पाकर आया है। हत्याकी परिस्थितियाँ ठीक वही थीं, जो युवकने स्वप्नमें देखी थीं। महात्माके कहनेसे उसे खानेके कामसे छुट्टी दे दी गयी। महात्मा फिर अपने शिष्यके पास आये और सारी बात समझाते हुए बोले—‘वत्स ! व्यक्तिके मानसिक संस्कार स्पर्शमात्रसे दूसरोंको कितना प्रभावित कर सकते हैं, यह उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।’

युवक संतुष्ट हो गया, रसोइया बदल जानेसे फिर उसने वह स्वप्न भी नहीं देखा। यह कथा पौराणिक कल्पना नहीं, सत्य घटना है, जो महात्मा आनन्दसामाजिक जीवनमें तब घटी, जब वे रणवीर \* को जेलमें पढ़ाने जाया करते थे। इसे उपनिषदोंके सारमें उन्होंने प्रकाशित भी किया है।

—“अखण्ड-ज्योति”, जुन १९७१ के पृष्ठ ३६ से उद्धृत

( ८ )

## टैक्सी-ड्राइवरकी अनुकरणीय ईमानदारी एवं कर्तव्यनिष्ठा

बम्बईमें ५ जूनको एक टैक्सी-चालकको उसकी ईमानदारीके लिये स्वर्णपदक प्रदान किया गया। ऐसा वतलाया गया है कि एक वयस्क दम्पतिने रेलवे-स्टेशन जानेके लिये उसकी टैक्सी भाड़ेपर ली। उनके साथ बक्समें १७ हजार रुपयेके जवाहरात और दूसरा आवश्यक सामान था। किंतु उसे स्टेशनपर टैक्सीमें ही छोड़कर वे उतर गये। दो दिनों बाद चालक तुकाराम विठ्ठलने उन्हें ढूँढ़कर बक्स उनके हवाले कर दिया; क्योंकि उन्होंने बक्सकी खोज करनेके लिये अपनी यात्रा स्थगित कर दी थी।

बम्बईकी एक फिल्म कम्पनीकी ओरसे महाराष्ट्रके मुख्य मन्त्री श्री वी० पी० नायकने उन्हें स्वर्णपदक प्रदान किया।

\* रणवीर आजकल दैनिक मिलाप, दिल्लीके सम्पादक हैं।



# 'कल्याण'के नियम

उद्देश्य-भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित श्रद्धा द्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना (यका उद्देश्य है।

## नियम

(१) भावभक्ति, भक्तचरित, ज्ञान-वैराग्यादि ईश्वर-रक्त, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत भावोत्तरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई प्रयत्न कष्ट न करें। लेखोंको बढ़ाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे भेजा नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें १०.०० रुपये और भारतवर्षसे बाहरके लिये रु० १६.०० (१८ शिलिंग) नियत है। सजिल्द विशेषाङ्कका भारतमें रु० ११.५० तथा विदेशके लिये सजिल्दका २० शिलिंग (१७.८० रुपये) है।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं; किंतु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए पत्रकेके सव अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी रूपमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क सम्पन्न न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पट्टी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका बनाव शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनेके लिये पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया

जायगा। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बरतक प्रतिमास ११ अङ्क मिला करेंगे। सबका मूल्य रु० १०.०० मात्र है। किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल विशेषाङ्कका ही मूल्य १०.०० रुपये है।

(८) ६० पैसे एक संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ६० पैसे वाद दिये जा सकते हैं।

## आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण' की किसीको एजेंसी देनेका नियम नहीं है।

(१०) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(११) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१२) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। बी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१३) प्रेस-विभाग तथा कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १.०० रु० से कमकी बी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१४) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बड़े पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१५) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी संख्या, रुपये भेजनेका उद्देश्य, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१६) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक-"कल्याण", पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक-"कल्याण", पो० गीतावाटिका (गोरखपुर) के नामसे भेजने चाहिये।

(१७) स्वयं आकर लेजाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

(१८) 'कल्याण'के आजीवन ग्राहकका चंदा अजिल्द विशेषाङ्कका रु० १२५.०० तथा सजिल्दका रु० १५०.०० है। ग्राहकके दिवंगत होनेपर यदि 'कल्याण'का प्रकाशन जारी रहा तो सूचना मिलनेपर उसके उत्तराधिकारीको अङ्क जाते रहेंगे।



## संतोंकी अलौकिक महिमा

काम-क्रोध-लोभ-मद-विरहित, शोक-मोह-भय-भ्रमसे हीन ।  
 ज्ञानमूर्ति, निष्कामनिष्ठ अति, पावन परम प्रेम-रस-पीन ॥  
 नित्य शान्ति, आनन्द नित्य ही, तृप्ति नित्य अविचल अत्यन्त ।  
 सर्वभूत-हित-रति स्वाभाविक, समता, ममता-रहित, प्रसन्न ॥  
 वज्रादपि कठोर निजहित जो, परहित कोमल कुसुम समान ।  
 अचल प्रतिष्ठित दैवी सत्पद, नित्य ज्ञान-विज्ञान-निधान ॥  
 जिनमें भरे अखण्ड पूर्ण आनन्द, प्रेम शुचि, निर्मल ज्ञान ।  
 जिनके रोम-रोममें छाये रहते स्वयं नित्य भगवान् ॥  
 जिनके तन-मन-बचन बहाते अविरल भगवद्-रसकी धार ।  
 ऐसे संतोंके पद-कमलोंमें प्रणाम है बारंबार ॥

संत भगवत्स्वरूप होते हैं और उनके पवित्र जीवनसे नित्य-निरन्तर भगवद्-रसकी विश्वपावनी अखण्ड सुवा-वारा प्रवाहित होती रहती है, जो जगत्के जीवोंको मृत्युके भीषण पाशसे मुक्तकर अमृतत्व प्रदान करती है । वे संत ज्ञानके ज्योतिषुज होते हैं और अपने दिव्य प्रकाशसे तमोमय प्राणियोंके अज्ञानान्धकार-को दूरकर उन्हें परमात्माके परम प्रकाशमय स्वरूपमें पहुँचा देते हैं । ऐसे संत जहाँ होते हैं, वह देश धन्य है; जिस जातिमें होते हैं, वह जाति धन्य है; जिस कुल-परिवारमें होते हैं, वह कुल-परिवार धन्य है और जिस कालमें होते हैं, वह काल धन्य है । वस्तुतः ऐसे भगवत्स्वरूप संतोंका जीवन जगत्के जीवोंके कल्याणार्थ ही उत्सर्गकृत होता है । उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता—शरीरसे, जीवनसे । जितने दिन प्रारब्धवश उनका भौतिक शरीर रहता है, उनके द्वारा सहज ही जगत्के जीवोंका कल्याण होता रहता है । ऐसे संत वास्तवमें जाति, सम्प्रदाय, देश आदिकी सीमासे बाहर पहुँचे हुए या इस जागतिक प्रपञ्चके स्तरसे बहुत ऊपर उठे हुए होते हैं । इसीसे वे समदर्शी, समतास्वरूप और निरपेक्ष सर्वकल्याणकारक होते हैं । वे अपने-परायेका भेद न रखकर सबमें भगवान्के दर्शन करते हैं या सबमें आत्मोपलब्धि करते हैं और सबको सुख पहुँचाने तथा सबका हित करनेकी सहज चेष्टा उनके द्वारा होती रहती है । वे अत्यन्त विरक्त होते हुए भी सहज ही जनकल्याणमें प्रवृत्त रहते हैं—उनका जीवन ही सहज जनकल्याणस्वरूप होता है । ऐसे ही संत अपने अस्तित्वमात्रसे विश्वकल्याणके कारण हुआ करते हैं । ऐसे संतोंके श्रीपद-कमलोंमें कोटि-कोटि साष्टाङ्ग प्रणिपात ।

—नित्यलीलाकीन श्रीमार्जुन







हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण, १,६५,०००

## विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, सितम्बर १९७१

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-भगवतीका पराविद्या-रूपमें स्तवन [ संकलित ] ... ११३३	११३३	१३-मुरलीकी तान [ कविता ] ( श्री- भगवतनारायणजी भार्गव ) ... ११६०	११६०
२-कल्याण ... ११३४	११३४	१४-श्राद्धका वैज्ञानिक आधार ( श्रीदेवेश्वर- जी जोशी ) ... ११६१	११६१
३-ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश ( पुराने सत्सङ्गसे ) ११३६	११३६	१५-'मनः शिवसंकल्पमस्तु' ( श्रीराजेन्द्र- प्रसादजी जैन ) ... ११६५	११६५
४-परमार्थकी पगडंडियाँ [ नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमान- प्रसादजी पोद्दार ) के अमृत-वचन ] ... ११३८	११३८	१६-पुरारि ( श्रीसुदर्शनसिंहजी ) ... ११६८	११६८
५-आत्मचिन्तनकी रीति ( अनन्तश्री स्वामी श्रीखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज ) ११४२	११४२	१७-वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता ( डॉ० श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा एम० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी० ) ... ११७०	११७०
६-आनन्दकी अनुभूति ( श्रीश्याममनोहरजी व्यास, एम० एस्-सी० ) ... ११४५	११४५	१८-पशु-पक्षी एवं जीव-जन्तु भी परोपकारी होते हैं ( श्रीपुरुषोत्तमप्रसादजी मिश्र, बी० ए०, विज्ञानरत्न ) ... ११७४	११७४
७-गीताका भक्तियोग-६ ( पूज्य स्वामीजी श्रीराममुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या ) ... ११४६	११४६	१९-पीपलका वृक्ष ( डा० गोपालप्रसाद- जी 'वंशी' ) ... ११७७	११७७
८-आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ ... ११४९	११४९	२०-हमीद खाँ भाटी ( श्रीरामेश्वरजी टाँटिया ) ... ११८०	११८०
९-मूढ़ता ( साधुवेषमें एक पथिक ) ... ११५२	११५२	२१-श्रीभगवान्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना ( चिम्मनलाल गोस्वामी ) ... ११८२	११८२
१०-मनुष्य-जन्म देनेके लिये है, लेनेके लिये नहीं ( स्वामी श्रीविवेकानन्दजी ) ११५३	११५३	२२-परमार्थ-पत्रावली ( ब्रह्मलीन परम- श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र ) ... ११८६	११८६
११-श्रीश्रीचन्दनेश्वर ( श्रीशक्तिप्रसाद पाल ) ११५४	११५४	२३-पढ़ो, समझो और करो ... ११८८	११८८
१२-श्रीभुवनेश्वरी देवीका शाश्वत सार्व- भौम राज्य ( पं० श्रीकुबेरनाथजी शुक्ल ) ... ११५६	११५६		

## चित्र-सूची

१-श्रीमहालक्ष्मी	( रेखाचित्र )	... मुखपृष्ठ
२-पराविद्यास्वरूपा भगवती दुर्गा	( तिरंगा )	... ११३३

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.०० } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ } साधारण प्रति भारतमें ६० पैसे  
विदेशमें १६.०० ( १८ शिल्लिंग ) } विदेशमें ६० १.०० ( १५ पैसे )

आदि सम्पादक—नित्यलालालान श्राहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



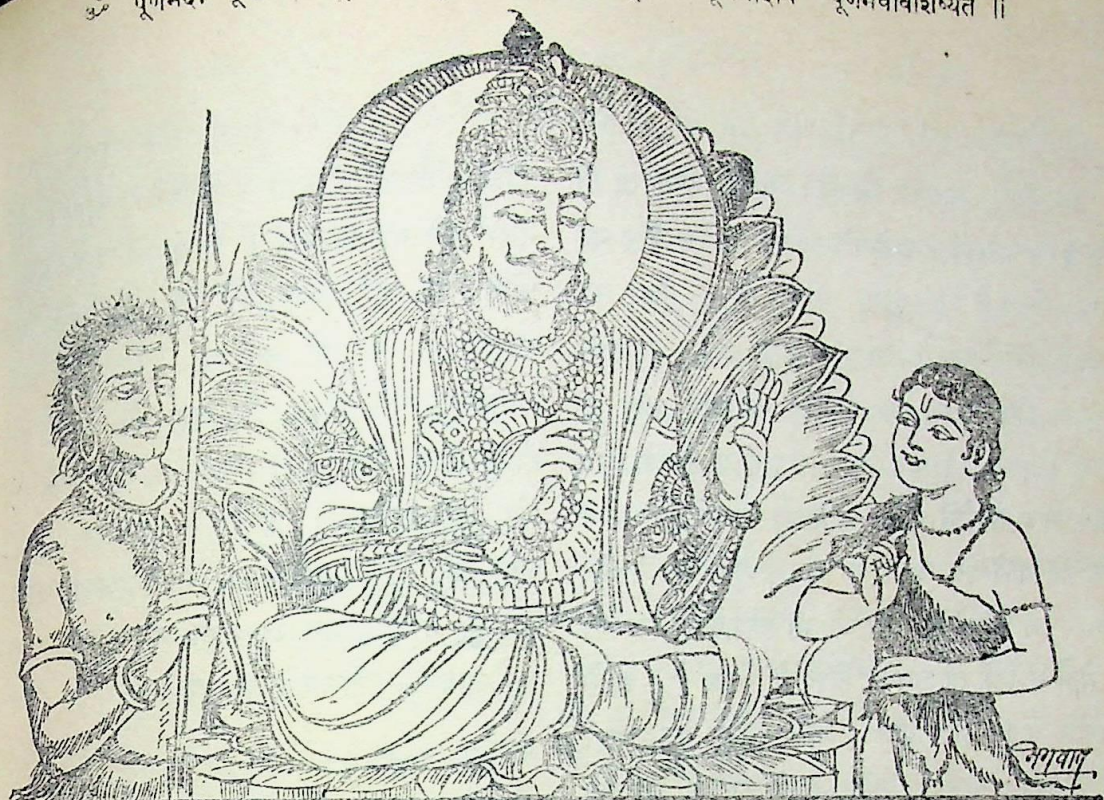






पराविद्यास्वरूपा भगवती दुर्गा





# कल्याण

अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

( अमिपुराण )

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, सितम्बर १९७१ { संख्या ९  
पूर्ण संख्या ५३८

## भगवतीका पराविद्या रूपमें स्तवन

या मुक्तिहेतुरविचिन्त्यमहाव्रता त्व-

मभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः ।

मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषै-

र्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवि ॥

( श्रीदुर्गासप्तशती ४ । ९ )

देवि ! जो मोक्षकी प्राप्तिका साधन है, अचिन्त्य महाव्रतस्वरूपा है, समस्त दोषोंसे रहित, जितेन्द्रिय, तत्त्वको ही सार वस्तु माननेवाले तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले मुनिजन जिसका अभ्यास करते हैं, वह भगवती परा विद्या आप ही हैं ।



## कल्याण

ज्ञानयोगके साधनमें मनके संयमको प्रधानता दी गयी है । उसमें 'मनोनाश'तकका आदेश है । यह सर्वथा उचित है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदिका आत्यन्तिक परित्याग हो जाय; किंतु अनुभवसे यह ज्ञात होता है कि इन दोषोंका परित्याग बड़ा ही कठिन है । अतएव भक्तोंने आदेश दिया है कि इन दोषोंके नाश करनेमें अपनी शक्तिका उपयोग न करके इनके विषयको बदल दिया जाय । मन, इन्द्रिय और शरीर—इन तीनोंके द्वारा जो भी क्रियाएँ हों, उनको हम रोक न सकें तो उनके विषयको बदल दें । इससे सरलतासे काम हो जायगा । जैसे मनका संयम नहीं होता, मनको मारनेकी शक्ति हममें नहीं है तो क्या करें ? इसका उत्तर है कि अपने मनको भगवान्‌के रूपकी स्मृतिमें लगा दें । मनका संयम करनेका प्रयत्न मत कीजिये, मनको रोकिये मत, प्रत्युत मनकी वृत्तिके प्रवाहको चलने दीजिये,—वह कभी रुके नहीं; पर उस वृत्तिका प्रवाह भगवान्‌की ओर हो जाय । गङ्गाकी धारा जबसे प्रवाहित हुई, तबसे आजतक रुकी है क्या ? न जाने किस कालसे वह अनवरत बही चली जा रही है और न जाने कबतक बहती चली जायगी । इसी प्रकार हमारे चित्तकी वृत्तिधारा रुके नहीं—वृत्तियोंको रोकनेकी आवश्यकता नहीं, उन्हें चलने दिया जाय । पर उन्हें चलने दिया जाय केवल भगवान्‌के रूप-समुद्रकी ओर । अर्थात् जो मन संसारके भोगोंमें लगा है, उसे भगवान्‌में लगा दें । मन सौन्दर्य देखना चाहता है, पर भगवान्‌ जितने सुन्दर हैं, उतना कोई सुन्दर नहीं; वह ऐश्वर्य देखना चाहता है, भगवान्‌के समान ऐश्वर्य कहीं भी नहीं । जो कुछ भी पूर्णसे पूर्णतम है और जो अनन्त है, वह सब भगवान्‌में है । बस, मनको भगवान्‌में लगा दें ।

आप कहेंगे, 'हमारे मनसे कामना जाती नहीं ।' बड़ी अच्छी बात है । कामनाका कभी नाश मत

कीजिये; भगवान्‌से कभी मत कहिये कि 'हमारी कामनाका नाश आप कर दीजिये ।' भगवान्‌से यही कहिये—'नाथ ! आपका स्मरण होता रहे और आपके स्मरणकी कामना निरन्तर बनी रहे ।' भगवान्‌के स्मरणकी कामना इतनी प्रबल हो जाय कि उसकी पूर्ति न होनेपर मन बेचैन हो जाय । जैसे भोगोंमें रचे-पचे लोग भोग-कामनाकी पूर्ति न होनेपर क्षुब्ध हो जाते हैं, वैसे ही भगवान्‌के स्मरणकी कामनाकी पूर्ति न होनेपर मन क्षुब्ध हो जाय—परम व्याकुलता जग जाय—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता ।'

क्रोध नहीं छूटता—इसकी चिन्ता मत कीजिये । क्रोधको रहने दीजिये । अपने द्वारा जो बुरे आचरण होते हैं, अपने द्वारा जो बुरे विचार होते हैं, अपने द्वारा जो भगवान्‌की अवहेलना होती है, अपने द्वारा जो अवैध कर्म होते हैं, उनके प्रति क्रोध कीजिये, खूब कीजिये । अपने दोष कभी सहन न हों, उनकी तनिक-सी छाया भी दिखायी पड़ते ही उनके प्रति क्रोधका भाव जग जाय । जो व्यक्ति अपने दोषोंको सह लेता है, वह सहिष्णु नहीं है, वह दोषोंका गुलाम है । दूसरोंके दोषोंको सहना चाहिये, पर अपने दोषोंको कभी क्षमा न करे । अपने दोषोंको कभी सहन न करे । जरा-सा भी दोष आता दीखे तो तत्काल सावधान हो जाय और यह सोचे कि यह आगकी चिनगारी है । आगकी चिनगारी जहाँ-कहीं लग गयी, वहाँ प्रचण्ड अग्नि बनकर सबको भस्म कर देनेमें देर नहीं लगायेगी । अतएव अपने दोषकी, अपने अपराधकी जरा-सी भी कहीं कोई बात दिखायी दे तो उसपर क्रोध कीजिये, उसकी हिंसा कीजिये, उसे मारनेकी चेष्टा कीजिये । इस प्रकार क्रोधको रोकनेकी आवश्यकता नहीं—अपने दुर्गुणोंपर क्रोध कीजिये, अपने दुष्कृत्योंपर क्रोध



कीजिये, अपनी दुर्भावनाओंपर क्रोध कीजिये । भगवान्‌की विस्मृति कर देनेवाले चित्तपर क्रोध कीजिये और उससे कहिये—‘ये चित्त ! तू या तो नष्ट हो जा या भगवान्‌का स्मरण कर ।’ ये प्राण भगवान्‌के स्मरणमें लगें, नहीं तो चले जायँ ।

लोभके भी नष्ट होनेकी आवश्यकता नहीं है । लोभनीय वस्तु एक ही है—भगवान् । संसारकी किसी भी वस्तुका आप लोभ कीजिये, उसके प्राप्त होनेके बाद वह लोभनीय नहीं रहेगी । वास्तविक लोभनीय वस्तु वह है, जिसके मिलनेपर भी मिलनेकी आतुरता बनी रहे । वह वस्तु है—एकमात्र भगवान् । अतएव भगवान्‌के दर्शनका लोभ कीजिये । कभी जरा-सी शंका हो जाय तो उससे तृप्त न होइये । निरन्तर भगवान्‌के दर्शनकी लालसा बनी रहे, उससे कभी संतुष्टि हो ही नहीं ।

मोहके भी त्यागकी आवश्यकता नहीं है । मैया यशोदाकी भाँति निरन्तर भगवान्‌के लालन-पालन-सेवा-शुश्रूषामें लगे रहिये । मैया यशोदासे किसीने कहा—‘मैया ! तुम्हारे यह लाला क्या हुआ, तू तो मोहमें पड़ गयी । इसके होनेसे पूर्व तो तू वैराग्यकी चर्चा किया करती थी, पर अब तो तुझे रात-दिन यही चिन्ता लगी रहती है कि दही ठीक जमा कि नहीं ? ठीकसे मन्थन हुआ कि नहीं ? मक्खन अच्छा निकला कि नहीं ? लालाके लिये वस्तुएँ सँजोनेमें ही तू रात-दिन लगी रहती है ।’ मैयाने उत्तर दिया—‘भगवान् नारायणकी श्वासे मेरा यह मोह निरन्तर बना रहे ।’ बस, इसी प्रकार हम भी भगवान्‌की सेवामें मोह करें । रात-दिन भगवान्‌की सेवाकी चिन्ता बनी रहे, भगवान्‌की सेवाका मोह समस्त दूसरे मोहोंको खा जाय और कभी यह मोह छूटे ही नहीं ।

मद बड़ी बुरी चीज है; पर ‘हम भगवान्‌के हैं’—यह अभिमान निरन्तर बना रहे—

अस अभिमान जाइ जनि भोरें । मैं सेवक रघुपति पति मोरें ॥

सबसे बड़ा दोष है—वासना । वासना जबतक रहती है, तबतक मुक्ति नहीं होती । अतएव वासनाका क्षय होना चाहिये । पर भक्तलोग कहते हैं—‘हमारी वासनाका कभी क्षय न हो ।’ वे सदा यह मनाते हैं कि भगवान्‌को, अपने प्रिय लालाको, सखाको देखनेकी, उनके साथ खेलनेकी, उनके साथ रसालाप करनेकी, उनका स्मरण करनेकी, उनकी सेवा करनेकी हमारी वासना निरन्तर बनी रहे । यह वासना नष्ट हो गयी तो फिर क्या हुआ, कुछ भी नहीं । अतः यह वासना निरन्तर बनी रहे ।

इस प्रकार अपनी समस्त इन्द्रियोंको और इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण विकारोंको—काम, क्रोध, लोभ आदिको भगवान्‌के साथ जोड़ दिया जाय तो ये सब साधन बन जाते हैं । जहाँ भगवान्‌की स्मृति मनमें आयी—जहाँ भगवान् मनमें आकर बैठ गये, वहाँ जगत्‌के हटनेमें विलम्ब नहीं होगा । वैसे जगत्‌को हटाने चलेंगे तो उसकी स्मृति और अधिक तीव्र होगी । हम जिस वस्तुको हटाना चाहते हैं, वह बार-बार याद आती है । इसको हटाना है, इसको हटाना है—ऐसा चिन्तन होनेसे वे वस्तुएँ हटानेके नामपर और अधिक याद आयेंगी । संसारकी स्मृति हटानेसे नहीं हटेगी । अतएव संसारकी स्मृतिके स्थानपर भगवान्‌की स्मृतिको लाकर बैठा दीजिये, संसार अपने-आप निकल भागेगा—

जो तोहि राम लागते मीठे ।

तौ नवरस षट्स रस अनरस द्वै जाते सब सीठे ॥

—जहाँ रामका मिठास आया कि काव्यके नवरस और भोजनके षट्स—सब फीके हो जायँगे । बस, यही करना है ।



# ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश [ पुगाने सत्सङ्गसे ]

## राम ते अधिक राम कर दासा

भगवान्की अपेक्षा भी भगवान्के भक्त किसी अंशमें ऊँचे माने जा सकते हैं। भगवान्की प्राप्तिके लिये सङ्ग, आज्ञाके अनुकूल आचरण, ध्यान, शरणागति एवं सेवा—ये पाँच मुख्य साधन हैं। परंतु इन पाँचोंका भगवान्के प्रति प्रयोग करना कठिन है। भक्तके प्रति इनका प्रयोग सुगमतासे किया जा सकता है। फल दोनोंका एक ही है। जो पतिव्रता स्त्री निष्काम-भावसे पतिके प्रति इन पाँचों बातोंका प्रयोग करती है, वह परमात्माको पा सकती है। इसी प्रकार साधक भी परमात्माके सच्चे भक्तके प्रति इन पाँचोंका प्रयोग करके परमात्माको पा सकता है।

इन पाँचों बातोंको भगवान्की अपेक्षा भक्तके प्रति करनेमें साधकको सुगमता होती है। इस बातको इस प्रकार समझना चाहिये—

१—भगवान्का सङ्ग साधकको नहीं मिल सकता, पर भक्तका सङ्ग सुलभ हो सकता है।

२—भगवान्की प्रत्यक्ष आज्ञा नहीं मिल सकती, शास्त्रोंको ही भगवान्की आज्ञा मानना पड़ता है; परंतु भक्तसे प्रत्यक्षरूपमें आज्ञा प्राप्तकर तदनुकूल आचरण किया जा सकता है।

३—भगवान्की वास्तविक मूर्ति, उनका आँखों देखकर बनाया हुआ चित्र या फोटो नहीं मिलता। अतएव ध्यान करते समय मनमें ऐसी आशङ्का रह सकती है कि 'न जाने भगवान्का' ऐसा ही स्वरूप है या नहीं।' परंतु भक्तको हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं; अतएव उनका ध्यान निस्संदेह रूपसे किया जा सकता है।

४—भगवान्की शरण प्रत्यक्षरूपमें नहीं मिलती, पर भक्तकी मिल सकती है।

५—सेवा भी भगवान्की प्रत्यक्षरूपमें नहीं मिलती, मूर्तिकी ही सेवा होती है। यद्यपि साधककी भावनाके अनुसार मूर्तिके रूपमें भगवान् ही हैं, तथापि साधककी मूर्तिमें प्रतीक या प्रतिनिधिकी भावना रहती है। ये साक्षात् भगवान् हैं—ऐसी भावना कठिन होती है; परंतु भक्तका प्रत्यक्ष दर्शन करके साधक उनकी सेवा कर सकता है।

इस प्रकार भगवान्का सच्चा भक्त भगवान्से बढ़कर है। पर सच्चे भक्त उपर्युक्त पाँच बातोंमेंसे सङ्ग एवं अनुकूल आचरणको छोड़कर शेष तीन बातोंका प्रयोग अपने प्रति करनेका निषेध करते हैं।

## दम्भ और ईर्ष्याके निराकरणके उपाय

दम्भ और ईर्ष्या साधनामें महान् बाधक हैं। इनके निराकरणके लिये पहला उपाय है—इनमें व्याज्यबुद्धि होनी अर्थात् ये हमारे लिये सर्वथा हानिकारक हैं, यह भाव होना। दूसरा उपाय है—एकान्तमें बैठकर बार-बार ईश्वरके आगे रुदन करना—'हे परमात्मा! विचारके द्वारा इन सबको मैं हटाना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि ये दोष मुझमें न रहें। पर मन बड़ा शैतान है। वह दोषोंको छोड़ता नहीं है। विवेक-विचारके द्वारा मैं तो यह चाहता हूँ कि ये दोष मेरेमें न रहें, किंतु मनको ये अमृतके समान प्रिय लगते हैं—दुनियामें उनसे बढ़कर कोई चीज मनको अच्छी नहीं लगती। ऐसी स्थितिमें हे नाथ! मैं आपके शरण आया हूँ। सिवा आपके इन दोषोंके नाशका कोई उपाय नहीं देखता हूँ। आप कृपा करके इनसे मुझे छुटकारा दिलवाइये।'



उस प्रकार अपने दोष देख-देखकर भगवान्‌के सम्मुख निवृत्तिके लिये जिस प्रकार एक आस्तिक व्यक्ति भगवान्‌के सम्मुख रोता है, वैसे ही इन दोषोंके निवारणके लिये रोना चाहिये। जैसे लज्जा वचानेके लिये द्रौपदीने भगवान्‌को पुकारा था, उसी प्रकार हमें भी द्रौपदीने भगवान्‌को पुकारा चाहिये। जैसे भगवान्‌के विरहमें गोपियाँ पुकार लगानी चाहिये। जैसे भगवान्‌के विरहमें गोपियाँ पुकार लगानी चाहिये—‘हे प्रभो ! मैं इसी प्रकार हमें पुकार लगानी चाहिये—‘हे प्रभो ! मैं रोना हो गया। मैं आपका सेवक हूँ, आप बचाइये। हे हरि ! हे नारायण !! आपके रहते आपके सेवककी यह दशा हो रही है।’ अपने दोषोंके नाशके लिये यह बड़ा उत्तम उपाय है।

ज्ञान भी इन दोषोंकी निवृत्तिका एक उपाय है। जो कुछ दीख रहा है, वह सर्वथा मिथ्या है—मयामय है। मरुभूमिमें जैसे बिना हुए जल दीखता है, उसी प्रकार यह संसार बिना हुए ही दीखता है। सिनेमाके पर्देपर आनेवाले चित्रोंकी तरह इस संसारको समझना चाहिये। एक विज्ञानानन्दधन परमात्माकी स्तुति ही अनुभव करना चाहिये। इस साधनसे भी इन दोषोंका नाश सम्भव है।

### इन बातोंपर ध्यान देना चाहिये—

साधनामें सफलता मिले, इसके लिये कुछ विशेष बातोंपर ध्यान देना चाहिये, जिनमेंसे कुछ ये हैं—

( १ ) सांसारिक कार्य—जैसे व्यापारादि रुपये कमानेके उद्देश्यसे करनेसे मन उनमें रम जाता है। इसलिये ऐसे कार्य बहुत सावधानीसे भगवत्प्रीतिके लिये करने चाहिये और वे भी विशेष नहीं; क्योंकि विशेष

कार्य करनेसे उद्देश्य परिवर्तित होनेका भय रहता है।

( २ ) सांसारिक वस्तुओं एवं पुरुषोंका सङ्ग कम करना चाहिये तथा सांसारिक विषयोंकी बात भी कम करनी चाहिये।

( ३ ) बिना पूछे किसीके अवगुण नहीं बताने चाहिये। उत्तम तो यह है कि दूसरेके अवगुणोंकी तरफ ध्यान ही न दिया जाय।

( ४ ) सबसे निष्काम और सम भावसे प्रेम करना चाहिये।

( ५ ) भगवान्‌के नामका जप निरन्तर होता रहे, इसका अभ्यास करना चाहिये। नामजपको कभी छोड़ना नहीं चाहिये। जो इसमें बाधक हों, उन्हींको छोड़कर प्रेमसहित नामजपका निरन्तर अभ्यास बना रहे, ऐसा ही प्रयत्न सर्वश करना चाहिये। भगवान्‌के नामजपमें इतना तल्लीन हो जाय कि भगवान्‌के दर्शनकी भी परवा न रहे।

( ६ ) किसी परिस्थिति-विशेषकी अपेक्षा न रखे, यहाँतक कि अपने शरीरके निर्वाहकी भी परवा नहीं करनी चाहिये। शरीरमें अङ्गकार रहनेसे उसका निर्वाह करनेकी चिन्ता होती है। इस दायित्वको भगवान्‌पर छोड़कर निश्चिन्त हो जाना चाहिये।

एक दिन मृत्यु अचानक आ जायगी और हम कुछ भी नहीं कर सकेंगे। यहाँसे अचानक विदा होना पड़ेगा। इसीलिये जबतक मृत्यु दूर है और यह शरीर नीरोग है, तबतक जो करना हो, सो कर लेना चाहिये। नहीं तो बड़ी फजीहत होगी। बड़े खतरेकी बात है। लाख रुपये खर्च करनेपर भी एक मिनट नहीं मिलेगा। ऐसे अमूल्य समयको मिट्टीमें नहीं मिलाना चाहिये।



## परमार्थकी पगडंडियाँ

[ नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) के अमृत-वचन ]

वह मनुष्य सचमुच अभागा है, जिसका मन भगवान्‌को भूलकर संसारके प्राणि-पदार्थोंमें आसक्त रहता है—

सुनहु उमा ते लोग अभागी । हरि तजि होहिं विषय अनुरागी ॥

जिसका मन संसारके प्राणि-पदार्थोंमें अटका नहीं है, जो मनसे भगवान्‌में प्रेम करना चाहता है, वह पवित्र मनवाला पुरुष अभागा कैसे ? एक वही तो असली भाग्यवान् या सौभाग्यशाली है—

रमा बिलास राम अनुरागी । तजत बसन जिमि नर बड़भागी ॥

अहह धन्य लछिमन बड़भागी । राम पदारविंदु अनुरागी ॥

जो मनुष्य रामका होकर या रामका होनेकी इच्छावाला होकर भी अपनेको अभागोंमें मानता है, वह भूलसे रामका तिरस्कार करनेवाला होता है ।

×

×

×

×

तुम मनसे भी किसीका बुरा नहीं सोचना चाहते हो, वाणी और व्यवहारसे तो किसीका बुरा करते ही नहीं, यह बहुत ही उत्तम तथा भगवान्‌का प्रीति-सम्पादन करनेवाली बात है ।

जिस प्रेममें किसी लौकिक, पारलौकिक कामना-वासनाका कलङ्क नहीं होता, जो शुद्ध तथा सूक्ष्म होता है, वह प्रतिदिन-प्रतिक्षण बढ़ता ही जाता है ।

मनुष्यको कभी यह नहीं सोचना चाहिये कि वह भगवान्‌का नहीं है । तुम भगवान्‌के हो, भगवान् सदा तुम्हारे हैं, उनपर तुम्हारा पूर्ण अधिकार है—इसमें जरा भी संदेह कभी नहीं करना चाहिये । भगवान् तो प्राणिमात्रके सहज सुहृद् हैं—

‘सुहृदं सर्वभूतानाम्’ ।

×

×

×

×

भगवत्कृपाका आश्रय करनेपर जीवनमें कभी कोई अपवित्रता, मलिनता, काम-क्रोधादि विकारोंके कारण होनेवाले दोष आदि नहीं आ सकते । भगवत्कृपासे अपने-आप वह सारी बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयोंसे पार होता जाता है ।

किसी भी बहाने कुछ भगवत्स्मृति तथा भगवच्चर्चा हो जाय, यह सौभाग्य समझना चाहिये । विषय-चर्चा बड़ी सुखकर होनेपर भी परम हानिकर है तथा भगवच्चर्चा कहीं कुछ कठिन प्रतीत हो तो भी परम कल्याणमयी है ।

भगवान्‌की अनन्त कृपा है—सभीपर है । उस कृपाका सदा अनुभव होता रहे तो मनुष्य कभी भी किसी भी हालतमें दुखी नहीं हो सकता । भगवत्कृपाकी ओर न देखकर मनुष्य संसारके प्राणि-पदार्थोंकी ओर देखता है तथा उनसे सुखी होना चाहता है, इसीसे उसको बार-बार दुःखोंका भोग करना पड़ता है; क्योंकि इनमें दुःख ही भरा है । सारी सुख-शान्ति तो एकमात्र श्रीभगवान्‌में है—आत्मामें है ।

×

×

×

×



मनुष्यका शरीर अत्यन्त क्षणभङ्गुर है—कमलके पत्तेपर जलकी बूँदके समान है। जरा-सा हिलते ही समाप्त। संसारका यही नग्न रूप है। इसे देखते हुए भी संसारसे वैराग्य नहीं होता—यही हमारा बड़ा दुःख है। संसारमें, वस, एक भगवान् ही सार हैं।

जगत्का स्वरूप तो सामने है; परन्तु यह निश्चय समझो कि इसमें सब जगद् भगवान् व्याप्त हैं और सर्वत्र भगवान्की लीला हो रही है। लीलामें सृजन भी होता है, संहार भी। दोनोंमें भगवान्की लीला करनी चाहिये।

जगत्से उपरति और भगवान्की अखण्ड स्मृति—ये ही दो चीजें जीवनमें आनी चाहिये।

संसारको भूल जाय और भगवान् निरन्तर याद रहें—यही तो करना है। पर यह भगवान्की कृपासे ही होगा।

प्रभुके प्रेमको कोई भी अपनी शक्ति-सामर्थ्यसे नहीं प्राप्त कर सकता, यह सर्वथा सत्य है; प्रभुकृपा-से ही प्रेम मिलता है; पर प्रभुकृपा तो अनन्त है ही। उसपर विश्वास करना चाहिये। प्रभु नहीं सुनते, यह बात नहीं है। वे सब सुनते हैं, पूरा सुनते हैं, पर करते हैं अपने मनकी; क्योंकि वे वही करते हैं, जिसमें हमारा यथार्थ हित होता है। अतएव हमको उनके मङ्गलविधानमें सदा संतुष्ट तथा प्रफुल्लित रहना चाहिये।

अपना सारा प्रयोजन प्रभुसे ही होना चाहिये और उन्हींके नाते संसारके प्राणि-पदार्थोंसे प्रभु-प्रेम ही केवल सेवाका सम्बन्ध होना चाहिये। प्राणि-पदार्थोंसे सुखकी आशा नहीं है, यह ठीक है, परन्तु वे सुख दें तो भी प्रभुके सम्बन्धसे ही उनसे सम्बन्ध होना चाहिये।

प्रेमके राज्यमें अपनेमें श्रुति दिखायी देती है और श्रुति ही दिखायी देनी चाहिये। प्रेममें कभी पूर्णता होती ही नहीं। परन्तु प्रेम वही यथार्थमें प्रेम होता है, जो केवल भगवान्से हो। भगवान् ही एकमात्र प्रेम करनेयोग्य हैं। जो मनुष्य भगवान्का आसन लेना चाहता है, वह तो नीच है ही; लोगोंको धोखा देनेके साथ ही वह स्वयं भी धोखा खाता है।

हमारे सबके परम सुहृद् श्रीभगवान् सदा-सर्वदा सर्वत्र विराजमान हैं, वे नित्य तुम्हारे पास रहते हैं—इस बातपर विश्वास करके उनकी मधुरतम संनिधिका नित्य अनुभव करो। पहले ऐसी दृढ़ भावना करो; फिर अनुभूति होगी।

दयामय तो सिर्फ भगवान् ही हैं, जिनकी दया सदा, सर्वत्र, सबके लिये बरस रही है।

तुम्हारी भगवान्की ओर लगनेकी जो सच्ची लगन है, तुम्हारा दिन-रात अखण्ड भजन करनेका जो मनोरथ है, वह भगवान्की परम प्रसन्नताका हेतु है। जिसपर भगवान् प्रसन्न हैं, जिसपर भगवान्की कृपा है; उसके सारे विघ्नोंका नाश और सारी अनुकूलताओंकी प्राप्ति अपने-आप हो जाती है—

गह्व सुमेध रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही ॥  
तुम विश्वास करो, तुमपर भगवान्की बड़ी कृपा है। भगवान्की कृपासे तुम्हें उनपर विश्वास करके



निश्चिन्त और निर्भय हो जाना चाहिये और किसी भी हालतमें अपनी इस निर्भय तथा निश्चिन्त स्थितिसे जरा भी विचलित नहीं होना चाहिये।

x

x

x

x

हम कहीं भी रहें—भगवान् हमारे बड़े परम सुहृद् हैं, सदा-सर्वत्र हमपर कृपा-दृष्टि रखते हैं। तुम निरन्तर सब स्थितियोंमें सर्वत्र उनकी कृपाके मङ्गल दर्शन करते रहो और प्रसन्नताका स्रोत सदा तुम्हारे मनमें बढ़ता रहे। यह भगवत्-प्रसाद तुम्हारी सारी व्यथाओं और सारे दुःखोंका नाश कर देगा—‘प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।’ उनकी कृपा सारी दुर्गन्धेणियोंसे पार लँघा देती है, चाहे वे कठिनाइयोंके किले कितने ही ऊँचे और दुर्लङ्घनीय क्यों न हों—‘सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।’

x

x

x

x

साधनका अभिमान करके साधन नहीं करना चाहिये। भगवत्प्रीतिके लिये तथा भगवत्प्रीतिके प्रेरणासे की जानेवाली प्रत्येक चेष्टा ही साधन है। साधनका भरोसा नहीं करना है, भरोसा करना है—भगवत्कृपाका।

x

x

x

x

प्रभु-प्रेम हृदयकी वस्तु है, गुप्त ही रहना चाहिये; तभी उसका मूल्य होता है। परंतु बात चेष्टाओंसे कुछ तो अनुमान हो ही जाता है। जैसे वह किसी मन्दिर, तीर्थस्थान या महात्माके आश्रममें जाता है, भगवान्की बात सुनता है, कुछ पाठ-पूजा करता है—इससे लोग यह अनुमान कर लें कि वह प्रभुका भजन करता है, प्रभुप्रेम चाहता है तो इसमें कोई आपत्तिकी बात नहीं है। हाँ, अपनी ओरसे प्रेमका ढिंढोरा नहीं पीटना चाहिये।

प्रेम वाणीकी वस्तु नहीं है, प्रेम उत्तरोत्तर बढ़नेवाला होता है। प्रेमका स्वरूप बतलाते हुए नारदजी कहा है—‘प्रेम अनिर्वचनीय है, गूँगेके स्वादकी तरह वह बतलाया नहीं जा सकता। वह गुण नहीं देखा जाता, उसमें कामनाका लेश भी नहीं रहता, उसका तार कभी टूटता नहीं तथा वह बड़ा सूक्ष्म होता है।’ जो मिलता और रुकता है, वह तो प्रेम ही नहीं है। ऐसा प्रेम एकमात्र भगवान्से ही हो सकता है। उत्तरोत्तर बढ़नेवाला प्रेम सदा यही दिखलाता है कि मेरा प्रभुके चरणोंमें प्रेम कहाँ है। मेरे प्रेममें तो कमी-ही-कमी है।

अपने प्रेममें कमी दिखायी देना तो प्रेमका लक्षण है। पर प्रेमास्पद प्रभुका हमारे प्रति असीम प्रेम है—इसमें कभी भूलकर भी संदेह नहीं करना चाहिये। वे तो नित्य ही हमारे सहज सुहृद् हैं, अहैतुक प्रेमी हैं। हम उनके प्रेमका अनुभव करें तथा सदा प्रफुल्लित रहें। प्रभुप्रेम प्रभुकी कृपासे ही मिलता है और वह कृपा सदा-सर्वदा हमपर है ही—हम इसपर विश्वास करें और कृतार्थ हो जायँ।

सच्चे प्रेमका ज्यों-ज्यों विकास होता है, त्यों-त्यों भय, सम्भ्रम, सम्मान, मर्यादा, पूज्यभाव और हटने लग जाते हैं। ये मरते नहीं, रहते हैं, दिव्य भावसे रहते हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इनमें मधुर भावमें दास्य, सख्य, वात्सल्य—तीनों रहते हैं और समय-समयपर इनकी क्रिया भी होती है परंतु मधुर भावकी प्रधानतासे वहाँ इतनी समीपता हो जाती है कि भगवान्के साथ भक्त चाहे जैसा विनोद करता है, उन्हें चाहे सो कह देता है, चाहे जैसा बर्ताव कर बैठता है—अपने चरणोंतकका उनसे उच्चाङ्गसे स्पर्श करा देता है, उनके द्वारा की हुई मान-पूजा ग्रहण कर लेता है, उनकी भर्त्सना करता है, उनका असत्कार करता है, उन्हें निकलवा देता है; पर यह सब करता है—मनमें अत्यन्त सम्मान, अत्यन्त



संख्या ९ ]

पूज्य भाव, अत्यन्त आदर रखते हुए ही करता है केवल उनके सुखार्थ ही। मान करता है, पर सदा मानरहित किकर है; क्रोध करता है, पर सदा अक्रोधहीन—दीन है; अवज्ञा करता है, पर सदा पुजारी है। अत्यन्त विलक्षण भाव है। कोई मधुरभावका प्रेमी ही इसको समझता है और अनुभव कर पाता है। इसकी नकल नहीं हो सकती। ऐसा नकली आचार पाप है, गिरानेवाला है। मधुर प्रेमका ऐसा असली आचार पवित्र दिव्य प्रेमका आनन्दविलास है और वह प्रभुके सुखको नित्य बढ़ानेवाला है। प्रभु भी नित्य निष्काम, आप्तकाम, पूर्णकाम होते हुए ही इस प्रेमकी मधुररस-धाराओंका स्वाद लेनेके लिये अत्यन्त सकाम—कामवश हो जाते हैं। परन्तु उनकी यह सकामता—कामवशता उनका स्वरूप ही होता है; अतएव वह लौकिक कामका नाश करनेवाली होती है। लौकिक काम अन्धकारमय नरक है, यह 'काम' नामक पवित्र प्रेम निर्मल प्रकाशमय भगवत्स्वरूप है। यह 'काम' जिस भक्तमें पैदा होता है, भगवान् उसके उस 'काम'का रसास्वादन करनेके लिये अपना सब कुछ भूलकर उस भक्तके वशमें हो जाते हैं और उसकी भगवद्दिच्छामयी इच्छाका अनुसरण करते हैं। भगवान् और भक्तकी यह पवित्रतम लीला ही यथार्थ 'रास' है। यह दिव्य, चिन्मय, वासना-कामना-राज्यसे सर्वथा अतीत, अत्यन्त विलक्षण, मुनिगणवाञ्छित, श्रुतिगणवाञ्छित, परमहंसगणवाञ्छित, देवदुर्लभ और भुक्ति-मुक्तिकी कल्पनासे परेकी वस्तु है।

x

x

x

x

x

चातक और मछलीका प्रेम प्रसिद्ध है। ये प्रेमके बहुत अच्छे उदाहरण हैं। हमलोगोंको प्रभुके प्रति ऐसा ही प्रेम करना चाहिये। अवश्य ही भगवान् जल और मेघकी भाँति जड़ नहीं हैं और न असमर्थ ही हैं। इसीसे भगवान्पर विश्वास करके उन्हें चाहने तथा पुकारनेकी बात कही जाती है। यह सत्य है कि प्रभु सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वनियन्ता, सर्वदर्शी और सर्वाध्यक्ष हैं; परन्तु वे जहाँ प्रेमियोंके प्रेमास्पद हैं, वहाँ उनके सारे ऐश्वर्य अप्रकट हो जाते हैं। वहाँ तो केवल रस-ही-रस रह जाता है, रसमय प्रभु रसका 'रास' करते हैं, परन्तु वह ऐश्वर्य तथा यह रसपूर्ण माधुर्य केवल भगवान्में ही हैं। किसी मनुष्यमें किसी मनुष्यका निःस्वार्थ तथा निष्काम प्रेम हो सकता है और ऐसा प्रेम पवित्र होनेके कारण प्रभुकी या प्रभुके प्रेमकी प्राप्तिमें सहायक होता है। परन्तु इससे कोई मनुष्य भगवान्के पदपर प्रतिष्ठित नहीं हो सकता और न उसे प्रतिष्ठित करना ही चाहिये।

x

x

x

x

x

'मनमें अपार सुख-शान्ति भरी है, जीवन सुखमय है'—तुम्हारे इस वाक्यको पढ़कर बड़ी ही प्रसन्नता हुई। सारी सुख-शान्ति प्रभुके पादपद्मोंकी रज वन जानेमें है। जगत्के प्राणि-पदार्थोंमें कहीं सुख-शान्ति है ही नहीं। इनके त्यागमें—इनकी वासना-कामनाके समूल त्यागमें ही वास्तविक सुख-शान्ति है। भूल यह होती है कि कभी-कभी हमारी भोग-वासना या इन्द्रिय-सुखकामना बहुत धोखा देती है और वह भगवत्सुख-कामनारूप दिव्य प्रेमका स्वाँग बनाकर हमें ठग लेती है। उस चतुर ठगिनीसे सदा सावधान रहना चाहिये। भोग-वासनाका त्याग होनेपर ही भगवदनुरागका रंग खिलता है और सच्चे भगवदनुरागसे ही भोग-विराग होता है। निरन्तर काय-मन-वाणीसे भगवत्प्रेमके विशुद्ध भावको बढ़ाते रहना चाहिये। जब कभी भोग-वासना धोखा देना चाहे, तभी उसे सच्चे भगवत्प्रेमके द्वारा मारकर निकालना चाहिये। भगवान् इसमें पूरी सहायता करते हैं।



## आत्मचिन्तनकी रीति

( लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज )

१. एक ब्रह्मविद् महापुरुषका कथन है कि 'मैं देह नहीं हूँ।' इस विवेककी परिपुष्टि ही आत्मचिन्तन है; क्योंकि मनुष्य, हिंदू, ब्राह्मण, संन्यासी, स्त्री-पुरुष आदिके भेद-भावका मूल यह देह ही है। उनका कहना था कि यदि विवेक न हो तो भी ऐसा भाव करना चाहिये कि यह देहाभिमान धरतीपर बैठा हुआ है और मैं छतपर। आत्मा चेतन है, देह जड़। इनका तादात्म्य भी ब्रह्म है और संसर्ग भी, अर्थात् यह देह न 'मैं' है, न 'मेरा'। फिर इसमें आरोपित गुण-दोषसे तो अपना सम्बन्ध ही क्या है ?

२. प्रक्रिया-ग्रन्थोंमें निरूपण है—'पृथिवी जलमें लीन हो जाती है।' यह चिन्तन किया जाय कि इस विश्वमें पृथिवी नामकी कोई वस्तु नहीं है। फिर तो देह, प्राणी, वन, पर्वत, गाँव और मिट्टी कुछ नहीं होंगे। केवल जल ही होगा। आकाशके अवकाशमें वायु-वेगसे लहराता हुआ, तेजस्से प्रदीप्त केवल अपार, अगाध, अनन्त जलराशि, एक अखण्ड महार्णव। मैं और तुमके भेदके लिये कोई पार्थिव निमित्त नहीं रहेगा। यह भाव भेदभ्रान्तिको शिथिल कर देगा। आत्मा एकरस, असङ्ग, साक्षी है।

३. न पृथिवी है न जल; केवल प्रकाश है। जितनी आकृति, प्रकृति-विकृति और संस्कृतियाँ भास रही हैं, सब प्रकाशके विलास हैं। रूप-रंग, अङ्ग-अनङ्ग—सब उल्लसित प्रकाशकी दीप्तियाँ हैं। केवल हीरेकी दमक है। सोनेकी चमक है। 'मैं वही प्रकाश हूँ, असङ्ग साक्षी चेतन हूँ।'।

४. यह जो शरीरमें श्वासोच्छ्वासका गमनागमन हो रहा है, यह देहकी उपाधिसे समष्टिवायुका ही रास-

विलास है। वही मन्द, मध्य, तीव्रगतिसे तालपर और कभी बेताल भी पाद-विन्यास कर रहा है। क्या समष्टि-वायुसे पृथक् प्राणवायुका कोई अस्तित्व है ? उसीके संघर्षसे ऊष्मा, द्रवतासे जल, गाढ़तासे पृथिवी बनती है। वस्तुतः हमारा श्वास-प्रश्वास व्यष्टिप्राण नहीं, समष्टिप्राण है। इसीकी लास्यमयी यह लीला है—सृष्टि। न मिट्टी है न पानी, जो कुछ है, हमारे प्राणोंकी परिणाम-प्रक्रिया है। न प्रकाश है न ऊष्मा, सब प्राणकी गुदगुदी है। प्राणकी अशेषतामें भौतिक विशेषताका निषेध है। प्राण कभी शान्त है, कभी विक्षिप्त। आत्मा है उसका असङ्ग आधार—एकरस चेतन।

५. श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजने उपदेश किया कि ऐसा चिन्तन करो—'मैं देह नहीं, आकाश हूँ।' इसका अर्थ यह हुआ कि 'मैं परिच्छिन्न व्यष्टि नहीं, चिदाकाश हूँ।'।

अब इसपर थोड़ा चिन्तन किया जाय। आकाश वायु आदिका क्रम-परिणामी उपादान है। क्रम कालका बोधक है और परिणाम नियन्त्रणका। वह वायु आदिका दिक्तादात्म्यापन्न आधार भी है। इसका अभिप्राय यह है कि देश, काल और कारण-द्रव्य एकाकार होकर आकाशके रूपमें भास रहे हैं। वे अपने समग्र कार्यमें अनुगत भी हैं और विविक्तरूपसे उनसे व्यावृत्त भी। इस आकाशको यदि परिपूर्ण चेतन एक रूपमें देखा जाय तो इसीका नाम 'महेश्वर' है। पूर्ण-अहंतावादी शैव आदि इसीको अपने 'अहं'के रूपमें अनुभव करते हैं और अपने अनुभवका अनुवाद करते हैं कि 'मैं ही सर्वकारण, सर्वोपादान, सर्वनियन्ता, सर्वधार एवं सर्वस्वरूप परमेश्वर हूँ।' निश्चय ही इस भावनासे देहका तादात्म्य भङ्ग हो



संख्या ९ ]

जाता है। कई लोग इसको 'पूर्णताप्रत्यभिज्ञा' कहते हैं—अर्थात् अपनी भूली-बिसरी पूर्णता पुनः ज्ञानगोचर हो गयी। अपने पारमेश्वर्यका यह स्फुरण विशेषकर अनुवृत्ति-भावनापर अवलम्बित है। वस्तुतः मैं चेतन आत्मा ही कारणशरीर होकर 'ईश्वर' समष्टि सूक्ष्मशरीर होकर 'हिरण्यगर्भ' और स्थूल विश्वशरीर होकर 'विराट्' नामधारी हो रहा हूँ। सर्वनामरूप-विभाग, विमर्श, इच्छा, शक्ति, क्रिया और द्रव्य मेरे ही स्फुरण हैं। साधनाकी दृष्टिसे यह चिन्तन बहुत उत्तम अवस्था है।

परमार्थकी दृष्टिसे चिन्तन किया जाय तो यह आकाशका चिन्तन परिच्छिन्नताके निवारणका साधन होनेपर भी सिद्ध वस्तुका सम्पूर्ण बोध नहीं है; क्योंकि स्वयंप्रकाश आत्मवस्तु किसी भी दृश्य वस्तुसे विलक्षण है। जो वस्तु चेतनसे चेतनमें प्रकाशित हो रही है, उसके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान भी चेतन ही है। इसलिये वह वस्तु अपने अत्यन्ताभावके अधिकरणमें प्रकाशित होनेके कारण मिथ्या तो है ही, अत्यन्ताभाव-स्वरूप भी है। वेदान्त-मतमें अत्यन्ताभाव अधिष्ठानसे भिन्न स्वीकृत नहीं है; अतएव आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त न अत्यन्ताभाव है और न तो उसका प्रतियोगी। इसका अभिप्राय यह है कि अखण्ड चेतन आत्मा ही ब्रह्म है और उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु नहीं है।

ऐसी स्थितिमें 'मैं अखण्ड चिदाकाश हूँ' इस चिन्तनका अभिप्राय केवल इतना ही रहता है कि परिच्छिन्न दृश्यादृश्यके अज्ञाननिमित्तक तादात्म्य-भ्रमकी निवृत्ति हो जाय। आत्मा स्वयंप्रकाश, द्वितीय ब्रह्म ही है—इस अनुभवमें ही सब चिन्तनोंका पर्यवसान है।

एक निराकार सत्ता ही सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक प्रपञ्चका उपादान है। वह जबतक कार्य-दृष्टिसे कल्पित है, तबतक उसमें परिणामकी कल्पना करनेमें आपत्ति

नहीं है; परंतु जब निर्विशेष सत् और निर्विशेष चेतनकी एकता एवं अद्वयताका बोध हो जाता है, तब कार्य-कारणभाव बाधित हो जाता और सत्में कल्पित उपादानता भी निवृत्त हो जाती है। यही दशा क्रम, विस्तार और आधारताकी भी है। ये तभीतक हैं, जबतक कार्य-कारणभाव है। उसके बाधित होनेपर कालगत नित्यता और देशगत पूर्णताका कोई प्रश्न ही नहीं रहता। श्रुतिने स्वयं ही व्याप्य-व्यापक-भावको मिथ्या बताया है। ऐसी स्थितिमें 'मैं व्यापक हूँ, आधार हूँ, कारण हूँ, अविनाशी हूँ, सत्य हूँ, चेतन हूँ, प्रकाशक हूँ, प्रिय हूँ, अद्वय हूँ'—इत्यादि चिन्तनकी धारा भी अनपेक्षित हो जाती है। सार-सार यह कि नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च भी भासमान है। पहला बाधित है और दूसरा अबाधित। यह अबाधित आत्मसत्ता ही 'परमार्थ' है।

आत्माको चिदाकाशके रूपमें चिन्तन करनेका यह सुनिश्चित ज्ञान अवश्यम्भावी फल है।

६. जैसे कोई जादूगर स्वयं अदृश्य रहकर ऐसा खेल दिखावे कि एक प्राणिशरीर एक पतले-से धागेके सहारे निराधार आकाशमें लटक रहा है। वह शरीर चाहे व्यष्टि हो चाहे समष्टि, पिण्ड हो या ब्रह्माण्ड, अनन्तकी दृष्टिसे उसकी अल्पता-अनल्पता, लघुता-विशालता, एकता-अनेकता अथवा नित्यता-अनित्यताका कोई मूल्य नहीं है। अपने अपने विशेष धागेमें अटके और लटके हुए विशेष-रामान्य स्वभाव, गुण-दोष, आकृति-विकृति एवं संस्कृति प्रकट कर रहे हैं। यह कण्ठपुतलीके खेलके समान एक खेल प्रकट हो रहा है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ब्रह्माण्ड लट्ठूके समान लटक रहे हैं। यह धागा क्या है? यह सूत्र एक-एक इकारिका अलग-अलग भी प्रतीत होता है और कभी-कभी समवाय-सा भी प्रतीत होता है। यह विद्युत्-वाही सूत्र प्रत्येक यन्त्रमें निहित विशेषताके



अनुसार उसका संचालन करता है। परंतु इन पृथक्-पृथक् सूत्रोंमें—सूक्ष्म शरीरोंमें जो विद्युत्-धारा प्रवाहित है, वह क्या है? सूत्र सूक्ष्म-शरीर है तो तदवस्थ चिदाभास अहं ही विद्युत्-धारा है। जब इस पृथक्-पृथक् विद्युत्-धाराके सामान्य अनुस्यूत चिदाभासका चिन्तन करते हैं तो जो व्यष्टिदृष्टिसे तैजस अथवा सूत्रात्मा है, वही समष्टिदृष्टिसे हिरण्यगर्भ है। वासनाके रंगमें रंगी हुई वासनोपरक्त यह समष्टि ही हिरण्यगर्भका रक्त शरीर है। इस रक्ततामें सारे विभाजन, वे चाहे दैशिक, कालिक अथवा जडीय क्यों न हों, डूबते-उतराते रहते हैं। वस्तुतः उसमें स्थूल-सूक्ष्मका विभाग नहीं है, सब केवल मनोमयभावमात्र है और एक विशाल निरवकाश रक्तिमाके समुद्रमें अन्तस्तरंगोंका उन्मेष-निमेष अथवा उन्मज्जन-निमज्जन है। इस विशेष संविद्रूप अगाध विद्युत्-राशिमें निहित एवं शान्त जो कारण-वारि है, वही समग्र उन्मेष-निमेषोंका केन्द्र है। वह एक प्रकारकी अगाध, अपार, निरवकाश श्वेतिमाका निस्तरंग समुद्र है और वहाँ संविद्रूप विद्युत् भी निश्चल ही है। वह सम्पूर्ण शक्तियोंका केन्द्र होनेपर भी शान्तिका केन्द्र है। उसमें न किसी प्रकारका संकोच है न विस्तार, न विकार है न विकास। उसमें न प्रवृत्ति है न निवृत्ति, न स्थूल है न सूक्ष्म, परंतु वही सबका मूल है। वह चिदाभास तो है, परंतु आभास नहीं है। वहाँ आभास और आभास्य एक हैं। यही कारण है कि सगुण-एकत्ववादी जब उसका निरूपण करने लगते हैं, तब अनेक विचारशील जिज्ञासुओंको भ्रम हो जाता है कि वही ब्रह्म है। यह श्वेत चिदाभास-प्रकाश भी एक बृहत् नीलिमामें निस्सम्बन्ध ही सूर्यपिण्डवत् भासमान है। यह नीलिमा कोई वस्तु नहीं है—न लंबाई न चौड़ाई, न जायमान न म्रियमाण, न नाप न तौल। यह नीलिमा एक माया है—छाया है। यह अपने

साक्षी-स्वरूपमें बिना अर्थ हुए और बिना संसर्गके ही भास रही है। जब अन्यरूप अर्थ ही नहीं है, तब संसर्गका प्रश्न कहाँ रहा? फिर यह माया-छाया क्या है? यह नीलिमा क्या है? चिन्मात्र आत्मवस्तुमें जो स्वयंप्रकाश है और प्रकाश्य-प्रकाशक भावसे विनिर्मुक्त है—उसमें यह माया-छाया एक असम्भव कल्पना है। अनन्त ज्ञान आत्मा है और उसका ग्राह्य-ग्रहण-भावसे रहित होना नीलिमा है। यह रक्तिमा, श्वेतिमा अथवा नीलिमा उस व्यावहारिक बुद्धि-वृत्तिकी उड़ान है, जो मूल तत्त्वको ढूँढ़ना चाहती है। परमार्थतः जो इनका साक्षी है अर्थात् 'मैं' अथवा 'आत्मा' शब्दका वास्तविक अर्थ है, उसमें इस माया-छायारूप नीलिमाका कोई अस्तित्व नहीं है। देश-काल-वस्तुके सारे विभाग किसी भी रूपमें इस अनन्त संवित्का स्पर्श नहीं कर सकते। यही संवित् अद्वय है, अनन्त है, अखण्ड है, ब्रह्म है; इसीमें सम्पूर्ण वेदान्तों और अनुभवोंका पर्यवसान है। उस नीलिमासे लेकर स्थूल सृष्टिपर्यन्त सब अपनी चमक है, दमक है। न है न नहीं है। वस, अपना-आप ही है।

७. औपनिषद्-तत्त्वके जिज्ञासुके लिये योग-सांख्योक्त त्रिगुणमयी प्रकृतिको स्वीकृति देनेकी कोई आवश्यकता नहीं। सांख्य-योगके मतमें ही गुणोंका परमरूप दृश्य नहीं है। वे गुणोंको कार्यानुमेय मानते हैं और तदनुकूल श्रुतिकी व्याख्या कर लेते हैं। वस्तुतः नित्य प्रोक्ष होनेके कारण व्याप्तिग्रह न होनेसे गुण अनुमानसिद्ध नहीं हैं, केवल वाक्यगम्य ही हैं। ऐसी स्थितिमें 'प्रकृति' शब्दका अर्थ-ईश्वरकी उपाधि 'माया' अथवा जीवकी उपाधि 'अविद्या' ही हो सकता है। नाम-रूप-विनिर्मुक्त तत्त्वमें माया-अविद्या पर्यायवाची शब्द हैं। अपने अनवच्छिन्न-रूप अधिकरणमें दोनोंका अत्यन्ताभाव है। इसलिये दोनों ही मिथ्या अथवा अनिर्वचनीय हैं। अतएव



अविज्ञान-ज्ञानसे उनकी बाधरूप निवृत्ति हो जाती है।  
 यही कारण है कि वेदान्तकी चिन्तन-धारा में माया,  
 अविद्या, अकृत, प्रकृति, प्रधान, अविद्या, अज्ञान, मोह  
 और कारण-शरीर आदि शब्द पर्यायवाची ही हैं।  
 अविद्या-सत्त्व-रज-तमके चिन्तनकी कोई आवश्यकता  
 नहीं है, केवल सच्चिदानन्दके चिन्तनसे ही आत्मज्ञानके  
 योग में हम आगे बढ़ सकते हैं। अपने देहकी ओर  
 देखिये। नभिसे नीचे स्थूल प्रणवका विभाग है।  
 जलनेन्द्रियसहित दोनों चरण 'अकार'रूप हैं। उनको  
 नभिके साथ जोड़नेवाली शिरा 'उकार'रूप है और स्वयं  
 नभि 'विन्दु'रूप है। यह स्थूल ओंकार है। यह चेत्य  
 अर्थात् जड़प्रधान है। क्रियाका आश्रय 'सत्' है, वृत्ति-  
 का आश्रय 'चित्' है और सुखभोगका आश्रय 'आनन्द'—  
 तीनोंमें अनुस्यूत आत्मा एक है। वही ओंकारका  
 लक्ष्यार्थ है। वह चेतन है। अब थोड़ा ऊपर दृष्टि  
 उठाइये। दोनों बाहु और उनका मध्य भाग 'अकार' है।  
 अक्षरपर्यन्त 'उकार' है और विशुद्ध चक्र 'विन्दु' है।

तीनोंमें अनुस्यूत ओंकारार्थ 'चेतन आत्मा' है। यह  
 भावप्रधान सूक्ष्म ओंकार है। स्थूल ओंकारमें जो चेतन  
 आत्मा है, वही सूक्ष्म ओंकारमें भी है। चेतन-चेतन  
 एक है। थोड़ा और ऊपर उठिये। दोनों भौहों और  
 उनके मध्यभागसे सम्बद्ध नासिकाप्र 'अकार' है, दोनों  
 नेत्रोंके रश्मिमूलपर्यन्त 'उकार' है, ब्रह्मरन्ध्र 'विन्दु' है।  
 यह 'कारण-प्रणव' है। यह ज्ञानप्रधान है। इसमें अनुस्यूत  
 चेतन आत्मा है। वही ओंकारका लक्ष्यार्थ है। स्थूल-  
 सूक्ष्म-कारण प्रणवाकृतिके भेद होनेपर भी प्रभव लक्ष्यार्थ  
 आत्मा एक ही है। देश-काल-वस्तु आदि समग्र भेद  
 इन त्रिविध शरीरोंमें ही, शरीरोंसे ही, शरीरमूलक ही  
 भासते हैं। शुद्ध चेतनमें देश-काल-द्रव्यका अत्यन्ताभाव  
 है। अतः अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें भासमान  
 होनेके कारण ये मिथ्या एवं बाधित हैं। आत्म-चैतन्य  
 अबाधित भासमान है और तदतिरिक्त बाधित भासमान।  
 इस बाधित भासमानकी उपेक्षा ही 'आत्मदृष्टि' है। इसे  
 ही 'आत्मचिन्तन' कहते हैं।

## आनन्दकी अनुभूति

(लेखक—श्रीश्याममनोहरजी व्यास, एम्. ए. एस्. सी. ०)

प्राचीन समयमें चीनमें कन्फ्यूशस नामके एक बड़े  
 दार्शनिक हुए हैं। चीनका सम्राट् भी उनका बड़ा  
 आदर करता था।

एक दिन सम्राट्ने कन्फ्यूशससे कहा—'कन्फ्यूशस !  
 मुझे उस आदमीके पास ले चलो, जो देवताओंसे भी  
 महान् हो।'।

कन्फ्यूशसने उत्तर दिया—'एक तो स्वयं आप ही हैं;  
 क्योंकि जो सत्यको जाननेकी इच्छा रखता है, वह  
 महान् है।'।

सम्राट् बोले—'यदि ऐसी बात है तो मुझसे भी  
 महान् व्यक्ति मुझे बताओ।'।

उत्तर मिला—'आपसे महान् मैं हूँ; क्योंकि मैं सत्य-  
 से प्रेम करता हूँ।'।

सम्राट्ने फिर कहा—'महर्षि ! मुझे तो आपसे भी  
 महान् व्यक्ति चाहिये।'।

कन्फ्यूशसने उत्तर दिया—'तो आप मेरे साथ चलिये,  
 मैं आपको उस व्यक्तिके पास ले चलता हूँ, जो देवताओंसे  
 भी महान् है।'। दोनों चल पड़े। एक स्थानपर उन्होंने  
 एक वृद्ध पुरुषको कुआँ खोदते हुए देखा।

दार्शनिक कन्फ्यूशसने कहा—'सम्राट् ! देखिये, यह  
 व्यक्ति काफी वृद्ध हो चुका है, शरीरमें भी काफी निर्बल है,  
 पर फिर भी यह कुआँ खोद रहा है। क्यों ? परोपकारके  
 लिये ! इसके आनन्दकी अनुभूति परोपकारमें निहित है।  
 जिसका तन-मन ऐसी आनन्दानुभूतिमें काम करता है,  
 वह जीते-जी जीवन-मृत्युकी सारी सीमाएँ लाँच जाता है।  
 उसने महान् और कौन हो सकता है ? परोपकारमें रत व्यक्ति  
 देवताओंसे भी महान् है।'।



## गीताका भक्तियोग ६

( पूज्य स्वामीजी श्रीराममुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या )  
[ गताङ्क पृष्ठ १०८९ से आगे ]

सम्बन्ध

अर्जुन ! यदि मुझमें ही मन-बुद्धि लगाना रूप साधन तेरी प्रकृतिके उपयुक्त नहीं है, तो तुझे अब आगे तीन श्लोकोंमें अपनी प्राप्तिके भिन्न-भिन्न तीन स्वतन्त्र साधन बतलाता हूँ—

श्लोक

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।  
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

भावार्थ

अर्जुन ! यदि तू मन-बुद्धिको मुझमें एकाग्रतासे स्थिर कर लेनेमें अपनेको असमर्थ मानता है, तो भी तुझे ऐसी चिन्ता नहीं होनी चाहिये कि मन-बुद्धि स्थिर हुए बिना भगवत्प्राप्ति कैसे होगी ? मन-बुद्धिका अखण्डरूपसे मुझमें लगाना ही मेरी प्राप्तिका एकमात्र साधन हो, ऐसी बात नहीं है। किंतु मेरी प्राप्तिका उद्देश्य होनेपर नाम-जप, कीर्तन, लीला-चिन्तन, कथा-श्रवण, सत्-शास्त्र-अध्ययन आदि अभ्यासकी प्रत्येक क्रिया मेरी प्राप्ति अवश्य करा देगी। इसलिये मेरी प्राप्तिका उद्देश्य रखकर बार-बार मुझमें मन-बुद्धि लगानेकी चेष्टा कर।

अन्वय

अथ, चित्तम्, मयि, स्थिरम्, समाधातुम्, न, शक्नोषि,  
ततः, धनंजय, माम्, अभ्यासयोगेन, आप्तुम्, इच्छ ॥ ९ ॥

अथ—( यदि ) तू

चित्तम्—( मनको )

यहाँ इस पदका अर्थ केवल 'मन' होते हुए भी इस श्लोकका अर्थ पूर्वश्लोकमें कथित साधनसे सम्बन्ध होनेके कारण 'मन-बुद्धि' दोनों लेना ही युक्ति-संगत है।

मयि—( मुझमें )

स्थिरम्—( अचल भावसे )

समाधातुम्—( स्थापित करनेके लिये )

न शक्नोषि—( समर्थ नहीं है )

ततः—( तो )

धनंजय—( हे अर्जुन )

अभ्यासयोगेन—( अभ्यासरूप योगके द्वारा )

'अभ्यास' और 'अभ्यासयोग' दो होते हैं। किसी क्रियाको बार-बार करनेका नाम 'अभ्यास' है। अभ्यास साथ योगका संयोग होनेसे उसको 'अभ्यास-योग' कहा जाता है। 'योग'की परिभाषा गीतामें दो प्रकारसे हुई है—( १ ) छठे अध्यायके २३वें श्लोकमें 'तं विदुः स्वसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'—( दुःखरूप संसृति-सम्बन्ध-विच्छेदका नाम 'योग' है ) और ( २ ) अष्टाध्यायके ४८वें श्लोकमें 'समत्वं योग उच्यते'—समता नाम 'योग' है; और समता परमात्माका स्वरूप ही है। 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' ( गीता ५ । १९ ) इस योगका अर्थ हुआ 'भगवत्प्राप्ति'। किसी भी क्रियाके उद्देश्य संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद अथवा भाव-विच्छेद होनेसे उस क्रियाका नाम 'अभ्यास-योग' होगा।

अभ्यासके साथ योगका संयोग न होनेसे ध्येय संसार होगा। संसारका ध्येय होनेपर धन, मान, पुत्र, नीरोगता, अनुकूलता, बड़ाई, कीर्ति आदिकी इच्छा होगी।

जिन पुरुषोंका ध्येय संसार है अर्थात् स्त्री, पुत्र, मान, बड़ाई, कीर्ति आदि हैं—उनकी क्रियाओंके फल भिन्न-भिन्न रहेंगे—कभी धन, कभी मान-बड़ाई, कभी नीरोगता, कभी पुत्र-प्राप्ति आदि। दूसरे अर्थात् ४४वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि ऐसे पुरुषों



अनन्त और बहुत भेदोंवाली होंगी। इसलिये  
पुरवर्ती क्रियामें 'अभ्यासयोग' नहीं होगा। जब  
उद्देश्य, ध्येय केवल परमात्मा ही होगा,  
'अभ्यासयोग' होगा।

साधक भगवत्प्राप्तिका उद्देश्य रखकर बार-बार नाम-  
वादीकी चेष्टा करता है, तब उसके मनमें अन्य  
भी होते रहते हैं। अतः साधकको—'मेरा ध्येय  
प्राप्ति ही है', इस प्रकारकी दृढ़ धारणा करके अन्य  
को त्याग देना चाहिये।

छठे अध्यायके २६वें श्लोकमें भगवान्ने अभ्यासपूर्वक  
में भगवान्में लगानेकी बात कही है। गीताजीमें  
अभ्यासके साधनकी रीति इसी श्लोकमें बतायी गयी है।

छठे अध्यायके १५वें श्लोकके अन्तर्भूत 'अभ्यासेन'  
तथा इसी अध्यायके १२वें श्लोकके अन्तर्गत  
'अभ्यासात्' पद साधारण अभ्यासका वाचक है।

अष्टवें अध्यायके ८वें श्लोकमें प्रयुक्त 'अभ्यास-  
'पद अभ्यासके द्वारा वशमें किये हुए चित्तका  
निर्देश है।

और इसी अध्यायके १०वें श्लोकमें 'अभ्यासे'  
प्रसङ्गसे सम्बन्धित होनेके कारण अभ्यासयोगका  
वाचक है।

मम आप्तुम् इच्छ—( मुझको प्राप्त करनेकी  
इच्छा कर )

इन पदोंसे भगवान् अभ्यासयोगको अपनी प्राप्ति  
साधन बतलाते हैं।

पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अपनेमें ही मन-बुद्धि लगाने-  
को कहा, यहाँ अभ्यासयोगके लिये कहते हैं। इससे  
धारणा हो सकती है कि अभ्यास-योग मन-बुद्धि  
अर्थात् ध्यान लगानेका साधन है। अभ्यासके द्वारा  
ध्यान ही मेरी प्राप्ति होगी। ध्यानसे ही भगवत्प्राप्ति

हो, ऐसा नियम नहीं है। भगवान् कहते हैं कि यदि  
अभ्यास करनेमें उद्देश्य पूरा-का-पूरा भगवत्प्राप्ति ही हो,  
अर्थात् उद्देश्यके साथ एकता हो तो उस अभ्यास-योगसे  
भगवत्प्राप्ति ही होगी

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।

मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

भावार्थ

यदि तू अभ्यासयोगमें भी असमर्थ है अर्थात् बार-  
बार प्रयत्न करनेपर भी मुझमें मनको लगानेमें भी  
असमर्थ है तो जो कुछ भी कर्म करे, वे सब-के-सब  
काम मेरे लिये ही कर अर्थात् मेरे लिये कर्म करनेके  
ही परायण हो जा। मेरे लिये कर्म करनेके परायण  
होना भी मेरी प्राप्ति का एक स्वतन्त्र साधन है।

देश, काल, परिस्थिति आदिको लेकर जो कर्म  
तेरे सम्मुख उपस्थित हो, उस कर्मको मेरे लिये ही कर।  
इस प्रकार मेरे लिये कर्म करनेसे तुझे मेरी ही प्राप्ति  
होगी।

यदि साधकका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति ही है और सम्पूर्ण  
क्रियाएँ वह भगवान्के लिये ही कर रहा है तो इसका  
अभिप्राय यह हुआ कि उसने अपनी सारी सामर्थ्य—  
योग्यता भगवत्प्राप्तिके लिये ही लगा दी। इसके सिवा  
वह और कर भी क्या सकता है? भगवान् उस साधक-  
से इससे अधिक अपेक्षा भी नहीं रखते और उसे अपनी  
प्राप्ति करा देते हैं। कारण इसका यह है कि परमात्मा  
किसी साधन-विशेषसे खरीदे नहीं जा सकते।  
परमात्माके महत्त्वके सामने सम्पूर्ण संसारका महत्त्व भी  
कुछ नहीं है, फिर एक व्यक्ति तो उसका मूल्य चुका  
ही कैसे सकता है? अतः अपनी प्राप्तिके लिये भगवान्  
साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी  
सामर्थ्य—योग्यताको लगा दे, अर्थात् कुछ भी बचाकर  
अपने पास न रखे।



अन्वय

अभ्यासे, अपि, असमर्थः, असि, मत्कर्मपरमः, भव,  
मदर्थम्, कर्माणि, कुर्वन्, अपि, सिद्धिम्, अवाप्स्यसि ॥१०॥

अभ्यासे—( ऊपर कहे हुए अभ्यासमें )

इस पदका अभिप्राय यहाँ अभ्यासयोगसे है । गीताजीकी शैली है कि पहले कहे हुए विषयका आगे संक्षेपमें वर्णन करते हैं । आठवें श्लोकमें भगवान् ने परमात्मामें मन-बुद्धि लगाना रूप साधनको नवें श्लोकमें 'चित्तम्' पदसे कहा, अर्थात् 'चित्तम्' पदके अन्तर्गत मन-बुद्धि दोनोंका समावेश कर दिया । ऐसे ही नवें श्लोकमें आये हुए अभ्यासयोगके लिये यहाँ यह 'अभ्यासे' पद आया है ।

अपि—( भी )

असमर्थः—( असमर्थ )

असि—( है )

( तर्हि )—तो

मत्कर्मपरमः भव—( केवल मेरे लिये कर्म करने के परायण हो जा )

इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण कर्मोंका उद्देश्य संसार न रहकर एकमात्र भगवत्प्राप्ति ही हो । जो कर्म भगवत्प्राप्तिके लिये—भगवान् की प्रसन्नताके लिये और भगवान् में प्रेम होनेके लिये भगवदाज्ञानुसार किये जाते हैं, उनकी संज्ञा 'मत्कर्म' है । जो साधक ऐसे कर्मोंके परायण हैं, वे 'मत्कर्मपरमः' कहे जाते हैं । साधकका अपना सम्बन्ध भी भगवान् से हो और कर्मोंका सम्बन्ध भी भगवान् के साथ रहे, तब मत्कर्मपरमता सिद्ध होगी ।

भगवत्प्राप्तिमें दो तरहके साधन होते हैं—( १ ) निषेधात्मक—जैसे चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, हिंसा

आदि न करना और ( २ ) विधेयात्मक—जैसे माता-पिता-गुरुजन आदिकी सेवा करना, संत-महात्माओंकी सेवा करना, भगवान् की सेवा-पूजा करना, सत्य-भाषण आदि । इन दोनों साधनोंमें विधि-क्रियाको करनेकी अपेक्षा निषिद्ध क्रियाका त्याग भगवत्प्राप्तिमें विशेष सहायक है । संसार ध्येय न रहनेसे निषिद्ध क्रियाएँ सर्वथा छूट जायँगी; क्योंकि निषिद्ध क्रियाएँ करानेमें संसारकी कामना ही हेतु है ( गीता ३ । ३७ ) । अतः भगवत्प्राप्तिका ही उद्देश्य रहनेसे साधककी सम्पूर्ण क्रियाएँ भगवदर्थ ही होंगी ।

ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'मत्कर्मपरमः' पद इसी भावका द्योतक है । तीसरे अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'तदर्थं कर्म समाचर' पद इसी भावमें प्रयुक्त हुआ है ।

मदर्थम् कर्माणि कुर्वन् अपि—( मेरे लिये कर्मोंको करता हुआ भी )

भगवान् ने जिस साधनकी बात इसी श्लोकमें पूर्वार्धमें 'मत्कर्मपरमः भव'से कही है, वही बात इस पदोंमें कही गयी है ।

सिद्धिम् अवाप्स्यसि—( मेरी प्राप्ति होगी )

आठवें श्लोकमें 'ध्यानके साधनसे तू मुझमें निवास करेगा'—इस प्रकार अपनी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन बतलाया तथा नवें श्लोकमें 'अभ्यासयोगसे प्राप्ति होनेकी इच्छा कर'—इस प्रकार अभ्यासयोगको स्वतन्त्र साधन बतलाया; इसी प्रकार भगवान् ने इन पदोंसे भगवान् 'मत्कर्मपरमः भव' ( केवल मेरे कर्म करनेके परायण हो ), इस साधनको अपनी प्राप्ति के लिये स्वतन्त्र साधन बतला रहे हैं ।



## आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

प्रभु हमें लेकर खेल रहे हैं।

वस्तुतः हमलोग अबतक अपने आपको ही भूले हुए हैं। हमलोग शरीर हैं क्या ? विचार करनेपर पता लगा—नहीं, शरीर तो नहीं हैं। शरीर तो अबतक अनन्त प्राप्त कर चुके हैं। अमुक-अमुक नामसे परिचित वे शरीर भी यहीं रह जायँगे, हमलोग इन्हें छोड़ देंगे, निश्चय छोड़ देंगे। तब हमलोग कौन हैं ? गीतामें देखें—भगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

( १५।७ )

हमलोग उन्हींके अंश हैं, बिल्कुल उसी धातुके हैं, जिस धातुके भगवान् हैं; पर हमलोग उनको भूल गये। इसीलिये अपनेको भी भूल गये और सोचने लगे—‘ये शरीर-ही-हमलोग हैं।’ अब यदि उन्हें याद करें, उन्हें बीचमें ला रखें तो पहले अपनी-अपनी स्मृति होगी, फिर यह स्मृति जाग उठते ही हमलोगोंका सम्बन्ध इतना निकटतम हो जायगा कि उस निकटताका वर्णन भी नहीं हो सकता। सच मानिये—हमलोग जितनी देरतक प्रभुको बीचमें रखते हैं, उतनी देरके लिये वे बिल्कुल निकटसे भी निकट हैं। उनको भूलनेपर वे इतनी दूर चले जाते हैं कि उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती, वर्णन होना तो बहुत दूरकी बात है। प्रभुको बीचमें रखकर हम दो प्रकारके अनुभव करेंगे—( १ ) जो सम्बन्ध उनका एकसे है, वही सम्बन्ध उनका दूसरेसे भी है तथा ( २ ) दोनों समान हैं, दोनों उनके हैं। दो हैं ही नहीं, एकके ही दो बना लिये गये हैं, तीन बना लिये गये हैं, हजार बना लिये गये हैं, असंख्य बना लिये गये हैं। खेलनेके लिये बनाये गये हैं। किसने बनाये हैं ? हमारे स्वामीने। तो यह खेल है ? हाँ, खेल है, हमारे स्वामीका खेल

है, हमें लेकर वे खेल रहे हैं। खूब खेलो, नाथ ! बलिहारी तुम्हारे खेलकी !!

उनके लिये उनको भजिये।

एक मुसल्मान-परिवारमें एक भक्तिमती नारी हुई है, जिसका नाम था ‘रबिया’। रबियाने कहा है—‘मेरे प्राणनाथ ! यदि स्वर्गकी कामनासे मैं तुम्हें भजती हूँ तो मेरे लिये स्वर्गका द्वार बंद कर दो। और यदि नरकके डरसे तुम्हें भजती हूँ तो मुझे नरककी ज्वालामें भस्म कर दो; पर यदि मैं तुम्हारे लिये तुम्हें भजती हूँ तो मुझे मिल जाओ।’ कैसा सुन्दर भाव है ! सचमुच जिस दिन उनके लिये मनुष्य उनको भजने लगता है, फिर उस भजनमें एक अपूर्व स्वाद होता है—विलक्षण मिठास होती है—भजन प्राणोंसे बढ़कर प्यारा लगता है। पर ऐसा सहसा किसी-किसी महात्माके जीवनमें ही होता है। क्रमशः विकास ही साधारणतया देखा जाता है। अतएव सर्वथा अनुद्विग्न चित्तसे उनके लिये उन्हें भजनेका अभ्यास बढ़ाते रहें। अर्थात् सर्वथा सभी प्रकारकी कामनाओंसे रहित होकर उनके चरणोंमें न्योछावर होनेका ही उद्देश्य रखकर उन्हें भजिये। लौकिक परिस्थितियाँ अनुकूल-प्रतिकूल जैसी भी आयें, उन्हें उनका विधान समझकर अतिशय प्रेमपूर्वक स्वीकार कीजिये। यह करना पड़ेगा। उनकी कृपाका आश्रय लेकर अपने जीवनमें साधनाको उतारना पड़ेगा। उतारेंगे वे ही, उनकी दया ही सब करेगी; पर उसके लिये अपना हृदय खोलकर उनके सामने करना हमलोगोंका काम है। वे आपके हैं और आप उनके हैं, वे आपके हृदयधन हैं और आप उनके हृदयधन हैं—इस मधुरतम सम्बन्धको हृदयमें बार-बार जाग्रत् कीजिये और मलिन-से-मलिन हृदयको ही उनके सामने कीजिये। वे अपने लायक



उसे बना लेंगे, अवश्य बना लेंगे। उनकी कृपाका पार नहीं है।

### जीभसे निरन्तर भगवान्का नाम लीजिये—

भगवान्ने कहा है—‘सभी धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एकमात्र मेरी शरणमें चले आओ। फिर मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम चिन्ता मत करो।’

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

( गीता १८।६६ )

मनकी कैसी भी अवस्था क्यों न हो, कोई परवा नहीं। केवल जीभसे निरन्तर भगवान्का नाम लीजिये, फिर सारी जिम्मेवारी भगवान् सँभाल लेंगे। केवल जीभसे नाम-स्मरण—और कोई शर्त नहीं।

चाहे मन लगे या न लगे, यदि भगवान्का नाम जीभसे निरन्तर लेने लग जाइयेगा तो फिर न तो कोई शङ्का उठेगी, न कोई चाह रहेगी। थोड़े ही दिनोंमें शान्तिका अनुभव करने लगियेगा। इससे सरल उपाय कोई नहीं है। पूर्वके पापोंके कारण नाम लेनेकी इच्छा नहीं होती। यदि एक बार हठसे ही निरन्तर नाम लेनेका नियम लेकर ४-६ महीने बैठ जायँगे, तो फिर किसीसे कुछ भी पूछनेकी जरूरत नहीं रहेगी। स्वयं सत्य वस्तुका प्रकाश मिलने लगेगा, संदेह मिटने लगेगे। इस प्रकार जिस दिन भजन करते-करते सर्वथा शुद्ध होकर भगवान्को चाहियेगा, उसी क्षण भगवान्से मिलकर कृतार्थ हो जाइयेगा।

× × × ×

पहले ऐसा कीजिये कि कम-से-कम बोलकर जरूरी-जरूरी काम सलटा लीजिये, बाकीका समय पूरा-का-पूरा जीभसे नाम लेते हुए बिताइये। यह खूब आसानीसे हो सकता है। करना नहीं चाहियेगा तो उसकी कोई दवा होनी बड़ी कठिन है। यदि मनुष्य भजन करना

चाहे तो जरूर कर सकता है। यदि कोई कहता है—‘हमसे भजन नहीं होता’, तो समझ लीजिये कि सचमुच वह भजन करना चाहता नहीं। आपके चाहनेपर भजन अवश्य हो सकता है। बिना परिश्रम ही सब हो जायगा। यह कलियुग है, मन लगना बड़ा कठिन है। विरले ऐसे होते हैं, जिनका मन सचमुच भगवान्में लग गया हो। पर यदि कोई जीभसे निरन्तर नाम लेने लगे तो फिर बिना मन लगे ही अन्ततक अवश्य कल्याण हो जायगा।

### प्रति तीन घंटेपर इन बातोंपर विचार करें—

मनके अनेक रूप हैं—जैसे काम, संकल्प, संशय आदि। इनके स्वरूपको समझकर इनके विषयमें किस प्रकार सावधानी बरतनी चाहिये, इसके लिये इस विवेचनपर ध्यान देना आवश्यक है—

( १ ) काम—किसी चीजकी इच्छा करनेका नाम है—‘काम’। आप किसी चीजकी इच्छा मत कीजिये। आप अपने मनसे ऐसा मत सोचिये कि ‘अमुक चीज इस रूपमें हो।’

( २ ) संकल्प—किसी अच्छे कामके लिये संकल्प करें, जो भगवान्की ओर ले जानेवाला हो। दूसरा कोई संकल्प मत कीजिये।

( ३ ) संशय—दुनियाके बारेमें संशय कर सकते हैं, पर भगवान्की सत्ताके या परलोक या पुण्य-पापके विषयमें संदेह मनमें हो तो उसे निकाल दें।

( ४ ) विश्वास—वास्तवमें विश्वास करने लायक एकमात्र भगवान् हैं। यह सुझाव दिनभरमें कम-से-कम १५-२० बार अवश्य अपने मनको दीजिये कि ‘भगवान् आपको कभी धोखा नहीं देंगे, और कोई भी धोखा दे सकता है। सब कुछ भगवान्में है, सब कुछ भगवान्से बनता है—निकलता है। भगवान् सबको बनाते हैं। सब कुछ भगवान् हैं। जितनी बातें हमारी धारणामें आती हैं, उनसे परे भी भगवान् हैं।’



संख्या ९]

(५) निषेध—यहाँकी जितनी भी वस्तुएँ हैं, उनके सम्बन्धमें मनको यह सुझाव दीजिये कि वे सभी नश्वर हैं, उनमेंसे किसीपर भी विश्वास नहीं किया जा सकता ।

(६) धृति ( धैर्य )—कोई भी बात आपको मनके प्रतिकूल दीखे, उसके विषयमें आप मनको सुझायें कि यह सारी प्रतिकूलता अनुकूलतामें निश्चय ही बदल जायगी ।

(७) अधृति—एक विचार आपके अंदर ऐसा आना चाहिये कि अब हम एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोयेंगे । इतना ही नहीं, खोनेपर दुःख होना चाहिये । जो समय आपके एवं दूसरोंके लिये परिणाममें सुखदायक हो, वही सार्थक है, बाकी सभी निरर्थक है ।

(८) लज्जा—आपसे कोई काम ऐसा हो जाय, जिससे अपना और दूसरोंका अहित होता हो तो उसमें लज्जाका बोध होना चाहिये । यदि कर सकें तो उस भूलको स्वीकार करनेका साहस बटोरना चाहिये ।

(९) भय—भय आपको किसी चीजसे नहीं होना चाहिये । जब सब जगह भगवान् हैं, सबमें वे ही भरे हैं, सब वे ही बने हैं, तब हमें भय क्यों और किससे होना चाहिये ?

(१०) निश्चय—ऐसा निश्चय करें कि 'चाहे जो भी हो जाय, मैं मनको भगवान्में लगा ही दूँगा—भगवान्की कृपाके बलसे ।'

प्रातः छः बजेसे प्रति तीन घंटेपर कम-से-कम कुछ क्षणोंके लिये उपर्युक्त दसों बातोंपर विचार करें । ऐसा करनेसे निश्चय ही साधनामें प्रगति होगी ।

उठनेके लिये तैयार हो जाइये, वे उठा लेंगे ।

जिनसे आपका वास्तविक एवं नित्य सम्बन्ध है, उस सम्बन्धको एवं उनको तो आप अनादि संस्कारोंके कारण, अनन्त जन्मोंकी आसक्तिके कारण, गौण बनाये हुए हैं और जो मिथ्या है, खेलका है, जिससे आपका सम्बन्ध केवल कुछ वर्षोंसे ही है, उसके साथ सम्बन्धको मुख्य बनाये हुए हैं । कुछ वर्ष पहले न तो आपका यह नाम था और न इस शरीरसे ही आपका सम्बन्ध था । इसके पहले दूसरा नाम था, दूसरा शरीर था । उसके पहले भी दूसरा नाम, दूसरा शरीर था । अनन्त जन्मोंमें अनन्त नामों एवं अनन्त शरीरोंके साथ आपका सम्बन्ध हुआ है और सबसे वियोग भी । ऐसे ही प्रारब्ध पूरा होते ही इस शरीर एवं इस नामसे भी वियोग निश्चय हो जायगा । आज जैसे उन शरीरोंके दुःख-सुखसे, उन शरीरोंके नामोंके मान-अपमानसे, उन शरीरोंसे हुए व्यवहारोंसे आपका तनिक भी सम्बन्ध नहीं, वैसे ही इस नामकी प्रशंसा-निन्दा और इस शरीरके सुख-दुःखसे भी तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहेगा । जैसे उन अनन्त परिवारोंको सुखी बनानेकी कल्पना भी आपके मनमें अब इस जन्ममें नहीं होती, वैसे ही शरीर छूटते ही इस परिवारको भी ( यदि पुनर्जन्म हुआ तो ) भूल जाइयेगा । फिर इनके लिये व्यग्रता क्यों ? जब ये छूट ही जायेंगे, तब इनके लिये इतनी ममता क्यों ? इन वियुक्त होनेवाली वस्तुओंके ममत्वमें फँसकर, इनके सुधार-बिगाड़से चिन्तित होकर, अपने प्राणनाथ प्रभुके ममत्वको क्यों भूलें ? सचमुच इस मोह-राज्यसे ऊपर उठना पड़ेगा । जिस उपायसे भी हो, उठना पड़ेगा । आप उठ सकते हैं, उनके चरणोंको पकड़कर उठ सकते हैं । इसलिये सच्ची लगनसे, पूर्ण उत्साहसे उठनेके लिये तैयार हो जाइये । आप तैयार हुए कि वे उठा लेंगे ।



## मूढ़ता

( लेखक—साधुवेपमें एक पक्षिक )

हम अपने परस्परके व्यवहारमें प्रायः किसीको मूर्ख अथवा मूढ़ कह दिया करते हैं, पर हम भी कहीं मूर्खता अथवा मूढ़तासे घिरे हुए हैं, यह नहीं देख पाते । हमें गुरुप्रदत्त विवेकद्वारा ज्ञात हो सका है कि जहाँ कहीं हम किसी वस्तुके लोभी बन रहे हैं, किसी भी व्यक्तिके प्रति आसक्त होकर मोही बन रहे हैं अथवा कूपमें रहनेवाले भेदककी भाँति एक सीमाके आगे कुछ देख ही नहीं पाते, वहीं हम मूढ़ हैं । अपने आपको शिक्षित अथवा विद्वान् मानते हुए भी जब हम अपने बन्धनका कारण नहीं जानते तथा अपनी अवनति या रुकावटको नहीं देख पाते, तब मूढ़ ही नहीं, विमूढ़ भी हैं । सुखोपभोगकी मादकतामें मनका मूर्च्छित रहना और अपने हितकी बात न सुनना मूर्खता है; मनके पीछे बुद्धिका अटक जाना या कुण्ठित हो जाना मूढ़ता है ।

ज्ञान-चक्षु न खुलनेतक प्रत्येक सम्यन्ध बन्धनका ही कारण बनता रहता है, इसीलिये विमूढ़ व्यक्ति यथार्थको नहीं देख पाता । दृष्टि न खुली हो तो इन्द्रियोंद्वारा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका ग्रहण ही होगा, उनके साथ रहनेवाले परिणामका दर्शन नहीं होगा । आज चारों ओर प्रचारकी ध्वनियाँ सुनायी देती हैं, विचार तो विरले ही कर पाते हैं; विचार करनेवाले भी अनेक विद्वान् हैं, पर उनमें विरले ही अपनी अन्तर्दृष्टिका उपचार करते हैं । हम आत्म-कल्याणकी आशा रखकर जब संत-महात्माओंसे सत्कथा, धर्मचर्चा सुनते हुए असत्से विरक्त और सत्—परमात्मामें अनुरक्त न होकर किसी त्यागी-तपस्वी संन्यासीसे मोह करके तथा अवसर पाकर उसीका-सा वेष बनाकर दूसरोंसे अपने-आपको वैसा ही मनवाकर अपनी पूजा कराते हैं, तब यह भी सद्गति—परमगतिमें बाधा डालनेवाली हमारी मूढ़ता ही सिद्ध होती है । किसी एक मतको मानकर अन्य मतोंका विरोध करना तथा एक धर्मको मानकर अन्य धर्मोंकी निन्दा करना और किसी एक सम्प्रदायसे बँधकर तदनुकूल साधना-पद्धतिका निर्वाह करते हुए सत्य—परमात्माका अनुभव न होनेपर भी अपने-आपको सत्यदर्शी महात्मा मनवाना भी 'मूढ़ता' है । किसी साधकका भगवन्नाम-कीर्तनके द्वारा भगवान्का अनुरागी न होकर

स्वर-तालका अथवा स्वर-तालसे गानेवालेका रागी बन जाना मूढ़ता है ।

हम किसीको त्यागी मानकर उसकी नकल तो कर लेते हैं, पर शान्ति नहीं पाते; किसीको तपस्वी मानकर उसीकी तरह शरीरपर सर्दी-गर्मी सहने लगते हैं, पर भीतर लोभ, मोह, ममता, अभिमान और कामसे मुक्त होनेकी शक्ति नहीं पाते तथा किसीको संन्यासी मानकर उसीकी तरह वस्त्र रँगकर और वेष बनाकर संन्यासी बन जाते हैं, पर संकल्पों और कामनाओंको नहीं छोड़ पाते, यह सब कुछ हमारी मूढ़ताका ही परिणाम है । हमारा अहंकार सजावट, नकल और बनावटसे भोगी तो बन जाता है, पर सत्य, शान्ति और आनन्दका योगी नहीं हो पाता । गुरुप्रदत्त विवेकद्वारा ज्ञात होता है कि अहंरुचि दृश्याकार होनेपर 'अहंकार' कहलाती है । इन्द्रियोंके द्वारा यह अहंकार विषयोंके प्रति अनुकूल वेदनामें अटक जाता है, मनके द्वारा ममतावश मोही, लोभी, कामी और अभिमानी बन जाता है; यह मूढ़ताका ही परिणाम है ।

इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ प्रतीत होता है, उसीको सत्य मान लेना 'मूर्खता' है; मनसे माने हुएको सत्य-सुखद मान लेना 'मूढ़ता' है । इसके विपरीत बुद्धिद्वारा मूर्खता और मूढ़ताके दुष्परिणामको जान लेना 'यथार्थ जानकारी' है । मूर्खता, मूढ़ता और जानकारीके भोक्ताको देखना 'ज्ञान' है । समस्त दृश्याकारोंसे असङ्ग होनेपर अहंकारसे मुक्त हो जानेका नाम 'मुक्ति' है, परमात्मासे अभिन्नताकी अनुभूति अथवा प्रभुसे दूरी मिट जाना ही 'प्रेम' है ।

बाल्यकालसे वृद्धावस्थातक जहाँ-कहीं हम परिवर्तनशील रंग, रूप, मधुर शब्द, सुखद स्पर्श तथा सदा न रहनेवाली किसी आकृति या प्रकृतिमें प्रीति लगाकर रागी बन जाते हैं, वहाँतक अपनी मूढ़ताके कारण हम सत्यका अर्थान्तरित आत्माका अनुभव नहीं कर पाते । जिसका मन रूपोंकी सुन्दरतामें आसक्त नहीं रहता, वह सुगति प्राप्त करता है । जिसका मन किसी व्यक्तिके गुण और ऐश्वर्यकी मोहित—प्रभावित नहीं होता, वह साधक सद्गति प्राप्त करता है; क्योंकि वह बुद्धियोगद्वारा समस्त गुणों और



देख्यो परमात्माके ही जानता है । जो साधक अलौकिक है, उसी सौन्दर्य, ऐश्वर्य और चमत्कारोंसे भी विमोहित न होकर तथा उन्हें मायामय जानकर आत्मस्वरूपमें स्थित रहता है, उसे ही परमगति सुलभ होती है । जिस तरह मृदासे अटका देनेवाली मृदा सद्गतिमें बाधक है, उसी तरह सद्गतिके प्रति मोह उत्पन्न करनेवाली मृदा परमगतिमें बाधक है ।

परमात्मा एक हैं; उनसे मिलनेके साधन अनेक हो सकते हैं; पर जो साधनोंमें ही अटक जाता है, वही मृदावश परमात्मासे विमुख बना रहता है । परमात्माके दर्शनके द्वार अनेक हो सकते हैं, पर जो द्वारके मोहमें पड़ जाता है, वही मृदावश दर्शनसे वञ्चित रह जाता है । परमात्मा और अहंकारके मध्य सीढ़ियाँ अनेक हो सकती हैं, पर जो किसी सीढ़ीमें ही ठहरकर दृश्य-दर्शनका सुखास्वाद लेने लगता है, वह परमानन्ददर्शनका आस्वाद नहीं ले पाता । परमात्मासे यद्यपि हमारी दूरी नहीं है, तथापि मानी हुई दूरीके मध्यमें रुकावट डालनेवाले तथा अपनी ठोकरसे गिरा देनेवाले अनेक ऊँचे पत्थर हैं; जो जानते हैं, वे उस अवरोधके स्थलको चढ़नेकी सीढ़ी बना लेते हैं, पर अज्ञानी

मृदजनोके लिये ऊँचे उठानेवाले खण्ड पतनके हेतु बन जाते हैं । मृदावश जो संयोग पतनके गर्तमें गिराता है, उसीको मृदाके त्यागी छल्लाँ मारकर पार कर जाते हैं । मृदावश जो साधक नाम-रूपपर अटक जाता है, वह नाम-रूपके प्रकाशक आत्माको नहीं जान पाता । जो किसी रूपकी सुन्दरतापर अटक जाता है, वह मृदावश सौन्दर्य-सिन्धु आत्माका योगी नहीं हो पाता ।

जो साधक विनाशीकी परिधि पारकर अविनाशीको देखता है, उसीकी मृदाका अन्त होता है । जो विनाशी नाम-रूपोंको देखनेवाली दृष्टिके पीछे लौटकर देखनेवाले स्वयंको देख लेता है, उसीकी मृदाका अन्त होता है । जो साधक इन्द्रिय-दृष्टिसे प्रतीत होनेवाले दृश्यका रागी न बनकर, सबसे असङ्ग रहकर द्रष्टामें दृष्टिको लीन कर लेता है, वही मृदाकी सीमासे मुक्त होता है । जो साधक विवेकवती बुद्धिद्वारा अपने साथ रहनेवाली देह-मन आदि वस्तुओंको अपनी न मानकर, अपने लिये कुछ भी न बचाकर सर्वस्व प्रभुकी सृष्टिके सेवार्थ लौटा देता है और अपने लिये कुछ भी नहीं चाहता, वही मृदाके दुष्परिणाम-भोगसे मुक्त हो पाता है ।

## मनुष्य-जन्म देनेके लिये है, लेनेके लिये नहीं

इस बातको आप कभी न भूलें कि आपका जन्म देनेके लिये है, लेनेके लिये नहीं । इसलिये आपको जो कुछ देना है, वह बिना आपत्ति किये, बदलेकी इच्छा न रखकर, दे दीजिये; नहीं तो दुःख भोगने पड़ेंगे । प्रकृतिके नियम इतने कठोर हैं कि आप प्रसन्नतासे न देंगे तो वह आपसे जबरदस्ती लीन लेगी । आप अपने सर्वस्वको चाहे जितने दिनोंतक छातीसे लगाये रहें, एक दिन प्रकृति उसे आपकी छातीपर सवार हो लिये बिना न छोड़ेगी । प्रकृति बेईमान नहीं है, आपके दानका बदला वह अवश्य चुका देगी; परंतु बदला पानेकी इच्छा करेंगे तो दुःखके सिवा और कुछ हाथ न लगेगा । इससे तो राजी-खुशी दे देना ही अच्छा है । सूर्य समुद्रका जल सोखता है तो उसी जलसे पुनः पृथ्वीको तर भी कर देता है । एकसे लेकर दूसरेको और दूसरेसे लेकर पहलेको देना सृष्टिका काम ही है । उसके नियमोंमें बाधा डालनेकी हमारी शक्ति नहीं है । इस कोठरीकी हवा जितनी बाहर निकलती रहेगी, बाहरसे उतनी ही ताजी हवा पुनः इसमें आती जायगी और इसके दरवाजे आप बंद कर देंगे तो बाहरसे हवा आना तो दूर रहा, इसीमेंकी हवा विषाक्त होकर आपको मृत्युके अर्शन कर देगी । आप जितना अधिक देंगे, उससे हजार गुना प्रकृतिसे आप पायेंगे । परंतु उसे पानेके लिये धीरज रखना होगा । अनासक्त बनना अत्यन्त कठिन है । ऐसी वृत्ति बनानेके लिये महान् शक्ति प्राप्त होनी चाहिये । हमारे जीवनरूपी वनमें अनेक जाल बिछे हुए हैं; बहुत-से साँप, बिच्छू, सिंह, सियार स्वेच्छासे घूम रहे हैं; उनसे बचकर अपना रास्ता सुधारनेमें हमारे शरीरको चाहे जितने कष्ट क्यों न सहने पड़ें, हाथ-पैर टूटकर हमारा सारा शरीर खूनसे लथपथ क्यों न हो जाय, हमें अपनी मानसिक दृढ़ता ज्यों-की-त्यों बनायी रखनी चाहिये—अपने कर्तव्यपथसे जरा भी न हिलना चाहिये ।

—स्वामी विवेकानन्द



# श्रीश्रीचन्दनेश्वर

( लेखक—श्रीशक्तिप्रसाद पाल )

दीघा—समुद्र-किनारेका नया बंदरगाह । यहाँसे समुद्रके किनारे-किनारे तीन मीलतक बसका मार्ग । यहीं है बंगाल और उड़ीसाकी सीमा रेखा । रास्ता बादामके जंगलसे भरा हुआ । कहीं-कहीं पानकी लताएँ ।

मार्गकी बायीं ओर समुद्र और दायीं ओर बालूके पहाड़ । छोटे-छोटे गाँवोंके बीचसे रास्ता । समुद्रका जल तो दिखायी नहीं देता, किंतु सुनायी पड़ता है राजन् ! सीमा-रेखासे करीब एक घंटेका पैदल चलनेका मार्ग । खूब ही शान्त और गम्भीर परिवेश । पेड़-पौधे, झाड़-झंखाड़ मन्दिरके चारों ओर । एक तालाब और किनारेपर एक वट-वृक्ष । वटके किनारे चारों ओर केश-स्तूप । देवकी मानता करनेवाले मुण्डन करारकर केश-राशि वट-वृक्षके समीप चढ़ा देते हैं ।

तालाबके समीप ही शिव-मन्दिर । नाम चन्दनेश्वर । लगभग तीन चार सौ वर्ष पुरानी कथा है । उस समय इस समुद्रका तटवर्ती स्थान भीषण-कण्टकलताओंसे समाकीर्ण, बृहत्-बृहत् पादप-राजियोंसे शोभित विस्तीर्ण भूभाग जनवस्तीसे शून्य था । इस जंगलके समीप बनानी नामका गाँव है । उस ग्रामके वासी जन भी इस जंगलमें आनेका साहस नहीं करते थे; क्योंकि रात्रिकालमें अनेक तरहके अलौकिक शब्द और आलोकराशि प्रज्वलित होती हुई देखी जाती थी ।

सुगल साम्राज्यका समय था । बाँकुड़के 'भू-शा'—पदवीधारी भूम्यधिकारीके उच्च-पदस्थ कर्मचारी पं० हरि-चन्दन पंत इस गाँवमें पाइक बरकंदाज ( सिपाही ) के साथ नियुक्त थे ।

बनानी गाँवके समीप ही तेलियोंकी एक बस्ती थी । गेहली नामकी एक विधवा स्त्री उस गाँवमें रहती थी । उसकी एक सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या थी, नाम था लक्ष्मी । लक्ष्मी बनानी ग्रामस्थित सरकारी कर्मचारी पं० पंतके यहाँ दूध पहुँचाती थी । पंत महाशय बालिकापर अत्यन्त स्नेह करते थे । बालिकाकी तीक्ष्ण बुद्धि देखकर पंत महाशय उसे कुछ लिखना पढ़ना सिखाने लगे । कुछ ही समयमें बालिकाने रामायण-महाभारत-पुराणादिका श्रवण और पाठ मनोनिवेशपूर्वक करते हुए अल्पवयस्में ही पूजा-पाठमें मन लगा लिया । वयस्का होनेपर समीपवर्ती गाँवकी एक विधवाके पुत्रके साथ

उसका विवाह हो गया । श्वशुरालयमें जानेपर लक्ष्मी गृहकार्यमें मन न लगाकर सर्वदा पूजा-पाठमें ही लगी रहने लगी । सासने उसे साधना-भजन-पूजनमें लगी देखकर और गृहकार्यमें योग न देनेके कारण घरकी कुछ गायोंको चरानेका काम सौंप दिया । लक्ष्मी सानन्द गोचारणमें प्रवृत्त हो गयी और उन्हें समीपवर्ती जंगलमें ले जाने लगी । वहाँ पहुँचकर वह गायोंको छोड़ देती और स्वयं ध्यान तथा पूजा-पाठमें लग जाती । संध्या होनेपर गायोंको इकट्ठा करती, घर लौट आती । सायं दुधारू गायोंके बच्चोंको घरमें बाँध रखती और गायोंके चरकर लौट आनेपर उनका दूध दुहती थी । धीरे-धीरे गायोंका दूध कम होने लगा । वृद्धा सास अपनी पुत्रवधूपर संदेह करके उसे अपमानित करने लगी । बालिका-वधू इस रहस्यके कुछ समझ न पानेके कारण व्याकुल दृष्टिसे ताकती रहती । क्रमशः गायोंके दूध देना बंद करनेके साथ-साथ सासने वधूको मारना-पीटना चालू कर दिया । कष्ट और वेदनासे पीड़ित लक्ष्मीने एक दिन सासका पदस्पर्श करके शपथ ली कि 'यदि मैं दुग्धहारीको पकड़ न पाऊँगी तो घर लौटकर नहीं आऊँगी ।' यों कहकर नियमितरूपसे वह बालिका-वधू गायोंको लेकर जंगलमें गयी और उसने उन्हें चरनेको छोड़ दिया । साथ ही गायोंकी गति-विधिपर लक्ष्य रखते हुए वह आशुतोष भवानीपतिका स्मरण करने लगी । थोड़े समय बाद ही गायें हंवा-हंवा करके रँभाती हुई उस घने जंगलकी ओर बढ़ने लगीं । लक्ष्मी भी उनके पीछे-पीछे चलने लगी । गायें घने जंगलमें घुसकर एक बिल्व-वृक्षके नीचे जा खड़ी हुईं । स्थान अतीव सुरम्य और नानाजातीय पुष्पादिके वृक्षोंसे सुशोभित था । अकस्मात् शून्य मार्गपर दुन्दुभिनाद-जैती आवाज आने लगी । वृक्षमूल-निकटस्थ मृत्तिका विदीर्ण होकर एक गह्वर दृष्टिगोचर होने लगा । उस गह्वरके ऊपर गायें एक-एक आकर खड़ी होने लगीं । उनके आनेपर अपने आप स्तनोंसे दुग्ध-धारका वहना शुरू हो जाता और उसी समय वृक्षोंसे पत्र-पुष्प गिरने लगते । इस आश्चर्यमयी घटनाको देख लक्ष्मी भावविह्वल हो उठी । उस गह्वरके निकट जाकर उसने साष्टाङ्ग दण्डवत् किया तथा कातरभावसे भवानीपति आशुतोषको पुकारने लगी । संध्या होनेपर गायें घर लौट आयीं । साथमें बालवधूको न देख सासने अपने लड़केको



बुलाया और बहूको खोज लानेके लिये कहा। पास ही उसका निवे-यह था। अपने मायके चली गयी होगी, यह सोचकर पुन समुद्राल जा पहुँचा। किंतु वहाँ भी उसका पता न पाकर उठने अपनी साससे लक्ष्मीके सम्बन्धकी सब बातें बतला दीं। बहूकी बात सुनकर मा सिर पीटती हुई पं० पंत महाशयके समीप पहुँची और रोने-चिल्लाने लगी। पण्डितजीने उसे दत्त देते हुए अपने सिपाहियोंको उस लड़कीकी खोज-खानना करवा लेनेके लिये चारों ओर भेजा। सब मिलकर और जंगल जलाकर जंगलके सुगम स्थानोंको देखकर लौट आये। किसी हिंसक जन्तुने मारकर बालिकाको खा डाला होगा, यह सोचकर सब शोक मनाने लगे।

उपर दुर्गम अरण्यके उस विल्वमूलके नीचेके विवरके निकट पड़ी हुई लक्ष्मी एकनिष्ठ होकर विश्वपिताको पुकार रही थी। इस तरह उसकी तीन दिन और तीन रातें आहार-निद्रा-रहित एवं उस हिंसजन्तुसमाकुल भीषण अरण्यकी भीतिप्रद विभीषिकाकी परवा किये बिना अपने कलङ्कको दूर करानेकी प्रार्थना करते हुए उसकी बीतीं।

अशुतोष भोलेनाथ महेश्वर भक्तकी दृढ़तापर मुग्ध होकर उस विवरमेंसे प्रकट हो गये। चारों दिशाएँ ज्योतिसे जगमगा उठीं। लक्ष्मी उस ज्योतिर्मय मूर्तिके दर्शनकर आत्मविस्मृत हो गयी। चरणोंमें गिर पड़ी। कुछ बोल न सकी। तभी भगवान् शंकर लक्ष्मीको सम्बोधित कर कहने लगे—‘पूर्व-जन्मके पुण्यफलसे तुझे मेरा दर्शन मिला है। जा, अब घर जा। तेरी सास आदि तुझे बिना देखे अत्यन्त कातर हो उठें हैं। आजसे हम अपनी इस लीलाभूमि हुगली जंगलके अन्तर्गत इस विल्ववृक्ष-मूलके विवरमें अवस्थान करेंगे। इससे पूर्व एक महात्मा सिद्ध पुरुष यहाँ हमारे प्रकट होनेकी सम्भावनाको लिये हुए समीप ही रह रहे हैं। कल तुझे उनका साक्षात्कार होगा। उड़ीसा राज्यद्वारा विताडित एक शिवभक्त ब्राह्मण अगनी पंडा भी यहाँ समीप ही रहता है। उसे भी रात्रिको मैंने स्वप्न दिया है। तेरी सासको स्वप्नादेश दिया गया है। सब मिलकर इस जंगलको साफ करना और हमारी इस विवरमें पूजा करना। यहाँ चन्दनेश्वरके नामसे हम प्रसिद्ध-होंगे। भक्तिपूर्वक हमारी अर्चना करनेपर तुम सबके अभीष्ट-की सिद्धि होगी। आजसे तेरी वंश-परम्परा हमारी पट्टभक्त होगी। जैत्रमें उत्सवके समय हमारा व्रत करनेसे अभीष्टकी सिद्धि होगी।’ इस प्रकार उपदेश देकर शंकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। लक्ष्मी भावविह्वल बनी हुई सबेरे ही घरकी ओर लौट गयी।

रातको लक्ष्मीकी सासको निद्रावस्थामें भैरवरूपमें त्रिशूल लिये हुए भगवान् शिव दिखायी दिये और कह गये कि—‘बुढ़िया! तूने अपनी पुत्रवधूको दूध चोरी करके पीनेका कलङ्क लगाकर दण्ड दिया है। किंतु उसने दूध नहीं पिया है। हमारे मस्तकपर सभी गायें दुग्ध क्षरण करती थीं। तेरी बहू वर प्राप्त करके वापिस आ रही है। आदरपूर्वक उसको घर ले आ और हमारी नित्य-लीलास्थली हुगली-जंगलको साफ कर सेवा-पूजामें सहायक बन। नहीं तो यह त्रिशूल तेरी छातीमें भोंक दूँगा।’ भयसे बूढ़ी चिल्ला पड़ी। पुत्रको बुलाकर उसने उसे सपनेकी बात सुनायी और काँपती रही। इधर अगनी पंडाको स्वप्नादेश हुआ और वह लक्ष्मीके घरकी ओर चल पड़ा। बुढ़ियाने दरवाजा खोलते ही सामने अपनी बहूको खड़ी पाया। सास बहूको अपनी छातीसे लगाकर रोने लगी। सब मिलकर पंडेके घरकी ओर चले। मार्गमें उससे भेंट हो गयी। परस्पर एक-दूसरेके साथ घटी हुई घटनाकी चर्चा हुई। पीछे जंगल-सफाईकी व्यवस्था की गयी। विवरमें यथाविधि पूजा-अर्चना की गयी। सिद्ध पुरुषको भोलानाथके प्राकट्यका समाचार प्राप्त हो गया। इसलिये वे भी चन्दनेश्वर शिवके सामने वृक्षमूलपर अपनी धूनी जलाकर ध्यानस्थ हो बैठ गये। लक्ष्मीको भक्तिमती देखकर उन्होंने उसे शिव-मन्त्रकी दीक्षा दी। लक्ष्मी भी संन्यासीकी तरह कालयापन करने लगी। क्रमशः देश-देशान्तरसे बाबाके अद्भुत प्राकट्यकी कथा सुनकर यात्रियोंके दल-के-दल वहाँ आने लगे और पूर्ण समारोहके साथ वहाँ सेवा-पूजा होने लगी।

कुछ समय बाद समुद्रके किनारे-किनारे चलती हुई यवन-सेनाने एक दिन इस स्थानपर अपनी छावनी डाली। सबेरे ही शङ्ख, घंटे और ढोलकी आवाज सुनकर सेनाकी एक टुकड़ी मन्दिरके सामने आ उपस्थित हुई। सामने गैरिक वस्त्र धारण किये आलोलित-कुन्तल अद्भुत लावण्यशालिनी लक्ष्मीको देखकर उन्होंने अपने अध्यक्षको सूचना दी—‘जनाव, एक स्वर्गकी हूरको काफिरोंके मन्दिरके सामने देखकर हमें आश्चर्य हुआ है। ऐसी अपरूप सुन्दरी हमने नवाबके बेगम-महलमें भी नहीं देखी।’ खबर पाकर अध्यक्ष भी ससैन्य अस्त्र-शस्त्र लेकर मन्दिरके सामने आ उपस्थित हुआ। स्वेच्छाचारी यवनाध्यक्षने अपने अनुचरोंको आदेश दिया—‘इस युवतीको गिरफ्तार कर लो। तोपसे इस मन्दिरको उड़ा दो।’ आदेश मिलते ही सेनाके लोग अस्त्र-शस्त्र लेकर चढ़ दौड़े। आकस्मिक आक्रमण होनेसे जन-समुदाय इतस्ततः विक्षिप्त, भीत, कम्पित हो उठा। लक्ष्मी सिद्ध महात्माके



पदतलमें गिर गयी—‘रक्षा करो, गुरुदेव !’ महात्माने उसे मन्दिरमें भेजकर कहा कि ‘प्रभुकी शरण लो’ और यवनाध्यक्षकी ओर कुटिल कटाक्षपात किया। लक्ष्मी मन्दिरमें चली गयी और शरणागतवत्सल सर्वशक्तिमान् स्वयम्भू भगवान्का स्तवन करने लगी। सेना मन्दिरको चारों ओरसे घेरकर गोले-गोलियाँ छोड़ने लगी। किंतु कैसा आश्चर्य ! कमान-बंदूकसे गोले एवं गोलियाँ निकलीं ही नहीं। यवन-अध्यक्ष क्रोधमें बावला बनकर मन्दिरमें घुस उस लक्ष्मीको पकड़नेके लिये तैयार हो गया। तभी चारों ओरसे कम्पित करनेवाले भीषण स्वर उठने लगे। सेनाके हाथसे अस्त्र-शस्त्र ढीले होकर गिरने लगे। भूगर्भसे अद्भुतहासकी ध्वनि करते हुए एक विशालकाय पुरुष लक्ष्मीके हाथमें एक त्रिशूल देकर शून्यमें विलीन हो गया। लक्ष्मी उस विराट् त्रिशूलको हाथमें पाकर अध्यक्षकी ओर अग्रसर हुई। अध्यक्ष विस्मित और भीत होकर लक्ष्मीके पाँवोंपर गिर पड़ा और हाथ जोड़कर क्षमाकी भिक्षा माँगने लगा। वह सजल नयनोंसे कहने लगा—‘माँ गुस्सा हो गयी हो ? माफ

करो, माँ ! हिंदू-देवताओंकी करामात हमारे अकबर बादशाहकी जानी हुई है। हम अपनी नाक घिसकर सलाम देते हैं। आजसे इन चन्दनेश्वर देवके इलाकेमें किसी यवनको अस्त्र चार करनेका अधिकार नहीं होगा। हम पीतलका पंजा और सनद देकर यहाँकी समस्त भू-सम्पत्ति देवार्पण किये देते हैं। इस प्रार्थनाके पश्चात् सब कुछ प्रकृतिस्थ हो गया। लक्ष्मी भी बाबाकी असीम करुणा देखकर नतजानु हो प्रभु-चरणोंमें प्रणत हुई। अध्यक्ष सेना लौटाकर और सलाम करते-करते वह स्थान छोड़ गया। बाबाकी इस प्रकारकी अलौकिक महिमाकी खबर चारों ओर फैल गयी। हजारों नर-नारी देश-विदेशसे अपने रोग-शोक, पाप-तापसे मुक्ति पानेके लिये आने और मनोवाञ्छित फल पाने लगे। वहाँ आनेवाले निस्संतान व्यक्ति पुत्रवान् होकर आज भी आनन्दलाभ करते हैं। अनेकों मानता मानते हैं और सफलमनोरथ होते हैं। रोग-शोकसे मुक्तिलाभ करते हैं। ऐसे चमत्कारी देवको हमारे शतशः प्रणाम। ( बंगला मन्दिर से )

## श्रीभुवनेश्वरी देवीका शाश्वत सार्वभौम राज्य

( लेखक—पं० श्रीकुबेरनाथजी शुक्ल )

सृष्टिके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें अनेक मत व्यक्त किये गये हैं और उनकी प्रक्रिया भी अपनी-अपनी निराली है। आधुनिक वैज्ञानिकोंने भी सृष्टिके सम्बन्धमें अपने विचार प्रकट किये हैं। विकासवाद, परिणामवाद, विवर्तवाद प्रभृति अनेक वाद प्रचलित हैं। ‘इदमित्थम्’ कहना दुस्साहसमात्र है। प्रस्तुत लेखमें जिन देवीजीका वर्णन है, वे वैज्ञानिक खोजकी परिधिसे बहुत ऊपर हैं। अतः देवीभागवतके आधारपर यह निबन्ध प्रस्तुत किया जा रहा है।

देवर्षि नारदने अपने पिता ब्रह्माजीसे पूछा—‘ब्रह्मन् ! ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति कैसे होती है और सर्वोत्कृष्ट आराध्य कौन है ? कृपया स्पष्ट बतलाकर मेरे संशयका निराकरण कीजिये।’

ब्रह्माजी बोले—‘प्रलयकालमें ब्रह्माण्डके समस्त स्थावर-जङ्गम सृष्टि नष्ट हो जाती है और सर्वत्र जलका समुद्र दृष्टि-गोचर होता है। उस समय जलके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। अकस्मात् कमलसे मेरी उत्पत्ति हुई। मैंने सूर्य, चन्द्र, वृक्ष, पर्वत आदि कुछ भी नहीं देखे। उस समय मैंने चिन्ता की कि ‘इस समुद्रमें कैसे मेरा जन्म हुआ ? कौन हमारा रक्षक प्रभु है ? कौन कर्ता और संहर्ता है। कहीं

पृथ्वी दृष्टिगोचर नहीं होती। किस आधारपर यह महाप्रजल-समुद्र स्थित है ?’ पङ्कजकी उत्पत्ति पङ्कसे होती है। अतः मैं पङ्ककी खोज करने लगा। सहस्रों वर्षोंतक खोज करनेपर भी मैंने कहीं पङ्क नहीं देखा।

“आकाशवाणी हुई—‘तप करो!’ तदनुसार मैंने कमलसहस्रों वर्षोंतक तप किया। पुनः आकाशवाणी हुई—‘सृष्टि करो।’ उसको सुनकर मैं ऊहापोहमें पड़ गया कि ‘कैसे सृष्टि करूँ ?’ उस समय दो भयंकर दैत्य—मधु और कैटभ—अकस्मात् आविर्भूत हुए और युद्धके लिये मुझे ललकाते लगे। मैं कमलनालको पकड़कर नीचे जलमें उतरा। वहाँ मैंने एक अद्भुत पुरुषको देखा। मैंने मेघश्याम, चतुर्भुज, पीताम्बर, शेषशायी, वनमाला-विभूषित, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मप्रभृति आयुधोंसे सुशोभित विष्णु भगवान्को शेष पर्यङ्कपर सुप्त देखा। वे योगनिद्रासे आक्रान्त होकर निद्रासे पर्यङ्कपर सुप्त देखा। वे योगनिद्रासे आक्रान्त होकर निद्रासे पड़े थे। मुझे चिन्ता हुई कि ‘अब क्या करूँ ? तब मैंने निद्रास्वरूपिणी तामसी महाशक्तिका स्मरण किया। वे देव-विष्णुभगवान्के शरीरको छोड़कर दिव्याभरणोंसे विभूषित हो आकाशमण्डलमें स्थित हो गयीं। उनसे वियुक्त हो जानेवाले विष्णुभगवान् उठ बैठे। उन्होंने दोनों भयंकर दानवोंको



‘देवीजीके मधुर शब्दोंको सुनकर हम तीनोंने कहा—  
हमलोग सृष्टि करनेमें असमर्थ हैं। पृथ्वी कहीं दृष्टिगोचर नहीं  
हो रही है। सर्वत्र जल-ही-जल दिखलाई पड़ रहा है।  
महाभूत, त्रिगुण, तन्मात्राएँ और इन्द्रियगण भी दृश्य  
नहीं हैं।’

“हमलोगोंके वचन सुनकर देवीजी मुसकरा दीं । तत्काल  
आकाशमण्डले एक विमान आया । देवीजीने कहा—  
‘देवगण ! आपलोग इस विमानपर बैठ जायँ ।’ देवगण  
विमानपर बैठ गये और देवीजीके संकेतपर वह विमान उड़ा ।

“वह विमान मनोवेगसे एक ऐसे स्थानपर जा पहुँचा, जहाँ जल नहीं था । हमलोग उस स्थानको देखकर चकित हो गये । वहाँ कोकिलोंके कूजितसे रम्य विविध फलोंके वृक्ष, ऋषिवी, पर्वत, वन, उपवन, स्त्री-पुरुष, पशु, पक्षी, नदी, वीरी, तडाग, कूप, निर्झर प्रभृति दृष्टिगोचर हो रहे थे । वहाँ दिव्य प्राकारोंसे विभूषित एक सुन्दर नगर दृश्यमान था, जो विविध यज्ञशालाओं, अट्टालिकाओं तथा विशाल भवनोंसे सुशोभित था । उसको देखकर ‘यह स्वर्ग है’ ऐसा हमलोगोंको आभास हुआ । कुछ ही समयमें वातप्रेरित वह विमान स्थानान्तरपर गया । हमलोग नन्दनवनमें पहुँच गये । वहाँ पारिजात वृक्षकी छायामें सुरभि ( कामधेनु ) बैठी थी । उसके गर्भापमें ऐरावत नामका हाथी था । वहाँ मेनका प्रभृति अप्सराएँ क्रीडा कर रही थीं और विविध हाव-भावोंके साथ श्रवण-गान कर रही थीं । वहाँ सैकड़ों गन्धर्व, यक्ष, विद्याधर प्रभृति मन्दार वृक्षोंकी वाटिकामें गा रहे थे और खेल रहे थे । शचीके साथ इन्द्र भी वहाँ दृष्टिगोचर हुए । स्वर्गको देखकर हमलोग आश्चर्यचकित हो गये । वहाँ वरुण, कुबेर, यम, सूर्य, अग्नि—सारे प्रधान देवता उपस्थित थे ।

“पुनः वेगसे वह विमान स्थानान्तरके लिये उड़ा और  
ब्रह्मलोकमें जा पहुँचा । ब्रह्माजीको देखकर विष्णुभगवान्

और शंकरजी विस्मित हुए। वहाँ सभामें सभी वेद अपने-अपने अङ्गोंके साथ उपस्थित थे। सागर, नदियाँ, पर्वत, उरग प्रभृति विद्यमान थे। विष्णुभगवान् और शंकरजीने मुझे पूछा—‘ब्रह्मन् ! यह सनातन ब्रह्मा कौन है ?’ मैंने उत्तरमें कहा—‘मैं इस सृष्टिकर्ता ब्रह्माको नहीं जानता। मुझे आश्चर्य है कि ये कौन हैं और मैं कौन हूँ।’

“मनोवेगसे वह विमान वहाँसे उड़ा। कुछ ही क्षणोंमें वह कैलासपर्वतके शिखरपर पहुँच गया। कैलास यक्षगणोंसे परिपूर्ण तथा अतिरम्य था। वहाँ सुन्दर मन्दार-वाटिकाओंमें कीर, कोकिल प्रभृति पक्षी मधुर कलरव कर रहे थे। वहाँ वीणा, मुरज प्रभृति सुन्दर वाद्य बज रहे थे। विमानके पहुँचते ही त्रिलोचन, पञ्चानन, दशभुज शंकर भगवान् व्याघ्रचर्म धारण किये तथा गजचर्मका उत्तरीय लिये, मस्तकपर अर्धचन्द्रसे अलंकृत, वृषारूढ़ अपने सदनसे बाहर निकले। साथमें उनके पुत्र गजानन और षडानन भी थे। नन्दी प्रभृति गण पीछेसे जय-शब्दोद्घोष करते हुए चल रहे थे। उस दूसरे शंकरको देखकर हमलोग विस्मयान्वित हुए।

“कुछ क्षणोंमें वह विमान उस पर्वतशिखरसे उड़ा और वैकुण्ठमें पहुँच गया। वहाँ हमलोगोंने अलौकिक विभूतियाँ देखीं। विष्णुभगवान् उस उत्तम पुरको देखकर अत्यन्त विस्मित हुए। अतसी कुसुमके समान कान्तिमान्, पीताम्बर, चतुर्भुज विष्णुभगवान् दिव्याभरणोंसे विभूषित गरुडपर आरूढ़ दृष्टिगोचर हुए। लक्ष्मीजी उनपर चमर आन्दोलित कर रही थीं। उन सनातन विष्णुको देखकर हमलोग अतिविस्मित हुए।

“वहाँसे वह विमान वायुवेगसे उड़ा और सुधा-समुद्रमें पहुँच गया। वह समुद्र जलचरोंसे परिपूर्ण; चञ्चल तरङ्गोंसे युक्त तथा मन्दार, पारिजात, बकुल प्रभृति वृक्षोंसे सुशोभित था। वहाँ कौकिल कूज रहे थे, भ्रमर गुंजार कर रहे थे और दिव्य पुष्पोंकी सुगन्ध फैल रही थी। हमलोगोंने दूरसे एक सुन्दर, आकर्षक पर्यङ्क ( पलंग ) देखा, जो रत्नसमूहसे खचित एवं अलंकृत था। उसपर उत्तमोत्तम आस्तरण बिछे थे और एक दिव्य वराङ्गना बैठी थीं, जिन्होंने रक्तमाला एवं रक्तवस्त्र धारण कर रखे थे तथा जो रक्तगन्धोंसे लिप्त थीं। उनकी आँखें रक्त थीं। उनकी प्रभा कोटि विद्युत्के समान थी। उनका मुख सुप्रभाकी मूर्ति था। उनकी कान्ति करोड़ों लक्ष्मियोंकी कान्तिसे भी अधिक थी। वे थीं भुवनेश्वरी



देवी, जिनका सौन्दर्य अदृष्टपूर्व था । वे कृष्णाकी मूर्ति थीं और उनका मुखाम्बुज मन्दस्मितसे विभूषित था । सखीवृन्द उनकी स्तुति कर रहा था और वे अमर-कन्याओंसे घिरी हुई थीं । उन दिव्य सौन्दर्यमयी अलौकिक सुषमा-सम्पन्न देवीको देखकर हम तीनों अत्यन्त चकित हुए । वे कोई अप्सरा, गन्धर्वी अथवा देवाङ्गना नहीं थीं । वे कौन हैं, यह जाननेको हमलोग अत्यन्त उत्सुक थे ।

“विष्णुभगवान् अपने ज्ञानसे मनमें निश्चय किया कि ये भगवती हम सर्वोंकी जननी हैं । वे महामाया, महाविद्या, अविनाशी पूर्ण प्रकृति हैं । वे मन्दबुद्धियोंके लिये दुर्ज्ञेय हैं । मन्दभाग्योंके लिये वे दुराराध्य हैं । वे वेदगर्भा, विशालाक्षी और लोककी अधीश्वरी हैं । वे प्रलयकालमें समस्त विश्वको आत्मसात् करके क्रीड़ा करती हैं । वे सब प्राणियोंके मूलतत्त्व-को अपनेमें निविष्ट कर लेती हैं । वे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका मूल कारण हैं । उनकी असंख्य विभूतियाँ उनके पार्श्वमें स्थित हैं । दिव्याभरणोंसे विभूषित एवं दिव्य गन्धोंसे अनुलसित होकर वे सेवामें तत्पर हैं । हमलोग धन्य हैं, सर्वथा कृतकृत्य हैं, जो साक्षात् भगवतीका दर्शन कर रहे हैं । पूर्वकालमें जो तप किये गये हैं, उनके ये फल हैं । जो तपस्वी और पुण्यात्मा हैं, वे ही देवीजीका दर्शन प्राप्त कर सकते हैं । देवीजी मूल प्रकृति हैं, जो सदा परमपुरुषके साथ सानन्द निवास करती हैं । वे ब्रह्माण्डका निर्माण करके परमपुरुषको दिखलाती हैं और इस प्रकार उनका मनोरञ्जन करती हैं । ये वे ही वराङ्गना हैं, जिन्होंने शैशवावस्थामें वट-पत्रके ऊपर शयन करते हुए तथा बाल-स्वभाववश विविध क्रीड़ा करते हुए मुझे बड़े प्रेमसे खिलाया था । ये निश्चय ही हमलोगोंकी माता हैं, जिन्होंने हमलोगोंको जन्म दिया है ।”

“यों कहकर विष्णुभगवान् बोले—“आओ, हमलोग इनके समीप चलें और इन्हें पुनः-पुनः प्रणाम करें । ये निश्चय ही हमलोगोंको वर प्रदान करेंगी । यदि द्वारपाल हमलोगोंको इनके समीप जानेसे रोकेंगे तो हमलोग सावधान होकर बाहरसे ही देवीजीकी स्तुति करेंगे ।”

“विष्णुभगवान् के यों कहनेपर हम तीनों समीप जानेको उद्यत हुए । विमानसे उतरकर हमलोग द्वारपर पहुँच गये । देवीजी हमलोगोंको देखकर मुस्करा दीं । हमलोग सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित दिव्य युवतियोंके रूपमें परिणत हो

गये । हमलोग विस्मयान्वित होकर देवीजीके समीप गये । उन्होंने हमलोगोंको स्नेहार्द्र दृष्टिसे देखा । देवीजीको प्रणाम कर हमलोग वहाँ खड़े हो गये और कोटि सूर्योंके समान देदीप्यमान, विविध रत्न-मणि-जटित देवीजीके पादपीठको देखने लगे । वहाँ रक्ताम्बर, पीताम्बर, नीलाम्बर धारणकर विविध आभूषणोंसे विभूषित सुन्दरी स्त्रियाँ परिचर्यामें लगे हुई थीं । कुछ स्त्रियाँ नाच रही थीं, कुछ गा रही थीं और कुछ वीणा एवं मारुत-वाद्योंको बजा रही थीं । नारद । वहाँ हमलोगोंने एक अद्भुत दृश्य देखा । देवीजीके चरण-पङ्क्तियोंके नखोंमें समस्त ब्रह्माण्ड ( स्थावर-जङ्गम ) दिखलाई पड़ा । मैं, विष्णु, रुद्र, वायु, यम, अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वरुण, कुबेर, अश्विनीकुमार, वसु, इन्द्र आदि देवगण, पर्वत, सागर, नदियाँ, गन्धर्व, अप्सराएँ, नारद, तुम्बुरु, हाहा-हूहू आदि गन्धर्व, सिद्ध, साध्य, सिद्धगण, नाग, शेष, किन्नर, उरग, राक्षस प्रभृति तथा वैकुण्ठ, कैलास, ब्रह्मलोक प्रभृति सब कुछ दृष्टिगोचर हो रहा था । मैंने अपने उद्भवके कारण कमल, चतुरानन ब्रह्मा, शेषशायी जगन्नाथ तथा मधु-कैटभको देखा । यह सब देखकर हमलोग चकित हो गये । हमलोगोंने निश्चय किया कि देवीजी विश्वकी माता हैं । उस मङ्गलमय सुधाद्रीपमें क्रीड़ा-कलापको देखते हुए हमलोगोंके शत वर्ष व्यतीत हो गये ।

“युवतीरूपमें विष्णुभगवान् उन महादेवी भुवनेश्वरीकी स्तुति करने लगे । उन्होंने कहा—“सर्वविश्वाधिष्ठान, सच्चिदानन्दरूपिणी श्रीभुवनेश्वरी भगवतीको मैं प्रणाम करता हूँ । मातः ! मैंने जान लिया कि आप समस्त ब्रह्माण्डोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं । जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश आपसे ही होते हैं । सदसद्विकारभूत इस प्रपञ्चमय जगत्को निर्मित कर आप सनातन पुरुषको दिखलाती हैं । आप समस्त ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त हैं । आपके बिना किसी वस्तुका अस्तित्व नहीं है । आपके चरित्र और वैभवको कौन जान सकता है ? आपने मधु-कैटभसे हमलोगोंको बचाया ! आपके दर्शनसे मैं, ब्रह्मा तथा शिव—तीनों दिव्य आनन्दका अनुभव कर रहे हैं । देवि ! जब आपके दिव्य चरित्रको ब्रह्मा, मैं एवं शिव प्रभृति महादेव भी नहीं जान सकते, तब अन्य जन क्या समझ सकते हैं । हमलोगोंने यहाँ अन्य ब्रह्मा, विष्णु और शंकरको देखा । अन्य ब्रह्माण्डोंमें अन्य



ब्रह्मा, विष्णु, शंकर अवश्य होंगे। देवि ! प्रार्थना यह है कि आपका यह दिव्य रूप—आपके चरण-कमल—मेरे चित्तमें सदा बसे रहें। आपका नाम कर्णकुहरमें सदा सुनायी दे। आप सेवकके रूपमें मुझे सदा स्मरण करें। हमलोगोंका माता और पुत्रका सम्बन्ध सदा बना रहे। वैसे लोकमें यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा सृष्टि करते हैं, विष्णु पालन करते हैं और रुद्र संहार करते हैं; परंतु वास्तवमें यह सब आपकी कृपापर ही अवलम्बित है। आपकी अनुकम्पाके बिना हमलोग अपने नियत कार्योंको सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हैं। आपकी शक्तिसे पृथिवी और पर्वत जगत्को धारण करते हैं। सूर्य और चन्द्र आपकी प्रभासे प्रकाशमान होते हैं। सभी देवता जन्म लेते हैं; केवल आप नित्य हैं, अज हैं और सनातन हैं। आप विद्वज्जनोंकी विद्या हैं, शक्तिधारियोंकी शक्ति हैं और जगत्की कीर्ति, कान्ति एवं लक्ष्मी हैं। जीव अनादि-निधन सनातन पुरुषके अंश हैं—उसी प्रकार जैसे पूर्ण समुद्रके तरंग। आप जीवोंकी सृष्टि मुक्तिके निमित्त करती हैं। जगत्की रक्षा करनेवाली आपको मैं प्रणाम करता हूँ। आप हमें सदा ज्ञानका प्रकाश देती रहें।’

‘विष्णुभगवान्के पश्चात् शिवजी बोले—‘देवि ! जब विष्णु और ब्रह्मा आपसे उत्पन्न हैं, तब मैं भी सुतरां आपसे उत्पन्न हूँ। आप पृथिवी, जल, आकाश, वायु और अग्नि हैं। आप ही पञ्च महाभूत, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं अहंकार हैं। जो हमलोगोंको संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशका कर्ता कहते हैं, वे तत्त्वविद् नहीं हैं। वस्तुतः सर्वविध कर्तृत्व आपमें ही है। आपके चरण-कमलोंकी रजको धारणकर हम त्रिदेव जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश करते हैं। आप मुझे अपने चरण-कमलोंकी सेवा करनेका अवसर प्रदान करें। आपके चरण-कमलोंको छोड़कर मैं कैलास जाना नहीं चाहता। जो ऋषि-मुनि आपके चरण-पङ्कजको छोड़कर तपमें संलग्न हैं, वे तत्त्वज्ञानसे वञ्चित हैं। आपके चरण-कमल-पराग-सेवनसे जैसे अनायास मुक्ति मिल जाती है, वैसे तप, यज्ञ और समाधिसे नहीं मिलती। देवि ! पूर्वजन्ममें अधिगत नवार्णमन्त्र मुझे विस्मृत हो गया है। कृपया मन्त्रोपदेशसे मेरा उद्धार कीजिये।’ इसपर माताजीने नवार्णमन्त्रका स्पष्ट उच्चारण किया। शिवजीने भी देवीजीके चरण-कमलोंको प्रणाम कर उस महामन्त्रको ग्रहण किया और उसका जप करने लगे।

‘शिवजीके पश्चात् ब्रह्माजी बोले—‘मातः ! मुझे ब्रह्माण्डके कर्तृत्वका अभिमान हो गया था ! फलतः मैं भवसागरमें डूबने लगा। आज आपके चरण-कमल-परागके स्मरणसे मेरा वह मिथ्याभिमान दूर हो गया। मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे अपने चरण-कमलोंकी भक्ति प्रदान करें। आप परमस्वतन्त्र हैं। आद्या शक्ति हैं, सनातन परम-पुरुष, अकर्त्ता, निर्गुण, निरीह, अनुपाधि और अकल हैं। उनके मनोरञ्जनके लिये आप विशाल विश्वकी रचना करती हैं। वेदवाक्य कभी मिथ्या नहीं हो सकता। वेदोंमें कहा गया है कि ‘एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।’ वह ब्रह्म क्या आप हैं अथवा वह सनातन परमपुरुष हैं ? मेरा मन संशयाक्रान्त हो गया है। इस द्वित्व और एकत्वके विचारमें मेरा चित्त मग्न है। आपके मुखसे मैं संशयका निराकरण चाहता हूँ। आप पुरुष हैं अथवा स्त्री ? यह मुझे स्पष्ट बतलायें, जिससे मैं आपके रहस्यको जानकर भवसागरसे मुक्त हो जाऊँ ?’

‘ब्रह्माजीके प्रश्नोंको सुनकर देवीजी बोलीं—‘मुझमें और सनातन पुरुषमें कोई भेद नहीं है। जो वे हैं, वह मैं हूँ, जो मैं हूँ, वह वे हैं। हम दोनोंमें सर्वथा अभेद है। हम दोनोंमें जो सूक्ष्म भेद है, उसे विद्वज्जन समझते हैं और वे संसारसे मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्म एक है, वह नित्य और सनातन है। सृष्टि-कालमें वह द्वैतभावको प्राप्त होता है। जैसे दीप-ज्योति एक है, उपाधि-भेदसे अनेक हो जाती है, विम्ब एक है, परंतु प्रतिबिम्बरूपमें अनेक प्रतीत होता है, वैसे ही हम दोनोंमें ( ब्रह्म और शक्तिमें ) भेद कल्पनातीत है। मैं न स्त्री हूँ न पुरुष और न नपुंसक। सृष्टिके समय हममें काल्पनिक भेद हो गया है। मैं बुद्धि, क्षुधा, पिपासा, वाञ्छा, शक्ति आदिके रूपमें सर्वव्यापक हूँ और सब प्राणियोंमें स्थित हूँ। संसारमें मुझसे रहित कुछ भी नहीं है। विभिन्न रूप और नाम धारणकर मैं विविध कार्य-कलाप निष्पन्न करता हूँ। गौरी, ब्राह्मी, रौद्री, वाराही, वैष्णवी, शिवा, वासवी आदि रूप धारण कर मैं समय-समयपर कार्य करती हूँ। जैसे जलमें शैत्य, वह्निमें औष्ण्य, दिवाकरमें ज्योति एवं चन्द्रमामें हिम है, वैसे ही मेरी शक्तिसे समस्त ब्रह्माण्डमें जीवन, स्पन्दन एवं क्रियाशीलता है। मुझसे त्यक्त हो जाने पर सब निष्क्रिय एवं निष्प्राण हो जाते हैं। दुर्बल सत्त्वहीन जीवको सब ‘अशक्त’ कहते हैं। उन्हें कोई ‘असद्’ अथवा ‘अविष्णु’ नहीं कहता। मेरी शक्तिसे ही ब्रह्मा सृष्टि करते हैं,



विष्णु पालन करते हैं और क्रूर संहार करते हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, यमप्रभृति देव, इन्द्रादि दिक्पाल, शेष, पृथिवी, पर्वत आदि सब मेरी शक्तिसे ही अपने-अपने कार्योंको सम्पन्न करते हैं।

“तत्पश्चात् श्रीदेवीने ब्रह्माजीको महत्त्व, अहंकार-प्रभृति मूलतत्त्वों तथा जीवोंके विविध क्रिया-कलापोंके साथ लिङ्ग एवं कोशोंको देकर कहा—‘आप रजोगुणयुक्त महा-सरस्वती नामक शक्तिको ग्रहण करें और उनकी सहायतासे जगत्की सृष्टि करें। श्वेताम्बर धारण करनेवाली, दिव्य आभूषणोंसे विभूषित वे देवी आपकी सदा सहचारिणी होंगी। आप इस विभूतिका कभी अपमान न करेंगे। लोकमें जब-जब महान् संकट आयेगा, विष्णुदेव विभिन्न रूपोंमें अवतीर्ण होकर लोककी रक्षा करेंगे और आप सब देव उनकी सहायता करेंगे। समय-समयपर मेरी शक्तियाँ उत्पन्न होकर जगत्की रक्षा करेंगी। आप मन्त्रराज नवार्णमन्त्रका जप करें और उसे हृदयमें रखें।’

“मुझसे यों कहकर जगन्माता श्रीदेवीने स्मितपूर्वक विष्णुभगवान्से कहा—‘विष्णुदेव ! आप इस मनोहरा महालक्ष्मीको ग्रहण करें। उनके सहयोगसे आप लक्ष्मीनारायणके रूपमें ब्रह्माण्डका पालन करेंगे। आप ब्रह्मा, शिव, समस्त देवगण तथा सम्पूर्ण जगत्के द्वारा पूज्य होंगे। जो मूर्ख देवताओंमें किसी प्रकारका भेद-भाव करेंगे, वे निश्चय ही नरकगामी होंगे। शिव, विष्णु आर ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है।’

“श्रीदेवीने विष्णुदेवसे पुनः कहा—‘आप सर्वप्रधान

श्रेष्ठ देव हैं। आप महालक्ष्मीके साथ वैकुण्ठमें सानन्द वास करें। जीवोंके साथ नवार्णमन्त्रका जप करें। आपको मृत्यु और कालका भय नहीं है। जबतक यह सृष्टि रहेगी, तबतक आप रहेंगे। जब मैं चराचर समस्त ब्रह्माण्डको अपनेमें लीन करूँगी, तब आप भी मुझमें लीन हो जायेंगे।’

“श्रीदेवीने शंकरजीसे कहा—‘शंकर ! आप इन मनोहारिणी महाकालीको ग्रहण करें और कैलासमें अपना आवास बनाकर आनन्दसे रहें। आप तमोगुणप्रधान देव होंगे। इस जगत्में कोई भी निर्गुण वस्तु नहीं है। जो निर्गुण है, वह दृश्य नहीं है। निर्गुण केवल सनातन परम-पुरुष हैं। मैं निर्गुण और सगुण दोनों हूँ। शेष जगत् सगुण है।’

“अब आप त्रिदेव विमानपर आरुढ़ होकर यथास्थान चले जायें। संकटके समय आपलोग मेरा स्मरण करेंगे, तब मैं तुरन्त उपस्थित हो जाऊँगी और आपलोगोंकी सहायता करूँगी। आपलोग सनातन पुरुषके साथ-साथ सदा मेरा स्मरण करते रहेंगे।’

“श्रीदेवीने इन शब्दोंके साथ त्रिदेवोंको विमानसे विदा किया। स्थलान्तरमें जानेपर वे लोग पुरुषरूपमें परिणत हो गये। वहाँ न द्वीप रहा, न देवी रहीं और न सुधाकिन्दु रहा। वह विमान उस स्थानपर पहुँचा, जहाँ समुद्र ही-समुद्र दृष्टिगोचर हो रहा था। वहाँ वह पङ्कज था, जिससे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई थी और वह महार्णव था, जहाँ दुर्धम मधु और कैटभ मारे गये थे।”

## मुरलीकी तान

मुरलीकी मधुर तान मृदुल, कान्ह ! सुना जा। ब्रजभूमिमें, ब्रजराज ! तू बारेक फिर आ जा।  
ले करके लकुट गौओंको मधुवनमें चरा जा। मोहन मदन मुरारि ! तू बछड़ोंको खिला जा।  
सँग लेके ग्वाल-बाल तू माखनको चुरा जा। दधि-दूध मटकी फोड़के जसुमतिको रिसा जा।  
जमुनाके तीर गोपियोंका रास रचा जा। सुन्दर सलोने स्याम निज संगीत सुना जा।  
सद्ग्यान-भक्ति-कर्मकी तिरबेनि बहा जा। ‘रट राधे राधे’ गानसे जगको तू गुँजा जा।  
अर्जुनको गीता-ग्यान सुना जगको जगा जा। गोविन्द ! भारतवर्षमें बारेक फिर आ जा।

श्रीभगवतनारायण भार्गव



# श्राद्धका वैज्ञानिक आधार

( लेखक—श्रीदेवेश्वरजी जोशी )

आजके युगमें मनुष्य प्रायः नास्तिक होता जा रहा है । उसे केवल शास्त्रीय प्रमाण देकर समझाना और उसकी अस्तित्वताको आस्तिकतामें बदलना अब बड़ा ही कठिन हो गया है । संसारके महान् वैज्ञानिकोंने जिस सनातन धर्मकी उत्कृष्टतम प्रशंसा की है, यहाँ उन्हीं वैज्ञानिकों तथा प्रातः-संन्यासी मुनियोंके शब्दोंमें श्राद्धकी बात बतानेका प्रयास किया जा रहा है ।

दिवंगत आत्माएँ भी यहाँकी आत्माओंसे सम्बन्ध स्थापित कर सकती हैं । इस बातको स्वीकार करते हुए ओजः शक्तिके आविष्कारक विक्टर ई० क्रोमर साहबने कहा है—

“We could get in touch with disembodied spirits. It is possible to direct a ray of vrillic power in a concentrated form. A little time spent in concentration on the name of a deceased individual would bring him or her into touch with us.”

अर्थात् हमलोग शरीरसे वियुक्त आत्माओंसे सम्बन्ध स्थापित करनेमें सफल हो सकते हैं । मनःशक्तिको घनीभूत करके किसी एक दिशामें परिचालित करना सम्भव है । मृत व्यक्तिके नामपर थोड़ी देर ध्यान केन्द्रित करके उससे सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है ।

वैज्ञानिक फ्लैमैरियनके अनुसार—

“Each of us possesses a fluid force, which I call psychic. This force survives us and when we are dead, we are able through its agency to communicate with the living.”

“हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिके भीतर एक सूक्ष्म अतीन्द्रिय शक्ति है, जिसे हम ‘ओज’ कहते हैं । यह शक्ति हमारी मृत्युके बाद भी वर्तमान रहती है और मृत्युके बाद भी हमारा इसके द्वारा इस लोकके जीवित व्यक्तियोंके साथ सम्पर्क स्थापित हो सकता है ।”

परलोकवादी सर आर्थर कोनन डोयल साहब कहते हैं—

“As for myself I have not a doubt I have talked with several of my friends and relatives who have passed from this earthly world and I have seen, as clearly as in the life, the materiatization of my mother and my nephew. For me it is no question of opinion that we live after death. I know it and I know also that in making this discovery, we have made the greatest step forward in the history of the human race.”

‘जहाँतक मेरा सम्बन्ध है, मुझे तो इस विषयमें कतई संदेह नहीं है कि मैंने अपने अनेक मृत सम्बन्धियों तथा मित्रोंसे बात की है और मैंने अपनी माँ तथा भतीजेकी मृतात्माओंको उतने ही स्पष्टरूपमें मूर्त होते देखा है, जैसे उन्हें जीवित अवस्थामें देखता था । मेरे लिये यह एक निर्विवाद सत्य है कि मृत्युके बाद भी जीवन रहता है । मैं इस तथ्यको जानता हूँ और यह भी जानता हूँ कि इस तथ्यकी खोज करके हमने मानव-जातिके इतिहासमें सबसे बड़ी प्रगति की है ।’

विज्ञान कहता है, मनका स्वाभाविक मेल आत्मासे है । मनकी तरंगें बड़ी आसानीसे दूसरेके मनपर समान कम्पन उत्पन्न कर देती हैं । यह बात हम जड़ वाद्य-यन्त्रोंमें भी देखते हैं । यदि जड़में इतनी शक्ति है तो चेतन मनके विषयमें तो कोई संशय ही नहीं रहता ।

विक्टर डुववा ( Victor Dubois ) ने कहा है—

“Mental suggestions are reproduced in the ether like wireless messages. They occasionally reach other minds and influence them, when the voice cannot be heard and the external organs fail to receive verbal suggestions from any



causes such as inattention, deafness or blindness. Distance is no barrier, if one soul is attuned to another. One need not be in the presence of a person to use suggestion in this way."

—'The Law of Suggestion'—Kalpaka

ब्रेतारके तारद्वारा भेजे हुए समाचारकी भाँति मानसिक प्रेरणाएँ आकाशीय मार्गद्वारा दूसरेके मनपर प्रभाव डालती हैं—उस समय भी, जब प्रभावित होनेवाले व्यक्तियोंकी बाह्येन्द्रियाँ बोलकर दी हुई प्रेरणाकी अनवधानता, बधिरता, अन्धता आदि कारणोंसे ग्रहण करनेमें भी असमर्थ होती हैं। यदि एक आत्माका दूसरी आत्माके साथ मेल रहे तो एक दूसरेके साथ सम्पर्क स्थापित करनेमें स्थानकी दूरी बाधक नहीं होती। अपने मनका भाव दूसरेतक पहुँचानेके लिये यह आवश्यक नहीं कि वे एक दूसरेकी संनिधिमें हों।

‘आत्मा वै जायते पुत्रः’, ‘आत्मा वै पुत्र नामासि’ के अनुसार पुत्र पिताकी आत्मा-जैसा है। मनःशक्तिद्वारा पुत्र परलोकगत पिताकी आत्माका आवाहन करेगा, तभी परलोकस्थ आत्माको लाभ होगा। इसीलिये शास्त्रका यह विधान है कि पिता आदिका श्राद्ध करे।

महान् वैज्ञानिक सर आलिवर लॉजने मृतात्मासे सम्बन्धित प्रश्नके उत्तरमें कहा है—

"Mental force can make dead matter move as it directs and can also work upon the mental force of another, living or dead, and one mind can send thought-waves to another, no matter how many miles separate the two. And thus it is also possible that a mind without any material body, such as the surviving spirit of a dead person, can talk to the mind of a person who still has a living body."

‘मानसिक शक्ति निर्जीव पदार्थको भी अपने इच्छानुसार परिचालित कर सकती है और उसी भाँति किसी अन्यकी मानसिक शक्तिको भी प्रभावित कर सकती है, चाहे वह व्यक्ति जीवित हो या मृत। एक मन दूसरेके प्रति विचार-

तरंगोंको प्रेषित कर सकता है, चाहे वह व्यक्ति कौन हो और यह भी सम्भव है कि पार्थिव देहसे वियुक्त मन अर्थात् किसी मृत व्यक्तिकी आत्मा किसी जीवित व्यक्तिके मनसे बात करे। तात्पर्य, एक मृत व्यक्तिका मन एक जीवित व्यक्तिके मनके साथ सम्बन्ध-स्थापन तथा वार्तालाप कर सकता है।

इसीलिये शास्त्र हमें श्राद्धमें निकटस्थ व्यक्ति निमन्त्रणका ही आदेश देते हैं—

यस्त्वासन्नमतिक्रम्य ब्राह्मणं पतितादते ।  
दूरस्थं भोजयेन्मूढो गुणाढ्यं नरकं व्रजेत् ॥

‘श्राद्धमें जो निकटस्थ ब्राह्मणको—यदि वह पतित न हो—छोड़कर दूरके श्रेष्ठ ब्राह्मणको निमन्त्रित करता है, वह नरकमें जाता है।’

राजर्षि मनुने भी कहा है—

कामं श्राद्धेऽर्चयेन्मित्रं नाभिरुपमपि त्वरिम् ।  
द्विषता हि हविर्भुक्तं भवति प्रेत्य निष्फलम् ॥  
निमन्त्रितास्तु पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान् ।  
वायुवच्चाणुगच्छन्ति तथाऽऽसीनानुपासते ॥  
( मनुस्मृति ३।१४४, १८९ )

‘श्राद्धमें मित्रको चाहे भोजन करा दे, किंतु शत्रु यदि विद्वान् भी हो तो भी श्राद्धमें उसे भोजन नहीं करना चाहिये; क्योंकि शत्रुके साथ मानसिक मेल न होनेके कारण आत्माका कोई कल्याण नहीं होता। शत्रुके द्वारा खाया हुआ श्राद्धका अन्न निष्फल होता है अर्थात् परलोकगत आत्माको नहीं मिलता। परलोकगत आत्माएँ वायु-शरीर धारणकर निमन्त्रित ब्राह्मणोंका अनुगमन करती हैं तथा उनके बैठनेपर उनके पास बैठी रहती हैं।’

‘चन्द्रमा मनसो जातः’ के अनुसार मनका चन्द्रमा प्राकृतिक सम्बन्ध है। इसी प्रकार मनः-समुद्रमें उत्पन्न तरंगें सुदूरस्थित पितृलोकतक पहुँचती हैं; क्योंकि समस्त व्यक्तिके मन समष्टि मनके अंशरूप हैं।

‘मन्त्राणां प्रणवः सेतुः’ (प्रणव मन्त्रोंको दूरतक पहुँचाने में पुलका काम करता है) के अनुसार प्रणवसहित दूरके मन्त्रोंका उच्चारण करनेसे वे मन्त्र-चालित होकर परलोकतक श्राद्धके फलको पहुँचा देते हैं।

किसीके संदेहको स्थूल शब्दोंके द्वारा ही नष्ट किया जा



पृष्ठ ९]

होता है। खूब शब्दोंके प्रभावसे प्राणी (साँप, हरिण आदि) ने अथवा पकड़े जाते हैं, शत्रुता मित्रतामें बदल जाती है। निरुद्ध दिव्य असाधारण मन्त्रोंके प्रभावकी तो बात ही है। श्राद्धमें मन्त्र-प्रयोग करनेका यही रहस्य है।  
मनु महाराजने भी कहा है—

आध्यायं श्रावयेत् पितृये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।  
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥  
( मनुस्मृति ३ । २३२ )

और भी—  
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात् पितृणामेतदीप्सितम् ।  
अर्थात् ब्राह्मणोंको भोजन कराते समय वेद, धर्मशास्त्र, इतिहास, पुराण, धार्मिक कथाएँ तथा वेद-पुराणोंके खिल भाग सुनाने चाहिये ।

ब्राह्मण-भोजनके समय आध्यात्मिक आलाप प्रीति-दायक होता है ।

कठोपनिषद्में भी यही बात कही गयी है—  
य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।  
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥  
( १ । ३ । १७ )

जो पुरुष इस परम गोपनीय ग्रन्थको पवित्र होकर ब्राह्मणोंकी सभामें अथवा श्राद्धकालमें सुनाता है, उसका वह श्राद्ध अनन्त फल देनेवाला होता है ।

संसारके अंदर द्रव्यशक्ति भी प्रेत या पितरकी आत्माको सहायता देती है। कुश, तिल, जल, जौ आदिकी महिमा तो सर्वविदित है। ताम्र, रौप्य (चाँदी) आदि विद्युत्-चालक धातुओंकी भी प्रशंसा की गयी है।

राजतैर्भाजने रेषामथो वा राजतान्द्रितैः ।  
वार्यपि श्रद्धया दत्तमक्षयायोपकल्पते ॥  
( मनुस्मृति ३ । २०२ )

चाँदीके अथवा चाँदीसे युक्त ताम्रादि पात्रोंसे श्रद्धा-पूर्ण जल देनेपर भी पितरोंको अक्षय वृत्ति होती है ।

द्रव्यशक्ति तथा मन्त्रशक्तिके विषयमें वैज्ञानिकोंने कई अन्वेषण किये हैं। इस विषयमें आर्टिमे ब्लैकवर्नका कहना है—

“Through the living force of the natural elementals associated with them,

there are innumerable occult uses to which the seven metals may be put. Cures may be effected and diseases created by the use or misuse of metals, which possess at once life-giving or death-dealing qualities. Jewels are positive in force and have inherent qualities of their own. Metals, on the other hand, are more or less negative. Silver, particularly coming under the rulership of Luna, is passive and therefore becomes a perfect medium for the transmission of influences with which it may be associated by chance or intentionally charged.

“Students of occultism can thus readily see how a water-element by natural sympathy may be attracted and attached to silver and by inherent antipathy made to repel the fire-element, depending upon the strength of the thought forms attached to the talisman.

Talismans, amulets, colors, numbers and harmonious name-vibrations are legitimate weapons of defence, forces of protection and power and are rendered well-nigh irresistible when reinforced by a life of rectitude and selflessness, devoted to the advancement of the race and attuned to the key-note of universal love.”

—“The Alchemy of Precious Stones” —Kalpaka.

प्राकृतिक मूल तत्वोंकी जीवन्तशक्तिसे सम्बन्धित होनेके कारण इन सातों धातुओंसे अगणित अतीन्द्रिय प्रयोग घटित किये जा सकते हैं। जीवनदायक तथा जीवनहारी गुणोंसे एक साथ युक्त रहनेवाली इन धातुओंके सदुपयोगसे जहाँ रोग दूर किये जा सकते हैं, वहाँ उनके दुरुपयोगसे रोग उत्पन्न भी किये जा सकते हैं।



‘रतन शक्तिका धनरूप धारण करते हैं और अपनेमें निहित निजी गुणोंसे युक्त होते हैं। धातुओंमें अधिकतया शक्तिका ऋणरूप रहता है, विशेषतया चन्द्रमाके अधीन रहनेवाला रजत क्रियाका आधारमात्र है। अतः वह संयोग-वश किसी प्रभावमें आ जाय, अथवा कोई जान-बूझकर उसे प्रभावित कर दे तो वह उस प्रभावको संक्रमित करनेका सर्वाङ्गसुन्दर माध्यम बन जाता है।

‘इस प्रकार अतीन्द्रिय विद्याके जिज्ञासु इस बातको अविलम्ब जान सकते हैं कि कैसे जलका एक अणु सहज सहधर्मिताके कारण रजताणुके प्रति आकर्षित एवं आसजित हो सकता है और विपरीत धर्मके कारण अग्नि के अणुओंको दूर दृष्टा सकता है। इनके आकर्षित तथा दूरास्त करनेकी क्रिया ताबीजसे संलग्न भावना-रूपकी शक्तिपर निर्भर करती है।

‘ताबीज, जंतर, वर्णविशेष, संख्याविशेष तथा नामोच्चारणसे उठनेवाली एकजातीय तरंगमाला आदि आत्मरक्षाके उपयुक्त साधन हैं। मानवजातिके उन्नयनमें रत सदाचारमय निःस्वार्थ तथा विश्वप्रेमकी भावनासे ओत-प्रोत हुए जीवनका बल पाकर इनका प्रभाव दुर्निवार बन जाता है।’

श्राद्धमें देश-काल-पात्रके अनुसार खाद्य पदार्थोंके बारेमें भी विचार किया गया है।

मनुस्मृतिमें लिखा है—

यत् किञ्चिन्मधुना मिश्रं प्रदद्यात् त्रयोदशीम् ।

तदप्यक्षयमेव स्याद् वर्षासु च मघासु च ॥

अपि नः स कुले जायाद् यो नो दद्यात् त्रयोदशीम् ।

पायसं मधुसर्पिर्भ्यां प्राक्छाये कुञ्जरस्य च ॥

( मनु ३ । २७३-२७४ )

‘वर्षाऋतुमें मघानक्षत्रयुक्त त्रयोदशीको मधुमिश्रित कोई भी अन्न श्राद्धमें दिया जाय तो उससे पितरोंकी अक्षय तृप्ति होती है।’ पितरलोग यह

अभिलाषा करते हैं कि हमारे कुलमें ऐसा कोई उत्सव हो, जो हमें आश्विन कृष्णा त्रयोदशीको मधु एवं घृतसे युक्त खीरका भोजन कराये।’

इस प्रकार हमें प्रेतत्व-नाश तथा पितरोंकी तृप्ति और उन्नतिके लिये मनःशक्ति, मन्त्रशक्ति एवं द्रव्यशक्ति विविध प्रकारसे प्रयोग करनेकी महिमा और रहस्य दृष्टि-गोचर होता है।

पुनर्जन्मको प्राप्त हुए पितरोंके विषयमें की गयी शङ्काएँ निम्न प्रमाणसे निर्मूल हो जाती हैं—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः ।

तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ॥

गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत् ।

श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति ॥

पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथाऽऽसिपम् ।

दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरदक्षम् ।

मानुषत्वेऽन्नपानादि नानाभोगरसो भवेत् ॥

( मत्स्यपुराण १९६-९ )

अर्थात् ‘अपने शुभ कर्मानुसार श्राद्धकर्त्ताका पिता यदि देवयोनिको प्राप्त हो गया है तो उसका भाग अमृत होकर उसे देवयोनिमें प्राप्त होता है। इसी प्रकार गन्धर्व योनिमें उसे तदनुसार भोगरूपमें, पशुयोनिमें तृणरूपमें, नागयोनिमें वायुरूपमें, यक्षयोनिमें पेयरूपमें, राक्षस तथा दानवयोनिमें मांसरूपमें, प्रेतयोनिमें रुधिर और मनुष्य योनिमें उसे ( पिता-पितामहादिको ) अन्न-पानादि नाना भोग-रसोंके रूपमें प्राप्त होता है।’

अतः मानवमात्रको अपना परम पावन कर्त्तव्य समझ कर, सभी शङ्काओंको निर्मूल कर तथा असंगठितता एवं अकर्मण्यताको तिलाञ्जलि दे श्रद्धाके साथ शास्त्रीय विधिसे श्राद्ध एवं नित्य तर्पण करना चाहिये। इसीमें लोककल्याण अपना तथा अपने सम्पर्कमें आये हुए दूसरोंका कल्याण निहित है।



# ‘मनः शिवसंकल्पमस्तु’

( लेखक—श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन )

आर्त—महाराज ! मैं दीन-दुखी, चिररोगी, कुलनाशी, सब ओरसे उपेक्षित, अपमानित और लाञ्छित हुआ फिरता हूँ। शान्तिकी खोजमें किधर चूँ ?

महात्मा—‘मनः शिवसंकल्पमस्तु’—हमारे मनके सभी संकल्प शुभ हों।

आर्त—उससे क्या होगा ?

महात्मा—वत्स ! तुम स्वप्न तो देखते होगे ?

आर्त—देखता हूँ; परंतु वे भी बड़े डरावने और खोटे होते हैं। मुझे स्वप्नमें भी शान्ति नहीं मिलती।

महात्मा—यह तो तुम जानते ही हो कि स्वप्नोंको कोई बाह्य शक्ति हमपर नहीं थोपती। हमारे संकल्प-विकल्प ही हमारे स्वप्न-जगत्की सृष्टि करते हैं। यदि हमारे संकल्प-विकल्प, सात्त्विक और सुन्दर होंगे तो हमें सुखद स्वप्न दिखायी देंगे और यदि तामसिक एवं धिनौने होंगे तो दुःखद स्वप्न दिखायी देंगे। अतः ‘मनः शिवसंकल्पमस्तु।’

आर्त—अच्छा, मान लिया—हमें सुन्दर स्वप्न दिखायी देने लों, तो इससे हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ?

महात्मा—होता क्यों नहीं। २४घंटोंमें हम लगभग दो घंटे स्वप्न देखते हैं, अर्थात् स्वप्न हमारे जीवनका बारहवाँ अंश है। यह क्या कोई कम महत्त्वकी बात है कि अपने जीवनके १२वें भागको सुखी या दुखी करना हमारे और केवल हमारे हाथमें है ! और फिर जिस प्रकार जाग्रत-अवस्थाका प्रभाव स्वप्न-जगत्पर पड़ता है, उसी प्रकार स्वप्न-जगत्का प्रभाव जाग्रतपर भी पड़ता है। तुमने स्वयं अनुभव किया होगा कि अच्छे या बुरे स्वप्नोंके दूट जानेपर भी कुछ समयतक मनपर उनका प्रभाव बना रहता है। जीवन जलधाराकी भाँति एक है। जैसे जलकी धारामें कहीं कोई रंग छोड़ो तो उसका प्रभाव धीरे-धीरे सारे जलमें फैल जाता है, उसी प्रकार जीवनमें जो सुख-दुःख आते हैं, वे केवल उसी समय सुख-दुःख नहीं देते, उनका प्रभाव धीरे-धीरे सारे जीवनमें घुल-मिल जाता है। इसी प्रकार स्वप्नके सुख-दुःख केवल स्वप्न-जगत्तक ही सीमित नहीं रहते। अतः ‘मनः शिवसंकल्पमस्तु।’

आर्त—अच्छा यही सही; परंतु जीवनके बारहवें भाग-

को सुखद बनानेके चक्रमें क्या शेष ग्यारह भागोंकी कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये ? क्या दुखी जाग्रत जीवन अपने स्वप्न-जगत्को भी आच्छादित करनेका प्रयत्न नहीं करेगा; क्योंकि जैसा आप स्वयं कहते हैं, जीवन एक अविभाज्य धारा है ?

महात्मा—जिस प्रकार स्वप्न-जगत् हमारे संकल्प-विकल्पोंका परिणाम है, उसी प्रकार यह जाग्रत संसार भी हमारे ही संकल्प-विकल्पोंका परिणाम है।

आर्त—तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि इस दृश्यमान जगत्का भी कोई अस्तित्व नहीं है; स्वप्नकी भाँति यह भी कोरा भ्रम, कोरी माया है ?

महात्मा—नहीं, मेरा अभिप्राय ऐसा नहीं है। तुमने बात पूरी नहीं होने दी। यदि हम यह मान लें कि स्वप्नकी भाँति इस दृश्यमान जगत्का भी कोई अस्तित्व नहीं तो फिर हमारा भी कोई अस्तित्व नहीं ठहरता। जिस प्रकार हम द्रष्टा हैं और सारा संसार—हमारे माता-पिता, भाई-बहिन आदि हमारे लिये दृश्यमान हैं, उसी प्रकार हमारे माता-पिता आदि जब द्रष्टा होते हैं, तब हम उनके लिये दृश्य बन जाते हैं और इस प्रकार संसारका अस्तित्व स्वीकार न करनेपर तो हम स्वयं अपने अस्तित्वको अस्वीकार करते हैं और प्रकारान्तरसे शून्यवादके गर्तमें गिर जाते हैं।

आर्त—शून्यवादसे इतनी घबराहट क्यों ?

महात्मा—क्योंकि वह किसी प्रकारका पथ-प्रदर्शन नहीं करता। संसार है ही नहीं, यह मानकर कोई चल नहीं सकता। हमारा प्रत्येक व्यवहार यही मानकर है कि संसार है, हम हैं। स्वयं बड़े-से-बड़े शून्यवादीका एक भी आचरण ऐसा नहीं होता, जिसकी संगति उसके सिद्धान्तसे बैठती हो। बैठ ही नहीं सकती। जो नितान्त अव्यावहारिक है, जिसे आचरणमें कोई भी न उतार सके, उतारनेकी दिशा-तकमें एक पग नहीं चल सके, वह सत्य नहीं हो सकता।

आर्त—फिर संसारको स्वप्न क्यों कहा जाता है ?

महात्मा—केवल एक अपेक्षासे। द्रष्टा, दृश्यमान जगत् और इन दोनोंके बीचका सम्बन्ध—ये तीन तत्व हुए। स्वप्न



और संसार—दोनोंमें द्रष्टा सत्य है और दोनोंमें ही द्रष्टा एवं दृश्यमानके बीचका सम्बन्ध केवल द्रष्टाके संकल्प-विकल्पका परिणाम है। यही दोनोंमें समानता है। परंतु दृश्यमान जगत् केवल स्वप्नमें ही भ्रम है, जाग्रत्में वह सत्य है। ( इतना दोनोंमें अन्तर है। ) स्वप्न और संसारमें यदि कोई अन्तर न होता तो फिर इनकी पृथक् संज्ञा क्यों होती? स्वप्नमें अनुभव किये सुख-दुःख इतने तीव्र नहीं होते, जितने जाग्रत्-अवस्थामें। एक रात्रिके स्वप्नका दूसरी रात्रिके स्वप्नसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, जब कि जाग्रत् अवस्थामें जो कुछ होता है, उसका न केवल कलकी, अपितु लाखों वर्ष पुरानी घटनाओंसे भी तर्कसंगत और क्रमबद्ध सम्बन्ध होता है,—यहाँतक कि प्रत्येक व्यक्ति पिछली घटनाओंको देखकर ऐसा अनुमान लगा लेता है कि कल क्या होगा। परंतु ऐसी भविष्यवाणी आजतक किसीने नहीं की कि अमुक व्यक्ति आज क्या स्वप्न देखेगा। फिर स्वप्न सभी व्यक्तियोंके अलग-अलग होते हैं, जब कि जगत् सभीको एक-सा दिखायी देता है। अतः यह जगत् न तो हमारे मनका भ्रम है, न माया। यदि किसी रात्रिको ४-५ व्यक्ति भी एक-सा ही स्वप्न देखें तो चारों ओर भय एवं त्रास फैल जाता है कि यह स्वप्न नहीं, किसी देवताकी प्रेरणा है। तब फिर बताओ, जब करोड़ों मानव इस दृश्यमान जगत्को नित्यप्रति एक-सा ही देखते हैं, तब यदि यह स्वप्न भी है तो है बड़ा विचित्र। कम-से-कम वैसा स्वप्न तो है ही नहीं, जैसा कि हम निद्रामें देखा करते हैं।

आर्त—मेरी शान्तिका मार्ग।

महात्मा—‘मनः शिवसंकल्पमस्तु।’ संसार सत्य है; परंतु हम संसारके किन-किन जड-चेतनकी ओर आकर्षित होंगे, कौन-कौनसे जड-चेतन हमारी ओर खिंचेंगे, हमारा उन सबसे क्या सम्बन्ध होगा, उन सबका हमसे क्या सम्बन्ध होगा, हमारा सम्पर्क किन-किन जड, चेतन एवं परिस्थितियों-से होगा—यह केवल हमारे और हमारे संकल्प-विकल्पपर निर्भर है। एक प्रकारसे हम कह सकते हैं कि संसार सत्य है, परंतु हमारा अपना संसार केवल हमारे संकल्प-विकल्पों-की प्रतिमूर्ति है। हमें अपने संकल्प-विकल्पोंके अनुसार ही माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन, स्त्री-पति, परिजन, शत्रु-मित्र, राजा-प्रजा, दास-स्वामी, व्यापारी-ग्राहक, ग्राम-गली, देश-राष्ट्र, धन-सम्पत्ति, वैभव आदि प्राप्त होते हैं। हमारा

अपना शरीर भी हमारे ही संकल्प-विकल्पोंका परिणाम है। कोई बाह्य शक्ति उन्हें हमपर नहीं थोपती। अतः ‘मनः शिवसंकल्पमस्तु।’

आर्त—परंतु भगवन् ! हमने तो सुना है—यह सब पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार प्राप्त होता है।

महात्मा—पूर्वजन्मके कर्म कोई अचिन्तनीय तत्त्व नहीं हैं। पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार ही हमारे संस्कार, हमारे संकल्प-विकल्प, हमारे चेतन-अर्द्धचेतन और अचेतन मनका निर्माण होता है। यदि आप किसी व्यक्तिके संस्कार, संकल्प-विकल्प और चेतन, अर्द्धचेतन एवं अचेतन मनका ठीक-ठीक अध्ययन कर सकें तो आप विश्वासपूर्वक उसके पूर्वजन्मोंका ठीक-ठीक वर्णन कर सकते हैं। पूर्वकालमें मुनि लोगोंके पूर्वजन्मोंका वृत्तान्त इसी आधारपर बतला देते थे।

आर्त—आजकल कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक इसी आधारपर पूर्व पीढ़ियोंको बतलानेका प्रयत्न करते हैं। वे पूर्वजन्मको नहीं मानते।

महात्मा—पूर्वजन्म और पूर्वपीढ़ियोंमें कोई असंगति नहीं है। अपने पूर्वजन्मके कर्मानुसार ही जीवको कुल प्राप्त होता है। इस विषयमें गीता भी प्रमाण है ( अध्याय ६, श्लोक ४०-४६ )। हम पीढ़ी और पूर्वजन्म—दोनोंको स्वीकार करते हैं। केवल पीढ़ीको स्वीकार करना और पूर्वजन्मको अस्वीकार करना हमें जडवाद और परवशताकी ओर ले जाता है। शुष्क पीढ़ीवाद कहता है कि तुम्हारा जन्म तुम्हारे हाथमें नहीं था। जन्मसे पूर्व तुम थे ही नहीं,—उसी प्रकार, जैसे मृत्युके पश्चात् तुम नहीं रहोगे। यदि जन्मसे पूर्व हम नहीं थे, यदि हमारा जन्म हमारे हाथमें नहीं था तो फिर हमारे हाथमें है क्या? मनुष्यके ९० प्रतिशत सुख-दुःख, उसकी ९० प्रतिशत जीवनधारा उसके जन्मके बन्धनमें बँधकर चलती है। हम चेतन हैं, स्वयं भगवान् हैं या भगवान्के अंश हैं। हम परवश नहीं हैं।

आर्त—पूर्वजन्म मान लेनेपर भी जन्मकी परवशता तो रहेगी ही।

महात्मा—‘मनके हारे हार है, मनके जीते जीत।’ पीढ़ी-वाद यह मानकर चलता है कि हमारा यह कुल, यह देश यह जाति, यह शरीर, यह मन और उसके संस्कार, जो हमें



मिले हैं—यह सब एक ऐसी परवशता है, जिसे ओढ़नेके लिये हम विवश थे। दूसरी ओर यह विश्वास है कि यह सब भी हमारे ही अपने अधिकारकी बात थी। इन दोनोंका मनो-वैज्ञानिक अन्तर क्या आपकी समझमें नहीं आ रहा है ?

आर्त—अच्छा, मेरे दो प्रश्नोंका आप और उत्तर देनेकी कृपा करें। आपने कहा कि पूर्वकर्मोंके अनुसार ही संकल्प-विकल्प उठते हैं तो फिर हमारे संकल्प-विकल्प यदि विद्रूप हैं तो हम क्या कर सकते हैं ? अपने मनको सुन्दर बनानेके लिये हम क्या करें ? दूसरा प्रश्न फिर करूँगा। पहले इसका उत्तर देनेकी कृपा करें।

महात्मा—पूर्वजन्म, यह जन्म और अगले जन्म—यह सब एक अखण्ड जीवनधारा है। पूर्वकर्मोंके अनुसार संकल्प-विकल्प उठते हैं और संकल्प-विकल्पोंके अनुसार कर्म होते हैं। ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरेपर आश्रित हैं। यह एक चक्र है, कहीं भी इसे तोड़ा जा सकता है। प्राणीको कुछ-न-कुछ स्वतन्त्रता तो प्रत्येक समय रहती ही है। यदि यह स्वतन्त्रता न हो तो सारे उपदेश, दण्डविधान—यहाँ-तक कि नास्तिकों एवं भौतिकवादियोंके भी उपदेश—सब निष्फल हैं। जब कर्मकी स्वतन्त्रता नहीं तो कुछ भी करने-मुननेकी आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार शून्यवादके अनुसार कोई एक पग भी नहीं चल सकता, इसी प्रकार यह मानकर भी कोई नहीं चल सकता कि जीव कर्म करनेमें पूर्णतया परतन्त्र है। संसारके सारे व्यवहार यही मानकर चलते हैं कि हम हैं; संसार है और कुछ-न-कुछ कर्म करनेकी हमें स्वतन्त्रता है। इस चक्रको तोड़नेके लिये मनको सुन्दर बनाना सबसे सरल है; क्योंकि उसके लिये केवल अपनी साधना चाहिये, किसी बाह्य साधनकी आवश्यकता नहीं। अतः ‘मनः शिवसंकल्पमस्तु।’

आर्त—तो फिर मनको सुन्दर कैसे बनाया जाय ?

महात्मा—इसके साधन हैं—भगवान्का भजन-कीर्तन,

पूजन-जप, सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय, महात्माओंका सत्सङ्ग, निष्काम सेवा, कर्तव्यपालन, प्रकृतिसे सम्पर्क, यथाशक्ति दान और सर्वोपरि यह अटल विश्वास कि अपने सारे कष्ट-विपत्तियोंके कारण हम केवल हम हैं। कोई बाह्य प्रकृति एवं परिस्थिति नहीं है। वे तो केवल निमित्तमात्र हैं। जैसे हम हैं, वैसे ही प्राणी, प्रकृति एवं परिस्थिति हमें सुख-दुःख देनेके लिये हमारी ओर खिंची चली आती है—ठीक वैसे ही, जैसे गुड़ मक्खीको खींच लेता है और यह विश्वास कि हमें जो सुख-वैभव प्राप्त है, वह तभीतक है, जबतक हमारा मन उसे अपनी ओर खींचनेवाला है और जिस दिन वे नष्ट हो जायेंगे, किसी भी बलप्रयोग, धूर्तता अथवा चाटुकारितासे वे हमारे पास नहीं रहेंगे।

आर्त—मेरा मन सुन्दर बने या न बने, यह विश्वास ही मुझे परम शान्ति देनेवाला है; परन्तु क्या ऐसा है ?

महात्मा—ऐसा ही है—विश्वास करो, ऐसा ही है। मेरे सौभाग्यकी कुंजी मेरे ही हाथमें है।

आर्त—‘मनः शिवसंकल्पमस्तु।’

महात्मा—‘मनः शिवसंकल्पमस्तु।’

आर्त—अब मुझे किसीका भय नहीं है। कोई मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता, जबतक मेरा मन स्वयं उसके लिये भूमि तैयार नहीं करता।

महात्मा—‘मनः शिवसंकल्पमस्तु।’

आर्त—अब मुझे किसीकी चाटुकारिता नहीं करनी है। कोई मुझे कुछ नहीं दे सकता, जबतक मेरा मन उसके लिये भूमि तैयार नहीं करता।

महात्मा—और जब तैयारी हो जायगी, तब उसे कोई रोक नहीं सकता।

अतः ‘मनः शिवसंकल्पमस्तु।’

आर्त—‘मनः शिवसंकल्पमस्तु,’ ‘मनः शिवसंकल्पमस्तु,’

‘मनः शिवसंकल्पमस्तु।’





# पुरारि

( लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी )

महामायावी दानवेन्द्र मयके तीन पुत्र थे—विद्युन्माली, विद्युजिह्व, विद्युच्छत्रु । मयने तीन वैमानिक नगरोंका निर्माण किया । एक नगर स्वर्णका, एक रजतका और एक लौहका । अपने तीनों पुत्रोंको उसने क्रमशः एक-एक नगर दे दिया ।

मयके पुत्र इन नगरोंमें दानवोंके साथ रहने लगे । स्वयं मय भी इनमें रहता था । ये लोग रहते भी तो बात क्या थी; किंतु ये तो सृष्टिमें महानाश करते घूमते थे ।

मयके तीनों नगर वैमानिक नगर थे । ये पृथ्वीपर, गिरिशिखरपर, जलमें—कहीं भी उतर सकते थे । सीधे ऊपर उड़ सकते थे । इनकी गति अकल्पनीय तीव्र थी । ये चाहे जब और चाहे जितनी देरको अदृश्य रह सकते थे ।

सबसे बड़ी विशेषता इन नगरोंमें यह थी कि ये अमोघ थे । किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे इन्हें तोड़ा-फोड़ा नहीं जा सकता था । ये तीनों नगर जब पृथक्-पृथक् रहते थे, इन्हें नष्ट करनेका कोई उपाय नहीं था । एक सहस्र वर्षोंमें केवल एक बार एक मुहूर्तको ये परस्पर मिलते थे । उसी समय इनको नष्ट करना सम्भव था ।

मयको इतनेसे संतोष नहीं हुआ । उन महायोगीने सिद्धरसका एक कूप इन पुरोंमें निर्मित किया था । कभी कोई दुर्घटना हो ही जाती—घायल अथवा मृत किसी व्यक्तिको उस कूपके रसमें डुबा दिया जाता तो तत्काल वह स्वस्थ, सबल, सजीव होकर उठ खड़ा होता ।

मृत्युका, रोग या आघातका तथा वैभवके नाशका भय नहीं रहा तो स्वभावसे उद्दण्ड एवं क्रूर दानव सर्वथा लोक-सन्तापक हो गये । वे अपने किसी नगरको कहीं किसी ग्राम, नगर, तपोवनपर उतार देते । शत-शत प्राणियोंको पीस डालते । अपने नगरोंके धक्केसे रम्य पर्वत, आश्रम ही नहीं, स्वर्गके देवोद्यान भी वे नष्ट करने लगे । वे नदियोंका प्रवाह अपने नगरके द्वारा रोक देते और जब बहुत जल एकत्र हो जाता, अपना नगर हटा देते । तटके ग्राम-नगर इस प्रकार सहसा बाढ़से बह जाया करते थे ।

प्राणियोंका क्रन्दन, आहतोंकी करुण पुकार, लाख-लाख लोगोंका मरण उन क्रूरोंके विनोदका साधन बन गया ।

पृथ्वीके प्राणी—मनुष्य ही नहीं, ऊपरके लोकोंके देवता, गन्धर्व, ऋषि-मुनि,—सब रात-दिन संतप्त रहने लगे । कब कहीं त्रिपुर प्रलय उपस्थित कर देंगे—कुछ ठीक नहीं था । त्रिभुवन भय, आशङ्का, त्रासका नारकीय क्षेत्र बन गया ।

देवता भगवान् पिनाकपाणिकी शरणमें गये । आशुतोष प्रसन्न हुए । उन्होंने धनुष चढ़ाया, उनका संकल्प ही वाण बन गया । त्रिपुरपर सूर्यमण्डलसे शर-वर्षा होने लगी । सहस्र-सहस्र दानव मरने लगे । दानवेन्द्र मय उठे । उन्होंने तत्काल आहत एवं मृत दानवोंको कूप-रसमें डालनेकी व्यवस्था की । अब जो रसमें पड़ा, वह आधे क्षणमें पहलेसे सबल, स्वस्थ ही नहीं, पहलेसे अधिक उद्धत होकर युद्धके लिये तत्पर दीखने लगा ।

‘भाई, ! यहाँ आघात तो व्यर्थ है !’ शंकरजीने हँसकर धनुष रख दिया ।

‘तब क्या इन दानवोंको आप ऐसे ही अभय दे रहे हैं ?’ देवता व्याकुल हो गये ।

‘नहीं’ भगवान् विष्णु उठ खड़े हुए । ‘कुछ कौशल अपेक्षित है यहाँ ।’

‘वीरभद्र ! तुम मयसे कहो कि त्रिपुर बच नहीं सकता । श्रीहरिकी इच्छाका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता । वे अब अकेले पाताल चले जायँ ।’ सच यह है कि दयाधाम शशाङ्कशेखरका ममत्व है दानवेन्द्र मयपर । बड़े प्रिय भक्त हैं वे औढरदानीके । उनकी उपस्थिति ही त्रिपुरकी रक्षामें अवतक हेतु थी । प्रभुने अब वीरभद्रको भेज दिया मयके समीप ।

इधर भगवान् विष्णुने गौका रूप धारण किया और ब्रह्माजीको बछड़ा बनाया । इस रूपमें पहुँचे त्रिपुरमें और सीधे सिद्धरसामृतसे भरे कूपपर चले गये । जैसे बहुत प्यासी गाय दौड़ी आयी हो, कूपके रसमें मुख लगा दिया उन्होंने ।

कूप-रसके रक्षक थे वहाँ । इतनी सुन्दर—इतनी आकर्षक गाय उन्होंने, भला, काहेको देखी थी । ऐसा बछड़ा ही कहीं त्रिभुवनमें । वे रोकते, इससे पूर्व तो गाय-बछड़े रस पीने लगे थे ।



‘जल पीती गौको मारना भारी पाप है ।’ दानवोंमें  
बहुत जाग्रत हो गयी । ‘पी लेने दो । बहुत प्यासे  
हैं दोनों । पी ही कितना लेंगे ।’

दानव देखते रह गये और क्रूपमें तो एक बूँद भी रस  
नहीं बना । गायने पिया ही नहीं, उसे चाटकर स्वच्छ कर  
दिया और तब वह अद्भुत गाय अपने बछड़ेके साथ  
अदृश्य हो गयी । अब रक्षक चौंके; किंतु अब  
होता क्या था ?

दानवेन्द्र मयको क्रूप-रसके गौद्वारा पी लिये जानेका  
समाचार मिला । लगभग उसी समय वीरभद्रने आकर  
भगवान् शिवका आदेश सुनाया । स्थितप्रज्ञ, प्रशान्त,  
गम्भीर दानवेन्द्र उठ खड़े हुए । उन्होंने वीरभद्रको प्रणिपात  
किया—‘जैसी आराध्यकी इच्छा’ ।

समता, मोह, भय, शोक—कहीं कुछ नहीं । दानवेन्द्रने  
अपना आराध्य मणिमय शिवलिङ्गमात्र साथ लिया और  
पताल चले गये ।

इस बार प्रलयकरने देवताओंके द्वारा रथके उपकरण  
प्रलुप्त किये । धर्म काल आदि ही नहीं, श्रीहरितक शरके  
अङ्ग बने और अब यह आघात त्रिपुर कैसे सह लेता ।  
तीनों पुरोंके मिलनेका समय आ गया था । वे मिले और  
उसी समय उनपर महारुद्रका प्रहार हुआ । तीनों पुर  
जलते हुए गिरे ।

कहा जाता है कि अमरकण्ठकपर्वतपर रेवा-उद्गमसे  
थोड़ी दूरपर दानवोंके तीनों पुर जलते हुए गिरे थे । उस  
महाज्वालासे गिरिपृष्ठ फटा और वहाँसे एक सरिता प्रकट  
हो गयी । उस सरिताका नाम ‘ज्वाला’ पड़ा । वह अब  
भी प्रवाहित होती है ।

समष्टिमें—सृष्टिकी समष्टिमें और कालकी समष्टिमें यह  
घटना कभी हुई थी । ज्वाला नदी उस इतिहासकी प्रतीक  
है किंतु जीवनमें—व्यष्टिमें यह घटना जो समष्टिमें इतिहास  
नहीं हुआ ? वह व्यष्टिमें अध्यात्म नहीं बन सकता—इसे मत  
भूलिये । जो समष्टिमें सत्य है, व्यष्टिका सत्य भी वही है ।  
व्यष्टिके लिये इस कथामें कोई संदेश न होता तो पुराण  
इसका वर्णन क्यों करते ? पुराणकारको कोई घटना—केवल  
इतिहासके लिये घटनोल्लेखका व्यसन नहीं है । मानव-  
जीवनके दुर्लभ क्षण व्यर्थकी—हेतुहीन घटनाओंकी कहानी  
पढ़-सुनकर प्रमादपूर्ण मनोरञ्जनमें नष्ट करनेकी नहीं हैं ।  
तब इस घटनाका हमारे लिये संदेश ?

मायाके तीन पुर हैं—कञ्चन, कामिनी, काया ।  
अपने तीन पुत्र लोभ, काम, क्रोधको इसने ये पुर दे रखे  
हैं । ये तीनों पुर सृष्टिमें विनाश ही करते हैं ।

कञ्चन—लोभ दूसरोंका शोषण—स्वत्वहरण करके  
संतुष्ट होता है ।

कामिनी—कामने कितना विनाश किया है विश्वमें—  
इतिहास उठाकर देखनेकी आवश्यकता नहीं है । सम्पूर्ण  
अनर्थोंकी जड़ कामना है और अपनी कामनाके पीछे अंधा  
व्यक्ति दूसरोंकी हानि नहीं देख पाता—यह आप जानते हैं ।

काया—क्रोधके ही अनुगत हैं मोह-ममतादि । इस  
काया तथा कायासे सम्बन्धित लोगोंको—नाम-गुण आदिको  
लेकर ही आपके द्वारा सब पाप होते हैं ।

ये लोभ, क्रोध, काम तथा इनके अनुगत सब दोष  
कहीं साधन-भजन-सत्सङ्गसे दुर्बल भी हो जायँ तो इन्हें  
सबल करनेवाला रसक्रूप है कायामें । इन्द्रिय-सुखमें  
आसक्ति—यह रसासक्ति इनको पुनः सजीव ही नहीं करती,  
इन्हें सशक्त भी बना देती है ।

भगवान् शिवकी शरण लें सात्त्विक वृत्तियाँ, तो भी काम  
नहीं बनता । कल्याणका सब प्रयत्न इन्द्रिय-रसासक्ति निष्फल  
कर देती है । यह रसासक्ति मिटे तो दानवपुर नष्ट हों ।

भगवान् श्रीहरि गौ बनें । वे गोपाल इन्द्रियोंके द्वारा  
आराधित हों, उनका रूप-माधुर्य मुग्ध करे इन्द्रियोंको,  
तब यह रस—विषय-रस सूखे । वे ही इसे पी जायँ—  
उनके चरणोंकी प्रीति आये, तब यह समाप्त हो ।

इन्द्रियासक्ति—विषयासक्ति मिट गयी तो काम समाप्त  
हो गया ?

सुविधा हो गयी—मात्र इतना ही । यहीं कहीं संतुष्ट  
हो गये तो—मयको समय मिलेगा और वह पुनः क्रूपको  
सिद्धरसामृतसे भर देगा ।

‘तरङ्गायिता अपि इमे सङ्गात्समुद्रायन्ति ।’  
(नारदभक्ति-सूत्र)

‘ये अत्यन्त लघु—सत्त्वहीन प्राय होनेपर भी अनुकूल  
सङ्ग पाकर समुद्र बन जाती हैं ।

मय नहीं मरेगा । माया वस्तुतः प्रभुकी शक्ति है ।  
उनका विनाश नहीं होता—आवश्यक भी नहीं है ।

त्रिपुर-नाशके लिये आवश्यक है कि मयको वहाँसे  
हटा दिया जाय । यह काम प्रभु स्वयं करेंगे, दूसरा इसे  
कर नहीं सकता; किंतु वे करेंगे—करते ही हैं ।



‘प्रभु सेवकहि न ब्याप अबिद्या ।’

दूसरी आवश्यकता है कि ये तीनों पुर परस्पर मिलें । काम, लोभ, क्रोधकी वृत्तियोंका एकीकरण कब होगा ? जब ये प्रबुद्ध न होकर सुपुत होंगी ।

आप चाहें तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिको मयके तीन पुर मान सकते हैं । इन अवस्थाओंका संधिकाल-योगमें अवस्थातीत स्थितिकी प्राप्तिके लिये प्रशस्त माना गया है । इस संधिकालमें बोधवृत्तिका उदय हो तो वे ज्ञानरूप शिव त्रिपुरका—त्रिगुणात्मिका मायाके प्रपञ्चका विनाश करेंगे ।

भगवदनुरागने विषय-रसको शुष्क कर दिया हो और भगवदनुग्रहसे अन्तःकरण उनके श्रीचरणोंकी ओर उन्मुख हो । काम-क्रोध-लोभकी वृत्तियाँ शान्त हों—उदितावस्थामें न हों, इस अवस्थामें साधकके प्राणोंमें भगवत्प्राप्तिकी जो प्यास है, वह जागती है और वही समस्त सात्त्विक वृत्तियोंका सहयोग स्वतः प्राप्त कर लेती है ।

जीवनमें त्रिपुरके नाशकी जो अनुभूति है, उसे वाणी व्यक्त नहीं कर सकती । आप उसे भगवत्साक्षात्कार कहें,

अपरोक्षानुभव कहें अथवा निर्विकल्पावस्था कहें—शब्दोंमें उसे व्यक्त करनेकी सामर्थ्य नहीं है ।

इसके पश्चात् ? इसके पश्चात् जीवनमें केवल रसयत्न शेष रहती है । आप उसका नाम भले ज्वाला रख लें वह तो सरिता है । संसारके प्यासे प्राणियोंको उन्माद तृषाशान्ति और शीतलता प्राप्त होती है ।

भगवान्के—आराध्यके दो रूप होते हैं—ध्येय रूप और चिन्त्य रूप । शिवरूप—रुद्ररूप भी ध्येय रूप है किंतु त्रिपुरारिरूप चिन्त्यरूप है । वस्तुतः त्रिपुरारि रूप नहीं है । यह एक नाम है, जो एक लीला-विशेषका सूचक है और वह लीला साधकको बहुत कुछ बतलाती है ।

मायाके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक पुर अर्थात् स्थूलसृष्टि, दैविक सूक्ष्मसृष्टि और मानसिक-सृष्टि—स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह, कारणदेह—ये सब ताप ही तो देते हैं । इन त्रिविध तापोंसे, इन त्रिविध देहके क्लेशोंसे संतप्त प्राणीके निस्तारका मार्ग है—त्रिपुरारिकी शरण । पुरारि ही इन पुरोंको भस्म करनेमें समर्थ है ।

## वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

( लेखक—डा० श्रीनरजकान्त चौधुरी, देवशर्मा एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी० )

[ गताङ्क पृष्ठ ११२१से आगे ]

३—क्षत्राद्वयः । ( ४ । १ । १३८ )

भाष्य—क्षत्रस्य अपत्यं क्षत्रियजातिः । अन्यथा क्षात्रिः ।

क्षत्र वः क्षत्रियः ।

अर्थ—‘क्षत्र’ शब्दसे ‘व’ प्रत्यय होता है; तब अपत्यार्थमें ‘क्षत्रिय’ शब्द निष्पन्न होता है । यह जातिवाचक है । क्षत्रिय-जाति न होनेपर क्षत्र+व=‘क्षात्रि’ पद बनता है, क्षत्रिय नहीं बनता । ‘क्षात्रि’ का अर्थ है—क्षत्रिय पिता, किंतु वैश्य अथवा शूद्रा माताके गर्भसे उत्पन्न संतान । पिता-माता दोनोंके ही क्षत्रिय-वर्ण होनेपर ‘क्षत्रिय’ शब्द बनेगा ।

‘ब्रह्म’ और ‘ब्राह्मण’ जिस प्रकार समानार्थक हैं, उसी प्रकार ‘राजन्’ और ‘राजन्य’ तथा ‘क्षत्र’ और ‘क्षत्रिय’ शब्द भी समानार्थक हैं । वेदसंहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदोंमें—ये शब्द क्रमशः जन्मद्वारा ब्राह्मण और क्षत्रिय-जातिके अर्थमें ही व्यवहृत हुए हैं ।

‘जन्मना जातिः’

ऊपर लिखे हुए पाणिनिके सूत्रसे स्पष्ट प्रकट होता है कि

‘ब्राह्मण’, ‘राजन्य’ एवं ‘क्षत्रिय’ शब्द उन्हींके समानार्थक ‘ब्रह्मन्’, ‘राजन्’ तथा ‘क्षत्र’ पदोंसे अपत्यवाची तद्धित प्रत्यय जोड़नेपर बनते हैं । ये ही शब्द वंशानुक्रमिक जातिके वाचक हैं ।

अतएव पाणिनि-व्याकरणके मतसे भी ब्राह्मण पिता-मातासे उत्पन्न अपत्य ‘ब्राह्मण’ एवं क्षत्रियोंकी सर्वाङ्गी संतान ही ‘क्षत्रिय’ और ‘राजन्य’ है । इसके विपरीत क्षत्रिय माता-पिताके अपत्य ब्राह्मण, वैश्य अथवा शूद्र नहीं हो सकते और इसी तरह ब्राह्मण माता-पिताके अपत्य भी क्षत्रिय वैश्य अथवा शूद्र नहीं हो सकेंगे । यही इन शब्दोंका प्रबल प्रत्ययसे निष्पन्न एवं मूल और व्यावहारिक अर्थ है ।

गुण-कर्मानुसार ‘ब्राह्मण’ और ‘क्षत्रिय’ शब्दोंका प्रयोग करनेपर पाणिनिके ये सूत्र निरर्थक हो जायेंगे । अन्य किसी वर्णके अपत्य बहु-सदुंगसम्पन्न होनेपर भी ब्राह्मण-पद-प्रतिपाद्य अथवा क्षत्रिय-पद-प्रतिपाद्य नहीं हो सकते । ब्राह्मणकी सर्वाङ्गी संतान उत्पन्न अपत्य ही ब्राह्मण-पद-प्रतिपाद्य होगा । ब्राह्मण



[ ९ ]

प्रतिपाद्य होनेपर अथवा क्षत्रिय-पद-प्रतिपाद्य होनेपर  
निर्गुण अथवा कर्मकी अपेक्षा नहीं है, यही भगवान्  
सिद्धान्त है । ( महामहोपाध्याय डा० योगेन्द्रनाथ  
दासजी, डी० लिट०—'जन्मद्वारा वर्णव्यवस्था' पृष्ठ ४१ ) ।

यह मान लेना होगा कि 'ब्रह्म'-ब्राह्मण, 'क्षत्र'-क्षत्रिय,  
'वृक्ष'-वृक्षज्य आदि शब्द पाणिनि के सहस्र-सहस्र वर्ष पूर्वसे  
प्रचलित रहे हैं । वैदिक साहित्यमें भी सर्वत्र ये ही शब्द  
प्रचलित हैं । इन शब्दोंका पाणिनिने सहस्रा आविष्कार नहीं  
किया । इनको तथा इनके अर्थ और व्यवहारके नियमोंको भी  
जिन्होंने अपनी इच्छासे कल्पित किया हो, यह बात भी नहीं है ।  
पाणिनिने पूर्वाचार्योंके ग्रन्थ और मतको स्वकीय अनन्य  
स्वाराज्य आर्षप्रतिभाद्वारा सूत्राकारमें नया रूप दे, सुशृङ्खलाबद्ध  
रूप व्याकरणरूप वेदाङ्गशास्त्रकी शिक्षाका श्रेष्ठ साधनमात्र  
कराया है । वे इस शास्त्रके प्रथम रचयिता नहीं हैं ।

४-मज्ज। ( २ । २ । ६ )

महाभाष्य—“तथा गौरः पिङ्गलकपिलकेश  
लोतान्यथ्यन्तरान् ब्राह्मण्ये गुणान् कुर्वन्ति.....गुणहीने  
वर्ण अत्राह्मण्योऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति, अब्राह्मणोऽयं  
मूत्रयति भक्षयति ।”

दूसरे एक व्यक्तिको गौरवर्ण, पिङ्गल कपिल ( नित्य  
तेल वार बिना तेल लगाये स्नान करनेके कारण ) केश आदि  
वस्त्र अनुमान हुआ है कि यह ब्राह्मण होगा ।

समीप आनेपर ज्ञात हुआ कि ये अब्राह्मण हैं, ब्राह्मण  
नहीं क्योंकि ये खड़े होकर पेशाब करते हैं और खड़े-खड़े  
ही भोजन करते हैं ।

तपः श्रुतं तथा योनिश्चैवं ब्राह्मणकारकम् ।

तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥

‘अर्थात्—तपस्या, वेदज्ञान एवं ब्राह्मण पिता-मातासे जन्म  
वे तीनों ही ब्राह्मण बनानेवाले गुण हैं । जिनमें ये तीनों ही  
गुण वर्तमान हों, वे ही प्रकृत ब्राह्मण हैं । जिस व्यक्तिने  
ब्राह्मण पिता-मातासे जन्ममात्र लिया है, किंतु जो तपस्या  
और वैदिक संध्यादिका अनुष्ठान नहीं करता, वह जातिमात्रका  
ब्राह्मण है ।’

इसी प्रसङ्गमें ‘बोधायन-गृह्यसूत्र’के कुछ सूत्र उद्धृत  
किये जाते हैं—

प्रथमप्रश्ने सप्तमेऽध्याये—

ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नः प्राप्नोपनयनाजात  
इत्यभिधीयते ॥ १ ॥

उपनीतमान्नो व्रतानुचारी वेदानां किंचिदधीत्य  
ब्राह्मणः ॥ २ ॥

एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः ॥ ३ ॥

अङ्गाध्याय्यनूचानः ॥ ४ ॥

कल्पाध्यायी ऋषिकल्पः ॥ ५ ॥

सूत्रवचनाध्यायी भ्रूणः ॥ ६ ॥

चतुर्वेदादपिः ॥ ७ ॥

अत ऊर्ध्वं देवः ॥ ८ ॥

इतका अर्थ है—

‘ब्राह्मणका औरस तथा ब्राह्मणीके गर्भसे उत्पन्न होनेपर  
उपनयनसे पहलेतक वह ‘जात’ संज्ञक ( केवल जन्मसे  
ब्राह्मण ) होता है ।’

“उपनयन होनेपर ब्रह्मचर्यव्रतानुचारी एवं थोड़ी वेद-  
शिक्षा पानेपर ही ‘जात’को ‘ब्राह्मण’ पदवी मिलती है ।  
वेदकी एक शाखाका अध्ययन करनेपर ब्राह्मण ‘श्रोत्रिय’  
कहलाता है । वेदाङ्गोंके अध्येताको ‘अनूचान’ कहते हैं ।  
जिन्होंने कल्पसूत्रका अध्ययन किया है, वे हैं ‘ऋषिकल्प’ ।  
सूत्रवचनाध्यायीका नाम है ‘भ्रूण’ । जिन ब्राह्मणोंने चारों  
वेदोंका अध्ययन किया है, वे हैं ‘ऋषि’ । इनसे ऊपर ‘देव’ ।”

‘बोधायन-गृह्यसूत्र’ वैदिक युगका अति प्राचीन ग्रन्थ  
है । ‘बोधायन’ मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं ।

महाभाष्यके उपर्युक्त विवेचनमें स्पष्ट प्रतिपादित होता  
है कि किसीके ब्राह्मण-जैसा ( गौरवर्ण, कपिल-पिङ्गलकेश  
आदि ) दिखायी देनेपर अथवा किसीके गुण-कर्म  
ब्राह्मणके अनुरूप होनेपर भी वह ‘ब्राह्मण’ नहीं हो सकता ।  
अति प्राचीनकालसे पाश्चात्य मतसे जिसे ‘वैदिक युग’ कहते  
हैं—वैदिक समाजमें जन्मद्वारा ही वर्णभेद प्रचलित था ।  
( तत्र ‘सवर्णासु सवर्णाः’ बोधायनधर्मसूत्र १ । ९ । १४ के  
अनुसार ) सवर्णा कन्याके साथ समान वर्णके पुरुषका विवाह  
होगा । ब्राह्मणभार्याके गर्भसे जो पुत्र होगा, जन्मके कारण  
ही ( जात ) वह ब्राह्मण होगा । फिर भी अनुपनीत ब्राह्मण-  
संतानका वेदपाठ अथवा किसी देवकार्यमें अधिकार नहीं है ।  
गृह्यसूत्र कहते हैं—‘अनुपनीतके साथ भोजन करनेपर वारह  
रात्रिका उपवास करके प्रायश्चित्त करना चाहिये ।’ यह वाक्य  
बोधायन ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्रमें उद्धृत हुआ है ।  
उपनयनमात्रसे वह ‘जात’ बालक ‘द्विज’ बन जाता है । तब  
उसकी वास्तविकरूपसे ‘ब्राह्मण’ संज्ञा हो जाती है । तब



उसका वेद तथा देवकार्यादिमें अधिकार हो जाता है । तबसे अवतक ठीक यही नियम चला आ रहा है ।

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्काराद् द्विज उच्यते ।

विद्यया याति विप्रत्वं श्रोत्रियस्त्रिभिरेव च ॥

( अत्रिसंहिता १४० )

“ब्राह्मणकी संतान जन्म लेते ही ‘ब्राह्मण’ कहलानेयोग्य हो जाती है । गर्भाधानसे लेकर उपनयनपर्यन्त संस्कार होनेपर वह ‘द्विज’ कहलायेगा । वेद-विद्या प्राप्त करनेपर उसकी ‘विप्र’ संज्ञा हो जायगी और जिसमें ब्राह्मणत्व, द्विजत्व और विप्रत्व—ये तीनों हैं, उसे ‘श्रोत्रिय’ कहते हैं ।”

पाणिनि कहते हैं—“श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते ।”

( ५ । २ । ८४ )

किसी अर्वाचीन समाज-सुधारकने इस प्रसिद्ध श्लोकको विकृत कर ‘जन्मना जायते शूद्रः’ आदिका एक श्लोक बना दिया । यह श्लोक किसी भी स्मृति किंवा पुराणमें नहीं है । इनके मतसे इस जन्मके गुणकर्मद्वारा ही इस जन्मका वर्ण निश्चित होगा, किंतु किस उम्रमें होगा, कौन निश्चित करेगा—यह बात उन्होंने नहीं बतलाई । यदि जातमात्र शिशु शूद्र हो सकता है तो जातमात्र शिशु ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि क्यों नहीं हो सकता ? फिर जातमात्र शूद्र होनेपर शूद्रवर्ण गुण-कर्मानुसार नहीं होगा, यह मानना होगा । अतएव यह बात उक्त सिद्धान्तकी विरोधिनी तथा वस्तुतः अमूलक है ।

बात तो यह है कि क्षत्रिय और वैश्यकी संतान भी शूद्र होकर जन्म नहीं लेती, स्व-स्ववर्णके अधिकार और कर्तव्य लेकर ही जन्म ग्रहण करती है । ब्राह्मण-संतानकी तो बात ही क्या ।

यह प्रक्षिप्त वचन बारंबार छापे जानेके कारण पक्का प्रमाण-सा बन गया है । किंतु वास्तवमें यह किसी भी शास्त्रमें नहीं पाया जाता । आधुनिक सुविधावादी लोगोंने सुस्पष्ट शास्त्र-निर्देश और वर्णाश्रमकी चिराचरित विधिके विरुद्ध कहीं भी कुछ न पाकर कल्पनालोकसे इसका आविष्कार कर लिया है ।

५—गर्गादिभ्यो यञ् ।

( ४ । १ । १०५ )

तस्यापत्यम् ।

( ४ । १ । १२ )

एको गोत्रे ।

( ४ । १ । १३ )

गोत्राद् यून्य स्त्रियाम् ।

( ४ । १ । १४ )

अपत्यं पौत्रप्रभृतिगोत्रम् ।

( ४ । १ । १६ )

इन सूत्रोंके अर्थ हैं—“गोत्रप्रतिष्ठाता ऋषिके वंशज परवर्ती पुरुषगण मूलगोत्र-प्रतिष्ठाताके पदद्वारा परिचित होंगे । इस प्रकार वसिष्ठके बाद चाहे किसी ही पीढ़ियाँ क्यों न बीत गयी हों, उनके वंशज वसिष्ठके अथवा ‘वासिष्ठ’के नामसे परिचित होंगे । गर्गके पुत्र, पौत्र प्रपौत्र आदि सभी समान रूपसे ‘गार्ग्य’ एवं ‘गार्ग्योप’ अर्थात् ‘गर्ग-गोत्रीय’ नामसे अभिहित होंगे । इसी प्रकार ‘गार्गी’ शब्दका अर्थ भी समझना चाहिये ।”

पातञ्जल महाभाष्यमें ब्राह्मणोंके अनेक गोत्रोंका उल्लेख हुआ है । एकमात्र ब्राह्मण वर्ण ही वंश-प्रतिष्ठाता ऋषि पुरुष किसी सुप्राचीन ऋषिके नामानुयायी गोत्र एवं उनके परवर्ती कतिपय ख्यातनामा ( प्रवर ) पुरुषोंके नामानुसार ‘प्रवर’ नामसे स्मरण किया जाता है । गोत्रसंख्या सीमा बद्ध है, सब मिलाकर मात्र ४२ हैं । क्षत्रिय-वैश्योंके द्विज होनेपर भी उनका कोई गोत्र नहीं है । फिर भी वे अपने अपने कुलपुरोहितों अथवा गुरुओंके गोत्रके अनुसार अपने गोत्रका परिचय दे सकते हैं । भाष्यमें क्षत्रियोंके अनेक गोत्र एवं वैश्योंके भी दो गोत्रोंका उल्लेख हुआ है इसीके अनुसार भीष्मका ‘वैयाघ्रपत्न्य’ गोत्र प्रसिद्ध है ।

ब्राह्मणोंके अतिरिक्त और किसीके प्रवर भी नहीं हैं ।

शूद्रवर्णके गोत्र भी नहीं हैं, फिर भी उच्चवर्णोंके अनुसार करते हुए पुरोहितोंके गोत्रानुसार उनके गोत्रोंको लिखा किया गया है ।

६—कौमारापूर्ववचने ।

( ४ । २ । १ )

इस सूत्रसे पता चलता है कि वैदिक भारतमें विवाह सम्बन्ध पहले किसीके साथ नहीं हुआ है, ऐसी कुमारी कन्याओंका ही विवाह होता था । यही नियम अनेक

१. राजन्यविशां प्रातिष्ठीकगोत्राभावात् प्रवराभावः पुरोहितगोत्रप्रवरं वेदितव्यम् । ( विशानेश्वर, मिताक्षर १ । १ )

“यद्यपि क्षत्रिय और वैश्योंके अपने-अपने गोत्र नहीं हैं और प्रवर भी नहीं हैं, तथापि उनके अपने-अपने पुरोहितोंके गोत्रके अनुसार गोत्र-प्रवर होते हैं ।”

विशानेश्वरने ‘आश्वलायन श्रौतसूत्र’ से ये वाक्य लिखे हैं—  
‘तथा च यजमानस्य आप्त्यान् प्रवृणीते ।’ ( ३ । १ )  
राजविशां प्रवृणीते ।’



प्रचलित है। इधर सौ वर्षोंमें (१८५६ और १९५६ के बीच) धर्मविरुद्ध कानून बनाकर विधवा एवं सधवाओंका पुनर्विवाह प्रचलित किया गया है। इस कानूनके द्वारा भारतीय नारीका विशेषत्व—सतीत्व, जो पृथ्वीके किसी देशमें नहीं है, आहत हुआ है।

७. वर्णाश्रमी समाजमें शास्त्रानुयायी लोग समान गोत्रमें, समान प्रवरमें और सपिण्ड कुलमें विवाह नहीं करते। प्रत्येक पितृकार्य एवं दैव-कार्यमें गोत्र एवं प्रवरका उल्लेख होता है। पहले ब्राह्मणलोग परिचय देते समय सदा ही गोत्र और वेदशाखाका उल्लेख करते थे। जो लोग गोत्रमें स्थित हैं वे स्वाभाविकरूपसे वर्णाश्रम समाजमें स्थित हैं। उनकी कुलपरम्परा सांकर्य-दोष-दुष्ट है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। गोत्र-उल्लेखका अर्थ ही है पूर्वतन आदि-पुरुष—किसी ऋषिके पवित्र कुलमें जन्म होनेका निर्देश।

मेधातिथि कहते हैं, 'पुरुषस्व निश्चितः सम्बन्धः गोत्र-प्रवरवत्।' (मनुभाष्य २।२९)

अत्रि-भरद्वाजिका, वसिष्ठ-काश्यपिका प्रभृति उदाहरण-द्वारा भिन्न गोत्रमें विवाहका उल्लेख किया गया है।

इन सूत्रोंसे प्रतिपन्न होता है कि अन्ततः ईसापूर्व नवम-दशम शताब्दीमें एवं इसके भी बहुत पहले ब्राह्मण-समाजमें ऋषिगोत्रोंका व्यवहार आजकलकी भाँति ही प्रचलित था। गोत्रप्रवरकी इस चिरन्तन अकाट्य संयोग-शृङ्खलाद्वारा निबद्ध वर्णाश्रमी समाजकी कुलधारा अवतक पवित्र और अव्याहत बनी हुई है। यही युग-युगान्तसे वंश-गौरवके चिर जाग्रत् स्वाभिमान और जगत्के सर्व-प्राचीन और सुपवित्र आभिजात्यको अक्षुण्ण रखनेमें सहायता देती रही है।

आजकल सामान्य सुविधाके लिये एवं नये कानूनद्वारा बाधा हटा दिये जानेके कारण कोई-कोई समान गोत्रमें विवाह करने लगे हैं; किंतु अच्छी संतानके उत्पादनकी दृष्टिसे स्त्री-पुरुषोंका निकट सम्बन्धमें विवाह होना अनुचित है। प्राणि-जगत्में एक रक्तके मिलनेके फलस्वरूप अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, यह बात प्रमाणित हो चुकी है।<sup>१</sup>

2. 'Ichthyosis is specially to be found in families in which consanguineous marriages occur.'

—Davenport

एक वंशके स्त्री-पुरुषोंमें विवाह जिन सब परिवारोंमें होते हैं, उनमें चर्मरोग विशेषरूपसे पाया जाता है।<sup>१</sup>

सितम्बर ६—

असगोत्र और असपिण्ड विवाह वंशकी पवित्रता और सर्वतो-भावसे उन्नतिके लिये उपकारी और अपरिहार्य एवं आधुनिक विज्ञानसम्मत भी है। शास्त्र कहता है कि 'सगोत्रमें विवाह होनेसे संतान चण्डाल होती है। कुलमें पातित्य-दोष आता है।'<sup>२</sup>

८. पत्युनों यज्ञसंयोगे।

(४।१।३३)

महाभाष्य—'सर्वेण च गृहस्थेन पञ्च महायज्ञा निर्वर्त्याः। एवमपि तु याजकस्य पत्नी न सिध्यति। उपमानात् सिद्धम्—पत्नीव पत्नीति।'

कैयटकृत भाष्य-प्रदीपमें लिखा है कि 'त्रैवर्णिकानामेव सभार्याणां यज्ञाधिकारो न तु शूद्रस्य। उपमानादिति अग्नि-साक्षिकपूर्वकपाणिग्रहणाश्रयादिति, भावः।'

अर्थ—पति शब्दके उत्तर 'न' प्रत्ययके योगसे 'यज्ञमें सहकर्मिणी, सहधर्मिणी' अर्थमें 'पत्नी' पद सिद्ध होता है।

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—केवल इन्हीं त्रैवर्णिकोंको सखीक वैदिक यज्ञके अनुष्ठानमें अधिकार है। एकजन्मा शूद्रका यज्ञमें अधिकार नहीं है।' 'पत्नी' शब्दका अर्थ है—पतिके साथ यज्ञ-कर्ममें बैठनेकी अधिकारिणी। यज्ञ-कर्ममें मात्र द्विजोंका ही अधिकार है। तुषजक (शूद्र) का यज्ञमें अधिकार नहीं होता। इसलिये शूद्रकी स्त्री-पत्नी शब्दवाच्य भी नहीं हो सकती।

फिर भी सत्-शूद्र (जिसके हाथका छुआ जल पिया जा

'Biological objection to cousin marriages is that they perpetuate like defects.'

(—'Heredity and Eugenics')

'चचेरे, ममेरे, मौसेरे आदि निकट-सम्पर्कीय भाई-बहनोंमें विवाह जीव-विज्ञानकी दृष्टिसे आपत्तिजनक है; क्योंकि इससे दोनों पक्षोंके साधारण दोष भी संतानमें स्थायी हो जाते हैं।'

'Consanguineous marriages are more than twice as apt to be sterile than non-consanguineous marriages.'

—'Heredity in relation to Eugenics'

एक रक्तके स्त्री-पुरुषोंका विवाह भिन्नवंशीय स्त्री-पुरुषोंके विवाहकी अपेक्षा दूनेसे अधिक संततिविहीन होता है।<sup>१</sup>  
—पण्डितराजोपाध्यायप्रणीत भारतीय समाजशास्त्र १२० पृष्ठ (बंगला)



सकता है ) की स्त्रीका अग्निसाक्षिक पाणिग्रहण होता है और उसका गृहस्थीके दैनिक पञ्चमहायज्ञमें अधिकार भी है । इसलिये प्रकृतिपक्षमें 'पत्नी' न कहे जानेपर भी सत्-शूद्रकी स्त्रीकी 'पत्नी' संज्ञा हो सकती है । असत्-शूद्र ( जिसके हाथ-का छुआ जल भी नहीं ग्रहण किया जाता ) की स्त्रीको 'पत्नी' की संज्ञा नहीं दी जा सकती ।

पाणिनिके समयमें तथा उनसे भी पहले वर्णाश्रम-धर्मका अधिकार-भेदसे दृढ़ताके साथ पालन होता था । जिस वर्णका जो अधिकार है, वैसा ही उसका स्वधर्म एवं कर्तव्य भी होता है ।

( कमलः )

## पशु-पक्षी एवं जीव-जन्तु भी परोपकारी होते हैं [ सच्ची घटनाएँ ]

( लेखक—श्रीपुरुषोत्तमप्रसादजी मिश्र, बी० ए०, विशानरतन )

परोपकारको शायद मानव अपना एकाधिकार मानता है; फिर भी ऐसे उदाहरण हैं कि अनेक बार मानव स्वयं अपने स्वजातीय प्राणीकी रक्षा या सहायता करनेमें उस समय विफल रह जाता है, जब उसकी सबसे अधिक आवश्यकता रहती है । इसके विपरीत अनेक पशु-पक्षी या जीव-जन्तु कई बार ऐसा कार्य कर जाते हैं, जिसे परोपकारके उच्च आदर्शकी संज्ञा देना अतिशयोक्ति नहीं ।

वैसे कोई यह कह सकता है कि जिस कबूतरने लकड़ीका एक टुकड़ा गिराकर पानीमें डूब रहे चींटेकी प्राणरक्षा की थी, उस कबूतरपर जब बहेलियेने शर-संधान करना चाहा, तब चींटेद्वारा बहेलियेके पैरमें जोरसे काट लिये जानेकी कहानी तो हमने सुनी है, जिससे तीरका निशाना चूक गया और कबूतरकी जान बच गयी । नलके चले जानेपर अकेली रह गयी दमयन्तीका शील-हरण करनेकी चेष्टा करनेवाले बहेलियेको ऐन मौकेपर साँपद्वारा डँस लिये जानेका पौराणिक आख्यान भी हमने पढ़ा है; पर क्या इस प्रकारकी घटनाएँ आज भी घटती हैं ?

उत्तर है, जी हाँ, ये सदा घटती रही हैं और आज भी घटती हैं । अभी गत २६ जून १९७१ के 'नवभारत टाइम्स' ( बम्बई-संस्करण ) में जबलपुरका एक समाचार छपा है कि 'सिवनी जिलेके हरई पुलिस थानेके अन्तर्गत भेड़ा गाँवके जंगलमें गायोंने एक ग्वालेकी सिंहसे रक्षा की । समाचारमें बताया गया है कि मल्लू नामक उक्त ग्वाल अपने दो साथियोंके साथ जब जंगलमें गया हुआ था, तभी एक वनराजने उसपर हमला कर दिया । शेरको देखते ही मल्लूके साथी और कुछ मवेशी जान बचानेके लिये भाग खड़े हुए और शेरने मल्लूको दबोच लिया । तभी उसकी दो गायोंने अपने पैने

सींगोंसे शेरपर दोतरफा हमला कर दिया, जिससे शेरको अपनी जान बचानेके लिये दुम दबाकर भागनेके सिवा कोई चारा नहीं रह गया । मल्लूको चिकित्साके लिये अस्पताल पहुँचाया गया, जहाँ वह खतरेसे बाहर है ।

साँपोंसे नेवले या बंदरके द्वारा रक्षाकी घटनाएँ तो अनेक सुनी जाती हैं; पर ऐसी घटनाओंकी भी कमी नहीं है, जब साँपोंने मनुष्योंकी रक्षा की है । केरलके मोपला-विद्रोहके समयकी घटना है । उपद्रवोंके कारण सर्वत्र अराजकताकी-सी स्थिति पैदा हो गयी थी । इस स्थितिका लाभ उठाकर डकैतोंका एक दल एक जर्मीदारके घरमें घुस पड़ा और लूट-पाट करने लगा । इतनेमें न जाने कहाँसे पन फैलये अनेक गेहुँवन साँप निकल आये । अपने चारों ओर काल-रूप साँपोंको फुंकारते देखकर डाकू-दल इतना आतङ्कित हो उठा कि बिना कुछ सामान लिये ही वहाँसे भाग चला ।

जिस तरह दमयन्तीकी रक्षाके लिये नागने बहेलियेको डँस लिया था, उसी प्रकार एक स्त्रीके प्राण और गहनोंकी रक्षा भी एक साँपने उसके बदनीयत नौकरको डँसकर की । यह घटना भी दक्षिण भारतकी ही है और करीब सन् १९२०-२१ के आसपासकी है । उक्त महिला धार्मिक विचारोंकी थी । उसे दस मील दूर एक धार्मिक समारोहमें शामिल होना था । रास्ता बैलगाड़ीका था, जिसे उसका नौकर हाँक रहा था । रास्तेमें नौकरकी नीयत बदल गयी और उसने चालू रास्ता छोड़कर सुनसान रास्तेपर गाड़ी हाँक दी । नौकरका रवैया देखकर उस महिलाको पूरा शक हो गया कि यह मुझे मारकर मेरे गहने लूट लेना चाहता है । अपने प्राण बखश देनेके लिये वह बहुत



निद्रागिड़ायी, नमककी सैरियत देनेकी याद भी दिलायी; पर लेभान्ध नौकर उसकी बात क्यों सुनने लगा ! अपनी मालकिनका सिर कुचल देनेके लिये उसने पास ही पड़ा पत्थरका एक बड़ा ढोका उठा लिया, पर—  
‘जाको राखै साइयाँ, मार सकै नहिं कोय ।’

—वाली कहावत चरितार्थ हुई । ढोका उठाते ही उसके नीचे एक भयंकर नाग निकल आया, जिसने अपने जहरीले दंशसे नमकहराम नौकरको यमपुरका रास्ता पकड़ा दिया । महिला बेचारी तो भयके मारे बेहोश हो गयी थी । बादमें उस रास्तेसे गुजरनेवाले दो मजदूरोंने उसकी सँभाल करी और उसे सुरक्षित घर पहुँचा दिया ।

कई वर्ष पहलेकी जोधपुरकी एक घटना तो और भी विचित्र है, जिसे संयोगमात्र कहकर नहीं टाला जा सकता । एक घरमें कहींसे एक पुराना सर्प घुस आया । गृहमालिकने उस सर्पसे आतङ्कित होने या उसे मार डालनेका प्रयत्न करनेके विपरीत उसका स्वागत ही किया और उसे रोज दूध भी पिलाने लगा । संयोगसे एक दिन गृहस्वामी और स्वामिनी बाहर गये हुए थे । घरमें रह गया था उनका छोटा पुत्र और अल्पवयस्का पुत्री । इसी समय घरमें डाकू घुस आये । अल्पवयस्क बच्चोंको अरक्षित घरमें पाकर डाकूओंने उन्हें अपहरण कर ले जाना ही ज्यादा श्रेयस्कर समझा, ताकि बादमें गृहस्वामीसे रकम वसूल की जा सके । पर उन्हें तो माता-पिता बूढ़े सर्पदेवकी रखवालीमें छोड़ गये थे । अतः वे, भला, कैसे चूकते ! सर्पराजने चपट आगे बढ़कर एक डाकूको काट लिया, जिससे लड़केको तो डाकू न ले जा सके, पर बच्चीको लेकर भाग गये ।

पर बात यहीं खत्म नहीं हुई । डाकू मकानमालिकके नाम एक पुर्जी छोड़ गये थे, जिसमें कहा गया था कि—  
‘अमुक तिथिपर, अमुक समय, अमुक स्थानपर, अमुक धन-राशि देकर अपनी पुत्रीको छुड़ा लाना ।’ निश्चित तिथिको मकानमालिकने सर्पको अपने पास ले लिया और चल पड़ा उस स्थानकी ओर, जहाँ डाकू बच्चीको लेकर धन लेने आनेवाले थे । सचमुच डाकू-दल वहाँ उपस्थित था । उस व्यक्तिने चुपकेसे सर्पको छोड़ दिया, जिसने पुनः एक सशस्त्र डाकूको मृत्युकी गोदमें सुला दिया । यह आफत देखकर डाकू बच्चीको वहीं छोड़कर भाग निकले । उन्हें धन लेनेकी भी सुधि नहीं रही ।

स्याम देश ( अब थाईलैण्ड ) की भी घटना कम दिलचस्प नहीं है । एक धनी जमींदारके विशाल प्राङ्गणमें एक सर्प रहा करता था । यह जमींदार भी उसके प्रति बहुत कृपाळु था और उसे रोज दूध पिलाया करता था । जमींदार-के प्राङ्गणमें ही पशुओंका बाड़ा था । एक दिन सुनसान अँधेरी रातमें एक चीता इस बाड़ेमें घुस आया । वह अभी एक-दो पशुओंको अपना शिकार बनाना ही चाहता था कि साँप अपने विलमेंसे निकलकर उससे लिपट गया और उसे कई जगह काट खाया । चीता विषसे जर्जर होकर जव क्लान्त हो गया, तब सर्पने उसे छोड़ दिया और अब वह जमींदार-की ओर चला । जमींदार तथा परिवारके अन्य सदस्य उसी प्राङ्गणमें घोर निद्रामें मग्न थे । साँप जाकर जमींदारके पैरमें लिपट गया, जिससे जमींदारकी नींद खुल गयी । जमींदारकी नींद खुलते ही सर्पने बन्धन खोल दिया और वह बाड़ेकी ओर सरकने लगा । जमींदार भी उसके पीछे-पीछे चल पड़ा । बाड़ेमें अन्तिम साँसें लेते चीतेको देखकर वह हक्का-बक्का रह गया ।

ऐसे प्रसङ्ग भी हैं, जिनमें अन्य प्राणियोंने साँपोंसे मनुष्यकी रक्षा की है । अखबारोंमें एक समाचार छपा था कि रूसके अजरबैजानमें एक पालतू मुर्गेने एक जहरीले सर्पसे जमकर लोहा लिया और वह अपने स्वामीके पुत्रकी जान बचानेमें सफल हो गया । मुर्गा घरके प्राङ्गणमें घूम रहा था । इतनेमें उसकी नजर अपने स्वामीके तीनवर्षीय पुत्रसे कुछ ही दूर रह गये काले नागपर पड़ी । झपटकर पुत्रसे कुछ ही दूर रह गये काले नागपर पड़ी । झपटकर मुर्गा साँपके पास पहुँच गया और उसपर अपनी चोंचसे प्रहार करने लगा । गृहस्वामीने इस विचित्र युद्धको देख लिया और कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उसने तत्काल वहाँ पहुँचकर सर्पका काम तमाम कर दिया ।

इस सिलसिलेमें स्वयं ‘कल्याण’ के ही एक अङ्कमें छपी एक घटनाको दुहराना अप्रासङ्गिक नहीं होगा । घटना ६ दिसम्बर, १९६९ की बतायी गयी है, जो इस प्रकार है—

“इकलहरा कोयलाखानके कैम्प नं० ४ के निवासी धनीराम-का पुत्र रामदयाल दिनमें ११ बजे पानी लानेके लिये कुएँपर गया हुआ था । कुआँ करीब दो फर्लॉग दूर था । साथमें उसकी बहिन भी थी । रास्तेमें बड़कुई खानकी एक ट्राम-लाइन भी पार करनी पड़ती थी, जिसका निर्माण खानसे कोयलेकी ढुलाईके लिये किया गया है । पानी लेकर



रामदयाल जैसे ही ट्राम-लाइनके पास पहुँचा कि न जाने कहाँसे चार फुट लंबा एक साँप अचानक आकर उसके पैरोंसे लिपट गया। रामदयाल घबरा तो बहुत गया, पर सिरपर मटका लिये वह स्तम्भित-सा निश्चल खड़ा रहा। पास ही महुँका एक पेड़ था, जिसपर एक नीलकण्ठ और एक तोता बैठे हुए थे। भगवान्‌की मर्जी। नीलकण्ठने साँपको देख लिया और इसके पूर्व कि साँप रामदयालके पैरमें अपने विषैले दाँत चुभो पाता, नीलकण्ठने झपाटेके साथ उसके फनपर इस कदर तीव्र प्रहार किया कि वह व्याकुल हो उठा। फिर क्या था। नीलकण्ठ और तोतेने मिलकर उसपर इतने प्रहार किये कि लहूलुहान साँपने रामदयालका पैर छोड़कर खिसक जानेमें ही अपनी कुशल समझी। बहन तो यह दृश्य देखकर भयसे भौंक्की रह गयी थी। उसके माता-पिता एवं कैम्पके अन्य लोग भी दौड़े आये। रामदयालकी जान बच गयी, जिसका श्रेय नीलकण्ठ और तोतेको है।

चित्रकूटकी बात है। पयस्विनी नदीमें एक छोटा बालक अचानक फिसलकर डूबने लगा। अपने बालकको डूबते देखकर माता धाड़ मारकर रोने और बच्चेको बचानेकी लोगोंसे प्रार्थना करने लगी। इतनेमें छपाकूकी आवाज हुई और लोगोंने आश्चर्यचकित होकर देखा—इससे पहले कि सर्वबुद्धिसम्पन्न मनुष्य कुछ कर पाये, एक बंदर पानीमें कूद पड़ा है। कुछ ही क्षणोंमें बंदरने बालकको पानीमेंसे बाहर लाकर रोती-बिलखती माँके पास छोड़ दिया और धन्यवादकी प्रतीक्षा न करते हुए लंबी छल्लोंगोंके साथ वह एक वृक्षपर चढ़ गया।

घटना सन् १९३०-३१ के आसपासकी है, जब भालुओंने डाकुओंसे एक जमींदारकी सम्पत्तिकी रक्षा की थी। डाकुओंको आया देख जमींदार चुपचाप खिसक गया और पास ही तमाशा दिखा रहे सर्कसके पंडालमें पहुँच गया। उसने सर्कसके मैनेजरसे सहायताकी याचना की। मैनेजरने डाकुओंका पीछा करनेके लिये तीन भालुओंको प्रेरित किया। भालू प्रशिक्षित तो थे ही, उन्होंने जाकर जमींदारके आँगनमें ही डाकुओंको घेर लिया और दो डाकुओंको तो जहाँ-का-तहाँ ही ढेर कर दिया। इस अप्रत्याशित आफतसे घबराकर शेष डाकुओंने भागकर एक कमरेमें शरण ली। भालू तबतक

उस कमरेके दरवाजेसे टस-से-मस नहीं हुए, जबतक पुलिस-दलने आकर डाकुओंको गिरफ्तार नहीं कर लिया। बादमें जमींदारने सर्कसवालोंको इनाममें कई बीघे जमीन दी।

कुत्तोंने तो अपने स्वामियोंकी भारी-से-भारी संकटसे रक्षा की ही है, हाथी भी इसमें पीछे नहीं है। घटना सन् १९३६ की है, जब केरलमें एक हाथीने अनेक लोगोंकी जान बचायी थी। एक बरात आयी हुई थी, जिसके लिये विशाल मण्डप सजाया गया था। मण्डपमें मोटे-मोटे लकड़ीके खंभे प्रयुक्त किये गये थे। बरात देखनेके लिये भारी संख्यामें लोग मण्डपमें एकत्र थे। जब सभी लोग राग-रंगमें मस्त थे, तभी अचानक मण्डपकी एक रस्सी टूट गयी और एक खंभा धीरे-धीरे झुककर गिरने लगा। पास ही बरातमें आया हाथी खड़ा था। उसने गिर रहे खंभेको अपनी सूँड़से सँभाल लिया और उसे सीधा खड़ा कर दिया। इतनेमें लोगोंका ध्यान इस ओर गया और खंभेको सीधा कर रस्सी फिसे बाँध दी गयी। अगर हाथीने ऐन मौकेपर खंभेको न सँभाल लिया होता तो पूरे मण्डपके धराशायी होनेसे कितनी बड़ी दुर्घटना हो जाती, यह सोचनेकी बात है।

सन् १९४७ में भारत-विभाजनके समय चारों ओर मार-काट, लूट-पाट मची हुई थी, जब एक गायने ऐन मौकेपर पहुँचकर एक मुसलमान सज्जनको जलते घरमें भस्म हो जानेसे बचा लिया था। बताते हैं कि उक्त सज्जनने उस गायको कसाईके हाथसे बीस रुपयेमें खरीदकर उसकी रक्षा की थी और अपने घरपर पाल लिया था। जब हिंदू-मुसलमान एक दूसरेके खूनके प्यासे हो रहे थे, तब एक उत्तेजित भीड़ने उनके मकानको घेर लिया और उसमें चारों ओरसे आग लगा दी। मकान धू-धू कर जलने लगा और घर धुँएँ भर गया। उपद्रवियोंके अन्यत्र चले जानेके बाद भी उक्त सज्जनको धुँएँके कारण घरमेंसे बाहर निकलनेका मार्ग नहीं मिल रहा था। उन्होंने जीवनकी आशा त्याग दी थी, पर इसी समय वह गाय न जाने कैसे वहाँ पहुँच गयी और दरवाजेके भीतरसे अपनी पूँछको घरके भीतर घुसेड़कर हिलाने लगी। हिंदुओंको मरनेके बाद वैतरणी पार करानेवाली गायने उक्त मुसलमान सज्जनको जीवित ही वैतरणी पार कर दिया।

बैलोंद्वारा बाघसे चुनाव-अधिकारीकी रक्षा और पेलोरस जैक नामक डॉल्फिन मछलीद्वारा न्यूजीलैंडके कुक जलडमरूमध्यके खतरनाक चट्टानी मार्गमें जहाजोंके मार्गदर्शन



१] कल्याण के अङ्गोंमें छपी घटनाओंका पुनरुल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं। यह तो केवल कुछ घटनाओंका ही लेख है, ऐसी असंख्य घटनाएँ हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि निर्बुद्धि माने जानेवाले जीव-जन्तु भी केवल प्रेम नहीं, बल्कि जान-बूझकर परोपकार करनेकी क्षमता अर आदत रौखते हैं। यहाँतक कि अपकारी समझे जानेवाले प्राणी भी परम उपकारी सिद्ध हुए हैं, चाहे इसे भगवत्प्रेरणा कहें या पूर्वजन्मके संस्कार। क्या आजका स्वार्थी मानव भी इन घटनाओंसे कुछ शिक्षा लेना पसंद करेगा ?

## पीपलका वृक्ष

( लेखक—डा० गोपालप्रसादजी 'वंशी' )

भारतीय संस्कृतिमें बहुत-से ऐसे वृक्ष हैं, जो पूजनीय माने जाते हैं और जिनकी पूजा बड़ी श्रद्धासे होती है। इन वृक्षोंमें कुछ तो संसारप्रसिद्ध एवं बहुसंख्यक व्यक्तियों द्वारा पूजित हैं, कुछकी पूजा गौणरूपसे होती है और कुछ केवल पवित्र माने जाते हैं।

प्राचीन कालमें जब लोग वृक्षोंके नीचे रहते थे, तब वे वृक्षोंका बड़ा सम्मान करते थे। शान्तिके लिये जिस प्रकार रुद्र, वरुण आदि देवताओंकी प्रार्थना करते थे, उसी प्रकार वृक्षोंकी भी प्रार्थना करते थे।

वृक्षो भवन्तु शं नो ? ( ऋग्वेद ७ । ३५ । ५ )

अर्थात् 'वृक्ष हमारे लिये शान्तिकारक हों।' ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषदोंमें तो पवित्र वृक्षोंके नामतक गिनाये गये हैं। यशका जीवन वृक्षोंकी लकड़ीको ही माना गया है। वृक्षोंके समिधाके निमित्त बरगद, गूलर, पीपल और पाकड़ ( लखर )—इन्हीं वृक्षोंकी लकड़ियोंको विहित माना गया है और कहा गया है कि ये चारों वृक्ष सूर्य-रश्मियोंके घर हैं—'ये ते गन्धर्वाप्सरसां गृहाः।' ( शत० १ । ५ । ४ । १ )

इन प्रधान वृक्षोंके उपरान्त गौण वृक्षोंकी समिधाका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पलाश, मदार, बेल और खैरके वृक्ष भी यशके योग्य हैं; इसलिये इन्हीं वृक्षोंकी समिधा होती है।

पालि-ग्रन्थोंमें तो स्पष्ट वर्णन है कि कुछ देवता वृक्षोंपर ही रहते हैं और इसी बातको लेकर भिक्षुओंको वृक्ष काटना मना किया गया है। जो भिक्षु किसी वृक्षको काटता है, उसे 'पाचित्तिय' ( प्रायश्चित्त ) दोष होता है। 'विनयपिटक'में इस सम्बन्धमें एक कथा आयी है। एक समय भगवान् बुद्ध आलवी नगरके अगालव चैत्यमें विहार करते थे। उस समय आलवीके एक भिक्षुने विहार बनानेके लिये एक

वृक्ष काटना आरम्भ किया। उस वृक्षपर रहनेवाले देवताने भिक्षुसे कहा—'भन्ते ! अपने भवन बनानेके लिये मेरे भवनको मत काटिये।' भिक्षुने उसकी बात न मानकर वृक्ष काट डाला। देवताके वच्चेका हाथतक कट गया। तब वह देवता बड़ा क्रुद्ध हुआ और उसने भिक्षुको जानसे मार डालना चाहा, किंतु फिर सोचा कि 'मुझे ऐसा करना शोभा न देगा, क्यों न मैं चलकर भगवान् बुद्धसे कहूँ ?' वह तथागतके पास गया और उनसे सारी बात कही। भगवान्ने देवताको समझाकर एक अन्य वृक्षपर रहनेके लिये कहा और भिक्षुओंके लिये नियम बनाते हुए कहा—'जो कोई भिक्षु वृक्षोंको गिरायेगा, उसे 'पाचित्तिय' होगा।' 'समस्त पासादिका'में आचार्य बुद्ध घोषने लिखा है कि प्रत्येक पक्षमें पूर्णिमा और अमावस्याको हिमालयपर देवताओंकी सभा होती है। उसमें देवताओंसे वृक्षधर्मके विषयमें पूछा जाता है—'तुम वृक्ष-धर्मके अनुसार रहते हो या नहीं ?' वृक्षधर्मका अर्थ है—वृक्षके नष्ट होने-पर वृक्ष-देवताको खिन्नमन न होने देना। जो देवता वृक्ष-धर्मके अनुसार नहीं रहते, उन्हें देव-सभामें प्रवेश नहीं करने दिया जाता। उक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि वृक्षोंको देवताओंका निवास-स्थान माना जाता है। वृक्ष-देवताओंके विमान वृक्षोंके ऊपर ही रहते हैं। पालि-ग्रन्थोंके अनुसार भगवान् बुद्ध जिस वृक्षके नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह परम पूजनीय होता है और उसे 'बोधिवृक्ष' कहा जाता है। गौतम बुद्धने पीपल वृक्षके नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था, इसीलिये उसे 'बोधिवृक्ष' कहा जाता है। बुद्धत्व प्राप्त करनेके पश्चात् भगवान् बुद्ध बिना पलक गिराये एक सप्ताह तक उसे देखते रहे और उसके उपकारका मनन करते रहे; इसीलिये सभी बौद्ध उस बोधिवृक्षकी पूजा करते हैं।

आजकल पीपल, आम, बरगद, आँवला, सिरस, गूलर,



नीम, बेल, बाँस, देवदारु और चन्दनके वृक्ष पवित्र माने जाते हैं। इनमें पीपल सबसे पवित्र माना जाता है और इसकी सर्वाधिक पूजा होती है। इसके जड़से लेकर पत्र-पत्र-तकमें देवताओंका वास माना जाता है। यह ब्रह्मा, विष्णु एवं महेशका एकीभूत रूप समझा जाता है। भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने 'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' कहकर पीपलको अपना स्वरूप बताया है। बौद्ध-जनता इसे 'बोधिवृक्ष' कहकर पूजती है तथा हिंदू 'वासुदेव'। इसकी शाखा या पत्तीतक नहीं तोड़ी जाती। पीपल वृक्षके समान समादृत एवं पूजनीय अन्य एक भी वृक्ष संसारमें नहीं है। इसे तिब्बतमें 'लालचङ्ग' कहते हैं। जब इसके पास पहुँचा जाता है, तब सिरकी टोपी उतार दी जाती है और 'शोलो-शोलो' कहा जाता है। इसकी जड़पर दो-चार छोटे-छोटे सफेद पत्थरके टुकड़े डाल दिये जाते हैं। इसकी जड़को लाल रंगसे रँग डालते हैं। भारतकी भाँति वहाँ भी ऐसी भावना है कि जो व्यक्ति 'लालचङ्ग' वृक्षको काटता है या नष्ट करता है, उसके कोढ़ हो जाता है। बर्मा, लंका, स्याम आदि देशोंमें भी ऐसा ही माना जाता है। मुक्तिनाथ (धौलागिरि पर्वतसे ४० मील उत्तर) प्रदेशमें पीपल वृक्षको 'शोलबो' कहा जाता है और उसकी पूजा की जाती है। नेपालमें भी 'बंगल सिमा' (पीपल वृक्ष) का बड़ा सम्मान किया जाता है। लंका, बर्मा आदि बौद्ध देशोंमें इसे 'बोधिवृक्ष' कहकर पूजा जाता है।

पीपल वृक्ष औषधके काममें भी आता है। फोड़े-फुन्सी तो इसकी छालसे अच्छे हो ही जाते हैं, पत्तियोंसे भी बड़े-बड़े घाव तेलके साथ प्रयोग करके ठीक कर दिये जाते हैं। इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता तो उस समय देखी जाती है, जब कि पीपलकी लकड़ीसे सर्प-दंशसे मरता हुआ व्यक्ति जीवन-लाभ कर लेता है। देहातोंमें प्रायः लोग सर्पद्वारा डसे हुए व्यक्तिसे पीपलकी लकड़ीके सहारे ही बात करके सर्पके आकार, गोत्र, डसनेका स्थान, कारण आदि सब जान लेते हैं। इसे 'पीपल जड़ी' नामसे पुकारते हैं। 'पीपल जड़ी' की विधि यह है—जब किसी व्यक्तिको साँप डसे और विष सारे शरीरमें प्रवेश कर गया हो, अन्य दवाएँ काम न करती हों, तब पीपलकी चार-चार अंगुलकी दो फुनगियाँ तोड़ लानी चाहिये और उनके छिलके को छुड़ा देना चाहिये। इस कार्यको गुप्तरूपसे करना चाहिये, ताकि दूसरे लोग न जान पायें। सब लोग इसे 'जड़ी' ही समझें। उन्हें ले जाकर रोगीके दोनों कानोंके

पास बलपूर्वक पकड़कर सटाना चाहिये। यदि कानमें रोग तो और भी उत्तम है। किंतु ध्यान रहे कि रोगीके कानों का विष उस जड़ीको अपनी ओर खींचने लगाता है और जड़ी विषको। यदि जड़ीको बलपूर्वक नहीं पकड़ा जायगा तो जड़ी दोनों ओरसे विषद्वारा खींची जाकर रोगीके चमड़ोंमें या कानमें घँसने लगेगी। उनके सिरसे रोगी चिल्लाने लगेगा और जड़ी विष खींचने लगेगी। उस समय रोगीसे जो कुछ पूछा जायगा, वह सब लगेगा। देहातोंमें केवल वकाकर ही जड़ी छुड़ा देते हैं और मन्त्रके प्रयोगसे विष दूर करते हैं। किंतु उचित यह है कि जब रोगी चिल्लाने लगे, तब वहाँसे रोगीको हटा देना चाहिये; क्योंकि वह अपने पूर्वकृत कुकर्मोंके बकने लगता है। जब जड़ी सब विष खींच लेती है तब उसका खिंचाव अपने-आप ही रुक जाता है। 'पीपल जड़ी' को सुखाकर भी रखा जा सकता है और समयपर प्रयोगमें लाया जा सकता है।

पीपलकी छालसे निकाले हुए रंगको ही कापाय रंग कहते हैं, जिससे भिक्षुओंका चीवर रंगा जाता है। पीपलकी छालसे रंग बनाना प्रायः भिक्षु जानता है। ऐसे ही अन्य कटहल और बरगदसे भी।

पीपलकी हमारे जीवनसे बड़ी निकटता है। यह एक दीर्घ आयुवाला वृक्ष माना जाता है। लोगोंका विश्वास है कि पीपलमें ब्रह्माका वास है। इसीलिये उपनयन संस्कारके समय कहीं-कहीं इसकी पूजा की जाती है—पेड़ीपर चढ़कर औरसे सूत लपेटा जाता है। उच्चवर्गीय हिंदू-नीति में पीपलको वासुदेवका रूप मान सोमवती अमावस्याको इसकी पूजा करती हैं। वे इसकी जड़ोंपर जल ढालते हैं, केशोंको सिन्दूरके टीके लगाती हैं और १०८ बार इसकी पत्तियोंको छिन्न करती हैं। वृक्षके नीचे एकत्र स्त्रियोंमें जो बृद्धा होती हैं, वह अन्य सबको राजा निकुंजली और उसकी पत्नी कहानी सुनाती है।

राजस्थानमें पीपल और वटवृक्ष वैशाखके अंतिम पक्षकी चतुर्दशीको पूजे जाते हैं। वैशाख मासमें प्रतिदिन पीपलको साँच देनेका भी पुराणोंमें बड़ा माहात्म्य लिखा है। स्त्रियोंका विश्वास है कि ये वृक्ष उनके सौभाग्यकी रक्षा करते हैं। जब कुलवधुएँ पीपलके पाससे निकलती हैं तब उसे आदर देनेके लिये अपना घूँघट माथेसे धरे



क डाल लेती हैं। गर्भवती स्त्रियाँ पीपलके नीचेसे नहीं निकलती। दीर्घ आयुवाले पीपलको उनके द्वारा ऐसा आदर दिया जाता है, जैसे वह उनका कोई पुरातन पुरुष हो।

किसी हिंदूकी मृत्युके बाद पीपलकी शाखाओंमें घट लगाया जाता है। विश्वास है कि परलोक जानेवाली स्त्रियाँ प्यासे कहीं व्याकुल न हों, इसलिये घटमें पानी रख दिया जाता है। सर मोनियर विलियम्सकी खोजसे विदित होता है कि वणिक् लोग बाजारमें पीपल वृक्षका होना नहीं समझते। विलियम्स महोदयके अनुसार वेला विश्वास कदाचित् इसलिये रूठ हो गया कि इस वृक्षके नीचे वे किसी पदार्थका मनमाना दाम बताकर किसीको ठग नहीं सकते।

पीपलमें अनेक गुण हैं। जो गुणी होता है, लोग उसका आदर करते हैं। तुलसीका पौधा गुणोंका भंडार है। लोग उसे पूजते हैं। उसका पौधा घरमें लगाते हैं। पीपलसे भी लोग सान्निध्य प्राप्त करना चाहते हैं। पीपलका वृक्ष विशाल होता है। उसे घरमें नहीं लगाया जा सकता। उसे खुले मैदानमें लगाते हैं। दूर हानेके कारण रोज तो ल नहीं चढ़ाया जा सकता तथापि शनैश्चर-ग्रहादि-भय-लक्षिकी बात लेकर ऐसी परिपाटी चला दी गयी है कि सप्ताहमें प्रत्येक एक बार तो उसका सामीप्य प्राप्त हो ही जाय।

पीपलका कोई भी भाग बेकार नहीं है। वह अपनी विशालताके कारण महान् ही नहीं है, अनेक पशु-पक्षियोंका निवास-स्थल भी है। चिलचिलाती धूप और मूसलधार वर्षासे उसीद्वित मानवताका वह आश्रय-निकेतन है। इसकी शाखा शुद्ध, शीतल एवं रोगनाशक होती है। पीपलकी छर्द्दी, पत्तियोंके डंठल, हरे पत्ते एवं सूखी पत्तियाँ—सभी उपकारी हैं और उनका उपयोग रोगोंके निवारणके हेतु किया जा सकता है। यहाँ कुछ रोग दिये जाते हैं, जिनमें पीपल अत्यन्त लाभकारी है—

**रतौथी**—बहुतसे लोगोंको रातमें नहीं दिखलायी पड़ता। शमका छूट-पुटा फैलते ही आँखोंके आगे अंधियारा-सा आ जाता है। इसकी सहज औषध है—पीपल। पीपलकी छर्द्दीका एक टुकड़ा लेकर गो-मूत्रके साथ उसे शिलापर पीसना चाहिये। इसका अञ्जन दो-चार दिन आँखोंमें लगावे रतौथीमें लाभ होता है।

**मलेरिया ज्वर**—पीपलकी टहनीका दतुवन कई दिनोतक करनेसे तथा उसको चूसनेसे मलेरिया बुखार उतर जाता है।

**सर्प-विष**—यद्यपि साँप काटनेकी 'लैक्सिन' जैसी

अद्भुत दवा ईजाद हो चुकी है, फिर भी पीपलके पत्तेके डंठलसे सर्प-विषका उपचार किया जाता है। मरीजको चित्त लिटाकर पीपलकी पत्तीका डंठल, जो ताजा हो, कानोंमें दिया जाता है। जब उसके द्वारा विषके चूसे जानेकी क्रिया शुरू होती है, तब मरीज चीत्कार करने लगता है; इसलिये उसके हाथ-पाँवको कसकर पकड़ा जाता है। दस-दस मिनट-पर डंठल तबतक बदला जाता है, जबतक रोगीको आराम न हो जाय। बिच्छूके विषका भी यही इलाज है।

**कान-दर्द या बहरापन**—पीपलकी ताजी हरी पत्तियोंको निचोड़कर उसका रस कानमें डालनेसे कान-दर्द दूर होता है। कुछ समयतक इसके नियमित सेवनसे कानका बहरापन भी छुटता है।

**खाँसी और दमा**—पीपलके सूखे पत्तेको खूब कूटना चाहिये। जब पाउडर-सा बन जाय, तब उसे कपड़ेसे छान लेना चाहिये। लगभग अठन्नी भर चूर्णको दो भर मधु मिलाकर एक महीना सुबह चाटनेसे दमामें स्पष्ट फायदा होता है, खाँसीकी तो कोई बात ही नहीं है।

**धातु-दौर्बल्य और वन्ध्यत्व**—पीपल वृक्षके फलमें अद्भुत गुण हैं। फलोंको सुखा, कूट और कपड़ छानकर रखना चाहिये। रोज पाव भर दूध चवन्नी भर चूर्ण मिलाकर पीनेसे धातु-दौर्बल्य दूर होता है। स्त्रीका वन्ध्यापन भी इससे नष्ट हो जाता है।

**प्रदर और मासिकधर्मकी गड़बड़ी**—उपर्युक्त विधिसे चूर्ण तैयार कर दूधके साथ नियमित रूपसे स्त्रियाँ प्रसवके बाद खाँयें तो बहुत लाभ होता है। पुराना प्रदर जड़से मिट जाता है और मासिकधर्मका खुलसा न होना या समय-पर न होना भी दूर हो जाता है।

**सर्दी और सिरदर्द**—सर्दीका सिरदर्द तो मिनटोंमें छूमंतर हो जाता है। सिर्फ पीपलकी दो-चार कोमल पत्तियोंको चूसनेकी देर होती है। दो-तीन शाम ऐसा करनेसे सर्दी भी जाती रहती है।

पीपलमें और भी गुण हैं। इन्हीं गुणोंके कारण पीपल वन्दनीय और सेव्य है।

भव भूतलको भेद,	गगनमें
उठनेवाले	शाल, प्रणाम।
छाया देकर	पथिकोंका श्रम
हरनेवाले	तुम्हें प्रणाम।



# हमीद खाँ भाटी

( लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया )

प्रत्येक गाँव या कस्बेमें कभी-कभी ऐसे व्यक्ति हो जाते हैं, जिनको बहुत समयतक लोग याद किया करते हैं और उनकी अमिट छाप जन-मानसपर अङ्कित हो जाती है। इस प्रकारके मनुष्य केवल धनी अथवा विद्वान् घरानोंमें ही पैदा होते हैं, ऐसी बात भी नहीं है।

बीकानेरके उत्तरमें 'पूगल' नामका इलाका है। कहा जाता है कि किसी समयमें यहाँ पत्निनी स्त्रियाँ होती थीं। जो भी हो, आजकल तो यहाँ बीरान, रेतीली, बंजर भूमि है। पीनेके पानीकी कमी रहती है, इसलिये गाँव भी छोटे और दूर-दूर हैं।

यहाँके निवासियोंका मुख्य धंधा भेड़ पालना है। थोड़े-से ब्राह्मण और बनिये हैं, जो लेन-देन या दुकानदारीका काम करते हैं।

उनके सिवा यहाँ मुसल्मान गूजरोँकी पर्याप्त संख्या है, जिनके पास बेहतरीन किस्मकी गायें रहती हैं। वे इनका दूध-घी बेचकर अपना निर्वाह करते हैं। कहावत है—'सेवासे मेवा मिलता है।' शायद इसीलिये इनकी गायें दूध ज्यादा देती हैं और अच्छी नस्लकी बछड़े एवं बछियाँ भी।

सन् १९५१ में इस तरफ भयंकर अकाल पड़ा था। कुओंमें पानी सूख गया। घरोंमें जो थोड़ी-बहुत घास और चारा बचा हुआ था, उससे उस वर्ष किसी प्रकार पशुओंकी जान बची।

जब दूसरे वर्ष फिर वर्षा नहीं हुई और अकाल पड़ गया, तब यहाँके लोगोंकी हिम्मत टूट गयी। कलकत्तेकी 'मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी'ने दोनों वर्ष ही वहाँ राहत दी थी। मैं भी दूसरे वर्ष कुछ समयतक उस सिलसिलेमें वहाँ रहा।

हम देखते थे कि नित्य-प्रति हजारों स्त्री-पुरुष और बच्चे अपने दोरोंको लिये हुए पैदल कोटा, बाराँ और मालवाकी तरफ जाते रहते थे। ४-५ महीनोंके बाद वापस आनेकी सम्भावना रहती, इसलिये घरका सारा सामान भी गाय और बैलोंपर लदा हुआ रहता। घर छोड़कर जानेमें

दुःख होना स्वाभाविक है और फिर, अभावोंसे फिर दुःख बृंहड़ लंबा रास्ता और वैशाखकी गर्मी। इसलिये सब चेहरोंपर दुःख और शोककी स्पष्ट छया नजर आती थी। रास्ता काटनेके लिये स्त्रियाँ भजन गाती हुई चलीं। बच्चोंको संकट और कष्टके बारेमें खास जानकारी नहीं रहती, इसलिये उनको इस यात्रामें एक प्रकारका नयान और आनन्द मिलता। उन लोगोंसे पूछनेपर प्रायः एक-सा ही उत्तर मिलता कि 'पानी, अनाज, घास और चारा मिलता नहीं; क्या तो हम खाएँ और क्या इन पशुओंको खिलायें।'।

हमें पूगलके गाँवोंके सीमान्तपर बहुत-से गाय-बैलोंके कंकाल और लाशें देखनेको मिलीं। पता चला कि बृद्ध केवल और गायोंको उनके मालिक जंगलोंमें छोड़ गये। यहाँ भूख, प्यास और गर्मीसे इनके प्राण निकल गये।

कई बार तो सिसकती हुई गायें भी दिखायी दीं। उनके लिये यथाशक्ति चारे-पानीकी व्यवस्था की गयी; पर समस्या इतनी कठिन थी कि यह बंदोबस्त बहुत थोड़े पैमानेपर ही हो सका। यह भी पता चला कि अच्छी हालतमें द्विजातिके लोगोंने भी पानी और चारेकी कमीके कारण बेकाम गाय-बैलोंको मरनेके लिये जंगलमें छोड़ दिया था।

ज्यादातर घरोंमें इस प्रकारकी घटनाएँ हो चुकी थीं। इसलिये आपसकी निन्दा-स्तुतिकी भी गुंजाइश नहीं थी।

यहाँके किसी गाँवमें मैं एक दिन दोपहरमें पहुँचा। धरती गर्मीसे जल रही थी। अंगारोंके समान तपती। रेतकी आँधी चल रही थी। तालावों और कुओंमें पानी कभीका सूख गया था। लोग १०-१५ मीलकी दूरीसे पानी लाकर प्यास बुझाते थे।

अधिकांश लोग गाँव और इलाका छोड़कर चले गये, कुछ ब्राह्मण और बनिये बचे हुए थे। यहीं मैंने हमीद खाँ भाटीके बारेमें सुना और उसके घर जाकर उससे मिल

घर कच्चा था, पर साफ-सुथरा और गोबरसे लिपा-पु

हमीद खाँकी उम्र ६५-७० वर्षके लगभग थी। बार



ढाँचा देखकर पता लगा कि किसी समय काफी बलिष्ठ रहा होगा। अब तो हड्डियाँ निकल आयी थीं, चेहरेपर भयंकर उदासी छायी हुई थी।

दुआ-सलामके बाद मैंने पूछा—खाँ साहब! गाँवके प्रायः सारे लोग चले गये हैं, फिर आप क्यों यहाँ इस प्रकारकी किल्लतमें अकेले रह रहे हैं ?

वह कुछ देरतक तो मेरी तरफ फटी-फटी आँखोंसे देखता रहा, फिर कहने लगा—‘अल्लाह मालिक है, उसका ही भरोसा है। कभी-न-कभी तो वर्षा होगी ही। बेटे और बहूएँ बच्चों और धन ( यहाँ गाय-बैल, ऊँट आदिको धन कहते हैं ) को लेकर एक महीना पहले ही मालवा चले गये हैं। मुझे भी साथ ले जानेकी बहुत जिद्द करते रहे; पर भला, आप ही बताइये—अपनी धौली और भूरी दोनोंको छोड़कर कैसे जाऊँ ? इन दोनोंसे तो एक कोस भी नहीं चला जाता ( धौली और भूरी इसकी बड़ी गायें थीं, जिनमें एक लँगड़ी और दूसरी बीमार थी )।

‘आज इनकी इस प्रकारकी हालत हो गयी है, नहीं तो दोनोंने न जाने कितने नाहर-भेड़ियोंसे मुठभेड़ ली है। दूध भी इनके बराबर गाँवमें किसी गायके नहीं था। ३-४ सेर तो वछड़े ही पी जाते, फिर भी १०-१२ सेर मल्लेकका हमारे लिये बच जाता।

‘ये दोनों मेरे घरकी ही बेटियाँ हैं; जिस वर्ष मेरे छोटे लड़के फत्तेका जन्म हुआ था, उसके लगभग ही ये दोनों कमी थीं। बीस वर्षतक हमलोग इनका दूध पीते रहे, अब आप ही बताइये, बुढ़ापेमें इन्हें कहाँ निकाल दूँ ? भला, कोई अपनी बहन-बेटीको घरसे थोड़े ही निकाल देता है।’ बातें करते हुए उसकी आवाज रोवासी हो गयी थी; देखा उसकी धुंधली आँखोंसे टप-टप आँसू गिर रहे हैं।

बातें तो और भी करना चाहता था; परंतु इतनेमें सुनायी दिया कि बाहरके सहनमें धौली और भूरी रँभा रही हैं, शायद सूखी या प्यासी होंगी। हमीद खाँ उठकर बाहर चला गया।

गाँवके सुखिया पं० वंशीधरके साथ ८-१० व्यक्ति

रातमें मिलनेको आये। उनके कहनेके अनुसार ५० वर्षोंमें ऐसा भयंकर अकाल नहीं पड़ा था।

उन्होंने कहा—‘हमीद खाँ भी जिद्दी कम नहीं है। अपने लिये दो जूत खाना नहीं जुटा पाता, पर इन दोनों गायोंपर जान देता है। दिनमें धूप बहुत हो जाती है, इसलिये दो बजे रातमें उठकर ५ मीलपरके तालाबसे दोनोंके लिये एक मटका पानी लाता है। बरवाले जो अनाज छोड़कर गये थे, उसमेंसे बहुत-सा बेचकर इनके लिये चारा और भूसा खरीद लिया। जब वह चुक गया, तब अपना मकान ऊँचे ब्याजपर गिरवी रखकर और चारा लिया है।’

गर्मीके मौसममें भी इस तरफ रातें ठंडी हो जाती हैं; परंतु मुझे नींद नहीं आ रही थी। सोच रहा था, क्या वास्तवमें ही हमीद खाँ मूर्ख और जिद्दी है। बातचीतसे तो ऐसा नहीं लग रहा था। हाँ, एक बात समझमें नहीं आयी—वह तो मुसल्मान है, जिसके लिये गौ माता नहीं है; फिर क्यों इन दो बेकाम गायोंके पीछे नाना प्रकारके कष्ट सहकर, तिल-तिल करके स्वयं मृत्युकी तरफ अग्रसर हो रहा है। अपना एकमात्र मकान इनके चारे-पालेके लिये गिरवी रख दिया है। थोड़े दिनों बाद मूल और ब्याज बढ़कर इतना होगा कि चुकाना असम्भव हो जायगा। जब उसके बाल-बच्चे मालवासे थके-हारे वापस आयेंगे, तब उन्हें शायद अपना यह पैतृक घर छोड़ देना पड़ेगा।

जानेसे पहले एक बार फिर हमीद खाँसे मिलनेकी इच्छा हुई। बहुत सुबह वहाँ जाकर देखा कि वह धौली और भूरीके शरीरपर तन्मय होकर हाथ फेर रहा है और वे दोनों बड़ी ही करुण दृष्टिसे उसकी तरफ देख रही हैं—शायद कह रही होंगी कि ‘सब गाँव छोड़कर चले गये, फिर तुम क्यों इस प्रकार भूखे-प्यासे रहकर मृत्युके मुखमें जा रहे हो। हमें अपने भाग्यपर छोड़कर बच्चोंके पास चले जाओ।’

सोसाइटीकी तरफसे थोड़ी-बहुत व्यवस्था करके मन-ही-मन उस अपद मुसल्मानको प्रणाम करके भारी मनसे उस गाँवसे खाना हुआ। १५ वर्ष बाद भी हमीद खाँका वह गमगीन चेहरा आजतक भुला नहीं पाया हूँ।



## श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् । कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

परम कृपालु प्रभुके पवित्र नाम-स्मरणको हमारे शास्त्रोंमें कलियुगका मुख्य धर्म माना है । नामके अतिरिक्त अन्य जो-जो धर्म हैं, वे जिनसे बन सकें, उनके लिये हैं; परंतु कल्याणकारी प्रभुके मङ्गल-नामका स्मरण, जप एवं कीर्तन तो सभीके लिये है । नाम-स्मरणमें न आयुका प्रश्न है न योग्यताका; न देशका प्रश्न है न कालका; न वर्णका प्रश्न है न आश्रमका; न धर्मका प्रश्न है न सम्प्रदायका; न स्त्रीका प्रश्न है न पुरुषका और न इसमें किसी प्रकारके भौतिक उपकरणोंकी ही अपेक्षा है । पृथ्वीके एक कोनेसे दूसरे कोनेतक, बालकसे वृद्धतक—सभी धर्म, सम्प्रदाय, वर्ण एवं आश्रमोंके नर-नारी नामका आश्रय ले सकते हैं ।

परम श्रद्धेय नित्यलीलालीन हमारे भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी श्रीभगवन्नामपर जीवनके आरम्भसे ही बड़ी रुचि थी। वे बाल्यकालमें ही भगवन्नामका जप करते थे। सन् १९१६ में जब वे अपनी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियोंके कारण तत्कालीन अंग्रेजी सरकारद्वारा पकड़ लिये गये और कलकत्तेकी अलीपुर जेल ( डुलण्डा हाउस ) में रखे गये, तब वहाँ उन्हें भगवान्के नाम-जपकी महिमाका स्मरण हो आया और उन्होंने 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'—इस षोडश नामके मन्त्रका जप किया । पीछे शिमलापालमें २१ मास नजरबंद रहनेकी अवस्थामें भी वे बराबर इसी नाम-मन्त्रके जपकी साधनामें संलग्न रहे । उस समय नाम-जपके प्रति उनकी रुचि इतनी अधिक थी कि जब कोई व्यक्ति उनसे मिलने आता, तब उन्हें ऐसा लगता मानो कोई 'बाधा' आ गयी हो । वे सोचते कि व्यक्तिके आनेसे व्यवहारके नाते उनसे बोलना पड़ेगा और बोलनेसे नामका जप उतने समयके लिये छूट जायगा, जो उन्हें सह्य नहीं था ।

उनकी यह नाम-साधना जीवनभर चलती रही । मन्त्र भी उन्होंने परिवर्तित नहीं किया—जीवनभर षोडश मन्त्रका जप करते रहे । कारण स्पष्ट है कि वर्तमान समयके लिये भगवन्नाम-स्मरणको ही श्रीभाईजी एकमात्र साधन मानते थे । एक स्थानपर उन्होंने लिखा है 'इस समय नामके सिवा संसार-सागरसे पार कर देनेवाला दूसरा कोई भी सहज साधन मुझे दृष्टिगोचर नहीं होता । ××××× मैं भगवन्नामकी महिमा क्या लिखूँ ? मैं तो नामका जिलाया जी रहा हूँ ।' एक बार ऋषिकेशके सत्सङ्गमें भी उन्होंने कहा था—'मैं भगवान्के नामके जपपर जोर क्यों देता हूँ ? इसका कारण यही है कि मैंने जीवनभर यही किया है । जो कुछ भी अच्छी बात जीवनमें आयी है, वह नाम-जप एवं भगवत्कृपाके प्रतापसे । पारमार्थिक जीवनका आरम्भ नाम-जपसे हुआ और जीवनमें साधना भी इसीकी हुई है ।'

श्रीभाईजीका अनुभव था कि भगवन्नामकी साधनामें भगवान्की सहायता बराबर मिलती रहती है । नाम-साधनामें लगे एक संन्यासी महात्माको आश्वस्त करते हुए उन्होंने कहा था—'भगवान् भले ही दूसरी प्रार्थना सुननेमें थोड़ी देर भी कर दें, पर यदि कोई सचमुच चाहे कि उसके द्वारा निरन्तर नाम-जप हो और इसके लिये वह भगवान्से प्रार्थना करे तो यह प्रार्थना निश्चय ही तत्क्षण पूरी हो जायगी ।'

श्रीभाईजी स्वयं तो नाम-परायण थे ही, वे जगत्के जीवोंको भी नाम-परायण करना चाहते



जीवमात्र सुख चाहता है—अटल, अखण्ड और आत्यन्तिक सुख चाहता है और इसकी प्राप्ति के लिये एकमात्र साधन भगवन्नामका आश्रय है। अतएव जब 'कल्याण' प्रथम वर्षके ७वें अङ्कमें अर्थात् माघ, संवत् १९८३ में उन्होंने सर्वप्रथम अपना भगवन्नामके प्रचारका उद्घोष किया और उसी वर्षकी फाल्गुन पूर्णिमातक अर्थात् २ मासके अल्प समयमें षोडश मन्त्रका साढ़े तीन करोड़ जप करनेकी प्रार्थना 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे की। सच्चे नामप्रेमीकी प्रेरणाका प्रभाव होना ही था: 'कल्याण'प्रेमियोंने नाम-जपमें इतना उत्साह प्रदर्शित किया कि साढ़े तीन करोड़ मन्त्र-जपके स्थानपर लगभग पैंतीस करोड़ मन्त्रोंका जप हुआ। इसके पश्चात् तो श्रीभाईजी नाम-प्रचारपर तुल गये और उन्होंने 'कल्याण'का प्रथम विशेषाङ्क (अर्थात् श्रावण १९८४ का अङ्क) 'श्रीभगवन्नामाङ्क'के नामसे प्रकाशित किया, जिसमें नाम-महिमापर शास्त्रके वचन एवं संतोंके अनुभवपूर्ण लेख प्रकाशित कर उन्होंने पाठकोंको नाम-परायण होनेकी विशेष प्रेरणा दी। इस अङ्कसे 'कल्याण'की प्रतिष्ठाका सिक्का जम गया। इस अङ्कके पठन-मननसे सहस्रों व्यक्ति नाम-परायण हुए। इसके अनन्तर श्रीभाईजी प्रतिवर्ष 'कल्याण'में नाम-जपके लिये प्रार्थना प्रकाशित करने लगे और 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिका बड़े उत्साह एवं प्रेमसे नाम-जप करने लगे। इतना ही नहीं श्रीभाईजी अपने सत्सङ्गमें नाम-जपपर विशेष जोर देते थे। व्यक्तिगतरूपसे साधना पूछनेवालोंको भी वे नाम-जप अवश्य बताते थे।

'कल्याण'में भगवन्नाम-जपकी प्रार्थना प्रकाशितकर लोगोंको नाम-परायण करनेके प्रयासका देशके सभी संत-महात्माओं, विद्वानों एवं धार्मिक प्रवृत्तिके जन-नेताओंने हार्दिक स्वागत किया। श्रीभाईजीने जून १९७० में एक सज्जनको लिखा था—

“गोरखपुर आने (अर्थात् अगस्त १९२७) के पश्चात् किसी कामसे मैं बम्बई गया था और वहाँसे रतनगढ़ जा रहा था। उस समय अहमदाबाद होकर गाड़ी जाती थी। बम्बईसे चलकर जब गाड़ी बदलनेके लिये मैं अहमदाबाद उतरा, तब गाँधीजीके दर्शनार्थ उनके आश्रमपर गया। अहमदाबादके निकट ही गाँधीजीका सावरमती आश्रम था। मैं आश्रमपर पहुँचा। मेरे हाथमें 'कल्याण' का अङ्क था। संयोगकी बात, उस अङ्कमें 'भगवन्नाम-जप' की प्रार्थना छपी थी। गाँधीजीने 'कल्याण'का अङ्क अपने हाथमें ले लिया और उसे देखने लगे। 'भगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना' लेख देखकर पूछने लगे—'यह क्या है?' मैंने बताया कि किस प्रकार 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' भगवान्के इस षोडश नाम-मन्त्र-जपके लिये प्रतिवर्ष 'कल्याण'में प्रार्थना प्रकाशित की जाती है और किस प्रकार पाठक-पाठिकाएँ बड़े उत्साहसे नाम-जप करती हैं। इतना सुनते ही पूछने लगे—'कितना जप हो जाता है?' मैंने कहा—'कई करोड़ हो जाता है।' इसपर वे बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'तुम बड़ा अच्छा करते हो। इसमें १०-१५ व्यक्ति भी यदि सच्चे भावसे जप करते होंगे तो उनका उद्धार हो जायगा।' फिर बोले—'देखो, मैं भी नाम-जप करता हूँ', और उन्होंने गोल तकियेके नीचेसे तुलसीकी माला निकाली और दिखाते हुए बोले—'इसीके सहारे रात्रिके समय जप करता हूँ।' संयोगसे उनकी वह माला टूटी हुई थी और मेरी जेबमें तुलसीकी एक नयी माला थी। मेरे मनमें आया—'इनकी टूटी मालाकी जगह नयी माला बदल दूँ। मैंने वापूसे प्रार्थना की—'बापू! आपकी यह माला तो टूट गयी है; इसे आप मुझे दे दीजिये और आप नयी माला ले लीजिये।' और मैंने अपनी जेबमेंसे नयी माला निकालकर उनकी ओर बढ़ायी। वापू बड़े विनोदी थे। उन्होंने बड़ा प्रेमभरा विनोद किया; बोले—'तुम मुझे माला देने आये हो? अर्थात् मुझे चेला बनाने आये हो?' मैं तथा पास बैठे सब लोग हँस पड़े। मैंने कहा—'बापू! माला टूट गयी है, इससे बदलना चाहता था; आपको माला मैं क्या दूँगा।' मेरे उत्तरसे वे बड़े प्रसन्न हुए; फिर बोले—'मुझे नयी माला दोगे तो तुम्हें साथमें कुछ दक्षिणा भी देनी



होगी । दानके साथ दक्षिणा भी होती है ।' मैंने कहा—'आपकी कृपा है; बोलिये तो क्या देना पड़ेगा ? तब उन्होंने गम्भीर होकर कहा—'तुम अभी जितना नाम-जप करते हो, उसके सिवा एक माला जप और अधिक कर लिया करो । तब, हम तुम्हारी माला लेंगे ।' मैंने कहा—'क्या हर्ज है ।' वापूने प्रसन्नतापूर्वक नयी माला रख ली । उस दिनसे मैं अपने जपके अतिरिक्त एक माला जप और करता हूँ । आजतक वह नियम अधुणरूपमें निभता चला आ रहा है ।'

इस प्रकार हम देखते हैं, श्रीभाईजीने जगत्के जीवोंके उद्धारके लिये सहज एवं अमोघ साधन श्रीभगवन्नाम-जपके प्रचार-प्रसारके लिये जीवनभर प्रयत्न किया और इस काममें उन्हें बड़ी सफलता मिली । इधर कई वर्षोंसे बीच-बीचमें भगवन्नाम-जपकी प्रार्थना श्रीभाईजी मेरे नामसे प्रकाशित करने लगे थे । नाम-प्रेमी होते हुए भी मेरा जीवन नामपरायण नहीं है । इससे नाम-जपकी प्रार्थना मेरे नामसे प्रकाशित होनेमें मुझे बड़ा संकोच होता था; पर जब श्रीभाईजी अपनी लिखी प्रार्थनाके नीचे मेरा नाम बैठकर उसे प्रकाशनार्थ भेज देते थे, तब मैं उसे अपने लिये उनका आशीर्वाद मानकर स्वीकार कर लेता था । आज हमारा परम दुर्भाग्य है कि स्नेहकी मूर्ति श्रीभाईजी, जिनका तन-मन-प्राण श्रीभगवन्नाममय हो गया था, प्रत्यक्ष रूपमें हमारे बीच नहीं हैं । अतएव इस वर्ष श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना करनेमें सर्वथा साधनहीन मुझे बड़ा संकोचका अनुभव हो रहा है, परम श्रद्धेय श्रीभाईजी द्वारा प्रचालित इस नाम-प्रचारकी साधन-परिपाटीको बराबर चालू रखना अपना कर्त्तव्य मान 'कल्याण'के भगवद्-विश्वासी एवं नाम-प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे प्रतिवर्षकी भाँति कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक नाम-जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा देकर अपने स्वजनों, वान्धवों, पड़ोसियों आदिसे करावें । इसमें उनका तथा जो इस प्रार्थनाको स्वीकार करेंगे, उन सबका परम हित है । साथ ही वे सभी नाम-प्रेमी सज्जन मुझे आशीर्वाद दें, जिससे मेरा जीवन भी नाम-परायण हो जाय । गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० ( बीस ) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है । नियमादि इस प्रकार हैं—

१—यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया कराया जाता है ।

२—इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५, मंगलवार, सं० २०२८ ( २ नवम्बर १९७१ ) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५, गुरुवार, सं० २०२९ ( ३० मार्च, १९७२ ) तक रहेगा । जप इस समयके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५, सं० २०२९ को समझनी चाहिये । पाँच महीनेका समय है । उसके आगे भी जप किया जाय, तब तो बहुत ही उत्तम है, करना चाहिये ही । देरसे जपकी सूचना मिले, तो जब मिले, तभीसे जप शुरू करना चाहिये ।

३—सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा—इस मन्त्रका जप कर सकते हैं ।

४—एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'—इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार ( एक माला ) जप तो अवश्य करना चाहिये । अधिक कितना भी किया जा सकता है ।



वि. १.]

५-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, बँधुलियोंपर वथवा किसी अन्य प्रकारसे रखी जा सकती है।

६-यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए—सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७-बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और कम ठूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा सम्भव न हो तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८-घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९-हियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं, किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०-इस जप-ग्रन्थमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्र-जपकी ही दें। लिखित भागवन्नाम हमें नहीं भेजने चाहिये; कारण, हमारे यहाँ उनके पूजन आदिकी व्यवस्था नहीं है।

११-सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी भी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिनमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो भाई-बहिन मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३-सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो, उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्र पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप आरम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४-जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे—ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साह-वृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५-सूचना संस्कृत, हिंदी, राजस्थानी, मराठी, गुजराती, बंगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६-सूचना भेजनेका पता—'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीतावाटिका (गोरखपुर)  
प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी



## परमार्थ-पञ्चावली

( ब्रह्मजीन परमभक्षेय श्रीजगद्गुरुजी गोयन्दकाके पुराने पत्र )

( १ )

सप्रेम हरिस्मरण । आपने साधनके सम्बन्धमें कुछ बातें पूछी हैं । उनके विषयमें संक्षेपमें इस प्रकार समझना चाहिये—

अभुपात आदिको महत्त्व देकर अपनेमें विशेषताका आरोप करना उस अवस्थाके सुखका उपभोग करना है । यह कीर्तन और ध्यान आदिमें शिथिलता उत्पन्न करता है । अतः इससे साधकको सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये, अर्थात् उपरत रहना चाहिये । नहीं तो दिखाऊपन आ सकता है ।

भगवत्प्रेमकी तीव्र लालसा, अन्य सबके प्रति ममता और आसक्तिका त्याग—यही शीघ्र प्रेम-प्राप्तिका उपाय और विधि है । विषयोंमें प्रेम रहते हुए भगवान्से प्रेम कैसे हो सकता है, विचार करें । सुख-भोगकी आशाका त्याग करना ही होगा ।

परमात्माका यथार्थ स्वरूप मन, वाणी और बुद्धिसे अतीत है । अतः वह लिखकर या कहकर नहीं समझाया जा सकता । उसे यथार्थ जानना भी किसी वस्तुको जान लेनेकी भाँति नहीं है, वह बड़ा विलक्षण है । जो उसे जानता है, वह भी उसको समझा नहीं सकता ।

भगवान्में अनन्य प्रेम होनेसे ही आसक्तिका सर्वनाश हो सकता है । अतः सब प्रकारके भोगोंकी आशाका त्याग करके एकमात्र भगवान्का आश्रय लेनेसे ही उनका प्रेम मिल सकता है और यही समस्त दोषोंके नाशका सरल उपाय है ।

भगवान्में श्रद्धा और अनुराग हो जानेपर भगवान्में त्रुटिकी कल्पना नहीं रहती; अपनेमें ही त्रुटि अनुभव होती है । अनुरागकी तो एक ऐसी विचित्र स्थिति है कि वह जिसमें होता है, उसे आगे-से-आगे अपनी कमी दिखायी देती है; क्योंकि प्रेम अनन्त है, उसकी पूर्ति, क्षति और अभाव नहीं होता । वह तो बढ़ता ही रहता है । साथ-ही-साथ उसकी भूख भी बढ़ती ही रहती है ।

भगवान्में स्वाभाविक प्रेम एकमात्र विश्वासपूर्वक

भगवान्को अपना मानकर उनपर अपनेको छोड़ देनेसे ही हो सकता है ।

आपका मन गीता, रामायण और भागवत—तीनोंको पढ़नेका रहता है, यह बड़ी अच्छी बात है । तीनोंका कहना एक है । तीनों ही भगवान्पर विश्वास करनेके लिये, उनको अपना माननेके लिये और उनकी शरणमें जानेके लिये कहते हैं । अतः किसी एककी बात मान लेनेपर तीनोंकी मानी हुई हो जायगी । उनमेंपड़े हुएके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये । शास्त्रोंका विस्तार तो विभिन्न प्रकृति, रुचि और योग्यताके व्यक्तियोंको समझानेके लिये है । अपने उद्धारके लिये तो किसी एक श्लोकका उपदेश भी बहुत है ।

भगवान्से प्रेम न होनेके कारण जीवन व्यर्थ जा रहा है, यह विश्वास होता तो भगवान्से प्रेम हो ही जाता । पहले भगवान् मिलें और फिर आप भगवान्में विश्वास करें, यह सम्भव नहीं । भगवान् तो प्राप्त ही हैं । देरी तो विश्वास और प्रेमकी है ।

रासपञ्चाध्यायीके अनुसार साधन करनेकी नकल नहीं की जा सकती । कामी पुरुष कर भी नहीं सकता; क्योंकि वह उसका अधिकारी नहीं है । उसके अनुसार साधन उसीका होता है और वह अपने-आप होता है जिसका काम उस कथाके सुनने और पढ़नेवाले सदाके लिये भस्म हो जाता है और जिसका जीवन गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्णके विशुद्ध प्रेमसे ओतप्रोत हो ।

‘माता, पिता और भाई आदि गलती करते हैं, मैं गलती नहीं करता । मैं अच्छा हूँ, वे बुरे हैं—’ यह जिसका भाव है, वह तो अपनेमें गुणका अभिमानी है । भगवान्के प्यारे भक्तमें ऐसा नहीं होता । वह परदोष दर्शनमें अपना समय नष्ट नहीं करता ।

अपना उद्धार चाहनेवालेको उचित है कि जो कुछ पढ़ा और समझा है, उसके अनुरूप अपना जीवन बनानेके लिये तत्पर हो जाय । केवल पढ़ना तो साधनमें विघ्नकारक भी हो सकता है । जिसको आप ‘जिज्ञासु’



बढ़ते हैं, वह शक्ती है या दिलब्रह्माव—क्या पता है । भगवान् ही अपने और प्रिय हैं, जिसका जीवन भगवान्-के लिये है, वह भगवान्का प्रेमी कहा जा सकता है ।

७. भक्त अपने इष्टदेवका एक रूप अवश्य मानता है, पर उसे इस बातमें भी संदेह नहीं है कि मेरे इष्टमें अनेक रूप धारण करनेकी शक्ति है ।

८. कृष्णप्रेम चाहनेवालेको अवश्य मिलता है, पर दूसरी चाह रहते हुए वह प्रेम बिखरा रहता है, अनन्य नहीं होता ।

९. भगवान्का विग्रह अवश्य ही नित्य है । पर पत्थर या कागज कभी नित्य नहीं हो सकते । उनका क्षीण होना, टूटना-फूटना तो प्राकृत नियमानुसार अनिवार्य है । उनके टूटने-फूटनेसे भगवान्के और विग्रहोंका कुछ भी नहीं बिगड़ता ।

१०. इन्द्रियोंकी बात न मानकर, सुख-लोलुपताका त्याग करके बुद्धिके ज्ञानका आदर करनेसे ही संयम निभ सकता है, विषय-लोलुपता नहीं निभ सकता ।

११. भगवान्की कथा सुनने और पढ़नेका जो माहात्म्य श्रीतुलसीदासजीने लिखा है, वह सत्य है । पर किसके लिये ? जिसका श्रद्धासहित विश्वास हो; जिस भगवान्की वह कथा सुनता है, उनके होनेमें विश्वास हो, उनके चरित्रमें विश्वास हो और मनमें उनके प्रति एक सम्बन्धकी भावना हो कि 'वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ; उनके सिवा मेरा कोई नहीं है ।'

१२. आप यदि सचमुच साधन-मार्गपर अग्रसर होना चाहते हैं तो मान-वड़ाई और प्रतिष्ठाके फंदेमें न पड़िये । प्रचार करनेकी वासनाका त्याग करके भजन-स्मरण-कीर्तन —सब कुछ अकेलेमें तथा निष्कामभावसे कीजिये ।

१३. श्रीकृष्ण-नामका मन-ही-मन स्मरण करना बहुत अच्छा है । इसके करनेमें थकावटका अनुभव होनेका कारण तो यही हो सकता है कि प्रेमकी कमी है तथा स्मरण सम्बन्धयुक्त और स्वाभाविक नहीं है । नहीं तो थकावटका प्रश्न ही नहीं आता । स्मरणमें रुचि बढ़नेका उपाय श्रीकृष्णमें अनन्य प्रेम और अपनत्व ही है । शेष भगवत्कृपा ।

१. श्रीकृष्ण-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवालेको चाहिये कि दूसरी सब इच्छाओंका सर्वथा त्याग कर दे । जो कुछ करे, श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये ही ।

२. मानव-धर्म सभी वर्णोंका 'स्वधर्म' है, वह 'परधर्म' नहीं है । जो अपनेको भगवान्का भक्त मानता है, साधक मानता है, भगवद्भक्तिके सहकारी सभी धर्म उसके 'स्वधर्म' हैं । इस दृष्टिसे तामसी वस्तुओंके सेवनका त्याग परधर्म नहीं, किंतु स्वधर्म ही है । धर्मशास्त्रोंने शौच आदिके नियम शूद्रोंके लिये भी बताये हैं । तामसी वस्तुओंका नियम करना किसी भी वर्णका 'स्वधर्म' नहीं है ।

३. सहारा तो भगवान्का ही लेना चाहिये, जो कभी नहीं दूटता । व्यक्ति और वस्तुओंका सहारा लेना तो बेसमझी है; क्योंकि ये सदा साथ रहनेवाले नहीं हैं । सपुरुषोंको नित्यरूपमें अनुभव करके उनका सहारा लेना तो साधन है, पर उनके शरीरमात्रका सहारा लेना या उसके अभावमें अपनेको आश्रयहीन मान लेना उचित नहीं । संत नित्य हैं; चाहे शरीर रहे, चाहे न रहे ।

४. आपको समझना चाहिये कि 'भगवान्के सिवा मेरा और कोई नहीं है ।' भगवान्के नाते सभी आपके हैं, नहीं तो कोई भी अपना नहीं है ।

५. भगवान्में मन उलझानेका साधन उनमें श्रद्धा और प्रेम करना तथा विश्वासपूर्वक उनको अपना मान लेना एवं अपनेको उनके सर्वथा समर्पण कर देना है ।

६. पूज्यभावपूर्वक विश्वासको 'श्रद्धा' कहते हैं । 'विश्वास' दृढ़ मान्यताको कहते हैं । 'प्रेम' उस प्रियताको कहते हैं, जिसके लिये सब प्रकारके सांसारिक सुखोंका त्याग अनायास हो जा जाता है । जिसके एकमात्र



# पढ़ो, समझो और करो

( १ )

## सेवाका आदर्श

नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसाद-जी पोद्दारकी सेवा-भावना प्रसिद्ध है। सेवा उनके प्राण थे, उनका जीवन था, उनका सहज स्वभाव था।

श्रीभाईजीके पास अपना एक पैसा भी नहीं था, पर इन सेवा-कार्योंके लिये उन्हें कभी धनकी कमी नहीं रही। गोरखपुरके सेंट एण्ड्रूज कालेजके प्रिन्सिपल महोदय मिस्टर चाकोने एक बार अपने कालेजके महोत्सवमें श्रीभाईजीका परिचय देते हुए ईसाई धर्मके प्रमुख व्यक्तियोंके सामने कहा था—“श्रीपोद्दारजीको सभी ‘भाईजी’के नामसे पुकारते हैं। मैंने अपने अनुभवसे पाया कि वे सही अर्थोंमें सभीके भाईजी हैं। उनकी आत्मीयता जाति, धर्म एवं देशकी सीमामें आवद्ध नहीं है, वह सबको सहज ही सुलभ है। उनके विचार एवं व्यवहारमें ‘पर’ कोई है ही नहीं। वे सबके ‘भाईजी’ हैं। दूसरे, श्रीभाईजीके पास अपना कुछ भी नहीं है, पर सेवा-कार्योंके लिये उन्हें कभी धनकी कमी अनुभव नहीं होती है ( He has no money, but he lacks no money: )।” सचमुच श्रीभाईजीको सेवा-कार्योंके लिये कभी धनकी कमी अनुभव नहीं हुई। वे बराबर कहते थे—‘सेवा करनेवालोंकी कमी है, धनकी नहीं। वह तो आयेगा ही ईश्वरकी कृपासे। पर सेवा होनी चाहिये सच्चे अर्थमें।’

देशके प्रायः सभी भागोंसे उनके पास प्रतिदिन अनेकों पत्र ऐसे व्यक्तियोंके आते थे, जो अपनी या अपने परिवार-की चिकित्साके लिये, परीक्षाकी फीस देने या पुस्तकें खरीदनेके लिये, बच्चोंके अन्न-वस्त्रकी व्यवस्था करनेके लिये, कन्याके विवाहके लिये, अपनी गायोंके लिये अन्न-घासकी व्यवस्था करने आदि कार्योंके लिये उनसे आर्थिक सहयोगकी प्रार्थना करते थे। उन पत्रोंको श्रीभाईजी स्वयं पढ़ते और यथासाध्य सहायता भिजवानेका प्रयत्न करते थे—किसीको मनीआर्डरद्वारा, किसीको बीमाद्वारा। प्रतिदिन अनेकों व्यक्ति उनके यहाँ पधारकर अपनी माँग रखते थे और उनमेंसे एक भी खाली हाथ नहीं लौटता था। श्रीभाईजी सभीको कुछ-न-कुछ सेवा करके ही विदा करते थे।

श्रीभाईजीकी यह सेवा इतनी सहज, शान्त एवं प्रकृत रूपमें सम्पन्न होती रही है कि उनके परिवारके सदस्य एवं अत्यन्त निकटके स्वजन भी उसे नहीं जान पाते थे। ‘दाहिना हाथ जो दे, उसे बायाँ हाथ न जान पाये’—यह उक्ति श्रीभाईजीपर पूर्णरूपसे चरितार्थ होती है। इतना ही नहीं, जब कभी वे प्रत्यक्षमें किसीको कुछ देते थे तो उनके मुखपर दैन्य, करुणा, कृतज्ञता, संकोच आदिके भाव इतने स्पष्ट होते थे कि सामनेवालेका हृदय उनके प्रति श्रद्धासे नत हो जाता था कि यह दाता भी कितना विचित्र है कि देते समय ‘संकुचित’ हो रहा है।

यह उदारतापूर्ण सेवावृत्ति श्रीभाईजीमें जीवनके आरम्भ से ही थी। जब वे व्यवसाय करते थे, तब भी उनका स्वभाव इसी प्रकार उदार एवं सेवामय था। ‘कल्याण’ एवं गीताप्रेसकी सेवाओंमें लगनेके पश्चात् तो उनके शरीरका एक-एक कण तथा जीवनका एक-एक श्वास विश्वरूप प्रभुकी सेवामें नियोजित रहा। ‘कल्याण’ एवं गीताप्रेसके प्रकाशनोंद्वारा वे ज्ञानका तो मुक्तहस्तसे वितरण करते ही थे, साथ ही वे भौतिक पदार्थों-साधनोंद्वारा ‘आत्म-नारायण’की सेवा करनेमें निरन्तर संलग्न रहे। अन्तिम बीमारीमें भी जबतक उनमें कुछ शक्ति रही, वे अपने नाम अपने अभावग्रस्त व्यक्तियोंके पत्र स्वयं पढ़ते-सुनते रहे और अपने स्वजनोंके द्वारा उन्हें सहायता भिजवाते रहे। यह कम से कम मार्च तक चलता रहा। लगता है, उस दिन श्रीभाईजीके यह अनुभव हो गया था कि अब उनका शरीर भगवान्के विधानानुसार रहनेका नहीं है और अब उनमें बोलने, ठीक से संकेत करनेकी भी क्षमता अवशेष नहीं रह गयी थी। अतएव उस रात्रिमें उन्होंने अपने सेवाके हिस्साकी एक कापियाँ नष्ट करवा दीं एवं जो धन-राशि अवशेष थी, उसके वितरण सूची लिखवा दी। इसके पश्चात् उन्होंने बड़े विनम्र शब्दोंमें—अपने परिवार एवं स्वजनोंको सेवा-भावना को अक्षुण्ण रूपमें अपनाये रखनेके लिये प्रेरित करते हुए अपने सेवा-आदर्शका स्वरूप संक्षेपमें बताया—

“गोरखपुर आनेके पश्चात् ( सन् १९२७ से ) अर्थात् दृष्टिसे मैं निःस्व रहा हूँ—न मेरे पास अपना एक पैसा है न किसीका कुछ जमा है। न मैंने कुछ कमाया है। गीताप्रेस



‘सर्वकार’ या अन्य किसी भी संस्थासे मेरा आर्थिक सम्बन्ध नहीं रहा है। न मैंने भेंट-पूजा-उपहारके रूपमें किसीसे भी पैसा कमी लिया है। अवश्य ही मेरेद्वारा विभिन्न संस्थाओंकी भूकम्प-बाढ़-अकाल-अग्निदाह आदि दैवी प्रकोपोंसे निहत प्राणियोंकी एवं विधवा बहिनोंकी सहायतामें प्रचुर रूपसे व्यय हुआ है (कई करोड़ रुपये अवतक व्यय हो चुके हैं) पर वस्तुतः उसमें मेरा कुछ भी नहीं है। यह सब मैंने उन लोगोंके भाग्यसे और दाताओंके भगवत्प्रेरित हृदयसे उठाया है। इसके लिये भी किसीपर दवाव या स्वेच्छाप्रति दानसे। इसके लिये भी किसीपर दवाव या स्वेच्छाप्रति दान ही नहीं। मैंने न तो किसीसे माँगा है, न किसीसे माँगा है, वरं परिस्थितिवश कभी-कभी दानकी रकम लोगोंकी पूरी या अधूरी वापिस कर दी है। जब ‘भारतीय प्रगतिशील मन्दिर-भवन-न्यास’का निर्माण हुआ और उसके लिये दानकी अपील प्रकाशित हुई, तब उसमें सब दूरस्थोंके साथ मेरा नाम भी प्रकाशित कर दिया गया। पर मैंने उसमेंसे अपना नाम निकलवा दिया और तब उन पत्रोंको भिजवाया। मैंने कभी अर्थके लिये की जानेवाली अपीलमें अपना नाम नहीं दिया है। इस प्रकारकी सहायताके लिये जो पैसे आते हैं उनमेंसे मैंने एक-एक पैसेका हिसाब रखा है; किसीकी जेबमें वे पैसे लगे, यह भी बराबर लिखता रहा हूँ। तीन वर्षोंके उस हिसाबको रखता था। तीन वर्षके पश्चात् उस हिसाबको नष्ट कर डालता था। कहाँसे पैसा आया, किस-किसको दिया गया—इसको मैंने यथासम्भव किसीपर प्रकट नहीं होने दिया। मनीआर्डर-बीमा जिन स्वजनोंकी मार्फत भेजा जाता था, उन्हें भी यथासम्भव नाम ज्ञात नहीं होने देता था। कारण, मैंने जिसको जो कुछ दिया है, वह भगवद्भावसे दिया है; वह मेरी अर्चाका एक स्वरूप रहा है। जिस कार्यके लिये जितने पैसे प्राप्त होते थे, उस कार्यमें उतने पैसे अवश्य लगा देता था। चेष्टा तो यह रखता था कि उसमें कुछ अपने पाससे भी सम्मिलित कर दूँ। मेरे पासका अर्थ है—मेरे ऐसे साथी, ऐसे स्वजन, जिनका मुझसे कोई सम्बन्ध न रहा हो।”

मेराको श्रीभाईजी मानवमात्रके लिये श्वास-प्रश्वासकी भाँति अनिवार्य मानते थे। सेवाकी अनिवार्यता एवं स्वरूपका विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है—

“जिसके पास जो कुछ है, वह सब-कुछ सार्वजनिक है—

सबका मिला हुआ—सम्मिलित धन है, उसमें सबका भाग है, वह सबका है, उसका नहीं है। जहाँ-जहाँ उसकी आवश्यकता हो, वहाँ-वहाँ सम्मान, श्रद्धा, सद्भाव, उदारता, सदाशयता एवं समादरके साथ उसका उपयोग करना कर्तव्य है।”

× × ×

“अपनी सारी, सब प्रकारकी सम्पत्तिपर सबका—विभ्ररूप भगवान्का अधिकार मानकर, जहाँ-जहाँ दीन है, जहाँ-जहाँ गरीब हैं, जहाँ-जहाँ अभावग्रस्त हैं, असमर्थ हैं, वहाँ-वहाँ तत्तद् उपयोगी सामग्रीके द्वारा उनकी सेवामें लगाते रहो। मनुष्यके व्यवहारमें—मानवजीवनमें एक बात अवश्य आ जानी चाहिये कि अपने पास विद्या, बुद्धि, धन, सम्पत्ति, भूमि, भवन, तन, मन, इन्द्रिय जो-कुछ है, उससे जहाँ-जहाँ अभावकी पूर्ति होती हो, वहाँ-वहाँ उन्हें लगाता रहे। ऐसा करना ही पुण्य है—सत्कर्म है, धर्म है।”

× × ×

“जहाँ अन्नका अभाव है, वहाँ भगवान् अन्नके द्वारा तुम्हारी सेवा चाहते हैं, जहाँ जलका अभाव है, वहाँ जलके द्वारा, जहाँ वस्त्रका अभाव है, वहाँ वस्त्रके द्वारा और जहाँ आश्रयका अभाव है, वहाँ आश्रयके द्वारा।”

× × ×

“इस बातको खूब याद कर लें कि हमारे पास जो कुछ है, वह दीनोंके लिये, अनाथोंके लिये और गरीबोंके लिये ही है। उन्हींके हककी चीज है। गीतमें भगवान् कहते हैं कि ‘अपनी शक्ति, सम्पत्ति, जीवन—सबको देकर उसके बाद जो कुछ बचे, उससे अपना काम निकाले। यह जो बचा हुआ है, वही ‘यज्ञावशेष’ है। इस प्रसादको व्यवहारमें लानेसे सारे पापोंका नाश होता है—

‘यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।’

—पर ‘जो अपने लिये ही सब कुछ करते हैं, कमाते खाते हैं, वे पाप खाते हैं—

‘भुञ्जते ते स्वधं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।’

‘जो इन्द्रियाराग है, वह पापसम-जीवन है, वह व्यर्थ ही जीता है—

‘अद्यायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।’

वह पाप खाता है। अतः पाप मत खाइये।

सबको सबका हक देकर, सबका स्वत्व देकर, बचे



हुएसे अपना निर्वाह कीजिये। वह अमृत है। वही यज्ञावशेष है। यह कभी मत मानो कि 'मेरे पास जो सम्पत्ति है, वह मेरी है।' तुम उसके दूस्ती हो, व्यवस्थापक हो, मैनेजर हो; उसे भगवान्की समझो और उसे भगवान्की सेवामें यथायोग्य लगाकर धन्य हो जाओ। तभी तुम भगवान्के ईमानदार सेवक हो और यदि उसे तुमने अपनी माना और अपने उपयोगमें लिया, तो तुम चोर हो, पापी हो; उसका दण्ड तुम्हें मिलेगा।”

“आजके युगमें सहायताका विज्ञापन पहले किया जाता है, सहायता पीछे की जाती है। यह निन्दनीय और हानिकारक चीज है। चाहिये तो यह कि हम जैसे अपने दुःख-को दूर करनेमें लगते हैं, वैसे ही दूसरेके दुःखको दूर करनेमें लग जायँ। कोई अपने दुःखको दूर करनेमें क्या गौरव मानते हैं? क्या वे अपने ऊपर उपकार मानते हैं? बाढ़ आनेवाली हो और हम अपनी झोपड़ीकी चीजें बाहर सुरक्षित स्थानमें ले जायँ, इसमें गौरवकी बात क्या है? ऐसा किये बिना हम रह ही नहीं सकते। ठीक इसी प्रकार अपने द्वारा होनेवाली दीनोंकी सेवाके लिये मनमें तनिक भी गौरव-बुद्धि न हो—अहंताका तनिक भी स्पर्श न हो, उनका स्वत्व मानकर सेवा करें। यह ध्यान रहे कि हमारी सेवा किसीके सिरको कभी नीचा न कर दे। 'मैं गरीब, सहायताका पात्र हूँ और ये मेरे सहायक हैं'—हमारे किसी बर्तावसे ऐसा उसके मनमें न आने पाये।”

×                      ×                      ×

“जहाँतक हो सके सेवाको प्रकट न होने दो, प्रकट करनेकी चेष्टा मत करो। प्रकट हो जाय तो सकुचाओ और सच्चे मनसे उसका श्रेय भगवान्की कृपाको दो।

“सेवा करके अभिमान न करो; जिसकी सेवा करते हो, उसमें कुछ चाहो मत, उससे किसी बातकी आशा न करो। वह हमारा कृतज्ञ हो, ऐसी कल्पना मनमें मत उठने दो। उसपर कोई अहसान न जनाओ। उसपर अपना अधिकार न मानो। उसके दोषोंको—अभावोंको देखकर धराराओ मत। उसपर झुँझलाओ मत। उसका तिरस्कार न करो।

“सेवा करके विज्ञापन न करो। जिसकी सेवा की है, उसपर बोझ मत डालो; नहीं तो तुम्हारी सेवा पुनः स्वीकार करनेमें उसे संकोच होगा और पिछली सेवाके लिये, जो उसने स्वीकार की थी, उसके मनमें पछतावा होगा।”

यह है श्रीभाईजीके द्वारा प्रतिष्ठित सेवाका आदर्श और उनका जीवन इस आदर्शके सर्वथा अनुरूप था। इस प्रकार श्रीभाईजीने अपने जीवनसे शिक्षा दी है कि 'जबतक मनुष्य अपने शरीरका, अपने खान-पान, सुख-सुविधाका भान है, तबतक उसे प्राणिमात्रके दुःख-दर्दकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; अपितु उसे चाहिये कि वह प्राणिमात्रके दुःख-दर्द को अपना दुःख-दर्द अनुभव करे और उसके शमनके लिये अपना सब-कुछ होम दे।’

श्रीभाईजीका यह सेवा-आदर्श सेवा करनेवालोंके लिये सदा प्रकाश-स्तम्भकी भाँति मार्ग-दर्शन करता रहेगा।

—कृष्णचन्द्र अग्रवाल

( २ )

### हिंदू नारीका अदम्य साहस

वनगमनके समय श्रीसीताजीके सुहृदे गोमन्थ तुलसीदासजीने कहलाया है—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृद समुदाई।  
सासु ससुर गुरु सजन सहाई। सुत सुंदर सुसील सुखदाई।  
जहाँ लगी नाथ नेह अरु नाते। पिय विनूति यहि तरनिहु तेताते।  
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति विहीन सबु सोक समानू।  
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू।  
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।

भारतीय नारीका आराध्य एकमात्र पति है। पति विहीन नारी मृतकतुल्य हो जाती है। इसलिये सत्कार वती नारी पतिकी मृत्युपर सहमरणकी इच्छुक हो उठती है। भारतका इतिहास ऐसी प्रातःस्मरणीया अनेक नारियोंके वृत्तान्तोंसे भरा हुआ है। इसमें भी राजस्थानका प्रमुख हाथ रहा है। अभी-अभी १६ जनवरीको राजस्थानमें ऐसी ही एक घटना घटित हो गयी।

ग्राम मांडलगढ़ ( जिला भीलवाड़ा ) के निवासी श्रीअमृतलालजी ओझा R. A. S. S., D. O. के पुत्र श्रीअखिलेशचन्द्रजी ओझा बी. ए. एल्. एल्. बी० एडवोकेटकी हृदयवृत्ति रुक जानेसे गत १६ जनवरीको मृत्यु हो गयी। इस समय उनकी आयु ३६ वर्षकी थी। वे अपने एक मुकद्दमेंको निपटाकर एक शादीमें शामिल होनेके लिये कदमपुर जा रहे थे। दो स्टेशन पार करते ही मार्गमें जंकशनपर उनके हृदयकी गति रुक गयी। वे भगवान् कहते-कहते उन्होंने प्राण छोड़ दिये।



अन्दरी मदद वहाँ पहुँची, किंतु सब बेकार हुई। उनका शव भीलाड़ा लाया गया। यहीं रहकर वे अपनी वकालत कर रहे थे।

उनकी पत्नी श्रीमती विमलादेवी, जिनकी आयु इस समय ३२ वर्षकी थी, एक संस्कारवती धार्मिक महिला थी। वे उस समय अपने भाईके पास थीं। उन्हें जीपमें वहाँसे लाया गया। पतिकी मृत्यु देखकर उन्होंने भी अपने मनमें स्मरणका संकल्प ले लिया।

श्रीअखिलेशजीका शव एक फ्लॉग भी न गया होगा कि वे न जाने कब घरके भीतर घुस गयीं। दरवाजा बंद कर आगदाह कर लिया। यह अभीतक रहस्य बना हुआ है कि उन्होंने किस साधनका उपयोग किया; क्योंकि जब किवाड़ तोड़े गये तो वहाँ आगकी एक लौ जलती हुई दिखायी दी। न उनके कपड़े जले और न वाल ही। पर शरीरसे प्राण निकल चुके थे।

दुरंत ही श्मशानपर खबर भेजी गयी। शव-यात्राकी तैयारी कर उन्हें भी श्मशान ले जाया गया और दोनोंका एक ही चितापर रखकर दाह-संस्कार किया गया।

दाह-संस्कारमें हजारों आदमी थे, जो बिलख-बिलखकर इस अद्भुत और रोमाञ्चकारी दृश्यको देख रहे थे। साथ ही वैवीकी पतिभक्ति, धर्मानुराग और साहसकी प्रशंसा भी करते जाते थे। इस अवसरपर राजस्थानके सिंचाई मन्त्री भीलू, श्रीरामचन्द्रजी व्यास एम्० पी०, जिलाधीश तथा जिला जजके अतिरिक्त अनेक एडवोकेट भी श्मशानपर उपस्थित थे। श्रीमती विमलादेवीके नैहर, मांडलगढमें उनके पिता श्री श्रीजडावचन्द्रजी पुरोहितके यहाँ जाकर राजस्थानके तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्रीमोहनलालजी सुखाडिया, शिक्षामन्त्री श्रीशिवचरण तथा अन्य मन्त्रियोंने, जिनमेंसे श्रीवृजसुन्दरजी शर्मा तथा हरदेवजी जोशी आदि प्रमुख हैं, श्रीमती विमलादेवीके अदम्य साहसकी प्रशंसा की।

बार एसोसियेशन, भीलवाडाने अपने साथी एडवोकेटकी इस तरहकी मृत्यु एवं पत्नीके सती होनेपर शोक-प्रस्ताव पास किया, जुगल-जोड़ीके चित्र बार रूममें लगाये तथा श्रीमती विमलादेवीके नामपर लाइब्रेरीकी स्थापना की है।

—शिवमनोहर व्यास

( ३ )

एक लाख रुपयेपर ठोकर मार दी

इण्डियन आयल रिफाइनरीके एक जर्मन इंजीनियरकी

जीप कच्चे रास्तेपर बड़ी तेजीसे चली जा रही थी। पासमें ही सुगेरका गनगौर ग्राम था। ऊबड़-खाबड़ सड़कपर इंजीनियरका सूटकेस कब गिर गया, इसका उन्हें पता ही न चला। पासके ही खेतमें उस गाँवका एक किसान काम कर रहा था। उसने वह सूटकेस देखा तो उसे अपने घर नहीं ले गया। सोचा, भले ही इसमें कुछ भी हो, मुझे खोलनेसे क्या लाभ, यह तो उसके मालिकको देना ही है। अतः वह पंचायत दफ्तरमें जाकर जमा कर आया।

तलाश करते हुए वह इंजीनियर जब उस गाँवमें आये तो सरपंचद्वारा वह सूटकेस वापस कर दिया गया। सूटकेस खोलकर देखा तो उसमें एक लाख रुपये तथा अन्य जरूरी कागजात-सभी वस्तुएँ सुरक्षित थीं। इंजीनियरने उस ईमानदार व्यक्तिसे मिलनेकी इच्छा व्यक्त की, जिसने उस सूटकेसको पंचायतघरमें लाकर जमा किया था।

थोड़ी ही देरमें उस किसानको भी बुलाकर वहाँ उपस्थित किया गया। इंजीनियरने उसकी पीठ ठोकरे हुए सौ रुपयेका एक नोट पुरस्कारस्वरूप देना चाहा; पर उसने रुपये लेनेसे इन्कार करते हुए कहा—‘मैं आपसे इतना ही चाहता हूँ कि आप अपने देश जाकर भारतको भी स्मरण रखें।’

—‘युग-निर्माण-योजना’

( ४ )

प्रार्थनासे कैंसर अच्छा हुआ

स्काटलैण्डके ग्लासगो नामक स्थानमें एक छः वर्षकी बालिका कैंसर-रोगसे ग्रस्त थी। सभी प्रमुख चिकित्सकोंने इस बातकी घोषणा कर दी थी कि ‘बच्ची अब केवल एक सप्ताहकी मेहमान है।’ उसका अन्त समय निकट जानकर उसकी माता फ्रांसके रोमन कैथोलिक चर्चमें उसे ले गयी। लोगोंके आश्चर्यका उस समय ठिकाना न रहा, जब फ्रांसिस वर्न नामक उक्त लड़की वहाँसे तन्दुरुस्त होकर घर लौटी। अब उसे कैंसरकी कोई शिकायत नहीं है। वह सामान्य लोगोंकी भाँति ही रहती है। उसने खेलना भी प्रारम्भ कर दिया है और वह स्कूल भी जाती है। ग्लासगोमें उसकी चिकित्सा करनेवाले डाक्टरोंका भी कहना है कि वर्तमान चिकित्सापद्धतिद्वारा इसका इलाज असम्भव था, लेकिन आश्चर्य है कि वह कैसे इस घातक रोगसे छुटकारा पा सकी। इसे एक करिश्मा ही कहा जायगा कि चर्चमें जानेपर केवल प्रार्थनाके बलपर ही उसकी हालत बिना किसी चिकित्साके सुधरने लगी।

—‘आज’



( ५ )

## श्रीहनुमानजीकी कथा

करीब डेढ़ महीने पहलेकी बात है । मैं दाँतकी बीमारीसे बेचैन रहा करता था । दवाई चलती ही थी । इसी बीच दिनमें मेरी स्त्रीके पेटमें एकाएक दर्द होने लगा । दर्दने बढ़ते-बढ़ते शामतक विकराल रूप धारण कर लिया । वर्षा भूसलधार बरस रही थी । किसी तरह मैं एक आदमीको बुलाने गया । लेकिन वे सज्जन भी वर्षाके कारण मेरे घरतक नहीं आ सके, फिर भी उन्होंने दवाई बतला दी । घर लौटकर दवाई बनाकर लाया । किसी तरह पत्नीको उठाकर दवाई दी गयी । एक घूँट भी नहीं पी सकी थी कि वह पुनः लेट गयी । दर्दके कारण बैठ नहीं सकती थी । अब मैं बड़ी मुसीबतमें पड़ गया । एक तो मेरी हालत खराब, दूसरे मेरी स्त्रीकी । मनमें सोचा कि 'इस समय मेरे ऊपर विपत्ति आ पड़ी है, धराना नहीं चाहिये । भगवान्‌के हाथमें सब है ।' एकाएक मेरे ध्यानमें आया कि 'इस समय श्रीहनुमानचालीसाका पाठ शुरू कर दूँ तो जरूर कुछ अच्छा होगा ।' मैंने तुरंत पत्नीके शरीरपर हाथ रखकर श्रीहनुमानचालीसाका पाठ प्रारम्भ कर दिया । ठीक बीस मिनटके बाद मेरी पत्नीकी हालत सुधरने लगी । आध घंटेके बाद तो वह उठकर बठ गयी । मुझे बड़ी खुशी हुई कि बेचैन रोगी तुरंत उठकर बैठ गया । मनमें महावीरजीके प्रति बड़ी श्रद्धा हुई । एक घंटेके बाद उसने भोजन भी किया । रातमें आरामसे विश्राम किया ।

श्रीहनुमानजीसे की गयी विनतीने, स्तुतिने अपना प्रभाव दिखाया ।

—अनुपलाल मंडल

( ६ )

## तमाचेकी कीमत कैसे भूल सकता हूँ

गुरुपूर्णिमाके दिन मैं कालेजके प्रिंसिपल अपने एक मित्रके बँगलेपर गया था । प्रिंसिपल अपने इष्टदेवकी पूजा कर रहे थे । पूजा करनेके बाद उन्होंने फूलोंका एक हार अपने इष्टदेवको पहनाया । दूसरा एक हार दीवानखण्डमें लगी हुई एक पुरानी जर्जरित तस्वीरको पहनाया । हाथमें डंडा, सिरपर गोल पगड़ी, अनियारी लाल आँखें तथा भरावदार भूँछोंवाली उस छविको भावपूर्वक प्रणाम करते हुए प्रिंसिपलको देखकर मैंने उनका परिचय पूछा । प्रिंसिपलने कहा—'ये मेरे गुरु हैं । आज गुरु-पूर्णिमा है, इसलिये इनके साथ जो न भूलनेवाली वस्तुना घटी थी, वह याद आ रही है ।' मेरे आग्रहसे प्रिंसिपल अपने जीवनके उस अविस्मरणीय प्रसङ्गको कहने लगे—

"आप तो जानते ही हैं कि मैं अपने माँ-बापका बहुत कड़ेता लड़का हूँ । माँ-बापके बनी होनेके कारण मैं घर-घरमें पलने लगा । डुरी संगत होनेके कारण मुझे पढ़ने-लिखनेसे नफरत होने लगी । पिताजीको भी शिक्षामें रुचि नहीं था । माँ मुझे अनेक बार समझाती, परंतु मैं उसकी बातपर ध्यान ही नहीं देता था । पाठशाला में ऊषम भजता । अध्यापकोंके उल्लाहने आने को अन्तमें परीक्षाएँ होकर पिताजीने घरपर पढ़ानेके लिए अध्यापक रखे । विनारे अध्यापक आते, किंतु उनका अपमान और सरारत करके मैं उन्हें भगा देता । पिताजी इसे समझा । मैं जब उनके शासनसे बाहर होने लगा तब उन्हें भारी चिन्ता होने लगी । उन्होंने मुझे योग शास्त्रपर लानेके लिये कई मनोविज्ञानशास्त्री तथा अच्छे अध्यापकोंकी सहायता ली, परंतु परिणाम कुछ न निकला । मुझसे जो प्रश्न पूछे जाते, मैं उसका चला-फिरता जवाब दे देता । सब थक गये । अन्तमें एक शिक्षक आये । उन्हें देखकर मैंने उनकी हँसी उड़ते हुए कहा—'मास्टर ! आप मुझे पढ़ाने आये हैं ?'

"वे कुछ बोले नहीं, मैंने उनकी और अधिक हँसी उड़ते हुए कहा—'अरे पण्डितजी ! वापस चले जाइये । आप मुझे क्या पढ़ायेंगे ? आप-जैसे तो कई आये और गये ।' यह कहकर मैं जोरसे हँसने लगा । वे शिक्षक कुछ बोले नहीं, केवल मेरी तरफ देखते रहे । मैं हँसी उड़ाने लगा—'आप मुझे पढ़ायेंगे ? वाह ! जरा देखूँ तो सही ।' मैं आगे और कुछ कहूँ, इसके पहले उनका जोरदार तमाचा मेरे गालपर पड़ा, उनकी लाल आँखोंसे मैं अपनी आँखें नहीं मिला सका । जीवनमें पहली ही बार मैंने तमाचा खाया था और ऊपरसे मुझे मुननेको मिला कि 'तमाचा' तरह पढ़ना है कि सारी जिंदगी भीख माँगनी है ।'

"तमाचेके साथ मेरे हितकी इतनी चिन्ता गुरुजीके है, इस विचारने मेरी जिंदगी बदल दी । दूसरे दिनसे मेरी नयी जिंदगी शुरू हुई । आज मुझे मेरे ये सच्चे विद्या-गुरुजी याद आते हैं । बिना किसी भी स्वार्थके, मेरी माता-पिताकी परवा किये बिना, केवल मेरी जिंदगी सुधारनेके लिये, मुझे तमाचा मारनेवाले यदि ये गुरुजी न मिले होते तो मैं आज प्रिंसिपलकी जगहके बदले कौड़ीके भाव भी न पूछा जाता । इस तमाचेकी कीमत मैं कैसे भूल सकता हूँ ।"

अपने इन गुरुजीके फोटोकी वन्दना कर प्रिंसिपल साहब बैठ गये । 'अखण्ड आनन्द'

—चन्द्रकान्त विश्वकर्मा



# श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारका अमूल्य मौलिक साहित्य

परमश्रेष्ठ नित्यलीलालीन श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने लगभग २५ हजार पृष्ठोंका अपना मौलिक साहित्य दिया है, जिसमेंसे लगभग ९ हजार पृष्ठोंका साहित्य स्वतन्त्र पुस्तकरूपमें प्रकाशित हो चुका है; बाकी साहित्य 'कल्याण' के भाईमें बिकरा पड़ा है, लोगोंके पास पत्ररूपमें है तथा गीताप्रेससे प्रकाशित विभिन्न पुस्तकोंमें संगृहीत है। इस बिखरे साहित्यको स्वतन्त्र पुस्तकरूप देनेका कार्य हो रहा है। नीचे हम उनके मुद्रित मौलिक साहित्यकी सूची दे रहे हैं—

## निबन्ध-संग्रह

	निबन्ध-संख्या	पृष्ठ-संख्या	मूल्य	(अवतककी प्रकाशित प्रतियाँ)
(१) भगवच्चर्चा—भाग-१ (तुलसीदल)	२७	२८०	.६०	३८,०००
(२) भगवच्चर्चा—भाग-२ (नैवेद्य)	३४	२५८	.६०	३२,२५०
(३) भगवच्चर्चा—भाग-३	५०	४००	.९०	४०,०००
(४) भगवच्चर्चा—भाग-४	४३	४३०	.९५	१०,०००
(५) भगवच्चर्चा—भाग-५	४८	३९६	.९०	१०,०००
(६) भगवच्चर्चा—भाग-६ (पूर्ण समर्पण)	४४	३९४	.९०	११,०००
(७) भवरोगकी रामबाण दवा (विचारात्मक निबन्ध)	१०	१७२	.३५	६३,२५०
(८) श्रीराधामाधव-चिन्तन, (श्रीराधामाधवके स्वरूप, प्रेम एवं लीलातत्त्वका विशद विवेचन)		७६०	५.००	१५,०००
(९) श्रीराधामाधव-चिन्तन-परिशिष्ट		२३२	२.००	५,०००

## पत्र-संग्रह

(साधना एवं व्यवहारके सम्बन्धमें पत्ररूपमें दिये गये निर्देश)

	पत्र-संख्या	पृष्ठ-संख्या	मूल्य	
(१०) लोक-परलोकका सुधार—भाग-१	६८	२२०	.४५	३५,२५०
(११) लोक-परलोकका सुधार—भाग-२	६५	२४४	.४५	३१,२५०
(१२) लोक-परलोकका सुधार—भाग-३	९३	२८२	.६०	१५,०००
(१३) लोक-परलोकका सुधार—भाग-४	९४	२८०	.६०	१५,०००
(१४) लोक-परलोकका सुधार—भाग-५	९६	२६२	.६०	१५,०००

## पद-संग्रह

(खड़ी बोली, ब्रजभाषा एवं राजस्थानीके पदोंका संग्रह)

	पद-संख्या	पृष्ठ-संख्या	मूल्य	
(१५) पत्र-पुष्प (भजन-संग्रह भाग-५)	११४	११२	.१५	३,२५,०००
(१६) प्रार्थना-पीयूष	१६	२५	.१५	१५,०००
(१७) हरिप्रेरित हृदयकी वाणी	३२५	१८२	१.४०	५,०००
(१८) श्रीराधामाधव-रस-सुधा (खड़ी बोलीके अनुवादसहित)	१६	४४	.३०	५,०००
(१९) श्रीराधामाधव-रस-सुधा (ब्रजभाषाके अनुवादसहित)	१६	४२	.२०	१९,०००
(२०) श्रीराधामाधव-रस-सुधा (केवल मूल)	१६	४०	.१०	२०,०००
(२१) ब्रजरस-माधुरी	२५१	२५२	.७०	५,०००
(२२) ब्रजरसकी लहरें	३२५	२३८	१.७०	५,०००
(२३) मधुर भाग-१ (श्रौंकी सं० ४०)	५७	१७०	.६५	१०,०००
(२४) मधुर भाग-२ (श्रौंकी सं० ३२)	५०	१५२	.६०	१०,०००
(२५) शिव-चालीसा		२४	.०८	४,२०,०००

## समाज-निर्माणात्मक-साहित्य

(२६) हिंदू-संस्कृतिका स्वरूप	२४	.०८	१,००,०००
(२७) सिनेमा—मनोरंजन या विनाशका साधन	२४	.०८	१,९०,०००
(२८) विवाहमें दहेज	१२	.०४	१,१०,०००



ग्रन्थ-संख्या	मूल्य
१६८	.४५
५६	.१२
४८	.१२
३२	.०४
१२	.०४

- ( २९ ) नारी-शिक्षा  
( ३० ) स्त्री-धर्म-प्रश्नोत्तरी  
( ३१ ) वर्तमान शिक्षा  
( ३२ ) गो-वध—भारतका कलंक  
( ३३ ) बलपूर्वक देवमन्दिर-प्रवेश और भक्ति

### साधना-साहित्य

- ( ३४ ) मानव-धर्म  
( ३५ ) साधन-पथ  
( ३६ ) श्रीराधा-जन्माष्टमी-व्रत-महोत्सवकी प्राचीनता, महिमा और पूजाविधि  
( ३७ ) मनको वशमें करनेके कुछ उपाय  
( ३८ ) श्रीभगवन्नाम  
( ३९ ) दिव्य सन्देश  
( ४० ) गीतामें विश्वरूप-दर्शन  
( ४१ ) ब्रह्मचर्य  
( ४२ ) सत्सङ्गके बिखरे मोती  
( ४३ ) मनुष्य सर्वप्रिय और सफल-जीवन कैसे बने ?  
( ४४ ) जीवनमें उतारनेकी सोलह बातें  
( ४५ ) कल्याणकारी आचरण  
( ४६ ) प्रार्थना  
( ४७ ) गोपी-प्रेम  
( ४८ ) रस और भाव

ग्रन्थ-संख्या	मूल्य
१६	.२५
६८	.२०
७२	.३०
२४	.१०
७८	.०८
१६	.०३
१६	.०८
३१	.०८
२४४	.९०
१६	.०७
८	.०३
३२	.१५
५६	.२५
५२	.१२
२४	.१५

### उद्बोधक-साहित्य

( जीवनमें आशा, उत्साह, स्फूर्ति प्रदान करनेवाला साहित्य )

	लेख-संख्या	पृष्ठ-संख्या	मूल्य
( ४९ ) कल्याण-कुंज भाग-१	२७	१३६	.३०
( ५० ) कल्याण-कुंज भाग-२	४६	१६०	.३५
( ५१ ) कल्याण-कुंज भाग-३	६३	१२४	.४५
( ५२ ) मानव-कल्याणके साधन ( कल्याण-कुंज भाग-४ )	८८	२६२	१.००
( ५३ ) दिव्य सुखकी सरिता—( कल्याण-कुंज भाग-५ )	३८	११४	.५०
( ५४ ) सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ—( कल्याण-कुंज भाग-६ )	४९	१४५	.६२
( ५५ ) दैनिक कल्याण-सूत्र		९०	.२५
( ५६ ) आनन्दकी लहरें		२४	.०८
( ५७ ) दीन-दुखियोंके प्रति कर्तव्य		२६	.०८

### भक्त-गाथा-साहित्य

- ( ५८ ) उपनिषदोंके चौदह रत्न  
( गीताप्रेससे प्रकाशित भक्त-चरित्रोंमें अधिक चरित्र उन्हींके लिखे हुए हैं )

### टीका-साहित्य

- ( ५९ ) प्रेम-दर्शन  
( श्रीनारदभक्तिसूत्रोंकी विस्तृत व्याख्या—हिन्दीमें )

श्रीभाईजीकी मौलिक पुस्तकोंकी संख्या ५९ है । पूरे सेटका मूल्य २९.१२, कमीशन २.९२ बाद देनेपर २६.२० मूल्य, राजिस्ट्री-खर्च १.२०, कुल २७.४० रेल्यार्सलद्वारा मँगानेवालेको भेजना चाहिये । डाकसे मँगानेवालेको डाकखर्च भेजना होगा ।



# कल्याण



श्री ४५ ]

[ अङ्क १० ]



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥  
संस्करण १,६८,०००

## विषय-सूची

कल्याण, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, अक्टूबर १९७१

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-परस्पर दोउ चकोर, दोउ चंदा [कविता] ( श्रीभगवत्सकजी )	... ११९३
२-कल्याण	... ११९४
३-मनको तेरा ही सम्बल है [कविता] ( श्री 'सतीश' वर्मा, एम० ए०, बी० एड०, साहित्यरत्न )	... ११९५
४-ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश ( पुराने सत्सङ्गसे )	... ११९६
५-बन जाऊँ तेरा प्यारा [कविता] ( श्री- भगवतनारायणजी भार्गव )	... ११९८
६-परमार्थकी पगडंडियाँ [नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमान- प्रसादजी पोद्दार ) के अमृत वचन ]	... ११९९
७-ध्यानका रहस्य ( अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती )	... १२०३
८-गीताका भक्तियोग—७ ( पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी 'आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या )	... १२०५
९-आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ	... १२०८
१०-प्रार्थनाका मर्म [कविता] [महात्मा गाँधीके भावोंके अनुसार] ( 'भारत नारी'से साभार )	... १२११

विषय	पृष्ठ-संख्या
११-मानसिक संतोष और शान्तिका उपाय ( डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच्० डी० )	... १२१३
१२-पिताका कर्ज ( श्रीरामेश्वरजी टाँटिया )	... १२१५
१३-'प्रीतम ! तू मोहि प्रान तैं प्यारौ' [ कविता ] ( श्रीनारायण स्वामीजी )	... १२१६
१४-इहलोककी अलौकिकता ( श्रीमती मदालसा देवी अग्रवाल )	... १२१७
१५-मौसल-लीला तथा भगवान् श्रीकृष्णकी अन्तर्धान-लीला ( डॉ० श्रीराधा- गोविन्दनाथ )	... १२१९
१६-वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता ( डॉ० श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा, एम०- ए०, एल्-एल् बी०, पी-एच्० डी० )	... १२२१
१७-पवहारी बाबा—उन्नीसवीं शताब्दीके एक संत ( स्वामी श्रीनिवेदानन्दजी )	... १२२२
१८-श्रीललिताम्बाका ताटङ्क ( पं० श्रीजानकी- नाथजी शर्मा )	... १२३८
१९-श्रीरामको सम्बोधित [ कविता ] ( 'स्वर्णकिरण' )	... १२४१
२०-पुरानी पीढ़ी बनाम नयी पीढ़ी ( श्रीराम- नाथजी 'सुमन' )	... १२४१
२१-अनुशासन ( महात्मा गाँधी )	... १२४४
२२-पढ़ो, समझो और करो	... १२४५

## चित्र-सूची

१-श्रीश्रीसरस्वती देवी	( रेखा-चित्र )	... मुखपृष्ठ
२-युगल प्रेममूर्ति	( तिरंगा )	... ११९३

वार्षिक मूल्य भारतमें १०.०० } जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ { साधारण प्रति भारतमें ६० पैसे  
विदेशमें १६.०० (१८ शिल्लिंग) } विदेशमें ६० १.०० (१५ पैसे)

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्पनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शांती

मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



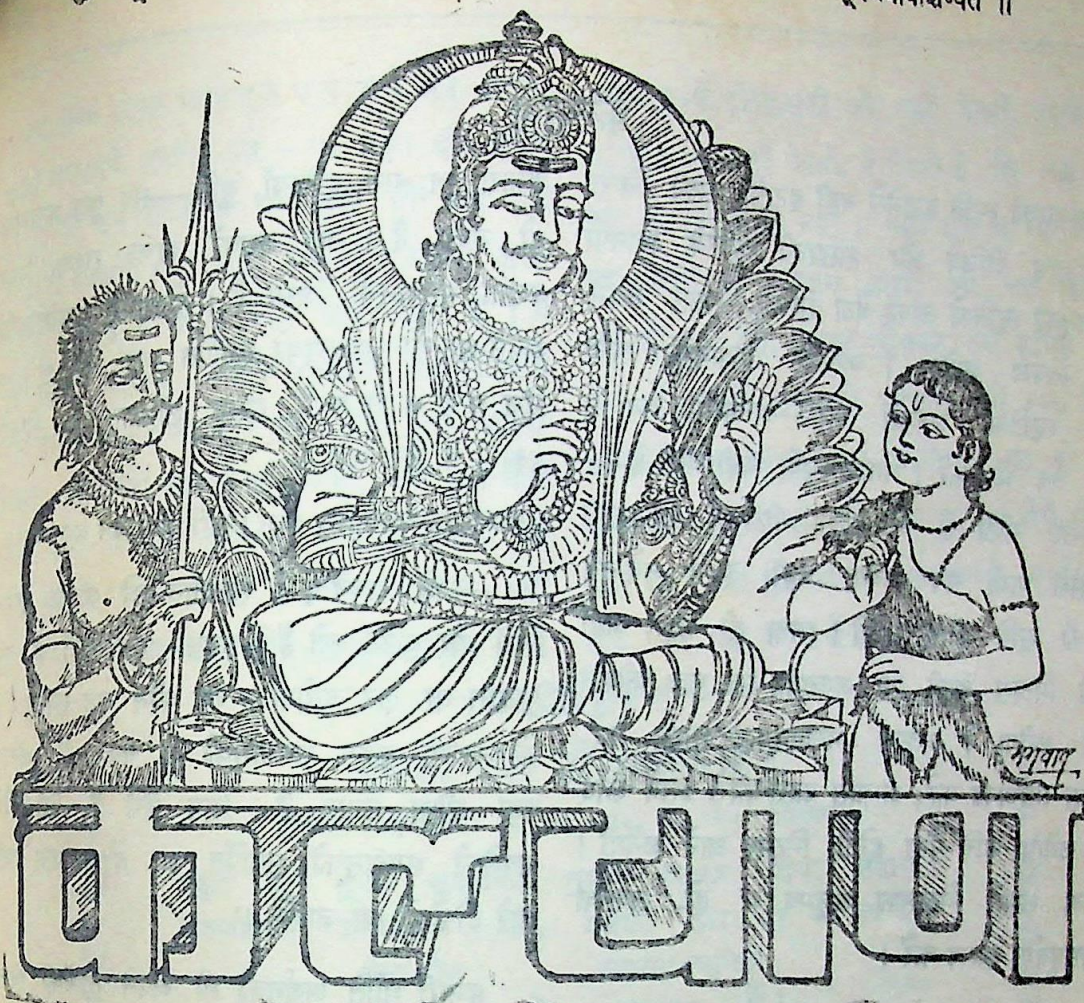






युगल प्रेममूर्ति





अथशेषं हरिश्वाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संसारन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

( अग्निपुराण )

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर कार्तिक, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, अक्टूबर १९७१

{ संख्या १०  
पूर्ण संख्या ५३९

## परस्पर दोउ चकोर, दोउ चंदा

परस्पर दोउ चकोर, दोउ चंदा ।

दोउ चातक, दोउ स्वाती, दोउ घन, दोउ दामिनी अमंदा ॥

दोउ अरविंद, दोउ अलि लंपट, दोउ लोहा, दोउ चुंबक ।

दोउ आशिक, महबूब दोउ मिलि, जुरे जुराफा अंबक ॥

दोउ मेघ, दोउ मोर, दोउ मृग, दोउ राग-रस-भीने ।

दोउ मनि बिसद, दोउ बर पंनगा, दोउ बारि, दोउ मीने ॥

भगवतरसिक बिहारिनि प्यारी, रसिक बिहारी प्यारे ।

दोउ मुख देखि जियत, अधरामृत पियत, होत नहि न्यारे ॥

—भोगवतरसिकनी



## कल्याण

संसारकी स्मृति हठानेसे नहीं हटती; इसकी चिन्ता आप छोड़ दीजिये और संसारकी स्मृतिके स्थानपर भगवान्की स्मृतिको लाकर बैठा दीजिये, संसार अपने-आप निकल भागेगा । बार-बार भगवान्की स्मृति करें—स्मृतिका अभ्यास करें—अभ्यासमें मन न लगे, तब भी करें । भगवत्स्मृति बड़ी मीठी है—स्वभावतः मीठी है और ऐसी मीठी है कि इसकी मिठाससे कभी मन उबेगा नहीं; इसमें नये-नये स्वादकी सृष्टि होती रहेगी । इतना ही नहीं, जहाँ इसकी मिठास आयी कि जगत्का सब कुछ 'फीका' लगने लगेगा । अतएव भगवान्का स्मरण करें, अभ्यास स्मरणका करें; अभ्यास करते-करते इसमें स्वाद आने लगेगा, रुचि पैदा होगी, मिठास आने लगेगी । जबतक उसमें मिठासका अनुभव न हो, तबतक अभ्यासपूर्वक स्मरण करें ।

मनके विकारोंसे छुटकारा पानेके दो तरीके हैं—एक वैराग्यके द्वारा, ज्ञानके द्वारा उनका शमन करना और दूसरा, हम जैसे हैं वैसे-के-वैसे अपनेको भगवान्को समर्पित कर दें । भगवान् अपने-आप दोषोंका परिहार करेंगे, हमें उसके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है । पहला उपाय बड़ा सुन्दर है, उसे करना ही चाहिये; पर है वह बहुत कठिन । दूसरा उपाय देखनेमें सामान्य प्रतीत होता है; पर है वह अमोघ । देखें—आपके, पास एक मकान है; आपने उस मकानको किसीको बेच दिया या उपहार-स्वरूप दे दिया । मकान उसका हो गया । अब मकानमें यदि कूड़ा-करकट है, टूट-फूट है तो उसकी सफाई, उसकी मरम्मत कौन करायेगा ? इनका उत्तरदायित्व उसीपर है, जिसने मकान लिया है । इसी प्रकार जब हम अपनेको भगवान्के समर्पित कर देते हैं, तब हमारे दोष, हमारी त्रुटियाँ, हमारी कमजोरियाँ,

हमारा तन, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि—सब कुछ भगवान्का हो जाता है । अब उनको खच्छ रखना, निर्मल रखना भगवान्के जिम्मे है । गोखामी तुलसीदासजीने अपने-आपको भगवान्को समर्पित कर दिया था । एक दिन उन्हें आने मनमें संसार झँकता हुआ दिखायी पड़ा । वे बोले उठे—

यह हृदय-भवन प्रभु तोरा । यहाँ आय बसे बहु चोरा ॥

—‘हे राववेन्द्र ! सावधान हो जाइये, तुम्हारे घरमें चोर घुसने लगे हैं । हमको पता नहीं है, यह तुम्हारा घर छुट जायेगा ।’ यह कौन कह सकता है । जो अपना हृदय भगवान्को दे चुकता है । अतएव बड़ा सीधा उपाय है—‘हम जैसे हैं, वैसे-के-वैसे अपनेको भगवान्को समर्पित कर दें; भगवान् हमारे सारे दोषोंको खा जायेंगे ।’

हमारी भौंति अर्जुनको भी अपने दोषोंकी चिन्ता हुई थी । भगवान्ने गीताका उपसंहार करते हुए कहा—

‘अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि’

—‘तुम्हें सारे पापोंसे मैं मुक्त कर दूँगा, मैं छुड़ा दूँगा । तुम्हें पापोंसे मुक्त होना नहीं पड़ेगा, तुम्हारे सारे पाप मैं धो दूँगा ।’ इतना ही नहीं, वे अर्जुनको प्रेरित करते हुए बोले—‘मा शुचः—तुम सोच मत करो ।’ इस प्रकार भगवान्ने अर्जुनको ढाढस ब्रंधाया और कहा—‘भैया ! तुम्हें सारे पापोंसे मुक्त मैं कर दूँगा । तुम सोच मत करो—चिन्ता मत करो । तुम एक ही काम करो—‘मामेकं शरणं ब्रज—एक भौं शरणमें आ जाओ ।’ दूसरेकी शरणमें मत जाओ । दूसरी तरफ देखो मत, दूसरी तरफ ताको मत । अपने सारे विकार, सारे दोष, सारी त्रुटियाँ, सारी कमजोरियाँ मुझे समर्पित कर दो ।’



हम पवित्र होकर भगवान् के पास जायें और अपने-  
आपको भगवान् के समर्पित करें—यह बहुत ही अच्छा  
है। पर यदि हम पवित्र न हो सकें तो क्या हमें  
भगवान् की शरणमें गति नहीं मिलेगी ? इसका उत्तर  
भगवान् देते हैं—‘नहीं, ऐसी बात नहीं है। मैं  
तुम्हें अपनी शरणमें लेनेको—अपने चरण-ग्रान्तमें  
स्थान देनेको सदा तैयार हूँ। तुम केवल मेरी बातपर  
विश्वास करके मेरी शरणमें आ जाओ, और कुछ नहीं  
करना है।’ स्वच्छ भगवान् पामर-से-पामरको भी  
अपनी शरणमें रखनेको तैयार हैं। वे कभी यह नहीं  
देखते कि शरणमें आनेवाला कौन है, कैसा है। वे कभी

उसके पूर्वके इतिहासकी ओर नहीं देखते, उसके पूर्व-  
कर्मोंकी ओर नहीं देखते; वे देखते हैं कि ‘यह मेरी  
ओर आ रहा है कि नहीं।’ ‘मेरी ओर आ रहा है’—  
यह देखते ही भगवान् उसकी ओर चल पड़ते हैं;  
चल ही नहीं देते, तत्काल पहुँचकर उसे हृदयसे लगा  
लेते हैं। जहाँ भगवान् ने पहुँचकर हमें स्पर्श किया,  
हृदयसे लगाया कि सारे पाप अपने-आप नष्ट हो गये,  
सारे ताप शान्त हो गये। अतएव हम जैसे भी हैं,  
जहाँ भी हैं, जो कुछ भी है—भगवान् के समर्पित हो  
जायें। बस, यही करना है।

## मनको तेरा ही सम्बल है !

( रचयिता—श्री ‘सतीश’ वर्मा, एम्.० ए०, बी० एड्.०, साहित्यरत्न )

बहुत बार डूबते हृदयको तुमने बड़कर दिया सहारा ।  
करुणाकर, जीवनधन ! मेरे, मनको तेरा ही सम्बल है ॥

दीन-हीन साधना-त्यागसे  
रहित पाप-पङ्किल तन-मन हैं !  
दीनबन्धु ! शरणागत हूँ मैं,  
चरणोंमें अर्पित जीवन है ॥

जब-जब तुम्हें पुकारा मैंने, सदा निकट तुमको पाया है ।  
दर्शन-हित मन विकल बहुत है, व्याकुल मम लोचन प्रतिपल है ॥

अशरण-शरण, दीनबन्धो, अब  
करुणाकर, ऐसी करुणा कर !  
मन बँध जाए, तन बँध जाए,  
लुटे प्राण-गठरी चरणोंपर ॥

बहुत देर भटका राहोंपर, नहीं किरण आशाकी देखी ।  
व्योतिर्मय ! पथ भूल गया हूँ, तेरा ही साहस है, बल है ॥

जिसने तुम्हें पुकारा जब भी  
सदा प्यार तुमसे पाया है !  
ओ कहनेश ! अशेष दया तब-  
साधन-विटप-शीतल छाया है ॥

आकर्षण पद-कमलोंमें हो और विकर्षण हो बुनियासे ।  
नाथ ! दयाकर ॥ सतत दयाकर, जिसके हित यह हृदय विकल है ॥



# ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[ पुराने सत्सङ्गसे ]

महात्माओंसे ज्यादा लाभ कैसे लिया जाय ?

जिज्ञासुके मनमें एक प्रश्न स्वाभाविक होता है—  
महात्माओंसे ज्यादा लाभ कैसे लिया जाय ? इसका उत्तर यह है कि 'उनसे सुनी हुई बातोंको काममें लानेसे।' भगवान् श्रीरामने पुरवासियों आदिके समक्ष यह स्पष्ट किया कि 'वह सेवक मुझे सबसे अधिक प्यारा है, जो मेरी कही हुई बातोंको मानता है—उनपर आचरण करता है'—

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

गीताज्ञानकी परिसमाप्ति भी अनुगतभावमें है । भगवान्के सम्पूर्ण उपदेशको सुनकर अर्जुनने अन्तिम शब्द कहे—

‘करिष्ये वचनं तव’ ( गीता १८ । ७३ )

—‘मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।’ इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् अर्जुनसे यही चाहते थे कि वह उनके सर्वथा अनुगत हो जाय और उनके कथनानुसार कार्य करे ।

साधकको चाहिये कि वह महात्माओंकी रुचिके अनुसार चले; ऐसा न कर पाये तो संकेतके अनुसार चले; यह भी सम्भव न हो तो उनकी प्रत्यक्ष आज्ञाके अनुसार चले । उनकी आज्ञापर वह कठपुतलीकी भाँति नाचे । पतिव्रता स्त्रीका उदाहरण सामने रखे ।

महात्माओंके आज्ञा-पालनमें तत्परता कैसी हो ?

महात्माके आज्ञा-पालनमें तत्परता नहीं होती, इसका मुख्य कारण है कि हमें अपनी बुद्धिका अभिमान है और श्रद्धाकी कमी है । बुद्धिका अभिमान महात्माओं गुणबुद्धि होनेसे तथा भगवत्कृपासे मिट सकता है । उत्तम श्रेणीकी गुणबुद्धि होनेसे महात्मामें गुण-ही-गुण

दिखायी पड़ते हैं, दोषोंकी कल्पना भी उनमें नहीं होती । निम्नश्रेणीकी गुणबुद्धि होनेपर भी महात्मामें कोई दोष दीखनेपर उसे स्वीकार नहीं किया जाता और उनके कथनानुसार आचरणकी चेष्टा रहती है । वास्तविक गुणबुद्धिका स्वरूप तो यह है कि अपनी तथा दूसरोंकी बात युक्तिसंगत दिखायी पड़े, तब भी न माने और महात्मा जैसे कहें, वैसा करे ।

दूसरे, तत्परता श्रद्धामें होती है । हमारा जिसके प्रति जैसा विश्वास होता है, उसकी कही बात करनेके लिये हम वैसा ही प्रयत्न करते हैं । महात्माकी बातपर विश्वास होनेसे ही उसको करनेका तीव्र प्रयत्न होगा और प्रयत्न तीव्र हुआ कि मन-इन्द्रियोंका संयम स्वाभाविक हो जाता है एवं अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । अतएव सबसे पहले महात्माओंके प्रति श्रद्धा करनी चाहिये ।

महात्माओंके आचरणकी अपेक्षा आज्ञाका पालन मुख्य है ।

कुछ लोग महात्माओंके आचरणोंका अनुसरण करना चाहते हैं, पर हमारी समझमें महात्माओंके आचरणके अनुकरणकी अपेक्षा आज्ञाका पालन मुख्य है । आचरणका अनुकरण साधकके लिये कठिन है; कारण, महात्मा जिस स्थितिमें हैं, उसकी कल्पना भी साधकको अभी नहीं हो सकती । दूसरे, आश्रमों एवं वर्णोंके धर्म पृथक्-पृथक् हैं । तीसरे, महात्माओंके आचरणका अनुकरण करने जाकर मनुष्य उनमें दोष दृष्टि कर सकता है; कारण, महात्मा कौन कार्य किस उद्देश्यसे करते हैं, इसका रहस्य महात्मा एवं भगवान्के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जान सकता । चौथे, मनुष्यका स्वभाव है कि दूसरेके दोषोंका अनुकरण करनेकी



हम मर तैयार हो जायगा, किंतु गुणोंका अनुकरण करना कठिन है। महात्माओंके चरित्रमें जो लोक-धर्मके अनुकूल आचरण होते हैं, उनका अनुकरण करना तो अनुकूल है; पर जो उनके आचरण लोकातीत होते हैं, उनका अनुकरण करके तो साधारण व्यक्ति अपना पतन ही करेगा—विनाशको ही प्राप्त होगा। अनुकरण करनेवाले सबसे पहले लोकातीत आचरणोंका ही अनुकरण करते हैं, लोकधर्मके अनुकूल आचरणोंका नहीं और इस प्रकार विनाशको प्राप्त होते हैं। अतएव महात्माओंकी आज्ञाका पालन—उनकी बतायी बातोंका पालन करनेको कहा गया है।

वेदाध्ययन करानेके अनन्तर आचार्य शिष्यको उपदेश देते हुए यही कहते हैं कि 'हम गुरुजनोंके जो शुभ आचरण हों, तुम्हें उन्हींका सेवन करना चाहिये'—

पान्यस्साकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि ॥  
(तैत्तिरीय० १।११।२)

वक्ताको अपने ऊपर श्रोताओंका बड़ा उपकार मानना चाहिये।

सत्सङ्गसे अत्यधिक लाभ है तथा सत्सङ्गका लाभ प्रत्यक्ष भी है। दान, पुण्य और स्नान आदिका फल तो कालान्तरमें होता है, परंतु सत्सङ्गका फल हाथों-हाथ देखनेमें आता है। यदि कोई मनुष्य रात्रिमें सत्सङ्गमें जाकर शास्त्रोंके उत्तम-उत्तम उपदेशोंको सुनता है तो दूसरे दिन प्रातःकाल ही उसपर उपदेशोंका कुछ असर देखनेमें आता है। झूठ बोलनेके समय उसकी जबान रुकती है, झूठे शब्दोंके लिखनेमें कलम रुकती है और अन्याय करनेमें कुछ मन भी रुकता है। सत्सङ्ग एक बहुत ही उत्तम साधन है। सत्सङ्गमें सुनी हुई बातोंके अनुसार यदि साधन करने लगे, तब तो फिर कहना ही क्या है; परंतु यदि कोई साधन न भी करे और श्रद्धापूर्वक अपने

शरीरको नित्य सत्सङ्गमें उपस्थित कर दे, तो भी उसकी तरफसे एक साधन तो हो ही गया; उसने अपना सारा भार वक्ताके ऊपर डाल दिया। उसके उद्धारमें यदि देर होती है तो उसका उत्तरदायित्व वक्तापर आता है। वह तो इस श्रद्धासे कि 'सत्सङ्गमें आनेसे मेरा उद्धार अवश्य ही हो जायगा', निश्चिंत हो जाता है। यदि वक्तामें सामर्थ्य न हो तो उसे स्पष्ट कह देना चाहिये कि 'मुझमें ऐसी शक्ति नहीं है।' परंतु श्रद्धालु साधक मिट्टीकी मूर्तिमें श्रद्धा करके यदि उससे उपदेश लेना चाहे तो उस मूर्तिमें भी उपदेश देनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, फिर मनुष्यमें ऐसी शक्तिका उत्पन्न होना और उसके उपदेशसे उद्धार होना कौन बड़ी बात है।

वक्ताको अपने ऊपर श्रोताओंका बड़ा ही उपकार मानना चाहिये। वास्तवमें वक्ताको लाभ भी श्रोताओंकी अपेक्षा बहुत अधिक होता है। जो वक्ता यह समझते और कहते हैं कि 'हम तो लोगोंकी भलाईके लिये ही उपदेश देते हैं, हमारा निजका कोई स्वार्थ नहीं, हमारी मेहनत तो केवल परोपकारके लिये ही है, इसलिये श्रोताओंको वक्ताकी सेवा करनी चाहिये,' वे बहुत ही भूलते हैं। उनका हृदय वास्तवमें अन्धकारसे ढका हुआ है। इसीलिये आजकल इतने अधिक वक्ताओंके होते हुए भी उनके उपदेशोंका कोई विशेष असर नहीं होता। जो स्वयं अन्धकारमें है, वह भला दूसरेके अन्धकारको कैसे दूर कर सकता है? 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः'—अंधा अंधेको क्या मार्ग दिखाये—इस कहावतके अनुसार ऐसे लोगोंका कथन और श्रोताओंद्वारा उसका भ्रमण व्यर्थ होता है।

अपने साथियोंके कल्याणकी भी चेष्टा रखनी चाहिये।

अपने नीचे जो व्यक्ति काम करें, उनको यह



विश्वास होना चाहिये कि ये हमारा हित चाहते हैं । अपने नीचे काम करनेवाले परमात्माकी तरफ किस प्रकार लगे, यह चेष्टा करनी चाहिये । वे लोग यदि जन्म-मरणके चक्रमें पड़ते हैं तो यह उनके लिये तो लज्जाकी बात है ही, साथ ही हमारे लिये भी वह लज्जाजनक है । अतएव हमें अपने साथियोंके कल्याणकी भी चेष्टा रखनी चाहिये । जो ऐसी चेष्टा रखते हैं, भगवान्‌के यहाँ उनका अधिक आदर है ।

### गीता अलौकिक धेनु है ।

गीता भगवान्‌की वाणी है । इसका वास्तविक रहस्य केवल भगवान् ही जानते हैं । चाहे कितने ही जन्म गीताके स्वाध्यायमें बीत जायँ, पर गीताके रहस्योंका अन्त नहीं हो सकता । यह ऐसी धेनु है, जिसका दूध, चाहे जितना उसे दुहते जाइये, कभी समाप्त नहीं होगा । इसका पूरा दूध तो आजतक न तो कोई दुह सका है और न आगे कोई दुह ही पायेगा । अपने भाव

एवं प्रयत्नसे जो जितना दुहते हैं, वे उनसे ही सौभाग्यशाली हैं ।

### सत्सङ्गके विभिन्न स्तर

सत्सङ्गमें मुक्ति देनेकी सामर्थ्य है । अतएव संतोंका—महात्माओंका सङ्ग करना चाहिये । संत न मिलें तो उच्चकोटिके साधकोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग है, कारण वह साधक भी संत-श्रेणीमें पहुँचने जा रहा है । संत एवं साधकके अभावमें शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये । भगवान्‌का सङ्ग तो सर्वोत्तम है ही । भगवान्‌के सङ्ग अर्थ है—अपने मनको भगवान्‌के स्मरणमें और अपने शरीरको भगवान्‌की सेवामें नियोजित रखना । इस प्रकार सङ्गकी दृष्टिसे प्रथम स्थान परमात्माका है, दूसरा संतका, तीसरा उच्चकोटिके साधकका और चौथा शास्त्रका है । जिसको जहाँ जैसी सुविधा हो, उसीका सङ्ग करना चाहिये ।

## बन जाऊँ तेरा प्यारा

( रचयिता—श्रीभगवदनारायणजी भार्गव )

सेवामें तेरी भगवन् ! जीवन बिताऊँ सारा ।

ये जीव-जन्तु सारे तेरे स्वरूप, प्यारे ! पूजा करूँ इन्हींकी, दे दे मुझे सहारा ॥  
नाना हैं रूप तेरे, हैं नाम भी अनेकों । इन सबमें तू रमा है, तेरा सकल पसारा ॥  
सूरजमें तू चमकता, चंद्रामें नूर तेरा । हैं मेव जब गरजते, बजता तेरा नकारा ॥  
बहती हैं वायुमें भी तेरी ही साँसें, स्वामी ! बिजली-चमक दिखाती पट पीतका नजारा ॥  
ये दौड़-दौड़ नदियाँ जो सिन्धुमें समातीं, जगकी अनेकताकी रचती हैं एक धारा ॥  
हँसता चमनमें तू ही, बुलबुलका नाल तेरा । मोरोंकी मटकें तेरी, कोयलका कूक नारा ॥  
रोगी, दुखी, अपाहिज जगमें कराहते हैं । तेरी तो हैं वे आहें, तू उनके दिलका तारा ॥  
उनको ही कर दूँ अर्पण तन-मन, स्वबल, स्वधन सब । कर एकताका दर्शन बन जाऊँ तेरा प्यारा ॥



## परमार्थकी पगडंडियाँ

[ नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) के अमृत-वचन ]

भगवान् के मङ्गलविधानके अनुसार जो होना होता है, वही होता है। मनुष्य व्यर्थ ही संकल्प-

निरूपण करता है।

जो कुछ भगवान् ने रच रखा है, वही होगा और वही ठीक होगा—

करी गोपाक की सब होय।

...

...

...

जो कुछ रचि राखी नंदनंदन, मेदि सके नहीं कोय।

यहाँ जो कुछ हो रहा है, उसमें मनुष्य सर्वथा निरुपाय है। अतएव यहाँकी चिन्ता छोड़कर उसका

न भगवद्भजन, सेवा या अन्य किसी निर्दोष कार्यमें लगना चाहिये, नहीं तो बड़ी कठिनता है।

×

×

×

तुम सदा प्रसन्न रहो, असली भाग्यका मर्म समझो। भगवान् का दासत्व प्राप्त होनेपर कोई कभी

समागा, मूर्ख, पापी रह नहीं जाता। सारे भाग्य, सारी विद्या, सारे पुण्य उसका चरण-वन्दन, चरण-दास्य

किया करते हैं। भगवान् सदा सर्वत्र सबके लिये हैं, यह निश्चय करके अन्तरात्मासे सदा उनकी प्रत्यक्ष संनिधिका अनुभव करो।

अहेतुकी कृपा तो श्रीभगवान् की हम सबपर सदा-सर्वदा है, उस कृपामें कभी कमी होती ही नहीं। वह अनन्त, असीम और अपार है। अपनी ओरसे जितनी विश्वासकी कमी है, उतना ही हम उस कृपासे वञ्चित रहते हैं।

×

×

×

तुम्हारा मन भजनमें नहीं लग रहा है तो कोई बात नहीं; मन तुम्हारा तो है नहीं; जिन भगवान् का मन है, वे चाहे जैसे उसका उपयोग करेंगे। तुम उनको दी हुई चीजके लिये चिन्ता क्यों करते हो—'मय्यर्पितमनोबुद्धिः।' तुम्हारा काम तो, बस, दिन-रात यही देखना है कि मन उनके—प्रभुके सिवा और किसीकी सेवामें तो नहीं लग रहा है।

सारे काम प्रभुकी इच्छासे प्राप्त प्रभुकी प्रीतिके सम्पादक हैं—यों समझकर प्रभुके सुखार्थ, उनके प्रीत्यर्थ सारे काम आनन्दपूर्वक सुचारुरूपसे करते रहो। प्रभुप्रीत्यर्थ होनेवाला प्रत्येक कार्य प्रभुकी पूजा-सेवा ही होता है। फिर उसके साथ प्रभुका स्मरण बना रहे, तब तो कहना ही क्या। अतएव कामसे धराना नहीं चाहिये। तुम प्रभुका ही समझकर सारा काम करते हो; यह बहुत ही आनन्दकी तथा संतोषकी बात है। यही करना चाहिये।

घर भगवान् का मन्दिर और सब लोग भगवत्स्वरूप एवं उनको सुख पहुँचानेके लिये होनेवाला घरका प्रत्येक कार्य भगवत्सेवा—इस भावसे, घरमें आसक्ति-ममता न रखकर केवल भगवत्प्रीत्यर्थ जो भी कार्य किया जाता है, वह निश्चय ही भगवत्-पूजारूप होता है और उससे भगवान् की मङ्गलमयी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

×

×

×



भी भगवान्‌को याद रखना । जगत्‌की क्षणभङ्गुरता हमारे सामने है । पता नहीं, कौन कब चला जाय । चला जानेवाला मानव कितना अभिमान करता है, क्या-क्या योजनाएँ बनाता है ।

भगवान्‌का स्मरण अधिक-से-अधिक करनेकी चेष्टा करना । चित्तमें खूब प्रसन्न रहना । यह खूब विश्वास रखना कि 'भगवान्‌की मुझपर बड़ी कृपा है ।' उनकी कृपा तो सदा सबपर है ही; जो जितनी मानता है, वह उतना ही अधिक उसका अनुभव करता है । संसारसे तथा संसारके पदार्थोंसे कोई आशा-भरोसा नहीं रखना चाहिये । संसारकी आशा सदा ही निराशा और शोक देनेवाली है—

एक भरोसो एक बल, एक आस बिस्वास ।

एक राम वनस्याम हित चातक तुलसीदास ॥ ( दोहावली )

X

X

X

शरीर सर्वथा क्षणभङ्गुर है; इसका जरा भी विश्वास नहीं, कब चला जाय । शरीरपर आस्था रखना ही भूल है ।

भगवान्‌का स्मरण निरन्तर करते रहना । भगवत्स्मरण ही महान् लाभ तथा परमानन्दस्वरूप है । इस स्मरणानन्दमें निरन्तर डूबे रहना चाहिये ।

भगवान्‌की कृपा तथा उनके अहैतुक सौहार्दपर विश्वास करके नित्य उसकी अनुभूति करते रहना ।

निरन्तर भगवत्कृपाका तथा भगवत्-संनिधिका अनुभव करते रहना तथा उनकी अखण्ड-स्मृति बनी रहे—इसका प्रयत्न करते रहना ।

प्रसादसे सब दुःखोंका नाश होता है; पर प्रसाद उसे मिलता है, जिसकी मन-इन्द्रियाँ सब भगवान्‌की सेवामें लगी हों तथा वे राग-द्वेष-कामना-वासनासे विमुक्त हों । उस प्रसादसे सब दुःखोंका नाश हो जाता है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

( गीता २ । ६४-६५ )

X

X

X

भगवान्‌को दूर समझा जाता है, इसीसे वे दूर रहते हैं । सच्ची बात तो यह है कि वे सदा सर्वत्र विराजमान हैं—पर जहाँ प्रेम है, वहाँ तो वे प्रत्यक्ष प्रकट रहकर अपनी संनिधिका परम सुखमय, परम पवित्र, परम मधुर अनुभव कराते रहते हैं । वे कहते हैं—'मैं सदा तुममें हूँ, तुम सदा मुझमें हो—हम कभी अलग होते ही नहीं ।' श्यामसुन्दरसे मिलकर गोपियोंके प्राण श्यामसुन्दरमय और श्यामसुन्दर उनके प्राणमय बन जाते हैं—

प्राण भए कान्हमय, कान्ह भए प्राणमय,

दियमें न जानि परै प्राण हैं कि कान्ह हैं ।

X

X

X

श्रीभगवान्‌में प्रेम निरन्तर बढ़ता रहे और उस प्रेममें निरन्तर पवित्र मधुर रसकी अनुभूति होती रहे । प्रेमके दो तट हैं—'मिलन' और 'वियोग' । प्रेमी 'मिलन'में बाहर प्रेमास्पदको प्राप्त करता है, पर उन्हें अंदर ले जाना चाहता है और 'वियोग'में अंदर मिला रहता है, बाहर देखना चाहता है । परंतु जिस



मिलनमें स्मरण-सुखका अभाव होता हो, उस मिलनसे विरहको अधिक श्रेष्ठ और संग्राह्य मानता है, जो स्मरणमें सहायक होता है। वह प्रेमी यदि मिलन चाहता है भी, तो निज-सुखके लिये नहीं। उसे किसी प्रकारकी भोग-लालसा तो है ही नहीं, प्रेमास्पदके सुखकी सम्भावनासे ही उसमें मिलनकी इच्छा उत्पन्न होती है; क्योंकि इसीमें उसका सुख समायो है। परंतु यदि मिलनमें स्मृति-सुखका नाश होता हो तो प्रेमी मिलनकी वाञ्छा नहीं करता। वह तो दिन-रात स्मरण-सुखमें ही डूबा रहना चाहता है। अपना सर्वस्व—सारी ममता, सारी इच्छा-कामना-वासनाएँ—अपने प्रेमास्पद भगवान्‌को अर्पण करके वह उनके स्मरण-धनको ही नित्य-निरन्तर सुरक्षित रखना चाहता है। उसकी पास रहनेकी इच्छा, मिलनेकी इच्छा—सभी अर्पित हो जाती हैं प्रेमास्पदकी इच्छामें।

प्रभु कभी अलग होते ही नहीं। वे साथ ही नहीं, रोम-रोममें व्याप्त रहते हैं, निरन्तर हृदय-सिंहासनपर आरुढ़ रहते हैं। श्रीगोपाङ्गनाओंके भावोंमें ऐसी ही माधुर्यपूर्ण परमोच्च स्थितिका संकेत है—संकेतमात्र है; क्योंकि उसका यथार्थ पूरा वर्णन तो सर्वथा असम्भव है। श्रीमद्भागवतमें वर्णन मिलता है—  
या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खनाभरुदितोक्षणमार्जनादौ ।  
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥

(१०।४४।१५)

‘व्रजकी सुन्दरियाँ धन्य हैं, जिनके चित्तपर श्रीकृष्ण सदा चढ़े रहते हैं। अतएव उनकी आँखें प्रेमाश्रुओंसे भरी रहती हैं, उनकी वाणी गद्गद हो जाती है और वे दुध दुहते, धान कूटते, दही मथते, घर लोपते, बालकोंको पलनेमें झुलाते, रोते हुआँको चुप कराते, घरोंको छिड़कते एवं बुहारते—सभी समय श्रीकृष्णके गुणोंका अनुरक्त मनसे गान करती रहती हैं।’

जगत्‌में चारों ओर विषय एवं भोग हैं, जो पहले अमृत-से मधुर और देवताओं-सरीखे सुन्दर लगते हैं, पर जो वस्तुतः विषपूर्ण और राक्षसवत् भयानक हैं। उनके वशमें कभी नहीं होना चाहिये। दिव्य चिदानन्दमय प्रभुका ही पवित्र स्मरण हो, उन्हींका ध्यान हो, उन्हींका सांनिध्य प्राप्त हो तथा विषय-विरक्ति और भोगोंसे उपरति निरन्तर बढ़ती रहे—यह प्रयत्न सावधानीसे करना चाहिये तथा इसीके लिये श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये।

हम वास्तवमें भगवान्‌के हाथके यन्त्र ही हैं—जिधर वे घुमाते हैं, उधर घूमते हैं। पर अहंकारवश मनुष्य अपनेको उनके हाथका यन्त्र न मानकर स्वतन्त्र इच्छा-कामना करता है, इसीसे दुखी होता है और इसीसे उसे यन्त्री भगवान्‌से विलग रहना पड़ता है। नहीं तो, यन्त्रीसे सदा ही उसका अति समीपका सम्बन्ध है। वस, यही होना चाहिये, यन्त्री प्रभु जिधर घुमायें, जैसे रखना चाहें, नचायें-सुलायें, हँसायें-रुलायें, घुमायें-बैठायें, नीचे डाल दें, ऊपर उठायें—जो चाहें सो करें—उसीमें उनके मङ्गलमय स्पर्शका अनुभव होता रहे, उनके स्मित-हास्यके दर्शन होते रहें। उनकी प्रेरणा ही हमारा स्वभाव, हमारे जीवनका स्वरूप बन जाय। न नरकका भय न स्वर्गकी इच्छा, न मोक्षका मनोरथ न बन्धनका दुःख। वस, उनकी मौजमें मौज। यही करना है, यही चाहना है। ऐसा हो जानेके बाद चाहना-करना-पाना कुछ रहेगा ही नहीं।



तुम्हारा यह मनोरथ बहुत अच्छा है कि 'भगवान्‌के निर्मल प्रेममें कभी कमी या रुकावट तो हो ही नहीं, वह उत्तरोत्तर नया बढ़ता ही रहे। भगवान्‌के श्रीचरणोंका चिन्तन ही सुखमय—आनन्दमय है। वह चिन्तन सदा अबाधगतिसे निरन्तर चलता रहे।' मैं भी हृदयसे यही चाहता हूँ। प्रभु तुम्हारी सभी चाह अवश्य पूरी करेंगे। तुम्हारा लक्ष्य परम श्रेष्ठ है तथा मनोरथ और भी उत्तम। तुम्हारे योग्य, वस यही कार्य है; उसे आनन्दपूर्वक करते रहो।

X

X

X

मनमें सांसारिक—इहलोक या परलोकके किसी भी सुखकी कामना नहीं करनी चाहिये। केवल भगवच्चरणोंकी प्रीति ही जीवनका उद्देश्य होना चाहिये और यह भगवत्प्रेम ही जीवन बन जाना चाहिये। रामचरितमानसमें श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान ।

जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥ (२।२०४)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ माने जाते हैं। कर्मी, विषयी, सुसुक्षु—सब इन्हींका चाह करते हैं। पर तुलसीदासजी कहते हैं, चाहते हैं—'जन्म कितने ही हों, पर प्रत्येक जन्ममें रामपदों मेरी रति रहे'—

चहौं न सुगति, सुमति, संपति कछु, रिधि-सिधि, विपुल बढ़ाई ।

हेतुरहित अनुराग राम-पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई ॥

( विनयपत्रिका १०३ )

प्रेमियोंकी यही स्थिति होती है। अर्थ-कामकी तो बात ही क्या, वे मोक्ष भी नहीं चाहते। वे केवल भगवत्प्रीतिके ही भिखारी, इसीके धनी होते हैं तथा उसीको अपना स्वभाव, उसीको ही अपना जीवन मानते हैं। अपनेको इसी आदर्शके अनुसार बनानेकी अनन्य इच्छा तथा चेष्टा करनी चाहिये। यही परम पुरुषार्थ है।

X

X

X

सचमुच तुम्हारा लिखना ठीक है—'संसारमें सुख है ही नहीं।' जिनको दूसरे लोग सुखी समझते हैं, वे भी दुःखकी आगसे जलते रहते हैं। संसारमें सुखकी आशा ही आन्ति है; क्योंकि संसारका प्रत्येक पदार्थ अपूर्ण तथा अनित्य है। सुख—सच्चा सुख एकमात्र नित्यसुख-परिपूर्णतम-सुखस्वरूप भगवान्‌में है, जो बाहरकी अनुकूल या प्रतिकूल, किसी भी स्थितिसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता। यहाँकी भीषण-से भीषण परिस्थिति भी उस सुखको जरा भी कम नहीं कर सकती और यहाँका बड़े-से-बड़ा सुख भी उस सुखके सामने नगण्य रहता है। वह सुख ही भगवदानन्द है, जो मन-इन्द्रियोंसे परे है, मन-इन्द्रियोंके अनुभवमें आनेवाले विषय-सुखसे सर्वथा विलक्षण और अतीत है। दिव्य मन तथा भगवदर्पित साधनोंके द्वारा ही उसकी उपलब्धि होती है। वह सुख दिव्य, पूर्ण, नित्य, भिन्नमय, इन्द्रियातीत, संसारके प्राणि-पदार्थोंके द्वारा अप्राप्त, अप्राप्य तथा केवल भगवत्स्वरूप होता है। वह सुख सदा हमारे पास है, हमारी सम्पत्ति है, हमारा स्वरूप है; क्योंकि भगवान्‌ हमारे हैं। उस सुखसे वह कभी वञ्चित नहीं होता, जो भगवान्‌के अपना तथा अपनेको भगवान्‌का मानता है। उस सुखमें वासना-कामनाकी गंदगीको जरा भी स्थान नहीं रहता। वह मधुर होते-हुए भी परम पवित्र होता है। संसारके रागसे रहित दिव्यरसके रसिक ही उस प्रेमस्वरूप सुखमें परिनिष्ठित होते हैं। इसीका संकेत करते हुए महात्मा गोकर्ण भागवत-माहात्म्य (अ० ४।७९) में कहते हैं—'वैराग्यरागरसिको भव भक्तिनिष्ठः ।—वैराग्य-रसके रसिक होकर भक्तिनिष्ठ हो जाओ।' ( पुराने पत्रोंसे संग्रहित )



## ध्यानका रहस्य

( लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती )

१—मनमें आये बिना कोई वस्तु भासती नहीं। मन के बिना चेतनका नहीं होता। इसको फिरसे समझ लें। केवल ज्ञानस्वरूप आत्मामें मन भासता है। मनमें वस्तु भासती है। चक्षुके द्वारा जिस वस्तुको अभी देख रहे हो अथवा जो पहलेकी देखी हुई है, वह वस्तु गन्ध, रस, रूप, स्पर्श अथवा शब्दका आश्रय हो सकती है या सबका सम्मिलितरूपसे आश्रय हो सकती है। अब आप ध्यान करनेके लिये चाहे गन्धके आश्रय एक मिट्टीके टुकड़ेको लें, रसके आश्रय जलको लें, रूपके आश्रय अग्निको लें अथवा एक पुष्प ले लें, जिसमें इन तीनोंके अतिरिक्त स्पर्श भी है, नेत्रवृत्तिके द्वारा वह पुष्प मनमें पहलेसे आया हुआ है या अब आ रहा है। चाहे कुछ भी हो, उसका रंग, रूप, आकृति, गन्ध, कोमलता, सीखपन—सब कुछ मनमें ही भास रहा है। पुष्पके दर्शनकी क्रिया मनमें ही सम्पन्न हो रही है। अब आप मन-ही-मन बंद आँख या खुली आँख उस पुष्पको देखिये। जहाँ पुष्प दीख रहा है, उस मनमें पुष्प बिना हुए भास रहा है। इस स्थानमें इतनी लंबाई-चौड़ाईका, इस रंग-रूप-आकृतिका, इस रस-गन्धका, इस नाम-वाला पुष्प इतनी देरतक दीखता रहा—यह सब केवल कल्पना है। मनमें दीखनेवाले फूलका न देश है न काल है, न आकृति है न भार है, न गुण है न विशेषता है। आपका मन ही है, जो फूलके रूपमें दीख रहा है। अब आप फूलको ऐसी दृष्टिसे देखिये कि फूलके कण-कणमें, क्षण-क्षणमें, रश्मि-रश्मिमें मन ही है। वस्तुतः फूल नहीं है, मन ही है। जब उस फूलके बिना आपका मन रह जायगा, तब वह अपनेको आपकी चेतनतासे पृथक् नहीं दिखायेगा। साकार मन

ही दीखता है, निराकार मन नहीं। निराकार मन चेतनसे अभिन्न होता है। इस स्थितिको रहने दीजिये, जबतक रहे। इसमें विषयावच्छिन्न चैतन्य और मन-अवच्छिन्न चैतन्यका भेद नहीं रहा। मनके चञ्चल होनेपर आपकी बुद्धि कहेगी कि आप चेतन हैं, आप मन हैं, आप फूल हैं, अर्थात् आपके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो आप ध्यानमें थे, वही आप व्यवहारमें हैं। यह केवल फूलका ध्यान नहीं है, आप किसी भी विषयका इसी प्रकार अनुसंधान करके ध्यानस्थ हो सकते हैं। इसका रहस्य यह है कि जहाँ वस्तुतः सर्प न हो और दीख रहा हो तो अवधान-पूर्वक देखनेसे वह लुप्त हो जाता है और उसका अधिष्ठान रह जाता है। इसी प्रकार चेतन अथवा मनमें जो वस्तु विद्यमान नहीं है, वह सावधान होकर ध्यान देनेपर अदृश्य हो जाती है।

२. आप किसी एक इन्द्रियपर, अथवा सब इन्द्रियोंपर ध्यान दीजिये। एक ही ज्ञान स्थानभेदसे भिन्न-भिन्न विषयोंको ग्रहण करता है। सभी गोलकस्थानीय हैं और वहाँ वासना-विशेषसे वासित ज्ञान ही इन्द्रियोंका काम कर रहा है। गन्ध-वासना, रूप-वासना आदि वासनाओं-के पृथक्-पृथक् होनेपर भी ज्ञान एक ही है। शीशेके रंग अलग-अलग, रोशनी एक। आप किसी भी वासनाके साथ प्रयोग करके देख लीजिये। वासनाओंका उदय-विलय होता है। वे अलग-अलग होती हैं। ज्ञान एक है। किसी वासनाको भी इतने गौरसे देखिये कि उसमें ज्ञान दिखे, ज्ञानसे अलग वासना न दिखे। दक्षिणाक्षिमें पुरुषका दर्शन कीजिये, अर्थात् इन्द्रिय-गोलक मत देखिये, तदुपाधिक ज्ञान देखिये। गोलक, वासना, वृत्ति—ये सब ज्ञानमात्र ही हैं।



सभी इन्द्रियोंकी यही दशा है। वे ज्ञानमात्र हैं। आप ज्ञानमात्र हैं। इन्द्रियोंका अलग-अलग दीखना बंद। केवल आप। ध्यानकालमें ही नहीं, व्यवहार-कालमें भी आप ही तत्त्व इन्द्रियों और उनके विषयोंके रूपमें भास रहे हैं।

३. दैहिक जीवनकी दृष्टिसे ही अन्तःकरण-बहिःकरणका भेद होता है। तात्त्विक जीवनमें इनका कोई सत्त्व-महत्त्व नहीं है। संस्क्रियाका नाम चित्त, विक्रियाका मन, अहंक्रियाका अहंकार और प्रक्रियाका नाम बुद्धि है। इनको क्रमसे खजाना, संकल्प, मैं-पना और निश्चय भी कह सकते हैं। यह समूचा 'अन्तःकरण'के नामसे प्रसिद्ध है। जब आप परमार्थका कोई आकार मनमें बनाते हैं, बुद्धिमें उसका निश्चय करते हैं, वह मैं ही हूँ—ऐसा सोचते हैं या शान्त होकर बैठ जाते हैं तो ये चारों स्थितियाँ अन्तःकरणकी ही होती हैं। ये चेतनसे प्रकाशित हैं, अर्थात् आप इनके द्रष्टा-साक्षी हैं। आपको द्रष्टा-साक्षी बनना नहीं है, होना भी नहीं है, केवल समझ लेना है कि आप असङ्ग-उदासीन, कूटस्थ-तटस्थ हैं। न आपको अन्तरमें घुसना है, न थोड़ी देरके लिये निष्क्रिय होना है, न दृश्यको देखने लगना है। ये सब अन्तर थोड़ी देरतक हैं और दृश्य तो आपकी दृष्टिकी चमक है। आप देखिये, कोई वस्तु ही नहीं है, दृष्टि ही है। जिस अन्तःकरणके पेटमें सब कुछ प्रतीत होता है, उसमें तो संस्कार-युक्त ज्ञान-रश्मियोंके अतिरिक्त और कोई पदार्थ ही नहीं है। वह अन्तःकरण-रूप

फिल्म आपमें आपसे ही प्रकाशित है। वस्तुतः आप ही हैं। अन्तःकरण और अन्तःकरणस्थ ईश्वर, जीव एवं देश-काल-द्रव्यात्मक जगत् बिना हुए ही भास रहे हैं। गम्भीरतासे देखनेपर फिल्म बिखर जायगी, केवल चेतन रहेगा; क्योंकि वह चेतनके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। अन्तःकरणकी फिल्ममें ही देश-काल-वस्तु-सब हैं, चेतनमें नहीं। आप स्वयं अखण्ड चेतन हैं।

४. अच्छा, आप इसपर दृष्टि डालिये कि आप अन्तःकरणके द्रष्टा उससे पृथक् हैं। अब यह देखिये कि अन्तःकरण और आपके बीचमें तीसरी कौन-सी वस्तु है। वह अन्तःकरणका अभाव है। वह भी दृश्य है। एक कार्यरूप—दृश्यरूप है, एक बीज-विरहित कारणरूप दृश्य है। अन्तःकरणमें जो चेतन है, वह 'जीव' है। अन्तःकरणाभावमें जो चेतन है, वह 'ईश्वर' है। आप भाव-अभाव दोनोंके ही द्रष्टा हैं। असलमें ये बीज और अङ्कुर क्या हैं। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणाभावावच्छिन्न चैतन्यमें भेद ही क्यों है? आप स्वयं साक्षी-चैतन्य हैं। इस भेदका कारण आपका अपनी ब्रह्मताका अज्ञान ही है, अर्थात् आप ही अभावावच्छिन्न 'ईश्वरचैतन्य' हैं और भावावच्छिन्न 'जीवचैतन्य' हैं। चैतन्यमें अवच्छिन्नता-अवच्छिन्नताका भेद नहीं है। अपने स्वरूपके ज्ञानमें भेदका लोप हो गया। ज्ञान भानका विरोधी नहीं है। भ्रमका विरोधी है। भेद और उसके अभावको भासने दीजिये। आपकी समाधि अखण्ड है, सहज है। आपके सामने सब केवल भास रहे हैं। आप अद्वय तत्त्व हैं।



## गीताका भक्तियोग-७

( पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या )

[ गताङ्क पृष्ठ ११४८ से आगे ]

श्लोक

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।  
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

भावार्थ

भगवान् कहते हैं—‘अर्जुन ! यदि तू कर्ममात्र मेरे लिये ही करनेमें भी असमर्थ है तो तेरे लिये यह आवश्यक नहीं कि तू यही साधन करे । मेरी प्राप्ति का एक साधन तुझे और बतलाता हूँ । वह यह है कि तेरी क्रिया का उद्देश्य स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, नीरोगता, अनुकूलता आदि इस लोकके और स्वर्ग-सुखादि परलोकके किसी भी पदार्थकी प्राप्ति नहीं होना चाहिये । दूसरे शब्दोंमें तू कर्मजन्य फलका सर्वथा त्याग कर दे और उसकी रक्षा भी कभी मत कर । अवश्य ही यह याद रखना चाहिये कि मन, इन्द्रियों एवं शरीरपर पूरा अधिकार हुए बिना कर्मजन्य फलका सर्वथा त्याग कठिन होगा । इसलिये तू आत्मवान् होकर सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग कर ।’

सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग भगवत्प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है । कर्मफलत्यागसे विषयासक्तिका नाश होकर मनुष्यको तत्काल ही भगवान्की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि विषयासक्ति ही मनुष्यको बाँधनेवाली है; इसका नाश होनेके बाद भगवत्प्राप्तिमें देर नहीं लगती ।

ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें भगवान्ने साधक भक्तके पाँच लक्षणोंके अन्तर्गत एक लक्षण ‘सङ्गवर्जितः’ पदसे उसको आसक्तिसे सर्वथा रहित बतलाया है । यहाँ इस श्लोकमें कर्मफलत्यागसे भगवान् सम्पूर्ण कर्मोंके फल-त्यागकी बात कहते हैं, जो संसारके प्रति आसक्तिके त्यागसे ही सम्भव है । इस ( सर्वकर्मफलत्याग ) का फल इसी अध्यायके १२वें श्लोकमें तत्काल परमशान्ति,

अर्थात् अपनी प्राप्ति बतलायी गयी है । मानो भगवान् यहाँ यह बतलाते हैं कि ‘मेरी भक्तिके एक लक्षणको पूरी तरह धारण करनेसे भी मेरी प्राप्ति हो जाती है ।’

अन्वय

मद्योगमाश्रितः, अथ, एतत्, अपि, कर्तुम्, अशक्तः,  
असि, ततः, यतात्मवान्, सर्वकर्मफलत्यागम्, कुरु ॥११॥

मद्योगमाश्रितः—( मेरे शरण हुआ ) मेरे योगके आश्रित हुआ ।

दसवें श्लोकमें भगवान्ने अपने लिये सम्पूर्ण कर्म करनेसे भगवत्प्राप्ति बतलायी । यहाँ इस ग्यारहवें श्लोकमें वे सम्पूर्ण कर्मोंके फलत्यागरूप साधनकी बात कह रहे हैं—ये दोनों ही साधन कर्मयोगके अन्तर्गत हैं । भगवान्के लिये समस्त कर्म करनेमें भक्तिकी प्रधानता होनेसे वह ‘भक्तिप्रधान कर्मयोग’ है और सर्वकर्मफल-त्यागमें केवल फलत्यागकी मुख्यता होनेसे वह ‘कर्म-प्रधान कर्मयोग’ है । इस प्रकार ये दोनों ही भगवत्प्राप्तिके साधन पृथक्-पृथक् हैं ।

‘मद्योगमाश्रितः’ पदका अन्वय ‘मद्योगमाश्रितः अथैतदप्यशक्तोऽसि’ के साथ करना ही उचित प्रतीत होता है; क्योंकि यदि इसका सम्बन्ध ‘सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु’ के साथ किया जाता है तो यहाँ भी भगवान्के आश्रयकी मुख्यता होनेसे यह भी भक्तिप्रधान कर्मयोग ही हो जायगा । ऐसी दशामें दसवें श्लोकमें कहे हुए भक्ति-प्रधान कर्मयोगके साधनसे इसकी भिन्नता नहीं रहेगी, जब कि दसवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें भगवान् भक्तिप्रधान कर्मयोग और कर्मप्रधान कर्मयोग दो भिन्न-भिन्न साधन बतलाना चाहते हैं ।



दूसरी बात यह भी है कि भगवान् ने यहाँ ग्यारहवें श्लोकमें 'यतात्मवान्' ( मन, बुद्धि, इन्द्रियों सहित शरीर पर जिसने विजय प्राप्त कर ली है ) पद भी दिया है, जिससे कर्मप्रधान कर्मयोगके साधनमें आत्मसंयमकी विशेष आवश्यकता दर्सायी गयी है। कर्मप्रधान कर्मयोगमें ही आत्मसंयमकी विशेष आवश्यकता है; क्योंकि आत्मसंयमके बिना सर्वकर्मफलत्याग होना असम्भव है। इसलिये भी 'मद्योगमाश्रितः' पदका सम्बन्ध 'अथैतदप्यशक्तोऽसि' के साथ लेना चाहिये, न कि सर्वकर्मफलत्याग करनेकी आज्ञाके साथ।

अथ—( यदि )

तू

पतत्—( इसको )

अपि—( भी )

कर्तुम्—( करनेमें )

अशक्तः—( असमर्थ )

असि—( है )

ततः—( तो )

यतात्मवान्—( जीते हुए मनवाला — अर्थात् मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके सहित शरीरको वशमें रखनेवाला )।

यहाँ इस पदसे भगवान् ने कर्मफलत्यागके साधनमें मन-इन्द्रियों आदिके संयमकी परम आवश्यकता दिखलायी है; क्योंकि इनका संयम होनेपर फलत्याग सुगमतासे हो सकता है। यदि ऐसे साधकके मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिका संयम नहीं होगा तो स्वाभाविक ही विषयोंमें आसक्ति होनेके कारण विषयोंका चिन्तन होगा, जिससे उसके पतनकी बहुत सम्भावना है ( गीता २। ६१-६२ )।

पाँचवें अध्यायके २५वें श्लोकमें—'यतात्मानः' पद तथा २६ वें श्लोकमें 'यतचेतसाम्' पद, छठे अध्यायके ७ वें श्लोकमें 'जितात्मानः' पद और इसी अध्यायके १४वें

श्लोकमें 'यतात्मा' पद मन-बुद्धि-इन्द्रियोंके सहित शरीरको वशमें किये हुए सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंमें आये हैं। सिद्ध भक्तोंके मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ आदि स्वाभाविक ही वशमें रहते हैं।

इसके विपरीत अठारहवें अध्यायके ४९वें श्लोकमें 'जितात्मा' पद, चौथे अध्यायके २१वें श्लोकमें 'यतचित्तात्मा' पद मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिको वशमें रखनेवाले साधकोंके लिये आया है।

१३। ७ में 'आत्मविनिग्रहः' पद भी इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु ( सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्याग कर )।

यज्ञ, दान, तप, सेवा और वर्णाश्रमके अनुसार जीविका तथा शरीर-निर्वाहके लिये किये जानेवाले शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंके वाचक यहाँ 'सर्वकर्म' शब्द हैं। सर्वकर्मफलत्यागका अभिप्राय स्वरूपसे कर्मफलका त्याग न होकर कर्मफलमें ममता, आसक्ति, कामना, वासना आदिका त्याग ही है।

कर्मफलको चार भागोंमें विभक्त किया जाता है—  
( १ ) प्राप्त कर्मफल—प्रारब्धके फलस्वरूप जैसा शरीर जो कुछ वस्तुएँ, प्राणी, धन-सम्पत्ति, जाति, वर्ण और अधिकार आदि प्राप्त है—ये सभी प्राप्त कर्मफलके अन्तर्गत हैं।

२—अप्राप्त कर्मफल—जो परिस्थिति भविष्यमें प्रारब्ध कर्मफलके रूपमें मिलती और बदलती रहेगी तथा जिसके मिलनेकी मनुष्य कल्पना कर सकता है, वह सब 'अप्राप्त कर्मफल' है।

३—इष्टफल—वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले कर्मोंका फल, जो कर्मोंके पश्चात् तत्काळ प्राप्यमान



हुआ दीखता है—वह 'दृष्ट कर्मफल' है । जैसे भोजन किया और वृत्ति हो गयी ।

४-अदृष्ट कर्मफल—वर्तमान जीवनमें किये जानेवाले कर्मोंका जो फल कालान्तरमें इस लोकमें और परलोकमें मिलनेवाला है, जिसके भोगका विधान अभी नहीं बना है—वह 'अदृष्ट कर्मफल' है ।

'सर्वकर्मफलत्याग'का अर्थ है—प्राप्त फलमें ममता न करना, अप्राप्त फलकी इच्छा न करना, दृष्टफलमें आश्रय, आसक्ति न रखना और अदृष्ट फलकी आशा, इच्छा न रखना ।

कर्मफलत्यागके साधनमें कर्मोंके स्वरूपसे त्यागकी बात नहीं कही गयी है, बल्कि कर्म करना अति आवश्यक है (गीता ६ । ३) । आवश्यकता है कर्मोंमें ममता, आसक्ति, कामना, वासना आदिके त्यागकी ही ।

कर्मफलत्यागके साधकको अकर्मण्य नहीं होना चाहिये । भगवान्ने दूसरे अध्यायके ४७ वें श्लोकमें कर्मप्रधान कर्मयोगीकी बात कहते हुए—'मा ते सङ्गोऽस्वकर्मणि' तेरी कर्म न करनेमें आसक्ति न हो—यह कहकर साधकके लिये अकर्मण्यताका निषेध किया है ।

अठारहवें अध्यायके ९वें श्लोकमें सात्त्विक त्यागके लक्षण बतलाते हुए भगवान्ने फल-आसक्तिको छोड़कर कर्म करनेको ही 'सात्त्विक त्याग' कहा है, न कि स्वरूपसे कर्मोंके त्यागको ।

फलत्यागपूर्वक क्रियाओंको करते रहनेसे क्रिया करने-का वेग शान्त हो जायगा और फलकी इच्छा न रहनेसे कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जायगा, अर्थात् साधक स्वतन्त्र हो जायगा ।

जिन साधकोंकी सगुण-साकार भगवान्में स्वाभाविक

श्रद्धा और भक्ति नहीं है—व्यावहारिक और लोकहितके कार्य करनेमें ही श्रद्धा और रुचि अधिक है, ऐसे साधकोंके लिये यह साधन बहुत उपयोगी है ।

दूसरे अध्यायके ४७वें श्लोकमें 'मा फलेषु कदाचन' पदोंसे, पाँचवें अध्यायके १२वें श्लोकमें 'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा' पदोंसे, छठे अध्यायके १ ले श्लोकमें 'अनाश्रितः कर्मफलं' पदोंसे, इसी अध्यायके १२वें श्लोकमें 'कर्मफलत्यागः' पदसे, अठारहवें अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' पदोंसे, ९वें श्लोकमें 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव' पदोंसे, ११वें श्लोकमें 'कर्मफलत्यागी' पदसे, १२वें श्लोकमें 'त्रिविधं कर्मणः फलम् भवति अत्यागिनाम्' पदोंसे और २३वें श्लोकमें 'अफलप्रेप्सुना' पदसे इसी भावमें कर्मोंके फलका त्याग करनेकी बात कही गयी है । इस फलत्यागके अन्तर्गत कर्मोंमें और फलमें ममता और आसक्तिका त्याग भी आ गया है ।

भगवान् जहाँ भी 'कर्मफलत्याग' शब्द देते हैं, वहाँ कर्मोंमें ममता-आसक्ति और उनके फलमें ममता-आसक्तिका सर्वथा अभाव बतलाते हैं । वे जहाँ कर्मफल-त्यागकी बात कहते हैं, वहाँ वे साथ-साथ आसक्तिके त्यागकी बात भी कहते हैं; जहाँ केवल फलत्यागकी बात कहते हैं, वहाँ आसक्तिके त्यागका आह्वान किया जाता है; क्योंकि भगवान्के मतमें आसक्ति और फलका त्याग पूर्णतया होनेसे ही कर्मोंसे सर्वथा सम्बन्धविच्छेद होता है । अठारहवें अध्यायके २२ श्लोकमें 'सर्वकर्म-फलत्यागम्' पद केवल कर्मफलकी इच्छाके त्यागके लिये आया है । कर्मोंमें ममता-आसक्तिके त्यागकी बात इसके अन्तर्गत नहीं आयी है । इसलिये वहाँ इस 'सर्वकर्मफलत्यागम्' पदमें वैसे पूर्ण कर्मफलत्यागका संकेत नहीं है, जैसे पूर्ण कर्मफलत्यागकी बात 'सर्वकर्म-फलत्यागम्' पदसे भगवान्ने यहाँ कही है । (क्रमशः)



## आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

सुख एकमात्र भगवान्‌में ही है, उन्हींको पकड़िये।

संसारमें बनना और बिगड़ना नित्य-निरन्तर चलता ही रहता है। जो चीज बनी है, वह नष्ट होगी ही, यह नियम बदलेगा नहीं; फिर भी मनुष्य इन्हींको पकड़े रहता है; इतना ही नहीं, तरह-तरहके पाप भी बढ़ोता रहता है। पाप होनेमें मुख्य हेतु यही है कि हमारी विषयोंमें सुखबुद्धि है। यदि विषयोंमेंसे सुखबुद्धि निकल जाय तो फिर पाप हो ही नहीं सकते। बुद्धि उलटी हो रही है, संतोंके अनुभूत वचनोंपर तथा स्वयं भगवान्‌के वचनोंपर विश्वास नहीं होता। संतलोग एक स्वरसे यह कह रहे हैं—‘विषयोंको बाहर निकाल फेंको, नहीं तो मारे जाओगे; पर मन इन बातोंको सुनकर भी नहीं सुनता; क्योंकि यदि वस्तुतः सुनता होता तो फिर विषयोंके लिये कामना क्यों होती? पर मन न माने, तो भी विषयोंका दुःखदायी परिणाम तो होकर ही रहेगा। महात्मा लोग उदाहरण देते हैं—एक संत जा रहे थे। रास्तेमें पड़ी हुई रुपयोंकी एक थैलीपर उनकी दृष्टि पड़ गयी। संत बहुत जोरसे भागे। वे भागते जा रहे थे कि उन्हें रास्तेमें दो सिपाही मिले। संतने कहा—‘भैया! इस रास्ते मत जाओ; डाइन बैठी है, खा जायगी।’ सिपाहियोंने उनकी बातपर ध्यान नहीं दिया—उनकी बात नहीं मानी। वे दोनों चलते-चलते वहाँ आये, जहाँ थैली पड़ी थी। दोनोंने सोचा—‘साधु ब्रह्माश्रम था; वह हमलोगोंको धोखा देना चाहता था और स्वयं किसीकी सहायता लेकर इस थैलीको उठा ले जानेके उद्योगमें था।’ दोनोंने रुपयोंको आधा-आधा बाँटना तय कर लिया; पर दोनों ही सोचने लगे कि ‘यदि मैं अकेला होता तो सभी रुपये मुझको मिल जाते। अब क्या उपाय करूँ?’ दोनोंने ही सोचा—‘यदि मेरा यह साथी किसी प्रकार

मर जाय तो फिर तो सब धन मेरा ही है।’ एकने सोचा—‘बंदूक पास है, गोली भरी है; बस, इसीसे इसका काम तमाम कर दूँ।’ यह सोचकर वह मौका ढूँढ़ने लगा। दूसरेने सोचा—‘मैं शहरमें जाता हूँ, वहाँसे भोजनके लिये मिठाइयाँ लेकर आऊँ और उसीमें संख्या मिला दूँ। मैं कह दूँगा कि मैंने खा लिया, तुम खा लो।’ यह सोचकर वह मिठाई खाने चला गया। इधर उसके साथीने सोचा—‘बस, ठीक है, बंदूक तैयार रखूँगा; जहाँ सामने दीखा कि गोली दाग दूँगा।’ उसका साथी मिठाईमें संख्या मिलाकर लौटा। इसने उसे दूरसे देखकर ही गोली दाग दी, वह बेचारा मर गया। यह आनन्दमें हँसने लगा। सोचा—‘अब क्या है, अब भरपेट भोजन करके यहाँसे चल दूँ।’ भोजन किया, पर भोजन करते ही संख्याके भीषण जहरसे उसके प्राण भी क्षणोंमें ही निकल गये। दोनों वहाँ मरे पड़े थे, थैली ज्यों-की-त्यों पड़ी रह गयी। थोड़ी देरमें संत लौटे। उन्होंने देखा और करुणाभरे स्वरमें कहा—‘ओह! इन दोनोंको ही यह डाइन खा गयी।’

यह तो कहानी है, पर असलमें संसारमें यही हो रहा है। भोगकी कामना सभीको नष्ट कर रही है। सुख पानेकी आशासे विषयोंका सङ्ग करते हैं, पर परिणाममें मिलता है—दुःख, मृत्यु। मोह इतना अधिक बढ़ गया है कि जब हम भगवान्‌को याद करते हैं, तब उनके सामने भी विषयोंकी ही गोंग पेश करते हैं। हम सबकी यही स्थिति है। अतएव हमेशा यह याद रखें—‘विषयोंमें लेशमात्र भी सुख नहीं है, सुख तो एकमात्र भगवान्‌में है।’ उन्हींको पकड़ें। सब छोड़कर भी यदि उन्हें पकड़ सकें, तो अवश्य पकड़िये। बस, उनको पकड़ना है, उनमें मनको प्रवेश करा ही



मोह-राज्यसे ऊपर उठनेकी तैयारी कीजिये ।  
आप मोह-राज्यसे ऊपर उठना चाहते हैं, पर  
उत्ते लिये कुछ तैयारी करनी पड़ती है । उस तैयारी-  
का पूर्वरूप क्या है ? इसे सूत्ररूपसे इस प्रकार  
समझना चाहिये—

(२) कामकी बात सोचनेके बाद बाकी समय उसी वृत्तियाँ भी भगवान्‌के चरणोंमें लगी रहें, इसके बिना प्रयत्न होता रहे ।

अकद्वय ३—

( ८ ) सबसे उत्तम बात तो यह है कि प्रभुसे कुछ भी न माँगे; पर जब मन किसी बातसे व्याकुल



हो जाय और नीचे गिरने लगे तथा माँगनेकी इच्छा हो जाय—कोई अभाव मादूम हो और उसकी पूर्तिकी उत्कट इच्छा हो, तब सच्चे मनसे, पूर्ण विश्वासके साथ उनके सामने ही मुँह खोलिये, और किसी भी दूसरे साधनका आश्रय मत लीजिये । सच मानिये, यदि उनसे माँगियेगा तो या तो माँगकी पूर्ति हो जायगी, या माँगकी पूर्ति हुए बिना ही आपके मनका दुःख मिट जायगा ।

—और भी बहुत-सी बातें हैं; पर यदि उपर्युक्त आठ बातोंको ही आप सचमुच पकड़नेकी चेष्टा करें तो थोड़े ही दिनोंमें आपमें विलक्षण परिवर्तन हो जायगा ।

**मनमें प्रिया-प्रियतमको बसा लीजिये ।**

बात तो केवल एक ही है—जैसे हो, जिस साधनसे हो, मनमें प्रिया-प्रियतमको बसा लें—मन प्रिया-प्रियतममें लीन हो जाय । उनके अतिरिक्त मनमें और कुछ रहे ही नहीं । सचमुच यदि यह हो गया तो सब कुछ हो गया और यदि यह नहीं हुआ तो कुछ नहीं हुआ । एक भक्तके इस पदपर ध्यान देना चाहिये—

बृंदावन बसि यह सुख लीजै ।

सात समय की महल टहल बिनु, इक छिन जान न दीजै ॥

परम प्रेम की रासि रसिक जे, तिन ही कौ सँग कीजै ।

निबिड निकुंज बिहार चारु अति सुरस सुधा दिन पीजै ॥

और भजन-साधनमें मिथ्या कबहूँ कान न छीजै ।

दिन दुलराइ-लड़ाइ दुहुन कों, अलबेली अलि जीजै ॥

**सच्ची इच्छा जाग्रत् कीजिये, काम हो जायगा ।**

‘प्रिया-प्रियतममें हार्दिक प्रेम कैसे हो, उनके दर्शनकी उत्कण्ठा कैसे उत्पन्न हो ?’ इन प्रश्नोंका उत्तर कोई क्या दे । सच्ची बात यह है कि ये बातें सर्वथा श्रीकृष्णकी कृपासे ही होती हैं । यह ठीक है कि उनकी अपार, असीम कृपा प्रत्येक जीवपर निरन्तर बरस रही है; पर जीव उनकी ओर, उनकी कृपाकी ओर न ताककर दूसरी ओर ताकता है—उनकी कृपाके बदले दूसरी वस्तु चाहता है । इसीलिये वह कृपा प्रकट नहीं होती और उपर्युक्त बात मनुष्यके जीवनमें प्रत्यक्ष नहीं होती । अतः सबके लिये सर्वोत्तम उपाय है सच्चे मनकी चाह लेकर उनकी कृपाको ग्रहण करने लग जाना चाहिये, फिर अपने-आप सभी बातें हो जायँगी । सच्ची चाह हुई कि काम हुआ । आप सोचकर देखें—ईमानदारीसे मन-ही-मन विचार करके देखें—आप जिन-जिन बातोंके सम्बन्धमें संत-महात्माओंसे पूछते हैं, उन-उनको क्या आप सच्चे हृदयसे चाहते हैं ? नहीं चाहते । यदि चाहते होते तो सच मानिये, आपको किसीसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं होती, वे भाव आपको प्राप्त हो जाते । ऐसा इसीलिये होता है कि श्रीकृष्ण आपके हृदयमें ही अन्तर्यामीरूपसे वर्तमान हैं तथा आपकी प्रत्येक शुद्ध सच्ची इच्छाको पूर्ण करनेके लिये तैयार हैं । अतः सच्ची इच्छा जाग्रत् करें । ‘मेरे मनमें वैराग्य कैसे हो, प्रिया-प्रियतमकी दयाका अनुभव किस उपायसे हो, उनके दर्शनकी प्रबल उत्कण्ठा कैसे हो’—इन बातोंकी सच्ची इच्छा जाग्रत् करें; बस, काम हो जायगा ।





## प्रार्थनाका मर्म

( महात्मा गांधीके भावोंके अनुसार )

प्रार्थनाका मर्म पूछा आपने  
और उसकी जरूरत पूछी—  
मुझे अच्छा लगा यह,  
परन्तु मनमें आपके अच्छा जगा यह;  
क्योंकि मैं तो प्रार्थनाको  
धर्मका आनन्द, सुख और सार—  
सब कुछ मानता हूँ ।  
पहचानता हूँ मैं कि यदि इस तरहको  
हम मर्म जीवनका बना लें  
तो विषम कोई परिस्थिति  
कर न पाये हमें विचलित;  
और आये भी कभी दुःख एक पलको,  
छोड़कर जाये हमें बलवान् पहलेसे ।  
लोग अपनी बुद्धिको निर्भ्रम समझकर  
कभी ऐसा कह दिया करते हैं—  
जीवनका, भला, भगवान्से सम्बन्ध क्या है ?  
धर्मका हमसे नहीं है वास्ता कुछ !  
यात कुछ ऐसी हुई यह,  
जिस तरह कोई कहे—  
मैं साँस लेता हूँ, मगर  
इस साँसका सम्बन्ध क्या है  
नाकसे या फेफड़ेसे !  
बुद्धि कहिये उसे,  
कहिये एक सहज प्रवृत्ति—  
हम जाने-अनजाने  
किसी कोई तत्त्व ऐसा मानते हैं  
जो हमें आधार देता है, चलाता है,  
कभी करता है नियन्त्रित गति हमारी,  
कभी देता है दिशा मानो अँधेरेमें ।  
परन्तु नास्तिक भी किसी सिद्धान्तका हमारी  
दुआ करता है ऐसा दृढ़  
कि उसको घना सुख मिलता है उसके अनुसरणमें;

और यह जो सुख उसे मिलता है  
अपने सत्यके अनुसार चलनेमें निरन्तर,  
तत्त्व उसमें मात्र भौतिक ही नहीं होता ।  
नास्तिकका भी  
परम आनन्द आखिर मानसिक है—  
और भी सोचें तो मनसे परेका है,  
आत्मिक है;  
आत्मिक सुख अन्ततो गत्वा  
सभीको चाहिये ।  
और मैं इसलिये कहता हूँ कि जो  
भगवान्में विश्वासके कायल नहीं हैं,  
धर्म वे भी मानते हैं,  
धर्म माने बिना जीना  
नास्तिकके बिना जैसे हवा पीना ।  
और अब मैं दूसरी एक बात कहता हूँ—  
प्रार्थना है सार जैसे धर्मका,  
वह जिंदगीका भी हमारी मर्म है;  
प्रार्थनामें कभी हम कुछ माँगते हैं,  
या कि फिर हम लौ लगाते हैं ।  
कभी परमात्मासे  
माँगना भी असलमें  
लौ लगाना है ।  
याचना भी करें हम तो करें अपनी शुद्धि ही  
घन अँधेरेके पड़े हैं आवरण जो  
या चकाचौंध अड़ी हैं बीचमें जो,  
आत्मा-परमात्माके  
सत्यको जो सामने होने नहीं देते—  
उन्हींको हटानेके लिये प्रभुसे लौ लगायें,  
हम जगायें तत्त्व-चिन्तनसे  
जिसे मूर्च्छित किया है मोहने या दम्भने  
या द्वेषने या क्रोधने,  
और थोड़ेमें कहें तो अहंने जिसको



नहीं जगने दिया है ।  
 जो तड़पता हो जगानेके लिये इस दिव्य लौको,  
 उसे फूँकनी चाहिये प्रभुके चरणमें प्रार्थना ।  
 किंतु करना प्रार्थना  
 व्यायाम कानोंका नहीं है,  
 जीभभर नाम रटना भी नहीं है,  
 प्रार्थनाका अर्थ कोई ।  
 राम नाम सहस्र जपिये,  
 लक्ष जपिये मन्त्र गायत्री;  
 अगर उससे नहीं मन शुद्ध होता,  
 हृदयकी हलचल नहीं रुकती,  
 नहीं थमता विचारोंका प्रबल प्रचण्ड झोंका,  
 गिरना बड़प्पनके अचल ऊँचे शिखरसे,  
 या नहीं हम भूलते हैं भान  
 अपनी दीनताका,  
 याद आते हैं हमें  
 प्रभु-चरणमें बैठे हुए भी  
 कष्ट अपने नित्यके  
 जो आत्माके नहीं—केवल देहके हैं,  
 तो हमारी प्रार्थनामें बल नहीं आया समझिये;  
 व्यर्थ है वह प्रार्थना, आचार केवल ऊपरी है ।  
 हृदय जिनमें ओत-प्रोत हुआ नहीं है,  
 शब्द वे निःशब्द हो जायें,  
 हृदयमें हो विकलता,  
 और हार्दिक प्रार्थनामें  
 आत्मा फिर लीन हो जाये,  
 झरे आनन्दका झरना,  
 विचरना बंद हो जाये विचारोंका निरर्थक ।  
 कभी क्षण ऐसे मिलेंगे  
 और फिर अनुभव-कमल ऐसे खिलेंगे—  
 एक क्षण भी प्रार्थनाके बिना रहना  
 असम्भव लगने लगेगा ।

आप कह सकते हैं सुनकर यह  
 कि तब तो हमें जीवनमें प्रतिक्षण  
 प्रार्थनामें लगे रहना चाहिये ।  
 है यही आदर्श सचमुचः किंतु  
 मोहोंसे घिरे हम  
 एक क्षण भी यदि किसी दिन  
 नियत अपनी प्रार्थनाकी घड़ीमें  
 तम या किरणके आवरणसे मुक्त होकर  
 ज्योति पा लें  
 तो प्रतिक्षण निरत रहकर काममें हम दूसरोंके  
 प्रार्थना ही कर रहे हैं ।  
 और फिर भी सूर्य  
 जैसे नियमके अनुसार  
 आता और जाता है,  
 प्रार्थनाके नियत क्षणमें  
 नित्य सेवासे विरत  
 प्रभुके चरणमें लीन हों हम ।  
 काम अपने प्रार्थनासे ही शुरू हों  
 और उनका विलय भी हो प्रार्थनामें ।  
 रूप क्या हो प्रार्थनाका यह अवान्तरः  
 आप चुप हैं  
 या कि कोई मन्त्र मुँहसे बोलते हैं—  
 यह नहीं है मुख्य;  
 मनकी शान्ति, निष्ठाभावना ही  
 मुख्य इसमें ।  
 चित्तवृत्ति-निरोध ऐसा—  
 रातको सोयें तो जैसे  
 लीन हुए समाधिमें हम;  
 और खोली आँख तो  
 जैसे परम आनन्दमें  
 विकसित हुए हैं ।

—भारतनारी से सम्बन्ध



# मानसिक संतोष और शान्तिका उपाय

## [ दूसरोंसे तुलना करनेकी मानसिक निर्बलतासे सावधान ! ]

( लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी० )

‘डॉ० अग्रवालके पुत्रोंको देखो, एक-से-एक कुशाग्र और आवारा हैं। सब-के-सब निरन्तर बिना सहारे उन्नति करते नले जा रहे हैं। कोई श्रूयशन नहीं, कोई कहनेवाला नहीं ! दूसरी ओर हम-जैसे पूँजीपतिके पुत्र हैं, जिन्हें पढ़ने-लिखने-की सारी सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं, धन-सम्पत्ति है, किंतु हमारे वच्चे पथरकी शिलाकी तरह जहाँ-के-तहाँ पड़े भाग्यको कोस रहे हैं। हमारे तो भाग्यमें ही ऐसे कुपुत्र बदे थे। भला, ये क्या तो अपना भविष्य बनायेंगे और क्या हमें निहाल करेंगे।’—पिताने निराशाके स्वरमें कहा।

माता भी झींक रही थी। वह अपने वच्चोंकी आवारा-गर्दीपर परेशान थी। खीज-भरे स्वरमें बोली, ‘अब इस पड़ोसिन सरस्वतीके पुत्रको ही देखो न। उसके बेटे अनिलने व्यापारमें कितनी तरक्की कर ली है। मामूली हैसियतके घरके होते हुए आज वारे-न्यारे कर दिये हैं। वह कैसी शानदार कोठी बनायी है। उसकी शान ही निराली है, स्कूटरपर बैठा फिरता है। घरमें लक्ष्मीकी कृपा है। दूसरी तरफ हमारे साहिबजादे हैं, जिनकी दूकानपर ग्राहक भूलकर भी नहीं आता। शामतक जो बिक्री होती है, उसमें दूकानका किरायातक नहीं निकाल पाते !’

आप इस प्रकार अपने वच्चोंकी तुलना दूसरोंसे करके दुखी और असंतुष्ट रहते हैं। यह तुलना आपको कोई लाभ नहीं देती, उल्टे आपकी उत्पादक और सृजनात्मक शक्तिको क्षीण करती है। इस तुलनासे पैदा हुई परेशानीके नाना रूप हो सकते हैं—

अमीरीके सङ्गमें रहती हुई रईसीका स्वप्न देखती हुई गरीबीकी पत्नी कहती है, ‘कैसा फूटा भाग्य है मेरा ! मैं सारे दिन घरका काम-काज, झाड़ू-बुहारू करती रहती हूँ, वच्चोंकी चिछल-पों सहती हूँ, जब कि लाला हरदयालकी पत्नी आनन्दपूर्वक पंखेके नीचे बैठी बस, नौकरीपर हुक्म ही चलाती रहती है। उसके मुँहसे आशा निकली कि पूर्ण हुई। यहाँ वर्तन मॉजनेका काम भी खुद ही करना पड़ता है।’ आप अपनी तुलना ऊँचे और अमीर व्यक्तियोंसे करते

हैं, तो अपनेको नीचा और साधनहीन पाकर परेशान हो उठते हैं। आप अपनी पत्नीकी तुलना दूसरोंकी अपेक्षाकृत अधिक पढ़ी-लिखी, सुन्दर पत्नीसे कर बैठते हैं। फिर उसे मामूली और गिरी हुई पाकर असंतुष्ट और विक्षुब्ध होते हैं, ‘कमलाशंकरकी पत्नी एम्० ए० पास है, संगीतमें पारंगत है, क्लव-गोष्ठोंमें कोकिलकी तरह कुहकती रहती है, जब कि हमारी पत्नी तो बस, भोजन पकाना, वस्त्र धोना और घर-गृहस्थी-का मोटा काम ही जानती है। ऐसी गाँवकी औरतके साथ रहकर तो जिदगी बरबाद हो गयी है।’ यह तुलना आप मन-ही-मन करते रहते हैं और मनमें परेशान बने रहते हैं।

तुलना करनेसे जो परेशानी पैदा होती है, उसका अन्त नहीं। एक व्यापारी दूसरेके व्यापारको श्रेष्ठ बतलाता है। एक विभागका कर्मचारी दूसरेके विभागको अच्छा बतलाता है। इन्जीनियर कहता है कि आजकल डाक्टरोंकी चाँदी है। उधर डाक्टर कहते हैं कि हमारी जिंदगी तो बस कश्मकश और भाग-दौड़से भरी है। सारे दिन मरीज खोपड़ी खाये जाते हैं। हमसे तो ये अध्यापक, प्रोफेसर अच्छे हैं, जो आरामसे दो-दो महीनेकी छुट्टियाँ उड़ाते हैं। बस, तीन घंटे विद्यार्थियोंको बहकाया और मौज मारी। वकीलोंकी ऊँची-ऊँची गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ खड़ी होती चली जा रही हैं। धनके अटूट महल खड़े हो गये हैं। वकीलोंका पेशा सबसे अधिक आमदनीका पेशा है। उधर वकीलोंकी शिकायत है, ‘घट् तेरी वकालतकी ! सारे दिन अपराधियोंसे ही पाला पड़ा रहता है। चोर, डकैत, कातिल, खूनी, आवारा, जेबकट, बदमाश सभी इर्द-गिर्द रहते हैं। सारे दिन मुकदमोंके सबूत इकट्ठे करने और गवाहोंको सिखानेमें ही बीत जाता है। कचहरियोंमें सारे दिन दौड़-धूप करते फिरना पड़ता है। कभी पुलिसवालोंकी, तो कभी अदालतमें काम करनेवाले छोटे-छोटे कर्मचारियोंकी जी-हुजुरी करनी पड़ती है। वकालत तो सबसे गया-बीता पेशा है।

इस प्रकार किसी-न-किसी दृष्टिसे, किसी-न-किसी रूपमें हम अपनेसे बड़े-चढ़े लोगोंसे अपनी तुलना करते हैं। उन्हें अच्छा और बेहतर समझते हैं। उनके जीवनका उजला



पहलू ही देखते हैं और अपनेको छोटा, साधारण या गिरा हुआ पाकर विशुब्ध रहते हैं ।

अपनेसे ऊँची स्थितिवाला आदमी ही हमारी उत्सुकताका केन्द्र रहता है । उसके भी जीवन और व्यवसायका हम उजला पहलू ही देखते हैं और अपनी मजबूरियों और बेबसीको पाकर मन-ही-मन कष्टका अनुभव करते हैं । तुलनामें अपने-आपको गिरा हुआ पाकर अपने-आपको अपूर्ण और दीन-हीन समझते रहते हैं ।

यह तुलना करनेकी भावना हमारे व्यक्तित्वमें हीनत्वकी भावनाके काँटे बो देती है । जो तुलना आपको पङ्खु कर दे, विकासके मार्ग ही रोक दे और कार्यकुशलता ही नष्ट कर दे, वह अहितकर है । यदि तुलना आपका उत्साह, क्रियाशीलता, ऊँचा उठनेकी कामना, बड़ा बननेका चाव या तरक्की करनेकी क्षमताको नष्ट करती है, तो वह हर प्रकारसे त्याग देनेयोग्य है । यह मनुष्यको हतोत्साह करनेवाली चिन्ता है । बार-बार अपनेको नीचा गिरानेवाली तुलनासे आपकी तमाम उच्च शक्तियाँ मारी जाती हैं ।

हीनत्वकी भावनाको जगानेवाली और न उन्नति करने देनेवाली तुलनासे बचिये । यदि आप सदा अपनेसे बड़े-चढ़े व्यक्तियोंसे ही तुलना करते जायँगे और किसी-न-किसी दृष्टिसे उन्हें अपनेसे सदा श्रेष्ठ ही मान हतोत्साह होते जायँगे, तो एक दिन जहाँ-के-तहाँ ही पड़े रहेंगे । जिंदगीमें आगे न बढ़ने पायँगे । मनको परेशानकर जहाँ-की-तहाँ खड़ी रखनेवाली तुलनासे बचिये ।

यह समाज प्रयत्न करनेवालोंके लिये खुला है । जो किसी भी क्षेत्रमें तरक्की करना चाहते हैं, उनके लिये सैकड़ों साधन जुट सकते हैं । दूसरोंको बड़ा समझते रहनेमात्र-से अपने प्रयत्नोंको ढीला करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

कोई किसी दृष्टिसे आगे है, तो दूसरा किसी अन्य दृष्टिसे । एक शारीरिक शक्तिमें बढ़ा-चढ़ा है, तो दूसरा मानसिक ताकतमें आगे है । एक आर्थिक दृष्टिसे उन्नति कर रहा है, तो दूसरा नैतिक और आध्यात्मिक तरक्की कर रहा है, तीसरा व्यापारमें बढ़ता जाता है । सबके क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं । साधन पृथक्-पृथक् हैं । आदर्श अलग-अलग हैं ।

तुलनासे परेशान होनेकी हीन प्रवृत्तिसे बचनेके लिये

एक बहुमूल्य स्वर्णसूत्र है । इसमें इन्द्रित अनुभवसे लाभ उठाना चाहिये—

प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां  
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥

अर्थात् सृष्टि-रचयिता ईश्वरका स्वभाव मनुष्योंमें पाये जानेवाले सब गुणों अथवा सब विशेषताओंको एक ही स्थानमें एकत्र करनेके विरुद्ध है । वे कहीं कुछ रचते हैं तो कहीं कुछ और ! कहीं एक गुण है, तो कहीं उसके विपरीत दूसरा ही ! सबके गुण, कर्म, स्वभाव, रुचि, प्रवृत्ति, अलग-अलग ! कहींपर भी ये सब गुण एक ही जगह इकट्ठे नहीं हैं ।

अतः आप तुलना करके अपनेको दीन-हीन समझ परेशान न हुआ करें । दूसरोंसे अपनी तुलना करें, तो उन्नतिकी बात सोचें । उनके समान बननेका प्रयत्न करें ।

यदि कोई व्यापारी अपनेसे ऊँचे व्यापारीके गुण सीखनेकी दृष्टिसे, या कोई विद्यार्थी अपनेसे कुशलग्रन्थि विद्यार्थीसे, एक कारीगर अपनेसे कुशल कारीगरसे कुछ अच्छी ऊँची लाभदायक बात सीखनेके लिये तुलना करता है, तो वह लाभदायक है ।

श्रीकन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने बड़े ही महकते हुए शब्दोंमें जीवनका नवनीत प्रकट कर दिया है—'जीवनका सच्चा पथ यह नहीं है कि जो आज हमें प्राप्त नहीं है, उसके लिये रोते रहें । जीवनका सच्चा पथ यह है कि प्रयत्न या योगसे जो हमने पा लिया है, उसे पहिचानें, उसे अपने अनुकूल बनायें, उसमें रस लें और संतोषका सुख पायें ।'

'सब कुछ अधूरा हमें मिला, सब कुछ पूरा दूसरोंको'—यह सृगतृष्णा है, जीवनका दिग्भ्रम है ।

जीवनका सबसे बड़ा सत्य है—अपूर्णता ।

मैं, तुम, वे, सब अपूर्ण, अपनेमें सब अधूरे; इस अपूर्णताका समन्वय, इस अधूरेपनका सदुपयोग ही जीवन की सबसे बड़ी कला है ।

अपनेसे ऊँचों, बड़ों, अमीरोंसे तुलना करके आत्महीनता और ईर्ष्याकी अग्निमें भत जलिये । ऊपर चढ़ने और अच्छा बननेकी कोशिश कीजिये ।





# पिताका कर्ज

( लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया )

राजस्थानमें चूल्ह एक पुराना कस्बा है। आजसे सवा दो-तीन सौ वर्ष पहले यहाँ एक प्रतिष्ठित वैश्य-परिवार रहता था, जिसका मालवामें बड़े पैमानेपर व्यापार था। जब अंग्रेजोंको लेकर ब्रिटेन और चीनका युद्ध हुआ तो इनको बाटा लगा गया, काम बंद हो गया और देनदारी रह गयी।

इसके बाद परिवारके स्वामी सेठ उजागरमलको घरके तहर निकलते कभी नहीं देखा गया। कभी-कदाच कोई आदमी उनसे मिलने भी गया तो उनका चेहरा नहीं देख पाया; क्योंकि वे अपना मुँह चद्दरसे ढके रहते थे। इसी शोकसे छोटी उम्रमें ही उनका देहान्त हो गया। परिवारमें उनकी विधवा पत्नी और १३ वर्षका पुत्र रामदयाल रह गये।

गहना और जमीन-जायदाद बेचकर उजागरमलने अपना बहुत-सा कर्ज तो चुका दिया, फिर भी मरनेके समय कुछ ऋण बाकी रह गया था। अन्तिम समयमें उन्होंने पत्नी और पुत्र रामदयालको एक कागज दिया, जिसपर कर्जदारोंके नाम और रकमें लिखी थीं। पुत्रको उनका अन्तिम आदेश था कि मेरी आत्माको तभी शान्ति मिल पायेगी, जब किसी दिन तू यह कर्ज ब्याजसमेत चुका दोगे।

दो वर्ष बाद रामदयालका विवाह हुआ। इस मौकेपर विधवा माँने थोड़ा-बहुत कर्ज लेकर पूरी बिरादरीको न्यौता दिया। बहूकी अगवानीके समय किसीने ताना कस दिया कि आपका कर्ज तो चुका ही नहीं और विवाहमें इतनी धूमधाम है! किशोर रामदयालको यह बात चुभ गयी। विवाहके खान-दोरे खुल भी नहीं पाये थे कि उसने सुदूरपूर्व असम जानेका निश्चय कर लिया। माँ और पड़ोसियोंने रामदयालको बहुत समझाया कि कुछ दिन ठहर जाओ और थोड़े बड़े हो जानेपर चले जाना। पर उसने किसीकी भी न सुनी और शीत-विलखती माँ और बालिका बहूको छोड़कर, कुछ लोगोंके साथ जो पूर्वकी यात्रापर जा रहे थे, वह भी चल पड़ा।

उस समय असमकी यात्रामें तीन-चार महीने लग जाते थे। ट्रेन कलकत्तेसे कानपुरतक ही बनी थी। राजस्थानसे कानपुर जानेमें २५-३० दिन लगते थे। कलकत्तासे नौकामें बैठकर असम जानेमें भी डेढ़-दो महीने लग जाते थे। रास्तेमें गंगा नदी पड़ती थी, जिसके तेज बहावमें कभी-कभी नौकाएँ

डूब भी जाती थीं। इसके सिवा जल-दस्युओंका भी डर बना रहता था, इसलिये कई आदमी एक साथ मिलकर और पूरा बंदोबस्त कर असम-यात्रापर जाते थे। एक बार जाकर लोग ८-१० वर्षकी मुसाफिरी करके लौटते थे। रास्ते इतने संकट-मय थे कि बहुत-से लोग तो वापस ही नहीं आ पाते थे। यात्राके समय रामदयालके पास संवल-स्वरूप एक धोती, एक लोटा, कुछ चना-चवैना था और था दृढ़ विश्वास एवं हिम्मत।

असमकी आवहवा बहुत ही नम रहनेके कारण, वहाँ मलेरिया और काल-ज्वरका प्रकोप बना रहता था। पर व्यापारमें गुंजाइश थी, इसलिये लोग पानीकी जगह चाय पीकर रहते थे। बुखार हो जानेपर दवाईयाँ खाते रहते थे। कुनैनका तो उस समयतक आविष्कार ही नहीं हुआ था।

रामदयालको राजस्थानसे तिनसुकिया ( असम ) पहुँचनेमें चार महीने लग गये। वहाँ जाकर उसने कपड़ेकी फेरीका काम शुरू किया। सुबह कंधेपर कपड़े लादकर गाँवोंमें निकलता और शामको एक या दो रुपया कमाकर अपने डेरेपर वापस आ जाता।

इस समयतक वहाँ मारवाड़ियोंकी कुछ दूकानें हो गयी थीं और यह आम-रिवाज था कि नया आया हुआ कोई भी व्यक्ति निस्संकोच उनके बासेमें खाना खा सकता था। जब अच्छी कमाई होने लगती तो अपनी अल्ला व्यवस्था कर लेता। इसके सिवा पहलेसे बसे हुए मारवाड़ियोंसे व्यापारमें भी वाजिब सहायता और प्रोत्साहन मिलता रहता था। रामदयालको इनका पूरा सहयोग मिला।

कड़ी मेहनत और ईमानदारीसे दस वर्षोंमें उसने इतना रुपया कमा लिया, जिससे वह अपने पिताका पूरा कर्ज ब्याजसहित चुका सका। वर्षमें एक-दो बार किसी पड़ोसीसे लिखाया हुआ माँका पत्र मिल जाता, जिसमें देश आनेका तकाजा रहता था। उन दिनों बेचारी पत्नी तो पतिको पत्र देनेका साहस ही नहीं कर सकती थी।

इसी प्रकार ६-७ वर्ष और व्यतीत हो गये। इस बीचमें रामदयालके पास ४०-५० हजारकी पूँजी हो गयी और अपनी निजकी दूकान भी। एक दिन अचानक ही पत्र



मिला कि उसकी माँ सख्त बीमार है और अन्तिम समयमें उसको देखना चाहती है ।

अपनी दूकानकी सारी व्यवस्था मुनीमोंको सौंपकर वह देशके लिये रवाना हुआ और जैसे आया था, उसी प्रकार तीन महीनेमें भिवानी पहुँचा । इस समयतक रेल कानपुरसे भिवानीतक बन गयी थी । असम आते वक्त तो रुपयोंके अभावमें रामदयाल अपने घर ( राजस्थान ) से पैदल ही कानपुरतक आया था, पर अब उसकी स्थिति अच्छी हो गयी थी, इसलिये भिवानीसे ऊँट किरायेपर लेकर वह अपने गाँवके लिये रवाना हुआ । १६-१७ वर्षके लंबे समयके बाद वह राजस्थान लौट रहा था । हरी-भरी उपजाऊ असमकी भूमिसे उसका इतना सांनिध्य हो गया था कि इस रेतीली मरुभूमिको एक प्रकारसे भूल-सा गया था । परंतु जैसे ही उसने बड़े-बड़े टीलों और उनकी चमचम करती हुई बालूको देखा तो उसे अपने बचपनके दिन याद आ गये, जब वह इनपर हम-उम्र संगी-साथियोंके साथ खेलता और लोटता था । उसका मन हुआ कि ऊँटपरसे इसी दम उतर पड़े और एक बार फिर जी भरकर इस रेतका आलिङ्गन करे ।

चार दिन बाद एक सुबह जब वह अपने गाँवकी काँकड़ ( किनारे ) पर पहुँचा तो देखा कि कुछ व्यक्ति एक सधवा स्त्रीकी अर्थी लिये हुए जा रहे हैं । रामदयाल १६-१७ वर्षके बाद गाँव लौटा था, इसलिये न तो वह किसीको पहचानता था और न कोई उसे ही । अर्थीके साथ जा रहे लोग आपसमें बातें कर रहे थे कि इस बेचारी ( मृत-महिला ) ने जीवनमें देखा ही क्या ? १७ वर्ष पहले पति ब्याह होते ही परदेश चला गया, जो अभीतक वापस नहीं लौटा । एकमात्र सासका

सहारा था । वह भी तीन महीने पहिले इसे सदाके लिये छोड़ गयी ।

रामदयालके मनमें कुछ आशङ्का और जिज्ञासा हुई और उसने लोगोंसे पूछा तो पता चला कि यह तो उसकी अपनी पत्नीकी ही अर्थी है ।

जिस वात्सल्यमयी माँ और पत्नीसे मिलनेकी आकांक्षा लिये वह आया था, वे दोनों ही अब नहीं रहीं । जो कुछ शेष रहा, वह था गाँव-पड़ोसके लोगोंके कटु वचन और निन्दा-स्तुति । रामदयाल बिना किसीको अपना परिचय दिये उल्टे पैरों चुपचाप वापस लौट गया । उसका पैतृक मकान अभी भी था; परंतु सूने मकानमें जानेकी हिम्मत नहीं हुई । परंतु इतने बड़े संकटमें भी उसे सबसे बड़ा संतोष और सहारा इसी बातका था कि उसने अपने पिताका सारा कर्ज ब्याजसहित चुका दिया था ।

रामदयालके पिताने उसे केवल एक कागज दिया था, जिसपर लेनदारोंके नाम और रकमें लिखी थीं । उस समय न तो स्टाम्पके कागजपर ही कर्जकी लिखा-पढ़ी होती थी और न कोई गवाह या जामिन ही होते । परंतु वे लोग सबसे बड़ी लिखा-पढ़ी और गवाह-जामिन तो ईश्वरको मानते थे और पिता-पितामहका कर्ज चुकाये बिना सार्वजनिक उत्सवोंमें भी कभी-कदाच ही शामिल होते थे । इस बातके अनेक उदाहरण मिलेंगे कि ३०-४० वर्ष बादतक पुत्र और पौत्रोंने अपने पिता और पितामहका कर्ज चुकाया है ।

यही कारण है कि हालके वर्षोंतक हमारे पूर्वजोंके विना मात्राके हरफोंमें लिखे बही-खातोंकी अश्रुतमें साख और इज्जत थी ।

## ‘प्रीतम ! तू मोहि प्रान तें प्यारौ’

प्रीतम ! तू मोहि प्रान तें प्यारौ ।

जो तोहि देखि हियँ सुख पावत, सो बड़ भागनिवारौ ॥

तू जीवन-धन, सरवस तू ही, तुही दगन कौ तारौ ।

जो तोकोँ पल भर न निहारूँ, दीखत जग अँधियारौ ॥

मोद बढ़ावन के कारन हम मानिनि रूपहि धारौ ।

‘नारायन’ हम दोउ एक हैं, फूल सुगंध न न्यारौ ॥

—श्रीनारायणस्वामीजी



# इहलोककी अलौकिकता

( लेखिका—श्रीमती मदालसा देवी अप्रवाल )

यह विश्वका अद्वितीय स्वरूप है, जिसकी शल्लक हमें प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वम्' इत्यादि प्रार्थना-मिलती है। इसका मतलब है—

मैं प्रातः उस आत्मतत्त्वका स्मरण करता हूँ, जो मेरे हृदयमें अपने-आप संस्फुरित होता है, जिसके लिये मुझे कुछ सोचना नहीं पड़ता, बल्कि जो मेरे मनस-सरोवरमेंसे अपने-आप तरङ्गित होता है। उस अजरामर आत्मतत्त्वका मैं प्रातःकालमें स्मरण करता हूँ। दूसरे शब्दोंमें मेरे हृदयमें जो आत्मतत्त्व भरा हुआ है और प्रातःकालीन आह्लादक समय-में प्रकृति माताकी प्रेरणासे जो अपने-आप तरंगित हो उठता है, उसीका मैं स्मरण करता हूँ। याने अपने मनमें ही मैं ब्याल करता हूँ—देखो, मेरे अन्तर्हृदयमें यह कैसी स्मृति अपने-आप स्फुरित हो रही है, इसे आन्तरिक रूपसे कौन संस्फुरित करता होगा ?' यह सोचकर इससे प्रेरणा प्राप्त करनेका मैं प्रयत्न करता हूँ। यही 'प्रातः स्मरामि' का भावार्थ है।

परमात्माने सृष्टिकी रचना की, उसी समय सचराचर जगत्के साथ अपना आत्मसम्बन्ध कायम रखनेकी यह कैसी अद्भुत व्यवस्था कर दी है। विश्वका कोई विशिष्ट व्यक्ति अगर चाहे, तब भी परमपिता परमात्मासे वह अपनेको वियुक्त याने अलहदा रख ही नहीं सकता। यही विश्वका अलौकिक विधि-विधान है।

संतशिरोमणि श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसके ६। १६। १में बहुत ही उत्तमतासे यह समझाया है कि—

रसर अंस जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुख रासी ॥  
अर्थात् विश्वका हर व्यक्ति विश्वेश्वरका ही अंश है। इसीलिये वह अविनाशी याने अजर-अमर है। परमपिता परमात्माके समान वह चैतन्यस्वरूप तेजोमय है। जो मानवमात्रकी चित्—चेतनाको सदा सचेत रखता है, वह अमर है। अर्थात्—

'तद् ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः' के रूपमें वह 'हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वम्' 'स्वयं सत्यं शिवं सुन्दरम्' रूपसे है। इतना ही नहीं, वह 'सहज सुखराशि' भी है। पुण्यमि माता पृथ्वीके माथेपर बड़े हुए पापका भार

उतारनेके लिये देवताओंके द्वारा सामूहिक रूपसे परमेश्वरकी जो स्तुति की गयी है, उसका वर्णन रामायणके बालकाण्डके दोहा १८५ के छन्द १में इस प्रकार आता है—

जय जय सुरनायक जनसुखदायक प्रनतपाल भगवंता ।  
गो द्विज हितकारी जय असुरासी सिंधुसुता प्रिय कंता ॥  
पालन सुर घरनी अद्भुत करनी मरम न जानइ कोई ।  
जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई ॥

इसमें भगवान्की सुखदायकताका कितना सुखद स्वरूप प्राप्त होता है। इसके आगे 'मम उर सो वाली' के रूपमें भी प्रभुका स्मरण किया गया है। यहाँ 'मम उर सो वाली' जिसके सम्बन्धमें कहा गया है, वही तो 'हृदि संस्फुरदात्म-तत्त्वम्' है। उसके लिये 'श्रीविष्णुसहस्रनाम' के महात्म्य-में लिखा है—

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात् ।  
विसुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ॥

यानी 'जिसके स्मरणमात्रसे मनुष्य इस संसारके जन्म-मरण आदि बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है, उन विष्णुदेवको, जो हर व्यक्तिके हृदयमें विश्वव्यापक विष्णुरूपसे प्रति-भासित हैं, हम नमस्कार करते हैं।'

यही बात 'प्रातः स्मरामि' के आगेके तीसरे श्लोकमें इस तरहसे अभिव्यक्त होती है।

'प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णं  
पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।'

अर्थात् 'मैं प्रतिदिन प्रातःकाल नमस्कार करता हूँ उन्हें, जिनका सूर्यके समान परम उज्ज्वल वर्ण है, जो सनातन पद 'पूर्णोत्पूर्णम्' की तरह परिपूर्णरूपसे सदा भरा-पूरा रहता है और जिसे 'पुरुषोत्तम' कहा जाता है।' उनको हम रोज सुबह उठते ही प्रणाम क्यों करें ? यह सवाल यहाँ उठता है। इसका खुलासा श्रीमद्भगवद्गीतामें 'पुरुषोत्तमयोग' नामक पंद्रहवें अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें 'श्रीकृष्णभगवान्ने स्वयं बहुत ही उत्तमतासे किया है। साथ ही अपना पूरा परिचय भी उन्होंने इसी श्लोकमें अच्छी तरहसे दे दिया है। वह श्लोक है—



सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो

मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो

वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

इसमें सर्वान्तर्यामी श्रीकृष्णदेवने अपने अनन्य सखा परमप्रिय अर्जुनको यह समझाया है कि 'हे मित्र ! सुन; मैं तो सबके हृदयको घेरकर सदा उसीमें रहता हूँ और वहाँ बैठा-बैठा ही सबको स्मृति, ज्ञान और विवेक देता रहता हूँ—बशर्ते कि लेनेवाला उन्हें लेनेके लिये तत्पर हो । उसको अपनी आवश्यकताके अनुसार जब जितनी स्मृति, ज्ञान या विवेककी जरूरत हो, उतना मुझसे लेनेके लिये उसे सदा तैयार रहना चाहिये । तभी वह मुझसे अपनी मनचाही वस्तुएँ जरूरतके मुताबिक हमेशा प्राप्त कर सकता है । दुनियामें मनुष्यको और सब तरहके कार्य, प्रयत्न और पुरुषार्थ तो खुद ही करने पड़ते हैं, पर जीवनके आधारभूत शाश्वत तत्वोंका चिन्तन करनेके लिये उसे आत्मप्रेरणा चाहिये । अनेकानेक तत्त्व-चिन्तकोंके अनुभवका आधार चाहिये । उसके लिये अन्तःस्थलमें अनेक पावन स्मृतियाँ जाग्रत् होनी चाहिये । इसके बाद हर व्यक्तिको कब क्या करना उचित है, यह निश्चित करनेके लिये सारासार-विवेक भी हासिल होना चाहिये । वही मैं सबको आन्तरिक रूपसे देनेके लिये सदा तत्पर रहता हूँ ।'

यह सर्वान्तर्यामीका हम दुनियावालोंके लिये कितना महत्वपूर्ण आश्वासन है । हर इन्सानको भगवान्का यह सहयोग अपने-आप मिलता रहे, इसकी उत्तम व्यवस्था करनेके लिये ही पार्थसारथि श्रीकृष्ण सबके अन्तरमें नित्य-निरन्तर निवास करते हैं । इस बातको हम अच्छी तरह समझ लें तो हमें अपने जीवनमें कभी कोई दुविधा या असुविधा हो ही नहीं सकती ।

उपर्युक्त श्लोकके अगले दो चरणोंमें भगवान् अपना परिचय भी खुद देते हैं कि 'हमारे जितने भी वेद हैं, वे विश्वके आधारभूत ज्ञानभण्डारसे भरे हुए आदि ग्रन्थ हैं । वे मुझे जाननेके लिये ही बने हैं । मैं ही उनका प्रतिपाद्य विषय हूँ । मेरा ही प्रतिपादन करनेके लिये वेदोंका प्रादुर्भाव हुआ है । उन वेदोंको जाननेवाला भी मैं हूँ और उनके रहस्यका उद्घाटन-कर्ता भी मैं ही हूँ ।'

भगवद्गीताके इस एक श्लोकमें परमात्माने मानवको कितना अपूर्व ज्ञान और अपना महान् परिचय भी दे दिया है ।

अभी हालमें ही अहमदाबाद नगरके वेद-मन्दिरमें

मानवाधिकारके सम्बन्धमें विचार-विनिमय करनेके लिये एक महत्वपूर्ण सभा हुई । गुजरात प्रदेशका उद्घाटन किया गया, वे इन दिनों गुजरात राज्य बंगला देश राहत समिति के अध्यक्ष भी हैं । उनके एक इशारेपर मानव-सेवाके लिये सैकड़ों सेवक तत्काल खड़े हो जाते हैं और लाखों का बंधा सहजमें ही प्राप्त हो जाता है । वे स्वयं इस सभा में उपस्थित थे ।

अखिल भारत साधुसमाजकी गुजरात शाखाके अध्यक्ष स्वामी श्रीमनुवर्यजी, पू० माँ जानकी देवीजी यज्ञ, अहमदाबादके प्रतिष्ठित व्यापारी-वर्गके श्रद्धालु प्रतिनिधि सूचना-प्रसारणके दिग्दर्शक, राज-भवनके भक्तिमान् सचिव भी वहाँ आये थे । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की व्यापक भावना के विरुद्ध आज बंगला देशमें जो सामूहिक नर-संहार शुरू हुआ है, उसको सारे विश्वके विवेकी विद्वान् मिलकर निरिद्ध क्यों नहीं साबित करते ?—यह माँ जानकी देवीजी सवाल था ।

इसपर कई महीनोंसे ही गहराईसे विचार-विनिमय हो रहा था । आज सुबह उसमेंसे नवजात पङ्कजकी भाँति एक परम पवित्र महामन्त्रका प्रादुर्भाव हुआ, जो इस प्रकार है—

'मानव-संरक्षण मानवमात्रका स्वयंसिद्ध अधिकार है ।' और वह दुनियाँके हर मनुष्यको प्राप्त होना चाहिये । यह संकल्प भी उसके साथ ही जाग्रत् हो उठा । भारतके परमश्रेष्ठ वेदाचार्य प्रशाचक्षु श्रीगङ्गाधरानन्द महाराजने सभामें एक बड़े मार्केकी बात यह कही कि श्रद्धेय रविशंकर महाराजने वेदोंका महत्व दो शब्दोंमें ही समझा दिया है कि 'वेद सृष्टिका संविधान है ।' दत्तक वेदोंका इससे बड़ा माहात्म्य और क्या हो सकता है ।

सृष्टिके ऐसे संविधान-स्वरूप वेदोंके आधारपर ही श्रीकृष्णभगवान्को अर्जुनके सामने अपना आत्म-परिचय प्रस्तुत करना पड़ा । ऐसी अपरम्पार महिमा है वेदोंकी । उसे जाननेवालेको जाननेके सम्बन्धमें श्रीतुलसीदासजी रामायणमें लिखा है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनार्ण । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जार्ण ।

( २ । १२४ । १ )

मतलब 'तुमको वही जान सकता है, जिसे तुम जानते हो और तुमको जानते ही वह तुम्हें एकाकार हो जाता है ।'

यह सारा राज-वैभव इहलोकका ही है । गीताके



पुनर्व्यायमें संपूजा इहलोकका ही वर्णन तो किया गया है। उसके अन्तिम श्लोकोंमें सारभूत बात यह बतायी गयी है कि 'दुनियामें मुख्य दो पुरुष हैं—एक है क्षर और दूसरा है अक्षर, वह जो ध्रुवके समान सदा स्थिर ही है। क्षर जो परमात्मा है, वह है तीसरा उत्तम पुरुष। त्रिलो वेद और वेदोंको जाननेवाले लोग मुझे 'पुरुषोत्तम' कहते हैं। जो अपने मनके मोहको दूर करके यह जान लेता है कि मैं पुरुषोत्तम हूँ, वह सर्वज्ञ है। वह सर्वभावसे सर्वभूतोंमें मुझे ही देखता है और मेरा ही भजन करता है।' इस दृष्टिसे राष्ट्रपिता बापूजीके द्वारा प्रकाशित आश्रम-भजनावलीकी प्रातःकालीन प्रार्थनाके प्रथम तीन श्लोक बड़े ही महत्त्वके हैं, जिनमें 'प्रातः स्मरामि', 'प्रातर्भजामि' और 'प्रातर्नमामि' की भावना क्रमशः अभिव्यक्त हुई है।

यही इहलोककी अलौकिकता है, जहाँ सर्वान्तर्यामी स्वयं हमारे जीवनके संरक्षक होकर हमारे ही हृदय-भवनमें विराजमान रहते हैं। वे हमारे मन-मन्दिरके आराध्य हैं और वे ही इहलोकमें हमारे सर्वोत्तम अतिथि भी हैं; क्योंकि जिनके आवागमनकी तिथिका हमें जरा भी पता नहीं होता, वे ही तो हमारे सम्माननीय महान् 'अतिथि' कहलाते हैं, जिनकी सेवाका वेद हमें उपदेश देते हैं—'अतिथिदेवो भव।' उनका आदरातिथ्य हम जितना कर सकें, उतना ही हमारा उच्चतम भाग्योदय होता है और उसीसे हमारा महत्तम मानव-जीवन घन्य हो सकता है। तभी तो शास्त्रोंने हमारा गुण-गौरव इस प्रकार गाया है कि 'न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्—मानवसे बढ़कर दुनियामें और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है।' यही है हमारी इहलोककी अलौकिकता और यही है हमारा इहलोकका राजवैभव।

## मौसल-लीला तथा भगवान् श्रीकृष्णकी अन्तर्धान-लीला\*

(लेखक—डॉ० श्रीराधागोविन्द नाथ)

मौसल-लीला—श्रीमद्भागवतके ११ वें स्कन्धके पहले और तीसरे अध्यायमें, विष्णुपुराणके ५।३७ अध्यायमें एवं महाभारतके मौसलपर्वमें 'मौसल-लीला'का वर्णन है। इसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

श्रीकृष्णकी आज्ञासे यादवोंने पिण्डारक तीर्थमें यज्ञका अनुष्ठान किया। विश्वामित्र, कण्व, असित आदि मुनिगण भी यज्ञस्थलपर गये थे। जब वे लोग यज्ञस्थलसे अपने-अपने आश्रमको वापस जा रहे थे, वन मार्गमें यदुकुलके दुर्विनीत बालकवृन्दने जाम्बवतीके पुत्र साम्बको गर्भवती स्त्रीके वेषमें सजाकर मुनियोंके सामने उपस्थित कर जिज्ञासा की कि 'इसके गर्भसे पुत्र होगा या कन्या होगी?' मुनिगणने बालकोंकी धृष्टतासे क्रुमित होकर कहा कि 'इससे यदुकुलनाशक मूसल उत्पन्न होगा।' बालकोंने साम्बके उदरपर लपेटे हुए वस्त्रोंको उतारकर देखा कि वस्त्रोंके भीतर सत्य ही एक मूसल है। उन्होंने डरकर उसे निकालके पास जा सब बात प्रकट कर दी। अग्रसेनने श्रीकृष्णको न बताकर मूसलका चूर्ण कराया और शेषमें मूसलमेंसे जो कच्चा उसको चूर्णसहित समुद्रमें फेंकवा दिया। फेंकते ही मूसलके अन्तर्गत लोहखण्डको एक मत्स्य निगल गया एवं चूर्ण तरंगोंके आघातसे किनारे आकर संचित हो गया, जिससे एरका-तृण

उत्पन्न हुआ। इसके पश्चात् एक मनुष्यके जालमें वह मत्स्य पकड़ा गया और उसके पेटसे वह लोहखण्ड निकला। जरा नामक एक व्याधने उस लोहखण्डको लेकर अपने वाणके अग्रभागपर लगा लिया।

कुछ समयके बाद द्वारका-परिकरोंको साथ लेकर श्रीकृष्ण प्रभासतीर्थ गये। वहाँपर मैरेय-मधु पानसे मत्त होकर यादव-गण परस्पर कलह करने लगे। वे लोग अपने नाना प्रकारके अस्त्रादिद्वारा परस्पर युद्ध करके शेषमें (मूसल चूर्णसे उत्पन्न) एरका-तृणद्वारा परस्परके आघातद्वारा निधनको प्राप्त हुए। श्रीमद्भागवत १।१५।२३ श्लोकसे जाना जाता है कि केवल चार-पाँच व्यक्ति ही बचे रह गये—

वाष्णीं मदिरां पीत्वा मदोन्मथितचेतसाम् ।  
अजानताभिवाग्योन्यं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥

इनमेंसे श्रीकृष्णके प्रपौत्र वज्र भी एक थे। यादवगणोंका निधन होनेपर बलरामने समुद्रके किनारे जाकर योगावलम्बन-पूर्वक मनुष्य-लोकको त्याग दिया। बलरामका निर्वाण देखकर श्रीकृष्ण चतुर्भुजरूप धारणकर भूमिपर लेट गये। देवात्

\* बंगला श्रीचैतन्यचरितामृत, मध्यलीला, २३ वें परिच्छेदके ५९ वें पद्यांश टीकासे अनूदित।



पूर्वोक्त जरा व्याध मृगोंकी खोजमें उभर आया और दूरसे श्रीकृष्णके पादपद्मको मृगका मुख मानकर मूसलावशिष्ट लौह-खण्डद्वारा निर्मित बाणसे उनको विद्ध कर दिया; पश्चात् श्रीकृष्णको देखकर अनिच्छाकृत अपराधके लिये उसने क्षमा-प्रार्थना की। श्रीकृष्णने कहा—‘व्याध ! तुम डरो नहीं। यह सब मेरी मायाका ही कार्य है, तुम्हारा इसमें कोई दोष नहीं है। मेरे आदेशसे तुम वैकुण्ठ जाओ।’ व्याधने श्रीकृष्णकी तीन बार प्रदक्षिणा की और दिव्य विमानपर चढ़कर वैकुण्ठ चला गया। श्रीकृष्ण आग्नेयी योगधारणाके द्वारा अपना लोकाभिराम शरीर दग्ध न करके सशरीर अपने धामको चले गये ( श्रीमद्भा० ११।३१।६ )। इसके पश्चात् विष्णु-पुराण ५।३८।१ तथा महाभारत, मौसलपर्व ७।३१ श्लोकमें लिखा है कि बलराम और श्रीकृष्णके परित्यक्त देहका अग्नि-संस्कार किया गया था। यादवोंके देह-संस्कारकी बात भी लिखी है।

श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण एवं महाभारतमें यादवगण एवं श्रीकृष्णके अन्तर्धानके सम्बन्धमें जो कुछ वर्णन है, उसका यथाश्रुत अर्थ ही संक्षेपमें ऊपर लिखा गया है। इससे जाना जाता है कि यादवोंकी मृत्यु हुई है, उनके देह भी अग्निमें दग्ध किये गये हैं।

अब प्रश्न उठता है कि ‘श्रीकृष्ण यदि स्वयं भगवान् हों, तो उनकी मृत्यु क्यों हुई एवं उनके देहका अग्नि-संस्कार भी कैसे सम्भव होगा ? और यादवगण यदि उनके पार्षद हों तो उनकी भी मृत्यु और अग्नि-संस्कार कैसे सम्भव है ?’

क्रमशः इन प्रश्नोंकी आलोचना की जाती है। सर्वप्रथम श्रीकृष्णके सम्बन्धमें आलोचना की जाय।

श्रीकृष्णके अन्तर्धान-सम्बन्धमें महाभारतका कहना है—‘जरा नामक व्याधने दूरसे योगासनमें शयन करते हुए केशवको देखकर, मृग जानकर, उनके प्रति शर-निक्षेप किया। वह शर निक्षिप्त होते ही उसके द्वारा हृषी-केशका पदतल विद्ध हो गया। तब उस व्याधने मृग लेनेकी वासनासे शीघ्र वहाँ आकर देखा कि अनेक-बाहु-सम्पन्न पीताम्बरधारी योगासनमें शयान पुरुष उसके शरसे विद्ध हुए हैं। उनके दर्शनमात्रसे अपनेको अपराधी मानकर शङ्कित मनसे वह व्याध उनके चरणोंमें गिर पड़ा। तब महात्मा मधुसूदनने उसको आश्वासन प्रदान करके आकाशमण्डलको उद्भासित

करते हुए गमन किया।\* इस समय इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार एवं रुद्र, आदित्य, वसु, विश्वेदेव, मुनि, सिद्ध, गन्धर्व और अप्सरागण उनके प्रत्युद्गमनार्थ ( स्वागतार्थ ) निकल पड़े। तब भगवान् नारायण उनके द्वारा सत्कृत होकर उनके सहित अपने अप्रमेय स्थानमें समुपस्थित हुए। ( महाभारत, मौसलपर्व, चतुर्थ अध्याय )।

श्रीकृष्ण अपने देहको भूतलपर त्यागकर चले गये थे—यह बात महाभारतमें उल्लिखित वर्णनसे नहीं जानी जाती, बल्कि यह जाना जाता है कि वे आकाशमण्डलको उद्भासित करते हुए सशरीर ही अपने अप्रमेय धाममें पधारे थे। इन्द्रादिकी अभ्यर्थना एवं सत्कारादिके उल्लेखसे स्पष्ट ही जाना जाता है कि उन्होंने देहहीन ज्योतिरूपसे या आत्मारूपसे वहाँ गमन नहीं किया था।

श्रीमद्भागवतका कहना है—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्।

योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम् ॥

( ११।३१।६ )

‘भगवान् श्रीकृष्णने आग्नेयी योगधारणासे अपने शरीरको, जो लोगोंकी धारणा एवं ध्यानका मङ्गलमय आधार था, दग्ध न करके ( सशरीर ) अपने धाममें ( अप्रकट प्रकाशमें ) प्रवेश किया।’

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके ३१ वें अध्यायकी टीकाके प्रारम्भमें ही श्रीधर स्वामिपादने लिखा है—‘श्रीकृष्ण स्वच्छन्द्या धाम स्वतन्वेव समाविशत्—श्रीकृष्णने स्वच्छन्द्या अपने तनूके सहित ही अपने धाममें प्रवेश किया।’ ( स्वच्छन्द्या मृत्यु योगीजन आग्नेयी योगधारणाद्वारा अपने तनूको दग्ध करके ही लोकान्तरमें गमन करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने आग्नेयी योगधारणा दिखायी अवश्य है, किंतु अपने देहको दग्ध न करके सशरीर ही उन्होंने अपने धाममें प्रवेश किया है। ‘योगिनी हि स्वच्छन्दमृत्यवः स्वतनुमानेन्या योगधारणा’

* अथापश्यत्	पुरुषं	योगयुक्तं
	पीताम्बरं	कुण्डलकोऽनेकबाहुम् ।
मत्वाऽऽत्मानं	त्वपराधं	स तस्य
	पादौ जरा	जगृहे शङ्कितात्मा ॥
आश्वासयंस्तं	महात्मा	तदाती
	गच्छन्नुर्ध्वं	रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या ॥

( महा०, मौसल० ४।२१-२२ )



संख्या १० ]

तथा लोकान्तरं प्रविशन्ति, भगवांस्तु न तथा, किंतु  
महत्त्वं स्वतनुसहित एव स्वकं धाम वैकुण्ठस्थं प्राविशत् ।  
(श्रीधरस्वामी) तब उन्होंने आग्नेयी योगधारणाका अवलम्बन  
ही क्यों किया ? यह किया केवल योगियोंको देहत्यागकी रीतिकी  
शिक्षा देनेके लिये—योगिनां देहत्यागशिक्षणार्थमेव धारणामनु  
वन्तर्धानमित्येव ज्ञेयम् (क्रमसंदर्भ)

जो हो, श्रीमद्भागवतसे जाना गया कि श्रीकृष्ण भूतलपर  
कोई देह छोड़कर नहीं गये, उन्होंने सशरीर ही अपने धाममें  
(अप्रकट प्रकाशमें) प्रवेश किया है। श्रीमद्भागवतकी परवर्ती  
उक्तिसे भी इसका समर्थन होता है। परवर्ती वर्णन इस  
प्रकार है—

‘मौसल-लीलाकी कथा सुनकर देवकी, रोहिणी और  
वसुदेवने कृष्ण-बलरामके शोकमें प्राण त्याग कर दिया।  
यदुकुली स्त्रियोंने अपने-अपने पतिको आलिङ्गन कर चिता-  
रोहण किया। \* बलदेवकी पत्नीने उनके देहका आलिङ्गन  
करके अग्निमें प्रवेश किया। वसुदेव-पत्नियोंने वसुदेवका  
शरीर और श्रीकृष्णकी पुत्रवधुओंने प्रद्युम्न आदिके शरीरको  
आलिङ्गन करके अग्नि-प्रवेश किया। रुक्मिणी आदि श्रीकृष्ण-  
पत्नियोंने श्रीकृष्णमें चित्त-संनिवेश करके अग्निमें प्रवेश  
किया। \* श्रीकृष्णपत्नियोंने श्रीकृष्णके देहको आलिङ्गन करके  
चितारोहण किया—ऐसी बात नहीं कही गयी। इससे समझा  
जाता है कि श्रीकृष्ण कोई भी देह छोड़कर नहीं गये। उन्होंने  
सशरीर ही अपने धाममें (अप्रकट प्रकाशमें) प्रवेश किया था।

पहले कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण भूतलपर कोई देह  
छोड़ गये हों—ऐसी बात उनके अन्तर्धान-वर्णन-प्रसङ्गमें  
महामारतमें नहीं कही गयी; किंतु पीछे मौसलपर्वके सातवें  
अध्यायमें कहा गया है कि ‘अर्जुनने बलदेव और वसुदेवके  
शरीरोंको खोजकर लाकर चितानलमें भस्मसात् किया।  
वासुदेव श्रीकृष्णके देहको अर्जुनने चितानलमें भस्म किया, वह  
कहाँसे आया ?

श्रीकृष्णके अन्तर्धानके सम्बन्धमें विष्णुपुराणका कहन।

\* देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ ।

कृष्णरामावपश्यन्तः शोकात् विजडुः स्मृतिम् ॥

रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्यग्निमाविशन् ।

वसुदेवपत्न्यस्तद्वाग्रं प्रयुम्नादीन् हरेः स्नुषाः ।

कृष्णपत्न्योऽविशन्गनिं रुक्मिण्यास्तादात्मिकाः ॥

(भीमश्ला० ११ । ११ । १८, २०)

है—“श्रीकृष्णके अनुग्रहसे जरा नामक व्याधके वैकुण्ठ जानेके  
पश्चात् ‘भगवान्ने अमल, अव्यय, अचिन्त्य, ब्रह्मभूत वासुदेव-  
मय अपनी आत्मामें आत्माका योग करके, त्रिविधात्मक  
प्रकृतिका परित्याग करके मानव-देहका परित्याग किया।  
वासुदेवात्मक भगवत्-स्वरूप, जन्म और जरारहित, विनाशी,  
अप्रमेय, अखिलस्वरूप है’—(पञ्चानन-तर्करत्नकृत अनुवाद।)

गते तस्मिन् स भगवान् संयोज्यात्मानमात्मनि ।

ब्रह्मभूतेऽन्येऽचिन्त्ये वासुदेवमयेऽमले ॥

अजन्मन्यजरेऽनाशिन्यप्रमेयेऽखिलात्मनि ।

तत्याज मानुषं देहमतीत्य त्रिविधां गतिम् ॥

(वि० पु० ५ । ३७ । ७४-७५)

और भी कहा गया है कि ‘अर्जुनने श्रीकृष्ण और बलरामके  
कलेवरद्वय एवं अन्यान्य यादवोंके सब देहोंका अन्वेषण करके  
अग्नि-संस्कार कराया’—

अर्जुनोऽपि तद्वान्विष्य कृष्णरामकलेवरे ।

संस्कारं लभयामास तथान्येषामनुक्रमात् ॥

(वि० पु० ५ । ३८ । १)

विष्णुपुराणके वर्णनके अनुसार श्रीकृष्णके देहत्यागकी  
बात भी जानी जाती है एवं देहके सत्कारकी बात भी जानी  
जाती है। किंतु देहत्यागकी बात जो ऊपर लिखी गयी है,  
वह यथाश्रुत अर्थमात्र है। उद्धृत अनुवादमें श्लोकके  
‘संयोज्यात्मानमात्मनि’ अंशके अनुवादमें कहा गया है,  
‘वासुदेवमय अपनी आत्मामें आत्माका योग करके’। यहाँपर  
दो ‘आत्मा’ शब्दोंका एक ही अर्थ नहीं हो सकता;  
एक ही अर्थ माननेसे ‘अपनी आत्मामें आत्माका योग करके’  
वाक्यसे कोई भी अर्थकी उपलब्धि नहीं होती। ‘आत्मामें  
आत्माका योग’ इसका तात्पर्य क्या है ! इस प्रसङ्गमें  
श्रीमद्भागवतमें भी ठीक ऐसी ही उक्ति दीखती है—

संयोज्यात्मानि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ।

(भीमश्ला० ११ । ३१ । ५)

इसकी ‘क्रमसंदर्भ’ टीकामें लिखा है—

‘आत्मनि स्व-स्वरूपे एव आत्मानं मनः संयोज्य ।’

—यहाँपर ‘आत्मनि—आत्मामें’ शब्दका अर्थ है—‘स्व-  
स्वरूप’ में—अपने नित्यसिद्ध स्वरूपमें और ‘आत्मानं’ शब्दका  
अर्थ है ‘मन’। दो ‘आत्मा’ शब्दोंमेंसे सप्तमी विभक्तियुक्त  
‘आत्मा’ शब्दका अर्थ है—‘स्व-स्वरूप’ और द्वितीया विभक्ति-



मुक्त 'आत्मा' शब्दका अर्थ है—'मन' । इस प्रकार विष्णु-पुराणके अनुवादमें 'वासुदेवमय अपनी आत्मामें आत्माका योग करके' वाक्यका तात्पर्य इस प्रकार होगा—श्रीकृष्ण वासुदेवमय अपने स्वरूपमें मनका संयोग करके । 'वासुदेवमय स्वरूप'का अर्थ है—वासुदेव ही उनका स्वरूप है । इस स्वरूपमें एवं जिन्होंने 'मानव-देह परित्याग किया' इसमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं है । वे आत्माराम हैं, अपने आपमें ही स्वयं रमण करते हैं 'वासुदेवमय अपने स्वरूपमें मन-संयोग किया'—इस वाक्यसे उनकी आत्मारामता ही सूचित होती है । यह स्वरूप अमल, अव्यय, अचिन्त्य, ब्रह्मभूत, जन्म-जरारहित, अविनाशी, अप्रमेय एवं अखिलस्वरूप है—यह भी विष्णु-पुराणने बताया है एवं ऐसे स्वरूपमें जिन्होंने मन-संयोग किया, वे 'भगवान्' हैं, यह बात भी विष्णुपुराणने बतायी है । अतएव उनमें देह-देही-भेद नहीं रह सकता—

देहदेहिभिः। चात्र नेइवरे विद्यते न्वचित् ।

( ब्रह्मसंहिता )

वे आनन्दधन, चिद्धन, रसधन, सच्चिदानन्द हैं । उनका जन्म भी नहीं है, मृत्यु भी नहीं है । मायाबद्ध जीवके ही जन्म-मृत्यु होते हैं । जड़देहका जन्म होता है, इस जड़ देहमें देही जीवात्माका आश्रय है; जीवात्माके देह छोड़कर जानेको ही 'मृत्यु' कहते हैं । देहधारी जीवमें देह जड़ है, देही जीवात्मा चिद्-वस्तु है । अतएव जीवमें देह एवं देही—दो वस्तुएँ हुई । इसीसे जीवके लिये अपना देह-ग्रहण जिस प्रकार सम्भव है, उसी प्रकार देहत्याग करना भी सम्भव है । किंतु भगवान्का देह जो वस्तु है, भगवान् भी वही हैं—एक ही आनन्दमय वस्तु हैं । 'देह' नामकी उनकी पृथक् कोई वस्तु नहीं है । इसीसे उनके लिये जिस प्रकार जन्म नहीं है, वैसे ही मृत्यु या देह-त्याग भी नहीं है; केवल आविर्भाव-तिरोभावमात्र हो सकता है । वे जब अपनी नरलीला प्रकट करते हैं, मानवकी तरह शूक्र-शोणितसे उनका जन्म नहीं है । जो नित्य वस्तु है, तथापि लोक-नयनोंके गोचरीभूत नहीं थी, उसको जन्म-लीलाके आवरणसे लोक-नयनोंके गोचरीभूतमात्र करते हैं । अतएव उनका जन्म नहीं है । इसका 'अजन्मनि' शब्दसे विष्णुपुराणने स्पष्ट भावसे उल्लेख किया है । 'वासुदेवमय' शब्दका तात्पर्य भी विवेच्य है । 'वासुदेव' शब्दका अर्थ है—'शुद्ध-सत्त्व' । श्रीमद्भागवतने 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्'

वाक्यसे यह बता दिया है । 'वासुदेव' शब्दका अर्थ है—'वासुदेव ( शुद्धसत्त्व )-घटित एवं 'वासुदेवमय' शब्दका अर्थ है—'शुद्धसत्त्वमय सच्चिदानन्द' । वासुदेवमय या सच्चिदानन्दमय जिनका स्वरूप है, उनके जन्म-मृत्यु सम्भव नहीं । जिस प्रकार वे सशरीर आविर्भूत होते हैं, उसी प्रकार वे सशरीर तिरोभावको भी प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न हो सकता है कि यदि वे सशरीर तिरोभावको प्राप्त होकर रहें, तो विष्णुपुराणमें 'तत्त्याज मानुषं देहं'—मनुष्य-देहका त्याग किया' क्यों कहा गया ? उत्तरमें कहा जाता है कि यहाँपर मनुष्य-देहका तात्पर्य क्या है ? यदि यथाश्रुत अर्थ लिया जाय, तो 'मनुष्य-देह'का अर्थ होगा—साधारण मनुष्यकी तरह द्विसुजावाला शरीर । तब श्रीकृष्णने द्विसुज देहका ही त्याग किया । किंतु तब उनका द्विसुज-देह रहा—यह बात विष्णुपुराणने भी नहीं कही । विष्णुपुराण कहता है कि जरा व्याधने जाकर देखा एक 'चतुर्भुज नर-स्वरूप' । 'ततश्च दृष्ट्वा तत्र चतुर्बाहुधरं नरम्' वि० पु० ५ । ३७ । ७० । यह 'मनुष्य-देह' नहीं है । अतएव 'मनुष्य-देहका त्याग किया'—इस प्रकारका यथाश्रुत अर्थ विचार-संयुक्त नहीं है । तब वास्तविक अर्थ क्या होगा ? 'मनुष्य-देह'का अर्थ होगा—'मनुष्यलोकमें प्रकटित देह या विग्रह' । 'उस देहका त्याग किया'का अर्थ होगा—प्रकटित देहका त्याग किया अर्थात् देहका प्रकटत्व त्याग किया, प्रकटित देहको (अतएव लीलाको भी) अप्रकट किया; जो लोक-नयनोंके गोचरीभूत किये थे, उसको अब लोक-नयनोंसे अन्तर्हित किया । इस प्रकार अर्थ किये बिना विष्णुपुराणके वाक्योंकी परस्पर संगति नहीं रहती ।

इस प्रकारके अर्थके पीछे युक्ति एवं न्यायका विधान भी विद्यमान है । एक पथिकने जलसे पूर्ण स्वर्ण-कलश लेकर मार्गमें चलते-चलते थकावटके कारण भार ले चलनेमें असमर्थ होकर 'सजल स्वर्णकलशका परित्याग कर दिया'—ऐसा कहनेका भाव—जल फेंककर भार घटाकर स्वर्णकलशको रखना ही—समझा जाता है । सजल-कनककलश पान्थस्व-जतीत्युक्ते भारवहनश्रमान्निर्जलीकृतस्य कलशस्य ग्रहणं प्रतीयते । यहाँपर 'सजल-कनक-कलश' शब्दमें 'कनक-कलश' शब्द विशेष्य है, 'सजल—जलपूर्ण' शब्द है उसका विशेषण । भारवहनमें असमर्थ पथिक विशेष्य कनक-कलशको परित्याग करके चला जाय—यह सम्भव नहीं है; जल फेंककर भार घटाकर कनक-कलशको लेकर जायगा—यही सम्भव है;



अतएव 'व्यजति—त्यागकर' इस क्रियापदके साथ विशेष्य 'कलश'का सम्बन्ध समीचीन नहीं होता, विशेषण 'कलश'के साथ ही उसका सम्बन्ध है, अर्थात् पथिक कलशके सम्बन्ध—जल ही' को त्याग करता है। इसी प्रकार विष्णुपुराणके श्लोकका 'तत्याज मानुषं देहम्' वाक्यमें 'देहम्' विशेष्य और 'मानुषम्' है उसका विशेषण। श्रीकृष्णका देह विविदानन्द होनेके कारण उसका त्याग सम्भव नहीं, अतएव उसके साथ 'तत्याज' क्रियाका सम्बन्ध समीचीन नहीं होता। इसलिये इस क्रियापदका सम्बन्ध होगा 'मानुषम्'—मनुष्यलोकमें प्रकटित विशेषण शब्दके साथ; अर्थात् श्रीकृष्णने 'मानुषम्'—मनुष्यलोकमें प्रकटत्वका त्याग किया और देहको रखकर सशरीर अप्रकट प्रकाशमें प्रवेश किया। इस प्रकारके अर्थका समर्थक न्याय है—

'विशेषणे हि विधिनिषेधो विशेषणमुपसंक्रामतः क्षति विशेष्यबाधे।'

'विशेषणयुक्त विशेष्यके साथ विधि या निषेधका योग होनेपर यदि विशेष्यके साथ उस विधि या निषेधका सम्बन्ध बाधा प्राप्त हो, तो विशेषणके ऊपर ही उस विधि या निषेधका प्रभुत्व संक्रामित होगा।' यहाँपर विशेष्य पद 'देह' है, उसके साथ 'तत्याज' क्रियापदरूप विधिका सम्बन्ध-बाधा होनेके कारण विशेषण 'मानुष'के साथ उसका सम्बन्ध होगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विष्णुपुराणकी उक्तिके तात्पर्यसे भी समझा जाता है कि 'श्रीकृष्ण सशरीर अन्तर्धानको प्राप्त हुए थे।'

अब प्रश्न उठ सकता है कि यदि वे सशरीर अन्तर्धानको प्राप्त हुए थे, तो विष्णुपुराणमें क्यों कहा गया कि अर्जुनने श्रीकृष्णके देहका अन्वेषण करके सत्कार किया था। महाभारत भी तो यही कहता है? यदि श्रीकृष्ण सशरीर ही स्वर्गको गये थे तो सत्कारके लिये देह कहाँसे आया?

दो प्रकारसे इस समस्याके समाधानकी चेष्टा की जा सकती है।

प्रथमतः यह स्पष्ट ही देखा जाता है कि विष्णुपुराण एवं महाभारत—दोनोंमेंसे प्रत्येक ग्रन्थमें ही—श्रीकृष्णके अन्तर्धानके सम्बन्धमें दोनों उक्तियोंमेंसे एक उक्ति दूसरी उक्ति की विरोधी है। विष्णुपुराणकी तरह महाभारतसे भी माना जाता है कि श्रीकृष्ण सशरीर अन्तर्धानको प्राप्त हुए थे

और यह भी जाना जाता है कि उनके परित्यक्त देहका सत्कार किया गया था। जो सशरीर अन्तर्धान हुए, उनका परित्यक्त देह रहना सम्भव नहीं। परस्पर-विरोधी दोनों वाक्योंमेंसे एक ही सत्य हो सकता है, दोनों सत्य नहीं हो सकते। अब देखना होगा कि कौन-सा सत्य है। जिस वाक्यके सम्बन्धमें किसी भी ग्रन्थमें कोई मतभेद दिखायी न दे, उसीको सर्वसम्मत सत्य मानकर ग्रहण करना होगा। श्रीकृष्ण सशरीर अन्तर्धान हुए थे—यह बात सभी ग्रन्थोंसे जानी जाती है, इसमें किसी ग्रन्थका मतभेद नहीं है; अतएव इसीको सत्य मानकर ग्रहण करना होगा और श्रीकृष्णका परित्यक्त देह पड़ा रहा था और उसका अग्नि-संस्कार किया गया था—यह बात पुराण-शिरोमणि एवं प्रमाण-शिरोमणि श्रीमद्भागवत नहीं बताती। अतएव उनके परित्यक्त देहकी अवस्थिति तथा उसके सत्कार-सम्बन्धमें मतभेद है। यह बात सर्वसम्मत नहीं होनेके कारण—तथा जिन दो ग्रन्थोंमें परित्यक्त देहकी अवस्थिति एवं सत्कारका उल्लेख है, उन्हीं दोनों ग्रन्थोंमेंसे प्रत्येक ग्रन्थमें ही श्रीकृष्णके सशरीर अन्तर्धान-प्राप्तिकी पूर्वोक्ति होनेके कारण—इस (परित्यक्त देहकी अवस्थितिसूचक वाक्य) को सत्य मानकर स्वीकार नहीं किया जा सकता। हो सकता है कि अनवधानतावश ही इन दोनों ग्रन्थोंमें परित्यक्त देहका उल्लेख किया गया है। किसी-किसी ऋषिकी इस प्रकारकी अनवधानताकी बात श्रीमद्भागवतमें भी देखनेमें आती है। श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षितको कहते हैं—

एवं वदन्ति राजर्षे ऋषयः के च नान्विताः।

यत् स्ववाचो विषध्येत नूनं ते न स्मरन्त्युत ॥

( श्रीमद्भा० १०। ७७। ३० )

'हे राजर्षे ! ( शास्त्रके द्वारा मायारचित वसुदेवकी हत्या करनेसे श्रीकृष्ण शोकार्त हुए थे ) कोई-कोई ऋषि यह बात कहते हैं। इससे ऐसा लगता है कि उन्होंने पूर्वापरका अनुसंधान करके यह बात नहीं कही, अपने ही वाक्योंकी परस्पर-विरुद्धता उन्होंने स्मरण नहीं की।' विष्णुपुराणमें एवं महाभारतमें मायामलिन-चित्तवाले साधारण लोक-प्रतीतिके अनुरूप ही बात लिखी गयी है। ( टीकाका शेषांश देखिये )।

द्वितीयतः, कोई-कोई कह सकते हैं कि बलदेव एवं परस्परकर्तृक निहत यादवोंके परित्यक्त देह भी पड़े रहे थे एवं उनके परित्यक्त देहोंका भी तो सत्कार किया गया है।



बलशम हैं श्रीकृष्णके विलासरूप, अतएव उनका देह भी प्राकृत नहीं है, उनके भी जन्म-मृत्यु सम्भव नहीं हैं, वे भी सच्चिदानन्द विग्रह हैं। और यादवगण भी श्रीकृष्णके नित्य पार्षद हैं, अतएव वे भी जीवतत्त्व नहीं हैं, उनके भी जन्म-मृत्यु नहीं हो सकते; श्रीकृष्णके आविर्भाव-तिरोभाव हैं। वे सब भी सच्चिदानन्द विग्रह हैं। तथापि उन्होंने भी देह-परित्याग किये थे; उनके परित्यक्त देहका भी सत्कार किया गया था; श्रीमद्भागवतमें भी यही बात है; इसके सम्बन्धमें तो कोई मतभेद नहीं है; अतएव यह तो सत्य मानकर स्वीकृत हो सकता है। यदि ऐसा ही हो, तब श्रीकृष्णके परित्यक्त देहकी अवस्थिति एवं उसके सत्कारको स्वीकृत होनेमें आपत्ति किस प्रकार उठ सकती है ?

उत्तर—बलदेव एवं यादवगण श्रीकृष्णके नित्य पार्षद सच्चिदानन्द-तत्त्व हैं, उनके जन्म-मृत्यु नहीं हैं, आविर्भाव-तिरोभाव मात्र हैं—यह बात सत्य है। किंतु जिन देहोंका सत्कार किया गया था, वे वास्तवमें उनके देह नहीं थे। ये देह थे मायाकल्पित। इस प्रकारके मायाकल्पित देहकी बातें शास्त्रोंमें और भी देखनेमें आती हैं। कूर्म-पुराणसे जाना जाता है कि रावण जिस सीताको हरण करके ले गया था, वे प्राकृत सीता नहीं थीं। वे थीं अग्निदेवकी कल्पित छाया-सीता या माया-सीता।

सीतयाऽऽराधितो वद्विच्छायासीतामजीजनत् ।

तां जहार इक्ष्वाकूः सीता वद्विपुरं गता ॥

परीक्षासमये वद्विच्छायासीता विवेश सा ।

वद्विः सीतां समानीय स्वपुरादुदनीनयत् ॥

( कूर्मपुराण )

( भोच० च०, म०, नवम परिच्छेदमें उद्धृत )

महाभारतके स्वर्गारोहण-पर्वसे भी जाना जाता है कि युधिष्ठिर जब स्वर्ग गये थे, तब अर्जुन आदिके साथ एक ही संग वास करनेकी इच्छा प्रकट करनेपर उनको उन लोगोंके पास ले जाया गया था। उन्होंने देखा कि वे सब नरकमें वास कर रहे हैं। इससे उनके विस्मित होनेपर उनका विस्मय दूर करनेके लिये धर्मराजने उनसे कहा था—‘युधिष्ठिर ! अर्जुनादि तुम्हारे भ्रातृवर्ग वास्तविक नरकमें नहीं हैं। तुम जिस नरकको देख रहे हो, वह देवराज इन्द्रद्वारा कल्पित मायामात्र है—

न च ते भ्रातरः पार्थ नरकस्था विनाम्पते ।  
मायैषा देवराजेन महेन्द्रेण प्रयोजिता ॥

( गीताप्रेस संस्करण )

( म० भा०, स्वर्ग० ३।३३ )

केवल यादवोंके परित्यक्तरूपसे प्रतीयमान देह ही मायाकल्पित थे, इतनी ही बात नहीं है; सम्पूर्ण मौसलपर्व-लीला ही श्रीकृष्णकी माया थी। इस बातको श्रीकृष्णने स्वयं ही सारथि-दारुकासे कहा है—

त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः ।

मन्माथारचनामेतां विज्ञायोपशमं व्रज ॥

( श्रीमद्भा० ११।३०।४९ )

‘तुम भी मेरे धर्ममें आस्था रखते हुए ज्ञाननिष्ठ और उपेक्षक होकर ये सब मेरी मायारचित जानकर शान्तिलभ करो।’ इस श्लोककी ‘क्रमसंदर्भ’ टीका कहती है—

अथ दारुकसान्वनाय मौसलाद्यार्जुनपराभवपर्यन्ताया लीलाया ऐन्द्रजालवद्वरचितत्वमुपदिशति त्वं त्विति । ‘‘अधुना प्रकाशितां सर्वामेव मौसलादिलीलां मम मायया एव ऐन्द्रजालवद्वरचितां विज्ञाय इत्यादि—अधुना प्रकाशित मौसलादि सम्पूर्ण लीलाको ही इन्द्रजालकी तरह मेरी मायारचित समझो।

प्रभासतीर्थमें श्रीकृष्णकी मायासे विमोहित होकर ही यादवोंने आपसमें संघर्षकी सृष्टि की थी—यही बात श्रीशुकदेवजीने कही है—

कृष्णमायाविमूढानां संवर्षः सुमहानभूत् ।

( श्रीमद्भा० ११।३०।११ )

और श्रीकृष्णने अपने अन्तर्धानका संकल्प करने अपने द्वारका-परिकर यादवगणको भी अन्तर्धीपित करनेका संकल्प किया था एवं यादवोंके स्वयंके बीच एक कलहकी सृष्टि करके, उसी उपलक्ष्यमें उनको अन्तर्धीपित करनेके उद्देश्यसे ब्रह्मशापकी अवतारणा की थी, यह भी श्रीशुकदेव जी बता गये हैं—

भूभारराजश्रुतना यदुभिर्निरख्य

गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयद्प्रमेयः ।

मन्येऽवनेवंजु गतोऽप्यगतं हि भारं

यद् यादवं कुलमहो भविष्यमास्ते ॥



पृष्ठा १० ]

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत् कथंचि-  
न्मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ।  
अन्तःकल्लिं यदुक्कुलस्य विधाय वेणु-  
साम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैसि धाम ॥  
एवं व्यवसितो राजन् सत्यसंकल्प ईश्वरः ।  
शापव्याजेन विप्राणां संजह्ने स्वकुलं विशुः ॥  
( श्रीमद्भा० ११ । १ । ३-५ )

यह सब श्रीकृष्णका मायारचित इन्द्रजाल मात्र है, यह  
शत श्रीकृष्णदेवजीने भी परीक्षितको बताया है—  
राजन् परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा  
मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य ।  
( श्रीमद्भा० ११ । ३१ । ११ )

‘राजन् ! यादवादिकी एवं उनकी स्वयंकी भी  
आविर्भाव-तिरोभाव-चेष्टा नटकी तरह माया-विडम्बनामात्र  
है । इस श्लोककी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्तिने एक  
ऐन्द्रजालिका वृत्तान्त दिया है । किसी एक ऐन्द्रजालिक  
नटने किसी राजाकी सभामें उपस्थित होकर कला-  
चातुर्य-प्रदर्शनके उद्देश्यसे अपने एक ही शरीरसे अचानक  
कहूतसे राजा और राजपुत्र, हाथी, घोड़े-सैन्यादि प्रकट  
करके, उनमें आपसमें कलह उत्पादन कर, अस्त्र-शस्त्रके  
प्रहारसे सबको नष्ट करा दिया । पश्चात् स्वयं भी योगासनमें  
स्थित होकर समाधिस्थ होनेका भान किया । तब उसके  
देहसे अग्निने प्रकट हो उसके देहको जलाकर भस्म कर  
दिया । यह देखकर उसके स्त्री-पुत्रादिने भी शोक-विह्वल  
हो उसी अग्निमें जलकर प्राण-त्याग कर दिये । कुछ दिनों  
बाद राजाको एक पत्र मिला, जिसमें उस ऐन्द्रजालिक  
नटने उनको बताया था कि राजाने जो कुछ देखा था,  
वही नटकी इन्द्रजाल-विद्याका कला-कौशल था; सब कुछ  
मिथ्या था । इसी प्रकार श्रीकृष्णकी मौसलादि लीला भी  
उनकी मायाका ही कला-कौशल मात्र थी, वास्तविक नहीं ।

वास्तवमें श्रीकृष्णने जब अन्तर्धान-लीला करनेका संकल्प  
किया, तब उन्होंने अपने नित्य-परिकर प्रद्युम्नादिको  
अन्तर्हित कराकर, लीला-प्रकटनके समय उनमें कंदर्प-  
कार्तिकेयादि जिन्होंने प्रवेश किया था, सबके अलक्षित भावसे  
उन लोगोंको प्रद्युम्न आदिके देहसे निष्कासित करके,  
मायाकल्पित देह देकर उनको प्रद्युम्नादि रूपसे ही सबके  
निकट प्रतिभात कराया । पीछे अन्यान्य द्वारकावासियोंके  
षण्य उनको लेकर, प्रभास तीर्थमें जाकर उनके द्वारा दान-

ध्यानादि कराया । ये मायाकल्पित देहधारी द्वारकावासी ही मैरेय-  
मधु पान करके बुद्धि-भ्रष्ट हो गये एवं इन्होंने परस्परमें कलह  
करके एक-दूसरेको मार डाला । प्रद्युम्नादिके मायाकल्पित  
देहोंसे ही उन्होंने कंदर्प-कार्तिकेयादि अधिकारी भक्तगणको  
अपने-अपने स्थानपर—स्वर्गादिमें—भेज दिया था । यहीं  
सब देह पड़े रह गये थे एवं जिन देहोंका संस्कार किया  
गया था, वे सभी मायाकल्पित थे ।

‘स्त्रीयलीलापरिकरैर्यदुभिः सह द्वारावत्यामेव यथा-  
स्थितमेव विराजिष्ये, किंतु प्रापञ्चिकसर्वलोकचक्षुर्भ्यस्तिरो-  
भूयैव तथा प्रद्युम्नसास्त्रादिषु मन्त्रित्यपरिकरेषु तत्तद्विभू-  
तयो ये देवाः कन्दर्पकार्तिकेयादयः प्रवेशिता वर्तन्ते तानेव  
योगबलेन तत्तद्देहतोऽलक्षितमेव निष्कास्य प्रद्युम्नादित्वेन  
एव अभिमन्यमानान् सर्वलोकलोचनेष्वपि तथैव भातान् कृत्वा  
तैरन्यैश्च द्वारकावासिजनैः सार्द्धं प्रभासं गत्वा दानध्यानमधु-  
पानादिकं कारयित्वा तानाधिकारिभक्तान् स्वस्वाधिकारेषु  
स्वर्गं एव प्रस्थाप्य तदन्यैर्द्वारकावासिजनैः सह दाशरथिस्वरूप  
इव वैकुण्ठे प्रस्थास्ये, किंतु लोकलोचनेषु मायादोषं  
प्रवेश्यैव येन लोका एवं मंस्यन्ते द्वारावत्याः सकाशान्नि-  
ष्कम्य सर्वे यदुवङ्मयाः प्रभासं गत्वा ब्रह्मशापग्रस्ता मधु  
पीत्वा मत्ताः परःपरं प्रहता देहास्तत्यजुः । परमेश्वरोऽपि स  
रामस्त्यक्तमानुः । एव स्वधाममारोह तस्मान्मानुषशरीर-  
मिदमनित्यं मायकमेके वदिष्यन्ति ।’ ( श्रीमद्भागवतके  
‘पुते घोरा महोत्पाताः’ इत्यादि ११ । ३० । ५ श्लोककी  
टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती )

किंतु श्रीकृष्णका कोई भी मायाकल्पित देह नहीं था ।  
अन्तर्धानके पश्चात् उनका कोई परित्यक्त देह भी नहीं था ।  
जो अपने गुरु सांदीपनिमुनिके मृतपुत्रको यमपुरीसे उनके  
मर्त्यदेहमें वापस ले आये, जिन्होंने मातृगर्भमें ब्रह्मास्त्र-दग्ध  
परीक्षितकी रक्षा की, जिन्होंने अन्तकके अन्तक शंकरको  
भी बाणयुद्धमें पराभूत किया, जिन्होंने जरा नामक  
व्याधको सशरीर स्वर्ग भेज दिया, वे क्या आत्म-संरक्षणमें  
अक्षम हैं ? क्या वे सशरीर अपने धाममें प्रवेश करनेमें  
असमर्थ हैं ?

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकीतं  
त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम् ।

जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः

किं स्वावनेस्वरनयनमृग्यं सदेहम् ॥

( श्रीमद्भा० ११ । ३१ । १२ )



इस प्रकार स्पष्ट है कि मौसल-लीला और तत्-संक्रान्त सम्पूर्ण व्यापार मायामय—अवास्तविक है।

श्रीकृष्णकी मौसल-लीला मायाकल्पित है—यह बात मायामलिनचित्तवाले प्राकृत लोग नहीं समझ सकते। जिनकी आँखें पित्तादि दोषयुक्त हैं, वे जिस प्रकार सफेद उज्ज्वल शङ्खको भी पीतवर्ण देखते हैं, उसी प्रकार जो लोग मायाबद्ध हैं, वे उनकी सच्चिदानन्दमयी निर्वाण-लीलाको प्राकृत मानते हैं और मानते हैं कि मानो उन्होंने द्वारकावासियोंसहित प्राकृत लोगोंकी तरह ही देहत्याग किया एवं उनकी महिषीगणने भी अग्नि-प्रवेश करके देहत्याग किया। केवल प्राकृत लोग ही ऐसा मानते हैं—यह नहीं है; श्रीकृष्ण-मायासे मुग्ध होकर अर्जुनादिने भी एवं पराशरादि मुनिगणने (विष्णुपुराणमें) एवं वैशम्पायनने भी (महाभारतमें) इस प्रकार साधारण लोगोंकी प्रतीतिके अनुरूप कथाका ही वर्णन किया है।

‘यथा धन्वलोज्ज्वलमपि दाह्यं पित्तादिदोषोपहतचक्षुषो मलिनपीतमेव पश्यन्ति, तथैव सच्चिदानन्दमयीमपि मन्त्रिर्वाण-लीलां मायादोषोपहतचित्तचक्षुषः प्रशुभ्नादिसर्वपरिकर-सहितमदेहत्याग-कविसण्यादिमहिषीवह्निप्रवेशादितुरवस्थामयीं प्राकृतीमेव द्रक्ष्यन्ति निश्चेप्यन्ति च। न केवलं प्राकृताः, किंतु मदिच्छावशाजुनादयोऽपि तथैव वैशम्पायनपराशरादयो मुनयोऽपि स्वस्वसंहितासु वर्णयेयुरपि एते घोरा महोत्पाताः—

( इत्यादि श्रीमद्भा० ११।३०।५ श्लोककी टीकामें श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती )। अर्जुनने जिन सब देहोंका संस्कारादि किया है, वे सब मायाकल्पित हैं—इस बातको श्रीकृष्णकी मायासे अर्जुन भी नहीं समझ सके। अज्ञतावश साधारण लोगोंने मान लिया कि सभीने देह-त्याग किया है। इस लोक-प्रतीतिका अनुसरण करके ही वैशम्पायनने महाभारतमें एवं पराशरने विष्णुपुराणमें वर्णन किया है।

## वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता

( लेखक—डॉ० श्रीनरजकान्त चौधुरी, देवशर्मा, एम्०ए०, एल्-एल्०बी०, पी-एच्०डी० )

[ गताङ्क पृष्ठ ११४७ से आगे ]

### स्त्री और शूद्र वेदके अनधिकारी

शास्त्रानुसार किसी भी स्त्रीका, यहाँतक कि ब्राह्मण-स्त्रीका भी वेदमन्त्र-पाठमें अधिकार नहीं है, अतएव यज्ञ-कार्यमें भी अधिकार नहीं है।

( क ) न वेदे पत्नीं वाचयति ।

( सांख्यायनब्राह्मण ७।३० )

जब पति यज्ञ-कार्यमें प्रवृत्त हो, केवल उसी समय उसकी पत्नी यज्ञमण्डपमें अपने पतिके साथ सहधर्मिणीके रूपमें अधिकारपूर्वक उस कर्ममें योग दे सकती है। किंतु अकेली कोई स्त्री वेदमन्त्रका पाठ या कोई यज्ञ नहीं कर सकती।

स्पष्ट समझमें आता है कि शास्त्रकारगण एकदेशदर्शी—पक्षपाती नहीं थे। कारण, ऐसा होनेपर वे ब्राह्मण-स्त्री अथवा राजपत्नीको वेदमें अधिकार दे देते।

( ख ) भागवतमें आया है—‘स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।’ ( १।४।२५ )

‘स्त्री, शूद्र एवं अधम द्विज अर्थात् पतित ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यको वेद-श्रवणका अधिकार नहीं है।’

किन्हीं-किन्हींने इस वाक्यको लेकर भागवतकी आलोचना की है, किंतु भागवतकार निर्दोष हैं। कारण, वेदमें ही यह आता है कि स्त्री और शूद्रका वेदमें अधिकार नहीं है। ध्यान देनेकी बात है, द्विज-बन्धुका भी निषेध है। श्रीधरस्वामीने इसका अर्थ किया है—‘त्रैवर्णिकेष्वधमाः’।

( ग ) शूद्रोंका उपनयन-संस्कार नहीं होता। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालकोंका ही उपनयन-संस्कार होता है। ‘वसन्ते ब्राह्मणमुपनयति, ग्रीष्मे राजन्यम्, शरदि वैश्यम्—वसन्त ऋतुमें ब्राह्मण बालकका, ग्रीष्ममें क्षत्रियका और शरदमें वैश्यका यज्ञोपवीत-संस्कार करे।’—इस श्रुतिवाक्यके अनुसार शूद्र बालकके लिये यज्ञोपवीत धारण करनेका अथवा गुरुग्रहमें ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययनका कोई विधान नहीं है। उपनयनके बाद त्रैवर्णिक बालकोंकी ‘द्विज’ संज्ञा होती है। किंतु शूद्रका उपनयन नहीं होता, उन्हें ‘एकजन्मा’ ही कहा जाता है।

( घ ) कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहिताका ( ७।१।१।६ ) मन्त्र है—‘तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवकल्मसः।’ अर्थात् ‘शूद्रको यज्ञ करनेका अधिकार नहीं है।’



पृष्ठा १० ]

(ड) अथर्ववेदकी वृषिपूर्वतापिनी उपनिषद्में भी इसका प्रमाण मिलता है। उसपर आचार्य शंकर तथा उनके परवर्ती विद्यारण्यस्वामीने भाष्य लिखा है। वेदमें स्त्री-शूद्रका अधिकार नहीं है, इस बातको इस उपनिषद्में स्पष्टरूपसे कहा गया है।

‘सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति...सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः, स मृतोऽधो गच्छति। तस्मात् सर्वदा नाचष्टे, यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव मृतोऽधो गच्छति।’ (१।३)

स्त्री अथवा शूद्रके लिये गायत्री, यजुर्वेदमय महालक्ष्मी-मन्त्र, वेदमन्त्र और प्रणवका उच्चारण अनभिप्रेत है। यदि स्त्री-शूद्र श्रीवीजसे अभिमन्त्रित गायत्री, वेदमन्त्र अथवा प्रणव-प्रभृतिसे अवगत हों तो ऐसा होनेपर वे स्त्री-शूद्र मृत्युके पश्चात् नरकगामी होते हैं। अतएव इनके लिये इन सब मन्त्रोंका पाठ करना निषिद्ध है। यदि कोई आचार्य स्त्री किंवा शूद्रको सावित्री आदिका अध्ययन कराता है, तो उस आचार्यको इसके लिये उसकी स्वयंकी मृत्युके वाद अधोलोकमें जाना पड़ता है।

अद्वैतवादके मार्गदर्शक आचार्य शंकरने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—‘सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय सो च शूद्रश्च स्त्रीशूद्रं तस्मै स्त्रीशूद्राय नेच्छन्तीति निषेधं... कुर्वन् प्रधानोपासनायां स्त्रीशूद्रस्याप्यधिकारं दर्शयति...सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स मृतः अधः नरकं गच्छतीति प्रत्यवायदर्शनेन निषेधमेव दृढयति। तस्मात् सर्वदा नाचष्टे इति कदाचिदपि नाचष्टे इत्याचार्यस्य निषेधं दर्शयति। यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव कथनेन मृतोऽधो-गच्छतीति प्रत्यवायदर्शनेन निषेधमेव इति।’

सुतरां, आचार्यपादके मतसे भी किसी स्त्री या शूद्रको वेद-मन्त्र, उच्चारण, गायत्री और लक्ष्मीवीजसहित गायत्रीका उच्चारण करानेसे कोई पुण्य किंवा मङ्गल तो होता नहीं, बल्कि इससे घोर प्रत्यवायभागी होना पड़ता है एवं मृत्युके पश्चात् नरकमें जाना होता है। यदि कोई पुरोहित (ब्राह्मण) इन सब मन्त्रोंका शूद्र अथवा स्त्रियोंसे उच्चारण कराता या इनकी उन्हें दीक्षा देता है तो उसे भी इसी प्रकार नरक-भोग करना होता है।

अधिक क्या, ये उपनिषद्वाक्य अथवा शंकरभाष्य प्रसिद्ध अथवा पक्षपातपूर्ण हैं, यह बात बिल्कुल नहीं कही जा सकती। शंकर यह कहना भी नहीं भूले कि इन वृषिदेव-की जो प्रधान उपासना है, उसमें स्त्री-शूद्रोंका अधिकार

है। उनके लिये केवल प्रणव और वेदमन्त्र आदिका प्रयोग करना उचित नहीं है।

(च) ब्रह्मसूत्र (वेदान्त और उत्तर-मीमांसा) भाष्य (१।३।३८) के ‘अपशूद्राधिकरण’में बहुत कुछ कहनेके बाद शंकर कहते हैं—

‘जातिशूद्रस्य अनधिकारात्।’ ‘यस्य हि समीपेऽपि नाध्येतव्यं भवति स कथमश्रुतमधीयीत।’

‘शूद्रोंकी संनिधिमें जब वेदपाठ भी अवैध है, तब फिर वेद-शिक्षाका तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता।’ शूद्र-वर्णमें जन्म होनेपर वेदमें अधिकार नहीं होता।

(छ) श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्, स्मृतेश्च।

(१।३।३८)

‘इतश्च न शूद्रस्याधिकारः। यदस्य स्मृतेः श्रवणा-ध्ययनार्थप्रतिषेधो भवति। वेदश्रवणप्रतिषेधो वेदाध्ययन-प्रतिषेधः, तदर्थज्ञानानुष्ठानयोश्च प्रतिषेधः शूद्रस्य स्मर्यते।’ (शंकरभाष्य)

वेदाक्षरविचारेण शूद्रः पतति तत्क्षणात्।

(पराशरस्मृति १।७३)

न शूद्राय मतिं दद्यात्। (मनु० २।१७२)

‘शूद्रको (ब्रह्म) ज्ञानका उपदेश न दे।’ सुतरां ब्रह्म-सूत्रमें भगवान् वादरायण ‘वेदश्रवण और अध्ययनकार्यमें शूद्रोंका अधिकार नहीं है’—यह स्मृतियोंके आधारपर कहते हैं। स्मृतिवाक्योंका यहाँ इसीलिये उल्लेख भी किया गया है। फलस्वरूप वैदिक यज्ञके अनुष्ठान अथवा ब्रह्मविद्यामें भी उन लोगोंका अधिकार नहीं है—शंकरका ऐसा मत है।

(ज) श्रीश्रीरामानुजाचार्यने भी बहुत विचारकर निश्चय किया है कि ‘शूद्रस्य वेदश्रवणतदध्ययनतदर्थानुष्ठानानि प्रतिषिध्यन्ते...शूद्रस्यानधिकार इति सिद्धम्।’ (श्रीभाष्य १।३।३८-३९)

शूद्रोंको वेद-श्रवण अथवा अध्ययनका अधिकार नहीं है। लेकिन शंकरके मतसे वेदपाठका अधिकार न रहनेपर भी इतिहास और पुराण-श्रवणका शूद्रोंको अधिकार है। रामानुजका भी यही कहना है कि इतिहास-पुराण-श्रवणद्वारा ही शूद्रोंके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं।

(झ) बंगालके प्रसिद्ध स्मृति-निबन्धकार खनुन्दन भट्टाचार्य अपने ‘तिथितत्त्व’ के ६५ वें पृष्ठपर लिखते हैं कि



अनुपनीत ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य, शूद्र तथा किसी भी वर्णकी स्त्रियोंको वेदमन्त्रोंके उच्चारणका अधिकार नहीं है । उन्होंने मनुस्मृति तथा नृसिंहपूर्वतापिनी-उपनिषद्के उपर्युक्त वचनोंको उद्धृत किया है ।

किंतु उनके मतसे ये लोग अवैदिक अर्थात् पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्र-पाठके अधिकारी हैं । 'वैदिकेतरमन्त्र-पाठे शूद्रादेरप्यधिकारः' ।

( ज ) इस तरह कोई-कोई 'शूद्रको ब्रह्मविद्याका—अधिकार नहीं है' ऐसा कहनेवाले शंकरपर आक्षेप करते हैं—यहाँतक कि कोई-कोई ब्रह्मसूत्रके—'अपशूद्राधिकरण' को प्रक्षिप्त कहनेमें भी संकोच नहीं करते ।

हम यहाँ साक्षात् धर्मके अवतार महामति विदुरकी बातका स्मरण कराना चाहते हैं ।

महाभारतके उद्योगपर्वमें लिखा है कि राजा धृतराष्ट्रको युद्धचिन्तासे नींद नहीं आ रही थी । विदुरने उस समय उन्हें जो अमूल्य उपदेश दिया, वह 'विदुरनीति'के नामसे सुप्रसिद्ध है । ब्रह्मविद्याके सम्यन्धमें धृतराष्ट्रके पूछनेपर विदुर उनसे कहते हैं—

'शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे ।'

( उद्योगपर्व ४१ । ५ )

नीलकण्ठने इसके भाष्यमें कहा है—

वर्णाश्रमक्रममुलङ्घ्य ब्रह्मविद्यां नोपदिशेदिति ।

विदुरको स्वतः—बिना उपदेश ग्रहण किये ब्रह्मविद्याका सम्पूर्ण ज्ञान था । फिर भी उन्होंने शूद्रासे उत्पन्न होनेके कारण अपने मुखसे किसीको भी, विशेषकर उच्च क्षत्रिय वर्णवाले राजा धृतराष्ट्रको ब्रह्मविद्याका उपदेश देना वर्णाश्रम-व्यवस्थाके प्रतिकूल समझा । इसीलिये उन्होंने ब्रह्मलोकस्थ ब्रह्मर्षि सनत्सुजातको स्मरण किया । सनत्सुजात उसी समय ब्रह्मलोकसे आ उपस्थित हुए और धृतराष्ट्रको गम्भीर दार्शनिक तत्त्वका जो उपदेश दिया, वह 'सनत्सुजातीय'के नामसे विख्यात है । शंकराचार्यने इसपर प्रगाढ़ पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिखा है ।

विचारनेकी बात है, विदुर स्वयं धर्मके अवतार थे । उनकी आध्यात्मिक शक्ति इतनी प्रबल थी कि उनके आह्वानमात्रसे सनत्सुजात तुरंत ऊर्ध्वलोकसे आ गये । फिर भी विदुरने वर्णाश्रम-मर्यादाका भङ्ग नहीं किया, बल्कि अपने दैन्यका ही परिचय दिया ।

( ट ) पूर्वमीमांसादर्शन ( ६ । १ । २-३-५२ ) में महर्षि जैमिनिने भी ऐसा ही मत प्रकाशित किया है । वहाँ पूर्वपक्ष आदि उपस्थितकर विशद विचारके अनन्तर यह स्थिर किया गया है कि शूद्र वेदपाठ नहीं कर सकता, फिर वैदिक यज्ञ करनेकी बात उठ ही नहीं सकती । ( पण्डित भूतनाथ सप्ततीर्थ, 'मीमांसादर्शन', द्वितीय खण्ड ६-३७ पृ० )

( ठ ) राममोहन रायने ( उस समय राजाकी उपाधि उन्हें नहीं मिली थी ) प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व जब अद्वैतब्रह्मका चिन्तन करनेके लिये ब्रह्ममन्दिरकी स्थापना की, उस समय निमन्त्रित वेदपाठी ब्राह्मण विदा ले चुके थे । उसके बाद सप्ताहमें एक दिन वेदपाठ होता था । एक अतिरिक्त घरमें आचार्य वेदपाठ करते थे । उसमें शूद्रोंका प्रवेश निषिद्ध था ।

I.....he ( Ram Mohan ) had the Veda chanted in the temple from an adjoining room by Brahmins only, where people of inferior castes were not allowed to enter.....Nor did he succeed in establishing a body, or a brotherhood, such as would accept his cosmopolitan ideal of work and worship, or would carry out its implications.

—Prasanta Kumar Sen: 'Biography of a New Faith', p. 135 )

'Further a decade passed between the death of Ram Mohan and the advent of Devendra Nath to the Brahma Samaj.....The readings from the Vedas by the Brahmins in the private room, the sanctum sanctorum, and the minister's expositions in the public room, accompanied by the singing of the hymns, continued as before. There was no congregation, no regular body of worshippers, no covenant or creed that could hold them together.'

( Ibid, P. 137 )

प्रशान्तकुमार सेन लिखते हैं कि राममोहन ( ब्रह्ममन्दिरमें ) पासके ही एक कक्षमात्रमें ब्राह्मणोंद्वारा वेदपाठ करते थे । उसमें अन्य जातिके किसी भी व्यक्तिका प्रवेश निषिद्ध था । राममोहनकी मृत्युके पश्चात् द्वारकानाथ ठाकुरके नेतृत्वमें उसी तरह इस मन्दिरका कार्य चलता था । देवेन्द्रनाथकी आयु उस समय १२ वर्ष थी । वे राममोहनके तिरोधानके दस वर्ष बादतक ब्रह्म-समाजमें नहीं आये । तबतक ब्राह्मणगण उसी गुप्त कक्षमें वेदपाठ करते थे । मन्दिरके साधारण कक्षमें आचार्य प्रवचन करते, कीर्तन होता । राममोहन इस प्रकारका किसी धर्मसंघ या समाजको, जिसके सदस्य उनके मतानुसार चले और उपासना करें



[ १० ]

अतएव आधुनिक प्रगतिके कर्णाधार रूपसे प्रसिद्ध राममोहन राय भी विश्वास करते थे कि वेदमन्त्रोंका जहाँ तक हो, वहाँ शास्त्रानुसार शुद्धोंका रहना उचित नहीं। राममोहन स्वयं ब्राह्मण-संतान थे एवं अन्ततः उनके कष्टमें जनेऊ रहा। उन्हें श्रीमद्भागवत कण्ठस्थ थी।

१. शुद्धानामनिरवसितानाम्। ( २।४।१० )  
महामात्य—आर्यावर्त्तादनिरवसितानाम्। ..... यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण शुभ्यति, तेनिरवसिताः। यैर्भुक्ते पात्रं संस्कारेण न शुभ्यति, ते निरवसिताः इति।

इस सूत्रके भाष्यमें पतञ्जलिने आर्यावर्तका वर्णन किया है। आर्योंके देश इस आर्यावर्तमें आर्योंका निवास ग्राम, घोष (गोष्ठ), नगर, संवाह (वणिक् प्रधान स्थान) आदिमें था। वेदवेदान्त (१।१।७) के अनुसार आर्योंके निवास-स्थानमें, जो ब्राह्मण कुम्भीधान्य अर्थात् मटकेमें केवल छः दिनोंका अन्न ग्रहण करनेवाले, अलेख्य, अग्रतिग्रही एवं किसी भी शास्त्र-विद्यामें पारंगत होते थे, वे 'शिष्ट'की श्रेणीमें गिने जाते थे। चण्डाल, क्षत्र, डोम्बा (डोम) आदि आर्य-निवाससे बाहर रहते थे। वे यज्ञकर्म करनेके अधिकारी नहीं होते थे। परंतु सत्-शुद्धा पञ्चमहायज्ञमें तो अधिकार था, किंतु अग्निहोत्रमें नहीं।

“जिनके जुटे बर्तन माँजकर काममें ले लिये जाते थे, वे 'निरवसित' जातिके कहलाते थे। परंतु इसके विपरीत जिनके जुटे बर्तन माँजनेपर भी काममें नहीं लिये जाते थे, वे 'निरवसित' कहलाते थे।”

पणिनिके ये सूत्र और उनके भाष्यमें अनुमानतः ईसा-पूर्व दशम-नवम शताब्दीके हैं। इसमें उनके कालसे ही नहीं, उनके भी पूर्ववर्ती समयसे ईसापूर्व दूसरी शताब्दीतक प्रागैतिहासिक भारतकी समाज-व्यवस्थाका एक सुस्पष्ट चित्र उद्घाटित हुआ है। इस चित्रकी पटभूमिका वर्णाश्रम-धर्मके जन्मगत अधिकारवादपर प्रतिष्ठित है। आर्यावर्तमें आर्यनिवासवासी आर्य-जन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं सत्-शुद्ध) अग्रजन्मा 'शिष्ट' जातिके निर्देशानुयायी शास्त्रमतसे परिचालित और शासित होते थे।

असलमें ब्राह्मणसमाजके सखा राममोहन राय नहीं हैं। उन्होंने देवेन्द्रनाथ ठाकुर ही इसके प्रतिष्ठाता हैं। उन्होंने भी ब्राह्मणसमाजमें ब्राह्मणको छोड़कर और किसीको आचार्य मान्य नहीं किया। उनका जनेऊ हुआ था और वे गायत्रीके प्रचारक थे। पुत्रोंको भी उन्होंने उपनीत किया था।

ये। ये शिष्टगण उच्छृङ्खल, निर्लोक, अपरिग्रही, निराशी एवं वैदिकशास्त्र और अध्यात्मविद्याके प्रगाढ़ पण्डित ब्राह्मण थे।

यहाँ विशेषरूपसे जाननेकी बात यह है कि उस युगमें भी आवहमान कालसे भी आहार-विहारके नियम अत्यधिक कठोर थे। उच्छिष्ट और 'अच्छूत' तब भी थे। यहाँतक कि पाँच हजार वर्ष पूर्व भी भारतमें उच्छिष्ट और छुआछूतका विचार था। इसके पुरातत्त्वसम्बन्धी प्रमाण हैं।

\* संध्याके समय अनाजकी पैठ उठ जानेके बाद मैदानमें बिखरे हुए दानोंको बटोरकर उन्हींसे अपना निर्वाह करनेवाले।

1. “The water supply of the two cities was obtained from excellently constructed wells with brick-lining.....Round such well-heads have been found innumerable fragments of mass-produced little clay cups, suggesting that, as in contemporary Hinduism, there was a ritual taboo in drinking twice from the same cup and that each cup was thrown away or smashed after it had been used.”

( Piggotts 'Prehistoric India', pp. 170-171 )

पुरातत्त्वविद् पिगट् साहब लिखते हैं—

( मोहजो दड़ो और हरप्पा ) इन दोनों नगरोंमें ष्टोंसे बाँधे गये और सुन्दर ढंगसे तैयार किये गये कुओंसे जलका संग्रह होता था। ...सर्वसाधारणके व्यवहारमें आनेवाले कुओंके पास मिट्टीके पात्रोंके असंख्य छोटे-छोटे टुकड़े पाये गये हैं। समझनेमें देर नहीं लगती कि आधुनिक हिंदू समाजकी तरह वहाँ भी एक ही मृत्पात्रसे एकाधिक बार जलपान करना धार्मिक आचारके विरुद्ध समझा जाता होगा और व्यवहार करनेके बाद प्रत्येक पात्रको फेंक देते होंगे या फोड़ डालते होंगे।

पृथिवीके और किसी देशमें या दूसरी जातिमें, स्वर्शस्पर्श-विवेक, आहार-शुद्धि, उच्छिष्टबोध आदि आचार-नियम, जिनको आजकलके प्रगतिवादी जन व्यवस्थामें 'छूत मार्ग' कहते हैं, कभी नहीं था। अब भी चीन, जापान, तिब्बत, ब्रह्मा, इयाम प्रभृति देशोंके उपधर्मावलम्बी बौद्ध लोगोंमें भी नहीं है। एकमात्र वर्णाश्रमी समाजके शास्त्रसम्मत आचार-व्यवहारमें मृत्पात्र एक बार ओछा-स्पृष्ट होनेपर उच्छिष्ट और अव्यवहार्य हो जाता है और उसे व्यवहारके बाद फेंक देना होता है।

ये दूटे हुए मिट्टीके बर्तन अकाव्य रूपसे प्रमाणित करते हैं कि सिन्धु उपत्यकाके निवासी लोग पाँच हजार वर्षसे भी पहले वैदिक (सनातन) आचारका पालन करते थे। यह स्वतः सिद्ध है, किसी तर्क अथवा संदेहके लिये यहाँ कोई गुंजाइश नहीं रह जाती।



पञ्चम जाति बराबर ही नगर अथवा गाँवकी सीमापर अथवा सीमासे बाहर निवास करती थी ।

१०—अम्बाम्ब.....दिव्यग्निभ्यः स्थः । ८ । ३ । ९७ ।

भाष्य—अम्बायां वैश्यायां तिष्ठति यः सः अम्बन्तः ।

इस सूत्रसे अनुलोम विवाह—ब्राह्मण पिताके औरस तथा वैश्य माताके गर्भसे उत्पन्न संतान 'अम्बष्ठ' नामक संकीर्ण जातिकी सिद्ध होती है । इसीका इसमें उल्लेख हुआ है । उसके अधिकार एवं आचार-व्यवहार मातृवर्णानुयायी वैश्यकेसे होते हैं ।

११—वर्णाद् ब्रह्मचारिणि । ( ५ । २ । १३४ )

‘ब्राह्मणादि त्रिवर्णोंका ब्रह्मचर्य होता है ।’

१२—खट्वा क्षेपे । ( २ । १ । २५ )

महाभाष्य—अधीत्य स्नात्वा गुरुभिरनुज्ञानेन खट्वाऽऽ-  
रोढव्या । य इदानीमतोऽन्यथा करोति, स उच्यते खट्वाऽऽ-  
रुढोऽयं जाल्मो नातिव्रतवान् ।

कैयट—असमाप्तेऽध्ययने भूमिशयनार्हः ।

उपर्युक्त सूत्रमें वर्णाश्रमी परम्पराका एक मूल रहस्य निहित है ।

ब्रह्मचर्यके कालमें खाटपर सोना निषिद्ध है । त्रैवर्णिक ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य बालक पाँच, आठ किंवा बारह वर्षकी आयुसे पचीस—यहाँतक कि तिरपन वर्षकी आयु-तक गुरुके घरमें रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करते थे । ब्राह्मणों-को एक-एक वेदके लिये बारह वर्षके हिसाबसे चारों वेदों-तकका अध्ययन करनेमें बारह, चौबीस, लत्तीस—यहाँतक कि अड़तालीस वर्षतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करना पड़ता था । क्षत्रियों और वैश्योंको इनकी अपेक्षा बहुत कम समय गुरु-गृहमें रहना होता था । कारण, उनको वेदके अतिरिक्त भी यथाक्रम युद्धविद्या एवं वाणिज्य, शिल्प, पशुपालन आदि व्यवसायोंमें नैपुण्य प्राप्त करना होता था ।

नियम था कि सम्राट्-कुमार या करोड़पति, श्रेष्ठिपुत्र अथवा दरिद्र कुटीरवासी ब्राह्मण वदु सभी ब्रह्मचर्याश्रममें भूमिपर शयन करें, समिधा-हरण, काष्ठ-संग्रह, भिक्षाटनके पश्चात् मात्र एक समय भोजन और गुरुकी निष्कपट सेवा करें । वे लोग वेदपाठ और अपग विद्याके साथ परा-ब्रह्म-विद्या प्राप्त करनेकी साधना भी करते थे । यह स्मरण रखना होगा कि शूद्र बालकको भी गुरुगृह जाकर वेदाध्ययन-रूप

ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान न करके भी घरमें रहकर उच्चकोई आदर्शके अनुसार कायिक और मानसिक ब्रह्मचर्य अपना उपस्थ-संयमका अधिकार था ।

दूसरी ओर बालिकाएँ भी अन्तःपुरमें पुरुष-संस्पर्शसे दूर रहनेके कारण ऋतुमती होनेसे पूर्व अल्प वयस्में विवाह होनेके परिणामस्वरूप निष्पाप और पवित्र रहती थीं । विवाहसे पहले प्रेम इस देशवासियोंको अज्ञात था । अब भी ‘ब्राह्म’ विवाहमें शुभदृष्टि एक अत्यावश्यक अङ्ग है क्योंकि विवाहसे पूर्व स्वामि-स्त्रीका परस्पर मुखदर्शनतक वैदिक संस्कृतिके नियम-विरुद्ध है । पति-पत्नीमें भी जब इस प्रकारका व्यवहार होगा, तब पर-पुरुष अथवा पर-नारी के स्पर्शकी बात तो दूर, चिन्तनतकको वर्णाश्रमी स्त्री-पुरुष प्रायश्चित्तके योग्य अपराध समझते थे और उससे बचते थे—इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है ।

विवाहके बाद भी कुछ दिनतक भूमिशयन करना होता था । पति-पत्नीके एक ही शय्यापर शयन करनेपर भी बीजमें उदुम्बर ( गूलर ) अथवा अन्य कोई पवित्र काष्ठके एक दण्डद्वारा व्यवधान रखनेका नियम था । कामसूत्रमें वात्स्यायनने आदेश दिया है, ‘न त्वकाले व्रतखण्डनम् । पति-पत्नी अकालमें ब्रह्मचर्य-व्रत भङ्ग न करें ।’

इसके पश्चात् स्वामि-स्त्री पलंगपर आरोहण करते थे । किंतु विवाहित जीवनमें भी उन्हें ब्रह्मचर्य-पालन करना चाहिये—यही शास्त्रका आदेश है । स्त्री भोग्या नहीं है वह जगन्माताकी प्रतीक अर्धाङ्गिनी, यशमें पत्नी, धर्मसूत्र में सहधर्मिणी है । कात्यायन-स्मृतिके अनुसार ऋतुगमन गृहस्थगण प्राजापत्य ब्रह्मचारी हैं । ( ब्रह्मसूत्र-भाष्य, प्रभा टीका ३ । ४ । २ । १८ )

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चारों ही वर्णों गृहस्थोंको ऋतुगमन रूप ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये है । यह असिधारा-व्रतसे भी कठिन है । प्रथम कई दिनों और पर्व आदि बाद देनेपर केवल संतानोत्पादनके उद्देश्यसे मासमें एक बार मात्र शास्त्रोक्त मन्त्रोंका पाठ करते हुए पवित्र भावसे गर्भाधान करना चाहिये । सच्चे ब्रह्मचारी मात्र एक बार मिलनेके फलस्वरूप गर्भ स्थापित हो जाता है जैसे पशुओंका होता है । इसलिये दूसरे मासमें ऋतुगमन नहीं होता । गर्भावस्थामें तथा संतानका



को दिन बादतक श्रुत-दर्शन न हो, उतने दिनतक सम्बन्धकी वैहिक सम्बन्ध वर्जित है।

ऐसा होनेपर २५-३० वर्षमें १५-२० बारसे अधिक सम्बन्धकी वैहिक सम्पर्क होना सम्भव नहीं है। शास्त्रमें ऐसा आदेश है कि २-३ संतान होनेपर स्वामी-स्त्री को वैहिक की तरह रहें। हमें राजस्थानकी एक क्षत्रिय स्त्रीकी बात शत है। उन्होंने स्वामीकी अनुमति लेकर १५ आदर्शका अनुसरण किया था।

अधिक क्या, वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रममें पूर्ण सम्बन्धका विधान है तथा पलंगपर सोनेका निषेध है। वेदोंके लिये भूमि-शय्याकी ही व्यवस्था है। केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णके लोग ही वानप्रस्थी होते हैं। वैश्योंके लिये वानप्रस्थका विधान नहीं है। संन्यास-आश्रमके भी अधिकारी केवल ब्राह्मण हैं, अन्य किसी वर्णके लिये संन्यासका विधान नहीं है। ये दोनों जीवन ही अतिकठोर हैं, इसमें संदेह नहीं।

पृथ्वीके अन्य किसी भी देशमें विधवाके पत्यन्तर-सहयोग वाधा नहीं है, किंतु भारतमें सहमरण न होनेपर आराम्य ब्रह्मचर्य ही विधवाका कर्तव्य है।

प्रायः सौ वर्ष पहले ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने पराशर-स्मृतिके 'नष्टे मृते प्रव्रजिते'—इस एकमात्र श्लोककी अप-वाक्या कर विधवा-अंग्रेज सरकारको हिंदू विधवा-विवाह-संयुक्त बनानेमें सहायता दी थी, जब कि ये वाक्य 'नष्टे मृते कन्याके' विवाहविषयक हैं। विधवा-विवाहके

१. कामधुन (बंगवासी) १।५।३ (८९-९३ पृष्ठ) में है। पण्डितप्रवर पञ्चानन तर्करत्न महोदयने विशद व्याख्या-रूप प्रमाणित कर दिया है कि पराशरस्मृतिके ये श्लोक अनन्यपूर्वा-वर्णविषयक हैं।

कामधुनकार वात्स्यायनने 'कामधुनपुं वणेषु स्वर्णतः शास्त्रतश्चा-न्यपूर्वां प्रयुज्यमानो पुत्रीयो यशसो लौकिकश्च भवति।' (१।१।१) सूत्रमें स्वर्णा अनन्यपूर्वा कन्याके साथ विवाहका अनु-मोदित किया है। उनके मतसे अजातरजस्का कन्याका विवाह सम्भव है।

इसके बादवाले सूत्रमें अपनेसे उत्तमवर्णवाली कन्या अथवा स्वर्णरेशका विवाह प्रतिषिद्ध हुआ है। पूर्व कालमें विधवा-विवाह अथवा विवाहविच्छेद समाजवर्हिर्भूत कार्य था।

सम्बन्धकी वहाँ कोई चर्चा ही नहीं है। इन श्लोकोंके अनुसार वाग्दत्ता कन्याका अन्य पुरुषके साथ विवाह-समाजमें वैध माना गया है।

विवाहके पश्चात् स्वामीके गुम हो जाने, मर जाने या क्लीब, पतित अथवा संन्यासी हो जानेपर शास्त्रमें अन्य पतिका विधान यदि वास्तवमें होता तो यह स्वीकार करना होगा कि एक पतिके वर्तमान रहते दूसरे पुरुषके साथ विवाह एवं विवाह-विच्छेद भी शास्त्रानुमोदित है।

किंतु इस प्रकार पुनर्विवाह अथवा विधवाका विवाह वैदिक समाजमें कभी नहीं था। इस देशके हजारों वर्षके सुदीर्घ इतिहासमें कहीं भी विधवा अथवा सधवाके द्वारा पत्यन्तर-ग्रहणका एक भी उदाहरण क्या कोई दिखा सकता है?

अतएव, वर्णाश्रम-समाजका मूलतत्त्व ब्रह्मचर्य है। स्त्री-पुरुषोंके इस असाधारण संयमके फल-स्वरूप समग्र जातिके लोगोंको अदृष्ट स्वास्थ्य, अमित शक्ति, अलौकिक सौन्दर्य तथा असाधारण स्मृति और धी-शक्ति मिली है। सर्वोपरि अध्यात्म-राज्यमें प्रवेश और उसके कठिन मार्गपर अग्रसर होना भी सहज हो गया है। ब्रह्मचर्य ही भारतीय जातिकी जीवनी-शक्तिका मूल उत्स है।

पाणिनिके सूत्र तत्कालीन और तत्पूर्वकालीन वर्णाश्रमी समाजके इस अत्युत्कृष्ट वैशिष्ट्यका साक्ष्य देते हैं। प्रक्षिप्त-वादका तर्क इस क्षेत्रमें उठ ही नहीं सकता।

### उपसंहार

स्थानाभावके कारण अष्टाध्यायीके कुछ सूत्रोंका उल्लेख किया गया है। इस दिग्दर्शनकी चेष्टाके फलस्वरूप निस्संदेह रूपसे यह सिद्ध होता है कि आजने लेकर तीन—सम्भवतः पाँच हजार वर्ष, यहाँतक कि उससे भी बहुत पहलेसे भारतके वैदिक-धर्मावलम्बी समाजमें वर्णाश्रमधर्म जन्मगत अधिकार-पर प्रतिष्ठित है। वैयक्तिक गुण अथवा कर्मपर कभी भी वर्ण अथवा जातिका निर्णय नहीं हुआ। यही शास्त्रनिर्दिष्ट पथ है। सच्छूद्रगण भी आर्य हैं। यद्यपि शास्त्रानुसार उनको वेद पढ़ने अथवा वैदिक यज्ञमें सम्मिलित होनेका अधिकार नहीं है—यही क्यों, त्रिवर्णकी स्त्रियोंका भी वेदके पढ़नेका अधिकार नहीं है, फिर भी पतिके साथ पत्नी यजमानके रूपमें यज्ञमें सहधर्मिणीके रूपमें सम्मिलित हो सकती है।



सुतरां, इस व्यवस्थामें किसी प्रकारका पक्षपात नहीं है। वेदमें ही आदेश है कि 'स्त्री-शूद्र वेदमन्त्र, प्रणव आदिका उच्चारण नहीं कर सकते। करनेसे प्रत्यवाय होगा।' अतएव ब्राह्मणोंने समाजपर अपना प्रभुत्व बनाये रखनेके लिये निम्न जातिके लोगोंको अशिक्षित रखा है—इस तर्कका

कोई अर्थ नहीं है। इस समय वेद छापे जा रहे हैं। अनेक लोग वेदपाठ और मन्त्रोंके साथ पूजा आदि करने हैं। इस समय तो कोई बाधा ही नहीं है। समाजमें एकाकार हो जानेसे नैतिक अव्यवस्था हो रही है, इसमें सन्देह नहीं है।

## पवहारी बाबा—उन्नीसवीं शताब्दीके एक संत

( लेखक—स्वामी श्रीनिवेदानन्दजी )

उन्नीसवीं शताब्दीमें भारतमें जन्म लेनेवाली महान् संतोंकी मण्डलीमें उत्तरप्रदेशमें गाजीपुरके समीप निवास करनेवाले पवहारी बाबाके नामसे स्वामी विवेकानन्दकी जीवनीके पाठकवृन्द भलीभाँति परिचित होंगे। अवश्य ही स्वामी विवेकानन्दने उनके सम्बन्धमें लिखे गये अपने लेखमें तथा अपने पत्रोंमें उनके अज्ञात जीवनपर कुछ प्रकाश डाला है; पर दुःखकी बात है कि उनके पूर्वजों आदिके सम्बन्धमें विस्तृतरूपसे कुछ ज्ञात नहीं है। स्वामीजीके जीवनपर उनकी जो गम्भीर छाप पड़ी है, उसका आभास स्वामीजीकी इन पङ्क्तियोंमें मिलता है—'इन पङ्क्तियोंका लेखक दिवंगत संतका अत्यन्त ऋणी है और ये पङ्क्तियाँ, चाहे वे कितनी ही नगण्य क्यों न हों, उसने एक ऐसे पुरुषकी स्मृतिमें लिखी हैं, जिनकी गणना उन महान् सिद्ध पुरुषोंमें है, जिनके चरणोंमें अपनी श्रद्धा और सेवा समर्पित करनेका उसे अवसर मिला है।'।

निम्नलिखित पङ्क्तियोंमें उनके परिवारके लोगोंसे प्राप्त सूचनाओंके आधारपर उन संतके जीवनकी एक संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करनेकी चेष्टा की गयी है। ( यहाँपर प्रसङ्गवश यह बात तो कही जा सकती है कि जिस घरके भूगर्भगृहमें पवहारी बाबा रहते थे, वह आज भी उनके कुटुम्बियोंके अधिकारमें है। ) किंतु उनके जीवनकी घटनाओंका जो कालानुक्रम स्वामीजीके पवहारी बाबासम्बन्धी विवरणमें मिलता है, उससे यहाँ दिया हुआ कालानुक्रम कुछ भिन्न है।

पवहारी बाबाका जन्म १८४० ई०में उत्तरप्रदेशमें जौनपुरके निकट प्रेमपुर नामक स्थानमें हुआ था। वे अपने पिता श्रीअयोध्या तिवारीके, जो एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे, दूसरे पुत्र थे। उनके दो भाई थे और एक बहिन। शैशवावस्थामें ही उनपर माता (चेचक) का प्रकोप हुआ, जिसके फलस्वरूप उनकी एक आँख चली गयी। काने हो जानेपर भी तीनों भाइयोंमें

हरभजनदास ही सबसे सुन्दर तथा गठीले शरीरवाले थे। बचपनमें उनका यही नाम था। शिक्षाके लिये हरभजन अयोध्या तिवारीके छोटे भाई तथा अपने चाचा लक्ष्मीनारायणके पास आये। चाचाजी नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका व्रत लेकर छोटी आयुमें ही तपस्वीजीवन बितानेका निश्चय करके निकल आये थे। वे श्रीरामानुजीय विशिष्टाद्वैतमतके श्रोतृप्रदायान्तर्गत वडकली शाखाके अनुयायी थे। वर्षों यात्रा करते रहनेके बाद वे गाधिपुर ( सर्वसाधारणमें प्रचलित नाम गाँवपुर ) के दक्षिणमें तीन मीलकी दूरीपर स्थित कुथीग्राम जा बसे। यहाँ सरकारकी ओरसे इनको एक भूखण्ड मिला गया था। इस स्थानको पसंद करनेका सबसे बड़ा कारण था, यहाँपर गङ्गाजीका उत्तरवाहिनी होना। गङ्गाका आध्यात्मिक साधनाके लिये अत्यन्त अनुकूल माना जाता है। उस समय काफी वृद्ध हो चुके थे, जब हरभजनको वे वृद्ध विचारसे अपनी सहायता करनेके लिये लाये थे कि उनके आश्रम और वहाँकी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी बही रहेगा। जब लक्ष्मीनारायणको पता चला कि हरभजनकी एक आँख नहीं है, तब वे बोले—'यह एक शुभ चिह्न है। राजा रामचन्द्र सिंहके भी एक ही आँख थी।' यह कहकर कि 'हरभजन एक महान् योगी बननेके लक्षण हैं', उन्होंने उनके बड़े भाई गङ्गा तिवारीके बदले इन्हींको अपने पास रखना उचित समझा। उनकी भविष्यवाणीके अनुसार वह वाक्य जाकर पार्थिव सम्पत्तिका तो नहीं; परंतु योगियोंका राजा ही बना।

लक्ष्मीनारायणने भतीजेका उपनयन-संस्कार उसकी शिक्षाका श्रीगणेश किया। निकट ही रहनेवाले पण्डितसे वह संस्कृत पढ़ने लगा। फिर थोड़े वर्षोंतक विभिन्न गुरुओंसे भिन्न-भिन्न वेदों तथा अन्य



का १० ]

जोका अध्ययन किया। अन्तमें उन्होंने विख्यात पण्डित श्रीरघुनाथजी परमहंससे एक वर्षतक पञ्चदशीका अध्ययन किया। अध्ययनमें इन्होंने तीव्र अभिरुचिका परिचय दिया। शिष्योंके विद्यार्थी-समूहमें सबसे अधिक कुशाग्रबुद्धि इनकी थी।

बालक हरभजन आश्रमके कार्योंको करते, श्रीरघुनाथजी तथा अन्य विग्रहोंके लिये भोग सिद्ध करनेमें अपने चाचाके शिष्योंकी सहायता करते और अपने चाचाजीकी सेवा भी करते। यदि गाँवका कोई बालक आ जाता तो उसके साथ लेके अथवा अपना समय एकान्तमें गङ्गाके किनारे अथवा पासकी वनस्थलीमें व्यतीत करते। ऐसा कहा जाता है कि बचपनसे ही वे शान्त स्वभावके थे। स्वामी विवेकानन्द-द्वारा लिखित उनके जीवनवृत्तसे विदित होता है कि उनकी निरद्वेषिता कभी-कभी ऐसे क्रियात्मकरूपमें प्रकट होती, जिसका श्रोत परिणाम उनके साथी बालकोंको भोगना पड़ता था। उनके अनावृत, हँसमुख एवं क्रीडामय विद्यार्थी-जीवनमें कदाचित् ही कोई ऐसी बात दिखायी देती थी, जिससे उनके भावी जीवनकी उस अगाध गम्भीरताका कुछ संकेत मिलता, जिसका पर्यवसान हुआ एक अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण तथा रोमाञ्चकारी वलिदानमें।

यथासमय वेदों तथा अन्य शास्त्रोंकी शिक्षा समाप्त कर लेके बाद हरभजनके पिताजी उनके पास विवाहकी बात करने आये। बालकने संसारसे प्राप्त होनेवाले सुखोंकी नितान्त क्षण-भङ्गुरताको भलीभाँति हृदयंगम करके उस आध्यात्मिक सिद्धि-को प्राप्त करनेका निश्चय कर लिया था, जिसे प्राप्त करनेके लिये कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इसलिये पिताके प्रस्ताव-नुष्ठाने तथा अनुनय-विनयके उपरान्त भी उन्होंने विवाह करना एकदम अस्वीकार कर दिया और पिताजीको निराश लौट जाना पड़ा।

दिन बीतते गये। फिर एक ऐसा धक्का लगा, जिसने उनके जीवनकी रातियोंको सदाके लिये बदल दिया। सन् १८५६ में एक दिन उनके चाचा लक्ष्मीनारायणजी इस संसारसे विदा ले गये। वे एक आध्यात्मिक उद्बुद्ध पुरुष थे और उनके सम्पर्कमें आनेसे हरभजनकी आन्तरिक आध्यात्मिक प्रवृत्ति उत्पन्न हो उठी थी। चाचाजीके साकेतगमनने उनके जीवन-का मोड़ दी। श्रीरघुनाथजी एवं अन्य विग्रहोंकी सेवाका भाव उनके कंधोंपर आ पड़ा। कुछ मासतक तो उन्होंने

गाड़ी चलायी, किंतु शान्ति मिलती न देख, सेवाका भार चाचाजीके अन्य शिष्योंको सौंपकर वे तीर्थयात्रापर निकल पड़े। उन्होंने पूर्वमें पुरी, दक्षिणमें रामेश्वरम्, पश्चिममें द्वारका तथा उत्तरमें बदरीनाथ—इन चारों धामोंकी यात्रा की। द्वारका जाते समय वे मार्गमें कुछ कालके लिये गिरनार पर्वत-पर रुके, जो अवधूत गुरु दत्तात्रेयकी वासस्थली बताया जाता है। वहाँ एक गुफामें इनको एक योगीके दर्शन हुए, जिनको कोई नहीं जानता था। उन्होंने इनको योगकी कई गुप्त बातें बतायीं। हरभजनने वहाँ रहकर उनकी सेवा करनेकी इच्छा व्यक्त की; किंतु वे किसीको अपने साथ रहनेकी आज्ञा देनेको तैयार नहीं थे। इसलिये हरभजनको वहाँसे चले आना पड़ा। पर महात्माने उनको यह आशीर्वाद दिया कि 'तुम एक महायोगी बनोगे और आधुनिक कालमें तुम्हारी समतामें कोई नहीं ठहरेगा।'

कहा जाता है कि वस्तीसे दूर हिमालयकी एक गुफामें रहनेवाले एक महात्माकी भी इन्होंने सेवा की थी। वे महात्मा भी हरभजनसे बहुत प्रसन्न हुए और हरभजनको उन्होंने कुछ ऐसी जड़ियाँ दीं, जिनको खा लेनेसे बहुत दिनोंतक भूख-प्यास नहीं लगती। तीर्थयात्रा, अध्ययन तथा साधनमें कुछ वर्ष व्यतीत करनेके उपरान्त हरभजन आश्रमपर लौट आये। उनके बचपनके मित्रों एवं अन्य व्यक्तियोंने उनके चेहरेपर भारी परिवर्तन देखा—मुखमण्डल ज्योतिसे जगमगा रहा था। यदि उनके चाचा जीवित होते तो उनको उस दीप्त-ज्योतिमें सर्वोच्च ज्ञानकी वह आभा दीख जाती, जिसे प्राचीन युगके ऋषिने सत्यकामके मुखपर देखा था। कदाचित् उन्होंने बालकका इन शब्दोंमें स्वागत किया होता—'वत्स ! तेरा मुखमण्डल ब्रह्मतेजसे उद्दीप्त हो रहा है।'

किंतु उस समय वहाँ कोई ऐसा नहीं था, जो उनके अन्तस्में ज्ञानकी जो ज्योति जगी थी, उसको जान सकता। फिर भी उनमें जो परिवर्तन हुआ था, वह उनके चतुर्दिक रहनेवाले व्यक्तियोंके मनमें स्वयमेव उनके प्रति आदरका भाव उत्पन्न करा देता था। पवहारी (अब हम इसी नामसे उनका उल्लेख करेंगे; क्योंकि वे इसी नामसे प्रसिद्ध हुए) ठाकुरकी पूजा, अतिथियोंकी सेवा तथा अन्य कार्योंमें जुट गये। उनकी सभी बातोंमें एक परिवर्तन आ गया था। प्रत्येक जीवधारीको वे 'बाबा' कहते, सभी स्त्रियोंको 'माताजी' तथा अपनेको 'दास' कहते। 'सर्वं विष्णुमयं जगत्'—यह सिद्धान्त-



वाक्य उनके लिये एक अपरोक्ष एवं ठोस अनुभूति बन गया था। कुछ वर्षों बाद एक दिन उनको एक काले विषधरने काट लिया और ऐसा मान लिया गया कि वे मर चुके हैं। कई घंटे के बाद जब चेतना लौटी, तब उनके मित्रोंने जानना चाहा कि क्या बात थी; उनका उत्तर था—‘विषधर प्रियतमका दूत था।’ उन्होंने बताया कि ‘एक मूषक बाबा दासकी गोदीमें आकर गिर पड़े, जिन्हें दासने अपने वस्त्रोंमें छिपा लिया। इससे उसका पीछा करनेवाले विषधर बाबा कुपित हो गये और उन्होंने आकर दासके कंधेमें काट लिया।’ उनकी जागतिक दृष्टि वेदान्तके ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’—इस सिद्धान्त की अनुगामिनी थी।

एक बार आश्रममें चोर घुसे और मूर्तियों, आभूषणों आदिको चुराकर जैसे ही वे चंपत होनेवाले थे कि पवहारी बाबा कमरेमें आ गये। चोर गठरी पटककर भागे। पवहारी बाबा दौड़कर उनके पास पहुँचे और अत्यन्त विनयसे बोले, ‘आप बाबा लोग पधारें हैं; यदि आपको इन वस्तुओंकी आवश्यकता हो तो ये आपकी ही हैं। बाबा लोग इन्हें छोड़े क्यों जा रहे हैं? इस दाससे क्या अपराध हुआ है? कृपया इन वस्तुओंको लेते जाइये, ये आपकी ही हैं।’ इत्यादि। उनकी दृष्टिमें प्रत्येक प्राणी—चाहे वह साँप हो, चूहा हो या चोर—सभी ‘बाबा’ अर्थात् भगवान् थे।

ठाकुरकी पूजा, अतिथियोंको भोजन कराना तथा शास्त्रोंको पढ़कर उसकी व्याख्या करना ही उनका दैनिक कार्यक्रम बन गया था। संध्याके समय आश्रमके पास ही वे एक कँटीली झाड़ीमें जाकर ध्यान किया करते थे। फिर संध्या-आरतीके बाद, जब सब लोग घर चले जाते, वे सारी रात गङ्गाके किनारे योगसाधना, प्रार्थना एवं ध्यानमें वित्तकर पौ फटनेसे पहले ही आश्रममें आकर दैनिक कार्यक्रममें निरत हो जाते। ठाकुरके लिये स्वादिष्ट सामग्रीका निर्माण करके वे अतिथियोंको प्रसादरूपमें परस देते। उनका अपना आहार केवल काली मिर्चका रस तथा दूध होता था। तभी लोगोंने उनको ‘पवहारी बाबा’ कहना आरम्भ किया—पवहारी अर्थात् दुग्धाहारी ( पय-आहारी )। कुछ कालतक वे केवल बिल्व पत्रका रस पीकर ही रहे।

कुछ कालके लिये पुनः वे आश्रमको छोड़कर वाराणसी चले गये। वहाँ उन्होंने एक विद्वान् संन्यासी निरञ्जन स्वामीसे अद्वैत सिद्धान्तका अध्ययन किया। गाजीपुरके पास एक गुफामें

रहनेवाले एक संतसे उन्होंने योगके विषयमें भी अपने ज्ञानकी अभिवृद्धि की। वहाँसे लौटकर उन्होंने आश्रममें एक लंबी सुरंग खुदवायी। योगसाधना करते हुए अब अपना अधिकतर समय वे इसीमें बिताते।

कुछ समय बाद योगमें दीक्षा लेनेके लिये वे गिरनारकी ओर चले। मार्गमें अयोध्या पहुँचनेपर उन्हें पता चला कि जिस गुफा के पास वे जा रहे थे, वे संसारसे विदा हो चुके थे। इसलिये ऐसा कहा जाता है कि अयोध्यामें ही एक वैष्णव संतसे दीक्षा लेकर वे आश्रमपर लौट आये। अपने चाचाकी भाँति वे भी श्रीसम्प्रदायकी बडकली शाखाके अनुयायी थे। धीरे-धीरे उनकी आध्यात्मिक साधनाएँ दिन-प्रतिदिन उत्तर होती गयीं। वे गुफामें ही लगातार कई दिन बिता देते और गाँववालोंकी प्रार्थनापर केवल एकादशीके दिन बाहर आते। मन्दिरका द्वार कभी किसी दूसरे दिन नहीं खोला जाता था। गाँवके लोग दूध, फल इत्यादि लाते और बगलके कमरोंमें रख जाते। उनकी ख्याति फैलती जा रही थी। उनके बड़े भाई गङ्गा त्रिशारी उनकी सेवा करनेके लिये कुर्थामें ही आकर रहने लगे। क्रमशः उनका पखवारेमें एक बार भी बाहर आना बंद हो गया। अब वे वर्षमें एक बार बाहर आते और उस दिन एक उत्सव-सा मनाया जाता। तीर्थयात्रा करनेकी प्रवृत्ति फिर उनमें जगी और वे पुरीकी ओर खाना हुए। मार्गमें वे अस्वस्थ हो गये और मुर्शिदाबादके समीप एक गाँवमें ठहरे। गाँववालोंने नदीके तटपर एक झोपड़ी बना दी और एक भक्तने अच्छी सेवा की। बाबाजीने उससे बंगला सीखी और लौटते समय बंगालके वैष्णवमतपर ईद ग्रन्थ अपने साथ लाये। उन्होंने श्रीचैतन्यचरितामृत तथा अन्य ग्रन्थोंका अध्ययन किया। तमिल तथा तेलुगुका भी उनको प्रकाण्ड ज्ञान था। दक्षिण भारतके ‘आळवार’ नामक संतोंकी वाणीका उन्होंने मूलमें ही अध्ययन किया था। कुर्थावाली अपनी गुफामें वापस आनेपर पवहारी बाबाका दर्शन प्राप्त करना कठिन नहीं था। इसलिये दिव्य दूर-दूरसे लोग उनका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये आने लगे। गुफाद्वारके पीछेसे ही वे उनसे बातें करते तथा उनके प्रश्नोंका उत्तर देते। सभी प्रकारके साधु-संन्यासी आते, जिनकी देख-भाल आश्रमकी व्यवस्था करनेवाले उनके अग्रज करते। अतिथि-पूजा एक प्रमुख कार्य था। कोई बिना भोजन किए वापस नहीं जाता था। इसी बीच गङ्गाजी अपनी बात किञ्चित् बदलकर पूर्वकी ओर बहने लगी थीं। इस प्रकार



ले बसोने गङ्गाजीने छोड़ दी, उसको गङ्गा तिवारीने जोतना आरम्भ कर दिया। बादमें सरकारने उस अतिरिक्त भूमिको भी आश्रमको दे दिया, जिससे बिना कठिनाईके वे लोग अतिथियोंका सत्कार करनेमें समर्थ हो गये।

बंगालसे लौटनेके बाद पवहारी बाबा अपने एकान्तवाससे निकलकर एकदशीके दिन बाहर निकलते थे। एक बार वर्ष १२२४ में वे नियत तिथिपर अपनी गुफासे बाहर नहीं आये और बहुत दिनोंतक भीतर ही रहे। पहले जब वे गुफासे बाहर आनेको होते तो बाहरके लोगोंको उनकी रोमाग्निमेंसे निकलनेवाले धूँँको देखकर इसका पता चल जाता। वे पूजाकी भी व्यवस्था करवाते तथा लोगोंसे द्धारके भीतरसे बात करते। परंतु इस बार कोई क्रिया देखनेमें नहीं आयी। लोगोंने अनुमान किया कि उन्होंने शरीर त्याग दिया होगा, परंतु किसीका साहस नहीं होता था कि दरवाजा तोड़कर भीतर जाय। इस प्रकार दिन बीतते गये और चार-पाँच वर्षोंके पश्चात् एक दिन जब घण्टावादनके साथ ठाकुरकी पूजा चल रही थी, उसके पश्चात् ही पवहारी बाबा बाहर आये। लोगोंके हर्षका पार नहीं रहा। एक विशाल भोजका आयोजन हुआ तथा अनेक साधुओं, ब्राह्मणों और दरिद्रनारायणको भोजन कराया गया।

एक बार फिर आश्रम चहल-पहलसे गूँज उठा। पवहारी बाबा प्रतिदिन शास्त्रोंकी व्याख्या करते थे। एक दिन गङ्गातटपर अरुणोदयके पूर्व ही यौगिक साधना करते समय उन्होंने वहाँपर एक व्यक्तिको देखा। इस विक्षेपमें उनके स्वास्थ्यपर बुरा असर पड़ा और कई सप्ताहतक उनको अपनी साधना स्थगित करनी पड़ी। तब उन्होंने आश्रमके भीतर ही एक कुवाँ खुदवाकर वहीं स्नान करनेका निर्णय किया। कहा जाता है, सारा कुवाँ उन्होंने अपने-आप ही खोद डाला। आज भी इस कुएँका पानी अच्छा है और काममें लिया जाता है। कालान्तरमें उन्होंने एक बड़ा भारी यज्ञ किया, जो महीनेभरतक चला। इसमें भाग लेनेके लिये सैकड़ों साधु, संन्यासी, गृहस्थ और विद्वज्जन वहाँ एकत्रित हुए। आश्रमके निकट ही तंबुओं तथा कुटियाओंकी एक नगरी खड़ी कर दी गयी। विद्वज्जनोंने शास्त्रीय विषयोंपर विचार-विमर्श करनेकी योजना बनायी, जिसमें वाद-प्रतिवाद चला था। पवहारी बाबासे भी उसमें सम्मिलित होनेकी प्रार्थना की गयी, परंतु उनसे विनीत उत्तर यही मिला कि 'मैं दासको क्या आता है?' अन्तिम दिन बाबाने स्वयं

साधुओंके चरण धोये, उनकी पूजा की, उन्हें वस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ उपहारमें दीं। एक बड़ा भंडारा करके यज्ञको सम्पन्न किया गया।

यज्ञोपरान्त पवहारी बाबा एक बार फिर अपनी कोठरीमें बंद हो गये। आश्रमके पीछे उन्होंने एक गड्ढा खुदवा रखा था। एक दिन उन्होंने भीतरसे कहा कि यदि दरवाजेके सामने गीली मिट्टी जुटा दी जाय तो यह दास कुछ काम करना चाहता है। दूसरे दिन लगभग ३० मजदूर कामपर लगाये गये। संन्याके पहले ही दरवाजेके पास उन लोगोंने गारेका अंबार लगा दिया और दूसरे दिन प्रातःकाल लोगोंने क्या देखा कि सारा गारा उठ गया है तथा आश्रमकी चहारदीवारी तैयार खड़ी है। रातभरमें ही बाबाने चमत्कार कर दिया था। एक घटना और उल्लेखनीय है। उन्होंने एक काठकी कुटिया बनानेको कहा। बर्दई लग गये और एक सुहृद कुटिया बनकर तैयार हो गयी। लगभग चालीस बलिष्ठ व्यक्तियोंने मिलकर उसे उठाया और चहारदीवारीके उस पार ऊपर-ही-ऊपर ले जाया गया। भीतरसे बाबाने अकेले ही उसे नीचे उतार लिया।

**धैर्य, पवित्रता तथा लगन**—अपने गुरु-भाइयों तथा अन्य व्यक्तियोंको लिखे गये पत्रोंमें धैर्य, पवित्रता एवं तत्परता—किसी भी उद्योगमें निश्चित सफलता दिलानेवाले इन तीन साधनोंपर जोर देते हुए स्वामी विवेकानन्द कभी थकते नहीं थे। पवहारी बाबामें ये सभी गुण प्रचुर मात्रामें थे। चाहे वे भगवान्की पूजा करते या अपने वर्तन माँजते, वे हाथमें लिये हुए काममें पूर्णरूपमें तल्लीन हो जाते। वे कहा करते थे—'साधनमें ऐसा अनुराग और उसके करनेमें ऐसी सावधानी होनी चाहिये मानो वह साध्य ही हो। इन्हीं गुणोंके कारण उन्होंने प्रत्येक धंधेमें दक्षता प्राप्त कर ली। पत्थरका काम, बर्दई-गिरी, राजमिस्त्रीका काम आदि अनेक धंधे उनको आते थे और वे सभी काम पूरी दक्षताके साथ करते थे। भगवान्के आभूषण बनवानेके लिये वे सुनारके पास उनके मिट्टीके नमूने अपने हाथसे बनाकर भेजते थे। सुनार उनकी सुन्दरतापर दंग रह जाते थे तथा बाबाके मिट्टीके नमूनोंके अनुरूप आभूषण बनानेमें उनको कई बार बनाना और बिगाड़ना पड़ता था।

बाबाकी शारीरिक क्षमता तथा बल अतिमानुषताकी सीमाका स्पर्श करते थे। सारा गारा ढोकर एक रातमें चहारदीवारी खड़ा करने तथा चालीस व्यक्तियोंद्वारा उठायी हुई कुटियाको



अकेले उतारनेका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। एक घटना उनके चलनेकी गतिका दिग्दर्शन कराती है। एक बार वे प्रयागके कुम्भमेलेमें बीमार पड़ गये। अच्छे होनेपर एक रातमें ही वहाँसे ११२ मील दूर कुर्थावाली अपनी गुफामें आ पहुँचे।

एकान्तवासके दीर्घकालमें बाबाजी विविध धार्मिक ग्रन्थों तथा लेखन-सामग्रीकी माँग किया करते थे। उन्होंने बहुत-सी पुस्तकोंकी स्वच्छ एवं सुन्दर अक्षरोंमें प्रतिलिपि की है। उनमेंसे कई तो जल गयीं अथवा नष्ट हो गयीं, किंतु कुछ अब भी आश्रममें सुरक्षित हैं। कुछके नाम ये हैं—श्रीमद्भागवत श्रीधरीटीकासहित, वेदान्तसूत्रोंपर श्रीरामानुजका श्रीभाष्य, रामकृष्णकी टीकासहित श्रीविद्यारण्यकी पञ्चदशी और अध्यात्मरामायण—ये सब संस्कृतमें हैं तथा भक्तिपर पद्यमें विरचित 'प्रेम-विलास' हिंदीमें। ये सभी पत्राकार हैं। इतने बड़े-बड़े ग्रन्थोंको विशद अक्षरोंमें लिपिबद्ध करनेके लिये कितना धैर्य उनमें रहा होगा। केवल लिखना ही नहीं, जो कुछ भी वे करते थे, सबमें सौन्दर्य भर देते थे। उनकी वाणी भी बड़ी मधुर थी। स्वामी विवेकानन्दके शब्दोंमें, ऐसी मधुर जैसी कभी सुनी नहीं गयी। ऐसे असाधारण योगीके जीवनकी संघ्या समीप आ रही थी। अपने जीवनके अन्तिम कुछ वर्षोंमें उन्होंने अपनेको मनुष्योंकी दृष्टिसे अलग रखा। जब कभी वे अपनी गुफाके ऊपर आते तो दरवाजेके भीतरसे ही बात कर लिया करते थे। परंतु वे कभी बाहर नहीं आये। एक बार उन्होंने अपने भतीजे वद्रीनारायणसे कहा कि 'इस दासके शरीरत्यागनेके बाद तुम्हींको वद्रीनारायणकी पूजाका कार्य तथा इस दासकी पुस्तकोंकी सँभाल करनी चाहिये।'।

विक्रम-संवत् १९५५ ज्येष्ठकी अमावास्या, शुक्रवारके दिनकी बात है। प्रत्युषवेलामें गङ्गा बाबा, वद्रीनारायण तथा कुछ अन्य लोग स्नान करके बाहर बैठे थे। उन्होंने गुफाके भीतरसे एक भारी धूँँकी धारा निकलती देखी। उन्होंने सोचा बाबाजी हवन कर रहे होंगे। कुछ ही दिन पहले भक्त-गण प्रचुर मात्रामें हवन-सामग्री तथा घी ले आये थे।

थोड़ी ही देरमें उन्होंने लपटोंको ऊपर उठते देखा। वद्रीनारायणने चहारदीवारीके पास जाकर चिल्लाकर आग बुझानेकी आज्ञा माँगी। बाबाजीने कोई उत्तर नहीं दिया। जब उन्होंने देखा कि आग बुझ सकनेकी सीमासे बाहर जा रही है, तब वद्रीनारायणने एक पत्थरपर चढ़कर भीतर झाँका।

काठकी कुटिया धूँ-धूँकर जल रही थी। उन्होंने बाबाजीको अपनी जटामें घी डालते हुए तथा शरीरपर कुछ मलते देखा। वद्रीनारायण फिर चिल्लाये, 'यदि आपकी आज्ञा हो तो हमलोग आगको बुझानेका उपाय करें।' बाबाजीने केवल सिर उठाकर उनकी ओर देखा तथा हाथमें कमण्डलु लेकर धधकता धूँँ कुटियामें प्रवेश कर गये। इसी बीच लपटोंको देखकर बहुतसे गाँववाले दौड़कर आ पहुँचे थे। वद्रीनारायणने जो कुछ देखा था, बताया; परंतु किसीका भी साहस चहारदीवारीके भीतर जानेका नहीं हुआ। अन्तमें कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियोंके आग्रह करनेपर दरवाजा तोड़ा गया। अंदर जानेपर उन्होंने पवहारी बाबाको अपने हवनकुण्डके सामने पद्मासनमें बैठे देखा। काठकी कुटिया जल रही थी। उनका शरीर भी जल रहा था। घीके कुछ टीन, हवनसामग्री तथा उनकी कुछ पुस्तकें उनके पास पड़ी थीं। थोड़ी देर बाद पवहारी बाबा ब्रह्मरन्ध्र फट गया और उनकी ऐहिक लीला समाप्त हो गयी। उस संतने, जो विनम्रताकी मूर्ति थे, मरनेके बाद भी किसीको कष्ट देना नहीं चाहा और आयोंकी इस अन्त्येष्टि-क्रियाको भी अपने तन-मनसे पूरे सजग रहते हुए कर डाला। ऐसा ही उदाहरण प्राचीन कालमें शरभज्ञ मुनिने प्रस्तुत किया था। उन संतके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए स्वामी विवेकानन्दजीने लिखा है कि जिन महासिद्धोंमें स्नेह करते तथा उनकी सेवा करनेका सौभाग्य उनको प्राप्त हुआ है, उनमेंसे एक वे भी थे।

जहाँ उन्होंने अपना शरीर-विसर्जन किया, वहाँ आज भी उनकी स्मृतिमें आरोपित एक शिलालेखको हम देख सकते हैं। आज वहाँ जो इमारत खड़ी है, उसे तथा आस-पासकी जमीनको घेरनेवाली चहारदीवारीको बादमें पवहारी बाबाके एक भक्तने बनवाया था।

उनके जीवनकालमें बहुत-से बड़े-बड़े लोग उनके पास आये। उनमें सभी सम्प्रदायोंके भक्त, संत, विचारक तथा धार्मिक सुधारवादी सभी थे।

## उनके जीवनकी कुछ घटनाएँ

प्रत्येक योगी अथवा आध्यात्मिक पुरुषके अंदर कुछ अलौकिक सिद्धियाँ रहती हैं। परंतु सच्चा योगी उनका प्रदर्शन कदाचित् ही कभी करता है। फिर भी कुछ घटनाएँ घट ही जाती हैं। पवहारी बाबा अथवा उनकी



पृष्ठ १०]

क्योंकि सम्बन्धमें अनेक अलौकिक घटनाएँ सुनी जाती हैं; तब उनमें केवल दोका ही यहाँ उल्लेख करेंगे—

महात्मा लक्ष्मीनारायणके कुथामें बस जानेके विषयमें एक कथा है। गङ्गाके किनारे-किनारे पर्यटन करते हुए वे वहाँ पहुँचे। शान्त जगह थी और वहाँ एक घना जंगल था तथा गङ्गाका उत्तराभिमुख होकर बहना बड़ा शुभ माना जाता था। इसलिये उनको वह जगह पसंद आ गई और वहाँ तीन रात रहकर तब आगे बढ़नेका विचार किया। पहले ही दिन, जब वे पूजा कर रहे थे, शिकारके क्रिये आगे हुए एक सरकारी अधिकारी तथा कुछ अन्य व्यक्तिवोंने उनको देखा। अधिकारी अंग्रेज था और उसने उनसे बातचीत की। उन्होंने उनको कहा; क्योंकि वहाँ ठहरना खतरासे भरा नहीं था। लक्ष्मीनारायणने कहा कि हमारी इच्छा वहाँ तीन रात रहनेकी है, इसके बाद हम चले जायेंगे। अधिकारी साधुओंको घृणाकी दृष्टिसे देखता था; अतः उसने कहा वहाँ रुकना उसको अच्छा नहीं लगा। उसने आदेश दिया कि 'पूजा समाप्त करनेके बाद तत्काल यहाँसे चले जाओ; अन्यथा परिणाम बहुत बुरा होगा।' घर लौटनेपर अधिकारीने देखा कि उसके घरके एक व्यक्तिको अचानक कोई अद्भुत रोग हो गया है, जिसका निदान बहर लोग नहीं कर पा रहे हैं। वह बहुत चिन्तित हुआ। तब उसके चपरासीने संकेत किया कि 'आपने एक साधुको रूढ़ कर दिया है, शायद उन्होंने शाप दे दिया हो। उनसे क्षमा-याचनाके सिवा और कोई उपाय नहीं है।' व्यवहार होकर अधिकारी लक्ष्मीनारायणके पास भागा हुआ गया और उनके चरणोंपर गिर पड़ा। संत वहाँ कहते रहे कि 'हमें कुछ भी नहीं मालूम, शाप देना तो हम जानते ही नहीं, अतएव हम क्या उपाय कर लेंगे?' फिर भी अधिकारीके बार-बार आग्रह करनेपर प्रसादरूपमें उन्होंने थोड़ी-सी भभूति दी। जब अधिकारी अलौट तो यह देखकर चकित हो गया कि प्रसादके रूपमें उनके पूर्व ही वह व्यक्ति चंगा हो गया था। जिस समय वह रोग हुआ था, उसी रहस्यमय ढंगसे वह चला भी गया। दूसरे दिन उसने जाकर लक्ष्मीनारायणसे याचना की कि 'आप स्थायीरूपसे यहीं निवास करें' और उनके नाम उसने वहाँ एक भूखण्ड भी लिख दिया। कुथामें लक्ष्मीनारायणजोका निवास इस प्रकार घटित हुआ। पवहारी बाबाके विषयमें हम निम्नलिखित घटनाका

उल्लेख कर देना चाहते हैं—एक बार एक बृहद् भंडारेका आयोजन हुआ, जिसमें बहुसंख्यक साधु सम्मिलित होने जा रहे थे। दरवाजेके पीछेसे ही पवहारी बाबा सारी तैयारीका निरीक्षण कर रहे थे। जब भंडारेका केवल एक सप्ताह रह गया, तब उनके भाई गङ्गा तिवारीने उनको यह सूचना दी कि 'हमलोग कुछ कुछ खोदनेकी बात सोच रहे हैं; क्योंकि गङ्गाजीके दूर होनेके कारण साधुओंको नहाने-धोनेमें असुविधा होगी। भोजन-सामग्री सिद्ध करनेके लिये भी जलका निकट होना आवश्यक है। ग्रीष्मऋतुका मध्य है; अतः गङ्गासे जल लानेका प्रश्न ही नहीं उठता। तब बालकामय लंबे मार्गको किस प्रकार तय किया जायगा?' पवहारी बाबाने पूछा—'तुमने गङ्गा-माताको निमन्त्रण दिया है?' जब उन लोगोंसे नकारात्मक उत्तर मिला, तब उन्होंने आग्रह किया कि 'ऐसा अवश्य होना चाहिये था' और उनके आदेशानुसार उनके भाईने प्रचुर मात्रामें मिष्ठान, फल, एक अच्छी साड़ी, पुष्प-माला तथा अन्य पूजन-सामग्री लेकर नावद्वारा बीच-धारामें जाकर गङ्गा-माताकी पूजा की। उत्सवकी शोभा बढ़ानेके लिये पधारनेकी लिखित प्रार्थनाके साथ सारी सामग्रीको उन्होंने पयस्विनीमें विसर्जित कर दिया। निस्संदेह कुछ लोग इस घटनापर हँसे। किंतु उनको पवहारी बाबाके वचनोंपर विश्वास था। अब केवल तीन दिन रह गये थे। गङ्गा बाबा चिन्तित हो उठे। किंतु पवहारी बाबाने उनके भयको शान्त किया। आश्रमके सामने एक सूखा नाला था, जिसमें वर्षाके दिनोंमें दस मीलकी दूरीसे पानी बहकर आता था और आश्रमसे आधमील उत्तरकी ओर गङ्गाजीमें गिरता था। यह नाला आज भी देखा जा सकता है। जब गङ्गाजीमें बाढ़ आती है, नालेमें पानी चढ़कर काफी दूरतक ऊपर आ जाता है। किंतु गरमीके दिनोंमें तो नहरमें गङ्गाके पानीके चढ़नेकी कोई सम्भावना ही नहीं रहती। अब चाहे पवहारी बाबाकी कोई सम्भावना ही नहीं रहती। अब चाहे पवहारी बाबाकी प्रार्थना अथवा उनकी सिद्धिका प्रताप रहा हो, गङ्गाजी कमशः पश्चिमकी ओर बढ़कर थोड़ा-थोड़ा करके नालेमें प्रवेश करती और तीसरे दिन, जिस दिन भंडारा था, चढ़ने लगती और तीसरे दिन, जिस दिन भंडारा था, नाला बहाव भर गया। भंडारा बड़ी धूमधामसे सम्पन्न हुआ और दूसरे दिन नाला पुनः सूख गया। अपने लाड़लेके उत्सवकी शोभा बढ़ानेके लिये गङ्गा-माताको आना ही पड़ा।



हम देख चुके हैं कि पवहारी बाबा सबमें भगवत्ताका दर्शन करते थे और सबको 'बाबा' कहकर पुकारते थे। उनके भूधरेमें विषधर सर्प तथा चूहे रहते थे। जन्मजात शत्रु होते हुए भी वे उनकी उपस्थितिमें वैरविरहित होकर रहते थे। जिस दिन पवहारी बाबाने अपना शरीर विसर्जन किया, उस दिन अंदर जानेपर लोगोंने देखा कि एक ही प्यालेमेंसे एक नाग और एक चूहा दूध पी रहे थे। पतञ्जलिका सूत्र—'तत्संनिधौ वैरत्यागः' चरितार्थ हो रहा था। लोग कहते हैं कि आज भी गुफामें विषधर रहते हैं और कोई भी भीतर नहीं जाता। जिस वेदीपर पूजाके विग्रह विराजित हैं, वह गुफाके द्वारके समीप ही है, जो केवल काठके कुछ पटरोंसे ढका रहता है। पुजारी लोग वहीं बैठकर पूजा-आरती करते हैं; किंतु कभी नाग वहाँ नहीं आता। बस, एक या दो बार जब गुफाके भीतर

जानेकी चेष्टा की गयी, तब लोगोंने फुफ्फुकारकी आवाज सुनी और वापस भगे। इस प्रकार आज यह पृथ्वीके नीचेकी सुरंग, जिसमें वे महान् संत रहे और जहाँ उन्होंने अपने शरीरको अग्निमें होम दिया—एक रहस्यकी वस्तु बनी हुई है। क्योंकि उसमें प्रवेश करनेका साहस किसीमें नहीं।

संसारके लिये ऐसे संतोंके जीवनका महत्त्व असंभव है। चाहे बाहरसे देखनेमें वह भले ही अनुपयोगी प्रतीत हो; क्योंकि विवेकानन्दके यह पूछनेपर कि 'संसारका उपकार करनेके निमित्त आप बाहर निकलकर सबको उपदेश क्यों नहीं करते?' पवहारी बाबाने स्वयं कहा था कि 'क्या तुम्हारी यह धारणा है कि शारीरिक सेवा ही एकमात्र सेवा है? क्या शारीरिक चेष्टाके बिना ही एक आत्मा दूसरी आत्माओंकी सेवा नहीं कर सकती?' (अंग्रेजी 'प्रबुद्ध भारत'से अनूदित)

## श्रीललिताम्बाका ताटङ्क

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

कारणादिके बिना कार्योत्पत्तिनिर्देश विभावनालंकारका लक्षण है। आलंकारिकोंने इसके ६ भेद बतलाये हैं। ये (भेद) उत्तरोत्तर, पूर्व-पूर्वोपेक्षया विशेष चमत्कृत तथा अद्भुत हैं। जैसे असम्पूर्ण-न्यून कारणसे कार्योत्पत्ति, किंचित् प्रतिबन्ध होनेपर भी कार्योत्पत्ति, महत्प्रतिबन्ध या कारणान्तरसे भी कार्योत्पत्ति आदि विशेष अद्भुत एवं चमत्कारपूर्ण हैं। इसी प्रकार चौथी विभावना वह है, जिसमें सर्वथा विपरीत कारणोंसे ही अभीष्ट कार्योत्पत्ति निर्दिष्ट होती है। जैसे—

उदिते कुमारसूर्ये कुवलयमुल्लसति भाति नक्षत्रम् ।

मुकुलीभवन्ति चित्रं परराजकुमारपाणिपद्मानि ॥

(कुवलयानन्द ८१क)

अर्थात् 'कुमार (राजकुमाररूपी) सूर्यके उदय होनेपर कुमुदिनी (वस्तुतः भूमण्डल) विकसित होती है और नक्षत्र प्रकाशित होते हैं (अन्य शत्रिय सुशोभित नहीं होता)।' प्रसन्नराघव नाटकके—

१. इसी प्रकार कारण होनेपर भी कार्योत्पत्तिका न होना 'विशेषोक्ति' अलंकार है। सफलता-विफलतामें ही दोनोंके चमत्कार प्रदृष्ट होते हैं।

नवा मल्ली भल्ली कुवलयवनं कुन्तगहनम् ।

तथा मानसके कुवलय विपिन—

बारिद तपत तेल जुनु वरिसा ॥

(५।१४।२)

—आदि उदाहरण भी इसी प्रकारके हैं। पर आलंकारिकों की दृष्टिमें इस चतुर्थी विभावनाका सर्वोत्तम उदाहरण है सौन्दर्यलहरीका अष्टाईसवाँ श्लोक, जो इस प्रकार है—

सुधामप्यास्वाद्य प्रतिभयजरामृत्युहरणीं

विपद्यन्ते विश्वे विधिशतमुखाद्या दिविषदः ।

करालं यत्क्ष्वेडं कवलितवतः कालकलना

न शम्भोस्तन्मूलं जननि तव ताटङ्कमहिमा ॥

(सौन्दर्यलहरी २८)

अर्थात् 'महाभयदायक जरा-मृत्युको शमन करनेवाली सुधाका पान करनेपर भी ब्रह्मा-इन्द्रादि देवगण तो क्षीणपुत्र होनेपर विशीर्ण होकर भूमण्डलपर आ जाते हैं। पर कराल हालाहलका पान करके भी तुम्हारे पति शिव अमर हो गये। इसमें हे ललिते! एकमात्र तुम्हारे ताटङ्ककी ही महत्ता विशेषता है।'।

२. कुछ टीकाकार इसमें 'निरङ्गरूपक' तथा 'उपमालंकार' मानते हैं।







भेद हैं, जिनके प्रवर्तकोंमें सनकादि, वसिष्ठ एवं शुक्रदेव जैसे महात्मा हैं। कुलने यौगिक कुण्डलिनी शक्तिको ही शक्ति ललिता या सौन्दर्यलहरीका वर्ण्य तत्त्व माना है। पर उस कुण्डलिनीका भी तात्पर्य समाधिद्वारा शिवात्मैक्य-साधनामें ही है।

अब ताटङ्क क्या है, यह देखा जाय।

सामान्य दृष्टिसे ताटङ्क ( ताटङ्की, तरकी या तरका नामक ) स्त्रियोंका सौभाग्यसूचक कर्णभूषण है। कहीं-कहीं इसे पतिद्वारा ही धारण कराये जानेकी प्रथा है। कर्णाटक देशमें यह बहुत प्रसिद्ध है। गुर्जर आदि देशोंमें आरकूट तथा सौवर्ण कङ्कणादिके रूपमें यह धारण किया जाता है। सौभाग्य-भूषणके रूपमें गोस्वामीजीने भी मानसमें इसका उल्लेख किया है—

मंदोदरी श्रवन ताटंका । सोइ प्रभु जनु दामिनी दमंका ।

छत्र मुकुट ताटंका सब हते एकहीं बान । आदि

( रा० च० मा० लङ्का० १२।३; १३ )

पर खेद है, अबतकके मानसके किसी भी टीकाकारने इस रहस्यपर तनिक भी प्रकाश नहीं डाला। वास्तवमें मन्दोदरीके ताटङ्कापहरणसे उसके भावी वैधव्य तथा रावणके छत्र-मुकुट आदिके अपाकरणादिसे राज्य एवं शरीरके नाशकी ही सूचना दी गयी थी। इसके आगे तेरहवें दोहेकी छठी पङ्क्तिमें इस आभूषणको 'श्रवणपूर' या 'कर्णपूर' अथवा ( कर्णपूल ) आभूषणके रूपमें स्मरण किया गया है—

मंदोदरी सोच उर बसेऊ । जब ते श्रवनपूर महि खसेऊ ॥

( वही, ६।१३।३ )

कहते हैं, कवि कर्णपूर गोस्वामीका नाम भी, 'श्रवसः

कुवलयम्' आदि श्लोककी रचनाके कारण ही पड़ा था। इसमें ये तीनों आभूषण एक ही हैं। इसका स्रोत यद्यपि मंडिकार्य-प्रसन्नराघव एवं अध्यात्मरामायण आदिमें भी है, तथापि मानसकारकी निरूपण-शैली अति दिव्य एवं चमत्कारपूर्ण है। प्रसन्नराघवकार श्रीजयदेवने पता नहीं, किस आधारपर रामका एक नाम भी 'ताटङ्की' रख दिया है। यथा—

ताटङ्किना क्षटिति ताडितताटकेन

रामेण

पद्मरमणीयविलोचनेन ॥

( ३।१ )

इसकी टीकाओंमें कोई विशेष प्रकाश नहीं है। कुछ लोग रामके कुण्डलको ही 'ताटङ्क' मानते हैं। पर 'ताडितताटक' एवं 'पातित-मन्दोदरी-ताटङ्क' आदि प्रयोग विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनका भाव तुलसीके मानसपर अङ्कित दीखता है। पर इस प्रसङ्गान्तरका विस्तार न कर ललिताम्बाके ताटङ्क ही यदि ध्यान दिया जाय तो यह पति ( शिव ) द्वारा पार्वती ( ललिता )—को प्रदत्त श्रीरामनाम ही कर्णभूषण है, जिसे—राम-पूर्वोत्तरतापिनी-रहस्य एवं मानसादिके अनुसार—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती । सादर जपहु अन्नैग आराती ॥

( १।१०७।४ )

अहं भवन्नाम जपन् कृतार्थो ब्रह्मि काश्यामनिशं भवान्या ।

( अध्या० रामा० )

—वे निरन्तर जपते हैं, अथवा फिर वेदान्तियोंकी दृष्टिसे ब्रह्माविद्या ही ललिता है। सदा अखण्ड अजर अमर ब्रह्म ही शिव है और ब्रह्मज्ञान ही वह सौभाग्यभूषण ताटङ्क है, जिससे शिवकी नित्य शिवता सिद्ध होती है।

( पुनः कभी विस्तारसे इसपर विचार किया जायगा )



( ख ) "The text has the word 'Haimavati'. Śrī Śankara gives two interpretations to it.—( 1 ) decked with gold ornaments; and ( 2 ) the daughter of Himalaya, as traditionally known. Again, oriental scholars interpret Umā to mean 'Brahma-Vidyā' or knowledge, and render Haimavati as that 'Umā' or knowledge which was originally got on the top of the Himalaya, where the sages lived.

( Page 5, "Introduction to the Wave of Beauty", Ibid. )

7. ( A ) Ibid., p. 6—10, 'The Serpent Power' and 'Śakti and Śāktas' etc. )

( B ) वही इस ग्रन्थ ( सौन्दर्यलहरी ) को गौडपादाचार्यके 'सुभगोदय' ग्रन्थपर आश्रय माना गया है।



# श्रीरामको सम्बोधित

( रचयिता — 'स्वर्णकिरण' )

जीवन-मूल्य बदलता जाता, यह कैसा भीषण तूफान,  
कुण्ठा, घुटन और पीड़न है, कबतक होगा स्वर्ण विहान !  
भौतिकताके घटाटोपमें दीख न पाती कोई राह,  
आपाध्रापी, भागदौड़में तनिक न पूरी होती चाह !  
'मारो, काटो !' कौन बोलता, आँखें वहाँ दिखाता कौन,  
चिल्लाती बुढ़िया बेचारी—'दौड़ो, आओ, रहो न मौन !'  
बेटीको ये ले जाते हैं कौन आततायी जल्लाद;  
माता-पिता सिसकते चुप-चुप, ये मनुष्य हैं या फौलाद !  
हृदय हृदय होता है या यह होता है, वस, केवल काठ,  
करुणा, माया, दया, क्षमाका केवल झूठा होता ठाठ !  
खुले हुए हैं मतलबके ये कैसे-कैसे हैं बाजार !  
घात लगाये बैठे हैं ये क्या—कुछ करनेको तैयार !  
स्वार्थलिप्त हैं ये राक्षस या दैत्य भयंकर, प्रेत महान,  
स्वयं समझते क्या अपनेको क्या ये हैं धरतीकी शान !  
धर्म सिसकता है धरतीपर या कि कहीं दीखता न धर्म,  
छिदते रहते हैं सबके ही कुलिशवचनसे निशिदिन मर्म !  
मानवीय गुण कहाँ दीखते हैं ये जल्लादी व्यवहार,  
हिंसा नर्तित सभी जगह है, भाग गया धरतीसे प्यार !  
कर्म दयासे शून्य कर रहा वहाँ कौन रह-रह कल्लोल !  
चिन्ता-चिन्ता जलाती रहती मुखसे नहीं निकलते बोल !  
वहाँ कौन गुमराह कर रहा चिकनी-चुपड़ी कहकर बात,  
दिनका तेज प्रकाश कहाँ है, क्या है केवल काली रात !  
तृप्ति-कूल दीखता कहाँ है मात्र घृणा, उबकाई, ऊब,  
आशा, साहस आदि छोड़ क्या सभी आदमी जाएँ डूब !  
आग जल रही धू-धू करके लपटोंसे सब हैं बेचैन,  
बिरनीका खोता उकसाता छिपकर कौन मात्र दे सैन !  
नौद नहीं आ पाती थोड़ी, यह कैसा छाया है पाप !  
कुछ भी पता नहीं चलता है सहना बाकी कितना ताप !  
लोग सभी हैं खून चाहते या उनकी है कोई माँग,  
उलट गया सबका दिमाग है पड़ी कूपमें है क्या भाँग !  
ये हैं अपने सगे, स्वजन या ये हैं शत्रुमात्र दुर्दान्त,  
कुटिल द्वेष-ईर्ष्यासे है क्या दग्ध सभीका अन्तः प्रान्त !  
द्वन्द्व-ग्रस्त हैं नर-नारी सब, क्यों ये तनिक न रहते शान्त,  
जहर उगलते वे हैं क्यों, क्यों उनका मानस कभी न ध्वान्त !  
धर्म-नीति-अध्यात्म-प्रेमसे पूर्ण न क्यों शीतल व्यवहार,  
कौन बताये साफ-साफ आ, उलटी क्यों सरिताकी धार !



# पुरानी पीढ़ी बनाम नयी पीढ़ी

( लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन' )

पुरानी पीढ़ी आजके समय माने जानेवाले समाजमें उपेक्षित, बल्कि तिरस्कृत है। उसे दक्कियानूसी, परम्पराओंका दास, पश्चाद्गामी और झूठे विश्वासोंसे चिपका हुआ कहा जाता है। समाजमें, राजनीतिमें, अर्थ-विद्यामें, साहित्यमें—सर्वत्र सत्ता उसके हाथसे जा रही है या छीनी जा रही है।

यों तो पुरानी पीढ़ी मिटनेके लिये होती ही है, परंतु मिटकर भी वह कुछ छोड़ जाती है। जो वह छोड़ जाती है, वह नवीनके लिये ही होता है। उसीकी गोदमें नवीन पलता है, बढ़ता है और परिपुष्ट होता है। कठिनाइयों और काँटोंके बीच जीते हुए, वह अपना प्रतिक्षण नवीनको देती है और अपना संचित अनुभव, अपना वैभव, अपनी अर्जित पुण्य-राशि नवीनको दे एक दिन संसारसे विदा हो जाती है। उसने अतीतसे जो पाया था और वर्तमानमें जो अर्जित किया था, सब भविष्यके प्रति समर्पित कर देती है। इस तरह अतीत, वर्तमान और भविष्यका एक अखण्ड कालचक्र और उसका सातत्य बना रहता है।

इसीलिये भारतीय समाज-जीवनने देव-ऋणके पश्चात् मातृ-ऋण और पितृ-ऋणको विशेष महत्त्व दिया था। नवीन संततिपर माता-पिताके अशेष उपकार थे, जिसे वह नम्रतापूर्वक स्वीकार करती थी। वह यह ऋण उनको आदर देकर, उनके प्रति कृतज्ञ होकर, तन-मनसे उनकी सेवा-सहायता करके चुकानेकी चेष्टा करती थी। इसीलिये हमारे गृह स्वर्ग थे—जो माताकी आशीर्वाद-वर्षा, पिताके पथ-दर्शन, संततिकी कर्मचेष्टा और धर्मभावना तथा गृहिणीके नित्य स्नेह-दानसे गौरवान्वित थे; जहाँ मातृत्वका अक्षय आत्म-दान, पत्नीत्वका अशेष सौरभ कण-कणमें सुखरित था। पहले ऐसे गृह सामान्य थे, आज विरल हैं।

हम भी तो कभी नवीन थे। याद है, बचपनमें प्रातः आँख खुलते ही भगवत्स्मरण करते और फिर उठकर माता-पिता, बड़े-बूढ़ोंके चरण छू, हाथ जोड़ उन्हें प्रणाम करते थे। बड़े होनेपर भी यही क्रम रहा और गृहमें जो गुरुजन होते, उनका आशीर्वाद प्राप्तकर उमंगोंसे भर जाते थे। आज भी ऐसे गृह हैं, ऐसे परिवार और संस्थान हैं, जिनमें यह परम्परा चली आ रही है; परंतु दिन-दिन उनकी संख्या घटती जाती

है। पहले गृह जीवनमय था; वह हँसता-बोलता, ऊर्जमय भरा, समाजके प्रति अपनेको निवेदित करनेके लिये तत्पर, सामूहिक उत्तरदायित्वोंके प्रति सजग था और आज जड़, श्मशानवत्, पग-पगपर खीझ और कुण्ठाओंसे भरा, निराशाओंसे प्रताड़ित, कराह और आहके धुँएँ विजड़ित है—जहाँ हर एक अपने लिये जीता है। और अपने लिये जीता है, इसीलिये जी भी नहीं पाता।

कल महादेवसे भेंट हो गयी। महादेव एक फल-विक्रेता है। अब बूढ़ा हो गया है। एक युगसे मैं उसे जानता हूँ। धर्म-भावनासे भरा, ईमानदार, शिष्टताकी मूर्ति। मेरे प्रति न जाने क्यों उसका बहुत प्रेम है। कई दिनों बाद मिला था। बीमार था। मेरे हाल-चाल पूछनेपर उसकी आँखोंमें आँसू आ गये। सहानुभूतिकी ऊष्मासे हृदयकी हिमानी गल गयी। फिर तो बातें चल पड़ीं। कहने लगा, “बड़ा बच्चा पाँच सालका हुआ कि बच्चेकी माँ मर गयी। उस वज्रपातमें भी बच्चोंका मुँह देखकर जीता रहा। तीन बच्चे थे। दूसरी शादी नहीं की। १२ बजे रातको दूकान बंदकर घर जाता, तब खाना बनाता। बच्चोंको खिलाता-सुलाता। सुबह तड़के घरके सब काम-काज करके और बच्चोंके खाने-पीनेकी व्यवस्था कर दूकान आता और दिनभर दौड़ता-फिरता। इस तरह बड़े कष्टोंसे इनको पाला है। अब सब बड़े हो गये हैं, हाथ-पाँवसे दुरुस्त। कभी कमाते-खाते हैं, कभी बेकार रहते हैं। मेरे घरमें ही रहते हैं, पर बीमारीमें एकको छोड़, जो कुछ ख्याल रखता है, कोई मुँहसे हाल-चाल भी नहीं पूछता कि कैसी तबीयत है, कुछ मुँहमें गया है या नहीं। पड़ा-पड़ा उन्हें आशीर्वाद देता हूँ और भगवान्से प्रार्थना करता रहता हूँ कि ‘प्रभो! मुझे उठा लो।’ दिलमें जो घाव लगा है, उसे उहाँकी लीला समझ भोग रहा हूँ; पर दुःख तो होता ही है।”

महादेव बहुत-सी बातें करता रहा। बातें करता जाता और रोता जाता था; रोना जव्र बंद हो गया, तब भी उसके शब्द लड़खड़ाते थे और वाणी मानो सिसक-सिसक उठती थी। उसे बहुत ढाढस देकर विदा हुआ।

लौटते हुए मैं ऐसी ही स्मृतियोंमें खो गया। बहुत-सी गुजरी बातें और घटनाएँ आँखोंके आगे फिर गयीं। मेरे



एक अभिन्न सुहृद् हैं। उच्च कोटिके विद्वान्, अत्यन्त प्रेमिल और उदार पुरुष; धर्मभावनासे प्रेरित और कर्तव्य-निष्ठ। उनका सारा जीवन ही कर्तव्यनिष्ठामें बीता है। महोदयकी भाँति उन्होंने भी अपनी संततिका पालन बढ़े प्रेमसे निरन्तर कष्टोंके बीच किया। पत्नीके निरन्तर रोगिणी रहनेके कारण बड़े लड़केको तो उन्होंने माँकी तरह पाला। उसे पढ़ाया-लिखाया, योग्य बनाया; उसे अपना सारा व्यवसाय सौंप दिया। परंतु यही लड़का ब्याह होनेके बाद ऐसा बदल गया कि जो देखता है, आश्चर्य करता है। उन्हींके मकानमें अलग रहता है, उन्हींके दिये हुए व्यवसायकी कमाई खाता है; परंतु माता-पिताके प्रति ऐसा व्यवहार करता है, मानो वे शत्रु हों।

दो साल हुए, इन्हीं महोदयकी एकमात्र कन्याका विवाह हुआ। नाते-रिश्तेमें दूर-दूरके लोग आये; नगर और मुहल्लेके लोगोंकी भीड़ लगी रहती। पराये लोग सेवा करते फिरे थे। परंतु उसका यह बड़ा भाई और उसकी अहंकारके नशेमें डूबी पत्नी, मतलब लड़कीकी भाभी, उसी मकानके एक भागमें रहते हुए भी, किसी अवसरपर दिखायी नहीं पड़े; अपने-पराये सभीने कन्याको कुछ-न-कुछ उपहार दिया, किंतु उन लोगोंने एक फूटी कौड़ी न दी, न कन्याको आशीर्वाद देने आये; छोटे-छोटे बच्चोंको भी इस समारोहमें शामिल होनेको मना कर दिया। माँके कलेजेमें शूल चुभ गया; पिता कराहकर रह गये। किंतु सबसे अधिक व्यथातुर तो वह बालिका हुई, जो सदाके लिये अपने चिर-परिचित गृहसे दूर चली जा रही थी। उसकी थरथराती वाणीसे, न चाहते हुए भी, शब्द निकले—‘दादा माता-पितासे नहीं, मुझसे न जाने किस जनमका बदला ले रहे हैं!’ जिसने सुना, उसीकी आँखें भर आयीं।

हमारे यहाँ कभी-कभी एक बुढ़िया आ जाती है—सिर-पर साफ मिट्टीकी एक डलिया धरे—वृद्धावस्थाकी निर्वलतासे लड़खड़ाती-सी। दम फूल-फूल जाता है; चला नहीं जाता। लाता है—अब गिरी, तब गिरी। हमारे यहाँ कुछ ज्यादा पैसे उसे मिल जाते हैं। एक दिन मैंने पूछा—‘जब चला नहीं जाता, तब क्यों आती है?’ बोली—‘भैया! न आनेपर पेठ पापी कैसे भरेगा?’ मेरे मुँहसे निकल गया—‘क्या कोई येडा नहीं है?’ इतना सुनते ही उसके पाँव थरथराये और वह धमसे धरतीपर बैठ गयी। कण्ठावरोध हो गया—कुछ देरतक तो बोल ही न सकी। फिर कहा—‘भैया! बेटे तो

एक नहीं, सात हैं। पर सब अपने-अपनेको देखते हैं, बाल-बच्चे लेकर अलग हैं, कमाते-खाते हैं; मुझे अलग कर दिया तो भगवान्का नाम लेती और यही मिट्टी बेचती हूँ, दो पैसे मिल जाते हैं। कोठरीके पास ही एक स्त्री हमारे लिये दो टिकड़ सेंक देती है।’

हमारे घरसे लगभग चार फर्लोगपर रहते हैं—राधेकृष्ण। तेज-तर्रार आदमी हैं। कई दुकानें हैं। अच्छी चलती है। इनके पिताने विमाताकी शह पाकर इनपर बहुत अन्याय किये। परंतु बूढ़े पिताकी वे बराबर सेवा करते जाते हैं। उनकी जीविकाका स्वतन्त्र प्रबन्ध कर दिया है। पिता कुछ अनुचित भी कह देते हैं तो बोलते नहीं। शीलवान्, समझदार आदमी हैं।

इनका एक लड़का है, जिसको पढ़ाने-लिखानेकी उन्होंने बड़ी चेष्टा की; किंतु मैट्रिकतक भी चल न पाया; फिर व्यवसायमें लगाना चाहा, अलग दूकान कर दी; पर वहाँ भी मन न लगा। पैसा फूँकता, यार-दोस्त जुड़ते, कहकहे लगते, इधर-उधर घूमना-फिरना होता; पर न संस्कार बन पाते थे, न जीविकोपार्जन ही होता। एक दिन डॉटने-फटकारनेपर पितापर लकड़ी तानकर दौड़ा। पिता चाहते तो उनमें इतना बल था कि उसका भुत्ता बनाकर रख देते। पर उन्हें कभी विश्वास न था कि वह इस सीमातक जा सकता है। इस घटनासे वह सकेतेमें आ गये। क्रोध नहीं हुआ, पर गहरे दुःखका ऐसा झटका लगा कि वहीं बैठ गये। तबसे वे उससे बोलते ही नहीं।

हमारे ही निकट एक लड़केने—उत्तेजनामें, जब पिता चुपचाप भोजनपर बैठे थे, पीछेसे आकर उनका गला दबोच दिया। दूसरे लोग दौड़ पड़े और उसे पकड़ लिया। पिता कुछ नहीं बोले; बिना खाये उठ गये और उनकी आँखोंसे दो बूँद आँसू टुलक पड़े—आँसू, जो उनके चुप रह जानेपर भी वेदनाकी गहराइयोंके मन्थनसे उत्पन्न हुए थे।

ऐसे उदाहरण और भी हैं। ये बतलाते हैं कि पिछले ५० वर्षोंमें हम कहाँ-से-कहाँ आ गये हैं। हमने बात मातृ-पितृ-ऋणमें शुरू की थी। एक समय अवतार-पुरुष तथा वेदान्तके सूर्य आदि शंकराचार्य-जैसे संन्यासीतकको कहना पड़ा था कि ‘मेरी सारी साधना और तपस्या माँकी तपस्याके सामने कुछ नहीं है।’ किंतु हम उतनी ऊँची बातोंको छोड़



दें, तो भी शिष्टाचार सभ्य जीवनकी प्रथम कसौटी है। जानता हूँ कि नयी पीढ़ीका भी एक पक्ष है और उसकी वकालत करनेवाले बहुमतमें हैं। मैं यह भी मान लेता हूँ कि माता-पितासे तुम्हारा मत भिन्न हो सकता है। यह भी स्वीकार कर लेता हूँ कि तुम अपने पथपर चलनेको स्वतन्त्र हो—प्रत्येक मनुष्य है; किंतु क्या दुर्व्यवहार, असभ्यता और अशिष्टता स्वतन्त्र मत और स्वतन्त्र जीवन-पद्धतिके लिये अनिवार्य हैं? क्या मतभेद रखते हुए भी हम गुरुजनोंको आदर और सम्मान नहीं दे सकते? क्या आक्रोश, उत्तेजना, उद्दण्डता और किये हुए उपकारोंकी अस्वीकृति किसी नवीनताके गौरव-चिह्न हैं?

यह जो नयी पीढ़ीमें उद्दण्डता बढ़ रही है, यह निर्माण नहीं करती, विस्फोट और विखण्डनमात्र करती है। घरमें, समाजमें, राजनीतिमें, साहित्यमें, विद्योपार्जनके क्षेत्रोंमें सर्वत्र

उसका भयावह रूप हम देख सकते हैं। यह एक राष्ट्रीय शक्ति है। यह आत्महत्या है। कितनी शक्ति, जो जीवनके निर्माणमें लगती, संस्कृतिको जन्म देती और देश तथा मानवताके हितमें लगती, निरर्थक नष्ट हो रही है।

मेरा तात्पर्य यह नहीं कि नयी पीढ़ीमें जो आवेग है, जो विद्रोह-भावना है, जो प्रश्न-चिह्न खड़ा करनेकी वृत्ति है, जो शक्तिका उन्मेष है, वह निरर्थक है, या यह कि वह उसे छोड़ दे। मेरा मतलब इतना ही है कि यह जो वर्तमान है, इसके समुचित उपयोग और विकासमें पुरानी पीढ़ीकी भी कुछ देन है। उस देनको स्वीकार करके नयी पीढ़ी अपनी ही शक्ति बढ़ायेगी। उसके प्रति आदर और सम्मान प्रकारान्तरे अपना ही आदर और सम्मान है। शिष्टता प्रत्येक व्यक्ति, वर्ग, समाज और कालका भूषण है। उसका तिरस्कार मानवताकी ही अस्वीकृति है।

## अनुशासन

यह सारी सृष्टि एक दैवी अनुशासनपर चलती है। जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र, आकाश, समुद्र, पर्वत और हमारे चतुर्दिक् दृश्यमान नक्षत्रगण एक अनुशासनपर चलकर अपनी-अपनी मर्यादापर कायम रहते हैं, वैसे ही मनुष्यको भी अपने चतुर्दिक्के सभी कामोंमें अनुशासनका पालन अचूक और नियमितरूपसे करना चाहिये।

सारे अनुशासनोंकी जड़ व्यक्तिगत अनुशासन है। जबतक कोई भी व्यक्ति अपने-आप अनुशासन और नियम-पालनमें बँध नहीं जाता, तबतक उसका दूसरेसे वैसा करानेकी आशा करना व्यर्थ है।

अनुशासन शारीरिक और मानसिक दो प्रकारके होते हैं और किसी भी व्यक्तिके प्रशिक्षणके लिये ये दोनों ही जरूरी हैं।

अनुशासनमें रखनेका प्रशिक्षण बचपनमें और घरसे ही शुरू होना चाहिये। अनुशासनहीन बालक आसानीसे बिगड़ जाते हैं।

अनुशासनके बिना न तो परिवार चल सकता है न संस्था या राष्ट्र। वास्तवमें अनुशासन ही संगठनकी कुंजी और प्रगतिकी सीढ़ी है।

अनुशासन केवल भौजोंके लिये नहीं, जीवनके हर क्षेत्रके लिये है।

अनुशासनका पालन तभी सम्भव है, जब मनुष्यको उस काममें अनुराग हो, जिसमें वह लगा हुआ है। इसके बिना तो अनुशासन अनुकरणमात्र होगा।

किसी भी राष्ट्रका परिचय उसके अनुशासनवद्ध नागरिकोंसे मिल जाता है। बाहरी दुनियाकी भाँति अपने मन और शरीरको भी अनुशासनमें रखना चाहिये।

—महात्मा गांधी



# पढ़ो, समझो और करो

(१)

## मार्थक गीता-अध्ययन

समय ८० वर्ष पूर्वकी बात है—बीकानेर राज्यके रतनगढ़ नगरमें नाथ-सम्प्रदायके त्यागी, वैरागी एवं संत रहते थे। शहरके बाहर उनकी कुटियाँ थीं। उनके श्रद्धालु स्त्री-पुरुष प्रायः उनके दर्शनके लिये जाया करते थे। रतनगढ़में उन दिनों प्रसिद्ध संतोंमें श्रीवल्लभाथजी प्रताप थे। ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीसेठजी श्रीजयदयालजी प्रताप उस समय बालक थे। श्रीसेठजीकी माताजी, तब तक श्रीवल्लभाथजी श्रोवाई जब अपने नैहर रतनगढ़ जातीं, तब श्रीमाता एवं पुत्र श्रीजयदयालके साथ वे भी श्रीवल्लभाथजी के दर्शन करने जाया करती थीं। प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक विचार, प्रत्येक क्रियाका हमारे हृदयपर होता है, चाहे हम उसे अनुभव करें नहीं। श्रीवल्लभाथजीके दर्शनोंका भी सुप्त प्रभाव बालक जयदयालके अन्तःकरणपर पड़ा। श्रीवल्लभाथजी साधन श्रद्धालुओंको श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीविष्णुसहस्रनामके उपादेश करते थे। श्रीसेठजीने कभी उनसे पूछा नहीं कि उन्होंने भी कभी अपनी ओरसे कुछ नहीं बताया; पर बालक श्रीजयदयालके मनमें स्वतः गीताके पाठ एवं अध्ययनकी बात आयी। वे गीताका पाठ अर्थसहित करने लगे। पाठ करते-करते जब वे गीताके १८वें अध्यायमें पहुँचे तब उन्हें गीताके उपसंहार-प्रकरणमें भगवान्की बातके ये दो श्लोक मिले—

य इमं परमं गुह्यं मङ्गलैस्त्वभिधास्यति ।  
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥  
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।  
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

(गीता १८।६८-६९)

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको प्राप्त होगा—  
इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य किसी मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभरमें उससे अधिक मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा भी नहीं।  
यह श्रीसेठजीके हृदयमें भगवान्की वाणी गूँजने लगी।  
उन्होंने जीवनकी साधना मिल गयी। जो परम रहस्ययुक्त

गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा—भगवान्की इस आज्ञाके पालनके लिये यह आवश्यक हो गया कि पहले स्वयं उस शास्त्रके मर्मको हृदयंगम किया जाय। श्रीसेठजीने गीताके अर्थ और भावोंको समझनेका प्रयत्न आरम्भ कर दिया। संस्कृतकी टीकाओंको वे उलटने लगे। एक दिन वे गीताकी मधुसूदनी टीका लेकर श्रीवल्लभाथजी महाराजके पास पहुँचे और उनसे प्रार्थना की—‘महाराजजी! मुझे यह टीका पढ़ा दीजिये।’ नाथजीके मनमें आया—‘जिस टीकाको लगानेमें बड़े-बड़े पण्डितोंकी बुद्धि चकराती है, उस टीकाको यह बालक क्या समझेगा?’ उन्होंने बालकको टाल दिया। पर सेठजी साधारण बालक तो थे नहीं, वे तो पूर्वजन्मके विशेष संस्कारी जीव थे और भगवान्की विशेष इच्छासे जीवोंके कल्याणके लिये पधारे थे। साथ ही उनमें कार्यको पूरा करनेकी अद्भुत लगन थी। सच्ची लगन होती है तो भगवान् भी सहायता करते हैं। कुछ दिनों बाद श्रीसेठजी चूरु आये। वहाँ उन्होंने संस्कृतके अच्छे ज्ञाता पं० श्रीकन्हैयालालजी ढंडके सहयोगसे मधुसूदनी टीकाके साथ गीता पढ़ना आरम्भ किया। थोड़े समयमें ही उन्होंने दो अध्याय पूरे कर लिये। इसी बीच अपनी माताके साथ श्रीसेठजीका पुनः रतनगढ़ जाना हुआ। वे श्रीवल्लभाथजी महाराजसे मिले तथा अपना गीता-अभ्यास भी उन्हें सुनाया। नाथजी श्रीसेठजीका गीताभ्यास देखकर चकित रह गये। उन्होंने समझ लिया कि निश्चय ही यह विशेष संस्कारी बालक है। उन्होंने हृदयसे श्रीसेठजीके मङ्गल भविष्यकी शुभकामना की। महात्माजीका आशीर्वाद मिलनेपर उनका उत्साह और बढ़ा। वे संस्कृत टीकाओंके अध्ययनमें और भी तत्परतासे लग गये। एक-एक करके उन्होंने संस्कृतकी प्रायः सभी टीकाएँ पढ़ लीं। परंतु भक्तोंको गीताका संदेश कहनेके सम्बन्धमें जो भगवान्का आदेश है, वह पूरा नहीं हो पाया। कई बार साहस बटोरा गीताके भावोंपर कुछ कहनेका, पर सफल न हो सके। अन्तमें अध्ययनके आधारपर गीताके अर्थ एवं भावोंकी चर्चा अपने मित्रोंमें करने लगे। मित्रोंको यह चर्चा बड़ी रुचिकर हुई तथा इससे उन्हें लाभ भी पहुँचा। अतएव मित्रोंका आग्रह गीताचर्चाके प्रति बढ़ने लगा। कहने-सुननेसे भावोंका मनन होने लगा। नये-नये भाव हृदयमें स्फुरित होने लगे। उन्होंने सम्पूर्ण गीताका अर्थ लिखा और वह प्रकाशित हुआ।



पीछे तो उन्होंने गीताके भावोंको स्पष्ट करनेवाली एक विलक्षण विशद टीका लिखी, जो गीतातत्त्वविवेचनीके नामसे विख्यात है और बहुत अधिक संख्यामें गीताप्रेससे प्रकाशित हो चुकी है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपना जीवन ही भगवान्की वाणीको भक्तोंके प्रति कहनेमें लगा दिया। गीताप्रेसकी स्थापना एवं 'कल्याण'का आरम्भ इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हुआ। दोनोंका कार्यक्षेत्र सर्वविदित है।

गीता न जाने कितने लोग पढ़ते हैं, पर जीवनमें उसका तनिक भी प्रभाव नहीं होता। श्रीसेठजी-जैसे महापुरुषने गीताके दो श्लोकोंके पढ़नेमात्रसे अपना सम्पूर्ण जीवन गीता-ज्ञानकी प्राप्ति एवं उसके मुक्तहस्त वितरणमें लगा दिया और धार्मिक जगत्में एक महान् कान्ति उत्पन्न कर दी। उनके सत्प्रयत्नसे करोड़ों व्यक्ति भगवान्के अभिमुख हुए हैं और सुदीर्घकालतक होते रहेंगे। यह है महापुरुषका सार्थक गीता-अध्ययन।

महाप्राणके कुछ दिन पूर्व अपने जीवनकी इस महान् घटनाका उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने एक लेखमें सबसे प्रार्थना की थी—'जो मनुष्य उपर्युक्त इन दोनों श्लोकोंके अर्थ और भावको भलीभाँति समझ जाता है, उसका तो सारा जीवन गीता-प्रचारमें ही व्यतीत होना चाहिये। वर्तमान समयमें (गीताप्रेस-कल्याण आदिके द्वारा तथा मौखिक उपदेशोंके द्वारा) जो कुछ भी गीता-प्रचार हमारे देखने-सुननेमें आता है, उसका भी प्रधान कारण इन दो श्लोकोंका अर्थ और भावको जाननेका प्रभाव ही है।'

सचमुच श्रीसेठजीका जीवन गीतामय हो गया था। उनके शरीरका एक-एक कण और जीवनका एक-एक श्वास गीताज्ञानके वितरणमें व्यतीत हुआ। अपने विचारद्वारा, वाणीद्वारा, लेखनीद्वारा एवं जीवनद्वारा वे निरन्तर गीतामृतका प्रचुरतासे दान करते रहे। श्रीसेठजी साक्षात् 'गीता-मूर्ति' थे—गीताज्ञानके साकार विग्रह थे।

—कृष्णचन्द्र अग्रवाल

( २ )

### अनोखी उदारता

'होनहार बिरवानके होत चीकने पात'—उक्तिके अनुसार महापुरुषोंमें जन्मसे ही कुछ विलक्षणताके दर्शन होते हैं। श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके स्वभावकी मृदुलता, साधुता, सौम्यता, सात्त्विकता, उदारता प्रसिद्ध

हैं; जो भी उनके सम्पर्कमें आया है, वह उनके इन गुणोंपर मुग्ध हुए बिना नहीं रहा। उनमें ये गुण विलकुल सहज थे, स्वाभाविक थे—जन्मजात थे। छोटपनेसे ही उनका स्वभाव अत्यन्त उदार था; वे अपनी हानि करके भी दूसरोंका भला करनेके लिये प्रयत्नशील रहते थे। वास्तवमें उनकी दृष्टिमें 'पर' कोई था ही नहीं। जब सभी अपने हैं, तब सबका सुख-दुःख अपना है, सबकी मान-प्रतिष्ठा अपनी है।

सन् १९१८ से १९२७ के बीच श्रीभाईजी वधवाँसे व्यापार करते थे। शेयर बाजारमें साझेदारीका काम था। श्रीभाईजी उस कामको देखते थे। एक काम और था। उसमें देहातोंमें रूई भँगवाकर विदेशोंमें भेजे जाती थी। उसका काम फर्मके दूसरे हिस्सेदार श्रीचिरंजीलालजी जाजोदिया देखते थे। महाराष्ट्रके नागपुर, वर्धा आदि जिलोंसे रूई आती थी। श्रीजाजोदियाजी वे अच्छे हिसाब-किताबी थे। वे दूसरेका पैसा लेते नहीं थे और अपना पैसा कभी छोड़ते नहीं थे। इस फर्ममें रूई लेन-देनका काम दूसरे लोगोंका भी करवाया जाता था। जोधपुरकी ओरके एक सज्जन रूईके लेन-देनका बहुत काम करते थे। उनका काम श्रीभाईजीकी फर्मकी मालिक होता था। वे सज्जन बड़े भले व्यक्ति थे। उनके हिसाब-किताबमें कहीं कोई गड़बड़ नहीं होती थी।

विधिका विधान विचित्र है। प्रारब्धके विपरीत होनेपर वही मनुष्य जो अनायास बराबर ऊपर चढ़ता चलता है, प्रयत्न करनेपर भी असफल हो जाता है। जोधपुरकी ओरके सज्जनको भी भाग्यकी विपरीतताने आ घेरा। एक बार उन सज्जनने श्रीभाईजीकी फर्मका काम किया और उन्हें ६०-७० हजार रुपये लग गये। वे सज्जन रुपये नहीं दे सके। श्रीभाईजीको मालूम था कि उनके पास रुपये नहीं हैं और घाटा अधिक है, इससे वे रुपये नहीं दे पा रहे हैं। ऐसी स्थितिमें उनसे तकाजा करना तो दूर रहा, उल्टे जब कभी दोनों घुमते-फिरते कहीं आमने-सामने हो जाते तो श्रीभाईजी उन सज्जनको लज्जा एवं संकोचसे बचानेके लिये दूसरी ओर घूम जाते थे। पर श्रीजाजोदियाजीने जब देखा कि तकाजा करनेपर भी वे सज्जन रुपये नहीं दे रहे हैं, तब बार-बार तकाजा करनेपर भी वे सज्जन रुपये नहीं दे रहे हैं, तब उन्होंने उनपर कचहरीमें नालिश कर दी। श्रीभाईजीने जाजोदियाजीसे नालिश न करनेके लिये कहा-सुना, पर उन्होंने समझाया कि व्यापारमें इस प्रकार रुपये छोड़नेसे फर्म फेल हो जायगी। श्रीभाईजी उनका आग्रह देख चुके थे।



ने। बात सत्य थी ही। श्रीभाईजीकी फर्मके पक्षमें डिग्री होनी। डिग्रीके रुपये वसूल करनेके लिये श्रीजाजोदियाजीने श्रीभाईजीसे कहकर एक दिन उन सजनपर कुर्की—जप्तीका आदेश देकर कहा कि श्रीभाईजीको अच्छी प्रकार ज्ञात था कि डिग्री ले लिया। श्रीभाईजीको अच्छी प्रकार ज्ञात था कि उन सजनके पास नकद रुपये नहीं हैं; जो कुछ है, वह गहना है। यदि गहना भी चला गया, तो उन्हें खानेके लिये पड़ जायेंगे; बेचारोंके लिये बड़े संकटकी स्थिति हो जायगी। किंतु श्रीभाईजी निरुपाय थे। श्रीजाजोदियाजीके स्वभावसे वे पूर्ण परिचित थे और जानते थे कि कहनेपर भी वे रुपया छोड़ेंगे नहीं। श्रीभाईजीको दूसरा उपाय सूझा। उन्होंने उन सजनको फोन किया—‘हमारे फर्मकी ओरसे आपके वहाँ कुर्की जा रही है; आप सावधान हो जाइये और गहना, सामान आदि जो कुछ भी इधर-उधर करना हो, कर दीजियेगा।’ श्रीभाईजीका संकेत पाते ही उन सजनने गहना-सामान आदि अपने मित्रोंके यहाँ रखवा दिया। कुर्कीवाले गये, पर उन्हें कुछ नहीं मिला। वे खाली हाथ लौट आये। श्रीजाजोदियाजीके मनमें बड़ा विचार हुआ कि कुर्कीमें कुछ भी न मिला।

श्रीभाईजी श्रीजाजोदियाजीकी मानसिक वेदना जानते थे। अतएव सान्त्वना देनेके लिये उन्होंने श्रीजाजोदियाजीको वास्तविक परिस्थिति बतला दी—‘बेचारेके पास नकद कुछ है नहीं, गहना है। यदि वह भी आपने ले लिया तो वे तथा उनके परिवारवाले भूखों मर जायेंगे। अतएव मैंने फोनद्वारा उन्हें कुर्की आनेकी बात बता दी थी और कह दिया था कि गहना आदि घरसे हटा देना चाहिये।’ श्रीजाजोदियाजी श्रीभाईजीकी बात सुनकर सन्न रह गये। श्रीभाईजीके स्वभावकी इस विचित्रतासे वे परिचित थे तथा वे श्रीभाईजीको बहुत मानते थे। श्रीभाईजीकी बात सुनकर वे बोले—‘जब आपको फोन ही करना था तो मुझे पहले ही क्यों नहीं कह दिया? कुर्की भेजते ही नहीं। व्यर्थ ही उसमें कुछ रुपये और लग गये तथा परेशानी हुई।’ श्रीभाईजी हँस दिये।

इस प्रकार रुपये छोड़नेकी अनेकों घटनाएँ श्रीभाईजीके व्यापारिक जीवनमें घटी थीं।

—कृष्णचन्द्र अग्रवाल

( ३ )

## युवा विमानचालकका आत्म-बलिदान

७ मई १९५८ की दोपहरी। दिल्लीका सफदरजंग हवाई

अड्डा और उसके आस-पास एक विचित्र तरहकी खामोशी। सुनसान वातावरणको कभी कोई सिटी बस अथवा कोई स्कूटर-रिक्शा या फिर इक्का-दुक्का आदमी यदा-कदा विचलित कर जाते। पर उदासी और एकान्त जैसे जड़ हो गये हैं। हवाई अड्डेके भीतर काम कर रहे कर्मचारी भी फ्लाईंग क्लबके हैंगर (विमान-शाला) में कलके क्षतिग्रस्त ग्लाइडर (इंजिन हीन वायुयान) की जाँच-पड़तालमें व्यस्त थे। अकस्मात् कानोंके पर्दे फाड़ देनेवाले दो धमाके हुए। लगा जैसे लोहे और कंक्रीटका बना हुआ बड़े-बड़े दरवाजों और खिड़कियोंवाला वह दैत्याकार हैंगर हिलता हुआ अभी ध्वस्त हो जायगा। अचानक इस नयी विपत्तिने आकर हवाईअड्डेकी जड़ खामोशीको भयानक विप्लवमें बदल दिया। हैंगरमें कुहराम मच गया। सभी बाहर भाग रहे थे। पहले तो लोगोंको लगा कि उड़ान भरते ही कोई डकोटा विमान दुर्घटनाग्रस्त हो गया है; पर जब उन्होंने बायीं ओरवाले हैंगरको, जिसमें दर्जनों वायुयान और लाखों रुपयोंके हवाई जहाजके स्पेयर-पार्ट्स (अतिरिक्त पुर्जे) थे, पेट्रोलके काले विषाक्त धुँएके बीच घिरा हुआ देखा, तब सबसे पहले उन्हें दायीं ओर केवल सौ गज दूरीपर खड़े हुए आग्नीलियरी एयरफोर्स (सहायक वायुसेना) के कई पेट्रोल भरे हवाई जहाजोंकी सुरक्षाकी चिन्ता हुई। उस विमान-दस्तेके अधिकारी, स्काइन-लीडर तथा विंग-कमाण्डर अपने कुछ सहायकोंके साथ उन विमानोंको सुरक्षित स्थानोंतक पहुँचानेमें प्राण-पणसे लगे हुए थे। कुछ ही क्षणोंमें बायीं ओरवाला हैंगर आगकी भयानक लाल-लाल लपटोंके रूपमें दिखायी पड़ने लगा।

पूरा कार्यालय खाली करा दिया गया। अचानक लोगोंकी दृष्टि ऊपर आसमानकी ओर गयी। आसमान जैसे लाल-लाल लपटों और धुँएके अतिरिक्त कुछ और नहीं था। यह काला दृश्य दिल्ली आनेवाले कुछ जहाजोंके विमानचालकके अनुसार पचास मील दूरीसे भी दिखायी पड़ रहा था। लोगोंने देखा—पैराशूट (वायुयानसे उतरनेके छाते) का एक गुम्बद नीचे उतर रहा था। यह दृश्य उनके लिये कोई नया नहीं था। फिर भी स्थिति अब काफी स्पष्ट हो गयी थी। पैराशूटसे झूलते नीली और खाकी वर्दीधारीके दोनों हाथ नीचेकी ओर झूल रहे थे। ऐसा केवल एक ही दशममें हो सकता था जब कि छतरीधारी बेहोश हो; वरना छतरीकी रस्सियाँ उसके हाथोंमें होतीं। उतरते हुए अचेत व्यक्तिका सिर छाती-पर झूल रहा था। मुख्य ‘रन-वे’ (विमानभूमि) के निकट खड़े



लोगोंमें ३०० गजकी दूरीपर छतरीधारी गिरा । उसके निकट पहुँचनेपर लोगोंने उसकी वर्दीपर लगे बेंजमे अनुमान लगाया कि वह फ्लाइट लेफ्टेनेंट ( वायुसेनाका एक पदाधिकारी ) था । उसे सीधे लिटाकर छतरीकी घुंडी दबाकर छतरीमें मुक्त किया गया । उसकी टाईकी गाँठ ढीली कर दी गयी । अचेत व्यक्ति मँझोले कदका सुन्दर गोरा-चिढ़ा युवा विमानचालक गोरा था । उसके मुँहसे खूनकी पतली रेखा सी वह रही थी ।

पायलट गोरा एक नेवीगेटरके साथ वैम्पायर नाइट फाइटर ( रात्रि-योधक विमान ) पर सामान्य उड़ानपर निकला था । यह अभी कुछ ही घंटे पहलेकी बात थी । वह यमुनापरसे होकर उड़ रहा था कि अकस्मात् उसके जहाजमें आग लग गयी । गोराने तत्काल पालम कंट्रोल-टावरको इसकी सूचना दी । साथ ही उसने हवाई जहाजको पालमकी ओर मोड़ दिया । उसने आशा की थी कि वह पालम हवाई अड्डेतक पहुँच जायगा, लेकिन आगकी लपटें बढ़ती ही जा रही थीं । काकपिटके भीतर विषाक्त तीक्ष्ण धुआँ भरता जा रहा था । वह आँचमें झुलस रहा था । उसे लगा पालम-तक पहुँचनेका उसका सारा प्रयत्न असफल ही रहेगा । पर जहाज अब नयी दिल्लीके ऊपर उड़ रहा था । उसका मन भयानक आशङ्कासे भर गया । उसने एक बार फिर पालम कंट्रोल-टावरको संदेश भेजा । उधरसे उत्तर मिला—‘जहाज छोड़ दो, फौरन पैराशूटसे उतर पड़ो ।’ गोरा अभी युवा था । एक लंबा जीवन उसके आगे था । उसने कितनी ही सुखद कल्पनाएँ की थीं अपने भविष्यके सम्बन्धमें । उसने एक बार सोचा—वह छल्लाँग लगा दे । लेकिन उसके बाद क्या होगा ? जलता हुआ चालकरहित जहाज यदि जन-संकुल वस्तीपर गिरा तो..... ? उसकी आँखोंके सामने था—आगका लहराता हुआ पारावार और चीखते-भागते नर-नारियों तथा बच्चोंका एक विराट् समुदाय एवं आगकी लाल-लाल लपटोंमें जलते हुए अनगिनत मकान, उनमें भरी हुई लाखों नागरिकोंकी मेहनत-मजदूरीसे अर्जित, भविष्यके लिये आश्वासन-रूप सम्पत्ति । उसे लगा—वह यदि कूद पड़ा तो नयी दिल्ली तबाह हो सकती है । यह भारतका केन्द्र-स्थल भी तो है । उसने सोचा—‘यदि मुझ अकेलेकी आहुतिसे लाखोंकी जान बचती है तो यह मृत्यु

भी मेरे लिये जीवन है । मौत तो एक दिन आनी ही है । क्यों न देशके लाखों भाई-बहिनोंकी प्राण-रक्षामें मैं अपनेको होम दूँ ? क्यों न देशका केन्द्र-स्थल बचा दूँ ? आत्मोत्सर्ग की भावना प्रबल हो उठी और उसने जहाजको पालम ओर बढ़ा दिया, हालाँ कि काकपिटके भीतर अब केवल लाल लपटें थीं और जहरीला धुआँ । उसकी त्वचा, उसका हर अवयव अब असह्य पीड़ा और दमघोंड़ वातावरणको सहन करनेमें सर्वथा असमर्थ हो रहा था । जहाजमें इन्जन सीट नहीं थी । इसलिये उसने जलते हुए जहाजको उल्टा किया, आक्सीजनका मुखौटा उतारा, रेडियो संयंत्र उतारा और बाहर छल्लाँग लगा दी । छल्लाँग लगाते समय उसे जहाजके टेल-बूमका एक जोरका धक्का लगा और वह अचेत हो गया ।

जलता हुआ हवाई-जहाज सफ़दरजंग हवाई अड्डेपर गिरा । जमीनसे टकराकर पिछला इंजन और धड़ अलग-अलग हो गये । उछलकर जलता हुआ धड़ दूरे हुए नक्षत्रकी भाँति सीधा हैंगरमें जा घुसा और लाल नट-गोल और कलपुर्जोंकी बरसात होने लगी । इस जलती हुई बरसातमें अनेकों घायल हुए । यदि एक छोटा-सा जलता हुआ टुकड़ा दार्याँ ओरवाले दस्तेपर गिरता तो न जाने कैसा दृश्य उपस्थित होता ।

हवाई अड्डे और दिल्ली नगरकी सारी दमघोंड़ मिलकर भी इस आगपर साढ़े पाँच घंटोंमें कब पा सकती ।

घायलोंको अस्पताल पहुँचानेके लिये एम्बुलेंस आ गयी थी । स्ट्रेचर लेकर लोग गेराके पास पहुँचे और उसे तत्काल स्ट्रेचरपर लिटा लिया । वे स्ट्रेचर उठानेवाले ही थे कि गोराने अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंको खोला—सबको लगा वह कुछ कहना चाहता है । पर तत्क्षण ही उसकी विशाल आँखें मुँद गयीं कभी न खुलनेके लिये ! लोगोंने देखा—गेराकी आँखोंमें दिल्लीको भीषण बर्बादीसे बचानेका आत्म-संतोष था ।

इस दुर्घटनामें कुल छः व्यक्ति मृत हुए । गेरा भी उनमेंसे एक था ।



## श्रीभाईजीका कुछ अमूल्य साहित्य

परमश्रेष्ठ भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके मौलिक साहित्यका विस्तृत परिचय 'कल्याण' के गत अंकमें प्रकाशित किया गया था। निचे हम उनके द्वारा अनूदित साहित्य तथा उनके ग्रन्थोंके संस्कृत एवं अंग्रेजी अनुवादोंका रहे हैं। पाठकोंको श्रीभाईजीके इस अमूल्य साहित्यसे लाभ उठाना चाहिये—

### श्रीभाईजीद्वारा अनूदित साहित्य

	मूल्य	अवगत प्रकाशित प्रतियाँ
१०) श्रीरामचरितमानस ( टांकासहित मोटा टाइप )	८.५०	६८,८५०
११) श्रीरामचरितमानस ( मझला साइज )	४.००	७,६५,०००
१२) विनय-पत्रिका	१.२५	३,९०,०००
१३) दोहावली	०.६०	२,३४,२५०

### श्रीभाईजीकी हिंदी पुस्तकोंका संस्कृत अनुवाद

१४) श्रीप्रेमदर्शनम् ( प्रेमदर्शनका अनुवाद )	०.९०	५,०००
१५) रसभावविमर्शः ( श्रीराधा-माधव-प्रेमतत्त्वका विशद विवेचन )	०.१५	८,०००

### Sri H. P. Poddar's Writings reproduced in English

Name of Book	Pages	Price	Copies printed	Name of Book	Pages	Price	Copies printed
The Philosophy of Love	256	1.25	43,250	7. The Divine Message	16	.07	98,000
Way to God-Realization	112	.35	72,250	8. Transcendental Love and Bliss	36	.20	8,000
Gopis' Love for Śrī Kṛṣṇa	80	.25	68,250	9. Nectarean Bliss of Śrī Rādhā-Madhava	48	.55	5,000
Our Present-Day Education	108	.19	5,750	10. Fountain of Bliss	200	2.50	5,000
The Divine Name and Its Practice	80	.25	65,250	11. Path to Divinity	200	2.50	5,000
Wavelets of Bliss	36	.15	74,250	12. Turn to God	200	2.50	5,000
				13. Look Beyond the Veil	200	2.50	5,000

## गीता-दैनन्दिनी सन् १९७२ ई०

आकार २२x२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ-संख्या ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ७५ पैसे, हाथ कर्बोंके कपड़ेकी जिस १० पैसे, डाकखर्च एक प्रतिका १.२५ पैसे, तीन अजिल्दका डाकखर्चसहित कुल ३.८० पैसे।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्की तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रमसे सम्पूर्ण भक्तप्रवर्द्धिता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्त पत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कैलेंडर, प्रार्थना, भारतीय शिक्षा, भावन श्रीरामके सदुपदेश, सत्पुरुषोंके सदुपदेश, ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश, नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृतोपदेश, भजनका स्वरूप और चेतावनी आदि सदुपदेश; कुछ जाननेयोग्य उपयोगी बातें—जैसे रेल-भाड़ा, डाक, तार, इन्कमटैक्स, मृत्युकर, माप-तौलकी नयी मेट्रिक प्रणाली, उनका तुलनात्मक परिवर्तन, भाषा माप, दैनिक वेतन और मकान-भाड़ा चुकानेका नकशा; अनुभूत घरेलू दवाओंके प्रयोग, स्वास्थ्य-रक्षाके सप्त-सूत्र, भक्त और आरती भी दी गयी है।

गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है। अतः यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने यहाँके विक्रेतासे माँगिये। इससे आपके समय तथा भारी डाकखर्चकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )



## सम्मान्य एवं प्रेमी ग्राहकों और पाठकोंको सूचना तथा निवेदन

( १ ) 'कल्याण'का यह ४५वें वर्षका १०वाँ अङ्क है। ११वाँ और १२वाँ अङ्क—ये दो अङ्क और निकल जानेपर यह वर्ष पूरा हो जायगा। ४६वें वर्षका प्रथम अङ्क सदाकी भौति विशेषाङ्क होगा। इस वर्षका विशेषाङ्क 'श्रीरामाङ्क'के नामसे प्रकाशित होने जा रहा है। श्रीरामाङ्कमें भगवान् श्रीराम और भगवती श्रीसीताके स्वभाव, तत्त्व, नामतत्त्व, लीलातत्त्व और धामतत्त्वपर आचार्यों, विद्वानों एवं भक्तोंके बड़े ही महत्त्वपूर्ण विचार रहेंगे। साथ ही इस अङ्कमें भगवान् श्रीरामके विभिन्न आदर्श गुणों, उनके प्रभाव, महत्त्व आदिपर भी विशेष प्रकाश डाला जायगा। भगवान् श्रीरामकी लीला—कथाका अपनी लेखनीद्वारा जगत्में प्रचार-प्रसार करनेवाले प्रमुख ऋषि, आचार्य, कवि और लेखकोंका भी संक्षिप्त परिचय इसमें दिया जायगा। भगवान् श्रीरामके लीला-परिचर्योंका संक्षिप्त परिचय एवं प्रसिद्ध-प्रसिद्ध श्रीरामभक्तोंके सुन्दर और रोचक आख्यान भी इसमें रहेंगे। भगवान् श्रीरामकी लीलासे सम्बद्ध प्रमुख स्थानों, पर्वतों, नदियों एवं सरोंके माहात्म्य तथा उनकी वर्तमान स्थिति आदिपर भी अधिकारी विद्वानोंद्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला जायगा तथा श्रीरामके वन-गमन एवं वहाँसे लौटनेके मार्गका परिचय भी देनेका विचार है। भगवान् श्रीरामकी प्रसन्नता और कृपा-प्राप्तिके लिये तथा उनके साक्षात्कारके लिये सफल अनुष्ठान, मन्त्र-स्तोत्र आदि भी रहेंगे। श्रीराम-सम्बन्धी त्यौहारों, व्रतों एवं उत्सवोंकी भी चर्चा रहेगी। इस प्रकार भगवान् श्रीराम-सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषयोंपर प्रामाणिक सामग्रीका संग्रह इस अङ्कमें रहेगा। श्रीरामके आदर्श चरित्र और लीला-कथाके स्मरण, चिन्तन, मनन और अध्ययनकी वर्तमान परिस्थितिमें कितनी आवश्यकता है, यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् श्रीराम भारतीय अध्यात्म, धर्म एवं संस्कृतिके आधारस्तम्भ हैं और उनकी आराधना प्रायः प्रत्येक आस्तिकके घरमें होती है। इतना ही नहीं, भगवान् श्रीरामको जो व्यक्ति भगवान्के रूपमें स्वीकार नहीं कर पाते, वे भी उनके आदर्श गुणों और मर्यादित जीवनके प्रति नतमस्तक हैं। इस प्रकार यह विशेषाङ्क सभी श्रेणीके व्यक्तियोंके लिये परम उपादेय सिद्ध होगा। भगवान् श्रीराम और भगवती सीताके ध्यान तथा उनकी लीला-कथाके अनेक सुन्दर, भावपूर्ण रंगीन चित्र भी देनेका विचार है। भगवान्की कृपा एवं संत-महात्माओं एवं श्रीरामभक्तोंके आशीर्वाद तथा बहुमूल्य सहयोगसे यह अङ्क 'कल्याण'के पिछले विशेषाङ्कोंकी भाँति ही उपयोगी तथा सुन्दर होगा, ऐसी आशा की जाती है।

( २ ) डाक-खर्च आदि बढ़ जानेपर भी गतवर्षकी भाँति इस वर्ष भी 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क दस रुपये १०) ही है। सदस्योंकी सुविधाके लिये मनीआर्डर फार्म इसके साथ भेजा जा रहा है। प्रार्थना है, सदस्य वार्षिक शुल्क सुविधानुसार शीघ्र भेज दें। रुपये भेजते समय मनीआर्डरमें अपना नाम, पता, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ-साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें। ग्राहक-संख्या न लिखनेसे आपका शुभ नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है।

( ३ ) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर अवश्य सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ 'कल्याण-कार्यालय'को हानि न सहनी पड़े।

( ४ ) इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है। यों सजिल्दका मूल्य ग्यारह रुपये पचास पैसे है।





# कल्याण

[ अङ्क ११ ]



हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥  
संस्करण १,६८,०००

## विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, नवम्बर १९७१

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-भगवान्की दयालुता [ कविता ] ( श्रीसूरदासजी ) ...	१२४९	११-मानवके लिये सबसे बड़ा खतरा ( पं० श्रीगङ्गाशंकरजी मिश्र, एम० ए० ) ...	१२८५
२-कल्याण ...	१२५०	१२-मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे, ( श्रीरामनाथजी 'सुमन' ) ...	१२८७
३-ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश (पुराने सत्सङ्गसे)	१२५१	१३-धर्मकी उत्पत्ति एवं वृद्धिके कारण ( श्रीअगरचन्दजी नाहय ) ...	१२८९
४-परमार्थकी फाड़डियाँ [ नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमान- प्रसादजी पोद्दार ) के अमृत वचन ] ...	१२५४	१४-दण्डपाणि ( पं० श्रीशिवनाथजी दुवे, साहित्यरत्न ) ...	१२९१
५-विश्वको भारतकी विशिष्ट देन ( पूज्य गुरुजी श्रीमाधवराव सदाशिव गोलवलकर ) ...	१२५९	१५-दीप-साक्षित्व ( श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल ) ...	१२९३
६-बेदका अभेदपरत्व ( अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती ) ...	१२६३	१६-मोती काका ( श्रीरामेश्वरजी टाँटिया )	१२९५
७-आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ ...	१२६४	१७-भज मन श्रीराधे-गोपाल [ कविता ] ( रसिक संत सरसमाधुरीजी ) ...	१२९६
८-गीताका भक्तियोग—८ ( पूज्य स्वामीजी श्रीराममुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या ) ...	१२६६	१८-प्रार्थनासे क्यों, कैसे और क्या लाभ होते हैं ? ( डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी० ) ...	१२९७
९-निःश्वास ( श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज ) ...	१२७३	१९-प्रार्थना [ कविता ] ( भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) ...	१२९९
१०-'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्' ( अनन्तश्री- विभूषित स्वामी श्रीअनिरुद्धाचार्य वैकटाचार्यजी महाराज ) ...	१२८०	२०-परहित वस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥ ( श्रीमोरेश्वर सीताराम पिंपले ) ...	१३००
		२१-पढ़ो, समझो और करो ...	१३०३

## चित्र-सूची

१-पार्थसारथि श्रीकृष्ण	( रेखा-चित्र )	... मुखपृष्ठ
२-'सुआ पढ़ावत गनिका तारी'	( तिरंगा )	... १२४९

Free of charge ] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [ बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्पनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री  
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर





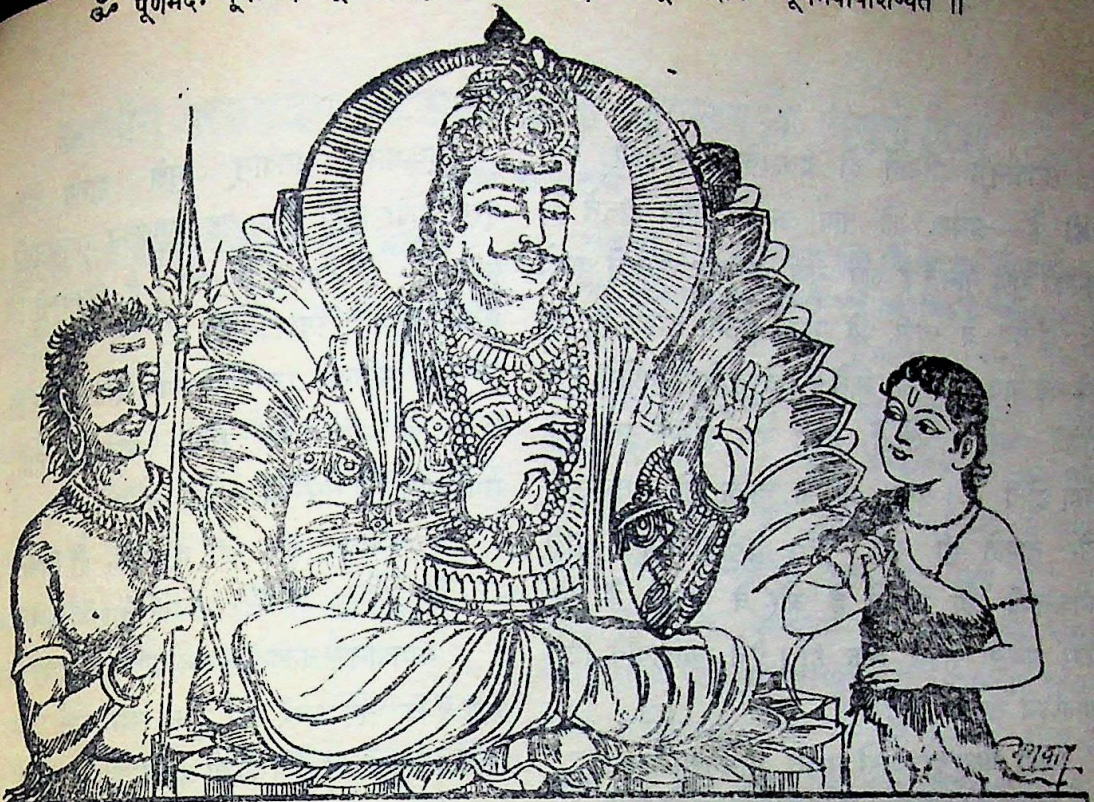




‘Apariwaritah Keshava’



ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



# कल्याण

अधशोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संसरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

(अग्निपुराण)

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, नवम्बर १९७१ { संख्या ११  
पूर्ण संख्या ५४०

## भगवान्की दयालुता

दीनन दुख हरन देव, संतन सुखकारी ।  
अजामील गोध व्याध, इन में कहौ कौन साध,  
पंछीह पद पड़ात गनिका-सी तारी ॥  
ध्रुव के सिर छत्र देत, प्रह्लाद को उबार लेत,  
भक्त हेत बाँध्यो सेत, कनकपुरी जारी ॥  
तँदुल देत रीझ जात, साग-पात सौ अघात,  
गिनत नाहिं जूटे फल, खट्टे-मीठे-खारी ॥  
गज कौं जब ग्राह ग्रस्यौ, दुस्सासन चीर खस्यौ,  
सभा बीच कृष्ण कृष्ण, द्रौपदी पुकारी ॥  
इतने हरि आय गए, बसनन आरुढ़ भय,  
सरदास द्वारे ठाढ़ौ आँधरौ भिखारी ॥

—श्रीसरदासजी



## कल्याण

भगवान्ने गीतामें दो प्रकारके पापियोंकी बात कही है—प्रथम, जो पाप करनेमें गौरव मानते हैं, पापको गुण मानते हैं और गुण मानकर उसको करते हैं; द्वितीय वे पापी, जो पापसे छूटना चाहते हैं, पर बड़े-बड़े पाप उनसे बन जाते हैं। वे अपनेको पापोंसे मुक्त होनेमें असमर्थ पाते हैं, किंतु पाप होनेसे उन्हें बड़ी पीड़ा होती है। प्रथम श्रेणीके व्यक्ति तो भगवान्की ओर ताकते ही नहीं, परंतु द्वितीय श्रेणीके पापी भगवान्की ओर ताकते हैं और वे चाहते हैं कि किस प्रकार पापसे मुक्त हों। ऐसे व्यक्तियोंके लिये भगवान्ने आश्वासन दिया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सन्त्यग्यवसितो हि सः॥

( गीता ९ । ३० )

‘कोई अतिशय दुराचारी भी मेरा अनन्य भक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है ।’

आप पापोंसे मुक्त होना चाहते हैं, पर पापोंसे आपका छुटकारा नहीं हो पाता तो निराश मत होइये। अपने मनमें यह सोच लीजिये कि हमारे समान पापी तो कोई है ही नहीं, जिससे सारा जगत् घृणा करता है, जिसका संसारमें कोई नहीं है, जिसका सबने परित्याग कर दिया है; पर भगवान् एक ऐसे हैं, जो हमारे-जैसे घृणितको, पापीको, दलितको, पतितको पावन करनेके लिये दूकान खोले बैठे हैं और घोषणा कर रहे हैं—‘आ जाओ। मेरी शरणमें आ जाओ। कोई भी पापी आ जाय, मैं उसे मुक्त करनेको तैयार हूँ। वस, शर्त एक ही है, मुझको ही एकमात्र शरण देनेवाला मानो। मेरे सिवा कोई शरण देनेवाला है ही नहीं, यह निश्चय करके मेरी शरणमें आ जाओ। ‘अनन्यभाक्’ बनो अर्थात् शरण्यताका भाग—हिस्सा किसी भी दूसरेको न दो ।’

एकमात्र भगवान् मुझे शरण देनेवाले हैं, दूसरा कोई नहीं है—यह समझकर भगवान्को भजो। पुकारो—‘हे नाथ ! हे प्रभो ! हे दीनबन्धो ! मैं पतित हूँ और तुम पतितपावन हो ।’

हैं पतित, तुम पतितपावन, दोड़ बानक बने।

‘हे नाथ ! मेरे समान कोई पापी नहीं, तुम्हारे समान पापोंसे तारनेवाला कोई नहीं’—

तू दयालु, दीन हौ; तू दानि, हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज हारी॥

भगवान्से कहिये—‘नाथ ! मेरे लिये यह कौन बड़ी बात है कि पाप करूँ और दुःख सहन करूँ ! यह तो न जाने मैं कितने जन्मोंसे करता आ रहा हूँ। पर तुम्हारी शरणमें आकर भी मैं यदि ऐसा बना रहा तो यह तुम्हारे योग्य नहीं है ।’ भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—  
“ऐसा होगा नहीं। तुम मुझे जिस क्षण ‘अनन्यभाक्’ होकर—दूसरोंको शरण्यताका हिस्सा न देकर पुकारोगे, उसी क्षण ‘साधु’ मान लिये जाओगे, मैं घोषणा कर दे रहा हूँ—साधुरेव स मन्तव्यः ।”

आप यह शङ्का मत कीजिये कि भगवान्ने अभी-अभी मुझे ‘सुदुराचारः’—अतिशय दुराचारी—कहा था और अब वे कहते हैं कि ‘साधु मान लिये जाओगे ?’ जगत्में हम देखते हैं कि अन्धकारमें बैठा हुआ व्यक्ति जब प्रकाशमें आ जाता है, तब अन्धकार उसके साथ नहीं आता—अन्धकार उसे घेरे हुए नहीं रहता। ऐसे ही जब आप यह ठीक-ठीक निश्चय करके कि ‘भगवान् ही मेरे शरण्य हैं’, भगवान्की शरणमें आ गये—आनेकी इच्छा कर ली, उसी समय आप ‘वर्मामा’ बन गये।

भगवान्के इस आश्वासनपर विश्वास कीजिये और उन्हें अपना एकमात्र शरण्य मानकर निर्भय एवं निश्चिन्त हो जाइये।



# ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[ पुराने सत्सङ्गसे ]

भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृतिमें लग जाइये ।  
भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति सब साधनोंमें श्रेष्ठ  
। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—‘जो पुरुष मुझमें  
अन्यचित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मेरा स्मरण  
करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीको मैं  
मुक्ति ही प्राप्त हो जाता हूँ’—

अन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।  
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥  
( गीता ८ । १४ )

भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृति रहनी चाहिये, फिर  
गुण-दुराचारकी परवा मत कीजिये; ये अपने-आप  
हो जायेंगे । मुख्य चीज भगवान्‌की स्मृति है ।  
होती रही तो सब कुछ अपने-आप हो जायगा ।

भगवान्‌के नाम-रूपकी स्मृतिके प्रति विशेष प्रयत्न  
करना चाहिये । नाम-रूपकी स्मृतिसे समस्त अवगुण  
हट जाते हैं और सब गुण आ जाते हैं । जिस  
कारण साधुनका स्पर्श होते ही कपड़ोंका मैल साफ  
होने लगता है, वैसे ही नाम-रूपकी स्मृति आरम्भ  
होते ही अन्तःकरण निर्मल होने लगता है ।

मैं स्वयं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि भगवान्‌के  
स्मरणमें जितना लाभ है, उतना किसीमें नहीं है ।  
आसुरियोंको भी भगवान्‌के स्मरणमें लग जाना चाहिये ।  
हमारी आजमाइश की हुई चीज है ।

( २ )

असुरी प्रकृति और स्वभावपर विजय प्राप्त कीजिये ।

साधनोंमें बाधा पहुँचानेवाले तत्त्व हैं—गुण, स्वभाव  
और काल । कालके सम्बन्धमें श्रीतुलसीदासजीने  
कहा है—

कलियुग सम जुग आन नहिं जौं तर कर बिस्वास ।

गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

( मानस ७ । १०३ (क) )

‘कलियुगके समान दूसरा कोई युग नहीं है । दूसरे  
युगोंमें तप-यज्ञ आदि कठोर साधनोंसे जो वस्तु प्राप्त  
होती है, कलियुगमें वही वस्तु भगवान् श्रीरामके विमल  
यशके गान करनेमात्रसे सुलभ हो जाती है ।’ इस  
समय कलियुगका बोलवाला है । कलियुगकी आसुरी  
सेनाएँ सर्वत्र फैली हुई हैं; परंतु जो भगवान्‌का आश्रय  
लेकर कलियुगकी सेनासे लड़नेको तैयार हो जाता है,  
उसके लिये इनपर विजय प्राप्त करना असम्भव नहीं है ।

गुण और स्वभावको जीतना मनुष्यका कर्तव्य है ।  
भगवान् इस विषयमें मनुष्यकी सहायता करते हैं; किंतु  
सहायता वे उन्हींकी करते हैं, जो उनके बनाये हुए  
नियमोंका पालन करते हैं । जो भगवान्‌के नियमोंका  
पालन नहीं करते—उनका उल्लङ्घन करते हैं, भगवान्  
उनके लिये कड़े शब्दोंमें चेतावनी देते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

( गीता ७ । १५ )

‘मायाद्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी स्वभावको  
धारण किये हुए तथा मनुष्योंमें नीच एवं दूषित कर्म  
करनेवाले मूढ़लोग मुझे नहीं भजते ।’

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

( गीता १६ । २० )

‘हे अर्जुन ! मुझको न प्राप्त होकर वे मूढ़ पुरुष  
जन्म-जन्ममें आसुरी-योनिको प्राप्त होते हुए आसुरी-  
योनिसे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं, अर्थात्  
घोर नरकोंमें जाते हैं ।’



अतएव भगवान्का आश्रय लेकर अपनी प्रकृति एवं स्वभावपर विजय प्राप्त करनी चाहिये ।

( ३ )

**महात्माओंके आज्ञा-पालनमें तत्परता कैसे हो ?**

महात्माओंके आज्ञा-पालनमें तत्परता नहीं होती, इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे अंदर अपनी बुद्धिका अभिमान है और श्रद्धाकी कमी है । बुद्धिका अभिमान महात्मामें गुणबुद्धि करनेसे तथा भगवत्कृपासे मिट सकता है । उत्तम श्रेणीकी गुणबुद्धि होनेसे महात्मामें गुण-ही-गुण दिखायी देते हैं । दोषोंकी कल्पना भी उनमें नहीं होती । निम्न श्रेणीकी गुणबुद्धि होनेपर भी महात्मामें कोई दोष दीखनेपर उसे स्वीकार नहीं किया जाता और उनके कहे अनुसार आचरणकी चेष्टा रहती है । वास्तविक गुणबुद्धिका स्वरूप तो यह है कि अपनी तथा दूसरोंकी बात युक्तिसिद्धत दिखायी पड़े, तब भी न माने और महात्मा जैसे कहें, वैसे करे ।

दूसरे, तत्परता श्रद्धामें होती है । हमारा जिसके प्रति जैसा विश्वास होता है, उसकी कही बातको करनेके लिये हम वैसा ही प्रयत्न करते हैं । महात्मामें बातपर विश्वास होनेसे उसको करनेका तीव्र प्रयत्न होगा और प्रयत्न तीव्र हुआ कि मन-इन्द्रियका संयम स्वाभाविक हो जाता है एवं अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । अतएव सबसे पहले महात्माओंके प्रति श्रद्धा करनी चाहिये ।

( ४ )

**अपने कर्तव्यकर्ममें बराबर लगे रहिये ।**

अपना भला चाहनेवाले व्यक्तिको खूब खटना चाहिये—अपनेको सदा व्यस्त रखना चाहिये । हम देखते हैं कि जो लोग थोड़ा भजन करने लगते हैं, वे काम करना छोड़ देते हैं । यह उनकी उन्नतिमें सहायक न होकर उनके पतनमें हेतु बन जाता है । दिन-रात भजन होता नहीं और काम करना उन्होंने स्वेच्छासे छोड़ दिया; अतएव समय आलस्य और प्रमादमें व्यतीत होने लगता है और पतन हो जाता है । गीताके तीसरे

अध्यायमें भगवान्ने इस विषयको विस्तारसे समझाया है । अर्जुनको कर्तव्यकर्ममें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे भगवान्ने सर्वप्रथम कर्मोंके सर्वथा त्यागको असम्भव बतलाया है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।  
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

( गीता ३ । ९ )

‘निस्संदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है ।’

इसके पश्चात् भगवान् सृष्टिचक्रकी स्थिति तथा उसका यज्ञपर निर्भर होना बतलाकर और परमात्माको यज्ञमें प्रतिष्ठित कहकर उस यज्ञरूप स्वधर्मके पालनकी अवश्यकर्तव्यता सिद्ध करते हैं और उस सृष्टिचक्रके अनुकूल न चलनेवालेकी अर्थात् अपना कर्तव्य-पालन न करनेवाले व्यक्तिकी निन्दा करते हैं—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

( गीता ३ । १६ )

‘पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे चलाये गये सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता, अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ।’

भगवान् आगे बतलाते हैं कि जबतक मनुष्यको परम श्रेयरूप परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय, जबतक उसे अपने स्वधर्मका पालन करते रहना चाहिये, अर्थात् अपने वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका अनुष्ठान निःस्वार्थभावसे करना उसके लिये अवश्यकर्तव्य है । इतना ही नहीं, परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लिये किसी प्रकारका कर्तव्य न रहनेपर भी उसके मन-इन्द्रियोंद्वारा लोकसंग्रहके लिये प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं । अतएव सभीको अनासक्तभावसे कर्तव्यकर्म करने चाहिये—



संख्या ११]

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।  
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

( गीता ३ । १९ )

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

आसक्तिरहित होकर कर्म करनेवाला मनुष्य निश्चित-रूपसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है, इस बातको पुष्ट करनेके लिये भगवान् कई प्रमाण और उपस्थित करते हैं । पहले वे जनक आदि महापुरुषोंका उल्लेख करते हैं, जिन्होंने आसक्तिरहित कर्मोंके द्वारा ही परम सिद्धि की प्राप्ति की थी—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।

लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

( गीता ३ । २० )

‘जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे । इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तुझे कर्म करना ही उचित है ।’

इसके पश्चात् भगवान् अपना उदाहरण देकर वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यता बतलाते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।

नान्वाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

उत्सिद्ध्युरिमे लोका न कुर्या कर्म चेदहम् ।

संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

( गीता ३ । २२-२४ )

‘अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ; क्योंकि हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी

हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं । इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ ।’

—इस प्रकार कर्मोंको सावधानीके साथ न करने और उनका त्याग करनेके भीषण परिणामका अपने उदाहरणसे वर्णन करके, लोक-संग्रहकी दृष्टिसे सबके लिये विहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करनेके अनन्तर भगवान् लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ज्ञानीको भी कर्म करनेके लिये प्रेरणा देते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।

कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

( गीता ३ । २५ )

‘हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे ।’

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसीके लिये भी कर्तव्यकर्मका स्वरूपतः त्याग भगवान्को अभिप्रेत नहीं है । वे उन ज्ञानी-महात्माओंके लिये भी, जिनमें अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव हो गया है, लोक-संग्रहके लिये कर्मासक्त मनुष्योंकी भाँति ही शास्त्रविहित कर्मोंका विधिपूर्वक साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करना कर्तव्य बतलाते हैं । अतएव हमलोगोंको चाहिये कि भगवान्के आदेशानुसार हम अपने कर्तव्य-कर्ममें बराबर लगे रहें; भजन-सत्सङ्गके नामपर उसका त्याग न करें । हमलोगोंको कार्यकी कुशलता अज्ञानीकी लेनी चाहिये । स्वार्थत्याग, कार्य-कुशलता और अकर्मण्यताका अभाव—इन तीनपर विशेष ध्यान देना चाहिये । परमात्माकी प्राप्तिमें भी विलम्ब होनेका प्रधान कारण है—प्रमाद, अर्थात् साधनमें लापरवाही । उसका परित्याग करके साधन करनेपर सफलता निश्चित है ।



## परमार्थकी पगडंडियाँ

[ नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) के अमृतवचन ]

प्रार्थना और भगवन्नाममें बड़ा बल है। इसको केवल कल्पना मत मानो। ज्ञानीलोग कहते हैं, ज्ञान प्राप्त होनेपर—ब्रह्मका स्वरूप जान लेनेपर मुक्ति हो जाती है और यह बात है भी सर्वथा सत्य; परंतु इसके प्रमाण क्या हैं? जिस कर्म-बन्धनमें सब लोग फँसे हैं, जिसके कारण बिना इच्छाके बाध्य होकर कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, उस कर्म-बन्धनकी सारी ग्रन्थियाँ ब्रह्मको जानते ही कैसे छूट जाती हैं? ज्ञानमात्रसे बन्धनोंका नाश होना यदि सम्भव हो तो फिर नाममात्रसे पापोंका नाश क्यों सम्भव नहीं? भगवान्का नियम ऐसा ही है। दोनों ही बातें सत्य हैं। अतएव तुम मनमें विश्वास करके भगवन्नामकी शरण ग्रहण करोगे तो तुम्हारे संकटोंका नाश होना कोई बड़ी बात नहीं है, यद्यपि क्षणभङ्गुर सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये तथा विनाशी संसारके संकटोंके विनाशके लिये अविनाशी सनातन परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले, अविनाशी भगवन्नामका प्रयोग करना बुद्धिमत्ता नहीं है।

× × × ×

सांसारिक क्षणभङ्गुर पदार्थोंके पानेकी इच्छा तथा प्रारब्धवश अपने कल्याणके लिये परमात्माके विधानसे प्राप्त हुए दुःखोंके विनाशकी कामना—दोनों ही अज्ञानके कारण होती हैं। जो वस्तु नाश होनेवाली है, प्रतिक्षण मृत्युको प्राप्त हो रही है, उस सतत मरणशील वस्तुकी चाह कैसी? इसी प्रकार संकटोंके मूलभूत विषयोंद्वारा संकटोंसे छूटकर सुखी होनेकी वासना कैसी? मलसे मल कभी नहीं धुलता। इसलिये सांसारिक लाभ-हानिको प्रारब्धपर छोड़कर निश्चिन्त रहना चाहिये। आवश्यकतानुसार विहित कर्म करने अवश्य चाहिये, परंतु फलासक्तिको त्यागकर भगवत्सेवा ही कर्म करनेमें उद्देश्य होना चाहिये। कर्म-सम्पादन होते ही तुम अपने फर्जको अदा कर चुके, फिर चाहे उसका फल कुछ भी हो। उदाहरणके लिये भूकम्प-पीड़ित एक आदमीको तुमने मकान बना दिया, फिर दूसरे ही दिन पुनः भूकम्प आया और उसका मकान गिर पड़ा। इससे जैसे तुम्हारा कर्म व्यर्थ नहीं गया, उसी प्रकार तुम भगवान्की सेवा समझकर जो कार्य करते हो, उसके द्वारा तुम्हारी पूजा स्वीकार हो गयी। तुम्हें उसके फलसे क्या मतलब। तुमने तो पूजाके लिये कर्म किया था, फलके लिये नहीं। और फलमें मनुष्यका अधिकार भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें न तो फलकी इच्छा करनी चाहिये और न कर्म या कर्म-फलमें हों आसक्ति होनी चाहिये। विचारपूर्वक जो विषय-मोहको छोड़कर और इस प्रकार फलासक्तिको त्यागकर विहित कर्म करता है, वही यथार्थ बुद्धिमान है और वही परम सुख और शान्तिको पाता है। तुम बुद्धिमान हो, जगत्का क्षणभङ्गुर स्वरूप जान रहे हो। जिनको तुम सुखी मानते हो, वे भी अंदर-अंदर जलते हैं; उनकी जलनका कारण अवश्य ही दूसरा है, यह भी तुम जानते हो। अतएव तुम्हें विषयासक्तिका त्याग करनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये और प्रेमपूर्वक भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवन्नामका जप निष्काम भावसे करना चाहिये।

‘गुरु-गोविन्द’की बात यथार्थ है। मैं तो इन दोनोंमेंसे कोई भी नहीं हूँ। ‘गुरु’ होनेकी तो मैं अपनेमें किसी प्रकारकी योग्यता नहीं समझता और ‘गोविन्द’ मैं हूँ नहीं। हाँ, सब कुछ गोविन्द है—‘वासुदेव सर्वमिति’—भगवान्के इस वचनके अनुसार सभी भगवत्स्वरूप हैं। इस नाते सभी सभीको नमस्कार कर सकते हैं—आप भी और मैं भी।

× × × ×



भगवान् श्रीकृष्णकी चरणधूलिकी अभिलाषा रखना ही भगवत्कृपा है। भगवान् कृपा करके जिसको अपनी धूलि देते हैं, वही अपनी चरणधूलिसे जगत्को पवित्र करनेकी योग्यता प्राप्त करता है। दूसरी बात यह है कि आज हम किसी मनुष्यमें गुण देखकर उसपर श्रद्धा करते हैं, आगे चलकर उससे कोई दोष बन जाता है, अथवा हमारी दृष्टिमें परिवर्तन हो जानेके कारण उसमें दोष दीखने लगता है, तो उसमें अश्रद्धा हो जाती है, जो होनी भी चाहिये—और वैसी अवस्थामें अपने पहले कर्मपर पश्चात्ताप होता है। इसलिये भगवान्पर श्रद्धा करना और उनकी चरण-धूलिकी आकाङ्क्षा करना ही सुरक्षित पथ है। तीसरे—भक्त, संत या ब्रह्मन् इसीलिये बड़ा है कि वह भगवान्का भक्त है, भगवान्का प्रेमी है या भगवद्भक्तिका ज्ञाता है। महान् परमात्माके सम्बन्धसे ही उसमें महात्मापन आया है। इस दृष्टिसे भी भगवान् सर्वोपरि वन्दनीय हैं।

× × × ×

देशके अधिकांश मासिक और साप्ताहिक पत्र धार्मिक लेखोंको नहीं छापना चाहते, यह सत्य है। युग-प्रभाव और वर्तमान शिक्षा-प्रणालीका यह अवश्यम्भावी परिणाम है। हमें अपने कर्तव्यमार्गपर धीरता और दृढ़ताके साथ अग्रसर होते रहना चाहिये। श्रीभगवान्पर विश्वास रखकर कर्तव्य-पथपर दृढ़ रहा जाय तो भगवत्कृपासे हमारा कल्याण निश्चित है और ऐसी अवस्थामें जिस देश, समाज और समयमें हम रहते हैं, उसपर भी उसका किसी-न-किसी अंशमें असर होना अनिवार्य है। कारण, हमारी क्रियाओं-का स्वाभाविक ही प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। प्रकृतिके जिस वातावरणमें जो कुछ किया होती है, शक्तिके जातमयके अनुसार उसका प्रभाव उसपर होता ही है और इस प्रकार वह सबको प्रभावित करती है।

× × × ×

आपने अपने हृदयकी बात मुझे लिखी और उसमें आपका कोई दोष मेरे सामने आ गया, इससे मेरे मनमें आपके प्रति कोई घृणा नहीं हुई। आपने विश्वास करके अपना दिल खोला, यह तो मेरे साथ आपने प्रेमका ही व्यवहार किया है। रही दोषकी बात, सो इस जमानेमें ऐसे आदमी विरले ही हैं, जिनसे जवानीकी उन्मत्ततामें दोष न घटा हो। दोषको स्वीकार कर लेना और आगे दोष न करनेका निश्चय ही मनुष्यके लिये कर्तव्य है। भूलसे, प्रमादसे, इन्द्रियपरवशतासे, बदमाशीसे या परिस्थितिमें पड़कर जो पाप भूतकालमें हो गये, उनके लिये सिवा पश्चात्तापके और उपाय ही क्या है। पूर्वके पापोंके लिये हृदयमें पश्चात्ताप हो और भविष्यमें पाप न करनेका दृढ़ निश्चय हो और उस निश्चयपर डटे रहनेके लिये पर्याप्त साधनोंका संग्रह हो—बस, यही मनुष्य कर सकता है तथा यही करना चाहिये। सत्सङ्ग, सद्ग्रन्थोंका साध्याय और भगवन्नाम-जप—इसमें प्रधान सहायक हैं। यों तो बड़े-से-बड़ा फल मोक्ष भी इन्हीं साधनोंसे मिलता है। इसलिये इनको श्रद्धापूर्वक करना चाहिये।

ऐसे पापोंके होनेमें प्रधान कारण तो विषयासक्ति है। गौण कारण कर्महीन जीवन, कुसङ्ग, आलस्य और स्त्रियोंसे एकान्तमें मिलना है। जिसको कामोंसे फुरसत ही नहीं मिलती, जो कभी कुसङ्ग नहीं करता, जो आलस्यवश कर्मका परित्याग नहीं करता और जो स्त्रियोंके साथ मिलने-जुलनेमें दृढ़ताके साथ परहेज रखता है—वह मनुष्य विषयासक्त होनेपर भी क्रियात्मक पापसे बच जाता है। भागवतमें कहा है—

‘तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।’ (५।५।२), ‘स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।’ (११।१४।२९)  
‘स्त्रियोंके सङ्गियोंका सङ्ग भी नरकका द्वार है। स्त्रियोंके और स्त्री-सङ्गियोंके सङ्गको आत्मवान्



पुरुष दूरसे त्याग दे ।' जो बात पुरुषोंके लिये है, वही बात स्त्रियोंके लिये भी है । स्त्रियोंको भी पुरुषोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये ।

भगवान्का नाम-जप बढ़ाना चाहिये तथा दैवी सम्पदाके गुण अधिक-से-अधिक बढ़ सकें, इसका भी प्रयत्न सदा-सर्वदा करते रहना चाहिये । पाप न होने देनेका चित्तमें निश्चय रखना चाहिये । निश्चय पापोंसे वचनेमें बहुत सहायक होता है ।

आपको रासमण्डलीके एक श्रीकृष्णस्वरूप बहुत ही सुन्दर जान पड़ते हैं और उनकी बोलनि, हँसनि, मुसकान, चाल आदि मनको बरबस हर लेती हैं, आपका यह भाव श्रीकृष्ण-सम्बन्धी होनेके कारण बहुत उत्तम है । किसी-किसी स्वरूपमें कुछ विशेषता होती है और ऐसा भी सुना है कि किसी-किसीमें लीलाके समय भगवान्का आवेश भी होता है । जैसे मूर्तिमें भगवान् मानकर मूर्ति-पूजा होती है और उससे भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त होकर भगवान्के साक्षात् दर्शन हो सकते हैं, उसी प्रकार किसी भी सजीव प्राणीकी भगवद्भावसे उपासना की जा सकती है; परन्तु इसमें आगे चलकर कई तरहके दोष उत्पन्न होने, अश्रद्धा होने, मार्गच्युत होनेकी आशङ्का रहती है । इसलिये सदा ऐसा करना ठीक नहीं मालूम होता । लीलाके समय अवश्य ही उन्हें भगवत्स्वरूप ही समझना चाहिये । ऐसा समझनेसे आनन्द तो विशेष आता ही है, साथ ही बहुत-से दोषोंसे मनुष्य बच जाता है और आनन्दमें सात्त्विकता आ जाती है । जिस आनन्दमें इन्द्रियके साथ विषयका सम्बन्ध है, अर्थात् जो आनन्द इन्द्रिय-तृप्तिजन्य या विषयजन्य है, वह आनन्द सात्त्विक नहीं है और उसका परिणाम बहुत बुरा है; एवं जहाँ भगवद्भाव नहीं है, वहाँ इन्द्रियजनित आनन्द ही होता है । इसलिये रास-लीला और रामलीला, चाहे वे कैसी भी हों, कभी देखनेका अवसर मिले तो किसी भी नाट्यकलाकी ओर न देखकर केवल भगवद्भावसे ही उन्हें देखना चाहिये । इससे देखनेवालेकी कोई हानि नहीं होती और विशेष लाभ पहुँचता है । परन्तु अन्य समय रासलीलाके स्वरूपको भगवान् समझकर उनके प्रति भगवान्का-सा व्यवहार करना युक्तिसंगत नहीं जँचता । मेरी समझसे लीलाके बालकका ध्यान और चिन्तन भी नहीं करना चाहिये । इसमें भी हानिकी गुंजाइश है । चित्र और प्रतिमाके ध्यानमें वह बात नहीं है; क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष कोई परिवर्तन नहीं होता । परन्तु बालकके तो सौन्दर्य, स्वास्थ्य, स्वभाव, आचरण, व्यवहार और स्थिति आदिमें न जाने कितने प्रकारके परिवर्तन हो सकते हैं । उसमें सदा एक-सा भाव बनाये रखना या बना रहना असम्भव-सा है । हाँ, एक बात इस प्रसङ्गमें लिखनी आवश्यक है कि बहुत-से लोग इस प्रकारका व्यवहार करने जाकर आचरणभ्रष्ट हो जाते हैं । अतः इसमें विशेष सावधानीकी आवश्यकता है । रासकी सभी मण्डलियोंके सभी श्रीकृष्ण-स्वरूपोंमें भक्ति और आकर्षण रासके समय होना चाहिये । नहीं तो एक छिपा दोष मनमें रह सकता है—वह यह कि बालकके सौन्दर्य आदिपर चित्त आकर्षित होता है, श्रीकृष्णपर नहीं । इस दोषको ढूँढ़ना चाहिये । यदि पता लगे तो उसे तुरन्त दूर करना चाहिये । बहुत स्थानोंमें मनुष्य भ्रमवश भगवान्के नामपर विषयोंकी उपासना कर बैठता है ।

श्रीकृष्णके आकर्षणकी बात कौन कह सकता है । जिनके भावसे रासलीला देखनेमें श्रीकृष्णका स्वरूप धारण करनेवाले बालकके भाव हमारे मनको हर लेते हैं—जिस बालकका रूप मायिक, क्षणभङ्गुर और कृत्रिम है, तब उस अखिल सौन्दर्यकी निधि रासराज श्रीकृष्णके सौन्दर्यकी तो महिमा कैसे कही जा



X

X

X

X

X

Y

X

X

नवम्बर २—



× × × ×  
 आपने अस्वस्थताके कारण जप कम होनेकी बात लिखी, सो ठीक है। नियमसे एक स्थानपर बैठकर जप करनेमें तो अस्वस्थता बाधक हो सकती है; किंतु यदि कोई ऐसा नियम न रखा जाय तो हर समय, हर स्थितिमें मन-ही-मन जप किया ही जा सकता है। मेरे विचारसे तो आपको प्रत्येक क्षण भगवत्स्मरणके साथ ही बिताना चाहिये। इसमें न कोई स्वास्थ्यका प्रतिबन्ध हो सकता है और न समयाभावकी ही आपत्ति हो सकती है। आप किसी भी स्थितिमें हों और कुछ भी करते हों, मन-ही-मन जप करते रहिये। मैंने ६४ माला नियमसे जप करनेको कहा था; उसमें नियम केवल इतना ही था कि मालाद्वारा जप गिन लिया जाय। एकान्त स्थानपर बैठनेकी बात उसमें नहीं थी। अब भी यदि आप उतनी माला तो गिनकर और शेष समय बिना गिने मानसिक जप करें तो विशेष लाभ होगा।

जप करते समय मन भी भगवान्‌का स्मरण ही करे, यह तो बहुत ही अच्छी बात है; परंतु यदि ऐसा न हो, वह इधर-उधर भटके, तो भी घबराना नहीं चाहिये। उसे भगवान्‌में लगानेका प्रयत्न करते रहिये। धीरे-धीरे वह अपनी चञ्चलता छोड़ देगा। यह काम जल्दी होनेवाला नहीं है, कुछ अधिक समयतक अभ्यासकी आवश्यकता है।

× × × ×  
 कुछ समय निश्चित और एकान्त स्थानमें भी भजन करना चाहिये। उस समय जपके साथ श्रीभगवान्‌के रूपका भी ध्यान कीजिये। ऐसा करनेसे ही ध्यानका अभ्यास होगा। यदि बिल्कुल प्रयत्न नहीं किया जायगा तो केवल जप करते-करते ध्यान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता; क्योंकि इसके लिये जप जितना बढ़ाना चाहिये, उतना इस जीवनमें बढ़ेगा या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता।

आपकी ६४ मालाएँ ४ घंटेमें पूरी हो जाती हैं, यह असम्भव तो नहीं; परंतु ऐसा तभी हो सकता है, जबकि या तो जपका अधिक अभ्यास हो या मन्त्र अधूरा बोला जाय। आप यह ध्यान रखियेगा कि मन्त्र अधूरा न बोला जाय।

नाम जपते-जपते आँसू बहने लगें, यह प्रेम अवश्य है; परंतु नामका मीठा लगना यह भी प्रेम ही है। अभी मीठा लगता है तो सम्भव है कि भविष्यमें आँसू भी आने लगें। इसके लिये निरन्तर जप करनेकी आवश्यकता है।

× × × ×  
 विचित्र अनुभव सदा नहीं हुआ करते। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अब चित्त साधनसे गिर गया है या आगे कोई और अनुभव नहीं होंगे। अनुभवोंकी ओर न देखकर भगवत्स्मरणकी निरन्तरताका ही प्रयत्न करना चाहिये।

ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। घरमें एकान्त स्थान न हो तो कुछ देरके लिये गाँवसे बाहर किसी बगीचेमें जाकर अभ्यास करें। जप करते-करते भी ध्यान हो सकता है; परंतु हमें इस प्रतीक्षामें ध्यानका आनन्दमय साधन क्यों छोड़ना चाहिये।

साधनमें न्यूनाधिकता होना साधनसे गिरना नहीं है। गिरना तो तब समझा जाय, जब न्यूनता ही हो। चित्त त्रिगुणमय है और उसमें जन्म-जन्मान्तरके अच्छे-बुरे—सभी प्रकारके संस्कार हैं। उनके कारण उसकी सात्त्विकतामें न्यूनाधिकता तो आती ही रहती है। इससे घबराना नहीं चाहिये। अपना लक्ष्य और उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न बराबर बनाये रखना चाहिये। अपना लक्ष्य



# विश्वको भारतकी विशिष्ट देन

(लेखक—पूज्य गुरुजी श्रीमाधवराव सदाशिव गोलवलकर)

अनुभव एवं विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रवादका विनाश हो नहीं सकता। राष्ट्रोंकी आकाङ्क्षाओंमें मेल बिठानेके अवतकके सभी प्रयत्न बुरी तरह असफल हो गये हैं तथा संसार आणविक महाविस्फोटके तयार आ खड़ा हुआ है। ऐसी दशामें मानवताके उद्धारका कौन-सा मार्ग शेष रहता है?—इस चुनौतीका कोई भी उत्तर आता प्रतीत नहीं होता। सम्पूर्ण संसारके विचारक एक प्रकारकी दुविधासे ग्रस्त हैं, यद्यपि इसका हल हम हिंदुओंके पास है, तथापि हमारा हल भौतिकवादपर आधारित नहीं है। अवतकके किये गये सभी प्रयास एवं प्रयोग भौतिकवादसे प्रसूत सिद्धान्तों और वादोंपर आधारित थे और भौतिकवादके पास इस अत्यन्त प्रमुख तथा मूलभूत प्रश्नके लिये कोई उत्तर नहीं कि 'विश्वकी एकता एवं मानव-कल्याणकी थोड़ी भी आकाङ्क्षा लोगोंमें क्यों होनी चाहिये? मनुष्यके विरोधमें मनुष्यके खड़े होनेके दृश्यसे उन्हें थोड़ी भी वेदना क्यों होनी चाहिये? हमें एक-दूसरेसे थोड़ा भी प्यार क्यों करना चाहिये?' भौतिक दृष्टिकोणसे हम सबकी समानरूपसे 'स्थूल' संज्ञा है, हममेंसे प्रत्येक अपनेमें अलग-अलग और एकान्तिक है तथा हममें परस्पर लगाव अथवा प्रेमके कोई बन्धन नहीं हो सकते। ऐसे प्राणियोंमें कोई आन्तरिक संयम भी नहीं हो सकता, जो सम्पूर्ण मानवताके हितमें उन्हें अपने उन्मादी स्वार्थको संयमित करनेकी प्रेरणा दे सके।

अन्ततः विश्वकल्याणकी उपलब्धि के लिये निर्मित कोई व्यवस्था उसी परिमाणमें फलप्रद हो सकती है, जिस परिमाणमें उससे सम्बन्धित व्यक्ति मानवके सच्चे प्रेमसे उत्स्फूर्त होंगे, जो उन्हें मानवताके कल्याण-

के साथ अपने व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय चारित्र्यके सुखों मिलानेकी योग्यता प्रदान करेगी। बिना इस परम श्रेष्ठ प्रेरणाके कोई भी योजना, चाहे उसका कितना ही उत्तम अभिप्राय क्यों न हो, सत्ताके मदमें चूर राष्ट्रोंको अपने-अपने स्वार्थसंवर्धनके लिये एक और मोहक आवरण ही प्रस्तुत करेगी। वर्तमान समयतक इतिहासका यही सतत निर्णय रहा है।

अतः हमारे प्राचीन हिंदू दार्शनिकोंने अपनी दृष्टिको भौतिकवादसे उच्चतर तत्त्वकी ओर मोड़ दिया था। उन्होंने भौतिक विज्ञानोंकी पहुँचके अत्यन्त परे मानवात्माके रहस्योंकी गहराईमें उतरकर सम्पूर्ण सृष्टिमें परिव्याप्त चरम सत्यका, प्राणिमात्रमें वर्तमान एक महान् समान-तत्त्वका, उसे हम आत्मा, ईश्वर, सत्य, वास्तविकता अथवा शून्य—कोई भी संज्ञा दे सकते हैं, आविष्कार किया। समय-समयपर इस समान-तत्त्वकी होनेवाली अनुभूति ही हमें दूसरोंके सुखके लिये उद्यम करनेकी प्रेरणा प्रदान करती है। जो 'अहम्' मुझमें है, वही दूसरे प्राणियोंमें भी होनेके कारण वह मुझसे अपने सहचर जीवित प्राणियोंके सुख-दुःखमें उसी प्रकार प्रतिक्रिया करवाता है, जिस प्रकार मैं अपने निजी सुख-दुःखमें करता हूँ। आन्तरिक तत्त्वकी सजातीयतासे प्रसूत तादात्म्यकी यह विशुद्ध अनुभूति ही मानव-एकता एवं भ्रातृत्वके लिये हमारी नैसर्गिक आकाङ्क्षाके पीछेकी वास्तविक प्रेरक शक्ति है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्वकी एकता तथा मानव-कल्याण उसी सीमातक अस्तित्वमें लाया जा सकता है, जहाँतक मानव-प्राणी इस समान आन्तरिक बन्धनकी अनुभूति करता है। एकमात्र उसी अनुभूतिमें यह शक्ति है, जो कि भौतिकवादसे प्रसूत चित्त-शोभ और



कलहका दमन कर सकती है, मानव-मनके क्षितिजको विस्तृत कर सकती है और मानव-कल्याणके साथ व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय आकाङ्क्षाओंका स्वरूप सम्पादित कर सकती है।

अब हम दूसरे प्रश्नपर आते हैं। यह समान आधार मानव-समाजकी जटिल संघटनामें स्वयंको किस प्रकार व्यक्त करेगा? क्या इसका परिणाम राष्ट्रोंके सभी विशिष्ट लक्षणोंका उच्छेद होनेमें और उन सबके एक ही सँचेमें ढाले जानेमें होगा अथवा यह लोगोंके विभिन्न समुदायोंको उनकी अपनी विशेष राष्ट्रीयताकी रक्षा करते हुए मानव-मात्रको एकताकी अनुभूतिके आधारपर सहचारित्वकी भावनासे एक साथ लायेगा?

इस विषयमें भी हमारे दार्शनिकोंने निश्चिन्तरूपसे मानवके वास्तविक आनन्दका मार्ग-निर्देश किया है। व्यक्तिके समान ही राष्ट्र (व्यक्तियोंका सामूहिक योग) का भी अपना एक पृथक् व्यक्तित्व होता है। भूमण्डलके सभी भागोंमें व्यक्तियों एवं राष्ट्रोंके अलग-अलग विशिष्ट लक्षण तथा स्वरूप हुआ करते हैं, जिनमेंसे प्रत्येकका विश्वकी योजनामें अपना स्थान होता है। विभिन्न मानव-सम्प्रदाय अपने-अपने मार्गसे अपनी प्रकृतिके अनुसार एक ही लक्ष्यकी ओर बढ़ रहे हैं। अतः चाहे वह व्यक्ति हो अथवा समुदाय, उसकी अपनी विशिष्टताओंका विनाश उसके सामञ्जस्यके नैसर्गिक सौन्दर्यको ही नष्ट नहीं करेगा, वरं उसके आत्माभिव्यक्तिके आनन्दको भी नष्ट कर देगा। मानव-जीवनका विकास भी, जो कि बहुमुखी होता है, इससे रुद्ध हो जायगा।

यह एक सामान्य अनुभवका विषय है कि अपनी विशिष्टताओंके विकासद्वारा ही व्यक्ति अपनी पूर्ण क्षमतातक विकासकर आनन्द एवं सुखका अनुभव कर सकता है। इसलिये विविध विशिष्टताओंके बीच

सामञ्जस्यकी खोज संसारकी चिन्तन-सम्पत्तिमें हमारी विशिष्ट देन है। हमारी जातीय प्रतिभाका जो लक्षण अर्थात् विविधताके बीच एकताकी पहिचान, प्रायः उद्धृत किया जाता है, वह मानवकी एकता, उसके आनन्द एवं विकासकी जड़ोंको सिंचित करनेवाले सिद्धान्तोंके गम्भीर एवं यथोचित मूल्याङ्कनसे उत्पन्न होता है। इस प्रकार संक्षेपमें हम राष्ट्रोंके मध्य सामञ्जस्यपूर्ण संयोग चाहते हैं, उनका विलोप नहीं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि भौतिक अस्तित्वके किसी विशिष्ट स्तरपर समस्त मानव-प्राणियोंको लेकर उनके व्यक्तिगत तथा सामुदायिक वैशिष्ट्योंको मिटाते हुए एक राज्यविहीन अवस्थाके निर्माणका विचार हमारे लिये परकीय है। अतः वह विश्वराज्य, जिसकी हम कल्पना करते हैं, स्वायत्त एवं आत्मनिर्भर उन सभी राष्ट्रोंके संवद्वारा विकसित होगा, जो उनके सम्बन्ध-सूत्रोंको बनाये रखनेवाले एक केन्द्रके आधीन रहेंगे।

यह स्पष्ट है कि हिंदू-समाजकी अप्रतिम राष्ट्रीय प्रतिभाके अनुरूप उसे पुनः संगठित करनेका पवित्र कर्तव्य केवल भारतके ही सच्चे राष्ट्रीय पुनरुत्थानका एक कार्यक्रममात्र नहीं है, अपितु संसारकी एकता एवं मानव-कल्याणके स्वप्नको चरितार्थ करनेकी अनिवार्य पूर्वभूमिका भी है। जैसा कि हम देख चुके हैं, संसारकी एकताका सम्पादन करनेवाला यह एक हिंदुओंका ही महान् विचार है, जो मानव-भ्रातृत्वके लिये स्थायी आधार प्रदान कर सकता है। अन्तरात्माका यह ज्ञान मनुष्यमात्रके सुखके लिये परिश्रम करनेकी दिव्य प्रेरणासे मानव-मस्तिष्कको प्रेरित करते हुए भूतलकी प्रत्येक छोटी-से-छोटी जीवन-विशिष्टताको अपनी पूर्ण क्षमतापर्यन्त विकासके लिये पूर्ण एवं स्वतन्त्र अवसर प्रदान करेगा।

यह ज्ञान केवल हिंदुओंके ही पास सुरक्षित है। हम कह सकते हैं कि यह एक पवित्र न्यास (Trust)



पृष्ठ ११]

है जिसका भार नियतिने हिंदूको सौंप रखा है। जब किसी व्यक्ति के पास कोई अमूल्य निधि होती है तो उसकी रक्षा कर दूसरों के कल्याण के लिये उसे उपलब्ध करने का उपाय रखना उसका कर्तव्य माना जाता है। यदि वह अपने इस परम कर्तव्य के पालन में असफल होता है तो वह अपना ही विनाश नहीं करता, वरं दूसरों का भी करता है। अतएव हिंदू-समाजको स्वस्थ दशामें सुरक्षित रखने के पवित्र कर्तव्यका दायित्व हमपर है।

हम यह कैसे कह सकते हैं कि जागतिक महान् कल्याणको केवल हिंदू ही पूर्ण कर सकता है, अन्य कोई नहीं। इस प्रकारका दावा करना आपाततः कदाचित् अतिशय गर्वोक्ति प्रतीत हो। तथापि यह सीधा इतिहासिक निरूपण है, जिसका वास्तविक मूल्याङ्कन अपने देश तथा अन्य देशों की ऐतिहासिक प्रक्रियाका सम्यक् निरीक्षण कर हम कर सकते हैं। इतिहासका यह कथन है कि केवल इसी देशमें अति प्राचीन कालसे विचारकों और दार्शनिकों, ऋषियों और मनीषियों की पीढ़ी के पश्चात् पीढ़ी मानव-प्रकृतिके रहस्योंका उद्घाटन करने के लिये उत्पन्न होती रही, जिन्होंने आत्मजगत्में गहराई तक गोता लगाया तथा उस महान् एकरूपता के सिद्धान्तकी अनुभूतिके शास्त्रको आविष्कृत किया एवं परिपूर्ण बनाया। एक सम्पूर्ण राष्ट्रकी तपस्या और त्याग तथा सैकड़ों शताब्दियोंका अनुभव संसारकी आध्यात्मिक तृप्ति के लिये इस ज्ञानके अक्षय स्रोतके रूपमें यहाँ वर्तमान है।

दूसरी ओर भारतसे बाहर के संसारने आत्माके इस शास्त्रका अध्ययन नहीं किया। आज तक अपनी इन्द्रियोंसे बाह्य संसारके ही अध्ययन के अभ्यस्त हो, वे बहिर्मुख ही बने हुए हैं। इन्द्रियाँ भी बहिर्मुखी होने के कारण आन्तरिक प्रकृतिके तथ्यकी ओर ले जानेमें असमर्थ हैं। इसीलिये पाश्चात्य लोग आत्मजगत्के ज्ञान

एवं अनुभवसे शून्य बने रहे, चाहे स्थूल जगत्के रहस्योंका कितना ही उद्घाटन उन्होंने क्यों न कर लिया हो। दूसरी ओर हमारे पूर्वज, जिन्होंने इन्द्रियातीत विश्वमें प्रवेश किया, अंदर देख सके और उस भासमान आन्तरिक सत्यकी झँकी प्राप्त कर सके।

यह केवल शुष्क ज्ञानमात्र नहीं था, जो अपने वन्य आश्रमोंमें बैठकर विचार करनेवाले थोड़े से विचारकों के बौद्धिक अनुमानों तक ही सीमित रहा हो। यह था एक सजीव विचार, जो हमारे पूर्वजोंको—जिनमें विचारक, प्रशासक, व्यापारी, वैज्ञानिक, कलाकार और दार्शनिक भी थे—विश्वभ्रातृत्वका संदेश पहुँचाने के लिये दूर देशों तक ले गया। जहाँ भी उन्होंने कदम रखा, वहाँ के लोगोंको उन्होंने जीवनके आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्योंकी तथा भौतिक उन्नतिके शास्त्रोंकी भी शिक्षा दी और अपनी कल्याणकर छाया में राष्ट्रों के सजातीय भ्रातृत्वका निर्माण किया। सशक्त, आत्म-विश्वासपूर्ण एवं आत्मतेजसे उद्भासित हमारे हिंदू-समाजने दूर-दूर तक फैले उस आध्यात्मिक साम्राज्यको एकरूपताकी धुरी प्रदान की।

कोलम्बसके अमेरिकाका पता लगाने के बहुत पहले हमारा विस्तार एक ओर तो अमेरिका तक फैल चुका था और दूसरी ओर चीन, जापान, कम्बुज, मलय, श्याम, हिन्देशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी देशों तथा उत्तरमें साइबेरिया और मंगोलिया तक फैला था। हमारा सशक्त राजनीतिक साम्राज्य भी इन दक्षिण-पूर्वी सभी क्षेत्रोंमें १४०० वर्षों तक फैला रहा। एक शैलेन्द्र-साम्राज्य ही ७०० वर्षों से अधिक काल तक चीनी विस्तार के विरुद्ध एक शक्तिशाली रोक के रूपमें अत्यन्त उत्कर्षकी अवस्थामें रहा है।

उन सभी शताब्दियोंमें वहाँ के स्थानीय लोगों के द्वारा न तो कभी कोई जन-विद्रोह ही हुआ और न उनका



उन्मूलन ही । यदि विदेशी लोगों और विदेशी संस्कृतिके द्वारा आधिपत्य अथवा शोषणके कुछ भी लक्षण होते तो उसका उपर्युक्त परिणाम अनिवार्यरूपसे हुआ होता । इसके विपरीत वे लोग हमारे प्रति कृतज्ञ थे । वे हमारे राष्ट्रके प्रति श्रद्धा रखते थे और अपने इस नश्वर शरीरको गङ्गाजीके किनारे छोड़नेकी कामना करते थे । यह बात इतिहासके उन रक्ताङ्कित पन्नोंके स्पष्टतः कितनी विपरीत है, जिनमें इस्लाम, ईसाइयत और अब कम्युनिज्म तथा दूसरे देशमें उत्पन्न अन्यान्य 'विश्व-विजेताओं' के विस्तार वर्णित हैं । आजके दिन भी उनमेंसे बहुतांशकी आधारभूत जीवनरचना ( प्रतिमान ) हिंदू ही है । वे हिंदू नाम धारण करते हैं । हम वहाँ चारों ओर हिंदू चेहरे देखते हैं, जिनमेंसे अनेक सम्प्रदायके रूपमें मुसलमान होते हुए भी अपने हिंदू उत्तराधिकारपर गर्व करते हैं । फिलिपाइन्समें न्यायालयके विशाल कक्षमें मनुकी एक स्फटिककी प्रतिमा स्थापित है, जिसपर अङ्कित है—'मानव-जातिका प्रथम, महान् एवं श्रेष्ठ प्रज्ञासम्पन्न विधि-निर्माता ।'

शताब्दियोंसे हमारे समाजमें ऐसी-ऐसी महान् आत्माओंका उदय हुआ है, जिनमेंकी प्रत्येक आत्मा, संसारके विचाराकाशका कान्तिमान् नक्षत्र रही है और अब भी वह समाज वर्तमान कालतक श्रीरामकृष्ण परमहंसके समान ज्योतिष्मान् अनेक आत्माओंको जन्म दे रही है, जिन्होंने केवल मानव-जातिके सुख-दुःखसे ही अपना तादात्म्य अनुभव नहीं किया, वरं चेतन एवं अचेतन—सभी वस्तुओंसे अद्वैत रक्खा । जब उन्होंने एक बार एक गौको हंटरसे पिटते देखा तो वे पीड़ासे चीत्कार कर उठे थे और उनकी पीठपर चौड़ी लाल धारियाँ देखी गयी थीं । एक अन्य अवसरपर चरागाहमें चरते हुए एक बैलके घायल खुरका चिह्न उनकी छाती-

पर बन गया था । इस सीमातक आत्मज्ञानके हमारे महान् शिक्षकोंने जीवमात्रके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया और उसका उपदेश दिया ।

फिर भी आज इस प्रकारका महान् पैतृक दाय उसकी अपनी ही संततिके द्वारा तिरस्कृत हो रहा है और मिटाया जा रहा है । अपने प्राचीन आदर्शों एवं परम्पराओंका तो उपहास करना तथा अन्य आधुनिक 'वादों' के साँचेमें अपने समाजको ढालनेकी बात करना इन दिनोंका फैशन हो गया है । किंतु अपनी जीवन-रचनाओं ( प्रतिमानों ) के स्थानपर दूसरोंकी जीवन-रचना अधिष्ठित करनेके प्रयत्न करना तथा अपनी स्वाभाविक प्रकृतिके नैसर्गिक विकासकी दिशामें ध्यान न देना केवल अयोग्यता ही परिणाम दे सकेगा । हम अपने समाजपर इसके भयंकर परिणामके चिह्न भी देख रहे हैं । अपना असंगठित एवं आत्मविश्वासहीन समाज विविध वादों और पंथोंकी परिधिमें घूमती हुई हिंस्र शक्तियोंका सरल शिकार हो गया है । आत्मभर्त्सनाका अभ्यस्त, सर्वतोमुखी विघटन एवं छिन्न-विच्छिन्नतासे दुर्बल, दुनियामें प्रत्येक दुष्टके द्वारा बात-बातमें ठुकराया हुआ और अपमानित समाज संसारको कैसे शिक्षा दे सकता है ? वह व्यक्ति किस प्रकार दूसरोंको महानताका मार्ग दिखा सकता है, जिसमें अपने निजके जीवनको उन्नत बनानेकी लगन अथवा योग्यताका अभाव है । अतएव यह अनिवार्य है कि मानव-जातिको अपना अद्वितीय ज्ञान प्रदान करनेकी योग्यताका सम्पादन करने तथा संसारकी एकता और कल्याणके हेतु जीवित करने एवं उद्योग करनेके लिये हमें संसारके समस्त आत्मविश्वासी, पुनरुत्थानशील और सामर्थ्यशाली राष्ट्रके रूपमें खड़ा होना पड़ेगा ।



## वेदका अभेदपरत्व

( लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती )

प्रश्न—क्या वेदका तात्पर्य—प्रतिपाद्य भेद है ?

उत्तर—नहीं; क्योंकि भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं है। प्रमाणान्तरसे सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन करनेपर वेद अज्ञातज्ञापक प्रमाण नहीं रहेगा, दूसरे प्रमाणसे सिद्ध पदार्थका अनुवादक हो जायगा। जो वस्तु साक्षीके अनुभवसे ही सिद्ध हो रही है, उसकी सिद्धिके लिये वेदक दौड़नेकी क्या आवश्यकता है ? वेद ऐसी वस्तु बताता है, जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदिसे सिद्ध नहीं होती। वेद साक्षीमात्रका भी प्रतिपादक नहीं है; क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध है और सबका प्रकाशक है। वेदका वेदत्व साक्षीको ब्रह्म बतानेसे ही सफल होता है।

वस्तुतः बात यह है कि परिच्छिन्न स्थूल-सूक्ष्म पदार्थोंसे अभेद अथवा तादात्म्य होना अज्ञानका लक्षण है। दृश्य, साक्ष्य अथवा भेदमात्रसे अपनेको पृथक् द्रष्टा जानना विवेक है। इस पृथक्त्वमें भिन्नत्व अनुस्यूत है। जडसे चेतन आत्मा भिन्न है। यह भिन्नत्वकी भ्रान्ति भी अज्ञानकृत है। वेद प्रमाणान्तरसे अज्ञात आत्माकी अपरिच्छिन्नता—अद्वितीयताका बोध करा देता है। आत्मा होनेसे चेतन है, ब्रह्म होनेसे अपरिच्छिन्न, अद्वितीय है। इस ऐक्यके ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, भेद बाधित हो जाता है। यह अज्ञानकी निवृत्ति और बाधित भेद भी आत्मस्वरूप ही है; क्योंकि वह अधिष्ठान आत्मासे भिन्न नहीं है। प्रमाणान्तरसे अज्ञात वस्तुका बोध करानेके कारण ही श्रुतिका वास्तविक प्रामाण्य है।

प्रश्न—तब क्या भेद सत्य नहीं है ?

उत्तर—कदापि नहीं। भेद सर्वथा मिथ्या है, परिच्छिन्नके तादात्म्यसे ही वह सत्य भासता है। जिस अधिष्ठानमें भेद भास रहा है, उसीमें उसका अत्यन्ताभाव

भी भास रहा है। अपने अभावके अधिष्ठानमें भासना ही मिथ्याका लक्षण है। इसलिये यह युक्ति बिल्कुल ठीक है—‘भेदो मिथ्या स्वभावाधिकरणे भासमान-त्वात्’। यह अनुभवसिद्ध है कि अधिष्ठान-ज्ञानसे भेद मिथ्या हो जाता है। इसलिये वेदका तात्पर्य मिथ्या भेदके प्रतिपादनमें नहीं है, प्रत्युत भेदके भाव और अभावके अनुकूल शक्ति, मायाके अधिष्ठानके प्रतिपादनमें है।

प्रश्न—तब क्या भेदके प्रतिपादनसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती ?

उत्तर—भेदके प्रतिपादनसे अर्थ-धर्म-कामरूप तीनों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है, परंतु मुक्तिकी सिद्धि नहीं होती। भेदमें परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति दुःख है, अहंकार दुःख है, राग-द्वेष दुःख हैं और जन्म-मरण भी दुःख हैं। भेदमें समाधि-विक्षेप नहीं छूटते, सुख-दुःख नहीं छूटते, पाप-पुण्य नहीं छूटते और संयोग-वियोग भी नहीं छूटते; इसलिये भेदमें जन्म-मरणका चक्र अद्यावत्तरूपसे चलता रहता है। इसलिये मुक्तिरूप पुरुषार्थकी सिद्धि भेदसे नहीं हो सकती। मुक्ति स्वयं आत्माका स्वरूप ही है। ज्ञानरूपसे उपलक्षित आत्मा ही अज्ञानकी निवृत्ति है। निवृत्ति कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। इसलिये मुक्तिमें प्राप्य-प्रापकभाव, साध्य-साधन-भाव आदि भी नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि श्रुतिका तात्पर्य भेदके प्रतिपादनमें नहीं है; क्योंकि भेदकी सिद्धिसे मुक्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न—फिर भेद-प्रतिपादक श्रुतियोंका क्या होगा ?

उत्तर—भेद-प्रतिपादक श्रुतियाँ अविरक्त अधिकारीके लिये हैं। उनसे लौकिक-पारलौकिक सिद्धिकी प्राप्ति होती है, वे व्याष्टि-समष्टिका कल्याण करती हैं, अन्तःकरणको शुद्ध करती हैं, मुमुक्षुको ज्ञानोन्मुख करती हैं। इसलिये व्यवहारमें



उनका बहुत ही उपयोग है; परंतु जहाँ वस्तुकी प्रधानतासे परमार्थ-तत्त्वका निरूपण है, वहाँ श्रुतियाँ भेदको ज्ञाननिवर्त्य, अतएव मिथ्या बताती हैं। जो वस्तु अज्ञानसे निवृत्त होती है, वह भी मिथ्या ही होती है। अतएव सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक, स्वयम्प्रकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके अज्ञानसे तद्विषयक अज्ञानकृत सर्वभेदकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

बात यह है कि केवल इन्द्रिययन्त्रोंसे तत्त्वका अनुसंधान करनेपर केवल एक या अनेक जड सत्ताकी

ही सिद्धि होती है। चिद्वस्तु यन्त्रग्राह्य नहीं है। केवल बुद्धिसे अनुसंधान करनेपर बुद्धिकी शून्यता ही परमार्थरूपसे उपलब्ध होती है; क्योंकि विचार-विक्षेपात्मक बुद्धिका अन्तिम सत्य निर्वाणात्मक शून्य ही है। भक्तिभावनायुक्त बुद्धिके द्वारा अनुसंधान करनेपर सर्वप्रमाण-प्रमेय-व्यवहारके मूलभूत सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वरकी सिद्धि होती है। ऐसी स्थितिमें स्वतःसिद्ध साक्षीको अविच्छिन्न-अद्वितीय ब्रह्म बतानेके लिये कोई इन्द्रिययन्त्र या भाव-भक्ति समर्थ नहीं है। उसका ज्ञान केवल औपनिषद-ऐक्यबोधक महावाक्यसे सम्पन्न होता है।

## आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

**आप चाहेंगे उसी दिन, उसी क्षणसे आपको सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन होने लग जायँगे।**

आप चाहते हैं कि हमारा सर्वत्र भगवद्भाव हो। सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌के अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं; बस, सर्वत्र केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं। पर वे भगवद्-रूपमें इसलिये नहीं दीखते कि मनुष्य पूरा-का-पूरा भगवद्-रूपमें उन्हें देखना नहीं चाहता। सच मानिये, जिस दिन, जिस क्षण आपका मन चाहेगा कि मेरी आँखें सर्वत्र भगवान्‌को ही देखें, उसी दिन, उसी क्षणसे आपको सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन होने लग जायँगे। आप देखना चाहते हैं—सोना, चाँदी, खान-पानकी वस्तु, पहननेके कपड़े, गप लड़ानेवाले मित्र-साथी, सेवा करनेवाला नौकर आदि। तब भगवान् सोचते हैं कि 'मेरा प्यारा भक्त अभी मुझे इन चीजोंके रूपमें ही देखना चाहता है तो मैं अपना रूप बदलकर उसके चित्तको क्यों दुखाऊँ? वह चाहता है, सोना-चाँदी आदि देखना तो मैं सोना-चाँदी आदि बनकर ही उसके सामने जाऊँगा। वह भक्त मेरा प्यारा है, मेरे प्यारेको जिस बातमें सुख हो, वही मुझे करना है।' इसलिये सर्वत्र भगवान्-ही-

भगवान् होनेपर भी आपको तरह-तरहकी चीजें दीखती हैं। ये तबतक दीखती रहेंगी, जबतक आप उन्हें देखना चाहेंगे। यह सर्वथा आपके हाथकी बात है। आज आपके मनमें केवल मोरमुकुटधारी रूपको देखनेकी इच्छा हो जाय तो आज ही ईंट-पत्थर-चूनेका अणु-अणु बदलकर श्रीकृष्णरूप हो जाय। यह सर्वथा ध्रुव सत्य है।

**प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थितिमें अपने प्रियतम प्रभुका दर्शन करनेका अभ्यास कीजिये**

मनमें बार-बार सोचते रहिये—'मेरा कुछ भी नहीं है, सब कुछ प्रियतम प्रभुका है। सबपर उनका ही अधिकार है। मैं एवं मुझसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्त चीजें उनकी हैं, वे अपने इच्छानुसार इनका उपयोग करें'—यह भावना जितनी दूरतक दृढ़ होगी, उतनी ही दूरतक आप सांसारिक सुख-दुःख और सांसारिक चिन्ताओंसे अलग हो जाइयेगा। मनमें मान रखा है कि 'अमुक वस्तु मेरी है'; इसीलिये उसके बनने-बिगड़नेकी चिन्ता होती है। यदि सचमुच किसीका मन यह स्वीकार कर ले कि यह 'सब उनका है' तो फिर



सांसारिक दृष्टिमें जो चीज बिगाड़ती हुई दीखेगी, उसके सम्बन्धमें भी वह ठीक अनुभव करेगा कि वह बिगाड़ नहीं रही है; क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् अपनी चीजको बिगाड़ता नहीं, नष्ट नहीं करता। यदि बिगाड़ता भी है तो उसका रूप और भी सुन्दर बनानेके लिये बिगाड़ता है। भगवान् तो बुद्धिमानोंकी बुद्धिकी जो बरस सीमा है, उससे भी अनन्तगुना अधिक बुद्धिमान् हैं। वे भला, व्यर्थ ही अपनी चीज कैसे बिगाड़ेंगे? वे बिगाड़ नहीं रहे हैं—वे तो बना ही रहे हैं, और भी सुन्दर बना रहे हैं। सच मानिये, किसी प्रकार इस सांसारिक स्थितिकी एक किरणकी भी झाँकी यदि कोई कर पाये तो दुःख उसके जीवनसे सदाके लिये नष्ट हो जाता है। जबतक यह अनुभव नहीं हो, तबतक अगणित संतोंके अनुभवपर विश्वास करके ऐसी भावना कीजिये कि यहाँ सब मङ्गल-ही-मङ्गल हो रहा है। श्रीकृष्ण यदि 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' की घोषणा करते हैं तो विपत्ति जो मृत्युके ही भाई-बन्धुओंमेंसे एक है, वह भी वे ही हैं। विपत्ति अर्थात् मनके प्रतिकूल परिस्थिति भी श्रीकृष्ण ही हैं। रूप भयानक है; पर यदि पत्नी समझ ले कि मेरे नाथ ही मेरे पास ऐसा रूप धरकर आये हैं तो वह उस समय भी उनका स्वागत करेगी; क्योंकि पतिव्रता रूपसे प्यार नहीं करती, पतिसे प्यार करती है। अतएव मनके प्रतिकूल किसी भी परिस्थितिमें अपने प्रियतम प्रभुका दर्शन करनेका अभ्यास कीजिये। वे ही हैं, सचमुच वे ही हैं; आपसे अपनेको उस रूपमें छिपाये हुए आते हैं, इसलिये आप डर जाते हैं। अनन्त संतोंकी बातें झूठ नहीं हैं, वे त्रिकाल-सत्य हैं। आप उस रूपमें देखकर उनका स्वागत करें; फिर उनसे रहा नहीं जायगा। उस भयानक रूपसे इतने मधुर रूपमें परिणत हो जायँगे कि आप ही हँसने लगियेगा। अभी भी होता तो वही है। संसारमें आजतक किसीके भी जीवनमें ऐसी कोई घटना

नहीं हुई, जिसका परिणाम मङ्गलमय नहीं हुआ हो। पर भयानक रूपमें जब भगवान्का प्रकाश होता है, तब लोग रोते हैं; वही मधुर रूपमें परिणत होता है, तब हँसते हैं। पर दोनों समय इस बातको नहीं जानते कि इन दोनों रूपोंके भीतर कौन छिपा है। भक्त उसे जानता है और उस छिपे रहनेवालेसे जो उसका सम्बन्ध है, उसे भी जानता है। इसलिये उसे दुःख नहीं होता। भोले भक्त डर भी जाते हैं, पर उस समय भी वे अपने स्वामीको ही याद करते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें उनके लिये और कोई भी सहायक नहीं होता और स्वामीको याद करते ही, भले ही स्वामी अपनी विपत्तिकी पोशाक तुरन्त न बदलें, वे मनमें ऐसा भाव कर देते हैं, जिससे भय जाता रहता है। अतः किसी भी प्रकार हो, अपनेको उनसे जोड़ लें; जुड़े हुए तो हैं ही, इसे अनुभव करें। वे आपके हैं, आप उनके हैं, उनकी सब चीजें आपकी हैं—आपकी सब चीजें उनकी हैं—इसको मान लें।

### बस, तीन ही बातें

जीवनका अनमोल समय जितना भी बच रहा है, सब-का-सब प्रिया-प्रियतमके चरणोंमें समर्पित होकर ही बीते—यह उद्देश्य आप याद रखें। उद्देश्य यदि स्मरण रहा तो सम्भवतः जीवनके अन्तिम श्वासतक दया करके वे आपको अपने-आप स्वीकार कर लें। आपसे बस तीन बातें ही कहनी हैं—

- ( १ ) उनकी कृपाकी आशा।
- ( २ ) जीभसे नामका निरन्तर अभ्यास।
- ( ३ ) भागवतका पाठ।

—इन्हें मत छोड़ियेगा; फिर जीवनकी धारा किसी दिन एकाएक एक क्षणमें ही पलट जायेगी।

मन प्रिया-प्रियतमका धाम बन जाय, यह चेष्टा कीजिये।

यह सत्य है कि शरीर तो एक दिन जायगा ही;



पर शरीर भी आपका नहीं है। यह तो प्रिया-प्रियतमकी सम्पत्ति है। उन्होंने यह आपको दिया है। यदि आप इसे बना नहीं सकते तो जान-बूझकर बिगाड़नेका अधिकार भी आपको नहीं है। अपनी जानमें स्वास्थ्यके नियमोंकी अवहेलना करना ही इसे बिगाड़ना है। यह नहीं होना चाहिये। साथमें यह भी नहीं होना चाहिये कि शरीरकी सेवामें ही मन फँसा रहे। मन तो प्रिया-प्रियतमका धाम बन जाय, यह चेष्टा होनी चाहिये। जिस दिन मन सर्वथा प्रिया-प्रियतमका धाम बन जायगा, उस दिन तो इस शरीरकी स्मृति ही मिट जायगी। पर जबतक ऐसा सौभाग्य नहीं होता, तबतक मुख्यवृत्ति भजनकी ओर, एवं गौणवृत्ति भजनके साधनरूप

शरीरकी ओर रखकर ही आगे बढ़ना चाहिये। इससे उन्नति ही होगी।

X

X

X

प्रिया-प्रियतमने अत्यन्त दया करके जिन्हें व्रजमें निवास दे दिया—समस्त सुखकी खान व्रजभूमि जिनको मिल गयी, उन्हें चाहिये कि व्रजभूमिमें, व्रजराजदुलारीमें, वृषभानुदुलारीमें मनको रमा दें। सच्ची बात है, व्रजके समान सुख और कहीं भी नहीं है—

कहाँ सुख व्रज कौ-सौ संसार।

कहाँ सुखद बंसीबट, जमुना, यह मन सदा विचार ॥  
कहाँ वनधाम, कहीं राधासँग, कहीं संग व्रज-वास।  
कहाँ रस-रस बीच अंतर सुख, कहीं नारि तन ताम ॥  
कहाँ लता, तब-तब प्रति वृक्षनि, कुंज-कुंज नव धाम।  
कहाँ बिरह-सुख बिनु गोपिन सँग, खुरस्याम मन काम ॥

## गीताका भक्तियोग—८

( पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या )

[ गताङ्क पृष्ठ १२०७से आगे ]

सम्बन्ध

भगवान्ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा साधन बतलाते हुए चार साधन बतलाये; इससे ऐसी शङ्का होती है कि अन्तमें बताया हुआ सर्वकर्मफल-त्यागका साधन कदाचित् सबसे निम्न श्रेणीका है। इस शङ्काको दूर करनेके लिये एवं उक्त ( सर्वकर्मफलत्याग ) साधनका फल बतलानेके लिये इस श्लोककी अवतारणा की गयी है—

श्लोक

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।  
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

भावार्थ

पूर्वश्लोकोंमें आठवेंसे ग्यारहवेंतक अधिकारि-भेदसे भगवान्ने चार साधन बतलाये। जिस साधककी प्रकृतिके अनुकूल जो साधन है, उसके लिये वही कल्याण

करनेवाला है। किंतु पूर्वोक्त साधनोंकी ओर दृष्टि दी जाय और उनके एक-एक अंशको लेकर भी उनके तारतम्यपर विचार किया जाय तो फलका त्याग ही सबसे ऊँचा सिद्ध होता है।

जिस अभ्यासमें ज्ञान नहीं है और जिस ज्ञानमें अभ्यास नहीं है—इन दोनोंमें अभ्यासकी अपेक्षा केवल ज्ञान श्रेष्ठ है। इसी प्रकार जिस ज्ञानमें अभ्यास नहीं है, ध्यान नहीं है और कर्मफलका त्याग भी नहीं है और जिस ध्यानमें ज्ञान नहीं है और कर्मफलत्याग भी नहीं है—उन दोनोंमें केवल ध्यान श्रेष्ठ है। पुनः जिस ध्यानमें ज्ञान नहीं है, फलका त्याग भी नहीं है और जिस कर्मफलत्यागमें ज्ञान नहीं है, ध्यान भी नहीं है, उन दोनोंमें कर्मफल-त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्मफलत्यागसे तत्काल ही परमशान्ति अर्थात् भगवत्प्राप्ति हो जायगी। कारण यह



है कि संसारके साथ सम्बन्ध केवल आसक्ति और फलेच्छाको लेकर ही है—

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।

(गीता १३।२१)

फलका त्याग आसक्तिके त्यागसे ही सम्भव है, अतः फलत्यागसे संसारके प्रति आसक्तिका नाश होनेपर जन्म-मरणका कोई कारण ही नहीं रहता और मनुष्य परम-शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

### विशेष ध्यान देनेकी बात

आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक भगवान् ने चार साधन बतलाये—१. ध्यान, २. अभ्यासयोग, ३. भगवान् के लिये ही सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान और ४. सर्वकर्मफलत्याग । इन चारों साधनोंका फल भगवत्प्राप्ति ही है, किंतु साधकोंकी भिन्न-भिन्न रुचि और योग्यताके कारण ही इन साधनोंकी भिन्नता है ।

अपने साधनको छोटा मानकर साधकको भगवत्प्राप्तिके विषयमें कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि साधन छोटा-बड़ा होता ही नहीं । यदि साधकका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति हो, साधन अपनी रुचिके अनुसार हो और साधनको अपनी पूरी सामर्थ्य लगाकर, पूरी तत्परतासे किया जाय तो सभी साधन एक समान हैं । अपने उद्देश्य, सामर्थ्य, चेष्टा एवं तत्परतामें कभी न्यूनता नहीं आनी चाहिये । भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी शक्ति एवं योग्यताको साधनामें लगा दे । यह बात ठीक है कि हम परमात्म-तत्त्वको नहीं जानते; किंतु परमात्मा तो हमारे उद्देश्य, भाव, तत्परता आदिको जानते ही हैं । यदि हम अपने उद्देश्य, भाव, योग्यता, तत्परता आदिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं रखेंगे तो भगवान् कृपा करके अपनी प्राप्ति करा देंगे । वास्तवमें अपने उद्योग, बल और ज्ञान आदिसे तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती; भगवान् की दी हुई

सामर्थ्यको भगवान् के लिये ही उपयोगमें लानेसे भगवान् अपनी कृपासे अपनी प्राप्ति करा देते हैं ।

संसारमें सबसे सुगम भगवत्प्राप्ति ही है और इसके सभी अधिकारी हैं । कर्म भिन्न-भिन्न होनेके कारण संसारके पदार्थ किन्हीं दोको भी एक समान नहीं मिल सकते, जब कि परमात्मा एक होनेसे भगवत्प्राप्ति सबको एक ही होती है । जीवात्मा भगवान् का अंश है और अंश अंशीको ही प्राप्त होता है ।

अन्वय

हि, अभ्यासात्, ज्ञानम्, श्रेयः, ज्ञानात्, ध्यानम्, विशिष्यते, ध्यानात्, कर्मफलत्यागः, त्यागात्, अनन्तरम्, शान्तिः ॥ १२ ॥

हि—क्योंकि

अभ्यासात्—अभ्याससे

‘तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः’

(पातञ्जलयोगदर्शन १।१३)

“किसी विषयमें स्थिति उपलब्ध करनेके लिये बार-बार प्रयत्न करनेका नाम ‘अभ्यास’ है।” यहाँ ‘अभ्यास’ शब्द अभ्यासमात्रका वाचक है। जिस अभ्यासमें शास्त्रज्ञान और ध्यान नहीं हैं और फलेच्छाका त्याग भी नहीं है, वह अभ्यास-योगका वाचक नहीं है ।

ज्ञानम्—परोक्षज्ञान

सत्सङ्गमें सुननेसे और शास्त्रोंको पढ़नेसे जो अध्यात्मविषयक जानकारी हुई है, परंतु जिस जानकारीके अनुसार अभीतक अनुभव नहीं हुआ है तथा जिस जानकारीमें अभ्यास, ध्यान और कर्मफलत्याग—तीनों ही नहीं हैं, ऐसी जानकारीके लिये यहाँ ‘ज्ञानम्’ पद आया है ।

तीसरे अध्यायके ३९वें तथा ४०वें श्लोकोंमें, चौथे अध्यायके ३४वें श्लोकमें तथा ३९वें श्लोकमें दो बार, पाँचवें अध्यायके १५वें श्लोकमें तथा १६वें श्लोकमें



‘ज्ञानेन’ एवं ‘ज्ञानम्’, दसवें अध्यायके ३८वें श्लोकमें, तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें दो बार, चौदहवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें और अठारहवें अध्यायके ६३वें श्लोकमें ‘ज्ञानम्’ पद तत्त्वज्ञानका वाचक है ।

सातवें अध्यायके दूसरे और नवें अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌के निर्गुण-निराकार तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसहित यथार्थ ज्ञानको ‘ज्ञानम्’ कहा गया है और ‘विज्ञान’ शब्द सगुण-निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व, प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका वाचक है ।

दसवें अध्यायके ४थे श्लोकमें ‘ज्ञानम्’ पद साधारण ज्ञानसे लेकर तत्त्वज्ञानतकका वाचक है ।

तेरहवें अध्यायके ११वें और १८वें श्लोकोंमें ‘ज्ञानम्’ पद साधनरूप ज्ञानका वाचक है ।

तेरहवें अध्यायके १७वें श्लोकमें ‘ज्ञानम्’ पद ज्ञानस्वरूप परमात्माके लिये आया है ।

चौदहवें अध्यायके ९वें, ११वें और १७वें श्लोकोंमें तथा पंद्रहवें अध्यायके १५वें श्लोकमें ‘ज्ञानम्’ पद विवेक-ज्ञानके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है ।

अठारहवें अध्यायके १८वें और १९वें श्लोकोंमें ‘ज्ञानम्’ पद साधारण ज्ञानका वाचक है तथा २०वें श्लोकमें ‘ज्ञानम्’ पद सात्त्विक ज्ञानका वाचक है । २१वें श्लोकमें दो बार आया हुआ ‘ज्ञानम्’ पद लौकिक ज्ञानका वाचक है तथा ४२वें श्लोकमें ‘ज्ञानम्’ पद शास्त्रज्ञानका वाचक है ।

**श्रेयः**—श्रेष्ठ है ( और )

**ज्ञानात्**—शास्त्रज्ञानसे

**ध्यानम्**—मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान

किसी विषयमें मन-बुद्धिके लगनेका नाथ ‘ध्यान’ है । जिस ध्यानमें ज्ञान और कर्मफलत्याग नहीं है, उस ध्यानके लिये यहाँ यह पद आया है ।

तेरहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें ‘ध्यानेन’ पद साधनरूप ध्यानका वाचक है । दूसरे अध्यायके ६२वें श्लोकमें ‘ध्यायतः’ पद चिन्तनके अर्थमें आया है । इसी अध्यायके ६४वें श्लोकमें ‘ध्यायन्तः’ पद अन्य चिन्तनके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । अठारहवें अध्यायके ५२वें श्लोकमें ‘ध्यानयोगपरः’ पद निर्गुण-तत्त्वके ध्यानपरायण पुरुषके लिये आया है ।

**विशिष्यते**—श्रेष्ठ है ( तथा )

**ध्यानात्**—ध्यानसे ( भी )

**कर्मफलत्यागः**—सब कर्मोंके फलका त्याग । कर्म-फल-त्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग न होकर कर्मोंमें और कर्मफलमें समता-आसक्ति एवं कामना-वासनाके त्यागकी बात है । उसीको ‘जडसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद’ कहते हैं ।

( विशिष्यते )—श्रेष्ठ है ( और )

**त्यागात्**—त्यागसे । यहाँ यह पद कर्मफल-त्यागके लिये ही आया है । त्यागके विषयमें एक विशेष बात समझनेकी यह है कि त्याग उसी वस्तुका होता है, जो वास्तवमें स्वरूपसे हमारी है नहीं, परंतु भूलसे अपनी मानकर जिसके साथ हम इतने घुल-मिल गये हैं कि उसे ही अपना स्वरूप मान बैठे हैं या जिसे हमने अपनी मान ली है । जो वस्तु स्वरूपसे अपनी है, उसका त्याग हो ही नहीं सकता; जैसे सूर्य प्रकाश और गर्मीका त्याग नहीं कर सकता । जो वस्तु अपनी है ही नहीं, उसका त्याग ही कैसा ? अतः त्याग उसी वस्तुका ही करनेके लिये कहा जाता है, जो वस्तु स्वरूपसे अपनी है नहीं, पर भूलसे अपनी मान ली गयी है । इसीलिये यह पद यहाँ कर्मों और उनके फलके साथ भूलसे जोड़े हुए सम्बन्धको त्यागनेके अर्थमें ही आया है ।

**यगन्तरम्**—तत्काल ही



शान्तिः—परमशान्ति होती है। इस पदका तात्पर्य है, जिसमें न ज्ञान है, न ध्यान है और न फल-त्याग है।

दूसरे अध्यायके ७०वें तथा ७१वें श्लोकोंमें,

तृतीय अध्यायके ३९वें श्लोकमें, पाँचवें अध्यायके

१२वें तथा २९वें श्लोकोंमें, छठे अध्यायके १५वें

श्लोकमें, नवें अध्यायके ३१वें श्लोकमें और अठारहवें

अध्यायके ६२वें श्लोकमें 'शान्तिम्' पद परमशान्तिका

वाचक है।

दूसरे अध्यायके ६६वें श्लोकमें और सोलहवें

अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'शान्तिः' पद तथा अठारहवें

अध्यायके ५३वें श्लोकमें 'शान्तः' पद अन्तःकरणकी

शान्तिके लिये आया है।

### तुलना

आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक भगवान् ने चार

साधन बतलाये हैं। इन चारों साधनोंका फल

भगवत्प्राप्ति ही है। इसलिये यदि इनके तारतम्यपर

विचार किया जाय तो इन चारों साधनोंमेंसे मुख्य

एक-एक अंशको लेकर ही उनकी तुलना की जा

सकती है। अतः भगवान् यहाँ चारों साधनोंके मुख्य

एक-एक अंशको लेकर तुलना कर रहे हैं।

इस तुलनामें 'ज्ञान' शब्दको भगवान् सर्वप्रथम

बतलाये हैं। इसका कारण यह है कि सभी साधनोंमें

ज्ञानकी आवश्यकता है। बिना ज्ञानके कोई साधन

करोना ही कैसे? अतः ज्ञान सब साधनोंके अन्तर्गत है।

ज्ञान और अभ्यासकी तुलनामें ज्ञानका अर्थ शास्त्र-ज्ञान है, विवेक अथवा तत्त्वज्ञान नहीं। (सत्-असत्,

आत्मा-अनात्मा, नित्य-अनित्य, शुचि-अशुचि और सुख-दुःखको यथार्थ जाननेका नाम 'विवेक' है।)

जिस ज्ञान और अभ्यासकी तुलना की जा रही है, उस

ज्ञानमें न अभ्यास है, न ध्यान है और न फलत्याग है और अभ्यास भी केवल ऐसे अभ्यासका वाचक

है, जिसमें न ज्ञान है, न ध्यान है और न फल-त्याग है।

किसी भी कार्यकी निष्पत्ति सुचारुरूपसे तभी

होगी, जब कर्ता उस कामको करनेकी कला जानता

हो और उस कामको करे। किसी कामकी कलाको

जाननेवाला आवश्यकता होनेपर उस कामको कर सकता

है, परंतु कलासे अनभिज्ञ पुरुष कामको करनेकी इच्छा

होते हुए भी काम नहीं कर पाता। काम करनेसे

पहिले उसे कामकी कलाको जानना पड़ेगा। अतः

अकेला ज्ञान तो काम कर सकता है, किंतु अकेला अभ्यास

नहीं। ज्ञानवाला जब कभी अभ्यास करेगा, उसका

अभ्यास तेजीसे होगा। ज्ञानवालेको अभ्यास करनेमें

सुगमता होगी, जब कि अभ्यासवालेको क्रियाशील

होनेके कारण ज्ञान होनेमें कठिनाई होगी और देरी

लगेगी। केवल ज्ञान भगवत्प्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न करके

भगवत्प्राप्ति करा देगा, जब कि अभ्यास ज्ञानको जाग्रत

करके ही भगवत्प्राप्ति करा सकता है। इन्हीं कारणोंसे

अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

ध्यान और ज्ञानकी तुलनामें—'ध्यान' उस ध्यान-

का वाचक है, जिसमें ज्ञान और कर्मफलत्याग नहीं

है और 'ज्ञान' केवल शास्त्रज्ञानका वाचक है, जिसमें

न ध्यान है, न अभ्यास है और न फलत्याग ही है।

ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है। प्रायः ऐसा देखनेमें भी

आता है कि शास्त्रज्ञानी संसारमें बहुत मिलते हैं,

जब कि ध्यानवाले पुरुष मनकी एकाग्रताकी कमीके

कारण बहुत थोड़े मिलते हैं। ध्यानवाला मनकी

एकाग्रताके कारण जहाँ मन लगायेगा, वहाँ ही सिद्धि-



शीघ्रतासे कर लेगा । ध्यान करनेवालेको मनकी एकाग्रताके कारण ज्ञानकी प्राप्ति बहुत सुगमतासे हो सकती है, जब कि शास्त्रज्ञानवालेको मनकी चञ्चलताके कारण ध्यान लगानेमें बहुत परिश्रम पड़ेगा ।

शास्त्रज्ञानवालेकी अपेक्षा ध्यानवालेका परमात्माके साथ सम्बन्ध अधिक रहता है । जितने अंशमें जिस साधनमें परमात्माके साथ अधिक सम्बन्ध है, वह साधन श्रेष्ठ है । इसलिये भी ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है ।

कर्मफल-त्याग और ध्यानकी तुलनामें ऊपर कहा जा चुका है कि कर्मफलत्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग अभिप्रेत नहीं है, अपितु कर्मोंमें और उनके फलमें जो ममता, आसक्ति, कामना, वासना आदि हैं, उन्हींका त्याग कर्मफलका त्याग है और 'ध्यान' उस ध्यानका वाचक है, जिसमें न ज्ञान है और न कर्म-फलत्याग है ।

ध्यानसे कर्मफल-त्याग श्रेष्ठ है । प्रायः ऐसा देखा भी जाता है कि ध्यानवाले कई पुरुष मिल सकते हैं, किंतु फलका त्यागी कोई बिरला ही मिलेगा । कर्मफल-त्यागकी संसारमें आसक्ति न रहनेसे जड़के साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । संसारमें जो राग है, वही जीवात्माका बन्धन है । संसारके साथ सम्बन्ध रहनेसे ही मनुष्यको ऊँच-नीच योनियोंमें भटकना पड़ता है ( गीता १३ । २१ ) । कर्मफलत्यागीका जड़के साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण उसकी स्वतः ही परमात्मामें स्थिति है; इसलिये उसे ध्यानकी आवश्यकता नहीं है । यदि वह ध्यान लगाना चाहे तो सांसारिक कामना न होनेके कारण उसे ध्यान लगानेमें कोई कठिनाई नहीं है, जब कि ध्यानवालेको सकामभाव अर्थात् कर्मफल त्यागनेमें बहुत कठिनाई होगी और बिना सकामभाव छूटे भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती ।

दसवें श्लोकमें भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करना

भगवत्प्राप्तिका साधन बतलाया गया है । उक्त साधनमें भी फलका त्याग है, यद्यपि है भगवान्‌के लिये और सर्वकर्मफलत्यागमें तो फलका त्याग है ही; इसलिये दोनों साधनोंमें कर्मफलके साथ सम्बन्ध न रहनेके कारण ध्यानके साथ उनकी अलग-अलग तुलना न करके भगवान्‌ने यहाँ इस श्लोकमें 'कर्मफलत्याग' पदसे दोनोंकी एक साथ ही तुलना की है ।

भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक-एक साधनमें असमर्थ होनेपर क्रमशः समाधि, अभ्यासयोग, भगवद्‌दर्श कर्म और कर्मफलत्याग—ये चार साधन बतलाये । इससे आपाततः यह जान पड़ता है कि क्रमशः एकसे दूसरा साधन निम्न श्रेणीका है, सुतरां कर्मफलत्यागका साधन सबसे निम्न श्रेणीका है ।

पहले तीन साधनोंमें भगवत्प्राप्तिरूपी फलकी बात भी साथ-साथ कही गयी; परंतु ग्यारहवें श्लोकमें, जहाँ चौथा साधन करनेकी आज्ञा दी गयी है, वहाँ उसका फल भगवत्प्राप्ति नहीं बतलाया गया । इससे भी उपर्युक्त धारणाकी पुष्टि होती है कि यह चौथा साधन निम्न श्रेणीका है ।

समाधि, अभ्यासयोग, कर्मसमर्पण और कर्मफल-त्यागके साधनोंको क्रमशः बतानेका तात्पर्य यह है कि साधककी सांसारिक क्रिया जितनी कम होगी—वह उतना ही अधिक परमात्मामें लीन माना जायगा । समाधिमें क्रिया है ही नहीं, अभ्यास योगमें थोड़ी क्रिया है; परंतु कर्मसमर्पण और कर्मफलत्यागमें तो क्रिया ही है । इसलिये ऐसा क्रम दिया गया है । लौकिक दृष्टिसे समाधिमें भगवान्‌के साथ सबसे अधिक सम्बन्ध है, अभ्यासयोगमें उससे कम, कर्मसमर्पणमें उससे भी कम और कर्मफलत्यागमें सबसे कम । इस दृष्टिसे भी कर्मफलत्यागका साधन निम्न श्रेणीका दीखता है ।



[११]

किंतु भगवान् ने कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ और उससे  
परमशान्ति होना बतलाकर यह स्पष्ट कर  
दिया कि इस चौथे साधनको कोई निम्न श्रेणीका न  
हो; क्योंकि साधनमें त्यागकी ही प्रधानता है न  
क्रियाकी।

सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो पता चलेगा  
कि मन-बुद्धि लगाने, अभ्यासयोग करने और भगवदर्थ  
प्राप्त करने—इन तीनों ही साधनोंमें जडके साथ  
सम्बन्ध रहता है; परंतु कर्मफलत्यागमें तो जडका  
त्याग है। इसीलिये यह सबसे श्रेष्ठ है।

इस प्रकार अभ्यास, ज्ञान, ध्यान—इन सबसे  
कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। अभ्यास, ज्ञान, ध्यान—इन  
तीनोंमें भी फलत्याग करनेसे ही मुक्ति होगी। जबतक  
हममें किसी फलकी कामना है, तबतक वह मुक्त  
ही हो सकता—‘फले सक्तो निबध्यते।’ (गीता ५।१२)  
कर्मफलत्यागमें ममता, आसक्ति, कामना, वासनाका  
अभाव होनेके कारण जडसे सर्वथा सम्बन्ध-  
विच्छेद होकर तत्काल परमशान्तिकी प्राप्ति होती है—  
‘युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।’  
(गीता ५।१२)

इस साधकको अलगसे अभ्यास, ज्ञान, ध्यान करनेकी  
आवश्यकता नहीं है। अभ्यास, ज्ञान, ध्यान—इन  
तीनोंमें ही जड मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका आश्रय है;  
जब कि कर्मफलत्यागमें जडका आश्रय नहीं है, बल्कि  
उससे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है।

आठवें श्लोकमें मन-बुद्धि द्वार हैं, नवें श्लोकमें  
अभ्यास द्वार है तथा दसवें श्लोकमें कर्मद्वार है, परंतु  
कर्मफलत्यागमें द्वार है ही नहीं—केवल त्याग ही है।  
विचारकर देखनेसे पता लगता है कि जडके द्वारा  
चिन्मयताकी प्राप्ति थोड़े ही होती है। चिन्मयता  
तो जडके त्यागसे बनी हुई है ही। इसमें मर्मकी

बात यह है कि ‘मै’ का आधार है परमात्माका अंश;  
वह नित्य ही मुक्त है। परंतु जडतासे सम्बन्ध जोड़कर  
उसने अपनेको संसारी मान लिया, अर्थात् वह अपनी  
वास्तविकताको भूल गया। इसी बातको संतोंने—

‘जड चेतनहि ग्रंथि परिगई। जदपि मुषा छूटत कडिनई ॥’  
(श्रीरामच० मा० उत्तर० ११६।२)

इन शब्दोंमें कहा है। कर्मफलत्यागसे जडके साथ  
सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर तत्काल ही परमशान्ति मिल  
जाती है।

भगवान् ने यहाँ जो चार साधन बतलाये हैं,  
विचार करके देखा जाय तो उनमेंसे प्रत्येकमें चारों ही  
बातें हैं। जैसे (१) भगवान् ने मन-बुद्धिका लगाना रूप  
ध्यान तो है ही, अभ्यास भी पहलेका किया हुआ है,—  
नहीं तो ध्यान होता ही कैसे। अतः इसमें वह गतार्थ  
है; ध्यान भगवान् के प्रति समर्पण है ही एवं ध्यानका  
फल कोई लौकिक एषणा नहीं है। (२) अभ्यास-  
योगमें—जितने अंशमें साधकका मन लगा रहता है,  
उतने अंशमें उसे ध्यान हो ही रहा है तथा अभ्यास वह  
करता ही है; अभ्यास यदि वह भगवान् के लिये करता  
है तो उसका भगवान् के प्रति समर्पण है ही एवं  
नाशवान् फलकी इच्छा है ही नहीं। (३) भगवदर्थ  
कर्म करनेमें—ध्येय है परमात्माकी प्राप्ति; मन लगता  
है, इस रूपमें ध्यान हो ही रहा है; कर्म करना अभ्यास  
है; भगवत्प्रीत्यर्थ तो वह करता ही है एवं नाशवान्  
पदार्थोंकी एषणा उसमें है नहीं। और (४) भगवदर्थ  
कार्य करनेमें भी फलका त्याग है ही, यद्यपि है वह  
भगवान् के लिये और सर्वकर्मफलत्यागमें भी फलका  
त्याग है—अतः वे ही चारों बातें इसमें हैं।

जब चारों ही साधनोंमें चारों बातें हैं, तब फिर  
साधनोंमें श्रेणी कैसी? अर्थात् साधन कोई छोटा-बड़ा  
नहीं है।



वास्तवमें साधकको सबसे पहले अपने लक्ष्य, ध्येय अथवा उद्देश्यको ठीक करना चाहिये। इसके बाद उसका खास सम्बन्ध किसके साथ है, यह पहचानना चाहिये। फिर साधन कोई-सा भी करे—चाहे ध्यान करे, अभ्यासयोग करे, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करे या कर्मफल त्याग करे, वही साधन उसके लिये श्रेष्ठ हो जायगा; क्योंकि जब उसका लक्ष्य स्थिर हो जायगा कि उसे परमात्माको ही प्राप्त करना है एवं वह यह भी पहचान लेगा कि अनादिकालसे उसका परमात्माके साथ सम्बन्ध है, तब फिर कोई-सा भी साधन उसके लिये छोटा नहीं रह जायगा। साधन छोटा-बड़ा तो लौकिक दृष्टिसे है। साधनकी कमी वास्तवमें कमी नहीं है, उद्देश्यमें कमी ही कमी है। अतः साधकको चाहिये कि उद्देश्यमें यत्किंचित् भी कमी न आने दे। उद्देश्य पूर्ण होनेपर साधनकी कमी तो स्वतः पूरी हो जायगी।

साधन-विशेषके करनेमें असमर्थताकी बात इसलिये कही गयी है कि ध्यान, अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म करना एवं कर्म-फलका त्याग—इनमेंसे कोई भी साधन सभी साधकोंके लिये सुगम अथवा उपयोगी हो, ऐसी बात नहीं है। जो साधन एकके लिये सुगम है, वही दूसरेके लिये कठिन हो सकता है। अतः जिसकी जैसी योग्यता हो, उसके अनुसार ही साधन करना उसके लिये सर्वोत्तम होगा। वैसे चारों ही साधन स्वतन्त्र और उत्तम हैं। इसलिये जो कोई भी साधन हम करें, उसे श्रेष्ठ मानना चाहिये।

भगवान्ने गीताजीमें स्थान-स्थानपर कर्मफल-त्यागियों अर्थात् कर्मयोगके साधकोंकी विशेष महिमा कही है। जैसे (१) 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द-ब्रह्माति वर्तते। गीता ६। ४४ उत्तरार्ध' (कर्मयोगका जिज्ञासु भी सकाम कर्मोंके वेदोक्त फलको उल्लङ्घन कर जाता है।) निष्काम कर्मयोगके जिज्ञासुकी भी जब इतनी महिमा कही गयी है, तब फिर जो सर्वथा कर्मफलत्यागी है, उसकी तो बात ही क्या है।

(२) तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।  
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥  
(गीता ६। ४६)

—इस श्लोकमें श्रीभगवान्ने निष्काम कर्मयोगीको तपस्वियों, शास्त्रज्ञानियों और सकामकर्मियों—सबसे श्रेष्ठ बतलाया है और अर्जुनको योगी होनेकी आज्ञा दी है। यहाँ इस श्लोकसे भी इसी बातकी पुष्टि हुई है कि कर्मफलत्याग ज्ञान, अभ्यास और ध्यान—सबसे श्रेष्ठ है।

(३) निष्कामस्य धर्मस्य वायते महतो भयात्॥  
(गीता २। ४०)

'निष्काम कर्मयोगका थोड़ा-सा भी साधन साधकका जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है।'

(४) बुद्ध्या युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥  
(गीता २। ३९)

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय—इनमें सदा सम रहनेको 'सम-बुद्धि' कहते हैं; इसी समबुद्धि का नाम 'कर्मयोग' है। ऐसी सम-बुद्धिसे युक्त पुरुषके लिये भगवान् कहते हैं कि 'वह शुभाशुभ कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जायगा।' इस प्रकार कर्मयोगकी महिमा यहाँ विशेषतासे बतलायी गयी है।

सार्थिक बात—परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें संसारसे वैराग्य और परमात्माकी प्राप्ति की उत्कण्ठा—ये दो बातें ही मुख्य हैं। साधन कोई-सा भी हो, जब सांसारिक भोगोंका त्याग हृदयसे होगा और भोग दुःखदायी प्रतीत होने लगेंगे—वर्तमान स्थिति असह्य हो जायगी, तब परमात्माकी ओर प्रगति स्वतः ही होगी और परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।

इसी तरह परमात्मा जब प्रिय लगने लगेंगे, भगवान्के बिना रहा नहीं जायगा, भगवान्के वियोगमें बेचैनी पैदा हो जायगी तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।

ऊपर जो चार साधन बतलाये गये हैं—इनमें तीन साधन केवल परमात्माको प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा



जानेके लिये है और चौथा साधन संसारसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये ।

कारण इसका यह है कि परमात्मतत्त्व सदा सबको जित्य प्राप्त होनेपर भी सांसारिक पदार्थोंके संग्रह और उत्पत्ति होनेवाले सुख-भोगमें जो ममता, आसक्ति आदि हैं, वही परमात्माकी प्राप्तिमें असली बाधा है । यह बाधा दूर जानेपर प्राप्तिमें देरी नहीं होगी ।

साधनोंके भेद तो साधककी योग्यता एवं रुचिके अनुसार होते हैं । वास्तवमें कोई भी साधन छोटा-बड़ा नहीं है । साधककी रुचि एवं योग्यताके अनुसार किया जानेवाला साधन ही उत्तम होता है । रुचि,

विश्वास, योग्यता, परिस्थिति, सङ्ग, स्वाध्याय आदि सबके मिलनेसे साधन सहज होता है । जैसे भूख सबकी एक-सी होती है और भोजन करनेपर तृप्ति भी सबकी एक-समान होती है पर भोजनकी रुचि अलग-अलग होती है, भोजनके पदार्थ भी प्रकृति और रुचिके कारण भिन्न-भिन्न होते हैं, ऐसे ही साधकोंकी रुचि, विश्वास, प्रकृतिके अनुसार साधन अलग-अलग होते हैं, जब कि परमात्मासे विमुख और संसारके सम्मुख होनेपर दुःख-संताप-जलन (भूख) एक-सी होती है और किसी तरह-का भी साधक क्यों न हो, पूर्णता होनेपर भगवत्प्राप्ति-रूपी आनन्दकी प्राप्ति (तृप्ति) भी एक-सी ही होती है ।

## निःश्वास

( लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज )

रे मन ! तुझे शान्त बनना है अथवा अशान्त ? यदि तू शान्तिका इच्छुक है तो तुझे दूसरोंके अवगुणोंसे क्या जेना है ? यदि उसमें एक भी गुण है तो उसे ग्रहण कर, जिससे तुझे शान्ति मिले । यदि तुझे एक भी गुण नहीं मिलता तो अपना रास्ता पकड़, अवगुणोंकी खोज मत कर ।

रे मन ! तू दूसरोंकी बुराई आखिर क्यों करता है ? अपनी प्रतिष्ठाके निमित्त अथवा डाहसे ? यदि तू डाहके कारण किसीकी बुराई करता है तो समझ ले अपनी उन्नतिके मार्गमें तू आप ही गहरी खाइयाँ खोद रहा है और यदि दूसरोंकी बुराई करके अपनेको प्रतिष्ठित बनाना ही तेरा उद्देश्य है तो तू भूल कर रहा है । दूसरोंकी बुराई इन्के आजतक किसीने प्रतिष्ठालाभ नहीं किया, प्रत्युत वे ज्ञानकी दृष्टिसे गिर गये । दूसरोंकी प्रतिष्ठा करनेसे ही समुत्थ प्रतिष्ठित बनता है ।

रे मन ! तू सर्वदा ही अपनी प्रशंसा सुननेको उत्सुक रहता है ? तुझे पता नहीं, यह भयंकर रोग है ; इस रोगके चक्रमें पड़कर तू अपना सर्वस्व खो बैठेगा । यदि तुझे इस रोगके कुछ भी लक्षण दीखते हों तो शीघ्र ही जाकर इसकी कहीं चिकित्सा करा; यदि यह रोग असाध्य

हो गया तो फिर धन्वन्तरि भी इसका इलाज करनेमें समर्थ नहीं होंगे । फिर सिवा हाथ मलते रह जानेके कुछ भी हाथ न लगेगा ।

× × ×

मन रे ! देख, भैया ! तू अपना ही है, इसीसे मैं तुझसे तथ्यकी बात कहता हूँ । जबतक तू अपनेको बड़ा समझकर सबसे ऐंठता रहेगा, तबतक छोटे भी तुझसे भीतर-ही-भीतर घृणा करेंगे । फिर चाहे वे तेरे मुँहपर स्पष्ट कुछ न कहें, तेरी पीठके पीछे वे तेरी अवश्य बुराई करेंगे; किंतु यदि तू अपनेको छोटा समझकर सबसे नम्रतापूर्वक बर्ताव करेगा तो बड़े-से-बड़ा अभिमानी भी तेरे सामने नहीं, तो तेरे चले जानेके पश्चात् तेरी अवश्य प्रशंसा करेगा ।

मन ! तुझे मैं एकान्तमें समझाता हूँ । तू दूसरोंके स्वार्थकी सर्वदा शिकायत क्यों करता रहता है ? तू पहले अपनेको तो देख, क्या तू बिल्कुल निःस्वार्थ है ? क्या तू सबसे निःस्वार्थ-भावसे ही मिलता है ? यदि नहीं तो फिर तुझे दूसरोंकी शिकायत करनेका क्या अधिकार है ? पहले तू अपनेको निःस्वार्थ बना ले, फिर तुझे दूसरोंकी शिकायत करनेका अवसर ही न मिलेगा । कारण, स्वार्थिके पास ही स्वार्थी आता है; निःस्वार्थिके पास स्वार्थीकी दाल नहीं गलती ।



×                      ×                      ×  
देख मन ! यदि तू सबसे अपनी सत्य-सत्य स्थिति कहेगा तो वे भी अपनी यथार्थ स्थिति तेरे सामने प्रकट करेंगे। उससे तुझे बहुत अधिक लाभ होगा और यदि तू सबके सामने अपनी बात बढ़ा-चढ़ाके कहेगा तो इससे लाभ कुछ होनेका नहीं, उल्टे तुझे जो अनुभव हो सकता था, उससे भी तू वञ्चित रहा। यथार्थ स्थिति आज नहीं, तो कल अवश्य ही प्रकट हो जायगी।

×                      ×                      ×  
अच्छा, तैने रामसे मित्रता क्यों की थी ? इसीलिये न कि वह भी मुझसे मित्रता करे। फिर यदि उसके रुपये माँगनेपर तूने उसे मना कर दिया और अब वह तुझसे प्रेम नहीं करता तो झींकता क्यों है ? कारण कि मित्रता करनेमें तेरा भी तो स्वार्थ था।

तू चाहता क्या है ? यही न कि तेरे पास क्षुद्र हृदयके मनुष्य न आयें। यह तो बड़ी सहज बात है, अपने मनसे तू क्षुद्रताको निकाल दे। क्षुद्र आदमी फिर तेरे पास भी न फटकेंगे। चारेको देखकर ही चिड़ियाँ आती हैं। जब चारा ही न होगा तो चिड़ियाँ अपने-आप लौट जायँगी, उन्हें भगाना भी न पड़ेगा।

×                      ×                      ×  
रे मन ! जब तू सैकड़ों बार जलेबियोंको खाकर भी फिर उन्हें खानेकी इच्छा रखता है, कल भरपेट भोजन करके भी आज फिर उसी भोजनको चाहता है, नित्य एक ही प्रकारके पानीको दिनमें कई बार पीता है तो फिर धर्मोपदेशोंकी इस पोथीको देखकर तू नाक सिकोड़कर यों क्यों कहता है—‘इसे तो मैं पढ़ चुका हूँ’।

×                      ×                      ×  
जब तू दूसरोंके मनोभावोंको झटसे समझ जाता है, तब क्या तुझे विश्वास है कि दूसरे लोग तेरे मनोगत भावोंको न समझ सकेंगे ? यदि ऐसी ही बात है तो तू दूसरोंसे लगाव-लपेटकी बातें क्यों करता है ? स्पष्ट क्यों नहीं अपने मनोगत भावोंको प्रकट करता ?

×                      ×                      ×  
मधुमक्खी चाहे जितना भी सुन्दर, स्वादिष्ट और मीठा मधु एकत्रित क्यों न कर ले, फिर चाहे उससे दूसरोंका उपकार ही क्यों न होता हो, दीपककी जलती हुई लौमें

प्राण निछावर करना पतंगके ही हिस्सेमें आया है। लाख प्रयत्न करनेपर भी मधुमक्खीमें वह शक्ति नहीं आ सकती।

×                      ×                      ×  
भगवान् बुद्धने एक मृत व्यक्तिकी लाशको देखकर अपने सारथिसे पूछा, ‘छन्दक ! यह कौन है ?’ छन्दकके यह कहनेपर कि ‘प्रभो ! यह मृत प्राणी है, एक दिन सभीकी यही गति होगी’, वे राज्य-पाट छोड़कर जंगलोंमें चले गये।

श्मशानके समीप लकड़ी बेचनेवाला मनुष्य भी सैकड़ों आदमियोंकी लाशें देखता है। उसे सिवा अपने पैसोंके किसी दूसरी बातकी चिन्ता ही नहीं। सभी मनुष्य बुद्धके जैसे हृदयवाले थोड़े ही होते हैं !

×                      ×                      ×  
कालिदासकी स्त्रीने जब देखा कि ‘मेरा पति मूर्ख है’, तब उसने उसका तिरस्कार किया। कालिदासके हृदयमें चोट लगी और जब वह पूर्ण विद्वान् होकर घर आया, तब उसने अपनी स्त्रीको मुँह दिखाया।

सैकड़ों स्त्रियाँ अपने मूर्ख पतियोंका तिरस्कार करती हैं। परंतु न तो वे सभी कालिदास-जैसे विद्वान् हो गये, न तुलसीदास-जैसे सुहृद् भक्त महात्मा ! संसारके लोग बाहरकी घटनाओंको ही देखते हैं, भीतर कैसी ज्योति जल रही है, इसे भला, वे जान ही कैसे सकते हैं ?

×                      ×                      ×  
नाटक खेलनेवाले अपने खेलको पहलेसे ही ठीक किये रहते हैं; उन्हें जो खेल करने होते हैं, उन सबकी जानकारी रहती है। वे किसी भी घटनाको नयी नहीं समझते; किंतु अन्य दर्शकगण सभी घटनाओंको कुतूहलकी दृष्टिसे देखते हैं। वे देखते हैं कि इस समय यह खेल हो रहा है, सहसा दूसरा होने लगा। जिसे वे सहसा कहते हैं, नाटकवालोंके लिये वह निश्चित पुरानी घटना है।

इसी प्रकार हम संसारमें प्रतिदिन घटित होनेवाली घटनाओंको देखकर उसे अकस्मात् हुई कहने लगते हैं। जिसे हम अकस्मात् कहते हैं, वह सर्वान्तर्यामीके लिये निश्चित और साधारण-सी बात है।

रे मन ! जब तेरा बनाया हुआ आजका ही कार्यक्रम जैसा तू चाहता है, वैसा नहीं होता, तब फिर उसके कार्यक्रमके चक्करमें पड़ना तेरे लिये व्यर्थ ही है।



[ ११ ]

दूसरोंमें तू जिन गुणोंको देखकर प्रसन्न होता है, यदि वे ही गुण तेरे नित्य-नैमित्तिक जीवनके साथी बन जायें तो फिर तेरी प्रसन्नताका क्या ठिकाना रहेगा ।

जितनी ही प्यारी वस्तुका बलिदान किया जायगा, उसके बदले उतनी ही, बल्कि उससे भी प्यारी वस्तुकी प्राप्ति होगी ! बलिदानका महत्त्व वस्तुसे नहीं, किंतु हृदयसे जाना जाता है ।

तू अपनी तर्कनाशक्तिके द्वारा इस विश्व-ब्रह्माण्डके नियन्ताको जानना चाहता है ? तुझे पता नहीं कि जिसने इस विश्वको सृजा है, वह असली तर्कका उद्गम-स्थान है ! उसके तर्कके सामने तेरे तर्कका उतना ही महत्त्व है, जितना अनन्त जलराशिके सम्मुख एक छोटे-से जलकणका । उतने तर्कको ही पाकर तू उस तर्क-निधिकी थाह लेना चाहता है । वावले ! तू भूल रहा है ! यदि तू यथार्थमें कुछ जानना ही चाहता है तो तर्कका आश्रय छोड़, हृदयका पला पकड़ । हृदयसे कुछ अनुभव कर भी सकता है । उसमें प्रेमको स्थान दे, भक्तिसे वह बँध सकता है !

तेरा सिद्धा यदि खरा है तो तू भले ही चोरोंमें भी जाकर उसका व्यवहार कर; तुझे धोखा कभी नहीं होनेका ! यदि तुझे अपने सिद्धेके खरे होनेमें स्वयं ही संदेह है तो बात दूसरी है ।

धर्मा, शील, प्रेम, शिष्टाचार आदि सद्गुणोंका प्रयोग हम सबके साथ बिना किसी भेद-भावके कर सकते हैं । सचाईसे कोई भी मुँह नहीं मोड़ सकता । यह बात दूसरी है कि वह स्वयं भले ही इसका उपयोग न करे; किंतु इसकी उपयोगितामें कोई भी आपत्ति नहीं करनेका ।

किसी वस्तुमें महत्त्व थोड़े ही है, उसके उपयोगमें ही महत्त्व है । प्रेमानन्दकी बात सुननेको लोग क्यों लालायित रहते हैं ? इसीलिये न कि वह अपनी वाणीका व्यर्थ उपयोग नहीं करता ।

तूने अपने जीवनमें कितने आदमियोंको मरते देखा है और कितनोंको जन्मते ? बहुतोंको न ! तब फिर क्या तुझे विश्वास नहीं कि एक दिन तुझे भी कालके गालमें जाना है ? यदि हाँ, तो इस निश्चयको तू दिनमें कितनी बार स्मरण करता है ?

संसारके सभी कार्य करते समय यदि तुझे इस निश्चयका स्मरण बना रहे तो फिर तुझसे बुरे काम कभी हो ही नहीं सकते ।

जिस हृदयमें प्रेम है, उसमें लोभ कहाँ ! प्रेमी प्रेम करते समय धन नहीं देखता, विद्या नहीं देखता, बुद्धि नहीं देखता, कुल नहीं देखता, उच्च-नीचका विचार नहीं करता, अन्तिम परिणामकी ओर वह दृष्टिपात नहीं करता । वह तो देखता है खाली हृदय । जहाँ वह शुद्ध, स्वच्छ और प्रेमसे परिपूर्ण हृदय देखता है, वहीं बिना कुछ आगा-पीछा किये टूट पड़ता है । प्रेमीके हृदयको अपने हृदयमें मिलाकर एकीभाव कर लेता है ।

अरे महत्त्वाकाङ्क्षा रखनेवाले सज्जन ! ओ महापुरुष बननेकी इच्छावाले पुरुष ! जरा ठहरकर हमारी दो बातें सुनता जा, तब आगे बढ़ना ।

देखना, खूब समझ-सौचकर कदम बढ़ाना । बड़ी-बड़ी बाधाएँ वेप बदलकर तेरे सामने आयेंगी, उनकी बातोंमें बहक मत जाना । उनमें सार कुछ भी नहीं है, खाली प्रलोभन भर है ।

‘एक बार विषयका भी आनन्द लेना चाहिये । संसारमें थोड़ा-थोड़ा सभीका अनुभव करना चाहिये ।’—ये दलीलें तुझे गिरानेके लिये ही हैं । विषयोपभोगोंमें रत हुए मनुष्योंमेंसे तैने किसीको सुखी पाया है ? यदि नहीं, तो फिर अनुभूतका क्या अनुभव करना ? पैसेको और क्या पीसना ? आगे बढ़ ।

‘जब कुछ है ही नहीं, तो त्याग किसका करें ?’—ये जालके भीतरके दाने हैं । तुझे जाल नहीं दीखता, खाली दानोंको ही देखकर तू उनपर गिरना चाहता है ! अरे ! वस्तुओंके छोड़नेको ‘त्याग’ थोड़े ही कहते हैं । वस्तुओंको त्यागकर भी बहुत-से अत्यागी बने हुए हैं । अनेक जन्मोंकी जो वासनाएँ तेरे अंदर भरी हुई हैं, असलमें उन्हींको तो छोड़ना है । उनके लिये यह आवश्यक नहीं है कि चौबीसों घंटे तू विषयोपभोगकी सामग्री जुटानेमें ही लगा रहे । उनके छोड़नेके लिये एकान्तमें निरन्तर अभ्यासकी आवश्यकता है ।



पका आम प्रयत्न करनेपर भी पेड़में लगा नहीं रह सकता । वह अपने-आप ही वहाँसे अलग हो जायगा, दूसरे लोग स्वतः ही उसके द्वारा आनन्दका उपभोग करेंगे । जो प्रबल वायुके झोंकोंसे अथवा किसीके संसर्गसे बिना पके ही गिर पड़ेगा, वह या तो दूसरोंके दाँत खट्टे करेगा अथवा सड़कर दुर्गन्धि उत्पन्न करेगा; उसकी तीसरी कोई गति नहीं । पके आमकी भाँति वह अपना स्थानापन्न छोड़ जानेकी शक्ति भी नहीं रखता ।

ओ परोपकारकी डींग मारनेवाले पुरुष ! तू देवालय, पुस्तकालय, अनाथालय और विद्यालयोंके लिये सर्वदा ऊँचे-ऊँचे भवन बनानेकी चिन्तामें व्यर्थ ही क्यों व्यस्त रहता है ? तुझे यदि सचमुच ही कुछ परोपकार करना है तो उस परोपकार-निधि सच्चे प्रभुका पल्ला जाकर क्यों नहीं पकड़ता ? सच्चेके आश्रयमें रहकर तू भी सच्चा हो जायगा । फिर यदि तैंने आचार्य बनकर एक भी सत्-शिष्य तैयार कर दिया तो मानो तैंने हजारों विद्यालय बनवा दिये । विद्यालयकी ये कच्ची ईंटें तो एक दिन नष्ट भी हो जायँगी, किंतु तेरा सत्योपदेश कभी नष्ट नहीं होनेका ।

ओ विरागी ! तू अपनी एक स्वतन्त्र कुटिया बनवाकर कुटियाकी चिन्तासे मुक्त होना चाहता है, यह तेरा खाली भ्रम है । एक कुटियाकी चिन्ता मिटते ही तुझे लाखों दूसरी चिन्ताएँ आकर घेरने लगेंगी । लिपवाई, पुताई, बनवाई, भोजन-रक्षा, अतिथियोंकी चिन्ता तथा अनेकों व्याधियाँ तुझे आ घेरेंगी । इससे तू और भी अधिक चिन्तातुर हो जायगा ।

अरे ! इस विश्व-ब्रह्माण्डमें प्रभुके बनाये असंख्यों स्थान पड़े हैं, उनमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर उस चिन्तासे मुक्त होनेका प्रयत्न कर कि जिस चिन्ताके पीछे ये सांसारिक प्राणी नाना प्रकारकी यातनाओंको भोग रहे हैं ।

साधक, सावधान ! द्रव्यके रूपमें, मित्रके रूपमें, खाद्य-पदार्थोंके रूपमें, प्रशंसा और बड़ाईके रूपमें वे ही हरि तेरी परीक्षा लेनेके निमित्त आते हैं । ये तुझे मुलावा देनेके लिये रूप धारण किये हैं । यदि तू इन मुलावोंमें न पड़ा तो भक्तवत्सल हरि स्वयं ही अपना असली स्वरूप तुझे दिखायेंगे ।

नवशिक्षित साधक ! तेरे निकट मित्र-दोस्त आते हैं तो उन्हें देखकर तू क्षुब्ध मत हो; उन्हें तू साक्षात् पुरुषोत्तम समझ, प्रेमपूर्वक उनकी पूजा कर, अर्चना और वन्दना कर । कल्याणकारी प्रभु तेरा उसीमें कल्याण करेंगे और तुझे आगेका पथ वे स्वयं बतायेंगे ।

आत्मारथी ! जब तेरा इस बातपर पूर्ण विश्वास है कि वे प्रभु दयाके सागर हैं, तो तू आगेकी चिन्ता क्यों करता है ? अनन्य भावसे उनका ही आश्रय ग्रहण कर; फिर चाहे वे किसी ओर क्यों न ले जायँ ।

ओ उपदेशक ! यदि तेरे उपदेशोंमें कुछ भी सचाई है तो उसे प्रकाशित करनेके निमित्त तुझे लोगोंकी खुशामद नहीं करनी होगी । घासके ढेरके अंदर रखी हुई अग्नि जिस प्रकार आप-से-आप प्रकाशित हो जाती है, उसी प्रकार तेरा सत्य भी स्वयं ही प्रकट हो जायगा ।

रे मन ! जब तुझे कोई कार्य करना होता है तो तू फटसे यह दलील उपस्थित कर देता है कि 'जब सब परमात्माकी इच्छासे ही हो रहा है, तब फिर मेरा अहंकृत-भाव कहाँ रहा ?' बात ठीक है, किंतु इस बातकी भी कसौटी है कि कौन-सा काम स्वतः ही परमात्माकी इच्छासे हुआ है । इसकी पहचानके दो अस्त्र हैं—हर्ष और विषाद ।

संयोग और वियोग परमात्माकी इच्छासे ही होते हैं, यदि संयोगमें तुझे सुख और वियोगमें विषाद हुआ तो समझना चाहिये, अहंकृत-भाव अभी मौजूद है ।

सुख और दुःख सभी परमात्माकी इच्छासे होते हैं । यदि सुखमें हर्ष और दुःखमें विषाद उत्पन्न हो तो समझ लेना चाहिये कि अभी अहंकृत-भाव बना ही हुआ है ।

अच्छे और बुरे—सभी काम परमात्माकी प्रेरणासे ही होते हैं । अच्छे कामोंको करते हुए प्रसन्नता हो और वह भाव उत्पन्न हो कि 'ऐसा अच्छा काम मेरे ही द्वारा हो रहा है' इसी प्रकार कोई बुरा कार्य हो जाय तो उससे चिन्तमें खेद हो कि 'ऐसा बुरा कार्य मैंने क्यों किया' तो समझ लेना चाहिये कि अभीतक अहंकृत भावने पिण्ड नहीं छोड़ा ।



‘इस कामके करनेसे लोग मेरी प्रशंसा करेंगे और  
अबुक्त काम मैंने किया तो न जाने लोग क्या कहेंगे ?’—कार्यके  
आरम्भ करनेके पूर्व यदि ये भाव हृदयमें उत्पन्न हों, तो  
समझ लेना चाहिये कि अहंकार अस्त्र-शस्त्र लिये हमारे  
सिरपर खड़ा हुआ है।

× × ×  
‘महाराज ! आप धन्य हैं, आपके सभी कार्य श्लाघ्य  
हैं। यह बड़ा ओछा आदमी है, ढोंग बनाये घूमता रहता  
है। इसके पेटमें कतरनी चलती रहती है।’—इन पृथक्-  
पृथक् दो तरहकी बातोंको सुनकर जिसके हृदयमें दोनोंके  
सम्बन्धमें अलग-अलग दो तरहके भाव उत्पन्न हों तो  
समझ लेना चाहिये कि हमारा निरभिमान बननेका विचार  
भी अहंकार-मूलक है।

× × ×  
‘अरे ! महाराज ! आप कहाँ बैठ गये, आपके लिये तो  
वह उचासन खाली पड़ा है।’ ‘जहाँ तुम्हारी तबियत आये,  
बैठ जाओ। तुम कोई घनासेठ थोड़े ही हो ! उधर बड़े  
आदमियोंके बैठनेकी जगह है, उधर न जाने पाओगे।’  
इन दो प्रकारके सत्कारवाक्योंको सुनकर यदि आपके हृदयकी  
गति दो ओर एक-दूसरेके प्रतिकूल बहती है तो समझ लें  
कि अभी अहंकार-अहिका विष पूर्णरीत्या नहीं उतरा है।

× × ×  
‘अरे राम ! इस वेपसे यदि मैं गया तो लोग क्या कहेंगे ?  
अबुक्त स्थानमें मुझे खूब बन-ठन कर जाना चाहिये—  
इन शब्दोंमें स्पष्टतया बनावटकी बू है। बनावटको ही ‘अहंकृति’  
कहते हैं।

× × ×  
‘आपने अभी मुझे पहचाना नहीं, मैं कौन हूँ, जाओ  
अबुक्त कह दो, वे आये हैं।’ किसी अवस्था-विशेषको  
छेड़कर ये भाव अहंकार-सूचक हैं।

× × ×  
ओ उतावले उपदेशक ! अनुयायियोंके आगमनके  
निमित्त तू इतना अधिक उतावला क्यों होता है ? यदि तेरे  
पास उस प्रसानां रसःका कुछ भी सार होगा तो मधु-लुब्धक  
प्रभर तुझे गुप्त-से-गुप्त स्थानमें भी खोज लेंगे। जिसके पास  
कतरी है, उसके अस्तित्वके लिये पूछना नहीं पड़ता।  
उसकी सुगन्ध ही सुयोग्य ग्राहकोंको उसके अस्तित्वका  
पत्थर करा देती है।

‘इस प्रकारका आचरण यद्यपि उत्तम है, तथापि  
मुझे लोक-शिक्षार्थ इसे न करना चाहिये।’—यदि ऐसा भाव  
आये तो समझो, अहंकार अव्यक्तरूपसे अपना काम कर  
रहा है। नहीं तो अरे ओ पगले ! तू क्या लोक-शिक्षा कर  
सकता है ? शिक्षकोंका शिक्षक तुझे जिस प्रकारकी शिक्षा  
देगा, तुझे तो वही करना होगा। निमित्त होकर भी कर्ताका  
अभिमान करना, यही तो तेरी निजकी सम्पत्ति है और  
इसीके कारण तू प्रभुसे बहुत दूर पड़ा हुआ है।

× × ×  
‘चल हट, कहाँकी ज्ञान-गाथा बघारने लगा ! ऐसी  
सैकड़ों बातें मैंने लाखों बार सुनी हैं और अनेकों बार पुस्तकों-  
में पढ़ी हैं।’—यों कहनेवाले उस ज्ञानलवदुर्विदग्ध पण्डितको  
देखकर पागल बना हुआ ब्रह्मज्ञानी पुरुष कुछ मुस्कुराकर  
अपना रास्ता पकड़ लेता है।

तूने यदि कर्म, उपासना, ध्यान, जप, तप, संयम, तीर्थ,  
व्रत या अन्य उपायोंके द्वारा अपनेको अखिलेशके पाद-पद्मोंके  
पास पहुँचनेका अधिकारी नहीं बना लिया तो साक्षात् ब्रह्मासे  
भी यदि तेरी भेंट हो जाय तो उससे भी तेरा कुछ उपकार  
नहीं होनेका। यदि उपर्युक्त किन्हीं उपायोंसे तूने अपनेको  
अधिकारी बना लिया है तो रास्ता चलता गड़ेरिया भी  
तुझे ऊँचा उपदेश देनेके लिये पर्याप्त होगा।

× × ×  
यदि अहंकार उदय होता है तो उससे मोह मत कर;  
बस, फिर वह तेरा कुछ भी न बिगाड़ सकेगा। कंजूस  
मत बन, उदार बन जा। ज्यों ही अहंकार आये, झट  
उसे प्रभुके पाद-पद्मोंमें समर्पित करके उससे सदाके लिये अपना  
सम्बन्ध-विच्छेद कर ले। इस प्रकार मुक्तहस्त होनेपर फिर  
वह तेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

× × ×  
तुझे सचमुच यह जगत् गोरखबंधा-सा दीखता है, तब  
तो पड़े ! तुझे चिन्ता करनेकी कोई बात ही नहीं रह गयी।  
इसी भावको दृढ़ कर ले। यह भाव जहाँ दृढ़ हुआ नहीं  
कि फिर बेड़ा पार ही समझना।

× × ×  
यदि तेरे पास भाव हैं तो पगली भाषा हाथ बाँधे तेरे  
सामने खड़ी रहेगी और यदि कोरी भाषा ही भाषा है,  
उससे चाहे भोले-भाले हिरन डरकर भले ही भाग जायँ,



किंतु चालाक बँदरीसे उस बनावटी आदमीद्वारा खेतकी रक्षा होनी असम्भव है ।

× × ×

तेरे पास यदि धन है और किसीको उसकी अत्यन्त आवश्यकता है तो तू उसे निःसंकोच दे डाल; जिसने पहले तुझे दिया था, वही आगे भी देगा ।

× × ×

वह यदि मानी है, मानकी इच्छा रखता है तो तू उसे सम्मान-प्रदान क्यों नहीं करता ? अभिमानीसे तू बचता है; इसका अर्थ तो यही है कि तू मानका लोभी है । जो दोष तू उसे लगाता है, तुझमें भी उसका अभाव नहीं है ! कंजूस सबके सामने अपने रुपयोंकी बात नहीं कहता; उसे इस बातका सदा भय बना रहता है कि 'ऐसा न हो, कोई मुझसे माँग बैठे ।' यदि तू सबके सामने उदार बनना चाहता है तो मानीको सबसे अधिक सम्मान प्रदान कर । कारण, वह इसके लिये उत्सुक है ।

× × ×

जो तुझसे सम्मानके इच्छुक नहीं हैं, जो तुझसे खाली प्रेमकी इच्छा रखते हैं, उनके गलेमें तू व्यर्थमें सम्मानका बोझ क्यों बाँध देता है ? अरे, उन्हें छातीसे लगा, गलेभर प्रेमसे मिल, उनके साथ दो मीठी-मीठी बातें कर, एकान्तमें उनसे अपनी कथा कह । उनकी पूछ । उनके साथ शयन कर, भोजन कर । उनसे यदि तूने भेद-भाव रक्खा तो समझेंगे कि तू प्रेमका पापी है ।

× × ×

चोरी करना पाप है, इसे तो चोर भी जानता है; किससे चोरी करना पाप है, इसे पोथीवाले पण्डित भी नहीं जानते । एकान्तमें स्थिर होकर मनसे पूछ, 'क्यों वे चोर ! तैने चोरी तो नहीं की ।' यह ऐसा चोर है कि सामनेसे चीज उठा ले जाता है और मालूम भी नहीं होने देता । मालूम होनेपर सैकड़ों दलील पेश करता है । इसकी दलीलोंकी परख करना ही असलमें सत्यता है ।

× × ×

जो तुझे सम्मानकी दृष्टिसे देखता है, एक दिन उसने ही तेरे किसी कार्यपर तुझसे घृणा प्रकट की तो उसी समय अपने मनके भावकी परख कर कि वह क्या विचार कर रहा है । यदि वह इसपर हँस रहा है तो समझ ले कि उसके

अंदर जगत्का मिथ्यात्वभाव परिपक्व हो चला है । यदि तुझे उस कार्यसे खेद हो रहा है और साथ ही अपमानपर दुःख भी होता है तो समझ ले कि मिथ्यात्ववाली बात केवल तोतेके मुखसे निकले हुए 'शम-नाम'के सदृश थी ।

× × ×

तू दूसरोंसे क्यों पूछता है कि 'मेरे सम्वन्धमें आपकी क्या राय है ?' अपनेसे सदा ही पूछता रह—'अरे ! मैं क्या कर रहा हूँ ?' बस, हो गया; इसके समान परखनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं है ।

× × ×

कोकिला घोर जंगलमें सुमधुर स्वर क्यों बोलती है ! मालतीका पुष्प अरण्यमें किसे रिझानेको खिलता है ? श्व सुखादु फल किस लालचसे देते हैं ? सूखी घास खाकर भी गौएँ मीठा दुग्ध किसके भयसे देती हैं ? जंगलमें मोर किसे प्रसन्न करनेको नृत्य करता है ? ऐसा करना इन सबका स्वभाव ही है । इसी प्रकार सत्-पुरुष किसीको दिखानेके लिये उत्तम कार्योंका अनुष्ठान नहीं करते; उत्तम कार्य करना और सबके साथ सद्-व्यवहार करना उनका स्वाभाविक ही गुण है ।

× × ×

तेरे पास यदि कोई स्वार्थ-बुद्धिसे आता है तो तू उससे घृणा मत कर । तुझसे जहाँतक हो सके, उसकी सहायता ही कर । यदि तू भी इस बातकी इच्छा रखता है कि 'कोई भी आदमी मेरे पास निःस्वार्थ भावसे आये', तब तो तू भी स्वार्थी ही हुआ । फिर तुझमें और उसमें अन्तर ही क्या है ।

× × ×

आखिर तू चाहता क्या है ? कीर्ति और सम्मान ! इनके पानेका तैने उपाय क्या सोच रक्खा है ? दूसरोंकी निन्दा ! तब तो असम्भव है । बकरीके बदले हाथी तुझे कौन देगा ? यदि तू सम्मान चाहता है तो दूसरोंको तू जितना भी दे सकता है, सम्मान दे । उसके बदलेमें वे तुझे सम्मान प्रदान करेंगे और तेरी कीर्तिका प्रचार करेंगे ।

× × ×

रे मन ! तू विश्वासी बनना चाहता है या अविश्वासी ! यदि विश्वासी बनना चाहता है तो भविष्यकी चिन्ता छोड़ दे । कारण, निन्ता और अविश्वास पर्यायवाची शब्द ही हैं ।



× × ×  
 तू जरा धैर्य धारण करके मेरी बातें सुन तो तुझे सब कुछ बताऊँ। अच्छा तू स्मरण कर कि आज तैंने कितने काम सोचे थे, कितने मनसूवे बाँधे थे। उनमेंसे कितने तेरे पूरे हुए? तेरी प्रबल इच्छा होनेपर भी अमुक-अमुक काम क्यों नहीं हो सके? इससे विदित होता है कि तू इच्छा करनेमें मरको है, कार्य तो कोई दूसरा ही करना चाहता है, बर्बाद करता है। जब तू परतन्त्र ही है, जब तेरे मन-चिन्ते काम होते ही नहीं, तब व्यर्थमें आगेकी चिन्ता करनेके श्रममें क्यों पड़ता है? अपनेको सर्वतोभावेन स्वामीके चरणोंमें समर्पण क्यों नहीं कर देता?

× × ×  
 जब कोई तेरी झूठी बुराई करे, तब तू खुश हो; कारण, बुराई करनेवाला तुझे बड़ा समझता है और स्वयं अपनेको निर्बल। निर्बल मनुष्य जब सबल मनुष्यका कुछ विगाड़ नहीं सकता और बहुत खोजनेपर भी उसमें कोई बुराई नहीं पाता, तब विवश होकर झूठी ही बुराई करनेपर उतारू हो जाता है।

× × ×  
 जाड़ेकी औषध अग्नि है। भूखकी औषध भोजन।  
 पिपासाकी औषध पय है।  
 उष्णताकी औषध शीतलता है।  
 क्रोधकी औषध विचार है।  
 अहंकारकी औषध अपमान है।  
 कामकी औषध विषयोंमें दोष-दृष्टि है।  
 लोभकी औषध दान है।

× × ×  
 संसारके प्रत्येक पदार्थपर छाप लगी हुई है। जिस वस्तुपर जिसकी छाप लगी होगी, वह उसे अवश्य ही प्राप्त होगी और जिसपर दूसरेकी छाप है, वह लाख प्रयत्न करनेपर भी उसे नहीं मिल सकती। फिर व्यर्थ ही चिन्ता क्यों करता है? तेरे सामने जो वस्तु आवे, उसके सम्बन्धमें उसी समय सोच ले कि न जाने इसपर किसकी छाप है।

भजन किसे कहते हैं? सत्यके अनुसंधानको।  
 सत्यका क्या स्वरूप है? जिसमें भयका लेश भी न हो।  
 भय क्यों होता है? अविश्वाससे।  
 अविश्वासकी उत्पत्ति कैसे होती है? प्रेमके अभावमें।  
 प्रेम कब हो सकता है? जब द्वैधीभाव मिट जाय।  
 द्वैधीभाव मिटनेपर क्या होता है?  
 त्याग करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।  
 त्यागका परिणाम क्या है? शान्ति।  
 शान्तिके सरल और संक्षिप्त उपाय क्या हैं?  
 प्रेम, त्याग, विश्वास और अद्वैत-भावना।

× × ×  
 ग्राह्य क्या है? चार वस्तु ग्राह्य हैं।  
 कौन-कौन-सी? श्रद्धा, शील, सहानुभूति और सत्य।  
 त्याज्य क्या है? चार वस्तु त्याज्य हैं।  
 कौन-कौन-सी?  
 पद, प्रतिष्ठा, पैसा और सांसारिक सुखोंकी इच्छा।  
 'यति' किसे कहते हैं? समय जिसके सदा साथ रहता हो।  
 यतियोंके लिये अत्यन्त त्याग्य वस्तु क्या है?  
 विषय-वासनाओंका चिन्तन।  
 जीवनका चरम लक्ष्य क्या है?  
 प्रभुके पादपद्मोंका निरन्तर सेवन।  
 प्रभुके पास पहुँचनेका एकमात्र उपाय क्या है?  
 सरलता और सत्य-सेवन।  
 जीवनमें सरलता किस प्रकार आ सकती है?  
 सत्-असत्के विवेकसे।  
 'सत्' क्या है और 'असत्' किसे कहते हैं?  
 जो अक्षर है, वही 'सत्' है और जो क्षर है, वह 'असत्'।  
 क्षर-अक्षरकी कसौटी क्या है?

जिसके नाशकी कल्याण हो सके, वह 'क्षर' और जिसके नाशकी कल्याण भी न हो सके, वही 'अक्षर' है।  
 संसारके यावत् पदार्थ हैं, सभी तो नाशवान् हैं।  
 इसीलिये सभी असत् हैं।  
 फिर 'सत्' क्या रहा?  
 जो इन सबके बाद शेष रहा, वही तो 'सत्' है।  
 संसारके बाद तो कुछ भी शेष नहीं रहता!  
 बस, जिसे 'कुछ भी नहीं' कहते हो, वही 'सत्' है।



# श्रद्धा विश्वमिदं जगत्

( लेखक—अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीगनिरुद्राचार्य वैकटाचार्यजी महाराज )

विश्व-शासनरूप वेदके आधारपर मिताक्षरोंमें श्रद्धा-तत्त्व-की मीमांसा की जाती है। 'श्रद्धा' शब्द देववाणी (संस्कृत) का है। संस्कृत भाषामें विश्वगत अन्य साधारण प्राकृत भाषाओंकी अपेक्षा यह विशेषता है कि वह अपने शब्दोंमें अर्थोंको सदा संनिहित रखती है—अर्थात् उसके शब्द और शब्दार्थ दोनों सदा सहचरित हैं; दूसरे शब्दोंमें उन दोनोंका नित्य-सम्बन्ध है। वह पश्चात् कल्पित नहीं है। अतः संस्कृत भाषाके शब्दोंके गहनतम अर्थोंको भी उनके निर्वचनोंद्वारा प्राप्त किया जा सकता है। संस्कृत भाषाको छोड़कर विश्वकी अन्य प्राकृत भाषाओंमें निर्वचन-प्रक्रिया और उसकेद्वारा अर्थोंका ग्रहण—इसपर इतना बल नहीं दिया गया है। संस्कृतमें इसके लिये एक विद्या-प्रस्थान ही स्वतन्त्र है, जिसका नाम 'निरुक्त विद्या' है।

## 'श्रद्धा' शब्दका निर्वचन दिया गया।

'श्रद्धा' शब्दके निर्वचन निरुक्त और वैदिक संहिताओंमें उपलब्ध हैं। इनमेंसे निरुक्तमें 'श्रद्धा' शब्दका भगवान् यास्कने 'श्रत्-धानात् श्रद्धा'—यह निर्वचन किया है। कृष्ण-यजुर्वेदकी कठ शाखामें 'श्रत् धत्ते इति श्रद्धा' निर्वचन किया गया है। दोनों निर्वचनोंके अर्थोंमें भेद है। अर्थ-भेदके होनेपर भी दोनों निर्वचन 'श्रत्' और 'धा'—इन दो शब्दोंसे निष्पन्न हैं।

## अर्थ-भेद

नैरुक्तोंके मतमें 'श्रद्धा' शब्दका अङ्गभूत 'श्रत्' शब्द सत्यरूप अर्थका वाचक है, कारण कि वैदिक निघण्टु ( ३ । १० ) में संगृहीत सत्यके वाचक 'वृत्', 'श्रत्', 'सन्ना', 'अद्धा', 'इत्था', 'श्रुतम्'—इन नामोंमें एक नाम 'श्रत्' भी है। 'धा' धातु अधानका वाचक है। अतः 'श्रद्धा' शब्दका नैरुक्तोंके मतसे यह अर्थ हुआ कि "जो तत्त्व श्रद्धाताके मनका श्रद्धेय पदार्थोंमें विद्यमान सत्यके साथ आसञ्जन कर देता है, वह 'श्रद्धा' है।" श्रद्धेय पदार्थ सत्य—अमृतमय हैं। उनमें विद्यमान सत्यभागसे जो श्रद्धालु मनका संश्लेष कर दे, वह 'श्रद्धा' है।

'कठ' शाखामें 'श्रत्' शब्द जलमें प्रविष्ट पार्थिव-आग्नेय प्राणका वाचक है, जिसका 'पवमान' भी नामान्तर

है। 'धा' धातु धारणरूप अर्थका बोधक है। अतः वेदके अनुसार "जो तत्त्व 'श्रत्' नामक अग्निको धारण करे, वह 'श्रद्धा' है।" यह अग्नि सौम्य होनेसे आसञ्जनधर्मा है। इसके माध्यमसे श्रद्धाताको आत्मा अथवा मनका श्रद्धासदके साथ आसञ्जन (ग्रन्थि-बन्धन) हो जाता है।

'जैमिनीय ब्राह्मण'में—'श्रद्धा' को सूर्यकी छः प्रकारकी कलाओंमें एक कला माना है, जो प्रतिक्षण सूर्यसे विशकलित होकर पदार्थोंमें प्रविष्ट होती रहती है। इस सौरकलाका कार्य भी एक पदार्थका अन्य पदार्थके साथ ग्रन्थि-बन्धन कर देना है। अतः 'जैमिनीय ब्राह्मण' के मतानुसार "जो सौरकला श्रद्धालुकी आत्मा अथवा मनके साथ श्रद्धेयके गुणोंका ग्रन्थि-बन्धन कर दे, वह 'श्रद्धा' है।" कारण, यह कला सौम्या है। सोम स्नेहधर्मा है। स्नेह आसञ्जन (आसक्ति) करता है। 'किं बहुना' श्रद्धासे श्रद्धाताकी आत्माके साथ श्रद्धेयके गुणोंका ग्रन्थि-बन्धन हो जाता है।

## श्रद्धाका स्वरूप

इस प्रकार वेदकी शाखाओं एवं नैरुक्तोंके मतानुसार श्रद्धाके दो-तीन लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। अब वह 'श्रत्-आधाता' श्रद्धा-तत्त्व कौन है, इसका निर्णय वेदके आधारपर किया जाता है। श्रद्धा-तत्त्वके स्वरूपका वर्णन करते हुए 'ऐतरेय ब्राह्मण' का कथन है—'आपो वै श्रद्धा' अर्थात् जलतत्त्व 'श्रद्धा' है। यहाँ 'आपः' शब्दसे स्थूल भौतिक जलका ग्रहण नहीं है, अपितु सूक्ष्म जलका ग्रहण है। अतः आकाशमें परिव्याप्त सूक्ष्म चान्द्रजल 'श्रत्' (अग्नि अथवा सत्य) को धारण करनेके कारण 'श्रद्धा' कहा जाता है। यह श्रद्धारूप जल इस विश्व-प्रपञ्चके दो मूल कारणोंमें अन्यतम उपादान (मूल) कारण भी है; अतः 'तैत्तिरीय ब्राह्मण'में कहा गया है—'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्' अर्थात् श्रद्धा-तत्त्व ही इस विश्वके आकारमें परिणत हो गया है। दूसरे शब्दोंमें तेज और स्नेह—ये दो तत्त्व विश्वके उपादान (मूल) कारण हैं। इनमें तेज अग्नि है। स्नेह सोम है। यह सोम तत्त्व ही 'श्रद्धा' है।



## चार प्रकारके जल

‘आपो वै श्रद्धा’ इस वैदिक वचनके अनुसार अप-तत्त्व (जलतत्त्व) ‘श्रद्धा’ है। वह अप-तत्त्व ‘अम्भः’, ‘मरीचि’, ‘आपः’ भेदसे वेदोंमें चार प्रकारका माना गया है। इनमें सूर्यके ऊपरका जल ‘अम्भः’ है। यह अम्भ-नामक जल ही गङ्गाजल है। सौर रश्मियोंके संघर्षमें उत्पन्न और रश्मिस्थ अग्निधर्मा जल ‘मरीचि’ है। यही यमुनाजल है। अतएव ‘यमुना’ सूर्यकन्या है। पार्थिव मूर्च्छित अप-तत्त्व ‘मर’ है। इसकी मूर्च्छनाका नितरां विकास मरुदेशमें है। चान्द्र-सौम्य अप-तत्त्व ‘आपः’ है। यही ‘श्रद्धा’ है।

## अध्यात्म-संस्थामें चार प्रकारके जल

हमारी अध्यात्म (शारीरिक) संस्थामें भी इन चार प्रकारके सूक्ष्म और दिव्य जलोंकी स्थिति है। इनमें प्राणतत्त्वके साथ ‘अम्भः’ जलका अर्थात् गङ्गाजलका सम्बन्ध है। बुद्धितत्त्वके साथ ‘मरीचि’ जलका, अर्थात् यमुना-जलका सम्बन्ध है। शरीरसे पार्थिव ‘मर’ जलका सम्बन्ध है और मनसे चान्द्र जलरूप श्रद्धाका सम्बन्ध है। अतः जिस प्राणीके मनमें चान्द्ररस (श्रद्धा) का जितना अधिक विकास होता है, वह प्राणी उतना ही श्रद्धालु होता है। अथर्ववेदमें श्रद्धालु प्राणीको सुभग और श्रद्धालुको ‘दुर्भग’ कहा गया है। प्राणीमें अश्रद्धा-भावका कारण चान्द्ररसका मनमें विकास न होना ही है।

## मनमें श्रद्धा-तत्त्वका अवतार

मनमें श्रद्धा-तत्त्वकी संक्रान्ति और प्रतिष्ठाके प्रकारका निर्देश वेदोंमें इस प्रकार है—‘चन्द्र’ सोमसे अन्न उत्पन्न होता है। अन्नसे मन उत्पन्न होता है। चन्द्रमा श्रद्धा-तत्त्वसे घन है। इससे उत्पन्न अन्न भी श्रद्धा-तत्त्वसमय है। अतः अन्नसे उत्पन्न मन भी श्रद्धा-तत्त्वसमय है। अर्थात् मनमें श्रद्धा प्रतिष्ठित है। मन विषयोंके साथ सम्बद्ध हो जाता है, इसका एकमात्र कारण श्रद्धातत्त्व ही है। कितने ही अन्न दिव्यभावापन्न हैं, कितने ही आसुर-भावापन्न हैं। श्रद्धा-रस अपने स्वरूपसे शुद्ध होता है। अतः अन्न-संसर्गसे तद्भावापन्न हो जाता है। अतः जन्मके संस्कार, इस जन्मका संसर्ग, अन्न-सम्बन्ध, विद्या, देश और काल आदिकी परिस्थिति आदि भाव श्रद्धाके स्वरूपके सम्पादक हैं।

तबम्बर ५—

## श्रद्धाके दो भेद

श्रद्धा चान्द्र-जलरूपा है। चन्द्रमा प्रकाश और अन्धकार दोनोंसे युक्त है। प्रकाशयुक्त चन्द्रमा ‘चन्द्र’ है। अन्धकार-आवृत चन्द्रमा ‘वृत्र’ है। प्रकाशयुक्त चान्द्र-जल दिव्य जल है। अन्धकारयुक्त चान्द्रजल कृष्णजल है। जिसके मनमें प्रकाशमय दिव्य जलोंका प्राकट्य है, उसके मनका ग्रन्थि-बन्धन दिव्यशक्तियोंके साथ हो जाता है। कारण, उसकी श्रद्धा प्रकाशमयी है। जिसके मनमें वृत्रमय (अन्धकारमय) जलोंका प्राकट्य है, उसके मनका ग्रन्थि-बन्धन अदिव्य शक्तियोंके साथ हो जाता है। कारण, उसका श्रद्धातत्त्व तमोमय है। यह अन्धश्रद्धा है। तमोमय अन्धश्रद्धा ही ‘अश्रद्धा’ है।

श्रद्धा और अश्रद्धाके विषयमें अथर्ववेदके ‘श्रद्धासूक्त’ में गहन विवेचन है। इन दोनोंके विषयमें अथर्व-संहिताका कथन है—‘अश्रद्धामनृतेऽधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः’ अर्थात् ‘मनरूप प्रजापतिने अश्रद्धासे आत्माका अनृत भावोंमें आधान किया और श्रद्धासे सत्य भावोंमें।’ तमोभावापन्न श्रद्धा-रस ‘अश्रद्धा’ है। अश्रद्धा ही अन्धश्रद्धा है। श्रद्धा एक प्रकारका रस है। वह जब अन्धकारसे युक्त हो जाता है, तब ‘अश्रद्धा’ अथवा ‘अन्धश्रद्धा’ कहलाता है। आसुर भावापन्न आगम (शास्त्र), जल, शिक्षा, पूर्वजन्मके संस्कार, इस जन्मका संसर्ग आदिसे सम्पृक्त श्रद्धारस ही अन्धश्रद्धा है। मनमें विकसित अन्धश्रद्धा अनृतभावमें आसन्न करती है, अर्थात् अनृतभाव-प्रधान, शास्त्र-विरुद्ध सुरा, अप्सरा, नृत्य और गान आदिमें मनका संश्लेष कराती है। इसके विपरीत श्रद्धा सत्य-भाव, सदाचार, दान, संयम, यम, नियम, व्रत, परोपकार और मर्यादा आदिमें मनका संश्लेष कराती है।

## श्रद्धा और स्त्री

मानवोंकी अपेक्षा मानवियोंमें श्रद्धा-तत्त्वका विकास अतिमात्रामें है। इसका कारण यह है कि मानवका निर्माण अग्निसे होता है, अतः वह आग्नेय है, स्थिर है। मानवीका निर्माण प्रकृतिने सोमतत्त्वसे किया है, अतः वह सौम्या है, अस्थिरा है। किसी भी वस्तुमें आसन्नके लिये अध्यात्ममें श्रद्धाके उद्रेककी आवश्यकता है। ‘आपो वै श्रद्धा’ के अनुसार श्रद्धा अप-तत्त्वरूपा है, जलतत्त्वरूपा है। ‘आपो द्रवाः स्निग्धाश्च’—इस कणाद-सिद्धान्तके अनुसार जल-तत्त्वका



प्रवाहित और स्निग्ध होना स्वाभाविक है। मानवी सौम्या है—अर्थात् जलतत्त्वसे उसका निर्माण होता है। अतः प्रकृति-साम्यके कारण उसमें अतितरा विकास होना निसर्ग-सिद्ध है। इसलिये उनका प्रवाहित होना और वस्त्वन्तरमें आसक्त हो जाना प्रकृति-सिद्ध है।

### श्रद्धा और दोषोंका अदर्शन

श्रद्धाके बिना किसी भी वस्तु अथवा भावका आत्मामे सम्बन्ध नहीं हो सकता। श्रद्धाके द्वारा उस वस्तु अथवा भावका आत्मामे सम्बन्ध हो जाता है। यद्विषयणी श्रद्धा होगी, मन उस विषयसे भावनाके द्वारा सम्बन्ध जोड़ लेता है।

श्रद्धालु मानव श्रद्धेयमें कभी दोषान्वेषण नहीं कर सकता; कारण, श्रद्धास्पदमें विद्यमान दोषोंके प्रति उसकी दृष्टि ही नहीं जाती। यदि कदाचित् दोष दृष्टिगत हुए भी तो उनको वह गुणरूपमें परिणत कर लेता है। श्रद्धाके इस निसर्गके कारण ही आध्यात्मिक तत्त्वचिन्तकोंने 'दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकधारणं श्रद्धा ।'—यह लक्षण किया है। इस परिस्थितिमें इस श्रद्धा (अन्धश्रद्धा) देवीकी कृपासे शास्त्रविरुद्ध कार्य उपादेय एवं अभ्युदय-प्रवर्तक कार्य उन अन्धश्रद्धालुओंकी दृष्टिमें बाधक बन रहे हैं। अतः श्रद्धाके साथ सदैव तर्करूप प्रकाशकी आवश्यकता शास्त्रमें बतायी गयी है।

### श्रद्धाके भेद

अथर्ववेदमें विद्यमान 'श्रद्धासूक्त'के आधारपर श्रद्धाके 'श्रद्धा' और 'अश्रद्धा'—इन दो भेदोंका वर्णन ऊपर किया गया। परंतु सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके भेदसे श्रद्धाके तीन भेद भी शास्त्रोंमें उपलब्ध होते हैं। यह पुनः-पुनः कहा जा चुका है कि श्रद्धा एक प्रकारका चान्द्रस है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण सर्वत्र व्याप्त हैं। किसी भी पदार्थमें ये तीनों न रहें, यह असम्भव है। इन तीनोंके सम्पर्कसे श्रद्धाके भी तीन विभाग हो जाते हैं। इनमें सात्त्विकी (प्रकाशमयी) श्रद्धा अध्यात्म-संस्थाके अभ्युदय और निःश्रेयससे सम्बन्ध रखती है, राजसी श्रद्धा लौकिक व्यवहारोंकी प्रतिष्ठा बनती है और तामसी (अन्धश्रद्धा) असद्वृत्तिरूप अश्रद्धाके साथ युक्त होकर सर्वनाशका कारण बनती है। अश्रद्धाका स्वरूप असद्वृत्ति है। अर्थात् असद्वृत्ति ही अश्रद्धा है।

### अश्रद्धाके तीन दोष

अन्धश्रद्धारूपा अश्रद्धाके दशदोष, धृतिदोष और स्वप्नदोष नामक तीन पुत्र हैं। अर्थात् अन्धश्रद्धारूपा अश्रद्धामे मानव अथवा मानवीमें इन दोषोंका संक्रमण हो जाता है। इनमें दशप्राणमूलक तमोमय प्राकृतिक दोष 'दशदोष' है। धृतिप्राणमूलक रजस्तमोमय आगन्तुक दोष 'धृतिदोष' है और स्वप्नप्राणमूलक रजोगुणमय तात्कालिक दोष 'स्वप्नदोष' है।

### दशदोष

कितने ही व्यक्ति जन्मसे ही दोष देखने और परनिन्दा-प्रवृत्तिके आचार्यपदपर विराजमान रहते हैं। उन्हें परदोषान्वेषणसे लाभ अथवा हानि न दीवनेपर भी उनका यह स्वभाव होता है। यही स्वाभाविक दोष 'दशदोष' है। इस दोषका दशप्रजापतिमें नितरां विकास था, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवतके चतुर्थस्कन्धमें किया गया है। गन्धर्वराज पुष्पदन्ताचार्यरचित शिवमहिम्नस्तोत्रके 'क्रिया-दक्षो दक्षः' वाक्यमें इसी दशदोष और उसके प्रियपात्र दक्षका निर्देश है।

### धृतिदोष

कितने ही मानव स्वभावतः सरल होते हैं। पर इनके पार्श्ववर्ती महानुभाव निरन्तर इनपर दोष-मीमांसाका प्रभाव डाला करते हैं। कालान्तरमें इस सङ्गवृत्तिसे उनमें भी दोषदर्शन-वृत्ति उद्बुद्ध हो जाती है। यही आगन्तुक संसर्ग-दोषजनित दोष 'धृतिदोष' है।

### स्वप्नदोष

कतिपय व्यक्ति अज्ञानके कारण परिस्थितिका परिज्ञान न होनेसे कुछ-का-कुछ समझकर दोष-दर्शनके अनुगामी बन जाते हैं। प्रज्ञाभारामूलक यही दोष 'स्वप्नदोष' है।

इन तीनों दोषोंमेंसे एक भी दोषवृत्तिके आ जानेसे मानवका मन दोषदर्शनानुकूल वृत्तिका उपासक बन जाता है। अतः जो सात्त्विकी वृत्ति इस दोषदर्शनानुकूल वृत्तिके रोककर मानवमनको गुणदर्शनकी ओर प्रवृत्त करे, वह 'श्रद्धा' है। यह अध्यात्ममें मनका वृत्ति-विशेष है। मन में इस वृत्तिका उदय भी आधिदैविक श्रद्धा-रसके विकास से ही होता है। जब इस वृत्तिका मनमें विकास हो जाता है, तब जिस श्रद्धेयके साथ इसका अन्तर्यामि-सम्बन्ध हो जाता है, उस श्रद्धेयके दोषोंपर श्रद्धालुकी दृष्टि नहीं जाती।



देरी जाती है तो उसके दोष भी गुणरूपेण प्रतीत होने लगते हैं। ‘श्रद्धा वा आपः’ के आधारपर ऊपर श्रद्धा को ‘आपः’ कहा गया है। अनुपद में प्रस्तुत ‘श्रद्धा’ के लक्षण-‘आपः’ कहा गया है। अतः श्रद्धातत्त्व के रहनेपर उत्पन्न सदृष्टिको भी ‘श्रद्धा’ कहा गया है। केवल मानसिक सदृष्टिरूपा ही श्रद्धा है, यह मानना अज्ञान है। कारण, श्रद्धा एक प्रकारका तत्त्व है, जो विश्वके दो मूल कारणोंमें अन्यतम कारण है। मानव-मनमें इसके विकाससे ही सदृष्टिरूपा श्रद्धा की उत्पत्ति होती है। अतः सदृष्टि भी श्रद्धा है; किंतु सदृष्टि ही श्रद्धा है, यह मत अशुद्ध है। इसके माननेपर ‘श्रद्धा विश्वमिदं जगत्’ के सम्बन्धमें क्या कहा जायगा।

### दर्शनोंमें श्रद्धा

दर्शनशास्त्रोंमें भी श्रद्धाविषयक गहन गम्भीर चर्चा है। श्रद्धाके कतिपय दार्शनिक लक्षण यहाँ दिये जाते हैं। योगदर्शनकी व्याख्यामें श्रद्धाका लक्षण यह किया गया है—‘श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः’ अर्थात् चित्तकी निर्मलता ‘श्रद्धा’ है। ‘श्रद्धा वा आपः’—इस वैदिक श्रद्धाके स्वरूपके साथ इस यौगिक श्रद्धाके स्वरूपका दर्शन करें तो श्रद्धाका लक्षण यह होगा कि मनमें विद्यमान प्रकाशमय दिव्यजल ‘श्रद्धा’ है। दूसरे शब्दोंमें, प्रसन्न मन ‘श्रद्धा’ है। योगदर्शनके मतमें श्रद्धा श्रद्धालुकी मातृवत् कल्याण-कामिनी होकर रक्षा करती है। बौद्ध विद्वान् वसुबन्धुने ‘अभिधम्मकोश’में श्रद्धाका लक्षण ‘चित्तिविशुद्धिः श्रद्धा’—यह किया है। श्रद्धाका यह लक्षण ‘योगदर्शन’में उपलब्ध श्रद्धाके लक्षणसे सङ्गतार्थ है। अतः परम्परया यह लक्षण भी श्रद्धाके वैदिक लक्षणका अनुवादमात्र है। ‘स्याद्वाद’ दर्शनके ‘तत्त्वार्थसूत्र’में श्रद्धाका लक्षण ‘सत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्-दर्शनम् (१।२)’—यह किया गया है। सम्यक्-दर्शन एक प्रकारका प्रकाश है। अर्थात् उद्दीप्त प्रकाश श्रद्धा है। श्रद्धाका यह श्रामण लक्षण भी ‘चन्द्रांशवः श्रद्धा’ इस वैदिक लक्षणका ही अनुवादमात्र है। ‘तत्त्वार्थ-सूत्र’की व्याख्यामें उमास्वामिकृत श्रद्धाकी व्यापकताका यह यशोगान अप्रवेदमें उपलब्ध ‘श्रद्धा विश्वमिदं जगत्’—इस मन्त्रकी छायामात्र है। चार्वाक-दर्शनका श्रद्धाके विषयमें आवेदन है कि “तर्कालोकेसे आलोकित श्रद्धा-रस, ‘श्रद्धा’ है।” वह सम्पूर्ण सौभाग्य और अभ्युदयोकी जननी है; परंतु तर्कालोकेसे वञ्चित श्रद्धा ‘अन्धश्रद्धा’ है, जो सब

दुर्भाग्यों और विनाशोंकी जननी है। मानव इसीकी उपासनामें अधिक संलग्न हो जाता है और ऐसे आन्ध-बहुल मतोंका आविष्कार करता है, जो चिरकालतक विश्वके लिये अभिशाप बने रहते हैं। अतः इस पथपर चलना पाप है।

### आगमोंमें श्रद्धा

आगमोंमें भी श्रद्धातत्त्वका तलस्पर्शों विवेचन उपलब्ध होता है। कृष्णयजुर्वेदके सत्यापाद-श्रौतसूत्रका श्रद्धाके विषयमें निर्णय है कि “अभितः प्रसरणशील चान्द्रश्मियों-में स्थित आसन्नधर्मा पवित्र जल ‘श्रद्धा’ है।” अध्यात्ममें मन ही चन्द्रमा है। अतः मनःस्थित जलको भी ‘श्रद्धा’ माना गया है। साहित्यशास्त्रका श्रद्धाके विषयमें निर्णय है कि “मनरूपी पात्रमें चान्द्रजल है। यही प्रेम-पदार्थ है। इसका ईश्वर, देवता, गुरु आदिके प्रति प्रवाहित होना ‘श्रद्धा’ है।” चन्द्रमाकी रश्मियोंमें विद्यमान सूक्ष्म सौम्य जल ‘श्रद्धा’ है। इसका अध्यात्ममें—मनमें विकास होता है; अतः पाञ्चरात्रकी पौष्करसंहिताका आवेदन है—‘मनः श्रद्धा’ अर्थात् ‘मन ही श्रद्धा है।’

### पुराणोंमें श्रद्धा

पुराण-ग्रन्थोंमें भी श्रद्धाकी विपुल चर्चा है। इनमें लिङ्ग-पुराणका श्रद्धाके विषयमें आवेदन है—‘अव्यक्तं श्रद्धा’ अर्थात् ‘प्रकृति श्रद्धा है।’ श्रद्धाका यह लक्षण आधिदैविक श्रद्धाका है। यह लक्षण ‘श्रद्धा विश्वमिदं जगत्’—इस वैदिक मन्त्रके आधारपर किया गया है। अधिदैवतमें पुरुष-प्राण मनु है। स्त्री-प्राण मानवी है। अध्यात्ममें मन ही मनु है। इसका वृत्तिविशेष मानवी है। यही श्रद्धा है। इसका विशेष विवेचन अनुपदमें ही होगा। मानसवृत्ति-विशेष मानवीरूप श्रद्धा ‘इदमित्थमेव’ इस प्रकारसे अभिलाप किया जाता है। यही अध्यात्ममें श्रद्धा है। ‘अखण्डादर्श’ नामक ग्रन्थका कथन है कि ‘श्रद्धा एक प्रकारकी सौम्य अग्नि है। इसका वर्ण (रंग) गोक्षीरवत् है। इसका प्राकट्य अध्यात्ममें मनमें होता है। इसके माध्यमसे सूक्ष्म पदार्थोंके साथ श्रद्धालुके मनका आसन्न होता है। श्रद्धारूपी प्रकाश अतीन्द्रिय सूक्ष्म पदार्थोंके अवलोकनका साधन है।’

### वेदज्ञोंके मत

श्रद्धाके विषयमें अनेक वेदज्ञ विद्वानोंने भी अनेक मतमेदोंके साथ इसकी चर्चा की है। इनमें वेदार्णवके पारहस्य,



वेदज्ञोंमें मूर्धन्य श्रीमधुसूदनजी ओझा महोदयका, मैत्रायणी शाखामें उपलब्ध 'आपो वै श्रद्धा'—इस वचनके आधारपर 'अभिल्याति' नामक ग्रन्थमें कहना है कि—'सर्वजगदुपादानभूताः सूक्ष्माः काश्चिदापः श्रद्धा इत्युच्यन्ते।' अर्थात् 'सब जगत्के उपादानभूत सूक्ष्मजल 'श्रद्धा' शब्दसे परिभाषित हैं।' वेदके आधारपर उनका कहना है कि 'शुष्क' और 'आर्द्र'भेदसे विश्वके उपादान ( मूल ) दो तत्त्व हैं। इनमें आर्द्रतत्त्व सोम है। यह तत्त्व स्नेह-गुणक है। स्निग्ध पदार्थ सूत्रवत् तत हो जाता है। स्नेहगुण दूसरे पदार्थोंके साथ चिपक जाता है। अतः स्नेह-प्रधान आसाञ्जनभावके सूत्रको ही 'श्रद्धा' कहते हैं। ये श्रद्धा नामके जल प्राणरूपमें रहते हैं। इस श्रद्धामय प्राणसूत्रको 'अथर्वा' भी कहते हैं। इस प्राणसूत्रसे सम्बद्ध होनेके कारण ही पितृकर्म 'श्राद्ध' शब्दसे अभिहित होता है।

### श्रद्धा और श्राद्ध

इस श्रद्धासूत्रद्वारा निर्मित कियाको ही 'श्राद्ध' कहते हैं। वेदज्ञोंने श्राद्ध-शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया है। 'श्रद्धया-श्रद्धासूत्रेण क्रियते निष्पाद्यते इति श्राद्धम्।' यह श्रद्धासूत्र सात पिण्डों ( शरीरों ) तक व्याप्त रहता है। तदनन्तर यह क्षीण हो जाता है। सूतक और मृतक आशौच इस श्रद्धासूत्रके द्वारा ही सपिण्डोंमें संक्रान्त होता है।

### मनुकी पत्नी श्रद्धा

'आधिदैविक मनु', 'आध्यात्मिक मनु' और 'आधिभौतिक मनु' तथा 'पुरुषविध मनु' भेदसे मनु तीन-चार प्रकारके हैं। इनमें आध्यात्मिक मनु मन है। इस मनरूप मनुकी आध्यात्मिक श्रद्धा पत्नी है। सब स्थलोंमें श्रद्धाके समन्वयसे ही मनुद्वारा सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि होती है। मनु वृषा ( पुरुष )-प्राण है। श्रद्धा ( मनावी ) योषा ( स्त्री )-प्राण है। इन दोनोंके मिथुनभावसे ही सम्पूर्ण सृष्टि होती है।

### श्रद्धाका पुत्र काम

'श्रद्धा काममसूयत'—इस पौराणिक वचनके अनुसार काम ( कामना ) श्रद्धाका पुत्र है। भावसृष्टि, गुणसृष्टि और द्रव्यसृष्टि—इन तीनों सृष्टियोंमें कोई भी सृष्टि बिना मिथुनके नहीं होती, अतः कामनाकी सृष्टि भी मनरूपी मनु अपनी सौम्याशक्ति मनावी ( श्रद्धा )-के मिथुनभावसे

ही करते हैं। अतः कामनाओं ( संकल्पों ) के मनु पिता और मनावी ( श्रद्धा ) माता मानी गयी है। इस वाक्यके पुराणोंकी भाषामें 'श्रद्धा काममसूयत'से प्रकट किया गया है।

### श्रद्धादेव मनु

मनु श्रद्धाके अधिष्ठाता हैं—श्रद्धाके देवता हैं, श्रद्धाके पति हैं। अतः इनको शतपथमें 'श्रद्धादेव' नामसे अभिहित किया गया है। वेदका यह श्रद्धादेव मनु ही पुराणोंमें श्राद्धदेव मनु हो गया है।

### श्रद्धाके पिता मनु

पदार्थ-विद्यामें पति, पत्नी, दुहिता, पुत्र और पिता आदि भावोंमें सांकर्य है। पुरुष ही प्रकृतिकी आधारभूमि अर्थात् उत्पत्ति-स्थान है। दूसरे शब्दोंमें प्रकृतिरूपा शक्तिका विकास पुरुषके आधारसे ही होता है। सौर मनु पुरुष ( प्राण ) अपने ही भागसे श्रद्धाका विकास करता है। अतः शतपथका वचन है 'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता' अर्थात् श्रद्धा सूर्य ( सौर मनु )-की दुहिता है। उसके साथ मिथुनभावको प्राप्त करता हुआ सौर मनु सृष्टि भी करता है। अतः श्रद्धा मनु ( सूर्य )-की पत्नी भी है। सौरमण्डलमें तेजोरूपसे विकसित सौम्यरूप सर्वजगत्का प्रवर्तक यह श्रद्धा-तत्त्व ही मनुपत्नी 'मनावी' है।

### श्रद्धा-भावकी जागृति

अध्यात्ममें हमारा मन सोम ( चन्द्र )-से उत्पन्न होता है, अतः मन सोममय है। आकाशमें व्याप्त तरल सोम ही श्रद्धा है। जबतक मनमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तबतक किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती। पुरुषका मन भी श्रद्धामय है। 'आपो वै श्रद्धा' के अनुसार जल भी श्रद्धामय है। कार्यके आरम्भमें यदि जलसे सम्बन्ध हो जाता है तो पुरुषमें श्रद्धाभाव जाग्रत् हो जाता है। जाग्रत् श्रद्धासूत्रसे मनुष्यके मन, प्राण और वाक्—इन तीनोंका दिव्य प्राण-देवताओंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। वह भी देवोंमें अल्पतम देव बन जाता है। यजमानके दिव्य आत्माके साथ भी देवों और मनुष्योंकी आत्माका ग्रन्थि-बन्धन हो जाता है। इस रहस्यका आवेदन ही 'येत्तेय ब्राह्मण' में 'आपो ह्यस्यै श्रद्धां संनयन्ते पुण्याय कर्मणे' इस रूपमें किया गया है। अर्थात् 'आचमनरूप जल इस यजमानके मनमें प्रतिष्ठित श्रद्धातत्त्वको उद्दीप्त करता है, जिससे इसका पुण्यकर्मके साथ ग्रन्थि-बन्धन हो जाता



११]

किसी भी शुभानुष्ठानके आरम्भमें आचमन करनेका भी नहीं रहस्य है।  
किसी भी कारणसे इस श्रद्धा-तत्त्वके अभिभूत होनेपर मनच बल-उत्साह-रहित होकर अकर्मण्य बन जाता है।  
रमानसमें राजस्थानके निवासी आज भी यह अभिलाष करते हैं कि 'आज मेरी श्रद्धा नहीं है।' अर्थात् मैं आज श्रद्धातत्त्वके अभिभूत हो जानेपर किसी भी कार्यके सम्पादनमें असमर्थ हूँ—अकर्मण्य हूँ।

### श्रद्धाके तीन विवर्त

प्रकृति-विवेचनका फलितार्थ यही है कि इस श्रद्धा-तत्त्वके—आधिदैविक श्रद्धा', 'आध्यात्मिक श्रद्धा' और 'आधिभौतिक श्रद्धा'—भेदसे तीन विवर्त ( रूप ) हैं।  
इसमें आकाशमें व्याप्त तरल चान्द्रजल आधिदैविक श्रद्धा

है। मनमें विद्यमान चान्द्रजल आध्यात्मिक श्रद्धा है। मनमें इसके विकाससे एक मानस भाव उत्पन्न होता है, जिसका स्वरूप शास्त्रकारोंने 'दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धक-धारणं श्रद्धा' यह बताया है। यह भाव भी श्रद्धा है। इसके उदित होनेपर शास्त्र-गुरु आदिके वचनोंमें 'स्तव-मिदम्' आदि मानस भाव उत्पन्न होते हैं। ये श्रद्धाके शाब्दरूप हैं। पदार्थमात्रमें विद्यमान आसञ्जनधर्मा स्नेह आधिभौतिक श्रद्धा है। इसके सहयोगसे ही विश्वमें धातु, उपधातु, पुष्प, फल, पराग और रत्न आदिकी उत्पत्ति होती है। अकर्मण्यताकी नाशिका और कर्मण्यताकी उद्भाविका इस श्रद्धासे हम अथर्ववेदके 'श्रद्धासूक्त' में प्रयुक्त 'श्रद्धे श्रद्धाय येह नः' प्रार्थना करते हैं। अर्थात् 'हे श्रद्धे देवि ! आपके अनुग्रहसे हम कर्मण्य बने रहें।'

## मानवके लिये सबसे बड़ा खतरा

( लेखक—पं० श्रीगङ्गाशंकरजी 'मिश्र', एम्० ए० )

मानवके लिये सबसे बड़ा खतरा आज 'परमाणु बम' या 'हाइड्रोजन बम' नहीं, स्वयं मानव है। आज चारों ओर विज्ञानका चमत्कार दिखलायी दे रहा है। मनुष्यका दावा है कि वह रोगोंको जीतता और मृत्युको दूर करता जा रहा है। भौतिक जन-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें इसपर विज्ञान अवश्य वर्ण कर सकता है, परंतु क्या उसने मानवको सुधारने-की ओर भी कुछ किया है ? अपने यहाँके शास्त्रोंमें भी यह कहा गया है कि प्रत्येक वनस्पति ओषधि है, प्रत्येक वर्ण मानव है; आवश्यकता है केवल योग्य तथा उपयुक्त प्रयोक्ताकी। सब कार्योंका प्रयोक्ता मानव ही है, पर उसे सच्चे अर्थमें मानव बनानेके लिये क्या किया जा रहा है ? विश्वके अनेक विचारक गम्भीरतापूर्वक यह सोच रहे हैं कि मानव पृथ्वीको जिस तेजीसे बर्बाद कर रहा है, वायुमण्डलको विषाक्त बना रहा है, उसे देखते हुए क्या किसी समय इस पृथ्वीपर कोई भी पशु-पक्षी वनस्पति या स्वयं मानव भी प्राण धारण करनेमें समर्थ होगा ? जनसंख्या बढ़ती जा रही है और जीवन-निर्वाहके साधन कम होते जा रहे हैं। यदि जनसंख्या इसी तरह बढ़ती गयी तो किसी दिन भूमि-पर मनुष्योंके लिये बसनेकी भी जगह नहीं रहेगी। हिसाब लगाकर देखा गया है कि केवल ढाई करोड़ वर्गमील बसने-योग्य भूमि है। पृथ्वीका लगभग तीन-चौथाई भाग जलाच्छादित

है, शेष भागोंमें भी मरुस्थल और हिमसे ढके हुए भू-खण्ड हैं। जो थोड़ी-बहुत भूमि खाद्य उपजानेके लिये उपलब्ध है, उसमें भी काट-छाँट हो रही है। इतना ही नहीं, औद्योगिक प्रगति भी मानव-जातिके लिये अन्ततः एक अभिशाप सिद्ध हो रही है। कूड़ेकी समस्या देखनेमें साधारण जान पड़ती है; पर यदि गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो उसके द्वारा होनेवाले खतरोंका अनुमान लगाया जा सकता है। ज्ञात हुआ है कि वर्षभरमें एक ओर औसत अमरीकी तीन-चौथाई टन कूड़ा पैदा करता है और उसकी इसमें प्रतिवर्ष तीन प्रतिशतके हिसाबसे प्रगति हो रही है। केवल लॉस एन्जलिस नगरमें प्रतिवर्ष एक करोड़, दो लाख वर्ग-फुट भूमि खोदकर कूड़ा उसमें दबाया जाता है। इससे भी उपजाऊ भूमिकी कमी हो रही है। प्रतिवर्ष संसारमें ४८ अरब अलुमिनियमके डिब्बे और फेंके जाते हैं। यदि इस कूड़ेको जलाया जाय तो वायुके विषाक्त होनेका भय है। अमेरिका और ब्रिटेनमें रूढ़ी कारों (मोटर-गाड़ियों) को चूरा करके भूमिमें गाड़नेकी नौबत आ गयी है। बड़े-बड़े कारखानोंद्वारा जल और वायुको, जिनका शुद्ध रहना स्वस्थ जीवनके लिये आवश्यक है, गंदा बनाया जा रहा है। कहा जाता है कि अमेरिकामें ९ करोड़ टन विपैले तत्त्व कारखानों तथा गृहस्थोंद्वारा वायुमण्डलमें छोड़े जाते हैं।



ब्रिटेनमें ७५ लाख टन विष प्रतिवर्ष वायुमें धुलता है। वायुमण्डल और जलको विपाक्त बनाकर हम स्वयं एक नवीन खतरा उत्पन्न कर रहे हैं। उससे पशु-पक्षी भी सुरक्षित नहीं रह सकते, फिर मानवका तो कहना ही क्या? कहा जाता है कि वनस्पतियों और पशु-पक्षियोंमें भी नये नये रोग देखनेमें आते हैं। धीरे-धीरे शहरोंका विस्तार हो रहा है और गाँव उनके पेटमें समाते जा रहे हैं। शहरोंका जीवन कल-कारखानोंपर निर्भर करता है; पर वे जलवायुको कितना दूषित करते हैं, इसपर ध्यान नहीं दिया जाता। इन कल-कारखानोंसे बड़े-बड़े शहरोंपर हर समय एक धुआँ छाया रहता है, जिससे स्वास्थ्यको भारी हानि पहुँचती है। वायु शुद्ध करनेके जो उपाय बतलाये गये हैं, वे बड़े खर्चाले हैं और वे भी प्रभावकारी हैं या नहीं, इसमें संदेह है। इससे दूषित होकर वायु मानव-जीवनको कितनी हानि पहुँचाता है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। मनुष्यने मशीनोंका आविष्कार किया, पर अब वह स्वयं उसका शिकार बनता जा रहा है। एक उदाहरण सामने है। स्वचालित यन्त्रोंका मनुष्यने आविष्कार किया, पर अब वह उसीकी प्रगतिमें बाधक बन रहा है। अब यह माना जा रहा है कि उससे बेकारी बढ़नेकी आशङ्का है—‘रोग बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की’—यह कहावत चरितार्थ हो रही है। इन सब उदाहरणोंसे यही सिद्ध होता है कि मानव स्वयं ही अपने विनाशकी ओर अग्रसर हो रहा है। उसका ध्यान अपने सुधारकी ओर नहीं है। वैज्ञानिक प्रगतिके लिये तो प्रयत्न किये जाते हैं, अपार धनराशि खर्च की जाती है; पर मानवको मानव बनानेकी ओर क्या हो रहा है? सचमुच आज मानव-अस्तित्वके लिये सबसे बड़ा खतरा मानव ही है।

हालमें ही ‘संयुक्तराष्ट्रसंघ’का एक प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ है, जिसमें चेतावनी दी गयी है कि ‘मनुष्य-संसारके नगर तथा मानवोंके कार्य शीघ्र ही इस पृथ्वीको ऐसा बना देंगे, जिससे वह रहनेयोग्य ही न रह जायगी।’ यह निष्कर्ष वैज्ञानिक सर्वेक्षणपर आधारित है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह प्रतिवेदन ६६ पृष्ठोंका है। उसमें बतलाया गया है कि ‘मनुष्य जैसे-जैसे सभी दिशाओंमें विकास कर रहा है और अधिकतम सुविधाएँ जुटा रहा है, वैसे-ही-वैसे वह पृथ्वीको मनुष्योंके रहनेयोग्य न रखकर अनेकानेक कष्टोंका कारण बना रहा है।’ इस आवेदनमें मानवकी परि-

स्थितियों तथा उनसे उत्पन्न समस्याओंकी विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। उसमें बतलाया गया है कि ‘भीड़-भाड़ अधिक होने, नगरोंमें बसनेकी प्रवृत्ति तथा प्राविधिक पिछड़े-पनके कारण उक्त संकट उत्पन्न हो सकता है।’ यह प्रत्यक्ष है कि आजकल गाँवोंके लोग नगरोंकी ओर दौड़ रहे हैं। नगरोंकी आबादी बढ़नेसे उनके प्रमुख मार्गोंमें सुरक्षित रूपसे चलना भी एक समस्या हो गयी है, यातायात-दुर्घटनाओंके समाचार प्रायः प्रतिदिन आते रहते हैं, जिनमें १०-५ निरदोष व्यक्ति कालका कलेवा बन जाते हैं। उद्योगोंके विकासपर बड़ा जोर दिया जा रहा है, पर हर समय चलनेवाली मशीनोंसे निकलनेवाले गंदे पानी एवं दुर्गन्धपूर्ण वायुसे सारा वातावरण दूषित हो रहा है। मकानोंकी कमी तथा स्वास्थ्य एवं सफाईकी समस्या भी विकट रूप धारण करती जा रही है। गाँवोंमें जो सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिये, वे नहीं हो रही हैं। गत दिसम्बरमें राष्ट्रसंघकी महासभाने यह आदेश दिया था कि १९७२में अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन आयोजितकर इस प्रश्नपर विचार किया जाय कि जिस संसारमें हम रहते हैं, उसपर जन संख्या-वृद्धि (भू-रक्षण) आदि समस्याओंका समाधान किस प्रकार किया जाय। इसके फलस्वरूप जो आँकड़े तथा तथ्य उपस्थित किये गये हैं, उनसे पता लगता है कि स्थिति कितनी गम्भीर है। अनुभव किया गया है कि जब नयी पीढ़ीके लोग अवकाश ग्रहण करेंगे, तब जनसंख्या दुगुनी हो जायगी। इसके प्रतिकूल जो भूमि हमें अब देती है, उसमें कमी होती जा रही है। अबतक एक अरब एकड़ खेतीयोग्य भूमि क्षरण अथवा लवणसे खराब हो गयी है। भूमिको उपजाऊ बनानेका प्रयास किया जा रहा है। इन साधनोंका विना सोचे-समझे जिस प्रकार प्रयोग किया जा रहा है, उससे कहीं भूमिकी उर्वरता ही समाप्त न हो जाय। अपने यहाँ गोबरकी खादसे काम लिया जाता था, इससे भूमिको उर्वरता नष्ट नहीं होने पाती थी। परंतु अब उसके स्थानपर विदेशी अथवा भारतमें ही बने रासायनिक उर्वरोंपर जोर दिया जा रहा है। इनके प्रयोगके सम्बन्धमें विदेशी वैज्ञानिकोंने भी हमें सावधान किया है। राष्ट्रसंघके उक्त प्रतिवेदनमें बतलाया गया है कि ‘दो-तिहाई वन-भूमि हम खो चुके हैं। जीव-जगतमें इसके कारण बड़ी तेजीसे परिवर्तन हो रहा है। अनुमान लगाया गया है कि इसके कारण पशु-पक्षियोंकी १५० जातियाँ समाप्त हो गयी हैं। नगरोंकी आबादी बढ़ने-



का हमारे समस्त जीवनपर प्रभाव पड़ता है। गंदी वस्तियोंका वित्तार, अपराधोंकी वृद्धि, लूट-मार तथा हत्याकी प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं। राष्ट्रसंघके उक्त प्रतिवेदनमें जो चेतावनी दी गयी है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसपर विचार करनेके लिये राष्ट्रसंघद्वारा सन् १९७२में एक विश्व-

सम्मेलन बुलाया जा रहा है। उसका प्रतिवेदन बड़ा महत्वपूर्ण होगा और उससे मानव-कल्याणमें कुछ सहायता मिलेगी। यह प्रश्न किसी एक देशका नहीं, समस्त विश्वका है। इसके प्रतिवेदनकी प्रतीक्षा उत्सुकतापूर्वक की जायगी।

## ‘मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे’

( लेखक—श्रीरामनाथजी ‘सुमन’ )

संसारको देखनेके दो प्रकार हैं—मित्र-दृष्टिसे और द्वेष-दृष्टिसे। ऋषि कहते हैं—

‘मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।’

( शुक्ल० य० )

अर्थात् हमलोग मित्रकी दृष्टिसे संसारको देखें। यह उपदेशकी वाणी नहीं है, यह युगोंके अनुभवकी वाणी है। जितना ही तुम दूसरोंसे प्रेम करोगे, दूसरोंसे जुड़ते जाओगे, उतने ही सुखी होगे; और जितना ही दूसरोंको द्वेष-दृष्टिसे देखोगे, उनसे कटते जाओगे, उतने ही दुखी होओगे। यह जुड़ना ही प्रेम है, यह जुड़ना ही आनन्द है। यहाँ पराया कोई नहीं; जो हैं, अपने हैं। मित्रताभरी आँखोंसे देखकर तुम मित्रोंकी संख्या बढ़ाओगे; वे अपने हो जायेंगे और न भी हुए तो उनके परायेपनकी धार कुंद पड़ जायगी।

ईसाइयोंमें एक सम्प्रदाय है—वेस्लिथन मेथडिस्ट ( Wesleyan Methodist ) सम्प्रदाय। इसके संस्थापक जॉन वेस्ली ( John Wesley ) ने कहीं लिखा है। ‘छाँक-भर प्रेम से भर जानसे कहीं अच्छा है। प्रेम ज्ञानसे अच्छा तो है ही, एक अर्थमें वह स्वयं ज्ञान है तथा सच्चे ज्ञानका उद्गमस्थल है। संत ग्रेगोरी ( St. Gregory ) ने कहा है—‘समस्त ज्ञानकी उत्पत्ति प्रेमसे होती है।’ गेटे ( Goethe ) ने भी कहा है—‘परिश्रमसे जो काम सारी उम्रमें कठिनाईसे होता है, वह प्रेमके द्वारा एक क्षणमें हो जाता है।’

मित्रताकी आँख अर्थात् प्रेमकी आँख और अमित्रताकी आँख अर्थात् द्वेषकी आँख। पहलेसे धरती स्वर्ग बनती है; दूसरेसे दुर्व्यवहार, दुर्वचन, अहंकार, अतः नरकका जन्म होता है।

महाभारतके आदिपर्वमें एक छोटी-सी कथा है। पञ्चाल

देशके राजा यज्ञसेनका पुत्र द्रुपद पढ़नेके लिये भरद्वाजके आश्रममें गया। वहाँ वह बहुत दिनोंतक रहा और उसने अनेक प्रकारकी विद्याएँ सीखीं। आश्रममें रहते हुए मुनि-पुत्र द्रोणसे उसकी खूब मित्रता और घनिष्ठता हो गयी। आश्रमसे विदा होते समय द्रुपदने द्रोणसे कहा—‘यदि तुम कभी हमारे देशमें आओगे तो हम तुम्हारा हर तरहसे सम्मान करेंगे और तुम्हें अपना कुलगुरु बनायेंगे।’ कुछ समय बाद यज्ञसेनकी मृत्यु हो गयी और द्रुपद राजा हुए।

उधर उसके सहपाठी द्रोणका भी समयपर गौतम-पुत्री कृपीके साथ विवाह हो गया। इस विवाहसे अश्वत्थामाका जन्म हुआ। इन दिनों द्रोण बड़ी तंग स्थितिमें थे, उनकी आर्थिक अवस्था शोचनीय थी—यहाँतक कि वे अपने पुत्रको दूध भी न दे सकते थे। बालक अश्वत्थामा अपने साथियोंको दूध पीता देखकर स्वयं भी दूधके लिये हठ करता था, किंतु द्रोण अपनी निर्धनताके कारण अपने प्यारे पुत्रकी इच्छा-पूर्ति करनेमें असमर्थ थे। बालकको बहलानेके लिये उसकी माँ कृपी पानीमें बोले हुए आटेको दूध कहकर उसे पिला देती थी। वह अपने साथियोंसे जाकर कहता—‘मैं भी दूध पीकर आता हूँ, किंतु साथी बालक उसका उपहास करते हुए कहते—‘तुमको दूध कहाँ मिलेगा ? पानीमें घुले आटेको तुम दूध कहते हो ?’ इस अपमानसे क्षुब्ध होकर अश्वत्थामा एक दिन अपने पिताके पास गया और रोते हुए ये सब बातें उसने उन्हें सुनायीं। सुनकर पिताका हृदय उमड़ आया, उनकी आँखें भीग गयीं और उन्होंने सहधर्मिणीसे कहा—‘अब मुझे नहीं सहा जाता; अब तो मुझे कोई उपाय करना ही होगा।’

सोचते-सोचते द्रोणको अपने बाल-सखा द्रुपदद्वारा दिये हुए आश्वासनकी याद आयी। वे पञ्चाल देशकी ओर चल पड़े।



वहाँ पहुँचनेपर जब वे राजा द्रुपदके सामने लाये गये, तब उन्होंने अनजान बनकर इनका परिचय पूछा। जब इन्होंने पुरानी बातोंकी याद दिलाकर कहा कि 'आश्रममें तुम हमारे घनिष्ठ मित्र थे और तुमने मुझसेकुछ प्रतिज्ञा भी की थी', तब द्रुपदने कहा—'राजा और याचककी कैसी मित्रता ? मैंने तुमसे कोई प्रतिज्ञा नहीं की।' सुनते ही द्रोण उल्टे पाँव यहाँसे लौट आये और उनसे इस अपमानका बदला लेनेके लिये ही उन्होंने कौरव-पाण्डवोंको धनुर्वेदकी शिक्षा देना आरम्भ किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अर्जुनने मुश्कें बाँधकर द्रुपदको द्रोणके सामने उपस्थित किया।

प्रतिहिंसाकी जो लहर उठी, वह शान्त नहीं हुई; द्रुपदके इस अपमानका बदला उनके बेटे धृष्टद्युम्नने द्रोणका सिर काटकर लिया और फिर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने धृष्टद्युम्नको मारकर पितृ-ऋण चुकाया। सम्पूर्ण महाभारत इसी दुष्ट दृष्टिका परिणाम था।

ठीक इसके विपरीत उदाहरण कृष्ण-सुदामाका है। दोनोंके बीच ठीक वही सम्बन्ध था, जो द्रुपद और द्रोणके बीच था; किंतु जब सुदामा निर्धनताकी मारसे विकल हो श्रीकृष्णके पास पहुँचे, तब श्रीकृष्णने देखते ही दौड़कर उन्हें छातीसे लगा लिया। कवि तो कहता है कि अपनी अश्रुधारासे ही उन्होंने अपने बाल-सखाके पाँव धोये, अपने और मित्रके बीच कहीं वैभवको नहीं आने दिया। वे बराबर नम्रता और स्नेह ही उड़ेलते रहे तथा जो कुछ भी कर सकते थे, बिना मित्रके कहे ही उन्होंने कर दिया।

इन दोनों दृष्टान्तोंमें प्रकारान्तरसे वही मित्र-दृष्टि और द्वेष-दृष्टिके परिणामोंका निदर्शन है। मानव मानव होता ही तब है, जब वह प्रेमको मैत्रीकी दृष्टिको ग्रहण करता है। प्रेम ही जीवनका उत्स है, प्रेम ही उसका पथ है, प्रेम ही उसका गन्तव्य है।

जब ईसाने कहा था—'अपने शत्रुओंसे प्रेम करो', तब संसार उनकी बातपर हँस पड़ा था। जब बुद्धने कहा—'अक्रोधेन जयेत् कोधम्', तब आस्थाहीन लोगोंने उनका उपहास किया। जब गाँधीने कहा—'विरोधीके प्रति भी अहिंसक व्यवहार करो', तब लोगोंने सूखी हँसी हँस दी। आज भी प्रेमकी, क्षमाकी, अहिंसाकी, जीव-मैत्रीकी बातें करनेपर लोग सिर हिला देते हैं, कहते हैं, ये सब हवाई बातें हैं। परंतु प्रेम क्या सचमुच हवाई है ? यह ठीक है कि मनुष्यमें पशुताका अंश भी दिखायी पड़ता है; परंतु वह आरोपमात्र है। मनुष्यमें प्रेमका अंश उससे कहीं

अधिक है और यह बात इससे कहीं अधिक सत्य है कि प्रेम किये बिना मनुष्य जी ही नहीं सकता। जबतक वह प्रेम न करेगा, स्वरूपके दर्शन न कर सकेगा। आनन्द और रससे दूर जीवनके नरकमें भटकता ही रहेगा।

तुम किसीको शत्रु-दृष्टिसे देख सकते हो, तुम उसे बदला ले सकते हो, तुम उसे हानि पहुँचा सकते हो। परंतु ऐसा करके तुम आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते, सुखी नहीं हो सकते; क्योंकि उसको हानि पहुँचानेके पहले तुम अपनेको हानि पहुँचा चुकते हो; आत्मद्रोह कर चुकते हो। इसीलिये जब तुम ऊपरसे क्षणभरको उल्लसित हो उठते हो, तब भी अंदरसे अत्यन्त संतप्त, व्याकुल, अतृप्त और प्यासे रह जाते हो। सुख और आनन्दके लिये प्यारके लिये दूसरा रास्ता ही नहीं है। इसलिये जगत्में जितने महा-पुरुष हुए हैं, जितने संत हुए हैं, सब इसी प्रेम-मार्गकी ओर संकेत करते हैं। जिसे नीचेसे ऊपर उठना है, जिसे जीवनकी उच्च भूमिकापर पहुँचना है, जिसे सच्चे आनन्द और सुखकी खोज है, उसके लिये दूसरा रास्ता नहीं है।

सुकरातसे उसके किसी विरोधीने एक बार कहा था—'यदि मैं तुमसे बदला न ले सकूँ तो मर जाऊँ।' सुकरातने उत्तर दिया—'यदि मैं तुम्हें अपना मित्र न बना सकूँ तो मर जाऊँ।'।

आज संसार नरक हो गया है। सारी विद्या-बुद्धि, प्रगति और वैज्ञानिक उपलब्धियोंके होते हुए भी जीवन भाररूप हो गया है। ईर्ष्या-द्वेष और घृणाका अन्धकार फैलता ही जा रहा है। हमारा बहुत-सा दुःख दूसरोंके प्रति हमारे संशय और अविश्वाससे पैदा हुआ है। जिसे हम आँखोंकी कोरोंमें जरा-सी मुस्कानकी किरण फैलाकर अपना बना सकते हैं, जिसे हम अधरपर फूटे दो प्रेम-बोलोंसे जीत ले सकते हैं, उसे हम अपनी शङ्काळ दृष्टि, चट्टी हुई भौंहों और व्यङ्गके कटु शब्दोंसे दूर हटाते जा रहे हैं। सहानुभूतिके स्पर्शसे पत्थर द्रवित हो जाता है, प्रेमकी एक चितवन दुर्भावनाओंकी काईको काटकर सदाके लिये बहा देती है। वह हृदयमें सीधे प्रवेश कर वहाँ अपना घर बना लेती है। जब मन रससे भरा होता है, तभी हम आनन्दकी भूमिमें प्रवेश करते हैं; जब मानव स्नेहका दान करता है, तभी उसका जीवन सार्थक होता है। इसलिये जो आनन्द चाहता है, उसे अपने हृदय-कपाट खोल देने होंगे। क्या यह कठिन है ? क्या यह असम्भव है ? जरा भी नहीं। किंतु इसके लिये हमें दृष्टि बदलनी होगी। निश्चय कर लेना होगा कि



आजमे प्रतिदिन हम एक नया मित्र बनायेंगे, प्रतिदिन हृदयकी कोई-न-कोई गॉठ खुलेगी और हृदयमें पत्थर बनी रास्ता और कटुताकी अहल्याएँ मानवी बनती जायँगी। कठिनाई यह नहीं कि प्रेम दुर्लभ है; नहीं, वह संसारमें सबसे अधिक सुलभ है, प्रत्येक प्राणीमें उसे प्राप्त किया जा सकता है। किंतु कठिनाई यह है कि हम दिलका दरवाजा बंद किये बैठे हैं और पाहुन कुंडी खटखटाकर लौटते जाते हैं।

जरा हृदयके कपाट खोल दीजिये और प्रतिदिन सुबह उठकर निश्चय कीजिये कि आज आप एक नया मित्र बनायेंगे। इसकी खोजमें कहीं दूर जाना नहीं है। यह चलते हुए, अपने प्रतिदिनके सामान्य कामोंको करते हुए आप उसे पा लेंगे। आप चाहे जितने व्यस्त हों, आगतुकके लिये स्नेहभरी मुस्कान तो आप बिछा ही सकते हैं। चीजें खरीदनेके लिये आनेवाले ग्राहक, यात्राके लिये टिकट पानेको व्याकुल मुसाफिर, अकेली यात्रा

करती अशक्ति बहिन, रास्ता भूले यात्री, आफिसमें आपके पास कामसे आनेवाले आदमी, अध्ययनकी गतिधियोंमें उलझे हुए छात्र, दिनभरकी हारी-थकी गृहिणियाँ और द्वारकी ओर उत्सुकताकी दृष्टि बिछाये बच्चे, कष्टमे तड़पते रोगी, भूख-प्याससे शिथिल मानव—न जाने कितने रूपोंमें तुम्हारे स्नेह तथा सहानुभूतिके प्यासे भक्त बिखरे हुए हैं। केवल देखनेका साहस करो और बंद दरवाजे खोल दो। प्राणवायु को अंदर आने दो—प्रेमकी प्राणवायु, स्नेह और मित्रताकी जादूभरी वायु; वस, तुम्हारा काया-कल्प हो जायगा।

पग-पगपर प्रेम तुम्हें पुकार रहा है और तुम हो कि अपनी आँखें बंद किये, अपने कान बंद किये, पथपर चले जा रहे हो—निरानन्द थकावटसे भरे, प्रभुको उलाहना देते, भाग्यको कोसते। जरा आँखें खोलो, पाहुन तुम्हारे द्वारपर खड़ा है; जरा कान खोलो, भगवद्भिषी तुम्हें पुकार रही है। अगणित मित्र तुम्हारा आवाहन कर रहे हैं। केवल देखने-देखनेकी बात है; आनन्द तुम्हारा है, प्रेम तुम्हारा है; स्वर्ग तुम्हारा है, प्रभु तुम्हारे हैं।

## धर्मकी उत्पत्ति एवं वृद्धिके कारण

### [ महाभारतके दो मननीय श्लोक ]

( लेखक—श्रीअगरचन्द्रजी नाहटा )

पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा मानव-जीवनको दुर्लभ और श्रेष्ठ बताया गया है। इसका प्रधान कारण है, मन और बुद्धिकी विशेष शक्तिका होना। अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा प्रकृतिसे ही वह मनुष्यको अधिक प्राप्त हुई है। इस शक्तिके द्वारा मानवने अनेक आविष्कार किये और गहरे चिन्तन और धिक्केद्वारा आत्माको बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँचाया। मनोपियोंने, जो कार्य अभ्युदय और निःश्रेयसके कारण हैं, उन्हें 'धर्म'की संज्ञा दी है। भारतवर्षमें अनेक ऋषि-मुनियोंने एकान्त जंगलों एवं पर्वतोंमें जाकर कठोर तप और साधना की और उसके फलस्वरूप जो कल्याणपथ उन्हें दिखायी दिया, उसे उन्होंने जगत्के समक्ष रखा। एक दीपसे अनेक दीप जले। मानव-समाज अज्ञानरूपी अन्धकारसे ज्ञानरूपी प्रकाशकी ओर बढ़ा। अपने कल्याणके साथ विश्वके कल्याणकी उदात्त भावना उदित हुई। समस्त प्राणियोंकी आत्मा एक ही है—इस सिद्धान्तके अनुसार सबके साथ बन्धुत्व या वैभवीभावका प्रचार होने लगा। हिंसासे विरत होकर अहिंसामय जीवनकी ओर प्रगति हुई। जैसा बर्ताव हम

दूसरोंकी ओरसे अपने लिये चाहते हैं, वैसा ही व्यवहार हम दूसरोंके साथ करें—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।

जैसा व्यवहार हम दूसरोंसे अपने लिये नहीं चाहते, वैसा व्यवहार हम भी दूसरेके साथ न करें।

‘आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ।’

‘जो सभी प्राणियोंको अपने समान समझता है, वही ठीक समझता है।’ ये आदर्शवाक्य जन-मनमें प्रतिष्ठित हुए। मिथ्या-भाषण, चोरी, पर-स्त्रीगमन त्याज्य हैं और सत्य, अचौर्य एवं ब्रह्मचर्य उपादेय हैं, इस तरहका मानव-धर्म प्रतिष्ठित हुआ। बड़े-बड़े महापुरुष समय-समयपर उत्पन्न हुए और उन्होंने कठोर साधना एवं गहरे चिन्तनसे बन्ध और मोक्षके कारणोंको ढूँढ़ा। सुख और दुःख क्या हैं और क्यों होते हैं—इत्यादि जीवनके अनन्त प्रश्नोंके समाधान खोजे और अपनी उदात्त वाणीसे अनुभवकी अमृतवर्षा कर मानवोंको अजर-अमर बना दिया।



धर्म मानवके मस्तिष्ककी सबसे महत्त्वपूर्ण उपज है । धर्मके सम्बन्धमें जितना चिन्तन गहराई और अनेक दृष्टि-बिन्दुओंसे भारतवर्षमें हुआ है, उतना विश्वके अन्य किसी भी देशमें नहीं हुआ । साथ ही जीवनमें भी धर्मकी जितनी प्रतिष्ठा भारतीय मानवोंमें हुई, उतनी अन्यत्र शायद ही कहीं हुई हो । भारतमें ऐसे-ऐसे ज्ञानी, योगी, भक्त एवं जीवनमुक्त संत-महात्मा हुए, जिनकी तुलनामें अन्य किसी भी देशके किसी भी व्यक्तिको नहीं रखा जा सकता । ऐसे गौरवशाली भारतवर्षकी आज जो स्थिति है, उसका जिस सीमातक नैतिक पतन हुआ है, उसे देखकर अवश्य ही हृदयको गहरा आघात पहुँचता है । थोड़े वर्षों पहलेतक जो नीतिमय व्यवहार और धर्म-भावना यहाँके जन-जनमें दिखायी देती थी, उसका सहसा इतनी दूरतक लुप्त हो जाना बड़ी ही विचारणीय और अखरनेकी बात है ।

गम्भीर विचार करनेपर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमको अपने महापुरुषोंके जीवनसे और उनकी अनुभव-वाणीसे जो प्रेरणा एवं शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये थी, वह नहीं ग्रहण कर रहे हैं और पाश्चात्य भौतिक उन्नतिकी चक्काचौधसे हम किर्कटव्यविमूढ़-से हो गये हैं । मध्यकालमें बाहरी क्रियाकलापों एवं रूढ़ियोंपर अधिक जोर दिया गया और धर्मके मौलिक तत्त्व भुला-से दिये गये । इसका परिणाम यह हुआ कि देव-मन्दिरोंमें और गुरुओंके पास जाते हुए भी, धार्मिक ग्रन्थोंको पढ़ते एवं सुनते हुए भी वास्तविक धर्मसे हम दूर होते गये और इसीका परिणाम है कि हमारे आदर्श और व्यवहारमें बहुत अधिक अन्तर आ गया है । आजके नवयुवकों एवं नव-शिक्षितोंकी तो धर्मके प्रति आस्था ही नहीं रही । वे इसे पाखण्ड—ढोंग और मानवकी प्रगतिमें बाधकतक कहने लगे हैं । इसलिये हमारे लिये अपने महापुरुषोंकी जीवनी और वाणीसे पुनः ऐसी प्रेरणा और शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक है, जिससे जीवनमें धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो ।

धर्मकी उत्पत्ति किससे होती है, उसकी वृद्धि किन कामोंसे होती है, उसकी स्थिति या स्थापना किसके द्वारा होती है और किन-किन कारणोंसे धर्मकी बेल सूखकर नष्ट हो जाती है—इसके सम्बन्धमें महाभारतमें दो बहुत ही सुन्दर श्लोक प्रश्नोत्तरके रूपमें आये हैं । पहले श्लोकमें उपर्युक्त प्रश्न उठाये गये हैं और दूसरेमें उनका उत्तर दिया गया है । उत्तर क्या है ? थोड़ेमें बहुत अधिक कह दिया गया है । दूसरे श्लोकपर पुनः-पुनः गम्भीर विचार करते रहनेकी आवश्यकता है । आप उसपर जितना मनन करेंगे, उतना ही उसका महत्त्व अधिकाधिक प्रकट होता जायगा ।

धर्मसम्बन्धी महाभारतके प्रश्नोत्तरवाले वे दो श्लोक इस प्रकार हैं:—

प्रश्न-कथमुत्पद्यते धर्मः कथं धर्मो विवर्धते ।

कथं च स्थाप्यते धर्मः कथं धर्मो वित्तियति ॥

उत्तर-सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्धते ।

क्षमया स्थाप्यते धर्मः क्रोधलोभाद् वित्तियति ॥

सबसे पहली विचारणीय बात यह है कि धर्मकी उत्पत्ति कहाँसे होती है । इसके उत्तरमें कहा गया है कि सत्यसे । 'सत्य' शब्द बहुत व्यापक है । केवल श्रुत बोलना ही असत्य नहीं है, यदि हमारे मनमें कुछ और है, वाणीमें कुछ दूसरी ही बात है और आचरण उससे भिन्न है तो वह जीवनका सबसे बड़ा असत्य है । मनुष्यमें कमजोरियाँ बहुत-सी हैं और गलतियाँ भी होती ही रहती हैं; पर यदि हम अपने दोषों और पापोंको पापरूपमें ही मानते हैं और यद्यपि उन्हें छोड़ नहीं पाते, फिर भी इसके लिये हार्दिक पश्चात्ताप करते रहते हैं तो एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा, जिस दिन हम अपने जीवनके सुधार या उद्धारमें आगे बढ़ सकेंगे । पर यदि हम अपने दोषोंको दोष ही नहीं मानेंगे और उन्हें छिपाते रहेंगे या झूठी शान या दिखावटके लिये जीवनमें कपट-धोखाबड़ीको स्थान देंगे तो हमारा जीवन दिनोदिन अधिकाधिक कलुषित होता जायगा; क्योंकि सत्यसे हम दूर हट गये । जो वस्तु जिस रूपमें है, उसे हमने यदि उस रूपमें नहीं समझा या विपरीत समझा—यह तो असत्य ही हुआ । बोलना तो पीछे होता है, सबसे पहले मनमें खराबी आती है, वाणी और वर्तवमें उसके बाद । इसीलिये हमें अपने अन्तरको टटोलते रहना है कि उसमें असत्का आकर्षण तो नहीं बढ़ गया ।

अब दूसरा प्रश्न है—यदि किसी शुभ संयोगसे सत्य या धर्मकी ओर हम अभिमुख हो गये हैं तो उस धर्म-भावनामें कमी न आये, अपितु वह बढ़ती ही चली जाय—इसके लिये हम क्या उपाय करें ? ऊपरके श्लोकमें इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'दया और दानसे धर्मकी वृद्धि होती है' । हिंसा मानव-समाजमें पशुओंकी अपेक्षा भी अधिक बढ़ी हुई है । अहिंसाके द्वारा ही एक दूसरेका संरक्षण हो रहा है, नहीं तो परस्पर कट-भरकर सारे प्राणी समाप्त ही हो गये होते । प्रेम, वात्सल्य, अनुकम्पा, करुणा, दया, सहानुभूति, सद्भावना, सहयोगिता—ये सब अहिंसाके ही विविध रूप हैं । अपने जन्मके साथ ही प्राणीको दूसरेकी सहायता अपेक्षित होती है; क्योंकि वह उस समय आत्मरक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता । इसीलिये माता-पिता एवं अन्य परिवारवालोंके वात्सल्य या



प्रेम भावनासे वह जीवित रहता है एवं बढ़ता है ।

दयाका ही एक प्रकार 'दान' है । हमारे पास जो कुछ है, यदि उसके देनेसे दूसरेका कुछ भी भला होता हो तो हम करुणा या दयाभावसे उसकी अवश्य सहायता करें, यही हमारा कर्तव्य हो जाता है । जब हमारा जीवन दूसरोंकी सहायता, सहायतापर निर्भर है और हम दूसरोंसे भी किसी-न-किसी रूपमें प्रतिफल ग्रहण कर ही रहे हैं, तब हम दूसरोंको भी अपनी बुद्धि-शक्ति एवं सम्मतिद्वारा सहायता दें, यह हमारा स्वधर्म हो जाता है ।

महाभारत भारतीय धर्म एवं संस्कृतिका महान् आकर ग्रन्थ है, उसमें मनुष्यको सब प्राणियोंसे उच्च पद दिया गया है, ऐसी दृष्टिमें मानवमें इतर प्राणियोंकी अपेक्षा कुछ विशेषताएँ होनी ही चाहिये । अन्य प्राणी विवेकविकल हैं,

उन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयका विचार-बल प्राप्त नहीं है । अतः एक दूसरेका अनुकरण करते रहते हैं, स्वयं विचार नहीं पाते । मनुष्यमें प्रकृतिदत्त अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनसे वह मोक्षतक प्राप्त कर सकता है । उसमें दोषोंसे बचे रहने एवं सदुणोंके विषयकी अद्भुत क्षमता है । अतः प्राप्त बुद्धि, शक्ति-साधनोंका सदुपयोग करते रहना चाहिये ।

मानवको केवल व्यक्तिगत एवं पारिवारिक स्वार्थतक ही सीमित न रहकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाका विस्तार करते रहना एवं सबके कल्याणका प्रयत्न करते रहना चाहिये । काम, क्रोध, मान-ईर्ष्या, कपट, लोभ, हिंसा-द्वेष आदि अवगुणोंसे ऊपर उठकर क्षमा, शील, संतोष आदि गुणोंका अधिकाधिक विकास करनेमें प्रयत्नशील होना आवश्यक है ।

## दण्डपाणि

( लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुवे, साहित्यरत्न )

परम पवित्र वाराणसीपुरीकी बड़ी महिमा है । वह 'मुक्ति-भूमि' कही जाती है । वहाँ शरीरत्याग करनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी—यहाँतक कि कीट-पतंग भी काशी-विश्वेश्वरके अनुग्रहसे सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं । उन्हें फिर मातृगर्भमें नहीं आना पड़ता—जन्म-जरा-मरणकी यातना नहीं सहनी पड़ती । उस पवित्रतम काशीपुरीका शासन भगवान् दण्डपाणि करते हैं । दयामय विश्वनाथने स्वयं उन्हें दण्डनायकके पदपर नियुक्त किया है । महामति दण्डपाणिके नेत्र पीले एवं उनकी जड़ाएँ भी पीली हैं । वे अविमुक्त वाराणसीपुरीके सूत्रधार तथा बाबा विश्वनाथके अत्यन्त प्रिय हैं । वे संतों एवं सात्त्विक गुणोंसे सम्पन्न व्यक्तियोंके लिये सौम्य तथा दुष्टों, क्रूरकर्मियों एवं शक्तियोंके लिये अत्यन्त भयंकर हैं । वे अत्यन्त तेजस्वी, सम्पूर्ण जीवधारियोंका अन्तकालीन शृङ्गार करनेमें अत्यन्त निपुण, ज्ञानके दाता एवं मुक्तिका साक्षात्कार करानेवाले हैं । परमपुण्यमय विश्वेश्वरप्रिय दण्डनायक पापियोंको अनेक प्रकारकी पीड़ा पहुँचाकर वाराणसीसे दूर खदेड़ देते हैं और भगवद्भक्तोंको दूरसे भी लाकर काशी-वासका सुयोग प्रदान करते हैं । उनकी कृपासे भक्तजन सदा ही निर्भय रहते हैं । पार्वतीवल्लभ, कर्पूरगौर शशाङ्कशेखरने स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहा है कि 'जो ज्ञानोद तीर्थमें

स्नान, तर्पण आदि करके तुम्हारी ( दण्डपाणिकी ) पूजा करेगा, वही यहाँ पुण्यात्मा होकर लोकमें मेरी असीम दयासे कृतार्थताका अनुभव करेगा ।' इस कारण काशीवास करनेवाले सभी भक्त नियमपूर्वक प्रतिदिन करुणामय बाबा विश्वनाथके साथ कारुणिक दण्डपाणिका भी दर्शन करते हैं ।

दण्डनायकका पद प्राप्त करनेके लिये उन्होंने बड़ी कठिन तपश्चर्या की थी । वे उत्तम यक्षकुलमें उत्पन्न हुए थे । उनका नाम हरिकेश था । उनके पिता और पितामहादि सभी कालकण्ठ भगवान् रुद्रके भक्त थे । हरिकेशका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

प्राचीनकालमें गन्धमादन पर्वतपर रत्नभद्र नामक अत्यन्त धर्माचरणसम्पन्न एवं पुण्यकर्मोंको करनेवाला यक्ष रहता था । वह भगवान् शंकरका भक्त था । वह उमानाथकी पूजा बड़ी ही तन्मयता एवं तत्परतासे करता था । उसके एक ही पुत्र था । उसका नाम पूर्णभद्र था । पिताके सदाचार, धर्म, पुण्यकर्म एवं शिवभक्तिके संस्कार पूर्णभद्रपर पड़ते जा रहे थे । किंतु वह बालक ही था, तभी उसके पिता रत्नभद्रकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी । वह अत्यन्त सुखद एवं शान्त शिवलोकमें पहुँच गया ।



कुछ ही दिनोंमें पूर्णभद्रने यौवनमें प्रवेश किया। वह भी नीलकण्ठकी भक्तिमें रत था। उसके पास अमित वैभव तथा सम्पूर्ण भोग-सामग्रियाँ एकत्र थीं। वह प्रत्येक रीतिसे सम्मानित एवं सुखी था, किंतु उसे कोई संतान नहीं थी। इस कारण वह मन-ही-मन दुखी रहता था।

एक दिन उसने अपनी धर्मपत्नी कनककुण्डलाको बुलाकर उससे अपनी मानसिक व्यथा प्रकट कर दी। कनककुण्डलाने बड़े ही प्रेमसे अपने पतिको धैर्य बँधाते हुए कहा—‘आर्यपुत्र! आप अधीर न हों। हमारे पूर्वजोंके आराध्य एवं हमारे इष्टदेव आशुतोष महादेव सर्वसमर्थ हैं। संतानहीन महर्षि शिलादने उन शिवकी कृपासे मृत्यु-विजयी पुत्र प्राप्त कर लिया। जो वस्तु हमारी मन-बुद्धिमें भी नहीं आ सकती, वह दुर्लभ मोक्ष-पद भी वे परमप्रभु संतुष्ट होकर क्षणार्द्धमें दे देते हैं। यदि आप सबका मङ्गल चाहनेवाले तेजस्वी पुत्रकी कामना करते हैं तो उन्हीं परमप्रभुकी चरणशरण ग्रहण कीजिये।’

अपनी प्राणप्रिया साध्वी कनककुण्डलाके परामर्शसे पूर्णभद्र अत्यन्त प्रसन्न हुआ और वह मन-ही-मन भगवान् शंकरसे प्रार्थना करने लगा। उसने बाबा भोलेनाथकी आराधना आरम्भ कर दी। वह संगीत-कलामें अत्यन्त निपुण था। उसने कुछ ही दिनोंमें चन्द्रमौलिको संतुष्ट कर लिया और थोड़े ही दिनोंके बाद उसकी पत्नी कनककुण्डलाके गर्भमें एक अत्यन्त सुन्दर तथा श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ। पूर्णभद्रकी प्रसन्नताकी सीमा न रही। बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उसका नाम हरिकेश रखा गया।

बाल्यकालसे ही हरिकेशका मन भगवान् शंकरमें लग गया। वह खेल-खेलमें भी धूलके धरोरेके स्थानपर मिट्टीकी शिवजीकी मूर्ति बनाता और सुकोमल तृणादिसे उसकी पूजा करता था।

हरिकेश अपने मित्रोंको ‘नीलकण्ठ’, ‘कालकण्ठ’, ‘त्रिलोचन’, ‘चन्द्रशेखर’ और ‘मृत्युञ्जय’ आदि शिवके नामोंसे ही पुकारता था। कुछ सयाना होनेपर वह जटाजूटधारी त्रिनेत्रका ही निरन्तर चिन्तन करने लगा। उसका मन शिवमें इतना लगा गया कि भगवान् शंकरके सिवा उसे कहीं कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वह भूतभावन महादेवके मन्दिर-नेत्र-जिह्वादि कर्पूरगौरकी ही सेवामें लगे रहते थे। खाद्य और पेय वह अपने प्राणप्रिय कालनाशन प्रभुको समर्पित

किये बिना कभी ग्रहण नहीं करता था। उठते-बैठते, सोते जागते, प्रतिक्षण वह अपने इष्टदेवके ध्यानमें ही तन्मय रहता था। रात्रिमें भी सोते-सोते वह महेश्वरका नाम लेते हुए जाग जाता था।

पुत्रकी ऐसी दशा देखकर एक दिन हरिकेशके पिता पूर्णभद्रने उसे समझाया—‘बेटा! अब तुम सयाने हो चले। तुम्हारे घरमें अपार धन-वैभव है। तुम शानार्जनकर इनका उपभोग करो। सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करो। वृद्ध होनेपर भक्तिका आश्रय ग्रहणकर जीवन सफल कर लेना।’

हरिकेशको पिताका उपदेश प्रिय नहीं लगा। जब पूर्णभद्रने अनेक बार उसे समझाया, तब हरिकेश एक दिन चुपके-से घरमें निकल भागा। वह गन्धमादसे बहुत दूर चला गया, किंतु मार्गमें भटक गया। वह निश्चय नहीं कर पाता था कि किधर जाऊँ। उसने व्याकुल होकर अपने परमप्रभु शिवका स्मरण करते हुए उनसे प्रार्थना की, ‘प्रभो! मैं कहाँ जाऊँ? मुझे मार्ग दिखाइये। दया कीजिये दयामय!’

फिर उसने सोचा, जिनकी कहीं गति नहीं है, उनकी गति काशीपुरी ही है। यह विचारकर वह काशीपुरी के लिये चल पड़ा और कुछ ही दिनोंमें काशी पहुँच गया। उसने पुण्यसलिला भगवती भागीरथीके शीतल जलमें स्नान कर काशी-विश्वेश्वरका दर्शन किया। अब उसके आनन्दकी सीमा नहीं थी। वह अपने परमपिता विश्वेश्वरके यहाँ (अपने वास्तविक घरमें) पहुँच गया था। उसने क्षुधा-पिपासाकी चिन्ता छोड़कर, सारे कष्टोंको सहते हुए एक अशोक वृक्षके नीचे तपश्चर्या आरम्भ कर दी। उसने नेत्र बंद कर लिये और हृदयमें अपने आराध्यदेवकी मनोहर मूर्तिका ध्यान करते हुए वह उनके मङ्गलमय नामका जप करने लगा। उसे भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी—किसीकी तनिक भी चिन्ता नहीं रह गयी। ‘या तो मेरे परमाराध्य परमपिता परमेश्वर भगवान् शिव मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे या यह नश्वर शरीर नष्ट हो जायगा’—हरिकेशने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था। इस प्रकार तप करते उसे अधिक दिन बीत गये। उसका शरीर सूखकर अस्थिमात्र शेष रह गया था। केवल श्वास चल रहा था।

एक दिनकी बात है। भगवान् शंकर अपनी प्राणप्रिया पार्वतीजीके साथ काशीका माहात्म्य-गान करते हुए वहाँ पहुँचे, जहाँ पूर्णभद्र एवं कनककुण्डलाका



संपन्न पुत्र परम शिवभक्त हरिकेश अपने प्रभुकी प्रीति-  
निकिते लिये प्राणपर खेलकर कठोर तप कर रहा था ।

दयामयी पार्वतीजीके संकेतपर सर्वलोकैकहेतु, महामहेश्वर  
हविर्गन्धु कल्याणमय शिवने हरिकेशका अपने वरद करकमलोंमें  
सर्वा किया ।

‘त्रिशूलपाणे ! आपकी जय हो ।’ हरिकेशका शरीर  
सूखेमे भी अधिक स्वस्थ, सुन्दर एवं दीप्तिमान हो  
गया । उसके आनन्दकी सीमा नहीं थी । उसके मुँहसे  
स्वतः निकल पड़ा, ‘कृपालो ! आपकी जय हो ! जय हो !!  
आपके परमकल्याणमय करकमलके स्पर्शसे आज मैं धन्य  
हो गया । मेरा जीवन कृतार्थ हो गया ।’

अने भक्त हरिकेशके श्रद्धापूर्ण वचन सुनकर भगवान्  
बोकरने कहा—“हरिकेश ! मैं तुम्हारी तपस्यासे संतुष्ट हो

गया । अब तुम मेरे प्रिय क्षेत्र काशीधामके दण्डनायक  
होओ । तुम्हारा नाम ‘दण्डपाणि’ होगा । मेरे समस्त गण  
तुम्हारे अधीन रहेंगे । सम्भ्रम और उद्भ्रम नामक गण  
सदा ही तुम्हारा अनुगमन करेंगे । तुम काशीमें निवास  
करनेवाले प्राणियोंके अन्न, प्राण, ज्ञान तथा मेरे मुखमें  
निकले हुए तारक-मन्त्रके उपदेशसे मोक्षके एकमात्र  
वितरक होकर वहाँ अविचल निवास करोगे । तुम मेरे  
नेत्रोंके सम्मुख दक्षिण दिशामें निवास करो और पापियोंको  
दण्डित तथा भक्तजनोंको निर्भय करते रहो । काशी आकर  
मेरे भक्त मेरी पूजासे पहले तुम्हारी पूजा करेंगे ।”

भगवान् शंकर माता पार्वतीके साथ चले गये और  
तभीसे दण्डपाणि काशीपुरीमें बाबा विश्वनाथके समीप रहते  
हुए वहाँका शासन करते हैं ।

## दीप-साक्षित्व

( लेखक—श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल )

जब मिट्टीका दिया तेल तथा बत्तीमें तैयार होता है,  
तब उसे दियासलाईमें जलानेपर उसके अंदर प्रकाश हो  
जाता है ।

दिया जहाँ भी रहेगा, वहाँ प्रकाश करेगा—वह चाहे  
महल हो, चाहे फकीरकी झोंपड़ी, चाहे वह दीवालीके दिन  
अन्य दिव्योंके साथ जगमगा रहा हो, चाहे श्मशानमें  
अकेला हो । उसका वातावरणसे कोई सम्बन्ध नहीं; वह  
जहाँ भी रहता है, प्रकाश ही करता है । जंगल हो, श्मशान  
हो अथवा राजमहल । उसके प्रकाशमें कोई अन्तर  
नहीं पड़ता ।

साक्षी भी इसी प्रकार प्रकाश ही है । साक्षित्व जहाँ भी  
रहेगा, प्रकाश ही करेगा । उसका काम है, देखना । उसका न  
किसीसे लगाव है, न बिलगाव । वह तो तटस्थभावसे केवल  
देखता है ।

साक्षीको चाहे राजसिंहासनपर बैठा दो, चाहे उसे  
उद्योगपति बना दो अथवा साधुसंत या फकीर बना दो—  
व्यक्तिकी भिन्नतासे उसमें कोई भिन्नता नहीं आती । उसके  
गमने वृक्ष हो तो वह वृक्षका साक्षी है, यदि कोई अन्य  
वस्तु, व्यक्ति या सम्पत्ति है तो वह उसका साक्षी है ।

साक्षीकी स्थिति वैसी ही है, जैसे कोई चील बहुत ऊँच  
उड़ान लेकर हवामें तैरती रहती है; उसे पंख भी हिलानेकी  
आवश्यकता नहीं । उसके उड़नेमें कोई प्रयोजन नहीं, वह  
निष्प्रयोजन आकाशमें उड़ती रहती है ।

तुलसीसाधना-कुटीरमें एक बोर्ड लगा हुआ है । उसके  
पास मेरी पौत्री फूल तोड़ रही थी । मैंने उससे कहा—  
“देखो, वह बोर्ड लगा है एवं उसपर लिखा है कि ‘फल-फूल  
तोड़ना मना है’ ।”

वह बोली—“यह बोर्ड कुछ कहता या करता भी है ?  
मैंने कहा—“नहीं, इसका काम केवल सूचना देना ही  
है । यह तटस्थ होकर खड़ा रहता है और लोगोंको इससे  
प्रेरणा मिलती रहती है कि ‘फल-फूल मत तोड़ना’ ।”

कहीं-कहीं खेतोंमें एक मनुष्याकार बाँसको खड़ा करके  
एक आकृति बना देते हैं, उसके ऊपर मुँह लगा देते हैं,  
ताकि पशु-पक्षी उसे देखकर खेतमें न जायँ; वह साक्षी होकर  
खेतमें केवल खड़ा रहता है । वह न कुछ कहता है न करता  
है; किंतु उसका खड़ा रहना ही खेतकी सुरक्षामें  
सहायक है ।



देखनेमें बड़ा बल है। यदि किसी पाकेटमारको पता चल जाय कि (किसीने मुझे देख लिया है) तो वह पाकेट काटनेका कुकर्म नहीं कर पायेगा। देखनेवालेने कुछ कहा नहीं; किंतु देखनाभर ही उसे कुकर्मसे रोकनेमें पर्याप्त है।

एक बार कुम्भके अवसरपर एक पाकेटमार भीड़में जा रहा था। हमारे साथ एक सरदारजी थे, जिन्होंने उसे पहचान लिया और मेरा कंधा दबाकर बोले—(देखो, यह पाकेटमार जा रहा है।) उसने इस इशारेको समझ लिया, जिससे वह सावधान हो गया। फिर जबतक वह हमारे सामने रहा, उसे पाकेट काटनेकी हिम्मत नहीं हुई।

एक बार तुलसी-साधना-कुटीरमें एक मेहमान ठहरे थे। रातको १२ बजे उन मेहमानके खीसेमेंसे बटुवा निकालनेके लिये किसी चोरने हाथ डाला; इतनेमें मेहमानने करवट बदली, जिसके साथ ही चोर भाग गया। इसी प्रकार जब हम जाग जाते हैं, तब हमारे अंदरसे विकार भाग जाते हैं। विकार रहते ही तबतक हैं, जबतक हम जागते नहीं।

चोर तभी चोरी करता है, जब उसे कोई देखता नहीं। जब उसे कोई देख लेता है, तब फिर वह चोरी नहीं करता।

‘साक्षित्व’ जाग जाना है। जब हमारी वृत्तियाँ, हमारे विचार और विकार हमारे साक्षित्वके प्रकाशके अंदर आ जाते हैं, तब विकार, विकार न रहकर विलीन होने शुरू हो जाते हैं।

दिया तेलकी स्तिग्धताके कारण ही जलता है। इसी प्रकार मनुष्यके हृदयमें प्रेमरूपी स्तिग्धता है, जिससे वह प्रकाशमय रहता है। दियेके अंदर जब भी प्रकाश होगा, बत्तीके द्वारा ही होगा। मनुष्यके अंदर भी जब ज्ञान होगा, तब वृत्तिके अंदर ही होगा। वृत्ति ही व्याप्त होकर ब्रह्माकार हो जाती है। वृत्ति परिच्छिन्न न रहकर अपरिच्छिन्न, एकदेशीय न रहकर सर्वदेशीय हो जाती है।

दियेकी बत्तीका प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है। जबतक वह बत्ती जली न थी, तबतक एकदेशीय थी; उ्यों ही वह प्रकाशित होती है, प्रकाश व्यापकरूपमें फैल जाता है।

पर्वतों एवं जंगलोंमें देखा गया है कि किसी कुटियाके अंदर यदि दीपक या लालटेन जल रही हो तो उसका वह प्रकाश दो या चार कोसमें दिखायी पड़ता है; यही उस प्रकाशकी व्यापकता है।

एक सूईको लेकर जब हम आगमें डाल देते हैं, तब पहले तो वह अलग दिखायी देती है; पर जब वह गर्म होकर लाल हो जाती है, तब अग्निरूप हो जाती है; अर्थात् अग्निसे व्याप्त हो उससे अभिन्नता प्राप्त कर लेती है। यही वृत्ति-व्याप्ति है।

वृत्तिव्याप्तिसे वृत्ति तदाकार हो जाती है, वृत्ति ब्रह्ममें अभिन्न हो जाती है। वह सूईकी तरह अपना अस्तित्व लो-अग्निरूप हो जाती है।

अदालतमें साक्षीको खर्च देकर सम्मानपूर्वक बुलाया जाता है; साक्षीके ऊपर बड़े-बड़े मुकद्दमोंका आरोमदार रहता है। मुकद्दमेके दौरान वादी-प्रतिवादीके हृदयमें मुकद्दमेके परिणामके बारेमें अत्यधिक चिन्ताके कारण धड़कन पैदा हो जाती है; किंतु साक्षी निर्भीकतापूर्ण अदालतमें बैठता है तथा मुकद्दमेसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता—ठीक जिस प्रकार दीपकका किसी वस्तु अथवा व्यक्तिमें कोई लगाव नहीं होता।

दियेकी तरह साक्षी प्रकाशरूप है; साक्षीको घटनाका ज्ञान तो है, पर उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उसकी उपेक्षा-वृत्ति है; वह तटस्थ है; समीपवर्ती है और वोद्धा है।

मनुष्यके अंदर प्रकाश कर रहा साक्षी भी मनके अंदर उठते हुए विचारोंका वोद्धा है; वह दूसरोंमें तो अपने विचारोंको छिपा सकता है, पर अपनेसे नहीं; क्योंकि वह समीपवर्ती है, उससे अधिक समीप कोई है नहीं; और वह तटस्थ भी है, उसका किसीसे लगाव भी नहीं। यह है विशेषता साक्षीकी, जो दियेके प्रकाशके तुल्य सबको प्रकाश देता है।



# मोती काका

( लेखक—श्रीरामेश्वरजी टोंटिया )

हमारे गाँवमें बाहरसे साधु-महात्मा आते रहते थे। उनके वचनोंके समय देखा जाता कि एक वृद्ध नियमितरूपसे अपने पहले आता और सबके बाद जाता है। लोगोंकी जूतियोंके नीचे बैठकर वह हाथमें माला लिये जाप करता रहता था। आयु बढ़ावसाको पार कर चुकी थी; परंतु शरीरकी काठी देखकर अनुमान होता था कि किसी समय वह बहुत सुन्दर और स्वभाव रहा होगा। गोरे चेहरेपर झुर्रियाँ थीं, परंतु आँखोंमें तेजकी चमक थी।

बच्चोंसे उसे ऐसा प्यार था कि सारे दिन वे उसे घेरे रहते; कोई दाढ़ी खींचकर भाग जाता तो कोई पीठमें गैल जमाकर।

पत्ता-पतोहूओं और पोते-पोतियोंसे भरा-पूरा घर था। दो जवान लड़के फौजमें थे। गाँवके पास ही खेत थे, जिनसे अच्छी आय हो जाती थी।

लोग कहते थे कि किसी समय मोती काका नामी डाकू था। उसने सैकड़ों डाके डाले थे, परंतु ब्राह्मण या गाँवकी बहिन-बेटीको कर्मा नहीं छूटा—यहाँतक कि ब्राह्मणोंकी शिरियोंके विवाहमें अपने आदमियोंके द्वारा दान-दहेज भेजता रहता था।

शुरु-शुरुमें तो हम बच्चे उससे सहमे-से रहते। परंतु कुछ अँसे बाद इस प्रकार हिल-मिल जाते कि उसके कंधोंपर चढ़कर नाचते रहते। यद्यपि उस समय डाकू क्या है, इसके बारेमें स्पष्ट जानकारी हमें नहीं थी, फिर भी ऐसा समझते थे कि वह कोई खराब बात है। काकासे इसके बारेमें पूछनेपर वह हँसकर बात टाल देता। कर्मा-कभी दोनों हाथोंसे आँखोंको बड़ी-बड़ी करके डराने लग जाता।

उस वार, बहुत वर्षोंतक बाहर रहनेके बाद गाँवमें आया था। मोती काका ७५-८० वर्षका हो गया था; चल-फिर नहीं सकता था। हाथ-पैर काँपने लगे थे, परंतु आँख-कान दुरुस्त थे। बचपनमें जब हम उससे कहानियाँ सुनते थे, तब मैं कहा करता था कि 'हम बड़े होंगे, तब तुम्हारे लिये एक अच्छी-सी ऊनी चद्दर लायेंगे।' वह बात

मुझे याद रही और धारावालीकी एक चद्दर उसके लिये ले गया था।

उन दिनों काकाकी गार्धार्जकी दर्शन करनेकी प्रबल इच्छा थी। हमारे उधर, राजस्थानके गाँवोंमें, उनके बारेमें बहुत-सी किंवदन्तियाँ फैली हुई थीं, जैसे 'उनको भगवान्‌के साक्षात् दर्शन होते हैं', 'जेलके फाटक अपने-आप खुल गये', 'चोर-डाकू भी उनके सामने जाकर सच्ची बात कहनेसे पापमुक्त हो जाते हैं'—आदि।

काकाका शरीर इतना अस्वस्थ रहने लगा कि उस इच्छाकी पूर्ति नहीं हुई। परंतु उन्हीं दिनों हरिद्वारसे एक बड़े महात्मा अपने कई शिष्योंके साथ गाँवमें आये। मोती काकाने बड़े आग्रहपूर्वक उनको निमन्त्रित किया और साथ ही गाँवके दूसरे प्रतिष्ठित व्यक्तियोंको भी।

भोजनके पहले काकाने सैकड़ों आदमियोंके सामने हाथ जोड़कर कहा—'मेरा अन्त-समय अब नजदीक है। जीवनमें मैंने जघन्य पाप किये हैं। मुझे कल रातमें सपना आया है कि 'तुम महात्माजी और गाँवके लोगोंके समक्ष अपने पापोंको स्वीकार करो, इससे तुम्हें शान्ति मिलेगी।' उसने अपने जीवनकी जो घटनाएँ बतायीं; उन्हें सुनकर भी मैं यह निश्चय नहीं कर सका कि वह पापी है या धर्मात्मा।

मोती काकाने अपनी जीवन-गाथा इस प्रकार सुनायी—  
'मैं अपने माँ-बापका इकलौता बेटा था। विवाह होकर बारात वापस आयी थी। अभी कंगन-डोरे भी नहीं खुले थे कि गाँवका महाजन अपने कर्जके तकादेके लिये आकर बैठ गया।

'उन दिनों कर्ज न चुकानेपर कैदकी सजा होती थी। बहुत-से सगे-सम्बन्धियोंके बीच बापूको पुलिसके सिपाही हथकड़ी डालकर ले गये। उस दिनके बाद तो शर्मके मारे मेरा घरसे निकलना दुश्चर हो गया।

'मैंने प्रतिज्ञा कर ली कि 'जैसे भी होगा, कर्ज चुकाकर पिताको जेलसे छुड़ाऊँगा'।

'बहुत प्रयत्न करनेके बावजूद भी काम नहीं मिल पाया। संयोगसे मेरी जान-पहचान प्रसिद्ध डाकू ठाकुर



रामसिंहके साथियोंसे हो गयी और मैं उनके दलमें शामिल हो गया। हिम्मत, सूझ और शारीरिक बलके कारण रामसिंहके मरनेके बाद दलका मुखिया मुझे ही चुना गया।

“मैं कजसे दुगुना रुपया लेकर एक रातको सेठके घर पहुँचा। उसके प्रति मेरे मनमें ऐसी वृणा हो गयी थी कि कर्ज-चुकतीकी रसीद लेकर लौटते समय मैंने उसके नाक-कान काट लिये। उसके बाद मैंने सैकड़ों डाके डाले; पर परमात्मा जानता है कि मैंने कभी ब्राह्मणों और गाँवकी बहू-बेटियोंको नहीं सताया, न गरीब और निम्नवर्गके लोगोंको ही।

“मुझे प्रायः खबरें मिलतीं कि मेरे माँ-बापको नाना प्रकारकी यातनाएँ दी जा रही हैं। एक दिन यह भी सुना कि मेरी पत्नीको थानेमें बंद कर रक्खा है और उसके साथ बहुत अमानुषिक बर्ताव किया जा रहा है।

“एक अँधेरी रातमें अपने १०-१२ साथियोंके साथ मैंने उस पुलिस चौकीपर हमला कर दिया। ८-१० सिपाही और अप्सर मारे गये, हमारे भी ३-४ साथी खेत रहे। पत्नी दर्दसे कराह रही थी। उसकी हालत देखकर मन लज्जा और ग्लानिसे भर गया; परंतु पासके थानोंसे कुमुक पहुँचनेके अंदेशसे भागकर हमें जंगलमें जाना पड़ा।

“माँ-बाप और पत्नीकी दुर्दशाके समाचारोंसे मैं रात-दिन बेचैन रहने लगा। उधर पुलिसकी सतर्कता बहुत ज्यादा बढ़ गयी।

“मुझे जिंदा या मरा हुआ पकड़ा देनेपर सरकारद्वारा १०,०००) रुपये इनामकी घोषणा की गयी।

“गाँवके एक गरीब ब्राह्मणकी बेटीका विवाह रुपयेके बिना अटक रहा था। मेरे पास रुपयोंकी व्यवस्था उस समय थी नहीं। समय कम था, मैं पशोपेशमें पड़ गया कि कैसे मदद करूँ। मुझे सरकारी घोषणाकी बात याद आ गयी। मगर मेरे साथी इसके लिये तैयार नहीं हुए। अखिर, मैं अकेला ही उस ब्राह्मणके पास गया और समझाया कि ‘मुझे थानेमें हाजिर करनेसे उसे १०,०००) रुपये मिल जायेंगे।’

“पहले तो वह तैयार नहीं हुआ, परंतु बहुत समझाने बुझानेपर मान गया।

“विभिन्न अपराधोंमें मुझे १५ वर्षकी कड़ी कैदकी सजा हुई। परंतु मेरे अच्छे चाल-चलनके कारण १० वर्षमें ही छोड़ दिया गया।

“अब उन बातोंको प्रायः २५-३० वर्ष हो गये हैं, परंतु मेरे मनमें अपने पुराने पापोंकी यादसे अब भी ग्लानि और लज्जा भरी पड़ी है। कहते हैं कि परमात्माके भक्तोंकी सेवा करनेसे जघन्य पाप भी दूर हो जाते हैं; इसलिये कथा-वार्तामें आनेवालोंकी जूतियोंकी सँभाल रखता हूँ। वहिन-बेटियोंके बच्चोंको बहलाता रहता हूँ। ‘.....’

काकाकी बातें सुनकर लोगोंके साथ-साथ महात्माजी भी हर्षसे गद्गद हो गये। उन्होंने उठकर उसे छातीमें लगा लिया।

## भज मन श्रीराधे-गोपाल

भज मन श्रीराधे-गोपाल ।

करुनानिधि कोमल चित तिन को, दीनन को प्रतिपाल ॥

जिन को ध्यान किये सुख उपजै, दूर होत दुख-जाल ॥

माया रहत चरन की चेरी, डरपत जिन सों काल ॥

बिहरत श्रीबृंदावन मँहीं, दोउ गल बैयाँ डाल ॥

बिलसत रास-विलास, रँगिले गावत गीत रसाल ॥

हँस-हँस छिन लेत मन छल कर चंचल नैन विसाल ॥

सरसमाधुरी सरनागत कों छिन में करें निहाल ॥

— रसिक संत सरसमाधुरीजी



# प्रार्थनासे क्यों, कैसे और क्या लाभ होते हैं ?

( लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच्० डी० )

आजकल प्रार्थनाको गलत समझा जा रहा है। बीसवीं शताब्दी के समुन्नत समझे जानेवाले सुशिक्षित युवकोंकी दृष्टिमें प्रार्थना एक दिखावटी ढकोसला, एक विडम्बना, निरर्थक, ठगने-ठगानेका एक धंधामात्र है। भौतिक-जीवनकी समाज इस आध्यात्मिक शक्तिको जगानेमें विश्वास नहीं रखता। हवाई-जहाजमें इंजिन चलानेवाला, हाथ या पैरोंमें यन्त्र-द्वारा सृष्टि-विश्वं स्रज कर देनेवाला वज्र-हृदय धारण करनेवाला देवी शक्तिके प्रति विनीतरूपसे दयाकी माँग लेकर नहीं उठ पाते।

नवीन रक्त स्वभावतः विद्रोही होता है। वह विवेककी ओर उद्वेग और उत्तेजनमें विश्वास रखता है। वह प्रत्येक चीजमें नयी क्रान्ति, नये परिवर्तन, नयी सृष्टि चाहता है। उसकी दृष्टि नितान्त भौतिक है। वह आध्यात्मिक जीवनमें कोई दिलचस्पी नहीं रखता। मन्दिर और गुरुद्वारेको एक झोला मानता है। ईश्वरकी दैवी शक्ति तथा उससे मिलनेवाले चमत्कारोंमें उसे कोई विश्वास नहीं है। वे अपने-आपको इतना मजबूत समझते हैं कि प्रार्थनाद्वारा भगवान्-से कुछ भी याचना नहीं करना चाहते। आजका उच्छृङ्खल प्रार्थनाको एक प्रलापमात्र मानता है।

यह उपेक्षा नास्तिकोंकी मिथ्या शेखी ही कही जायगी। वैश्वीय शक्तिके प्रति अविश्वास एक दम्भ है, भौतिक शक्तियोंका अभिमान है, धूलमें मिला देनेवाला संकुचित धर्म है। प्रार्थनाका अभिप्राय ही गलत समझा जा रहा है।

साधारण लोग समझते हैं कि प्रार्थनाका अभिनय कर हम परमपिता परमेश्वरको फुसला सकते हैं, बच्चोंकी तरह जोड़ी-भीटी बातें करके इस परमेश्वर सत्ताको छुभा सकते हैं। यह दृष्टिकोण गलत है।

प्रार्थना मनका मोदक नहीं है। जो व्यक्ति बिना परमेश्वरके मुफ्तका माल उड़ानेकी फिक्रमें हैं, उन्हें स्मरण करना चाहिये कि ईश्वर न्यायी है। वह परिश्रमीको प्यार करता है। प्रार्थना एक प्रकारका आध्यात्मिक पुरुषार्थ है। कर्मण्यता, जागरूकता, घोर परिश्रम और योग्यतासे ही प्रार्थना सफलताके धर्मोपस्थित करती

है; किंतु मजदूरीसे अधिक माँगनेवाले मुफ्तखोरके मंसूवे आमतौरपर पूर्ण नहीं होते। आलसियों, स्वप्नद्रष्टाओं, व्यर्थ ही खाने-पीने और मौज उड़ानेवालोंके गिड़गिड़ाने, नाक रगड़ने या भीख माँगनेकी ओर ईश्वर किंचित् भी ध्यान नहीं देता।

## प्रार्थना एक आध्यात्मिक व्यायाम है

डॉ० दुर्गाशंकर नागरके मतानुसार प्रार्थनाके ये तीन प्रयोजन हैं—

१—“सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके हेतु या किसी स्थूल अभावकी पूर्तिके लिये प्रार्थना की जाती है—जैसे अन्न, वस्त्र, नौकरी, धन, स्त्री-पुत्र-प्राप्तिके लिये, रोग-निवारणके लिये, किसी दुःखसे पीछा छुड़ानेके लिये, आपत्ति दूर करनेके लिये, सम्मान-प्राप्तिके लिये, परीक्षामें सफलता प्राप्त करनेके लिये, विद्या-प्राप्तिके लिये और समस्त व्यावहारिक कार्योंकी सिद्धिके लिये प्रार्थना की जाती है।

२—“आत्मिक उन्नतिके लिये, काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि मानसिक विकारोंपर जय प्राप्त करनेके लिये; आत्मा क्या है, ईश्वर क्या है, मृत्यु क्या है, मृत्युके बाद क्या होता है, सृष्टि क्या है—इत्यादि विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, मानसिक और बौद्धिक उन्नतिके लिये, अध्यात्मज्ञान और यथार्थ साधन जाननेके लिये प्रार्थना एक उपाय है।

३—“तीसरे प्रकारके वे सच्चे प्रार्थना करनेवाले भक्त होते हैं, जिन्हें कुछ माँगना नहीं है। वे केवल उस महाप्रभुके ध्यान और प्रेममें लीन होना चाहते हैं। ईश्वर-दर्शन या आत्म-साक्षात्कार ही उनका लक्ष्य है। यह सर्वोत्कृष्ट प्रार्थना है।”

ऊपर डा० दुर्गाशंकर नागरके विचार स्पष्ट किये गये हैं। उनमें गहरा अनुभव निहित है। इनके अतिरिक्त प्रार्थना करनेके और भी अनेक लाभ हैं।

## प्रार्थनाके लाभ

जिस प्रकार जप, पूजन, अर्चन, पाठ, हवन, अनुष्ठान



हैं या मनःसंयम, आत्मसंयम मनोजयके विभिन्न मार्ग हैं; उसी प्रकार प्रार्थना भी एक प्रकारका सुव्यवस्थित आध्यात्मिक व्यायाम है।

जिस तरह डंड, मुगदर, डम्बल इत्यादिकी कसरतोंसे मनुष्यका हाड़-मांसवाला शरीर पुष्ट होता है, उसके बदनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुदृढ़ होकर नीरोगता, सौन्दर्य, परिश्रमकी क्षमता, उपार्जन-उत्पादन आदिकी समृद्धियाँ हाथ लगती हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक व्यायामसे मनुष्यका मनोबल सुदृढ़ होता है; उसका आत्मविश्वास, आत्मश्रद्धा और इच्छाशक्ति विकसित होती हैं। उसका सांसारिक प्रपञ्चोंसे कलुषित हुआ मन धुलकर स्वच्छ एवं पूर्ण पवित्र हो जाता है।

प्रार्थना करनेसे चित्तमें सुव्यवस्था, मनुष्यके मनमें संतुलन, बुद्धिमें तीक्ष्णता और विवेककी जागृति होती है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें उन्नति होती है। यह आत्म-परिष्कारका अमोघ उपाय है।

जीवनको सारे दिन शान्ति और उत्साहसे व्यतीत करनेके लिये प्रार्थना अतीव उपयोगी साधन है। इससे हमारी आत्माकी उन्नति होती है। आध्यात्मिक उन्नतिमें जो बाधाएँ हैं, वे दूर हो जाती हैं। यह मानसिक शान्तिका एक उपाय है।

मनोवैज्ञानिकोंके अनुसार मनुष्यका अन्तर्मन (Sub-conscious mind) बड़ा सशक्त तत्व है, जो हमारे समग्र जीवनको चलाता है। अन्तर्मनका हमारे जीवन, नाना क्रियाओं और स्वास्थ्यपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्रार्थनाद्वारा दैवी सहायता मिलनेके कारण आशाकी पीठ बहुत भारी हो जाती है। प्रार्थना करनेसे हमारा सीधा सम्बन्ध ईश्वरसे जुड़ जाता है। फल यह होता है कि आशा, उल्लास, सफलता, साहसके सशक्त विचार मनुष्यके मस्तिष्कमें धनीभूत होकर घुमड़ने लगते हैं।

प्रार्थना उत्तम विचारोंको जमानेके लिये मनोभूमिको उर्वर बनाती है। जो दैनिक प्रार्थना करके कर्त्तव्यपूर्तिमें लगते हैं, उन्हें साहसपूर्ण मनःस्थितिके कारण युद्धके मोर्चे-पर पतह हासिल होती है।

## प्रार्थना प्रायश्चित्तका उपाय है

जब मनुष्य अपने पापपर हार्दिक रूपसे पछतावा करता है, तब उसे बड़ा दुःख होता है। वह अपने संचित पापोंसे मुक्त होना चाहता है, आत्मापर संचित गंदगीको धो डालना चाहता है। इस प्रायश्चित्तको सम्पन्न करनेमें प्रार्थना शर्तिवा उपाय है।

प्रार्थना तरह-तरहकी चिन्ताओं, व्याकुलताओं, रोगों, व्याधियों और अपनेद्वारा हुई गलतियोंको धो डालनेका सुलभ साधन है। यह हमारे अभिमानके मिथ्यात्वको मिटा देनेवाली महौषध है।

प्रार्थनाके शब्दोंद्वारा जो-जो सद्भावनाएँ, ऊँची इच्छाएँ प्रकट की जाती हैं, उनसे एक प्रकारका आध्यात्मिक प्रवाह (Spiritual current) फैलने लगता है। सच्चे प्रार्थीके इर्द-गिर्दका समस्त वातावरण पवित्र—शान्ति तथा दिव्य प्रेमसे पवित्र हो उठता है।

श्रीयुत रमाशंकर शुक्लकी सम्मतिमें 'जीवनके प्रारम्भके साथ होनेवाली प्रार्थना एक आशीर्वाद है और जीवनकी समाप्तिके साथ की जानेवाली प्रार्थना उस आशीर्वादके प्रति हार्दिक कृतज्ञता है। इन दोनोंके मध्यमें जीवनका विशाल कार्यक्षेत्र है।

“जब पवित्रता तथा दिव्यताके ये सुमधुर क्षण क्रम-क्रमसे हमारी एक-एक पुकारके साथ हृदयमें नक्षत्रोंकी तरह चमकने लगते हैं, तब अन्धकार भी हमें सुहावना प्रतीत होने लगता है। उस समय निराशाका तमिल भी हमारे लिये सौन्दर्यमय हो जाता है।

“कभी-कभी हमारी साधना जीवनके घोर अन्धकारमें उस आदिश्रोत ईश्वर, उस दिव्यताका दर्शन पानेके लिये व्याकुल हो उठती है, जो हमारी आत्माका उद्गमस्थान है। तब आशाका एक क्षण आता है, जब निराशाकी कालिमा गायब हो जाती है। हमारी अन्धकारमयी भावना चन्द्रिकाके मृदुल हास्यसे उल्लसित हो उठती है, तब ईश्वरीय ज्योतिकी एक रश्मिका दर्शन होता है। वह हमारी प्रार्थनाकी शुभ ज्योति है, वह हमारी श्रद्धाका पुण्यफल है।” इस प्रकार सच्ची प्रार्थना हमारे जीवनको पवित्रता और दिव्यतासे



## आध्यात्मिक क्षेत्रमें प्रार्थनाका स्थान

अंग्रेज कवि टेनिसनने सच ही कहा है कि 'विना प्रार्थनाके मनुष्यका जीवन पशु-पक्षियों-जैसा शुष्क, नीरस और अन्धकारमय है ।' हमारा सांसारिक जीवन द्वन्द्व, द्वेष, छल, छद्म, ईर्ष्या, मत्सरसे विपैला हो उठा है । हम क्रोधके आवेशमें लगातार जलते रहते हैं । सैकड़ों तृष्णाओंकी ओर दौड़ते रहते हैं । कामुकता हमें विषयोंकी ओर खींच-कर पतनोन्मुख बनाती रहती है । हम विवेकहीन होकर नये काल्पनिक सुखोंकी ओर भागते रहते हैं । इस प्रकार हमारा मन मलिन पदार्थोंसे गंदा हो उठा है ।

उस मानसिक मलको धोकर स्वच्छ करनेकी बड़ी आवश्यकता है । वासना, अहंकार, तृष्णा, लालच आदि आसुरी विकारोंसे मुक्त होनेके लिये हमें अपनी आत्माके सद्गुणोंको जगाने और विकसित करनेकी जरूरत है । दैवी भावनाओंको प्रदीप्त करने और आत्माका प्रकाश फैलानेके लिये प्रार्थना ही सर्वोत्कृष्ट साधन है । जब मनुष्य ईश्वरको अपने सम्मुख मान, अपने दोष स्वीकार कर आत्मासे करुण पुकार निकालता है, तब उसे आन्तरिक शान्ति प्राप्त होने लगती है । आसुरी विकार धुल जाते हैं । विनम्रता, करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति आदि गुण प्रार्थनाके द्वारा ही विकसित होते हैं ।

अहंकारसे मुक्तिके लिये मनुष्यको किसी बड़ी सत्ताके

सम्मुख विनम्र होना पड़ेगा । सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ईश्वर सर्वशक्तिमान् सत्ता है । विनम्रतापूर्वक उस सर्व-शक्तिमान्को आत्मसमर्पण करनेसे मिथ्या गर्व नष्ट हो जाता है । प्रार्थनासे करुणाकी निर्मल भावनाएँ प्रखर हो जाती हैं ।

प्रार्थनामें हम ईश्वरके गुणोंका स्मरण करते हैं । दया, प्रेम, उदारता, दान, संयम, सदाचार, पुण्य, परमार्थ-जैसे सद्गुणोंके स्मरणसे हममें आस्तिकताकी भावनाएँ जागती हैं । हमारी आसुरी दुष्प्रवृत्तियाँ रोगके कीटाणुओं-की तरह नष्ट हो जाती हैं ।

प्रार्थना जो भगवान्से वार्त्तालाप करनेकी एक आध्यात्मिक प्रणाली है । प्रार्थनामें प्रार्थीका हृदय बोलता है, विश्वहृदय ( ईश्वर ) सुनता है । जिस आत्मशक्तिसे यह अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न, लालित-पालित हो रहा है, उससे तादात्म्य स्थापित करनेका एक उपाय हमारी सच्ची प्रार्थना है । सच्चे आर्त्त हृदयकी करुण पुकार ईश्वर सुनता है और उसका उत्तर भी देता है ।

आध्यात्मिक उन्नतिके लिये प्रार्थना अनिवार्य है । इस अन्धकारावृत संसारमें काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकार सच्ची प्रार्थनासे ही धोये जा सकते हैं । सच्ची प्रार्थनासे मानसिक भार हल्का होता है, सत्-ज्ञानका उदय होता है, अन्धकारमय हृदयमें प्रकाश होता है । अतः अपने दैनिक जीवनमें प्रार्थनाको अवश्य स्थान दें ।

## प्रार्थना

मुझे प्रभु ! दो वह सुन्दर स्थान ।  
जहाँ गा सकूँ सरस तुम्हारा मैं अचिन्त्य यश-गान ॥  
जहाँ न हो मानापमानका तनिक भी नहीं भान ।  
जहाँ न हो स्तुति-निन्दा प्रिय-अप्रियका तनिक विधान ॥  
जहाँ न हो बँटवारेको कुछ धन-धरणी-सामान ।  
जहाँ न हो नकली पर्दा, जो झूठ दिखावे शान ॥  
जहाँ सत्य नित रहे प्रकाशित, विना बाहरी वेष ।  
जहाँ प्रेमका शुद्ध सुधा-रस बहता रहे अशेष ॥  
जहाँ सरल शुभकी धारामें सब वह जाय भदेस ।  
जहाँ भरा हो भगवदीय भावोंसे सारा देश ॥

—भाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )



# परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहूँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

( लेखक—श्रीमोरेश्वर सीताराम पिंपळे )

जिसके मनमें परहित प्रतिष्ठित रहता है, उसके लिये जगत्में कुछ भी दुर्लभ नहीं है—यह मानव-जीवनका मथित सत्य है । समस्त विश्वका इतिहास इस ध्रुव सत्यकी उद्घोषणा मुक्तकण्ठसे कर मानव-जीवनकी सफलताके रहस्यका उद्घाटन कर रहा है । फिर भी मूढ़ मनुष्य इतिहासके इस अमर संदेशकी अवहेलना कर अपने संकुचित स्वार्थके पचड़ेमें ही अपना दुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ ही गँवा देता है । अपने निजकल्याणका प्रशस्त मार्ग देखते-जानते-समझते हुए भी तत्कालके क्षणिक सुखके लोभमें भौतिक सुखोंके चक्करमें पड़कर सुखी जीवनके राजमार्गका त्याग कर स्वार्थ-लोभपतनमें फँसता है और अपना समस्त जीवन दुःखमय बना लेता है । वह अपने हाथों अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी चलाता है ।

मनुष्य प्रभु-सृष्टिका श्रृङ्गार है । विश्वकी सृष्टिमें सृष्टिकर्ता जगन्निन्यन्ता प्रभुने मानवकी रचनामें ही विशेष ध्यान देनेका अनुग्रह किया है । मनुष्य-शरीरमें दयालु प्रभुने ववेकरूपी अमोघ अस्त्रकी रचना की है । मनुष्यका विवेक प्रभुप्रदत्त ऐसा अलौकिक यन्त्र है—ऐसा अनाखा केरोमीटर है, ऐसा विश्वस्त मित्र है, जो मनुष्यकी हर पलमें कृपासागरसे रक्षा करता है और उसके कल्याणका सफल एवं सुखी जीवनका राजमार्ग प्रशस्त करता जाता है । यदि मनुष्य परमपिता-प्रदत्त इस अलौकिक देनका—अपने विवेकका ही सम्मान एवं सदुपयोग करे और विवेक-दर्शित मार्गका ही जीवनमें अनुसरण करे तो विश्वमें कोई सामर्थ्य नहीं, जो उसका बाल भी बाँका कर सके । उसका कल्याण, उसका सफल-सुखी जीवन उसी तरह सुनिश्चित है, जैसा कि दिनके बाद रातका होना । इसमें अगर-मगरको कोई स्थान ही नहीं । यह तो भौतिक विज्ञानका विधान नहीं, वरं उस महान् वैज्ञानिक विश्वसंचालक सृष्टिकर्ता परमेश्वरका विधान है ।

‘परोपकाराय इदं शरीरम्’—विश्व-रचयिता परमात्माका मानवनिर्माणका प्रयोजन यही है कि मनुष्य संसारमें जाकर विश्वकल्याणमें रत रहे । अथवा दुर्लभ मनुष्य-जीवन परहितके पावन यज्ञमें ही समर्पित करे । इसी ध्येयसे, इसी लक्ष्यसे, सृष्टिकर्ता परमात्माने मनुष्यशरीरमें परहितकी सम्पूर्ण क्षमता प्रदान की है, समस्त साधन जुटा दिये हैं । किंतु

मूढ़ मनुष्यने संसारमें आकर ईश्वरके इस विधानकी ही अवहेलना की । निर्माता प्रभुके संदेशको ही अनसुना किया और दुःखके गर्तमें जा डूबा । सुदुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ ही गँवा बैठा ।

पक्षिराज जटायुने सीताहरणके समय राक्षसराज-रावणके पंजेसे भगवती सीताजीको मुक्त करानेके पावन ध्येयसे, परोपकारकी सद्भावनासे रावणसे युद्ध किया । जिस युद्धमें पक्षिराज जटायु आहत हुए, लहू-लुहान प्राणान्त स्थितिमें श्रीरामजीके चरणोंका स्पर्श ही कर रहे थे कि प्रभु राघवदेव स्वयं उनके समक्ष उपस्थित हुए । कृपासागर श्रीरघुवीरने अपने कर-कमलसे उनके सिरका स्पर्श किया । शोभाधाम श्रीरामजीका परम सुन्दर मुख-कमल देखकर जटायुकी सब पीड़ा न मालूम कहाँ जाती रही । पक्षिराज जटायुने रावण-युद्धका, श्रीसीताजीके रावणद्वारा हरणका समस्त वृत्तान्त श्रीरघुवीरको सुनाया और अन्तमें यही कहा—‘हे कृपानिधान आपके दर्शनोंके लिये ही मैंने अपने प्राण रोक रखे थे, अब ये चलना चाहते हैं ।’ दयालु प्रभुने परोपकारी जटायुको जीवनदानका वचन भी दिया, जिसपर जटायुने यही उत्तर दिया—‘हे नाथ ! आपके नामस्मरणसे ही अधम भी मुक्त हो जाता है, ऐसा वेद गाते हैं, तब फिर मैं तो आपके लाक्षाव दर्शन ही कर रहा हूँ । अब किस हेतु, किस कमीकी पूर्तिके लिये देह रखूँ ?’ इसपर श्रीरघुनाथजी नेत्रोंमें जल भरकर कहते हैं—‘हे तात ! आपने अपने श्रेष्ठ कर्मोंसे दुर्लभ गति पायी है ।

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहूँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

( मानस ३ । ३० । ५ )

अखण्ड भक्तिका वर माँगकर जटायु श्रीहरिके परमधामको चले गये । प्रभु श्रीरामजीने निज हाथोंसे जटायुकी उत्तर-क्रिया की । गोध पक्षियोंमें भी अधम पक्षी माना जाता है, मांसाहारी होता है । फिर भी केवल परहितके पावन यज्ञमें उसने अपना जीवन समर्पित किया, इसी पुण्यप्रतापसे उसने दुर्लभ गति सम्पादन की । श्रीहरिके परमधामकी प्राप्ति की, जिसके लिये योगीजन भी तरस्ते हैं । तात्पर्य यह कि परहित जिसके जीवनकी आधारशिला है—परहित ही जिसका महान् व्रत है, उसे संसारमें कुछ



भी दुर्लभ नहीं । असम्भवको भी सम्भवमें परिणत करनेकी उसमें क्षमता होती है, सामर्थ्य विद्यमान रहती है ।

कविशिरोमणि पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजीने अपनी अलौकिक रचना श्रीरामचरितमानसमें मानव-कल्याणके रहस्यका उद्घाटन करते हुए यही अमर संदेश विश्वको सुनाया है—  
परहित सरिस धर्म नहीं भाई । परपीड़ा सम नहीं अधमाई ॥

( ७ । ४० । १ )

आदिकविने परहितको ही श्रेष्ठ मानव-धर्म प्रतिपादित किया है और परपीड़ाको अधम-से-अधम पातक उद्घोषित कर मानवके सफल सुखी जीवनके राजपथका दिग्दर्शन किया है ।

आदिकवि श्रीव्यासजीने भी अष्टादश पुराणोंमें समस्त धर्म-का निचोड़ केवल दो ही शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त किया है—

‘परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ।’

हमारे समस्त शास्त्र-पुराणोंने, हमारे ऋषि-महर्षियोंने, हमारे ही नहीं, वरं समस्त विश्वके इतिहासने एक स्वरसे मुक्तकण्ठसे विश्वको ‘परहित’का ही अमर संदेश—मानव-कल्याणका मधुर संगीत सुनाया है । किसी विद्वान्ने कहा भी है—‘वही मनुष्य है कि जो मनुष्यके लिये मरे’ अर्थात् परहितमें जो अपना सर्वस्व बलिदान करने, आत्म-बलिदान तक करनेको तत्पर रहे, वही मनुष्य मनुष्य है । वही मानव कहलाने-का अधिकारी है । जो ऐसा नहीं करते, वे मनुष्य कहलानेके अधिकारी ही नहीं ।

‘स्व’ और ‘पर’ अपना और परायाके भेदकी प्रवृत्ति ही मनुष्यको धर्मसे अधर्मकी ओर, पुण्यसे पापकी ओर प्रवृत्त करती है और उसके पतनका कारण बनती है । अतएव मनुष्यका कर्तव्य है कि ‘स्व’ और ‘पर’की संकुचित सीमाका त्याग करे और पशुतासे ऊपर उठे । ‘परहित’को ही अपना जीवन-सहचर बनाये । अपना दुर्लभ मनुष्य-जीवन परहितके ही पावन यज्ञमें समर्पित करे ।

ज्यों ही मनुष्य परहितका व्रत धारण करता है, त्यों ही उसके समस्त दोष—काम, क्रोध, मोह, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष—आप-ही-आप पलायन कर जाते हैं और समस्त सद्गुण, दया, धैर्य, क्षमा, सहृदयता, सौजन्यता, परदुःख-कातरता, सहानुभूति, करुणा आदि सभी आप-ही-आप अप्रयास उसके पास खिंच आते हैं । वह अजातशत्रुके पदपर प्रतिष्ठित होता है । विश्व-भैत्री, विश्वबन्धुत्व स्थापित करनेकी उसमें क्षमता एवं सामर्थ्य विद्यमान रहती है और उसका समस्त जीवन एक अहंकारयुक्त सुरक्षित पुष्पवाटिका बना बैठता है, जिसमें

वह स्वच्छन्द विहार करता है और चिर शाश्वत सुखी जीवनके चरम लक्ष्य ‘भगवत्प्राप्ति’ की उपलब्धि करता है ।

‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’—परहित-रत मनुष्यका पुण्यमय व्रत होता है । वह अन्योके दुःख-दर्दको अपना दुःख-दर्द समझता है, अन्योकी पीड़ासे कातर हो उठता है । उसे स्वार्थकी चिन्ता नहीं होती । उसे तो चिन्ता होती है परहितकी । उसे स्वार्थ-साधन अथवा द्रव्य-प्राप्तिका तो ध्यान ही नहीं होता । अमीरी-गरीबीका प्रश्न तो उसके मनमें उत्पन्न ही नहीं होता । निर्धन होते हुए भी वह परहित-साधन करता है, परहितकी अलौकिक पूँजी सम्पादन करता है और अप्रयास ही यथार्थ धनवान् श्रीमान् पूँजीपतिके रूपमें प्रतिष्ठित होता है । ‘आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः’—इस तरह परहित-रत मनुष्य ही यथार्थ पण्डित होता है, विद्वान् एवं ज्ञानवान् होता है ।

चन्द्र, सूर्य, तारे, वृक्ष, वनस्पति, नद-नदियाँ, मेघ आदि विश्वकी समस्त सृष्टि मनुष्यको परहितका ही मानव-कल्याणकारी मधुर संगीत सुनाते हैं । सूर्य, चन्द्र, तारे—नित्य प्रतिदिन विश्वको प्रकाश प्रदान करते हैं—परहितमें ही रत रहते हैं । बदलेमें अपने लिये कुछ भी नहीं चाहते । निष्ठा-सेवामें ही तत्पर रहते हैं । इस तरह परहितका ही अमर संदेश विश्वको सुनाते हैं ।

किसी कविने इसी सत्यको इस प्रकार व्यक्त किया है—

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः

स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः ।

नादन्ति शस्यं खलु वारिवाहाः

परोपकाराय सतां विभूतयः ॥

नदियाँ आजीवन अनन्त जल-राशिका भार वहन करती हैं, भिन्न-भिन्न स्थानोंसे होकर अपने जलसे अन्योका कल्याण करती हैं, स्वतः उस जलका पान नहीं करती हैं—कष्ट उठाती हैं और कल्याण अन्योका करती हैं ।

वृक्षोंको देखिये ? सूर्यका समस्त ताप, सारी गर्मी—सारी धूप तो अपने सिरपर लेते हैं, सारी यातना, सब कष्ट तो स्वयं सहन करते हैं और सुख पहुँचाते हैं अन्योको । अपनी शीतल छाया प्रदान करते हैं । सुखादु फलोंके मधुर आहारका प्रचुर दान अन्योको करते हैं और सुख पहुँचाते हैं । अपने मधुर फल स्वयं नहीं खाते—दूसरोको खिलाते हैं । मेघोंको देखिये ? वे युग-युगसे जल भरकर लाते हैं और धरतीके अञ्चलको आर्द्र करते हैं । कष्ट स्वयं उठाते हैं और कल्याण करते हैं अन्योका ।



इस तरह आप देखेंगे, 'परहित'—परोपकार ही सृष्टिका भी नियम है। सृष्टिने भी 'परहित' को ही श्रेष्ठ धर्म प्रतिपादित किया है।

हमारी प्राणप्यारी भारतीय संस्कृतिने भी 'परहित' को ही श्रेष्ठ धर्म निर्धारित किया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पावन सिद्धान्तपर ही हमारी गौरवशाली प्राचीन संस्कृति आधारित थी, हमारे ऋषि-महर्षियोंने भी विश्व-कल्याणकी यही कामना इन शब्दोंमें व्यक्त की है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत् ॥

अर्थात् सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबका कल्याण हो। किसीको भी दुःख प्राप्त न हो। हमारे देशमें, हमारी भारतीय संस्कृतिमें ऐसी पवित्र पुण्यमय भावनाओंकी भागीरथी नित्य प्रवाहित होती रही है। हमारे देशका जीवन आध्यात्मिक पवित्र जीवन रहा है। हमारे समस्त कार्य 'बहुजन-हिताय, बहुजनसुखाय' की पावन भावनासे प्रेरित होते रहे हैं। ऐसा महान् आदर्श जीवन रहा है हमारी इसी पुण्य-भूमिका, इसी भारत-भूमिका। इसी पुण्यभूमिने ऐसे-ऐसे महापुरुषोंको जन्म दिया है, जिन्होंने 'परहित' के पावन यज्ञमें ही अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया है। आत्म-बलिदानतक कर दिया। आज भी उनका यशोगान इस वसुंधरापर गूँज रहा है और 'परहित' का ही मधुर संगीत—अमर संदेश विश्वको सुना रहा है। रन्तिदेवने क्षुधासे पीड़ित द्वारस्थको देखते ही अपनी थाल उसके आगे बढ़ा दी। वृत्रासुर राक्षसका विनाश महर्षि दधीचिकी अस्थियोंसे विनिर्मित अस्त्रोंसे ही सम्भव हो सका। इन समस्त सृष्टि-नियमोंसे, ऐतिहासिक प्रमाणोंसे मथित सत्य यही प्रस्फुटित होता है कि 'परहित' ही मानव-जीवनका ईश्वरीय विधान है, जिसका सम्मान करना मनुष्यका परम कर्तव्य है।

तभी तो राष्ट्रपिता बापूने इस विज्ञान-युगमें—वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र, एटम बमके युगमें—भी शान्तिपूर्ण 'अहिंसा' के ही अलौकिक अमोघ अस्त्रसे महान् शक्तिशाली अंग्रेजोंके पंजेसे सदियों पुरानी परतन्त्रताकी जंजीरें काटकर देशको मुक्त किया। समस्त विश्व चकाचौध-विस्फारित नेत्रोंसे असम्भवको सम्भवमें परिणत करनेवाला विश्वके इतिहासका यह अद्वितीय चमत्कार देखकर भौचक्का-सा रह गया। क्या देश, क्या विदेश, कोई भी, तनिक-सा विश्वास नहीं करता था कि आजके इस विज्ञान-युगमें मनुष्य निश्शस्त्र स्वतन्त्रता प्राप्त

कर सकता है। भारतमाताके इस महान् पराक्रमी लाड़ले सपूतने अपने इस चमत्कारसे विश्वको महाभारतके ऐतिहासिक संग्रामकी सत्यता सिद्ध कर दिखायी। यह भारत-भूमि चमत्कारोंकी भूमि है। इस पुण्य-भूमिपर ऐसे ही चमत्कार होते आये हैं, जो विश्वके इतिहासमें अन्यत्र नहीं हुए। महाभारतके ऐतिहासिक संग्राममें योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंका पक्ष लेकर अस्त्र-शस्त्र एवं नारायणी सेनासे सुसज्जित कौरवोंके स्वयं निश्शस्त्र युद्ध कर पाण्डवोंको विजय प्राप्त करायी थी, जो विश्वके इतिहासका एकमात्र चमत्कार था। राष्ट्रपिता बापूने अपनी प्रखर तपस्यासे महाभारतके उसी इतिहासको सन् १९४७ ई०में विश्वमें दुहराया और समस्त विश्वको यह सिद्ध कर दिखाया कि परहितव्रतीको संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। आप देखेंगे कि हमारे सद्गुण्य 'रामचरितमानस' के रूपमें पूज्यपाद गोस्वामीजीने देशको ऐसी अलौकिक सम्पत्ति प्रदान की है, जिसका देश यदि समुचित सदुपयोग करे तो आजकी उलझनोंको, गुत्थियोंको सहज ही हल कर आजकी समस्याओंसे अपनी रक्षा कर सकता है।

इसी श्रेष्ठ मानव-धर्म 'परहित' के ही पावन ध्येयको लेकर हमारे महान् तपस्वी अग्रगण्य धर्मप्राणनेता एवं प्राणप्यारी भारतीय संस्कृतिके अनन्य पुजारी प्रातःस्मरणाय महामना पं० मदनमोहनजी मालवीयने अपनी प्रखर तपस्यासे आशुतोष भगवान् विश्वनाथकी पावन नगरीमें सुरम्य गङ्गातटपर स्थित विशाल वैभवशाली सरस्वतीका मन्दिर 'काशी हिंदू-विश्वविद्यालय'का निर्माण किया था, जहाँ देश-विदेशके विद्यार्थी विद्या तथा ज्ञान उपार्जन कर अपना जीवन सफल, सुखमय और सार्थक बनाते हैं। काशीका हिंदू विश्वविद्यालय उस महान् आत्माकी प्रखर तपस्याकी पुष्प-पताका है, वन्द्य मालवीयजी महाराजकी भारतको अमर भेंट है, महाराजके 'परहित'रत पुण्यमय जीवनका मूर्तिमात्र प्रतीक है। सरस्वतीका यह विशाल वैभवशाली मन्दिर महाराजकी धवल परहित-निष्ठाका मधुर यशोगान मुक्तकण्ठसे समस्त विश्वको सुना रहा है।

अतएव मनुष्यका यही पावन कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने सुर-दुर्लभ मनुष्य-जीवनको परहितके पावन यज्ञमें ही समर्पित करे और इस तरह अपना मानव-जन्म सफल और सार्थक बना, जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिका सम्पादन करे। आशुतोष भगवान् शूलपाणि विश्वनाथ—देशको यही सद्बुद्धि प्रदान कर देशको प्राचीन वैभवका शिखर प्राप्त करावें—यही है दयालुसे नतमस्तक करबद्ध प्रार्थना।



# पढ़ो, समझो और करो

( १ )

## एक प्रेरक प्रसङ्ग

संवत् १९८३ की बात है। उन दिनों श्रीभाईजी बम्बईमें रहते थे। 'कल्याण'का आरम्भ हुए अभी एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ था। श्रीभाईजीका मन पारमार्थिक साधनाकी ओर बढ़ रहा था और बम्बईके प्रपञ्चमय जीवनसे उन्हें उपरामता होने लगी थी। भगवान्को उन्हें अपने काममें लगाना था। अतएव दैवप्रेरणासे जगत्की नश्वरताके विविध चित्र सामने आ रहे थे। श्रीभाईजीके एक मित्र थे, वे बड़े ही शौकीन थे। अपने शरीरकी सार-सँभालका वे बड़ा ध्यान रखते थे। पर दैवकी गति विचित्र है; वे अचानक बीमार हुए और उनका शरीर छूट गया। परिवार एवं स्वजनोंके हृदय चीत्कार कर उठे। सबने रोते-रोते अर्थात् तैयार की और शवको श्मशानघाट ले चले। श्रीभाईजी भी उस शव-यात्रामें साथ थे। श्मशानघाटपर पहुँचनेपर चिता बनायी गयी और उसपर मित्रका शव रख दिया गया। आगका संयोग होते ही चिता धू-धू करके जल उठी और मित्रका वह शरीर, जिसे वह दिनभर सजाया करता था, जलने लगा। वे सुन्दर-सुन्दर केश फुर-फुर जलते हुए क्षणोंमें राख हो गये। श्रीभाईजी यह सब दृश्य देख रहे थे। उनके हृदयमें एक अजीब-सा कम्पन हो रहा था। जगत्के इस नश्वर रूपको देखकर वैराग्यकी भावना प्रखर होने लगी। वहीं श्मशानभूमिमें जलती चिताकी ओर देखते हुए वे मन-ही-मन गुणगुनाने लगे और हृदयकी भाव-तरंगोंने वाणीका रूप ले लिया। वहीं श्मशानमें एक लंबा पद बन गया, जो इस प्रकार है—

पलभर पहले जो कहता था यह धन मेरा यह घर मेरा ।  
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥  
जिस चटक-मटक और फैशनपर तू है इतना भूला फिरता ।  
जिस पद-गौरवके रौरवमें दिन-रात शौकसे है गिरता ॥  
जिस तड़क-भड़क और मौज-मजोंमें फुरसत नहीं तुझे मिलती।  
जिस गान-तान और गप्प-सप्पमें सदा जीभ तेरी हिलती ॥  
इन सभी साज-सामानोंसे छुट जायेगा रिश्ता तेरा ।  
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥१॥  
जिस धन-दौलतके पानेको तू आठों पहर भटकता है ।  
जिन भोगोंका अभाव तेरे अन्तरमें सदा खटकता है ॥

जिस सबल देह सुन्दर आकृतिपर तू इतना अकड़ा जाता ।  
जिन विषयोंमें सुख देख रहा, पर कभी नहीं पकड़े पाता ॥  
इन धन-जोवन, बल-रूप—सभीसे दूटेगा नाता तेरा ।  
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥२॥  
जिस तनको सुख पहुँचानेको तू ऊँचे महल बनाता है ।  
जिसके विलासके लिये निरन्तर चुन-चुन साज सजाता है ॥  
जिसको सुन्दर दिखलानेको है साबुन-तेल लगाता तू ।  
जिसकी रक्षाके लिये सदा है देवी-देव मनाता तू ॥  
वह भूलि-भूलरित हो जायेगा सोने-सा शरीर तेरा ।  
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥३॥  
जिस नश्वर तनके लिये किसीसे लड़नेमें नहीं सकुचाता ।  
जिस तनके लिये हाथ फैलते जरा नहीं तू शरमाता ॥  
जो चोर-डाकुओंके डरसे नित पहरोंके अंदर सोता ।  
जो छायाको भी भूत समझकर डरता है, व्याकुल होता ॥  
वह देह खाक हो पड़ा अकेला सूने मरघटमें तेरा ।  
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥४॥  
जिन माता-पिता, पुत्र-स्वामीको अपना मान रहा है तू ।  
जिन मित्र-बन्धुओंको, वैभवको अपना जान रहा है तू ॥  
है जिनसे यह सम्बन्ध टूटना कभी नहीं तैने जाना ।  
है जिनके कारण अहंकारसे नहीं बढ़ा किसको माना ॥  
यह छूटेगा सम्बन्ध सभीसे होगा जंगलमें डेरा ।  
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥५॥  
है जिनके लिये भूल बैठा उस जगदीश्वरका पावन नाम ।  
तू जिनके लिये छोड़ सब सुकृत पापोंका है बना गुलाम ॥  
रे भूले हुए जीव ! यह सब कुछ पड़े यहीं रह जायेंगे ।  
जिनको तैने अपना समझा वे सभी दूर हट जायेंगे ॥  
हो जा सचेत ! अवद्यर्थ गवाँ मत, जीवन यह अमूल्य तेरा ।  
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा ॥६॥

—जगत्में स्वजनों-मित्रोंकी मृत्युके प्रसङ्ग बराबर आते हैं, पर हमलोग सब-कुछ देखते हुए भी नहीं बदलते। किंतु श्रीभाईजीके पवित्र हृदयने उस घटनासे जो प्रेरणा ली, वह उनके जीवनमें स्थायी हो गयी। कुछ ही दिनों बाद वे अपना सब कारोबार समेटकर गोरखपुर चले आये और जगत्में रहकर भी वे जगत्में नहीं रहे तथा शेष जीवन 'कल्याण' एवं गीताप्रेसकी सेवामें—भगवान्की सेवामें होम दिया। वास्तवमें 'कल्याण' एवं भाईजी पर्याय हो गये थे।

—कृष्णचन्द्र अग्रवाल



( २ )

### श्रमके आनन्दका मूल्य

आजसे पचास वर्ष पूर्वकी घटना है। उस समय सौराष्ट्र प्रदेश अनेक राज्योंमें और छोटे-छोटे जागीरदारोंकी जागीरोंमें विभक्त था। जामनगर राज्यमें एक राज-कुटुम्बके जागीरदार थे जवानसिंहजी। छः गाँवोंकी जागीर थी और जवानसिंहजी इसी छोटी जागीरसे अपने कुटुम्बका निर्वाह करते थे। जागीर छोटी थी, मगर वे हृदयके उदार और शौकीन भी थे।

जवानसिंहजी एक घोड़ेकी बग्गीको स्वयं चलाते थे। उस समय मोटरोंकी इतनी भरमार न थी और न उनका उतना महत्व ही था।

एक दिनकी बात है, एकादशीका दिन था। अपनी बग्गी लेकर जवानसिंहजी अपने एक गाँवमें गये हुए थे। लौटते समय मार्गमें ही बग्गीका एक पहिया टूट गया। बड़े प्रयत्नसे वे नजदीकके गाँवमें बग्गीको ले जा सके। वह गाँव अपनी जागीरका नहीं था। वे एक बड़ईके वहाँ पहुँचे और उसे बग्गीका पहिया मरम्मत करनेको कहा। बड़ई बोला—‘आज एकादशीका दिन है, काम भी बंद है और भट्ठीकी धौकनी चलनेवाला नौकर भी छुट्टी लेकर अपने घरको गया हुआ है। अगर एक भी नौकर हाजिर होता तो मैं आपका काम अवश्य कर देता। यदि आप कुछ सहायता कर दें तो काम हो सकता है। अपने काममें सहयोग देनेमें शर्म क्या है?’ बड़ईकी बात जवानसिंहको लग गयी। ‘तुम फिर मत करो’, जवानसिंहजी बोले। ‘मैं स्वयं भट्ठीकी धौकनी चला दूँगा, तुम मेरा काम कर दो, मुझे अभी दूर जाना है।’

‘अच्छी बात है।’ कहकर बड़ईने अपना काम शुरू किया। धौकनी चलानेका काम स्वयं जवानसिंहजी करने लगे। थोड़ी देरमें पहिया तैयार हो गया।

जवानसिंहजी स्वयं जागीरदार और आरामप्रिय थे, किसी प्रकारकी मेहनत करनेके आदी नहीं थे। फिर इतना परिश्रम तो उन्होंने जिंदगीमें कभी किया ही नहीं था। पसीनेसे लथपथ हुए उन्होंने बड़ईसे पूछा—‘कितनी मजदूरी देनी होगी, तुम्हें?’

‘सिर्फ ६ कौरी।’ बड़ई बोला—‘आप पाँच कौरी देंगे, तो भी चला दूँगा।’

कौरी उस समयकी जामनगर स्टेटका चाँदीका सिक्का था, उसकी कीमत चार आनेके बराबर थी।

रूमालसे पसीना पोंछते हुए जवानसिंहजीने जेबमें हाथ डालकर सोनेके छः सिक्के निकाले और वे बोले—‘ये ले लो।’

सोनेकी छः गिन्नियाँ देखकर बड़ईको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह आगन्तुक ग्राहकके सामने आँखें फाड़कर देखने लगा—‘मेरी मजदूरीकी छः कौरी होती है, आपने भूलसे मुझे...’

‘नहीं मेरे मित्र!’ जवानसिंहजी बोले, ‘मैंने तुम्हें जो दिया है, समझकर ही दिया है। छः कौरी तो तुम्हारी मजदूरी होती है, और शेष रकम तुमने मुझे परिश्रम सिखाया, उसकी गुरुदक्षिणा है। मैंने आजतक श्रमका आनन्द नहीं पहचाना; आज मुझे जो आनन्द मिला, उसकी यह तुच्छ भेंट है—’ यह कहते हुए जवानसिंहजी बग्गीमें बैठकर चल पड़े।

(‘मंगलमन्दिर’)

—पं० मंगलजी शास्त्री

( ३ )

### गरीब बुढ़ियाकी ईमानदारी

बगहाके पास ग्राम चखनीके ईसाई पादरीने बेतिया बैंकसे २८ हजार रुपयेका भुगतान लिया और मोटर-साइकिलसे लौरिया पिरोड होकर जा रहे थे। वे शनीचरी चौकसे कुछ ही आगे बढ़े होंगे कि उनका रुपयोंका पर्स सड़कपर गिर गया, जिसका उन्हें पता ही न चला। बहुअरआ गाँवकी एक वृद्ध चमारिनने सड़कपर उसे देखा और चुपचाप उठाकर उसे अपने घर ले आयी।

घर आकर उसने बेग खोला तो उसमें नोट-ही-नोट भरे थे। उस बुढ़ियाके आगे-पीछे कोई न था, केवल वारिसके तौरपर एक नाती था। वह तो इधर-उधर मेहनत-मजदूरी करके अपना गुजर करती थी। उस बेगमें भरे नोटोंको देखकर उसकी आँखें खुली रह गयीं। उसने पहली बार इतने नोट देखे थे, फिर हाथमें लेने और वसमें रखनेका तो बेचारीको कभी अवसर मिल भी कैसे सकता था। इतने नोट उसकी जिंदगीको काफी थे, बची हुई धनराशिसे उसके नातीका काम चल सकता था।

वृद्धाको सड़कपर जब नोटोंसे भरा पर्स मिला था, उससे कुछ क्षण पूर्व ही उसने पादरी साहबको जाते हुए देखा था। उसके बाद सड़कपर निकलते उसने किसीको भी नहीं देखा; अतः उसके मनमें विश्वास हो गया था कि ये नोट उसी पादरीके होंगे। अतः वह अपने घरसे चलकर उसी स्थानपर आकर बैठ गयी कि जब पादरीको अपने



कोके गिर जानेका ध्यान आयेगा, तब वह वैसे ही लौटकर आयेगा और तभी वह अपनी बात उसे कह देगी। वह वृद्धा जवतक सड़कपर आयी, तबतक पादरी साहब बेतियाकी ओर चले गये और वहाँ जाकर उन्होंने थानेमें रिपोर्ट लिखवायी और लोरिया थानेमें भी फोनद्वारा सूचना भिजवा दी।

पादरी बड़े उदास होकर घरकी ओर लौट रहे थे; क्योंकि जिस मार्गसे वे पहले गये थे, उस मार्गको दूसरी बार उन्होंने देख ही लिया था। उधरसे पादरी साहबको गुजरते देख, उस वृद्धाने उन्हें हाथ देकर रोका और रुपये मिलनेकी सारी बात कही। अंधेको चाहिये दो आँखें। पादरीकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वह वृद्धाके साथ उसके घरपर गये और नोटोंका वेग मिल जानेसे उनका चेहरा खिल उठा। इतने रुपये तो वे अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर भी न दे पाते। वे तुरन्त ही तीन हजार रुपये निकालकर उस वृद्धाके हाथपर रखने लगे। पर वृद्धाका सीधा-सादा उत्तर था—‘बेटा ! ये रुपये तो तुम्हारे हैं; इनपर मेरा क्या अधिकार है। यह तो मेरा कर्तव्य था कि सड़कपर मिली हुई चीज उसके मालिकके हवाले कर दूँ। यदि तुम न मिलते तो मुझे ये नोट थानेमें जमा करवाने पड़ते। मेरी इतनी उम्र हो गयी, सुफ्तका एक भी पैसा आजतक मैंने नहीं लिया। मेरा पेट भरनेको तो मेरे हाथ-पैर अभी चलते हैं।’

पादरीके बहुत कहनेपर भी बुढ़ियाने नोट स्वीकार नहीं किये। आखिर उसे कहना पड़ा—‘माँ ! तुम्हारी कृपाको मैं जीवनभर नहीं भूल सकूँगा। आज मुझे पता चला कि इस दुनियामें ईमानदार व्यक्तियोंकी कमी नहीं है।’

‘सुग-निर्माण-योजना’

( ४ )

## आदर्श मैत्री

थोड़े दिन पहले मेरे एक मित्र मेरे यहाँ आये और प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बोले—‘इस बेकारीके जमानेमें मुझे नौकरी मिल गयी है; चार-पाँच दिनमें लिखित आर्डर भी मिल जायगा।’

मित्रकी बात सुनकर हमलोग खुश हुए और उस आनन्दमें मिठाई बाँटी गयी। उसके बाद पंद्रह दिन बीत गये। एक दिन वे मित्र पुनः मेरे घरपर आये और अपनी नौकरीके लिये मुझसे एक प्रार्थनापत्र टाइप कर देनेको कहा। पहले जो नौकरी उन्हें मिलनेवाली थी, वह उन्हें नहीं मिली थी, इसका हमें आश्चर्य हुआ।

हमलोगोंने नौकरी न मिलनेका कारण पूछा, तब उन्होंने स्वाभाविक रूपसे उत्तर देते हुए कहा—‘मैंने प्रयत्न किया, सब कुछ निश्चय भी हो गया; किंतु मेरे भाग्यमें वह नौकरी थी नहीं, इसलिये नहीं मिली।’ वह कहकर उन्होंने बात टाल दी।

थोड़े दिन बाद मुझे उस कार्यालयमें जाना पड़ा; जहाँ मेरे मित्रको नौकरी मिलनेवाली थी। मेरे कागजात जिस क्लर्कके पास थे, वही क्लर्क मेरे मित्रके स्थानपर नियुक्त हुआ था। मैंने सहजभावसे ही उस क्लर्कसे पूछा—‘आपकी जगहपर मेरे एक मित्र मि० देसाई आनेवाले थे, किंतु दुर्भाग्यवश उन्हें यह स्थान नहीं मिल सका।’ देसाईका नाम सुनकर उस भाईके कान खड़े हो गये। उसने कहा—‘क्या मिस्टर देसाई आपके मित्र हैं? वे तो मेरे भी मित्र हैं। मैंनेजरके साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध भी है, अतः नौकरी उनको ही मिलनेवाली थी, परंतु खुशनाशीबीके कारण यह नौकरी उन्हें न मिलकर मुझे मिल गयी। मि० देसाई जब कालेजमें पढ़ रहे थे, उन दिनों उनके ऊपर मेरे कुटुम्बके काफी उपकार किये थे, किंतु आज मेरे कुटुम्बकी स्थिति बहुत बिगड़ गयी है। समस्त कुटुम्बके भरण-पोषणका भार मेरे ही ऊपर आ पड़ा। मैंने मि० देसाईसे भी कहीं नौकरीपर मुझे ल्या देनेकी विनती की थी, परंतु मि० देसाई मेरे लिये कुछ कर न सके। मनुष्य अपने ऊपर किये हुए उपकारोंको कैसे भूल जाते हैं। परंतु भगवान् तो सबके हैं। मेरे भाग्यने जोर किया और यह नौकरी’...

वे भाई अभी अपनी बात पूरी भी न कर पायेथे कि उनके पीछे खड़े हुए उनकी बात सुन रहे आफिसके मैनेजर स्वयं सम्मुख आ खड़े हुए। उनके सम्मानमें हम सब खड़े हो गये। वे हँसते हुए उस क्लर्कसे कहने लगे—

‘मैं आफिसका (राउण्ड) लगानेके लिये निकला था, यहाँ आते हुए मुझे तुम्हारी बात सुननेका मौका मिला। तुम्हें जो नौकरी मिली है, इसमें तुम्हारे भाग्यका हाथ नहीं है। यह नौकरी मि० देसाईकी सिफारिशसे ही मिली है। तुम्हारे कुटुम्बकी परिस्थितिसे मि० देसाई मुझे अवगत कराकर, तुम्हें ही यह नौकरी मिल सके, इसलिये वे अपनी उम्मीदवारीसे हट गये हैं। आश्चर्यकी बात तो यह है कि इस रहस्यको उसने तुमसे भी गुप्त रखा है।’

मैनेजर एक साँसमें ही इतना कहकर आगे बढ़ गये।

( अखण्ड आनन्द )

—गोकुलचंद्र दुआ



( ५ )

## धरोहर

‘आइये, सेठजी !’—गजानन सेठ कोठीकी सीढ़ीपर चढ़ रहे थे कि सखाराम सेठने उनका स्वागत करते हुए कहा—  
‘आप उदास क्यों लगते हैं ? जैसे किसी उतावलीसे आ रहे हैं ?’

‘बात यह है, सेठजी !’ गद्दीपर बैठते हुए गजानन सेठ बोले—‘सुना है कि मेरे जन्मस्थानपर दंगा हुआ है; अतः मैं आज ही अपने जन्मस्थानको जा रहा हूँ। खर्चके लिये थोड़े-से रुपये ले जाऊँगा, शेष रुपये आप जमा रहने दीजिये; आवश्यकता पड़नेपर मैं मँगा लूँगा।’

बहीखातेको खोलकर सखाराम सेठने देखा तो दो हजारका माल जमा था। अपने लाभान्शको काटकर सखाराम सेठने गजानन सेठके नामपर ५०८०) रुपये जमा कर रखे थे। गजानन सेठ महाराष्ट्रके चिपलूण गाँवमें छोटा-सा व्यापार कर रहे थे। मालकी मूल कीमत दो हजारकी होनेपर भी बाजार ऊँचा होनेके कारण इतनी रकम उन्हींके नामपर जमा की गयी थी।

फुटकर ८०) रुपये लेकर बाकीके ५ हजार रुपये सखाराम सेठके यहाँ जमा करवाकर गजानन सेठ अपने गाँव जानेको रवाना हुए। देहातके जंगलमें उन्हें अकस्मात् लुटेरे मिल गये और वे लोग सेठको लाठियोंकी चोटसे बेहोश करके रुपये लेकर भाग गये। मूर्च्छासे जागनेपर उन्होंने देखा कि नजदीकके गाँववाले लोग उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं। सतारा शहर और अपने गाँवके बीचमें एक अनजाने गाँवमें दो-तीन दिन बाद वे चल बसे। सेठकी यहाँ कोई जान-पहचान न होनेके कारण इस बातकी खबर किसीको न मिल सकी।

सतारामें रहनेवाले उनके परिवारके लोग भी गजानन सेठका कोई समाचार न पा सके। बहुत दिनोंतक समाचार न मिलनेके कारण और पत्र देनेपर उसका कोई उत्तर न मिलनेसे सखाराम सेठने उनके पाँच हजार रुपये अपने व्यापारमें लगा दिये। गजानन सेठकी खोज करनेके लिये उन्होंने अपने एक आदमीको देहातमें भेजा।

चार-छः दिन बाद लौटकर उस आदमीने कहा—  
‘बहुत अच्छी खबर लेकर आया हूँ, सेठजी ! लुटेरोंके हाथोंसे गजाननका देहान्त हो गया है और उनके घरमें

उनकी विधवा पत्नी और एक बारह वर्षका पुत्र ही मौजूद है। उन्हें इन रूपयोंका कोई पता नहीं है। गजाननकी मृत्युका पता भी उन्हें एकाध मासके बाद ही मिल सका है। रूपयोंका अब कोई साक्षी नहीं है।’

‘राम ! राम !! राम !!!’ सखाराम सेठने उस सुनीमका कान पकड़कर कहा—‘शंकर, यह तू क्या बोल रहा है ? तेरी बुद्धिपर पत्थर क्यों पड़ गया ? गजाननके घरके लोग पैसे-पैसेके मोहताज बने रहें और मैं इस अन्यायके धनको हड़प लूँ—ऐसी बात फिर कभी मत कहना।’

थोड़े ही समय बाद सखाराम सेठने गजाननकी पत्नी और पुत्रको अपने घरपर बुलाया तथा अपने व्यापारमें लगाये हुए रुपये ब्याजसहित गिनकर उनके सुपुर्द कर दिये। साथ ही उन्हें उनके गाँव पहुँचानेकी व्यवस्था कर दी।

सखाराम सेठके इस सच्चे व्यवहारकी बात सताराके राजा शाहू महाराजने सुनी। उन्होंने सखाराम सेठको अपने दरबारमें बुलाकर बहुमूल्य पोशाक देकर उनका सम्मान किया। राजा साहेबने कहा—‘सखाराम सेठजी ! आप-जैसे सच्चे एवं ईमानदार नागरिकोंकी उपस्थितिसे मैं और मेरा राज्य—  
( सुविचार )

—नटवरलाल पंचाल

( ६ )

## वैसे तो मुझसे कुछ नहीं दिया जाता

एक बार मैं अपने मित्रके गाँव गया था। गाँव छोटा था, पर था बहुत सुन्दर। गाँवके नजदीक कलकल करती हुई नदी बह रही थी तथा किनारेपर सघन वट-वृक्ष थे।

मित्रकी बहिनकी शादी होनेवाली थी। अतः धनकी कमीके कारण पचासके मन गेहूँ बेचना था। गेहूँ देखनेके लिये गाँवके सेठजी आये। मेरे मित्रके पिताने गेहूँका नमूना दिखलाते हुए कहा—‘देखिये, सेठजी ! हैं न अच्छे गेहूँ ? लेशमात्र भी कंकड़-कचरा नहीं है इनमें।’

सेठजीने गेहूँको हाथमें लेकर इधर-उधर फिराया और बोले—‘सत्रह रुपये पचास पैसे मनके मिल सकेंगे।’ मित्रके पिताने अधिकके लिये आग्रह किया। सेठजी बोले—‘पौने अठारह रुपया दूँगा, अब बोलना मत। शामको आकर गेहूँ तौल लेंगे।’

मेरे मित्रके पिताजी आवश्यक कामसे घरसे बाहर चले गये। गाँवके व्यवहारसे मेरे मित्रने सेठजीको चाय पीनेके



खिरे रोक लिया। चाय पीते-पीते मेरे मित्रने कहा—‘देखिये, सेठजी! मैं आपसे कपट नहीं करना चाहता। मेरे पिताजीने जो गेहूँ दिखाये हैं, वे तो साफ किये हुए गेहूँ थे। आपको देनेके गेहूँ इतने अच्छे नहीं हैं। मेरी बहिनकी शारीर कारण गेहूँ बेचने पड़ते हैं। हमारे यहाँ खाने-पीने और बोनके लिये भी पर्याप्त गेहूँ नहीं हैं। परेशानीके कारण बेचना पड़ रहा है; क्योंकि हमलोग शादीकी लेन-देनमें रुपये नहीं लेते। गेहूँका अच्छा भाव मिले तो बहिनकी शादी भलीमाँति हो सके, इसी कारण पिताजीने अच्छे गेहूँ बतलाये हैं। इस प्रकार कपट करनेमें उनके जीमें कम दुःख नहीं हुआ होगा। मैंने आपको सच-सच बता दिया। अब आप अपनी इच्छाके अनुसार करें।’

मित्रकी बात सुनकर सेठजी तो उसके मुँहकी ओर देखने लगे और थोड़ी देर बाद बिना एक भी शब्द बोले वे उठ खड़े हुए। हमलोगोंने थोड़ी दूर साथ चलकर उन्हें विदा दी। लौटकर मैंने मित्रसे कहा—‘तुमने ठीक ही कह दिया। चाहे जैसी परिस्थिति हो, क्या खानदानका आदर्श कभी बदल सकता है।’ वह बोला—‘भाई, बुरा माल देकर अच्छे मालके पैसे हम कैसे ले सकते हैं।’

हमलोग सोच रहे थे कि ‘अब सेठजी गेहूँ तौलनेको आँवगे नहीं। हमें कहीं दूसरी जगहसे पैसेकी व्यवस्था करनी होगी।’ किंतु हमलोगोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा जब शामके समय सेठजी आ खड़े हुए और मेरे मित्रके पिताजीसे कहने लगे—‘भाई, गेहूँ बहुत अच्छे हैं, मुझे पसंद हैं—दाम भी मैं पूरे अठारह रुपयेके भावसे दूँगा।’ यह सुनकर अन्य किसीको तो आश्चर्य नहीं हुआ, मुझे और मेरे मित्रको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। सेठजीकी बात हमलोगोंकी समझमें नहीं आ रही थी। प्रातःकाल बहुत कहने-सुननेपर उन्होंने प्रति मन चार आने बढ़ाये थे और अब ‘गेहूँ खराब है’, यह जाननेपर भी पूरे अठारह रुपये क्यों दे रहे हैं ?

गेहूँका तौल हो गया। सेठजी घर जाने लगे। जाते समय सेठजीने मेरे मित्रसे कहा—‘भाई, तुम्हारी बहिन-लड़की मेरी भी बहिन-लड़की है। वैसे तो मुझसे कुछ नहीं दिया जाता, इस तरहसे जो भी बन सके, सहायता कर रहा हूँ। तुम-जैसे खानदानी भले व्यक्ति दुनियामें बहुत कम देखनेमें आते हैं।’

—सेठजीकी उदारता और उनकी भलाई करनेकी

पद्धतिको देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। मैंने मनसे उनकी वन्दना की।

‘अखण्ड आनन्द’

—जेसंगकुमार धरजिया

( ७ )

## ट्रक-ड्राइवरकी परदुःखकातरता

गाड़ी छूट चुकी थी और दूसरे ही दिन मुझे बीकानेरमें उपस्थित होना था। जयपुरसे बीकानेर २१४ मील है। स्कूटरपर जानेके सिवा और कोई साधन नहीं था कि जिससे समयपर वहाँ पहुँच सकूँ। अतः यही उचित समझा और घरसे स्कूटर निकाल लिया। अकेले जाना ठीक नहीं था, इसलिये साथमें नौकरको भी ले लिया।

रात्रिके आठ बज चुके थे। आसमान साफ था। नौकरने मदनलालके साथ यात्राका श्रीगणेश कर दिया। अभी २६वाँ मील ही आया था कि अचानक बादल घिर गये और पानी बरसना शुरू हो गया। वहाँ आस-पास ठहरनेकी कोई जगह नहीं थी, कोई गाँव नहीं था, कहीं छाया नहीं थी; अतः सड़कके किनारेके एक पेड़के नीचे आश्रय लिया। वहाँसे तीन मील आगे गोविन्दगढ़के नीचे एक बरसाती नदी बहती है। इसमें पानी भरनेका भी डर होने लगा। नदीपर कोई पुल नहीं था—नदीमेंसे होकर ही ट्रकें-बसें गुजरती थीं।

पानी बराबर बरस रहा था। कपड़े सब भीग गये थे। हवा चलनेसे कुछ ठंड भी लगाने लगी थी। नौकर तो बेचारा वैसे ही दुबला-पतला था; अतः उसकी हालत तो कही ही क्या जाय। सोचा, किसी ट्रकसे इसे आगे भेज दूँ। मेरे पास जो स्कूटर था, उसे तो ट्रक-चालक ट्रकपर रखने क्यों लगे ?

कई ट्रकें निकलीं। हाथ उठाकर रोकनेका प्रयत्न किया, पर किसीने ध्यान नहीं दिया। सभीको नदीमें पानी भरनेका खतरा था। तभी देखा, एक ट्रकवाला अपनी गाड़ी पीछे लौटा रहा है। गाड़ी लेकर वह हमारे पास आ गया। कहने लगा—‘आप भीग क्यों रहे हैं ? मेरी गाड़ीमें बैठ जाइये। मैं सीकरतक जा रहा हूँ। आप कहाँतक जायेंगे ? सीकरतक मैं आपको पहुँचा दूँगा। पानी रुकनेकी प्रतीक्षा मत कीजिये; आगे नदीमें पानी भर जायगा तो फिर रात आपको इधर ही बितानी पड़ेगी।’



हमारे लिये यह अप्रत्याशित घटना थी। हमने उसे बतलाया कि हमारे साथ स्कूटर है, तुम इसे अपनी गाड़ीमें ले चल सकोगे ?

उसने बिना कोई जवाब दिये गाड़ीका पिछला ढक्कन खोल दिया। भीतरसे लकड़ीके दो पाटिये निकाले और गाड़ीसे लगाकर स्कूटर उसपर चढ़ा दिया। हम दोनों गाड़ीमें बैठ गये। नदीमें अभी पानी आना शुरू ही हुआ था। दो घंटेमें हम सीकर पहुँच गये।

सीकर पहुँचकर हमने डरते-डरते १५ रुपये निकाले और उसे देने लगे। हमें आश्चर्य हुआ—उसने रुपये लेनेसे इन्कार कर दिया। उसने कहा—‘मैं तो खाली गाड़ी ला रहा था; मेरा इसमें क्या खर्च हुआ। मुझे तो गाड़ी लानी ही थी। आप वहाँ रहते तो बीमार पड़ जाते; इसलिये मैंने आपको गाड़ीमें बैठा लिया। मैं भी पानीमें भीगकर तीन महीनेकी बीमारी भोग चुका हूँ। मुझे इसका अनुभव है।’

अपनी बात पूरी कर उसने गाड़ी खाना की ओर चला गया।

मैं नतमस्तक विचार करता रहा—‘आज भी ऐसे परदुःखकातर ड्राइवर हैं। ड्राइवरोंकी बदमाशीकी बातें तो बहुत सुनी हैं, परंतु उनकी दयालुताका यह उदाहरण मेरे मनमें एक सद्भावनाका बीज बो गया।’

—कुँअर रतनसिंह रिबड़िया

( ८ )

### मेहनतकी रोटी

बात पुरानी है। मेरे एक मित्र सूरत होकर धोलका आ रहे थे। गांधीग्रामसे धोलका जानेवाले रेलवे-मार्गपर मेरिया नामक स्टेशन है। सर्दिके दिन थे। रात हो गयी थी। इस स्टेशनपर यात्री चाय पी सकें, इसलिये गाड़ी काफी समयतक यहाँ ठहरी रहती है। जैसे ही गाड़ी स्टेशनपर रुकी, चाय और मूँगफली बेचनेवालोंकी आवाज आने लगी। अचानक इन लोगोंकी आवाजमें एक वृद्धाकी आवाज भी सुनायी दी—‘गठरी उठवानी है किसीको ? किसीको मजदूर चाहिये ?’ यह अनोखी आवाज और वह

भी एक वृद्धाके मुँहसे ! भारी आश्चर्य। मेरा मित्र डियेसे नीचे उतरा। उसने देखा—एक वृद्धाके हाथमें लकड़ी है और नौ-दस वर्षका एक बालक वृद्धाको पकड़े हुए है। वृद्धा लगभग पचहत्तर वर्षकी होगी। वह दोनों आँखोंमें अंधी है। उसके पहनावेसे मायूम पड़ता था कि वह मध्यम श्रेणीकी है। मेरे मित्रको वृद्धाकी आवाज सुनकर शक्य हुई। इसलिये उसने वृद्धासे पूछा—‘माँजी ! क्या बेचती हो ?’

‘बेचती तो कुछ नहीं हूँ, भाई ! मैं तो अगर किसीकी गठरी-पोटली उठाकर ले जानी हो तो मजदूरीके लिये आवाज लगा रही हूँ।’ वृद्धाने कहा।

‘लेकिन इस उमरमें ? आँखोंसे दिखायी नहीं देता, फिर मजदूरीका काम क्यों कर रही हो ? क्या कोई आगे पीछे नहीं है ?’—मित्रने उसकी पारिवारिक स्थिति जाननेके लिये प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी।

‘भैया ! भगवान्के दिये हुए दो लड़के और उन लड़कोंके भी दो लड़के हैं। देखो, यह लकड़ी पकड़कर चलनेवाला बालक मेरे बड़े लड़केका बड़ा लड़का है। लड़कियाँ भी दो हैं। हमारा घर सुखी है।’ वृद्धा कह रही थी। किंतु मित्रने अधीर होकर उसकी बात काटते हुए पूछा—‘माँजी ! इतनी सुखी हो तो फिर मजदूरी क्यों कर रही हो ?’

‘भैया ! इसका जवाब मैं देती हूँ। लड़के और बहूएँ तो बहुत मना करती हैं, लेकिन बेकार बैठा नहीं जाता। जबतक हाथ-पाँव चलते हैं, तबतक अपनी ही मेहनतसे कमायी हुई रोटी खानी चाहिये।’

‘लेकिन माँजी ! आँखोंसे दीखता नहीं है—तब ?’

‘भैया ! मेरी आँखें नहीं देखती हैं तो क्या हुआ; हाथ-पाँव तो चलते हैं। और फिर मेरी आँखें तो देख यह है।’ कहकर वृद्धाने अपना हाथ उठाकर अपने नातीके सिरपर रखा। गाड़ीने सीटी दे दी। मेरा मित्र दौड़कर गाड़ीमें बैठ गया, पर उसका मन तथा आँखें उस वृद्धाकी ओर लगे थे। गाड़ी चली जा रही थी, पर मित्र सिरपर पोटली रखकर जाती हुई उस वृद्धाको बराबर देखता रहा।  
—दीनानाथ जे० मेहता

(अखण्ड आनन्द)

### भूल-सुधार

‘कल्याण’ के गत दसवें अङ्कके पृष्ठ १२३५ पर बायें कालमके दूसरे अनुच्छेदकी तीसरी पंक्तिमें सन् १८८४ के स्थानपर भूलसे १२२४ छप गया है। पाठकगण कृपया सुधार लें।

—सम्पादक



## ‘कल्याण’-प्रेमियोंसे प्रार्थना

( १ ) यह ‘कल्याण’के ४५वें वर्षका ११वाँ अङ्क है । एक अङ्क और प्रकाशित होनेके बाद यह वर्ष पूरा हो जायगा । ४६वें वर्षका प्रथम अङ्क ‘श्रीरामाङ्क’ विशेषाङ्क होगा । इसमें भगवान् श्रीरामसे सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषयोंपर प्रामाणिक सामग्री रहेगी । भगवान् श्रीराम एवं भगवती सीताके स्वरूपतत्त्व, नामतत्त्व, लीलातत्त्व और धामतत्त्व आदिपर विचारपूर्ण लेख रहेंगे । भगवान् श्रीरामके आदर्श गुण, मन्त्र-स्तोत्र, उनकी उपासना आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली रोचक सामग्री भी रहेगी । भगवान्‌के ध्यान एवं विविध लीलाओंके सुन्दर रंगीन चित्र भी रहेंगे । इन सब दृष्टियोंसे यह अङ्क बहुत ही उपादेय तथा शिक्षाप्रद होगा, ऐसी आशा है ।

( २ ) इस वर्ष भी ‘कल्याण’में बहुत बड़ा घाटा है एवं सभी तरहके खर्च भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं । फिर भी ‘कल्याण’के विशेषाङ्कका मूल्य १०.०० रुपये ही रखा गया है । आप १०.०० मनीआर्डरसे भेजकर तुरंत ग्राहक बन जाइये । इस अङ्ककी माँग विशेष होनेकी सम्भावना है । रुपये भेजते समय अपने मनीआर्डर-कूपनमें अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें । नाम, पता, मोहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें । नये ग्राहक हों तो कूपनमें ‘नया ग्राहक’ अवश्य लिखें ।

( ३ ) ग्राहक-संख्या न लिखनेसे आपका शुभ नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है । इससे विशेषाङ्ककी एक प्रति नये नंबरोंसे तथा एक प्रति पुराने नंबरोंसे वी० पी० द्वारा भेजी जा सकती है । यह भी सम्भव है कि आप उधरसे रुपये कुछ देरसे भेजें और पहले ही यहाँसे आपके नाम वी० पी० चली जाय । दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी०पी० वापस न करके नये ग्राहक बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें ।

( ४ ) सभी ग्राहक महानुभावोंसे तथा ग्राहिका देवियोंसे निवेदन है कि वे प्रयत्न करके ‘कल्याण’के दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भिजवानेकी कृपा करें । इससे उनके ‘कल्याण’के प्रचार-प्रसारमें बड़ी सहायता मिलेगी और वे महान् पुण्यके भागी होंगे ।

( ५ ) किसी कारणवश ‘कल्याण’ बंद हो जाय तो केवल ‘विशेषाङ्क’ और उसके बाद जितने अङ्क पहुँच जायँ, उन्हींमें संतोष करना चाहिये; क्योंकि अकेले विशेषाङ्कका मूल्य ही १०.०० रु० ( दस रुपये ) है ।

( ६ ) अगले वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और उसके बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है । यों सजिल्दका मूल्य ११.५० ( ग्यारह रुपये पचास पैसे ) है ।

( ७ ) श्रीरामाङ्कके लिये लेख बहुत आ गये हैं । अतएव लेखक महानुभाव कृपया इसके लिये अब लेख न भेजें ।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )



## संकटके समय हमारा कर्तव्य

विश्वमें आसुरी सम्पत्तिका बड़े जोरसे विस्तार हो रहा है। दिन-प्रतिदिन सभी जगह, सभी क्षेत्रोंमें अशान्ति बढ़ रही है। हमारी पवित्र भूमि भारतमें भी उसी तरह संकट एवं विपत्तियाँ बढ़ रही हैं। हमारे देशकी सीमाओंपर युद्धका भीषण खतरा बना है। पड़ोसी बंगलादेशमें महीनोंसे बड़ा विप्लव एवं नर-संहार हो रहा है। सभी प्रान्तोंमें, नगरोंमें, गाँवोंमें, समाजमें, परिवारमें अशान्ति छा रही है। तरह-तरहकी नयी-नयी विपत्तियाँ आ रही हैं और भविष्यमें भी उनके आनेकी सम्भावना बड़ी है। आसुरी सम्पत्तिका विस्तार रोकने, संकट और विपत्तियोंको दूर करने एवं चिरशान्तिके लिये प्रत्येक देशवासीको भगवत्-आराधनमें यथाशीघ्र बड़े जोरसे लग जाना चाहिये। सभी लोगोंको सामूहिकरूपसे या अलग-अलग अपने-अपने सुविधानुसार भगवत्-प्रार्थना, देवाराधन, यज्ञ, सामूहिक कीर्तन, दुर्गाकी उपासना, रामायण, रामरक्षास्तोत्रके अनुष्ठान एवं भगवान् शंकर तथा भगवान् नारायणकी आराधनाके आयोजन सर्वत्र शीघ्र-से-शीघ्र शुरू करने चाहिये। पूरे विश्वासके साथ इस कार्यमें सभीको नियमितरूपसे समय निकालकर लग जाना चाहिये। इससे निश्चित ही बड़ा लाभ होगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

—चिम्मनलाल गोस्वामी,  
सम्पादक 'कल्याण'

दूसरा संस्करण।

प्रकाशित हो गया ॥

## गीता-दैनन्दिनी सन् १९७२ ई०

पहले संस्करणकी १ लाख प्रतियाँ बिक जानेपर ३५,००० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छपा गया है।

आकार २२×२९ बत्तीसपेजी, पृष्ठ-संख्या ४१६, मूल्य साधारण जिल्द ७५ पैसे, हाथकर्षके कपड़ेकी जिल्द ९० पैसे, डाकखर्च एक प्रतिका १.३० पैसे, तीन अजिल्द प्रतियोंका डाकखर्चसहित कुल ३.८५ पैसे।

इसमें हिंदी, अंग्रेजी, पंजाबी और नये भारतीय शक-संवत्की तिथियोंसहित पूरे वर्षमें दैनिक क्रमसे सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता, तिथि, वार, घड़ी और नक्षत्रका संक्षिप्त पत्रक, अंग्रेजी तारीखोंका वार्षिक कैलेंडर, प्रार्थना, भारतीय शिक्षा, भगवान् श्रीरामके सदुपदेश, सत्पुरुषोंके सदुपदेश, ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश, नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृतोपदेश, भजनका स्वरूप और चेतावनी आदि, कुछ जाननेयोग्य उपयोगी बातें—जैसे रेल-भाड़ा, डाक, तार, इन्कमटैक्स, मृत्युकर, माप-तोलकी नयी मेट्रिक प्रणाली, उनका तुलनात्मक परिवर्तन, कागजका माप, दैनिक वेतन और मकान-भाड़ा चुकानेका नक्शा, अनुभूत घरेलू दवाओंके प्रयोग, स्वास्थ्य-रक्षाके सप्त-सूत्र, ध्यान और आरती भी दी गयी है।

गीता-दैनन्दिनीके विक्रेताओंको विशेष रियायत मिलती है। अतः यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने यहाँके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। आपके समय तथा भारी डाकखर्चकी बचत हो सकती है।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)







हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥  
संस्करण १,६८,०००

## विषय-सूची

कल्याण, खौर पौच, श्रीकृष्ण-संवत् १९१७, दिसम्बर १९७१

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-भगवान् श्रीयदुनन्दनकी वन्दना [ संकलित ] ...	१३०९
२-कल्याण ...	१३१०
३-ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश (पुराने मत्स्यज्ञसे)	१३११
४-परमार्थकी पगडंडियाँ [ नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमान- प्रसादजी पोद्दारके ) अमृत वचन ]	१३१४
५-हृदयकी चाह [ कविता ] ( श्री- धनुनन्दनप्रसादसिंहजी 'पत्रकार' ) ...	१३१७
६-भगवान्का स्मरण [ पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश ] ( प्रेषक-श्रीरामकृष्णप्रसादजी ) ...	१३१८
७-अध्यात्मवाद और भौतिकवाद ( अनन्त- श्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज ) ...	१३२०
८-गीताका भक्तियोग-९ ( पूज्य स्वामीजी श्रीराममुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या ) ...	१३२४
९-आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ ...	१३३०
१०-पुरुष और नारी ( श्रीरामनाथजी 'सुमन' )	१३३२
११-दया ( संत श्रीविनोबाजी भावे ) ...	१३३५
१२-निःस्पृह बनिये ( श्रीअगरचन्दजीनाहटा )	१३३६
१३-सत्य तथा सरलता ( श्रीनिरञ्जनदासजी धीर )	१३३७

विषय	पृष्ठ-संख्या
१४-प्रायश्चित्त ( श्रीरामेश्वरजी टोंटिया )	१३३९
१५-एकमात्र तुम्हीं [ कविता ] ( श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) ...	१३४०
१६-श्रीकनकधारास्तोत्र ( अनुवादक-श्री- माधवशरणजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ) ...	१३४१
१७-मुझे अकिंचन जानकर-( श्रीरिक्कण- दासजी गुप्त 'हरि' ) ...	१३४३
१८-परिवार-नियोजन ( पं० श्रीगोविन्दजी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यरत्न ) ...	१३४४
१९-उत्कर्ष, परामर्श, निष्कर्ष और समदर्श ( श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल ) ...	१३४७
२०-आप नये सिरेसे अपना मूल्य-निर्धारण करें ( डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी० ) ...	१३४९
२१-मेरा-तेरा ( श्रीमोतीलालजी सुराना ) ...	१३५१
२२-जीवनकी सार्थकता ( दण्डिस्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी सरस्वती महाराज )	१३५२
२३-उदारता [ कहानी ] ( श्रीकृष्णगोपाल- जी माथुर ) ...	१३५३
२४-गतवर्षके श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना	१३५६
२५-चित्र-परिचय ...	१३५८
२६-पढ़ो, समझो और करो ...	१३५९
२७-'कल्याण' वर्ष ४५, संख्या ३ से १२ तक- के निबन्ध, कविता, कहानी तथा चित्र-सूची ...	१३६३

## चित्र-सूची

१-गङ्गावतरण	( रेखा-चित्र )	... मुखपृष्ठ
२-पुत्र-शोकसे व्याकुल गङ्गाजीको श्रीकृष्णद्वारा सान्त्वना	( तिरंगा )	... १३०९

Free of charge ]

जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

[ बिना मूल्य

आदि सम्पादक-नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक-चिम्पनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री  
मुद्रक-प्रकाशक-मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



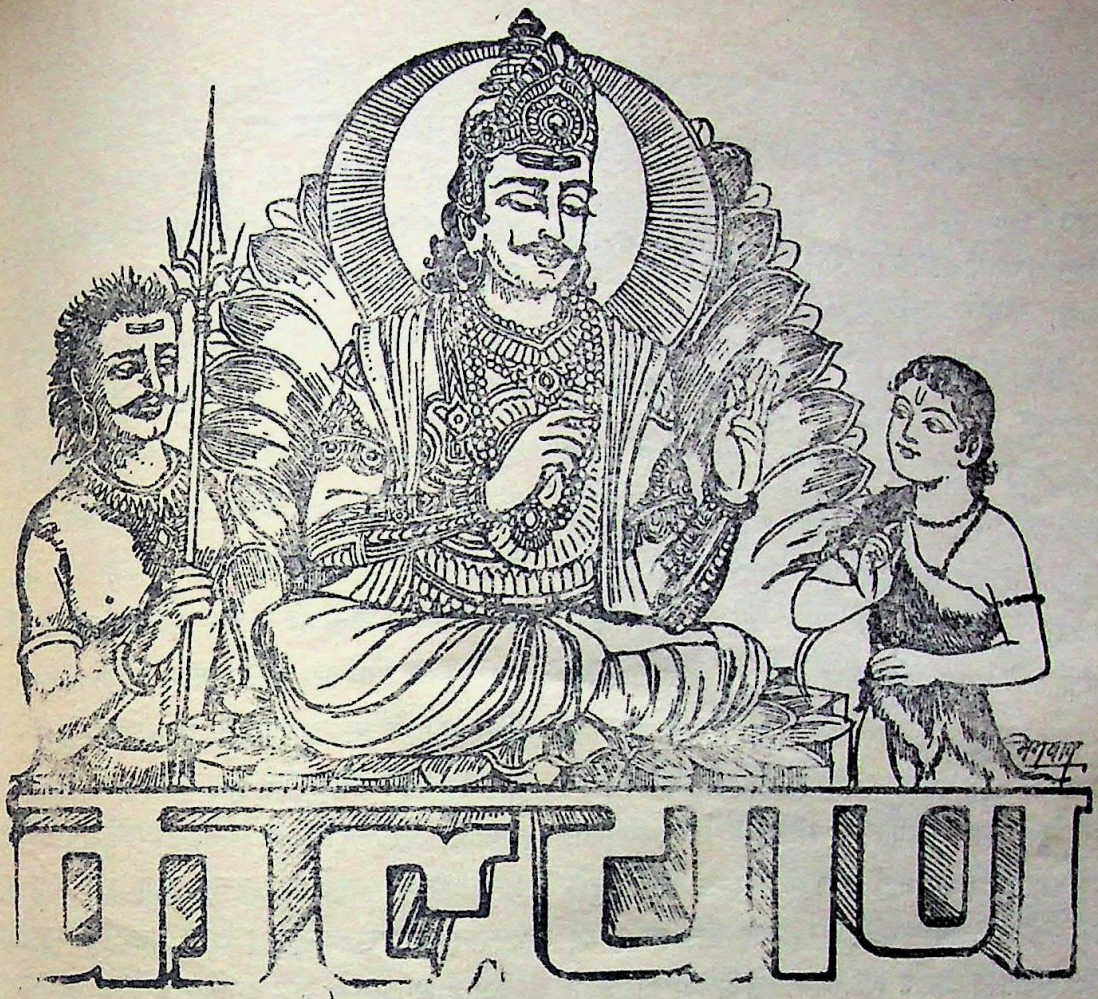








ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



अथशोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संसरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥

( अग्निपुराण )

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर पौष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, दिसम्बर १९७१ { संख्या १२  
पूर्ण संख्या ५४१

## भगवान् श्रीयदुनन्दनकी वन्दना

इन्दीवरदलश्याममिन्दिरानन्दकन्दलम् ।

वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥

नीलकमलदलके समान श्यामवर्ण, लक्ष्मीको आनन्द देनेवाले  
और प्रणतजनोंके लिये कल्पवृक्षके समान भगवान् यदुनन्दनकी मैं  
वन्दना करता हूँ ।



## कल्याण

भगवान् शंकराचार्य 'चर्पटपञ्जरिका' ( १ ) में कहते हैं—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।  
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः..... ॥

दिन बीत गया, संध्या हुई, रात आयी, फिर प्रातःकाल हो गया; शिशिर ऋतु गयी, वसन्त आ गया; वसन्त गया, हेमन्त आया—इस प्रकार काल अपनी क्रीडा कर रहा है—खेल रहा है और हमारे आयुके दिन बीत रहे हैं। एक व्यक्तिके पास निश्चित थोड़ी-सी पूँजी है और वह समाप्त हुई जा रही है। आगेके लिये उसका कोई ध्यान नहीं है; उसका भविष्य अन्धकारमय है। ठीक यही दशा हमारी है, जो भगवान्की तरफ न लगाकर संसारके प्रपञ्चोंमें ही रचे-पचे रहते हुए जीवन व्यतीत कर रहे हैं—मानव-जीवनको व्यर्थ खो रहे हैं। पता नहीं काल किस समय, किस हेतुसे, किस निमित्तसे, क्या बनकर आ जायगा और हमारा यह जीवन समाप्त हो जायगा। इसलिये जैसे-कैसे भी हो, अपने जीवनको भगवान्की ओर मोड़ देना बहुत आवश्यक है।

हमारे वर्तमान जीवनमें परिवर्तनकी आवश्यकता है; क्योंकि इस जीवनकी समाप्तिपर—मनुष्य-देह मिलनेसे भगवान्को पानेका जो अवसर हाथमें आया है, उसके निकल जानेपर पश्चात्तापके सिवा कुछ नहीं रह जायगा। इसलिये जीवन रहते थोड़ा-बहुत ही—जिससे जितना हो सके, उतना ही—जीवनको भगवान्की ओर लगानेका प्रयत्न करना चाहिये और वह होना चाहिये असली मनसे। भूखा व्यक्ति रोटी प्राप्त करनेके लिये स्वयमेव मनसे चेष्टा करता है। उसके इस प्रयत्नमें कहीं दिखावट नहीं होती; क्योंकि उसे भूख लगी है। प्यासे व्यक्तिको निरन्तर जलका स्मरण बना रहता है और जल-प्राप्तिकी वह चेष्टा करता है; क्योंकि जलके बिना उससे रहा नहीं जा रहा है, प्यास उसे बेचैन किये हुए है। उसके जल-प्राप्तिके

प्रयत्नमें कोई दिखावट नहीं, प्रशंसा-प्राप्तिका भाव नहीं, सच्चे मनसे उसका यह प्रयत्न होता है। ठीक इसी प्रकार सच्चे मनसे—अन्तर्हृदयसे भगवान्के लिये हम लोगोंको सचेष्ट होना चाहिये।

दुनियामें रहकर घर-बाहरके काम करने पड़ते हैं और सब करने ही चाहिये। वे छूट नहीं सकते, छोड़नेकी बात कहना ही व्यर्थ है। पर उनपर एक नियन्त्रण तो हो सकता है—जितनी आवश्यकता हो, उतना उनमें मन लगे, उतना उनमें समय लगे, उतना ही प्रयास उनके लिये हो। शेष मनकी सारी वृत्तियाँ, शेष सारा समय और शेष सारे प्रयास केवल भगवान्के लिये हों। समझमें आ जानेपर तो घरके, शरीरके, आजीविका-के सारे काम भी भगवान्की सेवा बन सकते हैं। पर जबतक ऐसी वृत्ति न बने, तबतक घरके, शरीरके, आजीविकाके कार्योंसे बचा हुआ समय एवं वृत्तियाँ भगवान्में लगनी चाहिये। आगे चलकर जीवनका सम्पर्क एकमात्र भगवान्से जुड़ जानेपर हम जो कुछ भी करेंगे, वह भगवान्की सेवा ही होगी। जैसे पतिव्रता स्त्रीके जीवनके सारे काम केवल पतिके लिये होते हैं—उसका कपड़े पहनना, शृङ्गार करना, खाना, पीना, सोना—सब-के-सब पतिके लिये होते हैं, अपने लिये नहीं। इसी प्रकार यदि हम अपने जीवनको भगवान्के अर्पित कर दें, उसे भगवान्का बना दें तो जीवनका प्रत्येक छोटा-बड़ा कार्य भगवान्के लिये हो सकता है। फिर तो दिनभर भगवान्की पूजा होती है। इसके लिये हम आज इसी क्षणसे प्रयत्न करें और भगवान्को जीवनकी एक आवश्यकता बना लें। इतना कर लिया तो मानव-जीवन सफल है, अन्यथा—

‘सूकर-स्नान-सृगाल-सरिस जन  
जनमत जगत जननि-दुख लागी ।’  
( विनयपत्रिका, १४० । ३ )  
—की भाँति हमारी गति होनी निश्चित है।



# ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[ पुराने सत्सङ्गसे ]

अपना आदर्श सबसे ऊँचा रखना चाहिये ।  
 भगवत्में तीन गुण हैं—सत्त्व, रज एवं तम । प्रत्येक  
 व्यक्तिमें ये गुण रहते हैं । हाँ, किसीमें सत्त्वकी प्रधानता  
 होती है, किसीमें रजकी और किसीमें तमकी । इसी  
 प्रकार एक व्यक्तिके भाव भी सदा एक-से नहीं रहते ।  
 उसमें भी समय-समयपर कभी किसी गुणका प्राधान्य  
 हो जाता है और कभी किसी गुणका । जब सत्त्वका  
 प्राधान्य रहता है, उस समय व्यक्तिकी चेष्टाएँ शान्त,  
 निर्मल, पवित्र रहती हैं; जिस समय रजोगुणका प्राधान्य  
 रहता है, वही व्यक्ति उस समय चञ्चल एवं उग्र होता  
 है तथा जिस समय तमोगुणका प्राधान्य रहता है, उस  
 समय वह प्रमादी, आलसी एवं पाप-परायण रहता है ।  
 गुणोंके इस तारतम्यको विचारकर हमें अपनी क्रियाओं-  
 पर नियन्त्रण करना चाहिये । जिस समय किसी विषय-  
 पर परस्पर विवाद होने लगे, उस समय हमें शान्त  
 रहना चाहिये । अपनी बातपर दृढ़ रहते हुए भी  
 उसपर अड़ना नहीं चाहिये । संसारमें अनेक मत-मतान्तर  
 हैं और प्रत्येक अपने मतको सही समझता है । ऐसी  
 स्थितिमें अपने मतपर ही दृढ़ रहकर अपनी बातकी ही  
 पुष्टि करते नहीं रहना चाहिये । यदि कोई पूछे तो  
 आप उसे प्रेमके साथ जो बात जँचे, वह कहिये; पर  
 यदि वह उसे स्वीकार न करे तो जिद्द मत कीजिये कि  
 वह आपकी बात मान ही ले । उस प्रसङ्गको वहीं  
 समाप्त कर देना चाहिये, आगे नहीं बढ़ने देना  
 चाहिये । आगे बढ़नेसे वृत्तियोंमें उत्तेजना आ सकती  
 है । उत्तेजना आनेसे व्यवहार एवं साधना—दोनोंकी  
 दृष्टिसे हानि होती है । उसका प्रभाव भी दूसरे व्यक्तियों-  
 पर अच्छा नहीं पड़ता । अतएव अपने आदर्शको सबसे  
 ऊँचा रखना चाहिये । शुकदेव, जनक आदि आदर्श

पुरुषोंको आदर्श मानकर हमें उनकी तरह बननेका  
 प्रयत्न करना चाहिये ।

( २ )

भगवान् रामको अपना आदर्श बनाना चाहिये ।

भगवान् राम 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' हैं । अतएव हम  
 उनको भी आदर्श मानकर चल सकते हैं । मेरे विचारसे  
 तो जो गृहस्थ हैं, उन्हें भगवान् रामको ही अपना  
 आदर्श बनाना चाहिये तथा स्त्रियोंको भगवती सीताको  
 अपना आदर्श बनाकर चलना चाहिये । चलना, बोलना,  
 बैठना, सोना आदि व्यवहार भगवान् रामके जीवनको  
 समक्ष रखकर करने चाहिये । माता-पिता, गुरु, भाई,  
 मित्र-स्वा, सहचर-दास आदिके साथ कैसा व्यवहार  
 करना चाहिये, यह भगवान् रामके जीवनसे सीखना  
 चाहिये । उदाहरणके लिये जो हमसे बड़े हैं, पर वे  
 हमारी सेवामें हैं, तो उनके साथ कैसा व्यवहार करना  
 चाहिये—इसको हम भगवान् रामके जीवनमें देखें-  
 समझें । राम युवराज हैं और सुमन्त्र उनकी सेवामें हैं;  
 पर सुमन्त्र अवस्थामें बड़े हैं, अतः राम उनका पिताके  
 समान आदर करते हैं । रामके मनमें यह बात नहीं  
 आती कि 'ये हमारे सेवक हैं, हम इन्हें पिताके समान  
 आदर क्यों दें ।' इस आदर्शको समक्ष रखकर हमें  
 चाहिये कि जो हमारे सेवक होते हुए भी आयुमें हमसे  
 बड़े हैं, हम उनके प्रति आदरभाव रखें, छोटेपनका  
 भाव नहीं ।

राजा दशरथ रामको बुलाना चाहते हैं । सुमन्त्र  
 रामके पास जाकर कहते हैं—'पिताजी आपको देखना  
 चाहते हैं ।' उन्होंने पिताकी बातको 'आज्ञा' के रूपमें  
 नहीं कहा, केवल पिताकी इच्छा व्यक्त कर दी । राम  
 भी आदर्श पितृभक्त हैं । 'पिताजी मुझे देखना चाहते  
 हैं'—यह सुनते ही वे नंगे पैर ही पिताके पास दौड़े



जाते हैं। भगवान्‌की तरह ही हमें भी पिताकी बातका आदर करना चाहिये। जीवनमें जितने भी सम्बन्ध एवं व्यवहार हो सकते हैं, वे सभी भगवान्‌ रामके जीवनमें उपलब्ध होते हैं। हमलोगोंको चाहिये कि हम प्रत्येक व्यवहार भगवान्‌ रामके व्यवहारको सामने रखकर करें। यदि हम यों करनेमें सफल हुए तो हमारा मानव-जीवन सफल हो जायगा।

( ३ )

**माता-पिताके आज्ञा-पालनके सम्बन्धमें चार बातें।**

प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है कि 'जब माता-पिता हमें कहें कि स्तस्मिन्-भजन नहीं करना चाहिये, तब हमें उनकी आज्ञा माननी चाहिये कि नहीं ?' इसका उत्तर यह है कि आज्ञा मानने, न माननेके सम्बन्धमें चार बातें हैं। परिस्थितिके अनुसार इन चार बातोंमेंसे किसी एक बातको अपने लिये चुन लेना चाहिये। चार बातें ये हैं—

( १ ) आज्ञा मिलते ही तुरंत उसका पालन कर देना;

( २ ) आज्ञाका पालन नहीं करना और विरोध कर देना;

( ३ ) आज्ञाको सुनकर उसपर विचार करना कि इसके अनुसार करना चाहिये कि नहीं। आज्ञा-पालनमें जल्दबाजी नहीं करनी;

( ४ ) आज्ञा मिलनेपर चुप रहना, उत्तर न देना तथा आज्ञाका पालन भी नहीं करना।

ये चारों बातें दृष्टान्तके द्वारा नीचे समझायी जाती हैं।

( १ ) परशुरामजीको पिताने आज्ञा दी कि 'तू अपनी माँको मार डाल' और उन्होंने माँका सिर तुरंत उतार डाला। परशुरामजीने माँका सिर उतार दिया तो पिताजी प्रसन्न हो गये। पिताने कहा—'बेटा ! मैं प्रसन्न हूँ, तू बरदान माँग।' परशुरामजीने कहा—

'पिताजी ! मैं यही चाहता हूँ कि आप मेरी माँको जिला दें और माँको यह स्मरण भी न रहे कि मैंने उनका सिर काट लिया था; क्योंकि यदि माँको इस घटनाकी स्मृति रहेगी तो उसका स्वाभाविक प्यार मुझे प्राप्त नहीं होगा।' पिताने परशुरामजीकी बात स्वीकार कर ली और उनकी माता जीवित हो गयीं। इस प्रकार माँकी हानि भी नहीं हुई और पिताकी आज्ञाका पालन हो गया। परशुरामजी जानते थे कि पिताजीमें माँको जिलानेकी शक्ति है। इसलिये उन्होंने माँको मार दिया तथा पिताजीको प्रसन्न करके माँको जीवित कर लिया। इसी प्रकार यदि हमें विश्वास हो कि हम जिनकी आज्ञाका पालन कर रहे हैं, उनमें ऐसी शक्ति है कि यदि उस आज्ञाके पालनसे किसीकी हानि हुई तो वे उसे ठीक कर देंगे तो हमें उनकी आज्ञाका पालन तुरंत कर देना चाहिये।

( २ ) जहाँ हमें लगे कि इस आज्ञाका पालन करना धर्म-विरुद्ध है, इसके पालनसे हमारा तथा आज्ञा देनेवालेका—दोनोंका अहित है, वहाँ हमें उस आज्ञाका पालन नहीं करना चाहिये। भरतजीका उदाहरण इस विषयमें आदर्श है। राजा दशरथ भरतके नाम राज्य करके महाप्रयाण कर गये, गुरुजीने भरतको राज्यभार सँभालनेके लिये कहा, प्रजाने कहा, माताकी भी आज्ञा थी; पर भरतजीने सबकी बातको ठाढ़ दिया, किसीकी भी आज्ञाका पालन नहीं किया और राज्यको गेंदकी तरह ठुकरा दिया। भरतको यह स्पष्ट दीख रहा था कि 'मुझे यह राज्य अन्यायपूर्वक दिया जा रहा है।' अतएव उन्होंने उसका त्याग कर दिया। हम भी इसी प्रकार अपने स्वार्थत्यागके लिये अपनेसे बड़ोंकी आज्ञाका विरोध कर सकते हैं। पर गुरुजनोंकी आज्ञाका विरोध करनेमें एक बात समझ लेनेकी है कि अनुचित भोगका त्याग अवश्य करना चाहिये; पर जहाँ उचित भोगकी



हो वहाँ कभी-कभी गुरुजनोंकी बात मान लेनी चाहिये। उदाहरणार्थ, गुरुजन कहें कि 'तुम्हें अमुक चीज चाहिए।' यदि वह चीज अशुद्ध न हो, हानिकार न हो तो हमें उसके लिये जिदपर अड़कर उनकी बातको मानना नहीं चाहिये। पर यदि गुरुजन हमें सत्सङ्ग-भजनके लिये रोकें तो हमें उनका विरोध कर देना चाहिये और उनकी आज्ञा नहीं माननी चाहिये। हाँ, यदि उनका विशेष विरोध हो तो हमें सत्सङ्ग-भजन गुप्त धारण करना चाहिये। पर साथ ही हमें अपने गुरु-जनोंके प्रति अनादरका भाव नहीं लाना चाहिये। हमें यह नहीं समझना चाहिये कि वे लोग हिरण्यकशिपु हैं और हम भक्त प्रह्लाद हैं। सारांश यह है कि परमार्थके कामको हमें छिपाकर तथा दूसरोंपर दोष-दृष्टि न रखकर करना चाहिये।

(३) गुरुजनोंकी आज्ञा प्राप्त होते ही उसपर विचार करना कि इसके पालनमें किसीका अहित तो नहीं है। सब सोच-विचार कर लेनेपर जब यह निश्चय हो जाय कि यह आज्ञा निर्दोष है, तब उसका पालन करना। गौतम ऋषिकी धर्मपत्नी अहल्याका शीलव्रत इन्द्रने हरण कर लिया। ऋषिको इसका पता चला तो वे क्रुद्ध हो गये। उन्होंने अपने पुत्र चिरकारीसे कहा—'तुम अपनी माँका सिर धड़से अलग कर दो।' ऋषि पुत्रको आज्ञा देकर वनकी ओर चले गये। पुत्र विचारमें पड़ गया कि पिताकी इस आज्ञाका पालन करना उचित है कि अनुचित। वह वहीं खड़ा-खड़ा इसपर विचार करता रहा। काफी समय बीत गया। उसने न तो माँका वध किया और न तलवार ही हाथसे छोड़ी; क्योंकि यदि तलवार हाथसे छोड़ देता है तो पिताकी आज्ञा भङ्ग होनी है। उधर कुछ दूर जानेपर ऋषिका क्रोध शान्त हुआ और उनका विवेक जगा कि पत्नी निर्दोष है, इन्द्रने उसके साथ छल किया है; अतः उसका वध करवाना अनुचित है। ऐसा विचार आते ही वे घरकी ओर चल दिये कि कदाचित् पुत्रने अभीतक मेरी आज्ञाके अनुसार

अपनी माँका वध न किया हो तो उसे रोक दूँ। भगवान्की कृपासे पुत्र अभी विचारमग्न ही था। ऋषिने पढ़ूँचते ही देखा कि पुत्र अभी विचारमग्न है, उसने अपनी माँका वध नहीं किया है! ऋषि पुत्रपर प्रसन्न हो गये। उन्होंने अपनी आज्ञा वापस ले ली और कहा—'पुत्र! तुमने बहुत ठीक किया। अनुचित आज्ञाको बिना विचार किये कभी नहीं मानना चाहिये। आजसे तुम्हारा नाम 'चिरकारी' होगा।' इस प्रकार पुत्रने पिताकी आज्ञा मान ली और माँको भी बचा लिया। ऐसे अवसरोंपर हमें भी गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करनेमें खूब विचार करना चाहिये।

(४) भक्त प्रह्लादको पिताने भगवान्का भजन न करनेकी आज्ञा दी, माँने भी कहा, पर प्रह्लादने न तो माता-पिताको इसका उत्तर दिया और न उनकी आज्ञाका पालन ही किया। वे चुपचाप अपने कर्तव्यमें लगे रहे। ऐसे मौकोंपर हमें भी इस नीतिका पालन करना चाहिये। माता-पिता यदि सत्सङ्ग-भजनके लिये मना करें तो उनके साथ तर्क-वितर्क न करके चुपचाप अपने साधनमें लगे रहना चाहिये। यदि हम सचाईके साथ अपने साधनमें लगे रहेंगे तो उसका प्रभाव माता-पितापर अवश्य होगा और थोड़े दिनोंमें वे हमारा समर्थन करने लग जायँगे। पर यदि हम आरम्भमें ही उनकी बातका विरोध करने लग जायँगे उनसे तर्क-वितर्क करके झगड़ा करने लग जायँगे तो काम बिगड़ जायगा। माता-पिताका अपमान होगा और साधन भी ठीकसे नहीं हो पायेगा।

इस प्रकार उपर्युक्त चारों बातोंपर ठीकसे विचार करके अपने गुरुजनोंके साथ व्यवहार करना चाहिये। व्यवहारमें भाव मुख्य है, क्रिया गौण है। यदि हमारे मनमें अपने गुरुजनोंके प्रति आदर-भाव है तो देर-सवेर हमारे भावका प्रभाव गुरुजनोंपर पड़ेगा ही और वे हमारी सचाईको स्वीकार करेंगे ही। भगवान्के भजन-साधन करनेमें किसीसे विरोध न लेकर चुपचाप लगे रहना चाहिये।



## परमार्थकी पगडंडियाँ

[ नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) के अमृत-वचन ]

निर्मल प्रेमका अर्थ है—‘वह प्रेम जिसमें अनन्यता हो, केवल प्रभुके सुखकी इच्छा हो तथा शरीर-सुख अथवा लोक-परलोकके भोगोंकी कोई भी वासना न हो। सुख और दुःख—दोनों ही प्रभुके सुखार्थ ही स्वीकार किये जायँ, संयोग और वियोग—दोनोंमें ही प्रभुके सुखको देखकर आत्यन्तिक आनन्दकी अनुभूति हो। मलिन वासनाओंकी तो कहीं गन्ध भी न रहे। प्रभुके समर्पित पदार्थोंपर अपना अधिकार माना ही न जाय। प्रभुका नित्य-निरन्तर मधुरतम स्मरण होता रहे।’ यद्यपि यह परम सत्य है कि प्रेमास्पद प्रभु अपने प्रेमीको कभी भूलते ही नहीं, नित्य-निरन्तर अपने मनमें उसे बसाये रहते हैं और सदा-सर्वदा उसके समीप ही बसे रहते हैं, तथापि यदि प्रभुको इसीमें सुख मिले कि वे प्रेमीको भूले रहें तो प्रेमी यही चाहता है कि ‘मुझे वे भूलकर भी सुखी रहें।’ पर ऐसा होता नहीं; प्रभु तो प्रेमीके नित्य ऋणी रहते हैं और लालायित रहते हैं ऐसे प्रेमीके पवित्रतम एवं मधुरतम प्रेम-रसका आस्वादन करनेके लिये। वे कभी तृप्त होते ही नहीं, उनकी कामना कभी पूर्ण होती ही नहीं। नित्यतृप्त, नित्य निष्काम, नित्य पूर्णकाम, सदा अकाम पूर्णतम प्रभु प्रेमीके पवित्र प्रेमरसका पान करनेके लिये सकाम बने रहते हैं। यही निर्मल प्रेमकी महिमा है। प्रेमका मूल ‘त्याग’ है; जितना ही जहाँ त्याग होता है, उतनी ही प्रेममें निर्मलता आती है। प्रेमका कहीं अन्त तो है ही नहीं। प्रेम और किसी भी योग्यताको नहीं देखता, केवल त्यागमय आकर्षणसे ही वह खिंचा चला जाता है। प्रेम—प्रभुका स्वरूप यही है।

× × × ×

मनको सदा ही प्रभुके स्मरणमें, उनके सांनिध्यमें लगाया रखकर उसे आनन्दमय रखना चाहिये। भगवान्का मङ्गलमय स्मरण होता रहे और चित्त विषयोंकी ओर न जाय—बस, ठीक है।

× × × ×

तुम्हारा मन बहुत ही प्रसन्न है, यह प्रसन्नताकी बात है। आत्यन्तिक सुख केवल श्रीभगवान्में ही है। उनको छोड़कर जो अन्यत्र सुखकी आशा रखी जाती है और सुख खोजा जाता है, यही हमारी बड़ी भूल है। इसीको तुलसीदासजीने जीवकी जड़ता कहा है—

और आस बिस्वास भरोसो हरौ जीव जड़ताई। (विनयपत्रिका १०३।१)

भगवान्के सिवा कहीं सुख है ही नहीं—इस दृढ़ निश्चयसे ही भगवान्में रुचि हुआ करती है और फिर भगवान्का प्रेमयुक्त मधुर स्मरण नित्य-निरन्तर सुखकी वृद्धि करता रहता है। इस सुख-वृद्धिका कभी विराम होता ही नहीं; क्योंकि प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है। इसीसे प्रेमका निर्मल, निर्द्वन्द्व सुख भी प्रतिक्षण वर्धमान ही होता है। हमें उस विशुद्ध प्रेमकी सेवा करनी चाहिये, जो अखिल आचारको प्रियतम प्रभुके अर्पण करवाकर मनुष्यको प्रभुका स्मरणरूप ही बना देता है। क्षणभरके लिये भी विस्मरण फिर नहीं होता। नारदजीने कहा है—

‘तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।’

(नारदभक्तिसूत्र १९)

अतएव भगवान्का जितना ही पवित्र मधुर स्मरण होगा, उतनी ही खरी तथा सच्ची प्रसन्नता बढ़ती चली जायगी।

×

×

×



भगवान्की कृपा हम सभीपर असीम है। रात-दिन लगातार उनकी कृपा-सुधा बरस रही है। भगवान्की इस महती कृपापर विश्वास करते ही सारा वर्तमान-भविष्य मङ्गलमय और आनन्दमय बन जाता है। जन्म-मृत्यु, लाभ-हानि, सुख-दुःख—सभीमें उनका अपार लीलानन्द ही अभिव्यक्त हो रहा है। अतः सदा-सर्वत्र, सब अवस्थाओंमें आनन्दमग्न रहना चाहिये। जगत्का कोई चित्र ही न आये और आये तो वत, भगवान्की लीलाके रूपमें ही; अन्य सब कामना-वासनाओंका सर्वथा नाश हो जाय।

भगवान्के चरणकमलोंमें मन सदा-सर्वदा लगा रहे, भगवान्के मधुर दर्शन होते रहें, भगवान्का मधुर आलिङ्गन-सुख सदा प्राप्त होता रहे, जीवनमें कोई भी अन्य कामना-वासनाका बीज ही न रह जाय—यह बहुत ही अच्छी अभिलाषा है। मनुष्य जब अनन्य-अभिलाषायुक्त होकर भगवान्की ओर बढ़ता है, तब संसारसे उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। फिर संसारका कोई मोह उसे रोक नहीं सकता। बंधा हुआ ही रुकता है। भगवान्के साथ प्रेम-बन्धनका अर्थ है—विषय-बन्धनका टूट जाना। भगवान्में अनन्य ममताका अर्थ है—अन्य सबके साथ ममताके सम्बन्धका विच्छिन्न हो जाना।

जगत्के भोगोंमें वितृष्णा अवश्य होनी चाहिये। मनके भीतर घुसकर देखते रहना चाहिये कि वह किसी वासनाको तो छिपाये नहीं बैठा है। अन्तर्मनमें भी विषय-वासनाका रहना तथा पोषण प्राप्त करना हानिकारक है। सत्य तथा गम्भीर भावसे भगवान्का आराधन होना चाहिये।

विषयविरक्ति तथा भगवदनुक्ति—ये दो प्रधान चीजें हैं, जो हमें प्राप्त करनी हैं। संसारसे ममता-आसक्ति हटकर सारी सच्चिदानन्दधन प्रभुके श्रीचरणोंमें हो जाय, इसीके लिये प्रयत्न तथा भगवत्कृपाके लिये प्रभुसे प्रार्थना करनी है।

भगवान्का स्मरण सदा बना रहे, जीवनमें पवित्र भगवद्भावोंका ही विस्तार रहे, यह चेष्टा करनी चाहिये। 'स्वस्थ' मनका अर्थ है—निरन्तर उसका भगवान्में लगे रहना।

प्रेमकी भीख प्रेममय प्रेमस्वरूप श्रीभगवान्से ही माँगनी चाहिये। पर अपनेको प्रेमसे शून्य क्यों मानना चाहिये? विश्वास करना चाहिये कि प्रेमस्वरूप भगवान् निश्चय ही अपना दिव्य प्रेम मुझको दे रहे हैं—अनवरत दे रहे हैं, देते ही रहेंगे। प्रेमका अन्त तो है ही नहीं। जैसे भगवान् अनन्त हैं, वैसे ही उनका प्रेम भी अनन्त है। पर प्रेमीका स्वरूप यही है कि उसे अपने प्रेममें सदा बुटि दीखती रहे।

अपनेमें प्रेम लक्षित न होना गुण है—प्रेमका शुभ लक्षण है। प्रेमका पता ही नहीं लगना चाहिये।

श्रीभगवान्की अखण्ड स्मृति बनी रहे तथा जगत्के प्राणि-पदार्थोंसे ममता-आसक्ति निकल जाय—ऐसा प्रयत्न सदा करते रहना चाहिये। मङ्गलमय भगवान्की नित्य अखण्ड कृपा बरस रही है। हम सब सदा उससे भीगे रहते हैं, परमानन्द तथा परम शान्ति हमारे साथ, सदा रहती है—ऐसा निश्चय रखना चाहिये।

कोई भी मनुष्य भगवान् नहीं है। यों तो शिष्य अपने गुरुको, पुत्र अपने पिताको, पत्नी अपने पतिको, पूजक अपने श्रीविग्रहको भगवान् मानता है और उसके लिये वे भगवद्रूप फल भी देनेवाले होते हैं, तथापि किसीको वैसे न तो भगवान् मानना चाहिये न कहना चाहिये कि 'अमुक भगवान्' हैं। इससे कोई भी लाभ नहीं होता। भगवान् भगवान् ही हैं।



मनुष्यका परम ध्येय एक ही है—भगवान्‌के पावन प्रेमकी प्राप्ति । विषयासक्ति तथा विषय-कामना इसमें बड़ी बाधक है । किसी प्रकार—प्राणोंकी बाजी लगाकर भी विषयासक्ति तथा विषय-कामनाका परित्याग करना है । ये छिपी रहती हैं और कभी-कभी भगवान्‌के प्रेमके नामपर भी धोखा दे जाती हैं । मनको भगवान्‌के अर्पण करके, उन्हींको निरन्तर उसमें विराजित रखना चाहिये, जिससे संसार और संसारकी विषय-वासना मनमें घुसने ही न पायें । बड़ी सावधानी तथा बड़ी भजवृत्तिके साथ यह कार्य करना है—भगवान्‌की अखण्ड स्मृति और विषयोंसे आत्यन्तिक उपरति । यही साधना है ।

श्रीभगवान्‌की कृपाका सदा अनुभव करते रहना चाहिये । भगवत्कृपा कभी-कभी बड़े प्रतिकूल रूपमें आया करती है । उस समय भी कृपाकी अनुभूति तथा कृपामय प्रभुके प्रति कृतज्ञता होनी चाहिये । जगत् क्षणभङ्गुर है, यहाँ कुछ भी स्थिर और नित्य नहीं है । प्रभुका दर्शन हर समय, हर हालतमें करते रहना चाहिये । यह भगवत्कृपापर विश्वास करके उसका अनुभव करते रहनेसे ही होता है ।

श्रीभगवान्‌की बड़ी ही कृपा है । भगवान्‌का इतना अगाध प्रेम है हम जीवोंपर कि उसकी कहीं तुलना ही नहीं है । वे सदा ही हमसे मिलनेको आतुर रहते हैं—नहीं-नहीं, मिले ही रहते हैं । नित्य-निरन्तर, सर्वत्र, सर्वथा उनकी सन्निधिका अनुभव करते रहना चाहिये । भगवत्प्रेम-रस-सुधाका पान करते-करते कभी तृप्त नहीं होना चाहिये ।

जीवनके दिन बीते जा रहे हैं । कितने साथी-परिचित चले गये, मानो वे थे ही नहीं । यही दशा हम सबकी होनेवाली है । भगवान्‌के स्मरणमें—भगवद्भजनमें ही जीवनका प्रत्येक क्षण बीतना चाहिये । संसारके पदार्थोंकी अनित्यता हमारे सामने है । धन-जन सभी क्षणभङ्गुर हैं । इस स्थितिमें विशेष चेष्टा करके हमलोगोंको भगवद्भजनमें लगाना चाहिये ।

भगवान्‌का स्मरण सदा बनाये रखना । जीवन अत्यन्त क्षणभङ्गुर है । इसे किसी भी तरह, किसी भी भावसे विषय-सेवनमें नहीं लगाना चाहिये । जीवनका एक-एक पल भजनमें ही बीतना चाहिये, तभी मानव-शरीरकी सार्थकता है ।

मनुष्यका मन जहाँ है, वहीं वह है । मन यदि भगवान्‌में है तो वह भगवान्‌में ही है । मनमें नित्य-निरन्तर भगवान्‌को रखना या मनको नित्य-निरन्तर भगवच्चरणोंमें ही संलग्न रखना चाहिये । फिर देह कहीं भी रहे, नित्य आनन्द—नित्य शान्ति रहेगी । देह समीप है, किंतु मन यदि पास नहीं है—विषयोंमें भटकता है तो वह समीपता नहीं है । चित्तका सर्वथा संयोग रहना चाहिये भगवान्‌के साथ । विषयचिन्तन ही विष है । उससे सदा बचे रहना चाहिये ।

वास्तवमें जीवन सर्वथा भगवन्मय हो जाना चाहिये, संसारके सृजन-संहार तथा अच्छे-बुरे परिवर्तन तो होते ही रहेंगे । मरते ही यहाँका सारा सम्बन्ध छूट जाता है, अतएव पहलेसे ही इससे सम्बन्ध छोड़कर भगवान्‌से—केवल भगवान्‌से ही सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये ।

श्रीराधामाधव—प्रिया-प्रियतमकी झोंकी ही जीवनका सर्वोत्तम लाभ है । बार-बार मनमें आये, उसीके अनुसार लीलाकी भावना करनी चाहिये; फिर वास्तविक लीलाकी अनुभूति होने लगेगी । मनमें भाँति-भाँति की लीलाओंकी स्फूर्ति होनी चाहिये । तुम्हारे लिये क्या चाहता हूँ, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं । मेरा तो मन करता है कि तुम सदा-सर्वदा श्रीभगवद्-रस-पानमें ही प्रमत्त रहो । यह जगत् तुम्हारे



लिये रह ही न जाय; केवल तुम्हारे प्रभु रहें और तुम रहो। पवित्र सच्चिदानन्दवन-सुधा-रसका नित्य आस्वादन करते रहो। जब जगत् ही न रहेगा, तब जगत्के विषय कहाँसे रहेंगे। फिर तो तुम एकमात्र निष्ठ चिन्मय रस-राज्यमें स्थित होओगे। यही जीवनका परम ध्येय होना चाहिये। तुम इच्छाको प्रबल, प्रकान्त और अनन्य करो। भगवान्की अहैतुकी कृपापर विश्वास करो। जीभको उनके नाम-रटनमें तथा मनको उनके मधुरतम चिन्तनमें लगा दो। शरीरके द्वारा होनेवाली प्रत्येक चेष्टाको उनकी सेवा अनुभव करो तथा निरन्तर उनकी लीलाओंका अपने इच्छानुसार चिन्तन करते रहो। उनकी कृपा तो है ही, वह शीघ्र ही फलवती होकर तुमको निहाल कर देगी। मनुष्य जब भगवान्का हो जाता है, तभी वह निहाल हो जाता है। उसकी सारी विगड़ी सुधर जाती है। तुम विश्वास करो—

बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबही आजु ।  
होहि राम की नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु ॥

( दोहावली २२ )

×

×

×

×

अपने ऊपर भगवान्की अनन्त कृपा समझनी चाहिये। भगवान् सर्वत्र हैं, सब समय हैं; अतएव निरन्तर उनकी संनिधिका अनुभव करके पल-पलमें प्रसन्न होना चाहिये। भगवान्का प्रेमी कभी दुःखी होता ही नहीं। उसके पास परम सुखकी एक अटूट निधि होती है—परम प्रेमास्पद प्रभुकी पवित्रतम और मधुरतम स्मृति। यह निधि सदा उसकी सेवामें रहती है। इसलिये वह सदा-सर्वदा सर्वत्र प्रेमानन्द-सुधा-रसका मधुर आस्वादन करता हुआ नित्य प्रसन्न रहता है।

( पुराने पत्रोंसे संगृहीत )

## हृदयकी चाह

यही प्रार्थना है, भगवन् ! यदि दुख पाऊँ मैं किसी प्रकार ।  
तो सहनेके लिये धैर्य तुम देते रहना बारंवार ॥  
चाहे जितनी भी पीड़ा हो, मनमें भी हो व्यथा अपार ।  
संकट-पर-संकट भी आये, दूटे नहीं धैर्यका तार ॥  
छूटें नाते-रिश्ते सारे, छूटे कुल, छूटे परिवार ।  
सब छूटे तो छूटे, प्रभुवर ! तुम न छोड़ना, प्राणाधार ॥  
नटवर नागर कृष्ण कन्हैया ! करुणासागर प्रेमागार ।  
दीन अकिंचन नतमस्तक है, कबसे खड़ा तुम्हारे द्वार ॥  
नहीं चाहिये धन या वैभव, नहीं चाहिये पद-अधिकार ।  
यही चाह है—पाऊँ, प्रभुवर ! सदा तुम्हारा पावन प्यार !

—रघुनन्दनप्रसाद सिंह पत्रकार



## भगवान्का स्मरण

[ पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाका उपदेश ]

( प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी )

भगवान् सर्वव्यापक ही नहीं, हमारे अत्यन्त निकट हैं, यह हम सभी जानते और मानते हैं; लेकिन हम उनको नित्यशः भक्तिभावसे स्मरण नहीं करते। कभी यह काम तो कभी दूसरी अड़चन—इस प्रकार हम कोई-न-कोई बहाना लेकर भक्तिभावसे भगवान्के स्मरणमें लापरवाही करते हैं। भगवान्का नित्य स्मरण न करना, अपना ही हनन करना है। हम बड़ी भारी भूल करते हैं, जो भगवान्के नित्य स्मरणमें लापरवाही करते हैं। भगवान् अत्यन्त कोमल-हृदय, दयालु एवं क्षमाशील हैं। उनकी दया और कृपापर विश्वास करके हमें अपने सम्पूर्ण कर्मोंको उनके प्रति अर्पण करते रहना चाहिये और यह समझना चाहिये कि जिस दिन हमने श्रद्धा और भक्तिसे भगवान्का मधुर स्मरण नहीं किया, वह दिन हमारा व्यर्थ गया।

एक संतका बथार्थ कथन है—

जे दिन बीते राम-भजनमें। वे दिन आवें गिनतीमें ॥

वही दिन सार्थक है और उसी दिनकी जीवनमें गणना की जाती है, जिस दिन हमने भगवद्भजन किया हो। भगवान्के साथ थोड़ा-सा भी सम्बन्ध हम भक्ति-भावसे नित्य जोड़ते रहें और कर्तव्य मानकर उनका नित्य स्मरण करें तो भगवान् हमें अपनानेमें देर नहीं करेंगे।

सनमुख होइ जीव मोहि जवहीं। जन्म कोटि अब नासहि तबहीं ॥

‘जिस क्षण मनुष्य भगवान्के सम्मुख होकर उनका भक्तिपूर्वक स्मरण करता है, उसी क्षण उसके करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं।’

पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ ॥

‘पापियोंका यह स्वभाव है कि उनको भगवान्का भजन अच्छा नहीं लगता।’

निर्यल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

‘जिस भक्तका मन निर्मल है, वही भगवान्को पाता है, भगवान्को कपट-छल-छिद्र अच्छा नहीं लगता।’

तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥

जो भक्त मद-मोह-कपट-छल छोड़ देता है, भगवान् उसको तुरन्त साधु बना देते हैं और अपना लेते हैं और ऐसे भक्तोंका योग-क्षेम स्वयं भगवान् वहन करते हैं। लेकिन यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी ममता सांसारिक वस्तुओंसे हटा लें। सांसारिक वस्तुएँ सब वासनामय हैं और वे चित्तको भ्रमित करती रहती हैं। इसलिये जिससे जहाँतक बन सके, इन समस्त ममताकी वस्तुओंसे अपना सम्बन्ध कम करके भगवान्के नाम, गुण, रूप और लीलामें अपना समय लगाये।

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥  
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥

माता-पिता, भाई-पुत्र, स्त्री-शरीर, घर-धन, मित्र-परिवार—इन सबकी ममताके तागोंको इकट्ठा करके भगवान्के चरणोंसे बाँध देना चाहिये। अर्थात् भगवान्के चरणोंमें श्रद्धा-विश्वासपूर्वक मन लगाना चाहिये और उन्हींको अपना माता-पिता, भाई आदि समझना चाहिये। ऐसे श्रद्धालु भक्तोंके साथ भगवान्का क्या सम्बन्ध होता है, यह तो भगवान् स्वयं बतलाते हैं—

अस सज्जन मम उर बस कैसैं। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसैं ॥

ऐसे श्रद्धालु, समदर्शी, हर्ष-शोकरहित भक्तोंको उनके आत्मसमर्पणसे प्रसन्न होकर ही भगवान् उन्हें स्वयं अपने हृदयमें उसी प्रकार वास देते हैं, जैसे लोभियोंके हृदयमें धनका वास रहता है।

सब तजि तुम्हहि रहइ लय लाई। तेहि के हृदयँ रहइ खुगई ॥

इस प्रकार जो सांसारिक वस्तुओंसे अपना मन हटा लेते हैं, भगवान् भी उन्हींके हृदयको



भगवान्का निवास बनाते हैं। ऐसे ही प्रिय भक्तोंके हेतु भगवान् मनुष्य-शरीर धारण करते हैं। विभीषणसे मिलते हुए भगवान् राम स्वयं कहते हैं—

उह सारिखे संत प्रिय मोरें। धरउँ देह नहिं आन निहोरें ॥  
भगवान् कहते हैं—

मैं भक्तोंके लिये ही शरीर धारण करता हूँ, किसी औरके निहोरा करनेपर नहीं।' इसलिये हमारे मनुष्य-शरीरकी विशेष महत्ता है। जो भगवान्ने हमें मनुष्य-शरीर दिया है, उसके द्वारा हमें केवल विषय-भोग नहीं करना है, बल्कि विषय-वासनाओंसे मुक्त होकर इस मानवशरीरसे यथासम्भव भगवान्की स्तुति-प्रार्थना करनी है, यही इस मनुष्य-शरीरका यथार्थ उद्देश्य है—

देह धरे कर यह फलु भाई ॥ भजिअ राम सब काम बिहाई ॥  
सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी ॥

मनुष्यका शरीर जो भगवान्ने हमें दिया है, उसका यथार्थ फल यही है कि सब वासनाओंका त्याग करके हम यथासम्भव भगवान्के नाम-रूप-लीला-धामका मनन और चिन्तन करें और वह भी भक्तिपूर्वक।

भगवद्भजनमें भक्तिकी विशेष महत्ता है। बिना भक्तिके केवल योग-जप-व्रत-पूजासे ही भगवत्-प्राप्ति होना सम्भव नहीं—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किछु जोग तप ग्यान बिरागा ॥  
मगति हीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे ॥

जैसे बिना नमकके सभी व्यञ्जन व्यर्थ हैं, वैसे ही बिना भक्तिके भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये किये गये जप-व्रत-पूजा आदि साधन अधूरे ही हैं और रहेंगे। अतः भगवत्प्राप्तिके लिये किये गये सभी साधन भक्तिपूर्वक होने चाहिये।

भक्तिको ही दूसरे शब्दोंमें प्रेम कहते हैं।

‘प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥’

‘भगवान् भक्ति अर्थात् प्रेमसे ही साकाररूपमें प्रकट होते हैं।’ भगवान्का कोई एक रूप नहीं है, संसारमें जितने भी प्राणी हैं, सभी भगवान्के रूप हैं। इसलिये भक्त प्राणिमात्रसे प्रेम करता है। कृता-बुद्ध एवं

पहाड़ आदि सभीमें विराजमान प्रभुको पहचानकर विश्वमें सभीसे प्रेम करना भक्तका स्वभाव है। सबको देखकर भक्तके अंदर प्रेमजनित विह्वलता आनी चाहिये।

भक्त भी दो प्रकारके बतलाये गये हैं। एक प्रकारके भक्त वे हैं, जो कठिनाइयोंको झेलते हुए, सभी प्रकारके कष्टोंको सहते हुए, दृढ़ विश्वासपूर्वक भगवान्का भजन करते हैं और इसके बदलेमें भगवान्से कुछ भी नहीं माँगते। यहाँतक कि वैकुण्ठ-प्राप्तिकी भी इच्छा नहीं करते। दूसरे प्रकारके भक्त वे हैं, जो अपनी पूजा-के पुरस्काररूपमें भगवान्से उनके परमधाम वैकुण्ठकी प्राप्ति चाहते हैं। एककी भक्ति निष्काम और दूसरेकी भक्ति सकाम है, किंतु दोनों ही प्रकारकी भक्ति अच्छी है। जिसके मनमें जो भाव हो, उसीके अनुसार उसे भगवद्भजन अवश्य करना चाहिये। दुर्लभ नर-तनु पाकर भगवद्भजन करना हमारा परम कर्तव्य है।

सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिअ रघुबीरा ॥

उसी मनुष्यका जीवन सार्थक है, जो इस नर-तनके पानेपर भगवान्की भक्ति करता है। जो इस नर-तनसे भगवान्की भक्ति और उनका भजन नहीं करता, उस व्यक्तिको मुर्देकी संज्ञा दी गयी है; कारण, वह जीवित ही मुर्देके समान है। अतएव हमें अपने जीवनको सार्थक बनानेके लिये भगवान्की उपासना अवश्य करनी चाहिये। संसारके सारे पदार्थ, जिन्हें हम अपनी आँखोंसे देख सकते हैं या देखते हैं, स्वप्नतुल्य हैं, नाशवान् हैं; एकमात्र भगवान् ही सत्य, सदा रहनेवाले हैं। उनका कभी नाश नहीं होता। शिवजीने एक ही पद्मांशमें अपना सारा अनुभव भगवती पार्वतीको बतला दिया है, जो सारे धर्मोंका, सारे उपदेशोंका सार है और जिसपर चलना सभी मनुष्योंके लिये अनिवार्य है। वह पद्मांश है—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। द्रत हरि भजनु जगत सब अपना ॥

अतएव जहाँतक हो सके, भक्तिपूर्वक परम विश्वास और श्रद्धाके साथ अपने दैनिक जीविकोपार्जनके कर्तव्योंके साथ-साथ सबको भगवद्भजन अवश्य करना चाहिये।



# अध्यात्मवाद और भौतिकवाद

( लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज )

[ प्रेषक—व्याहार श्रीराजेन्द्रसिंहजी ]

आजकल सर्वत्र वादोंकी चर्चा सुननेमें आती है। अनेक वादोंकी उलझनमें उनका विभाजन या वर्गीकरण कठिन हो गया है। भारतवर्षमें तत्त्वोंकी चर्चा बहुत प्राचीनकालसे होती आयी है। तत्त्वोंकी चर्चा करते हुए भगवान् कपिलदेवने चौबीस तत्व बतलाये हैं। इसी प्रकार अन्य शास्त्रकारोंने तत्त्वोंकी भिन्न-भिन्न रूपोंमें गणना की है।

सृष्टिके आदिकालसे, जबसे मनुष्यके मस्तिष्कका आविर्भाव हुआ, तत्त्वकी जिज्ञासा और खोज बराबर होती आयी है। यदि हम इन वादोंका वर्गीकरण करें तो वे मुख्य रूपसे दो विभागोंमें बाँटे जा सकते हैं—पहले वे, जो अन्ध रूपसे सृष्टिके रहस्यकी खोज करते हैं; दूसरे वे, जो आत्मरूपसे उसकी खोज करते हैं। संस्कृतमें इनको 'इदमर्थ' और 'अहमर्थ' कहते हैं। जो 'इदमर्थ'की ओर चलाता है, वह अन्तमें 'इदमर्थ'को 'अहमर्थ'में मिला देता है और जो 'अहमर्थ'की ओर चलाता है, वह 'अहमर्थ'को 'इदमर्थ'में मिला देता है। अन्तमें दोनों अद्वैतवादपर पहुँचते हैं।

शून्यवादी मानते हैं कि जगत्का कोई उपादान कारण नहीं है। जिन लोगोंने इदम् (जगत्)की खोज की, उन्होंने सत्तामात्र अचेतनकी प्राप्ति की। इस अचेतनको ही उन्होंने निरिन्द्रिय-रूपमें प्राप्त किया और वे 'जडाद्वैतवादी' कहलाये। पाश्चात्य तत्त्वज्ञानका विकासवाद इसीसे निकला है। इसके बाद कुछ श्रद्धालुओंने चेतन सत्ताको कारण माना और वे चेतन-कारणवादी कहलाये। विज्ञानकी खोज यन्त्रोंके द्वारा की जाती है। इसलिये वे केवल बाह्य वस्तुओंका परीक्षण कर पाते हैं। अणुशक्तिका विश्लेषण करके उन्होंने अणुवमका आविष्कार किया, किंतु दृढयन्त्रका परीक्षण

करनेपर वे उसमें असफल हो गये; क्योंकि यन्त्रोंके द्वारा आत्माका परीक्षण नहीं हो सकता।

किसी भी तत्त्वको लें, उसके मूलमें 'अहम्'-पदार्थ-को तो मानना ही पड़ेगा। 'अहम्'के बिना 'इदम्'की खोज हो ही नहीं सकती। उपादानवादियोंके इस प्रकार दो भेद होते हैं। पहला 'जड-उपादानवादी' और दूसरा 'चेतन-उपादानवादी'। इनको 'अन्तरङ्गवादी' और 'बहिरङ्गवादी' भी कह सकते हैं। अन्तरङ्गवादियोंमें विज्ञान एवं सांख्य दोनों आ जाते हैं; क्योंकि वे महत्तत्त्व या बुद्धिको ही जगत्का कारण मानते हैं। बहिरङ्गवादियोंमें परमाणुवादी आते हैं, जो परमाणुओंको ही जगत्का कारण मानते हैं। चार्वाकके अनुयायी भी इसी कोटिमें आते हैं; क्योंकि वे पञ्चभूतोंको इस जगत्का कारण मानते हैं। योगवादी और भक्तिवादी ईश्वर और परमात्माको जगत्का कारण मानते हैं, इसीलिये वे अन्तरङ्गवादियोंमें आते हैं। जगत्की उत्पत्तिके सम्बन्धमें जितने मत हैं, वे पाँच विभागोंमें बाँटे जा सकते हैं—पहले जड सत्तासे चेतनकी उत्पत्ति मानने-वाले, दूसरे चेतनसे जडकी उत्पत्ति माननेवाले, तीसरे चेतन और जड दोनोंको स्वतन्त्र और अनादि मानने-वाले, चौथे जड-चेतन दोनोंको मिथ्या माननेवाले, पाँचवें जड-चेतन दोनोंको एक माननेवाले। इस अन्तिम कोटिमें अद्वैत-वेदान्ती आते हैं।

किसी भी मतका प्रतिपादन करें, एक मूल सत्ताको स्वीकार करना ही पड़ेगा, जो खय प्रकाशित है। किसी वस्तुका प्रतिभात होना तथा उसका यथार्थमें होना—ये दोनों बातें बिल्कुल अलग-अलग हैं। जो वस्तु दीख पड़ती है, वह असलमें है नहीं। जगत्के सम्बन्धमें यही बात है, किंतु ज्ञानके सम्बन्धमें यह बात नहीं है।



जो सत् है, वही जान पड़ता है; अतः ज्ञानको 'सत्' कहा गया है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।'

जगत्का मूल तत्त्व 'सत्' ही है । यह संसार भी सत्-रूप है । असत्से सत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती । ( उपनिषद् कहती है—अथ असतः सद्जायत । 'असत्से सत्की उत्पत्ति होती है ।' ) सत् जड़ नहीं है—ज्ञानस्वरूप है । ज्ञानको सत्-मात्र माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है । इसी प्रकार सत्-मात्रको चित्-मात्र माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती । सत्य और ज्ञान समानार्थक हैं । दोनों मतोंकी नींव दार्शनिक आधारपर अवस्थित है । अब प्रश्न यह है कि भौतिकवाद अध्यात्मवादसे संगत है या नहीं । पहली बात तो यह है कि अध्यात्मके समर्थनका अर्थ अधिभूतका खण्डन नहीं है, वरं दोनों-का समन्वय है । श्रुति कहती है कि अन्नकी उपासना ब्रह्मके रूपमें करनी चाहिये—'अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत ।'

इसका फल भी बतलाया है कि इस उपासनासे अन्नकी कभी कमी नहीं होगी । अब अन्न तो आधि-भौतिक वस्तु है, किंतु उसमें ईश्वरत्वका भाव लाना अध्यात्मवाद है । दोनोंके मेलसे संसारके अभावकी पूर्ति होती है । श्रुतिमें यह भी कहा गया है कि 'पहले केवल जल ही था—'सलिलमेवासीत् ।' इस जलमें परमात्माने बीज बपन किया और अन्नकी उत्पत्ति हुई । जल जड़ हुआ और उसके अंदर बीजरूप ब्रह्म अध्यात्म हुआ । इसी प्रकार अग्निकी भी उपासना की जाती है—'अग्निमीळे पुरोहितम् ।' यद्यपि अग्नि जड़ है, फिर भी उसके अंदर विद्युत्-प्रवाह है । यही अध्यात्म है । इसी प्रकार अध्यात्म और अधिभूत दोनों मिलकर बोलते हैं । उपनिषद्में वायुकी उपासना भी ब्रह्मरूपसे बतायी गयी है—'वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।' इसी प्रकार जल, आकाश, प्राण और मन आदिकी ब्रह्मस्वरूपसे उपासनाका कथन किया गया है ।

इससे जान पड़ता है कि अध्यात्म और अधिभूतमें कोई विरोध नहीं है । जो दोनोंमें विरोध समझते हैं, वे

ब्रह्मवादके स्वरूपको नहीं समझते । अन्न या रोशनीकी उपासना व्यवहारके लिये और ब्रह्मकी उपासना अध्यात्म-के लिये । संज्ञा व्यवहारके लिये स्वीकार की जाती है । 'कल्पिता व्यवहारार्थं संज्ञास्तस्य महात्मनः ।' रूप-भेद या नाम-भेदसे तत्त्वभेद नहीं होता ।

अध्यात्मका अधिभूतसे कोई विरोध नहीं है । उसका विरोध तो देहात्मवादसे है । देहको आत्मा मानना 'देहात्मवाद' है । शरीर मिट्टीसे बना है । इसलिये उसका सम्बन्ध पञ्चभूतोंसे है, आत्मासे नहीं । अग्नि, तेज, वायु, पृथ्वी और आकाश—इन पाँचोंका वह खजाना है । जिस प्रकार घड़ेके चलनेसे आकाश नहीं चलता और उसके फूटनेसे आकाश नहीं फूटता, उसी प्रकार शरीरके चलने या नाश होनेसे आत्मामें कोई विकार नहीं आता ।

आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी भौतिक पदार्थ हैं । इनपर अधिकार करनेका अर्थ है आत्माको सीमित कर देना और 'अहम्'की पूजा करना । इनको लेकर राग-द्वेष करना अविद्यामूलक है ।

विश्वसे मानव अथवा समाजका विरोध नहीं है; क्योंकि वे उसके अङ्ग हैं । केवल देह और आत्माका विरोध है; क्योंकि वे एक दूसरेके अङ्ग नहीं हैं । इस प्रकार अध्यात्मवादका विरोध देहात्मवादसे है, भौतिक-वादसे नहीं । भौतिकवाद कोई बला नहीं है, जो उसका विरोध किया जाय । भौतिकवाद और देहात्मवादको एक ही समझनेके कारण सारी गड़बड़ी पैदा होती है ।

जिस प्रकार भौतिकवादको लोग नहीं समझते, उसी प्रकार अध्यात्मवादको भी नहीं समझते । 'धर्म' शब्दका भी इसी प्रकार दुरुपयोग होता है । उसे बोग 'रिबीजन' या मजहबके अर्थमें समझते हैं; किंतु धर्मका अर्थ वह शक्ति है, जो उच्छृङ्खलताको रोके—जो समाजको धारण करता है, उसे 'धर्म' कहते हैं—

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।

यत् स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

( महाभारत ८ । ६९ । ५८ )



अध्यात्मवादमें लौकिक जीवनकी उपेक्षा नहीं है। पूँजीवादी संसारकी सम्पत्तिके लिये मानवकी उपेक्षा करते हैं, भौतिकवादी मानवकी रक्षाके लिये अपने प्राणोत्कर्षकी परवा नहीं करते। मानवके लिये धनका उपयोग करना अध्यात्मवादके अन्तर्गत है। भौतिकवादमें वस्तुकी प्रधानता और व्यक्तिकी उपेक्षा होती है, जब कि अध्यात्मवादमें व्यक्तिकी प्रधानता और वस्तुकी उपेक्षा होती है। 'सारे संसारके लिये भी मानवकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये। यही अध्यात्मवाद है। उपनिषदोंमें कहा गया है कि सम्भूति और असम्भूति दोनोंकी ही उपासना होनी चाहिये। 'सम्भूति'का अर्थ है—कार्य-ब्रह्म वा भौतिक जगत् और 'असम्भूति'का अर्थ है कारण-ब्रह्म या अध्यात्मजगत्। इन दोनोंका समन्वय किये बिना सम्पूर्णकी प्राप्ति नहीं हो सकती। लोग प्रत्यक्ष ब्रह्म अर्थात् भौतिक जगत्में इतने लिप्त हो जाते हैं कि कारण-ब्रह्मकी उपेक्षा करने लगते हैं। उपनिषद् कहती है कि जो इस प्रकारसे केवल सम्भूतिकी उपासना करते हैं, वे अन्धकारमें प्रवेश करते हैं—दूसरी ओर जो कारण-ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे और भी घने अन्धकारमें प्रवेश करते हैं\*। इमें अध्यात्म और जगत्—समाधि और व्यवहार दोनोंका समन्वय करना है।

एक महात्माको किसीने एक फूल भेंट किया। महात्मा उसी फूलकी ओर एकटक देखते रह गये। फूल देनेवालेने कहा कि 'आप मेरी ओर देखते ही नहीं, मेरी दी हुई वस्तुकी ओर देख रहे हैं।' महात्माने फूलकी ओरसे दृष्टि उठायी और फूल देनेवालेकी ही ओर एकटक देखने लगे। तब उसने कहा, 'मैं यह नहीं चाहता कि आप मेरी ओर ही देखते रहें। मैं चाहता हूँ कि कभी मेरी ओर देखिये और कभी फूलकी ओर।' इसी प्रकार परमात्मा चाहता है कि हम कभी उसकी ओर देखें और कभी उसके बनाये हुए

संसारकी ओर—अध्यात्मका भी चिन्तन करें और भौतिक (व्यवहार) की भी उपेक्षा न करें।

संसारकी प्रत्येक क्रिया गणितके अनुसार होती है। अणुकी गतिका ज्ञान हो जानेपर अणुबमका आविष्कार हुआ। वेदान्त कहता है कि 'जगत्के जड़ कारणकी सिद्धि नहीं हो सकती।' ब्रह्मसूत्र कहता है—'रचनानुप पत्तेश्च नानुमानम्' (२।२।१) संसारके उल्लास और हास—दोनोंके मूलमें महान् या समष्टि बुद्धि है। चाहे उसे बुद्धि कहिये या ईश्वर। बुद्धिकी दृष्टिसे महत्-तत्त्व सिद्ध होता है और बुद्धिमान्की दृष्टिसे ईश्वर। शक्ति किसी-न-किसी पदार्थके रूपमें व्यक्त होती है और नियमित रूपसे अभिव्यक्त होती है, ईश्वर विश्वरूपमें व्यक्त होता है।

केवल दर्शनमें तन्मय रहनेसे हम भूखे रह जायेंगे और केवल भूखको देखनेसे ज्ञानहीन रह जायेंगे। हमें जगत्को भी देखना है और जगत्कर्ताको भी। जगत्कर्ताकी ओर ले जानेवाला अध्यात्मवाद है और जगत्का व्यवहार चलानेवाला भौतिकवाद है।

कुछ लोग समझते हैं कि व्यवहार-बुद्धि जड़-प्रकृतिसे उत्पन्न हुई है, इसमें भी अध्यात्मकी कोई हानि नहीं होती। सांख्यके अनुसार प्रकृतिसे महत्तत्त्व पैदा हुआ है। समष्टि बुद्धि ही महत्तत्त्व है। सांख्य और योग-दोनोंकी दृष्टिसे बुद्धि भी प्रकृतिसे उत्पन्न है। इस मतसे विज्ञानका भी विरोध नहीं है। चाहे चेतनासे जगत्की उत्पत्ति मानें चाहे जगत्से चेतनाकी, दोनोंका फल एक ही है। गीताके अनुसार तो बुद्धि-तत्त्व भी क्षेत्रके अन्तर्गत है, जब कि बुद्धि चेतन और क्षेत्र जड़ माना जाता है। चाहे बहिरङ्गसे अन्तरङ्गकी उत्पत्ति मानें—सृष्टि-दृष्टिवाद, चाहे अन्तरङ्गसे बहिरङ्गकी—दृष्टि-सृष्टिवाद; दोनोंमें विशेष अन्तर नहीं है।

इस समय अध्यात्म अधिभूतके अधीन हो गया है। समस्या यह है कि पञ्चभूत अन्तःकरणसे अलग कैसे किये जायें? किंतु अध्यात्मदृष्टिसे मन ही विषय है और विषय ही मन है। उपनिषद् कहती है कि मन अन्नमय है—

\* अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याः रताः ॥

( ईश० १२ )



‘अन्नमयं हि सोम्य मनः ।’

मनसे अन्न उत्पन्न होता है और अन्निसे मन बनता है; अतः दोनों एक ही हैं ।

गीतामें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—दो तत्त्वोंकी चर्चा की गयी है । क्षेत्र शरीर है और क्षेत्रज्ञ आत्मा । क्षेत्र द्वन्द्वमें पड़ा है और क्षेत्रज्ञ उससे अलग है । असलमें अधिभूत और अध्यात्म—दोनों एक दूसरेमें मिले-जुले हैं, दोनोंका प्रत्येक एक तीसरा ही है ।

हमारे यहाँ वेदों और उपवेदोंका विभाजन किया गया है । वेदोंमें अध्यात्म और उपवेदोंमें भौतिक उन्नतिकी चर्चा है । भौतिक उन्नतिके लिये स्थापत्यवेद, आयुर्वेद, धनुर्वेद और गन्धर्ववेद—चारोंकी आवश्यकता है । सांसारिक स्थितिके लिये स्थापत्यवेद, स्वास्थ्यके लिये आयुर्वेद, रक्षाके लिये धनुर्वेद और कलात्मक उन्नतिके लिये गन्धर्ववेदकी आवश्यकता है ।

हम व्यक्तिगत जीवनको ही सर्वस्व मानकर देहवादी बन गये हैं, इस कारण भौतिकता, आध्यात्मिकता और सत्य—तीनोंसे च्युत हो गये हैं । भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनों एक दूसरेके सहायक हैं और दोनोंका अन्तिम फल एक ही है । पञ्चभूतोंका उपयोग सार्वजनिक-रूपसे और समष्टिरूपसे होना चाहिये । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश किसीकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होनी चाहिये—यह भौतिकवादका सच्चा स्वरूप है ।

उसी प्रकार अध्यात्मवाद हृदय-शोधनके लिये है । उसके द्वारा हमें पाँच क्लेशों—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशका निराकरण करना चाहिये । व्यक्तिगत स्वार्थकी उपासना ही दुःख है । अविद्याके कारण हम अपनेको देहमें सीमित मानते हैं, अस्मिताके कारण हम अपनेको पृथक् समझते हैं और उसीके कारण अनुकूलसे राग और प्रतिकूलसे द्वेष करते हैं । इन्हींके कारण आसक्ति और हठ—अभिनिवेश उत्पन्न होता है । जिंदा रहनेकी जिद ही ‘अभिनिवेश’ है ।

दुःखका कारण चाहे कोई कुछ भी माने, किंतु यह

निश्चित है कि व्यक्तिगत जीवनकी शुद्धिसे समाजकी शुद्धि होती है और शुद्ध समाजमें वादोंका विवाद नहीं रहता । सीधी-सी बात यह है कि सब लोग अपने-अपने हिस्सेका श्रम करें और दूसरेके हिस्सेका लालच न करें । व्यक्ति विश्वसे पृथक् नहीं, किंतु उसका अङ्गभूत है । समष्टि पञ्चभूत भौतिकवादके विपरीत नहीं । अध्यात्मवाद और भौतिकवाद मूलमें दोनों एक ही हैं । समझदारोंमें कभी झगड़ा नहीं होता, नासमझोंमें ही झगड़ा होता है । भौतिकवाद भी अध्यात्मवादकी ओर बढ़ रहा है । सत्य तो दोनोंहीसे परे है और वह आत्मतत्त्व है । गूढ़ सत्यका अनुसंधान होनेके बाद ईश्वर, ब्रह्म, परमात्मा आदि सब एक हो जाते हैं । भूत और भविष्यके सभी मतोंको जाननेवाला दार्शनिक ही तत्त्वोंका ठीक-ठीक विवेचन कर सकता है । सत्यज्ञानसे सब कुछ प्राप्त हो सकता है । उस एक तत्त्वको जाननेसे सब कुछ जाना जा सकता है ।

सारांश यह है कि वाद-विवाद विद्वानोंके लिये छोड़ देना चाहिये । हमें केवल जीवन-शोधनपर ध्यान देना चाहिये । जगत्का जीवन-यापन विज्ञान या ज्ञानके द्वारा नहीं, किंतु भावके अनुसार होता है । ज्ञानका अभिमान कर हमें श्रद्धापर कुठाराघात नहीं करना चाहिये । अन्धश्रद्धा कहकर उसका उपहास नहीं करना चाहिये । जीवनके सम्बन्धमें अध्यात्मवादी और भौतिकवादी दोनों एकमत हैं । धार्मिक या सत्-गुणी जीवनमें कोई विवाद नहीं है । सेवा, संयम, स्वार्थ-त्याग आदि दोनोंको मान्य हैं । उच्छृङ्खलताका अर्थ भौतिकवाद नहीं है और न संग्रह अध्यात्मवादका अर्थ है । मुख्य बात यह है कि हृदयमें श्रद्धा हो, बुद्धिमें विवेक हो और आत्मामें परिच्छिन्नता न हो । ऐसा होनेपर जीवन-सम्बन्धी कोई विवाद नहीं रहता, केवल विभागीय विवाद रह जाता है । बुद्धिजीवी लोग शास्त्रार्थ किया करें, किंतु विवादका प्रभाव व्यक्तिगत या सामाजिक जीवनपर नहीं पड़ना चाहिये । हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक—दोनों ही जीवन संयमी, श्रद्धायुक्त और विवेकमय हों । इसीमें भौतिकवाद और अध्यात्मवादकी परिणति है ।



## गीताका भक्तियोग—६

( पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या )  
[ गताङ्क पृष्ठ १२७३से आगे ]

सम्बन्ध

निर्गुण-निराकार ब्रह्मकी और सगुण-साकार भगवान्-की उपासना करनेवाले उपासकोंमें सगुण-उपासकोंको श्रेष्ठ बतलाकर अर्जुनको सगुण-उपासना करनेकी आज्ञा दी गयी । इस सगुण-उपासनाके अन्तर्गत भगवान्ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक अपनी प्राप्तिके चार साधन बतलाये । चारों साधनोंसे ही सिद्धावस्थाको प्राप्त हुए अपने प्रिय भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन तेरहवें श्लोकसे उन्नीसवें श्लोकतक सात श्लोकोंद्वारा पाँच प्रकरणोंमें करते हैं—

तेरहवें और चौदहवें श्लोकोंका पहला प्रकरण है, जिसमें सिद्ध भक्तके बारह लक्षणोंका वर्णन हुआ है—

श्लोक

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।  
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥  
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।  
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

भावार्थ

यद्यपि भक्तिमार्गमें मूल बात यह है कि अहंताके बदलनेसे ही अर्थात्—शरीर और संसारको 'मैं'-'मेरा' न मानकर 'मैं भगवान्का ही हूँ और एक भगवान् ही मेरे हैं' इस प्रकार मान लेनेसे ही भगवान्की प्राप्ति सुगम हो जाती है, फिर भी अहंताके बदलनेका परिणाम ( भगवान्के ) प्रति मैं-मेरे-पनका भाव हो जानेका ( परिणाम ) प्राणिमात्रके प्रति द्वेषरहित, वैररहित होनेसे ही प्रारम्भ होता है । अर्थात् द्वेष न होना ही साधककी पहली कसौटी है । किसीके प्रति द्वेषभाव न रहनेसे भगवान्के प्रति मैं-मेरापनका भाव स्वतः दृढ़ हो जायगा । स्थूलरूपसे द्वेषका त्याग भी सुगम है; क्योंकि सज्जन

कहलानेवाले पुरुष भी किसीके प्रति भी द्वेष नहीं रखना चाहते, फिर साधक तो रख ही कैसे सकता है । इन बातोंकी ओर लक्ष्य करानेके लिये सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन करते हुए भगवान् सबसे पहले 'अद्वेष्टा' पद देते हैं ।

दूसरी बात यह भी है कि ग्यारहवें अध्यायके अन्तमें साधन-पञ्चकका वर्णन किया गया, उनमेंसे 'मत्कर्मकृत्', 'मत्परमः' और 'मद्भक्तः' पदोंसे जिन तीन साधनोंका वर्णन हुआ, उन्हीं साधनोंका इस अध्यायके छठे श्लोकमें क्रमशः 'सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य', 'मत्पराः' और 'अनन्येनैव योगेन' पदोंद्वारा किया गया है । साधन-पञ्चकमें कहे हुए—'सङ्गवर्जितः' पदसे बताये गये साधनका यहाँ छठे श्लोकमें भगवान्के प्रति अनन्य-प्रेममें अन्तर्भाव कर लिया गया; क्योंकि संसारमें आसक्ति न रहनेसे ही भगवान्में अनन्य प्रेम हो सकता है । राग न रहनेसे वैर-भाव नहीं रहता अर्थात् साधन-पञ्चकका पाँचवाँ साधन—'निर्वैरः सर्वभूतेषु' भी इसके अन्तर्गत आ गया; परंतु स्पष्टरूपसे 'अद्वेष्टा' पद सिद्धभक्तोंके लक्षणोंमें सबसे पहले देकर भगवान् यह बतलाते हैं कि साधकका किसीके साथ भी वैर-विरोध नहीं रहना चाहिये ।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, साधकका किसीके प्रति स्थूलरूपसे द्वेषभाव नहीं रहनेसे उसका भगवान्में मैं-मेरापन स्वतः हो जायगा । उसके अंदर जब द्वेषका सर्वथा अभाव हो जायगा, तब उसका एकमात्र भगवान्में ही मैं-मेरापन हो जायगा । इन्हीं दोनों बातोंको बतलानेके लिये भगवान्ने इन श्लोकोंमें सर्वप्रथम 'अद्वेष्टा' पदसे द्वेषके अभावको और अन्तमें 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' से



भगवान्में मैं-मेरेपनके भावको सिद्धभक्तोंके लक्षणोंमें संनिवेशित किया है ।

सिद्धभक्तमें प्राणियोंके प्रति केवल द्वेषका ही अत्यन्त अभाव नहीं रहता, बल्कि उनके प्रति मित्रता और करुणाका भाव भी रहता है । एकमात्र प्रभुमें ही आत्मीयता होनेसे उस शरीर और संसारके प्रति अपनेपनका सर्वथा अभाव रहता है । विकट-से-विकट और अत्यन्त सुखमय परिस्थितिकी प्राप्तिमें भी उसके अन्तःकरणमें समभाव रहता है । किसी भी प्राणीके द्वारा अपने प्रति किये गये अपराधको अपराध न माननेसे वह सदैव क्षमाशील होता है । एकमात्र भगवान् ही उसकी संतुष्टिका कारण होनेसे वह सदा ही संतुष्ट रहता है । केवल भगवान्में ही रमण करनेसे वह योगी है । उसके शरीरसहित मन-इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें हैं । उसके निश्चयमें सर्वत्र एक परमात्मा ही है । मैं भगवान्का ही हूँ और एक भगवान् ही मेरे हूँ' इस प्रकार अनुभव करके उसने केवल भगवान्के साथ ही अपनी आत्मीयता कर ली है और भगवान्में ही अनन्य प्रेम करके वह भगवान्का ही चिन्तन करता है । इस प्रकारके भक्तको भगवान् अपना अत्यन्त प्यारा बतलाते हैं—

अन्वय

सर्वभूतानाम्, एव, अद्वेष्टा, मैत्रः, च, कृष्णः, निर्ममः, निरहंकारः, समदुःखसुखः, भूमी ॥ १३ ॥

सततम्, संतुष्टः, योगी, धृतात्मा, दृढनिश्चयः, मयि, अर्पितमनोबुद्धिः, यः, मङ्गलः, सः, मे, प्रियः ॥ १४ ॥

सर्वभूतानाम् एव अद्वेष्टा—सभी भूतोंमें द्वेषभावसे रहित । किसी भी प्राणीके साथ—यहाँतक कि अपना अनिष्टसे भी अनिष्ट करनेवालेके साथ भी जिसका द्वेष-भाव नहीं है ।

अनिष्ट करनेवालोंके दो भेद हैं—( १ ) इष्टकी प्राप्तिमें बाधा देनेवाले, अर्थात् धन, मान-बड़ाई, आदर-सत्कार, महिमा आदिकी प्राप्तिमें बाधा देनेवाले और

( २ ) अनिष्ट पदार्थ, क्रिया, व्यक्ति, घटना आदिका संयोग करानेवाले । कोई कितना ही अनिष्ट करे, निन्दा करे, अपमान करे, किसी प्रकारकी आर्थिक और शारीरिक हानि पहुँचाये, भक्तके मनमें उसके प्रति कभी किञ्चिन्मात्र भी द्वेष नहीं होता । भक्तके शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों और सिद्धान्तके अनुकूल-प्रतिकूल किसी प्रकारका भी बर्ताव करनेवाले प्राणीके प्रति भक्तका जरा भी द्वेष-भाव नहीं होता; कारण वह प्राणिमात्रमें भगवान्को ही व्याप्त देखता है, ऐसी दशामें वह विरोध करे तो किससे करे—

‘जिज्मन्मय देवाहिं जगत केहि खन करहि विरोध ॥’

( रा० च० मा०, उत्तर०, दो० ११२ ख )

इतना ही नहीं, वह अनिष्ट करनेवालोंकी सारी क्रियाओंको भगवान्का मङ्गलमय विधान मानता है ।

मैत्रः च कृष्णः—स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है ।

‘अद्वेष्टा’ पदसे भगवान्ने भक्तके अंदर सभी प्राणियोंके प्रति द्वेषका अत्यन्ताभाव बतलाया; किंतु भक्तमें केवल द्वेषका अभाव ही हो, इतनी ही बात नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें मैत्री और दयाका भाव भी रहता है । भगवान् प्राणिमात्रके मुहूर्त्त हैं—

‘सुहृद् सर्वभूतानाम्’ (गीता ५।२९) और भगवान्का स्वभाव ही भक्तका स्वभाव होता है; इसलिये भक्तका सभी प्राणियोंके प्रति बिना किसी स्वार्थके स्वाभाविक ही मैत्री और दयाका भाव रहता है—

‘हेतु रहित जग जुग उपकारी । तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी ॥’

( रा० च० मा०, उत्तर०, ४७।२३ )

भक्तका अपने अनिष्ट करनेवालोंके प्रति भी मित्रताका भाव रहता है; क्योंकि वह समझता है कि अनिष्ट करनेवालेने अनिष्टके रूपमें भगवान्का विधान ही प्रस्तुत किया है । फलतः उसने जो कुछ किया है, भक्तके लिये ठीक ही किया है; कारण, भगवान्का विधान बेठीक होता नहीं । इतना ही नहीं, भक्त यह मानता है कि



उसका अनिष्ट करनेवाला अनिष्टमें निमित्त बनकर पाप कर रहा है, फलतः वह विशेष प्यारका पात्र है। साधक-मात्रके मनमें यह भाव रहता है और रहना चाहिये कि उसका अनिष्ट करनेवाला साधकके पापोंका फल भुगताकर उसे शुद्ध कर रहा है। ऐसी दशामें उसका भी अनिष्ट करने-वालेके प्रति मैत्री और करुणाका भाव रहता है; फिर भक्तकी तो बात ही क्या है। भक्तका तो उसके प्रति क्या, प्राणिमात्रके प्रति बिलक्षण मैत्री और दयाका भाव रहता है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें पतञ्जलि महाराजने चित्त-शुद्धि-के चार हेतु बतलाये हैं—‘मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यानां भावनातश्चित्त प्रसादनम्।’ (१।३३) अर्थात् सुखियोंके साथ मैत्री, दुःखियोंके प्रति करुणा, पुण्यात्माओंके प्रति मुदिता और पापात्माओंकी उपेक्षासे चित्तमें प्रसन्नता होती है। भगवान् ने तो यहाँ भगवत्प्राप्त महापुरुषके लक्षणोंमें उदार-स्वभावके कारण प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और करुणाका भाव बतलाया है। भक्तका सुखियों और पापात्माओंके प्रति भी मैत्री और दयाका भाव रहता है, न कि उपेक्षाका।

**निर्ममः**—ममतासे रहित।

भक्तमें प्राणिमात्रके प्रति स्वाभाविक ही मैत्री और करुणा-का भाव रहते भी हुए किसीके प्रति यत्किंचित् भी ममता नहीं होती। प्राणीपदार्थोंमें मेरेपनका भाव ही मनुष्यको संसारमें बाँधनेवाला होता है। भक्त इस मेरेपनके भावसे सर्वथा रहित होता है—यहाँतक कि अपने शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धिके प्रति भी उसके अंदर सर्वथा ममताका अभाव रहता है।

साधक जबतक इन मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और शरीरको अपना मानकर शुद्ध करनेकी चेष्टा करेगा, तबतक उसे देरी लगेगी; क्योंकि इन्हें अपना मानना ही सबसे बड़ी अशुद्धि है। भगवान् ने पाँचवें अध्यायके ११वें श्लोकमें ‘कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि’ पदोंसे ‘ममतारहित इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीरसे अन्तः-

करणकी शुद्धिके लिये कर्मयोगी साधन करते हैं’ यह बताया है।

दूसरे अध्यायके ७१वें श्लोकमें, तीसरे अध्यायके ३०वें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके ५३वें श्लोकमें ‘निर्ममः’ पद इसी भावमें आया है।

**निरहंकारः**—अहंकारसे रहित।

भक्त अपने शरीरके प्रति अहंबुद्धिसे सर्वथा रहित होता है। भक्तमें श्रेष्ठ, दिव्य, अलौकिक गुण रहते हुए भी उसको वे अपने गुण नहीं प्रतीत होते; क्योंकि भक्तमें अवगुण तो रहते नहीं एवं गुणोंको दैवी सम्पत्ति होनेसे वह देव (भगवान्) के ही मानता है—

‘गुण गुह्यार समुद्बद् निज बोधा।’

(रा० च० मा०, अयोध्या०, १३०।१३)

सत्—परमात्माके होनेके कारण ही श्रेष्ठ गुण ‘सद्गुण’ कहलाते हैं; ऐसी दशामें भक्त उन्हें अपने कैसे मान सकता है। इसलिये वह सर्वथा अहंकारसे रहित होता है। अपनेमें अहंकार न रहनेसे और केवल भगवान् से ही सम्बन्ध रहनेके कारण उसके अन्तःकरणमें दिव्य गुण आ जाते हैं; किंतु भक्त सर्वथा अहंकारसे रहित होता है।

दूसरे अध्यायके ७१वें श्लोकमें भी ‘निरहंकारः’ पद शरीरके प्रति अहंकारके सर्वथा अभावका द्योतक है।

**समदुःखसुखः**—सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम।

भक्त सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम रहता है, अर्थात् सुख-दुःख उसके हृदयमें राग-द्वेष आदि विकार उत्पन्न नहीं कर सकते।

भगवद्गीतामें ‘सुख-दुःख’ पद (१) सुख-दुःखोंकी सामग्रीके, अर्थात् जो सुख-दुःख (हर्ष-शोक) उत्पन्न करनेमें हेतु हैं, उनके लिये तथा (२) अन्तःकरणमें होनेवाले सुख-दुःख अर्थात् हर्ष-शोकादि विकार दोनोंके लिये आया है। दूसरे अध्यायके १५वें तथा ३८वें श्लोकोंमें; इसी अध्यायके १८वें श्लोकमें और चौदहवें



अध्यायके २४वें श्लोकमें 'सुख-दुःख' पद सुख-दुःखकी परिस्थितिके लिये आया है और पंद्रहवें अध्यायके ५वें श्लोकमें 'सुखदुःखसंज्ञैः' पद अन्तःकरणमें होने-वाले हर्ष-शोकादि विकारोंके लिये आया है ।

सुख-दुःखकी परिस्थिति मनुष्यको सुखी-दुःखी बनाकर ही बाँधती है । इसलिये सुख-दुःखमें सम होनेका भाव यही है कि भगवान्‌का भक्त अन्तःकरणमें होनेवाले हर्ष-शोकादि विकारोंसे शून्य होता है । भक्तके भी शरीर, इन्द्रियों, मन और सिद्धान्तके अनुकूल-प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ और घटनाओंका संयोग होगा तो उसे अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान भी होगा । यहाँ एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि किसी वस्तुका ज्ञान होना दोष नहीं है, किंतु उससे अन्तःकरणमें विकार होना ही दोष है । भक्तको अनुकूलता-प्रतिकूलताका ज्ञान होते हुए भी किसी भी परिस्थितिमें उसके अन्तःकरणमें हर्ष-शोकादि विकार नहीं होंगे । वह हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा रहित होता है । उदाहरणार्थ—प्रारब्धानुसार भक्तके शरीरमें रोग होनेपर शारीरिक पीड़ारूप दुःखका ज्ञान तो भक्तको होगा, किंतु उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका विकार नहीं होगा ।

**क्षमी—क्षमावान् है ।**

अपना कैसा भी अपराध करनेवालेको उसे किसी भी प्रकारका दण्ड देनेकी इच्छा न रखकर, क्षमा कर देनेवालेको 'क्षमी' कहते हैं ।

भगवान्‌ने भक्तके लक्षणोंमें 'अद्वेष्टा' पद देकर अपने प्रति अपराध करनेवालेके प्रति द्वेषका अभाव तो बतला दिया; यहाँ 'क्षमी' पदसे उस अपराधका उसे किसी प्रकारका दण्ड भी न मिले, यह भाव दिखलाया है ।

भगवान्‌के द्वारा अथवा किसी औरके द्वारा भी उसे दण्ड न हो जाय, भक्तका ऐसा क्षमाभाव रहता है । ऐसा क्षमाभाव भक्तियोगीकी एक विशेषता है ।

**योगी—परमात्मा में युक्त हुआ ।**

भक्तिके द्वारा परमात्माको प्राप्त पुरुषका नाम यहाँ 'योगी' है । जो नित्य-निरन्तर परमात्मासे जुड़ा हुआ है, अर्थात् जिसका कभी किसी अवस्थामें परमात्मासे वियोग होता ही नहीं, वह 'योगी' है ।

'समत्वं योग उच्यते' (गीता २।४८) 'समताका नाम ही योग है ।' भक्तमें समता स्वाभाविक ही रहती है । उसमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक कभी होते ही नहीं । इसलिये भी उसे 'योगी' कहा जाता है ।

**सततम् संतुष्टः—निरन्तर संतुष्ट है ।**

जीवको मनोऽनुकूल प्राणी-पदार्थ, घटना, परिस्थितिके संयोगमें एवं मनके प्रतिकूल प्राणी-पदार्थ, घटना, परिस्थितिके वियोगमें संतोष होता है; किंतु यह संतोष विजातीय पदार्थोंसे होनेके कारण स्थायी नहीं है । नित्य रहनेवाले जीवको नित्य परमात्माकी प्राप्तिसे ही वास्तविक और स्थायी संतोष होता है । भक्त भगवान्‌को प्राप्त होनेसे नित्य-निरन्तर संतुष्ट रहता है; क्योंकि भगवान्‌से उसका कभी वियोग होता ही नहीं एवं संसारकी उसे आवश्यकता ही नहीं रहती, अतः उसके असंतोषका कोई कारण ही नहीं । इस संतुष्टिके मिलनेसे उसके हृदयमें संसारके किसी भी पदार्थके प्रति यत्किंचित् भी महत्त्व-बुद्धि नहीं रह जाती—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

(गीता ६।२२)

'संतुष्टः' के साथ 'सततम्' पद देकर भगवान्‌ने भक्तके उस नित्य-निरन्तर रहनेवाले संतोषका लक्ष्य कराया है, जिसमें कभी अन्तर पड़ता ही नहीं और कभी अन्तर पड़नेकी सम्भावना भी नहीं । ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग—किसी भी योगसे सिद्ध हुए महापुरुषमें ऐसी संतुष्टि निरन्तर रहती है ।

दूसरे अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' पदसे कर्मयोगीकी, तीसरे अध्यायके १७वें श्लोकमें



‘आत्मन्येव च संतुष्टः’ पदसे ज्ञानयोगीकी, छठे अध्याय-के २०वें श्लोकमें ‘आत्मनि तुष्यति’ पदसे ध्यानयोगी-की और इसी अध्यायके १९वें श्लोकमें ‘संतुष्टः’ पदसे भक्तयोगीकी निरन्तर संतुष्टिका वर्णन हुआ है।

सिद्धभक्तमें स्वाभाविक निरन्तर संतोष रहता है, जब कि साधक संतोष करनेकी चेष्टा करता है। चौथे अध्यायके २२वें श्लोकमें ‘यदृच्छालाभसंतुष्टः’ पदसे एवं दसवें अध्यायके ९वें श्लोकमें ‘तुष्यन्ति’ पदसे साधकोंके लिये संतुष्ट होनेकी बात कही गयी है।

यतात्मा—मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए।

मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसहित शरीरपर जिसका पूरा अधिकार हो, उसे ‘यतात्मा’ कहते हैं। सिद्ध भक्त-योगीको मन-बुद्धि आदिको वशमें करना नहीं पड़ता, बल्कि ये स्वाभाविक ही उसके वशमें रहते हैं। इसलिये उसमें किसी प्रकारके दुर्गुण-दुराचार आनेकी सम्भावना ही नहीं रहती। मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ स्वाभाविक ही मर्यादापर चढ़नेके लिये ही हैं, किंतु संसारके साथ रागयुक्त सम्बन्ध रहनेसे ये (मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ) मार्गच्युत होती हैं। भक्तका संसारके साथ रागयुक्त सम्बन्ध यत्किंचित् भी न रहनेसे उसकी मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ सर्वथा वशमें होती हैं।

ऐसा देखा जाता है कि न्याय और नीतिपर चढ़ने-वाले सत्पुरुषोंकी इन्द्रियाँ भी कुमार्गपर नहीं जातीं। उदाहरणार्थ, राजा दुष्यन्तकी वृत्ति शकुन्तलाकी ओर जानेपर उन्हें इदं विश्वास होता है कि यह क्षत्रिय-कन्या ही है न कि ब्राह्मण-बाळिका; जैसा कि ऋषि-बाळकोंने उन्हें बतलाया था। कविशिरोमणि कालिदासके अनुसार सत्पुरुष इस विश्वासमें अपने अन्तःकरणकी वृत्तियोंको ही प्रमाण मानते हैं—‘प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः’। जब न्याय और नीतिपर चढ़नेवाले सत्पुरुषोंकी

इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति भी स्वतः कुमार्गकी ओर नहीं होती तो फिर जो सिद्धभक्त न्याय-धर्मसे कभी किसी अवस्थामें श्रुत हो ही नहीं सकता, उसकी मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ दुर्मार्गकी ओर जा ही कैसे सकती हैं? भगवान्ने इसी भावको ‘यतात्मा’ पदसे कहा है।

पाँचवें अध्यायके २५वें श्लोकमें ‘यतात्मानः’ पद सिद्ध ज्ञानी महात्माओंके लक्षणोंमें आया है और इसी अध्यायके ११वें श्लोकमें ‘यतात्मवान्’ पदके द्वारा साधकोंके लिये मन-इन्द्रियोंको वशमें करनेकी बात कही गयी है।

दृढनिश्चयः—मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है।

ज्ञानमार्गीके अन्तःकरणमें अपने सहित संसारका अत्यन्त अभाव रहता है। इसलिये उसकी बुद्धिमें एक परमात्माकी ही अटल सत्ता रहती है। अतः उसकी बुद्धिमें विपर्यय-दोष रहता ही नहीं। भक्तिमार्गीका केवल भगवान्के साथ ही नित्य सम्बन्ध रहता है। अतः उसका भी भगवान्में ही दृढ़ निश्चय होता है। बुद्धिमें जहाँ भी विपर्यय और संशयरूपी दोष रहते हैं, वे सब संसारकी सत्ता या संसारके साथ सम्बन्ध होनेसे ही होते हैं। विपर्यय और संशयवाली बुद्धिमें स्थिरता नहीं होती। ज्ञानी और अज्ञानीको देखा जाय तो उनकी बुद्धिमें ही अन्तर रहता है, स्वरूपसे तो दोनों एक ही हैं। अज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका महत्त्व और भाव रहता है, किंतु सिद्धभक्तके लिये एक भगवान्के सिवा संसारकी किसी भी वस्तुकी स्वतन्त्र सत्ता और उसके प्रति आदर-बुद्धि नहीं रहती। अतः उसकी बुद्धि विपर्यय और संशयदोषसे सर्वथा रहित होती है, उसका एक परमात्मामें ही दृढ़ निश्चय होता है।

दूसरे अध्यायके ५४वें श्लोकमें ‘स्थितप्रज्ञः’ और ‘स्थितधीः’ पद, ५५वें श्लोकमें ‘स्थितप्रज्ञः’ पद तथा ५६वें, ५७वें, ५८वें, ६१वें और ६८वें



श्लोकोंमें 'प्रजजा प्रतिष्ठिता' पद; 'स्थितधीः' पद; पाँचवें अध्यायके १९वें श्लोकमें 'येषां साम्ये स्थितं मनः' पद तथा २०वें श्लोकमें 'स्थिरबुद्धिः' पद और इसी अध्यायके १९वें श्लोकमें 'स्थिरमतिः' पद सिद्ध महापुरुषोंमें स्वतः रहनेवाले दृढ़ निश्चयका बोध कराते हैं।

दूसरे अध्यायके ४१वें तथा ४४वें श्लोकोंमें व्यवसायभात्विका बुद्धिः' पद, सातवें अध्यायके २८वें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके १४वें श्लोकमें दृढव्रताः' पद तथा उसी अध्यायके ३०वें श्लोकमें 'सम्यग्व्यवसितः' पद साधकमें रहनेवाले दृढ़ निश्चयका बोध करानेके लिये आये हैं। इस दृढ़ निश्चयकी भगवान् ने गीताजीमें स्थान-स्थानपर बड़ी प्रशंसा की है।

मयि अर्पितमनोबुद्धिः— मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला।

जब साधक एकमात्र भगवत्प्राप्तिको ही अपना उद्देश्य बना लेता है, तब उसके मन-बुद्धि भी अपने-आप भगवान् में लग जाते हैं—'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' (गीता ८।७)। फिर सिद्धभक्तके मन-बुद्धि भगवान् के अर्पित रहें—इसमें तो कहना ही क्या है।

जहाँ प्रेम होता है, वहाँ स्वाभाविक ही मन लगता है एवं जिसको सिद्धान्ततः श्रेष्ठ समझता है, उसमें स्वाभाविक ही बुद्धि लगती है। भक्तके लिये भगवान् से बढ़कर कोई प्रिय और श्रेष्ठ नहीं है।

'प्रियो हि ह्यनानोऽत्यर्थम्' (गीता ७।१७)

अतः उसके मन-बुद्धि स्वाभाविक ही भगवान् में लगे रहते हैं।

यः=जो,

मद्भक्तः—भक्तिमार्गसे प्राप्त हुआ मेरा भक्त है।

इसी अध्यायके १६वें श्लोकमें भी 'मद्भक्तः' पद इसी भावमें आया है।

नवें अध्यायके ३४वें और अठारहवें अध्यायके ६५वें श्लोकोंमें 'मद्भक्तः' पदसे साधकको भक्त बननेकी आज्ञा दी गयी है।

सातवें अध्यायके २३वें श्लोकमें तथा ग्यारहवें अध्यायके ५५वें श्लोकमें 'मद्भक्तः' पद, नवें अध्यायके ३१वें श्लोकमें, १३वें अध्यायके १८वें श्लोकमें 'मद्भक्तः' पद और अठारहवें अध्यायके ६८वें श्लोकमें 'मद्भक्तेषु' पद साधक भक्तके वाचक हैं।

चौथे अध्यायके ३२ श्लोकमें 'भक्तः' पद अर्जुनको अपना भक्त घोषित करनेके लिये आया है। सातवें अध्यायके २१वें श्लोकमें, 'भक्तः' पद देवताओंके भक्तोंके लिये आया है।

सः=वह,

मे प्रियः—मुझे प्रिय है।

यद्यपि भगवान् को तो सभी प्रिय हैं, तथापि भक्तका प्यार भगवान् के सिवा और कहीं नहीं होता। केवल भगवान् में ही होता है। ऐसी दशा में 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' (गीता ४।११) की—इस प्रतिज्ञाके अनुसार भक्त भगवान् को अत्यन्त प्यारा है।

सातवें अध्यायके १७वें श्लोकमें तथा इसी अध्यायके १४वें, १६वें, १७वें और १९वें श्लोकोंमें 'प्रियः' पद सिद्धभक्तोंका वाचक है।

इसी अध्यायके २०वें श्लोकमें 'प्रियाः' पद साधक भक्तोंके लिये आया है।

नवें अध्यायके २९वें श्लोकमें तथा ग्यारहवें अध्यायके ४४वें श्लोकमें और सत्रहवें अध्यायके ७वें श्लोकमें 'प्रियः' पद साधारण प्यार और रुचिके विषयको बतलाता है।

दसवें अध्यायके १ले श्लोकमें 'प्रीयमाणाय' पदसे

अर्जुनको अपना प्यारा बताया गया है।



## आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

शारीरिक सुख एवं नामकी चिन्तासे सर्वथा  
उपराम हो जाइये ।

बार-बार यह निश्चय करना चाहिये कि इस जीवन-  
को प्रभुके चरणोंमें समर्पित करना है; इसीमें इस जीवन-  
की सार्थकता है । अतिशय गम्भीरतासे विचारना चाहिये  
कि भोगोंमें सुख नहीं; हमें सुख दीखें भले ही, पर  
इनमें सुखकी गन्ध भी नहीं है । भगवान् खयं  
कहते हैं—

‘ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।’  
( गीता ५ । २२ )

इस प्रकार बार-बार विचार करके मन जिस-जिस  
विषयकी ओर जाय, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर नित्य आनन्दमय  
प्रभुमें लगाना चाहिये । दो बातका मोह मनुष्यको अधिक  
होता है—पहला शारीरिक सुखका एवं दूसरा नामका ।  
शरीरको मनचाहा आराम मिळता रहे एवं लोगोंमें मेरा  
खूब सम्मान हो, खूब आदर हो—ये दो मोह परमार्थ-  
के मार्गमें बढ़नेवाले पुरुषोंमें भी देखे जाते हैं । पर  
बढ़ी सचमुच हमलोग थोड़ा विचार करें तो यह ठीक  
पता चल सकता है कि कितनी अनित्य एवं असार  
वस्तुके लिये हमलोग दुर्लभ मनुष्य-जीवन बर्बाद करते  
हैं । थोड़ी देरके लिये मान लें—आपकी लोगोंमें खूब  
प्रसिद्धि हुई लोगोंने आपकी बड़ी तारीफ की, आप बड़े  
इज्जतदार समझे जाने लगे; विवाह-शादीमें ये बड़े  
खुले दिलसे खर्च करते हैं—इस प्रकार लोगोंने बाह-  
बाही की; ये बड़े विद्वान् हैं, व्यवहारकुशल हैं—इस  
प्रकार जहाँ भी जायँ, वहाँ प्रशंसा हो; उससे आप भी  
प्रसन्न हो सकते हैं । लेकिन सोचें—वस्तुतः आपके  
नामकी तारीफसे आपका क्या बनता है । इसके पहले  
अनन्त जन्मोंमें अनन्त नाम आपके हो गये हैं । पता  
नहीं, आपका कितना धुंश गया जा चुका है, पर

आज आपको उनकी स्मृति भी नहीं है । इसी प्रकार  
मृत्यु इस नामसे भी आपका सम्बन्ध अवश्य ही तोड़  
देगी और उस समय आप सर्वथा इस नामको भूल  
जाइयेगा । शरीरकी भी यही दशा है । इसे कितना भी  
आरामसे रखिये, पर इससे सम्बन्ध टूटना अनिवार्य है ।  
इसके पहले भी तो शरीर था और वह टूटा था । वह  
सुखसे या अथवा दुःखसे था, इस बातको लेकर अब  
आपको चिन्ता नहीं होती । इसी तरह इस शरीरकी भी  
इसके छूटनेके बाद सर्वथा विस्मृति हो जायगी ।  
अतः बुद्धिमानी इसीमें है कि इन दोनों वस्तुओंसे  
मन हटाया जाय ।

नाम-रूपके मोहकी परिस्थिति संसारमें सभीके सामने  
आती है । आपके सामने भी ऐसी परिस्थितियाँ आती  
होंगी, जिससे आप चिन्तित होते होंगे कि अब तो  
इज्जत गयी तथा खाने-पीनेको भी नहीं रहेगा । आर्थिक  
प्रश्नको लेकर आपके मनमें इस प्रकारकी चिन्ता होनी  
सम्भव है । तथा कुछ देरके लिये ही सही, भजनको  
गौण बनाकर, इज्जतकी रक्षा एवं शरीर-निर्वाहको  
मुख्यता देकर उसके लिये चेष्टा करते होंगे । पर इन  
परिस्थितियोंकी उपेक्षा करें । इनमें जरा भी सार नहीं  
है । बस, जैसा भगवान्ने रच रखा है, वह हो जायगा—  
ऐसा दृढ़ निश्चय एवं विश्वास करके इनसे सर्वथा उपराम  
होकर आत्माके कल्याणमें मन लगाना चाहिये ।

प्रत्येक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितिको सहर्ष  
स्वीकार करें ।

जगत्के बहुत थोड़े प्राणी भगवान्की दया चाहते  
हैं । वे चाहते हैं—अनुकूलता । लेकिन यह बात निरन्तर  
ध्यानमें रखनी चाहिये कि भगवान्की दया अनुकूल एवं  
प्रतिकूल दोनों अवस्थाओंमें रहती है । जो केवल  
अनुकूलता चाहते हैं, वे भगवान्की आधी, आंशिक,



असम्पूर्ण दयाका ही ग्रहण चाहते हैं। अतः बुद्धिमानों की इसी बातमें है कि प्रियतम भगवान्‌की भेजी हुई प्रत्येक अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितिको सहर्ष स्वीकार किया जाय। इससे बढ़कर और क्या हो सकता है कि भगवान्‌ जब निश्चय दया-ही-दया करेंगे, तब हम उनके प्रत्येक विधानके सामने अपना सिर झुका दें। ऐसी बात आचरणमें आ जानी अवश्य ही कठिन है, किंतु भगवान्‌की दयाका आश्रय लेकर ऐसा बननेकी चेष्टा करनी चाहिये। वे दयामय हैं; यदि हमारी नीयत शुद्ध हो तो वे अपनी दयासे अवश्य ऐसा भाव बना देंगे।

जहाँतक बने, भगवान्‌का अधिक-से-अधिक नाम लेते रहें। यह अगर होता रहा तो साधन-पथपर अपने-आप बढ़ जाइयेगा। भगवान्‌के नामकी महिमा अनन्त, अपार है।

### भगवान्‌का नाम लेते जाइये।

एक लोहा पूजामें राख्यौ, एक घर बधिक परौ।

पारस गुन-अवगुन नहीं चितवै, कंचन करत खरौ ॥

इस पद्यके अर्थपर विचार कीजिये—पारस स्पर्श होते ही लोहेको सोनेमें बदल देता है; वह यह नहीं देखता कि अमुक-अमुक लोहा कहाँ-कहाँ किस-किस उपयोगमें आ रहा है। भगवान्‌के नामकी उपमा पारस-से दी जाती है, पर मेरी समझमें यह उपमा भगवान्‌के नामके लिये सर्वथा तुच्छ है; क्योंकि पारस जड़ पत्थर है तथा भगवान्‌का नाम चिन्मय है। दूसरे नाम और नामीमें अमेद है। यद्यपि यह बात बहुत आगे चलकर समझमें आती है, तथापि सिद्धान्ततः यह सर्वथा सत्य है कि आपके मुखसे निकलता हुआ प्रत्येक नाम आपको भगवान्‌से संयुक्त करा देता है। बीचके कुछ आवरण रहनेके कारण ही भगवान्‌के स्पर्शका अनुभव नहीं होता। लोहेका एक गोला पारसको स्पर्श तो करता है, पर लोहेके गोलेपर मिट्टीका पर्दा पड़ा हुआ है, प्रत्येक राइमें मिट्टी छिलकर गिर रही है। शुद्ध लोहेके एक

कोनेको भी मिट्टीरहित होकर निकलने दीजिये, फिर तत्क्षण लोहा सोना हो जायगा। अर्थात्‌ नामस्मरणसे आपके अन्तःकरणका मल झड़ रहा है, शुद्ध हुए अन्तःकरणसे जिस दिन एक नामका भी स्पर्श हुआ कि भगवान्‌ सामने आ जायेंगे। अतः लेते जाइये भगवान्‌का नाम और बिना किसी घबराहटके बढ़ चलिye। प्रभु सहायक हैं।

सब प्रकारसे भगवान्‌की शरणमें जाना चाहिये।

भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये; फिर जो हो, कोई चिन्ता नहीं। भगवान्‌ मङ्गलमय हैं, मङ्गल ही करेंगे। मान लें, आप बीमार चढ़ रहे हैं और आपके घरमें कल्याण है तो आप कभी भी नहीं बच सकते। यदि जीवनदान मिलनेसे आपके जीवनमें सुधार होना ही संभव होगा तो भगवान्‌ आपकी प्रार्थना अवश्य सुन लेंगे। उस अवस्थामें एक मारकेश क्या, लाखों मारकेश उनकी दयासे टल जायेंगे और आपकी आयु बढ़ जायगी। उनकी दयाके बिना उनके विधानमें कोई भी हेर-फेर नहीं हो सकता। अतः सब प्रकारसे उनकी शरणमें जाना चाहिये।

प्रत्येक प्राणीका प्रारब्ध उसके साथ है।

बहुत बार आपके मनमें यह बात आती होगी—‘यह मेरा कर्तव्य है, इसका पाठन करना हमारा धर्म है; अमुक हमारा पुत्र है, इसको सुयोग्य बनाना हमारा धर्म है; हमारे ऊपर इतने प्राणी अवलम्बित हैं, उन सबका भार हमारे ऊपर है—इस प्रकार कर्तव्यपालनकी चिन्ता मनको अशान्त तथा भजनको गौण बनाती होगी। पर कर्तव्यपालनकी चिन्तासे भजनको गौण बनाना भारी भूल है। यह निश्चय समझें कि प्रत्येक प्राणीका प्रारब्ध उसके साथ है, उसे आप बड़ा-बड़ा नहीं सकते। अतः उसके लिये चिन्तित होना भूल है। आपका काम इतना ही है कि आप अपनेको निमित्त



बनाकर सर्वथा शान्तचित्तसे सबके लिये हितमूलक चेष्टामात्र करें। होगा तो वही, जो भगवान्‌का रचा हुआ है—

‘होइहि सोइ जो राम रचि राखा।’

‘रचि राखा’ से गोस्वामीजीने स्पष्ट बता दिया है कि सब कुछ पहलेसे तैयार रहता है। ‘फिल्म’ की तरह रील घूमनेकी देर है। रील घूमते ही दृश्य सामने आ जायगा।

भगवान्‌के यहाँ अवश्य सुनाई होती है।

सत्सङ्ग करनेसे मनुष्यको थोड़ी या बहुत अवश्य शान्ति मिलती है। अधिक लाभ होना श्रद्धापर निर्भर करता है। श्रद्धा जिस दिन पूरी हो जायगी, उसी दिन भगवान्‌की दया एवं भगवान्—दोनों ही प्रत्यक्ष हो जायँगे। दयामयसे प्रार्थना करनी चाहिये—‘प्रभो! मेरे अन्तःकरणमें विशुद्ध दया एवं प्रेमका संचार कीजिये।’ वे अतिशय दयालु हैं। भक्तको कभी निराश नहीं करते। उनके यहाँ विळम्बसे या जल्दी अवश्य सुनाई होती है।

## पुरुष और नारी

( लेखक—श्रीरामनाथजी ‘बुधन’ )

समस्त मायिक सृष्टि कामना-जनित है; क्योंकि वह ब्रह्ममें कामनाके स्फुरणसे उत्पन्न हुई है। यह कामना सृष्टिमें अनेक रूपोंमें प्रकट है। जीवमात्रमें जो स्त्री-पुरुषका भेद है, वह भी मूलतः इसी कामनाका प्राकृतिक स्थूलीकरण है।

स्वभावतः यह कामना हेय नहीं है; इसका भी एक तात्पर्य है, एक अर्थ है। परंतु यह सार्थकता कामनाके प्रसारमें नहीं, मूल स्रोतके लिये उसकी व्याकुलतामें है। संस्कार, शिक्षा, ज्ञान और साधनाके स्तरके अनुसार यह व्याकुलता, मानव-मन तथा उसके बाद मानव-समाजमें अनेक रूपोंमें प्रकट होती है।

प्रत्येकके जीवनमें एक ऐसा समय आता है, जब कामना घनीभूत हो उठती है। कोई हमारे रुद्ध कपाटकी कुंडी खटखटाता है, मन शत-शत आकाङ्क्षाओंसे पूर्ण हो उठता है। ऐसा लगता है कि मरुभूमिमें वसन्त आ गया हो। प्यार करने और प्यार किये जानेकी इच्छा उत्पन्न होती है। लगता है कि यह उभरता हुआ, यह उमड़ता हुआ जीवन अकेले अपने लिये नहीं है। मन एकान्तमें कहता है ‘यदि मेरे साथ कोई और होता।’

यह एक-से दो और फिर दो-से एक हो जानेकी इच्छा शाश्वत है। पहलीसे संसार बनता है और दूसरीसे उसका तिरोधान हो जाता है। पहलीसे केन्द्रसे परिधि छूटती है, दूसरीसे परिधि केन्द्रमें विलीन हो जाती है। यही जगत्‌के भोग एवं जगत्‌के भोगसे मोक्ष दोनोंका रहस्य है।

मानवमें-जगत् भी है और जगत् जहाँसे उद्भूत होता है, वह प्रकाश बिन्दु भी है। जगत्‌में रहकर भी क्रमशः जगत्‌को निरस्त करना भारतीय संस्कृतिका चरम लक्ष्य है। इसी उच्च भूमिकाने जीवनके कर्मसे कमल खिलवाया था और भोगका समाहार भी त्यागमें हो जाता था।

यही भारतीय दाम्पत्यका आदर्श रूप है—शिवमें शिवानीका आविर्भाव शिव-शिवानीके एकत्व-बोधसे परम शिवताकी प्राप्ति।

इसीलिये हमारा गृहस्थ-जीवन क्रमशः उच्चतर कक्षाओंकी ओर निरन्तर यात्रासे पूर्ण है। यह मानव-धर्मकी पूर्तिके लिये है; यदि भोग है तो वह भोगके लिये नहीं, वह भी त्यागोन्मुख है। प्राचीन भारतीय अग्रिम-व्यवस्था प्रेयसे उत्तरोत्तर श्रेयकी यात्रा है। पुरुष और नारी श्रेयकी इस यात्रामें एक-दूसरेके साथी हैं; दोनोंका उद्देश्य एक-दूसरेको सहारा देते हुए गन्तव्यकी ओर ले चलना है। इस यात्रामें नारी पुरुषकी शक्ति है; उसके हृदयमें अपनी सेवा, स्नेह और प्रेमसे श्रद्धा जगानेवाली प्रेरणा है।

स्पष्टतः हमारी संस्कृतिके उच्च स्तरपर नारी पुरुषकी भोग्या नहीं है, वह उसको मोक्षकी ओर ले जानेवाली है। गृहस्थ-जीवनमें भी उसीने पातिव्रतधर्मका आविष्कार किया था। आज लोग उसपर चौंकते हैं, नाक-भौं सिकोड़ते हैं, परंतु पातिव्रतधर्मका अर्थ पतिकी अधीनता नहीं है; वह पतिके शारीरिक जीवनतक सभास नहीं हो जाता; वह पतिके



व्यक्तित्वके ऊपर है; वह मिट्टीमें देवत्वकी प्रतिष्ठाका प्रयत्न है। पतिकी आज्ञासे भी जिस पातिव्रतको तिरस्कृत या अमान्य नहीं किया जा सकता, जो पतिके होते हुए भी है और पतिके पश्चात् भी है, वही है यह पातिव्रत। इसमें पति आलम्बन मात्र है; केन्द्रबिन्दु है मानवमें मानवातीतको, परमाशक्तिको, परमाराध्यको, मोक्षको देखने और पानेकी भावना।

ऐसी महान् प्रेरणाओंपर आश्रित हमारी जीवन-यात्रा आज विशृङ्खल है। गन्तव्य भूल गया है, आदर्श तिरस्कृत है, आत्मस्मृति विस्मृत है। मानवमें जो पशु है, चतुर्दिक् उसीका अट्टहास सुनायी पड़ता है।

आज विश्वमें नारीकी स्वतन्त्रताका स्वर प्रखर हो उठा है। भारतकी शिक्षित नारियोंमें भी पश्चिमकी देखा-देखी स्वतन्त्रताकी माँग प्रबल होती जा रही है। पश्चिममें, और यहाँ भी, अपनेको प्रबुद्ध कहने और माननेवाली नारीका कहना है कि पुरुषने सदा नारीको अपनी वासनाओंकी पूर्तिके लिये अपने अथवा अपने बनाये बन्धनोंमें जकड़ रखा है। आजकी सम्पूर्ण सभ्यता और संस्कृति, समस्त धर्म पुरुष-निर्मित हैं; इनके विरुद्ध विद्रोह करना ही नारीके लिये दृष्ट है। वे कहती हैं कि आजके शृङ्गार-युक्त परिधान—कञ्चुकी आदि—भी पुरुषकी वृत्तिके साधन हैं। पुरुष ही नारीको नाना रूपोंमें सजाकर उसे अपने खेल और नयन-रञ्जनके लिये रखता है।

नारी-स्वातन्त्र्यका आन्दोलन पश्चिममें हास्यास्पद धीमाश्रितक बढ़ता जा रहा है। अभीतक हमारे देशमें यह स्थिति नहीं है; किंतु उसे ले आनेकी चेष्टा यहाँ भी शुरू हो गयी है। माना, बहुत-सी स्त्रियाँ इतनी दूर तक जानेके पक्षमें नहीं हैं, पश्चिममें भी नहीं हैं; किंतु आज विश्वमें होनेवाले अधिकांश आन्दोलन नारेबाजीके यफ़ानी शिखरपर आरुढ़ हैं और प्रतिक्रियाएँ इतनी तीव्र हैं कि प्रबुद्ध मानव भी स्तब्ध होकर देखता रह जाता है और उसके पैरों-तलेकी भूमि डगमगाने लगती है। आज नियन्ता मानव नियतिका दास बना किंकर्तव्यविमूढ़ है और लहरें उसे बहाये लिये चली आ रही हैं।

माना, मानव-विकासके लंबे युगोंके बीच नारीपर अत्याचार भी हुए होंगे, परंतु इसलिये नहीं कि नारी नारी थी, बल्कि इसलिये कि काल-विशेष, समाज-विशेष

या पुरुष-विशेषमें तामसिक या हीन वृत्तियाँ प्रबल हो गयी होंगी। मानवमात्रमें, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, उच्च प्रेरणाएँ भी होती हैं और निम्न वृत्तियाँ भी होती हैं। मानवमें देव और पशुका मिलन होता है और इसी पशु-बिन्दुसे देव-बिन्दुकी यात्रा मानव-धर्म है। यह तथ्य पुरुष और नारीपर एक-सा लागू है। दोनों बुरे हो सकते हैं, दोनों भले हो सकते हैं। या ऐसा भी हो सकता है कि एक पुरुष बुरा हो और नारी भली हो, या नारी बुरी हो और पुरुष भला हो। किंतु ऐसा नहीं हो सकता कि सब पुरुष बुरे हों या सब स्त्रियाँ बुरी हों। इसलिये मानव-समाजमें व्यक्ति-व्यक्तिके अनुभव या प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। एक-सी प्रतिक्रिया सर्वत्र हो, यह असम्भव है। इसलिये ऐसे समस्त आन्दोलन विवेकशून्यताकी घोषणा करते हैं। किसी भी स्थितिमें यह तथ्यकी बात है, कल्पनाकी नहीं कि पुरुष और नारी दोनों दोनोंके लिये हैं और दोनोंके सहयोग, न कि प्रतियोगितासे जीवनका प्राप्य मिल सकता है।

कहा तो यह जाता है कि नारीको पुरुषकी भोग्या बननेसे इन्कार कर देना चाहिये। हमारी संस्कृति तो आरम्भसे ही इसी दृष्टि-बिन्दुपर अपने ढंगसे चल रही है। पुरुष हो या नारी, दोनोंकी ही सार्थकता हमारे यहाँ भोगमें नहीं है। हमारा समस्त सामाजिक गठन भोगसे त्यागकी ओर जानेमें है, प्रेयसे श्रेयकी ओर जानेमें है, असत्से सत्की ओर जानेमें है, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर जानेमें है। केवल शरीर, केवल जगत्की दृष्टि जहाँ है, वहीं अधिकाधिक भोगकी भावना है; क्योंकि सम्पूर्ण जागतिक सिद्धियाँ भोगके लिये हैं और भोगमें समाप्त होती हैं। आजकी सभ्यता भौतिक सुविधाओं और समृद्धियोंकी सभ्यता है। इसीलिये आजका मानव अधिकाधिक द्रव्य प्राप्त करने और अधिकाधिक पेहिक सुख प्राप्त करनेके लिये पागल है। एक पेहिक सुखसे दूसरे पेहिक सुखकी वासनाका होना स्वाभाविक है। वासना जब वासनाको लेकर और उसीके लिये होती है, तब वह निरन्तर अपनेको गुणित करती चलती है—वहाँतक कि मानव उसका इतना अम्यस्त हो जाता है कि उसके बिना रह नहीं पाता और चतुर्दिक् उसीके जालमें छटपटाता रह जाता है। वह छटपटाता है, किंतु उसे छोड़ नहीं पाता, उससे निकल नहीं पाता।



यह स्त्री-पुरुष-भेदके कारण नहीं है। यह दृष्टि-भेद, दृष्टि-दोषके कारण है। हमने एक दृष्टिकेमें आत्म-भावको, मानवकी दिव्यताको दूर फेंक दिया है और मानवमें जो पशु है, केवल उसीको स्वीकार कर लिया है। यह पशु प्रतिक्षण पुष्ट किया जा रहा है; हम सब उसे प्रबल और सर्वजयी करनेमें लगे हुए हैं। कुम्भकर्ण जगा दिया गया है और उसकी कभी न बुझनेवाली भूखकी तृप्तिके लिये हम अपनी आहुति दे रहे हैं। आहुति देनेवाले हमी हैं और गालियाँ देनेवाले भी हमी हैं। इसीलिये हम जितना चीखते-चिल्लाते हैं, उतनी ही तेजीसे वासनाएँ हमें निगलती जा रही हैं।

आजके सम्य जीवनका परिवेश क्या है? उच्च सम्य समाज-का जीवन क्या है? उसका मानदण्ड क्या है? बैंगला हो, कार हो, आधुनिक गृह-सज्जा हो, ( गृहिणी नहीं ) प्रेयसी हो, बैंक बैलेंस हो, प्रचुर आहार-सामग्री हो—आहारमें भी सब प्रकारके आमिष हों ( अंडेसे लेकर मुर्ग-मुसल्लमतक ), टेबलपर बदिबा मदिरा हो, क्लब, पार्टियाँ, डांस, हाई एंटरटेनमेण्ट ! हमारे वातावरण और परिवेशमें ही भोग है, भोगकी अधिकाधिक स्पृहा है—यहाँतक कि यह सब सम्य जीवन-क्रमके लिये अपरिहार्य हो गये हैं। हमारा रहन-सहन, हमारा खान-पान, हमारा वस्त्र-विन्यास, हमारा साहित्य, हमारा मनोरंजन—सब मानवमें सुप्त पशुकी खुराक हैं। जब प्रतिक्षण हम प्राणविक वासनाओंको हन्य देनेमें लगे हुए हैं, तब सहसा नारीके भोग्या होनेसे इन्कार करनेकी बातपर आश्चर्य होता है।

दूसरी ओर उन कोटि-कोटि नारियोंको देखिये, जिन्हें हम असंस्कृत, असम्य कहते हैं—ग्रामीण नारी। जितना ही वहाँ यह सम्यताकी प्यास कम है, उतना ही उसका जीवन अपेक्षाकृत शान्त, संतुष्ट और स्वतन्त्र है। वह आवश्यकता पड़नेपर जीविकोपार्जन कर सकती है क्या करती ही है और जीवनकी यात्रामें अपने पतिकी गुलाम नहीं, साथी है और सचमुच अधिक बोझ उठानेवाली है। सम्यताका दम भरनेवाली नारियोंकी अधिकांश संख्या पुरुष-निर्भर, अपने वढ़पन, श्रौक और कामनाओंकी पूर्तिके लिये पुरुषको पतनकी ओर ढकेलनेवाली, अपने उच्च जीवन-व्ययके लिये पुरुषोंको चापलूसी, रिश्वत, अनागरिक और अराष्ट्रीय तथा अनैतिक आचरणोंकी ओर प्रेरित करनेवाली है। वह चाहे स्वतन्त्रताकी जितनी भी

आवाज उठाये, दिन-दिन पुरुषोंपर निर्भर, अतः उनकी भोग्या ही बननेवाली है। पुरुष-हृदयमें वासनाओंकी बली जलाकर अन्तमें वह गृहको जलाकर राख ही करेगी।

भारतीय संस्कृति तो 'स्व' और 'स्वतन्त्रता'की ही संस्कृति है। वह कामनाओंके प्रसारके मानदण्डपर कभी खड़ी नहीं हुई। परंतु मानवकी वास्तविक स्वतन्त्रताका प्रबल उसकी मनोभूमिकासे जुड़ा हुआ है। जबतक वह पशुतासे देवत्वकी ओर पग नहीं बढ़ाता, उससे कामनाओंपर नियन्त्रण रखने और कामनाओंको भी किसी उच्चतर अभिप्रायके प्रति समर्पित करनेकी आज्ञा नहीं की जा सकती। कामनाओंकी वृद्धिके साथ अपने भ्रेष्ठ 'स्व'पर काबू नहीं रखा जा सकता; कामनाओंके प्रसारका पथ पराजयका, परतन्त्रताका पथ है, स्वतन्त्रताका नहीं। इच्छाओंके प्रसार और उनकी पूर्तिकी निरन्तर कर्म-चेष्टामें मानव भौतिक शक्तियोंको अर्जित करता है; परंतु भौतिक समृद्धि मानवको स्वतन्त्र नहीं बनाती, अपने प्रत्येक चरणमें अपने 'स्व' का और इसीलिये 'स्वतन्त्रता'का भी क्षरण करती चली है।

मैं यह नहीं कहता कि हमारे यहाँ भोग था नहीं; भोग था और अवश्य था। उसका सर्वथा निषेध सामान्य स्तरके बहुसंख्यक मानवोंके लिये असम्भव होता। इसीलिये एक सीमातक उसको भी ध्यान दिया गया था। किंतु उसकी व्यवस्था इस प्रकार थी कि अनुभव एवं आयुकी वृद्धिके साथ उसकी मात्रामें कमी होती जाय और तरुणार्थमें भी एक ओर सदाचरण अथवा नीतिसे तथा दूसरी ओर भ्रेष्ठ प्रेरणाओंसे नियन्त्रित रहे। आजकी कामज बुभुक्षाको पल्लवित-पोषित करनेवाली संतति, इच्छे-दुच्छे तो सदा वर्तमान रही है; परंतु जो सामूहिक काम-प्रवृत्ति आज है और सर्वत्र पोषित की जा रही है, वह कभी नहीं रही। नारी-स्वातन्त्र्य, मुक्त यौनाचार ( फ्री सेक्स ) इत्यादिपर भी हमारे देशमें अतीतकालमें काफी विचार किया जा चुका है और बहुत विचारके बाद उसका त्याग किया गया था। भौतिक अर्थमें जो समाजका विस्तार है, उसमें कोई पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हो सकता; अपनी स्वतन्त्रताका कुछ-न-कुछ अंश देकर ही वह समाजमें रह सकता है। समाज स्वयं व्यक्तिकी स्वतन्त्रताका निराकरण है। इसलिये समाजमें रहते हुए हम पूर्णतया स्वतन्त्र हो ही नहीं सकते।

तब केवल एक ही रास्ता है—समस्त भौतिक



उपलब्धियोंपर आध्यात्मिक प्रेरणाओंका नियन्त्रण । हमारी सामाजिक कल्पनामें इसीकी व्यवस्था है । नारी हो या पुरुष, उनका जीवन कुछ श्रेष्ठ उद्देश्योंके लिये है । इन उद्देश्योंका परम बिन्दु है—(स्व)की साधना, (स्व)का साक्षात्कार और समस्त भौतिक ग्रन्थियोंसे स्वतन्त्रता । न पुरुष भोग्य है न नारी भोग्या है—दोनों परमके प्रति निवेदित और भुक्त हैं । इसीलिये पुरुष क्रमशः भोगसे त्यागकी ओर बढ़ता है और अन्तमें संन्यासकी दीक्षा लेता है और इसीलिये नारी क्रमशः कुमारी, ब्रह्मचारिणी, गृहिणी, माता, वानप्रस्थी और साध्वी होती है । पुरुष-नारीके भोगमें ही नारीकी बात समाप्त नहीं हो जाती; इस भोगमें खिलती है मातृत्वकी गरिमा, प्रकट होती है जीवनकी अक्षय-धारा । नारीकी कामना मातृत्व-बोधसे, संततिका तिल-तिल करके निर्माण करनेसे नियन्त्रित हो जाती है और ग्रहणकी वृत्तिसे दानकी वृत्ति उत्पन्न होती है । यह ग्रहणपर निरन्तर दान और समर्पणकी वृत्ति नारीकी पुरुषकी भोग्या नहीं बनने देती और उसे वासनाके उपशमकी ओर ले जाती है; प्रेयसीके कामना-पुञ्जमें मातृत्वके त्यागका कमल

खिलता है । अपने विशद अर्थमें यह मातृत्व-बोध ही भारतीय संस्कृति है । प्रेयसीमें मातृत्वके उदयका अर्थ है कि अपने लिये जीना छोड़कर दूसरेके लिये जीनेका आरम्भ । दूसरेके लिये आदमी कब जीता है ?—जब वह दूसरेमें अपनेको देखता और पाता है । यही है—शारीरिक (स्व)से आत्मिक (स्व)की ओर यात्राका आरम्भ ।

आज यह उच्च भूमिका लुप्त हो गयी है; क्योंकि हमने कामना-प्रधान भौतिक उपलब्धियोंतक ही जीवनको सीमित कर लिया है । केवल कर्म-जगत्में ही नहीं, मनोजगत्में भी हम पराजित हो गये हैं । प्रेय ही हमारे लिये श्रेय हो गया है और सबसे बड़ा दुःख यह है कि हम अपनेको भूल गये हैं, अपनी उदात्त कल्पनाको भूल गये हैं, अपने समाजके उच्च अनुबन्धको भूल गये हैं और कर्म-जीवनमें ही नहीं, विचार, सिद्धान्त और आदर्शमें भी परमुखापेक्षी हो गये हैं । परतन्त्रताके लिये हाथ और पैर बंध रहे हैं और जिह्वापर नारा है स्वतन्त्रताका ? क्या यह अपनेको पानेका नारा है ? क्या यह मुक्तिका स्पर्श है, जो क्षणभरमें सब बन्धन खोल देता है ?

## दया

दया सर्वोपरि शुभ गुण है । फिर भी जब भिन्न-भिन्न गुणोंका नाम लेते हैं, तब प्रत्येक गुणकी कुछ मर्यादा मानी ही जाती है । ऐसी मर्यादा न मानें तो गुणोंके भिन्न-भिन्न नाम लेनेकी गुंजाइश ही नहीं रहेगी । किसी संतने 'दया धर्मका मूल है' कहकर तुरन्त ही उसके परिशिष्टमें जोड़ दिया—'पाप-मूल अभिमान' । दयामें भी यदि अभिमान आ गया तो दया रही ही नहीं । ध्यान रहे कि 'दयाहीन दया' कहनेमें जितनी विसंगति है, उतनी ही विसंगति 'अभिमानयुक्त दया' कहनेमें भी है । अभिमानका दयासे कुछ भी नाता नहीं । अभिमानमें मनुष्य अपनेको सिरपर बढ़ा लेता है, तो दयामें अपनेको भूल जाता है ।

आजकल लोगोंको 'दया' शब्द भी कुछ नीचा (गौण) मालूम होने लगा है । उन्हें दयामें दीनता दीखती है । लोग यह भी चाहते हैं कि हमें दया नहीं, न्याय चाहिये । भगवान्‌के सामने अगर कोई यह कहनेवाला निकले कि 'मुझे तेरी दया नहीं, न्याय चाहिये' तो निश्चय ही भगवान्‌को उसपर दया आयेगी । कदम-कदमपर गलतियाँ करनेवाला, चारों ओरसे अज्ञानग्रस्त, अनन्त दोषोंसे भरा जीव किस मुँहसे भगवान्‌से न्याय माँगे ?

कोई कह सकता है, 'ठीक है, भगवान्‌से हम दया माँगेँगे; लेकिन और किसीसे क्यों माँगेँ ? औरसे तो हम न्याय ही माँगेँगे ।' मैं उससे इतना ही कहूँगा कि चाहो तो दूसरेसे न्याय ही माँगेँ; पर किये जाओ दूसरोंपर दया ही । उसीसे तुम्हें उचित न्याय मिलेगा ।

—संत विनोबा भावे



# निःस्पृह बनिये

( लेखक—भीमरचन्द्रजी नाहटा )

हमारी अशान्तिके अनेक कारणोंमें एक प्रधान कारण हमारी इच्छाएँ हैं। प्रत्येक प्राणी अनुकूल संयोगों—साधनोंके मिलनेकी इच्छा करता है। पर इच्छानुसार वस्तु मिल जागा उसके वशकी बात नहीं है। अतः वैसा न होनेपर हमारे चित्तमें अशान्तिका साम्राज्य छा जाता है। चाहके साथ आहका सम्बन्ध लगा ही रहता है। विश्वमें किसी भी प्राणीकी सम्पूर्ण इच्छाएँ पूरी नहीं होती। इसका कारण यह है कि एककी पूर्ति होनेपर दूसरी इच्छा फिर आ उपस्थित होती है। इसी-लिये इच्छाओं एवं आशाओंको आकाशके समान अनन्त माना गया है।

इच्छाएँ प्राणीकी भूमिकाके अनुसार होती हैं। बाह्य-दृष्टि जीवोंको सांसारिक अनुकूल पदार्थों एवं संयोगोंकी इच्छा रहती है। उनसे आगे बढ़े हुए धार्मिक पुरुषोंकी इच्छा किसी भी बुराईकी नहीं होकर यह होती है कि वह सेवा-भक्ति, ज्ञान-ध्यान आदि अच्छे-अच्छे कार्य सम्पन्न कर सके और उनसे आगे बढ़े हुए आध्यात्मिक पुरुष अपनी इच्छाओंको घटाते हुए सर्वथा इच्छारहित होनेकी दिशामें प्रयत्नशील रहते हैं। वे इच्छाओंको अशान्तिका कारण मानकर प्रत्येक परिस्थिति एवं संयोगसे अथवा प्रारब्ध कर्मका जैसा कुछ फल होता है, उसीमें संतुष्ट रहते हैं। वे न तो प्रतिकूल संयोगोंको दूर करनेकी इच्छा करते हैं, न अनुकूल संयोगोंकी प्राप्तिकी ही इच्छा करते हैं। हर परिस्थितिमें वे सम हो जाते हैं। गीताकी शिक्षाके अनुसार वे फलाशरहित एवं हरि-इच्छाके अनुसार चलनेवाले होते हैं। जैन परिभाषाके अनुसार वे 'वथा-उदय' वर्तते हैं; पूर्व कर्मोंको भोगते हैं, नये बन्धन नहीं बाँधते।

आध्यात्मिक दृष्टिसे इच्छाका होना हमारी अपूर्णताका सूचक है। हमें किसी बातकी कमी है, अमुक वस्तु हमारे पास नहीं है, किंतु उसे हम चाहते हैं। अतः पूर्ण बननेके लिये इच्छाओंसे रहित होना आवश्यक होता है। जैन-दर्शनमें आत्माके आध्यात्मिक विकास-क्रमकी १४ गुणस्थानक भेणियाँ हैं। उनमें १० वीं उच्च भूमिकामें सूक्ष्म इच्छा—शोककी अभिलाषामात्र रहती है, यद्यपि वह भी आगे बढ़नेके लिये त्याज्य मानी गयी है। उक्त सूक्ष्म अभिलाषा अथवा लोभसे ऊपर उठे बिना कैवल्यज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। इससे सहज रूपसे ही पता चलता है कि अच्छी-

से-अच्छी इच्छा भी अन्ततः त्याज्य ही है। पर इस स्थितिको प्राप्त होनेसे पहले साधारणतया बुरी इच्छाओंको छोड़नेका प्रयत्न करना होगा। अशुभकी परिधिसे निकलकर शुभकी परिधिमें प्रवेश कर शुद्ध बनना ही उत्थानका मार्ग है। अतः इच्छाओंको कम करते चले जाना है एवं मनमें जो विकार अथवा आसक्तिरूप विष है, उसे अमृतमें परिणत कर देना है।

साधारण मनुष्योंको खाने-पीनेकी, अच्छे-अच्छे कपड़े पहननेकी, आभूषणादि धारण करनेकी, धनकी, पुत्रकी, यशकी, बड़े बननेकी इच्छाएँ हर समय लगी ही रहती हैं। उन्हींकी पूर्तिके लिये सारा जीवन वे प्रयत्न करते रहते हैं। मरनेके पश्चात् भी ये इच्छाएँ उनका पिण्ड नहीं छोड़ती। कुछ बातोंकी अपूर्ण इच्छाओंको लिये हुए ही उन्हें देह छोड़ना पड़ता है। कुछ समय और जीकर इनकी पूर्ति कर ली जाय, यही इच्छा उन्हें बनी रहती है; पर इसमें उनकी विवशता होती है। इन्हीं इच्छाओंके तन्तुओंसे उनकी भव-परम्परा बढ़ती चली जाती है।

मध्यम श्रेणीके व्यक्ति साधारण इच्छाओंको कम कर देते हैं और अपनी इच्छाओंको सत्कर्मोंकी ओर लगा देते हैं। उनकी इच्छा होती है कि उन्हें सन्मार्गके दर्शक गुरु मिलें, उनके तन-मन-धन परोपकार एवं सेवामें लगें, उन्हें महात्माओंके दर्शन एवं सत्सङ्गादिका लाभ मिले, उनकी बुद्धि निर्मल रहे। उन्हें प्रभु-भक्तिका अवसर मिले, शास्त्र-श्रवण एवं महात्माओंके प्रवचन सुननेमें उनका चित्त लगा रहे। अर्थात् सांसारिक एवं शारीरिक सुखकी इच्छाओंसे ऊपर उठकर वे आत्माभिमुख होते हैं। जगत्के जीवोंके कल्याणकी वे कामना करते हैं। वास्तवमें मनुष्यता यहीसे प्रारम्भ होती है। उसके पहलेकी अवस्था तो पशुओंकी-सी है। उन बेचारोंमें ज्ञानकी कमीके कारण इच्छाएँ बहुत थोड़ी होती हैं। मनुष्यमें उनकी संख्या बहुत बढ़ जाती है, पर उनकी बहुत-सी इच्छाओंकी जोटि पशुओंके स्तरकी-सी ही होती है।

इनसे आगे बढ़े हुए निःस्पृह उत्तम पुरुष संख्यामें बहुत ही कम होते हैं। वे ही महान् कहलाते हैं। वे इच्छामात्रको बन्धन एवं अशान्तिका कारण मानकर उससे अतीत होनेका प्रयत्न करते हैं। उन्हें किसी भी बातकी चाह नहीं होती। जब जैसा



मिल गया; खा लिया, पहन लिया; नहीं मिला तो भूखे एवं नो ही रह गये। किसीने आदर किया तो ठीक; किसीने निरादर किया तो भी ठीक। जब ऐसी चाहरहित स्थिति हो जाती है, तब फिर अनायास ही बहुत-सी वस्तुओंका संयोग उन्हें प्राप्त होता रहता है; पर वे उनमें आसक्त नहीं होते। मनमें उनके प्रति आकर्षण या विकारको स्थान नहीं देते।

गीतामें स्थितप्रज्ञका एक लक्षण 'विगतस्पृहः' बतलाया गया है एवं श्रीमद् राजचन्द्रने 'उदयावीन' या 'वधा-उदय'—वर्तनेपर जोर दिया है।

अभी कुछ वर्षों पहले ऐसे ही एक जैन योगिराजसे हमारी भेंट हुई थी। जब उनसे पूछा गया कि 'आपका आगेका प्रोग्राम क्या है, कहाँ जाना है या क्या करना है?' तो उत्तर मिला कि 'भविष्यके विचारोंको छोड़ दिया है, जैसा जब होनेवाला है, प्रेरणा होगी, हो जायगा; उसके लिये विचार, इच्छा अथवा चिन्ता—कुछ भी नहीं है। खानेको गये तो हमें किधर

जाना है—कुछ पता नहीं; जिधर पैर ले जावेंगे, चले जायेंगे। अर्थात् सब बातें उदयावीन छोड़कर इच्छा और आशरहित जीवन बितानेकी साधना चल रही है।'

आत्माकी उन्नति चाहनेवालोंको इच्छाओंको कम करते हुए और अशुभ इच्छाओंको छोड़कर इच्छारहित बननेका प्रयत्न करना आवश्यक है। जो कुछ अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थिति प्राप्त हो, उसमें हर्ष और शोकरहित अर्थात् सम रहते हुए निःस्पृह बने, तभी शान्ति और सुख प्राप्त होगा।

निःस्पृह व्यक्ति ही बेपरवाह एवं निश्चिन्त बन सकता है। कहा भी गया है—'निःस्पृहस्य तृणं जगत्।' भौतिकवादी इच्छाओंको बढ़ाते रहते हैं, आध्यात्मिक व्यक्ति उन्हें घटाते रहते हैं। भौतिकवादी भोगमें सुख मानते हैं, आध्यात्मिक व्यक्ति त्यागमें ही आनन्दानुभव करते हैं। भारत आज भौतिक चकाचौंधमें अपनी प्राचीन परम्परा एवं संस्कृतिको भूलता एवं छोड़ता जा रहा है, यही चिन्ताका विषय है।

## सत्य तथा सरलता

(कैलक—श्रीनिरंजनदासजी शीर)

सृष्टिकर्ता परमेश्वरको 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' भी कहा जाता है। महात्मा गांधी भी ईश्वरका सत्यके रूपमें ही अन्वेषण करते थे। हमारे शास्त्रोंमें धर्मके 'तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः प्रकीर्तिताः' अर्थात् धर्मरूपी वृषभके तप, शौच (पवित्रता), दया तथा सत्य—ये चार पाद कहे गये हैं। अब केवल धर्म सत्यपर ही निर्भर है और कलिकालकी कृपासे पुष्ट हुआ असत्य इसको भी नष्ट करता चला जा रहा है।

मानवमात्रको सभी घर्षोंके नेताओंने सत्य बोलनेकी परमावश्यकताको आग्रहपूर्वक समझाया है; क्योंकि इसके पालन किये बिना आध्यात्मिक उन्नति हो ही नहीं सकती। इसलिये हमारे पूर्वजोंका सदासे यही आदेश रहा है—

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयाच्च ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।'

(मनु० ४।१३८)

'सदा सत्य बोलो और मीठा बोलो, किंतु जो दूसरेको बुरा लगे, ऐसा सत्य न बोलो।' ऐसी दशामें मौन रहना ही श्रेयस्कर है।

सत्य तथा सरलताका केवल घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं,

किंतु ये एक ही तत्वके दो प्रयोग हैं। जो व्यक्ति सत्यको अपनायेगा, उसको अपने आचार तथा व्यवहारमें सरलताकी शरण लेनी ही पड़ेगी।

संसारके कर्मक्षेत्रमें सरलताके प्रयोगसे मानवको कितना लाभ होता है, यह निम्नलिखित उदाहरणोंसे स्पष्ट होगा।

१—श्रीमनोहरलालजीका ध्यानान्तरण अमृतसर हो गया। घर-गृहस्थीका सारा सामान बाँधकर रात्रिको ही एक कमरेमें रख दिया गया; क्योंकि दूक (ठेला) वालोंको प्रातः पाँच बजे सामान ले जानेका समय दिया गया था। नियत समयपर दूक लेकर जब वे आये और सामानके बंडल गिने तो एक कम था। पहले तो इस अन्वेषणमें कि कौन-सा बंडल नहीं है, श्रीमनोहरलाल और उनकी धर्मपत्नीको आधा घंटा लगा। यह एक छोटा बक्स था, जिसमें शीशेके गिलास थे; फिर सारी कोठीमें ढूँढ़नेमें समय लगा। जब मनोहरलालने एक गिलासका टुकड़ा बँगलेकी पिछवाड़ेकी दीवारके समीप देखा और उन्होंने उबककर दीवारके पीछे



देखा तो दूटे गिलासोंका बक्स हथिगोचर हुआ। उन्होंने अपने बीचवर्षीय पुत्र मोहनसे पूछा तो वह मान गया कि बक्स सीढ़ियोंसे उतरते समय उसके हाथसे गिर गया था और चूर-चूर हो गया, इसलिये उसने पिछवाड़े कैंक दिया और बताया नहीं, जिसका फल यह हुआ कि दो टूकवालों और माता-पिता तथा नौकर—पाँच व्यक्तियोंका एक घंटेका समय निरर्थक गया और इतने समयमें ठेका पच्चीस मील निकल जाता। वह अपनी भूलपर सुबक-सुबककर रोने और पश्चात्ताप करने लगा। उसने कहा कि अब मुझे अनुभव हो गया कि यदि सत्य बोलनेसे दुःख होगा, इस भयसे सत्य न बोला जाय तो सत्य-के छिपानेसे कहीं अधिक दुःख होता है।

२—पुस्तकोंकी अलमारीका एक किवाड़ टूट गया था। चूँहोंसे पुस्तकोंकी रक्षाके लिये मूलचंदने अपने आदमीसे अपने परिचित बड़ईकी दूकानपर सँदेसा भेजा कि वह अलमारी ठीक कर जाय। उसने अगले दिन आनेका वचन दिया, किंतु आया नहीं। दूसरी बार आदमी गया तो कहा, 'सँझ-को आऊँगा', फिर भी नहीं आया। इसी भौंति एक सप्ताह निकल गया। जब मेरे मित्रने उससे पूछा तो उसने उत्तर दिया कि 'सच बात तो यह है कि दूकानके काममें व्यस्त रहनेसे उसे समय नहीं मिलता। बाबूजी अपने घरके निकट रहनेवाले कन्गूसे काम करा लें।' ऐसा ही किया गया और अलमारी एक घंटेमें ठीक हो गयी। अब विचार कीजिये यदि मूलचंद कह देता कि उसे इस कामके लिये समय नहीं मिलेगा तो मेरे आदमीके बार-बार उसके पास जाने तथा मेरे प्रतीक्षा करनेमें अमूल्य समय नष्ट नहीं होता। वास्तवमें सीधे प्रश्नका सीधा उत्तर होना चाहिये।

३—कुंदनलालकी आयु जब पाँच वर्षकी थी तो उसके हाथपर एक भीषण व्रण हो गया, जिसकी पीड़ा तथा व्यथा-से बालक रोता रहता और सो नहीं सकता था। साधारण उपचारोंसे शीघ्र लाभ न देखकर उसके माता-पिताने उसके व्रणको अस्पतालमें ले जाकर चिरवा देनेका निश्चय किया। किंतु बालकको चीर-फाड़से बहुत भय लगता था और रक्तको देखने मात्रसे वह भयभीत होकर फौंपने लगता था। इसलिये बालक अस्पतालके नामसे चीखने-चिल्लाने लगता था।

बालकको फुसलानेके लिये उसके पिताने उसको हठ विश्वास दिलाया कि उसको अस्पतालमें न तो कोई व्यथा

होगी और न रक्त ही निकलेगा। मगर ऐसी ओपधि लगा दी जायगी जिससे उसकी व्यथा शान्त हो जायगी।

किंतु अस्पतालमें जाकर कुंदनके व्रणको चिरा दिया गया। उससे उसको तीव्र व्यथा भी हुई तथा पीव और रक्त भी निकला। बालक अपनी सुष-बुध खो बैठा। घर आनेपर जब उसकी दशा सामान्य हुई, तब उसके हृदयको बकात्मा कि उसके पिताने उसे चोखा दिया है। उसका अपने पितामें विश्वास सदाके लिये जाता रहा। वह घटना उसको वृद्ध हो जानेपर भी नहीं भूलती।

माता-पिताको बच्चेके लाभके लिये भी उससे विश्वासघात नहीं करना चाहिये।

४—कृष्णलाल हरियाना प्रान्तके करनाल जिलेका निवासी था। उसने मेरठ विश्वविद्यालयसे एम० ए० पास किया था। उत्तरप्रदेश सरकारकी आज्ञाके अनुसार केवल उत्तरप्रदेशनिवासियोंको ही राजकीय उच्चपदोंपर नियुक्त किया जा सकता था। कृष्णलालने अपना निवासस्थान मेरठ लिखवा दिया और उसको हरदोईमें एक उच्चपद प्राप्त हो गया। कृष्णलालका मन सदा ही भयभीत रहता था कि कहीं यह पता न लग जाय कि वह उत्तरप्रदेशका निवासी नहीं है; क्योंकि फिर तो यही नहीं कि उसकी नौकरी छूट जाय, किंतु उसपर बोखा देनेका आरोप भी ला सकता था। दो वर्ष पीछे कोई सम्बन्धी उसके पास आया, जिससे एक व्यक्तिको यह ज्ञात हो गया कि यह करनाल-निवासी है। उसने उसका असत्य प्रकट कर देनेकी धमकी देकर कई सौ रुपये छँट लिये। फिर भी कृष्णलाल सदा भयभीत ही रहता। उसका जीवन दुःखमय हो गया। जब उत्तर-प्रदेश सरकारको हाईकोर्टके निर्णयरूप अपना पहला आदेश रह करना पड़ा, तब उसने सुखकी साँस ली।

५—भीबूजलाल ओखला औद्योगिक क्षेत्रमें एक कार्यालयमें काम करता था और समीपकी भीकालकाजीकी नवीन बस्तीमें किरायेके मकानमें रहता था। एक दिन उसकी ससुरालकी ओरका एक सम्बन्धी उसे बाँदनी चौकमें मिल गया। सम्बन्धके नाते उसने बुजलालको अपने खान राजौरी गार्डनमें भोजनके लिये निमन्त्रित किया। उस दिन मङ्गलवार था, उसने रविवारको आनेको कहा। बुजलाल सम्बन्धके कारण कुछ कह न सका।



जब घरपर आकर अपनी धर्मपत्नीको उनके रविवारके निमन्त्रणकी बात कही, तब वह बोली—‘हमारे घरसे राजौरी गार्डन बीस-पच्चीस मील दूर है, चार स्थानोंपर बसें बदली जायेंगी, जिनकी घंटों इस ग्रीष्मकी घाममें प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। आने-जानेमें इतना अधिक कष्ट होगा कि यह निमन्त्रण बहुत महँगा पड़ेगा। इसलिये एक पोस्टकार्डद्वारा निमन्त्रणको अस्वीकार कर दो।’ फल यह हुआ कि लंबा पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया। इनके सम्बन्धी सप्ताहके आरम्भमें रविवारका निमन्त्रण देते और ये उसको कोई बात बनाकर टाल देते। अन्तमें तंग आकर इनको क्लेशना पड़ा कि अधिक दूरी तथा बसोंकी असुविधासे इनके लिये

निमन्त्रणका स्वीकार करना बड़ा कष्टदायक होगा। यदि ये पहले ही सरलतासे ये बातें उनसे कह देते तो न यह लम्बा पत्र-व्यवहार चलता और न उनका मनसुटाव ही होता।

आध्यात्मिक भावनाको छोड़कर भी केवल व्यावहारिक दृष्टिसे विचार किया जाय तो सत्य तथा सरलताके व्यवहारसे उसके अपने मनको जितनी सुख-शान्ति मिलती है, वह एक अमूल्य वस्तु है और हर दृष्टिकोणसे झूठके खुल जानेकी चिन्ता तथा भयसे विरे हुए जीवनकी अपेक्षा उत्तम तथा वाञ्छनीय है। सत्य तथा सरलताके अनुयायीको कभी आदर देते हैं और वह सभीका विश्वासपात्र बन जाता है।

## प्रायश्चित्त

( केवल—भोरायेश्वरजी टोंडिया )

आजसे साठ वर्ष पहले, भारतवर्षमें दस-पाँच मोटरें याद कलकत्ता-बम्बईमें आयी होंगी। राजस्थानमें तो बहुत बादमें राजे-महाराजे या किसी बड़े सेठके यहाँ एकाग्र गाड़ी आयी। उन दिनों वहाँके रईस अच्छी नस्लके घोड़े, ऊँट या रथोंके लिये बैलोंकी जोड़ी रखते थे। किसी-किसीके यहाँ हाथी भी रहते। पर्व-त्योहारोंपर घोड़ों या ऊँटोंके दौड़की प्रतियोगिता हुआ करती।

मैंने अपने बचपनमें, गणगौरके मेलेमें ऊँटोंकी दौड़ देखी है। महीनों पहलेसे इसके लिये जोरदार तैयारियाँ शुरू हो जाती। उन्हें घी, गुड़, मेथी आदि पौष्टिक भूराक दी जाती। उनके लिये झालरदार रंग-बिरंगे झूल बनवाये जाते। प्रतियोगिताओंमें उन्हें सजाकर बड़ी शान-से लाया जाता। दूर-दूरके गाँव और कस्बोंके लोग देखने इकट्ठे होते। जिनके ऊँट या घोड़े अच्छे और तेज निकलते, उनकी चर्चा लोगोंमें होती। यहाँतक कि उन ऊँटों या घोड़ोंको देखनेके लिये गाँवसे गुजरते समय लोग आ जाया करते थे।

इसी प्रकारका एक तगड़ा और तेज चालका ऊँट रामगढ़के सेठ श्रीदुर्लभचन्दजीके पास था। उसके बारेमें शोहरत थी कि हनुमान्जीकी उसपर विशेष कृपा है। इसलिये वह हवासे बातें करता हुआ दौड़ता है। उस अञ्चलके

प्रसिद्ध धाड़ैत ( डाकू ) बदनसिंहकी आँखें उसपर लगी हुई थीं। वह मौका नहीं लगा पा रहा था; क्योंकि सेठजीके साथ हमेशा दो-चार अङ्गरक्षक यात्रापर रहा करते, इसलिये उसे सामने आनेकी हिम्मत न होती थी।

पर ऊँटको वह किसी-न-किसी तरह लेना चाहता था। उसने अपने भेदिये आस-पास लगा दिये। उन्होंने एक दिन खबर दी कि अगले दिन शामको सेठजी उसके गाँवके समझियानेमें जायेंगे। उनके साथ रहनेवाले अङ्गरक्षकोंके परिवारमें शादी है, इसलिये वे अकेले ही रहेंगे।

जाड़ेका मौसम था, शामका झटपुटा। दोनों ओर बालूके टीलोंके बीच-बीचमें झाड़ियाँ। अपने चिल्लिये ( चीलकी तरह उड़नेवाला ) ऊँटपर जैसे ही सेठजी गाँवसे कुछ दूर चले होंगे कि उन्हें एक बीमार बूढ़ा सर्दसिं ठिठुरता हुआ सूनी सड़कके किनारे दिखायी पड़ा। उन्होंने ऊँटको रोक लिया और राइगीरको जिज्ञासामयी दृष्टिसे देखा। वह बूढ़ा हाथ जोड़कर कहने लगा—‘अगले गाँव जा रहा था, रास्तेमें बुखार चढ़ आया। बड़ी कृपा हो, यदि आप वहाँतक पहुँचा दें।’

उन दिनों चोर-डाकुओंका डर रहता था। लोग अनजाने आदमीके कहनेपर सूने रास्ते या जंगलमें बकते नहीं थे। मगर सेठजीके बारेमें प्रसिद्ध था कि साचकको



उन्होंने कभी निराश नहीं किया। ऊँटको उन्होंने बैठाया और बूढ़ेको अपने पीछे चढ़ा लिया।

कुछ दूर जानेपर सेठजीको पीछेसे एक जोरका झटका लगा और वे दौड़ते हुए ऊँटपरसे नीचे गिर पड़े। संयोगसे वहाँ बालू थी, इसलिये उन्हें विशेष चोट नहीं आयी। ऊँट बहुत समझदार और स्वामिभक्त था। मालिकके गिरते ही रुक गया। बहुत मारने-पीटने और नकेल झकझोरनेपर भी आगे बढ़ा नहीं, अड़ा ही रहा। सेठजीने देखा, ऊँटपर बैठे बूढ़ाका तौर-तरीका और शक्ल अब बदल गयी है। ऊँटके अड़नेपर वह चिढ़ा और परेशान भी हो उठा था। हाथमें कटार लेकर उसने सेठजीको धमकाकर नीलियेको हाँकने (चलने) के लिये कहा।

सेठजीने उससे कहा कि 'भाई! तुम्हें भगवान् एकलिंगजीकी सौगन्ध है, किसीसे न कहना कि यह ऊँट तुमने इस ढंगसे लिया है। वस, इतना कहना कि मैंने स्वेच्छासे तुम्हें दे दिया। यदि असली बातका पता चलेगा तो लोग राह चलते जरूरत-पंद और अपंगोंका विश्वास करनेसे डरेंगे।' यह कहते हुए उन्होंने अपनी कमरसे सौ रुपये निकाले और उसे देते हुए कहने लगे—'इस ऊँटको मैंने अपने बच्चेकी तरह पाला है। इसके दाने-चारेमें कमी न आने पाये। प्यारसे पाला है, प्यार इसे देते रहना। भगवान् तुम्हारा भला करें।'।

थोड़ी देरतक तो बदनसिंह भौंचक्का-सा सेठजीकी ओर देखता रहा। परंतु सेठजीने जब ऊँटको जानेका इशारा किया तो वह उसपर बैठकर अपने डेरेपर चला गया।

बदनसिंहने अपने जीवनमें बहुतोंको लूटा और कितनोंकी जान ली, परंतु इस घटनाके बादसे उसके मनमें एक

बेचैनी-सी रहने लगी। रातमें उसे बुरे सपने आते और वह चौककर उठ बैठता। दो-तीन दिन बाद वह सेठजीके गाँवमें गया। उसने सुना कि सेठजीके पैरकी हड्डी टूट गयी है और उसकी चिकित्सा चल रही है। उसे यह भी पता चला कि सेठजीने न तो पुलिसमें इसकी सूचना दी और न अपने आदमियोंतकसे इसकी चर्चा की। गाँव लौटकर वह बहुत अनमना रहने लगा। एक दिन अपने साथियोंको इकट्ठाकर उसने अपना निर्णय सुनाया कि 'मैंने यह खोटा धन्धा छोड़नेका निर्णय कर लिया है और अब आत्मसमर्पण करने जा रहा हूँ।' साथियोंको मालूम था कि दृढ़निश्चयके सामने सरदारको समझाना-बुझाना व्यर्थ है।

एक दिन अंधेरी रातमें वह चीलिये ऊँटपर बैठकर सेठजीके घर गया। सामने पड़ते ही उसकी हिचकियाँ बँध गयीं। दूँधे गल्लेसे सेठजीके पैरोंपर गिरकर उसने कहा—'मुझे बड़ा भारी अन्याय हो गया, जो आप-जैसे देवता-पुरुष के साथ मैंने बोखा किया। सचमुच, जैसा आपके बारेमें मैंने सुना था, उससे कहीं ऊँचा आपको पाया।'।

सेठजीने उसका कंधा पकड़ते हुए उठाना चाहा; किंतु वह कहने लगा—'मेरी करबद्ध प्रार्थना है, आप मुझे अपनी सेवामें ले लीजिये। मुझे अपने लिये केवल दो रोटी चाहिये। शारी उम्र मैंने बहुत तरहके पाप किये। अब आखिरी उम्रमें आप-जैसे महात्माके चरणोंमें रहकर प्रायश्चित्त करना चाहता हूँ।'।

इसके बादसे डाकू बदनसिंह 'भगत बदना' हो गया। रामगढ़के अञ्चलमें आज भी उसका यह दोहा प्रसिद्ध है।

सुख रूटे दुख ही मिले तृष्णा बढ़ती जाय।

श्रु सुमरन बदना चल्यो, असकी सुख मिळ जाय॥

## एकमात्र तुम्हीं

नहीं मान धन-कीर्ति-भोगकी, नहीं मोक्षकी किंचित चाह।  
नहीं अयश-अपमान-दुःखकी, तनिक नरककी भी परवाह॥  
सदा-सर्वदा एकमात्र तुम करो हृदयमें ही अधिवास।  
रहो दीखते बाहर भी सर्वत्र सदा करते मृदु हास॥  
पाते रहें चित्त-द्वग दोनों एक तुम्हारा ही संस्पर्श।  
इह-परकी फिर लाभ-हानिसे कभी न होगा हर्ष-अमर्ष॥  
आयें-जायें यथेच्छ कहीं भी कुछ भी कभी मुक्ति या बन्ध।  
एक तुम्हारे सिवा न मेरा रहा कहीं भी कुछ सम्बन्ध॥

—भीमाईजी ( भीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )



## श्रीकनकधारास्तोत्र\*

( अनुवादक—श्रीमाधवशरण श्रीवास्तव, एम० ए०, एल्.एल्.बी० )  
जो लेती रहती है आश्रय हरिके श्रीअङ्गोंपर पुलकित,  
जैसे धमरी तमाल तरुपर मुकुलित सुमनावलिसे भूषित ।  
सारे पेश्वयोंका निवास जिसमें, अपाङ्ग-लीला सुखदा,  
मङ्गलरूपा श्रीदेवीकी हो सदा मुझे माङ्गल्यप्रदा ॥ १ ॥  
जो बारंवार मुरारीके मुखमण्डलपर मोहित होकर,  
जाती है प्रेमप्रचलित हो, फिर लौट लजाकर आती पर ।  
चितवन-माला मधुकरी सदृश मँडराती हुई महोत्पलपर,  
वह सिंधु-सम्भवा देवीको दे मुझपर श्रीकी वर्षा कर ॥ २ ॥  
जो देवराजकी पदवीका वैभव प्रदान करनेमें क्षम,  
है मुरारातिको भी मिलता जिसके द्वारा आनन्द परम ।  
क्षणमात्र पड़े मुझपर भी वह अधखुले लोचनोंकी चितवन,  
कमलादेवीकी, नीलकमल-उदरोपम जो सौन्दर्य-सदन ॥ ३ ॥  
आर्भीलित, ललित, निमेषरहित, क्षयकेतनका शासन जिनपर,  
लोचनवाले आनन्द-कंद मधुजितको निज समीप पाकर ।  
प्रमुदित आकेकर ताराओं-पलकोंवाले अम्बुज-अम्बक,  
पन्नगपतिशायी-दयिताके हों मेरे लिये विभूति-जनक ॥ ४ ॥  
जो मधुजितके वक्षःस्थलपर, जिसपर वर कौस्तुभमणि शोभित—  
विलसित होती ज्यों इन्द्रनीलमणि-विरचित हारावली ललित ।  
चितवन-माला हरिके उरमें भी काम जगा देनेवाली,  
उन कमलवासिनीकी कर दे मुझको कल्याणामृतशाली ॥ ५ ॥  
नीलाम्बुद-पटली-सदृश ललित जो कैटभारि-वक्षःस्थलपर,  
होती विस्फुरित यथा विद्युद्बाला घनमालाके भीतर ।  
जो सारे लोकोंकी जननी, विग्रह महनीय मनोहारी,  
भृगुवंशनन्दिनीका उन हो, मम हेतु महामङ्गलकारी ॥ ६ ॥  
पहले-पहले जिसके प्रभावसे निश्चय ही पाया आसन,  
मन्मथने उरमें मुरमन्थनकारी हरिके मङ्गल-भाजन ।  
अर्द्धोन्मीलित दृगकी मुझपर वह पड़े यहाँ मन्थर चितवन,  
अलसायी उनकी मन्द-मन्द, जो प्रकटीं कम्पति-तनया वन ॥ ७ ॥  
बरसा धनाम्बु-धारा दे हो अनुकूल दयानिलसे प्रेरित,  
बेचारे चातक-शिशुपर इस निष्किंचन तथा विषाद-ग्रसित ।  
कर दूर सदाके लिये घोर दुष्कर्मोंका आतप खरतर,  
नारायण-दयिताका कज्जल-रञ्जित लोचनरूपी जलधर ॥ ८ ॥  
वत्सलता-भाजन जन विशिष्ट-मतियुत भी जिनकी कृपा-भरी  
चितवनसे पाते अनायास रहनेको देवोंकी नगरी ।

\* आचार्य शंकरकृत इसी नामके संस्कृत स्तोत्रका अविकल पद्यानुवाद ।  
मूल स्तोत्र गद्यानुवाद-सहित 'कल्याण' के 'संतवाणी-अङ्क' ( २९वें वर्षके  
विशेषाङ्क ) के दूसरे खण्डमें पृष्ठ ७२२—२४ पर छपा है ।



उन्मीलित उत्पल-उदराभा-मण्डित वह दृष्टि मनोवाञ्छित ,  
 परिपोषण दे मुझको उनकी जो पुष्कर-आसनपर संस्थित ॥ ९ ॥  
 जो वनतीं ब्राह्मी, वनती हैं गरुडध्वज-वनिता अभिरामा ,  
 जो वनतीं शाकम्भरी तथा शशिशेखरकी वनतीं वामा ।  
 कमलशः सर्जनकी, पालनकी, जब चलती तथा प्रलय-लीला ,  
 है उन्हें नमन, जो त्रिभुवनैक-गुरु-प्रिया, नित्य यौवन-शीला ॥ १० ॥  
 शुभ कर्मोंका फल देतीं जो, उन श्रुतिरूपाको नमस्कार ,  
 रमणीय गुणोंकी अर्णव जो, उन रतिरूपाको नमस्कार ।  
 जो शक्तिस्वरूपा, शक्तिमयी, उन शतदलधामाको वन्दन ,  
 उन पुष्टिस्वरूपा, पुरुषोत्तमकी प्यारी वामाको वन्दन ॥ ११ ॥  
 है नमस्कार उनको, जिनका नालीक-समान सुभग आनन ,  
 क्षीरोदधिसे जो हुई प्रकट, पद-पद्मोंमें उनके वन्दन ।  
 जो सहोदरा है सुधा-सुधाकर दोनोंकी, उनको प्रणमन ,  
 जो नारायणकी प्राणप्रिया, चरणोंमें उनके नमोनमन ॥ १२ ॥  
 सम्पत्तिप्रदा, इन्द्रियगणको देनेवाली आनन्द अमित ,  
 सरसिजनयने ! साम्राज्यदान करनेकी भी सामर्थ्य-सहित ।  
 वन्दना तुम्हारी, उद्यत जो रहती करनेको अवमोचन ,  
 माँ ! आदरणीये, बने सदा मेरे जीवनका अवलम्बन ॥ १३ ॥  
 जिनके करुणार्द्र-कटाक्ष-हेतु कृत सविधि अर्चना-आराधन ;  
 सेवकके सकल मनोरथका, उसके वैभवका संवर्द्धन ।  
 सम्पादित करता है, करता मैं तनसे, मनसे तथा वचन—  
 तीनोंसे मुरहर-हृदय-सदम-स्वामिनी आपका सतत भजन ॥ १४ ॥  
 हे सरसिज-सदने देवि ! लिये जो करमें लीला-कमल ललित ,  
 जो परम धवल परिधान तथा चन्दन-मालादिकसे शोभित ।  
 हे भगवति ! हे हरि-प्राणप्रिये ! हे मनोरमे ! सौन्दर्य-निकर ,  
 हे त्रिभुवन-भूति-विधायिनि !! तव वरसे प्रसाद मेरे ऊपर ॥ १५ ॥  
 दिक्करिगण निजकर-धृत कञ्चनके कलशोंके मुखसे झरते ,  
 खर्घुनी पुनीत-रुचिर जलसे देहाभिषेक जिनका करते ।  
 मैं करता प्रातःकाल नमन उनको, हैं जो जगकी माता ,  
 सारे लोकोंके अधिपतिकी गृहिणी, जो दुग्धोदधि-जाता ॥ १६ ॥  
 हे कमले ! कमल-नयन हरिकी वल्लभा आप, प्रियतमा आप ,  
 करिये अपाङ्गका निज, जिसमें लहराती हो करुणा अमाप ,  
 भाजन मुझको गणना जिसकी जन सकल अकिंचन बीच प्रथम,  
 अतएव आपकी करुणाका हूँ स्वाभाविक ही पात्र परम ॥ १७ ॥  
 प्रत्येक दिवस जो लोग स्तवन करते इन स्तुतियोंके द्वारा ,  
 त्रिभुवन-जननी श्रीलक्ष्मीका, जो त्रयीमयी, निगमाकारा ।  
 अगणित महान गुणगणवाले, गुरुतर अद्भुत सौभाग्य सदन,  
 बुध-जन-भावित आशयवाले जाते हैं वे पृथ्वीपर वन ॥ १८ ॥



## मुझे अकिंचन जानकर—

( लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि' )

मुझे अकिंचन जानकर मेरा उपहास करनेके लिये याचकका रूप धरकर तुम मेरे द्वारपर आये हो !

वाह ! क्या कहा ! आँखोंमें दिन-दहाड़े धूल झोंकना कोई तुमसे सीख ले । अपनी सर्वसम्पन्नताका पोट बाँध, कंधेपर पीछेको ओटमें धारण किये, मेरे सामने खाली झोली पसारे खड़े हो ।

झोली भी कैसी ।\*\*\*—जिसके समक्ष वामन-डगका कौतुक भी डगमगाकर ढह पड़े ।

लगाता है कि तुम्हें लज्जा छू नहीं गयी है; एकमात्र निर्ममता ही तुम्हारी चिर-सहचरी है । तभी तो तुम ऐसा निष्ठुर कौतुक करनेपर उतारु हुए हो ।

लेकिन स्मरण रहे—अपनी-सी सब कुछ कर गुजरनेपर भी हार ही तुम्हारे हाथ लगेगी ! मनचाही होनेसे रही । सुनिश्चित रहो, मैं उपहसित नहीं होनेका ! तुम भले ही लजित होकर रह जाओ ।

माना मैंने कि मैं अकिंचन हूँ । लेकिन यह नहीं देखा तुमने कि अकिंचन होते हुए भी काञ्चन-शिखरपर खड़ा हूँ—सब कुछ दे डालने\*\*\*अपना सर्वस्व निष्ठावर कर डालनेकी भव्य भावनाके काञ्चन-शिखरपर ।\*\*\*

जानते हो—क्या करूँगा मैं ? नहीं जानते तो लो, जान लो ।

कुछ नहीं है न मेरे पास ! न सही, कोई चिन्ताकी बात नहीं । इस न होनेसे न मुझे सेंप चढ़ी है, न मैं संकोचमें पड़ा हूँ । क्यों चढ़े ? क्यों पड़े ? कुछ न होते हुए भी मेरे .....तुम्हारी प्रतीक्षा करते-करते निष्पन्न हुए लोचनोंमें विवशताश्रु तो पूर-पूर भरे ही हैं । यह क्या कम है मेरी अकिंचनताको भेटनेके लिये\*\*\* तुम्हारा—तुम छलिया याचकका पूरा डालनेके लिये ? नहीं अश्रुओंको—अश्रु-मुक्ताओंको मैं तुम्हारी इस खाड़ी

झोलीमें उँडेल धरूँगा । उँडेल-उँडेलकर इसे भरे चला जाऊँगा । जैसे-जैसे अश्रु उँडलेंगे, वैसे-वैसे ही और भरेंगे । असलियतके अटूट स्रोतसे सम्बन्ध जो ठहरा उनका । इस तरह यह उँडेलना चलता ही रहेगा, जबतक कि तुम्हारी झोली अटादूट न भर जाय, उसके मायिक लघुताविस्तारकी कलई खुलकर न रह जाय ।

तब, बोलो तुम्हीं, क्या होगा ? आयेगी न लाज तुम्हारी निर्लज्जताको भी ? लजाकर ही रह जायगी न वह सदाकी निर्लज्ज-सी ? मुझे उपहसित करनेके स्वप्न देखते-देखते तुम स्वयं उपहसित होकर रह जाओगे कि नहीं ? मेरी खिल्ली उड़ाने चलकर स्वयं अपनी ही खिल्ली उड़वा लोगे कि नहीं ।

इतना तो होगा ही ! और भी कुछ होगा और वह बड़ा विलक्षण होगा । विवशताश्रु अपना काम करेंगे—बड़ी सफाईके साथ और तुम्हारी निर्ममतामेंसे, कहना चाहिये, पाषाणकी छाती चीर, करुणा-स्रोत फूट पड़ेगा—अजस्र-अनन्त करुणा-स्रोत । यह करुणा-स्रोत मेरे विवशता-स्रोतसे मिलकर तब वही करेगा, जो सदासे वह करता आया है । चिरवाञ्छित—नित्याभीष्ट एकत्वकी पुनीत मन्दाकिनी तब सहज प्रवाहित हो उठेगी और उसके अलौकिक प्रवाहमें मैं-तुम (मैं-तुम) न रहकर अवगाहन कर रहे होंगे । और इस तरह तुम देख ही रहे हो कि तब तुम्हारा मनचाहा न होकर मेरे मनचीते हो गये होंगे । किसीकी आँखोंमें धूल झोंकने चलकर तुम्हारी ही आँखोंमें धूल पड़कर रह गयी होगी ।

तो तुम मुझे अकिंचन जानकर—तुमपर बलिहारी जाऊँ, तनिक दर्पणमें स्वछवि तो निहार लो, मेरा उपहास करनेके लिये, याचकका रूप धारणकर मेरे द्वारपर आये हो । भले आये । स्वागत ।.....बार-बार स्वागत ।।...सौ-सौ बार स्वागत ।।।\*\*\*



## परिवार-नियोजन

( लेखक—पं० श्रीगोविन्दजी शारंगी, एम० ए०, साहित्यरत्न )

वैज्ञानिक आजके समाजका आराध्य हो गया है। वह जो कुछ भी खोजता है, उसे समाजके अर्पित कर देता है और समाज उसे सिर-माथे लगा लेता है। दोनोंमें कितना मधुर सम्बन्ध है? दोनोंमें कितनी सहमति है। वैज्ञानिक समाजके कष्टोंको नहीं देख पाता, इसलिये सुविधाएँ जुटाता है और समाज केवल बटन दबाकर सब कुछ प्राप्त कर लेता है। वैज्ञानिकद्वारा प्रमाणित सत्यको प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं होती। इस श्रद्धा-सहयोगका आभ्यन्तर पहलू क्या है? विज्ञानद्वारा दी गयी सुविधाओंका मूल्याङ्कन क्या है? इस प्रश्नपर विचार करनेका अवकाश किसीको नहीं है; परिणाम हमारे सामने है, किंतु उन परिणामोंकी विवेचन-मीमांसा करनेकी हमें सूझ नहीं है। यह अन्धविश्वास पीढ़ीके विवेकको निगलता जा रहा है, हमारी अन्तर्दृष्टि संकुचित होती जा रही है। समाजमें व्याप्त दुःख-द्वन्द्वको, व्यक्तिके भीतर हो रहे क्लेशको हम अनुभव करते हैं; किंतु वह क्यों है, इसका निदान नहीं खोजते। हमारी दृष्टि केवल बाह्यको देखकर संतुष्ट हो जाती है, हमारा विश्वास एक सीमामें बँध गया है।

आजके आदमीको कोई इन यन्त्रोंके जंजालसे घृणा करनेको कहे तो उसे बहुत बुरा लगेगा। यथार्थमें यह यन्त्रोंका विस्तार और बहिरङ्ग विश्वास आज ऐसे बिन्दुपर आ गया है, जिसपरसे लौटा नहीं जा सकता; जिन सुविधाओंको जुटाया गया है, उनसे विमुख होनेकी कल्पना मात्रसे दुःख होता है। कोई भी यह नहीं चाहेगा कि इन सुविधाओंसे वञ्चित रहनेका परामर्श दिया जाय; पर विवेकका यह आग्रह है कि आजकी सामाजिक विषमता और व्यक्तिगत जटिलताका कारण ढूँढ़ा जाय। सुख और दुःख, हर्ष और विषाद इस संसारके लक्षण हैं; किसी भी युगमें इनका द्वित्व समाप्त नहीं हुआ। इनका अनुपात बदलता रहा है और उसी अनुपातको विश्व पुरुषोंने युगोंके नामसे जाना-समझा है। विज्ञानके उपकरण हमारे सुखके आचार हैं; पर वह सुख कितना महँगा है, इसपर विचार करनेका साहस हममें नहीं है। गर्मीसे बचनेके लिये पंखा अथवा कूलर हमारे सुखका आधार है; पर उस आधारने हमें कितना विवश कर दिया है, यह विचारनेका

अवकाश हमें नहीं है। पंखा न हो तो नींद न आये; खराब हो जाय तो चैन नहीं पड़े। बिजली बंद हो जाय तो झुँझलाहट बढ़ जाय। ये सारी स्थितियाँ हमारे सुखकी स्वरूप हैं। सामान्यरूपसे हम ऐसी मनःस्थितियोंके अभ्यस्त हो गये हैं और इस सुविधाके आगे उस अशान्तिको नगण्य मानते हैं; पर इसका दूरगामी प्रभाव पड़ता है। होता यह है कि इन भौतिक साधनोंसे सुख-प्राप्तिकी लालसाके कारण हमारा मन इतने तनावोंको भोगता है कि वे तनाव हमारे लिये आवश्यक हो गये हैं। स्थिति यही तक रहती तो भी कोई बात नहीं थी। वास्तवमें इन तनावोंका दूरगामी प्रभाव पड़ता है, व्यक्ति मनसा अस्वस्थ हो जाता है; मानसिकरूपसे व्यक्ति पीड़ित और कुण्ठित होता है, उत्तेजित होता है और यह उसका स्वभाव बन जाता है। मन स्वाभाविक निर्मलताको भूलकर विकारोंके कल्मषको प्रकृति मान लेता है। जिन बातोंको परिहासमें उड़ा देना चाहिये, उनको मननका विषय बना लेता है और व्यर्थकी उत्तेजना भोगनेका आदी हो जाता है। इस प्रकारके प्रकृति-विकार अथवा मानसिक अस्वस्थताके पीछे भौतिक सुविधाओं और विज्ञानके जटिल उपकरणोंकी उपस्थिति एक सुनिश्चित कारण है।

मनका विचित्र स्वभाव है और क्रिया-प्रतिक्रियाका बुद्ध है। कुण्ठा होती एक कारणसे है और फूटती अनेक मार्गोंसे है। व्यक्ति असंतुष्ट एक स्तरपर होता है और उसकी प्रतिक्रिया विभिन्न स्तरोंपर होती है। कुण्ठित होना या असंतोष एक क्रिया है; उसकी प्रतिक्रिया जब प्रकट होती है, तब उससे पहले मनको विप्राक्त कर देती है और विष-प्रभावित मन किसी भी स्थितिको उसके वास्तविक रूपमें नहीं देखता। फल यह होता है कि वह तनाव और स्नायुगत उत्तेजनाको जन्म देने लगता है; यहीसे मानसिक अस्वस्थताका प्रारम्भ होता है। यह अस्वस्थता व्यक्तित्व सीमित नहीं रहती और इसका संक्रमण होने लगता है। आजके व्यक्तिकी व्यस्तता भी उसके विभ्रामको संतोष नहीं भर पाती इसका मुख्य कारण यान्त्रिक जटिलता भी है। जब एक सामान्य-सा उपकरण व्यक्तिको इतना प्रभावित करता है, तब विशाल कारखाने, मशीनोंकी अकल्पितवृद्धि



समुदायको बाहरसे सुखी और अन्तरसे विपण्ण, दिखनेमें समन्न और यथार्थमें विपन्न कर रही है।

आज मशीनोंने व्यक्तिको पराजित कर दिया है। व्यक्ति स्वयंको बंदी बनानेके लिये अहर्निश तपस्या कर रहा है। वह दिन दूर नहीं, जब मनुष्योंसे अधिक मशीनें हो जायेंगी। जिस जंजालके कारण व्यक्ति अपने अस्तित्वको भूलता जा रहा है, जिस विकासने उसके सुख-स्नेह और मानवीयताको छुट कराना शुरू कर दिया है, उसीको प्रगति-के प्रतीकके रूपमें पूजा जा रहा है—कितनी बड़ी विडम्बना है, कैसा बचपन है! उन्नतिके प्रतीक जिन कल-कारखानोंको सजाया जाता है, वे व्यक्तिको भीतरसे तोड़ रहे हैं, उनका धूआं वायु-मण्डलकी संशोधन-क्षमताको क्षीण करके असंतुलन उत्पन्न कर रहा है। आजके शहर स्वच्छ वायुके लिये तरस रहे हैं और जनता शहरोंके आकर्षणमें बंधकर शहरोंकी तरफ दौड़ रही है। कारखानोंका कूड़ा-कंकट, गंदा तेल और विषपूर्ण जल प्रकृतिके निर्मल जल-स्रोतोंको दूषित कर रहा है। पीनेके पानीकी कमी होती जा रही है। पानीको स्वच्छ करनेके लिये कीटाणुनाशक औषध काममें ली जाती हैं। स्पष्ट है, पानीकी स्वच्छताका अर्थ कीटाणु-रहित स्थिति है। जो दवा कीटाणुओंका नाश करती है, उसके लिये आवश्यक और अनावश्यक कीटाणुओंका भेद नहीं होता; इसलिये वह पीनेवालेके लिये कुत्वाडु तो होती ही है, हानिकर भी। पर उस हानिके लिये विचार नहीं किया जाता; क्योंकि वैज्ञानिकोंने हमें आश्वासन कर दिया है कि इस दवाकी इतनी मात्रा कोई क्षति नहीं करती। माना, एक बारमें अमुक मात्रा क्षति नहीं करती; किंतु क्या उसका निरन्तर प्रयोग भी हानि नहीं पहुँचाता—इसके उत्तरमें वैज्ञानिक मौन हैं। हमें कड़ा-कसैला पानी पीनेकी आदत हो गयी है। पेड़-पौधों और फसलोंपर कीटनाशकका छिड़काव होता है, वह कहाँ जाता है? पेड़-पौधे उसे सोख लेते हैं या वह पानीमें मिलकर बिखर जाता है? वाह रे विज्ञान! दूने सारे संसारको विषपायी शंकर बनानेका उपक्रम रच दिया है; किंतु यह नहीं सोचा कि यह मानव आखिरकार मानव है। इसकी शक्तिकी भी सीमा है। एक स्थिति वह भी आकर रहेगी, जब इसकी शक्ति चुक जायगी। आहारमें, श्वासमें और पानीमें निरन्तर प्रयोग किया जानेवाला यह विष व्यक्तिकी सामर्थ्यको क्षीण कर रहा है, मनको अस्वस्थ कर रहा है और आज व्यक्ति अपने जीवनको ही एक भार समझ बैठा है।

जीवन, मानव-योनि सारे विश्वमें आदरकी वस्तु है, इस मानवतनसे व्यक्ति उच्च-से-उच्च और अलभ्यको भी प्राप्त कर सकता है; क्योंकि इसमें कर्म करनेकी स्वतन्त्रता है। फिर भी वही सबसे अधिक कष्ट-पूरित क्यों है? क्या मशीनोंके विकासके कारण? नहीं मशीनें निर्दोष हैं। इनकी रचना सदोष है; पर इस सदोष रचनाके लिये जो मनोवृत्ति है, वही दूषित है। मशीन स्थूलसे स्थूलतककी यात्रा है, जडत्वका विस्तार है, जो चेतनको निगलता जा रहा है। मशीनोंका अम्बार और सुविधाओंकी विपुलता सुखका आधार और परिभाषा नहीं हो सकते। सुख जिस दृष्टिसे मिल सकता है, उस दृष्टिको प्राप्त किये बिना उसके साधनोंका विस्तार व्यर्थ ही नहीं, भार भी है।

जीवनके लिये निश्चय और भ्रम, दोनों आवश्यक हैं; क्योंकि भ्रान्ति जीवनके इतस्ततः बिसरी पड़ी है। भ्रान्तिके कारण संसारका अस्तित्व है, संसारका सम्मोहन है। मानव भ्रान्तिको विश्वासका आवरण पहनाकर संतुष्ट हो लेता है। भारतमें जिस प्रकारका प्रजातन्त्र है, वह प्रजातन्त्रकी भ्रान्ति ही तो है। मात्र गणितके चमत्कारपर इस प्रजातन्त्रका प्रासाद बना है और टिक रहा है। मेरा विषय प्रजातन्त्र अथवा उसके रूप-स्वरूपका विश्लेषण नहीं है। मेरा वाच्य था भ्रान्ति—वैज्ञानिक भ्रान्ति। विज्ञान गणितके सहारे चलता है और गणित अङ्क-ब्रह्मकी मूर्ति है। कल्पनाशील वैज्ञानिक बाल-स्वभाववश अथवा अपने अहंकारके कारण अपनी सफलताओंको प्रकृतिपर नियन्त्रणकी संज्ञा दे देता है और अङ्कोंके सहारे सुखद स्वप्न बना रहता है। वह अपनी कल्पनापर अपना अधिकार मान लेता है, उसके संसारका वह स्वयं ही प्रभु बन जाता है और उसके वे सुख-स्वप्न कभी-कभी भयावह हो उठते हैं। जन-संख्याकी वृद्धिको लेकर जो कल्पना की जा रही है, उससे कई अर्थ निकलते हैं—१. मनुष्यने अपने गणितको पूरी तरह परख लिया है। २. मनुष्यसे आगे कोई नियामक है ही नहीं। ३. जनसंख्यापर नियन्त्रण करना उसके हाथकी बात है और उसके सिद्धान्त चेतन-जगत्पर भी शुद्ध रूपमें लागू होंगे। जहाँतक व्यक्तिके प्रयत्नोंका, सम्भावनाओंका और विश्वासोंका प्रश्न है, यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि उसे किसी बड़ी सत्ताके प्रति आस्था नहीं रही; वह स्वयं प्रभु होनेके मोहमें फँस गया है; अन्यथा 'जनसंख्या' और 'नियन्त्रण' ऐसे शब्द हैं, जिनको प्रथम बार प्रश्न-चिह्न लगाकर



देखा जा रहा है। इस दायित्वको ओढ़ना अहंकार है और नास्तिकवाद है। वास्तवमें यह गीतामें श्रीकृष्णके विराटरूपको देखकर किंकरव्यविमूढ हो रहे अर्जुनकी-सी मोहग्रस्त स्थिति है। वैज्ञानिकने अणुओंके विस्तारका विराट् रूप देखा और उस रूपको जनसंख्यासे जोड़कर वह स्तब्ध रह गया। उसे यदि विश्वास होता तो वह भगवान्‌के रूपको नमस्कार करके उत्तरार्धको विचारने लगता; वह अपनी भ्रान्तिको ही स्थिर रखकर इस विश्वकी बढ़ती जनसंख्याके लिये आहार जुटानेके कर्मपथपर चल पड़ता।

आस्तिकके मनमें प्रश्न उठता है—‘क्या इस सारी समस्याका समाधान मानवको ही ढूँढ़ना पड़ेगा? क्या मानवीय शक्तिसे परे कोई सत्ता है ही नहीं?’ इस विवशतापर आस्तिकता पछताती नहीं। वह इन जटिलताओंको अपने प्रभुके समर्पित करके निश्चिन्त हो जाती है; पर माया-मोहमें फँसा मन विश्वास नहीं कर पाता। अहंकारको दूसरेका अस्तित्व सहनीय नहीं होता। परिणाम यह होता है कि वह अपने ही भ्रमोंमें बंदी बन जाता है। यह कारा आजके मानवके समक्ष है और वह उसे तोड़ नहीं पाता। उससे आहत-संत्रस्त होकर लौट आता है। परिवार-नियोजनके प्रचार और साधनों-पर जितना कुछ व्यय किया जा रहा है, उसका किंचित् अंश भी भूखे पेटके लिये खर्च किया जा रहा है क्या? क्या बढ़ रही और बढ़ चुकी आबादी अपना समाधान आप नहीं ढूँढ़ लेगी? पागल और अविश्वासीको कौन समझाये? संदेह और आशङ्काकी क्या चिकित्सा की जाय?

एक क्षणको यह मान लिया जाय कि जनसंख्यापर नियन्त्रण कर लिया जायगा; पर वह नियन्त्रण भी वृद्धिको रोक नहीं सकता। यह अवश्य है कि जिस आशङ्काको कुछ दशकोंमें सम्भावित मानते हैं, वह शताब्द या शतीमें पूरी होगी; पर नियन्त्रणका अर्थ हास नहीं है। नियन्त्रणमें वृद्धिकी स्वीकृति है, पर नियोजित ढंगसे इस नियोजनसे वह आशङ्का निर्मूल नहीं होती। इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि जनसंख्याकी अधिकताके कारण सामाजिक व्यवस्थामें व्यतिक्रम उत्पन्न होता है। लड़कामें लड़ा गया युद्ध इसी समूह और सघन आबादीके कारण दुराचारी समाजकी अनिवार्य नियति थी, द्वापरका महाभारत भी कुछ ऐसी ही अस्वाभाविक वृद्धिजनित जनसंख्याका परिणाम था। वैज्ञानिक-परीक्षणोंसे यह सिद्ध हो गया है कि जन-संकुलतामें नियम और व्यवस्था-

की रक्षा नहीं हो पाती, भीड़ अराजकतावादी होती है। सघन आबादीमें मानसिक विकृतियाँ अधिक पनपती हैं और इस तरहकी आधियोंको जन्म देती हैं, जो असाध्य होती हैं। उनका विस्फोट युद्ध-जैसी अवस्थामें होता है; अन्यथा श्रीकृष्ण-सरीखे शान्तिवादीके रहते महाभारत अनिवार्य क्यों हुआ?

आजके वैज्ञानिकोंकी भगीरथ-वृत्तिको देखकर यह भी मान लिया जाय कि कालान्तरमें जनसंख्यामें हास होने लगेगा; किंतु उस स्थितिमें भी क्या समाज सुखी होगा! इसका उत्तर ‘हाँ’ में नहीं हो सकता; क्योंकि इस समुदायने अनाचारकी जो तरंगें वातावरणमें छोड़ी हैं, उनका विनाश या रूपान्तरण किये बिना आगामी पीढ़ीके सुखी होनेकी कल्पना करना ही व्यर्थ है। इस अनुभवसिद्ध तथ्यसे अस्वीकार कैसे किया जा सकता है कि व्यक्तिके भौतिक शरीरके भीतर मानसिक और वैयुक्तिक शरीर और होता है। मन जिन अदृश्य विचार-तरंगोंको छोड़ता है, वे शेष समुदायको प्रभावित करती हैं और इस बढ़ी जनसंख्याने जितनी विपुल मात्रामें विकृत विचारोंको तरंगित कर दिया है, उनसे बचनेका क्या उपाय होगा? यदि इस सूक्ष्ममूलक समस्याका समाधान किया जाकर जनसंख्याको अपने भाग्यपर भी छोड़ दिया जाय तो कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

सत्य यह है कि समूहकी आवश्यकताएँ अधिक होती हैं, उसे अधिक सुविधाओंकी लालसा रहती है, इसलिये वह साधन-सुविधाओंको जुटाता है। किंतु वे सुविधाएँ मानवीय और नैतिक अर्थात् धार्मिक भावनासे युक्त रहती हैं तो उनसे अशान्ति और मनोविकार नहीं बढ़ते, अन्तरङ्ग और बहिरङ्गमें समन्वय-संतुलन बना रहता है। जहाँ अन्तरङ्गका बाधसे सम्पर्क टूटा, वहाँ दुःख और अशान्तिका उदय हो जाता है। आजका व्यक्ति जितनी विषाक्त एवं कृत्रिम वायु निगलता है, जितना कर्ण-कटु शब्द सुनता है, जितना दूषित पानी पीता है, उतना किसी भी युगमें नहीं पीता था। इसलिये यह कलियुग है, युगोंकी परम्पराकी अन्तिम कड़ी। पूर्ववर्ती तीनों युगोंमें मानव शान्ति-स्वस्तिपाठके मन्त्रोंका, मन्दिरोंमें घण्टा, घड़ियाल और शङ्ख-नगारोंका, वीणा-मृदङ्गका कर्णप्रिय एवं मनःशुद्धिकर शब्द सुनता था, वैश्वानरको भोग लानेमें हवन-कर्मसे उत्पन्न धूमका तथा उपवनके सुरभित कुसुमोंकी निर्व्याज गन्धका पान करता था; उससे वह तन-मनसे स्वस्थ सबल रहता था। मनोविकार, तनाव और उत्तेजनमें नहीं



जीता था; इसलिये उसमें वीरत्व था, वह अपने पराक्रमसे बढ़ता-जीतता था। आजके विज्ञानके अन्धविश्वाससे थोड़ा ऊपर उठकर यदि हम अपने अतीतकी विमुक्ति एवं वैभवशाली परम्पराका फिरसे पालन करने लग जायँ अथवा आजके

उन्मादक विज्ञानको विवेककी अन्तर्दृष्टिसे जोड़ दें तो इन भ्रमों और भयोंसे मुक्ति मिल सकती है। आजके व्यस्त मानवको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित होनेकी थोड़ी भी प्रेरणा दी जा सके तो बहुत-सी आधि-व्याधियोंसे छुटकारा मिल सकता है।

## उत्कर्ष, परामर्श, निष्कर्ष और समदर्श

( लेखक—श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल )

उत्कर्ष मनुष्यसे कहता है—‘उठ ! आलस्य-प्रमाद, निद्रा-तन्द्राको छोड़। तू जो इस प्रकार आरामपरस्त होकर बैठा है, यह तेरा जीवन नहीं। तेरा जीवन तो उठने एवं जागनेमें है।

शास्त्रोंमें पुकार की गयी है—‘उत्तिष्ठत ! जाग्रत’ पहले उठो, फिर जागो ! वस्तुतः देखा जाय तो पहले मनुष्य जागता है, फिर उठता है। जबतक वह जागेगा नहीं, तबतक उठेगा कैसे ?

किंतु यहाँ मनुष्यके लिये संकेत है कि ‘तू जहाँ भी बैठा है, उठ खड़ा हो और चल पड़ अपने लक्ष्यकी ओर; एक-न-एक दिन मंजिलपर पहुँच ही जायगा।

‘अगर तू उठेगा ही नहीं, चलेगा ही नहीं तो जायगा कैसे ?’

जब हम लक्ष्यकी ओर एक कदम बढ़ाते हैं, तब मंजिल भी एक कदम आगे आ जाती है। हम प्रमादसे उठें। निद्रा-तन्द्रा-आलस्यादि ही प्रमाद नहीं हैं; किंतु व्यर्थका चिन्तन, अतीतका शोकपूर्ण बोझ और भविष्यका चिन्ता-पूर्ण तनाव—ये भी मनुष्यको चैन लेने नहीं देते।

मनुष्य कभी सिनेमामें जाता है कभी क्लबमें, कभी पत्नी एवं कभी बच्चोंके सङ्ग विनोद करता है; कभी वह मकानकी चाहना करता है एवं कभी किसी विशेष लाभकी।

हम अतीतके लिये शोक एवं भविष्यकी कल्पना करते रहते हैं—यह भी एक प्रकारका प्रमाद ही है, जिससे जबतक हम ऊपर नहीं उठेंगे, तबतक अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर नहीं हो सकेंगे।

बहुत-से मनुष्य यह कहते सुने गये हैं कि ‘हम काम-धंधेमें इतने फँसे रहते हैं कि हमें फुर्सत ही नहीं मिलती।’ वास्तवमें देखा जाय तो वे भी प्रमादमें ही हैं; क्योंकि उनका अध्यात्मकी ओर आनेका कभी मन ही नहीं हुआ है। वे जहाँ बैठे हैं, उसीको अपना जीवन मान बैठे हैं।

परिवारमें कभी बच्चोंको गले लगाया और कभी उन्हें चूमा-चाया, कभी पत्नीमें मन लगाया एवं कभी व्यापार-धंधेमें। वस, इसीको जीवन मान बैठे हैं। इसके अतिरिक्त भी कोई लक्ष्य हो सकता है, इसका हमें पता नहीं।

मनुष्यका वर्तमानमें न जीना सबसे बड़ा प्रमाद है, जो उसे ईश्वर-प्रसादसे वञ्चित कर देता है। मन हमारा अतीतका चिन्तन करता रहता है, जिसके कारण वर्तमानमें जीना ही नहीं होता।

जब हम भूत-भविष्यसे निकलकर वर्तमानमें आ जाते हैं और वर्तमानमें अपने कर्तव्यका पालन करते हुए, क्षण-प्रतिक्षण जीते हैं, ध्यानसे चलते हैं; किसी पुस्तकको यदि पढ़ते हैं तो ध्यानसे, तब यह सजगतापूर्ण व्यवहार हमें अन्तर्मुख होनेमें सहायक सिद्ध हो जाता है और हमारी सारी दौड़ती हुई वृत्तियोंको शान्त करनेमें उपयोगी हो जाता है।

किंतु होता क्या है कि हम स्नान करते होते हैं हरकी पैड़ीपर, किंतु उस समय यदि हम घरकी सोच रहे हैं तो हम हरद्वारमें हरकी पैड़ीपर नहीं, बल्कि घरमें ही हैं; क्योंकि मनुष्य वहीं होता है, जहाँ उसका मन होता है। शरीरसे मनुष्य चल रहा होता है, किंतु मनसे कहीं अन्यत्र ही होता है। जाग्रतमें हमारे कार्योंका एवं मनका समन्वय नहीं होता। हम कर रहे होते हैं कुछ एवं सोचते हैं कुछ। यह विषमता ही प्रमाद है, जो हमारा उत्कर्ष नहीं होने देती।

उत्कर्षके लिये मनुष्यको वर्तमानमें जीना होगा और जब वह वर्तमानमें जीने लगेगा, तब वह संतुलन-यामे साइकल-स्वारकी तरह कोसों निकल सकता है। केवल उसको संतुलन समझमें आना चाहिये।

अगर हम चार कदम साइकल चलाना सीख लें तो कोसों जा सकते हैं। इसी प्रकार जिसने क्षणभर जीना सीख लिया, उसने जीना सीख लिया।



उत्कर्ष भूतकालके शोकसे निवृत्त होकर और भविष्यकी चिन्तासे रहित होनेपर होगा। फिर मनुष्यका मन कन्दुककी तरह हल्का हो जायगा और वह वर्तमानमें प्रसन्नतापूर्वक जीवन व्यतीत करेगा।

जो मनुष्य उत्कर्षकी स्थितिको प्राप्त हो जाता है, उसके मनमें आता है कि मैं संत महापुरुषोंका सङ्ग कर उनसे परामर्श करूँ, शङ्काओंका समाधान करूँ, ताकि वे मुझे मार्गदर्शन करें। मैं उनके पास जाकर घंटों बैठूँ और वे मुझे उपनिषदोंका सार—ज्ञानमार्ग बतायें। उसे फिर अपने लक्ष्यके बारेमें स्पष्टीकरण हो जाता है और वह लक्ष्य-प्राप्तिके लिये तत्परतापूर्वक जिज्ञासा लेकर उसके लिये निकल पड़ता है।

महापुरुषोंके पास अनेक साधनाएँ हैं, जिनको जीवनमें उतारनेसे मनुष्य किसी निष्कर्षपर पहुँचता है। जब लक्ष्यकी स्पष्टता उसे दिखायी देती है और उसका एक-एक कदम लक्ष्यकी प्राप्तिमें लगा जाता है, तब वह अन्तर्मुख होकर अपने मनके अंदर उठते विचारोंका निरीक्षण करता है, जिससे जन्म-जन्मान्तरोंसे दबे हुए विचार-विकार और संस्कार बाहर निकलने शुरू हो जाते हैं।

ताँबा, पीतल आदि धातुएँ जब गलायी जाती हैं, तब उनकी मलिनताएँ पिघलकर ऊपर आ जाती हैं; फिर एक गोल हैंडिलवाली पलीसे उसको बाहर निकाल फेंक दिया जाता है, जिससे अंदरकी धातु शेष रह जाती है। इसी प्रकार मनुष्यके अंदर भरे हुए जन्म-जन्मान्तरोंके विकार एवं संस्कारादि दबे पड़े हैं, जिन्हें हमने कभी निहारा भी नहीं। हमें पता ही नहीं है कि हमारे अंदर क्या है; परंतु जब हम अपने अन्तरका निरीक्षण करने लगते हैं, तब उसका निष्कर्ष निकल आता है। जब मनुष्यको यह पता चलता है कि वह कहाँ है, तब उसे जहाँ जाना है, वहाँ पहुँचनेमें कठिनाई नहीं होती।

अगर कोई मनुष्य अपना घर भूला हो एवं उसे यही पता न चले कि मैं कौन-से गाँवमें हूँ, ऐसी दशामें उसे आगेके मार्गका पता नहीं चल सकता।

जब हम किसी लंबी यात्रामें जाते हैं, तब हमारे पास सारे भारतका 'ग्रेड मैप' होता है, जिसके सहारे हमें पता चलता है कि हम कहाँ हैं और तब हमें गन्तव्यतक पहुँचनेमें सुविधा होती है। पर यदि कहीं हमें यही पता

न चले कि हम कहाँ हैं, तब गन्तव्य स्थानतक पहुँचनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

मनुष्य जब साक्षी होकर अपने मनमें भरे विचारों, संस्कारोंका निरीक्षण करता है एवं उन्हें देखता रहता है, तब मनके अंदर जन्म-जन्मान्तरोंके दबे हुए विचार-संस्कारादि उभरने शुरू हो जाते हैं; उन्हें मौका मिलता है बाहर आनेका एवं हमें उनके अस्तित्वका पता चलता है।

यदि घरके स्वामीको इस बातका पता चल जाय कि उसके घरके अमुक कोनेमें चोर छिपा हुआ है तो वह उससे बच निकलता है।

एक बार किसी साधना-कुटीरमें एक मेहमान ठहरे हुए थे। उनकी कोटकी जेबमें बटुआ पड़ा हुआ था। रातके १२ बजे एक चोर आया और वह कोटमें से बटुआ निकालनेको ही था कि कोटके मालिकने करवट बदली। चोरने समझा कि मालिक जग गया है, जिससे वह बटुआ वहीं छोड़कर भाग गया। इतनेमें सोये मालिकको भी जाग आ गयी, उसने देखा कि बटुआ सुरक्षित है।

जब केवल करवट बदलनेसे ही चोरकी हिम्मत नहीं होती कि वह ठहर सके, तब जाग जानेपर तो चोर ठहर ही नहीं सकता। इसी प्रकार हमारे अंदर काम-क्रोधादिकी जो वासनाएँ जमा हो रही हैं, हम उन्हें देखनेसे घबराते हैं; क्योंकि हमने अपने मुँहपर जो मुखौटा चढ़ा रखा है, वह उतरने लगता है और हम सही रूपमें बाहर आने लगते हैं। फिर हमने जो लोगोंके सामने एक भिन्न प्रकारका दोहरा व्यक्तित्व प्रकट कर रखा था, जब कि हम अंदरसे बिल्कुल भिन्न हैं, वह जब उभरने लगता है, तब हम घबरा उठते हैं कि हमारी कमजोरियाँ बाहर न आ जायँ; किंतु जो मनुष्य साहस करके उन्हें देखता है, उसका जीवन वर्तमानमें जीने योग्य हो जाता है।

उसे अपने अंदर क्या-क्या भरा है, इसका पता चलता है और वह एक चतुर साधककी तरह इन विकारोंसे बचनेका प्रयत्न करता है।

मान लें, किसी जगह विष्टा पड़ी हो और उससे दुर्गन्ध आ रही हो और हम उसपर मिट्टी डाल दें, तो क्षणिक तौर पर दुर्गन्ध बंद हो जायगी; किंतु कुछ कालमें ही वह फिर आने लगेगी; क्योंकि वह दुर्गन्ध अंदर छिपी हुई है और जबतक वह विष्टा वहाँसे साफ नहीं कर दी जायगी, तबतक वह दुर्गन्ध दूर नहीं होगी।



इसी प्रकार हम अपने विचारों, संस्कारों, इच्छाओं तथा कामनाओंको दबाते रहते हैं, जिसके लिये कभी मन्दिर चले जाते हैं और वहाँसे धार्मिक व्यक्तित्वका मुखौटा पहनकर आ जाते हैं और यदि सत्सङ्गमें चले जाते हैं। तो भक्त कहलाना शुरू कर देते हैं।

एक मनुष्य घरमें ठाकुरजीकी पूजा करता था; वह जब घरसे बाहर निकलता, तब खूब तिलक आदि लगाकर सज-धजकर निकलता, जिससे वह भक्तजीके नामसे प्रसिद्ध हो गया। ये सब धार्मिकताके मुखौटे हैं; जब कि अंदर छिपी वासनाओंका हम कभी निरीक्षण नहीं कर पाते।

हम मन्दिरमें जाकर दो माला घुमाकर या किसी सत्सङ्गमें जाकर अपने मनको समझा लेते हैं; किंतु जबतक हम मनका निरीक्षण नहीं करेंगे, तबतक मनका निष्कर्ष नहीं निकलेगा।

निरीक्षण एक प्रकाश है, जिसके अंदर मन नग्न हो

जाता है, उसके ऊपर डाले हुए आवरण सब उतर जाते हैं, एवं उसकी असंलियत बाहर आ जाती है। यही है तीसरा कदम—निष्कर्ष, जहाँपर पहुँचकर मनुष्य समदर्शी होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

जिस मनुष्यका मन अतीतके बोझसे हल्का हो गया एवं भविष्यकी चिन्ताओंके तनावके प्रभावसे रहित हो गया है, वह मनुष्य स्वयंका निरीक्षण करते हुए स्वयंमें स्थित हो जाता है; उसका देखना सही हो जाता है, विचार विलीन हो जाते हैं, मन निखर उठता है और उसमें सम्यक् निर्विषयक बोध बना रहता है।

फिर उसके आगे कोई विषय नहीं, विषयीभाव नहीं, किसी प्रकारका अहंभाव भी नहीं, अहंकार भी नहीं और देहभाव भी नहीं।

ऐसा मनुष्य अपने स्वरूपमें स्थित होकर समदर्शीकी स्थिति प्राप्त करता है।

## आप नये सिरेसे अपना मूल्य-निर्धारण करें !

( लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी०एच० डी० )

आप कभी-कभी दूसरोंको शुभ भावनाओं और मङ्गल-कामनाओंसे सिन्धु प्रेम-पत्र लिखते हैं, उनके प्रति अपनी सद्भावनाओंको उँडेल देते हैं, उन्हें आगे बढ़ने और उन्नति करनेके लिये प्रोत्साहित करते हैं, उनके प्रति मधुर भविष्यकी कामना करते हैं। इन पत्रोंमें आप चुन-चुनकर प्रभावशाली और उन्नायक शब्दोंका प्रयोग करते हैं। लिखते समय उल्लास और आशाकी भावनाओंमें झूमते रहते हैं। फिर उनसे वैसे ही उत्साहप्रद उत्तरकी प्रतीक्षा करते रहते हैं। आपके प्रेमपत्र आपके व्यक्तित्वको प्रकट करते हैं। प्रेमपत्र गर्म हृदयके टुकड़े होते हैं।

आप प्रायः दूसरोंको प्रेमपत्र लिखते हैं। मेरा सुझाव है कि आप स्वयंको ही एक प्रेम-पत्र लिखें।

आप सुझावको सुनकर हँस रहे हैं।

‘अजीब बात कह रहे हैं आप !’

‘ठीक है। पर मेरा दृष्टिकोण समझिये।’

‘प्रेमपत्र तो हम किसी दूसरे व्यक्तिको ही लिख सकते हैं। क्या स्वयंको प्रेमपत्र लिखना हास्यास्पद न होगा ?’

‘आपका सोचना ठीक है, पर इसे यों समझिये। अपने-आपको प्रेम-पत्र लिखनेका तात्पर्य है, अपने व्यक्तित्व-

का ईमानदारीसे पूरा-पूरा आदर करना, उसके प्रति अपना सद्भाव और प्रगाढ़ आत्मविश्वास प्रकट करना, अपने निहित देवगुणोंको समुन्नत करना और अपने आत्मबलमें उत्तरोत्तर वृद्धि करना, अपने सुनहरे सपनोंको वास्तविकतामें साकार करना।’

‘खूब कही बात आपने ! पहले आपका मतलब समझमें न आया था।’

‘और नहीं तो क्या ! यह बात बहुत सरल है कि आप स्वयं ही अपनी बहुत-सी त्रुटियाँ निकालें। अपनी कटु आलोचनाएँ करके अपने-आपको कोसते रहें। कुढ़ते रहें। अपनेको दीन-हीन मानें। चिन्तित और परीक्षान रहें और इस प्रकार अपना आत्म-विश्वास ही खो दें।’

‘मेरे मनकी धड़कन ही पकड़ ली आपने।’

‘तो आप अपने बारेमें चुपचाप क्या सोचा करते हैं ? आज अपना मन तो खोलिये।’

‘मैं कभी-कभी सोचता हूँ, क्या मैं आजन्म गरीब और बेरोजगार ही रहूँगा ? क्या पढ़ने-लिखनेमें कमजोर बना रहकर फेल होता रहूँगा ? क्या तिरस्कृत और लज्जित जीवन बिताता रहूँगा ? क्या बड़े लोग या अफसर मुझे



सदा अपमानित ही करते रहेंगे ? क्या समाज मुझे कभी सम्मान न देगा ? क्या शरीरसे दीन-निर्बल ही बना रहूँगा ? क्या मेरा वैवाहिक जीवन कड़वाहटसे ही भरा रहेगा ? हाय ! क्या मेरे भाग्यमें यों ही धक्के खाना लिखा है ?

‘आपकी यह लँगड़ी-लूली विचारधारा एक मानसिक रोगकी सूचक है, भाई साहब !’

‘लेकिन मैं तो शरीरसे पूर्ण स्वस्थ दीखता हूँ, डाक्टर महोदय !’

‘शरीर ठीक है, पर मानसिकरूपसे आप आत्महीनताके रोगी हैं !’

‘इस मानसिक कमजोरीके रोगी क्या सोचते रहते हैं ? तनिक विस्तारसे बतलाइये तो ?’

‘वे दिन-रात अपनी दुर्बलताओंको ही सोच-सोचकर परीशान रहते हैं । छोटे-मोटे दुर्गुणोंको उछालकर अपने-आपको बुरी तरह कोसते रहते हैं । उनका संसार दुःख, तकलीफ और चिन्ताका बना होता है । वे अपनेको और भी कमजोर बनाते रहते हैं । अपने अहितमें सोच-विचार करके वे दिन-रात आत्महीनताकी ग्रन्थिको बढ़ाते रहते हैं ।’

‘क्या उन्हें दूसरा भी बुरा कहता है ?’

‘लेकिन दूसरोंकी अपेक्षा वे खुद अपनेको कहीं अधिक कोसते रहते हैं । चाहे दूसरा उन्हें बुरा कहे या न कहे, पर वे अभागो तो स्वयं ही आत्म-भर्त्सनाका विषैला कार्य किया करते हैं ।’

‘तो क्या हम अपनी कमजोरियोंके प्रति जागरूक न रहें ?’

‘मेरा सही दृष्टिकोण समझिये, भाई साहब ! यह ठीक है कि आप अपनी कमजोरियोंके प्रति जागरूक रहें । निर्बलताओंको जान लें । जो आदमी अपनी त्रुटियोंके प्रति असावधान रहता है, एक-न-एक दिन वे त्रुटियाँ ही बढ़कर उसे पूरी तरह दबा लेती हैं और वह गिरकर फिर ऊपर उठ ही नहीं पाता । मेरा मतलब है कि हम उन त्रुटियोंको जान ही न लें, बल्कि उनसे ऊँचे उठनेका हढ़ और सबल प्रयत्न करें । अपनी कमजोरियोंको हटानेका डटकर प्रयत्न करते रहें । निराकरणमें अत्यधिक सावधानी बरतें । धिक्कारना हमेशाके लिये त्याग दें ।’

‘हाय ! मैं इतने दिन अपने आपको आत्म-यन्त्रणा देता रहा ।’

‘ठीक ही नतीजेपर आये हैं आप । क्या आपको पता है, इस विषयमें मनोवैज्ञानिक क्या कहते हैं ?’

‘बताइये न कुछ नयी खोजें ?’

‘एक प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ताने तो यहाँतक लिखा है कि आत्म-प्रताड़ना ( अर्थात् अपने-आपको धिक्कारनेकी कमजोरी ) यदि मनुष्यके स्वभावमें एक बार विकसित हो जाती है तो यह आदत आगे बढ़कर किसी-न-किसी प्रकारके जटिल मानसिक अथवा शारीरिक रोगका रूप धारण कर लेती है । इन क्लेशोंको प्राकृतिक रूप देनेके लिये मनुष्यका गुप्त मन ऐसा दूषित वातावरण उत्पन्न कर लेता है, जिससे वह उन क्लेशोंके वास्तविक कारणोंको न पहचान सके । वह उन्हें प्रत्यक्ष न मानकर किसी बाहरी पदार्थ, व्यक्ति अथवा घटनाके ऊपर जिम्मेदारी डाल देता है । दूसरोंको दोषी ठहराता है । भारी मानसिक संतापको भुलानेके लिये मनुष्य गुप्तरूपसे अनेक शारीरिक रोग पैदा कर लेता है ।’

‘पतेकी बात है यह तो । हम सब कोई अपनी निगाहमें ही अच्छे-बुरे हैं ?’

‘और नहीं तो क्या ! हर व्यक्ति अपने ऊपर, अपने व्यक्तित्व, कार्यक्षमता, चरित्र और आचरणके ऊपर उसकी कीमतकी मुहर खुद लगाता है और याद रखिये, अपने लिये उसे वही मूल्य प्राप्त होता है, जिसका वह अपने आत्म-विश्वासके साथ दावा करता है । सच पूछा जाय तो मनुष्य स्वयं अपना मूल्य निर्धारण करनेसे ही बढ़ा या छोटा बनता है ।’

‘ठीक है । बात सोचनेयोग्य है । उन्नतिकी नयी राह है ।’

‘फिर क्यों न आप नयी दृष्टिसे अपना मूल्य निर्धारण करें ? क्यों न अपना आत्मविश्वास और कार्यकुशलता बढ़ायें ? अपनी गुप्त योग्यताओंको पहचानें और बढ़ायें ? क्यों न नये सिरेसे अपनी कीमत ल्यायें ?’

‘आपकी वह प्रेमपत्रवाली बात अधूरी ही रह गयी ?’

‘हाँ, मेरा आशय सुनिये । कभी-कभी आप अपने विशिष्ट गुणों, अपनी प्रतिभा, अपनी ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा, अपने गुणों और श्रेष्ठताओंके विषयमें भी चिन्तन किया करें । अपनी योग्यताओंके बारेमें सोचना उन्हें बढ़ानेका एक उपाय है । यह एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है ।’



‘कुछ और स्पष्ट करें ।’

यह पद्धति प्रेम-पत्र-जैसी ही होनी चाहिये । आप अपने प्रिय पत्रको सहानुभूति, उदारता और आत्म-विश्वासकी स्याही-से प्रेमपत्र लिखते हैं, जिसमें अपने हृदयकी समस्त कोमल भावनाएँ उँडेल देते हैं । क्यों न आप स्वयं अपने आपको एक भावपूर्ण, उत्साहवर्द्धक, प्रेरणापूर्ण प्रेमपत्र लिखें । उसमें अपनी महत्वाकांक्षाओंका विस्तारसे स्पष्टीकरण करें । देखिये, आपके प्रेमपत्रकी भाषा यह हो सकती है—

मेरे प्रिय साथी !

मुझे यह देखकर प्रसन्नता है कि आपने उच्चतम जीवन अपनाने और अपना पूर्ण विकास करनेका लक्ष्य स्थिर कर लिया है और जीवनमें उस लक्ष्यकी सिद्धिके लिये तपस्या कर रहे हैं । आप स्वावलम्बी जीवन वितानेकी योजनापर निरन्तर कार्य कर रहे हैं । आप सब कुछ अपने निजी श्रम और सूझ-बूझसे प्राप्त करनेमें संकल्पशील हैं । आप बिना श्रम किये हुए बीते जीवनको व्यर्थ समझते हैं । मुझे आपकी यौवनश्री, स्फूर्ति और ताजगी देखकर संतोष होता है । आप अपना कार्य स्वयं करनेमें तनिक भी नहीं शर्माते । अपनी व्यक्तिगत शक्तिके सामने दूसरे बाह्य साधन और सहायताएँ व्यर्थ समझते हैं । आप हर दृष्टिसे जीवनके हर क्षेत्रमें उन्नति करते जा रहे हैं, इसका कारण आपका आत्मविश्वास ही है । आप संसारमें कर्मठ रहना चाहते हैं, यह उत्तम है ।

‘यह संतोषका विषय है कि आपका जीवन उच्च उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये बीत रहा है । आप अपने हाथोंसे कल्याणकारी कार्य ही करते हैं, अपने मस्तिष्कसे शुभ चिन्तन करते हैं, अपने पाँवोंसे पवित्र स्थानोंपर जाते हैं और अपने सद्ज्ञानको व्यावहारिक जीवनमें उतारते हैं । ऐसे दृढ़ और शुभ निश्चयवाले व्यक्तिकी उन्नति अवश्यम्भावी है ।

आपकी भावी प्रगतिका आकाङ्क्षी—मैं,

आप ऊपर लिखे पत्रको कई बार पढ़ें । प्रतिदिन पढ़ें और उससे सदा आगे बढ़नेका अपना सत्संकल्प दृढ़ करते रहें । इस शुभ चिन्तनसे और बार-बार गुणोंके चिन्तन और अपनानेसे आपके मनोबलकी अभिवृद्धि होती है । सद्गुण स्वयं विकसित होने लगते हैं । उच्च-चिन्तनके वातावरणसे खिंचकर सद्गुण एकत्र होते हैं ।

आपमें उच्चगुणोंकी खान भरी पड़ी है । उन्हें जगाकर तथा विकसितकर आप अपना और संसारका बड़ा कल्याण कर सकते हैं । पर यह दृढ़ भावनासे होना चाहिये । याद रखिये, समृद्धि और विकासकी भारी सम्भावनाएँ आपमें बीजरूपसे विद्यमान हैं; पर उन्हें वह बार-बार चिन्तन और तदनुकूल व्यवहारसे ही विकसित कर सकता है । हमें मनुष्य-जीवन इसलिये मिला है कि हम अपने प्रत्येक दिये हुए सद्गुणका पूर्ण विकास करें ।

## मेरा-तेरा

दो छोटी लड़कियाँ मैदानसे कुछ छोटे-छोटे गोल-गोल पत्थर उठाकर लायीं एवं आँगनमें बैठकर खेलने लगीं ।

कुछ देरतक तो वे खेलती रहीं; पर बादमें एक लड़कीने दूसरीसे कहा—‘तेरा दाँव चला गया ।’ दूसरी बोली—‘तू छूट कहती है ।’ दोनों आपसमें झगड़ने लगीं । पहली लड़कीने दूसरी लड़कीसे सब पत्थर छीनने चाहे, पर उसे केवल दो ही पत्थर हाथ लगे । अब न तो पहली लड़की दो पत्थरोंसे खेल सकती थी; न दूसरी बाकी पत्थरोंसे । पहली लड़कीने दूसरीको गाली दी, तो दूसरीने पहलीको कहा—‘तेरा बाप मर जाय, तेरी माँ मर जाय...’ । इन दोनोंका झगड़ा चल ही रहा था कि कमरेमेंसे दोनोंकी माताने आवाज लगायी—‘चलो, रोटी खा लो, रोटी बन गयी ।’ दोनोंने अपने-अपने पासके पत्थर खामने मैदानमें फेंक दिने और अपने-अपने कमरोंमें चली गयीं ।

इस संसारकी भी यही दशा है । साथ कुछ नहीं आया । मनुष्य यहींपर सब कुछ इधर-उधरसे बटोरकर इकट्ठा करता है । फिर लड़ाई-झगड़े चलते हैं । धनके बँटवारेके लिये कोर्टतकमें जाते हैं और जब मौत आकर बुलाती है, तब सब कुछ यहीं छोड़कर चले जाते हैं । जिसे जिंदगीभर मेरा-तेरा कहा, वह सब यहीं रह जाता है ।

—श्रीमतीलाल मुराना



# जीवनकी सार्थकता

( लेखक—दण्डिस्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी सरस्वती महाराज )

भगवत्प्राप्तिसे ही मनुष्यदेहकी सार्थकता होती है। पूर्ण जीवन वही है, जिसका पर्यवसान भगवत्स्वरूपानुभूतिमें हो। अनन्त सत्, अनन्त बोध और अनन्त सुख भगवान्का स्वरूप हैं। सर्वव्यापक होनेपर भी हृदयमें विशेषरूपसे अभिव्यक्त होनेके कारण उनको सर्वभूतगुहाशय अर्थात् समस्त प्राणियोंके हृदयरूपी गुहामें निवास करनेवाला कहा जाता है। जिस प्रकार सूर्यका आलोक व्यापक होनेपर भी जल और काँच आदिमें अधिक स्पष्ट होकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार भगवान् भी सर्वत्र समरूपसे अवस्थित होनेपर भी अन्तःकरणमें अधिक स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त होते हैं।

किंतु जैसे जल या दर्पणके मलिन होनेपर सूर्यालोक उसमें सुस्पष्ट प्रतिभासित नहीं हो पाता, उसी प्रकार अन्तःकरणमें जब राजसिक-तामसिक भावोंकी बहुलतासे मलिनता बढ़ जाती है, तब भगवत्स्वरूपकी सुस्पष्ट अनुभूति नहीं होती। सत्त्वगुणके उत्कर्षसे जब राजसिक-तामसिक मनोभाव दब जाते हैं, तब अन्तःकरणमें भगवत्साक्षात्कारकी योग्यता आती है। जैसे घटका अनुभव करनेके लिये अन्तःकरणकी वृत्ति नेत्रके द्वारसे घट-देशमें जाकर घटको अपने भीतर लाती है, इस प्रकार भगवान्को कहीं बाहरसे लानेका प्रयास नहीं करना पड़ता। जिस प्रकार घटको आकाशसे पूरित करनेके लिये बाहरसे आकाशको लानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, घटमें भरी हुई मृत्तिका या बालूको उसमेंसे निकाल देना ही उसे आकाशसे पूरित करना होता है, उसी प्रकार भगवत्स्वरूपकी अनुभूतिमें बाधक मनोभावोंको हटा देना ही भगवान्को हृदयमें बसाना है।

भगवत्प्रेमके लिये भी हमें भगवान्से कोई नवीन सम्बन्ध नहीं जोड़ना है। सब क्षेत्रोंके क्षेत्रज्ञ, प्राणोंके प्राण, सर्वभूतान्तरात्मा भगवान् किसे प्रिय नहीं हैं? पर जब भगवान्की परम प्रेमास्पदताको विस्मृत करके जीव संसारमें अहंता-ममताके कारण प्राणी या पदार्थोंके प्रति राग-द्वेषसे अभिनिविष्ट हो जाता है, तब उसका स्वाभाविक भगवत्प्रेम मेघोंसे सूर्यके सामान ढक जाता है। किंतु जैसे-जैसे अन्तःकरण शुद्ध होता जाता है, भगवत्प्रेमकी अनुभूति विशद होती जाती है।

इसलिये परमार्थके साधकको अपनी पूरी शक्ति अन्तः-

करणके शोधनमें ही लगानी चाहिये। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार योगीजन शरीर-इन्द्रिय-मन-बुद्धिके द्वारा फलासक्ति छोड़कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये निरालस्य होकर शास्त्रविहित कर्म करते हैं। अन्तःकरणका इन्द्रिय-विषय-संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सुखोंसे हटकर भगवत्प्राप्तिके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो जाना, उसकी शुद्धिका प्रथम लक्षण है। अनुकूल विषयोंमें रागके हटनेपर प्रतिकूल विषयोंके प्रति द्वेष दूर होकर उदासीनता आ जाती है। उदासीन होकर ही संसारको भुलानेमें सफलता प्राप्त की जा सकती है। राग-द्वेषके रहते संसारको नहीं भुलाया जा सकता। अपने सुखके लिये बाह्य विषयोंके पराधीन हो जाना सुखके साधकमें राग और बाधकमें द्वेषको दृढ़ करता है। यही दुःखका मूल और जीवका बन्धन है। जिस कूपमें भीतरका स्रोत नहीं, उसे बाहरके जलसे कबतक भरा जा सकता है? सुखके लिये इसी परावलम्बनने जीवको दर-दरका भिखारी बना रखा है। अन्धकारमें टटोलनेके समान वह संसारमें सुखकी खोज कर रहा है।

सुखके बाह्य भौतिक उपकरणोंकी परतन्त्रता छोड़कर नित्य-निरन्तर रहनेवाले सुखकी अभीप्साके उदयसे राग-द्वेषका बन्धन शिथिल होता है, औदासीन्य सुस्थिर होता है। ऐसी अवस्था हो जानेपर चित्तके समाहित होनेमें विलम्ब नहीं लगता। सूक्ष्म और एकाग्र चित्तसे हृदयमें परमात्माका साक्षात्कार सहज ही हो जाता है।

भगवत्साक्षात्कार या भगवत्प्राप्ति आध्यात्मिक उन्नतिकी चरम सीमा है। आध्यात्मिक उन्नतिका प्रथम सोपान आत्मनिरीक्षण है। हृदयको शान्त-समाहित करके रागादि दोषोंसे अप्रभावित बुद्धिके द्वारा अपनी स्थितिकी समीक्षाका नाम 'आत्मनिरीक्षण' है।

व्यवहार और परमार्थ, दोनोंमें ही इसकी आवश्यकता पड़ती है। अपनी वर्तमान स्थितिका बोध और जीवनके यथार्थ लक्ष्यकी स्मृति मनुष्यको संसारके प्रवाहमें पड़े हुए प्राणियोंके अन्धानुकरणसे बचाती है। जब हम अहंता-ममतामें डूबे हुए प्राणियोंके दृष्टिकोण या काम-क्रोधादि विकारोंसे आविष्ट बुद्धिके द्वारा अपने सम्बन्धमें सोचते हैं,



तब हमें अपनी स्थितिका यथार्थ ज्ञान नहीं होता । गीतामें एकांत देशका सेवन और जनसमूहमें अरतिको ज्ञानका प्रमुख साधन माना गया है । एकांतमें बैठनेसे साधकको अपने एकाकीपनका अनुभव होता है तथा जनसमूहमें अरतिसे दूसरोंके दृष्टिकोणसे मुक्त होकर अपने सम्यन्धमें विचारका अवसर मिलता है । प्रत्येक साधकको प्रतिदिन थोड़ी देर एकांतमें बैठकर आत्मनिरीक्षण करना चाहिये । थोड़ी देरके लिये सबसे तटस्थ हो जानेपर हमें अपने मनोराज्यके आधार-पर अपने मानसिक स्तरका भी पता चलने लगता है । हमें कहाँ पहुँचना है और हम कहाँ हैं, इसका बोध आत्म-निरीक्षणसे ही होता है ।

जप-ध्यान और साधुसङ्गके संस्कारोंको लेकर बैठनेपर ही इसमें सफलता मिल सकती है; अन्यथा निद्रा, आलस्य

और अनिश्चयकी दशामें पड़ने तथा मनोराज्यके प्रवाहमें बह जानेकी भी इससे सम्भावना है । आलस्यका त्याग, कर्तव्यका निश्चय, अदम्य उत्साह, साधनाभ्यासकी निरन्तरता और बुद्धिकी निर्मलता तथा एकाग्रताको लेकर ही हम अपने जीवनको आध्यात्मिक बना सकते हैं । अध्यात्म-परायणता ही नित्य सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिके द्वारा सुखके लिये भौतिक विषयोंकी पराधीनतासे छुटकारा दिला सकती है । भौतिक विषयोंकी पराधीनता ही वैयक्तिक, सामाजिक जीवनके असामञ्जस्य और अशान्तिका भी मूल है ।

हमें अपने परम्परागत आध्यात्मिक संस्कारोंको सत्सङ्ग तथा अध्यात्म-शास्त्रोंके श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे शक्ति-शाली बनाकर अपने इस लक्ष्यकी ओर निरन्तर बढ़नेका प्रयत्न करना चाहिये ।

प्रेषक—श्रीबाबुरामजी बाजपेयी

## उदारता

[ कहानी ]

( लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर )

( १ )

‘श्रीकृष्णः शरणं मम’—इस गुरुमन्त्रका रानिको सोते समय शंकर-नित्यकी भाँति जप करने लगा; पर आज जपमें मन नहीं लग रहा था; निद्रा भी नहीं आ रही थी; तड़पते और करवटें बदलते रात बीती ।

अरुणोदयके पूर्व ही वह शय्या त्यागकर चल पड़ा— अपने स्वामी दयालके भवनकी ओर । तन क्षीण, मन मलीन और पश्चात्तापके कारण भवनकी सीढ़ियाँ चढ़ना भारी हो रहा था । किसी तरह ऊपर चढ़कर ज्यों ही वह कपाट खोलने लगा, त्यों ही उसके चित्तको एक धक्का-सा लगा—“कवि दयाल आरामकुर्सीपर बैठे ‘निधि’ दैनिकपत्र पढ़ रहे होंगे । मैं कैसे सम्मुख जाकर नोटको वापस पेटीमें रख सकूँगा ? हाय-हाय ! मैंने पुत्रके लिये चप्पल लानेको केवल दस रुपयेके कागजके टुकड़ेपर क्यों नीयत बिगाड़ी ? परमेश्वरने अबतक मुझे बेदाग रखा था ! किस पापके फल-से मैंने स्वामीके दस रुपये चुराये ! ‘जो कनका चोर, वह मनका चोर’ इस कहावतके अनुसार मुझे लोग पक्का चोर समझेंगे । प्रभु ! अब लज्जा आपके हाथ है । प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब कभी ऐसा पापकर्म नहीं करूँगा ।”

यह सोचता हुआ शंकर किवाड़ खोल भीतर पहुँचा तो देखा, वहाँ सभी सो रहे थे । बड़ा ही प्रसन्न हुआ वह और उसने दस रुपयेका नोट चुपकेसे उसी संदूकमें वापस रख दिया, जहाँसे उसे चुराया था ।

इधर, ज्यों ही भक्त कृपालने दस्तक दी, कवि दयालने नेत्र मसलते हुए शय्या-त्याग किया । कृपालने भीतर प्रवेश कर ‘निधि’का ताजा अङ्क दयालके हाथमें देते हुए कहा— ‘देखो आपके काव्यकी प्रशंसा ।’

‘हाँ जी, रातका कविसम्मेलन भोर होते-होते समाप्त हुआ । आप जानते हैं, मेरी रचनामें पद्माकर कवि-सी अत्युक्ति नहीं होती । मैं भक्त कुम्भनदासजी-जैसा निःस्वही और स्पष्टवक्ता कवि हूँ । इसीसे श्रोताओंने मेरा कविता-पाठ बहुत ही पसंद किया ।’

दोनोंमें यह वार्ता चल ही रही थी कि दयालके बालकोंने आकर रोते हुए कहा—‘पिताजी ! हम चाय कहाँसे पीयें—घरमें नहीं है ?’

बालकोंको ढुलारते-पुचकारते कवि बोल उठे— ‘जाओ, पेटीमेंसे दस रुपयेका नोट लेकर चायका सामान मंगा लो ।’ यह सुनकर बालकोंको जितना हँस हुआ, उससे



अधिक सेवक शंकरको हुआ। उसने मनमें निश्चय किया कि 'अपने स्वामीके अर्थ-संकटमें सहायक होनेके हेतु आगामी माससे मैं अपने वेतनमें दो रुपये मासिककी कटौती करवा दूँगा।'

कृपाल बोल—'भाई, तुम्हें सदा अर्थ-संकट रहता है। तुम श्रद्धा-विश्वासपूर्वक श्रीगोपालसहस्रनामके ११ पाठ नित्य 'श्रीपतिः श्रीनिधिः श्रीमान् मापतिः प्रतिराजहः। इस मन्त्रका सम्पुट लगाकर किया करो। निश्चय ही तुम्हें अचानक अर्थ-प्राप्ति होगी। यह परीक्षित प्रयोग है।'

दयाल तुरंत बोल उठे—'अजी, ऐसे कई प्रयोग मैं जानता हूँ, पर मुझे धन-प्राप्तिकी इच्छा जो नहीं है! मेरी रचनाओंकी सर्वत्र प्रशंसा हो रही है। कविके लिये यह क्या कम महत्त्वकी बात है?'

कृपालके चले जानेपर थोड़ी देर शान्त रहनेके पश्चात् दयालका चिन्तन यों चला—'मिश्रके सामने मैं निःस्पृह तो बन गया; परंतु गृहस्वामीका मुख्य कर्तव्य होता है अपने आश्रितजनोंको हर प्रकारसे आराम पहुँचाना। आजसे मैं अर्थोपार्जनका विशेष प्रयत्न करूँगा और साथ ही 'श्रीगोपालसहस्रनाम'का पाठ भी प्रारम्भ करता हूँ।'

इन विचारोंके साथ कविवर दयाल श्रीद्वारकाधीशके उत्थापनके दर्शन करने चले गये। वहाँसे लौटनेपर उन्होंने कृपालको 'अपने भवनसे निकलकर जाते हुए देखा। मेरी अनुपस्थितिमें यह मित्र कैसे मेरे घरपर आया था?' इस सम्बन्धमें पत्नीसे पूछनेपर शत हुआ कि वे बालकोंके चाय-पानी हेतु ५०) ६० दे गये हैं। सुनते ही दयालने चिढ़ते हुए कहा—'तुम जानती हो, हम स्वाभिमानी हैं; किसीकी यों ही सहायता कभी स्वीकार नहीं करते, चाहे भूखे-प्यासे रह जायँ।' यह कह दयाल ५०) ६० ले कृपालको लौटानेके निमित्त उसके दूर स्थित भवनपर गये।

कृपालने यह कहकर रुपये नहीं लिये कि 'भाई, मैं अपने ही बच्चे समझकर रुपये दे आया हूँ। लौटानेसे मुझे बड़ा ही क्लेश होगा।' शर्त यह ठहरी कि कविसम्मेलनके पुरस्कारमेंसे कभी ये रुपये लौटा दिये जायँगे।

दयालने घर आकर पत्नीसे कहा—'देखो, अपना पुराना सेवक शंकर कितने परिश्रम और ईमानदारीसे थोड़े वेतनमें प्रातःकालसे संध्यातक अपना प्रत्येक कार्य करता रहता है। आगामी माससे इसके वेतनमें अवश्य वृद्धि

कर दूँगे।' पत्नीने हँसकर कहा—'क्या हजार रुपये कहीं से मिल गये हैं।'

शंकर यह सब बातें सुन रहा था और मनमें कह रहा था—'नहीं-नहीं, मैं स्वामीको और भी संकटमें कभी नहीं डालूँगा; प्रसङ्ग आयेगा तो सहर्ष अस्वीकार कर दूँगा।'

इतनेमें ही बाहरसे डाकियेने आवाज दी—'कविजी! बीमा है।' दयालने एक हजार एक रुपये ज्यों ही लिफाफे मेंसे निकाले, पति-पत्नी आश्चर्यचकित हो गये। प्रेषकका नामतक नहीं। शंकर तो यह खबर पाकर बहुत ही प्रसन्न हुआ, पर वेतन-वृद्धि न करानेका उसका निश्चय टला नहीं।

कुछ दिन रीते बीते। इस अवधिमें कविवर दयालने कई नयी रचनाओंका निर्माण भगवत्-स्मरणसे बचे समयमें कर लिया। एक दिन मुरादाबादसे महाकवि-सम्मेलनमें सम्मिलित होनेका तार उन्हें मिला। प्रस्थानके समय रेलवे-स्टेशनपर अनेक दूले-लंगड़े, गूँगे-अंधे याचकगण उनके पीछे पड़ गये। सबको उन्होंने थोड़ा-थोड़ा पैसा देकर संतुष्ट किया। मुरादाबादमें कविजीका जोरदार स्वागत हुआ और उसके अनुरूप ही 'आजकी भुवमरी', 'लोगोंकी स्वार्थपरता एवं लोलुपता' तथा 'शासनकी अनीति' आदिके विरोधमें उनकी जोरदार रचनाएँ सुनकर पण्डालके श्रोता बार-बार तालियाँ बजाकर उनका अभिनन्दन करते हुए आनन्द-विभोर हो उठे। दयालजीको सर्वापेक्षा अधिक पुरस्कार मिला।

मनमें कई संकल्प करते दयाल घर लौटे। विदाईके समय लोग उन्हें पुष्प-मालाएँ पहना रहे थे—तभी एक ध्वनि आयी—'यह पुष्पोंका नाश—धनका नाश व्यर्थ है। इस पैसेसे भूखोंका पेट भरो।'।

बीचके स्टेशनपर ज्यों ही गाड़ी रुकी, यात्रियोंकी भागदौड़ मच गयी। एक महिलाके करुण-क्रन्दनकी ओर किसीका ध्यान नहीं गया। दयालजीने ट्रेनसे नीचे उतरकर महिलाका सब हाल शत किया। एक पाल्नीय कर्तव्यके वश हो, गाड़ीसे अपना सामान उतार, स्वयं उसे उठाया और महिलाको साथ ले, उसके सामानकी तलाशमें चले। एक युवक तंगिमें सामान लिये जा रहा था। महिला मोहिनीने पहचान लिया। कविजीने बड़ी बहादुरी, तत्परता और समझदारीके साथ युवकसे सामान ले मोहिनीको संभलया और विश्रामालयमें मोहिनीको आरामसे ठहराकर आप भी वहीं ठहर गये। दूसरी गाड़ीसे दोनोंने प्रस्थान किया। वीरपुर



लेशनपर उतर मोहिनीको उसके घर सुरक्षित रूपसे पहुँचाकर कविजी खाना हुए अपने भवनकी ओर सुल्तानपुरकी दूसरी द्वेसे । मोहिनीके घरवालोंको प्रत्युपकार करनेका अवसर ही नहीं दिया उन्होंने । विलम्ब, परेशानीका विचार न करके कर्त्तव्यपालन करनेपर उनकी आत्माको बड़ा संतोष था ।

‘अब तो पड़ोसिन माँ शारदाको प्रथम प्रणाम कर गृह-प्रवेश करूँगा’ यह विचार करते दयाल जा रहे थे, इतनेमें ही वृद्धा शारदा सामने आकर दीनभावसे धीरे-धीरे बोली—‘वेदा ! तेरी धर्मकी बहन माधुरीके विवाहकी जुटायी सभी सामग्री चोर चुरा ले गये । बरात कल आनेवाली है, हाय ! अब मैं क्या करूँ ?’

यह सुनकर दयालके दयालु मनमें बड़ा दुःख हुआ, उदरता उमड़ आयी । उन्होंने तत्काल पुरस्कारकी आधी निधि चुपचाप माँके हाथोंमें थमाते हुए कहा—‘कम पड़े तो मुझसे और ले लेना ।’ माँ शारदाने वह द्रव्य लेनेसे बहुत इन्कार किया, पर कविवरकी उदारवृत्तिके सामने उसकी एक नहीं चली ।

गलीका मोड़, अन्धकारका आगमन । ज्यों ही दयालजी अपने भवनकी ओर बढ़े, त्यों ही एक युवकने छुरा दिखाकर उनसे रुपये छीनना चाहा । पहले तो दयालजीका धीरज छूटने लगा, किंतु—

‘संकट कटै मिटै सब पीरा । जो सुमिरै हनुमत बलबीरा ॥’ ( हनुमानचालीसा ) इस पदका स्मरण आते ही उनमें गहसका संचार हो गया और वे निर्भीकतासे बोले—‘मान जाइये आप । देखा है, यह मेरा मोटा लंबा रामलठ ! छुरा चलानेके पहले तुम्हारी खोपड़ी.....’ । दयालजीका वाक्य पूरा भी नहीं होने पाया था कि एक युवक चिल्लाता हुआ आकर छुरा दिखानेवालेसे कहने लगा—‘भाई गामू ! माँ बेचैन हो रही है, शीघ्र चलो घरको ।’ यह सुनते ही गामू तुरंत छुरेको नालीमें फेंककर दौड़ा और माँका उपचार किया उसने—अपने दुष्कर्मपर पछताते और भगवान्से दीनभावसे प्रार्थना करते हुए । हृदयकी सच्ची प्रार्थनासे उसकी माँ स्वस्थ हो गयी । मातृ-भक्त था वह ।

दयालजी प्रसन्न होते हुए घर पहुँचे और पत्नीको सारा वृत्तान्त सुना दिया । हर्षातिरेकसे पत्नी बोली—‘लाइये वह हाथ, जिससे आपने परोपकारके कार्य किये ! मैं उसे हर्षपूर्वक चूम लूँ ।’ यह सुन दयालजी मनमें बहुत ही प्रसन्न हुए कि मेरी पत्नी मेरी उदार वृत्तिमें सहयोगदात्री है !

× × × ×

‘अरे भाई ! तुम कौन हो, बाजारके बीचमें मेरे पाँव क्यों पकड़ लिये हैं ? छोड़ो ।’ युवकने कवि दयालजीके पाँव और भी दृढ़तासे पकड़ उन्हें अश्रुओंसे भिगोते हुए कहा—‘पहले आप यह आश्वासन दीजिये कि आपने मेरा अपराध पूर्णतया क्षमा कर दिया ।’

दयालजी आश्चर्यचकित हो बोले—‘भाई ! कैसा अपराध, कौन तुम ? थोड़ा वताओ तो ।’ युवकने सिर उठाते हुए कहा—‘पहचानिये, मैं वही पापी हूँ, जो छुरा दिखाकर आपसे संभ्या समय रुपये छीनना चाहता था । वर्ष बीत चुके हैं, पर वह पापाग्नि मेरे हृदयमें अभी तक जल रही है ।’

‘अरे भैया गामू ! भूल जाओ उस घटनाको । अब पश्चात्तापसे तुम्हारा हृदय निर्मल बन गया है । यही प्रसुकी ओरसे क्षमा है । निर्भय होकर सत्कार्योंमें जुट जाओ । यही मेरी आसीस है ।’

गामूने शेष जीवनमें सत्कार्य करते रहनेकी प्रतिज्ञा की; किंतु इतनेसे उसको संतोष नहीं हुआ । उसने ५०१ ) ६० जेबसे निकालकर दयालजीके चरणोंमें रख हाथ जोड़ कहा—‘कृपया इन्हें स्वीकार करें ।’ दयालजीके अस्वीकार करनेपर गामूने फिर कहा—‘मैं चाहता हूँ कि आपकी रचनाएँ देश-के उत्थानमें सहायक हों.....’ दयालजी बीचमें बोल उठे—‘क्या यह उसका पुरस्कार है । भाई ! मैं तो सुकवियोंके चरण-रजकी भी रज हूँ । आप इस निधिसे दीन-दुःखियोंका भला कीजिये और भगवद्भजन कर अपना जीवन सुधारिये ।’ गामूने यह उपदेश मानकर ऐसा ही किया । उसके भगवत्परायण हो जानेसे उसके कुमार्गगामी मित्र भी भगवत्प्रेमी बन गये ।

उधर शंकर सचमुच ही अपने वेतनमेंसे २ ) रुपये वेतन मासिककी कटौती करवाकर दूने उत्साहसे दयालजीके घरका काम-काज करने लगा, मानो अपद होनेपर भी उसको सेवा-धर्मका पूरा-पूरा ज्ञान हो ।

कविवर दयाल अब भी ‘श्रीगोपालसहस्रनाम’का पाठ नियमित रूपसे मन लगाकर करते हैं । अर्थाभाव अब उन्हें नहीं रहा । भगवत्कृपासे गृहस्थी सुखपूर्वक चल रही है और दिनोदिन श्रीभगवान्की भक्तिमें दृढ़ता आती जा रही है । भगवान्की महती कृपासे उनकी वाणीमें अब ऐसी शक्तिका समावेश हो गया है कि जिससे कई दुःखियोंका दुःख दूर हो गया है । पर वे सिद्ध नहीं बन बैठे हैं, अभिमानसे सदा दूर रहते हैं और जब-जब मित्र कुपाल मिलते हैं, तब तब इसका सारा श्रेय उनको दिया करते हैं ।



# गतवर्षके श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

( कार्तिक पूर्णिमा २०२७ से चैत्र पूर्णिमा २०२८ तक )

बड़े आनन्दकी बात है कि प्रतिवर्ष हमारी प्रार्थनापर भ्यान देकर 'कल्याण' के भगवन्नामप्रेमी सम्मान्य पाठक-पाठिकाएँ स्वयं जप करते हैं तथा अन्यान्य महाभाग्यवान् महानुभावों तथा महाभागा देवियोंको प्रेरित करके उनके द्वारा जप कराते हैं और उसकी सूचना हमें देते हैं। प्रतिवर्ष 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे'। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥—इस षोडश मन्त्रके बीस करोड़ जपके लिये प्रार्थना की जाती है; परंतु भाग्यशाली जपकर्ताओंका उत्साह इतना अधिक होता है कि, प्रतिवर्ष ही जप-संख्या चालीस-पचास करोड़ हो जाया करती है। किंतु खेदकी बात है कि गतवर्ष हमारे यहाँ मन्त्र-संख्या केवल १७, २२, ८३, ५०० ( सत्रह करोड़, बाईस लाख, तिरासी हजार, पाँच सौ ) तथा नाम-संख्या २, ७५, ६५, ३६,००० ( दो अरब, पचहत्तर करोड़, पैंसठ लाख, छत्तीस हजार ) ही अङ्कित हो पायी है। इसका मुख्य कारण हमारी समझमें यह प्रतीत होता है कि गतवर्ष सूचना प्रकाशित होनेके पश्चात् हमारे परमश्रद्धेय श्रीभाईजी अत्यधिक अस्वस्थ हो गये और 'कल्याण' के द्वारा तथा व्यक्तिगत पत्रोंद्वारा जपकर्ताओंको जपके लिये विशेष प्रोत्साहन नहीं प्राप्त हो सका; परंतु जितना जप हुआ है, वह भी पर्याप्त है और इस महान् पुण्यकार्यमें जिन्होंने सहयोग दिया है, हमलोग उनके बड़े कृतज्ञ हैं और इस कृपाके लिये हम उनको श्रद्धावन्त हृदयसे बार-बार नमस्कार करते हैं। श्रीभगवन्नाम-प्रेमी सम्मान्य पाठक-पाठिकाओंसे हमारा विशेष अनुरोध है कि इस वर्ष यह संख्या पिछले अनेकों वर्षोंकी भाँति बहुत अधिक होनी चाहिये और इसके लिये उन्हें अभीसे प्रयत्न करना चाहिये।

श्रद्धेय श्रीभाईजीद्वारा प्रचारित इस 'भगवन्नाम-जप-यज्ञ'में जो महानुभाव अपनी आहुति डालेंगे, उन्हें निश्चित ही भगवान्की कृपा प्राप्त होगी। नाम और नामीमें अभेद है, नामका आश्रय भगवान्का आश्रय ही है।

गतवर्ष हुए जपके सम्बन्धमें निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

( क ) बहुतसे लोगोंने जप करनेकी सूचना दी है, संख्या नहीं लिखी।

( ख ) षोडश मन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी लोगोंने जप किया है।

( ग ) कई लोगोंने अब इस क्रमको जीवनभर निभानेका निश्चय किया है।

( घ ) विदेशसे भी कुछ सूचनाएँ आयी हैं। भारतका शायद ही कोई प्रदेश बचा हो, जहाँ जप नहीं हुआ हो।

( च ) बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान्—सभी तरहके लोगोंने जपमें भाग लिया है।

( छ ) अधिकांश जप व्यक्तिगतरूपमें हुआ है, कुछ सामूहिक रूपमें।

इसी प्रकार गतवर्ष ८५० स्थानोंपर नाम-जप होनेकी सूचना हमारे यहाँ नोट हुई है। गाँवोंके नाम अङ्कित करनेमें पूरी सावधानी बरती गयी है, फिर भी रोमन लिपिमें नाम लिखे रहनेसे उन्हें देवनागरी लिपिमें करनेपर उच्चारणमें भेद हो सकता है। बहुतसे ऐसे पत्र हैं, जिनमें नाम ठीकसे पढ़नेमें नहीं आते। पूरी चेष्टा रखी गयी है कि नाम ठीकसे पढ़े जायँ, पर इसमें भूल सम्भव है। कुछ पत्र डाक-विभागकी गड़बड़ीसे, कुछ हमारे कार्यालयकी लापरवाहीसे चढ़े बिना भी रह सकते हैं। जिन स्थानोंके सम्बन्धमें ऐसी भूलें हुई हों, वहाँके जप-कर्ता महानुभावोंसे हम क्षमा-याचना करते हैं। वे कृपया हमारी विवशताको ध्यानमें रखते हुए अपनी उदारतावश इसके लिये विचार नहीं करेंगे।

## स्थानोंकी सूची

अकोला, अग्रहारम, अचलजामू, अजनौली, अजवपुर, अजमेर, अजिमगंज, अठेहा, अड़सीसर, अणूवासा रोहड़, अन्तपैठ, अनारा, अनूपगढ़, अफजलपुर, अमयपुर, अमझेरा, अमलापुरम, अमारुत, अमिलिया, अम्पोद, अम्बा, अम्बाला, अम्बाह, अम्बिकापुर, अमृतसर, अरकार, अरड़का, अररौला, अरसारा, अर्जुननगर, अर्जुनपुर, अलसीसर, अलीराजपुर, अशोकपुर, अस्तरंग, असवार, अहमदाबाद, आगरा, आगासौद, आठगढ़, आतारा, आनन्दनगर, आनन्दपुर, आपापारा, आबूरोड़, आमेठ, आरा, आरिठार, आवगिलासायर, इन्डोवस्ती,



इटकी, इटारसी, इटावा, इटौजा, इन्दौर, इलाहाबाद,  
 ईरा, उगरपुर, उचौरी, उचौली, उछठी, उडीपी,  
 उदयपुर, उधैती, उमरियापान, उरदान, एकमा, एकडंगा,  
 ऐरनपुराकी छावनी, ओरमाँझी, ओदलगुडी, औरंगाबाद,  
 कइलाह, कंधाजनगर, कंटालिया, कच्छ, कजोराग्राम,  
 कटनी, कटंगी, कठझुवड़ा, कड़वीवा, कथारा, कदौरा,  
 कनजी, कनासिया, कन्नौद, कपरोल शिरोमन, कपूरथला,  
 कमासीन, करगीरोड, करवाड़, कर्नलांज, कलकत्ता,  
 कलाना, कल्याण, कलूगा, कवर्धा, कवल, कागूपाड़ा, काँके,  
 काँचीकरला, काँजिया, काँठ, कादरगंज, काँधला, कानपुर,  
 कामठी, कालीम्पोंग, काशीपुरा, किछा, किराना, किराप,  
 कुवाड़ी, कुटासार, कुठौन्द, कुण्डी, कुनकठरी, कुमकुरी,  
 कुमना, कुम्हियाँ, कुरथरा, कुरुक्षेत्र, कुँवर कौटड़ी,  
 कुसुम्भी, कुसौल, कूचविहार, कूडिया, कूण्डी, क्वैराली,  
 केशरीगंज, केशवाँ, केशुठ, केसिंगा, कोईराला, कोकलकचक,  
 कोंच, कोंची, कोट, कोटड़ी, कोटफतुही, कोटरी,  
 कोटलाखुर्द, कोटा, कोडलाहरगंगा, कोरगाँव, कोलकुलपल्ली,  
 कोल्हापुर, कोसली, कोहरा, कौड़ियागंज, कौवाहा,  
 कौलोडिहरी, खरगोन, खजीरपुर, खजूरी कटवारा,  
 खड़हरा, खरकड़ीकलाँ, खरसिया, खरिआरराज, खरियार,  
 खरोड़, खरौसा, खरौट, खरौना, खाईडोरा, खाराघोड़ा,  
 खीरा, खेडरटिकतपुरा, खैराबाद, खोरी, खौड़, गंगानगर,  
 गंगापुर, गंगोह, गंजबासौदा, गऊशाला, गड़ौरावाजार,  
 गढ़र, गढ़ी, गया, गरीफा, गवाखेड़ा, गाजियाबाद,  
 गाजीपुर, गाडाडीह, गिरगाद, गिरगाँव, गिरिजास्थान,  
 गिरिडीह, गिरी, गुआकौला, गुजरा, गुड़गाँव, गुडैवल्लूर,  
 गुना, गुरसराय, गोईदा, गोण्डल, गोधनी, गोंडा, गोरखपुर,  
 गोलाकोट, गोलाघाट, गोविन्दपुरा, गोसी अमनार, गोरीहार,  
 गौनैन, ग्वालियर, घरिहा, घाटशिला, घाटंजी, घिरहॉ,  
 घुडहर, घुबड़ी, घूघरॉ, घोठिया, घोड़ाडोंगरी, घोडॉर,  
 चकराता, चकौध, चण्डीगढ़, चन्दनपट्टी, चन्दनपुराखुर्द,  
 चन्दनभटी, चन्दा, चन्द्रापुर, चम्पानगर, चरखीदादरी,  
 चरलिया, चरलिया ब्राह्मणान, चरेरी, चाँदगढ़, चाँदपुर-  
 गन्नेश, चाँदूर, चारखेड़ा, चिंचोली, चितरंजन, चितौरा,  
 चिरैयाकोट, चिलवरिया, चिलीम, चोलापुर, छतरपुर,  
 छपकटिया, छपरा, छोपटी, छापरा, छितौनी मठिया,  
 छोटाउदेपुर, छोटेलाल, जगदलपुर, जगदीशपुर, जगाधरी,  
 जटनी, जवलपुर, जमशेदपुर, जमालपुर, जमुनानगर,  
 जमुनियाजेठू, जम्मू, जयपुर, जलगाँव, जलहरकुंकुरभुड़ा,  
 जाँभौरा, जाट, जाटाबास, जामठी, जालन्धर, जिरिघा,  
 जिरौली, जुरहरा, जूनागढ़, जैकोट, जैनाल, जैसलमेर,

जोधपुर, जोरावरडीह, जौरीबुजुर्ग, जौड़िया, जौनपुर,  
 ज्यौलीकोट, ज्वाली, शंशीहट, शॉसड़ी, शॉसी, शालू,  
 झुमरीतिलैया, झुमियावाली, शोयाना, टाँडा, टामटिया,  
 टिकारी, टिमरनी, टिहरीगढ़वाल, टीकमगढ़, ठिकहॉ,  
 ठिकहॉभवानीपुर, ठूठीवारी, डाडों, डावड़ी, डामरखेड़ा,  
 डुवरामण्डी, डुमरपानी, डुमरियाखुर्द, डुमरी, डेहरी,  
 डोम्हाटोला, डोखाडोल, डोन्डो, डोरावली, ढढोगल,  
 ढरीवा, ढाँगल, ढेढर, ढोनीगढ़, ढोनीगाड़, तरवा,  
 तराँदा, ताजपुर, तिकोनिया, तिदवारी, तिनमुकिया,  
 तिरको, तिरोड़ा, तिलकपुर, तिलहर, तिसरी, तिहँवारी,  
 तेजपुर, तेरंगा, तेवरा, तोरा, तुंगणि, थाना, थोरीथम्भ,  
 दरभंगा, दरीवा, दलटौली, दाँता, दाऊदनगर, दामोदरपुरमठ,  
 दारागंज, दिघरा, दिनारी, दिल्ली, दुन्दपुर, दुर्गापुर,  
 देवखजूरी, देवगढ़, देवनगर, देववन्द, देववहार, देवरिया,  
 देवली, देसाईगंज, देहरादून, दोघट, दौंद, दौराबली,  
 धनगाँवा, धनजई, धनवाद, धनौरा, धाणेगाँव, धनौडाखुर्द,  
 धाँमनगाँव, धारवाड़, धौरपुर, ध्यानपुर, नगरियाँव, नदीगढ़,  
 नन्दवाना, नयीचट्टी, नयीवस्ती, नयीवाजार, नयीसराय,  
 नरवन, नरसिंहपुर, नरहन, नरोत्तमपुर, नवनमक्का,  
 नवपाड़ा, नवरंगपुर, नवाँशहर, नवादा, नशतपुर, नागपुर,  
 नाचनवेल, नाथूखेड़ी, नान्दनी, नारायणपुर, निगोही,  
 निजामपुर, निपनियाँ, निलफामारी, नीमड़ीकलाँ, नरमहल,  
 नेपालनगर, नैमिषारण्य, नोनसारी, नौदवली, नौपाड़ा,  
 नौरेजपुर, नौरौजाबाद, नौली, पकरहट, पकरीगुरिया,  
 पगरावदकलाँ, पचगछिया, पचगाँव, पचौरी, पटना,  
 पट्टीकल्या, पनवाड़ी, परतैवा, परलीबैजनाथ, परसावाँ,  
 परसीपुरपतौना, परेथ, परेव, पलड़ा, पलसाना, पाँचौर,  
 पाटण, पाड़ीब, पाण्डेगाँव, पाण्डेडोला, पाइन, पातलमेरका,  
 पायल, पारा, पालांज, पाळी, पिण्डराबल, पिभौरागढ़,  
 पिपराबगाही, पिपरिया, पिपरीगहरबार, पिपरीआकलाँ,  
 पिपलागाँवदेवी, पिपलानी, पीनना, पीपलाबा, पीपल्याजोबा,  
 पीलीवंगा, पुकारी, पुडुकोट्टई, पुनखारा, पुनासा, पुरहिया,  
 पुलागाँव, पुवायाँ, पूच, पुसौली, पूरेपहलवान, पूरेवेनऊ,  
 पूलीयूर, पेण्डरा, पैँची, पौचानेर, पौलाहा, प्रतापगढ़,  
 प्रह्लादनगर, प्रेमनगर, फ़खरपुर, फरिहा, फरीदाबाद,  
 फलौला, फरुगी, फैजपुर, फैजाबाद, बंगलौर, बक्सर,  
 बकेवर, बखरी, बगडिया, बगड़ी, बगही, बगासपुर,  
 बडगाँव, बडसिंहगी, बढयाचौक, बनकट्टी, बनसेन्द्रा,  
 बनियाखेड़ा, बनियापट्टी, बभलाज, बमकोई, बम्बई,  
 बरखेड़ा, बरदाला, बरन, बराटाकलाँ, बरारीपुरा, बरंधन,  
 बरेली, बरोदियाकलाँ, बरौधा, बलिया, बहुआ, बहोनमदार-



माझा, बाँगरदा, बाँदा, बाँवकड़, बाँसगाँव, बाँसवाड़ा, बाड़मेर, बामौरकलां, बारडोली, बारसेनवाजार, बारु, बालाघाट, बालीजाम, बासन, बिलवाँ, बिरौली, बिलखी, बिस्वात्रिज, बिलन्दा, बिहियाँ, बीकानेर, बीजापुर, बीनार, बीवीपुरगढ़, बीरमित्रपुर, बुहोखास, बुढौर, बुरला, बुरहानपुर, बुलढाणा, बुलन्दशहर, बेदौली, बेमेतरा, बेरडी, बेलमण्डई, बेलारी, बैधवाड़ा, बैर, बैरनपुर, बैरसिया, बैरागढ़, बीनगाइ-गाँव, बीरसर, बोल्कोट, बौड़ला, बंगीनवाड़ी, ब्रह्मावली, व्यावर, भंवरागढ़, भक्तिगाँव, भटगामा, भट्टपुर, भदपुरा, भदोखरा, भदोही, भरथौली, भवदेवपुर, भवानी-पटना, भाऊगढ़, भाटागाँव, भावनगर, भावसार, भिलाई, भिवानी, भीण्डर, भीमडास, भील्की, भुपतपुर, भुवनेश्वर, भुसावल, भुमेंवड़, भेरोखड़ा, भेलरखर, भोकरदन, भोपाल, भोरगी, भंगावली, भंडारा, भऊगंज, भगरदरी, भगरलोड़, भच्छरगाँव बाजार, भजखली, भझारपुर, भतफरा, भदनेश्वर स्थान, भद्रास, भधवापुर, भनकापुर, भनासार, भनेन्द्रगढ़, भन्नौद, भरथापुर, भरई, भलगगाँव, भलिकोड, भवड़ा, भस्की, भसली, भसौड़ी, भहनार, महाड़ी, महीदपुर बाजार, महुअवा, महुआखेरा, महुतरीवीर्ता, महोली, माँडल, मांड, माण्डवी, मातौल, माधवनगर, मानपुरनगरिया, मान्सरखेड़ी, मामटखेड़ार, मायना, मालेगांवगोंड, मिल्की, मीरगंज, मुगहरपुर, मुजफ्फरनगर, मुजफ्फरपुर, मुड़ेरा, मुसीविथा, मुरादपुर, मुरादाबाद, मुरारा, मुल्की, मुलनापुरगरीवदास, मुस्तफाबाद, मेरठ, मेहौडा, मेमना, मोतीहारी, मोदीनगर, मोदुरु, मोरवी, मोगमा, मोझौल, मौलिया, मौदहचतुर, मृगवास, यमुनानगर, यावतमाल, येवले, रूमा, रजउपरसपुर, रतनगढ़, रतलाम, रमै, रहावलीउवारो, रांची, राजकोट, राजनन्दन-गाँव, राजका ताजपुर, राजमहल, राजापुर, राजामऊ, राजा-वाली, रातू, राधाउर, रानीखेत, रानीपुर, रानीवाग, राम-तीर्थ, रामदुर्लभपुर, रामनगर, रामपुर, रायचूर, रायपुर, रायपुरसदन, रायबरेली, राई, रिड, रीवाल,

रेगड़ा, रेवदार, रोटा, रोशा, रोहट, रोहल, रोहिणी, लखवीरवास, लखनऊ, लत्ता, ललितपुर, लडकर, लक्ष्मणगढ़, लाटगाँव, लादीगढ़, लालपुर, लाहौल, लिमाद, लीलापट्टी, बनकटिया, लुधियाना, लेस्सीगंज, लोटवा, लोधनहार, लोलदोन, लोहा, लोहाघाट, लोहान, लोहारदा, वनाइन, वम्हनी, वरला, वसन्तजलाल, वसन्तसिरपाल, वारसोईवाट, वाराणसी, वारीगाँव, वासलीगंज, वासोदा, विजैलिया, विदिशा, विराटनगर, विलखी, विशाखापट्टनम्, विष्णुपुरवृत्त, वीणाअन्दोली, वीनागंज, वेमपेट, वेहटा, वैर, वैताडीह, शंकरनगर, शंकरपुर, शकूरवस्ती, शरफुद्दीनपुर, शर-वरौलिया, शहपुरा, शहरना, शाहपुरा, शिडरशाहपुर, शिमला, शिकौटी, शिरसमणी, शिलांग, शिवपुरकंचाजनगर, शिवरीनारायण, शिवली, शोर्दपुर, शील, शुजालपुर, शोगाँव, श्रीपुरा, श्रीरामपुर, संगरूर, सठियाँव, सतारी, सनतनगर, सनावड़ा, सनावद, सबलपुर, सम्भलपुर, समदड़ी, समाना, सरखों, सरगाँव, सरैयाहाट, सलेमपुर, सहरना, सहदेई, बुजुर्ग, सहसोल, सहारनपुर, सहुआपुर, साँकलकुवा, साखूफोर्ट, साखूकोट, सात्धार, सायर, सारण, सारडा, सावर, सावरगाँव रोक्ड़ा, सावरमती, सहिवगंज, सिकौरी, सिमडेगा, सिमरौल, सिराली, सिवनी, सिवनीमालवा, सिंगापुर, सिंधोला, सीका, सीगौन, सीतामऊ, सीसवाली, सीया, सुजानगढ़ी, सुधानी, सुन्दरपुरवा, सुल्तानगंज, सुल्ह, सूरजपुर, सुलिया, सेजपुरिया, सेतगंगा, सेन्दूरजना, सेन्धवा, सेमल्यानगर, सेरमराल, सेवास, सेसर, सोई, सोउलपुर, सोनरे, सोनापतमण्डी, सोनीपत, सोमनी, सोरखण्डकलां, हजारीवाग, हटा, हडिनवाल, हत्था, हथिया, हथीदह, हनमकुण्डा, हनमसागर, हवीवगंज, हवीवपुर, हयातगंज, हरदा, हरिद्वार, हरिला, हरिहरपुर, हट्टानी, हंसखाजार, हसनपुर, हसुआ, हांफा, हिण्डोरिया, हिसार, हुजाराबाद, हैदराबाद, होन्नावर, होशियारपुर, होसपेट, हिंमणाघाट।

## चित्र-परिचय

महाभारत, अनुशासनपर्वके अन्तिम ( १६८ ) वें अध्यायके अन्तमें कथा आती है कि गङ्गापुत्र पितामह भीष्मका देह-संस्कार हो जानेपर जब पाँचों पाण्डव गङ्गातटपर जाकर उन्हें जलाञ्जलि दे रहे थे और भगवान् श्रीकृष्ण एवं व्यासजी भी वहीं थे, उस समय पुत्रशोकसे व्याकुल भगवती गङ्गाजी जलमेंसे निकलकर विलाप करने लगीं और कहने लगीं कि 'जिस मेरे पुत्रको साक्षात् भगवान् परशुराम भी नहीं हरा सके थे, वह द्रुपदपुत्र शिखण्डीके द्वारा मारा गया।' इसपर भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें समझा रहे हैं कि 'तुम्हारा पुत्र अर्जुनके द्वारा गिराया गया था, शिखण्डीके द्वारा नहीं और वह स्वेच्छासे मृत्युका वरण करके पुनः वसु-शरीरको प्राप्त हुआ है। देवि ! उसके लिये शोक न करो।'।



## पढ़ो, समझो और करो

( १ )

### स्वभाव, जो भुलाया नहीं जा सकता

मनुष्यमें स्वाभाविक ही अपने पदका गौरव होता है। अपनेसे छोटे पदवालोंके साथ नम्रताका व्यवहार करनेमें उसे संकोच होता है, स्वाभिमानमें ठेस पहुँचती है। छोटे पदवालोंके साथ रूखा व्यवहार करने तथा कड़ककर बोलनेमें उसे बड़प्पनका अनुभव होता है।

देशकी स्वतन्त्रताके पहले राजस्थान प्रदेश छोटे-छोटे राज्यमें बँटा हुआ था। प्रत्येक राज्यका महाराजा वहाँकी प्रजाका भाग्यविधाता था तथा प्रजा भी महाराजाओंका बड़ा सम्मान करती थी। लगभग ४० वर्ष पूर्व बीकानेर राज्यके प्राइम मिनिस्टर सर मनुभाई मेहता थे। राज्यके सर्वेसर्वा होते हुए भी श्रीमेहताजीका स्वभाव बड़ा ही उदार, विनम्र एवं स्नेहशील था, जैसे पदका गौरव उन्हें झूतक न गया हो। छोटे-से-छोटे कर्मचारीसे भी वे अत्यन्त स्नेहभरे शब्दोंमें बोलते थे। किसीकी भी भूलको वे भूल नहीं मानते थे। उसे वे ऐसे टाल देते थे कि भूल करनेवाला उनकी उदारतापर सुगंध हो जाता। नीचे उनके जीवनकी दो घटनाएँ दी जा रही हैं—

(१) एक बार असावधानीसे नौकरद्वारा चायमें चीनीकी जगह नमक पड़ गया। नौकरको इसका ज्ञान नहीं हुआ। उसने वह चाय अपने मालिक श्रीमेहताजीको दी। उन्होंने भी वह चाय रोजकी तरह पी ली और अपने काममें लग गये। अवसर पाकर बची हुई चाय उसी नौकरने पी। वह नसकीन चाय पीते ही उसे अपनी भूल मालूम हो गयी। वह धवराने लगा कि पता नहीं उसके मालिक अब उसे नौकरीपर रखेंगे कि नहीं। वह तत्काल अपने मालिकके पास क्षमा-याचना करने गया। वह बहुत ही गिड़गिड़ाकर अपनी भूलके लिये क्षमा माँगने लगा। परंतु श्रीमेहताजी उसकी भूलसे तनिक भी रुष्ट नहीं हुए। वे बड़ी ही नम्रतासे बोले—‘भैया! कोई बात नहीं!’ अपने मालिकके इतने स्नेहभरे शब्द सुनकर नौकरकी आँखें छलछला पड़ीं।

(२) बीकानेरमें ‘श्रीशार्दूल ब्रह्मचर्याश्रम’ नामक संस्थाका वार्षिकोत्सव होनेवाला था। इस संस्थाके मन्त्रीपदका भार बीकानेर राज्यके ही एक अन्य पदाधिकारीपर था, जो श्रीमेहताजीके नीचे ही

एक अच्छे पदपर काम कर रहे थे। उन्होंने श्रीमेहताजीसे ब्रह्मचर्याश्रमके वार्षिकोत्सवका अध्यक्षपद ग्रहण करनेके लिये प्रार्थना की। श्रीमेहताजीने बड़ी प्रसन्नतासे उसे स्वीकार कर लिया। सायंकाल पाँच बजेका समय वार्षिकोत्सवके लिये निश्चित किया गया। मन्त्री महोदयने सोचा कि श्रीमेहताजी पाँच बजे आफिससे उठकर अपने घर जायेंगे और चाय पीकर साढ़े पाँच बजेके बाद ही समारोहमें पहुँचेंगे। पाँच बजे आफिस बंद होनेपर मैं सीधा आश्रमपर पहुँच जाऊँगा और मेहताजीसे पहले मैं पहुँचा रहूँगा। जनताको पाँच बजेका समय दिया हुआ है, वह समयसे आ ही जायगी।

श्रीमेहताजी समयके बड़े पक्के थे। वे ठीक पाँच बजे अपने आफिससे निकले और मोटरपर सवार होकर समारोहके स्थानपर पहुँच गये। मन्त्री महोदय साइकिलसे गये। श्रीमेहताजीने वहाँ पहुँचकर देखा कि न तो मन्त्री महोदय हैं, न जनता और न वहाँ कोई तैयारी है। वे चुपचाप अपने घर लौट गये। थोड़ी देर पश्चात् मन्त्री महोदय वहाँ पहुँचे। उन्हें पता चला कि प्राइम मिनिस्टर महोदय वहाँ आकर लौट गये हैं। मन्त्री महोदयको अपनी भूलपर बड़ी ग्लानि हुई। वे बार-बार कहने लगे—‘मुझे श्रीमेहताजीको साढ़े पाँच अथवा छः का समय देना चाहिये था। मन्त्री महोदय श्रीमेहताजीके नीचे कार्य करते थे। उन्हें बड़ी ही शर्म अनुभव हो रही थी कि कल उनके सम्मुख कैसे उपस्थित होऊँगा। साथ ही कुछ भय भी हो रहा था कि श्रीमेहताजी उन्हें इसके लिये कुछ उलाहना भी देंगे। परंतु अब इस भूलके परिमार्जनका कोई उपाय उनके हाथमें नहीं था।

धीरे-धीरे लोग जुटने लगे। लोगोंमेंसे ही एक सम्भ्रान्त महानुभावद्वारा अध्यक्षका कार्य सम्पन्न करवा लिया गया।

दूसरे दिन मन्त्री महोदय अपने कार्यालय गये। उन्होंने साहस बटोरा और श्रीमेहताजीके सम्मुख जाकर बड़े ही विनम्र शब्दोंमें वे उनसे कलवाली भूलके लिये क्षमायाचना करने लगे, परंतु श्रीमेहताजी बीचमें ही विराम देते हुए बोले—‘That’s all right, that’s all right, कोई बात नहीं—कोई बात नहीं।’

ये शब्द सुनकर मन्त्री महोदय गद्गद हो गये। श्रीमेहताजीके बड़प्पनकी अमिट छाप उनके हृदयपर लगी



गयी। आज भी वे जब उस घटनाको स्मरण करते हैं, तब भावविभोर हो जाते हैं।

( २ )

### पापसे कैसे बचा जाय ?

भारतवर्षके प्रसिद्ध रामभक्त एवं मानसके प्रमुख कथा-व्यास श्रीकपीन्द्रजीके साथ श्रीभाईजीका दीर्घकालीन बड़ा आत्मीयताका सम्बन्ध था। दोनों महापुरुषोंका जब मिलन होता था, तब एक दूसरेका एक दूसरेको नमन करना, आदर देना तथा अत्यन्त स्नेहसे गले लगाना देखते ही बनता था। गत बार श्रीनन्दाजीके रेलवेमन्त्री होनेपर रेलवेमें हो रही भीषण चोरीको रोकनेके लिये उन्होंने एक कमेटी बनायी। श्रीकपीन्द्रजीको उन्होंने इस कमेटीका उप-प्रधान बनाया।

सन् १९७० के नवम्बर मासके द्वितीय सप्ताहकी बात है। श्रीकपीन्द्रजी महाराज इस अभियानके सिलसिलेमें वाराणसी आये थे। श्रीभाईजी उन दिनों ज्यादा बीमार थे। अतएव वे श्रीभाईजीसे मिलनेके उद्देश्यसे गोरखपुर भी पधारे। श्रीकपीन्द्रजीने सामान आदि स्टेशनपर रखा और श्रीभाईजीसे मिलने अचानक गीतावाटिका आ पहुँचे। श्रीभाईजीने चारपाईसे उतरकर बड़े ही आदर-स्नेहसे उनका स्वागत किया और उनके साथ नीचे फर्शपर कम्बलपर ही बैठ गये। कुशल-मङ्गल आदि जाननेपर श्रीकपीन्द्रजीने बतलाया—‘आज ही एक डीजल इंजनका उद्घाटन करने मुगलसराय जा रहा हूँ। वहाँके मालगोदाममें भीषण चोरी होती है। उसका भी निरीक्षण करना है। वहाँ चोरीके प्रति लोगोंको सतर्क-सावधान करनेके लिये एक मीटिंगमें भाषण भी देना होगा।’ इतना कहकर उन्होंने श्रीभाईजीसे पूछा—‘भाईजी! यह चोरी कैसे रुके? इसके लिये मीटिंगमें क्या उपाय बतलाया जाय?’ श्रीभाईजीने कहा—‘जब मनुष्यको एकान्तमें पापसे घृणा होती है, तब वह पापसे बच सकता है। अर्जुनके पास रात्रिमें एकान्तमें उर्वशी पहुँचती है और प्रणयकी भिक्षा माँगती है। पर उस अवस्थामें भी अर्जुनका मन विचलित नहीं होता, वे उर्वशीको ‘माँ’ कहकर उसका आदर करते हैं। उर्वशी स्पष्ट शब्दोंमें प्रणयकी भीख माँगती है, पर अर्जुन सर्वथा अविचलित रहते हैं अपने धर्मपर।

उर्वशीको इसमें अपना अपमान अनुभव होता है। वह क्रुद्ध होकर अर्जुनको शाप देती है; पर इसपर भी अर्जुन टस-से-मस नहीं होते। इसी प्रकार जब एकान्तमें मनुष्यको पापसे घृणा होगी, उससे वह बचना चाहेगा, तभी चोरी रुक सकेगी। कानूनके भयसे चोरी नहीं रुक सकती। कानूनसे बचनेके नये-नये तरीके निकाल लिये जाते हैं और मनुष्य खूब चोरी करता है। आज यही हो रहा है, इसीसे सब ओर चोरीका बोलबाला है।’

श्रीकपीन्द्रजी श्रीभाईजीकी यह बात बड़े मनोयोगसे सुन रहे थे। उन्हें लग रहा था—‘श्रीभाईजी अपने जीवनभरका अनुभव इन शब्दोंमें उनके सम्मुख रख रहे हैं।’ उन्होंने कहा—‘भाईजी! आपने पापके मूलको पहचाना है। मूलको सुधारनेसे ही पाप रुक सकता है। अन्यथा पापको रोकनेकी बातें होती रहेंगी और पाप भी बराबर होते रहेंगे, जैसा आज हो रहा है।’

( ३ )

### कर्त्तव्यका पालन

लगभग पाँच-छः वर्ष पहलेकी बात है। अमरावतीमें मेरे ससुरालके रिश्तेदारके यहाँ हमलोग शादीमें गये थे। शादी होनेके पश्चात् हमें अपने देहातको वापस लौटना था। टैक्सी भाड़ेपर की गयी। नौकरने सब सामान टैक्सीमें रख दिया और हम विदा हुए। देहात पहुँचनेपर टैक्सीमेंसे सब सामान निकाल लिया गया, परंतु नौकरकी असावधानीसे एक सूटकेस टैक्सीमें रह गया।

थोड़ी देर पश्चात् सामान सँभाला गया तो पता चला कि एक सूटकेस नहीं मिल रहा है। इस बीच टैक्सीवाला गाँवमेंसे दूसरे यात्री लेकर वापस चला गया। अमरावती जाकर टैक्सीड्राइवरने देखा कि टैक्सीकी डिक्कीमें एक सूटकेस पड़ा है। उसने देहातसे आये हुए यात्रियोंसे कहा—‘भाई! यह सूटकेस जिसका है, वह ले ले।’ किसी भी यात्रीने उस सूटकेसको अपना नहीं बतलाया। टैक्सीड्राइवर विचारमें पड़ गया। उसके ख्यालमें आया कि ‘यह सूटकेस उनका होगा, जिन्हें मैं देहात पहुँचाकर आया हूँ।’ यह विचार आते ही वह चिन्तित हो गया कि किस प्रकार यह सूटकेस उनके पास पहुँचाया जाय। उसे एक उपाय सूझा—‘जिस घरसे मैंने उन यात्रियोंको बैठाया था, वहाँ चढ़।’



वह शादीवालोंके घर पहुँचा । उसने टैक्सीसे सूटकेस उठाकर उनके सामने रख दिया और कहा—‘कल जो लोग देहात गये हैं, वे आपके रिश्तेदार हैं । उनका यह सूटकेस मेरी गाड़ीमें रह गया है । सूटकेस कृपया उनतक पहुँचा दीजियेगा । मैं स्वयं देहात जाकर दे आता, परंतु ऐसा करनेमें मुझ गरीबका एक दिन व्यर्थ जायगा तथा खर्चा भी बहुत पड़ जायगा ।’

उन लोगोंने सूटकेस पहचान लिया और रख लिया । वे ड्राइवरकी ईमानदारी देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उसे कुछ रुपये देने लगे । परंतु बहुत कहनेपर भी ड्राइवरने रुपये स्वीकार नहीं किये । उसने यही कहा—‘सूटकेस आपलोगों-तक पहुँचाकर मैंने अपने कर्त्तव्यका पालन किया है ।’

सूटकेस न मिलनेसे हमारे घरके सभी व्यक्ति बड़े चिन्तित एवं दुःखी थे । कारण उसमें आभूषण एवं कीमती कपड़े थे । हमने तत्काल नौकरको वापस अमरावती भेजा कि शायद सूटकेस वहाँ छूट गया हो । नौकर अमरावती आया, तब उसे टैक्सीड्राइवरद्वारा सूटकेस पहुँचानेकी बात ज्ञात हुई । नौकर सूटकेस लेकर घर लौटा । सूटकेस प्राप्तकर सभी प्रसन्न हो गये । सबके अन्तर्हृदयसे टैक्सीड्राइवरके प्रति कृतज्ञताके शब्द निकल रहे थे ।

—कु० सुपमा सी० हेबा

( ४ )

### आदर्श भक्तिभाव

हरिद्वारसे बदरीनारायणतक अब सड़क बन जानेसे वहाँ जानेवाले यात्रियोंकी संख्या भी बढ़ गयी है । ऋषिकेशसे वहाँतक बस जानेके कारण अनेक यात्री उसीसे यात्रा करते हैं । साधन-सम्पन्न यात्री अपने वाहनोंमें भी जाते हैं । इनमेंसे कितने ही तो तीर्थयात्राके साथ-साथ सैर-सपाटेका आनन्द लेनेके लिये भी जाते हैं ।

एक दिन ऐसा ही एक कुटुम्ब बदरीनारायण जाकर अपनी गाड़ीसे लौट रहा था । हनुमानचट्टीके पास पहले विश्रामस्थलके समीप सड़कके किनारे एक फटेहाल बुद्ध यात्री बैठा-बैठा रो रहा था । ड्राइवरके पास बैठे हुए गृहपतिकी ध्यान उस बुद्धकी ओर गया और उन्होंने उसे गाड़ी रोकनेको कहा । रोनेवाला यात्री पैदल यात्रा करनेके कारण थककर चूर-चूर हो गया है—यह समझकर गृहपतिने कहा—‘भैया ! बहुत थक गये जान पड़ते हो । आओ, हरिद्वार चलना हो तो गाड़ीमें बैठ जाओ ।’

बुद्ध यात्रीने हाथ जोड़कर आभार माना और कहा—‘बाबूजी ! आप जाइये । मैं तो पैदल ही जितना चल सकूँगा, चढ़ूँगा ।’

गृहपतिने फिर आग्रह किया और कहा—‘चलनेकी तो शक्ति नहीं रह गयी है; आइये-आइये, गाड़ीमें बैठ जाइये । आपको जितनी जगह चाहिये, उतनी जगह गाड़ीमें है ।’

यात्रीने उत्तर दिया—‘थककर अभी इतना चूर-चूर नहीं हुआ हूँ । भगवान् बड़े कृपालु हैं—‘पंगुं लङ्घयते गिरिम् ।’

‘तो आपको क्या तकलीफ है ? भोजन चाहिये ? कमल चाहिये ?’

‘नहीं जी, मेरे पास जो कमल है, वह बहुत है । खाने-को भी भगवान्की कृपासे मिल ही जाता है ।’

‘तो आपको कैसी तकलीफ है ? पैसा चाहिये तो पैसा दें ।’

‘दया है, बाबूजी, अभी तो मुझे किसी भी चीजकी जरूरत नहीं है । ऊपरवाला सभी तरहकी सँभाल कर रहा है ।’

उसकी इस निःस्पृहताको देखकर सभी आश्चर्यचकित थे । साथ-ही-साथ उसका रुदन एक समस्या-सा मादूम पड़ने लगा ।

‘अभी तो आप रो रहे थे, आपकी आँखोंसे शर-शर आँसू-गिर रहे थे । आपको जो कष्ट हो, उसे बेखटके कहिये । आपका कोई संगी-साथी.....?’

‘नहीं बाबूजी, मुझे ऐसा कोई दुःख नहीं है । मैं तो बदरीनाथका दर्शन पाकर कृतार्थ हो गया हूँ । मैं तो पीछे घूमकर कितनी ही देरतक इस नारायण पर्वतको देखता रहता हूँ । इसके दर्शन मुझे इस जिंदगीमें क्या फिर कभी होने हैं ? कभी कोई पुण्य किया होगा, जिसके प्रतापसे बदरीनारायण-के दर्शन हो गये । इस यात्राको मैं पहली समझ या आखिरी ? इस जन्ममें तो पुनः यात्रा क्या होगी ? जय बदरीविशाल ! यों कहते-कहते वह गद्गद हो गया; पीछे घूमकर उसने नारायण पर्वतको प्रणाम किया तथा मौन हो गया ।

गृहपति अधिक प्रतीक्षा न कर सके और उनका संकेत पाकर कार हरिद्वारकी ओर चल पड़ी । किंतु इस अकिंचन होते हुए भी निःस्पृह तथा अन्तरमें अनन्य भक्तिभाव रखने-वाले यात्रीके हृदयकी भावनाने कारणें बैठे हुए सभी यात्रियोंको विचारमग्न बना दिया । गृहपतिने अपने साथियोंसे कहा—‘देखा, कैसी भावना है इसके अन्तरमें । हमलोग अपनी गाड़ीमें सभी आवश्यक साधनों, दवा और पैसोंको



लेकर निकले हैं और उस यात्रीके पास पहननेका पूरा कपड़ा भी नहीं है; फटा हुआ-सा कम्बल, टेढ़ी-मेढ़ी लकड़ी और पुरानी झोलीमात्र है ! फिर भी बदरीनाथजीके प्रति, नारायण पर्वतके प्रति उसके हृदयमें जैसा भक्तिभाव है, उसका शतांश भी क्या हममें आ सकता है ?

पासमें बैठी हुई गृहस्वामिनी तुरंत बोल पड़ी—  
‘हजारवाँ हिस्सा भी नहीं आ सकता । वह तो साक्षात् सुदामा है, सुदामा ।’

सच ही वह आधुनिक सुदामा था । भौतिक सम्पत्तिमें अकिंचन, किंतु भक्तिभावमें सबसे समृद्ध ।

(अखण्ड आनन्द)

—श्रीदेवी शास्त्री

( ५ )

### जब एक जर्मनकुमारीने गीता पढ़ी

हिटलर अपनी अन्ताराष्ट्रिय समस्याओंको सुलझानेके लिये विधिशास्त्रके पारखी प्रोफेसर जोजफबर्बर नामक विद्वान्से सम्मति लेता था । वह अध्यापक अपने विषयमें यशस्वी, सूझ-बूझका पण्डित तथा व्यवहारकुशल था— सन् १९५० में जब भारत स्वतन्त्र हो चुका था, तब उसने भारतकी यात्रा की । स्वर्गीय पं० श्रीभगवद्दत्तजीसे दिल्लीमें मिला । पण्डितजी भारतीय संस्कृतिके वेत्ता, लेखक और सुप्रसिद्ध वक्ता थे । उनकी कृतियाँ देश और विदेशोंमें प्रख्यात थीं । घरपर अतिथिके स्वागतके बाद श्रीभगवद्दत्तजीने प्रोफेसर बर्बरसे प्रश्न किया—‘प्रोफेसर ! आपका भारतमें आना तथा मेरे-जैसे सामान्य व्यक्तिके घरपर आकर मिलना मुझे विस्मित कर रहा है । क्या आप इस असाधारण रुचिका कारण बतानेका कष्ट करेंगे ?’

डॉ० बर्बरने उत्तरमें कहा—‘पण्डितजी ! जब १९३१ में बर्लिनपर बमवर्षा हो रही थी, तब मैंने जमीनके अंदर एक रक्षाघरमें अपनेको छिपा रखा था । इतनेमें एक बम रक्षाघरके कोनेपर पड़ा । बमवर्षक विमान लौट गये । सायरन् जोरोंसे बज रहा था । रक्षाघरके अंदर ठहरे हुए लोग पनाहके लिये भाग-दौड़ कर रहे थे । जहाँ बम गिरा था, उसके पास ही एक कुमारी देरसे खड़ी हुई थी । वह उसी स्थानपर पत्थरकी तरह गड़ी रही । मैं हैरान रह गया । भागकर मैं उसके पास गया और उससे पूछने लगा— ‘कुमारी ! क्या तुम्हें मौतसे डर नहीं लग रहा है ? देखो, लोग किस तरह मौतसे डरकर आत्मरक्षाके लिये भाग-दौड़ कर रहे हैं और तुम यहाँ पत्थरकी तरह निश्चेष्ट खड़ी हो ।’

“इसे सुनकर उस कुमारीने मुस्कराकर कहा—‘मुझे तो किसी तरहका डर नहीं लगता । मुझे किसी तरहकी मौतका डर नहीं ।’ तब मैंने उत्सुकतासे पूछा—‘यह कैसे ? सारी जनता क्यों काँप रही है ?’ कुमारीने शान्तमुद्रामें जवाब दिया—‘आदरणीय ! मैंने भारतकी एक पुस्तक पढ़ी है, जिसका नाम ‘गीता’ है । उसने मेरे लिये मौतका रहस्य खोल दिया है । उसमें लिखा है कि ‘जो पैदा हुआ है, वह अवश्य मरेगा और जो मरेगा, वह अवश्य पैदा होगा ।’ तब कुदरतकी ऐसी अवश्यम्भावी स्थितिपर हमें किसलिये शोक करना है ? मैंने उससे फिर पूछा—‘तुम्हारी बात आश्चर्यकारी लग रही है कि तुमने पुस्तकके लिखे हुएको किस प्रकार सच मान लिया ।’ तब उसका उत्तर था—‘मेरा यहाँ निर्भय होकर खड़ा रहना इसका प्रमाण है कि भय नामक कोई वस्तु नहीं है । वह तो अपनी कमजोरी ही है । यही नहीं, उस पुस्तकमें यह भी लिखा है कि ‘इस शरीरधारी आत्माको शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, पानी गीला नहीं कर सकता और हवा सुखा नहीं सकती । जैसे इन्सान पुराने वस्त्र छोड़कर नये वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही वह पुराने चोलेको छोड़कर नया चोला धारण कर लेता है । तब शोक किस बातका ?’

“कुमारीकी निर्भय अवस्थाने मुझपर गहरा प्रभाव छोड़ा । मैंने आभार प्रदर्शित किया । मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रहा । केवल पुस्तकके पढ़नेसे ही विचारोंमें इतनी भारी क्रान्तिका पैदा होना मेरे आश्चर्यका विषय बना रहा । मैंने भी गीता पढ़ी । उसके क्रान्तिकारी विचारोंने मुझे भी पकड़ लिया । मैं अजेय भारतका पुजारी बन गया । तबसे मैं भारत-दर्शनके लिये आपके देशमें आता हूँ । इसके स्थानोंका दर्शन करता हूँ । गीताके पारखियोंसे मिलकर अपनेको पवित्र समझता हूँ । कृष्ण और अर्जुनके रोमहर्षण संवादको मूलभाषामें सुनकर उस कुमारीका हृदयसे धन्यवाद करता हूँ, जिसने मुझे इस ग्रन्थरत्नका परिचय दिया और मुझे अमृतत्वके रास्तेपर चलाया ।”

पण्डित भगवद्दत्तजीने इस संवादको जब सुना, तब सहसा उनके मुँहसे ‘जय भारत’का नारा निकला । आर्यसमाजी होते हुए भी उन्होंने झुककर अपने हृदयमें भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार किया । भारतके इसी अमर विचारने चार्ल्स विल्किन्स, थ्यूरो, एमर्सन, कार्लाइल, हक्सले, तिलक, हरदयाल तथा गांधीको प्रभावित किया, जिन्होंने सत्यकी ज्योतिको उजागर रखा ।

—डॉ० सीताराम सहगल



श्रीहरिः

# कल्याण

[ भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र ]

वर्ष ४५

[ साधारण अङ्क-संख्या ३ से १२ तककी विषय-सूची । विशेषाङ्क तथा दूसरे अङ्ककी विषय-सूची उसीके आरम्भमें देखनी चाहिये, वह इसमें सम्मिलित नहीं है । ]

सं० २०२७-२८ वि०

सन् १९७१ ई०

की

निबन्ध, कविता, कहानी

तथा

चित्र-सूची

{ आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पौदार } \* [ प्रकाशक—मोतीलाल जालान ]  
{ सम्पादक—चिम्पनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री }

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )

वार्षिक मूल्य रु० १०.०० ( दस रुपये ) } साधारण अङ्क Free of charge  
विदेशोंके लिये रु० १६.०० ( १८ शिलिंग ) }



## निबन्ध-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१-अकेलापन ( श्रीमती सरोज गोयनका ) ...	१२९	१६-उपपुराणोंकी समस्या और श्रीविष्णुधर्मोत्तर-पुराण ( पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा ) ...	११५, ११४, १०४७, १११७
२-अध्यात्मवाद और भौतिकवाद ( अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज ) ...	१२२०	१७-एक दृष्टिकोण ( श्रीसिद्धराजजी ढड्डा ) ...	१०६३
३-अब्दुर्रहीम खानखानाका भक्तिभाव और हिंदुत्व-प्रेम ( डॉ० श्रीबालकृष्णजी 'अकिञ्चन', एम० ए०, पी-एच्० डी० ) ...	११२२	१८-एकान्तका यथार्थ दर्शन ( साधुवेपमें एक पथिक ) ...	८५४
४-अविद्या ( माया ) का स्वरूप ( पं० श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ ) ...	१०९८	१९-कल्याण ...	७७४, ८३४, ८९४, ९५४, १०१४, १०७४, ११३४, ११९४, १२५०, १३१०
५-अस्पृश्यता पाखण्ड नहीं, दूसरोंके प्रति घृणा नहीं ( पं० श्रीनरनारायणजी आसोपा, एम० ए०, साहित्यालंकार ) ...	९३०	२०-'कल्याण'का आगामी विशेषाङ्क 'श्रीरामाङ्क' ( सम्मान्य लेखक महानुभावोंसे सादर प्रार्थना ) ...	८८०
६-आखिर हम करते क्या हैं ? ( श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल ) ...	८७४	२१-'कल्याण'के आगामी अर्थात् जनवरी १९७२के विशेषाङ्क-'श्रीरामाङ्क'की प्रस्तावित संक्षिप्त सूची ...	८८१
७-आत्मचिन्तनकी रीति ( अनन्तश्री स्वामी श्री-अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज ) ...	११४२	२२-'कल्याण', वर्ष ४५ के संख्या ३ से १२ तकके निबन्ध, कविता, कहानी तथा चित्रोंकी सूची ...	१३६३
८-आध्यात्मिक साधनाके लिये त्रिदोष ( श्रीअगरचन्दजी नाहटा ) ...	९९७	२३-कैसी बीती ? ( श्रीअगरचन्दजी नाहटा ) ...	१०५३
९-आनन्दकी अनुभूति ( श्रीश्याममनोहरजी व्यास, एम० एस्-सी० ) ...	११४५	२४-गतवर्षके श्रीभगवन्नामजपकी शुभ-सूचना ...	१३५६
१०-आप नये सिरेसे अपना मूल्य निर्धारित करें ( डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच्० डी० ) ...	१३४९	२५-गाँधी-जीवन-सूत्र ( श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट ) ...	९३१, ९७९, १०३८
११-आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ ...	७७७, ८५२, ९०८, ९८६, १०३६, १०९०, ११४९, १२०८, १२६४, १३३०	२६-गीताका भक्तियोग—१-९ ( पूज्य स्वामी श्री-रामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या ) ...	८४६, ९०२, ९७४, १०२९, १०८५, ११४६, १२०५, १२६६, १३२४, १३५८
१२-इहलोककी अलौकिकता ( श्रीमती मदालसा देवी अग्रवाल ) ...	१२१७	२७-चित्र-परिचय	
१३-ईश्वर आपके पास ( अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज ) ...	१०८२	२८-घूँघटके पट खोल ( श्रीरामनाथजी 'सुमन' ) ...	८०१
१४-ईश्वरीय प्रतिध्वनि—अन्तःकरणकी आवाज ( श्रीमोरेश्वर सीतारामजी पिंपले ) ...	८१७	२९-चँदरी बुआ ( श्रीरामेश्वरजी टाँटिया ) ...	९४०
१५-उत्कर्ष, परामर्श, निष्कर्ष और समदर्श ( श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल ) ...	१३४७	३०-( श्री श्री ) चन्दनेश्वर ( श्रीशक्तिप्रसाद पॉल ) ...	११५४
		३१-चोर ( श्रीरामेश्वरजी टाँटिया ) ...	१०४३
		३२-जन्म कर्म च मे दिव्यम् ( संतप्रवर परमहंस पं० श्रीरामचन्द्रजी शास्त्री डॉंगरे महाराज, प्रेषिका—श्रीमती राधारानी चतुर्वेदी ) ...	१०९३



३-जव लोकमान्य तिलकने मांडले जेलको नाल्दा-विश्वविद्यालयमें बदल दिया था ( डॉ० श्रीसीतारामजी सहगल, शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०, पी-एच० डी० )	११०३
४-जय वजरंग ( श्रीसत्यनारायणजी मालपाणी, सिद्धान्त-शास्त्री )	८१५
५-जीवनकी सार्थकता ( दण्डीस्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी सरस्वती महाराज )	१३५२
६-तपोवल ( श्रीयुत प्र० त्रि० दीपंकर )	८२०
७-तुष्टमें है अटूट धन ( श्रीमोतीलालजी सुराना )	१०५४
८-दण्डपाणि ( पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न )	१२९१
९-दीप-साक्षित्व ( श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल )	१२९३
१०-दुःखमें सुख ( श्रीरामेश्वरजी टाँटिया )	८७८
११-धर्मकी उत्पत्ति एवं वृद्धिके कारण ( श्रीअगरचन्दजी नाहटा )	१२८९
१२-ध्यानका रहस्य ( अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज )	१२०३
१३-नरसिंहपुराण-एक संक्षिप्त परिचय ( पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा )	८२३
१४-नाटकका राजा [ गद्यकाव्य ] ( श्रीमोतीलालजी सुराना )	१०८१
१५-नाम-मोह—एक महारोग ( श्रीअगरचन्दजी नाहटा )	९३८
१६-निःश्वास ( श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज )	१२७३
१७-निःस्पृह बनिये ( श्रीअगरचन्दजी नाहटा )	१३३६
१८-नैतिक मर्यादाओंका उल्लङ्घन न करें ( प्रेषक—श्रीवीरबलप्रसादजी शुक्ल )	१०४५
१९-पढ़ो, समझो और करो	८३१
	८८८, ९४८, १००९, १०६७, ११२८, ११८८, १२४५, १३०३, १३६३
२०-परम धर्म—अहिंसा ( ठा० श्रीमानसिंहजी के० एस्० )	८६९
२१-परम वैष्णव नारद ( डॉ० श्रीगोपीनाथजी तिवारी, एम० ए०, पी-एच० डी० )	९९९
२२-परमार्थकी पगडंडियाँ [ नित्यलीलालीन परम-अद्वेय श्रीभाईजी ( श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार ) के अमृत वचन ]	७८०

८३८, ८९८, ९६१, १०१९, १०७८, ११३८, ११९९, १२५४, १३१४

५३-परमार्थ-पत्रावली ( ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने पत्र ) ... ८८३, ९२७, ९९१, १०५०, ११०६, ११८६

५४-"परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहूँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥" ( श्रीमोरेश्वर सीताराम पिंपले ) ... १३००

५५-परिवार-नियोजन ( पं० श्रीगोविन्दजी शास्त्री, एम० ए०, साहित्यरत्न ) ... १३४४

५६-पवहारी बाबा—उन्नीसवीं शताब्दीके एक संत ( स्वामी श्रीनिवेदानन्दजी ) ... १२३२

५७-पशु-पक्षी एवं जीव-जन्तु भी परोपकारी होते हैं ( श्रीपुरुषोत्तमप्रसादजी मिश्र, बी० ए०, विज्ञानरत्न ) ... ११७४

५८-पशुबलि तथा नरबलि देवपूजा नहीं—सर्वोपरि पाप है ( पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा ) ८५६

५९-पागलकी झोली ( महात्मा श्रीसीतारामदास औंकारनाथ महाराज ) ... ७८७, ८४३

६०-पापका घन ( श्रीरामेश्वरजी टाँटिया ) ... ८०८

६१-पिताका कर्ज ( श्रीरामेश्वरजी टाँटिया ) ... १२१५

६२-पीपलका वृक्ष ( डॉ० गोपालप्रसादजी 'वंशी' ) ११७७

६३-पुरानी पीढ़ी बनाम नयी पीढ़ी ( श्रीरामनाथजी 'सुमन' ) ... १२४२

६४-पुरारि ( श्रीसुदर्शनसिंहजी ) ... ११६८

६५-पुरुष और नारी ( श्रीरामनाथजी 'सुमन' ) १३३२

६६-पूर्णिया भावक [ एक लघुकथा ] ( श्रीरामेन्द्र-प्रसादजी जैन, ऐडवोकेट ) ... ८१४

६७-प्रार्थनासे क्यों, कैसे और क्या लाभ होते हैं ( डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी० ) ... १२९७

६८-प्रायश्चित्त ( श्रीरामेश्वरजी टाँटिया ) ... १३३९

६९-ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश ( पुराने सत्सङ्गसे ) ... ७७५, ८३५, ८९५, ९५५, १०१६, १०७५, ११३६, ११९६, १२५१, १३११

७०-भक्त-गाथा [ दक्षिण भारतकी सुप्रसिद्ध महिला-संत कारेक्का अम्माबाय ] ( श्रीवल्लभदास )



- जी विज्ञानी (ब्रजेश), साहित्यरत्न, साहित्या-  
लंकार) ... १४३
- ७१-भक्तिदर्शनकी कतिपय विशेषताएँ (अनन्तश्री  
स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती  
महाराज) ... १६६, १०२३
- ७२-भगवत्प्रार्थनाका स्वरूप एवं आदर्श (पं०  
श्रीजयकान्तजी झा) ... ८६५
- ७३-(श्री) भगवन्नामजपके लिये विनीत प्रार्थना  
(चिम्पनलाल गोस्वामी) ... ११८२
- ७४-भगवान्का स्मरण [पूज्यपाद योगिराज अनन्त-  
श्री देवरहवा बाबाका उपदेश] (श्रीरामकृष्ण-  
प्रसादजी) ... १३१८
- ७५-(श्री) भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके  
अन्तिम उपदेश (संग्रहकर्ता—श्रीकृष्ण-  
चन्द्रजी अग्रवाल) ... १००४, १०५७
- ७६-(श्री) भुवनेश्वरी देवीका शाश्वत सार्वभौम राज्य  
(पं० श्रीकुवेरनाथजी शुक्ल) ... ११५६
- ७७-‘मनः शिवसंकल्पमस्तु’ (श्रीराजेन्द्रप्रसादजी  
जैन) ... ११६५
- ७८-महात्मा सेरफिम (श्रीरामलालजी) ... १०५५
- ७९-मांसाहारसे हानि (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) १०९६
- ८०-(श्री) माताजीकी बातचीत (श्री माँ,  
श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी) ... ९५७
- ८१-मानवके लिये सबसे बड़ा खतरा (पं० श्रीगङ्गा-  
शंकरजी मिश्र, एम्० ए०) ... १२८५
- ८२-मानसिक संतोष और शान्तिका उपाय  
(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०,  
पी-एच्० डी०) ... १२१३
- ८३-‘मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे’ (श्रीरामनाथजी  
‘सुमन’) ... १२८७
- ८४-मिलन-वेला (श्री ‘दुर्गेश’ जी) ... ८००
- ८५-मुझे अकिंचन जानकर—(श्रीहरिकृष्णदास-  
जी गुप्त ‘हरि’) ... १३४३
- ८६-मूढता (साधुवेषमें एक पथिक) ... ११५२
- ८७-‘मृत्यु होवा नहीं’ (श्रीविनयकृष्ण रामदासजी) ८२२
- ८८-मेग तेरा (श्रीमोतीलालजी सुराना) ... १३५१
८९. मोती काका (श्रीरामेश्वरजी टॉटिया) ... १२९५
- ९०-मौसल-लीला तथा भगवान् श्रीकृष्णकी  
अन्तर्धान-लीला (डॉ० श्रीराधागोविन्दनाथ) १२१९
- ९१-(श्री) राधा-प्राकट्य-महोत्सव ... ११०८
- ९२-रामलीला-नाटक (पद्मभूषण डॉ० श्रीराम-  
कुमारजी वर्मा) ... ११८
- ९३-(श्री) ललिताम्बाका ताटङ्क (पं० श्रीजानकी-  
नाथजी शर्मा) ... १२३८
- ९४-वर्णाश्रमकी ऐतिहासिकता (डॉ० श्रीनीरजा-  
कान्त चौधुरी [देवशर्मा] एम्० ए०, एल्-  
एल्० वी०, पी-एच्० डी०) ... १११,  
१११९, ११७०, १२२६
- ९५-वह अनोखा दाता है (श्रीराधेश्यामजी बंका,  
एम्० ए०) ... ८७६
- ९६-विश्वको भारतकी विशिष्ट देन (पूज्य गुरुजी  
श्रीमाधवराव सदाशिव गोलवलकर) ... १२५९
- ९७-(श्री) विष्णुप्रिया [एकाङ्की नाटक] (लाल  
श्रीप्रद्युम्नसिंहजी) ... ११९
- ९८-(श्री) विष्णुस्मृतिमें धर्मका स्वरूप (डॉ०  
श्रीआनन्दमंगलजी वाजपेयी, एम्० ए०,  
पी-एच्० डी०) ... ८०९
- ९९-वेदका अभेदपरत्व (अनन्तश्री स्वामी  
श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती) ... १२६३
- १००-वैष्णव-साधनाके महान् व्याख्याता श्रीरूप  
गोस्वामी (डॉ० श्रीसुबालालजी उपाध्याय  
‘शुकरत्न’) ... ८६१
- १०१-‘श्रद्धा विश्वमिदं जगत्’ (अनन्तश्री-  
विभूषित स्वामी श्रीअनिरुद्धाचार्य वैकटा-  
चार्यजी महाराज) ... १२८०
- १०२-श्रद्धाका वैज्ञानिक आधार (श्रीदेवेश्वरजी जोशी) ११६१
- १०३-संतकी निर्भयता (श्रीश्याममनोहरजी व्यास,  
एम्० एस्-सी०) ... ११२७
- १०४-‘सँभल-सँभल पद धरना, राही ! यह पथ  
है काँटोंका’ (श्रीहरिकृष्णदासजी अग्रवाल) ८१३
- १०५-सत्य तथा सरलता (श्रीनिरञ्जनदासजी धीर) ... १३३७
- १०६-सत्सङ्ग-वाटिकाके बिखरे सुमन (नित्यलीला-  
लीन श्रीभाईजीके पुराने सत्सङ्गसे चयन  
किये हुए) ... ७८९, ८८५



१०७-समर्पणकी महिमा ( ब्रह्मलीन संत श्रीगरीबदासजी )	...	७४९
१०८-सर्प-दंशके उपचार ( पं० श्रीगोपालजी द्विवेदी, वैद्य )	...	११००
१०९-सुखकी गवेषणा ( महन्त श्रीतपस्वीन्द्रजी शास्त्री तेलगाँवकर )	...	९१३
११०-सुखी, कौन ? ( पूज्यपाद योगिराज अनन्तश्री देवसहवा बाबाका उपदेश ) ( प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी )	...	७८४
१११-सेवा-पथ ( श्रीराजेन्द्रप्रसादजी जैन )	...	८६८
११२-स्वामी श्रीविवेकानन्द ( ब्रह्मचारी श्री-निर्गुणचैतन्य )	...	७९६
११३-हमीद खाँ भाटी ( श्रीरामेश्वरजी टाँटिया )	...	११८०

### पद्य-सूची

१-एकमात्र तुम्हीं ( श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )	...	१३४०
२-कनकधारा-स्तोत्र (अनुवादक—श्रीमाधवशरणजी श्रीवास्तव, एम० ए०, एल्-एल्० बी० )	...	१३४१
३-जीवन—एक दृष्टि ( श्रीभगवानशरणजी भारद्वाज 'प्रदीप', एम० ए० [ संस्कृत हिंदी ] )	...	९२६
४-प्रार्थना ( भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )	...	१२९९
५-प्रार्थनाका मर्म [ महात्मा गाँधीके भावोंके अनुसार ( 'भारत-नारी' से साभार )	...	१२११
६-न जाऊँ तेरा प्यारा ( श्रीभगवत-नारायणजी भार्गव )	...	११९८
७-मनको तेरा ही सम्बल है ( श्री'सतीश' वर्मा, एम० ए०, बी० एड्०, साहित्यरत्न )	...	११९५
८-मानव-जीवनकी क्षणभङ्गुरता ( महाकवि 'द्विजेश' )	...	८१२
९-मुरलीकी तान ( श्रीभगवतनारायणजी भार्गव )	...	११६०
१०-( श्री ) रामको सम्बोधित ( 'स्वर्णकिरण' )	...	१२४१
११-सर्वत्र भगवदनुभूति ( श्रीभाईजी )	...	१०६२
१२-हृदयकी चाह ( श्रीगुणन्दनप्रसाद सिंहजी 'पत्रकार' )	...	१३१७

### संकलित पद्य-सूची

१-अनन्य शरणागति ( श्रीसूरदासजी )	...	१०४२
२-आश्रयके दस सोपान ( श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी )	...	८४५
३-'करौ भजन-उपाय' ( संत श्रीचरणदासजी )	...	८४२
४-कामवृक्षसे अनुराग कैसा ( महाभारत, अनुशासन १४५ अ० दाक्षिणात्यप्रति ) ढठे	...	
अङ्कका चौथा आवरण पृष्ठ		
५-कुंजविहारिनिकी जय ! ( श्रीललितमोहिनीजी )	...	७८८
६-जगत्की असारता ( भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी )	...	११२४
७-'जौं हम भले-बुरे तौ तेरे' ( श्रीसूरदासजी )	...	१०९७
८-दुर्गाजीसे प्रार्थना ( दुर्गासप्तशती ४।३ )	...	९५३
९-'नैक त्रिलोक री इक बार' ( श्रीरूपरसिकदेवजी )	...	८३३
१०-परस्पर दोउ चकोर, दोउ चंदा ( श्रीभगवतरसिकजी )	...	११९३
११-'पीरौ पट सदा जिय बीच फहरावै करै' ( श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्र )	...	८१९
१२-प्रभु-मिलनका सुख ( संत श्रीमानपुरीजी )	...	१०८९
१३-प्रभु-मूर्ति कृपामई है ( गोस्वामी तुलसीदासजी )	...	९७३
१४-'प्रीतम ! तू मोहि प्रान तैं प्यारौ' ( श्रीनारायणस्वामीजी )	...	१२१६
१५-भक्तकी अभिलाषा ( श्रीमीराबाई )	...	१०७७
१६-भगवतीका पराविद्या-रूपमें स्तवन ( श्रीदुर्गासप्तशती ४।९ )	...	११३३
१७-भगवान्की दयालुता ( श्रीसूरदासजी )	...	१२४९
१८-भगवान्की महिमा ( संत श्रीदादूदयालजी )	...	८३७
१९-भगवान् यदुनन्दनकी वन्दना	...	१३०९
२०-भज मन श्रीराधे-गोपाल ( रसिक संत सरसमाधुरीजी )	...	१२९६
२१-मधुर राजवेष्टमें श्रीसीताराम ( संत श्री-वनादासजी )	...	७७३
२२-मनुष्य-शरीरकी दुर्लभता ( संत श्रीसेवगरामजी महाराज )	...	९६०



- २३-महाभाव-रसराज-वन्दना ( श्रीराधामाधव-  
रस-सुधा ) ... १०७३
- २४-मोहनकी उलटी रीति ( भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ) ९४७
- २५-(श्री)राधाजीसे विनय (श्रीरूपगोस्वामी) ... १०१३
- २६-राधा-नामकी महिमा ( श्रीहठीजी ) ... ८५१
- २७-राम-विरहकी स्थिति एवं परिणाम  
( संत श्रीदादूदयालजी ) ... १०१५
- २८-लज राखौ गिरिधारी ( श्रीसूरदासजी ) ... १०१८
- २९-वृन्दावन-वासके लिये प्रेरणा ( संत  
श्रीव्यासदासजी ) ... ८५७
- ३०-श्यामकी छवि ( श्रीरसिकदेवजी ) , ... ८९७
- ३१-श्यामसे विनय ( भक्त श्रीरसिकदासजी ) ... ८६०
- ३२-श्यामाजूसे विनय ( श्रीरूपगोस्वामी-  
विरचित 'गान्धर्व प्रार्थनाष्टक', ३ ) ... ८९३
- ३३-संतोंकी अलौकिक महिमा ( नित्यलीलालीन  
श्रीभाईजी ) ८ वें अङ्कका चौथा आवरण पृष्ठ.
- ३४-हरिविमुखताका परिणाम ( संत श्रीरैदासजी ) १०९२

### संकलित गद्य

- १-अनुशासन ( महात्मा गांधी ) ... १२४४
- २-मनुष्य-जन्म देनेके लिये है, लेनेके लिये  
नहीं ( स्वामी श्रीविवेकानन्दजी ) ... ११५३
- ३-दया ( संत श्रीविनोबा भावे ) ... १३३५

### कहानी-सूची

- १-उदारता ( श्रीकृष्णगोपालजी माथुर ) ... १३५३
- २-एक अजीब विवाह ! विचित्र प्रयोग ।  
( डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०,  
पी-एच० डी० ) ... ८०३
- ३-तौल [ रूपक-कहानी ] ( श्रीभगवान-  
प्रसादजी तिवारी ) ... ९८९
- ४-सज्जन और दुर्जनकी खोज ( डॉ० श्रीराम-  
चरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच० डी० ) ९३६

- ५-सत्सङ्ग ( श्रीलक्ष्मीनारायणजी शर्मा ) ११२५
- ६-सुखी दम्पति ( डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र,  
एम्० ए०, पी-एच० डी० ) ... ८५८
- ७-स्वर्ण-शुधा [ ऐतिहासिक कहानी ] ( श्री-  
रामजी खरे 'कुमुद' ) ... ८७७

### चित्र-सूची

#### ( रंगीन )

- १-अवधके राजा-रानी ... ७७३
- २-पराविद्यास्वरूपा भगवती दुर्गा ... ११३३
- ३-महाभाव-रसराज ... १०७३
- ४-माँ दुर्गा ... ९५३
- ५-युगल प्रेममूर्ति ... ११९३
- ६-वृन्दावनेश्वर एवं वृन्दावनेश्वरी ... ८३३
- ७-श्यामसुन्दरकी वंशी बजाती हुई श्रीराधा १०१३
- ८-श्यामा-श्याम ... ८९३
- ९-'सुआं पढ़ावत गनिका तारी' ... १२४९
- १०-पुत्र-शोकसे व्याकुल गङ्गाजीको श्रीकृष्णद्वारा  
सान्त्वना ... १३०९

#### ( रेखा-चित्र )

- १-गङ्गावतरण ... १२वें अङ्कका मुखपृष्ठ
- २-पार्थ-सारथि श्रीकृष्ण ... ११वें अङ्कका मुखपृष्ठ
- ३-प्राणिवत्सल श्रीगोपाल ... ४थे अङ्कका मुखपृष्ठ
- ४-भगवान् शिव ... ५वें अङ्कका मुखपृष्ठ
- ५-( श्री ) महालक्ष्मी ... ९वें अङ्कका मुखपृष्ठ
- ६-माताकी सुरक्षामें बालक  
श्रीलव-कुश ... ३रे अङ्कका मुखपृष्ठ
- ७-युगल सरकार ... ६ठे अङ्कका मुखपृष्ठ
- ८-वसुदेवजी श्रीकृष्णको गोकुल ले  
जा रहे हैं । ... ७वें अङ्कका मुखपृष्ठ
- ९-( श्री ) सरस्वतीदेवी ... १०वें अङ्कका मुखपृष्ठ
- १०-हनुमान्जीके हृदयमें श्री-  
सीतारामकी झाँकी ... ८वें अङ्कका मुखपृष्ठ



( लगभग एक मासमें तैयार होनेकी सम्भावना )

## श्रीमद्भागवत ( अंग्रेजी अनुवाद ) दो खण्डोंमें सजिल्द

( An English translation, with Original Sanskrit text of the Bhāgavata Mahāpurāṇa with the Mahātmya in 2 Volumes. )

दोनों खण्डोंमें कुल १७७१ पृष्ठ तथा ४ तिरंगे चित्र हैं । इसमें श्रीमद्भागवतका माहात्म्य अलगसे दिया हुआ है एवं दोनों खण्ड सजिल्द हैं । इससे पहले हमारे यहाँ श्रीमद्भागवत अंग्रेजी-अनुवादसहित पुस्तकाकार ( Book Size ) में सुलभ नहीं था ।

मूल्य डाक-व्ययसहित एक खण्डका ... रु० १२.०० मात्र भारतमें

” ” एक साथ दोनों खण्डोंका ... २२.७५ ” ”

” ” ” ( By Sea-Mail ) २७.०० ” विदेशमें

व्यवस्थापक—गीताप्रेस ( पुस्तक-विभाग ) गोरखपुर

## सरकारसे गोमांस-उत्पादनार्थ कर्साईखाना न खोलनेकी प्रार्थना

समाचारपत्रोंमें प्रकाशित सूचनासे ज्ञात हुआ है कि हमारी सरकारने मैसूर और तमिलनाडु राज्योंकी सीमाके निकट वाइनाड ( Wynaad ) स्थानपर एक करोड़की लागतसे गोमांसको सुरक्षित रखनेका एक कारखाना खोलनेका निश्चय किया है । ‘केरल ऐग्री इंडस्ट्रीज कारपोरेशन’के चेयरमैन श्रीके०सी० वामदेवनूने बताया है कि यह कारखाना अमेरिकी सरकारकी सहायतासे कारपोरेशनद्वारा स्थापित किया जायगा । श्रीवामदेवनूने यह भी बताया है कि एफ० ए० ओ० के विशेषज्ञोंके एक दलने कई राज्योंका दौरा करनेके बाद केरल और गोआको गोमांस उत्पन्न करनेवाले दो कारखाने खोलनेके लिये चुना है । गोमांसके निर्यातपर जो अभी रोक लगी हुई है, इसे भी सरकार उठा लेगी ।

इसके अतिरिक्त संविधानके अनुच्छेद ४८के अनुसार गोहत्यापर राज्यद्वारा प्रतिबन्ध लगाये जानेके निर्देशको पूर्णतया मान्य करने और संसद्में केन्द्रीय सरकारद्वारा तत्सम्बन्धी घोषणा किये जाते रहनेके बावजूद अनेक राज्योंमें गोहत्या जारी है । राज्यसभामें केन्द्रीय उड्डयन-मन्त्रीने यह भी स्वीकार किया है कि ‘भारतीय विमान-सेवा’में अन्ताराष्ट्रीय उड्डयनके समय यात्रियोंको गोमांस दिया जाता है ।

ये तथा अन्य ऐसी योजनाएँ हन भारतवासियोंके लिये कलङ्करूप हैं । हम भारतवासी सदैव ही गौको माताके रूपमें पूजते आये हैं । गौके प्रति हमारे सभीके मनमें बड़ी पवित्र ऊँची भावना है । गोवंशके प्रति भारतीय जनताकी अनन्य धार्मिक श्रद्धा है । साथ-ही-साथ देशकी अर्थव्यवस्थामें भी गौसे प्राप्त दूध और गोबरका अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान है ।

हमारी सरकारसे विनम्र प्रार्थना है कि वह इस प्रकारकी मर्मघातक, धर्मघातक एवं राष्ट्रघातक नीति न अपनाये । यह देशकी धार्मिक जनतापर सीधा प्रहार है । सभी दृष्टिकोणोंसे इससे देशका भयंकर अहित है । सरकारको चाहिये कि पूरे देशमें गोहत्यापर प्रतिबन्ध लगाये एवं गोमांसके कारखाने खोलनेकी योजनाको अविलम्ब बंद कर दे । हम सभी भारतवासियोंका कर्तव्य है कि सरकारकी इस संस्कृति-विरोधी नीति नही, बल्कि अहिंसा-विरोधी नीतिका जोर विरोध करें । देशमें सर्वत्र इस योजनाके विरोधमें सभाओंके द्वारा प्रस्ताव पारित करके उसकी प्रतिलिपियाँ राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री एवं संसद्के अध्यक्षके पास भेजनी चाहिये । यदि इन अमानुषी कृत्योंका विरोध न होगा तो परिणाम बड़ा अमङ्गलकारी होगा । भगवान् सबको सद्बुद्धि दें ।

—चिम्मनलाल गोस्वामी  
सम्पादक “कल्याण”



## ‘कल्याण’के कृपालु हितैषियों, ग्राहकों और पाठकोंसे नम्र-निवेदन

( १ ) इस अङ्कमें भगवत्कृपासे ‘कल्याण’का ४५वाँ वर्ष पूरा हो गया है। गत मार्च मासमें हमारे परमश्रेष्ठ नित्यलीलालीन श्रीभार्वीजी श्रीहनुमानप्रसादजी पौदारके परलोक-गमनसे हम सर्वथा असहाय हो गये थे और सोच नहीं पा रहे थे कि ‘कल्याण’ किस प्रकार चल पायेगा; परंतु भगवान्की अहेतुकी इच्छा, प्रेरणा एवं शक्तिसे आरम्भ हुआ ‘कल्याण’ उनकी इच्छा एवं कृपासे निरन्तर विकसित होता रहा है और आशा है, भविष्यमें भी इसी प्रकार विकसित होता रहेगा। इन नौ महीनोंमें तो उसे उस कृपाने ही सँभाला है। श्रीभार्वीजी भी अपरोक्षरूपसे हमें सँभाले हुए हैं ही। गत ९ अङ्क कैसे निकले हैं, यह तो सहृदय पाठक-पाठिकाएँ ही जानते हैं। ‘जेहि आदरे, लोक-वेदहूँ आदरियत’—इस सत्यका अनुभव हमने इन ९ वर्षोंमें भलीप्रकार किया है और विशेषकर इन नौ महीनोंमें आरम्भसे ही देशके सभी प्रमुख आचार्यों, महात्माओं, संतों, विद्वानों, विचारकों, भक्तोंने ‘कल्याण’को अपना माना है तथा अपने आशीर्वादद्वारा, सत्-परामर्शद्वारा एवं रचनाओंद्वारा ‘कल्याण’को परम उपादेय एवं समुन्नत करनेका प्रयत्न किया है तथा इसके प्रचार-प्रसारमें भी अकथनीय सहयोग दिया है। हम उन सभी गुरुजनों, प्रेमियों, हितैषियों, स्वजनोंके ज्ञात-अज्ञात उपकारों एवं आत्मीयताके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हैं। हमारी विनम्र प्रार्थना है कि भविष्यमें भी हमें सबका सहज आशीर्वाद एवं सहयोग इसी प्रकार प्राप्त होता रहे।

( २ ) आगामी विशेषाङ्क ‘श्रीरामाङ्क’में भगवान् श्रीरामसम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषय प्रामाणिक एवं रुचिकर सामग्री रहेगी। अङ्कका कार्य जिस गतिसे चल रहा है, उसे देखते हुए आशा है। जनवरीके अन्तिम सप्ताहमें या फरवरीके प्रथम सप्ताहमें अङ्क तैयार हो जायगा। ग्राहक महानुभाव उस अवधितक कृपया धैर्य रखें; पत्र-व्यवहार न करें तथा इस विलम्बके लिये अपने शीलकी ओर देखकर हमें क्षमा करें।

( ३ ) इस वर्ष सभी खर्च बहुत बढ़ गये हैं, तब भी ‘कल्याण’का वार्षिक मूल्य १००० ही रखा गया है। ग्राहकोंको शीघ्र अपना वार्षिक शुल्क भेज देना चाहिये। नये ग्राहकोंको भी शीघ्र रुपया भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। इस अङ्ककी माँग विशेष होनेकी सम्भावना है। रुपये भेजते समय पुराने ग्राहक मनीआर्डर-कूपनमें अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखें। नाम, ग्राम या मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक हों तो कूपनमें ‘नया ग्राहक’ अवश्य लिखें। रुपये व्यवस्थापक ‘कल्याण’, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर ) के नामसे भेजने चाहिये। जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक एक कार्ड लिखकर सूचना दे दें, जिससे व्यर्थ ही ‘कल्याण’-कार्यालयको डाक-खर्चकी हानि न सहनी पड़े। इस वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनाता है और बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है। वैसे सजिल्द अङ्कका मूल्य ११.५० है।

—सम्पादक

### Kalyāṇa-Kalpataru or “The Bliss”

( An English monthly devoted to pure Religion and Spirituality )

Side by side with the Hindi “Kalyan”, the Gita Press has been publishing for over a decades past an English monthly on the pattern of the “Kalyan” for the benefit of the English knowing public. It provides excellent reading matter discussing topics like Devotion, God-Love and spiritual wisdom and covering six hundred pages annually on an average with more than a dozen coloured illustrations at a cheap rate of Rupees five per annum. Like its prototype, the “Kalyan” publishes an annual Special Number dealing with some particular topic at the end of an year. The periodical, which had to be suspended for over a year due to the sad demise of its Controlling Editor, Sri Hanumanprasad Poddar, is now resuming publication and its readers are hereby requested to renew their subscription for the year 1972. Prospective subscribers are also requested to send their subscription at an early date.

—The Manager, ‘Kalyāṇa-Kalpataru’, Gorakhpur















